॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन–वेदव्यासेन विरचितम्

वेदान्तसूत्रम्

तृतीयः अध्यायः

गौड़ीयवेदान्ताचार्य

श्रीश्रीमद्बलदेव–विद्याभूषण–कृत

श्रीगोविन्दभाष्येण सूक्ष्मा टीकया च समेतम्

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा

सम्पादित
तत्कृत 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' सहित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

अवतरणिका भाष्य, भाष्यानुवाद, अवतरणिका-भाष्यकी टीका, टीकानुवाद, सूत्र, सूत्रार्थ, सूत्रानुवाद, मूल-गोविन्दभाष्य, भाष्यानुवाद, मूलभाष्यकी सूक्ष्मा-टीका और टीकानुवाद एवं सम्पादक-कृत गोविन्दतोषणीवृत्ति नामक अनुव्याख्या सहित प्रकाशित

प्रथम संस्करण—

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज एवं श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम गोस्वामी महाराजकी तिरोभाव-तिथि,

२ नवम्बर, २०१६

प्राप्तिस्थान

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
☎ ०७०६०२३६३१६

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
☎ ०९७१९०७०९३९

श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
☎ ०९७१७३२११४२

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ॰प्र॰)
☎ ०९६२७४२६३४३

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी,
उड़ीसा
☎ ०६७५२-२२७३१७

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
☎ ०९७३४८२५३६२

श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ
२९३, सैक्टर-१४
फरीदाबाद, हरियाणा
☎ ०९९११२८३८६९

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ॰प्र॰)
☎ ०५६५-२४४३१०१

Please visit us at www.purebhakti.com

समर्पण

काल्पनिक (शाङ्कर) दर्शनकी यवनिकामें 'तत्त्वमसि' के मञ्चपर विभ्रम-प्राप्त एवं तादृश सहस्र-सहस्र मत-मतान्तरोंकी मरीचिकामें दिग्भ्रमित जीवोंके तमोच्छादित ज्ञान-कल्मषके विशुद्धीकरणमें मार्त्तण्डसम, वेदान्त-दर्शनके सूत्र-प्रतिसूत्रमें गुम्फित भागवतीय-सिद्धान्तको उद्‌घाटित करनेमें सतत प्रयत्नरत, ब्रह्मसूत्रकी अभिधेयात्मक उपासना-पद्धतिको ऊर्जस्वित करनेमें परम-विदग्ध, प्रपञ्चात्मक-अविद्याके मार्जनकारी, सर्वदर्शन-मूर्द्धन्य गौड़ीय-वाङ्मय-सौरभके दिग्-दिगन्तमें सुवासितकारी, ब्रह्मविद्याके मर्मार्थ वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा एवं नन्दनन्दन श्रीकृष्णके सेवा-सौष्ठवको सजातीय-स्निग्ध-भक्तोंमें उद्भासितकारी, श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायमें श्रीरूपानुग-आचार्य-परम्पराकी रसोद्भावनाओंकी तरङ्गिणीके अव्यवहित प्रवाहितकारी, अपने हृत्-स्रोतसे श्रीराधादास्यत्वके नीहार-कणोंके वर्षणकारी, स्वचरणाश्रितोंके अशेष निःश्रेयसकारी, हे राधैकप्राण! हे प्रेम-सम्पद्-चक्रवर्त्ती! हे मनोभीष्ट-सम्पादक! हे अस्मदीय गुरुदेव! ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज! आपके कृपामृतसे अभिषिक्त-स्नपित-स्फुरित 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थरत्नका यह तृतीय-साधनाध्याय-अनुवाद विरहार्त्तिमय हृदयके साथ आपके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

—प्रकाशन-मण्डली

प्रकाशन–मण्डली

अनुवादक

श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल 'साहित्याचार्य'
एम॰ए॰ (संस्कृत) पी–एच॰डी॰

टंकण
श्रीपाद भक्तिवेदान्त सागर महाराज

सहयोग
सुश्री विजयलक्ष्मी दासी

पाठ्य–व्यवस्थापन एवं धन्यवादार्थ
श्रीमान् सुबलसखा दास

ले–आउट
श्रीयुक्ता शान्ति दासी

आभार
श्रीमान् माधवप्रिय दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् अमलकृष्ण दास ब्रह्मचारी

प्रूफ–संशोधन
श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज
श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल

प्रच्छद–चित्र
श्रीयुक्ता श्यामारानी दासी

प्रच्छद–प्रस्तुति
श्रीमान् कृष्णकारुण्य दास ब्रह्मचारी

विशेष आभार
राधा दासी (श्रीमती सपना रमेश खण्डेलवाल, मुम्बई)

प्रकाशनार्थ आर्थिक सेवा
श्रीमती सपना रमेश खण्डेलवाल (मुम्बई), श्रीमती शैला खण्डेलवाल (स्व॰ श्रीभानु खण्डेलवालकी स्मृतिमें) (मुम्बई), श्रीमती श्वेता गौरव धामाणी (जयपुर), श्रीमती अनुराधा खण्डेलवाल (मुम्बई), श्रीमान् महेन्द्र सदानन्द जाधव, बसई (मुम्बई), श्रीमती गीता एवं कैलाशचन्दजी कानोड़िया (मुम्बई), श्रीमती शर्मिला नवल अग्रवाल (मुम्बई), श्रीमती विशाखा (टीना) (मुम्बई), कु॰ तान्या एवं कु॰ तनिष्का सोमानी (मुम्बई) इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक–सेवा द्वारा श्रीमन्महाप्रभुके अनुग्रह–पात्र हुए हैं।

प्रशस्तिपत्रम्

श्रीवेदव्यास-प्रशस्तिः

पाराशर्यमुनिः पुराणनिचयं वेदार्थसारान्वितं
स्त्रीशूद्रप्रतिबोधनाय च विदां वेदान्तशास्त्रं मुदे।
श्रीगीतावचसां विधाय विवृतिं ज्ञानप्रदीप प्रभा-
लोकैर्लोकमतिं समुज्ज्वलरुचिं लोके कृतार्थां दधौ॥

श्रीपराशरमुनिके पुत्र श्रीवेदव्यासजीने स्त्री, शूद्र इत्यादिके बोधके लिए वेदोंके सार-अर्थसे युक्त पुराणसमूह और विद्वानोंके आनन्दके लिए श्रीगीताके वचनोंके भाष्यस्वरूप श्रीवेदान्तशास्त्रकी रचनाके द्वारा जगत्में ज्ञानरूपी प्रदीपकी प्रभासे मनुष्योंकी मतिको समुज्ज्वल कान्तिसे युक्त करके उन्हें कृतार्थ कर दिया है।

श्रीवेदव्यास-प्रणतिः

वेदं प्रमथ्य जलधिं मतिमन्दरेण
कृष्णावतार! भवता किल भारताख्या।
येनोदहारि जनतापहरा सुधा वै
तं सर्ववैदिक गुरुं मुनिमानताः स्मः॥

हे कृष्णके अवतार श्रीवेदव्यासजी! आपने बुद्धिरूपी मन्दराचलसे वेदरूपी सागरका मन्थन करके जगत्-जीवोंके तापको हर लेनेवाली महाभारत नामक सुधाका संग्रह किया है। समस्त वेदोंको जाननेवाले ऐसे गुरुस्वरूप, हे मुनिवर! आपको हम नमस्कार करते हैं।

वेदान्तसूत्र-महिमा

वेदान्तसूत्रमहिमा किमु वर्णनीयो
युक्त्या निरीश्वरमतानि निरस्य सम्यक्।
संस्थाप्य सेश्वरमतं श्रुतिभिः कृता य-
ल्लोका हरेर्भजनतः सुखमुक्तिभाजः॥

जिसने युक्तियोंके द्वारा निरीश्वरवादी मतोंको सुचारु रूपसे निरस्त कर दिया है एवं श्रुतियोंके आश्रयसे सेश्वरमतकी स्थापना की है, जिसके फलस्वरूप लोग भगवान् श्रीहरिका भजन करते हुए सुखपूर्वक मुक्तिके भागीदार हुए हैं, अहो! ऐसे वेदान्तसूत्रकी महिमाका किस प्रकारसे वर्णन किया जा सकता है।

श्रीबलदेव-वन्दना

नमामि पादौ बलदेवदेव!
तव प्रपन्नोऽहमतीव दीनः।
कृपाकरैर्भेदमतिं तमो मे
निरस्य विद्योतय शुद्धबुद्धिम्॥

हे देव श्रीबलदेव प्रभु! आपके श्रीचरणयुगलमें मेरा बार-बार नमस्कार है। मैं अत्यधिक दीनतापूर्वक आपके शरणागत होता हूँ। आप अपनी कृपारूपी किरणोंसे मेरे भेदबुद्धि (विश्व परमात्मासे भिन्न है) स्वरूप अज्ञान-अन्धकारको विदूरितकर मुझमें शुद्धबुद्धिका प्रकाश करें।

आचार्य श्रीबलदेव-प्रशस्तिः

जय जय बलदेव! श्रीमदाचार्यपाद!
व्रजपतिरतिगौरं सम्प्रदायस्य धर्मम्।
गुरुमवितुमहो ते स्वप्नदृष्टस्य विष्णोः
प्रियललितनिदेशान् नाम गोविन्दभाष्यम्॥

हे श्रीमद् आचार्यपाद! हे श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु! आपकी जय हो, जय हो। आपने व्रजपति श्रीकृष्णकी रतिसे विभावित गौड़ीय-सम्प्रदायके धर्मको गौरवान्वित किया है। अहो! गुरुवर्गके विचारोंकी रक्षाके लिए आपने स्वप्नमें दृष्ट भगवान् विष्णु (श्रीगोविन्ददेव) के प्रिय-मनोहर आदेशोंसे 'श्रीगोविन्द' नामक भाष्यकी रचना की है।

श्रीगोविन्दभाष्य-महिमा

विद्धाद्वैतान्धकार प्रलय दिनकर! त्वतकृताचिन्त्यभेदा-
भेदाख्योवाद एषोऽम्बुजरुचिरधुना यद् रसं वैष्णवालिः।

श्रीमद्गौराङ्गदेवानुमतमनुगतं प्रेमनिस्यन्दि पायं
पायं श्रीमच्छुकास्याद् विगलितममृतं लीयते तत्र नित्यम्॥

हे गोविन्दभाष्य! आप अद्वैत-अन्धकाररूप प्रलयको नाश करनेवाले सूर्यस्वरूप हैं। इस समय आपके द्वारा अचिन्त्यभेदाभेदवाद नामक कमल-मकरन्द-रस विकसित हुआ है। इस भेदाभेदवादके परिप्रेक्ष्यमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके मतानुयायी रसिक-वैष्णवगण इस प्रेम-स्रोतके रसका पान करते-करते श्रील शुकदेवके मुखसे निःसृत श्रीमद्भागवतामृतमें सर्वदा लीन रहते हैं।

सूक्ष्मा-टीका-प्रशस्तिः

सूक्ष्माभिधाना बुध! तस्य टीका
सूक्ष्मार्थबोधाय कृता त्वया वै।
उच्चित्य पौराणवचः श्रुतीश्च
भूयस्तदीयाङ्घ्रियुगं स्मरामः॥

हे विद्वत्वर (श्रीबलदेव प्रभु)! श्रुतियों (उपनिषदों) एवं पौराणिक वचनोंका चयन करके आपके द्वारा रचित सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अर्थका बोध करानेवाली यह सूक्ष्मा नामक टीका धन्य है। हम आपके चरणयुगलका पुनः-पुनः स्मरण करते हैं।

सूक्ष्मा-टीका-महिमा

संक्षिप्त-सारमय-भाषितपूर्णमूर्त्तिः
सूक्ष्माभिधेयमनुभाष्यमशेषटीका।
दीपं विनान्धतमसे न यथार्थदृष्टि-
रेनामृते स्फुरति भाष्यमिदं तथा न॥

संक्षिप्त एवं सारमय भाषासे युक्त गोविन्दभाष्यरूप पूर्णमूर्त्तिको सूक्ष्मा नामक अनुभाष्यने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अशेष अर्थों द्वारा सम्यक् रूपसे प्रकाशित कर दिया है। (गोविन्दभाष्यके पश्चात् लिखे जानेके कारण इसे अनुभाष्य कहा गया है) जिस प्रकार गाढ़ अन्धकारमें दीपकके बिना यथार्थ दृष्टिशक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार इस अमृतस्वरूप सूक्ष्मा-टीकाके बिना गोविन्दभाष्यके गूढ़ विषय कभी भी

हृदयमें स्फुरित नहीं हो सकते। अर्थात् यह सूक्ष्मा-टीका गोविन्दभाष्यको प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान है।

वैष्णव-प्रशस्तिः

धन्या वैष्णवमण्डली व्रजपतिप्रेम्णा यया रक्ष्यते
गोविन्दप्रियपुस्तकावलिरहो काले महासङ्कटे।
धन्यास्तत्परिशीलका अपि धनैः प्राणैश्च ये सेवका
योगक्षेमकरस्तनोतु भगवांस्तेषां हरिर्मङ्गलम्॥

अहो! वैष्णवमण्डली धन्य है! व्रजपति श्रीकृष्णके प्रेमवशतः जिसके द्वारा महासङ्कटकालमें गोविन्दप्रिय ग्रन्थावलीकी रक्षा की जाती है। इन ग्रन्थोंका अनुशीलन एवं अध्ययन करनेवाले धन्य हैं और जो धन एवं प्राणसे इन ग्रन्थावलीकी सेवा करते हैं, वे भी धन्य हैं। भगवान् श्रीहरि उन सबका योगक्षेम वहन करते हुए उनका मङ्गल विधान करें।



प्रशस्ति-पत्र

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

श्रीगोविन्दं नमस्कृत्य व्यासं वेदान्तकृद्धरिम्।
बलदेवं ततो जपं वेदान्तभाष्यमाश्रये॥

वेदाः प्रमाणम्। धर्मादि विषयमें वेदशास्त्र ही प्रमाण हैं। वेदशास्त्र प्रस्थान-त्रयात्मक हैं। इनमेंसे वेदान्त 'न्याय-प्रस्थान' के नामसे प्रसिद्ध है। प्रस्थान-त्रय वेदार्थ प्रतिपादक हैं। यद्यपि 'वेदान्तसूत्र' पण्डितोंके लिए रचा गया था, तथापि वास्तवमें यह पण्डितोंके लिए भी सुदुर्बोध्य था। यहाँ तक कि, यह पैलादि वेदाचार्योंके लिए भी दुर्विज्ञेय था। अतः वेदान्तसूत्र-कर्त्ता स्वयं श्रीवेदव्यासजीने उसका भाष्य प्रस्तुत किया। यह भाष्य श्रीमद्भागवतस्वरूप है—*अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्।* श्रीचैतन्यदेव एवं उनके पार्षद श्रीमद्भागवतको ही वेदान्तका अकृत्रिम भाष्य मानते थे, तथापि वैष्णव-सम्प्रदायीजनोंकी आपत्ति हेतु श्रीगोविन्ददेव एवं श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी अपार करुणा एवं असीम प्रेरणासे वेदान्तसूत्रका 'श्रीगोविन्दभाष्य' नामक एक अपूर्व गौड़ीय-भाष्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुके माध्यमसे प्रकाशित हुआ है।

श्रीरूपानुगत्यमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मनोभीष्टके प्रचारक-प्रवर, श्रीचैतन्यमठ तथा तदीय शाखा श्रीगौड़ीय-मठोंके प्रतिष्ठाता श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादके सुयोग्य शिष्य-प्रवर श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराजने वेदान्तसूत्रका बँग भाषामें भाष्य एवं टीकादिका सहज अनुवाद करके गुर्वभीष्टका सम्पादन किया। तत्पश्चात् श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके श्रीचरणाश्रित शिष्य-प्रवर, विश्वमें श्रीरूपानुग-भक्तिके प्रचारक, वरेण्य एवं शरण्य चरण, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति ट्रस्टके प्रतिष्ठाता श्रील भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने गौड़ीय-वैष्णव (गोस्वामी) ग्रन्थावलीको राष्ट्रभाषा हिन्दीमें प्रकाशित

किया है। श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुके 'श्रीगोविन्दभाष्य' सहित 'वेदान्तसूत्र' का हिन्दी-संस्करण प्रकाशित करनेकी उनकी तीव्र अभिलाषा थी, एवं उन्होंने उसका सम्पादन भी कर लिया था, किन्तु इसी बीच भगवत्-इच्छासे उन्होंने नित्यलीलामें प्रवेश कर लिया। सौभाग्यकी बात है कि उनके श्रीचरणाश्रित स्नेहधन्या मनस्विनी डा॰ मधु खण्डेलवालने गुर्वभीष्ट गोविन्दभाष्य, अवतरणिका, अवतरणिका भाष्य एवं सूक्ष्मा-टीकाके हिन्दी-अनुवादके प्रकाशनको पूर्ण करनेका व्रत लिया है। उनके द्वारा अनुदित वेदान्तसूत्रके प्रथम एवं द्वितीय अध्यायका प्रकाशन 'श्रीगौड़ीय वेदान्त प्रकाशन' द्वारा हो चुका है। सम्प्रति तृतीय साधन-अध्याय मुद्रणाधीन है। सहजबोध्य एवं प्राञ्जल हिन्दी अनुवादके कारण वे वैष्णवोंकी प्रशंसापात्री एवं स्नेहभाजिनी बनी हैं। हम श्रीगौरसुन्दर एवं श्रीश्रीराधाविनोदबिहारीजीके श्रीचरणकमलोंमें उनकी उत्तरोत्तर गुरुसेवा-प्रवृत्तिकी कामना करते हैं।

नारायणकृपाधन्या तदभीष्टकृदुत्तमा।
भाष्यानुवादिका जीयान्मधुनामा मनस्विनी॥

इति
वैष्णवदासानुदास
श्रीभक्तिसर्वस्व गोविन्द
श्रीरूपानुग-सेवाश्रम, राधाकुण्ड
सभापति, श्रीसारस्वत-गौड़ीय-वैष्णव-संघ, वृन्दावन

प्रशस्ति-पत्र

॥ श्रीराधामदनमोहनौ जयतः ॥
॥ जय गौर ॥

श्रीचैतन्य-दर्शनका मूल सारभूत सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेद है। सांसारिक रूपमें ब्रह्म एवं जीवका भेदाभेद सम्बन्ध है, परन्तु चैतन्य-दर्शनमें इससे भी उत्कृष्टावस्थाका वर्णन है—वहाँ जीव स्वरूपतः कभी भी मुक्त नहीं होता। प्रपञ्चावस्थासे मुक्त होनेपर भी उसमें श्रीकृष्णका नित्यदासत्व सदैव विद्यमान रहता है। श्रीबलदेव विद्याभूषणपादने 'वेदान्तसूत्र' के भाष्यमें इसी सिद्धान्तकी दार्शनिक गम्भीरताको प्रामाणिकताके साथ विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। शक्तिका शक्तिमानके साथ जो सम्बन्ध है, जीव और जगत्का ब्रह्मके साथ वही सम्बन्ध है, क्योंकि जीव एवं जगत् ब्रह्मकी शक्तियाँ हैं। श्रीबलदेवप्रभुने 'गोविन्दभाष्य' और 'सूक्ष्मा-टीका' में इसी भेदाभेदरूप अचिन्त्य-सम्बन्धका सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपसे विवेचन किया है।

परब्रह्म स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही एकमात्र अद्वयज्ञान तत्त्वरूप हैं तथा समस्त वेदोपनिषदके प्रतिपाद्य विषय हैं। उनकी भक्ति ही ब्रह्मविद्याका हार्द है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने इसी विषयको वेदान्तसूत्रका वास्तविक तात्पर्य बतलाया है। उन्होंने सहज-सरल रूपमें अपने परिकरोंके माध्यमसे 'नाम' का ही वेदार्थ रूपमें व्याख्यान किया एवं समस्त जीवोंको नाम प्रदान किया।

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मयकी सर्वोत्कृष्ट परिणति 'श्रीमद्भागवत' वेदान्तका ही अकृत्रिम भाष्य है। इसका साधन एवं स्वरूप अत्यन्त गम्भीर है। पद-पदपर इसमें ब्रह्मसूत्रोंका गुम्फन है।

जीवोंके आत्यन्तिक कल्याणके लिए इसका आविर्भाव हुआ है। 'भक्त्यैक' तात्पर्य ही इस ग्रन्थका मूल प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त

वेदान्तसूत्रोंकी अन्यान्य व्याख्या करना वेदान्तसूत्रोंके साथ अन्याय करना है।

नित्यलीलाप्रविष्ट श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने 'श्रीगौड़ीय वेदान्त प्रकाशन' से गौड़ीय-साहित्यको बोधगम्य टीकाओंके साथ लोकभाषा हिन्दीमें प्रकाशित करनेका जो सङ्कल्प लिया था, वह स्मरणीय एवं उल्लेखनीय है। इसी शृंखलामें श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने हिन्दीमें टीकाओं सहित वेदान्तसूत्रको प्रकाशित करनेके इस विराट एवं विषम कार्यको अपनी श्रीचरणाश्रिता डा॰ मधु खण्डेलवालके माध्यमसे उनमें अन्तर-प्रेरणा एवं अपनी शक्ति-सञ्चारित करके करवाया है। वेदान्तसूत्रका भाष्य एवं टीकाएँ सर्वोपयोगी हैं। डा॰ मधु खण्डेलवालके अनुवादकी भाषा अति प्राञ्जल, रसमयी एवं अभिनन्दनीया है। इस तृतीय साधनाध्यायमें मोक्ष-साधन, वैराग्य, भक्ति, श्रवण, मनन, ध्यान, रूपोपासनाका सूत्रानुकूल्य रूपमें विवेचन है, जो बुद्धिजीवी पाठक, शोधार्थी एवं भक्ति-साधकोंके लिए पठनीय एवं अनुशीलनीय है। इति।

शुभेच्छु
आचार्य जनार्दन भट्ट गोस्वामी
श्रीमद् रघुनाथ भट्ट गोस्वामी पीठ
श्रीमदनमोहनजीका मन्दिर
अठखम्भा, श्रीवृन्दावन धाम

प्रशस्ति–पत्र

[डॉ॰ विजय पाण्ड्या (राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त, गुजरात–राज्य संस्कृत–साहित्य–गौरव पुरस्कार एवं उत्तरप्रदेश–राज्य विशिष्ट पुरस्कार प्राप्त), सम्माननीय प्राध्यापक, शास्त्रचूड़ामणि (२००६—०९, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली), निवर्त्तमान संस्कृत प्राध्यापक (गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद), सम्माननीय प्राध्यापक, (एल॰डी॰ इंस्टीट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी, अहमदाबाद—३८०००९)]

विश्ववासियोंके मङ्गलके उद्देश्यसे विरचित ब्रह्मसूत्रको सारगर्भित रूपमें वेदान्त ही कहा जाता है। 'वेदान्त' शब्दका प्रयोग वेद और पुराण शास्त्रोंके निर्यासके लिए होता है।

उपनिषद–विचारोंको सुस्पष्ट रूपसे विवृत करनेके लिए ही ब्रह्मसूत्रकी सर्जना है। औपनिषद धारणाको हृदयङ्गम करनेके लिए जिन स्थलोंपर उनके तात्पर्यके सम्बन्धमें किसी प्रकारका विवाद, अस्पष्टता या वाग्छल प्रतीत होता है, ब्रह्मसूत्र उन सबके अर्थोंका अन्तर्विरोधसे रहित सामञ्जस्य करता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रका उद्देश्य उपनिषदोंके तात्पर्यको मनुष्य जीवनके चरम–लक्ष्य—पुरुषार्थरूप मोक्ष एवं उसे प्राप्त करनेके साधनोंके रूपमें प्रस्तुत करना भी है। अतः उपनिषद ब्रह्मसूत्रके उत्स हैं। ब्रह्मसूत्रमें उपनिषदके विचारोंको सुश्रृङ्खलाबद्ध और सुसङ्गत करनेकी चेष्टा की गयी है।

भारतीय–दर्शनमें विशेषतः वेदान्त–दर्शनमें ब्रह्मसूत्र अत्यन्त दुर्बोध्य माने जाते हैं, क्योंकि उनका स्वरूप ही ऐसा दुरुह एवं जटिल है। ऐसी स्थितिमें वे आचार्यगण पथ–प्रदर्शक होते हैं, जिन्होंने अपनी समुज्ज्वल मेधा एवं विशिष्ट प्रतिभासे इन ब्रह्मसूत्रोंकी मीमांसा की है। आकाशमें प्रदीप्त तारामण्डलोंके समान इन आचार्योंकी प्रदीप्त परम्पराने अपने विपुल पाण्डित्य तथा समालोचनात्मक अन्तर्दृष्टिसे अपने टीका–भाष्योंमें अतिश्य मौलिक रूपमें ब्रह्मसूत्रके प्रतिपाद्य विषयकी तात्पर्यपरक व्याख्या की है।

आचार्यों द्वारा मौलिक रूपमें ब्रह्मसूत्रके भाष्योंकी रचनावशतः शङ्कराचार्यके केवलाद्वैत सिद्धान्तसे आरम्भकर रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त, मध्वाचार्यके द्वैताद्वैत सिद्धान्त इत्यादि जैसे विभिन्न प्रकारके वेदान्त–दर्शनोंका उद्भव हुआ है।

वेदान्त–दर्शनपर विभिन्न प्रकारकी व्याख्या, टीका एवं मतवाद प्रस्तुत करनेवाले आचार्योंकी दीर्घपंक्तिमें आचार्य बलदेव हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रके भाष्यका प्रवर्त्तन करते हुए भारतीय–दर्शनकी वैदान्तिक–परम्परासे 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त प्रदान किया। अपने इस ब्रह्मसूत्र–भाष्यमें उन्होंने जगत्–वासियोंके कल्याण एवं आत्यन्तिक मङ्गलके लिए अपने सर्वाधिक मौलिक विचारोंको व्यक्त किया है—इस 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्तके अनुयायीजन ऐसा विघोषित करते हैं।

वेदान्त–दर्शनपर 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त यही प्रतिपादित करता है कि जीव एवं जगत् दोनोंका परमतत्त्व ब्रह्मसे भेद भी है और अभेद भी है। ये भेद और अभेद दोनों अचिन्त्य हैं। इस रूपमें वेदान्त–दर्शनके मर्मार्थको अतिशय सरल रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। आचार्य बलदेव इस सिद्धान्तके परम मूर्धन्य एवं प्रामाणिक आचार्योंमेंसे एक हैं। यह इससे प्रमाणित होता है कि उन्होंने प्रत्येक सूत्रपर न केवल गोविन्दभाष्य लिखा, अपितु उस गोविन्दभाष्यको विवृत करनेवाली 'सूक्ष्मा' नामक टीका भी लिखी जो कि जटिल गोविन्दभाष्यको समझनेमें अति सहायक सिद्ध होती है।

तथा विदुषी श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवालने अवतरणिका, अवतरणिका भाष्य, गोविन्दभाष्य और सूक्ष्मा–टीकाका हिन्दीभाषामें अतीव प्राञ्जल अनुवाद किया है। आचार्य बलदेवकी मौलिक कृतिका अति बोधगम्य अनुवाद प्रस्तुत करके डा॰ मधु खण्डेलवालने वेदान्त–दर्शनके अध्येताओंको अत्यन्त ऋणी कर दिया है तथा विद्वत् जगत्के लिए उदार सेवाकी है। इस उत्कृष्ट सेवाके लिए वे हृदयसे अभिनन्दनीया हैं।

अधिकन्तु श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने अपनी चरणाश्रिता शिष्या श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल द्वारा कृत अवतरणिका, अवतरणिका भाष्य, गोविन्दभाष्य और सूक्ष्मा–टीकाओंके हिन्दी

अनुवाद सहित वेदान्तसूत्रके खण्डोंका सम्पादन करके जगत्के कल्याणके लिए एक महान कार्य किया है। विज्ञ सम्पादकने आचार्य बलदेव कृत गोविन्दभाष्यको अधिक स्पष्ट करते हुए इसमें 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' को भी संयोजित किया है।

इन खण्डोंका प्रकाशन निरन्तर अभिवर्द्धित वेदान्त-साहित्यके लिए अत्यन्त अमूल्य योगदान है। हम वेदान्तके अध्येतागण इन खण्डोंके प्रकाशनके लिए 'गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन' के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

विद्वत् जगत्के लिए टीकाओं सहित गोविन्दभाष्यको उपलब्ध करानेके लिए मैं वरेण्य श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज एवं उनकी चरणाश्रिता विदुषी अनुवादिका श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवालका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवालसे ऐसी अनेक उत्तम साहित्यिक-दार्शनिक कृतियोंकी अपेक्षा करता हूँ।

शुभम् भूयात्।

प्रा॰ डॉ॰ विजय पाण्ड्या
(वर्त्तमान पता—'उपनिषद्', ११-ए,
न्यू रंगसागर सोसायटी,
गवर्नमेण्ट ट्यूबवेलके पीछे,
बोपाल, अहमदाबाद—३८००५८)

श्रीकृष्णभक्ति ही मुख्य अभिधेय है

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

(ब्र॰सू॰ ३/२/२४)

परब्रह्म (श्रीहरि) सम्यक् भक्तिके फलस्वरूप चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य होते हैं, यह श्रुति-स्मृति प्रमाणोंसे सिद्ध है।

स होवाच याज्ञवल्क्यस्तत् पुमानात्महिताय प्रेम्णा हरिम् भजेत्।

(श्रीभक्तिसन्दर्भ-धृत शतपथ श्रुतिमन्त्र)

शतपथ ऋषि कहते हैं—हे याज्ञवल्क्यगण! मानव आत्मकल्याणके लिए प्रीतिपूर्वक श्रीहरिका भजन करें अर्थात् श्रीहरिमें प्रीतिमात्र कामनासे जो अपना हित साधित होता है, उसीके लिए श्रीहरिका भजन करें।

यस्य देव परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्त महात्मनः॥

(श्वेताश्वतर ६/२३)

जिनकी श्रीभगवान्में पराभक्ति है और श्रीभगवान्के समान ही श्रीगुरुदेवके प्रति भी शुद्धभक्ति है, उन्हीं महात्माके हृदयमें श्रुतियोंके सभी मर्मार्थ प्रकाशित होते हैं।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

(श्रीमद्भागवत १/२/६)

मनुष्यमात्रके लिए परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे इन्द्रिय-ज्ञानसे अतीत भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य-निरन्तरमयी श्रवण-कीर्त्तनादि रूप ऐकान्तिकी भक्ति बनी रहे, जिस भक्तिमें किसी प्रकारकी लौकिक कामना न रहे, तथा जो स्वाभाविकी और निरपेक्ष हो। ऐसी भक्तिके बलसे ही समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं और आत्मा सुप्रसन्न हो जाती है।

श्रीकृष्णकी वाणी

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(श्रीगी॰ १४/२६-२७)

जो श्यामसुन्दराकार मुझ परमेश्वरकी ऐकान्तिक-भक्तियोग द्वारा सेवा करते हैं, वे इन गुणोंको अतिक्रम कर ब्रह्मानुभवके योग्य हो जाते हैं, क्योंकि मैं (निर्विशेष) ब्रह्म, अव्यय मोक्ष, सनातन-धर्म और ऐकान्तिकी भक्ति-सम्बन्धी प्रेमरूप सुखकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हूँ।

श्रीमन्महाप्रभुकी वाणी

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामय।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

(शिक्षाष्टक)

हे जगदीश! न मैं धन चाहता हूँ, न जन चाहता हूँ, न सुन्दरी कविता ही चाहता हूँ। मेरी तो केवल यही कामना है कि हे प्राणेश्वर! आपके श्रीचरणकमलोंमें मेरी जन्म-जन्मान्तरमें अहैतुकी भक्ति हो।

कृष्णभक्ति—अभिधेय सर्वशास्त्र कय।
अतएव मुनिगण करियाछे निश्चय॥

(चै॰च॰म॰ २२/५)

समस्त शास्त्रोंमें 'कृष्णभक्ति' को ही अभिधेय कहा गया है, अतः मुनियोंने भी यही निश्चय किया है।

सांकेतिक चिह्नोंकी सूची

अ॰—अन्त्यलीला, अन्त्यखण्ड
अ॰को॰—अमरकोष
आ॰—आदिलीला, आदिखण्ड
ईश॰—ईशोपनिषद
उ॰—उत्तर
ऐ॰—ऐतरेयोपनिषद
ऋ॰—ऋग्वेद
कठ॰—कठोपनिषद
केन॰—केनोपनिषद
कै॰—कैवल्योपनिषद
कौ॰—कौषीतकी-उपनिषद
कौ॰ब्रा॰—कौषीतकीब्राह्मण
गो॰ता॰—गोपालतापनी-उपनिषद
चै॰च॰—चैतन्यचरितामृत
चै॰भा॰—चैतन्यभागवत
छा॰—छान्दोग्योपनिषद
जा॰—जाबालोपनिषद
जै॰सू॰—जैमिनिसूत्र
तै॰—तैत्तिरीयोपनिषद
तै॰आ॰—तैत्तिरीयारण्यक
तै॰ब्रा॰—तैत्तिरीयब्राह्मण
तै॰सं॰—तैत्तिरीयसंहिता
पा॰—पाणिनिसूत्र (पाणिनि अष्टाध्याधयी)
पू॰—पूर्व
प्र॰र॰—प्रमेयरत्नावली
बृ॰आ॰—बृहदारण्यकोपनिषद
ब्र॰सं॰—ब्रह्मसंहिता
ब्र॰सू॰—ब्रह्मसूत्र
भ॰र॰सि॰—भक्तिरसामृतसिन्धु
म॰—मध्यलीला, मध्यखण्ड
म॰भा॰—महाभारत
महाना॰—महानारायणोपनिषद
मु॰—मुण्डकोपनिषद
ल॰भा॰—लघुभागवतामृत
वि॰पु॰—विष्णुपुराण
वे॰सू॰—वेदान्तसूत्र
श्रीगी॰—श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीमद्भा॰—श्रीमद्भागवत
श्रीह॰ना॰व्या॰—श्रीहरिनामामृतव्याकरण
शत॰ब्रा॰—शतपथब्राह्मण
श्वे॰—श्वेताश्वतरोपनिषद
ह॰भ॰वि॰—हरिभक्तिविलास

विषयानुक्रमणिका



निवेदन

श्रीब्रह्म–माध्व–गौड़ीय–वैष्णव–सम्प्रदायके अमित प्रभावशाली आचार्य–भास्कर श्रीश्रीलभक्तिविनोद–गौरकिशोर–सरस्वती ठाकुरके मनोऽभीष्टपूरक, श्रीगौरसुन्दरकी परम्परामें दशमाधस्तन एवं श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति और उसके अधीन समग्र भारतव्यापी शाखा गौड़ीय मठोंके संस्थापक आचार्यकेशरी ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके परम प्रियतम पार्षद हमारे परमाराध्यातम श्रील गुरुदेव ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे आज श्रीगौड़ीय–वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा विरचित 'गोविन्दभाष्य' एवं 'सूक्ष्मा–टीका' के सहित महर्षि श्रीवेदव्यासकृत 'वेदान्तसूत्र' ग्रन्थके तृतीय अध्यायको राष्ट्रभाषा हिन्दीमें पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हम प्रचुर आन्तरिक आनन्दका अनुभव कर रहे हैं।

श्रील गुरुदेवने अपने गुरुदपाब्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके मनोऽभीष्टको पूर्ण करनेके उद्देश्यसे उनके ही सतीर्थ नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज द्वारा बँगला भाषामें सम्पादित ग्रन्थके आधारपर ही हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करवाया एवं अक्लान्त रूपसे अनुवाद कार्यका संशोधन एवं सम्पादन किया। इस ग्रन्थपर कार्य करते समय यद्यपि श्रील गुरुदेव इस जगत्में जन–साधारणके सम्मुख अस्वस्थ–लीलाका प्रदर्शन कर रहे थे, किन्तु वृद्धावस्था एवं अस्वस्थताके बीच भी अथक परिश्रमकर वे दिवा–रात्रि इसके सम्पादनमें रत रहते थे। वे प्रत्येक कार्यको इतनी तन्मयता एवं रुचिके साथ करते कि सब हतप्रभ रह जाते थे। जो भी उन्हें सम्पादन कार्य करते देखता या फिर उनके परिश्रमके विषयमें सुनता, वह विस्मित हुए बिना नहीं रह पाता था।

श्रील गुरुदेवने वेदान्तके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत और श्रीगोविन्दभाष्यका अनुसरण करते हुए नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज द्वारा बँगला भाषामें लिखित 'सिद्धान्तकणा' नामक अनुव्याख्याके आधारपर प्रणीत 'गोविन्दतोषणी' नामक 'वृत्ति' सहित हिन्दी भाषामें वेदान्तसूत्रका सम्पादन करके न केवल गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायका गौरव वर्द्धित किया है, अपितु सभी विद्वतजनों एवं परमार्थ तत्त्वानुशीलन अभिलाषी सुधीजनोंका असीम उपकार और आनन्द विधान किया है। इस 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' में वेदान्तके दुरुह एवं जटिल विषयोंको अत्यन्त सरलभाषामें परिस्फुट किया गया है।

यद्यपि श्रीमद्भागवतको ही गौड़ीयजन वेदान्तके अकृत्रिम भाष्यके रूपमें जानते हैं, तथापि श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा श्रीगोविन्ददेवजीके आदेशसे विरचित श्रीगोविन्दभाष्य और सूक्ष्मा-टीका भी गौड़ीय-जगत्की एक अमूल्य सम्पद् है। अतः गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषणके द्वारा विरचित गोविन्दभाष्यसे समन्वित वेदान्तसूत्रके आत्मप्रकाशित होनेसे यह ग्रन्थरत्न विद्वतजनोंके निकट परमादृत होगा—इसमें सन्देह नहीं है।

श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास प्रणीत वेदान्तसूत्र ब्रह्मतत्त्व निर्णायक परम प्रामाणिक ग्रन्थ है। वेदके चरम और परम सिद्धान्त इस ग्रन्थमें निबद्ध हैं।

श्रील गुरुदेवने इस ग्रन्थरत्नके विषयमें अनुवादिका श्रीमती मधु खण्डेलवालसे कहा था—"मैं विश्व-ब्रह्माण्डमें इस प्रकारका ग्रन्थ नहीं देखता हूँ। इस ग्रन्थसे जीवोंका बहुत कल्याण होगा।"

श्रील गुरुदेवने स्वरचित अपने गुरुपादपद्मकी जीवनी 'आचार्य केशरी—श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी' में लिखा है—"मेरे परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्मका आन्तरिक भाव, जिसे वे अपने भाषणोंमें प्रायः उल्लेख किया करते थे, यह था कि पारमार्थिक जीवनके निर्माणके लिए महाजनोंकी निर्मल शिक्षाका अवलम्बन करना परम आवश्यक है। श्रीवेदव्यासजीने जीवोंके सर्वोत्तम कल्याणके लिए ब्रह्मसूत्रकी रचना की है। ब्रह्मसूत्रका दूसरा नाम भक्तिसूत्र भी है।

"वेदोंके सारभागका नाम उपनिषद है। इन उपनिषदोंकी संख्या ११०० से भी अधिक है। इन उपनिषदोंका प्रतिपाद्य विषय निखिल अप्राकृत सद्‌गुणोंके आलय सर्वशक्तिमान, आनन्दमय परब्रह्मकी आराधना अर्थात् भक्ति है। जीव इस आराधनाके द्वारा ही जन्म, मृत्यु और त्रितापमय क्लेशसे सदाके लिए निवृत्त होकर परमानन्द पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवाकी प्राप्ति कर सकता है। उपनिषदोंमें कहीं-कहीं आपात्-विरोधी मन्त्र या वाक्य दृष्टिगोचर होनेपर भी ये सभी एकतात्पर्यपर हैं, उनमें यथार्थतः परस्पर कोई भेद नहीं है। सर्वज्ञ श्रीवेदव्यासने इन उपनिषदोंके अत्यन्त दुर्गम एवं निगूढ़ सिद्धान्तोंको हृदयङ्गम करानेके लिए ५५० सूत्रोंकी रचना की है, जिन्हें ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसूत्र या शारीरकसूत्र भी कहते हैं।

"हमारे भारतीय आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंका अपने-अपने भावोंके अनुरूप भाष्य लिखकर अपने-अपने मतकी पुष्टिका प्रयास किया है। सर्वज्ञ श्रीवेदव्यासने उसी समय जान लिया था कि भविष्यमें विभिन्न आचार्यगण अपने मतानुसार मेरे सूत्रोंकी टीका-व्याख्या आदि करेंगे। इसीलिए उन्होंने स्वयं ही उसका भाष्य लिखा, जो श्रीमद्भागवतके नामसे प्रसिद्ध है। उन्होंने स्वरचित पुराणोंमें इसे स्पष्ट रूपसे लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिवृंहितः॥

(गरुड़पुराण)

अर्थात् श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका सम्वर्द्धन है।

और भी,

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१५)

अर्थात् समस्त वेदोंके सारको ही श्रीमद्भागवत कहा जाता है। जो इस रससुधाका पान करके तृप्तिका अनुभव करता है, वह अन्य किसी पुराण-शास्त्रमें नहीं रम सकता।

"श्रीवेदव्यासने वेदान्तसूत्रमें *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'*, *'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'*, *'अनावृत्ति शब्दात् अनावृत्ति शब्दात्'* इत्यादि सूत्रों द्वारा स्पष्ट रूपसे भगवद्भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। साथ ही वेदान्त-भाष्य श्रीमद्भागवतमें भी उन्होंने *'स वै पुसां परो धर्मो यतो **भक्ति**रधोक्षजे।' 'मयि **भक्ति**र्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते', 'यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे। **भक्ति**रुत्पद्यते', '**भक्त्या**हमेकया ग्राह्यः'* आदि श्लोकोंके द्वारा भी उक्त भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। वेदान्तविद्-चूड़ामणि श्रील जीव गोस्वामी तथा गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने शास्त्रीय प्रमाणों तथा अकाट्य युक्तियोंसे भक्तिको ही वेदान्तसूत्रका प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित किया है। अतः भक्ति ही वेदान्तसूत्रका सिद्धान्ततः प्रतिपाद्य विषय है।

"कुछ अर्वाचीन तथाकथित विद्वान लोग ज्ञान और मुक्तिको वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित करनेकी कष्ट-कल्पना करते हैं। किन्तु यह विशेष रूपसे लक्ष्य करनेकी बात है कि वेदान्तसूत्रके ५५० सूत्रोंमें कहीं भी 'ज्ञान' या 'मुक्ति' शब्दका उल्लेख नहीं है। आचार्य शङ्कर *'वैष्णवाणां यथा शम्भो'*—इस उक्तिके अनुसार परम वैष्णव हैं। उन्होंने किसी विशेष कारणसे कपोल-कल्पित शास्त्रविरुद्ध केवलाद्वैतवाद या मायावादका प्रचार किया। अतः जीवोंके कल्याणके लिए विश्वमें सर्वत्र इस गूढ़ रहस्यका प्रचार करनेके लिए मैंने इस समितिका नाम 'श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति' रखा है।"

श्रील गुरुदेवके ज्येष्ठ सतीर्थ नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने वेदान्तभाष्यके पीठकस्वरूप 'सिद्धान्तरत्नम्' ग्रन्थके स्वलिखित 'सम्पादकीय निवेदन' में वर्णन किया है कि श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने गौड़ीय वेदान्त और गौड़ीय-वेदान्ताचार्य केशरी श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके प्रति विशेष गौरव-प्रदर्शन करनेके लिए ही अपने प्रतिष्ठित मिशनका नाम 'श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति' रखा है। इस विषयमें उन्होंने लिखा है— " 'ब्रह्म' शब्द 'शब्दब्रह्म' को लक्ष्य करता है। यह शब्दब्रह्म ही श्रीमन्महाप्रभुका प्रचारित श्रीनाम-ब्रह्म है। जो इस नाम-ब्रह्मका

अनुसन्धान नहीं करते अथवा नामतत्त्वको नहीं जानते, उनका विशुद्ध-नाम-भजन नहीं हो सकता। इसीलिए मैं श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी स्थापना करके श्रीमन्महाप्रभुके नाम-प्रेम-धर्मको ही वेदान्तके प्रतिपाद्य विषयके रूपमें कहकर सर्वत्र प्रचारित कर रहा हूँ।"

श्रील भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने और भी लिखा है—"श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके साथ श्रीगौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुका अच्छेद्य सम्बन्ध है। श्रीबलदेवके आचार-विचार और भजन-पद्धतिको श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिने सम्पूर्ण रूपसे अङ्गीकार किया है, क्योंकि श्रील बलदेव प्रभु रूपानुग वैष्णव हैं।

"श्रील गुरुपादपद्मने अपने अभीष्टदेव ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादकी उक्ति 'जब तक पृथ्वीपर शङ्करदर्शन प्रचलित रहेगा, तब तक शुद्धभक्ति (के प्रचार) में बाधा उत्पन्न होती रहेगी' सुनकर श्रीशङ्करके अद्वैतवाद या मायावादको समूल उखाड़ फैंकनेके उद्देश्यसे विभिन्न भाष्यकारोंके वेदान्त-दर्शनके १०-१२ भाष्य संग्रहकर उनकी चर्चा करके ऐसा सिद्धान्त स्थापन किया कि आचार्य शङ्करके ब्रह्मसूत्रका मौलिक सिद्धान्त वेदान्त-दर्शनसे सम्पूर्णतः विरुद्ध है। ब्रह्म निराकार, निर्विशेष और निर्गुण स्वरूप नहीं हैं। वेदान्त-दर्शनके किसी भी सूत्रमें उक्त तीनों शब्दोंका उल्लेख नहीं है। 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मसूत्रमें कहीं भी दृष्ट नहीं हुआ है। इसलिए 'ब्रह्मवाद' को कभी भी 'ज्ञानवाद' कहकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीवेदव्यास, शाण्डिल्यऋषि और नारदऋषिने भी व्याससूत्रको भक्तिग्रन्थ कहकर निर्देश किया है।

"श्रीगुरुपादपद्मने और भी लिखा है कि श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुकी चर्चा करते ही सर्वप्रथम उनके द्वारा कृत वेदान्तभाष्य—श्रीगोविन्दभाष्यकी बात स्मृति पटलपर जाग्रत होती है। उनके भाष्यने ही उन्हें चारों सम्प्रदायोंमें सञ्जीवित करके रखा हैं। उन्होंने गोविन्दभाष्यकी 'सूक्ष्मा' नामक एक टीकाकी भी रचना की है।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु गौड़ीय-सम्प्रदायके एक नक्षत्र विशेष हैं। षड्-गोस्वामियोंके उपरान्त उन्होंने सम्प्रदायका जैसा उपकार किया है, वैसा अन्य किसीने नहीं किया। इससे ऐसा बोध होता है

कि वे श्रीमन्महाप्रभुके नित्य पार्षदोंमेंसे एक हैं। श्रीगौरशक्ति श्रील भक्तिविनोद ठाकुरकी उक्ति है—श्रीबलदेव प्रभुने जयपुरमें गलता-पहाड़ीपर गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायकी विजय पताकाको लहराकर गौड़ीय-सम्प्रदायके मध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त होनेकी वैशिष्ट्य सहित घोषणा की है एवं वे स्वयं रूपानुग गौड़ीय-वैष्णव हैं—उन्होंने इसे भी प्रमाणित किया है। इसका कारण है कि वे श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्यामानन्द परिवारके अन्तर्गत हैं, श्यामानन्द प्रभुने श्रील जीव गोस्वामीका आनुगत्य स्वीकार किया है तथा श्रील जीव गोस्वामीके एकान्त भावसे रूपानुग वैष्णव होनेके कारण श्रीबलदेव प्रभु भी रूपानुग वैष्णव हैं। उनके एक साथ पाञ्चरात्रिक और भागवत-परम्परामें अवस्थान करनेपर भी उन्होंने भागवत-परम्परामें भजन-निष्ठाके माधुर्य और उसकी श्रेष्ठताको स्थापित किया है।"

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने 'सिद्धान्तरत्नम्' ग्रन्थके स्वलिखित 'सम्पादकीय निवेदन' में श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी संक्षिप्त जीवनी एवं उनकी ग्रन्थावलीके सम्बन्धमें लिखा है—

"श्रीगौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य महामहोपाध्याय पण्डितकुल मुकुटमणि श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी अतिमर्त्य जीवनी और उनके दार्शनिक विचार-वैशिष्ट्यके सम्बन्धमें मेरे गुरुपादपद्म श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज द्वारा लिखित 'गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव', श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद द्वारा प्रदत्त 'भाष्यकार-विवरण' एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित 'गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण'—इन प्रबन्धोंकी चर्चा करनेसे ही श्रील बलदेव प्रभुका सम्पूर्ण एवं सुन्दर परिचय पाया जाता है। उक्त तीन प्रबन्धोंको निम्नलिखित कुछेक भागोंमें विभक्त किया गया है—(१) श्रील बलदेवका आविर्भाव-काल, (२) जाति, धर्म, जन्मभूमि और विद्याभ्यास, (३) दैव-वर्णाश्रम धर्ममें प्रतिष्ठा, (४) द्वितीय बार गुरुकरण, (५) श्रीनवद्वीप-दर्शन और श्रीवृन्दावनमें वास, (६) श्रीनारायणकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता स्थापन करनेके लिए जयपुर यात्रा, (७) श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना, (८) गलता-गद्दीमें सत्सम्प्रदायकी

प्रतिष्ठा, (९) गौड़ीय-वैष्णवोंकी श्रेष्ठताकी स्थापना, (१०) जय लाभ और 'विद्याभूषण' उपाधिकी प्राप्ति, (११) गौड़ीय-वैष्णवोंकी अभिनव रूपसे मध्व-सम्प्रदायमें स्थिति, (१२) श्रीरूपानुगत्य, (१३) श्रीवृन्दावन स्थित श्रीश्यामसुन्दर मन्दिरमें अन्तिम जीवन यापन, (१४) काल निर्णय और गुरु-परम्परा, (१५) शिष्य-परम्परा, (१६) पाञ्चरात्रिक परम्परा और भागवत-परम्परा, (१७) ब्रह्माजीके अवतार श्रीगोपीनाथ मिश्र ही बलदेवके रूपमें अवतीर्ण और (१८) स्वरचित ग्रन्थ परिचय।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके आविर्भाव-कालका ठीक रूपसे निर्णय नहीं होनेपर भी, वे वर्त्तमान समयसे लगभग दौ-सौ से अधिक वर्ष पूर्व आविर्भूत हुए थे। वे उत्कल-प्रदेशके अन्तर्गत बालेश्वर जिलेमें रेमुणाके निकटवर्ती एक गाँवमें प्रकट हुए थे। शौक्र-वैश्यकुलमें कृषिजीवि खण्डाइत जातिमें प्रकट होकर अल्प आयुमें ही विद्या अध्ययन समाप्तकर वे तीर्थ-भ्रमणपर निकल पड़े। तत्पश्चात् चिलका-ह्रदके आस-पास व्याकरण-अलङ्कारादिका अध्ययन करके उन्होंने श्रीमाध्व-सम्प्रदायमें प्रवेश किया। वेदान्त-विशारद श्रीबलदेव थोड़े समयमें ही दिग्विजयी पण्डित हो गये।

"ब्राह्मणकुलमें जन्म-ग्रहण नहीं करनेपर भी वे जगत्में 'वैष्णवाचार्य' के रूपमें विख्यात हुए। ब्राह्मण-ब्रुवोंने वैष्णवाचार्य श्रील बलदेवके द्वारा 'विद्याभूषण' उपाधि ग्रहण करने और उनके वेदादि अध्ययनके प्रति कटाक्षपात किया, तथापि इन्होंने गीता-भागवतादिमें स्थापित वृत्तिपर (न कि जन्मपर) आधारित ब्राह्मणता या श्रौत-पन्थाकी ही श्रेष्ठता स्थापन की है।

"यद्यपि श्रील बलदेव कान्यकुब्जवासी विप्र राधादामोदरके साथ प्रथम बार विचार-प्रार्थी हुए थे, किन्तु षड्-सन्दर्भादिमें उनके अगाध पाण्डित्य एवं उनकी भक्ति और प्रेमको देखकर उनके प्रति श्रद्धायुक्त हुए तथा उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। श्रीबलदेवने अपना मध्व-सम्प्रदाय आनुगत्य सुरक्षित रखकर श्रीचैतन्यदेवको स्वयं-भगवान् जानकर श्रीमाध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् वे गुरु-कृष्णके कृपाबलसे भगवत्प्रेममें मत्त होकर श्रीक्षेत्रसे श्रीनवद्वीपधाममें जाकर

वहाँके दर्शन करनेके उपरान्त श्रीवृन्दावनमें वास करने लगे। श्रीवृन्दावनमें इन्होंने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरसे श्रीमद्भागवतादि भक्तिशास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की।

"उस समय वर्त्तमान राजस्थानके अन्तर्गत जयपुरमें एक विवाद आरम्भ हुआ। जयपुरके राजा गौड़ीय-सम्प्रदायके अनुगत रहकर श्रीनारायणसे पहले श्रीगोविन्दजीकी पूजा कराते थे। कुछेक 'श्री' सम्प्रदायके महान्त-वैष्णवों द्वारा इस पूजा-पद्धतिमें परिवर्तनकी चेष्टा करनेपर सदाचारी राजाने शास्त्र-विचारके लिए वृन्दावनसे वैष्णव-पण्डितोंको आह्वान किया। उस समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरके वृद्धावस्थामें होनेके कारण उन्होंने श्रीबलदेवको वेद-वेदान्तमें विशेष पारदर्शी जानकर जयपुर भेजा। जब श्रीबलदेव राजसभामें उपस्थित हुए और वहाँके 'श्री' सम्प्रदायी वैष्णवोंके महन्तसे मिले, तब उन महन्तने श्रीबलदेवसे पूछा कि वे किस सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। श्रीबलदेव द्वारा स्वयंको मध्व-शिष्य (सम्प्रदाय) और मध्वभाष्यके अनुगत बतलानेपर उन्होंने पुनः पूछा—'मध्वाचार्यके भाष्यमें केवल कृष्ण ही प्रतिष्ठित हैं, उसमें श्रीराधाकी प्रतिष्ठा नहीं है। श्रीगोविन्दजी क्या श्रीराधाको छोड़कर पूजा स्वीकार करेंगे?' तब श्रीबलदेवने यह जानकर कि यहाँ मध्वभाष्यके द्वारा विचार करनेसे चलेगा नहीं, कुछेक दिनोंमें ही श्रीगोविन्ददेवजीकी आज्ञासे वेदान्तसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, सहस्रनामभाष्य और उपनिषदभाष्य लिख डाला तथा गलता-पहाड़ीपर विचारसभामें 'श्री' वैष्णवोंको परास्तकर उस विद्वत्-सभा द्वारा 'विद्याभूषण' उपाधि प्राप्त की।

"उस विचार-सभामें 'श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित पथ ही सर्वोतम और सर्वश्रेष्ठ है'—इसे शास्त्रयुक्ति द्वारा स्थापनकर श्रीबलदेवने 'गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय श्रीव्यास द्वारा उक्त चार सम्प्रदायोंमें अन्यतम ब्रह्म-माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत है', ऐसी घोषणा की। इससे पहले भी गौड़ीय-सम्प्रदाय माध्व-सम्प्रदायकी शाखाके रूपमें विवेचित होता था, क्योंकि श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा मध्व-सम्प्रदायी श्रील ईश्वरपुरीपादको आचार्यके रूपमें स्वीकार करनेके कारण उनकी माध्व-सम्प्रदायभुक्ति पहलेसे ही प्रमाणित है।

"इसके बाद श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीधाम वृन्दावनमें स्थित श्रीश्यामसुन्दर मन्दिरमें अन्तिम जीवन व्यतीत किया एवं अन्यान्य ग्रन्थोंकी भी इसी समय रचना की।

"श्रील विद्याभूषण प्रभुके परमगुरु श्रीमुरारि, मुरारिके गुरु रसिकानन्द एवं उनके गुरु श्रीश्यामानन्द हैं। श्रीश्यामानन्दके गुरु गौरीदास पण्डित हैं, इन गौरीदास पण्डितके प्रति श्रीमन् नित्यानन्द प्रभुने कृपा की थी। श्रीश्यामानन्द प्रभुने परवर्ती कालमें श्रीजीव गोस्वामीका शिष्यत्व स्वीकार किया था। आचार्य श्रील बलदेव प्रभुके शिष्य उद्धवदास तथा उनके शिष्य श्रीमधुसूदन दास हैं। वैष्णव सार्वभौम श्रील जगन्नाथदास बाबाजी महाराज इन मधुसूदन दासके शिष्य हैं। श्रील जगन्नाथ दास बाबाजी महाराजसे श्रील भक्तिविनोद ठाकुर, श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराज, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद, हमारे गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज पाञ्चरात्रिक और भागवत-परम्परामें हैं।

"कथित है कि श्रीचैतन्य-पार्षद श्रीगोपीनाथ मिश्र जिन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यके साथ श्रीमन्महाप्रभुके श्रीमुख-निसृत सूत्रभाष्यको श्रवण किया था, वे ही बादमें ब्रह्म-सम्प्रदायके भाष्यकर्त्ता श्रील बलदेव विद्याभूषणके रूपमें आविर्भूत हुए। आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण रचित ग्रन्थ तालिका इस प्रकार हैः (१) श्रीगोविन्दभाष्य, (२) सूक्ष्मा-टीका, (३) सिद्धान्तरत्नम् अथवा भाष्यपीठकम् (४) सिद्धान्तरत्नम्-टीका (५) साहित्य-कौमुदी, (६) व्याकरण-कौमुदी, (७) तत्त्वसन्दर्भ-टीका, (८) इशोपनिषद भाष्य, (९) सिद्धान्त-दर्पणम्, (१०) काव्य-कौस्तुभ, (११) गोपालतापनी-भाष्य, (१२) साहित्य कौमुदी टीका (कृष्णानन्दिनी), (१३) छन्दकौस्तुभ-भाष्य, (१४) लघुभागवतामृत-टीका, (१५) 'चन्द्रालोक' ग्रन्थकी टीका, (१६) नाटक-चन्द्रिका-टीका, (१७) श्रीमद्भागवत-टीका (वैष्णवानन्दिनी), (१८) वेदान्त-स्यमन्तक, (१९) प्रमेय-रत्नावली, (२०) गीताभूषण-भाष्य, (२१) विष्णुसहस्रनाम-भाष्य (नामार्थसुधा), (२२) संक्षेप-भागवतामृत-टिप्पणी (सारङ्ग-रङ्गदा), (२३) स्तव-माला-विभूषण-भाष्य, (२४) पदकौस्तुभ, (२५) श्रीश्यामानन्दशतक-टीका।

"श्रील जीव गोस्वामी और श्रील बलदेव प्रभुका मत एक ही है, किञ्चितमात्र भी भिन्न नहीं है। तत्त्व और उपासनाके विषयमें दोनोंने एक ही प्रकारका सिद्धान्त किया है। श्रील बलदेव प्रभुने श्रीमन्महाप्रभुका 'अचिन्त्य-भेदाभेद-सिद्धान्त' ही स्वीकार किया है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने 'श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा' ग्रन्थमें कहा है कि 'ब्रह्म-सम्प्रदाय नामक एक सम्प्रदाय सृष्टिके समयसे चला आ रहा है। जो समस्त लोग ब्रह्म-सम्प्रदायको स्वीकार नहीं करते, वे भगवदुक्त पाषण्डमतके प्रचारक हैं। श्रीकृष्णचैतन्य-सम्प्रदाय स्वीकार करके भी जो भीतरमें गुरु-परम्पराकी सिद्ध-प्रणालीको स्वीकार नहीं करते, वे कलिके गुप्तचर हैं, इसमें सन्देह ही क्या है?'

"श्रील जीव गोस्वामीने आप्त-वाक्योंके प्रमाणसे स्थिर किया है कि श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय ही श्रीकृष्णचैतन्य-दासजनोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकवि कर्णपूर गोस्वामीने इसीके अनुसार दृढ़तापूर्वक स्वकृत 'गौरगणोद्देश-दीपिका' में गुरु-परम्पराका क्रम लिखा है। वेदान्तसूत्र भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी उसी प्रणालीको स्थिर रखा है। जो इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे निःसन्देह श्रीकृष्णचैतन्य चरणानुचरगणोंके प्रधान शत्रु हैं।

"भगवान्के अवतार महर्षि कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास द्वारा उत्तर-मीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शन रचित हुआ है। वेदान्त-भाष्योंमें मधुररस-प्रकाशक गोविन्दभाष्य ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि स्वयं अभिधेयाधिदेव श्रीगोविन्ददेवजीने श्रीबलदेव प्रभुको इस भाष्यकी रचना करनेकी आज्ञा प्रदानकर स्वयं इसका उपदेश दिया है। श्रीगोविन्ददेवजीके नामके अनुसार ही यह 'गोविन्दभाष्य' के नामसे जाना जाता है। श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने स्वयं इसकी 'सूक्ष्मा' नामक टीकाकी रचना की है।

"ब्रह्मसूत्र चार अध्यायोंमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। इस ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायमें समस्त वेदोंका ब्रह्ममें समन्वय है। द्वितीय अध्यायमें समस्त शास्त्रोंके साथ विरोधका परिहार है। तृतीयमें ब्रह्म-प्राप्तिका साधन है। चतुर्थमें ब्रह्म-प्राप्ति ही पुरुषार्थके रूपमें उक्त हुई है।

"निष्काम धर्म, निर्मल चित्त, सत्प्रसङ्गलुब्ध, श्रद्धालु, शम-दमादि सम्पन्न जीव ही इस शास्त्रके अधिकारी हैं। यह शास्त्र स्वयं वाचक है और ब्रह्म इसका वाच्य है, अतः परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय निरन्तर विशुद्धानन्त-गुणगण अचिन्त्यानन्त शक्ति-सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। अशेष दोषोंका विनाश करके उनका साक्षात्कार करना ही इस वेदान्त-दर्शनका प्रयोजन है। इस शास्त्रमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति—ये पाँच न्यायावयव हैं। अधिकरण अर्थात् अध्यायके अंशविशेषका नाम ही न्याय है। विचार योग्य वाक्यका नाम विषय है। एक धर्मीके परस्पर विरोधी नाना प्रकारके अर्थोंके विचारका नाम संशय है। प्रतिकूल अर्थोंका नाम पूर्वपक्ष है। प्रामाणिक रूपसे उदित अर्थोंका नाम सिद्धान्त है। पूर्व-पर दोनों अर्थोंका नाम सङ्गति है।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने स्वयं कहा है—'जिन उदार पुरुषने विद्यारूप भूषणको प्रदानकर मेरी ख्याति विस्तार की है, जिनके स्वप्नादेशसे वेदान्तसूत्रका 'गोविन्दभाष्य' प्रकाशित हुआ है, वे राधाबन्धु त्रिभङ्गभङ्गिम श्रीगोविन्ददेवजी जययुक्त हों।'

"मेरे अभीष्टदेव श्रील गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने भी श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी निम्नलिखित श्लोकसे वन्दना की है—

श्रीमध्व-सम्प्रदाय श्री-चैतन्य कुलरक्षकः।
वेदान्ताचार्य-शार्द्दूलो बलदेवो महामतिः॥

श्रीमाध्व-सम्प्रदायकी 'श्री'—श्रीचैतन्यदेवके कुल अर्थात् गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके रक्षक वेदान्ताचार्य-सिंह महामति श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु जययुक्त हों।

"गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके श्रीरूपानुगत्यमें सन्देह पोषणकारीजनोंके सम्बन्धमें श्रील गुरुपादपद्मने लिखा है कि जो श्रीबलदेवको रूपानुग स्वीकार करनेमें कुण्ठित हैं, वे वास्तवमें ही भ्रान्त और वैष्णव विरोधी हैं।"

हम पाठकोंसे अनुरोध करते है कि वे वेदान्तसूत्रके इस तृतीय अध्यायके अध्ययनसे पूर्व बँगला भाषासे अनुवादित 'भूमिका' का मनोनिवेशपूर्वक पाठ करें, जिससे उन्हें इस तृतीय अध्यायकी विषयवस्तुमें प्रवेश करनेमें एक सहज दिशा प्राप्त हो सकेगी—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इस हिन्दी संस्करणमें सूत्रोंके सभी शब्दोंके अर्थ, सभी सूत्रोंका अनुवाद और गोविन्दतोषणीवृत्तिमें विभिन्न शास्त्रोंसे उद्धृत श्लोकों एवं वैष्णवाचार्योंकी टीकाओंसे उद्धृत अंशोंको अनुवाद सहित दिया गया है, जिससे इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु हिन्दी-भाषी पाठकोंके लिए सहज बोधगम्य होगी। जिन्होंने इस ग्रन्थका प्रथम एवं द्वितीय अध्याय मनोयोग सहित पाठ किया है, वे निश्चय ही उपलब्धि करेंगे कि ग्रन्थकी विषयवस्तु इस प्रकारसे सुसज्जित की गयी है, जो सूत्रार्थ समझनेके लिए अति सुगम है। भाष्य और टीका-पाठमें जो किञ्चित् जटिलता रह गयी थी, उसे गोविन्दतोषणीवृत्तिमें यथासाध्य सहज-सरल बोधगम्य करनेकी चेष्टा की गयी है। इस प्रकार सहृदय सुधी पाठकवर्ग सहज ही इस संस्करणका वैशिष्ट्य उपलब्धि कर पायेंगे। चार अध्यायोंमें विभाजित वेदान्तसूत्रके प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अध्याय प्रकाशित हो गये हैं। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गकी कृपासे अन्तिम चतुर्थ अध्याय भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

इस विशाल ग्रन्थमें भ्रम-प्रमादवशतः कुछ त्रुटि-विच्युतियोंका रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। सुधी पाठकजन उनका संशोधनपूर्वक पाठकर हमारी इस चेष्टाको कृतार्थ करें—यही विनम्र निवेदन है। इति।

श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी
महाराजकी तिरोभाव-तिथि
१६ अक्टूबर, २०१६

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
प्रकाशन-मण्डली

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भूमिका

ॐ अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

नमो ॐ विष्णुपादाय कृष्णप्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमते भक्तिसिद्धान्त-सरस्वतीति नामिने॥

श्रीवार्षभानवीदेवीदयिताय कृपाब्धये।
कृष्णसम्बन्धविज्ञान-दायिने प्रभवे नमः॥

माधुर्योज्ज्वलप्रेमाढ्य-श्रीरूपानुगभक्तिद ।
श्रीगौरकरुणाशक्ति-विग्रहाय नमोऽस्तु ते॥

नमस्ते गौरवाणी-श्रीमूर्त्तये दीनतारिणे।
रूपानुग-विरुद्धाऽपसिद्धान्त-ध्वान्तहारिणे ॥

नमो ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठ-प्रियाय च।
श्रीमद्भक्तिविवेकभारती-गोस्वामिने नमः॥

नमो गौरकिशोराय साक्षाद्वैराग्यमूर्त्तये।
विप्रलम्भरसाम्भोधे! पादाम्बुजाय ते नमः॥

नमो भक्तिविनोदाय सच्चिदानन्दनामिने।
गौरशक्तिस्वरूपाय रूपानुगवराय ते॥

गौराविर्भावभूमेस्त्वं निर्देष्टा सज्जनप्रियः।
वैष्णवसार्वभौम-श्रीजगन्नाथाय ते नमः॥

जयति विद्याभूषणो बलदेवपूर्वो हरिरतिः सूरिः।
येन गोविन्दभाष्यं गोविन्दादेशात् प्रतेने॥

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥

श्रीगुरु, वैष्णव आर प्रभु-भगवान्।
तिनेर शरणे हय विघ्न-विनाशन॥

सेइ आशाबन्धे मुइ करिनु स्मरण।
अनायासे हय येन वाञ्छित पूरण॥

श्रीगुरु-वैष्णवोंकी अहैतुकी करुणासे वेदान्तसूत्र ग्रन्थका तृतीय अध्याय भी आत्म-प्रकाश प्राप्त कर रहा है—यह देखकर मैं स्वयंको कृतार्थ एवं धन्य अनुभव कर रहा हूँ।

कलियुग-पावनावतारी स्वयं श्रीचैतन्यदेवने और उनके अनुयायी गोस्वामी-वृन्द सभीने शास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषयको सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजनात्मक पर्याय-क्रमसे विभक्त करके वर्णन किया है। तदनुसार गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुवरने भी वेदान्तसूत्रके प्रथम एवं द्वितीय दोनों अध्यायोंको सम्बन्ध-तत्त्वका निर्णायक, तृतीय अध्यायको अभिधेय-तत्त्वात्मक एवं चतुर्थ अध्यायको प्रयोजन-तत्त्वात्मक रूपमें निर्णय किया है। शास्त्रकी मूल प्रतिपाद्य वस्तुके साथ अन्यान्य पदार्थोंका जो संश्लिष्ट-भाव है, उसे सम्बन्ध कहते हैं, मूल प्रतिपाद्य वस्तुको प्राप्त करनेका जो स्वाभाविक उपाय है, उसे अभिधेय अथवा साधन कहते हैं और उसी मूल वस्तु अथवा मूल-तत्त्वकी प्राप्तिका नाम प्रयोजन है। वेदान्तके तृतीय अध्यायमें अभिधेय अथवा साधन तत्त्वके विषयमें वर्णन किया गया है। जीवका 'अभिधेय' कहनेसे तात्पर्य है—जीवात्माकी स्वाभाविक वृत्तिका ज्ञान। शब्द जिस प्रकार अभिधा एवं लक्षणा वृत्ति भेदसे अर्थका बोध कराता है अर्थात् जिससे सहज अथवा स्वाभाविक रूपसे मुख्य अर्थ प्रकाशित होता है, उसे अभिधावृत्ति कहते हैं और जिससे गौण रूपसे अर्थ प्रकाशित होता है, उसे लक्षणावृत्ति कहते हैं। इस प्रकारसे जीवात्माकी स्वाभाविकी मुख्य-वृत्तिको 'अभिधेय' कहा जाता है।

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीको लक्ष्य करते हुए हम जगत्के जीवोंको सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वके विषयमें जो शिक्षा दी है, उसमेंसे अभिधेय तत्त्वके वर्णनमें पाया जाता है, यथा—

'एइत' कहिलुँ सम्बन्ध-तत्त्वेर विचार।
वेदशास्त्रे उपदेशे, कृष्ण एक सार॥

एबे कहि, शुन, अभिधेय-लक्षण।
याहा हैते पाइ कृष्ण, कृष्ण प्रेमधन॥

कृष्णभक्ति— अभिधेय सर्वशास्त्र कय।
अतएव मुनिगण करियाछे निश्चय॥

(मुनि-वाक्य)

श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदराधनविधिं,
यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी।
पुराणादया ये वा सहजनिवहान्ते तदनुगा,
अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर भवानेव शरणम्॥

(चै॰च॰म॰ २२/३-६)

अर्थात् अब सम्बन्ध-तत्त्वका विचार आलोचित किया जाता है। सकल वेदशास्त्र यही उपदेश करते हैं कि एकमात्र श्रीकृष्ण ही सार (सम्बन्ध) तत्त्व हैं। श्रीकृष्णसे ही जीवका नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध है। समस्त शास्त्रोंकी प्रतिपाद्य वस्तु एकमात्र श्रीकृष्ण हैं। श्रीमन्महाप्रभुने कहा, सनातन! अब मैं तुम्हें अभिधेय-तत्त्वका स्वरूप बतलाता हूँ। सुनो! अभिधेयसे ही श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णमें प्रेम-धनकी प्राप्ति होती है। 'कृष्ण-भक्ति' को ही समस्त शास्त्रोंमें अभिधेय बतलाया गया है। मुनिगणोंका भी यही निश्चय है।

माता-स्वरूपा (माताके समान हिताभिलाषिणी) जीवका पालन करनेवाली श्रुति जिज्ञासित होनेपर आपकी आराधना-वृत्तिका उपदेश करती है, स्मृति भी इसी प्रकार भगिनीस्वरूप होकर उपदेश करती है, पुराणादि भातृ रूपमें श्रुतिमाताके अनुगत होकर वही बतलाते हैं। हे मुरहर! (हे मुरारे!) आप ही एकमात्र शरण हैं, यह मैंने सत्य ही जान लिया है।

अब इस अभिधेय-तत्त्वके विषयमें किञ्चित् समालोचना करते हैं। भगवान् क्या वस्तु हैं, जीव क्या है, जगत् क्या है? इन समस्त प्रश्नोंकी सुष्ठुरूपेण मीमांसा करनेपर सम्बन्धज्ञानका उदय होता है।

'वेदान्तसूत्रम्' के प्रथम और द्वितीय अध्यायमें इसी सम्बन्ध-तत्त्वकी विशेष रूपसे आलोचना की गयी है। श्रीगुरुदेवकी कृपासे सम्बन्धज्ञान-लब्ध जीवके कर्त्तव्य रूपमें शास्त्रने जो उपदेश प्रदान किया है, उसीको 'अभिधेय' अथवा 'साधन-तत्त्व' कहते हैं। जीव जब भगवत्-विमुख होकर जड़देहमें आत्म-बुद्धि करते हुए बाह्य-विषय-भोगमें व्यस्त (लीन) हो जाता है, तब वह सम्बन्धज्ञानके अभावमें यथेच्छाचारी होकर मायाके साम्राज्यमें प्रवृत्ति-मार्गका आश्रय करता है और नाना प्रकारके दण्ड भोग करता है। कभी तो सत्कर्मके फलस्वरूप स्वर्गादि वास करता है और कभी असत् कर्मके फलस्वरूप नरकादि भोग करता है।

इस सन्दर्भमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमहाप्रभुके वाक्य द्रष्टव्य हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥

कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय॥

(चै॰च॰म॰ २०/११७-११८)

अर्थात् जिस समय बद्धजीव नाना प्रकारसे कर्मफल भोग करते-करते जन्म-जन्मान्तरीय भक्ति उन्मुखी अज्ञात सुकृतिके फलस्वरूप वास्तव साधु-सङ्ग प्राप्त करता है, उसी समय उसके साधु-सङ्ग क्रमसे उसे शास्त्र-श्रवणका सौभाग्य प्राप्त होता है और तब वह स्वयंके स्वरूप विभ्रमके विषयमें जान सकता है। वह यह भी जान जाता है कि कृष्ण-विमुखताके कारण वह दैवी-मायाकी अधीनतामें अनादि कालसे त्रिताप-ज्वालासे त्रस्त हो रहा है, अब यदि वह भाग्य-क्रमसे साधुका चरणाश्रय कर लेता है तो हरि-भजनरूप अपने नित्य कर्त्तव्यको जानकर हरि-भजनमें प्रवृत्त हो सकता है। तब वह मायाके हाथोंसे निस्तार प्राप्त करके श्रीभगवान्के पादपद्म प्राप्त कर सकता है। श्रीमन्महाप्रभुने कहा है—

साधु-शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय।
सेइ जीव निस्तारे माया ताहारे छाड़य॥

(चै॰च॰म॰ २०/१२०)

जीव जब तक शुद्ध-भक्तोंके चरणाश्रयका सौभाग्य प्राप्त नहीं करता, तब तक वह यह नहीं समझ सकता कि शुद्धा-भक्ति ही आत्माकी एकमात्र नित्य-वृत्ति अथवा कर्त्तव्य है और अद्वयज्ञान-परतत्त्व व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही एकमात्र परमोपास्य हैं। कृष्ण एवं कार्ष्णकी अहैतुकी करुणा और अपनी अशेष (सम्पूर्ण) भक्ति-उन्मुखी सुकृतिके बिना श्रीकृष्णमें सम्बन्धज्ञान, कृष्णभक्तिमें अभिधेयज्ञान और कृष्णप्रेमको प्रयोजन ज्ञानका विचार जीवके भाग्यमें उदित नहीं हो सकता।

जो किञ्चित् सौभाग्य-क्रमसे कर्म-मार्गकी हेयताकी उपलब्धि करते हुए ऐहिक (लौकिक) एवं पारत्रिक (पारलौकिक) लभ्य तुच्छ भोगोंकी लालसाका परित्याग करके मायाके हाथोंसे उद्धार प्राप्त करनेकी अभिलाषा करते हैं, उन्हें भाग्यसे यदि ज्ञानमार्गावलम्बी साधुका सङ्ग मिलता है, तो वे ज्ञान-पथका आश्रय कर लेते हैं।

ज्ञानी चित् अथवा सम्वित् शक्तिके अनुशीलनमें व्यतिरेक चिन्ताके द्वारा ही बाह्य जगत्के नाम एवं रूपको रज्जु सर्पवत् काल्पनिक मान लेते हैं और जब उनकी कल्पना निरस्त हो जाती है, तब उन्हें यही जगत् विशुद्ध, केवल चिन्मात्र, प्रत्यक्, सत्य, पूर्ण, अनन्त, सत्त्वादिगुणयुक्त, नित्य एवं अव्यय ब्रह्मरूपमें उपलब्ध होता है—इस प्रकारके सिद्धान्तमें वे उपनीत (दीक्षित) होते हैं। वे सन्धिनी एवं ह्लादिनी रूपा दोनों शक्तियोंका अनुशीलन नहीं करते, इसलिए इन दोनोंकी क्रिया उन्हें स्तब्धीभूत (संज्ञाशून्य) कर देती है। फलस्वरूप ज्ञानियोंके निकट स्वयंकी, ब्रह्मकी एवं अन्यान्य तत्त्वोंकी सत्ताकी अथवा क्रियाशीलताकी किसी भी प्रकारकी कोई धारणा प्रकटित नहीं होती। यही कारण है कि वे निष्क्रिय ब्रह्मसे अतिरिक्त सत्ताके अस्तित्वको स्वीकार करना नहीं चाहते और वे जिस कारणसे स्वयंको ब्रह्मके रूपमें अभिमान करते हैं, उसी कारणसे वे ध्याता-ध्येय अथवा सेवक-सेव्य भावोचित साधनाके परिवर्त्तमें 'नेति नेति' विचारको ही साधनाके अङ्ग रूपमें निश्चय करनेके लिए बाध्य रहते हैं।

योगीगण सम्वित् एवं सन्धिनी दोनों शक्तियोंका अनुशीलन करते हैं। सत्ता प्रकाशिनी सन्धिनीशक्तिको क्रियावती रखनेके व्यतिरेक रूपमें ध्यान करते हुए वे इस प्रकारके आकारमें धारणाबद्ध होते हैं कि

परमात्मा बाह्य जगत्में ओत-प्रोत रूपसे स्थित, निराकार, निष्क्रिय, बृहत्-चित्-सत्ता, विशुद्ध, प्रत्यग् दशामें अवस्थित, सत्य, पूर्ण, अनादि, अनन्त, नित्य, अव्यय हैं एवं अन्यान्य पदार्थ उनके ही अंश हैं और उनमें अवस्थित हैं। इनके मतमें बाह्याकारसमूहकी धारणा अविद्याजात है। 'ध्यान-योग' द्वारा परमात्मामें निज अंशरूप अवस्थानकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होनेपर इन योगियोंका अविद्या-बीज ध्वंस होता है।

भक्तगण सत्, चित् एवं आनन्द (ह्लादिनी) रूपा तीनों शक्तियोंके अनुशीलनमें रत रहते हैं और फलस्वरूप वे षडैश्वर्यपूर्ण श्रीभगवान्को परतत्त्वके रूपमें जानते हैं। इनके मतमें श्रीभगवान् विभु, चित्-पदार्थ और शक्तिमान तत्त्व हैं, अणु-चित् जीवगण उनकी तटस्था नामक शक्तिकी परिणति हैं, जड़-जगत् उनकी मायाशक्तिकी परिणति है और सेवा-विमुख जीवोंके लिए यह जगत् कारागारके समान है। जड़ जगत्के ऊर्ध्वदेशमें स्थित् चित् जगत् (अथवा श्रीभगवान्की नित्य-विहार-भूमि) अन्तरङ्गाशक्तिकी परिणति है। चित्-जगत्में श्रीभगवान् नित्यमुक्त और साधन-सिद्ध जीवोंके साथ लीला-रसका आस्वादन करते हैं। चित्-जगत् एवं जड़-जगत्के सन्धि-स्थलपर स्थित कारण-वारिमें श्रीभगवान् अंश रूपमें विराजते हैं तथा इसी अंशके द्वारा अपनी चित्-शक्तिके अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्था नामक प्रभाव-त्रयको चित्, अचित् और जीव-जगत् रूपमें परिणत करते हैं। वैकुण्ठके बहिर्भाग और कारण-वारिके ऊपरी प्रदेशमें जो चिज्ज्योतिः अवस्थित है, वही श्रीभगवान्की अङ्ग-ज्योतिः एवं औपनिषद ब्रह्म है। ब्रह्माण्डके अन्तर्गत जो विराट् अथवा समष्टि हैं और जीव-हृदयमें अन्तर्यामी कर्मफलप्रदाता परमात्म रूपमें जो व्यष्टि विष्णु हैं, वे कारणवारिमें स्थित अंशरूपी श्रीभगवान्की अंश-विभूति हैं। चित्-जगत्के वैकुण्ठ नामक प्रकोष्ठमें जो नारायणमूर्त्ति हैं, वे श्रीभगवान्के ऐश्वर्यस्वरूप हैं और गोलोक नामक प्रकोष्ठमें जो कृष्णमूर्त्ति हैं, वही उनकी माधुर्यपर, स्वयंरूप एवं असमोर्द्धस्वरूप हैं। भगवत्-सेवानन्द ही जीवका चरम प्राप्यफल है, भगवत्-सेवाके बिना मायाके हाथोंसे जीवका निस्तार नहीं हो सकता। जब तक भोग एवं मोक्षकी स्पृहा रहती है, तब तक सेवा-बुद्धि उदित हो नहीं सकती। ब्रह्म एवं परमात्मा-वादीगण ह्लादिनी-

शक्तिका अनुशीलन न करनेके कारण परतत्त्वको निःशक्तिक रूपमें स्थिर करके पूर्णतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेसे वञ्चित रह जाते हैं।

इस स्थलपर देखा जाता है—ब्रह्म एवं परमात्मवादियोंका एकमात्र उद्देश्य आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति है—इस अभिसन्धिको मोक्षकी इच्छा कहते हैं। कर्मीगण भोगाभिलाषी होते हैं। कृष्ण-भक्तोंके सम्बन्धमें देखा जाता है—

कृष्णभक्त—निष्काम अतएव 'शान्त'।
भुक्ति-मुक्ति सिद्धि कामी सकलई 'अशान्त'॥

(चै॰च॰म॰ १९/१४९)

अतएव कर्मी, ज्ञानी और योगियोंमेंसे किसीका भी मुख्य अभिधेयत्व नहीं है, उनका जो कुछ अभिधेयत्व है, वह केवल गौण रूपमें दिखायी देता है अर्थात् वह प्रवृत्तिमार्गको किसी भी प्रकारसे शिथिल करनेका अभिप्रायमात्र है। वेदादि शास्त्रोंमें भक्तिका ही मुख्य अभिधेयत्व स्वीकृत हुआ है।

श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध', 'अभिधेय', 'प्रयोजन'।
'कृष्ण' प्राप्य सम्बन्ध, 'भक्ति' प्राप्येर साधन॥

अभिधेय-नाम 'भक्ति' 'प्रेम' प्रयोजन।
पुरुषार्थ-शिरोमणि प्रेम-महाधन॥

कृष्ण-माधुर्य सेवा-प्राप्त्येर कारण।
कृष्ण सेवा करे कृष्ण-रस आस्वादन॥

(चै॰च॰म॰ २०/१२४-१२६)

अर्थात् वेद इत्यादि शास्त्रोंसे जाना जा सकता है कि सम्बन्धतत्त्व (शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय), अभिधेयतत्त्व (शास्त्र-विहित जीवका कर्त्तव्य) तथा प्रयोजन (साध्य-वस्तु) क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण प्राप्तव्य सम्बन्धतत्त्व हैं, वे ही समस्त शास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषय हैं। भक्ति उनकी प्राप्तिका साधन अर्थात् अभिधेयतत्त्व है एवं प्रेम प्रयोजन है। प्रयोजनसे तात्पर्य है—श्रीकृष्ण-सेवाकी प्राप्ति। इस प्रकार प्रेम प्रयोजन तो है ही, साथ ही महाधन है, समस्त पुरुषार्थोंमें शिरोमणि

है। प्रेमके द्वारा ही श्रीकृष्णके माधुर्यका आस्वादन हो सकता है और यही प्रेम उनकी सेवाके आनन्दका परम कारण होता है। कृष्णकी लीला-माधुरी, वेणु-माधुरी, रूप-माधुरी और प्रेम-माधुरीका आस्वादन प्रेम अर्थात् कृष्णकी सेवासे प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० १/२/६)

अर्थात् मनुष्योंके लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो। भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो, और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृत्कृत्य हो जाता है।

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

(श्रीमद्भा० ४/२२/३९)

अर्थात् भक्तगण भगवान्के चरणकमलोंकी पंखुड़ियों जैसी अङ्गुलियोंकी छिटकती हुई छटाका भक्तिपूर्वक स्मरण करते हुए जिस प्रकार कर्म-वासनाओंसे गठित हृदय-ग्रन्थिका अनायास ही छेदन कर डालते हैं, भक्तिसे रहित निर्विषयी योगी इन्द्रियोंको संयत करनेपर भी हृदय-ग्रन्थिका उस प्रकारसे छेदन करनेमें समर्थ नहीं हो पाते। अतः इन्द्रिय-निग्रहादिकी चेष्टाका परित्याग करके भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये।

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नाम-ग्रहणादिभिः॥

(श्रीमद्भा० ६/३/२२)

अर्थात् इस जगत्में जीवोंके लिए एकमात्र यही सबसे बड़ा कर्त्तव्य अर्थात् परमधर्म है कि वे नाम-कीर्त्तन आदि उपायोंसे भगवान्के चरणोंमें भक्ति-भाव प्राप्त कर लें।

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२५/४४)

अर्थात् यदि मनुष्यका चित्त सुदृढ़ एवं अनन्य-भक्तियोगके द्वारा मुझमें अर्पित होकर स्थिर हो जाय, वही इस संसारमें मनुष्यके लिए सबसे महान कल्याणकी प्राप्ति है, यह जानना चाहिये।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥
(श्रीमद्भा॰ १/२/७)

अर्थात् भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके प्रति परम धर्म अर्थात् प्रेमभक्तिको उदय करानेकी चेष्टारूप श्रवण-कीर्त्तन आदि रूप (साधन) भक्तियोगके अनुष्ठित होते-होते अनायास ही विषयोंसे वैराग्य हो जाता है तथा अभेदरूप मोक्ष कामनासे रहित भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले शुद्ध अद्वय-ज्ञानका उदय हो जाता है।

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धवः।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१४/२०)

अर्थात् हे उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ (स्वाध्याय) और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनों-दिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति।

भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१४/२१)

अर्थात् श्रद्धाके द्वारा की गयी एकनिष्ठ (अनन्य) भक्ति द्वारा सन्तोंकी प्रिय आत्मा मुझे सज्जनगण प्राप्त होते हैं अर्थात् मैं मात्र साधुओं द्वारा ग्राह्य हूँ। मुझमें दृढ़ (एकाग्र) भक्ति कुक्कुर-माँस भोजी, नीचजातिको भी जातिगत दोषसे पवित्र कर देती है।

श्रीमद्भगवद्गीता (७/१४) में भी देखा जाता है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् सत्त्वादि गुण विकारात्मिका एवं जीव-मोहिनी मेरी एक अलौकिकी (त्रिगुणात्मिका) माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सुगमतापूर्वक इस मायासे पार हो जाते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(श्रीगी॰ ८/४)

अर्थात् हे पार्थ! जो अन्य किसी भावनासे शून्य होकर निरन्तर प्रतिक्षण मेरा स्मरण करते हैं, ऐसे उन नित्ययुक्त योगियोंके लिए मैं सुलभ हूँ।

अनन्यश्चिन्तयतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(श्रीगी॰ ९/२२)

अर्थात् जो अनन्य मनसे मेरे दिव्य स्वरूपका चिन्तन करते हुए भक्तिभाव सहित मेरा भजन करते हैं, उन समस्त एकनिष्ठ भक्तोंके भरण-पोषण और संरक्षणका भार मैं स्वयं वहन करता हूँ।

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(श्रीगी॰ १४/२६)

अर्थात् जो ऐकान्तिक भावसे भक्तियोग द्वारा श्यामसुन्दराकार मुझ परमेश्वरकी ही भक्तियोग द्वारा सेवा करते हैं, वे इन गुणोंको (सत्त्व-रज-तम) पारकर ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(श्रीगी॰ १८/३५)

अर्थात् तुम मुझे चित्त समर्पण करो, मेरे नाम-रूप-लीला आदिके श्रवण-कीर्त्तन आदि परायण होकर मेरे भक्त होओ, मेरी पूजा

करनेवाले होओ और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।

विष्णुकी उपासनाके विषयमें सर्वापेक्षा प्राचीनतम प्रमाण ऋग्वेद-संहितामें पाया जाता है। श्रीनाम-कौमुदी (तृतीय परिच्छेद) में श्रीलक्ष्मीधर उद्धृत ऋक्-मन्त्र (१/१५६/३) है—

तम् स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
ॐ आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥

सायणाचार्यने इसका व्याख्यानुवाद इस प्रकारसे किया है—हे स्तोतागण! आप लोग विष्णुको जितना भी जानते हैं, उसीके अनुरूप स्तोत्रादिके द्वारा उन्हें प्रसन्न करो। वे ही सबके आदि हैं, वे ही यज्ञरूपमें अवस्थित हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम जलकी सृष्टि की। उनका अनुग्रह प्राप्त होनेपर ही उनकी स्तुति की जाती है। अनुग्रह-प्राप्त महानुभाव विष्णुका नाम 'चित्' अर्थात् समस्तके नमस्कार योग्य, सर्वात्माके प्रतिपादक एवं समस्त पुरुषार्थप्रद—इस प्रकारसे जानते हैं और यह जानकर 'आ' अर्थात् चारों दिशाओंमें व्याप्त करके 'विवक्तन' कहते हैं अर्थात् चतुर्दिक् सङ्कीर्त्तन करते हैं। हे विष्णो! इस प्रकार आपका नाम करते-करते आपकी कृपासे हम आपके स्वरूपका साक्षात्काररूप सुमति प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे।

श्रीजीवगोस्वामीपादने अपने श्रीभगवत्-सन्दर्भमें इस मन्त्रके द्वितीय चरणकी व्याख्यामें कहा है, हे विष्णो! आपका नाम 'चित्' अर्थात् चैतन्यस्वरूप है, अतएव यह महः अर्थात् स्वयंप्रकाश है। इस नामकी महिमा ईषत् मात्र भी जान लेनेपर अर्थात् इसके उच्चारणके माहात्म्यादिको पहले सम्यक्रूपेण (पूर्णरूपेण) न जानते हुए भी यदि अक्षर मात्रका भी उच्चारण किया जाय, तो भी आपका साक्षात्कार किया जा सकता है।

ऋग्वेदक प्रथम मण्डलके १५४वें सूक्तके छठे ऋक्में विष्णुके वीर्य (पराक्रम) के विषयमें वर्णन हुआ है कि उनका त्रिधाम माधुर्य एवं आनन्दपूर्ण है। वहाँ भक्तगण आनन्द प्राप्त करते हैं, विष्णुका धाम

माधुर्यके उत्ससे परिपूर्ण है। इस स्थानपर बहुत-से शृङ्गयुक्त और द्रुतगतिशील कामधेनुएँ अवस्थित हैं। इस धाममें श्रीविष्णु विराजमान रहते हैं।

विष्णुपरतम तत्त्व ही श्रीकृष्ण हैं, वही श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—*'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३९) अर्थात् जो व्रजवधुओंके साथ कृष्णकी लीला सुनते हैं, इस स्थलपर व्रजवधूवल्लभ स्वयंरूप श्रीकृष्णको 'विष्णु' शब्दसे कहा गया है।

महर्षि पाणिनिने भी भक्ति शब्दका प्रयोग करते हुए एक सूत्रकी रचना की है—*'भक्तिः'* (पाणिनिसूत्रः ४/३/९५) (*भज्यते सेव्यते इति भक्तिः*) और इस सूत्रके दो सूत्र बाद ही *'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्'* (पा॰ ४/३/९८) सूत्रका वर्णन है।

श्रीजीव गोस्वामीपादने भी अपने श्रीहरिनामामृत-व्याकरणमें भी इसी सूत्रका संरक्षण किया है—(द्रष्टव्य श्रीह॰ना॰व्या॰ ७/५४६)

श्रीभक्तिसन्दर्भके २३४वें अनुच्छेदमें निम्न मन्त्र उद्धृत किया गया है—*स होवाच याज्ञवल्क्यस्तत् पुमानात्महिताय प्रेम्णा हरिं भजेत्।* (शतपथ-श्रुति)

अर्थात् उन्होंने (राजर्षि जनकने) याज्ञवल्क्यसे कहा, प्राणियोंको आत्म-कल्याणके लिए प्रेमपूर्वक श्रीहरिका भजन करना चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद (६/२३) में भी द्रष्टव्य है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

अर्थात् जिसकी भगवान्में पराभक्ति है और श्रीभगवान्के समान ही श्रीगुरुदेवके प्रति शुद्धाभक्ति है।

इसी प्रसङ्गमें तैत्तिरीयोपनिषद (२/७) एवं बृहदारण्यक (१/४/३) की श्रुतियाँ भी आलोच्य हैं।

शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रमें देखा जाता है—

अथ भक्तिं व्याख्यास्यामः सा परानुरक्तिरीश्वरे।

(१/१-२)

अर्थात् अब इसके बाद भक्तिकी व्याख्या करते हैं—ईश्वरमें परानुरक्ति ही भक्ति है।

और भी,

भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी।
(ब्र॰सू॰ ३/५/५३ में माध्वभाष्य धृत माठर-श्रुति वचन)

अर्थात् भक्ति ही जीवको भगवान्‌के निकट ले जाती है, भक्ति ही जीवको भगवत्-दर्शन कराती है। वे परमपुरुष भगवान् एकमात्र भक्तिके ही अधीन हैं। भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

पुनः नारदसूत्रमें—

"ॐ अमृतरूपा च", "ॐ" यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवत्यमृती भवति तृप्तो भवति। "ॐ यत् प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।" (नारदसूत्र १/४-५)

अर्थात् भक्ति अमृतस्वरूपिणी है। इस भक्तिको प्राप्त करके जीव सिद्ध होते हैं, अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं एवं आत्मतृप्त होते हैं। भक्ति प्राप्त कर लेनेपर विषय-वासना, शोक-द्वेष एवं भगवत्-विमुख कर्म—इनमें जीवका उत्साह नहीं रहता।

नारदपञ्चरात्रमें भी कहा गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषिकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

अर्थात् अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा (अप्राकृत) इन्द्रियाधिपति श्रीकृष्ण-सेवा ही भक्ति है। ऐसी भक्ति औपाधिक अर्थात् देह और मनोधर्मके व्यवधानसे रहित कृष्णकी प्रीतिके लिए अखिल चेष्टायुक्त एवं निर्मल अर्थात् ज्ञान-कर्मरूप लताओंसे आच्छादित नहीं होती।

वेदान्तसूत्रके इस तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके चौबीसवें संख्यक सूत्रमें स्पष्ट रूपसे भक्तिको ही श्रेष्ठ अभिधेयके रूपमें निर्णय किया है। सूत्र है—*'अपि संराधने प्रत्यक्षानुभ्याम्'*—इस स्थलपर स्पष्ट कहा गया है कि 'संराधने' अर्थात् सम्यक् आराधनासे परब्रह्मका साक्षात्कार होता है। इसके बाद ही कहा गया है 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' अर्थात् प्रत्यक्ष शब्दसे श्रुति और अनुमान शब्दसे स्मृति—श्रुति एवं स्मृति द्वारा ही यह प्रमाणित होता है। मुण्डक एवं कठोपनिषदमें भी यही कथित है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(मु॰ ३/२/३, कठ॰ २/२३)

अर्थात् ये परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त होते हैं, बल्कि जिसे ये कृपा करके स्वीकार कर लेते हैं, उसके द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं, क्योंकि ये परमात्मा उसके निकट ही अपने यथार्थ रूपको प्रकट करते हैं। कठोपनिषदमें कहा गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ॰ २/१/१)

अर्थात् स्वयं प्रकट होनेवाले भगवान्ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित (वर्जित) कर दिया है (इन्द्रियोंको बाहरकी ओर जानेवाली बनाया है), बहिर्मुख जीव इन इन्द्रियोंसे बाह्य विषयोंको देखता है, अपनी अन्तरात्मामें स्थित-परमात्माका वह दर्शन नहीं कर पाता। बहिर्मुख जीवके लिए परमात्मा इन्द्रियगोचर नहीं होते। कोई धीर विवेकी व्यक्ति यदि कृष्णप्रेमरूप अमृतत्वकी अभिलाषा करता है तो वही नेत्रादि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे निवृत्तकर अन्तर्वर्त्ती परमात्मा (प्रत्यक् आत्मा) का दर्शन कर पाता है।

स्मृति-वाक्य श्रीगीतामें भी पाया जाता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥
(श्रीगी॰ ११/५४)

अर्थात् हे परन्तप अर्जुन! एकमात्र अनन्याभक्तिके द्वारा ही ऐसा रूप विशिष्ट मैं तत्त्वतः जानने, देखने और प्रवेश करनेमें समर्थ होता हूँ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(श्रीगी॰ १८/५५)

अर्थात् जिस प्रकार मैं विभूतिसम्पन्न हूँ और मेरा जो स्वरूप है, उसे भक्ति द्वारा ही तत्त्वतः जाना जा सकता है। प्रेमाभक्तिके बलसे भक्त मुझे तत्त्वतः जानकर मेरी नित्यलीलामें प्रवेश करते हैं।

'संराधन' शब्दका अर्थ है 'भक्ति'—विभिन्न आचार्योंने वही बतलाया है। श्रीरामानुजके भाष्यमें पाया जाता है—

'अपि च, संराधने—सम्यक् प्रीणने भक्तिरूपापन्ने निदिध्यासने एवास्य साक्षात्कारः। नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते।' इसका अर्थ है कि 'संराधन' अर्थात् प्रेमाभक्ति रूपापन्न निदिध्यासनसे ही साक्षात्कार होता है, अन्य उपायोंसे नहीं—ऐसा श्रुति-स्मृतिसे निश्चित होता है।

श्रीरामानुजाचार्य पुनः कहते हैं—*'भक्तिरूपापन्नेमेवोपासनं संराधनम्'* अर्थात् भक्तिरूपताको प्राप्त उपासनाको संराधन कहते हैं।

श्रीनिम्बादित्याचार्यका कथन है—*'भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते ब्रह्म।'* इस कथनसे तात्पर्य है 'संराधन' अर्थात् विधिपूर्वक भक्तियोगसे ध्यान करनेपर परब्रह्म व्यक्त होते हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजीने कहा है—*'संराधने सम्यक् सेवायां भगवत्तोषे जाते दृश्यते।'* 'संराधन' अर्थात् विधिवत् सेवासे भगवान्के सन्तुष्ट होनेपर उन्हें देखा जा सकता है।

इतना ही नहीं, श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—*'संराधन' भक्तिध्यान प्रणिधानाद्यनुष्ठानम्'* भक्ति, ध्यान और प्रणिधान (समाधि) अर्थात् भक्ति एवं ध्यानसे भगवान्का पूर्ण रीतिसे चित्तमें निधान (स्थापन) को संराधन (सम्यक् आराधन) कहा जाता है।

श्रीभास्कराचार्य कहते हैं—*'संराधनं भक्तिध्यानादिना परिचर्या'*—भक्ति, ध्यान आदिके द्वारा भगवान्की परिचर्या (सेवा) ही संराधन है।

यह 'भक्ति' जो नित्य है, यह वर्णन भी वेदान्तके ४/१/१२ सूत्रमें प्राप्त होगा।

'यं सर्वे देवा आमनन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च'—इस श्रुतिकी व्याख्यामें अद्वैताचार्य श्रीशङ्कर भी कहते हैं—मुक्त (सायुज्य-मुक्ति-प्राप्त) पुरुषगण भी स्वेच्छासे विग्रह धारण करके श्रीभगवान्का भजन करते हैं।

'आप्रायणात्' (ब्र॰सू॰ ४/१/१२) अर्थात् मुक्ति पर्यन्त 'तत्रापि' अर्थात् मुक्तावस्थामें भी 'हि' अर्थात् निश्चय ही 'दृष्टम्' अर्थात् 'भगवदुपासना' देखी जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(श्रीगी॰ १८/५४)

अर्थात् ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित्त व्यक्ति न तो शोक करते हैं और न ही आकांक्षा करते हैं। वे सभी भूतोंमें समदर्शी होकर प्रेमलक्षणायुक्त मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं।

इस श्लोकमें भी मुक्त पुरुषको ही पराभक्तिका अधिकारी बताया गया है।

श्रील जीवगोस्वामी प्रभुने भी श्रीभगवत्-सन्दर्भके अन्तर्गत अपने श्रीभक्ति-सन्दर्भमें भक्तिके अभिधेयत्व विषयमें सुपरिष्कृत रूपसे जो वर्णन किया है, यह विशेष रूपसे आलोच्य है।

श्रीमन्महाप्रभुने स्पष्ट रूपसे हमें बतलाया है—

ऐछे शास्त्र कहे—कर्म, ज्ञान, योग त्यजि।
'भक्त्ये' कृष्णवश हय, भक्त्ये ताँरे भजि॥

अतएव 'भक्ति'—कृष्णप्राप्त्येर उपाय।
'अभिधेय' बलि तारे सर्वशास्त्र गाय॥
(चै॰च॰म॰ २०/१३६, १३९)

अर्थात् समस्त शास्त्र प्रेमधनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय यही बतलाते हैं कि कर्म, ज्ञान एवं योग इत्यादि साधनोंको छोड़कर मात्र भक्ति द्वारा श्रीकृष्णका भजन करो। श्रीकृष्ण भक्तिके वशीभूत हैं, इसलिए उनका ही भजन करो।

श्रीमन्महाप्रभुने कहा, "हे सनातन! केवल भक्ति ही श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी मूल साधन है। समस्त शास्त्र भक्तिको ही मुख्य रूपसे 'अभिधेय-तत्त्व' कहकर उच्च स्वरसे गान करते हैं।"

कृष्णभक्ति हय अभिधेय प्रधान।
भक्तिमुख—निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान॥
एइ सब साधनेर अति तुच्छ बल।
कृष्ण भक्ति बिना ताहा दिते नारे फल॥
केवल ज्ञान 'मुक्ति' दिते नारे भक्ति बिना।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय ज्ञान-बिना॥

(चै॰च॰म॰ २२/१७, १८, २१)

अर्थात् कृष्णभक्ति ही प्रधान अभिधेय-तत्त्व है, क्योंकि कर्म, योग और ज्ञान—ये तीनों भक्ति-मुखका ही निरीक्षण किया करते हैं अर्थात् इन समस्त साधनोंका बल अति तुच्छ है—इनमेंसे कोई भी कृष्णभक्तिकी सहायताके बिना स्वतन्त्र रूपसे अपना फल प्रदान करनेमें असमर्थ है। हे सनातन! भक्तिके बिना केवल ज्ञान मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता। जो साधक कृष्णके प्रति उन्मुखमात्र ही होते हैं अर्थात् उनके सम्मुख होकर किञ्चित् भी सेवा करनेकी लालसा रखते हैं, उन्हें तो बिना ज्ञान-प्राप्तिके ही मुक्ति करतलगत हो जाती है। मायाधीन भी कृष्णोन्मुख होनेपर मायाके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।

मुक्ति-भुक्ति-सिद्धिकामी 'सुबुद्धि' यदि हय।
गाढ़ भक्तियोगे तवे कृष्णेर भजय॥

(चै॰च॰म॰ २२/३५)

अतः ऐहलौकिक और पारलौकिक भोगोंकी सिद्धिकी कामना करनेवाला कर्मी साधक, मुक्तिकी साधना करनेवाला ज्ञानी साधक तथा अष्ट सिद्धियोंकी कामना करनेवाला योगी साधक—यदि ये सभी उत्तम बुद्धिवाले हैं, तो उन्हें तीव्र भक्तियोगसे श्रीकृष्णका भजन करना चाहिये।

श्रीगौरपार्षद श्रीश्रील रूपगोस्वामीपादने अपने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें भक्तिके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा है—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(१/१/११)

अर्थात् श्रीकृष्णको सुखी करनेकी स्पृहाके अतिरिक्त समस्त प्रकारकी अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञान-कर्मादिके द्वारा अनावृत, एकमात्र श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए ही कायिक, मानसिक एवं वाचिक सभी चेष्टाओं एवं भावोंके द्वारा तैल-धारावत् अविच्छिन्न गतिसे जो श्रीकृष्णका अनुशीलन अर्थात् श्रीकृष्णकी सेवा की जाती है, उसे (उस समस्त चेष्टाको) उत्तमाभक्ति कहते हैं।

श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरने स्वरचित 'जैवधर्म' में इस श्लोककी व्याख्या करते हुए कहा है—

"इस श्लोकमें भक्तिके स्वरूप एवं तटस्थ दोनों लक्षणोंका विशद् रूपसे विवेचन है। उत्तमाभक्तिसे तात्पर्य शुद्धाभक्तिसे है। कर्मविद्धा (कर्ममिश्रा) या ज्ञानविद्धा (ज्ञानमिश्रा) भक्ति शुद्धाभक्ति नहीं है। कर्मविद्धा भक्तिका उद्देश्य (फल) है 'भोग' तथा ज्ञानविद्धा भक्तिका उद्देश्य (फल) है—'मुक्ति'। 'भुक्ति' एवं 'मुक्ति' की स्पृहासे रहित भक्ति ही उत्तमाभक्ति है। इसी उत्तमाभक्तिका आश्रय करनेसे 'प्रेमफल' प्राप्त होता है। वह भक्ति क्या है? काय, मन एवं वचन द्वारा कृष्णानुशीलनरूप चेष्टा एवं प्रीतिमय मानस-भाव—यह भक्तिका स्वरूप-लक्षण है। चेष्टा एवं भाव—ये दोनों आनुकूल्यके साथ सर्वदा क्रियाशील रहते हैं। जीवकी जो अपनी शक्ति है, उसपर कृष्ण-कृपा एवं भक्त-कृपासे भगवान्की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति-विशेषके उदय होनेपर भक्तिका स्वरूप उदित होता है।

"वर्त्तमान दशामें जीवका तन, मन और वचन सब कुछ जड़-भावापन्न है। जीव जब अपनी विवेक-शक्ति द्वारा उन्हें चलाता है, तब जड़ सम्बन्धीय ज्ञान एवं वैराग्ययुक्त शुष्क व्यवहार ही उदित होता है, उससे भक्ति-वृत्तिका उदय नहीं होता। कृष्णकी स्वरूप शक्तिकी वृत्ति जब उसमें कुछ-कुछ परिमाणमें क्रियावती होकर आविर्भूत होती है, उसी समय शुद्धाभक्तिकी वृत्ति प्रकाशित होती है, श्रीकृष्ण ही भगवत्ताकी इयत्ता अर्थात् सीमा हैं—इस प्रकारका कृष्णानुशीलन ही भक्ति-चेष्टा है। ब्रह्मका अनुशीलन एवं परमात्माका अनुशीलनरूप चेष्टाएँ ज्ञान तथा कर्मके अङ्ग-विशेष हैं, भक्तिके नहीं। चेष्टा तो प्रातिकूल्य सम्बन्धमें भी देखी जाती है। अतः चेष्टा दो

प्रकारकी होती है—अनुकूल एवं प्रतिकूल। आनुकूल्य भावके बिना भक्तित्व सिद्ध नहीं होता।

"आनुकूल्येन शब्दसे कृष्णके प्रति रोचमाना प्रवृत्तिको समझना चाहिये। यह अवस्था साधनकालमें कुछ स्थूल-सम्बन्ध रखती है, परन्तु सिद्धिकालमें स्थूल-जगत्से सर्वप्रकारेण सम्बन्ध-रहित होनेके कारण पूर्ण परिष्कृत (निर्मल) होती है। इन दोनों ही अवस्थाओंमें भक्तिका लक्षण एक ही प्रकारका होता है। अतएव अनुकूल भावोंके साथ कृष्णानुशीलन ही भक्तिका 'स्वरूप-लक्षण' है। 'स्वरूप-लक्षण' के सम्बन्धमें कुछ बतलानेके लिए 'तटस्था-लक्षण' भी बतलाना आवश्यक होता है। श्रीमद् रूपगोस्वामीने भक्तिके दो तटस्थ-लक्षण बतलाये हैं—एक अन्याभिलाषिता-शून्यता और दूसरा ज्ञान-कर्मादिसे अनावृतता। भक्तिकी उन्नतिकी अभिलाषाके अतिरिक्त जो समस्त प्रकारकी अभिलाषाएँ हृदयमें उदित होती हैं, वे भक्ति-विरोधी हैं और अन्याभिलाषिताके अन्तर्गत हैं। ज्ञान, कर्म, योग और वैराग्यादि प्रबल होकर हृदयको आवृत करनेपर वे भक्ति-विरोधी कहलाते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों विरोधी लक्षणोंसे रहित होनेपर ही अनुकूल भावसे जो कृष्णानुशीलन होता है, उसे ही शुद्धाभक्ति कहा जा सकता है।"

अतएव सर्व-शास्त्र प्रतिपादित एवं महाजन-परम्परासे आचरित तथा उपदिष्ट शुद्धाभक्ति ही जीवका एकमात्र मुख्य अभिधेय है, इसमें किञ्चित्मात्र भी सन्देहका अवकाश नहीं रह सकता। भगवदवतार जगद्गुरु महर्षि कृष्ण-द्वैपायन श्रीमद्व्यासदेवने भी वेदान्तके इस तृतीय अध्यायमें इसी शुद्धाभक्तिको जीवके एकमात्र अभिधेय रूपमें निर्णय किया है। आचार्य श्रीमद्बलदेवके गोविन्दभाष्यके आनुगत्यमें वेदान्तानुशीलन करनेपर यह हम सुस्पष्ट रूपसे जान सकते हैं।

इस अध्यायके सार तत्त्वका अनुधावन करनेपर समझ सकते हैं कि श्रीमद्वेदव्यासने वेदान्तके तृतीय अध्यायके प्रथमपादमें जीवमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए सभी पार्थिव अधिष्ठानोंकी हेयता एवं नश्वरता प्रदर्शित की है और इसीके लिए छान्दोग्य-कथित पञ्चाग्नि विद्याकी आलोचना द्वारा जीवात्माके शरीरसे उत्क्रमण तथा देहान्तर-ग्रहणके सम्बन्धमें भी विस्तारपूर्वक आलोचना की है। इस आलोचनाभ्यन्तरमें

जीवका सूक्ष्मभूतोंके साथ देहान्तर-गमन, भुक्तावशिष्ट कर्मके साथ पुनरागमन, कुकर्मकारी जीवका यमपुरीमें गमन एवं यमदण्डादि भोगोंके अन्तमें पुनः प्रत्यावर्त्तन तथा पापियोंके रौरवादि सात नरक-भोग-विषयका वर्णन है। इसी अध्यायमें विद्या द्वारा देवयान-पथ एवं कर्म द्वारा पितृयान-पथमें विचरण करते हुए पुण्य-भोगके पश्चात् भुक्तावशिष्ट कर्मके साथ आकाशादि भावको प्राप्त होकर अवरोहणके विषयमें भी पाया जाता है। क्रमशः आकाश, वायु, धूम, अभ्र-भावको प्राप्त होकर मेघ रूपमें वर्षणके फलसे पृथ्वीमें ब्रीहि आदि देहोंमें संश्लेष प्राप्त करते हुए पुरुषके रेतः संयोगसे स्त्री-गर्भमें प्रवेश करते हुए जीव पुनः देह प्राप्त करता है।

इस अध्यायके द्वितीय पादमें जीवके स्वरूपमें मुक्ति-प्राप्तिकी योग्यता निरूपित हुई है और प्राप्य श्रीकृष्णके अनुरागके कारण जो 'साधन-भक्ति' है, उसका विशेष रूपसे निरूपण हुआ है। श्रीभगवान्के आविर्भावोंका ऐक्य, आत्म-मूर्त्तित्व, उपास्य एवं उपासकका भेद; श्रीभगवान्का अन्तर्यामित्व, भक्तिवश्यत्व, परानन्दत्व, भक्तके भावानुसार प्रकाशत्व, सर्वश्रेष्ठत्व एवं सर्वदातृत्व इत्यादि गुणावलीका विवरण हुआ है। स्वाप्निकी सृष्टि, शुभाशुभ सूचक स्वप्न, नाड़ी, पुरीतत् एवं ब्रह्मका सुषुप्तिमें समुच्चय, श्रीभगवान्की अचिन्त्यशक्तिके बलसे युगपत् नाना आकारोंमें प्रकाश, श्रीहरि विग्रह विशिष्ट नहीं, वे स्वयं ही श्रीविग्रह हैं—इन समस्त विषयोंका दिग्दर्शन हुआ है। श्रीभगवान्के देह-देहीमें भेदाभाव है, श्रीभगवान् नवीन-नीरद-श्याम, द्विभुज वनमाली हैं। जीव चिदाभास नहीं है, वह परमात्माके समान चेतन वस्तु है, सम्यक् भक्ति द्वारा श्रीभगवान् चक्षु आदि द्वारा ग्राह्य होते हैं। श्रीहरिके एकरूप होनेपर भी स्थान, धाम और भक्त-भेदसे, ऐश्वर्य एवं माधुर्यके प्रकाश-वश, भक्तके शान्तादि भक्तिरसके तारतम्यानुसार उनके भी प्रकाशका तारतम्य होता है। श्रीहरि सर्वश्रेष्ठ उपास्य हैं, वे मध्यमाकार होनेपर भी सर्वव्यापी हैं। पुनः वे ही स्वर्गादिरूप फलके प्रदाता हैं—इत्यादि ये सभी विषय विशेष रूपसे आलोचित हुए हैं।

तृतीय अध्यायके तृतीय पादमें अभीष्ट-प्राप्तिके विषयमें विचार हुआ है। सनिष्ठ पक्षमें वेदके नाना स्थानोंमें प्राप्त समस्त गुण ही

उपासनामें ग्रहणीय हैं, किन्तु एकान्तीके पक्षमें स्व-इष्टदेवके गुणके अतिरिक्त अन्य समस्त गुणोंके संग्रहका प्रयोजनाभाव है—यह बताया गया है। यशोदानन्दन बाल्यधर्मी होकर भी व्यापक हैं और एकाकी ही युगपत् नाना भक्तोंपर नाना भावोंसे कृपा करनेवाले हैं। श्रीहरिकी लीलाएँ नित्य हैं। बद्ध एवं मुक्तदशामें श्रीभगवान् ही ध्येय हैं। वैध एवं राग—दोनों मार्गोंसे जीवका संसार मोचन होता है, रुचिमार्गमें निपुण भक्त ही सर्वश्रेष्ठ है। श्रवणादि साधनोंमेंसे एकाङ्ग अथवा अनेकाङ्गका एकसाथ आश्रय करनेपर भगवत्-प्राप्ति होती है। श्रीगुरुदेवके अनुग्रहके साथ किये गये श्रवणादि साधनसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। भगवत्-प्राप्ति विषयमें श्रीगुरुका अनुग्रह ही सर्वोत्कृष्ट बल है, तो भी स्वयंकी चेष्टा भी सहकारी रूपमें प्रयोजनीय है। साधुकी परिचर्या मोक्षका उपाय है। साधुओं द्वारा अनुग्रहीत व्यक्तियोंपर श्रीभगवान् अपना भी अनुग्रह प्रकाशित करते हैं। अनुग्रह-विषयमें साधुओंकी स्वतन्त्रता स्वीकार्य है। उपासनामें भेदके अनुसार उपासकके प्राप्यके साक्षात्कारका भेद होता है। श्रीभगवान्के सामान्य-दर्शनमें स्वर्गादि प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु मुक्ति प्राप्ति नहीं हो सकती। भक्ति ही मुख्य बल है, भक्तको ही श्रीहरि वरण करते हैं और भक्तको ही अपना साक्षात्कार प्रदान करते हैं। उपासकके ध्यानके अनुसार ही श्रीहरिका अवतरण होता है। जिस प्रकारके गुणयुक्त भावसे उपासना होती है, उसी प्रकारके गुणयुक्त भावसे ही मुक्तिमें श्रीभगवान्की स्फूर्त्ति होती है। श्रीनृसिंहादि पृथक्-पृथक् रूपोंकी उपासनाकी प्रणाली भी पृथक्-पृथक् है—इत्यादि बहुत-से विषय इस अध्यायमें विस्तृत रूपसे वर्णित हुए हैं।

इस अध्यायके चतुर्थपादमें विद्याका निरपेक्षत्व, कर्मका तदङ्गत्व एवं विद्याधिकारीका सनिष्ठ, परिनिष्ठित और निरपेक्ष रूप त्रिविध भेदसे निरूपित हुआ है। 'विद्या' कहनेसे इस स्थलपर श्रीहरिकी भक्तिको ही लक्षित किया गया है अतः यह विद्या केवल मुक्तिदात्री ही नहीं है, अपितु भक्तोंके समस्त मनोरथ पूर्ण करनेवाली है। ब्रह्मवित् विधि-बाध्य नहीं है और ब्रह्मज्ञके लिए होमाग्निका प्रयोजन नहीं है, लब्ध-विद्या सनिष्ठ अधिकारीके लिए विद्याके सहकारी रूपमें

वर्णाश्रमधर्म पालनीय है, परिनिष्ठितके पक्षमें साधकको (भक्तको) सर्वदा भगवत्-धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये और स्वधर्म-पालन भगवत्-धर्मके अविरोधमें पालनीय है। आश्रमधर्म न रहनेपर भी स्वभावतः वैराग्यवान पुरुषोंके पूर्वजन्ममें अनुष्ठित धर्म भी सत्य, जपादिके द्वारा परिशुद्ध होनेसे उनमें विद्याका उदय होता है—ये ही निरपेक्ष भक्त हैं। इनके ऊपर श्रीहरिका विशेष अनुग्रह होता है। निरपेक्ष भक्तके पतनकी आशङ्का नहीं है। निरपेक्ष भक्तोंके जितने भी प्रयोजन हैं—श्रीहरि उन सबका समाधान करते हैं। इतना ही नहीं, अपने प्रिय भक्तोंके लिए वे स्वयं तक का विक्रय कर डालते हैं। निरपेक्ष भक्त सदा-सर्वदा श्रीभगवान्के स्वरूपादिका स्मरण करते हैं। उनके ध्यानसे जपार्चन सिद्ध होता है। विद्या सर्वतोरूपेण गोपनीय है और यह केवल योग्य शिष्यको ही प्रदान की जाती है। विद्या एक जीवनमें अथवा जन्मान्तरमें भी प्रकाश पा सकती है। प्रारब्ध क्षय होनेपर मुक्ति होती है—इस सम्बन्धमें शरीरके पतन अथवा अपतनका कोई नियम नहीं है। इसके अतिरिक्त इस सन्दर्भमें ऐसे और भी बहुत-से विषय आलोचित हुए हैं, जिन्हें ग्रन्थके अभ्यन्तरमें (भीतरमें) देखना चाहिये। इस स्थलपर तो पाठक-वर्गके लौल्याकर्षणके लिए दिग्दर्शनमात्र किया गया है—

अब प्रत्येक पादका अधिकरण-विवरण संक्षेपमें दिया जा रहा है—

वेदान्तसूत्रके अभिधेयात्मक तृतीय अध्यायके प्रथम पादके छह अधिकरणोंमें अठाईस सूत्र निबद्ध हैं, यथा—

प्रथम—'तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्' में बताया गया है कि जीवको सूक्ष्मभूतोंके साथ देहान्तरकी प्राप्ति होती है।

द्वितीय—'कृतात्ययाधिकरणम्' में बतलाया गया है कि चन्द्रलोकमें फलोन्मुख कृतकर्म भोग द्वारा क्षय होनेके पश्चात् जीव अवशिष्ट कर्मको लेकर इस लोकमें प्रत्यावर्त्तन करते हैं।

तृतीय—'अनिष्टादिकार्याधिकरणम्' में देखा जाता है कि पापी व्यक्तियोंका ही यमपुरमें गमन होता है और वहाँ यम प्रदत्त दण्ड भोगनेके बाद पुनः मनुष्यलोकमें जन्म होता है।

चतुर्थ—'तत्स्वाभाव्यापत्त्याधिकरणम्' में जाना जा सकता है कि जीवकी आकाशादि भावकी सादृश्य-प्राप्ति सुसङ्गत है।

पञ्चम—'नातिचिराधिकरणम्' में देखा जा सकता है कि आकाशादि वृष्टि पर्यन्त पूर्व-पूर्व सादृश्य-प्राप्तिके बाद पर-पर सादृश्य-प्राप्ति शीघ्र ही होती है।

षष्ठ—'अन्याधिष्ठिताधिकरणम्' में पाया जाता है कि अन्य जीव द्वारा भोक्तृत्व रूपमें अधिष्ठित धान्य-यवादि देहमें जीवका अवस्थान पूर्ववत् संश्लेषमात्र है।

अब द्वितीय पादका अधिकरण-विवरण संक्षेप रूपसे दिया जाता है। इस पादमें सत्रह अधिकरणोंमें बयालीस सूत्र हैं।

प्रथम—'सन्ध्याधिकरणम्' में निदर्शन है कि स्वाप्निकी सृष्टि परमेश्वरके द्वारा ही होती है। जाग्रतके समान स्वप्न भी पारमेश्वरी सृष्टि है। स्वाप्निक सृष्टिका उपकरण ईश्वरकी माया है।

द्वितीय—'सूचकाधिकरणम्' में देखा जाता है कि स्वप्न दृष्ट पदार्थ क्योंकि पाप-पुण्यके और मन्त्रादिके सूचक हैं, इसलिए वे सत्य हैं। स्वप्न-तत्त्वज्ञ व्यक्ति स्वप्नको शुभ-अशुभके सूचकके रूपमें मानते हैं। परमेश्वरके सङ्कल्पसे जिस प्रकार स्वप्नकी सृष्टि होती है, उसी प्रकार उनके सङ्कल्पसे तिरोधान होता है, किन्तु इसे शुक्तिमें (सीपीमें) रजत-भ्रमके समान नहीं समझना चाहिये।

तृतीय—'देहयोगाधिकरणम्' में देखा जाता है कि देहसम्बन्धवश जो जागरण होता है, वह भी परमेश्वर द्वारा होता है।

चतुर्थ—'तदभावाधिकरणम्' में पाया जाता है कि उन जागरण एवं स्वप्नका अभाव अर्थात् सुषुप्ति उस नाड़ीमें, पुरीतत्में और ब्रह्ममें समुच्चित होती है। इन तीनोंको सुषुप्तिके आधार रूपमें सुना जाता है।

पञ्चम—'मुग्धाधिकरणम्' में बतलाया गया है कि जीवके मूर्च्छित होनेपर ब्रह्ममें उस समय उसकी अर्द्ध-प्राप्ति होती है।

षष्ठ—'उभयलिङ्गाधिकरणम्' में पाया जाता है कि स्थान-भेदमें भी परमेश्वरका स्वरूप एक ही है, दो प्रकारका नहीं है। श्रीभगवान्की अचिन्त्यशक्तिका परिचय यही है कि वे एक ही समयमें बहुत-से

स्थानों अथवा समस्त स्थानोंमें बहुत रूपोंमें प्रकाश पाकर भी स्वरूपमें अद्वितीय रहते हैं। पुनः अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा एक ही स्वरूपको युगपत् सर्वत्र प्रकाशित करते हैं।

सप्तम—'अरूपवदधिकरणम्' में देखा जाता है कि ब्रह्म रूपविशिष्ट नहीं हैं, इसलिए उन्हें अरूपवत् कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि वे स्वयं ही श्रीविग्रह हैं—उनकी आत्मा अथवा उनका स्वरूप ही श्रीविग्रह है।

अष्टम—'अतएव चोपमाधिकरणम्' में पाया जाता है कि परमात्मासे जीवात्मा भिन्न है, इसलिए सूर्यकादिवत् शब्दके प्रयोग द्वारा परमात्माके साथ जीवात्माकी उपमा अथवा सादृश्यकी बात सुनी जाती है, किन्तु इस स्थलपर ध्यान देनेवाली बात है कि दोनों अर्थात् जीव एवं परमेश्वरके अभिन्न होनेपर बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव सम्भव नहीं होता। यदि ऐसा होता तो अग्निकी छाया द्वारा दाह और खड्गके प्रतिबिम्ब द्वारा छेदन होता, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। पुनः अभेद होनेपर सादृश्य भी नहीं होता है।

नवम—'अम्बुवदग्रहणाधिकरणम्' में पाया जाता है कि जलके समान अर्थात् जलमें बिम्बसे दूरस्थ उपाधिके ग्रहणके समान अविद्यामें परमात्माका आभास गृहीत नहीं हो सकता। इसका कारण है कि जलसे सूर्य अतिशय दूरवर्ती है, उसमें परिच्छिन्न सूर्यका प्रतिबिम्ब अथवा आभास तो गृहीत हो सकता है, किन्तु अविद्यामें इस प्रकारसे परमात्माका आभास पड़ नहीं सकता। इसका कारण है कि परमात्मा विभु-विश्व-व्यापक हैं अर्थात् अपरिच्छिन्न हैं और उनसे दूरवर्ती कोई पदार्थ है—ऐसी कोई प्रसिद्धि भी नहीं है, बल्कि वे सर्वत्र हैं, यह प्रसिद्धि है। इस स्थलपर उपमान और उपमेयका साम्य भी नहीं है। अतएव जीव चिदाभास नहीं है और अविद्या परमात्माकी ही शक्ति विशेष है।

दशम—'प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम्' में देखा जाता है कि श्रुतिमें मूर्त्त, अमूर्त्तादि रूप वर्णनके द्वारा ब्रह्मकी जो इयत्ता निर्द्धारित हुई है, उसका ही प्रत्याख्यान है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मके वास्तव रूपका प्रत्याख्यान नहीं है। क्योंकि इन सब मूर्त्तामूर्त्तादि रूपके प्रतिषेधके बाद उन ब्रह्मके प्रचुर सत्य-नामादि रूप श्रुति बतलाती है।

एकादश—'तदव्यक्ताधिकरणम्' में देख सकते हैं कि वह ब्रह्मस्वरूप स्वतः अव्यक्त, प्रत्यगात्मास्वरूप है अर्थात् श्रीहरि विश्व-व्यापक, अव्यक्त, अक्षर एवं परमागति हैं।

द्वादश—'संराधनाधिकरणम्' में पाया जाता है कि सम्यक् भक्ति साधित होनेपर ही परब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं। ध्यानादि योगसे उनकी आराधना करते-करते वे भक्तोंके निकट आत्मप्रकाश करते हैं। तात्पर्य यह है कि साधनभक्ति याजन करते-करते जब प्रेमभक्तिका उदय होता है, उस समय उनका दर्शन प्राप्त होता है। श्रीभगवान् व्यापकस्वरूप एवं ध्यान-गोचर-स्वरूप होकर भी भक्तकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भक्तके निकट अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं। यही उनकी अचिन्त्यशक्तिमत्ताका परिचय है।

त्रयोदश—'अहिकुण्डलाधिकरणम्' में प्राप्त होता है कि श्रीहरि ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप होकर भी वे उसी ज्ञानरूप एवं आनन्दरूप धर्मविशिष्ट हैं। जिस प्रकार अहिकुण्डल शब्द धर्मीवाचक है, परन्तु धर्मबोधक भी है। प्रकाशस्वरूप सूर्य जिस प्रकार प्रकाशका आश्रय है, उसी प्रकार ज्ञानात्मा श्रीहरि भी ज्ञानके आश्रय हैं। ज्ञान एवं आनन्द ब्रह्मके धर्म होकर भी धर्मी ब्रह्मरूपमें प्रतीत होते हैं। ब्रह्म-सम्बन्धमें गुण-गुणी भेदसे ज्ञानका निषेध भी वर्त्तमान है। श्रीभगवान्‌के गुणसमूह भगवत् अभिन्न वस्तु हैं। देह-देही भेद, गुण-गुणी भेद ईश्वरमें किया नहीं जा सकता।

चतुर्दश—'पराधिकरणम्' में पाया जाता है कि जैव-आनन्दसे ब्रह्मानन्द जातिमें अर्थात् स्वरूपमें और परिमाणमें दोनोंमें उत्कृष्ट है। श्रीहरि परमानन्दस्वरूप हैं।

पञ्चदश—अर्थात् 'स्थानविशेषाधिकरणम्' में पाया जाता है कि दीपादि प्रकाशक द्रव्योंका जिस प्रकार आधार-भेदसे प्रकाश-तारतम्य होता है, उसी प्रकार श्रीहरि एकस्वरूप होनेपर भी स्थान-भेदसे, धाम-भेदसे तथा भक्तभेदसे वैशिष्ट्यके कारण उनके प्रकाशका तारतम्य होता है।

षोडश—'अन्यप्रतिषेधाधिकरणम्' में देखा जाता है कि उपास्य परब्रह्म श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी अपेक्षा और कोई श्रेष्ठतर वस्तु नहीं है।

सप्तदश—'सर्वगतत्वाधिकरणम्' में पाया जाता है कि श्रीहरि मध्यमाकार होकर भी सर्वव्यापी हैं—यह उनकी अचिन्त्यशक्तिका परिचय है और यही युक्तियुक्त है। वे सर्वफल-प्रदाता हैं। कारण यह है कि वे नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, महान, उदार हैं—इसलिए यागादि द्वारा आराधित होकर भी वे उन्हें फल प्रदान करते हैं। कर्म जड़ और क्षण-विध्वंसी है, उसमें फल-दातृत्व शक्ति रह नहीं सकती।

अब तृतीयपादका अधिकरण-विवरण भी संक्षिप्त रूपसे उल्लिखित किया जाता है। इसमें तैंतीस अधिकरणोंमें अठसठ सूत्र हैं।

प्रथम—'सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्' में देखा जाता है कि समग्र वेदके निश्चय (निर्णय) द्वारा उत्पाद्य ज्ञानके विषय परब्रह्म श्रीहरि हैं, क्योंकि विधि-वाक्य और युक्तियाँ समस्त शाखाओंमें ही समान हैं।

द्वितीय—'उपसंहाराधिकरणम्' में वर्णित है कि उपासना समान होनेपर भी अर्थात् एक परमेश्वर विषयकत्वके कारण तुल्य उपासना होनेसे एक शाखामें उक्त गुणसमूह अन्य उपासनामें भी ग्रहण किये जाने चाहिये।

तृतीय—'न वा प्रकरणभेदाधिकरणम्' में देखा जाता है कि एकान्तिक भक्तके पक्षमें उपास्येतर श्रीविग्रहके गुणोंके संग्रहका प्रयोजन नहीं है, क्योंकि एकान्तिक भक्तोंकी भक्तिका वैशिष्ट्य है अर्थात् प्रकरणका भेद है।

चतुर्थ—'व्याप्तेश्च समञ्जसाधिकरणम्' में पाया जाता है कि श्रीभगवान् बाल्यादि-अवस्था विशिष्ट होनेपर भी अपने विभुत्वके द्वारा उपासकके निकट नाना वयस प्रकट करते हैं, इसलिए समस्त ही सुसङ्गत है।

पञ्चम—'सर्वाभेदाधिकरणम्' में वर्णित हुआ है कि श्रीहरि, उनके परिजन और उनकी लीलाके अभेदवश पूर्वकालमें जो रहता है, परवर्ती कालमें उसका ही प्रकाश होता है।

षष्ठ—'आनन्दाद्यधिकरणम्' में प्राप्त होता है कि श्रीहरिके पूर्णानन्द, पूर्णबोध एवं आश्रितोंके प्रति वात्सल्यादि गुणोंका समस्त उपासनामें उपसंहार करना चाहिये, जिसके फलसे भगवदनुरागमें वृद्धि होती है।

सप्तम—'प्रियशिरस्त्वाद्यधिकरणम्' में उपदिष्ट हुआ है कि श्रीहरिके आनन्दमयादि मुख्य गुणोंके अतिरिक्त प्रियशिरस्त्वादि गौण गुणोंका सर्वत्र उपसंहार नहीं होगा।

अष्टम—'कार्याख्यानाधिकरणम्' में पाया जाता है कि पूर्व-कथित पूर्णानन्दत्वादि गुणोंके समान तद्-सदृश पितृत्वादि अर्थात् पिता, सुहृद्, पुत्रादि रूपोंमें श्रीहरिका ध्यान करना होगा।

नवम—'समानाधिकरणम्' में कहा गया है कि श्रीभगवान्‌की चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मासे अतिरिक्त नहीं हैं अर्थात् श्रीविग्रहभूत अभिन्न ही हैं। अतएव विग्रहस्वरूप आत्माकी उपासनाके द्वारा ही मोक्ष होगा।

दशम—'वेधाद्यधिकरणम्' में उपदिष्ट हुआ है कि शत्रु-वेधादि गुण मुमुक्षुका उपास्य नहीं है, क्योंकि इसमें फल-भेद रहता है।

एकादश—'हान्यधिकरणम्' में देखा जाता है कि परमेश्वरके ज्ञान द्वारा संसार पाश छिन्न होनेपर भगवत्-अनुरक्त विज्ञके पक्षमें शास्त्रगम्यत्वरूप भगवत्-धर्मका चिन्तन कुशाच्छन्द-स्तुतिके समान ऐच्छिक है।

द्वादश—'छन्दत उभयविरोधाधिकरणम्' में वर्णित हुआ है कि सत्प्रसङ्गानुयायी श्रीभगवान्‌के सङ्कल्पसे उभयविध जीवके लिए उभयविध अर्थात् ऐश्वर्य एवं माधुर्य—उभय प्रकारकी भक्तिकी प्राप्ति सम्भव है।

त्रयोदश—'उपपन्नस्तल्लक्षणार्थाधिकरणम्' में कहा गया है कि रुचि-मार्गमें श्रीहरिका भजन करनेवाले निपुण भक्त ही श्रेष्ठ हैं।

चतुर्दश—'अनियमाधिकरणम्' में पाया जाता है कि श्रवणादि भक्तिके एकाङ्ग अथवा अनेकाङ्ग साधनसे ही भगवत्-प्राप्ति होती है। समस्त ध्यानादि मिलित रूपसे करनेपर ही मुक्ति होगी—ऐसा कोई नियम नहीं है। पृथक् रूपमें प्रत्येकके द्वारा ही मुक्ति अथवा भगवत्-प्राप्ति होती है।

पञ्चदश—'अक्षर-ध्यधिकरणम्' में वर्णित हुआ है कि अक्षरब्रह्म सम्बन्धिनी अस्थौल्य, अनणुत्व बुद्धिका समस्त उपासनामें संग्रह करना चाहिये।

षोडश—'अन्तरत्वाधिकरणम्' में कहा गया है कि भक्तोंके निकट श्रीभगवान्के उस अधिष्ठानभूत परव्योमात्मक दिव्यपुरकी जितनी भी वस्तुएँ प्राकृत-भूतवत् प्रतीत होती हैं, परन्तु वहाँकी सभी वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हैं अर्थात् श्रीहरिकी शक्तिका विलासरूप हैं।

सप्तदश—'सैव हि सत्याद्यधिकरणम्' में पाया जाता है कि मायासे भिन्न अग्निकी दाहिकाशक्तिके समान श्रीहरिकी परा नामकी स्वाभाविकी स्वरूपानुबन्धिनी स्वरूपशक्ति है।

अष्टादश—'कामाद्यधिकरणम्' में कहा गया है कि परमेश्वरकी श्रीरूपाशक्ति ही परा एवं नित्या है। वह प्रकृतिके सम्पर्कसे रहित संव्योम नामक धाममें रहती है। यह शक्ति अव्यय श्रीभगवान्के प्रपञ्चमें अवतरण-कालमें उनके साथ ही अवतरण करती है और निज नाथ श्रीहरिके कामादिका सम्पादन करती है। इसी कारणसे श्रीभगवान्को श्रीयुक्त कहा गया है।

ऊनविंश—'तन्निर्धारणानियमाधिकरणम्' में देखा जाता है कि तत्त्व वस्तु केवल श्रीकृष्णरूपमें उपास्य है, श्रीरामादिरूपोंमें नहीं है—ऐसा कोई नियम नहीं है। तब देवतान्तरत्वकी उपासनाका परित्याग करके श्रीभगवान्के व्यूहादिकी उपासनामें कोई दोष नहीं है।

विंश—'प्रदानाधिकरणम्' में उपदिष्ट हुआ है कि श्रीगुरुदेवकी प्रसन्नताके साथ किये गये श्रवणादि साधनके द्वारा श्रीहरिकी प्राप्ति होती है।

एकविंश—'लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्' में पाया जाता है कि मात्र स्वयंके प्रयत्न द्वारा श्रीभगवत्-प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, श्रीगुरुदेवका प्रसाद (अनुग्रह) ही बलवान है। ऐसा होनेपर भी निज प्रयत्न भी आवश्यक है।

द्वाविंश—'पूर्वविकल्पाधिकरणम्' में कहा गया है कि जीव और ब्रह्मका अभेद-विचार भक्तिका ही विकल्प अर्थात् प्रकार-विशेष है।

त्रयोविंश—'विद्यैवत्वधिकरणम्' में देखा जाता है कि शास्त्र-ज्ञानके अनुसार उपासनाका नाम ही विद्या है। श्रीगुरु-प्रसादसे प्राप्त उस विद्या द्वारा भगवत्-प्राप्ति होती है।

चतुर्विंश—'अनुबन्धाद्यधिकरणम्' में पाया जाता है कि आग्रहके साथ की गयी महत्-सेवाके द्वारा ही श्रीभगवान्‌की प्राप्ति होगी। अनुग्रह-वितरणमें महत्‌का स्वातन्त्र्य विद्यमान है।

पञ्चविंश—'प्रज्ञान्तराधिकरणम्' में कहा गया है कि उपासनाके तारतम्यानुसार उपासककी भगवत्-प्राप्तिका तारतम्य घटित होता है। प्रकट-लीलामें मनुष्योंको जो सामान्य दर्शन प्राप्त होता है, उसका फल स्वर्गादिकी प्राप्ति है, मोक्ष नहीं है।

षडविंश—'पराधिकरणम्' में पाया जाता है कि भक्ति-याजनके फलस्वरूप भक्त भगवान्‌का प्रियतमत्व प्राप्त करते हैं और उसी समय भगवान् उनका वरण करते हैं अर्थात् उनपर अपना अनुग्रह करते हैं। इसके फलस्वरूप भक्तको भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त होता है। इस प्रकार भक्ति ही बलवान है और इसीके द्वारा भगवान्‌का वरण होता है। इस अधिकरणमें यह भी बतलाया गया है कि साधुसङ्ग, साधु-सेवा करनेसे स्व-स्वरूप और पर-स्वरूपके सम्बन्धमें ज्ञानकी प्राप्ति, तत्पश्चात् भक्तिकी प्राप्ति और उसके परिणामस्वरूप प्रेष्ठ रूपमें श्रीभगवान्‌का वरण और उनका साक्षात्कार प्राप्त होता है।

सप्तविंश—'शरीरे भावाधिकरणम्' में कहा गया है कि जठरमें, हृदयमें और ब्रह्म-रन्ध्रमें आत्मरूपी श्रीविष्णुकी उपासना करनेपर श्रीहरि प्रसन्न होकर अपना परम-पद प्रदान करते हैं।

अष्टाविंश—'व्यतिरेकस्तद्भावाधिकरणम्' में प्राप्त होता है कि साधुसङ्गानुयायी श्रीहरिके सङ्कल्पसे उपासनाका नानात्व घटित होता है, किन्तु ध्यानके अनुसार ही श्रीहरिका उदय अर्थात् प्राप्ति होती है।

उनत्रिंश—'भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्' में देखा जाता है कि परमेश्वरका बहुत्व-भाव समस्त गुणोंमें श्रेष्ठ है; अतः समस्त उपासनाओंमें बहुभावात्मक गुण चिन्तनीय है। भूमाके बिना आनन्दादिकी सत्ता नहीं है, अतएव भूमाका चिन्तन समस्त उपासनाओंमें करना चाहिये।

त्रिंश—'नानाशब्दादिभेदाधिकरणम्' में कहा गया है कि श्रीहरिके पृथक्-पृथक् श्रीविग्रहकी उपासना-प्रणाली भी पृथक् है, क्योंकि उपास्यवाचक नृसिंहादि शब्द, मन्त्र, आकार और कार्यका पार्थक्य वर्त्तमान रहता है। स्वरूपतः एक होनेपर भी उपासनाका भेद है।

एकत्रिंश—'विकल्पाधिकरणम्' में दिखायी देता है कि उपासनाओंके अनुष्ठानमें विकल्प ही आश्रयणीय है। इस कारणसे साधुसङ्गानुयायी श्रीहरिके सङ्कल्पसे प्राप्त उपासना ही अनुष्ठेय है।

द्वात्रिंश—'काम्यास्तु यथाकामाधिकरणम्' में पाया जाता है कि सकाम उपासकगण कामनानुसार सकाम उपासनाओंको मिलित रूपसे एक साथ समुच्चय (संग्रह) कर सकते हैं अथवा समुच्चय नहीं भी कर सकते हैं अर्थात् अलग-अलग भी कर सकते हैं।

त्रयस्त्रिंश—'अङ्गेषु यथाश्रय-भावाधिकरणम्' में उपदिष्ट हुआ है कि श्रीहरिका जो अङ्ग जिस गुणका आश्रय है, उस अङ्गमें उसी गुणका ध्यान करना चाहिये। यथा—श्रीमुखमें मृदु-मधुर-हास्य एवं प्रियभाषण, नेत्र-द्वयमें कृपा-दृष्टि, इसी प्रकारसे उनके अन्यान्य अङ्गोंमें उनके अन्यान्य गुणोंका ध्यान करना समुचित है।

अब चतुर्थपादका अधिकरण-विवरण संक्षेपमें वर्णन किया जाता है। इसमें सोलह अधिकरणोंमें बावन सूत्र हैं।

प्रथम—'पुरुषार्थाधिकरणम्' में पाया जाता है कि समस्त प्रकारके पुरुषार्थ विद्यासे ही प्राप्त हो सकते हैं, अतः विद्या केवल मुक्ति-दायिनी ही नहीं, यह समस्त मनोरथोंको भी पूर्ण करती है।

द्वितीय—'शेषत्वात् पुरुषार्थाधिकरणम्' में जैमिनिके पूर्वपक्षरूप सूत्रमें कहा गया है कि उनके मतमें विद्या कर्मका अङ्ग है। अतः विद्यामें जो फलश्रुति है, वह पुरुषार्थवादमात्र है, जिस प्रकार द्रव्य, संस्कार, कर्ममें फलश्रुति अर्थवाद है, उसी प्रकारसे।

तृतीय—'अधिकोपदेशधिकरणम्' से प्राप्त होता है कि कर्मकी अपेक्षा विद्या श्रेष्ठ है। वेदाध्ययन मात्र-निष्ठ व्यक्तिका ब्रह्मारूपमें (ब्रह्मापदमें) वरण कहा गया है, ब्रह्मज्ञ व्यक्तिकी बात नहीं कही गयी है। अतः ब्रह्मिष्ठ वेदाध्ययनशील है, ब्रह्मज्ञ (ब्रह्मका अनुभव करनेवाला) नहीं है।

चतुर्थ—'कामकाराधिकरणम्' में कहा गया है कि कर्मानुष्ठान अथवा कर्मवर्जन—इसे यादृच्छिक आचारमें ब्रह्मानुभवकारीका कोई प्रत्यवाय नहीं होता। पद्म-पत्रमें जिस प्रकार जल-बिन्दु संश्लिष्ट नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ पुरुषके भी द्वारा किये गये अनुष्ठानमें गुण एवं न किये गये अनुष्ठानमें दोष सम्बन्ध नहीं रहता—यही उनकी महिमा है। जिस प्रकार प्रदीप्त अग्निमें तृण-मुष्टि (मुठी भर तृण) के समान समस्त दोष भस्मीभूत हो जाते हैं, उसी प्रकारसे। अतएव ब्रह्म-विद् विधि-बाध्य नहीं हैं।

पञ्चम—'सर्वापेक्षाधिकरणम्' में पाया जाता है कि यज्ञादि द्वारा चित्त शुद्धि होनेपर विद्या प्राप्त होती है एवं शम-दमादि विद्याके अङ्ग हैं।

षष्ठ—'सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्' में देखा जाता है कि आपत्कालमें ब्रह्मज्ञ परिनिष्ठित व्यक्ति यथेच्छ आहार कर सकते हैं—ऐसी विधि नहीं है, अनुज्ञामात्र है। कारण यह है कि अन्नके अभावमें प्राणात्यय (प्राण न रहनेकी सम्भावना) स्थलपर ही इस प्रकारके अनुज्ञा-सूचक वाक्य देखे जा सकते हैं। अनापत् कालमें शास्त्रीय आचार ही आश्रयणीय है।

सप्तम—'विहितत्वाधिकरणम्' में पाया जाता है कि लब्ध-विद्या (विद्या-प्राप्त) पुरुषके भी विद्या-वर्द्धनके लिए वर्णाश्रम-विहित कर्म विद्याके साधनमें सहकार (सहायक) रूपमें स्वीकार किये जाने चाहिये। मुक्तिके साधन-स्वरूपमें वे अनुष्ठेय नहीं हैं।

अष्टम—'सर्वथाप्यधिकरणम्' में उपदिष्ट हुआ है कि परिनिष्ठितके पक्षमें स्वधर्मानुरोध परित्याग करके सर्वदा भगवत्-धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। वर्णाश्रमधर्म भगवत्-कर्मके अविरोधमें गौण रूपमें स्वीकार्य है। और भी देखा जाता है कि परिनिष्ठितके पक्षमें भगवत्-कथा श्रवणादिके अनुरोधसे वर्णाश्रमधर्मके अकरण-जनित अर्थात् स्वाश्रमधर्म न करनेपर वे दोषके द्वारा अभिभूत नहीं होते।

नवम—'अन्तरा चाप्यधिकरणम्' में कहा गया है कि आश्रम-धर्मसे विहीन होनेपर भी (न किये जानेपर भी) पूर्व-जन्मानुष्ठित धर्मादि द्वारा विशुद्ध चित्त होनेपर स्वाभाविक वैराग्यवान व्यक्तियोंमें विद्याका

उदय होता है। बलवान सत्सङ्गके फलसे पूर्व कर्म-कषाय विनष्ट होनेके बाद विद्याकी उत्पत्ति होती है। सत्सङ्ग-विशिष्ट निरपेक्ष अधिकारियोंके प्रति परमेश्वरका विशेष-अनुग्रह रहनेके कारण उन्हें विद्या सुलभ होती है।

दशम—'अतस्त्वितरदधिकरणम्' में देखा जाता है कि आश्रमत्वसे निराश्रमत्व ही श्रेष्ठ है। निराश्रमी निरपेक्षोंके पतनकी आशङ्का नहीं है। निरपेक्ष भक्तगण प्रपञ्चमें रहकर भी प्रपञ्चातीत रूपमें अवस्थान करते हैं।

एकादश—'स्वाम्यधिकरणम्' में प्राप्त होता है कि सर्वेश्वर श्रीभगवान्से भक्तगणोंकी देहयात्राका निर्वाह होता है। निरपेक्ष-भक्तोंका पालन-कर्त्तृत्व श्रीभगवान्का एकान्त धर्म है। ऋत्विकके कर्मके समान श्रीभगवान्का भक्त-पालन है। इसका कारण है कि भक्ति द्वारा भक्तगण भगवान्को क्रय कर लेते हैं और श्रीभगवान् भक्तके निकट अपने आपको विक्रय कर देते हैं।

द्वादश—'सहकार्यान्तरविध्यधिकरणम्' में पाया जाता है कि शम-दमादि साधन विद्या-प्राप्तिसे पहले ही सहकारी रूपमें निरूपित हैं। निराश्रमियोंकी विद्या-प्राप्तिके पश्चात् यह शमादि ग्राह्य-विधि हो नहीं सकती। शमादि तो निराश्रमीके लिए स्वतःसिद्ध है। निरपेक्ष भक्तोंके लिए भगवान्के स्वरूप, गुण, लीलादि अवश्य ही स्मरणीय हैं। भगवत्-प्रसाद ही उनके लिए निरन्तर अभीष्ट है, इसलिए उनके कायिक, वाचिक एवं मानसिक अनुष्ठानोंमें मानसिक अनुष्ठान ही सर्वश्रेष्ठ है।

त्रयोदश—'कृत्स्नभावाधिकरणम्' में निरूपित हुआ है कि शम-दमादि विभूषित व्यक्ति आश्रमी अथवा निराश्रम ही हों, विद्याके अधिकारी होंगे।

चतुर्दश—'अनाविष्काराधिकरणम्' में सार-कथा रूपमें पाया जाता है कि विद्याका गुह्य (गोपन) रूपसे ही उपदेश करे और यह तत्त्वोपदेश योग्य व्यक्तिके लिए ही करना चाहिये। शास्त्र-प्रतिपाद्य तत्पर और श्रद्धासम्पन्न व्यक्तिको ही इस स्थलपर योग्य शब्दसे उल्लिखित किया गया है।

पञ्चदश—'ऐहिकाधिकरणम्' में कहा गया है कि प्रतिबन्धक न रहनेपर इस जन्ममें ही विद्या उत्पन्न होती है और प्रतिबन्धक रहनेपर

यह हो नहीं सकता। तब लघु (कम) प्रतिबन्धक रहनेपर साधनके द्वारा उसका क्षय होनेपर इस जन्ममें ही विद्याकी उत्पत्ति हो जाती है और गुरुतर प्रतिबन्धक स्थलपर उसका परिक्षय होनेपर जन्मान्तरमें विद्याकी उत्पत्ति होती है।

षोडश—'मुक्तिफलाधिकरणम्' में पाया जाता है कि प्रारब्ध क्षय होनेपर मुक्ति होती है, तब प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक न रहनेपर देह-पातके पश्चात् मुक्ति प्राप्त होती है। यदि प्रारब्ध रहते हैं, तो देहान्तरकी अपेक्षा रहती है।

इस तृतीय अध्यायके प्रथम एवं द्वितीय पादमें ब्रह्म-प्राप्तिके साधनभूत प्राप्येतर विराग एवं प्राप्य तत्त्वमें तृष्णाका विषय प्रदर्शित हुआ है। तृतीय पादमें भगवत्-गुण निरूपित हुए हैं और चतुर्थ पादमें विद्या अर्थात् भगवत्-भक्तिका सम्पूर्ण पुरुषार्थ-हेतुत्व वर्णित हुआ है। इस अध्यायमें मूलतः साधनतत्त्वका विचार हुआ है—इसलिए इस अध्यायको साधनाध्याय कहा गया है। साधकको साधन-तत्त्वज्ञान न रहनेपर उसका साधनानुशीलन हो नहीं सकता और उसे प्रयोजनतत्त्व भी प्राप्त नहीं हो सकता।

परमाराध्यतम सच्चिदानन्द श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुरने स्वरचित कल्याणकल्पतरु ग्रन्थमें कहा है—

श्रीकृष्ण-विमुखजन ऐश्वर्य्येर आशे।
मायिक जड़ीय सुखे बद्ध माया-पाशे॥

भौतिक ऐश्वर्यकी प्राप्तिकी आशासे जीव श्रीकृष्णसे विमुख हो जाते हैं। मायिक जड़ीय सुख भोगकी इच्छाके कारण ही वे मायाके पाशमें बद्ध होते हैं।

अकिञ्चन आत्मरत कृष्णरति सार।
जानि भुक्ति-मुक्ति आशा करे परिहार॥

भौतिक धन-सम्पत्तिसे रहित आत्म-सन्तुष्ट व्यक्ति यही जानता है कि कृष्णप्रेम जीवनकी सार वस्तु है, और इसीसे वह भोगोंकी स्पृहा एवं मुक्तिकी आशाका परित्याग कर देता है।

संसारे जीवन-यात्रा अनायासे करि।
नित्य देहे नित्य सेवे आत्मप्रद हरि॥

अनायास ही अर्थात् सहज सुलभ जो भी प्राप्त होता है, उसीको ग्रहण करके ऐसा अकिञ्चन व्यक्ति अपना जीवन-यापन करता है। 'आत्मप्रद' अर्थात् अपनेको भक्तोंके हाथ बेच देनेवाले श्रीहरि नित्य-निरन्तर सेवा करनेवाले ऐसे अपने भक्तोंको अपने आपको ही प्रदान कर देते हैं।

वर्णमद, बलमद, रूपमद यत।
विसर्जन दिया भक्तिपथे हन रत॥

भगवत्-भक्त उच्चवर्ण जात-मद, शरीर बलका मद, रूप-मद इत्यादि जितने भी प्रकारके मद हैं, उन सबका परित्याग करके भक्तिपथपर ही अग्रसर रहता है।

आश्रमादि विधानेते रागद्वेष हीन।
एकमात्र कृष्णभक्ति जानि समीचीन॥

भक्तिपथपर चलते हुए आश्रमादि जितने भी विधि-विधान हैं, वह उनसे न राग रखता है और न ही द्वेष। वह बस इतना ही जानता है कि एकमात्र कृष्णभक्ति ही युक्तियुक्त है और इसीमें जीवनकी सार्थकता है।

साधुगण-सङ्गे सदा हरिलीला-रसे।
यापन करेन काल नित्यधर्म वशे॥

साधक-भक्त नियत कर्त्तव्योंका निर्वाह करते हुए नित्य-धर्म—कृष्णभक्ति करते हैं। वे अपना समय स्निग्ध सजातीय साधुओंके सङ्गमें रहकर व्यतीत करते हैं और भगवान् श्रीहरिकी दिव्य लीलाओंका रसास्वादन करते हैं।

जीवन यात्रार जन्य वैदिक-विधान।
रागद्वेष विसर्जिया करेन सम्मान॥

ऐसा व्यक्ति जितने भी वैदिक विधान हैं—उन सबके प्रति राग-द्वेषका परित्याग कर देता है। मात्र अपनी जीवन-यात्राके निर्वाहके लिए इन्हें अङ्गीकार करता है।

सामान्य वैदिक धर्म अर्थफलप्रद।
अर्थ हैते कामलाभ मूढेर सम्पद॥

वेदोंमें जिस सामान्य धर्म अर्थात् कर्म-विधानका वर्णन है, उसका प्रयोजन भुक्ति-मुक्तिकी स्पृहाकी सन्तुष्टि तक सीमित है। अर्थ, कामकी प्राप्तिरूपी सम्पद् मूर्खों एवं अज्ञजनोंकी सम्पद् है।

सेइ धर्म, सेइ अर्थ, सेइ काम यत।
स्वीकार करेन दिन-यापनेर मत॥

भक्तिपथका साधक अपने जीवन-यापनके लिए इन वैदिक धर्म, अर्थादिको उतने ही परिमाणमें स्वीकार करता है, जितना जीवन-यापनके लिए आवश्यक होता है।

ताहाते जीवनयात्रा करेन निर्वाह।
जीवनेर अर्थ—कृष्ण भक्तिर प्रवाह॥

इस प्रकारसे वह अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह करता है। उसमें यह विचार सुदृढ़ एवं सुनिश्चित हो जाता है कि कृष्णभक्तिका सतत प्रवाहमान होना ही जीवनका मूल उद्देश्य है।

अतएव लिङ्गहीन सदा साधुजन।
द्वंद्वातीत हये करेन श्रीकृष्णभजन॥

कृष्णभक्त साधुगण सदा ही स्थूल-परिचय एवं भौतिक उपाधियोंसे परे रहते हैं। वे सभी प्रकारक द्वन्द्वोंसे अतीत होकर नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णकी सेवा-आराधनामें संलग्न रहते हैं।

ज्ञानेर प्रयासे काल ना करि 'यापन'।
भक्तिबले नित्यज्ञान करेन साधन॥

ऐसा भक्त अन्यान्य ज्ञान (निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान अथवा त्वम् एवं तत् पदार्थके ऐक्यका ज्ञान) के अनुशीलनमें अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करता। वह तो अपनी भक्तिमयी सेवाके बलपर नित्यज्ञान (अद्वय परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण) को प्राप्त करनेके लिए साधन-रत रहता है।

यथा-तथा वास करि, ये-से वस्त्र परि।
सुलब्ध-भोजन-द्वारा देह रक्षा करि॥

जैसा भी स्थान उसे रहनेके लिए सहज-सुलभ होता है, वह उसी स्थानपर वास करता है, इसी प्रकार अनायास-प्राप्त वस्त्रोंका परिधान कर लेता है तथा जो भी भोजन सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाये, उसीको वह अपने शरीर एवं प्राणकी रक्षाके लिए ग्रहण कर लेता है।

कृष्णभक्त कृष्णसेवा आनन्दे मातिया।
सदा कृष्ण प्रेम रसे फिरेन गाइया॥

ऐसा कृष्णभक्त भगवान् श्रीकृष्णकी एवं उनके भक्तोंकी सेवाको ही परम आनन्द मानता है। कृष्णप्रेम-रसमें निमग्न वह जहाँ-जहाँ भ्रमण करता है, वहाँ-वहाँ उनका गुणानुवाद करनेमें तन्मय रहता है।

नवद्वीपे श्रीचैतन्यप्रभु अवतार।
भकतिविनोद गाय कृपाय ताँहार॥

श्रीनवद्वीपधाममें जहाँ श्रीचैतन्य अवतीर्ण हुए हैं, श्रील भक्तिविनोद ठाकुर वहाँ उनकी कृपासे यह गायन कर रहे हैं।

श्रीश्रीजन्माष्टमी — श्रीगुरु-वैष्णव-चरणरेणु-सेवाप्रार्थी
४ सितम्बर, १९६९ — श्रीभक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

श्रीश्रीभक्तिविनोदाविर्भाव-तिथि

ॐ नमो भक्तिविनोदाय सच्चिदानन्दनामिने।
गौरशक्तिस्वरूपाय रूपानुगवराय ते॥

आज हमारे परमाराध्यतम परात्पर श्रीगुरुदेव नित्यलीला-प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरका आविर्भाव-वासर है। यह सुमेधा-श्रेष्ठ तिथि हमारे लिए नित्य आराधनाकी वस्तु है। आज इस शुभ तिथिमें वेदान्तसूत्रका तृतीय अध्याय प्रकाशित हो रहा है। प्रथम अध्याय श्रीश्रीकृष्ण-आविर्भाव-वासरमें प्रकाशित हुआ था, द्वितीय अध्याय श्रीश्रीगौर-आविर्भाव-वासरमें प्रकाशित हुआ था और यह तृतीय अध्याय हमारे परात्पर श्रीश्रीगुरुदेवके आविर्भाव-वासरपर प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थको आजकी शुभ-तिथिमें प्रकाशित करनेका विशेष कारण यह है कि गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव प्रभु-प्रणीत गोविन्द-भाष्य और सूक्ष्मा-टीकाके साथ वेदान्तदर्शन ग्रन्थको प्रकाशित करनेका सङ्कल्प हमारे इन्हीं ठाकुरके हृदयमें सर्वप्रथम उदित हुआ था, किन्तु माननीय श्रील श्रीयुक्त श्यामलाल गोस्वामी सिद्धान्तवाचस्पति महोदय द्वारा कृत बङ्गानुवाद और गोविन्द-भाष्य विवृतिके साथ ग्रन्थको प्रकाशित होते देख भक्तिविनोद ठाकुरने परमानन्द प्रकाश किया था और तत्कालीन स्व-सम्पादित 'सज्जनतोषणी' पत्रिकामें अपनी एक समालोचना भी प्रकाशित की थी, वह बादमें द्रष्टव्य है। पूर्वोक्त ग्रन्थके सम्पादन-कालमें हमारे इन्हीं ठाकुरने अनेक विषयोंमें गोस्वामी महाशयकी सहायता की थी और उन गोस्वामी महाशयने भी उस ग्रन्थमें उसे अङ्गीकार किया था। उक्त ग्रन्थमें गोविन्द-भाष्यके सारको विवृत्ति इत्यादिके साथ प्रकाशित तो किया था, किन्तु सूक्ष्मा-टीकाका कोई अनुवाद उसमें दिया नहीं गया था।

श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरने हमारे श्रीगुरुदेव श्रीश्रील प्रभुपादको इस ग्रन्थके एक विस्तृत संस्करणके सम्पादन एवं प्रकाशनके लिए आज्ञा भी प्रदान की थी—यह सुना जाता है। हमारे परमाराध्यतम प्रभुवर

श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा सङ्कल्पित यह ग्रन्थ उनकी ही अहैतुकी करुणासे इस समय प्रकट है। इसी कारण उनकी पवित्र-पावन आविर्भाव-तिथिकी स्मृतिका संरक्षण करते हुए आज इस शुभ तिथिमें ग्रन्थका तृतीय खण्ड प्रकाशित किया गया है। अवशिष्ट चतुर्थ अध्यायको भी दैवानुकूल होनेपर परमाराध्यतम श्रीश्रील प्रभुपादकी आविर्भाव तिथिमें सम्पन्न करनेकी अभिलाषा है, तदर्थ श्रीगुरु-गौराङ्गके श्रीचरणोंमें कातर प्रार्थना कर रहा हूँ।

अब सबको एक कौतूहल हो सकता है कि जिनकी पवित्र आविर्भाव-तिथिमें वेदान्तसूत्रका यह अध्याय प्रकाशित हो रहा है, वे महापुरुष हैं कौन? अतः उन महापुरुषका एक संक्षिप्त परिचय प्रदान करते हुए कुछ बातें निवेदन किये बिना रहा नहीं जा सकता। इस प्रसङ्गमें सर्वप्रथम निवेदन करता हूँ कि ये महापुरुष श्रीमन्महाप्रभुके अति प्रिय नित्य पार्षद थे। जिस प्रकार श्रील नरोत्तम ठाकुर श्रीमन्महाप्रभुके समसामयिक न होनेपर भी महाप्रभुके नित्य पार्षद थे, उसी प्रकार श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर भी श्रीगौराङ्गके नित्य पार्षद थे। श्रीगौरसुन्दरकी आज्ञासे ही परवर्ती कालमें भूतलपर अवतीर्ण हुए थे। हो सकता है कि कुछ लोग जिज्ञासा करें कि हम किस प्रकारसे ठाकुरको गौर-पार्षद समझें, तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकारसे श्रीभगवान् अधोक्षज-तत्त्व अर्थात् बद्ध-जीवके इन्द्रिय-ज्ञान-गम्य नहीं हैं, उसी प्रकार भगवत्-भक्त भी अधोक्षज-वस्तु हैं, जिन्हें पहचानने अथवा जान लेनेकी योग्यता बद्ध-जीवमें नहीं है। भक्त, भगवान्की कृपाके बिना उनके तत्त्वको हृदयङ्गम करना दुःसाध्य है। सारग्राही पुरुषोंका कहना है कि जो श्रीगौरधाम, श्रीगौरनाम एवं श्रीगौरसेवाको परिपूर्ण करनेके लिए श्रीगौरसुन्दर द्वारा प्रेरित होकर इस जगत्में आते हैं, वे ही श्रीगौरजन अथवा श्रीगौर-पार्षदके रूपमें निरूपित होते हैं। वर्त्तमान युगमें श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने जो श्रीगौराविर्भाव भूमि मायापुरको एवं नवधा-भक्तिके पीठस्वरूप श्रीनवधाममें स्थित श्रीगौर-लीला-स्थलियोंको प्रकाशित किया है, यह किसीसे भी अविदित नहीं है। इतना ही नहीं, श्रीगौराङ्गके आविर्भाव-स्थान श्रीयोगपीठका आविष्कार करके उन्होंने जीव-जगत्का जो महाकल्याण साधन किया है, वह भी सभीके लिए सुविदित है।

श्रीगौर-पार्षद श्रीरूपगोस्वामीने एवं श्रीसनातन गोस्वामीने महाप्रभुकी प्रेरणासे जिस प्रकार श्रीवृन्दावनधाम, श्रीराधाकुण्ड एवं श्रीश्यामकुण्डको प्रकाशित करके श्रीकृष्ण-लीलाकी महामाधुरीको जीव-जगत्के आस्वादनके लिए वितरण किया था, उसी प्रकार श्रीलठाकुरने भी इस युगमें श्रीगौराङ्ग-लीला-माधुरीका जगत्-जीवको पान करानेके लिए गौरधामका आविष्कार करके अपने गौर-निजजनत्वको प्रकाशित किया था।

मात्र श्रीगौरधामको ही प्रकट करके वे निवृत्त नहीं हो गये थे, उन्होंने श्रीगौर-नामका सर्वत्र वितरण किया एवं सङ्कीर्त्तनके माध्यमसे श्रीनाम-प्रेम-प्रचार-लीलाको प्रकट करके अपने गौर निजजनत्वको सुदृढ़ किया था। इतना ही क्यों, श्रीमन्महाप्रभुने जो भविष्यवाणी की थी कि—

पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।
सर्वत्र प्रचार हइबे मोर नाम॥

जगद्व्यापिया मोर हइवेक ख्याति।
सुखी हइया लोक मोर गाहिवेक कीर्त्ति॥

अर्थात् इस धरामण्डलपर जितने भी ग्राम-नगरादि हैं, सर्वत्र ही मेरे नामका प्रचार होगा। सम्पूर्ण जगत्में मेरी ख्याति व्याप्त होगी और लोग मेरा यशोगान करके आनन्दित होंगे।

इस वाणीकी सार्थकताके लिए एक नव-युगकी सूचना दी गयी थी। जिस समय बङ्गाली तथा भारतवासी पाश्चात्य रीति-नीति एवं भाव-धारासे विमोहित होकर नव-शिक्षित सम्प्रदाय नाना रूपोंमें सामाजिक एवं धर्म-विप्लव संघटित करते हुए सनातन वैष्णव-धर्मकी विकृत मूर्त्तिको घृणा एवं लांछनकी दृष्टिसे देखते हुए केवल भोगवादके मोह-जालका विस्तार कर रहे थे, ठीक उसी समय भक्तिविनोद ठाकुर अपने स्वतः सिद्ध आचार्यत्वको प्रकाशित करते हुए श्रीगौरवाणीकी जगत्में घोषणा करने लगे, इसीसे शुद्ध वैष्णव-धर्म विशेष रूपसे श्रीचैतन्यमहाप्रभु प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव-धर्मका प्रोज्वल (अत्यन्त उज्ज्वल) आलोक पुनः प्रतिष्ठित हुआ। उन्होंने शुद्धभक्ति धर्मके स्रोतको पुनः प्रवाहित करके तत्कालीन शिक्षित समाजमें एक अपूर्व आन्दोलनकी सृष्टि की। इतना ही नहीं, आनुषङ्गिक (गौण)

रूपसे प्रचलित तत्कालीन सभी धर्ममतों एवं सामाजिक समस्याके अमीमांसित विषयोंके तुलनामूलक वैज्ञानिक एवं श्रौत-मौलिक समाधानके द्वारा उन्होंने समसामयिक एवं भविष्यत्‌की समग्र मानव-जातिके नित्य कल्याण-सूत्रको प्रकट किया, जिससे सभीके लिए वे चिरपूज्य हो गये थे। इन्हीं महात्माकी कृपाके निदर्शनस्वरूप गौड़ीय-मठका अभ्युदय हुआ और विश्वमें सर्वत्र गौरवाणीका विपुल प्रचार एवं प्रसार हुआ। अतः शुद्धभक्ति-भागीरथीकी विमल स्रोत-धाराको वर्त्तमान जगत्‌में प्रवाहित करनेमें ये मूलपुरुष वस्तुतः भगीरथस्वरूप हैं। आशा है, उनके द्वारा स्थापित अवदान-विषयको सम्यक् रूपसे जान लेनेपर इन सबकी अनायास ही उपलब्धि की जा सकेगी।

इन महापुरुषने श्रीगौरकाम-परिपूर्ण करनेके लिए जो कुछ भी चेष्टा की थी, उन सबका निदर्शन उनके जीवनादर्शमें देदीप्यमान है। जिस प्रकार श्रीमन्महाप्रभुने अपने मनोभीष्ट-पूरणके लिए श्रीरूप-सनातनको कुछ कार्योंका साक्षात् आदेश दिया था, इसी प्रकार इन महात्माको भी उन्होंने आज्ञा देकर भूतलपर भेजा था। सच्चिदानन्द श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने उनकी आज्ञाके परिपालनके लिए लुप्त-तीर्थोंका उद्धार, श्रीविग्रह-सेवा-प्रकाश, श्रीनाम-प्रेम-प्रचार, भक्ति-ग्रन्थके प्रकाशनादि कार्योंके लिए स्वयंको सदा नियोजित कर रखा था। जो मनुष्य उनकी चरितावलीका पाठ करते हैं—वे सहज ही जान सकते हैं कि ये महापुरुष निश्चय ही श्रीगौरकाम-परिपूरक अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुके मनोभीष्ट-संस्थापक, गौरनिजजन एवं गौरपार्षद हैं। गौरजन न होनेपर किसीके भी द्वारा इस प्रकारसे गौरधाम, गौरनाम और गौरकाम-सेवा परिपूर्ण नहीं हो सकती।

ये महापुरुष श्रीचैतन्याब्द ३५२, बङ्गाब्द १२४५, २ सितम्बर १८३८ रविवार भाद्रीय शुक्ला त्रयोदशी तिथिमें नदिया जिलेके अन्तर्गत ओला ग्राम (मायापुरके सन्निकट 'वीरनगर' ग्राम) में आविर्भूत हुए थे।

श्रीचैतन्यदेवके आविर्भावके पूर्वावस्थाकी अपेक्षा इन महात्माके आविर्भावसे पूर्व बङ्गदेश कहीं अधिक बहिर्मुखतासे आच्छन्न था। उस समय भी देशमें भूत-सिद्धि, वशीकरण, पञ्चपक्षी-साधन, दुर्गोत्सव-उपलक्षमें

ग्राम्य-कवियोंकी लड़ाई, खेम्टा एवं बाई-नाच, आतिशबाजी-जलाना, बड़े पेटवाले बाबुओंकी साज-सज्जाकी प्रतियोगिता, भैंस-बकरीकी बलि, गुप्त पूजा, पुतलियोंका विवाह इत्यादि कितनी ही धर्मकी विकृत छवि दिखायी दे रही थी, इसके अतिरिक्त आउल, बाउल, कर्ताभजा, नेड़ा, दरवेश, साईं, सहजिया, सखीभेखी, स्मार्त्त, जातिगोस्वामी, अतिबाड़ी, चूड़ाधारी इत्यादि बहुत प्रकारके अपसम्प्रदायोंका अभ्युदय हो रहा था, पाश्चात्य शिक्षासे शिक्षित व्यक्तियोंमें भी उस समय आध्यक्षिकता एवं मनोधर्मकी नाना प्रकारकी नवीन उन्मादना व्यक्त हो रही थी। इसी समय श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने प्राच्य एवं पाश्चात्य शिक्षासे शिक्षित समाजके निकट श्रीचैतन्यदेव द्वारा आचरित एवं प्रचारित विमल वैष्णव-धर्मकी कथाका प्रचार करके एक युगान्तकारी विप्लव ला खड़ा किया था। श्रीठाकुर अति अल्प वयससे ही इन सब बातोंको तत्कालीन प्रख्यात पत्र-पत्रिकाके माध्यमसे प्रचार कर रहे थे। उन्होंने सन् १८८१ ई॰ में 'सज्जनतोषणी' पत्रिकाको पहले प्रकाशित करके परमार्थ-विषयमें उपदेश प्रदान किया और क्रमशः बहुत प्रकारके भक्ति-ग्रन्थोंकी रचना एवं प्रामाणिक शास्त्रोंको प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया। उनके सभी ग्रन्थोंकी तालिका प्रदत्त की जायेगी। श्रीठाकुर देश-देशान्तरमें भ्रमण करते हुए अपनी चिन्मयी वक्तृताओंके द्वारा प्रचार करते थे।

सन् १८९४ ई॰ में उन्होंने श्रीश्रीमन्महाप्रभुके आविर्भाव-स्थानका आविष्कार करना आरम्भ किया तथा इसी सालकी २१ मार्च बुधवार फाल्गुनी-पूर्णिमा तिथिपर श्रीमायापुरमें श्रीगौर-विष्णुप्रियाके श्रीविग्रहोंको प्रतिष्ठित किया। बादमें अन्यान्य सेवाओंकी भी स्थापना की। इसी प्रकार नाना प्रकारसे श्रीमहाप्रभुकी वाणीका प्रचार एवं प्रसार करते हुए अपनी अभिन्न प्रियतम मूर्त्ति हमारे परमाराध्यतम श्रीगुरुदेव (श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर) को सम्पूर्ण सेवा-भार एवं प्रचार-भार समर्पण करके २३ जून १९१४ ई॰ आषाढ़ १३२१ बङ्गाब्दको हमारे श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने कलकत्ता महानगरीमें श्रीराधाकुण्डकी मध्याह्न-लीलामें प्रवेश किया। इस विषयमें विस्तारपूर्वक जाननेके लिए श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके चरितावली-ग्रन्थका अध्ययन करना आवश्यक है।

केवल ऐतिहासिक रूपसे भक्तोंके जीवन-चरितकी आलोचना करनेपर हम अधिक लाभान्वित नहीं हो सकते, इस कारण यदि हम उनके श्रीमुखसे उच्चारित अथवा लेखनीप्रसूत वाणी-गङ्गामें अवगाहन करें, तो अपने जीवनको धन्य कर सकेंगे। हमारे परमाराध्यतम श्रीगुरुदेव श्रीश्रील प्रभुपाद प्रायः कहा करते थे कि साधुको चक्षुके द्वारा नहीं देखा जाता, साधुको कानके द्वारा देखा जाता है अर्थात् साधु हमारे मङ्गलके लिए जिन वाणियोंका सङ्कीर्त्तन करते हैं, उस समस्त वैकुण्ठवाणीको साधुके निकट प्रपन्न (शरणागत) होकर श्रद्धाके साथ कर्णाञ्जलिसे पान कर सकें, तो हृदयकी सम्पूर्ण मलिनता दूरीभूत होगी। ऐसे निष्पाप, विशुद्ध एवं निर्मल-चित्तमें तत्त्वज्ञान प्रकटित होता है। जिस प्रकार सूर्यके आलोकमें सूर्य-दर्शन होता है, जिस प्रकार भगवान्‌के कृपालोकसे भगवत्-दर्शन होता है, उसी प्रकार साधुके कृपालोकसे साधु-दर्शन, साधु द्वारा उपदिष्ट विषयका श्रवण एवं उसके ग्रहणका अधिकार उत्पन्न होता है। इसी कारणसे हम श्रील ठाकुरकी कतिपय वाणीको इस स्थलपर उद्धृत कर रहे हैं।

'सच्चिदानन्द श्रीलभक्ति विनोद ठाकुरके कतिपय अमूल्य वचनोपदेश'

"जब तक भक्तिकी विपरीत वासनाएँ विदूरित नहीं होती, तब तक लोगोंको जितना भी सदुपदेश दिया जायेगा, वह उनके कर्ण-पथसे ही प्रत्यावर्त्तन करेगा अर्थात् वापस लौट आयेगा, हृदयमें प्रवेश नहीं करेगा।" (सज्जनतोषणी १२/२)

"वैष्णव चरित्र—सदा पवित्र। वैष्णव-चरित्र निष्पाप होता है। उनका कोई भी अंश गोपनीय नहीं होता। सरलता ही वैष्णवका जीवन है। (हे वैष्णव साधु!) अपने चरित्रको सर्वदा प्रकाशित करते हुए शिक्षा प्रदान करो। केवल कथाके द्वारा शिक्षा देनेसे यथेष्ट होगा नहीं, चरित्रके द्वारा शिक्षा देना ही प्रधान कार्य है।" (सज्जनतोषणी, खण्ड-६)

"बाइविल, कुरान, जेन्दाबस्ता इत्यादि सभी पुस्तकोंमें ही कुछ-कुछ सत्यधर्म है, उस-उस सारांशको लेकर उन-उन ग्रन्थोंकी प्रशंसा करना

ही सारग्राही-वैष्णवोंका कार्य है।

श्रील हरिदास ठाकुरने कहा है—

शुन बाप, सबारि एकइ ईश्वर।
नाम-मात्र भेद करे—हिन्दुये-यवने।
परमार्थ एक कहे, कोराने, पुराणे॥

समस्त धर्मके सारांशमें वैष्णव-धर्म है। श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित विशुद्ध प्रेमधर्म ही समस्त जीवोंका एकमात्र धर्म है।" (सज्जनतोषणी वर्ष-६)

"वृथा गल्प, वितर्क, पर-चर्चा, वादानुवाद, परदोषानुसन्धान, मिथ्या जल्पना, साधु-निन्दा, ग्राम्य-कथा इत्यादिका प्रजल्प भक्ति-बाधक है। भक्ति-साधकगण व्यर्थमें ही समय नष्ट न करके सर्वदा भक्तोंके साथ हरि-कथाकी समालोचना करते हैं एवं निर्जनमें हरि-नाम स्मरण करते हैं।" (सज्जनतोषणी १०/१०)

"जब तक प्रतिष्ठाकी आशाका त्याग नहीं करते हो, तब तक 'वैष्णव हो गया हूँ' यह माना नहीं जा सकता। केवल बातोंमें ही दैन्य प्रदर्शन करनेसे चलता नहीं।" (सज्जनतोषणी ८/३)

" 'स्वप्नेओ ना कर भाइ प्रकृति दरशन'—(हे भाई! स्वप्नमें भी प्रकृतिका दर्शन न करना।) यह कथन गृहस्थ-भक्तोंके लिए भी विशेष पालनीय है। क्योंकि वैरागी तो स्त्रीको देखेंगे ही नहीं और न ही उसके विषयमें सोचेंगे और गृहस्थ-वैष्णव यद्यपि युक्तवैराग्य एवं भक्तिके अनुकूल स्वीकार करके विषय-भोग करेंगे, तथापि मनको विषयोंसे सम्पूर्णरूपेण पृथक् रखेंगे।" (सज्जनतोषणी ८/११)

"कृष्ण-भजनके लिए सबसे पहले साधुका चरित्र होना चाहिये। स्त्री पुरुष-सङ्ग और पुरुष स्त्री-सङ्ग नहीं करेंगे। जड़-चिन्ता एवं जड़-धर्मको दूर करके क्रमशः चित्-धर्मकी उन्नति साधित होनेपर व्रजमें गोपी-जन्म प्राप्त होगा। गोपी यदि हो नहीं सकते, तो कृष्ण-भजन होगा नहीं।" (सज्जनतोष्णी १०/६)

"जो स्वयं आचरण करके धर्मकी शिक्षा देते हैं, वे ही आचार्य हैं। केवल वितर्क करके सांसारिक उन्नति प्राप्त कर लेनेसे आचार्यत्व प्राप्त नहीं होता।" (सज्जनतोषणी चतुर्थ खण्ड)

"अनेक स्थलोंपर दुष्टगण कर्मके फलस्वरूप विधर्म, छलधर्म, व्यभिचारपूर्ण अधर्म इत्यादि दूषित मतोंको 'श्रीचैतन्यमतकी शिक्षा' के रूपमें प्रचार करते हैं और विचारशक्ति रहित विषयाविष्ट अनेक मनुष्य इन सब दूषित मतोंको महाप्रभुका वास्तव मत जानकर प्रकृत (यथार्थ) उपदेशसे वञ्चित रह जाते हैं।" (श्रीचैतन्यशिक्षामृत ग्रन्थकी भूमिका)

"वैष्णव-धर्मके बिना और कोई धर्म नहीं है, अन्यान्य जितने भी प्रकारके धर्म जगत्में प्रचारित हुए हैं अथवा होंगे, सभी वैष्णव-धर्मके या तो सोपान हैं या विकृति (विकारमात्र) हैं। सोपान-स्थलपर उन धर्मोंका यथायोग्य आदर करना होगा; विकृति-स्थलपर असूया-रहित होकर स्वयं ही भक्ति-तत्त्वकी आलोचना करनी होगी; अन्य किसी पन्थाकी हिंसा नहीं करेंगे। जिसका जब शुभ दिन होगा, वह अनायास ही वैष्णव हो जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।" (जैवधर्म)

"पञ्च उपासनामें जो विष्णु-उपासना है, उसमें दीक्षा, पूजा समस्त ही विष्णु-विषयक होता है, कहीं-कहींपर उनकी उपासना राधाकृष्ण विषयक होनेपर भी वह शुद्ध वैष्णव-धर्म नहीं है। इस प्रकार विद्ध वैष्णव-धर्मको (विष्णुको कर्माङ्ग अथवा कर्माधीन मानना ही विद्ध वैष्णव-धर्म है) पृथक् कर देनेपर जिस शुद्ध वैष्णव-धर्मका उदय (प्रकाश) होता है, वही यथार्थ वैष्णव-धर्म है। कालिक (कलि) दोषसे अधिकांश लोग शुद्ध वैष्णव-धर्मको समझते नहीं हैं, इसीलिए विद्ध वैष्णव-धर्मको ही वैष्णव-धर्म समझ लेते हैं।" (जैवधर्म)

"इस व्यवसायका सहसा परित्याग करो। तुम रस-पिपासु हो। रसके निकट और अपराध मत करो। *'रसो वै सः'* (तै॰ २/७) इस वेद वाक्यमें 'रस ही कृष्णस्वरूप है'। शरीर निर्वाहके लिए शास्त्रोक्त अनेक प्रकारके व्यवसाय हैं, उनका ही आश्रय करो। साधारणके निकट भागवत-पाठ करके अर्थ ग्रहण न करें। यदि रसिक श्रोता मिलता हो, तो वेतन अथवा दक्षिणा न लेकर परमानन्दसे उसे भागवत श्रवण कराओ।" (जैवधर्म)

"गुरु-वरण करनेके समय गुरुको शब्दोक्त तत्त्व (वेदको भलीभाँति जाननेवाले) और परतत्त्वमें पारङ्गत देखनेके लिए परीक्षा की जाती

है। वैसे गुरु सर्व-प्रकारसे तत्त्व-उपदेश करनेमें अवश्य ही समर्थ होंगे। दीक्षागुरुको त्याग करनेकी विधि नहीं है, परन्तु दो परिस्थितियोंमें उनका त्याग किया जा सकता है। पहली परिस्थिति यह है कि गुरु-वरणके समय यदि शिष्यने गुरुकी तत्त्वज्ञता और वैष्णवता आदि गुणोंकी परीक्षा किये बिना ही उन्हें गुरु बना लिया हो, परन्तु पीछे समयपर उस गुरु द्वारा कोई कार्य नहीं हुआ हो, तो वैसे गुरुका परित्याग करना चाहिये। इसके बहुत-से शास्त्र-प्रमाण हैं। दूसरी परिस्थिति यह है कि गुरु-वरण करनेके समय गुरुदेव वैष्णव और तत्त्वज्ञ थे, परन्तु असत् सङ्गके प्रभावसे पीछे मायावादी या वैष्णव-विद्वेषी हो गये; ऐसी दशामें वैसे गुरुका त्याग करना कर्त्तव्य है।" (जैवधर्म)

"शूद्रादिके घरमें यदि शम-दम विशिष्ट व्यक्तिका जन्म होता है, तब उसे ब्राह्मण कहकर निर्देश करें। तात्पर्य यह है कि जन्मके कारण कोई व्यक्ति वास्तविक ब्राह्मण अथवा शुद्र नहीं होता, केवल उसे व्यावहारिक संज्ञा (नाम) मात्र प्राप्त होती है। पक्षान्तरमें तत्त्वज्ञान अथवा उपाधि-रहित होनेपर विप्र-सन्तानादिको उनके गुण-कर्मानुसार क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कहा जा सकता है, इसे मनुने भी स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है।" (तत्त्वसूत्र)

"श्रीविग्रह भगवत्-स्वरूपके साक्षात् निदर्शनके अलावा स्वरूपेतर वस्तु नहीं हो सकती। सब कुछ ही शिल्प और विज्ञानमें जिस प्रकार अलक्षित तत्त्वका स्थूल प्रतिमूर्त्ति है, उसी प्रकार श्रीविग्रह जड़-चक्षुके अगोचर भगवत्-स्वरूपका प्रतिभूस्वरूप है। भक्तोंका भगवत्-स्वरूप-प्रतिभू यथायथ (यथार्थ) है—ये भक्तलोग विशुद्ध भक्तिवृद्धिरूप फलद्वारा सर्वदा परीक्षा करते रहते हैं। विद्युत पदार्थके साथ विद्युत-यन्त्रका जो यथार्थ सम्बन्ध है, वह केवल विद्युत फलकोत्पत्तिरूप फल द्वारा ही लक्षित होता है। इस विषयमें जो अनभिज्ञ हैं, वे विद्युत-यन्त्रको देखकर क्या समझेंगे? जिनके हृदयमें भक्ति नहीं है, वे विग्रहको पुत्तलिका कहनेके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं?" (श्रीचैतन्यशिक्षामृत)

"वेदशास्त्रमें जो कुछ भी उपदिष्ट हुआ है, उसमें सर्वापेक्षा हरिनाम-उपदेश ही सर्वश्रेष्ठ है।" (जैवधर्म)

"'कृष्ण' यह नाम ही उनका प्रेमाकर्षण-लक्षण स्वरूप परम सत्ता-वाचक नित्य नाम है।" (ब्रह्मसंहिता)

"प्रभुके वाक्यमें दृढ़ विश्वास करके श्रीगुरुकी कृपाके बलसे कृष्ण नाम करनेसे सम्पूर्ण लाभ होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।" (सज्जनतोषणी)

"कृष्णनाम ही कृष्णका प्रथम परिचय है। कृष्ण-प्राप्तिके सङ्कल्पसे ही जीव कृष्णनाम ग्रहण करें।" (श्रीचैतन्यशिक्षामृत)

हमारे इन श्रीठाकुरने श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाके सार रूपमें एक श्लोक निबद्ध किया है, उसे इस स्थलपर उद्धृत किया जा रहा है—

आम्नायः प्राह तत्त्वं हरिमिह परमं सर्वशक्तिं रसाब्धिम्
तद्भिन्नांशांश्च जीवान् प्रकृति-कवलितान् तद्विमुक्तांश्च भावात्।
भेदाभेद-प्रकाशं सकलमपि हरेः साधनं शुद्धभक्तिम्
साध्यं तत्-प्रीतिमेवेत्युपदिशति जनान् गौरचन्द्रः स्वयं सः॥

(श्रीमहाप्रभुकी शिक्षा)

अर्थात् गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त वेद-वाणियोंको आम्नाय कहते हैं। वेद एवं वेदानुगत श्रीमद्भागवत आदि स्मृतिशास्त्र तथा वेदानुगत प्रत्यक्षादि प्रमाण ही प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि—

(१) हरि ही परमतत्त्व हैं,

(२) वे सर्वशक्तिमान हैं,

(३) वे अखिल रसामृतसिन्धु हैं,

(४) मुक्त और बद्ध दोनों ही प्रकारके जीव ही उनके विभिन्नांश तत्त्व हैं,

(५) बद्धजीव मायाके अधीन होते हैं,

(६) मुक्तजीव मायासे मुक्त होते हैं,

(७) चित्, अचित्, अखिल जगत् श्रीहरिका अचिन्त्य-भेदाभेद प्रकाश है,

(८) भक्ति ही एकमात्र साधन है,

(९) कृष्ण-प्रीति ही एकमात्र साध्य-वस्तु है।

श्रीठाकुर द्वारा रचित ग्रन्थ एवं पत्रिकादिसे यहाँ कुछ उपदेश-वाणीको दिग्दर्शन रूपमें उद्धृत किया गया है। श्रीठाकुरके अनन्त उपदेशोंको जाननेकी इच्छा होनेपर उनके द्वारा विरचित ग्रन्थादिकी आलोचना करनी होगी। श्रीठाकुरके कुछ ग्रन्थोंकी तालिका बादमें दी गयी है।

अब श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके सम्बन्धमें तत्कालीन कुछ जागतिक प्रसिद्धि प्राप्त मनीषियोंने समय-समयपर जो कहा, उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

कोलकता-विश्वविद्यालयके सुप्रसिद्ध वाइस चांसलर (कुलपति) परलोकगत सर गुरुदास वन्दोपाध्याय एम॰ए॰, डी॰लिट्॰, पी॰एच॰डी॰, महोदयने बङ्गीय-साहित्य-परिषदमें बाङ्गला १३३२ वर्षमें श्रीमन् ठाकुरकी स्मृति-सभामें कहा था—

"ठाकुर भक्तिविनोदका एकमात्र मूल लक्ष्य था—साहित्यके द्वारा भगवान्‌की सर्वतोमुखी सेवा—कीर्त्तन-प्रचार। श्रीरूप-सनातनकी ग्रन्थ-रचना ही जिस प्रकार उनका भजन, जप, तप, सिद्धि था, भक्तिविनोद ठाकुरका ग्रन्थ-रचना कार्य भी ठीक वैसा ही था।"

उक्त सभामें काशीमबाजारके महाराज स्वनामधन्य सर मनीन्द्रचन्द्र नन्दी बहादुरने भी ठाकुरके सम्बन्धमें कहा था—

"भक्तिविनोद ठाकुर अकपट, सरलतामय, वैष्णवताके मूर्त्तिमान विग्रह थे। श्रीठाकुरकी कथा सुनकर मैं उसी समय समझ गया था कि बङ्गदेशमें और इस पृथ्वीमें शिक्षित एवं समस्त प्रकारके जन-साधारणके मध्य सत्य-सत्य ही श्रीमन्महाप्रभुके धर्म-प्रचारके दिन आ गये हैं।"

संस्कृत कॉलेजके अध्यक्ष महामहोपाध्याय डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण महोदयने श्रीठाकुरके सम्बन्धमें कहा था—

"जिस युगमें ठाकुर आविर्भूत हुए थे, उस समयमें अँग्रेजी विद्याकी चर्चा ही अधिक होती। भक्तिविनोद ठाकुर ऐसे समयमें अँग्रेजी-साहित्यमें असाधारण व्युत्पत्ति प्राप्त करके भक्तिशास्त्रके अध्यापककी सहायताके बिना ही स्वयंके स्वाभाविक रुचि-क्रमसे प्रेमभक्तिकी कथाकी विभिन्न भाषाओंमें आलोचना किया करते थे। जिसके फलस्वरूप वे सुविस्तृत भक्ति-साहित्यकी रचना करते गये। श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके साहित्यका

जगत्‌में प्रचार होनेपर सभी यह समझ सकेंगे कि यह भक्ति-साहित्य ही हमारा अपना साहित्य है।"

कोलकता हाइकोर्टके माननीय विचारपति शारदाचरण मित्र एम॰ए॰, बी॰एल॰पी॰आर॰एस॰ महाशयने भी कहा था—

"श्रीभक्तिविनोद ठाकुरका कपटता-रहित मधुमय चरित्र ही था—उनकी अलौकिकता।"

अमृतबाजार प्रत्रिकाके तत्कालीन प्रवीण सम्पादक मतिलाल घोष महोदयने भी कहा था कि—"उनके दादा शिशिर कुमार घोष कई बार भक्तिविनोद ठाकुरके निकट श्रीगौराङ्ग एवं श्रीकृष्णकी कथा श्रवण करते थे। शिशिर बाबू श्रील भक्तिविनोद ठाकुरको 'दादा' कहते थे और उनपर विशेष श्रद्धा रखते थे। श्रीसनातन, श्रीरूप, श्रीरघुनाथ दास, श्रीरघुनाथ भट्ट, श्रीगोपाल भट्ट एवं श्रीजीव—इन छह गोस्वामीगणोंने जिस प्रकार श्रीचैतन्यकी वाणी एवं शिक्षाके सम्बन्धमें ग्रन्थ लिखकर जगत्‌का उपकार किया था, श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने भी वही किया है।"

२८ भाद्र बङ्गाब्द १३२३ में कोलकता यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट् हॉलमें श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी स्मृति-सभाका एक और अधिवेशन हुआ था। उसमें कोलकता विश्वविद्यालयके वाइस चांसलर (उपकुलपति) सर देवप्रसाद सर्वाधिकारीने सभापतिका आसन ग्रहण किया था; इसी सभामें राय यतीन्द्रनाथ चौधरी महाशयने कहा था—

"युवक उनके (श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके) ग्रन्थका पाठ करके ज्ञान प्राप्त करें और वे क्या थे, इसे जानें।"

"श्रीकृष्णसंहितामें उन्होंने जो वर्णन किया है, उसे पढ़ना सभीका कर्त्तव्य है। 'वैष्णव-धर्म' कहनेसे एकमात्र सार्वजनीन धर्मको जाना जाता है। हम मूल प्रीति-सूत्रको भूल गये हैं। जीवात्मा एवं परमात्मामें जो प्रीतिका मिलन है, वही मिलन सबका धर्म है, इसीका नाम वैष्णव-धर्म है। वे वर्त्तमान शिक्षित समाजमें इस धर्मको नाना रूपोंमें दिखाकर हमारे भक्ति-भाजन (श्रद्धास्पद) हुए हैं।"

श्रीयुक्त हीरेन्द्रनाथ दत्त वेदान्तरत्न महाशयने श्रीठाकुरके सम्बन्धमें कहा था—

"श्रीचैतन्यदेवने चार सौ वर्ष पूर्व जिस वैष्णव-धर्मका प्रचार किया था, काल-वश उसमें भी अनेक परिवर्त्तन लक्षित होते हैं। किन्तु उन महापुरुषके आविर्भावके फलस्वरूप उस वैष्णव-धर्मकी सत्य-वाणी दिन-प्रतिदिन परिस्फुट होती चली गयी। जिस समय धर्मकी ग्लानि उपस्थित हुई थी, उस समय भक्तिविनोद ठाकुर महाशयने ग्रन्थाकारमें अनेक जटिल विषयोंकी मीमांसा की थी।"

वाग्मिवर विपिन चन्द्र पाल महाशयने भी कहा था—

"श्रीभक्तिविनोदकी 'कृष्णसंहिता' को पढ़कर परितृप्त हुआ हूँ। इसकी तुलनामें कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है। भक्तिविनोद ठाकुर महाशयने चार सौ वर्षों पहले प्रचारित धर्मका पुनः सुष्ठु भावसे प्रचार किया है।"

'नायक' पत्रिकाके सुप्रसिद्ध सम्पादक पाँचकड़ि वन्दोपाध्याय महोदयने भी कहा था—

"मैं जिस समय साहब बनने गया था, उस समय मुझे लगा था कि यूरोपसे ही सब कुछ सीखना होगा, जानना होगा, तभी भक्तिविनोदने बताया कि भक्ति क्या है? भक्तिविनोदकी पुस्तकें पढ़ने अथवा आलोचना करनेपर जाना जा सकता है कि वे किस कारणसे जगत्में आये थे, साहित्य-राज्यमें, भाव-राज्यमें और रस-राज्यमें इनका स्थान कहाँ है? जब भी उनके प्रबन्ध प्रकाशित होते, तब मनमें यही भाव आता कि तड़ित्-आलोक (विद्युत-आलोक) कहाँसे प्रकटित हो रहा है।"

अब शिक्षित समाजके निकट हम सकातर निवेदन करते हैं कि वे श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी ग्रन्थावलीमेंसे कुछ ग्रन्थोंका अध्ययन करके देखें—ठाकुर किस कारणसे इस जगत्में आविर्भूत हुए थे, हमें क्या दुर्लभ वस्तु प्रदान कर गये हैं। श्रीमन्महाप्रभुके पार्षदगण असंख्य समस्याओंसे जर्जरित इस विश्वके वासियोंकी सम्पूर्ण समस्याओंका समाधान कर सकते हैं। मात्र इतना ही नहीं, अन्धकारके राज्यसे आलोकके राज्यमें ले जाकर हमारे नित्यसिद्ध स्वरूपमें नित्यानन्दका आस्वादन करा सकते हैं। इस आनन्दका आस्वादन गौरजनके बिना किसीके भी द्वारा सम्भव नहीं है।

श्रीभक्तिविनोद-ग्रन्थावली

(१) हरिकथा (बङ्गला पयार)
(२) शुम्भ, निशुम्भ युद्ध (बङ्गला)
(३) सामाजिक पत्रिकादिमें प्रबन्ध—प्रथम भाग
(४) पोरियड् (अँग्रेजी काव्य) प्रथम भाग
(५) पोरियड् (अँग्रेजी काव्य) द्वितीय भाग
(६) मठ्स ऑफ ओड़िशा (अँग्रेजी गद्य)
(७) विजन ग्राम (बङ्गला काव्य)
(८) संन्यासी (बङ्गला काव्य)
(९) आवर वाण्ट्स् (अँग्रेजी गद्य)
(१०) वालिदे रेजिस्ट्री (उर्दूमें रचित)
(११) स्पीच ऑन गौतम (अँग्रेजी गद्य)
(१२) स्पीच ऑन भागवतम् (अँग्रेजी गद्य)
(१३) गर्भस्तोत्र-व्याख्या या सम्बन्धतत्त्व चन्द्रिका (बङ्गला गद्य)
(१४) रिफ्लेक्शनस् (अँग्रेजी काव्य)
(१५) पुरीका जगन्नाथ मन्दिर (अँग्रेजी)
(१६) ठाकुर हरिदासकी समाधिके सम्बन्धमें श्लोक (श्लोक)
(१७) पुरीके अखाड़े इत्यादि
(१८) वेदान्ताधिकरण माला
(१९) दत्तकौस्तुभम् (संस्कृत तत्त्व विषयक)
(२०) दत्तवंशमाला (संस्कृत श्लोकावली)
(२१) बौद्ध-विजय काव्यम् (संस्कृत श्लोक)
(२२) श्रीकृष्णसंहिता (संस्कृत श्लोक)
(२३) कल्याणकल्पतरु (बङ्गला गीति ग्रन्थ)
(२४) श्रीसज्जनतोषणी (बङ्गला मासिक पत्रिका)
(२५) नित्यरूप संस्थापन सम्बन्धमें रिव्यू (अँग्रेजी ग्रन्थ)
(२६) श्रीमद्भगवद्गीता (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका एवं रसिक-रञ्जन बङ्गानुवादके साथ)
(२७) श्रीचैतन्यशिक्षामृत (बङ्गला ग्रन्थ)

(२८) शिक्षाष्टक (संस्कृत 'सन्मोदन' भाष्यके साथ)
(२९) मनःशिक्षा (श्रील दास गोस्वामीके मनःशिक्षाका अनुवाद)
(३०) दशोपनिषद—चूर्णिका
(३१) भावावली (संस्कृत श्लोक एवं भाष्य)
(३२) प्रेम-प्रदीप (बङ्गला गद्य एवं उपन्यास)
(३३) श्रीविष्णु-सहस्र-नाम (श्रीबलदेव-कृत भाष्यके साथ)
(३४) श्रीकृष्ण-विजय (श्रीगुणराज खान-कृत पद्य-ग्रन्थ)
(३५) श्रीचैतन्योपनिषद (संस्कृत श्रीचैतन्यचरणामृत भाष्यके साथ)
(३६) वैष्णव-सिद्धान्तमाला (बङ्गला गद्य तत्त्वोपदेश)
(३७) श्रीमदाम्नाय सूत्रम् (संस्कृत सूत्र, टीका एवं बङ्गला व्याख्या)
(३८) श्रीनवद्वीपधाम-माहात्म्य (बङ्गला पद्य)
(३९) सिद्धान्तदर्पणानुवाद
(४०) श्रीमद्भगवद्गीता (श्रीबलदेवकृत भाष्य एवं बङ्गला विद्वत्-रञ्जन भाष्य)
(४१) श्रीहरिनाम
(४२) श्रीनाम
(४३) श्रीनाम-तत्त्व (शिक्षाष्टक)
(४४) श्रीनाम-महिमा
(४५) श्रीनाम प्रचार
(४६) श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा (बङ्गला गद्य)
(४७) तत्त्वविवेकः या श्रीसच्चिदानन्दानुभूति (संस्कृत श्लोक दार्शनिक तथ्य एवं बङ्गला व्याख्या)
(४८) शरणागति (बाङ्गला गीति गन्थ)
(४९) शोक शातन (बङ्गला गीति गन्थ)
(५०) जैवधर्म (गौड़ीय वैष्णव सिद्धान्त ग्रन्थ)
(५१) तत्त्वसूत्र (संस्कृत सूत्र, भाष्य एवं बङ्गला व्याख्या)
(५२) ईशोपनिषदकी 'वेदार्क दीधिति' व्याख्या
(५३) तत्त्वमुक्तावली अथवा मायावाद शतदूषणी (बङ्गला व्याख्या)
(५४) श्रीचैतन्यचरितामृतम् 'अमृतप्रवाह-भाष्य' (बङ्गला ग्रन्थ)

(५५) श्रीगौराङ्ग-स्मरण-मङ्गल-स्तोत्रम् (संस्कृत श्लोक)
(५६) श्रीमन्महाप्रभुकी जीवनी एवं शिक्षा (अँग्रेजी)
(५७) श्रीरामानुज उपदेश (बङ्गला व्याख्या)
(५८) अर्थपञ्चक (बङ्गला व्याख्या)
(५९) ब्रह्मसंहिताका बङ्गानुवाद एवं प्रकाशिनी नामकी बङ्गला वृत्ति
(६०) श्रीकृष्णकर्णामृत गन्थकी बङ्गला व्याख्या
(६१) श्रीउपदेशामृतम् ग्रन्थकी पीयूषवर्षिणीवृत्ति (बङ्गला)
(६२) श्रीमद्भगवद्गीताका माध्व-भाष्य (सम्पादन)
(६३) श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुके 'श्रीभगवद्धामामृतम्' ग्रन्थका संस्कृत एवं बङ्गला भाष्य
(६४) श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुके 'भक्तिसिद्धान्तामृतम्' ग्रन्थका संस्कृत एवं बङ्गला भाष्य
(६५) श्रीभजनामृतम् (श्रीनरहरि ठाकुर-कृत) ग्रन्थका बङ्गला भाष्य
(६६) श्रीनवद्वीप-भाव-तरङ्गिणी (बङ्गला पयार)
(६७) श्रीहरिनाम-चिन्तामणि (बङ्गला पद्य)
(६८) दत्तवंशमाला (संशोधित एवं परिवर्द्धित)
(६९) श्रीभागवतार्कमरीचिमाला (गुम्फित भागवत श्लोक एवं बङ्गला व्याख्या)
(७०) श्रीसङ्कल्पकल्पद्रुम बङ्गानुवाद
(७१) समग्र पद्मपुराण सम्पादन
(७२) श्रीभजन-रहस्य (सङ्कल्पित संस्कृत श्लोकके साथ बङ्गला पद्यानुवाद)
(७३) विजन ग्राम और संन्यासी (संशोधित संस्करण)
(७४) सत्क्रियासार-दीपिका (सम्पादित)
(७५) श्रीचैतन्य-शिक्षामृत (संशोधित एवं परिवर्धित)
(७६) श्रीप्रेमविवर्त्त
(७७) स्वनियम-द्वादशकम्

अन्तमें यह निवेदन करता हूँ कि हमारे परमाराध्यतम परात्पर श्रीगुरुदेव नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरने नित्यसिद्ध भगवत्-पार्षद होकर भी जीव-जगत्के प्रति अहैतुकी करुणा प्रकाश करते हुए साधकके समान लीलाभिनय करते हुए हमें भजन-राज्यकी अतिशय निष्ठामूलक गूढ़तम उपदेश-शिक्षा प्रदान करनेके लिए 'स्वनियम्-द्वादशकम्' स्तोत्रकी रचना की। इस स्तोत्रको यहाँ उद्धृत न करते हुए मैं क्षान्त नहीं हो पा रहा हूँ। इस स्तवको पढ़ते हुए हमारे परमाराध्यतम गौर-पार्षद षड्-गोस्वामियोंमेंसे अन्यतम प्रयोजनतत्त्वाचार्य श्रीलरघुनाथ दास गोस्वामी विरचित 'स्वनियम-दशकम्' स्तोत्रसमूहकी शिक्षा भी स्मृति-पथपर आरूढ़ होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीलभक्ति विनोद ठाकुरने साक्षात् श्रीलरघुनाथ दास गोस्वामी प्रभुवरकी अभिन्न मूर्त्तिके रूपमें प्रकटित होकर पुनः वही शिक्षा दी है। उन्होंने श्रीरूप-सनातन-रघुनाथ-श्रीजीव इत्यादि गोस्वामियोंकी महान् शिक्षाको इस युगमें हमारे लिए उपस्थापित किया है। इन्हीं सब कारणोंसे वे नित्यसिद्ध, गौर-पार्षद और गोस्वामीवर्गमेंसे अन्यतम अभिन्न स्वरूपमें प्रतीयमान हुए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

श्रीगौरपार्षद श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद विरचित स्वनियम-द्वादशकम्

गुरौ श्रीगौराङ्गे तदुदितसुभक्तिप्रकरणे
शचीसूनोर्लीलाविकसितसुतीर्थे निजमनौ।
हरेर्नाम्नि प्रेष्ठे हरितिथिषु रूपानुगजने
शुक प्रोक्ते शास्त्रे प्रतिजनि ममास्तां खलु रतिः॥ १॥

श्रीगुरुदेवमें, श्रीगौरसुन्दरमें, श्रीमन्महाप्रभु द्वारा उपदिष्ट शुद्धभक्तिके विषय अथवा प्रसङ्गमें श्रीशचीनन्दनकी लीला द्वारा उज्ज्वल श्रीनवद्वीपादि उत्तम तीर्थमें (अथवा श्रीशचीनन्दनकी लीलाके प्रकाश हेतु श्रेष्ठ धाममें), अपने दीक्षामन्त्रमें, प्रियतम श्रीहरिनाममें, श्रीहरिवासरादि तिथियोंमें, श्रीरूपानुग-साधुजनोंमें, श्रीशुकदेव गोस्वामी कथित श्रीमद्भागवत-शास्त्रमें प्रति-जन्ममें मेरी प्रीति हो—यह प्रार्थना है।

सदा वृन्दारण्ये मधुररसधन्ये रसमयः
परां शक्तिं राधां परमरसमूर्त्तिं रमयति।
स चैवायं कृष्णो निजभजनमुद्रामुपदिशन्
शचीसूनुर्गौडे प्रतिजनि ममास्तां प्रभुवरः॥ २॥

मधुररसमय श्रीवृन्दावनमें अखिलरसामृतमूर्त्ति जो श्रीकृष्ण परमरसरूपिणी (विप्रलम्भरसमूर्त्ति) पराशक्ति श्रीराधाको सर्वदा आनन्द (सेवानन्द) प्रदान करते हैं, वे ही श्रीकृष्ण गौड़देशमें निज-भजन-प्रणालीका उपदेश-प्रदान करनेवाले श्रीशचीनन्दन हैं—श्रीशचीनन्दन प्रत्येक जन्ममें मेरे नियन्ता हों।

न वैराग्यं ग्राह्यं भवति न हि यद् भक्तिजनितं
तथा ज्ञानं भानं चिति यदि विशेषं न मनुते।
स्पृहा मे नाष्टाङ्गे हरिभजनसौख्यं न हि यत-
स्ततो राधाकृष्ण प्रचुर परिचर्या भवतु मे॥ ३॥

जो भक्तिसे उत्पन्न नहीं है, ऐसा वैराग्य ग्रहण करने योग्य नहीं है, उसी प्रकार जो ज्ञान चेतनमें व्यक्तित्व अथवा विलास स्वीकार नहीं करता, वह भी छलनामात्र है, जिसमें श्रीहरि-सेवाका आनन्द नहीं है, उस प्रकारके अष्टाङ्गयोगमें भी मेरी स्पृहा नहीं है। अतएव श्रीराधाकृष्णकी प्रचुर सेवा ही मेरा साध्य-साधन हो।

कुटीरेऽपि क्षुद्रे व्रजभजनयोग्ये तरुतले,
शचीसूनोस्तीर्थे भवतु नितरां मे निवसतिः।
स चान्यत्र क्षेत्रे विवुधगणसेव्ये पुलकितो,
वसामि प्रासादे विपुलधनराज्यान्वित इह॥ ४॥

श्रीगौरतीर्थमें (श्रीनवद्वीपादि धाममें) किसी वृक्षके तले श्रीव्रजभजनके उपयोगी क्षुद्र कुटीरमें मेरा एकान्त वास हो, किन्तु इस पृथ्वीमें मुनियों अथवा देवताओंके भी सेवनीय (वासयोग्य) विपुल धन-राज्यसे समन्वित अन्य देश, देव-मन्दिर अथवा राजपुरीमें भी मेरा वास न हो।

न वर्णे सक्तिर्मे न खलु ममता ह्याश्रमविधौ
न धर्मे नाधर्मे मम रतिरिहास्ते क्वचिदपि।

परं तत्तद्धर्मे मम जडशरीरं धृतमिद-
मतो धर्मान् सर्वान् सुभजन सहायान्नभिलषे॥ ५॥

ब्राह्मणादि वर्णमें मेरी आसक्ति न हो, ब्रह्मचर्यादि आश्रमादिमें निश्चित ही मेरी ममता न हो, इस पृथ्वीपर क्या धर्म है, क्या अधर्म है, इसमेंसे किसीमें भी मेरा आग्रह न हो, परन्तु उन समस्त धर्मोंको (धर्म-साधनको) मेरा यह जड़-शरीर अब तक धारण किये हुए है। यही कारण है कि अब मैं सुभजनके (शुद्ध-भक्तिके) अनुकूल सभी धर्मोंकी वाञ्छा करता हूँ।

सुदैन्यं सारल्यं सकल सहनं मानददनं
दयां स्वीकृत्य श्रीहरिचरण सेवा मम तपः।
सदाचारोऽसौ मे प्रभुपदपरैर्यः समुदितः
प्रभोश्चैतन्यस्याक्षय चरित पीयूष कृतिषु॥ ६॥

सुदीनता, सरलता, समस्त विषयोंमें सहिष्णुता, मानदान और दयाको स्वीकार करते हुए श्रीहरिपाद-पद्म-सेवा ही मेरा व्रत है। महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यके अक्षय चरितामृतपूर्ण ग्रन्थादिमें जो समस्त आचार हैं, श्रीमन्महाप्रभुके पादपद्मसेवैकनिष्ठ भक्तगणों द्वारा उसका ही उपदेश किया गया है, वही मेरा सदाचार हो।

न वैकुण्ठे राज्ये न च विषयकार्ये मम रति-
र्न निर्वाणे मोक्षे मम मतिरिहास्ते क्षणमपि।
व्रजानन्दादन्यद्धरि विलसितं पावनमपि
कथञ्चिन्मां राधान्वयविरहितं नो सुखयति॥ ७॥

क्या वैकुण्ठ राज्य, क्या विषयकार्य—कहीं भी मेरी आसक्ति नहीं है, इस प्रपञ्चमें निर्वाण-मोक्षमें अर्थात् सायुज्यादि मुक्तिमें मुहूर्त्तके लिए भी मेरा आदर नहीं है। श्रीव्रजानन्दके अतिरिक्त, श्रीराधिकाके सम्बन्धसे रहित अन्यान्य श्रीहरिके विलास पवित्र होनेपर भी मुझे किसी भी प्रकारसे सुख प्रदान नहीं करते।

न मे पत्नी-कन्या-तनय-जननी-बन्धुनिचया
हरौ भक्ते भक्तौ न खलु यदि तेषां सुममता।

अभक्तानामन्नग्रहणमपि दोषो विषयिणां
कथं तेषां सङ्गाद्धरि भजनसिद्धिर्भवति मे॥ ८॥

पत्नी, कन्या, पुत्र, जननी और बन्धुगण—मेरा कोई भी नहीं है—यदि श्रीहरिमें, भगवद्भक्तमें और भक्तिमें उनकी सुदृढ़ ममता वास्तविक न हो। अभक्त विषयीगणोंके अन्न-ग्रहणमें भी दोष है, (वह अधःपातकारी है) अतएव उनका सङ्ग करनेपर हरिभजनमें मेरी सिद्धि कैसे होगी?

असत्तर्कैरन्धान् जडसुखपरान् कृष्णविमुखान्
कुनिर्वाणासक्तान् सततमतिदूरे परिहरन्।
अराधं गोविन्द भजति नितरां दाम्भिकतया,
तदभ्यासे किन्तु क्षणमपि न यामि व्रतमिदम्॥ ९॥

असत्-विषयक तर्क अथवा कुतर्क द्वारा अन्ध, जड़सुखप्रमत्त, कृष्णसेवाविमुख, कुत्सित अर्थात् छलनामय निर्वाणमें (मोक्षादिमें) आसक्त लोगोंको सर्वदा अति दूरसे परिहार करके भी जो व्यक्ति अत्यन्त दाम्भिकतावश श्रीराधा-विरहित गोविन्दका भजन करता है, मैं उसके समीप क्षण-कालके लिए भी नहीं जाऊँगा—यह मेरा व्रत है।

प्रसादान्नक्षीराशनवसनयात्रादिभिरहं
पदार्थैर्निर्वाह्य व्यवहृतिमसङ्गः कुविषये।
वसन्नीशाक्षेत्रे युगलभजनानन्दितमना-
स्तनुं मोक्ष्ये काले युगपदपराणां पदतले॥ १०॥

मैं प्रसादी अन्न-दुग्धादि खाद्य, वस्त्र और पात्रादि पदार्थ (द्रव्य) के द्वारा व्यावहारिक जीवनका निर्वाह (सम्पादन) करते हुए प्राकृत-विषयोंसे अनासक्त होकर श्रीश्रीराधाकृष्णकी सेवामें प्रसन्न-चित्तसे ईशाक्षेत्र-श्रीराधाकुण्डमें रहते हुए यथाकाल (देहत्यागका समय उपस्थित होनेपर) श्रीयुगलपादपद्मसेवी भक्तगणोंके श्रीपादपद्मोंके निकट शरीर-त्याग करूँ।

शचीसूनोराज्ञाग्रहणचतुरो यो व्रजवने
पराराध्यां राधां भजति नितरां कृष्णरसिकाम्।

अहं त्वेतत्पादामृतमनुदिनं नैष्ठिकमना
वहेयं वै पीत्वा शिरसि च मुदा सन्नतियुतः॥ ११॥

श्रीशचीनन्दनके निर्देश (आज्ञा) पालनमें जो चतुर हैं, जो व्रजवनमें (वृन्दावनमें) श्रीकृष्णरसमें विभोरा (अथवा श्रीकृष्ण रसज्ञा) मुख्या एवं आराध्या (परमाराध्या) श्रीराधाका एकान्त भावसे (अथवा नित्यकाल) भजन करते हैं, उनके श्रीचरणामृतको मैं नैष्ठिक अर्थात् निष्ठापूर्ण हृदयमें सुष्ठु प्रणतिके साथ प्रतिदिन उल्लासके साथ पान करते हुए मस्तकपर अवश्य ही धारण करूँगा।

हरेर्दास्यधर्मो मम तु चिरकालं प्रकृतितो
महामाया योगादभिनिपतितः दुःखजलधौ।
इतो यास्याम्यूद्ध्र्वं स्वनियमसुरत्या प्रतिदिनं
सहायो मे मात्रं वितथदलनी वैष्णव कृपा॥ १२॥

श्रीहरिका दासत्व (सेवकभाव-सेवा) ही नित्यकाल मेरा स्वभावगत धर्म हो, किन्तु मायाके प्रबल संयोगके कारण (अथवा महा-मायाके प्रबल बलसे) मैं दुःख-समुद्रमें पतित हो गया हूँ। प्रतिदिन स्वनियममें उत्तम एवं दृढ़-निष्ठाके बलसे इसके (माया अथवा संसारके) ऊर्ध्वमें (अतीतमें-अप्राकृतधाममें) चला जाऊँगा। एकमात्र माया विनाशिनी वैष्णव-कृपा मेरी सहायक अर्थात् बन्धु अथवा अभिभावक हो।

कृतं केनाप्येतत् स्वभजनविधौ स्वं नियमकं,
पठेद् यो विश्रद्धः प्रिययुगलरूपेऽर्पितमनाः।
व्रजे राधाकृष्णौ भजति किल संप्राप्य निलयं,
स्वमञ्जर्याः पश्चाद् विविधवरिवस्यां स कुरुते॥ १३॥

निज भजन-अनुष्ठान (भजन-क्रिया) के कारण किसी (निष्किञ्चन) श्रीहरिजन द्वारा रचित इस 'स्वनियम-द्वादशकम्' का जो विश्वासयुक्त होकर एवं अपने प्रिय श्रीश्रीराधाकृष्णके श्रीरूपमें अथवा श्रीमूर्त्तिमें (अथवा) श्रीश्रीराधाकृष्ण-मिलित तनु श्रीगौरसुन्दरके श्रीरूपमें अथवा श्रीविग्रहमें अथवा श्रीश्रीराधाकृष्णगोविन्दके अथवा श्रीगौरसुन्दरके निज जन श्रीरूपगोस्वामी इत्यादिमें चित्त समर्पण करके पाठ करता है, वह

सत्य ही श्रीव्रजधाममें स्थान प्राप्त करके श्रीश्रीराधाकृष्णका भजन करता है—अपनी श्रीमञ्जरीके आनुगत्यमें रहकर नाना प्रकारसे सेवा करता है।

इति श्रीमद् रघुनाथ दासगोस्वामि-प्रभु-चरणरेणु परायण
श्रीश्रीभक्तिविनोद दासकृतं स्वनियम-द्वादशकम्॥

श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा स्व-सम्पादित 'सज्जन-तोषणी' में वेदान्तदर्शन ग्रन्थकी किञ्चित् समालोचना—

"मुझे श्रीयुत् कृष्णगोपाल भक्त द्वारा सम्पादित वेदान्तदर्शनका पाठ करके अतिशय आनन्द प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थमें महर्षि वेदव्यासकृत उत्तरमीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्र, सटीक गोविन्द-भाष्य तथा श्रीयुत् श्यामलाल गोस्वामी सिद्धान्तवाचस्पति-कृत बङ्गानुवाद एवं विवृति मुद्रित हुई है। भारतवर्षमें जिन महामहोपाध्याय पण्डितोंने नक्षत्रके समान उदित होकर जगत्को आलोकित किया है, उन सभीने एकमतसे ब्रह्मसूत्रकी अत्यन्त प्रशंसा की है। श्रीमच्छङ्कराचार्य, श्रीमद्रामानुजाचार्य इत्यादि ज्ञानी और भक्त सम्प्रदायके आचार्यगणोंने इस ब्रह्मसूत्रका अवलम्बन करके अपने-अपने मतकी संस्थापना की है, इतना ही नहीं, जिस सम्प्रदायमें ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचना नहीं हुई है, वह सम्प्रदाय भारतमें कुछ भी आचार्यत्व-सम्मान प्राप्त करते नहीं करते हैं।

"ब्रह्मसूत्रका परिचय यह है कि वेदान्त समस्त उपनिषद-आकारमें नित्य वर्त्तमान है; उपनिषद-वाक्य सर्वज्ञान-सम्पन्न होकर भी दुर्बोध्य है। एक वाक्यके अर्थके साथ दूसरे वाक्यका क्या सम्बन्ध है, यह सहज ही समझमें नहीं आता, अतः विद्यार्थी व्यक्तिके लिए उपनिषद-पाठका विशेष फल होना कठिन है। सद्गुरुके उपदेशके बिना उपनिषद-अर्थ कभी भी हृदयङ्गम नहीं हो सकता। उपनिषद ही वेदका शिरोभाग है। आत्म-ज्ञान एवं जीवकी कर्त्तव्यता केवल उपनिषदमें ही है। उपनिषदर्थ न जाननेसे मानव-जीवन सफल नहीं किया जा सकता। भगवान् बादरायणने इस विषयपर अपने हृदयमें आलोचना करके समस्त उपनिषदोंके वाक्योंके विषयका विभाग करते हुए जिन सूत्रोंका प्रकाश किया है, उसीका नाम ब्रह्मसूत्र है। सांख्य, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक एवं पूर्व-मीमांसाके समान ब्रह्मसूत्र केवल विचार-नैपुण्य-मात्र नहीं है, अपितु वेद-शिरोभागके यथार्थ तात्पर्य-निर्णायक आर्यग्रन्थके रूपमें सभी इसका सम्मान करते हैं। यथार्थ तत्त्वज्ञानको

संग्रह करनेके लिए जिनकी स्पृहा है, वे अन्य किसी शास्त्रमें अधिक परिश्रम न करके ब्रह्मसूत्रका अध्ययन करें।

"शारदापीठके श्रीशङ्कर द्वारा बौधायन-भाष्य संगोपित ब्रह्मसूत्रार्थका संग्रह करना भी जीवके लिए सहज नहीं है, सूत्र-पाठ करनेसे जो अर्थ-बोध होता है, वैसा है नहीं। सूत्रके भाष्यके बिना सूत्रार्थ बोधगम्य नहीं होता अथवा किसी सद्‌गुरुके निकट सूत्रार्थ सीखनेसे तत्त्वज्ञान होता है—परन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि सूत्रका यथार्थ भाष्य कहीं-कहीं प्राप्त होता है अथवा यों कहिये कि सूत्रार्थ-निर्णायक सद्‌गुरु ही कहीं-कहीं प्राप्त होते हैं। बौधायन ऋषिने ब्रह्मसूत्रका जो भाष्य किया था, वह प्रायः अप्राप्य ही है। श्रीरामानुज स्वामीने बड़े यत्नके साथ शारदापीठसे उस भाष्यका 'संग्रह करके अपने श्रीभाष्यकी रचना की'—संस्कृत-प्रपन्नामृत ग्रन्थमें ऐसा उल्लेख है। शारदापीठ श्रीशङ्कराचार्यका स्थान-विशेष है। शङ्करस्वामीने बहुत प्रयत्नके साथ इस बौधायन-भाष्यको अपने मठमें रखा था, इसमें क्या सन्देह है? श्रीशङ्कर स्वामी साक्षात् रुद्रावतार हैं, उन्होंने कार्योद्धारके लिए (अपना उद्देश्य पूर्ण करनेके लिए) अपने शारीरक-भाष्यकी रचना की तथा इस भाष्यके प्रचलनकी वृद्धिके लिए बौधायन-भाष्यको गोपन करके रखा—ऐसी जनश्रुति है।

"वेदव्यास ब्रह्मसूत्रके कर्त्ता हैं। समस्त सूत्रोंकी रचना करके उन्होंने विचार किया कि जिन-जिन कारणोंसे उपनिषदर्थ-संग्रह करके सूत्रोंकी रचना की है, वह सफल नहीं हुआ है, मैं स्वयं यदि कोई भाष्य नहीं करूँ, तो सूत्र किस प्रकारसे प्रचलित होंगे? श्रीनारदके उपदेशसे उन्होंने जिस समय श्रीमद्भागवतका प्रकाश किया, उसी समय सूत्रार्थ प्रकाश करनेके लिए यत्न किया, श्रीव्यासदेवने श्रीमद्भागवतको ही ब्रह्मसूत्रके भाष्य रूपमें प्रणयन किया, यह अनेक पुराणोंमें कहा गया है।

"महापुराण श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका यथार्थ अकृत्रिम भाष्य है, तो भी बौधायन ऋषिने अपने गुरुकी आज्ञासे एक रीतिमत भाष्य प्रस्तुत किया। जगत्‌में ब्रह्मसूत्रके दो भाष्य विराजमान हुए। श्रीशङ्करस्वामीने भगवदाज्ञा-पालनरूप कार्योद्धारके लिए (अपना हित साधनेके लिए)

मायावाद-भाष्यकी रचना करते हुए इस प्रकारकी चेष्टा की थी कि पूर्वोक्त दोनों भाष्य गोपन हो सकें।

"सङ्कर्षणावतार श्रीरामानुजने बौधायन-भाष्यका संग्रह करके एवं श्रीमद्भागवतका अवलम्बन करते हुए अपने श्रीभाष्यका जगत्में प्रचार करके सूत्रका यथार्थ अर्थ जगत्को प्रदान किया था। उस श्रीभाष्यमें जो मधुर रसाश्रित तत्त्व अनाविष्कृत (अप्रकट) था, उसे साधु जिज्ञासुओंको प्रदान करनेके लिए श्रीमद्गोविन्ददेवने श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुको आज्ञा दी। श्रीचैतन्यदेवके चरणाश्रित सर्ववेदाध्ययनशील श्रीबलदेवने जयपुर-प्रदेशमें इस गोविन्द भाष्यका आविष्कार किया। श्रीमद्गोविन्द भाष्य ही अन्य समस्त भाष्योंसे अधिक उपादेय है—इसमें सन्देह ही क्या है? मायावाद-दूषित पण्डितगण जो भी कहें, भक्त-मण्डलीमें गोविन्द-भाष्यके समान माननीय दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है—यह कहना अत्युक्ति नहीं है।

"ब्रह्मसूत्र चार अध्यायोंमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायके चार-चार पाद हैं। श्रीमन्बलदेवने अपने भाष्यके प्रारम्भमें लिखा है—

"तत्र प्रथमे लक्षणे सर्वेषां वेदानां ब्रह्मणि समन्वयः। द्वितीये सर्वशास्त्राविरोधः। तृतीये ब्रह्माप्तिसाधनानि। चतुर्थे तु तदाप्तिः फलमिति। यत्र निष्कामधर्मनिर्मलचित्तः सत्प्रसङ्गलुब्धः श्रद्धालुः शान्त्यादिमान् अधिकारी। सम्बन्धो वाच्यवाचक भावः। विषयो निरवद्यो विशुद्धानन्तगुण-गणोऽचिन्त्यानन्तशक्तिः सच्चिदानन्दः पुरुषोत्तमः। प्रयोजनस्त्वशेष-दोषविनाशपुरः सरस्तत्साक्षात्कार इत्युपरि स्पष्टं भावि। यस्यां खलु विषय-संशय-पूर्वपक्ष-सिद्धान्त-सङ्गति भेदात् पञ्च न्यायाङ्गानि भवन्ति। न्यायोधिकरणम्, विषयो विचारयोग्यवाक्यं, सङ्गतिरिह शास्त्रादि विषयतया बहुविधाऽपि न वितायते, विषयावगतौ स्वयमेव विद्योतनात्।

"श्रीयुत् श्यामलाल गोस्वामी प्रभुने इसका इस प्रकारसे अनुवाद किया है—इस ब्रह्मसूत्रके प्रथमाध्यायमें समस्त वेदका ब्रह्ममें समन्वय है। द्वितीयाध्यायमें समस्त शास्त्रके साथ विरोधका परिहार है। तृतीयाध्यायमें ब्रह्म-प्राप्तिका साधन है। चतुर्थाध्यायमे ब्रह्म-प्राप्ति ही पुरुषार्थ है—यह कहा गया है। निष्काम-धर्म, निर्मल चित्त, सत्प्रसङ्ग-लुब्ध, श्रद्धालु, शम-दमादि-सम्पन्न जीव—ये शास्त्रके अधिकारी हैं। यह

शास्त्र स्वयं वाचक है और ब्रह्म इसके वाच्य हैं—अतः परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। शास्त्र प्रतिपाद्य विषय हैं—निरवद्य विशुद्धानन्तगुणगण अचिन्त्यानन्तशक्ति सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण। अशेष दोष विनाशके साथ ही उनका साक्षात्कार इसका प्रयोजन है। इस शास्त्रमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति—ये पाँच न्यायावयव हैं। अधिकरण अर्थात् अध्यायके अंश विशेषका नाम ही न्याय है। विचार योग्य वाक्यका नाम विषय है। एकधर्मित्वमें परस्पर विरोधी नाना प्रकारके अर्थविचारका नाम संशय है। प्रतिकूल अर्थका नाम पूर्वपक्ष है। प्रामाणिक रूपमें अभ्युपगत अर्थ (अर्थको उपस्थित करने या स्थापित करने) का नाम सिद्धान्त है। पूर्वोत्तर दोनों अर्थोंके अविरोधका नाम सङ्गति है। यह सङ्गति बहुत प्रकारकी है, विस्तार-भयसे यहाँ उसका वर्णन नहीं किया जा रहा है। शास्त्रार्थ-ज्ञानमें स्थान-विशेषमें उसका स्वयं ही विवरण होगा।

"इस ग्रन्थके पाठक महाशयगण देखें कि यह सूत्र-भाष्य किस प्रकारसे उपादेय है और गोस्वामीने जो अनुवाद किया है, वह किस प्रकारसे प्राञ्जल एवं निर्दोष है। अतएव वैष्णव-जगत्के विशेष उपकारस्वरूप इस ग्रन्थका सभी यत्नपूर्वक संग्रह करें। बहुत-से लोग सोचते हैं कि 'मैं वैष्णव हूँ' किन्तु किस-किस विषयको जाननेपर और क्या-क्या करनेपर जीव वैष्णव-पद-वाच्य होंगे—यह जाननेके लिए 'श्रीगोविन्द-भाष्य' का पाठ करना आवश्यक है। यह गोविन्द-भाष्य वैष्णवोंकी अमूल्य-निधि है।"

'समालोचना' (वेदान्तदर्शन)
(सज्जनतोषणी, अष्टम वर्ष, प्रथम संख्या)

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

मेदिनीपुर जिलान्तर्गत झाड़ग्रामस्थ श्रीगौर-सारस्वत मठके अध्यक्ष परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौति गोस्वामी महाराज द्वारा लिखित—

श्रीश्रीगुरुपादपद्मकी अपार करुणासे 'गोविन्दभाष्य' का यह संस्करण प्रकाशित होनेसे जगत्का विशेष मङ्गल साधित हुआ है। परमाराध्य श्रीगुरुदेवने एकदिन कथा-प्रसङ्गमें मेरे निकट यह अभिप्राय प्रकाश किया था कि वेदान्तके साम्प्रदायिक भाष्यका एक संस्करण होना नितान्त प्रयोजनीय है। उनके प्रकट-कालमें यह सम्भव नहीं हो सका। उनकी अप्रकट-लीला-आविष्कारके बाद इस विषयका चिन्तन प्रायः मेरी स्मृतिमें उदित होता रहता था, परन्तु समस्त प्रकारसे सहाय-सम्पद्हीन मेरे द्वारा यह सम्भव कैसे होगा—यह सोचते-सोचते मैंने एक क्षुद्र संस्करण प्रकाश किया था, किन्तु इससे मेरे चित्तको सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ। अकस्मात् एक दिन स्नेहास्पद श्रीमान् ज्योतिरिन्द्र नन्दी महाशयके निकट सुना कि श्रीपाद सिद्धान्ती महाराजने वेदान्तका एक संस्करण प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया है। यह सुनकर मेरे चित्तमें परम उल्लास हुआ और मैं उनके आश्रममें उपस्थित हुआ।

इन्होंने (श्रीमद् श्रीरूप सिद्धान्ती महाराजने) मठ जीवनके प्रचार-कार्यमें समय-समयपर मेरी अनेक प्रकारसे सहायता की थी, किन्तु दुर्दैववशतः मैं बहुत दिनों तक उनके सङ्गसे विच्युत रहा। श्रीपाद सिद्धान्ती महाराजने मुझे देखकर विशेष आनन्द प्रकट किया और समग्र पाण्डुलिपिको दिखाकर इस वेदान्त-संस्करणकी सहायताके लिए इच्छा प्रकट करके मुझपर विशेष कृपा की। मैं श्रीपाद सिद्धान्ती महाराजमें गुरुपादपद्मका मनोभीष्ट उपलब्धि करके, अत्यन्त सन्तोष प्राप्त कर रहा हूँ। मठ-जीवनके प्रारम्भमें उनमें ये समस्त गुण सुप्त थे। वे केवल दक्षताके साथ प्रचार-कार्य ही करते थे। आज गन्थ-प्रकाशमें उनकी तन्मयता देखकर मैं विशेष रूपसे मुग्ध हो रहा

हूँ। वेदान्तके प्रत्येक सूत्रका तथ्य श्रीमद्भागवतसे संग्रह करनेमें कितनी मेधा एवं परिश्रमकी आवश्यकता होती है, यह बहुत कम लोग ही जान सकते हैं।

वेदान्तके सेवाकार्यमें मैंने जितने भी दिन उनका सङ्ग प्राप्त किया, उतने दिनोंमें उनका ग्रन्थमें अभिनिवेश देखकर आश्चर्यान्वित होता रहा। एक पत्र लिखना भी जिनके अभ्यासके बाहर था, ऐसे व्यक्तिका शयनमें–स्वप्नमें–जागरणमें केवल वेदान्तका चिन्तन था और गुरुदेवके श्रीचरणकमलोंमें वेदान्तके सम्यक् प्रकाशनके लिए प्रार्थना करना ही एकमात्र व्रत था।

वेदान्तके सम्बन्धमें किम्वदन्ती है—

गर्जन्ति सर्वशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्ति यावद् वेदान्त-केशरी॥

समस्त शास्त्ररूपी गीदड़ वनमें तभी तक गर्जना करते हैं, जब तक कि वेदान्तरूपी महाशक्तिवान केशरी (सिंह) गर्जना नहीं करता।

वेदान्तके विभिन्न संस्करण विभिन्न भाष्योंके साथ प्रकाशित हुए हैं, परन्तु ऐसा चमत्कारपूर्ण संस्करण आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें स्वामीजी [श्रीपाद सिद्धान्ती महाराज] की जीवोंपर दयाका परम एवं चरम आदर्श देखकर गोपी-गीतका यह श्लोक स्मृति-पथपर उदित हो रहा है—

तव कथामृतं तप्त जीवनं, कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं, भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

हे कृष्ण! तुम्हारा कथामृत तुम्हारे विरह-कातर जनोंका जीवनस्वरूप है, प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि भक्तगण तुम्हारा स्तव करते रहते हैं। यह कथामृत प्रारब्ध एवं अप्रारब्ध दोनों ही प्रकारके पापोंका विनाशक है, इसका श्रवणमात्र ही मङ्गल प्रदान करनेवाला है, प्रेम-सम्पत्ति दायक है और कीर्त्तन करनेवालोंके द्वारा इसका सुविस्तार किया जाता है। अतः जो व्यक्ति इसका कीर्त्तन करते हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ दाता हैं।

जो श्रीभगवान्‌की वाणीका कीर्त्तन करते हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ दाता हैं, किन्तु जो इस कीर्त्तनको चिरस्थायी करनेकी अभिलाषासे बृहत्-मृदङ्ग (मुद्रण-यन्त्र) के सहयोगसे वाणीके आश्रयस्वरूप शास्त्रादिको

मुद्रित करके जीवोंके द्वार-द्वारपर भेजनेकी चेष्टा करते हैं, वे और भी कितने बड़े दाता हैं, इसका वर्णन शब्दोंमें नहीं किया जा सकता।

वेदान्तके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके तृतीय सूत्रमें *'शास्त्रयोनित्वात्'* से यह जाना जाता है कि श्रीभगवान्‌को जाननेका उपाय एकमात्र शास्त्र है। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(श्रीगी॰ १६/२४)

अर्थात् माया-मुग्ध जीवोंके लिए प्राकृत ज्ञानका आश्रय करके कार्य-अकार्यकी व्यवस्थाके विषयमें विचार करना सम्भव नहीं है। इस कर्त्तव्य-विषयमें एकमात्र शास्त्रको प्रमाण स्वरूपमें प्रकीर्त्तित किया गया है। शास्त्र क्या है—यह वेदान्तके माध्वभाष्यमें देखा जा सकता है।

ऋग् यजुः सामाथर्वाख्यं भारतं पञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणं चैव एतच्छास्त्रं प्रकीर्त्तितम्॥

यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्त्तितम्।
अतोऽन्यग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्॥

अर्थात् ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व नामक वेद, महाभारत, मूलरामायण—इन सबकी शास्त्र कहकर प्रशंसा की गयी है। इन शास्त्रोंके अनुकूल जो कुछ भी है, उसे भी शास्त्र कहा जाता है, इससे अन्य जो कुछ भी ग्रन्थका विस्तार है, वह शास्त्र नहीं है, कुवर्त्ममात्र है।

श्रीमन्महाप्रभुने कहा है—

मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति ज्ञान।
जीवेरे कृपाय कृष्ण कैल वेद-पुराण॥

शास्त्र-गुरु-अन्तर्यामिरूपे आपनारे जानान।
कृष्ण मोर प्रभु-त्राता जीवेर हय ज्ञान॥

(चै॰च॰म॰ २०/१२२-१२३)

मायामुग्ध जीव प्रत्येक क्षणमें प्रत्येक विषयमें, स्वरूप-विभ्रान्ति क्रमसे निज फल भोग-प्राप्तिके लिए नियुक्त रहते हैं। कभी तो वे बद्ध-बुद्धिसे फल-भोगकी कामनासे विमोचनकी आङ्काक्षा करते हैं और कभी वे फलकामी होकर अनित्य भोगोंका बहुमानन करते हैं। दोनों स्थलोंपर ही उनका मायाच्छन्न होकर कृष्ण-स्मरण-अभाव लक्षित होता है। इसी कारणसे परम कारुणिक कृष्णने ऐसे भ्रान्तबुद्धि कुविचारपरायण एवं भोगपरायण व्यक्तियोंका अमङ्गलसे उद्धार करनेके लिए वेद-पुराणादिका प्रकाश किया है। शास्त्र, गुरु एवं चैत्यगुरु—इन तीन रूपोंमें भगवान् उदित होकर बद्धजीवोंके हृदयमें 'जीवके प्रभु' अथवा 'जीवके उद्धार-कर्त्ता' इत्यादि भावोंका प्रकाश कर देते हैं।

छान्दोग्योपनिषदमें पाया जाता है कि *'अस्य वा महतो भूतस्य निःश्वसितं यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इतिहासः पुराणम्।'* अर्थात् ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण इत्यादि हैं, वे महद्भूत अर्थात् श्रीभगवान्के निःश्वासस्वरूप अर्थात् स्वयंप्रकाश वस्तु हैं। जीवके प्रति कृपा करनेके लिए ही श्रीभगवान्की यह लीला है। भ्रम-प्रमादादि दोष-चतुष्टयसे दूषित जीव द्वारा रचित ग्रन्थके श्रवण-पठनमें जीवका कोई मङ्गल नहीं होता। जो श्रीभगवान्की परम कृपाकी कथाका अनुधावन (कृपा प्राप्त करनेके लिए तीव्र चेष्टा) कर सकते हैं, वे ही भगवत्-कृपा प्राप्त करके धन्य होते हैं। भगवान् श्रीचैतन्यदेवके सहचरगणोंने जगत्में भगवत्-कृपा वितरणके लिए कितना अध्यवसाय दिखलाया है। उनके उत्तराधिकार-सूत्रसे साम्प्रदायिक वैष्णवगण भी उसी कृपाका विषय ज्ञापन करनेके लिए प्राणान्तक परिश्रम करके वैष्णवशास्त्रका प्रकाश कर रहे हैं।

पूज्यपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभुने ग्रन्थके आरम्भमें कहा है—

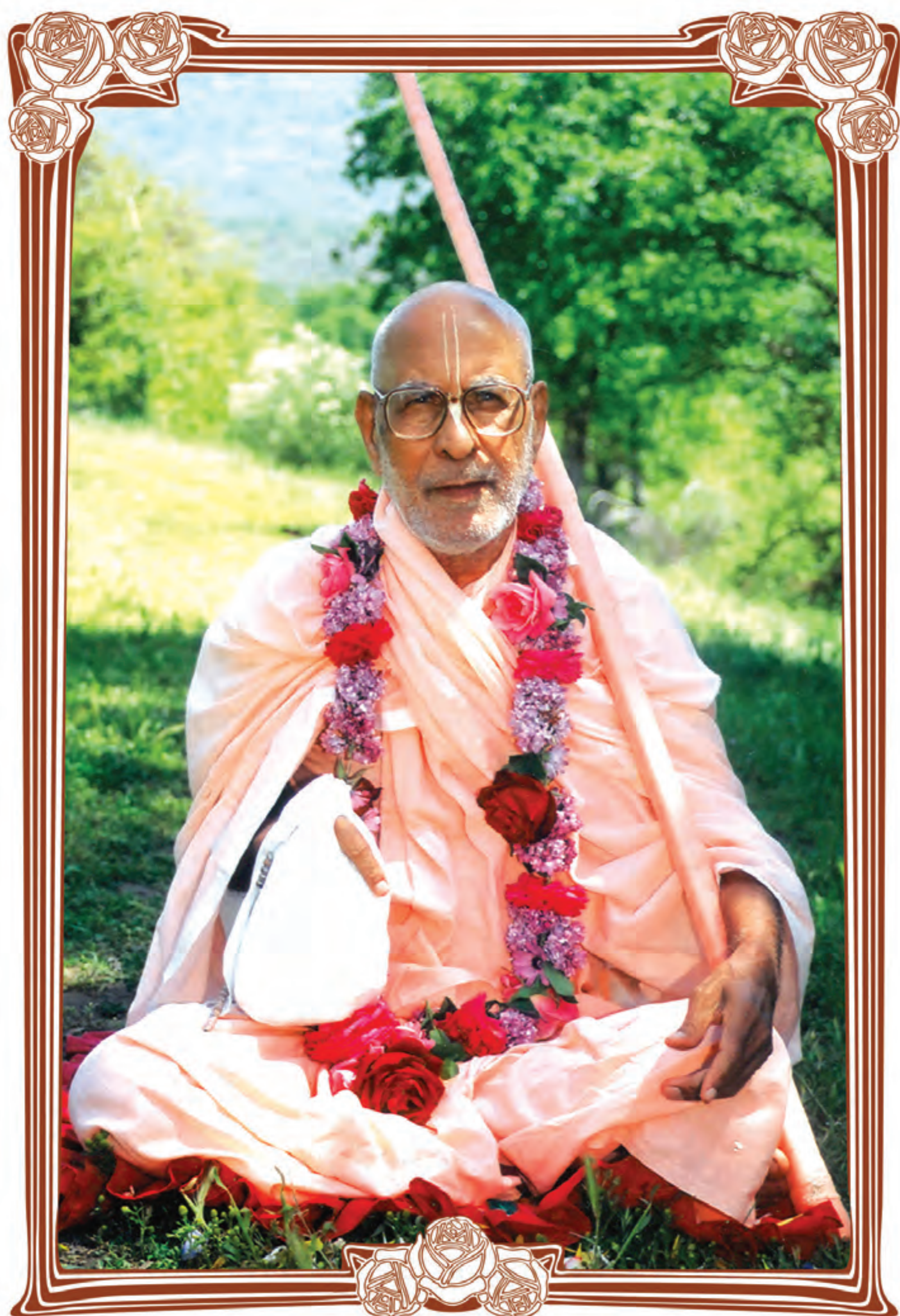
आलस्यादप्रवृत्तिः स्यात् पुंसां यद् ग्रन्थविस्तारे।
गोविन्दभाष्ये संक्षिप्ता टिप्पणी क्रियतेऽत्र तत्॥

अर्थात् ग्रन्थके विस्तारमें आलस्यवश मनुष्योंकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसीसे यहाँपर गोविन्दभाष्यकी संक्षेपमें ही टिप्पणी की गयी है।

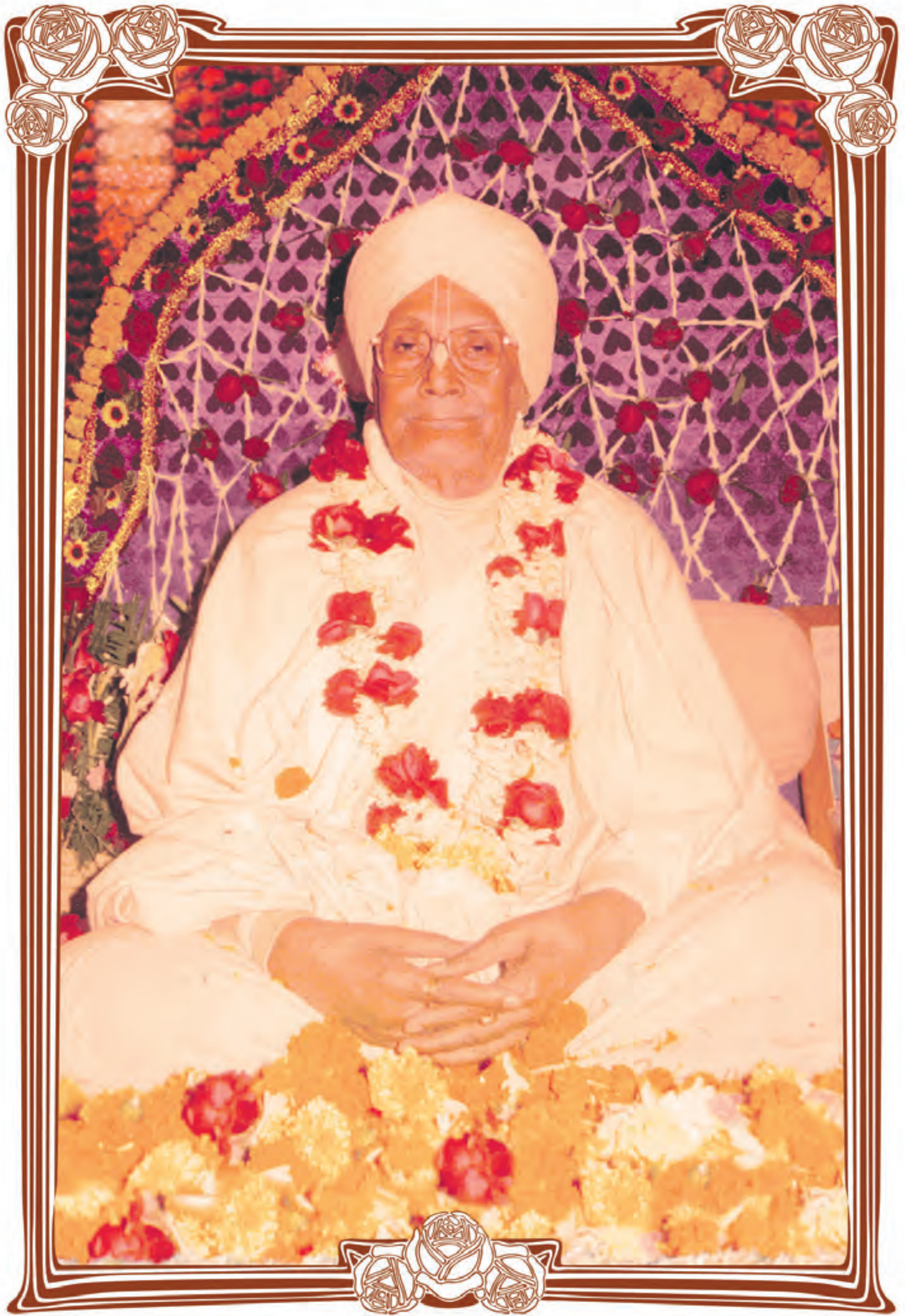
यह हम मर्म-मर्म-से अनुभव कर सकते हैं। शास्त्रादि पढ़नेमें हमारा स्वाभाविक ही आलस्य होता है। पुनः वेदान्तादि कठिन

शास्त्र–चर्चा करनेपर तो हृत्कम्प उपस्थित होने लगता है। परन्तु वेदान्तके इस संस्करणके दृष्टिगोचर होनेपर ही इसके भीतर दर्शन करनेकी इच्छा जाग उठती है। और इसके भीतर प्रवेश करनेपर तो विषयके प्रति मनोनिवेश स्वतः ही होने लगता है। अन्ततः यह उपलब्धि होती है कि स्वामीजी [श्रीपाद सिद्धान्ती महाराज] ने इस संस्करणके लिए कितना परिश्रम किया है। अवतरणिका–भाष्य, सूत्रका भाष्य और टीका–अनुवाद तो है ही, इसपर भी इनमें जो कुछ विषय दुर्बोध्य रह गया है, उन सबको उन्होंने सिद्धान्त–कणाके द्वारा सम्पूर्ण रूपसे प्राञ्जल और सुबोध्य कर दिया है। मनोयोग देनेपर हम समझ सकते हैं कि वेदान्त क्या वस्तु है। स्वामीजी [श्रीपाद सिद्धान्ती महाराज] के इस महादानकी बातको प्रकाशित करनेमें भाषाका सामर्थ्य नहीं है, इसलिए यहाँ नीरव (मौन) हो रहा हूँ। इति।

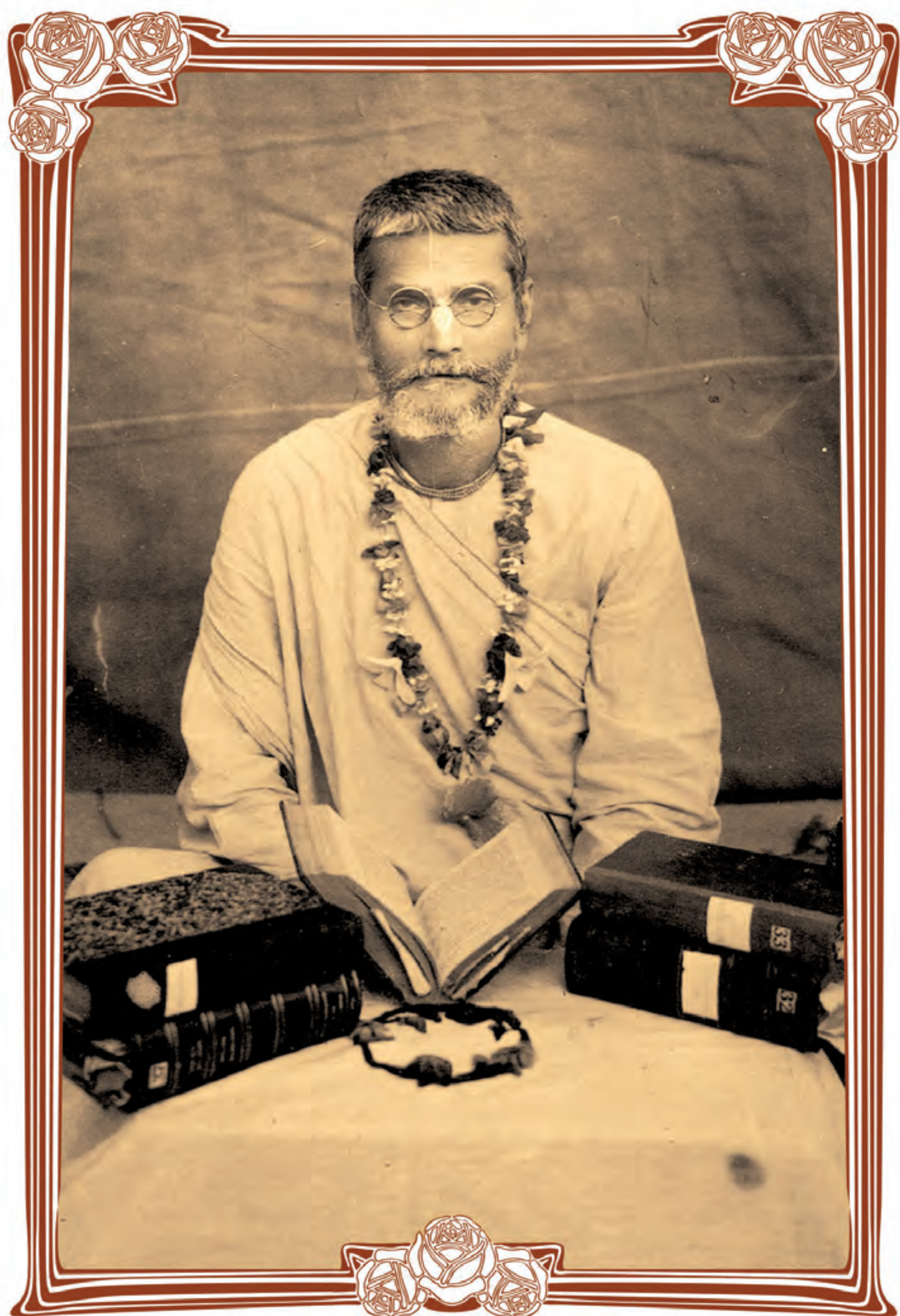
दीन त्रिदण्डी
श्रीव्यासपूजावासर
श्रीभक्तिभूदेव श्रौति



नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

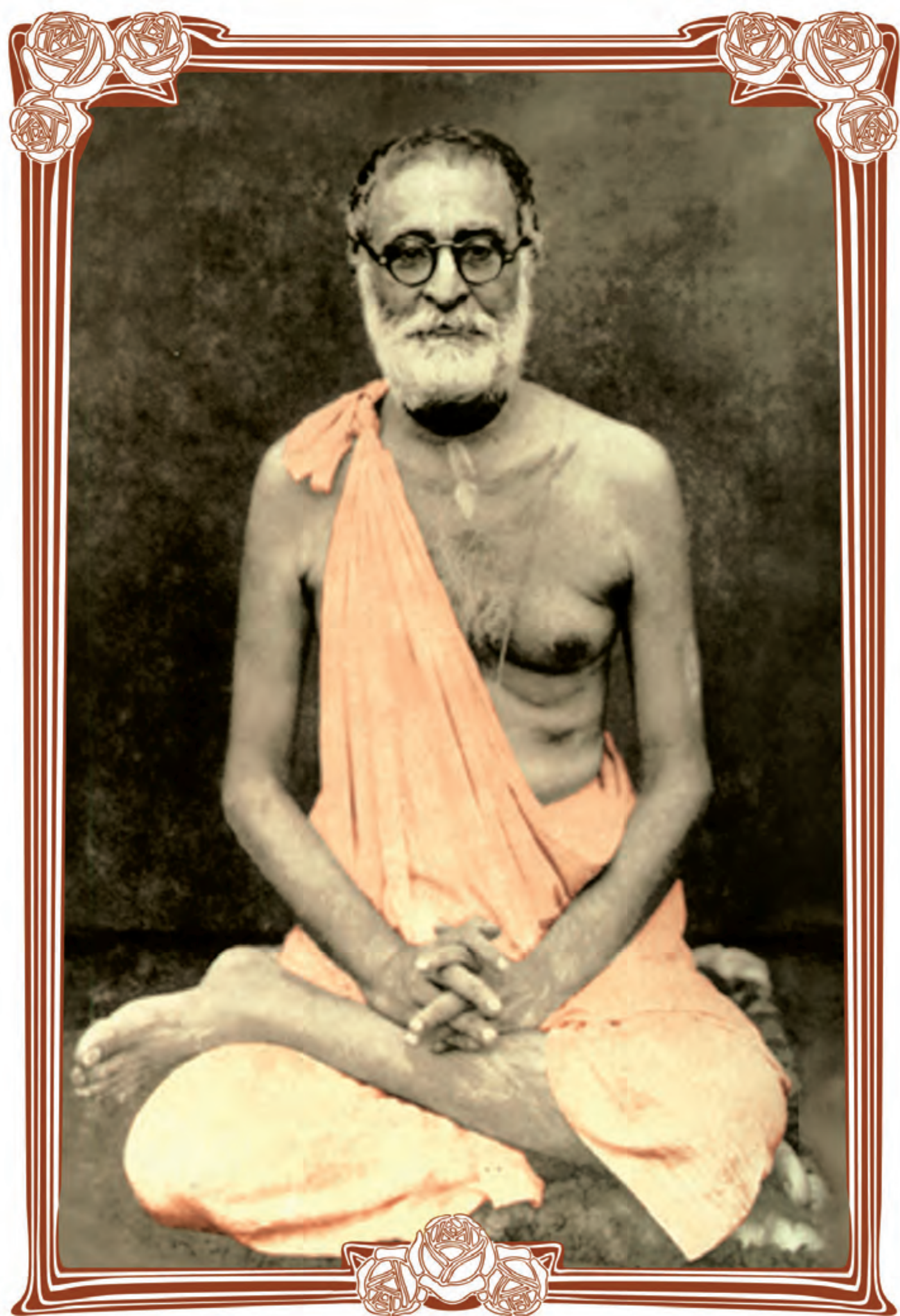


नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज



नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज



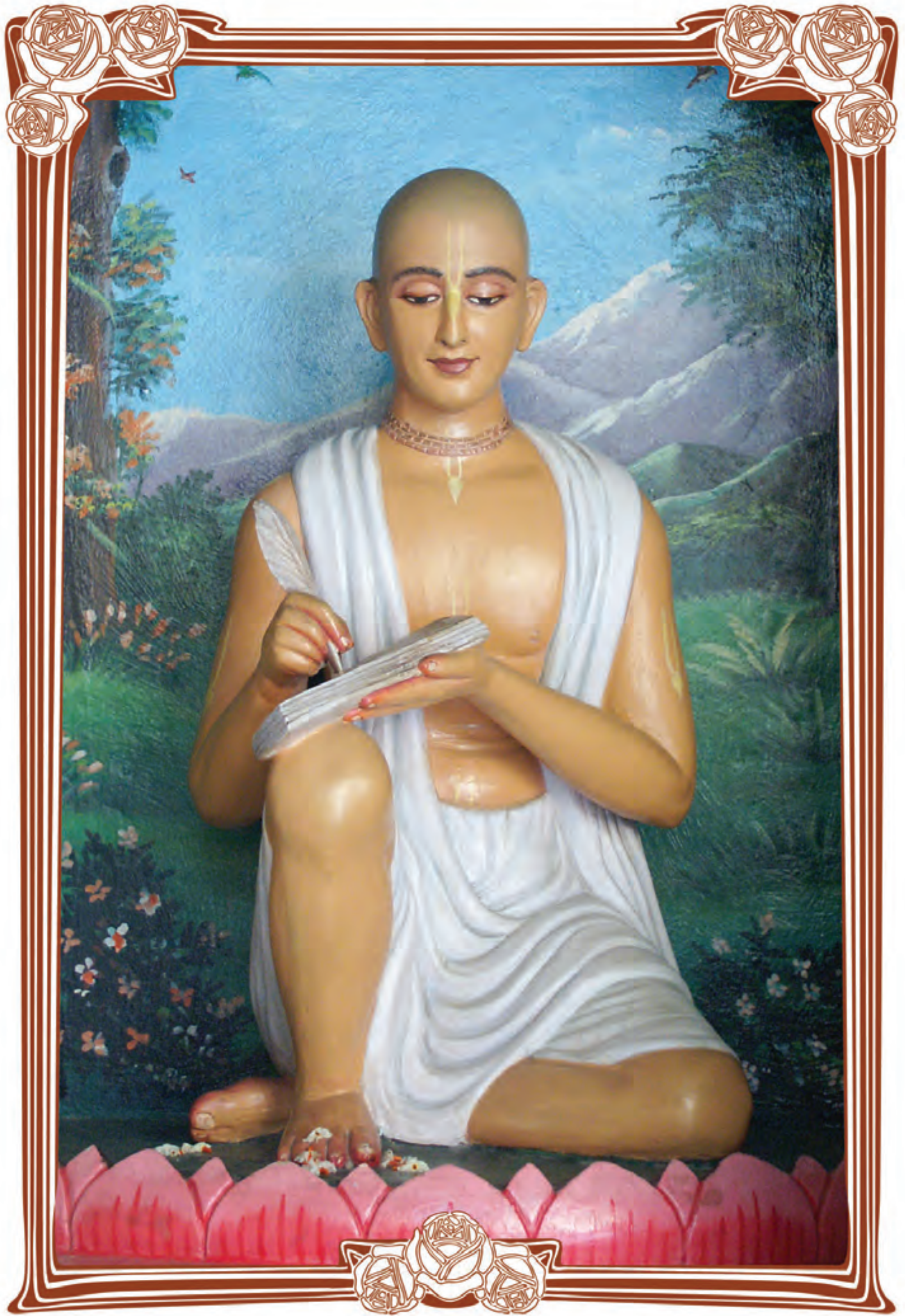
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद



सच्चिदानन्द
श्रील भक्तिविनोद ठाकुर



श्रीगौड़ीय–वेदान्ताचार्य
श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु



श्रीचैतन्य मनोऽभीष्ट संस्थापक
श्रील रूप गोस्वामी प्रभु



जयपुरमें विराजमान श्रीश्रीराधागोविन्ददेवजी

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

(श्रीश्रीमद्भगवदवतार-महर्षि-श्रीकृष्णद्वैपायन-वेदव्यासेन विरचितम्)

वेदान्तसूत्रम्

[गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीश्रीमद्बलदेव विद्याभूषण-कृत
सटीक श्रीगोविन्दभाष्य समेतम्]

अभिधेयतत्त्वात्मक

तृतीयोऽध्यायः (साधनाध्याय)

प्रथमः पादः

मङ्गलाचरणम्

न विना साधनैर्देवो ज्ञानवैराग्यभक्तिभिः।
ददाति स्वपदं श्रीमानतस्तानि बुधः श्रयेत्॥

अनुवाद—सर्वाराध्यदेव श्रीहरि ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्तिरूप साधनके बिना किसीको भी अपना पद—अपना धाम अथवा अपने चरणकमल प्रदान नहीं करते। अतएव श्रीमान् और सुधी जन इस साधनका आश्रय करें।

मङ्गलाचरण टीका—अथ साधनाध्यायं व्याचक्षाणो मङ्गलमाचरति न विनेति। देवः सर्वाराध्यः। स्वभक्तोद्धृतिक्रीडः तदविद्याविद्वेषी तदुपासनागुणात्कृष्ट-फलार्पणनिपुणः स्वरूपभूतया परया शक्त्या द्योतमानः आनन्दचिन्मूर्त्तिरानन्दमत्तो विभुः पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः। ज्ञानेति ज्ञानादिभिः साधनैर्विना तैः रहितायेत्यर्थः। स्वपदं स्वधाम स्वाङ्घ्रियुगलं च न ददाति न प्रकाशयत्यतो बुधः स्वनिःश्रेयसजनकानि

ज्ञानादीनि साधनानि श्रयेदिति तदाशंसारूपं मङ्गलाचरणमेतत्। साधनानि श्रयेदित्यध्यायार्थसंसूचनादध्यायसङ्गतिः।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—अब साधनाध्यायकी व्याख्या करनेके लिए प्रवृत्त भाष्यकार सर्वप्रथम मङ्गलाचरणमें कहते हैं—*'न विनेति देवः'*—जो सभीके आराध्य हैं, अपने भक्तोंका उद्धार करनेके लिए ही जिनकी लीला है, जो भक्तोंकी अविद्याके विद्वेषी हैं और भक्तोंकी उपासना-गुणके फलस्वरूप उत्कृष्ट फलदानमें निपुण हैं, जो स्वरूपभूत पराशक्ति द्वारा द्योतमान हैं, जो आनन्दघनचिन्मयमूर्त्ति, आनन्दमत्त, विश्वव्यापक पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, वे ज्ञान-वैराग्य-युक्त भक्तिरूप साधनके बिना अर्थात् इस साधनसमूहसे रहित व्यक्तिको अपना परमधाम अथवा अपने चरण-युगल दान नहीं करते अर्थात् प्रकाश नहीं करते। अतः विद्वान व्यक्ति निःश्रेयसजनक-ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्तिरूप साधनका आश्रय करें—यही इस मङ्गलाचरण रूपमें की गयी प्रार्थनाका तात्पर्य है। 'साधनका आश्रय करें' इस कथनसे अध्यायका प्रतिपाद्य विषय साधन सूचित हुआ है और इस सूचनाके कारण इस अध्यायकी सङ्गति भी प्रदर्शित हुई है।

अवतरणिका भाष्य—पूर्वाध्यायद्वयेन विश्वैकहेतुं निर्दोषगुणरत्नाकरं सच्चिदानन्दात्मकं पुरुषोत्तमं मुमुक्षुध्येयतया सर्वो वेदान्तः प्रतिपादयतीत्येतत् सर्वाविरुद्धमित्युक्तेर्ब्रह्मस्वरूपं निरूपितम्। अथास्मिन् तृतीयेऽध्याये तत्प्रापकाणि साधनानि निरूप्यन्ते। तेषु मुख्यं तावत् प्राप्येतरवैतृष्ण्यं प्राप्यतृष्णा चेति तत्सिद्धये पूर्वपादद्वयमारभ्यते। तत्र प्रथमे पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य नानावस्थस्य जीवस्य लोकगत्या गतिरूपा दोषाः प्रकाश्यन्ते लोकविरागाय। द्वितीये तु प्राप्यानुरागहेतवः तन्महिमादयोगुणा वक्ष्यन्ते। छान्दोग्ये *"श्वेतकेतुर्हारुणेयः पाञ्चालानां समितिमेयाय"* (छा॰ ५/३/१) इत्यादिना पञ्चाग्निविद्या पठिता। तत्र जीवः परलोकं गच्छति तस्मात् पुनरिमं लोकमागच्छतीति प्रतीयते। इह संशयः। परलोकं गच्छन् जीवः सूक्ष्मभूतैर्वियुक्तः परिष्वक्तो वा गच्छतीति। तत्रापि तेषां सौलभ्याद्वियुक्तो गच्छतीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्ववर्त्ती (पहले) दो अध्यायोंमें चराचर विश्वके एकमात्र हेतु अर्थात् उपादान और निमित्तकारण, दोषके लेशमात्र भी सम्पर्कसे रहित, दयादि समस्त गुणोंके रत्नाकर, सच्चिदानन्द विग्रह पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको ही समस्त मुक्तिकामी व्यक्तियोंके

ध्येय रूपमें समस्त वेदान्त-वाक्योंने प्रतिपादन किया है। वे ही सर्वादि-सम्मत (अविरुद्ध) रूपमें कथित होनेके कारण ब्रह्म-स्वरूपमें निरूपित हुए हैं। अब इस तृतीय अध्यायमें उन्हीं श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌की प्राप्तिके साधनोंका निरूपण किया जा रहा है। इन साधनोंमें प्रधान साधन है—प्राप्य-वस्तु श्रीपुरुषोत्तमसे भिन्न अन्य समस्त वस्तुओंसे वैराग्य (वितृष्णा) एवं उन प्राप्यको प्राप्त करनेकी लालसा (तृष्णा)। इन्हींकी सिद्धिके लिए तृतीय अध्यायके प्रथम दो पादोंका आरम्भ किया जाता है। प्रथम पादमें लोक—विराग (वैराग्य) के लिए पञ्चाग्नि विद्याका आश्रय करके नानावस्थाओंसे युक्त जीवोंकी जो लोकगति है, उसके द्वारा गतिरूप दोषसमूह प्रकाशित होंगे। दूसरे पादमें प्राप्य-श्रीपुरुषोत्तमके अनुरागके हेतुभूत उनके महिमादि गुण कहे जायेंगे। छान्दोग्योपनिषदमें एक आख्यायिकामें पञ्चाग्नि-विद्या कही गयी है, जिसमें आरुणि (अरुणपुत्र) श्वेतकेतु पाञ्चाल राजाओंकी सभामें पहुँचे इत्यादि वाक्य है। उससे प्रतीत होता है कि जीव मृत्युके बाद परलोकमें गमन करता है और पुनः वहाँसे लौट आता है। इसमें संशय यह है कि—जीव जब परलोक जाता है, उस समय वह सूक्ष्मभूत अर्थात् पञ्चतन्मात्र रहित होकर जाता है, अथवा उसके साथ संश्लिष्ट होकर (मिलकर) जाता है—इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि उन सूक्ष्मभूतोंको सङ्ग लेकर जानेका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि परलोकमें ये सब सुलभ हैं, इसलिए वह इनसे वियुक्त होकर ही गमन करता है। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्मृतितर्ककृते भगवत्समन्वयविरोधे पूर्वाध्यायेन निरस्ते सति तेनैवानिश्चयरूपाप्रामाण्ये विहते अधुना तत्प्रापकसाधननिरूपक-स्तृतीयोऽध्यायः प्रवर्त्तते इत्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावसङ्गतिः। पूर्वत्र स्वकीयस्य जीवस्य सौख्याय दयालुना भगवता स्वशक्तिपरिणामैर्भूतैः प्राणेन्द्रियाधारो देहो निर्मित इत्युक्तम्। तत्प्रसङ्गादिदं विचार्यते। अस्य जीवस्य तत्सङ्गाद्भगवदुपकारं देहस्वभावञ्च जानतस्तं स्वामिनं दयावन्तं भगवन्तं साक्षाच्चिकीर्षोः सानुबन्धे तत्र देहे वैराग्यमिति पूर्वोत्तरयोर्न्याययोः प्रसङ्गसङ्गतिः। एवमेव पूर्वोत्तरग्रन्थं सङ्गमयति पूर्वाध्यायद्वयेनेत्यादिना। तत्सिद्धये तदुभयप्रतिपादनाय। दोषा इति। दोषदृष्टिनिमित्तकत्वात् लोक-विरागस्येत्यभिप्रायः। लोकेति। लोका भुवनानि। अष्टाविंशतिसूत्रकं षडधिकरणकं प्रथमं पादं व्याख्यातुमारभते छान्दोग्ये श्वेतकेतुरित्यादिना। परलोकं गच्छतीति।

जीवो हि प्राणेन्द्रियैर्धर्माधर्मसंस्काररूपया पूर्वप्रज्ञया च सहितः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं गच्छतीति श्रुतिदृष्टम्। तादृशः स किं देहान्तरारम्भकैः पञ्चीकृतभूतभागैरेतद्देहवत् प्राणेन्द्रियाधारकैरयुक्तो गच्छति किंवा युक्तस्तैरिति संशये मानाभावात् परत्रापि तेषां सौलभ्याच्च वियुक्तस्तैर्गच्छतीति पूर्वपक्षः। तथा चाधारभूतान् भूतभागान् विना प्राणेन्दियाणाञ्च नानुवृत्तिरिति इहैव देहवियोगो भावीत्यामृत्योः सुखसाधने देहे वैराग्यं नोचितमिति पूर्वपक्षे फलम्। प्राणगतिश्रवणात् तदाधारभूतान्यपि भूतानि पिशाचादिवत् जीवमनुवर्त्तिष्यन्ते। निःशेषभूतवियोगस्तु तद्भक्त्यैव भवेदिति तद्भक्तीच्छोर्देहे वैराग्यं युक्तमिति सिद्धान्ते फलं बोध्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्ववर्त्ती अर्थात् द्वितीय अध्यायमें स्मृति-वाक्य एवं तर्क द्वारा जिन वेदान्त-वाक्योंके परमेश्वरके सम्बन्धमें समन्वयका विरोध हुआ था, उनका निराकरण होनेसे परमेश्वरका जगत्-योनित्व विषयमें अनिश्चयरूप अप्रामाण्य भी निरस्त हो गया। अब उन परमेश्वरकी प्राप्तिके उपायके साधनका निरूपण करनेके लिए इस तृतीय अध्यायका आरम्भ किया जाता है। अतएव पूर्व अध्यायके साथ इस अध्यायके हेतु हेतुमद्भाव अर्थात् कार्यकारण भावकी सङ्गति है। पहले बतलाया गया था कि करुणाधार श्रीभगवान् अपने सूक्ष्म अंशभूत जीवके सुख-विधानके लिए निज-शक्ति प्रकृतिके परिणामभूत पञ्चमहातत्त्वोंसे प्राण एवं इन्द्रियोंके आधारपर देहका निर्माण करते हैं। इस प्रसङ्गमें यह विचार किया जाता है कि इस देहके सम्पर्कसे ही यह जीव भगवान्के अनुग्रहकी उपलब्धि करता है एवं देहके स्वभावको जान सकता है, जिसके फलस्वरूप उसे परम कारुणिक स्वामी भगवान्से साक्षात् अनुभव करनेकी इच्छा होती है। जब जीवका प्राण एवं इन्द्रियोंके साथ देहसे वैराग्य हो जाता है, वही पूर्वाधिकरण एवं उत्तराधिकरणकी परस्पर प्रसङ्ग-सङ्गति है। अतः पूर्वापर ग्रन्थ-सङ्गति दिखाते हैं—*'पूर्वाध्यायद्वयेन'* इत्यादि वाक्यके द्वारा। *'तेषु मुख्यं तावत् प्राप्येतरवैतृष्ण्यं प्राप्यतृष्णा चेति तत् सिद्धये'* इतिमें *'तत् सिद्धये'* से अभिप्राय है इन दोनोंके (ब्रह्मसे इतर विषयमें वितृष्णा और ब्रह्म विषयमें तृष्णा) प्रतिपादनके लिए। *'लोकगतिरूपा दोषाः प्रकाश्यन्ते'* इति। 'दोषाः' का अभिप्राय है कि इस लोकसे ऊपर (स्वर्गादि भुवनोंके प्रति) वैराग्य होता है—यह दोष-दर्शन हुआ।

'लोकाः' का अर्थ है—'स्वर्गादि भुवन'। प्रथम पादमें अट्ठाईस सूत्र एवं छह अधिकरण हैं। इसकी व्याख्याका उपक्रम 'छान्दोग्यमें श्वेतकेतु' इत्यादि वाक्यके द्वारा करते हैं। *'परलोकं गच्छति'* इत्यादि श्रुतिमें देखा जाता है कि जीव प्राण एवं इन्द्रियोंके साथ एवं धर्माधर्मजनित संस्काररूप पूर्व प्रज्ञाके साथ पूर्व देहको छोड़कर दूसरी देह प्राप्त करता है। उस अवस्थामें वह जीव क्या अन्य देहोत्पादक पञ्चीकृत भूतांशों द्वारा वियुक्त होकर अर्थात् वर्त्तमान देहके समान प्राण एवं इन्द्रियधारक उस पञ्चभूतको छोड़कर जाता है अथवा उससे युक्त होकर जाता है। इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्रमाणके अभावमें एवं परलोकमें भी उन सबके सद्भाव अर्थात् रहनेके कारण जीव पञ्चीकृत भुतांशके साथ नहीं जाता। पूर्वपक्षीके इस कथनका उद्देश्य यह है कि ये भूतांश प्राण एवं इन्द्रियोंके आधारस्वरूप हैं, इसलिए उन्हें छोड़कर प्राण एवं इन्द्रियोंका परलोकमें गमन नहीं हो सकता। अतएव इस लोकमें ही देहसे वियोग होता है और परलोकमें देह धारण नहीं होता, इस कारणसे मृत्युकाल पर्यन्त सुखके साधन देहके प्रति वैराग्य समुचित नहीं है—यही पूर्वपक्षमें फल है। उत्तरपक्षी कहते हैं—जब श्रुतिमें श्रुत होता है कि 'प्राणकी गति होती है' तब तो उसका आधारस्वरूप सूक्ष्म पञ्चभूत भी पिशाचादिके समान जीवका अनुगमन करे। तब जो निःशेषमें भूतवर्गका वियोग कहा गया है, यह तब होगा जब श्रीहरिके प्रति भक्तिनिष्ठा होगी। अतः जो भक्तिकामी हैं, उनका ही ऐहिक अथवा पारत्रिक देहके प्रति वैराग्य युक्तियुक्त है—सिद्धान्तमें यह फल ज्ञातव्य है।

तदनन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्

सूत्र—तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्॥ १ ॥

सूत्रार्थ—'तदनन्तर-प्रतिपत्तौ'—पूर्वदेह-त्यागके बाद देहान्तर प्राप्ति विषयमें 'संपरिष्वक्तः'—सूक्ष्म भूतोंके साथ संपृक्त (युक्त) होकर ही 'रंहति'—जीव गमन करता है, प्रमाण क्या? 'प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' प्रश्न और उत्तरसे यही अवगत होता है॥ १॥

सूत्रानुवाद—पिछले 'संज्ञामूर्त्ति' इत्यादि सूत्रमें मूर्त्ति शब्द देहका वाचक था—प्रस्तुत सूत्रमें उसे ही 'तत्' शब्दसे कहा गया है—यह जीव एक देहसे दूसरी देहमें प्रवेशके समय सूक्ष्मभूतोंसे परिवेष्टित होकर गमन करता है—यह निर्णय प्रश्नोत्तरोंसे हो जाता है॥ १ ॥

गोविन्दभाष्य—तच्छब्देन देहः परामृष्टः, पूर्वं तस्य मूर्त्तिशब्दितस्य प्रक्रमात्। देहाद्देहान्तरप्राप्तौ भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो जीवो रंहति गच्छति। कुतः? वेत्थ यथेत्यादिरूपात् प्रश्नात्, असौ वावेत्यादिरूपात् तदुत्तराच्च। तत्रेयमाख्यायिका—प्रवाहणो नाम क्षत्रियः पञ्चालाधिपतिर्निजान्तिकागतं श्वेतकेतुं विप्रकुमारं पञ्चार्थान् पप्रच्छ—कर्मिणां गन्तव्यदेशं पुनरावृत्तिप्रकारम् अमुष्य लोकस्याप्राप्तारं देवयान-पितृयानयोर्भेदकं रूपञ्च वेत्थेति *"वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुता वापः पुरुषवचसो भवन्ति"* इति च। स च कुमारः प्रश्नपाराज्ञानाद्विमनाः पितरं गौतममुपेत्य परिदेवयामास। पिताऽप्यविदितप्रष्टव्यस्तद्बुभुत्सया प्रवाहणमागत्य कृतार्हणं वित्तदित्सुञ्च तं प्रति तानेव पञ्च प्रश्नान् विभिक्षे। स च तमन्तिमं प्रश्नं प्रति ब्रुवन्नाह—*"असौ वाव लोके गौतमाग्निः"* इत्यादि। तत्र हि द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषाः पञ्चाग्नितया निरूपिताः। तेषु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः क्रमात् पञ्चाहुतयः पठिताः। होतारः सर्वत्र देवाः। होमस्तु भूतसूक्ष्मपरिवेष्टितस्य जीवस्य स्वर्भोगादिलाभाय देवैः कृतो द्युलोकादिषु प्रक्षेपः। मृतस्य जीवस्य इन्द्रियाणि खलु देवाः कथ्यन्ते। ते हि द्युलोकाग्नौ श्रद्धां जुह्वति। सा श्रद्धा स्वर्गभोगार्हसोमराजाख्यदिव्यदेहरूपेण परिणमते। स च देहो भोगान्ते तैः पर्जन्याग्नौ हुतो वर्षं भवति। तच्च वर्षं पृथिव्याग्नौ तैर्हुतमन्नं भवति। तच्चान्नं पुरुषाग्नौ तैर्हुतं रेतो भवति। तच्च रेतो योषाग्नौ तैरेव हुतं गर्भो भवतीत्युक्त्वाह—*"इति तु पञ्चम्यामाहुता वापः पुरुषवचसो भवन्ति"* इति। इत्युक्तक्रमेण रेतोरूपायां पञ्चम्यामाहुतौ हुतायामापः पुरुषवचसः पुरुषशब्दवाच्या देहरूपा भवन्तीत्यर्थः। इह याभिरद्भिर्युक्तो दिवं गतस्तासामेवोक्तरीत्या स्त्रीमापन्नानां पुरुषरूपतेति प्रतीतेः सूक्ष्मभूतपरिष्वक्तो रंहतीति सिद्धम्॥ १ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तत्' शब्द देहका सूचक है, क्योंकि पहले मूर्त्ति शब्दके प्रकरण द्वारा देहका ही परामर्श (अभिप्राय) होता है। देहसे देहान्तर प्राप्ति विषयमें सूक्ष्मभूतोंसे संश्लिष्ट (संसक्त) होकर जीव इस लोकको छोड़कर गमन करता है। कैसे जान लिया? 'वेत्थ यथा' इत्यादि रूपमें प्रश्न और 'असौ वाव' इत्यादि रूपमें उसके उत्तरसे यही प्रतीत होता है। इस प्रसङ्गमें छान्दोग्योपनिषदमें एक

आख्यायिका है, यथा—प्रवाहण नामके पञ्चाल देशके एक अधिपति थे। उन्होंने अपने समीपमें उपस्थित श्वेतकेतु नामक एक ब्राह्मण कुमारसे पाँच विषयमें प्रश्न किया—(१) कर्मियोंका गन्तव्य स्थान कौन-सा है? (२) परलोकसे इहलोकमें पुनरागमनका प्रकार कैसा है? (३) परलोकको कौन प्राप्त नहीं होता? (४) देवयान और पितृयानका परस्पर भेदकरूप क्या है? (५) और पाँचवीं आहुति देनेपर जल जो पुरुषाकारमें परिणत होता है—क्या यह सब तुम जानते हो? चतुर्थ प्रश्नके बाद राजा प्रवाहणने विशेष करके पाँचवाँ प्रश्न किया था कि क्या तुम वह जानते हो कि जिस प्रकारसे पञ्चमी आहुति होनेपर आहुत जल जीव-देह (पुरुष) रूपमें परिणत हो जाता है। तब वह विप्रकुमार उक्त प्रश्नोंका तत्त्व न जाननेके कारण अनमना-सा (दुःखी-सा) हो गया और पिता गौतमके पास आकर रोने लगा। पिता गौतम भी इन प्रश्नोंके उत्तर नहीं जानते थे, अतः वे भी इनका उत्तर जाननेके अभिप्रायसे प्रवाहणके निकट उपस्थित हुए। राजाने गौतम मुनिका आतिथ्य-सत्कार किया और उन्हें कुछ अर्थ देनेकी इच्छा की, परन्तु मुनिने उनसे उन पाँच प्रश्नोंके उत्तरोंकी भिक्षा माँगी। इसके बाद राजा प्रवाहणने अन्तिम प्रश्नको लक्ष्य करके गौतम मुनिको उत्तर देना प्रारम्भ किया—अहे गौतम! इस संसारमें पाँच पदार्थ अग्नि रूपसे प्रसिद्ध हैं, यथा—द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री। इन पाँच प्रकारकी अग्नियोंमें यथाक्रमसे श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न एवं शुक्र (वीर्य) ये पाँच आहुतियाँ निर्दिष्ट हैं। इन आहुतियोंके होता सभी क्षेत्रोंके देवता अर्थात् इन्द्रियाँ हैं। होम शब्दका अर्थ है—सूक्ष्मभूतोंसे परिवेष्टित जीवात्माका स्वर्ग-लोकादि भोग प्राप्तिके लिए देवगण-कृत द्युलोकादिमें (स्वर्गलोकादिमें) प्रक्षेप। मृत जीवकी इन्द्रियाँ 'देव' शब्दसे अभिहित होती हैं। ये इन्द्रियात्मक देवगण 'द्युलोकरूप' अग्निमें श्रद्धारूप हविर्द्रव्यकी आहुति देते हैं। यह श्रद्धा स्वर्ग-भोगके लिए उपयोगी सोमराज नामक दिव्यदेह रूपमें परिणत होती है। स्वर्ग-भोगके बाद पुनः यह देह इन्द्रियात्मक देवगणों द्वारा पर्जन्यरूप अग्निमें आहुत होकर वृष्टि (वर्षा) रूपमें परिणत होती है। यह वृष्टि भी पृथ्वीरूप अग्निमें इन्द्रिय द्वारा आहुत होकर अन्न रूपमें

उत्पन्न होती है, वही अन्न (शस्यादि) पुरुषरूप अग्निमें इन्द्रियों द्वारा आहुत होकर शुक्ररूपमें परिणति प्राप्त करता है। यह परिणत शुक्र इन्द्रिय द्वारा योषा अर्थात् स्त्रीरूप अग्निमें आहुत होकर गर्भ बन जाता है। यह कहनेके बाद राजाने कहा—ऐसा होनेसे पञ्चमी (पाँचवीं) आहुतिको प्राप्त (हुत) जल पुरुषाकारको प्राप्त हो जाता है अर्थात् पूर्व निर्दिष्ट क्रमसे शुक्ररूपमें परिणत पञ्चमी आहुति दिये जानेपर जल (शुक्र) ही पुरुष शब्द वाच्य (पुरुष नामधारी) देहरूपी हो जाता है। अतएव इस लोकमें जिस जल (उपादानरूप सूक्ष्मभूत) से युक्त होकर जीव स्वर्गमें गमन करता है, वह जल ही पूर्वोक्त क्रम (रीति) से स्त्रीगर्भमें प्रविष्ट होकर पुरुषाकार (जीव-शरीर) को प्राप्त होता है। यह प्रतीत होनेके कारण प्रमाणित होता है कि सूक्ष्मभूत द्वारा संश्लिष्ट होकर ही जीव परलोकमें गमन करता है॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। देहाद्देहान्तरलाभे तदारम्भकैः सूक्ष्मभूतैर्युक्तो जीवः प्रयाति। कुतः? गौतमकृतात् प्रश्नात् प्रवाहणकृतात् पञ्चाग्निविद्योपदेशाच्चायमर्थो विज्ञात इति। प्रश्नान् विवृणोति—कर्मिणामित्यादि। अमुष्य लोकस्याप्राप्तारमिति। परलोकं यो न प्राप्नोति तं वेत्सीत्यर्थः। वेत्थ यथा पञ्चम्यामित्यस्यार्थः। इह लोके अम्मयदधिपयःप्रभृतिकद्रव्यहोमे श्रद्धापूर्वकं कृते श्रद्धाख्याहुतिरूपेण यजमाने सम्बद्धास्ता अपस्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो देवास्तस्मिन् मृते सति द्युलोकाग्नौ जुह्वति हुतास्ताः सोमाख्यदेहरूपेण परिणमन्ते। स चास्मयो देहः पर्जन्याग्नौ वृष्ट्यभिमानिनि देहविशेषे तैर्देवैर्हुतो वृष्टिर्भवति। वृष्टीभूतास्ताः पृथिव्यग्नौ तैर्हुता व्रीहियवाद्यन्नतां प्राप्नुवन्ति। अन्नभावमापन्नास्ताः पुरुषाग्नौ तैर्हुता रेतोभावं लभन्ते। रेतोभूतास्ताः पञ्चमाहुतिरूपा योषिदग्नौ तैर्हुता गर्भात्मना स्थिताः पुरुषसंज्ञां प्रयान्तीति अपां पुरुषवचस्त्वमिति वस्तुस्थितिः। तामेतां जानन् राजा पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां यथापः पुरुषवचसः पुरुषाकारेण परिणमन्ते। तथा किं त्वं वेत्सीति पप्रच्छेत्यर्थः। स चेति। स प्रवाहणो राजा। अन्तिमं वेत्थ यथेत्यादिरूपम्। तत्रेति अन्तिमे प्रश्ने। स्फुटार्थमन्यत्। ते हीत्यादिकं गदितार्थम्। श्रद्धामिति। श्रद्धापूर्विका दध्यादिरूपा अप इत्यर्थः॥ १॥

सूक्ष्मा-सार—'तदित्यादि' पूर्व देहसे देहान्तर प्राप्तिमें उन देहोत्पादक सूक्ष्मभूतोंके साथ युक्त होकर जीव इस लोकसे चला जाता है—किस प्रमाणसे जान लिया? उत्तरमें कहते हैं कि पाञ्चालकृत प्रश्नसे एवं प्रवाहणकृत पञ्चाग्नि विद्याके उपदेशसे यह जाना गया है। इन्हीं

प्रश्नोंकी भाष्यकार—*'कर्मिणाम्'* इत्यादि वाक्य द्वारा विवृति करते हैं अहे श्वेतकेतो! इस लोकको जो प्राप्त नहीं होता अर्थात् जो परलोकको प्राप्त नहीं होता—क्या तुम इसे जानते हो? *'वेत्थ यथा पञ्चम्याम्'* इसका अर्थ यह है कि इस लोकमें जलके विकार दधि, दुग्ध इत्यादि द्रव्यों द्वारा श्रद्धापूर्वक हवन अनुष्ठित किये जानेपर यज्ञकर्त्ता व्यक्तिके चित्तमें स्थित उस समस्त श्रद्धानामक आहुति रूपमें आहुत श्रद्धारूप जलकी जीवके इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण उस यज्ञकर्त्ताकी मृत्यु होनेपर द्युलोक (स्वर्गलोक) नामक अग्निमें आहुति देते हैं, जिसके फलस्वरूप वह आहुत जल अर्थात् श्रद्धा ही (स्वर्ग भोगके योग्य) सोमराज नामक दिव्य देह रूपमें परिणत हो जाती है। यह जलमय सोमदेह पर्जन्य नामक अग्निमें अर्थात् वृष्टि अभिमानी देह-विशेषमें देवताओं द्वारा आहुत होकर वृष्टि रूपमें परिणत होती है। तत्पश्चात् वृष्टि रूपमें परिणत वह जल पृथ्वीरूप अग्निमें देवताओं द्वारा आहुत होकर (निक्षिप्त होकर) धान्य, यव इत्यादि अन्नाकार-प्राप्त करता है। अन्नाकार प्राप्त होनेपर वह जल जब पुरुषरूप अग्निमें उन्हीं देवताओं द्वारा आहुत (प्रवेशित) होता है, तब वह शुक्राकार धारण करता है। शुक्राकारमें परिणत वह पञ्चमी आहुतिरूप जल बादमें स्त्रीजातिरूप अग्निमें उन्हीं देवताओं द्वारा निक्षेप करनेपर गर्भ रूपमें स्थित होकर पुरुष संज्ञा अर्थात् जीव नाम धारण करता है। इसलिए जल-पुरुषवचस् (पुरुष संज्ञक) पुरुष नामका वास्तव व्यापार (कार्य) है। इसी विद्याको राजा (प्रवाहण) जानता है—इसी विद्याके लिए गौतमने जिज्ञासा की थी कि पूर्वोक्त पञ्चमी आहुति दिये जानेपर जिस प्रकार जल पुरुषाकारमें (जीवशरीर रूपमें) परिणत होता है, वह क्या तुम जानते हो? यही आख्यायिका का अर्थ है। *'स च तमन्तिमं प्रश्नं प्रति'* इत्यादिमें 'स च' का अर्थ है'—'वह प्रवाहण राजा।' अन्तिमं प्रश्नम्—*'वेत्थ यथा पंचम्याहुतौ'* अर्थात् क्या तुम जानते हो कि पञ्चमी आहुति होनेपर जल किस रूपमें परिणत होता है? 'ते हि' से अभिप्राय है—वे इन्द्रियाँ 'द्युलोकाग्निमें' इत्यादि। 'तत्र' अर्थात् स 'अन्तिम प्रश्नमें'। अन्य समस्तका अर्थ स्पष्ट है। *'ते हि द्युलोकाग्नौ'* इत्यादि वाक्यका अर्थ

बतला ही दिया गया है। *'श्रद्धां जुह्वति'* अर्थात् श्रद्धापूर्वक दधि इत्यादिमय जलकी आहुति दी जाती है॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब तृतीय अध्यायका आरम्भ किया जाता है। इस अध्यायमें अभिधेयात्मक विषयका वर्णन है। भाष्यकार सर्वप्रथम मङ्गलाचरणमें कहते हैं कि ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तिरूप साधनके बिना श्रीभगवान् स्वधाम अथवा अपने पादपद्म किसीको भी प्रदान नहीं करते, अतएव बुद्धिमान व्यक्तियोंको इनका आश्रय करना चाहिये। वेदान्तके प्रथम और द्वितीय अध्यायमें जगत्के एकमात्र कारणस्वरूप, निर्दोष और कल्याण-गुणोंके सागर, सच्चिदानन्दमय पुरुषोत्तम-तत्त्व ही मुमुक्षुओंके एकमात्र ध्येय रूपमें प्रतिपादित हुए थे और इस विषयमें जितने भी विरोधी वाक्य थे, उन सबका परिहार करते हुए अविरुद्ध भावसे उस ब्रह्मस्वरूपका निरूपण हुआ था। यहाँ इस तृतीय अध्यायमें उन ब्रह्मकी प्राप्तिके उपायों अथवा साधनोंका निर्णय किया गया है। इनमें प्राप्य परतत्त्वके अतिरिक्त अन्यत्र सभी विषयोंसे वैराग्य और प्राप्यतत्त्वमें स्पृहा ही साधनका प्रधान उपाय है। यह विषय इस अध्यायके प्रथम दो पादोंमें विवृत हुआ है। पुनः इस प्रथम पादमें पञ्चाग्निविद्याके आश्रयमें नानावस्थाओंसे युक्त जीवको जो गति प्राप्त होती है, उनसे वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए उन सब गतियोंके दोषोंका प्रदर्शन है, दूसरे पादमें प्राप्य-तत्त्व परमेश्वरके प्रति अनुराग उत्पन्न होनेके हेतुके मूलमें उस तत्त्वकी महिमा और गुणोंका वर्णन होगा।

छान्दोग्योपनिषदमें देखा जाता है—

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत् पितेत्यनु हि भगव इति ... अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद न स ह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद। (छा॰ पञ्चम अध्याय, तृतीय खण्डसे दसवाँ खण्ड)

तात्पर्य यह है कि एक बार आरुणेय—आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय लोगोंकी सभामें गया। वहाँ जीवलके पुत्र प्रवाहण नामक क्षत्रिय राजाने उससे पाँच प्रश्न किये—

(१) प्राणी मृत्युके बाद किस ऊर्ध्वदेशमें गमन करते हैं?

(२) इन प्राणियोंका इस लोकमें पुनरावर्त्तन किस प्रकार होता है?

(३) देवयान और पितृयान किस स्थानपर अलग होते हैं?

(४) पितृलोक जीवात्माओं द्वारा भरता क्यों नहीं है?

(५) पाँचवीं आहुति जलको पुरुष क्यों कहा जाता है?

श्वेतकेतु राजाके किसी प्रश्नका उत्तर नहीं दे सका और दुःखी मनसे पिताके समीप पहुँचा और कहा—हे देव! आपने मुझे यथोपयुक्त (यथोचित) उपदेश न देकर ही कह दिया कि 'मैंने तुम्हें उपदेश (शिक्षा) दे दिया है।' तब पिता गौतमने कहा कि यदि मैं ये सब विषय जानता तो तुम्हें क्यों न बतलाता? तब गौतम राजभवनमें राजाके पास उपस्थित हुए। राजा प्रवाहणने गौतमको मनुष्य सम्बन्धी वित्तका वर देना चाहा। तब गौतमने राजासे कहा, "यह धन आपके पास ही रहे, आपने मेरे पुत्रसे जो बातें कही थीं, उन्हें आप मुझे भी सुनाइये।" राजाने दुःखी होकर कहा—"हे गौतम! तुम चिरकाल तक यहाँ ब्रह्मचारीके समान रहो। तुम्हारे अतिरिक्त किसी भी ब्राह्मणने आज तक इस विद्याको प्राप्त नहीं किया है।" इसके बाद राजा प्रवाहणने गौतमको पञ्चाग्नि विद्याका उपदेश दिया—"पहली आहुतिके रूपमें श्रद्धा अर्थात् जलका (द्युलोकरूप) अग्निमें होम (हवन) करते हैं, उससे सोम उत्पन्न होता है। द्वितीय आहुतिमें सोमको होम करनेपर वृष्टि उत्पन्न होती है। तृतीय आहुतिमें वृष्टिको होम करनेपर उससे अन्न उत्पन्न होता है, चौथी आहुतिमें अन्नको होम करनेपर उससे शुक्र उत्पन्न होता है और पाँचवीं आहुतिमें शुक्रको होम करनेपर जीव-मानव उत्पन्न होता है। यह प्रथम आहुति जल ही पाँचवीं आहुतिमें गर्भ रूपमें परिणत होकर—मानव-शरीर रूपमें उत्पन्न होता है।"

इस प्रकार इस जगत्में जल आदि जितने भी साधन हैं—उन्हें श्रद्धापूर्वक निष्पन्न किये जानेसे वे 'अप' आदि ही श्रद्धा शब्दसे कहे जाते हैं। इस श्रद्धाके आश्रयभूत अग्नि आदिका वर्णन इस प्रकारसे है—

आह्वनीय अग्नि—द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष, स्त्री
समिध—आदित्य, वायु, संवत्सर, वाक्, उपस्थ
धूम—किरणें, बादल, आकाश, प्राण, उपमन्त्रण
अर्चि अथवा ज्वाला—दिन, विद्युत, रात्रि, जिह्वा, योनि
अङ्गार—चन्द्रमा, वज्र, दिशाएँ, चक्षु, मैथुन
विस्फुलिङ्ग—नक्षत्र, गर्जन, अवान्तर दिशाएँ, श्रोत्र, मैथुन जनित सुख
हविर्द्रव्य—श्रद्धा, राजासोम, वर्षा, अन्न, रेत
फलोत्पत्ति—राजासोम, वर्षा, अन्न, वीर्य, गर्भ

इस प्रकार देखा जाता है कि इस जगत्में मानव श्रद्धाके साथ जो अग्निहोत्रादि कर्म करते हैं, वह श्रद्धा स्वर्गरूप अग्निमें आहुति रूपमें पतित होकर दिव्यदेह रूपमें परिणत होती है, मानव मृत्युके बाद दिव्यदेहको प्राप्त होता है। स्वर्गवासके बाद वह दिव्यदेह मेघरूप अग्निमें आहुति प्राप्त होनेपर वृष्टिमें परिणत होकर पृथ्वीरूप तृतीय अग्निमें आहुति रूपमें प्रदत्त होती है। उससे अन्न उत्पन्न होकर पुरुषरूप चतुर्थ अग्निमें आहुति रूपमें प्रदत्त होनेपर शुक्र रूपमें परिणत होकर स्त्रीरूप पाँचवीं अग्निमें आहुतिके फलस्वरूप गर्भमें परिणत होता है। इस प्रकारसे पुरुषका जन्म होता है।

इसके बाद देवयानकी कथा भी कही गयी है कि पञ्चाग्नि विद्याको जानकर जो वनमें श्रद्धा और तपस्या—इनकी उपासना करते हैं, वे मृत्युके बाद अर्चि (के अभिमानी देवताओं) को, अर्चिसे दिनको, दिनसे शुक्लपक्षको, उससे उत्तरायणको, उससे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको, चन्द्रमासे विद्युतमें गमन करते हैं और वहाँ एक अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मकी प्राप्ति करा देता है। इस प्रकारसे यह देवयान मार्ग है।

पुनः इष्टापूर्त्त (इष्ट अर्थात् अग्निहोत्रादि वैदिककर्म और पूर्त्त अर्थात् वापी, तड़ाग खुदवाना) तथा दानादि धार्मिक कार्योंका अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तिको मृत्युके बाद धूम्रयान अथवा पितृयान गति प्राप्त होती है। पुण्यके अवसान होनेपर वह पृथ्वीपर प्रत्यावर्त्तन करता है। पुण्यानुष्ठानकारी पृथ्वीपर प्रत्यावर्त्तन करके ब्राह्मणादि रूपमें जन्म

प्राप्त करता है और पापकर्मानुष्ठानकारी कुक्कुर (कुत्ता) अथवा शूकर (सूअर) आदि योनियोंमें जन्म-ग्रहण करता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें हम देख सकते हैं कि श्रीभगवान्‌ने कहा है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

(श्रीगी॰ ८/२२)

अर्थात् मुझ परमपुरुषको एकमात्र मेरी अनन्याभक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

इसके बाद श्रीभगवान्‌ने योगीगणोंकी अनावृत्ति और आवृत्तिके विषयमें भी वर्णन किया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें ही वे कहते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः॥

(श्रीगी॰ ८/२३-२६)

अर्थात् हे भरतश्रेष्ठ! योगिगण जिस कालमें देहको त्यागकर तथा जिस मार्गसे गमनकर निश्चय ही संसारमें पुनरामगन और अपुनरागमनको प्राप्त होते हैं, उस (कालाभिमानी देवताके द्वारा पालित) मार्गके विषयमें मैं कहूँगा।

अग्नि, ज्योति, शुभदिन, शुक्लपक्ष, छह मासरूप उत्तरायणकाल—इन समस्त कालोंके अभिमानी देवताओंके मार्गमें जो समस्त ब्रह्मविद् व्यक्ति प्रयाण करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, छह मासरूप दक्षिणायनकाल—इनके देवताओंके मार्गमें गमन करनेवाले कर्मयोगियोंका चन्द्रज्योतिस्वरूप स्वर्गलोकको प्राप्तकर उपभोग करनेके उपरान्त पुनः संसारमें आगमन होता है।

कृष्ण और शुक्ल—जगत्‌के ये दो मार्ग ही सनातन स्वीकार किये गये हैं। एकके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है तथा दूसरेके द्वारा संसारमें पुनरावर्त्तन होता है।

यह वर्णन करनेके बाद श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।

(श्रीगी० ८/२७)

अर्थात् इन दोनों मार्गोंसे अवगत होनेपर कोई भी योगी मोहग्रस्त नहीं होते हैं।

अतएव स्पष्ट है कि पूर्ववर्णित इन दोनों मार्गोंके तात्त्विक पार्थक्य-ज्ञानसे विवेक उत्पन्न होता है। और दोनों मार्गोंको ही क्लेशकर जानकर उन दोनोंसे अतीत शुद्ध भक्तियोग मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ एवं सुखसाध्य ज्ञात होता है। इसीका आश्रय करते हुए भक्तियोगमें समाहित चित्त योगी पुनः मोहको प्राप्त नहीं होते।

पञ्चाग्नि विद्याकी आलोचनासे जाना जा सकता है कि कोई-कोई जीव परलोक जाते हैं और वहाँसे पुनः लौट आते हैं। इस स्थलपर सन्देह यह है कि परलोक जाते समय वे सूक्ष्मभूतोंसे वियुक्त होते हैं अथवा उनके साथ ही वहाँ जाते हैं? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि उनसे वियोजित (वियुक्त) होकर ही जीव परलोक गमन करता है, क्योंकि परलोकमें भी इन सब सूक्ष्मभूतोंका असद्भाव अर्थात अभाव नहीं है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वदेह त्यागके बाद देहान्तर-प्राप्तिकालमें सूक्ष्मभूतोंके साथ संयुक्त होकर ही जीव जाता है—इसका निर्णय छान्दोग्य प्रश्नोत्तरोंसे प्राप्त होता है। इस विषयमें भाष्यकारके भाष्य और टीकामें विस्तृत आलोचना की गयी है। इसके अतिरिक्त पूर्वमें भी छान्दोग्य-वर्णित पञ्चाग्नि-विद्याके विषयका उल्लेख हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥

(श्रीमद्भा० ३/३१/४३)

अर्थात् देवि! पुरुष उपाधिस्वरूप लिङ्ग-शरीरके साथ एक लोकसे दूसरे लोकमें भटकता हुआ निरन्तर कर्मफलोंका भोग करता है, किन्तु फिर भी वह दूसरी-दूसरी देहोंकी प्राप्तिके लिए उन कर्मोंमें ही लगा रहता है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि पञ्चमी आहुतिमें पड़कर सूक्ष्मभूत (जलादि) पुरुषकी संज्ञा पाते हैं॥ १॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वापः पुरुषवचस इत्युक्तेः सर्वेषां भूतानां परिष्वङ्गः कथमिति तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति है कि केवल जल ही जब पुरुषाकारको प्राप्त होता है तो इस कथनके आधारपर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि पृथ्वी आदि सभी भूत परलोकगामी जीवका संश्लेष करते हैं? इस आशङ्कापर सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥ २॥

सूत्रार्थ—यह आशङ्का सङ्गत नहीं है, क्योंकि जल 'त्र्यात्मकत्वात्'—त्रिवृत्कृत होनेके कारण पृथ्वी, अग्नि और जल—इन तीनों भूतोंकी ही समष्टि (समिश्रण) है—इस कारणसे तीनोंका ही गमन सिद्ध है, 'तु'—तथापि 'भूयस्त्वात्' अप् (जल) शब्दका प्रयोग होनेके कारण इसकी प्रचुर मात्रा देहबीज (वीर्य) में रहती है॥ २॥

सूत्रानुवाद—त्रिवृत्करण-श्रुतिके आधारपर जल पृथ्वी, जल और तेज—इन तीनोंका मिश्रितरूप है, इसका उल्लेख केवल 'जल' पदसे इसलिए किया है कि जलका बाहुल्य शुक्रादि हविर्द्रव्योंमें प्रचुर मात्रामें प्राप्त होता है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—शङ्कानिवृत्तये तु-शब्दः। त्रिवृत्कृतानामपां त्रिभूतीरूपत्वात् तासां गतौ त्रयाणामपि गतिरनुमतेत्यर्थः। तथाप्यप्शब्दप्रयोगः शुक्रशोणितरूपे देहबीजे द्रवभूम्ना तासां भूयस्त्वात्। *"तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमा"* इति स्मृतेश्च। भूम्ना हि व्यपदेशा भवन्ति॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द शङ्काके निवारणके लिए है। त्रिवृत्कृत जल भूतत्रयात्मकस्वरूप (तीन भूतस्वरूप) होनेके कारण

जलकी गतिमें पृथ्वी-अप-तेज—इन तीन भूतोंकी ही गति अनुज्ञात होती है—यह तात्पर्य है। अर्थात् त्रिवृत्कृत जलके ग्रहणसे तीनोंका ग्रहण होता है, तब भी केवल 'अप' शब्दका ही श्रुतिमें जो प्रयोग हुआ है, उसका कारण है पाञ्चभौतिक देहके उपादान शुक्र एवं शोणित हैं—इनमें द्रव्यांश अधिक रहनेके कारण जलकी प्रचुरता है, इसलिए। स्मृति-वाक्य (श्रीमद्भा॰ ३/२६/४३) में भी है—*'तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः'*—जलके तीन कार्य हैं यथा मृदुकरण, तापशान्ति और शरीरके उपादानमें प्राचुर्य (पुनः-पुनः उद्गम) इत्यादि। प्राचुर्यके (आधिक्यके) कारण जल संज्ञासे निदर्शन किया जाता है। अतः जलकी पुरुष संज्ञा सङ्गत है॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—त्र्यात्मकत्वादिति। तापापनोद इति श्रीभागवते। तापनिवर्त्तकता बहुलता चापां धर्म इत्यर्थः। अत्र केचित् वातपित्तश्लेष्मभिर्देहस्य त्रैरूप्यादस्मादत्र नाब्जन्यो देहः। वातपित्तयोर्वायुतेजःकार्यत्वात्। तथा चाब्जन्योऽब्भिन्नभूतचतुष्टयजन्यश्च सः। गन्धस्वेदपाकप्राणावकाशानां पञ्चभूतकार्याणां दर्शनात्। तर्हि श्रुतौ तदाग्रहः कथं तत्राह—भूयस्त्वादिति। यद्यपि देहे पृथिवीभूयस्त्वमेव तथापि तेजआद्यपेक्षयापां भूयस्त्वं बोध्यमिति॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—*'त्र्यात्मकत्वादि'* इत्यादि सूत्रमें वर्णित *'तापोपनोदो-भूयस्त्वमित्यादि'* श्लोक श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। 'ताप-निवर्त्तन करना' और आधिक्य अर्थात् पुनः-पुनः उद्गम जलका धर्म है—यही इसका अर्थ है। इस विषयमें कोई-कोई कहते हैं—वात, पित्त और श्लेष्मा-देह इन तीन धातुओंसे निर्मित है इसलिए यह तीन रूप है। अतएव देह केवल जलसे उत्पन्न नहीं है बल्कि वात, और पित्त, वायु एवं अग्निका कार्य है। इस प्रकार देह जलसे उत्पन्न है एवं जलसे अतिरिक्त चार भूतोंसे भी उत्पन्न है। देहमें पृथ्वीका धर्म—गन्ध, जलका धर्म—स्वेद, अग्निका धर्म—परिपाक, वायुका धर्म—प्राण और आकाशका धर्म—(कार्य) अवकाश देखा जाता है तब श्रुति देहको केवल जलमय कहनेके लिए आग्रहान्वित क्यों है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'भूयस्त्वात्'—जलके आधिक्यके कारण। यद्यपि पार्थिव देहमें पृथ्वीका आधिक्य है, तो भी अग्नि, वायु और आकाशकी अपेक्षा जलका आधिक्य अर्थात् प्राचुर्य है, इसलिए ऐसा कहा गया है॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई पूर्वपक्ष करे कि यदि केवल जल ही पुरुषदेह धारण करता है, तब पृथ्वी आदि समस्त भूतोंके साथ जीवका परलोक-गमन किस प्रकारसे सम्भव हो सकता है? इसके उत्तरमें सूत्रकार इस सूत्रमें कह रहे हैं कि जलका 'त्र्यात्मकत्व' कहा गया है, क्योंकि जलमें क्षिति, अप् और तेज—तीनों ही पदार्थ हैं। इनमें जलका प्राचुर्य अर्थात् बाहुल्य ही अधिक रहता है। हाँ, जल ही केवल देहारम्भक नहीं हो सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम्।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/४३)

अर्थात् आद्रीकरण (गीला करना), मृत्तिकादिका पिण्डीकरण (मिट्टी आदिको पिण्डाकार बना देना), तृप्तिकरण, जीवितकरण (जीवन-रक्षा करना), तृष्णा जनित वैकल्प निवारण (प्यास बुझाना), मृदुकरण (पदार्थोंको मृदु करना) ताप-निवारण एवं बार-बार निकाले जानेपर भी कूपादिमें पुनः-पुनः प्रकट हो जाना—ये सब जलकी वृत्तियाँ हैं।

इस श्लोकके मध्व-भाष्यमें वर्णन है—

'पृथिव्यग्न्यपेक्षया भूयस्त्वम् देहे'

अर्थात् देहमें पृथ्वी, अग्नि आदिकी अपेक्षा जलका भूयस्त्व अर्थात् आधिक्य है।

अन्य श्रुति है—*'आपोमय प्राणः'* प्राण जलरूप हैं।

बृहदारण्यकमें पाया जाता है—

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त।

(बृ॰आ॰ ५/५/१)

अर्थात् यह (व्यक्त जगत्) पहले आप (जल) ही था। उस आपने सत्यकी रचना की है।

छान्दोग्योपनिषदमें देखा जाता है—

आपो वावान्नाद्भूयस्तस्माद् यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्त-प्राणान्तेः।
(छा॰ ७/१०/१)

अर्थात् जल ही अन्नकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसीसे जब सृवृष्टि नहीं होती तो प्राण दुःखी हो जाते हैं॥ २॥

सूत्र—प्राणगतेश्च॥ ३॥

सूत्रार्थ—'प्राणगतेः च'—मात्र इतना ही नहीं, देहान्तरकी प्राप्तिमें प्राणवायुकी जिस समय देहसे उत्क्रमण गति होती है, उस समय यह जानना होगा कि पञ्चभूत भी उत्क्रान्त होते हैं, क्योंकि प्राणवायुकी गति पञ्चभूतका आश्रय किये बिना हो नहीं सकती॥ ३॥

सूत्रानुवाद—जीव जब एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तब वह समस्त इन्द्रियों सहित सूक्ष्म-शरीरके साथ जाता है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—देहान्तराप्तौ प्राणानां गतिः श्रूयते बृहदारण्यके— *"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति"* (बृ॰आ॰ ४/४/२) इत्यादिना। सा खलु निराश्रया न सम्भवेदतस्तदाश्रयभूतानां भूतानां गतिः स्वीकार्येत्यर्थः॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवकी देहान्तर-प्राप्तिके समय प्राण भी चले जाते हैं—यह बृहदारण्यकोपनिषदमें सुना जाता है। यथा श्रुति-वाक्य है— *'तमुत्क्रामन्तमित्यादि'*—जीवके देहत्याग करते समय प्राणवायु भी उसके पीछे-पीछे बहिर्गत हो जाती है। प्राणवायुके उत्क्रमण करनेपर समस्त प्राण भी उसके पीछे उत्क्रमण करते हैं, इत्यादि। यह प्राणगति किसीका भी आश्रय न करे, यह सम्भव नहीं है, इसलिए प्राणके आश्रयस्वरूप अपरापर भूतोंकी भी गति (उत्क्रान्ति) माननी होगी, यह तात्पर्य है॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—प्राणगतेश्चेति। गौणा मुख्याश्च प्राणाः। तेषां जीवद्दशायां देहात्मना स्थितानि भूतान्याश्रित्यैव गतिर्दृष्टा। अथ मरणे श्रुतानां तेषां गतिस्तान्याश्रित्यैव भवितुं युक्तेति। तथाभूतैर्युक्तस्यैव रंहणं सिद्धम्॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार— *'प्राणगतेश्च'*—इस सूत्रमें। प्राणवायु दो प्रकारकी है—यथा, प्रधान और अप्रधान। जीव-दशामें देखा जाता है कि देहादिरूपमें

स्थित–पञ्चभूतोंका आश्रय करके ही प्राणकी गति है। इसके बाद मृत्यु होनेपर श्रुति द्वारा बोधित इस समस्त प्राणकी गति उन भूतोंका आश्रय करके होना ही समीचीन है। प्राणोंका उत्क्रमण निराश्रय नहीं है। अतएव इस प्रकारसे उत्क्रमणशील प्राणसे युक्त होकर समस्त इन्द्रियोंके आश्रित समस्त सूक्ष्मभूतोंको साथ लेकर ही जीवकी गति होती है—यह सिद्ध हुआ॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि प्राणकी गतिके साथ अन्यान्य भूतोंकी भी गति जाननी होगी। निराश्रित इन्द्रियोंका कभी स्वतः गमन सम्भव नहीं है, इसलिए उनके आश्रयभूत सूक्ष्मभूतोंकी भी उनके साथ गति माननी होगी।

बृहदारण्यकोपनिषदमें देखा जाता है—

तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।

(बृ॰आ॰ ४/४/२)

उसके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, प्राणके उत्क्रमण करनेपर सम्पूर्ण प्राण उत्क्रमण करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सा शयानमुपव्रज्य दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम्।
प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद्भुवि॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१४/४६)

अर्थात् सोये हुए बालकके निकट जाकर धायने देखा कि बालकके नेत्रोंकी पुतलियाँ उलट गयी हैं। देहमें प्राणोंका सञ्चार नहीं है, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गयी हैं, आत्मा उसे छोड़कर चली गयी है। यह देखते ही 'हाय मैं मारी गयी' यह कहकर वह धाय भूमिपर गिर पड़ी॥ ३॥

सूत्र—अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्॥ ४॥

सूत्रार्थ—आशङ्का है 'चेत्'—यदि कहो, 'अग्न्यादिगति श्रुतेः'—बृहदारण्यकमें वाक् इत्यादि इन्द्रियकी अग्नि इत्यादिमें अभिमुख गति (प्रवेश करनेकी बात) सुनी जाती है, उनकी जीवके साथ गति तो

नहीं सुनी जाती तो 'इति न'—यह कहना सङ्गत नहीं है, 'भाक्तत्वात्'—क्योंकि यह उक्ति गौण अर्थमें प्रयुक्त है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—वाक् आदिकी अग्नि आदिमें गमनकी उक्ति भाक्त अर्थात् औपचारिक है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—ननु *"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितञ्च रेतश्च निधीयत"* (बृ॰आ॰ ३/२/१३) इति तत्रैव वागादीनामग्न्यादीन् प्रति गतिश्रुतेर्न तेषां जीवेन सह गतिरत उक्तश्रुतिरन्यथैव नेयेति चेन्न। कुतः? भाक्तत्वात्। *"ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा"* (बृ॰आ॰ ३/२/१३) इत्यादिना श्रुताया लोमादिगतेः प्रत्यक्षेण बाधात् भाक्तेयमग्न्यादिगतिश्रुतिः। तत्सहपाठान्न स्वार्थपरेत्यर्थः। न हि लोमान्युत्प्लुत्यौषधीर्गच्छन्तीत्यादि दृष्टम्। ततश्च मृतिकाले वागादीनामुपकारनिवृत्तिमात्रापेक्षया तथोक्तिर्गतेरपि श्रुतत्वात्॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रश्न है *'यत्रास्य'* इत्यादि बृहदारण्यककी श्रुतिमें वाक् इत्यादि इन्द्रियोंका अग्नि इत्यादिमें लय (गति) सुने जानेके कारण उनकी जीवके साथ गति तो सम्भव नहीं है, जैसा कि श्रुति कहती है—जिस समय व्यक्ति मरता है, उस समय उसकी वागिन्द्रिय अग्निको प्राप्त होती है। इसी प्रकार प्राण वायुको, चक्षुः सूर्यको, मन चन्द्रमाको, कर्ण दिशाओंको, शरीर पृथ्वीको, आत्मा आकाशको, लोम ओषधियोंको, केश वृक्ष-श्रेणियोंको प्राप्त हो जाते हैं। रक्त और शुक्र जलमें निहित हो जाते हैं—इस प्रकारसे इस बृहदारण्यकमें वाक् इत्यादिकी अग्नि इत्यादिके प्रति गति श्रुत होती है। अतः अन्यान्य भूतोंका जीवके साथ अनुगमन सङ्गत नहीं होता; इसलिए पूर्वश्रुतिका तात्पर्य अन्य प्रकारसे ही करना चाहिये। यह यदि कहते हो तो यह सङ्गत नहीं है, क्योंकि इस श्रुतिका जो अर्थ प्रकाशित हो रहा है, वह गौण है। इसका कारण यह है कि श्रुति-कथित लोम ओषधियोंको और केश वृक्षको प्राप्त होते हैं, इत्यादि द्वारा श्रुत लोमादिकी गति प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित (विरोधी) है। अतएव अग्नि इत्यादिमें वाक् इत्यादिकी गतिरूप उक्ति भी गौण कही जायेगी। 'ओषधीर्लोमानि' इत्यादिके साथ वाक् इत्यादिका सहपाठ मुख्यार्थपरक नहीं है, अपितु गौण है, यह तात्पर्य है। मृत्युकालमें लोम देहसे उड़

जाते हैं और ओषधिमें चले जाते हैं—ऐसा तो कभी नहीं देखा जाता। तात्पर्य यह है कि मृत्युकालमें वाक् इत्यादिकी अग्नि इत्यादिमें लयकी जो उक्ति कही गयी है, वह मात्र जीवोपकारित्वकी निवृत्ति देखकर की गयी है। क्योंकि इनकी गति अर्थात् निवृत्ति भी श्रुतिमें पायी जाती है॥४॥

सूक्ष्मा-टीका—अग्न्यादीति। अग्न्यादीन् प्रतीति। अग्न्यादिषु वागादीनां लयश्रवणादित्यर्थः। तत्सहेति ओषधीर्लोमानीत्यादिसहपाठादित्यर्थः। वागादीनामिति। वागादीनामग्न्यादीनाञ्च तदा जीवोपकारित्वं नास्तीत्येवापेक्ष्य तथोक्तिरित्यर्थः। कुत एवं कल्पनं तत्राह—गतेरपीति। तमुत्क्रामन्तमित्यादौ जीवेन सह प्राणगतेः श्रवणादित्यर्थः॥४॥

सूक्ष्मा-सार—'*अग्न्यादि*' इत्यादि सूत्रमें '*अग्न्यादीन् प्रति गतिश्रुतेरित्यादि*' भाष्य है—इसका अर्थ है अग्नि इत्यादिमें वाक् इत्यादिका लय सुना जाता है—'*तत्सह पाठान्न स्वार्थपरेत्यर्थः*' इति अर्थात् श्रुतिमें 'औषधीर्लोमानि' (लोमोंका औषधिमें) इत्यादिके साथ, वाक् इत्यादिका पाठ है, इस कारण '*वागादीनामुपकार निवृत्तीत्यादि*' अर्थात् मृत्युकालमें वाक् इत्यादि इन्द्रियोंका और अग्नि इत्यादि भूतोंका कोई भी जीवोपकारित्व नहीं है—इसीको लक्ष्य करके ऐसा कहा गया है। यदि कहो कि यह कल्पना किस कारणसे की गयी है? तो कहते हैं—'*गतेरपि श्रुतत्वात्*' अर्थात् श्रुतिमें कहा गया है कि जीवके उत्क्रमण करनेपर प्राण इत्यादि भी उसके पीछे चले जाते हैं। इस श्रुतिमें प्राणकी गति कही गयी है॥४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहदारण्यकीय-श्रुतिमें जो यह देखा जाता है कि मृत व्यक्तिकी मृत्युके समय वागादि इन्द्रियाँ अग्नि इत्यादि देवताओंके निकट चली जाती हैं, तो इस प्रकार श्रुतिका आश्रय करके यदि कोई कहे कि ऐसा होनेपर तो मृत्युके बाद जीवके साथ भूतगणोंकी परलोक जानेकी बात तो सङ्गत नहीं हो सकती। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वपक्षका यह कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि इस श्रुति-वाक्यमें मुख्यार्थका प्रयोग नहीं है, गौणार्थ ही प्रयुक्त है। रोमोंका ओषधिमें और केशोंका वनस्पतिमें जाना प्रत्यक्ष विरोधी है। इसी प्रकार वागादिकी अग्नि इत्यादिमें गतिका

सहपाठ (प्रायपाठ) भी विरोधी है। अन्तर इतना है कि रोमादिकी गतिमें भाक्तत्वका नियामक 'दृष्ट-विरोध' है और वाक्‌की अग्नि इत्यादि-गतिमें भाक्तत्वका नियामक 'श्रुति-विरोध' है। वाक् इत्यादिके लीन होनेका तात्पर्य है—उनके अधिष्ठातृ देवताओंका देहसे बहिर्गमन। जीवनकालमें अग्नि आदि देवता वागादिके उपकारक होते हैं और मरणकालमें उस उपकारकी निवृत्ति हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

वाचं जुहाव मनसि तत् प्राण इतरे च तम्।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्॥

(श्रीमद्भा० १/१५/४१)

अर्थात् युधिष्ठिरने दृढ़ भावनासे वाणीको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें और अपानको उसकी क्रियाके साथ मृत्युमें तथा मृत्युको पञ्चभूतमय शरीरमें लीन कर दिया।

तथा अन्यत्र भी,

इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम्।
भूतादिनामून्युत्कृष्य महत्यात्मनि सन्दधे॥

(श्रीमद्भा० ४/२३/१७)

अर्थात् महाराज पृथुने मनको इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंको उनके उत्पत्तिस्थल तन्मात्राओंमें मिला दिया। अन्तमें तन्मात्राओंको अहङ्कारमें और अहङ्कारको महत्-तत्त्वमें लीन कर दिया॥४॥

सूत्र—प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः॥५॥

सूत्रार्थ—प्रश्न है कि 'चेत्'—यदि पाँचों आहुति द्रव्य जल ही हैं तो 'प्रथमेऽश्रवणात्' प्रथम अग्निमें जलकी आहुति सुनी जाती है, किन्तु ऐसा तो नहीं है, 'ताः एव' श्रद्धाकी ही आहुति सुनी जाती है, अतएव पाँचवीं आहुतिमें जलसे संयुक्त होकर जीव गमन करता है—यह उक्ति असङ्गत है, इसके उत्तरमें कहते हैं 'इति न' नहीं, ऐसा नहीं है; प्रथम अग्निमें जिस श्रद्धाकी आहुतिका वर्णन है, 'ताः एव' उस श्रद्धाका अभिधेय (नाम) जल ही है, किस प्रकारसे? उत्तर

है—'हि'—क्योंकि 'उपपत्तेः' प्रश्नोत्तर वाक्योंके सामञ्जस्यकी रक्षा इसीसे होती है॥ ५॥

सूत्रानुवाद—द्युलोकरूप प्रथम अग्निमें विशेष रूपसे श्रद्धाका श्रवण है, जलका श्रवण नहीं है। फिर यह कथन कैसे सङ्गत हो सकता है कि पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष-भावको प्राप्त होता है? तो यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसी जलको यहाँ श्रद्धा शब्दसे कहा गया है॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—ननु यद्यापः पञ्चाप्याहुतयः स्युस्तदा पञ्चम्यामिति वाक्यादद्भिः परिष्वक्तो यातीति शक्यं वदितुम्। न च तथास्ति प्रथमेऽग्नौ तासामाहुतित्वाश्रवणात्। तत्र हि श्रद्धैवाहुतिरुक्ता। *"तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति"* (छा॰ ५/४/२) इति तस्या मनोवृत्तिरूपत्वेन प्रसिद्धेर्नाप्त्वं सम्भवति। सोमादीनाञ्च कथञ्चित् सम्भवेत् अतो नास्माद्वाक्याद्भूतपरिष्वङ्गो गच्छतो मृतस्येति चेन्न। हि यतः प्रथमेऽप्यग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते। कुतः? उपपत्तेः प्रश्नोत्तरयोरिति शेषः। वेत्थ यथेति प्रश्ने पञ्चस्वग्निष्वापो होम्या विवक्षिताः। तस्योत्तरारम्भे प्रथमेऽग्नौ श्रद्धा होम्योक्ता। तत्र श्रद्धाशब्देन चेन्न वाच्यास्तदा तयोर्वैरूप्यापत्तिरित्यर्थः। अपां पञ्चमहोमसम्बन्धो हीतरहोमचतुष्टयसम्बन्ध एवोपपद्यते। श्रद्धाकार्यञ्च सोमवृष्ट्यादि स्थूलीभवदब्बहुलं वीक्ष्यते। कारणानुरूपञ्च कार्यमिति श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिश्च। तस्मात् तत्र श्रद्धाशब्देनापो ग्राह्यः। *"श्रद्धा वा आपः"* (तै॰ब्रा॰ ३/२/४/१) इति श्रुतेश्च। मनोवृत्तिस्तु न स्यात्। मनसो निष्कृष्य तस्या होमानुपपत्तेः। तस्मादद्भिः परिष्वक्तो यातीति॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रश्न है कि यदि पाँचों ही आहुतियाँ जलस्वरूप हैं अर्थात् समस्त आहुति-द्रव्य जल हैं तो कहा जा सकता है कि पाँचवीं आहुति-वाक्यसे जलयुक्त होकर जीव गमन करता है, यह अर्थ होगा, किन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि प्रथम अग्निमें जलकी आहुति सुनी नहीं जाती, बल्कि प्रथम अग्निमें श्रद्धाको ही आहुति द्रव्य कहा गया है, यथा *'तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुहाति'*—इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण उस सोम-अग्निमें श्रद्धाकी आहुति देते हैं, श्रद्धा कभी भी जल नहीं हो सकती—क्योंकि यह मनोवृत्ति विशेष है—यह प्रसिद्ध है। सोम इत्यादि दूसरी आहुतियाँ भी किस प्रकारसे जलस्वरूप हो सकती हैं? अतएव इस वाक्यसे मृत्युके बाद परलोकमें जानेवाले जीवके साथ जलका संयोग होता हो, यह नहीं कहा जा सकता, तो इस

पूर्वपक्षका उत्तर है—ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि प्रथम अग्निमें जो होम है, वह जल ही श्रद्धा शब्दके द्वारा अभिहित हुआ है अर्थात् कहा गया है। प्रमाण क्या है? तो इसका उत्तर है कि प्रश्न एवं उत्तर—'दोनों वाक्योंके सामञ्जस्यकी रक्षा' हेतु हैं। कैसे? यह भी बताते हैं—पञ्चालाधिपति राजा प्रवाहणने प्रश्न किया कि हे ब्राह्मणकुमार! जानते हो क्या? इत्यादि। तब इन प्रश्नोंके उत्तरोंमें पाँचों अग्नियोंमें ही जलको आहुति-द्रव्य कहना अभिप्रेत था। इन उत्तरोंके आरम्भमें पहले अग्निमें श्रद्धाको होमीय द्रव्य कहा गया था। इनमें यदि श्रद्धा शब्दका अर्थ जल अभिप्रेत न होता तो प्रश्नोत्तरोंमें विसदृशता घटती, यह तात्पर्य है। यदि जल सर्वत्र होमीय द्रव्य न होता, तो जलकी पञ्चम-होम-सम्बन्धी उक्ति अन्य चार होममें जलका होमीयत्व (हवनीयत्व) न होनेपर नहीं होती। युक्ति यह है कि पूरणार्थमें मयट् सजातीय वस्तुओंका ही होता है, अन्यथा नहीं? और एक बात है, श्रद्धा होमका परिणाम सोम है, उसका परिणाम वृष्टि इत्यादि स्थूल रूपमें परिणत सभी द्रव्य जलप्रधान देखे जाते हैं। श्रद्धाके कार्यभूत सोमादि हवि द्रव्य जलप्रधान हैं। कार्य कारणके अनुरूप होता है, इसलिए 'श्रद्धा' शब्दसे निश्चय ही जल विवक्षित है। अन्यथा उसके उत्तरोत्तर कार्य जल प्रधान किस प्रकार होंगे? अतएव यह भी श्रद्धाकी जलरूपताके विषयमें अन्यतम (बहुतोंमेंसे एक) युक्ति है। अतएव प्रथम हविर्द्रव्य श्रद्धा शब्दसे जल ही ग्रहणीय है। श्रुति भी श्रद्धाको जलस्वरूप कहती है अर्थात् जलके अर्थमें 'श्रद्धा' पदका प्रयोग हुआ है। यथा—*'श्रद्धा वै आपः'*—'श्रद्धा ही जल है'। इस स्थलपर श्रद्धा शब्दका अर्थ मनोवृत्ति कभी भी नहीं हो सकता। मनसे निष्कासित करके श्रद्धाकी आहुति देना कैसे युक्तियुक्त हो सकता है। इसलिए यह जो कहा गया है कि जलसे संयुक्त होकर जीव परलोकमें गमन करता है—यही सङ्गत और सार्थक है॥५॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रथमे इति। द्युलोकाग्नावित्यर्थः। न च तथास्ति। पञ्चानामाहुतीनामप्त्वं नास्तीत्यर्थः। तस्याः श्रद्धायाः। तयोः प्रश्नोत्तरयोः उपपत्तेरित्यर्थः। व्याख्यान्तरमाह—श्रद्धाकार्यञ्चेत्यादिना। प्रथमाहुतेरप्त्वाभावे तज्जन्यसोमाख्यशरीरादेः अब्बाहुल्यासिद्धेरित्यर्थः॥५॥

सूक्ष्मा-सार—'प्रथमे' इत्यादि सूत्रमें। प्रथममें अर्थात् द्युलोकरूप अग्निमें। *'न च तथास्ति प्रथमे अग्नौ'* इत्यादि अर्थात् पाँचों आहुतियोंका जलत्व नहीं है। *'तस्या मनोवृत्तिरूपत्वात्'* में 'तस्याः' का अर्थ है 'श्रद्धाका' 'तयोः'—का अर्थ है—उन प्रश्न एवं उत्तर वाक्योंके सामञ्जस्यके कारण। *'श्रद्धा कार्यञ्च'* इत्यादि वाक्य द्वारा अन्य व्याख्या भी करते हैं। प्रथम आहुति अर्थात् श्रद्धाहुति जलरूप न होती तो उस आहूतिसे उत्पन्न सोम नामक शरीर इत्यादिका जल-बाहुल्य नहीं होता॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि जब श्रुति जलका प्रथम आहुतिके रूपमें वर्णन नहीं करती है बल्कि श्रद्धाको ही प्रथम आहुति कहती है, और श्रद्धा ही मनोवृत्ति विशेष है—यह प्रसिद्ध भी है, तब यह कभी भी जल नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि पाँचों आहुतियाँ जलस्वरूप हैं, यह भी कहा नहीं गया है, इसलिए जलादि भूतोंके साथ जीवकी गति सम्भव नहीं हो सकती। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि नहीं, यह असङ्गत नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें जिस श्रद्धाका पहले उल्लेख है, उस श्रद्धा शब्दसे जलको ही समझा जाता है। इसकी उपपत्ति (युक्ति सङ्गतता) भी दिखायी देती है। प्रश्न और उत्तरमें ही इस उपपत्तिकी मीमांसा पायी जाती है। इस विषयमें भाष्यकारका भाष्य और टीका देखनी चाहिये। तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें (३/२/४/१) श्रुति है—*'श्रद्धा वै आपः'* अर्थात् श्रद्धा ही जल है। श्रद्धा शब्दसे यहाँ मनोवृत्ति तात्पर्य हो नहीं सकता, क्योंकि मनसे निकालकर श्रद्धाकी आहुति देना युक्तिसङ्गत नहीं ठहरता। वैदिक प्रयोग भी प्राप्त होता है—*'अपः प्रणयति श्रद्धा वा आपः'*—अपका प्रणयन करनेवाली श्रद्धा ही जल है। इस प्रकार जीव जलके साथ मिलकर परलोक गमन करता है, यही सङ्गत है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२८/१२)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—जब तक देह, शरीर और प्राणके साथ आत्माका सम्बन्ध रहता है, तब तक अविवेकी व्यक्तियोंके सम्बन्धमें यह मिथ्याभूत संसार भी फलवानके रूपमें प्रतीत होता है अर्थात् सत्य-सा स्फुरित होता है।

इस प्रकार श्रद्धाको सोमराज-वर्षा-अन्न-वीर्य-गर्भ आदि रूपोंमें जलका क्रमशः परिणाम बताकर उस जलको पुरुषवाची कहा है। उक्त प्रसङ्गमें श्रद्धाका अर्थ जल नहीं करेंगे तो प्रश्न भी अन्यथा होंगे और उत्तर भी कुछ और होंगे—इस प्रकार असङ्गति हो जायेगी॥ ५॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वापो गच्छेयुः श्रुतत्वात् न तु तद्युक्तो जीवः अश्रुतत्वादित्याशङ्क्य परिहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का हो सकती है कि अच्छा! जलका परलोकमें गमन हो सकता है क्योंकि यह श्रुतिसे बोध होता है किन्तु जीवका गमन तो श्रुतिमें नहीं सुना जाता। अतएव जलसे युक्त होकर जीव गमन नहीं करता—यही स्वीकार करना चाहिये। सूत्रकार इस आशङ्काका समाधान करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। श्रद्धासोमरूपेणापां रंहणस्य श्रुतौ प्रतीतेः स्वीकृतं जीवरंहणं तु स्वीकर्त्तुं न शक्यम्। अब्बज्जीवरंहणस्य तस्यामप्रतीतेरित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—श्रद्धा, सोम इत्यादि रूपमें जलका गमन श्रुतिमें प्रतीत होनेसे यह स्वीकृत है किन्तु जीवकी गति तो स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि जलके समान जीवका गमन श्रुतिमें अप्रतीत है, आशङ्काका तात्पर्य यही है।

सूत्र—अश्रुतत्वादिति चेन्न इष्टादिकारिणां प्रतीतेः॥ ६॥

सूत्रार्थ—'चेत्'—यदि कहो, 'अश्रुतत्वात्'—जलयुक्त होकर जीवकी गति सुनी नहीं जाती, 'इति न' तो यह कहना उचित नहीं है; यह बात कही भी नहीं जा सकती, क्योंकि छान्दोग्यपनिषदमें 'इष्टादिकारिणाम्'—इष्टापूर्त्तादि कार्य करनेवाले जीवोंका 'प्रतीतेः' चन्द्रलोकमें गमन प्रतीत होता है॥ ६॥

सूत्रानुवाद—इस प्रसङ्गमें जल ही श्रद्धादि हविर्द्रव्यके रूपमें कहा गया है, उसके साथ जीवके परलोकगमनकी बात तो श्रुति नहीं कहती तो सूत्रकार कहते हैं, ऐसा नहीं है, क्योंकि इसी प्रसङ्गमें इष्टापूर्त्तादि शुभाशुभ करनेवालोंकी वहाँ प्रतीति है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—अश्रुतत्वमसिद्धम्। तत्रैव छान्दोग्ये चन्द्रं प्रतीष्टादिकृतां गतिप्रत्ययात्। *"अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्तं दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंविशन्ति"* (छा॰ ५/१०/३) इत्यादिना *"आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा"* (छा॰ ५/१०/४) इत्यन्तेन। तत्रेष्टादिकारिणां चन्द्रं प्राप्य सोमराजाख्या भवतीत्यवगम्यते। तथा द्युलोकाग्नौ *"देवाः श्रद्धां जुह्वति। तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति"* (छा॰ ५/४/२) इत्यत्रापि तदैकार्थ्यात् श्रद्धाशरीरयुक्तः सोमशरीरयुक्तो भवतीति अवसीयते। शरीरस्य जीवैकाश्रयत्व-स्वाभाव्यात् तद्वाचकस्य शब्दस्य जीवे पर्यवसानमिति तत्परिष्वक्तोऽसौ यातीति स्थिरम्॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—तुमलोग जीवकी गतिको जो अश्रुत कह रहे हो, यह असिद्ध हैय क्योंकि छान्दोग्यमें ही इष्टपूर्त्त करनेवालोंकी चन्द्रलोककी ओर गति प्रतीत होती है, यथा—*'अथ च इमे ग्रामे ... धूममभिसंविशन्ति'* अर्थात् जो ये (ग्रहस्थलोग) ग्राममें इष्टापूर्त्त और दानको धर्म मानकर उपासना करते हैं, वे धूमपथमें प्रवेश करते हैं इत्यादि और *'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा'* इस प्रकार दूसरे वाक्यमें 'तत्पश्चात् आकाशसे चन्द्रमामें गमन करके जीव सोमराज नाम प्राप्त करते हैं।' इससे अवगत होता है कि इष्टापूर्त्तकारियोंको चन्द्र प्राप्तिके बाद सोमराज (संज्ञा) नाम प्राप्त होता है। पुनः यह भी प्रतीत होता है कि द्युलोकरूप अग्निमें (स्वर्गलोकाग्निमें) देवतागण जिस श्रद्धाकी आहुति देते हैं, यह श्रद्धा आहुतिके फलस्वरूप सोमराज हो जाती है, तब स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही श्रुतियोंका अर्थ एक ही है। अतएव श्रद्धा-शरीरयुक्त व्यक्ति ही सोम-शरीरयुक्त होता है, यह अर्थ पर्यवसित (अवगत) हो रहा है। शरीर जीवका एकमात्र आश्रय है, जीवका आश्रय करना शरीरका स्वभाव है, इसी कारण सोमराज नामके शरीर वाचक श्रद्धादि शब्दोंका जीवमें ही तात्पर्य रहता है। इसलिए सिद्धान्त है कि पञ्चभूतोंसे परिष्वक्त (आश्लिष्ट) होकर जीव परलोकमें गमन करता है॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—अश्रुतत्वादिति। तद्वाचकस्य सोमराजाख्यशरीरवाचिनः॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—अश्रुतत्वादित्यादि सूत्रमें *'तद्वाचकस्य शब्दस्य'* इति। 'तद्वाचक' अर्थात् सोमराज नामक शरीरवाचक सोमराज शब्दका॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि कहे कि श्रुतिमें जलके गमनकी कथा उल्लिखित है, किन्तु जलके साथ जीव भी गमन करता है—यह बात उल्लिखित नहीं है; इसलिए इसे स्वीकार क्यों किया जाय? इस आशङ्काको उठाकर सूत्रकार उसका निरास करते हुए प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इष्टापूर्त्तका अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तियोंके चन्द्रलोक-गमनकी बात श्रुतिमें प्रतीत होती है।

छान्दोग्य-श्रुतिमें है—

'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति।'

(छा॰ ५/१०/३)

अर्थात् जो ग्राममें वास करते हैं और यज्ञ, कूपादि-प्रतिष्ठा, दान-धर्ममें बुद्धि रखते हैं, वे मृत्युके बाद धूमपथमें प्रवेश करते हैं।

इसके बाद ही कहा गया है कि—

'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा'

(छा॰ ५/१०/४)

अर्थात् बादमें आकाशसे चन्द्रमाको जाते हुए यह जीव सोमराज हो जाता है, इससे अवगत होता है कि इष्टापूर्त्तकारियोंका चन्द्रलोककी प्राप्तिके बाद सोमराज संज्ञा प्राप्त होती है। द्युलोक अग्निमें देवतागण श्रद्धाकी आहुति देते हैं और उसके फलस्वरूप सोमराज नाम पाते हैं *'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति।'* (छा॰ ५/४/२) इसमें देखा जाता है कि दोनों श्रुतियाँ एक ही विषयको लक्ष्य करती हैं—एकार्थ-बोधक हैं। अतएव सोमराज नामक शरीरवाचक श्रद्धादि शब्द जीवको लक्ष्य करते हैं। इसलिए पञ्चभूतोंके साथ मिलकर ही जीव परलोक जाता है, यही सिद्धान्त निश्चित होता है।

बृहदारण्यकोपनिषद (६/२/९) में भी— *'देवाः श्रद्धां जुह्वति'* अर्थात् द्युलोक अग्निमें देवगण श्रद्धाको हवन करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

इष्टवेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२१/३३)

अर्थात् हमलोग इस लोकमें यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके स्वर्गमें जायेंगे और वहाँ दिव्य आनन्द भोगेंगे। उसके बाद जब फिर हमारा जन्म होगा, तब हम बड़े कुलीन और धनी परिवारमें जन्म-ग्रहण करेंगे, बड़े-बड़े राजमहल होंगे, हमारा कुटुम्ब बहुत सुखी और बहुत बड़ा होगा।

इसी प्रकार,

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३२/३)

प्राकृत वस्तुओंके प्रति श्रद्धाके कारण उसकी बुद्धि बिगड़ जाती है, जिससे वह पितरों और देवताओंके निमित्त व्रत धारण करता है। इसके फलस्वरूप कभी-कभी वह चन्द्रलोक तक पहुँचकर सोमरसका पान करता है, किन्तु पुनः उस स्थानसे उसका अधःपतन हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

(श्रीगी॰ ९/२०)

अर्थात् त्रिवेदोक्त सकाम कर्मपरायण व्यक्तिगण यज्ञोंके द्वारा मेरी पूजाकर, यज्ञके अवशिष्ट सोमरसका पानकर, निष्पाप होकर स्वर्ग-गमनकी प्रार्थना करते हैं। पुण्यफलके रूपमें इन्द्रलोकको प्राप्तकर वे दिव्य देवभोग्य भोगोंका उपभोग करते हैं॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वेष सोमराजो देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्तीति सोमराजशब्दितस्या देवभक्ष्यत्वश्रवणात् न स जीवः शक्यो वक्तुम्। तस्य भक्षयितुमशक्यत्वादिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का है कि इस श्रुति *'एष सोम राजो तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति'* (छा॰ ५/१०/४)—'यह सोमराज देवताओंका अन्न (भक्ष्य) है, देवगण इस सोमराजका भक्षण करते हैं' से बोध होता है कि सोमराज शब्दका वाच्य पदार्थ देवगणोंका भक्ष्य है, यह श्रुत होनेसे जीवको तो सोमराज शब्दसे शब्दित नहीं कहा जा सकता कारण जीव चित्स्वरूप है, वह भक्षणके अयोग्य है। यह यदि कहते हो तो सूत्रकारका कहना है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। न स इति। सोमराज इति वाच्यो जीवो भवतीति वक्तुं न शक्यम्। तस्य चिद्रूपस्य देवैर्भक्षणासम्भवादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'ननु'* इत्यादि भाष्यमें *'न स जीवः शक्यो वक्तुम्'*—सोमराज इसका वाच्य अर्थ जीव है—यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि *'तं देवा भक्षयन्ति'*—इसके द्वारा निर्धारित होता है कि देवताओं द्वारा भक्षणीयत्व—चित्स्वरूप जीवात्मामें सम्भव नहीं है।

सूत्र—भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथाहि दर्शयति॥७॥

सूत्रार्थ—'वा' अर्थात् यह आशङ्का करना भी नहीं। सोमराज-शब्दसे शब्दित (वाच्य) जीवको जो देवताओंका भक्ष्य कहा गया है, 'भाक्तम्' वह गौण प्रयोग है, अन्नके समान सोमराज भी भोगका हेतु है अर्थात् देवताओंका सेवक है—यह इसका अर्थ है, इसका कारण है 'अनात्मवित्त्वात्'—ये कर्मी जीवगण आत्मवित् अर्थात् हरिभक्त नहीं हैं, क्योंकि देवताओंके सेवक हैं और हरिभक्तोंको तो परमपद प्राप्त होता है, 'तथाहि दर्शयति'—श्रुति भी इसी प्रकार कहती है अर्थात् श्रुति भी अनात्मज्ञकी देव-सेवकताको प्रकाशित करती है॥७॥

सूत्रानुवाद—चन्द्रादि लोकमें कर्म-जन्य फलका उपभोग करनेके लिए गये इष्टापूर्त्तकारी व्यक्ति देवगणोंके अन्न (भक्ष्य) बन जाते हैं तो यह अर्थ गौण है। मुख्यार्थ यह है कि ये अनात्मविद् पुरुष (कर्मी जीवगण) देवताओंके भोगोपकरण हैं, परन्तु आत्मविदों (हरिभक्तों) को तो श्रीहरिके चरणोंकी प्राप्ति होती है॥७॥

गोविन्दभाष्य—वेति शङ्काहानौ। सोमराजशब्दितस्य जीवस्य देवान्नत्वं भाक्तम्। अन्नवत् तद्भोगहेतुत्वादुपचरितमित्यर्थः। तद्धेतुत्वं तत्सेवकत्वात्। तच्चानात्मवित्त्वात्। श्रुतिरप्यनात्मज्ञस्य देवसेवकतां दर्शयति। *"अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्"* इति बृहदारण्यके। (१/४/१०) अयं भावः। अन्नवद्भक्षणासम्भवात् तद्वद्भोगसाधनत्वाच्च जीवस्य देवान्नत्वं तत्रोपचर्यते। *"विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशाम्"* इत्यौपचारिकप्रयोगदर्शनाच्च। मुख्यत्वे तु ज्योतिष्टोमादिविधिवैयर्थ्यापत्तिः। देवाश्चेच्चन्द्रलोकगतं भक्षयेयुः किमर्थं जनस्तत्र गच्छेत्, किमर्थं वा तत्प्रापकं ज्योतिष्टोमादिप्रयासं कुर्यादिति। तस्मादद्भिः परिष्वक्तो यातीति सिद्धम्॥७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'वा' शब्द पूर्वोक्त आशङ्काके निराकरणके लिए है। सोमराज शब्दका वाच्य जीव देवताओंका अन्न है—यह उक्ति गौण अर्थमें प्रयुक्त है अर्थात् वे अन्नके समान देवताओंके भोग साधक हैं—यह गौणी लक्षणासे प्राप्य अर्थ है, इसका अर्थ 'भक्ष्य' नहीं समझना चाहिये। देवताओंके सेवक होनेके कारण ही उनका भोगहेतुत्व कहा गया है। यह देव-सेवकता भी आत्मज्ञानके अभावके कारण है। श्रुति भी अनात्मज्ञ (आत्मा-ज्ञान-हीन) की देव-सेवकता प्रकाशित करती है, यथा बृहदारण्यकमें कहा गया है—*'अथ योऽन्यां देवतामुपासते … पशुरेव स देवानाम्'* (बृ॰आ॰ १/४/१०) अर्थात् जो व्यक्ति परमेश्वरसे भिन्न अन्य देवताओंकी उपासना करता है, उसे इस प्रकारका तत्त्वज्ञान नहीं रहता है कि यह उपास्य देवता अन्य है और मैं उपासक भी अन्य हूँ—इसलिए वह कर्मजड़ है, तत्त्वज्ञ नहीं। जिस प्रकारसे पशु, उसी प्रकार ये देव-सेवक—सम्पूर्ण रूपसे अधीन। इसका अभिप्राय यह है कि जीवका अन्नके समान भक्षणायत्व सम्भव नहीं है (उसका अन्नके समान भक्षण नहीं किया जा सकता), किन्तु वह अन्नके समान भोगका साधक है, इसलिए गौणी लक्षणा द्वारा इसे देवान्न-देवताओंका अन्न कहा गया है। जीवमें अन्नधर्मका आरोप है, इसलिए वह अन्न शब्दसे कथित है। लाक्षणिक (औपचारिक) प्रयोग भी इसी प्रकार देखा जाता है—यथा—*'विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशाम्'* अर्थात् प्रजावर्ग राजाओंका अन्न (भोगसाधक) है और पशुसमूह प्रजावर्गका अन्न है। (अर्थात् प्रजा जैसे राजाकी सेवक है, उसी प्रकार

कर्मी देवताओंका सेवक है और जैसे लोगोंके घरमें पशु रहते हैं, उसी प्रकार वह भी देवताओंका पशु है। यदि भक्षण एवं अन्न शब्दका मुख्य अर्थ लिया जाय (अर्थात् जीव वास्तवमें ही देवताओंका भक्षणीय अन्न हो जाय) तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञका विधान व्यर्थ हो जायेगा। यदि देवगण वास्तवमें चन्द्रलोक गत जीवका भक्षण करते हों तो मुनष्य किसलिए यज्ञ करेंगे और क्यों वहाँ जायेंगे तथा किसलिए चन्द्रलोक-प्राप्तिके साधन ज्योतिष्टोमादि यज्ञके प्रयासको भी स्वीकार करेंगे? अतएव यही निर्णय होता है कि जलसे संयुक्त होकर (जलका आश्रय करके) जीव परलोकमें गमन करता है॥७॥

सूक्ष्मा-टीका—भाक्तमिति। भाक्तं गौणम्। तत्सेवकत्वात् तद्भृत्यत्वात्। तच्चेति तत्सेवकत्वमित्यर्थः। अथेति। यः कर्मजडो देवतामन्यां स्ववृत्त्यहेतुं कर्ममार्गमात्रतयोपकारिणीं मत्वोपास्ते न स वेद नासौ तत्त्वज्ञः। यथा पशुरिति। पशुर्यथा लोकादुपात्तजीविकस्तस्य संसेवया नित्यं क्लिश्यति तथा देवोपकृतो देवसेवक इत्यर्थः। देवाः खलु अपूर्णास्तत्सेवाभिकाङ्क्षिणस्तज्ज्ञानं प्रतिबध्नन्ति। हरिस्तु पूर्णत्वात् परिनिस्पृहोऽपि सौहार्ददेव स्व-स्वरूपं स्वपदञ्चोपलम्भयति। *"त्वद्भाक्ताश्च ते तव फलमिच्छन्ति न तु त्वत्तोऽन्यत्"* इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेः। कर्मजडोऽत्र विनिन्द्यते। तस्मात्तदायत्तधीस्थैर्यार्थमेतत्। स्वविलक्षणतया तु श्रीहरिकृपास्य इति श्रुतेरेवाह—*"पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा"* इत्यादिना। तस्मादर्थान्तरकल्पनं न चारु॥७॥

सूक्ष्मा-सार—*'भाक्तं वा'* इत्यादि सूत्रमें—'भाक्तम्' अर्थात् गौण अर्थ। *'तत्सेवकत्वात्'* उनके (देवताओंके) सेवकत्वके आत्मज्ञानके अभावके कारण अर्थात् भृत्यत्ववशतः *'तच्चानात्मवित्त्वात्'* इति—'तच्च' अर्थात् वह सेवकत्व आत्मज्ञानके अभावका हेतु है। *'अथ योऽन्याम् ... देवानामिति।'* इसका अर्थ है—जो कर्मपरतन्त्र व्यक्ति अपनी जीविकाका हेतु न रहनेपर मात्र कर्मपथरूपको उपकार-साधक मानकर अन्य देवताकी उपासना करता है, वह व्यक्ति तत्त्वविद् नहीं है। यथा पशुरित्यादि—गौ इत्यादि पशु जिस प्रकार मनुष्योंके द्वारा जीविका प्राप्त करके उस जीविकादाताकी प्राणपनसे सेवा करते हुए सदैव कष्ट भोगते हैं, ठीक उसी प्रकार देवता द्वारा उपकृत होकर चन्द्रलोकमें गमन करनेवाला जीव देवताका सेवक होता है। तत्त्वज्ञ श्रीहरिसेवक

और तत्त्वज्ञान हीन देवता-सेवकमें यही प्रभेद है। देवता स्वयं अपूर्ण हैं—इसलिए जीवकी सेवाकी आकाङ्क्षा करते हैं तथा जीवके तत्त्वज्ञानकी प्रतिबन्धकता (रुकावट) का साधन बनते हैं। श्रीहरि स्वयं पूर्णकाम हैं इसलिए वे जीवके निकट किसी भी कामनासे रहित होकर उस जीवके प्रति स्नेहवश अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूपको प्रकट करते हैं और अपना वैकुण्ठधाम भी प्रदान करते हैं। स्मृति-वाक्य है—हे भगवन्! आपके भक्तगण आपकी प्राप्तिरूप फलकी कामना करते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहते। यह बात श्रुति एवं स्मृति दोनों स्थानोंपर प्रसिद्ध है। इस स्थलपर कर्मजड़की (अतत्त्वज्ञकी) निन्दा की गयी है। अतः श्रीहरिमें बुद्धिका निवेश करके उनमें ही स्थिरता साधन करनेके लिए यह कहा गया है यह जानना चाहिये। जीवसे विलक्षण गुणवत्ता रूपमें श्रीहरि उपासनीय हैं। श्रुतिका भी यही कथन है—श्रीहरिको जीवसे विलक्षण परमात्मा एवं प्रेरक मानकर उनकी उपासना करनी चाहिये। अर्थान्तर अर्थात अन्यान्य अर्थ करके कल्पना करना समीचीन नहीं है॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब यदि कोई आशङ्का करे कि छान्दोग्यमें तो पाया जाता है *'सोमोराजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति'* (छा॰ ५/१०/४) अर्थात् सोमराज देवताओंका अन्न है, देवगण उसका भक्षण करते हैं। अतएव सोमराज देवताओंका भक्ष्य हुआ, उसे जीव नहीं कहा जायेगा क्योंकि जीव नित्य चेतन वस्तु है, वह देवताओंके भक्ष्य सम्बन्धको प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकारकी आशङ्काके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जीवके भक्ष्यत्वका कथन 'भाक्त' अर्थात् गौण रूपसे कहा गया है। तात्पर्य यह है कि यह अन्नके समान देवताओंका भोगोपकरण, भोग-साधक है।

और यह भोगसाधकत्व भी जीवोंके देव-सेवकत्वके विचारसे कहा गया है। जब जीवोंका आत्मज्ञान नहीं रहता अर्थात् निज स्वरूपज्ञानके अभावमें कृष्ण-वैमुख्य रहता है, तभी वे देव-सेवक होते हैं। श्रुति भी इस आत्मज्ञानहीन जीवको देव-सेवक कहकर वर्णन करती है। बृहदारण्यकोपनिषदमें पाया जाता है—*'योऽन्यां देवतामुपासतेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्'* (बृ॰आ॰

१/४/१०) अर्थात् जो व्यक्ति इस भावसे अन्य देवताकी उपासना करता है कि उपास्य देवता अन्य है और स्वयंका स्वरूपसे भिन्न है—किन्तु तत्त्व क्या है, यह नहीं जानता है, ऐसा ही व्यक्ति उपास्य देवताका पशु है। अतत्त्वज्ञ व्यक्तिको भगवदुपासना और देवोपासनाके तारतम्यका बोध नहीं रहता।

इस विषयमें भाष्यकारने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः॥

(श्रीमद्भा० १०/८७/२७)

अर्थात् जो लोग समस्त जीवोंके आश्रयरूप आपको जानकर आपकी सेवा करते हैं, वे ही निःशङ्क होकर मृत्युके सिरपर पैर रखते हुए उसे अतिक्रम कर लेते हैं, परन्तु जो भक्तिसे शून्य हैं—वे कितने भी प्रकाण्ड-पण्डित क्यों न हों—आप कर्मकाण्डीय स्वर्गादि फलश्रुतिपरक वचनोंके द्वारा उन लोगोंको पशुओंकी भाँति कर्ममार्गमें आबद्ध कर लेते हैं। जो आपसे अत्यन्त प्रेम करते हैं, वे ही स्वयंको और दूसरोंको पवित्र करते हैं, अन्य किसीमें यह सामर्थ्य नहीं है।

और भी,

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम्॥

(श्रीमद्भा० १०/८९/१४)

अर्थात् भृगुजीके वचनोंको सुनकर मुनि बड़े विस्मित हो गये। उनका संशय दूर हो गया। उन्होंने निर्णय कर लिया कि विष्णु ही तीनों देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं क्योंकि वे ही शान्ति और अभयके स्रोत हैं।

स्कन्दपुराणमें कहा है—

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते।
त्यक्त्वामृतम् स मूढात्मा भुङ्क्ते हालाहलं विषम्॥

अर्थात् श्रीवासुदेवका परित्याग करके जो अन्य देवताओंकी उपासना करता है—वह मूर्ख व्यक्ति अमृतका त्याग करके हलाहल विषका पान करता है।

वस्तुतः देवतागण तो न खाते हैं, न पीते हैं, इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं, *'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति। एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।'* (छा॰ ३/६/१) अज्ञानी पुरुष पशुके समान भोग्य हो जाता है, जैसे हलमें जुड़े बैल अपना आहार खाते हुए भी किसानका उपकार-साधन करनेके कारण किसानके भोग्य माने जाते हैं—वैसे ही परतत्त्वसे अज्ञ, इष्टापूर्त्तकारी इस लोकमें दधि, दुग्ध और पुरोडाशादिकी आहुति देकर और चन्द्रादि लोकोंमें उनके परिचारक बनकर देवताओंके उपभोग्य होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा सूक्ष्मभूतोंसे संसक्त होकर ही जाता है॥ ७॥

अवतरणिका भाष्य— *"अथ य इमे ग्राम"* इत्यादिना केवलकर्मिणां धूमादिमार्गेण स्वर्गप्राप्तिमभिधाय तदन्ते पुनरावृत्तिः पठ्यते तत्रैव छान्दोग्ये— *"यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तत"* (छा॰ ५/१०/५) इति। तत्र संशयः। स्वर्गादवरोहन्निरनुशयः सानुशयो वेति। यावत्सम्पातमुषित्वेत्युक्तेः *"प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य"* (बृ॰आ॰ ४/४/६) इत्याद्युक्तेश्च निरनुशयोऽवरोहतीति। सम्पातः कर्म सम्पतन्त्यनेन स्वर्गमिति व्युत्पत्तेः। अनुशयो भुक्तशिष्टं कर्म। अनुशेते कर्त्तारं फलभोगायेति व्युत्पत्तेः। तच्च कृत्स्नफलभोगे सति नावशिष्यते। एवं प्राप्ते पठति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस अधिकरणके प्रारम्भमें कहा गया था *'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्तं दत्तमित्युपासते'*—जो केवल कर्मी हैं, मृत्युके बाद उनकी धूमादि पथसे गति होकर उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति होती है, इसके बाद कहा गया कि स्वर्गभोगके बाद इस लोकमें उनका पुनरागमन होता है—यह छान्दोग्यमें पढ़ा जाता है, यथा *'यावत्सम्पात मुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुननिवर्त्तत'*—जितने दिनों तक सम्पात अर्थात् कर्म रहता है, तब तक वहाँ (स्वर्गलोकमें वास करके) बादमें उसी पथसे पुनः इस लोकमें लौट आता है। अब इस विषयपर संशय यह

है कि स्वर्गसे अवतरण-कालमें अर्थात् लौटते समय जीव कर्महीन होकर अर्थात् कर्म परिसमाप्त करके लौट आता है? अथवा भुक्तावशिष्ट कर्मको साथ लेकर लौटता है। पूर्वपक्षी कहते हैं श्रुतिमें *'यावत्सम्पातमुषित्वा'* अर्थात् जितने दिन कर्म हैं, उतने दिन वास करके 'यह कहनेके कारण और *'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य'* उस कर्मका अवसान होनेपर' इत्यादि वर्णन होनेसे कर्महीन होकर ही इस लोकमें प्रत्यावर्त्तन करता है—यही कहा जायेगा। सम्पात शब्दका अर्थ है कर्म (स्वर्गोपभोगप्रदकर्म) क्योंकि इसीसे गमन करनेपर स्वर्गकी प्राप्ति होती है, उस व्युत्पत्तिके द्वारा स्वर्गका साधन ज्ञात होता है। अनुशय शब्दका अर्थ है 'भुक्तावशिष्ट कर्म' क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति है—जो कर्म फलभोगके लिए कर्त्ताका अनुसरण करता है, उस कर्मका समग्र फलभोग हो जानेसे फिर कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्रापां कर्मसमवेतानां पञ्चमहोमे सति पुरुषरूपत्वेन परिणामश्रुतिं हेतुमालम्ब्याद्भिर्युक्तस्य पुरुषस्यागमनं यदुक्तं तन्न युक्तम्। स्वर्गादवरोहतस्तस्य कर्माभावेण तत्समवेतानाम् अपां चाभावादित्याक्षेपः सङ्गतिः। भुक्त्वा ततोऽवरोहतः कर्माभावेन तद्धेतुकश्च शूकरादियोनिलाभोऽभावात्। कर्मफलेषु न वैराग्यमिति पूर्वपक्षे फलं तदुपलम्भककर्मशेषसत्त्वात् तेषु तद्युक्तमिति सिद्धान्ते फलम्। एतदभिप्रायेण न्यायमाह—अथ य इत्यादिना। स्फुटार्थो ग्रन्थः। सम्पातशब्दार्थञ्च व्याचष्टे सम्पात इत्यादिना।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले अधिकरणमें कहा गया था कि कर्मीगणोंकी जलके द्वारा पञ्चमी आहूति होनेपर उस जलका पुरुष रूपमें परिणाम है; इस प्रकारसे श्रुतिका हेतु रूपमें अवलम्बन करके यदि कोई कहता है कि पुरुषका जलयुक्त होकर इस लोकमें अवतरण होता है तो यह कथन युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि स्वर्गसे अवतरण (आगमन) करनेवालेका कोई कर्म रहता नहीं है, अतः पुरुष-समवेत जल भी रहता नहीं है। इस प्रकारका आक्षेप ही इस अधिकरणकी आन्तर सङ्गति है। पूर्वपक्षीकी उक्तिका फल है कि स्वर्ग-भोगके बाद वहाँसे आगमन करनेवाले जीवका कर्म न रहनेपर कर्मजनित शूकरादि योनि प्राप्त हो नहीं सकती, इसलिए कर्मफलसे

वैराग्य भी असङ्गत है। सिद्धान्तपक्षीका अभिप्राय यह है कि उस शूकरादि योनि प्राप्त करनेवालेका कर्म (भुक्तावशिष्ट) शेष रहनेके कारण उस कर्मफलसे वैराग्य होना युक्तियुक्त है—इसी अभिप्रायसे यह अधिकरण *'अथ च इमे'* वाक्य द्वारा प्रारम्भ होता है। ग्रन्थका अर्थ स्पष्ट है। 'सम्पात' इत्यादि द्वारा सम्पात शब्दका अर्थ विवृत करते हैं।

कृतात्ययाधिकरणम्

सूत्र—कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम्॥ ८॥

सूत्रार्थ—'कृतात्यये' फलोन्मुख कृतकर्म भोग द्वारा क्षय होनेसे, 'अनुशयवान्'—बादमें अवशिष्ट कर्म लेकर जीव लौट आता है, 'दृष्ट' इस कारण इस लोकमें प्राणी-विशेषके विभिन्न भोग दिखायी देते हैं, 'स्मृतिभ्याम्' श्रुति एवं स्मृतिसे भी यही निर्णय होता है॥ ८॥

सूत्रानुवाद—'कर्त्तारमनुशेते फलोपभोगाय यः सोऽनुशयः'—फलोपभोगके लिए जो कर्त्तामें निवास करता है, उसे अनुशय कहते हैं, अर्थात् भुक्त कर्मके शेष कर्मके साथ इस लोकमें जीवका अवरोह होता है—यह श्रुति और स्मृतिका वचन है॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—चन्द्रलोके सुखभोगाय यत् कर्म कृतं तस्येष्टादेस्तत्र भोगेनात्यये क्षये सति तद्भोगक्षयजातशोकानलविलीनभोगदेहोऽनुशयवानवरोहति। कुतः? दृष्टेति। *"ये तद् इह रमणीयचरणाभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा"* इति तत्रैव दर्शनात्। (छा॰ ५/१०/७) रमणीयचरणा रमणीयकर्माणः। भुक्तशिष्टपक्वसुकृतवन्त इत्यर्थः। अभ्यासोऽभ्यागन्तारः अभ्यासपूर्वादसेः क्विपि रूपम्। ह स्फुटम्। यद् यदा तदेत्यर्थात्। *"इह पुनर्भवे ते उभयशेषाभ्यां निविशन्त"* इति स्मृतेश्च। तस्मात् सानुशयोऽवरोहति। यावत्सम्पातम् इत्यादिवाक्यन्तु फलार्पणप्रवृत्तकर्मविशेष-परमित्यविरोधः॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—चन्द्रलोकमें सुख-भोगके लिए जो यहाँ इष्टापूर्त्त किये गये थे, वहाँ (उस चन्द्रलोकमें) भोगके द्वारा उनका (इष्टापूर्त्तका) पुण्य क्षय होनेपर उस भोगक्षय-जनित दुःखानलमें दग्ध अर्थात्

जीवका भोगदेह विलीन होता है, तब जीव अवशिष्ट कर्म लेकर पुनः इस लोकमें अवतरण करता है। इसका प्रमाण क्या है? वही कहते हैं—*'दृष्टस्मृतिभ्याम्'* इति प्रत्यक्ष दर्शनके कारण और स्मृति-वाक्यके कारण ऐसा कहा गया है। श्रुति-वाक्य है, यथा—*'ये तद् इहेति'* अर्थात् इस लोकमें जो उत्तम कार्योंका अनुष्ठान करते हैं, वे रमणीय जन्म प्राप्त करते हैं। जैसे ब्राह्मण-जन्म, क्षत्रिय-जन्म अथवा वैश्य-जन्म। किन्तु जब वे इस लोकमें निरन्तर निन्दनीय (अशुभ) कर्मोंका आचरण करते हैं, तब वे निन्दनीय योनियोंको प्राप्त होते हैं, जैसे कुक्कुर योनि, शूकर योनि अथवा चण्डाल योनि इत्यादि छान्दोग्योपनिषदमें यह सब पढ़ा जाता है। *'रमणीयचरणाः'* अर्थात् उत्कृष्ट कर्मानुष्ठायी अर्थात् भुक्तावशिष्ट परिपक्व सुकृतशाली और अभ्यासका अर्थ है अनुष्ठायी, अभ्यागन्ता—अभि और आ उपसर्ग-पूर्वक अस् धातुके उत्तरमें क्विप् प्रत्यय निष्पन्न होनेसे अभ्यास शब्दके प्रथम बहुवचनसे 'अभ्यासः' पद निष्पन्न होता है। श्रुतिगत 'ह' शब्दका अर्थ स्पष्ट है। 'यद्' अर्थात् जिस समय 'तद्' अर्थात् उस समय—यह इस अर्थमें प्राप्त होता है। स्मृति-वाक्य भी है—*'इह पुनर्भवे ते उभयशेषाभ्यां इति'* (श्रीमद्भागवत) अर्थात् इस लोकमें पुनर्जन्मके समय वे सुकृत और दुष्कृत कर्मोंके अवशेष कर्मोंके कारण कर्मफल भोग करते हैं। अतएव भुक्तावशिष्ट कर्मके साथ ही जीवका पतन होता है—यह सिद्ध हुआ। *'यावत् सम्पातम्'* वाक्यका अर्थ है—फलदानमें प्रवृत्त कर्म-विशेषके अनुसार। इसलिए कोई असामञ्जस्य नहीं है॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—कृतात्यय इति। तच्च सम्पातशब्दितं कर्म सूत्रस्थं दृष्टपदमेव व्याचष्टे लोके जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचभोगदर्शनात् सानुशयः स्वर्गात् पततीतरथा तद्भोगस्याकर्मिकतापत्तिरिति। इह पुनरिति श्रीभागवते। उभयेति पुण्यपापशेषाभ्यामित्यर्थः। यावदित्यादिवाक्यार्थं सङ्गमयति यावदिति॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार— *'कृतात्यय'* इत्यादि सूत्रमें। सूत्रस्थ कृत शब्दका अर्थ है—सम्पात शब्द—वाच्य कर्म। सूत्रस्थ 'दृष्ट' शब्दकी व्याख्या करते हैं—जीव अनुशयवान होकर जो इस जगत्में अवरोहण (आगमन)

करता है, उसका कारण इस जगत्‌में ही देखा जाता है। जन्मके द्वारा ही प्रत्येक प्राणीका अच्छा बुरा भोग होता है। यह नहीं मानते हो तो यह विचित्र भोग अकारण हो जाता है। 'इह पुनर्भवे' इत्यादि वाक्य श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। इसके अन्तर्गत 'उभयशेषाभ्याम्' का अर्थ है—अवशिष्ट पुण्य एवं पापके कारण। *'यावत्सम्पातम्'* इत्यादि द्वारा यहाँ वाक्यके विरोधका परिहार करके सामञ्जस्य दिखा रहे हैं॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्यपनिषदमें कहा है, *'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति'* इत्यादि। (छा॰ ५/१०/३) अर्थात् जो केवल कर्मी हैं, मृत्युके बाद धूमादि मार्गसे वे स्वर्गकी प्राप्ति करते हैं, पुनः देखा जाता है—*'तस्मिन् यावत्सम्पातमु-षित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते'* (छा॰ ५/१०/५) जितने दिनों तक सम्पात ('सम्पतति अनेन'—जिसके द्वारा पतन होता है, वह सम्पात है) अर्थात् जब तक कर्म रहता है, तब तक वहाँ वास करके बादमें उसी पथसे पुनः इस लोकमें लौट आता है। तात्पर्य यह है कि इष्टापूर्त्त और दान इत्यादि धर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति मृत्युके बाद धूमादिके अभिमानिनी देवताओंका आश्रय करके चन्द्रलोकमें गमन करता है और पुण्यफलके भोगके बाद वहाँसे पृथ्वीपर इसी पथसे लौट आता है। छान्दोग्यकी इन उक्तियोंमें एक संशय यह है कि कर्मावलम्बी जीव स्वर्गसे प्रत्यावर्त्तन करते समय अपने कर्मका समापन करके पुनरावृत्ति प्राप्त करता है? अथवा भुक्तावशिष्ट कर्मके साथ पुनरावर्त्तन करता है? छान्दोग्योपनिषदमें जो यह कहा है कि *'यावत्सम्पातमुषित्वा'* अर्थात् फलोन्मुख कर्म जितने दिन रहता है, उतने दिन वहाँ वास करके जीव लौट आता है। इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि कर्मफलको पूर्ण रूपसे भोगनेके बाद ही कर्महीन होकर जीव इस लोकमें लौटता है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि फलोन्मुख कृतकर्म भोगके द्वारा समाप्त होनेपर अनुशयवान् अर्थात् भुक्तावशिष्ट किञ्चित् कर्मके साथ ही जीव लौटता है। इस लोकमें विभिन्न रूपोंमें जन्म और कर्मफल भोगके

द्वारा यह देखा ही जाता है—यह श्रुति और स्मृतिसे अवगत होता है। इस विषयमें श्रुति है—*'तद् य इह रमणीय'* इत्यादि, इसे भाष्यमें सुस्पष्ट किया गया है। अनुशयका अर्थ है भुक्तकर्मका शेष। स्मृति भी कहती है—*'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते'*—वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले प्राणी मरनेके बाद कर्मफलका अनुभव करके भोगसे बचे अवशेष कर्मोंके द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, विद्या, आचार, धन तथा मेधासे युक्त होकर जन्म-ग्रहण करते हैं। इस प्रकार अनुशययुक्त जनोंका ही अवरोह बतलाया गया है। जैसे कोई राजसेवक समस्त सेवोपकरणोंके साथ राजकुलमें प्रविष्ट होता है, वहाँ बहुत समय तक रहनेके बाद जब उसके सेवाके उपकरण क्षीण होने लगते हैं, तब वह वहाँ निवास करनेमें असमर्थ होकर अपने अवशिष्ट-उपकरण छत्र, पादुकाके साथ लौट आता है। इस प्रकार चन्द्रगत मनुष्य अनुशयमात्रके साथ चन्द्रमण्डलमें रह नहीं सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१०/२६)

अर्थात् जब तक भोगके द्वारा उनके पुण्यकी समाप्ति नहीं होती, तब तक स्वर्गमें गया हुआ व्यक्ति स्वर्गमें देवताओंके समान स्वर्गका भोग करता है और तदनन्तर पुण्य क्षय होनेपर इच्छा नहीं रहते हुए भी उसे अधःपतित होना पड़ता है, क्योंकि कालकी गति ही ऐसी है।

और भी, *'कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि।'* (श्रीमद्भा॰ ५/१४/४१)

अर्थात् इस प्रकार मनुष्य कर्म-वल्ली (कर्म-लता) का आश्रय लेकर स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंको प्राप्त करें और नरकरूप आपद्से चाहे मुक्त हो भी जायें किन्तु पुण्योंके क्षीण होनेपर उन्हें फिर इस मर्त्त्यलोकमें आना ही पड़ता है।

श्रीगीता (९/२१) में भी देखा जाता है—*'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्त्यलोकं विशन्ति।'*

अर्थात् वे उस विशाल स्वर्गलोकका भोग करनेके पश्चात् पुण्यके क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें पतित होते हैं।

'यावत्सम्पातम्' जो कर्म फल देनेके लिए उन्मुख है, उन्हींका भोग होगा। जिन कर्मोंका स्वर्गमें भोग नहीं हो सकता, उन वाचनिक (श्रुति-प्रतिपादित), मानसिक और कायिक कर्मोंके द्वारा सञ्चित पुण्य-पापादि कर्मोंको मर्त्त्यलोकमें ही भुगतना होगा। स्वर्ग-भोग, प्रायश्चित अथवा मात्र ब्रह्मज्ञानसे सञ्चित कर्मोंका ध्वंस नहीं हो सकता—इसी सञ्चित (अनुपभुक्त कर्मरूप अनुशय (कर्म-शेष) से युक्त होकर इष्टापूर्त्तकारीको इस लोकमें लौटना पड़ता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुके वाक्य हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव—अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्य जने राजा येन नदीते चुबाय॥

(चै॰च॰म॰ २०/११७-११८)॥ ८॥

अवतरणिका भाष्य—अवरोहे प्रकारविशेषं दर्शयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जीव स्वर्गसे किस प्रकार अवरोहण करता है, वही बतलाते हैं—

सूत्र—यथेतमनेवञ्च॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—यथेतम्—जिस प्रकारसे चन्द्रलोकमें गमन हुआ था, 'अनेवम् च'—उसीके विपरीत भावसे उसी पथसे पतन भी होता है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—जिस मार्गसे गया था, उसीके विपरीत क्रमसे अथवा प्रकारान्तरसे पुनः लौट आता है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—चन्द्रादवरोहन्ननुशयी यथेतमवरोहत्यनेवञ्च। यथेतं यथागतम्। अनेवं तद्विपर्ययेण। धूमाकाशयोरवरोहेऽपि संकीर्त्तनादयथेतमिति प्रतीयते। रात्र्याद्यसं-कीर्त्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्चानेवं चेति॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—चन्द्रलोकसे अवरोहण करनेवाले अनुशयी जीव कर्मशेषको लेकर जिस प्रकार धूम-पथसे आकाश गया था, आकाशसे चन्द्रलोक गया था, इसीके विपरीत क्रमसे अर्थात् चन्द्रलोकसे आकाश, वहाँसे धूममें और धूमसे वृष्टिकी सहायतासे आगमन करता है। आरोहण करते समय धूम और आकाशका कथन रहनेके कारण जाना जाता है कि जैसे गमन हुआ था, वैसे ही अवरोहण भी है। किन्तु पतन-श्रुतिमें रात्रि इत्यादिके अनुल्लेख एवं मेघ-वृष्टि इत्यादिके उल्लेखके कारण 'अनेवम् विध' उसका विपरीत क्रम भी प्रतीत होता है॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—यथेतमिति। उपसंख्यानात् संग्रहात्॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—*'यथेतम्'* इत्यादि सूत्रमें 'उपसंख्यानात्' का अर्थ है 'उपलक्षण' अर्थात् संग्रह हेतु॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कर्मावलम्बी जीव किस प्रकारसे स्वर्गसे अवरोहण करते हैं?—इसीको सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें बतलाते हैं कि 'यथा इतम्' अर्थात् जिस पथसे स्वर्गमें गमन करते हैं, उसी पथपर विपरीत भावसे पृथ्वीपर लौटते भी हैं। 'अनेवञ्च'—और कभी-कभी अन्यथा भी होता है। अवरोहणके समय धूम और आकाशके कथनका उल्लेख रहनेके कारण पूर्वके समान उपलब्धि होती है, तो भी गमनकालमें रात्रिका उल्लेख न रहनेके कारण और प्रत्यागमनमें मेघादिका उल्लेख रहनेके कारण विपरीत प्रकारसे भी उपलब्धि होती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥

(श्रीगी॰ ८/२५)

अर्थात् धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, छह मासरूप दक्षिणायनकाल—इनके देवताओंके मार्गमें गमन करनेवाले कर्मयोगियोंका चन्द्रज्योतिस्वरूप स्वर्गलोकको प्राप्तकर उपभोग करनेके उपरान्त पुनः संसारमें आगमन होता है॥ ९॥

सूत्र—चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेतिकार्ष्णाजिनिः॥ १०॥

सूत्रार्थ—'चरणात्'—कर्माचरणसे विभिन्न योनियाँ प्राप्त होती हैं, कर्मावशेषसे नहीं, 'इति चेत्'—यदि ऐसा कहते हो 'न इति' ऐसा नहीं है, क्योंकि 'कार्ष्णाजिनिः' कार्ष्णाजिनि ऋषि कहते हैं—'तद् उपलक्षणार्थां'—'रमणीयचरणाः' इत्यादि श्रुतिमें उक्त 'चरण' शब्द अनुशयका उपलक्षण अर्थात् ग्राहक है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—यह नहीं कह सकते कि कर्माचरणसे ही योनि-विशेषकी प्राप्ति होती है। चरणविषयक श्रुति कर्मोपलक्षणार्थक है। आचार्य कार्ष्णाजिनिकी मान्यता है कि केवल आचारसे ही सुख-दुःखकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। सुख-दुःख पुण्य एवं पाप रूप कर्मके फल हैं॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—ननु स्वर्गात् प्रच्युतोऽनुशयाद्योनिं प्राप्नोतीति न युज्यते। रमणीयचरणा इत्यादिश्रुत्या चरणात् तदापत्त्यभिधानात्। न चानुशयचरणशब्दयोरैकार्थ्यम्। *"यथाकारी यथाचारी तथा भवति"* इति बृहदारण्यके (४/४/५) तयोर्भिन्नार्थत्वोक्तेः। कर्मशेषोऽनुशयश्चरणं त्वाचार इति चेन्नायं दोषः। यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिमन्यते। कर्मणः सर्वार्थहेतुतया शास्त्रार्थप्रसिद्धेरिति भावः॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रश्न है कि स्वर्गसे च्युत (पतित) होकर जीव कर्मके भुक्त अवशेषवश विभिन्न योनियोंको प्राप्त होता है तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि *'रमणीयचरणाः'* इत्यादि श्रुति द्वारा कर्माचरणसे योनि-प्राप्तिका कथन हुआ है और अनुशय एवं चरण शब्द एकार्थक पर्यायवाची भी नहीं है। जिस प्रकारसे *'यथाकारी यथाचारी तथा भवति'*—जो जैसा कार्य करता है, जैसा आचरण करता है, वो वैसा ही जन्म प्राप्त करता है। इस प्रकार बृहदारण्यक-श्रुतिमें चरण और अनुशयकी पृथक् अर्थमें उक्ति है; अतएव कर्मशेषका नाम अनुशय है और आचरणका नाम आचार है—तब इस प्रश्नके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि यह दोषावह नहीं है। क्योंकि श्रुतिमें जो चरण शब्द सुना जाता है, वह अनुशयका भी संग्राहक अर्थात् बोधक है—यह कार्ष्णाजिनि ऋषि कहते हैं। युक्ति यह है कि कर्म मात्र ही समस्त कार्यके हेतु रूपमें भाष्यमें प्रसिद्ध है, यही भावार्थ है॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—चरणादिति। तदापत्तीति योन्यापत्तिरित्यर्थः। यथेति। यथा कर्म करोति यथाचारं करोति तथा भवतीत्यर्थः॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार— *'चरणादिति'* सूत्रमें *'तदापत्त्यभिधान्नात्'* तदापत्ति अर्थात् योनि प्राप्त होती है—यह कहना चाहते हैं। यथाकारी इत्यादिका अर्थ है, जैसा कर्म करते हैं, जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही जन्म प्राप्त करते हैं॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—स्वर्गभोगके बाद जीव भुक्तावशिष्ट कर्मके द्वारा ही परवर्त्ती जन्म प्राप्त करता है। इस विषयमें छान्दोग्य (५/१०/७) में उल्लिखित है—जिनका उत्कृष्ट आचरण है, वे ही ब्राह्मणादि योनियाँ प्राप्त करते हैं और जिनका आचरण निन्दनीय है, वे कुक्कुरादि योनियाँ प्राप्त करते हैं।

कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि स्वर्गभोगके बाद भुक्तावशिष्ट कर्मको लेकर देहान्तरकी प्राप्त होती है—यह बात सङ्गत नहीं हो सकती, क्योंकि आचार (आचरण) के अनुसार ही देह प्राप्त होती है, भुक्तावशेष कर्मके अनुसार नहीं। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रुतिमें जो चरण शब्द सुना जाता है, वह अनुशयका भी बोधक है—यह कार्ष्णाजिनि ऋषिका अभिमत है। इसलिए कर्मके शेषको 'अनुशय' और आचरणको 'चरण' के रूपमें एकार्थक माननेमें कोई दोष हो नहीं सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनास्तु ताः।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३०/३४)

अर्थात् इस नरक-भोगके बाद कूकर-शृगाल आदि योनियोंमें जितनी प्रकारकी यातनाएँ हैं, क्रमशः उन सब यातनाओंका भोग करनेके बाद जब उस व्यक्तिके पाप क्षीण हो जाते हैं, तब पवित्र होकर वह नरलोकमें आगमन करता है अर्थात् मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है॥ १०॥

सूत्र—आनर्थक्यमितिचेन्न तदपेक्षत्वात्॥ ११॥

सूत्रार्थ—आपत्ति यह है—'चेत्'—यदि कहो, 'आनर्थक्यम्' कर्म यदि समस्त वस्तुओंकी सिद्धिका कारण है, तो आचार विफल है, आचार विफल होनेपर आचारका (सदाचारका) विधान भी व्यर्थ है, 'इति न' तो यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि 'तदपेक्षत्वात्' कर्म भी आचारकी अपेक्षा करता है॥ ११॥

सूत्रानुवाद—यदि कहें कि ऐसा माननेसे तो निष्फलत्वके कारण स्मृति-शास्त्रोंमें उक्त आचारकी व्यर्थता हो जायेगी तो यह बात नहीं है, क्योंकि सारे पुण्यकर्म सदाचार सापेक्ष होते हैं॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—ननु कर्मणः सर्वार्थहेतुत्वे वैफल्यमाचारस्य ततश्च तद्विधिर्व्यर्थ इति चेन्न। कुतः? कर्मणोऽप्याचारसापेक्षत्वात्। न हि सदाचारविहीनः कर्मण्यधिक्रियते। *"सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु"* इत्यादि स्मृतेः। तथा च साचारस्य कर्मणः फलहेतुत्वात् तया कर्मोपलक्ष्यते। इति कार्ष्णाजिनेर्मतम्॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रश्न है कि यदि कर्म ही समस्त विषय-सिद्धिका कारण है अर्थात् जो कुछ होता है, समस्त कर्मके अधीन है, तब आचारका प्रयोजन ही क्या है? आचार विफल (निष्फल) है, इसलिए आचारका विधान भी विफल है तो यह कहा नहीं जा सकता। क्यों? उत्तर है—कर्म भी (यज्ञादि भी) सदाचार-सापेक्ष हैं। देखा जाता है कि सदाचार-विहीन व्यक्ति वैदिक-कर्मका अधिकारी नहीं होता। स्मृति भी यही कहती है—*'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु'* अर्थात् जो सन्ध्या अनुष्ठानसे रहित है, वह सर्वदा ही अशुचि है और समस्त कर्मोंमें अनधिकारी है, इत्यादि। अतएव आचार-समन्वित (सदाचार-सहित अनुष्ठित) कर्म फलकी सिद्धिका हेतु है, इस कारण *'रमणीयचरणाः'* इस श्रुति द्वारा कर्मका भी उपलक्षण जानना चाहिये। यह कार्ष्णाजिनि ऋषिका मत है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—आनर्थक्यमिति। नन्वनुशयोपलक्षणार्था चरणश्रुतिरिति न सङ्गच्छते सदाचारदुराचारात्मकस्य कर्मण एव सदसद्योनिहेतुत्वसम्भवात् अनुशयाख्यस्य कर्मणः तद्धेतुत्वे चरणस्य वैयर्थ्यादिति चेन्न। इष्टादिकर्मणां चरणाख्याचारनिवर्त्त्यत्वेन चरणापेक्षत्वात् तत्र चरणस्यार्थवत्त्वादित्यर्थः। तयेति चरणश्रुत्या॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार— *'आनर्थक्यमित्यादि'* सूत्रमें प्रश्न है कि चरण-श्रुति अनुशयकी संग्राहक है—यह कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि सदाचार एवं निन्दिताचारस्वरूप कर्म ही अच्छी-बुरी योनि-प्राप्तिके हेतु हो सकते हैं तथापि अनुशय नामक कर्म को यदि सद्-असद् योनि प्राप्तिका कारण कहा जाय तो सदाचार व्यर्थ होता है—यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इष्टापूर्त्तादि आचरण नामक सदाचारसे कर्म सम्पन्न होता है, इसलिए कर्म सदाचार-सापेक्ष है। इसीलिए सदाचारका साफल्य भी है। 'तया' से अभिप्राय है *'रमणीयचरणाः'* इत्यादि श्रुतिके द्वारा॥ ११ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि यदि कहो सर्वार्थ-सिद्धिके हेतु रूपमें कर्मको स्वीकार करनेपर आचार अनर्थक हो जाता है और आचारकी विधि निष्फल—तो यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कर्म आचारके अधीन है। सदाचार-विवर्जित कोई भी व्यक्ति श्रौत-स्मार्त्त कर्मोंका अधिकारी नहीं होता। मनु-स्मृतिमें भी देखा जाता है कि सन्ध्या-विहीन व्यक्ति सर्वदा ही अशुचि है, इसलिए समस्त कर्मोंमें ही अनधिकारी है। वशिष्ठ-स्मृति (६/३) में भी कहा है—*'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'*—आचारहीनको वेद पवित्र नहीं करते हैं। इष्टादि कर्म अवश्य ही आचारकी अपेक्षावाले हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अग्न्यर्काचार्य-गो-विप्र-गुरु-वृद्ध-सुरान् शुचिः।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च द्वै यतवाग् जपन्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१७/२६)

ब्रह्मचारीको पवित्रताके साथ एकाग्रचित्त और मौनी होकर प्रातः और सायंकाल दोनों सन्ध्याओंमें जप करना चाहिये। अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और देवताओंकी पूजा भी करे।

और भी,

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्।
आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः॥

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान्।
सन्ध्ये उभे च यतवाग्जपन् ब्रह्म समाहितः॥
(श्रीमद्भा॰ ७/१२/१-२)

अर्थात् देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखे, विनीत रहे, गुरुदेवके चरणोंमें दृढ़ श्रद्धा रखे और दासके समान गुरुके हितके लिए सभी कार्योंको करते हुए गुरुकुलमें वास करे। प्रातःकाल और सायंकाल मौन रहकर एकाग्र चित्तसे गायत्रीका जप करे। गुरु, अग्नि, सूर्य एवं भगवान् पुरुषोत्तम विष्णुकी उपासना करे॥ ११॥

सूत्र—सुकृतेदुष्कृते एवेति तु बादरिः॥ १२॥

सूत्रार्थ—'तु' तु शब्दका प्रयोग पूर्वमतके निरासके लिए है, 'सुकृते दुष्कृते एव'—श्रुति निर्दिष्ट 'रमणीयचरणाः' में चरण शब्दका अर्थ सुकृत एवं दुष्कृत (पुण्य और पाप) ही है, 'बादरिः'—यह बादरि मुनिका विचार है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—आचार्य बादरिका कहना है कि 'चरण' शब्द सुकृत-दुष्कृत रूप अनुशयका ही मुख्य रूपसे वाचक है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः पूर्वमतनिरासाय। चरणशब्देन सुकृतदुष्कृते एव वाच्ये इति बादरिर्मन्यते। पुण्यं कर्माचरतीत्यादौ कर्मणि चरतेः प्रयोगात्। मुख्ये संभवति लक्षणा न युक्ता। चरणमनुष्ठानं कर्मेति अनर्थान्तरम्। आचारोऽपि कर्मविशेष एव। तथापि भेदोक्तिः कुरुपाण्डवन्यायेन। इदं स्वमतमित्येवशब्दः। तथा च चरणशब्देन कर्मविशेषोक्तेः सानुशयोऽवरोहतीति सिद्धम्॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वमतके खण्डनके लिए है। श्रुतिमें उक्त 'चरण' शब्दका अभिधेय अर्थ पुण्य (सुकृत) और पाप (दुष्कृत) कर्म दोनों ही हैं—यह आचार्य बादरि मानते हैं। इसका प्रमाण है—*'पुण्यं कर्माचरति'* इत्यादि वाक्यमें 'चर' 'आचरण' शब्द कर्म (क्रिया) अर्थमें प्रयुक्त है। मुख्य अर्थ सम्भव होनेसे यहाँ लक्षणा अयुक्त अर्थात् उचित नहीं है। चरण, अनुष्ठान और कर्म—पृथक् अर्थवाले नहीं हैं, बल्कि एक ही पर्यायभुक्त हैं। *'चरणस्त्वाचारम्'*

कथनमें पूर्वपक्षी जिस चरणको आचार कहते हैं, वह भी कर्म-विशेष ही है। फिर भी जो भेदोक्ति (विभिन्न रूपसे उक्ति) है, जैसे कर्माचरन्ति इत्यादि वाक्य तो वहाँ भी कुरुपाण्डव न्याय है। तात्पर्य यह है कि कुरुवंशीयत्वके कारण कुरु होनेपर भी पाण्डव भेदोक्ति सामान्य-विशेषभावसे सङ्गत है। इस प्रकार यहाँ भी भोक्ति है। यह सूत्रकारका निज मत ही है, जिसे सूत्रोक्त 'एव' शब्द द्वारा सूचित (अव्यक्त) किया गया है। सिद्धान्त यह है कि चरण शब्दके द्वारा कर्म-विशेषका अभिधान होनेसे इष्टादि (यागादि) कर्मकारियोंके चन्द्रलोक पहुँचनेपर जब उनका वहाँसे पतन होता है, तब वे कर्मशेषको लेकर ही अवरोहण करते हैं—यह सिद्ध हुआ॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—वस्तुतः कर्मचरणयोर्न भेद इत्याह सुकृतेति। पुण्यं कर्मेति। इष्टादिकारिणि धर्मं चरत्येष महात्मेति तयोरभेदप्रयोगादित्यर्थः। अनर्थान्तरमिति। एक एवार्थ इत्यर्थः। तथा चेति। इष्टादिकृतां चन्द्रगतानां तस्मादवरोहतायामनुशयोऽस्तीति सिद्धम्॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—वस्तुतः कर्म और चरणमें कोई प्रभेद नहीं है—यह बात सुकृत-दुष्कृत इत्यादि वाक्य द्वारा कहते हैं। *'पुण्यं कर्माचरति'* इति इष्टापूर्त करनेवाले व्यक्तिमें *'धर्मम् चरत्येष महात्मा'*—ये महात्मा धर्मका चरण (आचरण) करते हैं—इत्यादिमें चरण और, धर्मके अभेद रूपका उल्लेख है—इसलिए। *'अनर्थान्तरमिति'* अर्थात् एक ही अर्थ है। *'तथा चेति'* से तात्पर्य है इष्टापूर्त्तकारी जीवकी मृत्युके बाद चन्द्रलोकमें जानेके पश्चात् उसका वहाँसे पतन होनेपर कर्मशेष रहता है—यह सिद्ध हुआ॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार पुनः प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि बादरि मुनिके मतमें 'चरण' शब्दसे सुकृत और दुष्कृत दोनोंका ही बोध रहता है।

भाष्यकारका कहना है कि 'तु' शब्द यहाँ पूर्वमतके निराकरणके लिए है। *'पुण्यं कर्माचरेति'* कहनेसे कर्ममें ही 'चर' धातुका प्रयोग देखा जाता है। जिस स्थलपर मुख्यार्थकी सम्भावना रहती है, वहाँ लक्षणा करना युक्तियुक्त नहीं है। चरण, अनुष्ठान और कर्म अर्थान्तर

(अलग–अलग अर्थ) नहीं है। आचार भी कर्मविशेष ही है। पाण्डवगण कुरुवंशीय होनेपर भी जिस प्रकार कुरु और पाण्डव शब्दोंसे पृथक् रूपसे कहे जाते हैं, यहाँ भी इसी प्रकार कहा गया है। सूत्रकारने 'एव' शब्दका प्रयोग करके अपना निज मत ही प्रकाश किया हैं। गोबलीवर्द न्याय भी वैसा ही है—सांड जैसे गोसे भिन्न होते हुए भी गो जातिका होनेसे गो शब्दसे पुकारा जाता है, इस प्रकार 'चरण' शब्दमें कर्म–विशेषके उल्लेखके द्वारा अनुशयवश जीवका अवरोहण सिद्ध हुआ है। *'धर्मम् चरत्येष महात्मा'* यह महात्मा धर्मका चरण (आचरण) करता है—इत्यादिमें चरण और धर्मका अभेद रूपसे उल्लेख है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति॥
(श्रीमद्भा॰ ३/३२/३)

प्राकृत वस्तुओंके प्रति श्रद्धाके कारण उसकी बुद्धि अक्रान्त हो जाती है अर्थात् बिगड़ जाती है, जिससे वह पितरों और देवताओंके निमित्त उपासना व्रत धारण करता है। इसके फलस्वरूप मृत्युके बाद कभी–कभी वह चन्द्रलोक तक पहुँचकर सोमरसका पान करता है, किन्तु पुनः उस स्थानसे उसका अधःपतन हो जाता है।

और भी,

येन यावान् यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः।
स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१/४५)

इस लोकमें जो लोग जिस परिमाणमें और जिस प्रकारसे धर्म अथवा अधर्म करते हैं परलोकमें वे लोग उसी प्रकारसे और उतने ही परिमाणमें अपने कर्मोंका भोग करते हैं॥ १२॥

अवतरणिका भाष्य—इष्टादिकारिणश्चन्द्रं गत्वा सानुशयास्तस्मादवरोहन्तीत्युक्तम्। इदानीमनिष्टादिकारिणां पापिनामारोहावरोहौ परीक्ष्येते। *"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः"* (ईश॰ ३)

इति ईशावास्ये पठ्यते। अत्र पापिनश्चन्द्रलोकं गच्छन्त्युत यमलोकमिति सन्देहे पूर्वपक्षं सूत्रयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वमें वर्णन था कि जो इष्टपूर्त्त इत्यादि पुण्य कर्म करते हैं, वे चन्द्रलोकमें जाकर पुनः अवशिष्ट कर्मके साथ वहाँसे सानुशय होकर इस लोकमें अवरोहण करते हैं। अब जो इष्टादि कर्म नहीं करते, उन सभी पापियोंके (अनिष्ट कारियोंके) आरोहण और अवरोहण विषयमें मीमांसा की जाती है। ईशोपनिषदमें पठित है कि *'असुर्या नाम ते लोका'* इत्यादि। श्रीहरिकी उपासनासे विमुख जन ही असुर नामसे कहे जाते हैं, उनके गन्तव्य स्थानका नाम असुर्यालोक अर्थात् आसुरलोक है—यह अन्ध तामस अर्थात् गाढ़-अन्धकारसे आच्छन्न है। जो आत्मघाती हैं अर्थात् आत्मविद् नहीं हैं, वे सब मृत्युके पश्चात् उन लोकोंमें गमन करते हैं। इस उक्तिमें सन्देह है कि पापी व्यक्ति चन्द्रलोक जाते हैं? अथवा यमलोक जाते हैं? इस सन्देहपर पूर्वपक्ष सम्मत सूत्र कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—इष्टादिकृत एव चन्द्रं गच्छन्तीति एतदाक्षिप्य समाधेराक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। पापिनां शुभेन यथा गतिरपि नेति सिद्धान्तोक्तेर्वैराग्यदार्ढ्य-करणात् पादसङ्गतिश्च। इष्टादिकृतामन्येषाञ्च चन्द्रगत्यविशेषादिष्टाद्यनुष्ठानं व्यर्थमिति पूर्वपक्षे फलम्, अनिष्टादिकृतां चन्द्रगत्यभावात् तद्गतये सार्थकं तदिति सिद्धान्ते फलं बोध्यम्। असुर्या इति। असुराणामिमे असुर्या लोकाः स्थानानि इदमर्थं यच्छान्दसम् असुरस्य स्वम् इति सूत्रात्। श्रीहरिविमुखा ह्यसुराः। *"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्यय"* इत्याग्नेयविष्णुधर्मवचनात्। अन्धेन तमसावृता अज्ञानेन वृताः। प्रेत्य मृत्वा। आत्महनः आत्मापहवकर्त्तारो बहिर्मुखा इत्यर्थः। अत्रेति। पापिनः चन्द्रं गत्वा ततो यमं गच्छन्त्युत यममेवेत्यर्थः इति सन्देहे पूर्वपक्षं सूत्रयति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इष्टपूर्त्तादिकारी चन्द्रलोकमें जाते हैं—आक्षेपपूर्वक इसका समाधान होनेसे इसमें आक्षेप-सङ्गति ज्ञातव्य है। पापियोंकी शुभकर्मोंकी गतिके समान गति नहीं होती—इस सिद्धान्त वाक्यकी वैराग्य-दृढ़ता सम्पादकताके कारण इस पादकी सङ्गति भी जाननी चाहिये। पूर्वपक्षवादियोंके मतमें इष्टपूर्त्तादिकारी और उससे भिन्न व्यक्तियोंकी भी जब निर्विशेष चन्द्रमें गति होती है, तब

इष्टादिका अनुष्ठान करना व्यर्थ है। सिद्धान्तपक्षीके मतमें इष्टादिका अनुष्ठान न किये जानेपर उसकी चन्द्रलोकमें गति नहीं होती है। इसलिए वहाँकी गतिके लिए इष्टादि करने चाहिये—यह सिद्धान्त ज्ञातव्य है। *'असुर्या'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—*'असुराणाम् इमे लोकाः'* जो आसुरी प्रकृतिसे युक्त हैं उनकी मृत्युके बाद ये ही स्थान गन्तव्य हैं। इसलिए असुर्य पद *'असुरस्य स्वम्'* (पा॰ ४/४/१२३) इस सूत्रके अनुसार वैदिक नियमसे 'असुर' शब्दके उत्तरमें 'य' (यत्) प्रत्ययसे निष्पन्न होता है। जो श्रीहरिसे विमुख हैं, उन्हें असुर कहा जाता है। अग्निपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तर ग्रन्थमें भी कहा गया है कि *'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् आसुर एव च। विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः'* अर्थात् इस जगत्में दो प्रकारके जीवोंकी सृष्टि हुई है उनमें एक तो हैं दैव और दूसरे आसुर नामसे कहे जाते हैं। जो विष्णुभक्तिपरायण हैं, वे दैव हैं और जो नहीं हैं, वे आसुर हैं। *'अन्धेन तमसावृताः'* का अर्थ है अज्ञानसे आच्छान्न। 'प्रेत्य' का अर्थ है 'मृत्युके पश्चात्'। 'आत्महनः' का अर्थ है 'आत्माका अपलापकारी' अर्थात् आत्म-ज्ञानसे रहित बहिर्मुखी प्रवृत्तियोंसे युक्त। *'अत्र पापिनः'* इत्यादि पापी लोग चन्द्रलोक जाकर उसके बाद क्या यमलोक जाते हैं? अथवा सीधे ही यमलोक जाते हैं—यह संशय है।

अनिष्टादिकार्याधिकरणम्

सूत्र—अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्॥ १३॥

सूत्रार्थ—'च' किन्तु अनिष्टादिकारिणाम्—इष्टपूर्त्तकारियोंके समान जो इष्टादिकारी नहीं हैं, उन सब व्यक्तियोंका 'अपि' भी 'श्रुतम्'—चन्द्रलोकमें गमन सुना जाता है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—इष्टादि नहीं करनेवालोंका भी गन्तव्य स्थान चन्द्रमण्डलमें सुना जाता है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—इष्टादिकृतामिवानिष्टादिकृतामपि चन्द्रे गमनं श्रुतम्। *"ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति"* (कौ॰ब्रा॰ १/२) इति कौषीतक्युपनिषदि सर्वेषामविशेषेण गतिश्रवणात् तेऽपि तं गच्छन्तीति। एवं

सत्युक्तवाक्यं दुराचारनिवृत्तिपरतया नेयम्। ननु पुण्यवतां पापिनाञ्च समानं फलम्। मैवम्। पापिनां तत्र भोगाभावात्॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी कहते हैं कि इष्टपूर्त्तादि-सत् क्रिया करनेवालोंके समान इष्टादि-क्रियारहित व्यक्तियोंका भी चन्द्रलोकमें गमन सुना जाता है। यथा—*'ये वै के च अस्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'* अर्थात् कौषीतकी उपनिषदमें वर्णन है कि जो कोई भी जीव जब इस मर्त्त्यभूमिसे चले जाते हैं, तो वे सभी चन्द्रलोकको ही प्राप्त करते हैं। अतएव समस्त प्राणियोंकी ही अविशेष रूपसे चन्द्रलोकमें गति श्रुत होनेके कारण अनिष्टकारी भी चन्द्रलोकमें गमन करते हैं। इस प्रकारसे होनेपर *'असुर्या नाम ते लोका'* इत्यादि दोष-श्रुतिपरक वाक्यको दुराचारसे निवृत्ति-बोधकके रूपमें ग्रहण करना होगा। यदि कहो, ऐसा होनेसे पुण्यवान और पापियोंका समान फल ही होगा, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पापियोंका चन्द्रलोकमें कोई भी भोग नहीं है—यही वैशिष्ट्य है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—अनिष्टादीति। सर्वेषामिति। मृतमात्राणामिति पूर्वपक्षेऽर्थः सिद्धान्ते तु ये इष्टादिकृतस्तेषां सर्वेषामित्यर्थो बोध्यः। तेऽपि तमिति। ते पापिनः चन्द्रलोकमिति। तत्र हेतुः पापिनामिति। पापिनश्चन्द्रे गतिमात्रं कृत्वा ततोऽवरुह्य नरके निपतन्ति नतु तत्र सुखं भुञ्जत इत्यर्थः॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—अनिष्टादीत्यादि सूत्रमें *'सर्वेषामविशेषेण गति श्रवणादिति'* भाष्यके अनुसार पूर्वपक्षीके मतमें अर्थ है 'मृत व्यक्ति मात्रका' किन्तु सिद्धान्तीके मतमें है 'सर्वेषाम्' अर्थात् जो सब इष्टपूर्त्तादि सत्क्रियाएँ करते हैं, मात्र उनका ही। यह अर्थ बोद्धव्य है। *'तेऽपि तमित्यादि'* में 'तेऽपि' का अर्थ है—वे प्राणी भी, 'तम्' का अर्थ है चन्द्रलोकमें। इस विषयमें हेतु है—*'पापिनां तत्र भोगाभावात्'* अर्थात् पापी चन्द्रलोकमें गमन मात्र करते हैं, वहाँस अवरोहण करके नाममें और नरकमें पतीत होते हैं, चन्द्रलोकमें सुख-भोग नहीं करते॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इष्ट, पूर्त्त, दानादिका अनुष्ठान करनेवाले लोगोंका चन्द्रलोकमें गमन होता है और वहाँसे पुण्य-फल भोगके उपरान्त

भोगावशिष्ट कर्मके साथ उनका मर्त्त्यलोकमें प्रत्यावर्त्तन होता है—यह प्रसङ्ग पहले भी कहा गया है। अब इन समस्त पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तियोंकी कैसी गति होती है, यह सब परीक्षित हुआ है।

ईशोपनिषद (३) में देखा जाता है कि—*'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥'* अर्थात् जो परमात्म-सम्बन्धसे रहित होकर जगत्का भोग करते हैं, वे आत्महा अर्थात् आत्मघाती हैं। वे देह-त्यागके अन्तमें आसुर भावसे सम्पन्न लोकोंको प्राप्त होते हैं। (जो लोक अन्धकारसे आवृत है, उसीको प्राप्त होते हैं।)

और कौषीतकी उपनिषदमें देखा जाता है—

"ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौ॰ब्रा॰ १/२) अर्थात् जो पृथ्वीसे गमन करते हैं, वे सभी चन्द्रलोकमें जाते हैं।

इस स्थलपर एक संशय यह है कि पापी चन्द्रलोक जाकर तब यमलोक जाते हैं अथवा सीधे ही यमलोक जाते हैं। इस संशयके निराकरणके लिए सूत्रकार पूर्वपक्षीय सूत्रकी अवतारणा करते हैं कि कौषीतकी उपनिषदमें सुना जाता है कि इष्टादि कर्मोंका अनुष्ठान न करके भी सभी मृत्युके बाद चन्द्रलोक ही जाते हैं।

इस सूत्रकी व्याख्यामें भाष्यकार कहते हैं कि पूर्वोक्त वाक्य दुराचारसे निवृत्त करनेके लिए ही उल्लिखित है क्योंकि पापी और पुण्यवानोंके फलकी प्राप्ति कभी समान नहीं हो सकती और यह सङ्गत भी नहीं है। विशेष रूपसे तो पापियोंके लिए चन्द्रलोकमें किसी भी भोगकी सम्भावना नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२३/५६)

इस संसारमें जिस पुरुषके कर्मोंसे न तो धर्मका सम्पादन होता है, और न जो धर्म निष्काम होकर कृष्णेतर विषयोंमें वैराग्य उत्पन्न

कराता है और जो वैराग्य तीर्थपद श्रीहरिकी सेवामें पर्यवसित नहीं होता, वह व्यक्ति जीवित होनेपर भी मृत ही है।

और भी,

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्।
कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/१५/१६)

अर्थात् किसी भी प्रयाससे रहित, सर्वदा सन्तुष्ट और आत्माराम पुरुषको जो सुख मिलता है, वह सुख विषयादिके लोभसे प्रेरित होकर धनके पीछे इधर-उधर भागनेवाले व्यक्तिको कहाँ प्राप्त होता है?॥ १३॥

अवतरणिका भाष्य—एवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कहें कि पुण्यात्मा एवं पापात्मा दोनोंकी समान गति तो अनुचित है तो ऐसी अवस्थामें सूत्रकार सिद्धान्त करते हैं—

सूत्र—संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्॥ १४॥

सूत्रार्थ—'तु'—किन्तु पूर्वपक्षीय मत ठीक नहीं है, क्योंकि 'इतरेषाम्'—इष्टकर्मादि-रहित व्यक्तियोंका 'संयमने'—यमपुरमें गमन होता है और 'अनुभूय'—वहाँ यमदण्ड भोगनेके बाद पुनः मनुष्यलोकमें जन्म होता है, इस प्रकार उनका 'आरोहावरोहौ'—आरोहण एवं अवरोहण होता रहता है, इसका प्रमाण क्या है? 'तद्गतिदर्शनात्' क्योंकि श्रुतिमें यह गति दिखायी गयी है यथा—न सम्परायः इत्यादि॥ १४॥

सूत्रानुवाद—अनिष्ट (पापादि) अशुभकारी जनोंका यमपुरीमें दुःख भोगकर चन्द्रलोकसे आरोह-अवरोह होता है, क्योंकि श्रुतिमें चन्द्रलोककी गति कही गयी है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। इतरेषामनिष्टादिकृतां संयमने यमपुरे गमनम्। तत्र यमदण्डमनुभूय पुनरिहागमनञ्च स्यात्। एवम्भूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः। कुतः? तदिति। *"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन*

मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे॥" इति कठवल्ल्यां यमलोकतद्दण्डप्राप्तिश्रवणादित्यर्थः॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्षके निरासके अभिप्रायसे है। 'इतरेषाम्' अर्थात् इष्टादिकारियोंसे भिन्न व्यक्तियोंका 'संयमने' अर्थात् यमपुरमें गमन होता है। वहाँ यमदण्ड भोग करके पुनः इस लोकमें आते हैं। इस प्रकार उनके आरोहण तथा अवरोहण दोनों होते हैं। इसका प्रमाण क्या है? *'न सम्परायः प्रतिभाति बालम्'* इत्यादि वचन कठोपनिषद (२/६) की एक वल्लीमें कहा गया है। 'सम्पराय' अर्थात् हरिलोक विष्णुधाम—उसकी प्राप्तिके जो उपाय सत्-कर्मानुष्ठान और तत्त्वज्ञान इत्यादि सम्पराय पदार्थ हैं, वे अज्ञव्यक्तिके लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि वे बालक (मूढ़) और प्रमादी अर्थात् विषयासक्त हैं। मात्र इतना ही नहीं, वे सोचते हैं कि मनुष्यलोक ही है, इसके अतिरिक्त परलोक जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिए वे मूर्ख पुनः-पुनः मेरे (यमके) वशीभूत हो जाते हैं। इससे जाना जाता है कि इनकी यमलोकमें गति होती है और इन्हें उस यम-सदनमें यमदण्ड भी भोगना पड़ता है॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—संयमने इति। नेति। सम्परायो हरिलोकस्तदुपायः सत्कर्मज्ञानादिः साम्परायः स बालमज्ञं प्रति न भाति। मूढं छन्नदृष्टिम्। अतएव प्रमाद्यन्तं विषयासक्तम्। न केवलमेतावदेव किन्तु विपरीतदर्शी च स इत्याह—अयं मद्भवनाधारभूतो लोकोऽस्ति न तु पर इति मानी। अतस्तदनुगुणं पापमाचरन् पुनःपुनरुत्पत्तिमृत्युयोगे यमस्य मे वशमापद्यत इति नचिकेतसं प्रत्युक्तिः॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—*'संयमने'* इत्यादि सूत्रमें *'न सम्परायः'* इत्यादि—हरि-लोकको सम्पराय कहा जाता है, उसकी प्राप्तिके उपाय है 'सत्कर्म-अनुष्ठान' और उसके तत्त्वज्ञान इत्यादिको 'सम्पराय' कहा जाता है। मूर्खके निकट सम्पराय प्रकाशित नहीं होता क्योंकि वह तो अविद्याके द्वारा आच्छन्न दृष्टिवाला है और इसी कारण विषयासक्त है। केवल इतना ही उसका सारा ज्ञान ही विपरीत दिशाको जाता है। वह यह मानता है कि मनुष्यलोक जो मेरी उत्पत्तिका आश्रय है, वही है, इसके अतिरिक्त परलोक जैसा कुछ भी नहीं है। इसी विपरीत-ज्ञान

अभिमानसे वह इस लोकके अनुरूप पापका आचरण करता है और पुनः-पुनः उत्पत्ति एवं मृत्यु प्राप्ति (जन्म-मरण) दशाको प्राप्त होता है अर्थात् वह यमके नियन्त्रणमें रहता है। यमराज ने ये ही सब बातें नचिकेतासे कही थीं॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले ही कहा था कि पूर्व सूत्र पूर्वपक्षीय था। अब इस पूर्वपक्षका निराकरण करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें सिद्धान्त करते हैं कि इष्टादि कर्मका अनुष्ठान न करनेवाले व्यक्ति अर्थात् पापी संयमनी (यम-सदन) नामक यमपुरीमें जाकर वहाँसे दण्डभोगके बाद पुनः पृथ्वीपर आगमन करते हैं। इस प्रकार पापी व्यक्तियोंका आरोहण और अवरोहणका उल्लेख श्रुतिमें देखा जाता है।

कठोपनिषदमें कहा गया है—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठ॰ १/२/६)

अर्थात् प्रमादग्रस्त और वित्तमोहसे आच्छन्न अविवेकीके निकट परलोक-प्राप्तिके सम्बन्धमें प्रयोजनीय साधन अथवा आत्मतत्त्व प्रकाश नहीं पाते। ये अविवेकी व्यक्ति इस परिदृश्यमान जगत्के बिना कोई और परलोक नहीं है, इस प्रकारकी धारणासे पुनः-पुनः मेरे (यमके) वशीभूत होकर मृत्यु-यन्त्रणाका भोग करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम्॥

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनास्तु ताः।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्रावव्रजेच्छुचिः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३०/३३-३४)

अर्थात् जो मनुष्य केवल अधर्मके द्वारा अर्जित धनसे कुटुम्बके भरण-पोषणमें उत्सुक रहता है, वह व्यक्ति अन्धतामिस्र नरकमें जाता है, जो चरम कष्टोंका स्थान है। इस नरक-भोगके बाद कूकर-शूकर आदि योनियोंमें जितनी प्रकारकी यातनाएँ हैं, क्रमशः उन सब

यातनाओंका भोग करनेके बाद जब उस व्यक्तिके पाप क्षीण हो जाते हैं, तब पवित्र होकर वह मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है॥ १४॥

सूत्र—स्मरन्ति च॥ १५॥

सूत्रार्थ—'स्मरन्ति च' श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें भी मुनिगण स्मरण करते हैं कि पापियोंका यमलोकमें गमन और दण्डभोग होता है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—स्मृतियोंमें सभी पापियोंकी यमवश्यता कही गयी है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—*"तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः। पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम्॥"* (श्रीमद्भा॰ ३/३०/२३) इत्यादौ, *"सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन्"* इत्यादिषु च पापिनां यमवश्यतां मुनयः स्मरन्तीति॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मृत्युके बाद पापी व्यक्तिको यमदूत अन्धकारसे आवृत अति कष्टपूर्ण पथपर ले जाते हैं। उस पथपर वह पापी उन-उन स्थानोंपर परिश्रान्त होकर पतित और मूर्च्छित होता है, पुनः उठता है, गिरता है, इस प्रकार यमालयमें ले जाया जाता है—इत्यादि वाक्य कहे गये हैं। अन्यान्य वाक्य भी है—हे भगवन्! ये सब यमके अधीन हैं। समस्त पापी यमके वश्य है—ऐसा मुनिगण कहते है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—स्मरन्तीति। तत्र तत्रेत्यादि द्वयं श्रीभागवते॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार—*'स्मरन्ति च'* इस सूत्रमें *'तत्र तत्र पतन्'* और *'सर्वे चैते वशं यान्ति'* इत्यादि दोनों वाक्य श्रीमद्भागवतमें हैं॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—स्मृति-शास्त्रोंमें भी पापियोंके नरक-गमनकी बात देखी जाती है। प्रस्तुत सूत्रमें यही बात कही गयी है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात्।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३०/२०)

अर्थात् वे दोनों यमदूत उस गृहव्रतीको स्थूल-देहसे यातना-देहमें डालकर बलपूर्वक उसके गलेको पाशसे बाँध देते हैं। राजपुरुष जिस

प्रकार दण्डनीय व्यक्तिको पाशमें बाँधकर ले जाते हैं, यमराजके किङ्कर भी उसी प्रकार उसे लेकर यमलोकके दीर्घ-पथ (लम्बी यात्रा) पर प्रस्थान करते हैं।

इसी प्रकार,

तत्र तत्र पतन् छ्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३०/२३)

अर्थात् पथपर चलते समय थकानके कारण उस व्यक्तिके पैर इधर-उधर पड़ते हैं, वह बार-बार मूर्च्छित होता है, पुनः चेतनताको प्राप्त करके उठता है और इस प्रकार यमदूतोंके द्वारा उसे भीषण दुःखमय, पाप भरे, अन्धकारमय पथसे यमालयमें ले जाया जाता है।

और भी,

तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन्॥

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः
सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कषया च ताडित-
श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३०/२१-२२)

यमदूतोंकी तिरस्कारपूर्ण घुड़कियोंसे उस पुरुषका हृदय विदीर्ण होने लगता है और सारा शरीर काँपने लगता है। इस प्रकार यातनाओंसे अत्यन्त व्यथित होनेके कारण वह पापोंका स्मरण करते हुए चलता है। यमदूत उसे जिस पथसे लेकर जाते हैं, वह तपती बालुकासे सराबोर होता है, वहाँ कोई विश्राम-स्थल अथवा पानीय जल नहीं होता, उसे क्षुधा-तृषा पीड़ित करते रहते हैं, सूर्य एवं दावानलसे तप्त होनेके कारण वह पग रखनेमें भी नितान्त असमर्थ होता है। कुत्ते उसे नोचा करते हैं, यमदूत उसकी पीठपर कोड़ोंसे प्रहार करते हैं और उसे अति कष्टको झेलते हुए भी चलनेके लिए बाध्य होना पड़ता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय॥

(चै॰च॰म॰ २०/११८)॥ १५॥

सूत्र—अपि सप्त॥ १६॥

सूत्रार्थ—रौरवादि सात नरक भी महाभारतमें सुने जाते हैं॥ १६॥

सूत्रानुवाद—पापकर्म करनेवालोंके लिए रौरव आदि सात नरकोंका भी गन्तव्य स्थानके रूपमें वर्णन है॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—*"रौरवोऽथ महांश्चैव वह्निर्वैतरणी तथा। कुम्भीपाक इति प्रोक्तान्यनित्यनरकाणि तु॥ तामिस्रश्चान्धतामिस्रो द्वौ नित्यौ संप्रकीर्त्तितौ। इति सप्त प्रधानानि बलीयस्तूत्तरोत्तरम्"* इति भारते। पापिनां फलभोगभूमित्वेन सप्त नरकाणि स्मर्यन्ते। तानि ते यान्तीत्यर्थः। अपिशब्दात् पञ्चमान्तस्मृतानि पराणि गृह्यन्ते॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी और कुम्भीपाक—ये पाँच नरक अनित्य हैं तथा तामिस्र और अन्धतामिस्र—ये दो नित्य नरक हैं। इन सात नरकोंमें उत्तरोत्तर नरक अतीव दुःखमय हैं, इसलिए अतीव प्रबल हैं। यह बात महाभारतमें कही गयी है। इसका अर्थ है—पापियोंके पाप-फल भोगके लिए ये सात नरक-भूमियाँ स्मृत हैं। उन स्थानोंमें ये पापी जाते हैं। सूत्रोक्त 'अपि' शब्दका अर्थ है—भागवतके पञ्चम स्कन्धके अन्तमें वर्णित नरकोंको भी जानना चाहिये॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—अपीति। अपिशब्दादिति। पञ्चमस्कन्धान्तेऽष्टाविंशतिर्नरका वर्ण्यन्ते। तेषु पराणि रौरवादिसप्तकेतराणि ग्राह्याणीत्यर्थः॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—*'अपि च सप्त'* इस सूत्रमें 'अपि' शब्द इत्यादि से श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्धके अन्तिम भागमें वर्णित और भी अट्ठाईस नरक समझे जानने चाहिये। इनमें रौरव इत्यादि सात नरकोंके अतिरिक्त इक्कीस नरक और भी हैं॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार सात प्रकारके नरकोंका उल्लेख करते हैं—रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी और कुम्भीपाक—ये पाँच अनित्य नरक हैं तथा तामिस्र और अन्धतामिस्र नामके दो नित्य नरकोंका वर्णन श्रीमहाभारतमें मिलता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति। अथ तांस्ते राजन् नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामः। तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं शूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्त-शूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयःपानमिति। किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः पर्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविध-यातनाभूमयः॥ (श्रीमद्भा० ५/२६/७)

अर्थात् कोई-कोई इस स्थानपर नरकोंकी संख्या इक्कीस बतलाते हैं। हे महाराज! मैं नाम, रूप और लक्षणोंका निर्देश करते हुए इन सभी नरकोंके विषयमें वर्णन कर रहा हूँ, आप श्रवण कीजिये—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तशूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि एवं अयःपान। इनके अतिरिक्त क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख—ये सात और भी नरक हैं। कुल मिलाकर ये अट्ठाईस नरक अनेक प्रकारकी यन्त्रणाओंके स्थान हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्त्ती पाद कहते हैं—

तामिस्रादयः एकविंशतिर्नरकाः। मतान्तरेण पूर्वैर्मिलितानष्टाविंशति माह—किञ्चेति॥ अर्थात् तामिस्रादि इक्कीस नरक हैं। मतान्तरसे पहलेवाले सात मिलाकर अट्ठाईस प्रकारके नरकोंका वर्णन शास्त्रोंमें प्राप्त है॥ १६॥

अवतरणिकाभाष्य—नन्वेवमीश्वरकर्त्तृकसर्वनियमनोक्तिबाधस्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि यदि यमादि द्वारा ही प्राणियोंका दण्ड स्वीकार करते हो तो ईश्वर सबका नियमन करते हैं, इस उक्तिका विरोध होगा। इसीसे कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। एवं स्मरन्तीति सूत्रोक्ते यमादिकर्त्तृके प्राणिदण्डे स्वीकृते सतीत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ननु इत्यादि 'एवम्' अर्थात् 'स्मरन्ति' इस सूत्र द्वारा कथित यमादि द्वारा प्राणियोंके लिए दण्ड स्वीकार किया गया है।

सूत्र—तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः॥ १७॥

सूत्रार्थ—च—और, 'तत्रापि'—यम इत्यादि दण्ड-विधायकोंमें भी, तद्व्यापारात्'—ईश्वर द्वारा नियमन व्यापार रहनेके कारण 'अविरोधः'—कोई भी असङ्गति नहीं है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—यम इत्यादि द्वारा दण्ड-विधान ईश्वर-प्रेरणासे होनेके कारण ईश्वर-नियमन बाधित नहीं होता है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—चोऽवधारणे। तेषु यमादिषु दण्डकर्त्तृष्वीश्वरकर्त्तृकनियमन-रूपाद्व्यापारात्तदुक्तेरबाध इत्यर्थः। ईश्वरप्रयुक्ताः खलु यमादयः पापिनो दण्डयन्तीति पुराणेषु प्रसिद्धम्॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द अवधारणा (निश्चय) अर्थमें प्रयुक्त है। इन यम इत्यादि दण्डदाताओंमें भी ईश्वर द्वारा नियमन रूप कार्य रहनेके कारण 'स्मरन्ति' सूत्रके द्वारा निर्दिष्ट यमादि द्वारा दण्ड-विधानके कथन द्वारा परमेश्वरकी सर्वनियमन-उक्तिमें कोई बाधा नहीं है, यह अर्थ है। पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर ही यमादि-दण्डदाता पापियोंको दण्ड देते हैं॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—तत्रापीति स्फुटार्थम्॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार—'तत्रापि' इत्यादि सूत्र और भाष्य सुस्पष्ट हैं॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि यम ही यदि समस्त प्राणियोंके दण्ड-विधान कर्त्ता हैं, तो ईश्वरकी सर्वनियामकत्व शक्ति बाधित होगी। तो इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि यमादिकी दण्ड-विधान-क्षमता ईश्वरके अधीन होती है, इसलिए ईश्वरके सर्वनियामकत्वमें कोई बाधा नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषुसम्परेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दण्डं धारयति। (श्रीमद्भा० ५/२६/६)

अर्थात् इस नरक लोकमें सूर्यपुत्र शक्तिशाली यम अपने पार्षदोंके सहित रहते हैं और भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन न करते हुए मृत्युके बाद वहाँ दूतोंके द्वारा अपने अधिकारमें लाये हुए प्राणियोंको उनके कर्मानुसार दोषादोषका विचार करके दण्ड प्रदान करते हैं।

और भी,

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्म्मनिबन्धनम्।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः॥
(श्रीमद्भा० १०/४५/४५)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—यमराज! मेरे गुरुका पुत्र अपने कर्मोंके बन्धनके कारण आपके पास यमपुरी लाया गया है। मेरी आज्ञाका पालन करो और अविलम्ब गुरुपुत्रको मेरे पास ले आओ॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—ननु पापिनामपि यमदण्डानन्तरं चन्द्रारोहः स्यात्। *"ये वै के चास्मात्"* इत्यादौ सर्वशब्दादित्याक्षेपनिरासायाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है—ऐसा होनेपर भी पापियोंका यमदण्डके भोगके बाद चन्द्रलोकमें गमन हो सकता है क्योंकि पूर्वोक्त *'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति'* जो कोई इस लोकसे जाते हैं, वे सब चन्द्रलोकमें गमन करते हैं। इत्यादि कौषीतकी-श्रुति (२/६) में उक्त सर्वशब्दसे यह अवगत होता है। इस आक्षेपके निराकरणके लिए कहते हैं—

सूत्र—विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्॥ १८॥

सूत्रार्थ—इति न—नहीं, ऐसा नहीं है, पापियोंकी चन्द्रलोक-प्राप्ति युक्तियुक्त नहीं है, किस कारणसे? 'विद्याकर्मणोः' क्योंकि देवयान प्राप्तिमें ज्ञान और पितृयान प्राप्तिमें कर्म कारण है, 'प्रकृतत्वात्'—प्रकरणमें यही कहा गया है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—अनिष्टकारियोंकी चान्द्रमसी गति होती है, यह कथन उपयुक्त नहीं है, विद्या और कर्मके फलस्वरूप ही देवयान और पितृयान मार्गसे गति होती है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दादाक्षेपनिवृत्तिः। नेत्याकृष्यम्। पापिनां चन्द्राप्तिर्नैवोपपद्यते। कुतः? देवयानपितृयानयोः प्रतिपत्तौ विद्याकर्मणोरेव प्रकृतत्वात्। छान्दोग्ये *"तद् य इत्थं विदुः"* (छा॰ ५/१०/१-२) इत्यादिना विद्यया देवयानः पन्थाः प्राप्यः प्रकीर्त्त्यते। *"अथ य इमे ग्रामे"* (छा॰ ५/१०/६) इत्यादिना तु कर्मणा पितृयानः पन्थाः प्राप्य इति। एवं सति स सर्वशब्दोऽधिकृतापेक्षो भवेत्॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द आक्षेपके निराकरणके लिए जानना चाहिये। यहाँ 'न' इस पदका परसूत्र (*न तृतीये तथोपलब्धेः*) से आकर्षण है। इस प्रकारसे सम्पूर्ण अर्थ हुआ कि पापियोंका चन्द्रलोकमें गमन सम्पूर्ण रूपसे उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता। किस कारणसे? वही बताते हैं—देवयान और पितृयान गतिके विषयमें तत्त्वज्ञान (विद्या) और कर्मका यथाक्रमसे कारणके रूपमें प्रकरण है। यथा छान्दोग्योपनिषदमें—*'तद् य इत्थं विदुः'* (छा॰ ५/१०/१-२) अर्थात् जो इस प्रकारसे तत्त्वज्ञान (विद्या) सम्पन्न हैं, उनकी देवयानसे गति होती है इत्यादि वाक्य द्वारा यही कहा गया है कि विद्याबलसे देवयान-पन्था प्राप्य है। और फिर *'अथ य इमे ग्रामे'* इत्यादि (छा॰ ५/१०/३-५) अर्थात् जो गाँव-गाँवमें कुँए इत्यादि जलाशय खुदवाते हैं इत्यादि वाक्यके द्वारा कर्मियोंका प्राप्य-पथ पितृयान कहकर वर्णित हुआ है, इस प्रकारसे होनेपर पूर्व बादरि श्रुतिमें जो सर्व शब्द कहा गया है, वह इन्हीं अधिकारियोंके सम्बन्धमें प्रयुक्त है, सबके लिए नहीं—यही सङ्गत है॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—विद्येति। नेत्याकृष्यमिति। परसूत्रादिति बोध्यम्। स इति। ये वै के चेति वाक्यस्थ इत्यर्थः। अधिकृतापेक्षः ये चन्द्रलोकप्रापके कर्मण्यधि-कृतास्तत्सर्वापेक्षीत्यर्थः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार— *'विद्येति'* सूत्रके *'नेत्याकृष्यमित्यादि'* भाष्यके अर्थमें पर सूत्रमें कथित 'न' पद इस सूत्रमें आकर्षणीय है। *'स सर्वशब्दोऽधिकृतापेक्ष इति'* में 'सः' का अर्थ है 'पूर्वोक्त'। *'य वै केचन'* इत्यादि वाक्यमें

यही अर्थ स्थित है। *'अधिकृतापेक्षः'* अर्थात् जो चन्द्रलोक प्राप्त करानेवाले कर्ममें निरत हैं, वे 'सर्व' शब्दके द्वारा बोध्य हैं॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि कौषीतकी उपनिषदमें पाया जाता है कि *'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'* (कौ॰ १/२) अर्थात् जो कोई इस लोकसे गमन करते हैं, वे सब चन्द्रलोकमें उपस्थित होते हैं। इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि पापी भी यम-सदनमें दण्ड-भोगके बाद चन्द्रलोकमें जायेंगे, इस प्रकार पूर्वपक्षकी आशङ्काको निरस्त करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, पापियोंको चन्द्रलोक-प्राप्ति हो नहीं सकती, क्योंकि विद्याके द्वारा देवयान और कर्मके द्वारा पितृयान-प्राप्तिका प्रकरणमें उल्लेख है।

छान्दोग्योपनिषदमें है—

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभि-संभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुद ङ्ङेति मासांस्तान्॥ १॥ मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति॥ २॥ (छा॰ ५/१०/१-२)

अर्थात् जो पञ्चाग्नि विद्याको जानते हैं और जो वनमें श्रद्धा और तपकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरादि (देवयान) मार्गको प्राप्त होते हैं। यहाँ वे अर्चि (किरण) के अभिमानी देवताओंसे दिवसाभिमानी देवताओंको, दिवसाभिमानियोंसे शुक्लपक्षाभिमानी देवताओंको, शुक्ल-पक्षाभिमानियोंसे जिन छह महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर जाता है, उन छह महीनोंको। उन छह महीनोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको, और चन्द्रमासे विद्युतको प्राप्त होते हैं। इस प्रकारके मार्गमें जानेवाले ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानीगण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

इसके बाद,

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभि-प्राप्नुवन्ति॥ ३॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाश-माकाशाच्चन्द्रसमेष

सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥४॥ तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैत-मेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते॥५॥ (छा० ५/१०/३-५)

अर्थात् जो ग्राममें गृहस्थाश्रममें इष्टापूर्त्त दानादि साधनोंकी उपासना करते हैं, वे पितृयानके अधिकारी धूमको सर्वप्रथम मार्गके रूपमें प्राप्त करते हैं। धूमसे रात्रिको, रात्रिसे कृष्णपक्षको तथा कृष्णपक्षसे जिन छह महीनोंमें सूर्य दक्षिणमार्गसे जाता है, उन्हें प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सरको प्राप्त नहीं होते। दक्षिणयानके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है। वह देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं। कर्मोंके क्षय होनेतक वहाँ रहकर वे फिर उसी मार्गसे (जिस मार्गसे गये थे) संसारमें पुनरावर्त्तन करते हैं।

इसी छान्दोग्यमें और भी कहा गया है—

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत। (छा० ५/१०/८)

अर्थात् जो देवयान अथवा पितृयान—इन दोनों पथोंमेंसे किसी भी पथपर गमन नहीं करते, वे नित्य ही आवर्त्तनशील क्षुद्र प्राणियोंके रूपमें जन्म-ग्रहण करते हैं। यही तृतीय पथ है। यही कारण है कि चन्द्रलोक कभी भी भरता नहीं है। इसलिए संसारगति बड़ी निन्दनीय है।

इस सूत्रमें श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार यह है कि जीव विद्या और कर्मके विभिन्न फलोंके निमित्त देवयान और पितृयान पथपर गमन करते हैं। देवयान पथके साथ विद्याका उल्लेख और पितृयान शब्दके साथ कर्मका उल्लेख देखा जाता है। पुण्यानुष्ठानकारी व्यक्तियोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि वे सभी चन्द्रलोक जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम्॥

(श्रीमद्भा० ३/३०/३०)

अर्थात् इस प्रकारसे अनेक कष्ट भोगता हुआ कुटुम्बके पोषणमें रत रहनेवाले अथवा अपने उदर भरणमें ही व्यस्त रहनेवाले व्यक्तिको, मृत्युके बाद यहींपर कुटुम्ब और अपनी देह—दोनोंका ही परित्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे उन समस्त कर्मफलोंको भोगना ही पड़ता है।

और भी,

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनास्तु ताः।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः॥

(श्रीमद्भा० ३/३०/३४)

अर्थात् इस नरक-भोगके बाद कूकर-शूकर आदि योनियोंमें जितनी प्रकारकी यातनाएँ हैं, क्रमशः उन सब यातनाओंका भोग करनेके बाद जब उस व्यक्तिके पाप क्षीण हो जाते हैं, तब पवित्र होकर वह मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है।

इस सन्दर्भमें श्रीगीताके निम्न श्लोक भी आलोच्य हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः॥

(श्रीगी० ८/२४-२६)

अर्थात् ब्रह्मविद् पुरुष अग्नि, ज्योति, शुभदिन और उत्तरायणकालमें देहत्यागकर ब्रह्म लाभ करते हैं। 'अग्नि' और 'ज्योति'—इन दोनों शब्दोंसे अर्चि (प्रकाश) के अभिमानी देवता, 'अहः' शब्दसे दिनके अभिमानी देवता, 'शुक्ल' शब्दसे पक्षके अभिमानी देवता तथा 'उत्तरायण' शब्दसे उत्तरायणके अभिमानी देवताको समझना चाहिये अर्थात् तत्त्ववस्तु और कालप्राप्त मन आदि इन्द्रियोंकी प्रसन्नता ही योगीके ब्रह्म प्राप्तिका कारण होती है। इस प्रकारके समयमें मृत्यु प्राप्त होनेपर योगियोंका पुनरागमन नहीं होता है। धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष,

दक्षिणायनरूपी छह मास और चन्द्रज्योति अर्थात् उस-उस अभिमानी देवता या इन्द्रियक्रिया द्वारा कर्मयोगीगण पुनरावृत्ति मार्गको प्राप्त होते हैं। जगत्के 'शुक्ल' तथा 'कृष्ण' ये ही दो सनातन मार्ग हैं। शुक्लमार्गकी गतिसे जीवका मोक्ष तथा कृष्णमार्गकी गतिसे पुनरावर्त्तन होता है॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—ननु चन्द्रगत्यभावे पापिनामिह देहोपलम्भो न स्यात्। तद्धेतोः पञ्चमाहुतेरसम्भवात्। तस्याश्चन्द्रप्राप्तिपूर्वकत्वात्। अतो देहोपलम्भाय सर्वेषां चन्द्रगतिरावश्यकीति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि यदि पापियोंकी चन्द्रलोकमें गति नहीं है तो उनकी मनुष्य जगत्में देह-प्राप्ति भी नहीं होगी क्योंकि देह-ग्रहणका जो हेतु पूर्वमें कहा गया था, वह पञ्चमी आहुति उनके लिए असम्भव है। पञ्चमी आहुति चन्द्र-प्राप्तिके पहले होती है। अतएव देह-प्राप्तिके लिए मृत सभी जीवोंकी चन्द्रगति अवश्यम्भावी है। इस आशङ्कापर कहते हैं—

सूत्र—न तृतीये तथोपलब्धेः॥ १९॥

सूत्रार्थ—'तृतीये'—तृतीय स्थानपर देह-प्राप्तिके लिए 'न' पञ्चमी आहुतिकी अपेक्षा नहीं है, कारण क्या है? 'तथोपलब्धेः' श्रुतिमें इस प्रकारसे प्रतीत होता है॥ १९॥

सूत्रानुवाद—तृतीय स्थानमें शरीर आरम्भके लिए पाँचवीं आहुतिकी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि ऐसी ही उपलब्धि है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—तृतीये स्थाने देहलाभाय तत्पूर्वकपञ्चमाहुत्यपेक्षा नास्ति। कुतः? तथेति—श्रुतौ तथा प्रत्ययात्। अयमर्थः। तत्रैव *"यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यत"* (छा॰ ५/३/३) इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरे श्रूयते। *"अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावृत्तीनि भूतानि जीवन्ति जायस्व म्रियस्व इत्येतत् तृतीयं स्थानम्। तेनासौ लोको न सम्पूर्यते"* (छा॰ ५/१०/८) इति। यानि भूतान्युक्तयोः देवयानपितृयानयोः पथोर्मध्ये कतरेण च न केनापि पथा न गच्छन्ति तानीमानि क्षुद्राणि दंशमशककीटादीन्यसकृदावृत्तीनि जायस्व म्रियस्वेति भवन्ति। पुनःपुनर्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः। एतत्तृतीयं स्थानमिति। दंशादिदेहाः पापकर्माणः कथ्यन्ते। स्थानत्वं स्थानसम्बन्धात्। तृतीयत्वन्तु पूर्वनिर्दिष्टब्रह्मलोक-द्युलोकापेक्ष्या। ततश्च ये विद्यया देवयाने पथि नाधिकृता नापि कर्मणा पितृयाने

तेषामेव क्षुद्रजन्तूनां दंशमशकाद्यसकृदावृत्तीनां तृतीयः पन्थास्तेनासौ लोको न सम्पूर्यत (छा० ५/१०/८) इति तेषां द्युलोकारोहावरोहाभावेन तल्लोकासंपूर्त्त्युक्तेस्तृतीये स्थाने देहारम्भाय पञ्चमाहुतिर्नापेक्ष्येति॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—तृतीय स्थानपर देह-प्राप्तिके लिए चन्द्रलोकमें जाते हुए पञ्चमी आहुतिकी अपेक्षा नहीं है। किस कारणसे? वही कहते हैं—*'तथोपलब्धेः'* क्योंकि श्रुतिसे इसी प्रकार ज्ञात होता है। बात यह है कि श्वेतकेतुके प्रति राजा प्रवाहणके प्रश्न थे, यथा—वह तुम क्या जानते हो? इस प्रश्नके उत्तरमें असमर्थ श्वेतकेतुके पिता गौतमसे राजा प्रवाहणने कहा—देवयान और पितृयान इन दोनों पथोंमेंसे किसी भी पथपर ये क्षुद्र प्राणी बार-बार गमन नहीं करते हैं—वे केवल जन्मते हैं, मरते हैं, जीवित रहते हैं। यही उनका तृतीय स्थान है। इसी कारणसे चन्द्रलोक पूर्ण नहीं होता। जो प्राणी उक्त देवयान और पितृयान—इन दोनोंमेंसे किसी भी पथपर गमन नहीं करते हैं—वे ये ही क्षुद्र प्राणी हैं जैसे—डाँस, मच्छर, कीट इत्यादि। ये आवर्त्तनकारी हैं अतः—बार-बार आते हैं अर्थात् जन्मते हैं और मृत्यु प्राप्त करते हैं। यही तृतीय स्थान है। दंश, मशकादिकी देह पापकर्मोंका परिणाम कही जाती है। इस गतिको तृतीय स्थान कहनेका कारण है—इस प्रकारकी स्थिति होनेके कारण उसका नाम, स्थान एवं पूर्वोक्त ब्रह्मलोक और स्वर्गलोक है, इस अपेक्षासे ये तृतीय स्थान रूपमें कहे जाते हैं। अतः सिद्धान्त यह है कि जो समस्त प्राणी ब्रह्मज्ञान द्वारा देवयान पथपर जानेके अधिकारी नहीं हैं और कर्म द्वारा पितृयान पथपर भी जानेके अधिकारी नहीं हैं, उन ही दंश, मशकादि क्षुद्र जन्तु-देहधारियोंका अर्थात् बार-बार आगमनकारियोंका यह तृतीय पन्था हैं, ये जीव-जन्तु परलोक-गमन नहीं कर सकते, इसलिए चन्द्रलोक परलोकगत जीवों द्वारा कभी भी भरता नहीं है। न तो इनका स्वर्गलोकमें आरोहण होता है और न ही वहाँसे अवरोहण। चन्द्रलोककी असम्पूर्त्तिकेकारण तृतीय स्थानपर स्थित प्राणियोंकी देह-धारणके लिए (देहारम्भके लिए) पञ्चमी आहुतिकी अपेक्षा नहीं है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—नेति। यथासाविति। श्वेतकेतुं प्रति प्रवाहणस्य प्रश्नः। बहुभिर्मृतैर्जनैश्चन्द्रलोकः कथं न सम्पूर्यते तत् त्वं वेत्थेति तस्यार्थः। अथैतयोरिति तत्पितरं गौतमं प्रति प्रवाहणस्योत्तरम्। अस्यार्थः। एतयोः विद्याकर्मणोः पथोर्मार्गसाधनयोः कतरेण चनान्यतरेण विद्यया कर्मणा वा येऽन्यतरस्मिन् पथि नाधिकृतास्तेषां पापिनां क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावृत्तिजन्ममरणबाहुल्ययुक्तस्तृतीयः पन्था इति न तेषां चन्द्रप्राप्तिरित्यर्थः। जायस्वेति म्रियस्वेतिभवन्ति पुनःपुनर्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः। समुच्चयेऽन्यतरस्यामिति सूत्रात् लोट्। तत्र हि सामान्यार्थस्य धातोरनु प्रयोगः। संसरन्तीति तस्यार्थः। भाष्ये पुनःपुनरित्युक्तिस्तु प्रतिदेहापेक्षयेति बोध्यम्। तृतीयं स्थानमिति। मार्गद्वयोपक्रमात् तृतीयमार्ग इत्येके। किञ्च इति तु पञ्चम्यामाहुताविति वाक्यं तस्यां सत्यामपां पुरुषाकारतां प्रतिपादयति न पञ्चम्यामाहुतौ तां प्रतिषेधति वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तथा चन्द्रं गतानामेवाहुतिसंख्यानियमोऽन्येषां तु विनैव तमद्भिरेव देहारम्भ इति न नियमस्यादरः॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार—*'न तृतीये'* इत्यादि सूत्रका *'यथाऽसौ'* इत्यादि भाष्य है। श्वेतकेतुसे राजा प्रवाहणने प्रश्न किया, जरा बतलाओ तो! चन्द्रलोकगत मृतप्राणियोंसे चन्द्रलोक भरता क्यों नहीं है? तुम क्या जानते हो? *'यथाऽसौ'* इत्यादि वाक्यका यही अर्थ है। *'अथैतयोरित्यादि'*—बादमें श्वेतकेतुके पिता गौतमके प्रति प्रवाहणका उत्तर है। जिसका अर्थ है—देवयान और पितृयानके साधनीभूत उपाय क्रमशः तत्त्वज्ञान (ब्रह्मज्ञान) और कर्म हैं। जिनमें कोई भी अर्थात् न तो विद्या है और न कर्म है, वे इन दोनोंमेंसे एक भी पथके अधिकारी नहीं हैं, ऐसे समस्त प्राणियोंके लिए तो बार-बार जन्म और मृत्युयुक्त क्षुद्र जन्तुस्वरूप तृतीय पथ है—इसीलिए चन्द्रलोक पूर्ण नहीं होता है। *'जायन्ते म्रियन्ते'* के परिवर्त्तमें (बदलेमें) *'जायस्व म्रियस्व'* प्रयोग होनेका कारण पाणिनीय सूत्र *'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्'* (३/४/३) है। तदनुसार क्रिया समभिहार अर्थात् पुनः-पुनः एवं अतिशय आवृत्ति जाननेपर धातुमात्रके विकल्पमें समस्त पुरुषमें समस्त कालमें समस्त वचनमें लोट्के मध्यम पुरुषका एकवचन होता है। जैसे माघ कविका प्रयोग है—*'पुरीमवस्कन्द लुनीहिनन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गणाः'* इत्यादि। इस लोट् प्रयोगमें सामान्य अर्थवाची धातुका (जैसे यहाँ भू धातुका) अनुप्रयोग है। इसीलिए भवन्ति इसका अर्थ है—संसरन्ति

(आना-जाना करते हैं) भाष्यमें 'पुनः-पुनः' इस उक्तिका हेतु है—प्रत्येक देहको उद्देश्य करके। यह जानें। *'तृतीयं स्थानमिति'* दो कोई कहते हैं—पथके व्यतिरिक्त तृतीय पथ। किञ्चेत्यादि वाक्यमें कहे गये *'पञ्चम्याहुतौ'*—वाक्यका तात्पर्य है—पञ्चमी आहुति होनेपर जल पुरुषाकार प्राप्त करा देता है। परन्तु (पञ्चमी आहुतिमें जल पुरुष शब्दका वाच्य होता है) पञ्चमी आहुति न होनेपर अर्थात् अपञ्चम आहुतिमें पुरुषाकारताका प्रतिषेध (निषेध) नहीं करता है, ऐसा होनेपर अनेकार्थ वाक्यभेद (विधानप्रयुक्त विधि-निषेध एवं प्रसक्त) हो जाता है। उसी प्रकार चन्द्रलोकमें जो लोग जाते हैं, उन्हींके लिए आहुति संख्याकी व्यवस्था है, दूसरोंके लिए चन्द्रलोकमें गमनके बिना ही जल द्वारा (भूतान्त मिश्रित जलके द्वारा) देहकी उत्पत्ति है, अतएव उनके लिए उक्त नियमकी (आहुति संख्या) कोई अपेक्षा नहीं है॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि आशङ्का करे कि पापियोंकी भी चन्द्रलोकमें गति आवश्यक है, क्योंकि वहाँ जानेसे ही पञ्चमी आहुति प्राप्त होनेपर सभी देह धारण करते हैं। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि तृतीय स्थानमें देहप्राप्तिके लिए चन्द्रलोक जाकर और वहाँसे आनेके लिए पञ्चमी आहुतिकी आवश्यकता नहीं है। श्रुतिमें इसी प्रकारकी उपलब्धि है अर्थात् श्रुतिसे यही जाना जाता है।

छान्दोग्यमें वर्णन है कि *'अथैतयोः पथोर्न कतरेण'* (छा॰ ५/१०/८) अर्थात् जो इन दोनोंमेंसे किसी भी पथपर गमन नहीं करते—वे नित्य आवर्त्तनशील क्षुद्र प्राणी रूपमें जन्म-ग्रहण करते हैं। प्रवाहण राजाने प्रश्न किया था—'बहुत-से मरे हुए व्यक्तियोंके द्वारा चन्द्रलोक जानेसे भी चन्द्रलोक पूर्ण क्यों नहीं होता?' इसके उत्तरमें यही कहा गया कि देवयान और पितृयान—इन दोनों पथोंमेंसे किसी भी पथपर दंश-मशकादि देहधारी क्षुद्र प्राणियोंकी गति नहीं होती। वे पुनः-पुनः यहीं रुककर जन्मते और मरते हैं अर्थात् जन्म-मरण परम्परामें पड़े रहते हैं। इसी स्थानको तृतीय स्थान कहा गया है। दंश, मशकादिका जन्म पापोंका परिणाम है। पापोंका फल इस तृतीय स्थानपर घटित होता है। इसलिए देहान्तरके लिए समस्त मृत प्राणियोंका चन्द्रलोकमें

गमन और वहाँ जाकर यहाँ आनेके लिए पञ्चमी आहुतिकी अपेक्षा नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

क्वचित् पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२९/२९)

अर्थात् इस प्रकार अज्ञानसे आवृतबुद्धियुक्त जीव अपने-अपने कर्मों एवं गुणोंके अनुसार कभी पुरुष, कभी स्त्री, कभी नपुंसक, कभी देवता, कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी पक्षी आदि होकर जन्म-ग्रहण करते हैं।

और भी,

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम्।
चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा॥

तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन्।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२९/३०-३१)

अर्थात् भूखसे व्याकुल बेचारा कुत्ता जिस प्रकार दर-दरमें भटकता हुआ अपने प्रारब्धके अनुसार कभी डण्डे खाता है, और कभी एक मुठ्ठी भात खाता है, उसी प्रकार चित्तमें विभिन्न कामनाओंको लेकर वह जीव भी उच्च एवं नीच विविध मार्गोंमें भटकता हुआ प्रारब्धवश देवादि ऊर्ध्वलोक, नरकादि अधोलोक और मनुष्यादि मध्यलोकोंमें सुख-दुःख भोगता रहता है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर रचित जैवधर्ममें पाया जाता है—

कभु राजा, कभु प्रजा, कभु विप्र, शूद्र।
कभु दुःखी, कभु सुखी, कभु कीट, क्षुद्र॥

कभु स्वर्गे, कभु मर्त्त्ये, नरके वा कभु।
कभु देव, कभु दैत्य, कभु दास, प्रभु॥

अर्थात् भगवान्‌का स्वरूप भूलनेसे जीव मायिक संसारमें इधर-उधर भटकता है। वह कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शूद्र, कभी

सुखी, कभी दुःखी और कभी स्वर्गलोकमें जाता है तो कभी मर्त्यलोकमें। कभी देवता, कभी दैत्य, कभी सेवक और कभी स्वामी बनता है॥ १९॥

सूत्र—स्मर्यतेऽपि च लोके॥ २०॥

सूत्रार्थ—स्मर्यते—स्मृतियोंमें ऐसा वर्णन है, 'च लोके अपि' और लौकिक दृष्टान्त भी देखे जाते हैं॥ २०॥

सूत्रानुवाद—स्मृतियोंमें भी पुण्य करनेवालोंमेंसे किसी-किसीका देहारम्भ पाँच आहुतियोंके बिना बतलाया गया है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—लोके पुण्यकर्मणामपि द्रोणधृष्टद्युम्नादीनामाहुतिसंख्यानपेक्षो देहारम्भः स्मर्यते। अपि चेति किञ्चिदन्यद्युच्यत इत्यर्थः॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—लौकिक वृत्तान्तमें भी देखा जाता है कि पुण्यकर्मकारी द्रोण, धृष्टद्युम्न इत्यादिकी पञ्चमी आहुति क्रमपूर्वक जलसे अन्नोत्पत्ति, फिर उससे स्त्री-पुरुष साध्य देहान्तर यह सब न होकर यज्ञ-वेदीसे ही देहोत्पत्ति हुई है, इनके जन्ममें किसी आहुतिकी अपेक्षा नहीं रही। सूत्रोक्त *'अपि च'* इन दोनों पदोंका अर्थ है कि और भी कुछ कहा गया है॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—स्मर्यते इति। लोके इति। आहुतिसंख्यानपेक्ष इत्यर्थः। द्रोणादीनामेका योषिदाहुतिर्नास्ति। धृष्टद्युम्नादीनां पुरुषाहुतिश्चेति बोध्यम्॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार— *'स्मर्यते'* इस सूत्रका *'लोके'* इत्यादि भाष्य है—पञ्चमसंख्यक आहुतिका पूर्ण न होनेपर भी देहोत्पत्ति होती है—यथा द्रोणादिकी योषित्-अग्नि (योषित्-आहुति) के बिना ही पुरुषकी शुक्राहुति है, धृष्टद्युम्न इत्यादिकी भी पुरुषाहुतिके बिना केवल स्त्री-शोणितसे उत्पत्ति है॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पाँच आहुतियोंके बाद मनुष्य-देहकी प्राप्तिकी बात सुनी जाती है, किन्तु पाँच आहुति न होनेसे मनुष्य देहकी प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसी कोई श्रुति नहीं है *'पञ्चम्यामाहुतावापः'* (छा॰ ५/३/३) इत्यादि श्रुति जो केवल पञ्चाग्नि सम्बन्धी जलको

ही पुरुषके स्वरूपका समुत्पादक सिद्ध करती है, पर अन्य कारणोंका प्रतिषेध भी नहीं करती। प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि स्मृतिमें ही इस प्रकारसे लौकिक दृष्टान्त देखे जाते हैं।

इस (महाभारतादि) में, पुण्यकर्मा द्रोणाचार्य भरद्वाज ऋषिके वीर्यसे द्रोणमें उत्पन्न हुए थे, अग्नि (यज्ञ–वेदी) से उत्पन्न होनेवाले धृष्टद्युम्नादिको देहान्तरके निमित्त पाँच आहुतियोंकी अपेक्षा नहीं थी। जिस प्रकार द्रोणके जन्मके पूर्व स्त्रीरूप अग्निमें शुक्र–आहुति नहीं थी। इसी प्रकार सीता, द्रौपदी, धृष्टद्युम्न इत्यादिके जन्मके पूर्व स्त्री एवं पुरुष रूप दोनों ही अग्नियोंकी आहुतिकी अपेक्षा नहीं रही। जैसे इन द्रोणाचार्यादिमें आहुतिकी संख्याका आदर नहीं है, इसी प्रकार अन्य क्षेत्रोंमें भी इन पाँच आहुतियोंका कोई प्रयोजन नहीं रहता। बलाका (बगुली) भी रेतः सेक (वीर्यसेचन) बिना ही गर्भ धारण करती है—लोकमें ऐसी रुढ़ि (प्रसिद्धि) है।

इसके विपरीत पापियोंकी भी चन्द्रगति नहीं होती, उक्त उभयविध साधनहीन क्षुद्र प्राणी तृतीय स्थानके भागीदार होते हैं। उन्हें जन्म–मरण परम्परामें ही रहना पड़ता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

द्रुपदाद् द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः।
धृष्टद्युम्नाद् धृष्टकेतुर्भार्म्याः पाञ्चालका इमे॥

(श्रीमद्भा॰ ९/२२/३)

अर्थात् द्रुपदसे द्रौपदीका जन्म हुआ था। इनके धृष्टद्युम्न आदि कई और पुत्र भी थे। धृष्टद्युम्नसे धृष्टकेतुने जन्म–ग्रहण किया। भर्म्याश्वके वंशमें उत्पन्न हुए ये सभी राजा 'पाञ्चाल' कहलाये।

कौशिकः कुशात् जाम्बुको जम्बुकात्। वाल्मीको वल्मीकात्। अगस्त्यः कलसे जात इति श्रुतत्वात्। (वज्रसूचिकोपनिषद)

अर्थात् कौशिक कुशसे, जाम्बु जम्बुसे, वाल्मीक वल्मीकसे और अगस्त्य कलशसे उत्पन्न हुए।

श्रीमद्भागवत (३/१२/२७) में और भी,

छायायाः कर्दमो जज्ञे॥

अर्थात् ब्रह्माजीकी कान्तिसे (छायासे) कर्दम ऋषिने जन्म-ग्रहण किया॥ २०॥

सूत्र—दर्शनाच्च॥ २१॥

सूत्रार्थ—'दर्शनात् च'—मात्र इतना ही नहीं, इन समस्त प्राणियोंके अर्थात् अण्डज, जीवज और उद्भिज्जमें—ये तीन प्रकारके बीज भी देखे जाते हैं॥ २१॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिमें भी किसी-किसीका पञ्च आहुतिके बिना देहारम्भ दिखाया गया है। इन भूतोंमें तीन प्रकारके बीज होते हैं॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—*"तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति। अण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्"* (छा॰ ६/३/१) इति। तत्रैव विनैवाहुतिसंख्यामुद्भिज्जस्वेदज-योर्भूतयोर्जन्मश्रवणाच्च तदनपेक्षोऽपि सः। तथा च येषां चन्द्रारोहावरोहौ सम्भवतस्तेषामेव तस्यां सत्यां तदारम्भोऽन्येषां तु विनैव तामद्भिरेव स स्यात् प्रतिषेधकाभावादिति॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—छान्दोग्योपनिषद (६/३/१) में कहा है—इन समस्त प्राणियोंके तीन प्रकारके बीज देखनेमें आते हैं, यथा—अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज। इनमेंसे उद्भिज्ज और स्वेदज प्राणियोंका आहुति-संख्याके विना जन्म सुना जाता है, अतएव आहुति संख्याकी अपेक्षा किये बिना भी देहान्तर सुना जाता है। और एक बात है, जिनका चन्द्रलोकपर आरोहण है, उनका वहाँसे अवरोहण भी सम्भव है। उन्हींके लिए पञ्चमी आहुति होनेसे देहोत्पत्ति सम्भव है, किन्तु अन्य प्राणियोंके लिए पञ्चमी आहुतिके बिना ही देहारम्भ होगा। इस विषयमें प्रतिषेधक कोई भी श्रुति-प्रमाण नहीं है॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—दर्शनादिति। तेषामिति। जीवजं जरायुजं ज्ञेयम्। जरायुजं मनुष्यादि। अण्डजं पक्षिसर्पादि। स्वेदजं यूकादि। उद्भिज्जं वृक्षादि। अन्त्ययोः स्त्रीपुरुषसंयोगं विनैव उत्पत्तिदर्शनात् नादरणीयस्तन्नियमः। विनैवेति। तत्संख्यादर-नैरपेक्ष्येणेत्यर्थः। तदिति। आहुतिसंख्यानियमनिरपेक्षः सः देहारम्भ इत्यर्थः। तथा च येषामिति। पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचस इति नृदेहहेतुतयाहुतिसंख्या निगद्यते न तु दंशादिदेहहेतुतया पुरुषशब्दस्य नृजातिवाचित्वादिति बोध्यम्। किन्तु पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वं कीर्त्यते। न पञ्चम्यामाहुतौ तासां सत्त्वं निषिध्यते। वाक्यस्य द्व्यर्थतापत्तेरित्यर्थः। तस्मादुक्तमेव सुष्ठु॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार— *'दर्शनाच्च'* सूत्रमें *'तेषां खल्वेषाम्'* इत्यादि भाष्य है। जीवज बीजसे जरायुजको जानना चाहिये। मनुष्य इत्यादि देह जरायुज है। 'पक्षी, सर्प इत्यादि अण्डज हैं' जूँ, लीख इत्यादि स्वेदज हैं। वृक्ष, लता इत्यादि उद्भिज्ज हैं। इनमें स्वेदज और उद्भिज्ज इन दोनों प्राणियोंकी स्त्री-पुरुषके संयोगके बिना ही उत्पत्ति होती है—यह देखा जाता है। अतः आहुतिका नियम आदरणीय नहीं है। *'विनैवाहुतिसंख्यामिति'* का अर्थ है, उस आहुति संख्याकी अवश्य ही ग्रहणीयता न मानकर ही। *'तदनपेक्षोऽपि सः'*—का अर्थ है आहुति संख्यासे निरपेक्ष ही देहारम्भ है। *'तथा च येषां चन्द्रारोहावरोहौ'* इति का तात्पर्य है पञ्चमी आहुति (योषित्-अग्निमें पुरुष-शुक्राहुति) सम्पन्न होनेपर जल (शुक्रशोणित) पुरुषवचस अर्थात् पुरुष नामका होता है। इससे यह प्रतिपन्न हुआ कि वहाँ आहुतिकी संख्या केवल मनुष्य-देहारम्भके लिए ही है। अतएव वहाँ आहुतिकी संख्या निर्दिष्ट है, परन्तु दंश, मशकादि देहके कारण रूपमें नहीं हैं इसीलिए *'पुरुषवचस'* इस पदसे पुरुष शब्द मनुष्य जातिका वाचक जानना चाहिये। और एक बात है, पञ्चमी आहुतिमें जलका पुरुषवाचित्व कहा गया है। इससे भिन्न पञ्चमी आहुतिमें जलकी सत्ताका निषेध नहीं हो रहा है। यदि निषेध करते हैं तो वाक्यकी द्वयर्थता (अनेकार्थकता) अर्थात् वाक्य भेद होता है। अतएव जो कहा गया है, वही समीचीन है॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियोंका स्त्री-पुरुषके संयोगके बिना जन्म देखा जाता है।

मूल बात यह है कि जिनका चन्द्रलोकमें आरोहण और अवरोहण है, उन्हींके लिए पञ्चम आहुति (योषित्-अग्निमें पुरुष-शुक्रकी आहुति) का प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त अन्यकी पञ्चम आहुतिके बिना ही शुद्ध जलके योगसे देह-प्राप्ति होती है। पुरुष शब्द मनुष्यजातिका वाचकत्व होनेसे पञ्चमी आहुतिमें जल पुरुष शब्दका वाच्य है। मनुष्य शरीरके हेतु रूपसे ही आहुतिकी संख्या निर्दिष्ट है, दंश, मशक, कीट-पतङ्गके शरीरके हेतु रूपसे नहीं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

प्रजापतीन् मनून् देवानृषीन् पितृगणान् पृथक्।
सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान्॥
किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषोरगान्।
मातृरक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान्॥
कूष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि।
मृगान् खगान् पशून् वृक्षान् गिरीन् नृप सरीसृपान्।
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/३७-३९)

अर्थात् हे नराधिप परीक्षित्! उन्होंने (भगवान्ने) प्रजापति, मनु, देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, गुह्यक (यक्ष), किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किम्पुरुष, नर, मातृका, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्माण्ड, उन्माद, बेताल, यातुधान, ग्रह, मृग, पक्षी, पशु, वृक्ष, सर्पोंकी सृष्टि की और अन्यान्य स्थावर एवं जङ्गम रूपमें दो प्रकारके तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज रूपमें चार प्रकारके प्राणी तथा जलचर, भूचर एवं खेचरोंकी पृथक्-पृथक् रूपोंसे ब्रह्माका रूप धारण करके सृष्टि की।

श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरपाद कहते हैं—*द्विविधा स्थावर-जङ्गमरूपेण, चतुर्विधा जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपेण। त्रिविधाश्च जलस्थल-नभौकोरूपेण, येऽन्ये तानपि धत्ते इति॥*

अर्थात् स्थावर एवं जङ्गम रूपसे दो प्रकारके प्राणी हैं। चार प्रकारके प्राणी जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जसे उत्पन्न कहे जाते हैं। *'जलस्थलनभौकसः'* से तात्पर्य है जल, स्थल और आकाशमें जो सब प्राणी वास करते हैं। येऽन्यो—और दूसरे जो हैं, उनकी भी भगवान् ब्रह्माका रूप धारण करके सृष्टि करते हैं।

इस प्रकार पञ्चमी आहुतिकी अपेक्षा नहीं है॥ २१॥

अवतरणिका भाष्य—ननु स्वेदजो न श्रूयते त्रीण्येऽवेति वचनादिति चेत्तत्र समादधाति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि *'त्रीण्येव बीजानि भवन्ति'*—इस श्रुतिमें अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज—ये तीन प्रकारके बीज ही सुने जाते हैं, वहाँ स्वेदज बीजका तो उल्लेख नहीं है। यह यदि कहते हो तो इसका समाधान करते हैं—

सूत्र—तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य॥ २२॥

सूत्रार्थ—'तृतीय शब्द'—इस तृतीय शब्द द्वारा 'संशोकजस्य' संशोकसे (पसीनेसे) उत्पन्न प्राणियोंका अर्थात् स्वेदजका भी 'अवरोधः'—संग्रह किया गया है॥ २२॥

सूत्रानुवाद—तीसरी उद्भिज्ज सृष्टिसे स्वेदजका भी उल्लेख अर्थात् अन्तर्भाव हो जाता है॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—उद्भिजमिति तृतीयशब्देन संशोकजस्य स्वेदजस्याप्यवरोधः संग्रहः कृतः। उभयोरपि भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य साम्यात्। लोके भेदोक्तिस्तु जङ्गमत्वाद्यवान्तर-भेदमादाय। तस्मादनिष्टादिकारिणां चन्द्रप्राप्तिर्नास्तीति सिद्धम्॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उद्भिज्ज—इस तृतीय शब्द द्वारा संशोकजात अर्थात् स्वेदज प्राणियोंका भी संग्रह है—यह अभिप्राय है। उद्भिज्ज प्राणी और स्वेदज प्राणी दोनों ही भूमि और जलके उद्भेदसे जन्मते हैं (भूमि एवं जलसे फूटकर निकलते हैं), इसलिए दोनोंमें तुल्यता है। तब जो लौकिक व्यवहारमें दोनोंका पृथक् रूपसे उल्लेख देखा जाता है, उसका कारण है—वृक्ष, गुल्मादि मृत्तिकाको भेद करके उद्गत (उत्पन्न) होते हैं और स्थावर हैं, इसलिए वे उद्भिज्ज नामसे प्रसिद्ध हैं और यूक (जोंक) इत्यादि प्राणी गतिशील और जङ्गम हैं। स्वेदज जङ्गम रूपसे कहे जाते हैं। इस स्थावरत्व और जङ्गमत्वरूप अवान्तर भेदके कारण दोनोंका पृथक् रूपसे व्यवहार है। अतएव इतने प्रबन्धसे यही सिद्ध (सिद्धान्त) हुआ कि इष्टादि कर्म किये बिना प्राणियोंका चन्द्रलोकमें गमन सम्भव नहीं है॥ २२॥

सूक्ष्मा-टीका—उक्तश्रुतौ भूतानां चातुर्विध्यं साधयितुमुपक्रमते तृतीयेति। ऐतरेयके तत्र स्फुटं तदुक्तं बोध्यम्। उभयोरपीति। वृक्षादिकं भूमिमुद्भिद्य जायते

यूकादिकन्तु जलमुद्भिद्येति द्वयोरवयवार्थे विशेषाभावात् तेन स इत्यर्थः। तेन चातुर्विध्यसिद्धिः। स्थावरजङ्गमत्वाभ्यां भेदस्य दुर्वारत्वात्॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार— *'त्रीण्येव बीजानि भवन्ति'* श्रुतिमें उक्त बीजकी त्रित्व संख्याको चार प्रकारमें परिणत करनेके लिए *'तृतीयेत्यादि'* सूत्र द्वारा उपक्रम करते हैं। ऐतरेयक उपनिषदके बीज-प्रकरणमें स्पष्ट रूपसे चतुर्विधत्व ही वर्णित हुआ है। 'उभयोरपि' इत्यादि—वृक्ष, लता, गुल्मादि भूमिको भेद करके उत्पन्न होते हैं और जूँ, मत्कुण (खटमल) बिच्छु आदि प्राणी जलको भेद करके उत्पन्न होते हैं, तब दो प्रकारके प्राणियोंके 'उद्भिज्ज' शब्दके अवयव 'उद्' (ऊपर उठना) शब्दके अर्थगत विशेषत्वके अभावके कारण स्वेदज भी उद्भिज्ज स्वरूप है यह अर्थ है। *'तेन चातुर्विध्यसिद्धिरिति'* क्योंकि स्थावरत्व और जङ्गमत्व है—इन दोनोंके अवान्तर भेदके द्वारा भेद सिद्ध हुआ॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि पूर्वोक्त श्रुतिमें त्रिविध बीजका उल्लेख है, स्वेदजके विषयमें तो सुना नहीं जाता। इसके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि तृतीय अर्थात् उद्भिज्ज शब्दके द्वारा संशोकजात प्राणी अर्थात् स्वेदजका उल्लेख भी जानना चाहिये।

भाष्यकार कहते हैं—स्वेदज और उद्भिज्ज दोनों ही जल और भूमिसे उत्पन्न होते हैं—इसलिए दोनोंमें साम्य है। लौकिक रीतिसे (व्यवहारसे) प्रभेदका तात्पर्य है कि एक स्थावर है और दूसरा जङ्गम है। उद्भेदन-जन्यत्वके कारण दोनोंमें तुल्यता होते हुए भी स्थावर वृक्षादि कृत उद्भेदनकी अपेक्षा जङ्गम कृत उद्भेदन विलक्षण है। इसी अभिप्रायसे दोनोंको अलग कहा गया। मूल बात तो यह है कि इष्टादिकर्म किये बिना प्राणियोंकी चन्द्रलोक-प्राप्ति नहीं है—यही सिद्धान्त स्थिर हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्रिणाम्।
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/७/२७)

अर्थात् देवता, मनुष्य, सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु, पक्षी और जरायुज (गर्भजात) मनुष्य आदि, स्वेदज, अण्डज एवं उद्भिज्ज आदिकी सृष्टिका विभाग भी समझाइये॥ २२॥

अवतरणिका भाष्य—इष्टादिकृतः सूक्ष्मभूतयुक्ताः सानुशयाश्चावरोहन्तीति दर्शितं। तत्प्रकारस्तु *"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति"* (छा॰ ५/१०/५) इति। यथेतमनेवञ्चोक्तन्तत्रैव। इहावरोहतायामाकाशादिभावः प्रतीयते। स किं तादात्म्यापत्तिरुत सादृश्यापत्तिरिति विषये सादृश्यापत्तिपक्षे लक्षणाप्रसङ्गात्तादात्म्यापत्तिरेवासाविति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इष्टादि करनेवाले कर्मी आकाशादि सूक्ष्मभूतोंको लेकर और भुक्तावशिष्ट कर्म-समभिव्यवहार अर्थात् कर्मके साथ चन्द्रलोकसे अवरोहण करते हैं यह इससे पहले दिखाया गया था। अब इस अवरोहणका प्रकार कैसा है? वही कहते हैं—*'अथैतमेवाध्वानं ... मेघो भूत्वा प्रवर्षतीति'* भोक्तव्य कर्म समाप्तिके बाद जिस प्रकारसे आकाश पर्यन्त गया था, अवरोहण-कालमें उसीके विपरीत क्रमसे आता है, यथा पहले आकाशको प्राप्त होता है, आकाशसे बादमें वायुको प्राप्त होता है, वायुसे धूममें परिणत होता है, धूमसे परिणतिके बाद अभ्र—अर्थात् जलसे भरा हुआ सूक्ष्म मेघ (जलको ग्रहण करनेवाला मेघ) और उस प्रकारका मेघ होनेके बाद जल-वर्षणकारी निविड़ (घना) मेघ होकर वर्षण करता है। 'अनेवम्' इसका उपलक्षण है 'यथेतम्' इत्यादि वाक्य (जैसे गया था, उसी मार्गसे अथवा दूसरे मार्गसे लौट आता है) उसी स्थलपर कहा गया था। इस समय संशय यह है कि इस अवरोहण-व्यापारमें आकाशसे वायु, वायुसे धूमरूपता जो प्रतीत होती है, क्या वह आकाशादिके स्वरूपकी प्राप्ति (तादात्म्यापत्ति) है? अथवा आकाशादिके सादृश्यकी प्राप्ति (सादृश्यापत्ति) है? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं सादृश्य-प्राप्ति होनेपर लक्षणा स्वीकार करनी होती है, अतएव स्वरूप-प्राप्ति ही स्वीकार्य है। इस पूर्वपक्षीके मतके उत्तरमें पर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्रैतत् तृतीयं स्थानमित्यत्र स्थानशब्देन स्थानी दंशादिदेहः प्राणिनिकरो लक्षितः। स्थानद्वयोपक्रमात् तेन तृतीयमार्गो वा लक्षितः। इमौ द्वौ विप्रावित्युपक्रम्यायं तृतीय इत्यत्रौपक्रान्तसजातीयस्तृतीयो दृष्टः। इह त्वाकाशादिशब्दानामवरोहतायामाकाशादिसादृश्ये लक्षणा मास्तु श्रुतिमुख्यार्थव्याहति-प्रसङ्गादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्यारभ्यते इष्टादिकृत इत्यादिना। पूर्वपक्षे मुख्यार्थसिद्धिः सिद्धान्ते तु गौणार्थत्वं फलमिति बोध्यम्। अथैतमिति। अथ भोक्तव्यकर्मसमाप्त्यनन्तरम्। अध्वानमाह यथेतमिति। अनेवमित्यस्योपलक्षणमेतत्। यां खलु आपश्चन्द्रलोके देहमारेभिरे तास्तत्कर्मसमाप्तावाकाशमागत्य तत्समा यदा भवन्ति तदा ताभिर्युक्तोऽनुशय्याकाशसमो भवतीत्याहाकाशमिति। एवमग्रेऽपि योज्यम्। वायुर्भुत्वा वायुसमो भूत्वेत्यादि। धूमो मेघोपादानम्। अभ्रमम्बुभृत् सूक्ष्मः। मेघोऽम्बुयुङ् निविडः। स आकाशादिभावः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वमें *'एतत् तृतीयं स्थानम्'*—यह तृतीय स्थान है—इस वाक्यमें जो स्थान शब्द है, वह स्थानी अर्थात् स्थानाश्रयी दंश, मशकादि देहको धारण करनेवाले प्राणियोंको लक्ष्य करता है अथवा उपक्रममें देवयान और पितृयान—इन दोनों पथोंका उल्लेख रहनेके कारण यह तृतीय स्थान-शब्द तृतीय पथको लक्षणा द्वारा बतला रहा है। जिस प्रकार 'ये दो ब्राह्मण' यह कहनेके बाद 'अयं तृतीयः' 'यह तीसरा है' उस तृतीय व्यक्तिको इस उक्तिसे जाना जाता है कि पूर्वोक्त ब्राह्मणोंका सजातीय ही यह तीसरा व्यक्ति है—इस प्रकारसे व्यवहार देखा जाता है। इस अवरोहण-प्रकरणमें कहे गये आकाशादि शब्दसे यदि आकाशादिके सदृश पदार्थको कहा गया है तो लक्षणा होती है—लक्षणा नहीं होनी चाहिये—क्योंकि लक्षणा होनेसे श्रुतिका मुख्यार्थ भङ्ग होता है। अतः प्रत्युदाहरण (विपरीत उदाहरण) रूप सङ्गतिके द्वारा सूत्रका आरम्भ करते हैं—'इष्टादिकृतः' इति। पूर्वपक्षीके मतमें अर्थात् तद्रुपता अर्थ स्वीकार करनेपर श्रुतिकी मुख्यार्थता बची रहती है—यह फल (सार) है। सिद्धान्तीके पक्षमें गौणार्थता—यही फल (सार) है। 'अथैतम्' इत्यादि भाष्य—इसका अर्थ इस प्रकार है—अथ अर्थात् भोक्तव्य कर्मक्षयके बाद। 'यथेतम्' इत्यादि द्वारा अवरोहण पथ बता रहे हैं। पहले जो 'अनेवम्' कहा गया था, मात्र इतना ही नहीं, 'आकाशाद्वायुम्' इत्यादि भी कहना चाहिये। जिस जलने चन्द्रलोकगत जीवकी देहको उत्पन्न किया था, वही जल उस

देहारम्भक कर्मक्षयके बाद आकाशमें पहुँचकर जिस प्रकार आकाशके समान होता है—उसी प्रकार वह जलयुक्त जीव अवशिष्ट कर्मवश आकाशमय होता है, इसी बातको 'आकाश मित्यादि' द्वारा कहा जा रहा है। इस प्रकार 'वायुर्भवति' इत्यादि वाक्यके लिए भी कहा जा सकता है अर्थात् यह वाक्य भी योजनीय है। 'वायुर्भूत्वा' इसका अर्थ है—वायुमय होकर। धूमो भवति—यहाँ धूम शब्दसे अर्थ है—मेघका उपादान धूम। अभ्र और मेघ—इन दोनों शब्दोंका अर्थगत पार्थक्य यह है कि सूक्ष्म जलसे भरे मेघ अभ्र शब्द वाच्य हैं और जल-वर्षण करने वाले निविड़ मेघ हैं। 'सः' से अर्थ है—आकाशादि सादृश्यमें परिणाम।

तत्स्वाभाव्यापत्त्याधिकरणम्

सूत्र—तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः॥ २३॥

सूत्रार्थ—'तत्स्वाभाव्यापत्तिः' उस आकाशादिकी सादृश्य-प्राप्ति ही मानना उचित है, क्योंकि 'उपपत्तेः' युक्तिसे यही सिद्ध होता है॥ २३॥

सूत्रानुवाद—स्वाभाव्यापत्तिका अर्थ है तत्सदृशता-प्राप्ति। अवरोह करनेवाले आकाशादिकी तुल्यताको प्राप्त होते हैं। उपपत्तिसे भी सादृश्य ही सिद्ध होता है। 'समानो भावो रूपं येषां ते सभावाः तेषां भावः साभाव्यं'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'साभाव्य' शब्दका अर्थ होता है सारूप्य या सादृश्य॥ २३॥

गोविन्दभाष्य—तत्सादृश्यापत्तिरूपः स मन्तव्यः। कुतः? उपपत्तेः। चन्द्रलोके यदन्मयं वपुरारब्धं भोगाय तत् किल चण्डकरकरवृन्देन तुषारखण्डमिव भोगक्षये क्षणजेन शोकाग्निना विलीयमानं सौक्ष्म्यादाकायशतुल्यं भवति ततो वायोर्वशमेति ततो धूमादिभिः संपृच्यते इत्येवोपपद्यते। अन्यस्यान्यभावायोगात्तत्त्वेऽवरोहा-सम्भवाच्च॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस आकाशादि भावको आकाशादिकी समानरूपताका स्वरूप मानना होगा, क्योंकि उपपत्तेः—यही माननेसे अर्थात् इसी सम्बन्धसे सङ्गति होती है। चन्द्रलोकगत जीवका जो जलमय शरीर भोगके लिए उत्पन्न हुआ था, वह भोगका अवसान होनेपर क्षणकालीन

शोकाग्निके द्वारा उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार प्रचण्ड-किरण सूर्यकी उत्तप्त किरणोंके सम्पर्कसे तुषार-खण्ड विलीन हो जाते हैं, विलीन होनेपर वह अति सूक्ष्मताके कारण आकाश तुल्य हो जाता है। इसके बाद वायुकी वशताको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् धूमादिके साथ संपृक्त (मिलित) होता है। इस प्रकारसे अर्थ होना ही युक्तियुक्त है, अन्यथा आकाशरूप्यापत्ति स्वीकार करनेपर दो विभिन्न वस्तुओंकी एकरूपता सम्भव नहीं हो सकती। एक अन्य पदार्थका दूसरा अन्यपदार्थत्व होना सम्भव नहीं है। तद्रूप होनेपर जड़ आकाशादिका अवरोहण भी नहीं हो सकता॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। तत्त्वे इति। अनुशयिनः आकाशादिरूपत्वे सति ततोऽवरोहो न सम्भवेदित्यर्थः। क्षीरस्य दधिभावो दृश्यते क्षीरकाले दध्नोऽभावः। इह तु प्राग्विद्यमानाकाशादिभावोऽनुशयिनो दुरुपपाद इत्यादियुक्तिवशादेव श्रुतेर्गौणार्थकता स्वीकार्या। ततश्चानुशयिनस्तद्भावस्तत्सम्बन्धमात्रमेव सम्बन्धश्च सादृश्यादन्यो न सम्भवेदतस्तदेव सः॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार— *'तत् स्वाभाव्यादित्यादि'* सूत्रके *'तत्त्वेऽवरोहासम्भवाच्च'* भाष्यमें 'तत्त्वे' का अर्थ है—भुक्तावशिष्ट कर्मयुक्त जीवकी आकाशादि रूपमें परिणति कहनेसे चन्द्रलोकसे अवरोहण सम्भव नहीं है। कारण है कि दुग्धका दधित्व देखा जाता है किन्तु दुग्धकालमें दधिका अभाव होता है। यहाँ पहलेसे ही विद्यमान अनुशयी जीवकी आकाशादिरूपता युक्ति-बहिर्भूत है इत्यादि युक्तिसे इस श्रुतिकी गौणार्थकता अगत्या स्वीकार्य है। ऐसा होनेपर सिद्धान्त यह है कि अनुशयी जीवकी जो आकाशादिरूपता है, उसका अर्थ है आकाशादिके साथ उसका सम्बन्ध इस अर्थमें। सम्बन्ध भी यहाँ सादृश्यके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे सम्भव नहीं है। इसलिए आकाशादिरूप अर्थात् आकाशादि सम्बन्ध—यही कहना होगा॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्योपनिषदमें पाया जाता है—

'तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाश-माकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते।' (छा० ५/१०/५-६)

अर्थात् जीव चन्द्रमण्डलसे सुखभोग करनेके बाद भुक्तावशिष्ट कर्मके साथ जब अवरोहण करता है, तब जिस पथसे गया था, उसी पथसे पुनः लौट आता है यथा—आकाशसे वायु, वायुसे धूमको प्राप्त होता है, धूमसे अभ्र, अभ्रसे मेघ और मेघ होकर वषर्ण करता है। तब वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तेल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होते हैं।

इस स्थलपर एक संशय उपस्थित होता है कि जीव क्या आकाश, वायु इत्यादिके साथ एकरूप हो जाता है अथवा उनके अनुरूप अवस्था अथवा सादृश्यताको प्राप्त होता है। पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि सादृश्य-प्राप्ति कहनेसे तो लक्षणा स्वीकार करनी होती है इसलिए स्वरूप-प्राप्ति ही होती है—यही कहना ठीक है।

इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि सादृश्यापत्ति ही सुसङ्गत है, क्योंकि यही उपपन्न (युक्तियुक्त) है। यदि अवरोहीको आकाशस्वरूपताकी प्राप्ति हो, तो वायु आदि क्रमसे अवरोह सिद्ध न हो सकेगा। विशेष करके तादात्म्यापत्तिमें अवरोहण आकाशादिरूपताका अर्थ है—आकाशादिके साथ सम्बन्ध। सम्बन्ध भी यहाँ सादृश्यसे अलग किसी और रूपमें सम्भव नहीं है। आकाशादि रूप अर्थात् आकाशादि सम्बन्ध—यही कहना चाहिये। समान समयमें होनेवाले दधि और दुग्ध परस्पर एक दूसरेका स्वरूप नहीं हो सकते। प्रकृतमें जीवोंके सूक्ष्म शरीर और आकाश दोनों समसामयिक हैं, अतः वे परस्पर एक-दूसरेका स्वरूप नहीं हो सकते अतः आकाशादिकी स्वरूपताका उपचार आकाशादिकी सदृशतामें करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३१/१)

अर्थात् श्रीभगवान् कपिलदेवजीने कहा—हे माताजी! जीव भगवान्की प्रेरणासे अपने पूर्व कर्मानुसार देहकी प्राप्तिके लिए पुरुषके वीर्य कणोंका आश्रय लेकर स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है॥२३॥

अवतरणिका भाष्य—आकाशादिप्रवर्षणान्तादवरोहो विलम्बेन त्वरया वेति संशये नियमहेत्वभावाद्विलम्बेनेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आकाशादिसे आरम्भ करके प्रवर्षणा तक अर्थात् वृष्टि तक के व्यापारमें जीवका चन्द्रलोकसे जो अवरोहण है, वह अवरोहण विलम्बसे होता है? अथवा शीघ्र होता है? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब इस विषयमें कोई भी विशेष नियामक शास्त्र नहीं है तब विलम्बसे ही अवरोहण होता है। इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्राकाशादिप्रवर्षणान्तेषु पूर्वपूर्वसादृश्यानन्तरं परपरसादृश्यमित्युक्तम्। तदुपजीव्य परो न्यायः प्रवर्त्तत इत्युपजीव्योपजीवक-भावसङ्गत्याह आकाशादिष्विति। किमनुशयी पूर्वसादृश्येन चिरं स्थित्वा परसादृश्यं भजत्युताचिरेणेति सन्देहे नियामकशास्त्राभावादनियमेन भाव्यमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि आकाशादिसे वृष्टि पर्यन्त व्यापारके पूर्व-पूर्वकी वस्तुओंकी सादृश्य प्राप्तिके बाद पर-पर वस्तुओंका सादृश्य होता है, इसीका आश्रय करके प्रस्तुत अधिकरणका आरम्भ हो रहा है। इसलिए उपजीव्य-उपजीवक भावरूप सङ्गतिके अनुसार कहते हैं—आकाशादि प्रवर्षणान्तादिति—इसका तात्पर्य है—भुक्त्यावशिष्ट कर्मके साथ जीव पूर्व सादृश्य प्राप्तकरके क्या दीर्घकाल तक रहकर परवर्ती वस्तुके सादृश्यका भोग करता है, अथवा अचिर-अविलम्ब ही भोग करता है? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—'विशेष नियामक शास्त्र' अर्थात् जब नियम नहीं है, तब अनियम ही होगा; इस मतके विपरीत सिद्धान्ती का मत है—'नातिचिरेण' इत्यादि।

नातिचिराधिकरणम्

सूत्र—नातिचिरेण विशेषात्॥ २४॥

सूत्रार्थ—'नातिचिरेण'—आकाशादिसे वृष्टि पर्यन्त पूर्व-पूर्व सादृश्य प्राप्तिके बाद पर-परकी सादृश्य-प्राप्ति पर्यन्त होनेपर अवरोहण अति

विलम्बसे नहीं होता, किन्तु अचिरेण अर्थात् शीघ्र ही होता है, 'विशेषात्'—इसका विशेष प्रमाण है॥ २४॥

सूत्रानुवाद—अल्पकाल तक आकाशादिके सदृश रूपसे स्थिर होकर (वर्षाकी धाराओंके साथ) इस भूमिको प्राप्त होते हैं। विशेषके श्रवणसे यह ज्ञात होता है। विशेषका श्रवण अर्थात् व्रीहि आदि भावोंसे निर्गमन (निष्क्रमण) कठिन हो जाता है॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—आकाशादितो नातिचिरेणावरोहः। कुतः? विशेषात्। परत्र व्रीह्यादिभावप्राप्तावतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरमिति (छा॰ ५/१०/६) विशेषोक्तेरित्यर्थः तलोपश्छान्दसः। दुर्निष्प्रपतरं दुःखनिष्क्रमणमित्यर्थः। व्रीह्यादिप्राप्तौ दुःख-निर्गमोक्त्याकाशादिप्राप्तौ त्वरया निर्गमो बोध्यते॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आकाशादिसे विलम्बसे अवरोहण नहीं है, अपितु त्वरा (शीघ्र) ही है। किस कारणसे? क्योंकि इस विषयमें विशेष नियामक शास्त्र है—यथा उसके परवर्त्ती व्रीहि इत्यादि भाव-प्राप्ति होनेपर श्रुतिमें कहा गया है *'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्'* व्रीहि प्रभृति भाव (रूप) की प्राप्तिके बाद चिरस्थितिके कारण अतिकष्टपूर्वक उससे निर्गमन होता है। इस विशेष उक्तिके कारण यही अर्थ है—'दुर्निष्प्रपततरम्'। यहाँ 'दुर्निष्प्रपततरम्' न होकर 'दुर्निष्प्रपतरम' होनेका हेतु है—वैदिक अर्थात् छान्दस प्रयोग—एक तकार छान्दस प्रक्रियाके कारण लुप्त हुआ समझना चाहिये। 'दुर्निष्प्रपततरम्' का अर्थ है—दुःखपूर्वक निर्गमन। अतएव व्रीहि आदि दशाओंकी प्राप्तिके बाद वहाँसे दुःखपूर्वक निर्गमन कहे जानेसे जानना चाहिये कि आकाशादिके सादृश्य-प्राप्तिके विषयमें भी उन सबसे शीघ्रतापूर्वक ही अवरोह अथवा निष्क्रमण अथवा निर्गमन होता है। तात्पर्य यह है कि व्रीहि आदि भावमें पर-पर निःसरण कठिन है, इसलिए पूर्व-पूर्वमें सर्वत्र ही अचिरकाल बोधित है॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—नातिचिरेणेति। अतिचिरेण विलम्बेन नावरोहः किन्तु त्वरयैवेत्यर्थः। जीवोऽल्पमल्पकालमाकाशादिषु वर्षान्तेषु सादृश्येन स्थित्वा धारया भुवमाविशतीति यावत्। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरमिति श्रुतौ व्रीह्यादिषु चिरस्थितिरूपविशेषावगमात्। अतोऽस्माद्व्रीह्यादिभावादित्यर्थः। भूप्रवेशानन्तरं जीवस्य व्रीह्यादिषु प्रवेशमुक्त्वा

तेभ्यो निर्गमसमये तेषु चिरावस्थितिस्तस्य प्रतीयते। तथा चाकाशादिषु च चिरस्थित्यचिरस्थिती एव जीवस्य सुखदुःखे भवतः। तदा स्थूलदेहाभावेन मुख्ययोस्तयोरसम्भवात्। तस्माद्व्रीह्यादिप्रवेशात् प्रागल्पकालमेव तत्सादृश्येनावस्थितिरिरिति सिद्ध्यति॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार— *'नातिचिरेण'* इत्यादि सूत्रका अर्थ है *'अतिचिरेण'* अर्थात् विलम्बसे अवरोहण नहीं होता, अति द्रुत होता है। वक्तव्य यह है कि जीव अल्पकालमें ही आकाशादिसे वर्षण पर्यन्त भाव-सादृश्यमें रहनेके बाद जलधारा योगसे भूमिमें प्रवेश करता है। *'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्'* इस श्रुतिमें व्रीहि इत्यादि शस्य रूपकी प्राप्तिके बाद उसी रूपमें बहुत दिनों तक स्थिति रहती है—यह विशेष रूपसे अवगत होनेके कारण इस प्रकार कहा जा रहा है। श्रुतिस्थ 'अतः' पदका अर्थ है कि इस व्रीह्यादि अवस्थासे। इसीसे कहते हैं—भूमिमें प्रवेशके बाद व्रीहि इत्यादिमें जीवका प्रवेश होता है, इस कथनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वहाँसे निर्गमनकालमें उस व्रीहि इत्यादिमें जीवकी बहुत समय तक अवस्थिति रहती है। अतः आकाशादि रूपमें चिर-स्थिति और अचिर स्थिति ही सुख-दुःखका कारण होती है। उस समय स्थूल देह नहीं रहता अतएव मुख्य रूपसे उस सुख-दुःखका होना असम्भव है। इसलिए कहा जा रहा है—व्रीहि इत्यादिमें प्रवेशके पहले आकाशादिका सादृश्य प्राप्त करके जीवका अल्पकाल ही अवस्थान रहता है॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष उठाते हुए कहे कि छान्दोग्यमें वर्णित पूर्वोक्त श्रुति-मन्त्रमें जीवके कर्मावशेषको लेकर आकाशादि-वर्षणके अन्तमें जो अवरोहणका प्रकार कहा गया है, उस विषयमें नियामक शास्त्रके अभावके कारण उस अवरोहणमें विलम्ब ही रहता है—यह कहना होगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि आकाशादिसे अवरोहणमें विलम्ब नहीं होता, क्योंकि इस विषयमें विशेष प्रमाण है।

पूर्वोल्लिखित छान्दोग्यकी *'अतो वै खलु'* (५/१०/६) श्रुति द्रष्टव्य है। आकाशादिसे वृष्टि और वृष्टिसे शस्य पर्यन्त अवस्थाके परिवर्त्तनमें विलम्ब नहीं होता, अपितु शस्यसे दूसरेकी देहमें शुक्र रूपमें परिणत

होनेमें विलम्ब होता है—इसका उल्लेख इसी पूर्वोक्त *'अतो वै खलु'* श्रुतिमें प्राप्त होता है। अतएव शस्य भावसे जीव-देहमें शुक्र रूपमें परिणत होना बहुत ही कठिन है; इस ब्रीहि आदि दशाकी प्राप्तिके बाद वहाँसे दुःखपूर्वक निर्गमनकी कथा कहनेसे जाना जाता है कि पूर्व-पूर्व अवस्थाओंमें परिवर्त्तन सहज और शीघ्र ही होता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥

(श्रीमद्भा० ३/३१/४३)

अर्थात् देवि! पुरुष उपाधिस्वरूप लिङ्ग-शरीरके साथ एक लोकसे दूसरे लोकमें भटकता हुआ निरन्तर कर्मफलोंका भोग करता है, किन्तु फिर भी वह दूसरी देहोंकी प्राप्तिके लिए उन कर्मोंमें ही लगा रहता है।

श्रीलचक्रवर्त्ती पादकी टीकामें पाया जाता है—

उपहितस्य जीवस्यापि गमनं सम्भावितं तत्र भुञ्जान एव भोगमसमाप्नुवन्नेव पुनर्मर्त्त्यलोकमागत्य कर्माणि कुरुते, अतो लिङ्गदेहनैव कर्म कुरुते भुङ्क्ते चेत्युक्तम्॥

अर्थात् जीव अपने उपाधिस्वरूप लिङ्ग-शरीरके साथ एक लोकसे अन्य लोकमें गमन करता है और फलभोग करके फिरसे निरन्तर कर्म करता है। यहाँ अनुगमन कहनेसे तात्पर्य है—उपाधिस्वरूप लिङ्ग-शरीरके गमनके द्वारा ही कर्म करता है, उपहित जीवका ही गमन सम्भवपर होता है। *'भुञ्जान एव'* से तात्पर्य है—भोग समाप्त होते न होते ही पुनः मर्त्त्यलोकमें आकर कर्म करता है। अतएव लिङ्ग-देहसे ही कर्म करता है और भोग करता है॥ २४॥

अवतरणिका भाष्य—प्रवर्षणानन्तरं *"त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतय-स्तिलमाषा जायन्त"* (छा० ५/१०/६) इति तत्रैव श्रूयते। इह संशयः—व्रीह्यादिष्वनुशयिनां मुख्यं जन्मोत संश्लेषमात्रमिति। जायन्त इत्युक्तेर्मुख्यं जन्मेति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसी प्रकरणमें श्रुति कहती है—*'त रह व्रीहियवा ओषधि वनस्पतयस्तिलमाषा जायन्त'* (छा० ५/१०/६) अर्थात्

वृष्टि रूपसे प्राप्तिके बाद वे जीवगण धान्य, यव, ओषधि और वृक्षादि एवं तिल, उड़द इत्यादि रूपमें जन्म-ग्रहण करते हैं। इसमें संशय यह है कि अनुशयी जीवगणोंका व्रीहि आदि रूपमें क्या मुख्य जन्म होता है? अथवा संयोग (संश्लेष) मात्र (गौण जन्म) है? पूर्वपक्षके मतमें मुख्य जन्म है क्योंकि 'जायन्ते' पद श्रुत होता है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—तस्मिन्नेवावरोहेऽनुशयिनां वर्षधारया भूप्रवेशानन्तरं जन्म श्रूयते इत्याह त इह व्रीहीत्यादि। तेऽनुशयिनः। जीवानां व्रीह्यादिभावेन जन्मश्रुतिर्मुख्यार्था भवत्युतान्यैरधिष्ठिते व्रीह्यादौ संसर्गमात्रं तेषां जन्मेति गौणार्था सेति सन्देहे पूर्ववत् दुर्निष्प्रपतरश्रुतेः प्रागुक्तयुक्तिसामर्थ्याच्चिरावस्थानेऽस्तु लक्षणा। प्रकृते तु क्षीरदधिभावेनावादिभिर्भूतैः परिष्वक्तानां जीवानामवादिद्वारा व्रीह्यादिभावेन मुख्यमेव जन्म सम्भवेदतो व्रीह्यादिस्थावरदेहेषु सुखदुःखभाजो जीवा इति प्रत्युदाहरणात् पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—श्रुतिमें पाया जाता है कि अवरोहण व्यापारमें अनुशयी जीवोंका वृष्टिधारा-योगसे भूमिमें प्रवेशके बाद जन्म होता है—इस बातको *'त इह'* इत्यादि श्रुति वाक्यसे कह रहे हैं। 'ते'—इसका अर्थ है 'अनुशयीगण'। अब संशय यह है कि—जीवोंकी व्रीहि इत्यादि रूपसे जो जन्मकी बात सुनी जाती है, कि वह क्या मुख्य जन्म अर्थमें प्रयुक्त है अथवा अन्य (क्षेत्रज्ञ) द्वारा अधिष्ठित व्रीहि आदिमें उनका संयोग है—इस गौणजन्मरूप गौणार्थमें प्रयुक्त है? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं पूर्वके समान 'दुर्निष्प्रपतर' श्रुतिके कारण पूर्वोक्त युक्तिबलसे इस अवस्थामें गौण अर्थ होना ही उचित है अर्थात् चिरावस्थान ही होना चाहिये, इसलिए लक्षणा ही स्वीकार्य है। किन्तु प्रकृत क्षेत्रमें क्षीर-दधि-न्यायसे अर्थात् दुग्धके दधि रूपमें परिणत होनेपर जिस प्रकार दूधकी सत्ता नहीं रहती, उसी प्रकार जलादि भूतोंके साथ मिलित जीवोंकी जल इत्यादिकी सहायतासे व्रीहि आदि शस्य रूपमें परिणति होती है, पृथक् सत्ता नहीं होती—यह मुख्यार्थक जन्म ही सम्भवपर है, अतएव व्रीहि इत्यादि स्थावर देहमें जीवगण सुख-दुःखका भोग करते हैं, यह प्रत्युदाहरण लेकर पूर्वपक्षमत प्रवृत्त हुआ है, इसपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अन्याधिष्ठिताधिकरणम्

सूत्र—अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात्॥ २५॥

सूत्रार्थ—'अन्य' अर्थात् जीवभोक्तृत्व रूपमें जो व्रीहि इत्यादि देहको 'अधिष्ठिते' आश्रित करके रहते हैं, उनमें इन जीवोंका संश्लेषमात्र ही होना युक्तियुक्त है, इसके अतिरिक्त अनुशयी जीवगण भोगके लिए उन देहोंमें जन्म-ग्रहण नहीं करते। किस कारणसे? 'पूर्ववदभिलापात्' क्योंकि पूर्वके ही समान व्रीहि आदि भावोंकी उक्ति है॥ २५॥

सूत्रानुवाद—व्रीहि आदि शरीरवाले जीवविशेषसे अधिष्ठित व्रीहि आदिमें अनुशय विशिष्ट आत्मा संसर्गमात्र प्राप्त करती है, न कि व्रीहि आदि देहवान् होते हैं, क्योंकि पूर्ववत् आकाशादिकी तरह उनका भी कथन है॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—अन्यैर्जीवैर्भोक्तृतयाधिष्ठिते व्रीह्यादिदेहे तेषां संश्लेषमात्रमेव स्यात्। न तु ते भोगाय तत्र उत्पद्यन्ते। कुतः? पूर्वेति। आकाशादिभाववद्-व्रीह्यादिभावस्याप्युक्तेरित्यर्थः। यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु भोगहेतुः कर्म नाभिलप्यते तथा व्रीह्यादिभावेऽपि। यत्र तु भोगोऽभिमतस्तत्र *"रमणीयचरणा"* इत्यादिना तदभिलप्यते। तस्मात् संश्लेषमात्रमेव तत्, न तु मुख्यं जन्मेति॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अन्य जीव जो व्रीहि आदि देहोंमें भोक्तृ रूपसे अधिष्ठान करते हैं, उन देहोंमें अनुशयी जीवोंका संश्लेषमात्र ही हो सकता है परन्तु वे इस व्रीहि आदिमें किसी भोगके लिए उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि इन आकाशादि भावोंके समान ही व्रीहि आदि भाव-प्राप्तिकी उक्ति है अर्थात् जिस प्रकार आकाशसे आरम्भ करके वृष्टि पर्यन्त भावोंमें (रूपोंमें) भोगका हेतु कोई कर्म श्रुत नहीं है, उसी प्रकार व्रीहि आदि भावोंमें भी सुख-दुःख भोगका हेतुभूत कर्म सुना नहीं जाता। जिस अवस्थामें भोग अभिप्रेत है, उस अवस्थामें भोगकी बात पूर्वोक्त *'रमणीयचरणाः'* (शुभकर्माचरण) इत्यादि वाक्य द्वारा कही गयी है। अतएव जन्म कहनेसे संश्लेष (सम्बन्ध) मात्र है, मुख्य जन्म नहीं॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्याधिष्ठित इति। येषां व्रीह्यादिदेहयोग्यानि कर्माण्यभुवन् ते जीवान्तदेहान् प्राप्य तेषु तत्कर्मपरिपाकं भुञ्जते। ये तु स्वर्गादवरूढान्ते खलु तेषु संयोगमात्रं लभन्ते न तु भोगं, ब्राह्मणादिषु देहेषु तेषां भोगाभिधानादित्यर्थः। सूत्रे पूर्ववदिति पदं द्व्यर्थकम्। पूर्ववत् यथाकाशादिषु संसर्गमात्रं तद्वत्। पुनः पूर्ववत् आकाशादिभावे यथा भोगहेतुकर्माभावोऽभिलिप्यते तथा व्रीह्यादिभावेऽपीत्यर्थः। तस्मादिति। जायन्त इति श्रुतिः संसर्गमात्रे लाक्षणिकीति न मुख्यार्था सेत्यर्थः। तदिति। कर्मेति शेषः॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार— *'अन्याधिष्ठिते'* इत्यादि सूत्रका तात्पर्य है जिन जीवोंका व्रीहि आदि देह-प्राप्तिका कारणीभूत उपयुक्त कर्म हुआ है, वे सब जीव ही व्रीहि आदि देह प्राप्त करके इन समस्त देहोंमें कर्मफल भोग करते हैं किन्तु जो स्वर्गसे आये हैं, वे सब तो व्रीहि आदि रूपोंमें संश्लेष (संयोग) मात्र प्राप्त करते हैं इससे भिन्न इस व्रीहि आदि रूपोंमें उनका भोग नहीं होता। ब्रह्माणादि देहोंमें उनका भोग वर्णित है—यह तात्पर्य सूत्रमें जो पूर्ववत् शब्द है—उसके दो अर्थ हैं। प्रथम अर्थ है—जिस प्रकार आकाशादि भावमें संसर्गमात्र है, उसी प्रकारसे ही। दूसरा अर्थ है—आकाशादि भावमें जिस प्रकार भोगजनक कर्मका अभाव कहा गया है, उसी प्रकार व्रीहि आदि रूपोंमें भी भोगके हेतु कर्मके अभावका वर्णन हुआ है। *'तस्मात् संश्लेषमात्रमेव'* इति अर्थात् श्रुतिमें उक्त *'जायन्ते'* इस पदका मुख्य अर्थ-जन्म न लेकर गौण अर्थ—संश्लेषमात्र ही ग्राह्य है। 'तत्' का अर्थ है—इसके साथ 'कर्म' इस पदका योग करना होगा अर्थात् वह संश्लेष-क्रिया ही जन्म है, मुख्य जन्म नहीं॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक संशय देखा जाता है कि कर्मावशेषको लेकर जीव जो चन्द्रमण्डलसे प्रत्यावर्त्तन कालमें आकाशादि-क्रमसे वृष्टि भावको प्राप्त होकर यवादि शस्य रूपमें जन्म प्राप्त करता है, क्या वह मुख्य जन्म है अथवा संश्लेषमात्र है? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि *'जायन्ते'* पद (जन् धातु) रहनेके कारण वह मुख्य जन्म ही होगा। इसके उत्तरमें प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि अन्य जीव द्वारा भोक्तृ-स्वरूपमें अधिष्ठित धान्य-यवादि देहोंमें जीवका अवस्थान पूर्ववत् संश्लेषमात्र है, क्योंकि शस्यकी पूर्ववर्त्ती अवस्थामें

जिस प्रकारकी उक्ति है, शस्य अवस्थाके सम्बन्धमें भी उसी प्रकारकी उक्ति है अर्थात् आकाशसे वृष्टि भाव पर्यन्त भोगके लिए जिस प्रकार कोई कर्म सुना नहीं जाता, इसी प्रकार व्रीहि आदि भावोंमें भी किसी भी सुख-दुःख भोगके हेतुभूत किसी कर्मकी बात श्रुत नहीं होती। जहाँ भोक्तृत्व अभिप्रेत है, वहाँ उसके साधनभूत कर्म भी बताये गये हैं, यथा—*'रमणीयचरणाः कपूयचरणाः'* आदि। यहाँ आकाशादिकी भाँति साधनरूप कर्मका उल्लेख ही नहीं है। वस्तुतः फलोन्मुख स्वर्गोपभोग्य शुभ कर्मोंकी भुक्ति तो स्वर्गोपभोगसे ही समाप्त हो जाती है, जिन कर्मोंके फल ही आरम्भ नहीं होते रमणीचरणाः श्रुतिमें उन्हींकी चर्चा की गयी है। इसलिए कोई ऐसा कर्म समझमें नहीं आता कि जिसके फलस्वरूप जीवोंका व्रीहि आदि शरीर होना माना जाय। आकाशादि भावके वचनके समान व्रीहि आदि भावके वचनको भी औपचारिक मानना चाहिये। संश्लेष-क्रिया ही जन्म है, मुख्य जन्म नहीं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२०)

अर्थात् प्रभो! सभी शास्त्रोंका मानना है कि जीव जिन नरादि शरीरोंमें रहते हैं, वे उसके कर्मों द्वारा निर्मित होते हैं। परन्तु कार्य-कारण-रूप आवरणसे रहित जीव सर्वशक्तिधर, परिपूर्ण स्वरूप आपका ही अंश (विभिन्नांश) और आपका ही कार्य हैं। मनीषीगण इस प्रकार जीव-तत्त्वकी आलोचना करते हुए बड़े विश्वासके साथ आपके चरणकमलोंकी उपासना करते हैं, जो समस्त वैदिक कर्मोंके समर्पण-स्थान और संसार-भयके निवर्तक हैं।

इस प्रकारसे कहा जा सकता है कि स्वर्गसे लौटा हुआ अनुशयी जीवात्मा आकाश, वायु इत्यादिके भावोंके साथ शस्यादि देह धारण नहीं करता, अपितु पृथ्वीपर जो धान-जौ इत्यादिके शरीर धारण किये

हुए हैं, उनके साथ मिलकर संयोग मात्र प्राप्त करता है। फिर भुक्तान्नके रूपमें किसी पुरुषके उदरमें जाकर पुनः वीर्यके साथ स्त्रीके गर्भ रूपमें स्थापित हो तदाकाररूप धारण कर लेता है॥ २५॥

सूत्र—अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्॥ २६॥

सूत्रार्थ—'अशुद्धम्'—भोगजनक पाप कर्म हैं, 'इति चेत्'—यह यदि कहते हो तो 'न' ऐसा नहीं है, क्योंकि 'शब्दात्' प्रमाण है—अग्निषोमीय पशु-हिंसाका विधान है॥ २६॥

सूत्रानुवाद—अग्नीषोमीयादि कर्म शुद्ध ही हैं, क्योंकि इसमें शास्त्र प्रमाण है। विषय-भेदके कारण कोई विरोध नहीं है॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—नन्वन्यैरधिष्ठिते व्रीह्यादिदेहे अनुशयिनां संश्लेषमात्रमेव न तु भोगार्थं जन्म, भोगहेतोः कर्मणोऽभावादित्युक्तिवयुक्ता तद्धेतोः सत्त्वात्। तथाहि स्वर्गादिफलकमिष्टादिकर्मैवाशुद्धम् अग्नीषोमीयादिपशुहिंसामिश्रत्वात्। हिंसा तु पापमेव। *"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"* (म॰भा॰ वन पर्व २०३/४५) इति प्रतिषेधात्। ततश्च पुण्यांशः स्वर्गं दत्ते पापांशस्तु व्रीह्यादिभावमिति। *"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर"* इति स्मृतेश्च। अतो व्रीह्यादिषु मुख्यां जन्मेति चेन्न। कुतः? शब्दात्। *"अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"* (तै॰सं॰ ६/१/११/६) इत्यादिवेदवाक्यादित्यर्थः। तथा च धर्मत्वाधर्मत्वयोर्वेदैकगम्यत्वाद्वेदेनैव हिंसानुग्रहात्मकस्येष्टादेधर्मत्वावधारणान्नाशुद्धं तदिति। न च *'मा हिंस्याद्'* इति निषेधात् पापं हिंसेति वाच्यम्, उत्सर्गो हि सः। अग्निषोमीयमिति त्वपवादः। उत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितविषयत्वात् न किञ्चिच्चोद्यमस्ति। तस्माद्व्रीह्यादिभिः संश्लेषमात्रं जन्मेति॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षकी आपत्ति है कि सिद्धान्ती ने जो कहा है कि अन्य जीवके द्वारा अधिष्ठित व्रीह्यादि भोग-देहमें स्वर्गसे लौटनेवाले अनुशयी जीवोंका संश्लेषमात्र है, भोग हेतु व्रीह्यादि रूपमें मुख्य जन्म नहीं है, इसका कारण है कि उनका भोगजनक (भोगहेतुक) कर्म नहीं है, तो यह उक्ति (सिद्धान्त) युक्तिहीन है क्योंकि उनका भोगजनक कर्म अवश्य रहता है। किस कारणसे? (पूर्वपक्षवादी) कहते हैं—इष्टाकर्म स्वर्गादि फलजनक हैं लेकिन वे अशुद्ध-पापमिश्रित हैं। हिंसाको तो पाप कहना ही पड़ेगा। *'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'*—किसी प्राणीकी हत्या मत करो—यह श्रुति जीवहिंसाका

निषेध बतलाती है—इस प्रकार यज्ञकर्त्ताका पुण्यांश स्वर्गजनक है और पापांश व्रीह्यादि भावकी (जन्मकी) प्राप्तिका कारण है। स्मृतिवाक्य भी यही कहता है यथा—*'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर'* (मनुस्मृति) (जीव शारीरिक पापकर्मके फलस्वरूप स्थावर योनित्वको प्राप्त होता है। अतएव व्रीह्यादि स्थावर वस्तुओंमें उन जीवोंका मुख्य जन्म है। देखिये आपलोग (पूर्वपक्षवादी) जो ऐसा कहते हैं तो यह ठीक नहीं है, अयुक्त है। किसी कारणसे? क्योंकि वेदवाक्य इसी कारणसे कहता है यथा—*'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'* (तै॰सं॰ ६/१/११/६) अग्नीषोमीय पशुयज्ञमें अग्नि और सोमके उद्देश्यसे पशुका आलभन (वध) करे। ऐसा होनेपर क्या धर्म है और क्या अधर्म है—इस विषयमें जब वेद ही एकमात्र प्रमाण हैं, तब वेद ही हिंसा-रूप-अङ्गसे समन्वित यज्ञादिमें हिंसाकी धर्म्यता कहते हैं, तब यह कर्म अशुद्ध नहीं है, जिसके फलस्वरूप कर्मीका व्रीहि आदि भावोंमें जन्म होगा। यदि कहते हो कि *'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'* इस श्रुति-वाक्यमें हिंसाका निषेध रहनेके कारण यह पाप ही कहा जायेगा, तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि *'मा हिंस्यात्'* इस वाक्यमें 'सामान्य' विधि है अर्थात् हिंसा-निषेध-सूचक वाक्य साधारण है और 'अग्नीषोमीयम्' इत्यादि वाक्यमें 'अपवाद' (हिंसा-प्रयोजक वाक्य-विशेष) विधि है। उत्सर्ग (सामान्य रूपमें हिंसाका त्याग) और अपवाद विधिमें अपवाद-विधि ही प्रबल है। विषय भेदसे उनके विरोधका परिहार हुआ है यथा जीवहिंसा-निषेध विधि यज्ञीय पशु-हिंसासे अतिरिक्त स्थलपर (स्वभोगार्थ) प्रयोज्य है। अतः कुछ भी आपत्ति रह नहीं सकती। अतएव सिद्धान्त यह है कि व्रीहि इत्यादिके साथ संश्लेषमात्र है, इन रूपोंमें मुख्य जन्म नहीं होता॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—भोगजनकं कर्माशङ्क्य निरस्यति अशुद्धमिति। तद्धेतोरिति। व्रीह्यादिदेहेषु दुःखभोगहेतोः पशुहिंसात्मकस्य पापकर्मणः सत्त्वादित्यर्थः। शरीरजैरिति मनुः। न चेति। मा हिंस्यात् सर्वा भूतानीति वाक्यं यज्ञेतरपशुहिंसां निषेधयति। अग्निषोमीयमिति तु यज्ञे तद्धिंसां विधत्ते। इति विषयभेदः॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार—'भोग हेतु (भोगजनक) कर्म अवश्य रहता है' यह आशङ्का करके उसका खण्डन—*'अशुद्धमितिचेन्न'* इत्यादि सूत्रके द्वारा

करते हैं—व्रीहि इत्यादि देहोंमें दुःख भोगके हेतुभूत पशुहिंसा-रूप पापकर्मकी सत्ताके कारण—इसलिए, यह उसका अभिप्राय है। *'शरीरजैः कर्मदोषैः'* इत्यादि श्लोक मनु द्वारा कहा गया है। *'न च मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'* इत्यादि वाक्य यज्ञसे अतिरिक्त अन्यत्र पशु-हत्याका निषेधक है। पुनः अग्नीषोमीयं पशुमालभेत यह वाक्य यज्ञमें पशु-हिंसाका विधायक है, इसलिए विषय-भेद रहनेके कारण विरोध नहीं है॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षवादी यदि आपत्ति उठाते हैं कि वैदिक कर्ममें भी पाप मिश्रित रहता है, जैसे कि अग्नीषोमीय पशुयागमें पशुहिंसा रहनेके कारण वह पाप मिश्रित होता है। इष्टकर्मकारी जीवोंका ऐसा ही भोगजनक कर्म रहता है अर्थात् यज्ञका पुण्यांश स्वर्गजनक प्राप्तिका और पशु-हिंसारूप पापांश व्रीहि आदि भावोंकी प्राप्तिका कारण है। इस प्रकारकी आशङ्का उठाये जानेपर सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र द्वारा इसका निराकरण करते हैं कि पूर्वपक्षवादियोंका वैदिक कर्ममें पाप सत्तावाद ठीक नहीं है कारण शास्त्र-प्रमाण है अर्थात् इस प्रकारकी पशु-हिंसाका विधान शास्त्रमें है।

यद्यपि शास्त्रमें पशु-हिंसा निषिद्ध है, तथापि यज्ञमें पशु-वधका विधान है। अग्नीषोमीयादि याग-कर्मोंकी अङ्गभूत पशु-हिंसा दुःख फलरूप नहीं हो सकती क्योंकि यह निषेध-शास्त्र वहाँ प्रवृत्त ही नहीं होता; जो अपने स्वतन्त्र उपभोगके लिए हिंसा करता है, उसीका निषेध है। *'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'*—यह निषेध-शास्त्र किसी कर्मके प्रकरणमें पठित नहीं है कि हिंसा-निषेध उस कर्मका अङ्गभूत हो जाय। पुरुषके उद्देश्यसे जिस हिंसाका निषेध किया गया था, उस हिंसाके उत्सर्ग द्वारा वह पुरुषके कल्याणका अङ्गभूत है, कर्त्ता जब मात्र अपने राग-द्वेषके लिए जिस हिंसा-कर्ममें प्रवृत्त होता है, उसके लिए ही निषेध शास्त्र है। मन्त्रवर्ण है—*'न वा उ एतस्मिनम्रियसे न रिष्यसि देवान् इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्र यंति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्रत्वा देवः सविता दधातु इति।'* अर्थात् हे पशु! इस प्रकारके वधसे तुम मरते नहीं और न हिंसित ही होते हो, तुम सरल रीतिसे देवमार्गको प्राप्त हो रहे हो। जहाँ पुण्यवान ही जाते हैं, पापी नहीं

जाते, उस स्थानपर सवितादेव तुम्हें पहुँचायें। अतः इष्टापूर्त्तकारी अनुशयीका आकाशादिके समान ही व्रीहि, यवादिके साथ केवल संयोग है, इन भावोंमें जन्म नहीं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्या हि जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

(श्रीमद्भा॰ ११/५/११)

अर्थात् संसारमें स्त्रीसङ्ग, मांस-भोजन और मद्यपानमें प्राणीमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस विषयमें शास्त्र-विधानकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इन सभी कार्योंका सम्पूर्ण रूपसे परित्याग करना असम्भव हो, तभी विवाहके द्वारा स्त्रीसङ्ग, यज्ञके द्वारा मांस भक्षण एवं सौत्रामणी नामक यज्ञके द्वारा ही मद्यपानका वेदोंमें विधान किया गया है। इसलिए इन समस्त विषयोंसे सब प्रकारसे निवृत्ति कराना ही वेदका मुख्य उद्देश्य समझना होगा।

इस श्लोककी 'विवृति' में परमाराध्यतम श्रीश्रील प्रभुपादने कहा है—

पार्थिव विचारसे इन्द्रियतर्पण, परहिंसा द्वारा निज-देह-पोषण और आत्म-बन्धनरूप आसव-पान श्रीहरिसे विमुखजनोंके एकमात्र कार्य हैं। उनकी इन्हीं असत् प्रवृत्तियोंके दमनके लिए ही विवाह विधि, यज्ञादिमें पशु-वधादिकी व्यवस्था और सौत्रामणी यागमें आसवपानकी व्यवस्था है। ऐसी व्यवस्था रहनेपर भी कष्ट-साध्य साधनोंको स्वीकार करके इस प्रकार कार्य करनेका जो विधान है—उसका तात्पर्य देखें तो उनका उद्देश्य निवृत्ति ही जान पड़ता है।

मानव-शास्त्रमें कहा गया है—

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

अर्थात् मांस-भक्षण, मद्य-पान और मैथुनमें दोष नहीं है, इनमें प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, किन्तु जब इनसे निवृत्ति हो जाय, तो यह निवृत्ति महाफलदायिनी होती है॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—इतोऽपीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद— *'इतोऽपीति'* इस कारणसे भी संश्लेषमात्र कहना चाहिये, व्रीहि आदि देह-प्राप्ति नहीं, यही कहते हैं—

सूत्र—रेतःसिग्योगोऽथ॥ २७॥

सूत्रार्थ—'अथ'—व्रीहि इत्यादि भावोंके बाद 'रेतःसिग्योगः' 'रेतः सेचनकारीका सम्बन्ध इस प्रकारणमें ही सुना जाता है, यथा "यो यो अन्नमत्ति ... तद्भूय एव भवति" (छा॰ ५/१०/६)॥ २७॥

सूत्रानुवाद—जो अन्न खाता है, जो रेतः सिञ्चन करता है, वह पुनः जन्मता है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—अथ व्रीह्यादिभावानन्तरम् अनुशयिनो रेतःसिग्योगस्तत्रैव श्रूयते। *"यो यो अन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति"* (छा॰ ५/१०/६) इति। न च तस्य मुख्यं रेतःसिग्रूपत्वम्। अन्यस्यान्यरूपत्वासम्भवात्। तत्त्वे देहाप्त्ययोगाच्च। तस्मात् संश्लेषमात्रं तत्स्वीकार्यम्। एवं सति व्रीह्यादावपि तदेवास्तु वैरूप्ये हेत्वभावात्॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—और भी कारण बताते हैं—व्रीहि आदि भावोंकी प्राप्तिके बाद अनुशयी जीव (स्वर्ग-भोगके बाद भुक्तावशेष कर्मके साथ लौटे जीव) का रेतःसेचनकारित्व-सम्बन्ध (संयोग) इस प्रकरणमें श्रुत्र होता है, यथा *'यो यो अन्नमत्ति'* इत्यादि जो-जो अन्न भोजन करता है, जो रेतःपात (रेतका सिञ्चन) करता है, वह अनुशयी जीव तद्भाव (उसी भाव) को प्राप्त होता है। जिसके शुक्रसे अनुशयी जीव देह प्राप्त करते हैं, वे ही रेतःसिक् कहे जाते हैं। अतएव इन व्रीहि आदि भावोंसे युक्त अनुशयी जीवका रेतःसेचनकारित्व मुख्यार्थ नहीं हो सकता है, अवान्तर (मध्यमें स्थित) एक अवस्थामात्र है क्योंकि अन्यकी अन्यरूपता सम्भव नहीं है। एक पदार्थका अन्य पदार्थत्व कभी सम्भव नहीं है। इस प्रकार अनुशयी जीवका रेतसेचनकारित्व

होनेपर देह–प्राप्ति सम्भव नहीं है, इसलिए जन्म शब्दका अर्थ व्रीहि आदि भावोंमें संश्लेषमात्र ही स्वीकरणीय है। अतः व्रीहि आदि भावोंमें जन्म संश्लेष रूपमें ही होना चाहिये, क्योंकि मुख्य जन्म होनेपर विभिन्नरूपता प्राप्तिमें कोई भी हेतु नहीं है॥ २७॥

सूक्ष्मा–टीका—रेतःसिगिति। यो रेत इति। अनुशयी व्रीह्याद्यन्नद्वारा पुरुषं प्रविष्टः तद्रूप एव भवति तद्भावमेव गच्छतीत्यर्थः। न च तस्येति। यस्य शुक्रेणानुशयी देहं भजति स पुमान् रेतःसिक् निगदितः। यद्यनुशयी रेतःसिग्रूपः स्यात् तर्हि ततोऽन्यो देहं भजन् न दृश्येत इत्यर्थः। तत्त्वे रेतःसिग्रूपत्वे। तदेव संश्लेषमात्रम्। वैरूप्ये मुख्यजन्मवत्त्वे॥ २७॥

सूक्ष्मा–सार— *'रेतःसिक्'* इत्यादि सूत्रके *'यो रेत इति'* भाष्यमें उद्धृत श्रुतिका अर्थ है—अनुशयी जीव व्रीहि इत्यादि अन्नके द्वारा पुरुषमें प्रविष्ट होता है, इसके बाद पुरुष रूपको प्राप्त होता है। *'न च तस्येति'* का अर्थ है—जिसके शुक्र द्वारा अनुशयी जीव देहको प्राप्त होता है, वह पुरुष रेतःसिक् रूपमें कहा जाता है। यदि अनुशयी जीव ही रेतःसिक् पुरुष होता तो उससे अन्य व्यक्ति देह ग्रहण करता—यह देखा नहीं जाता। जो रेतःसेचनकारी है, वही देह–ग्रहणकारी है कहनेसे देह–प्राप्ति सम्भव नहीं है। 'तदेव' अर्थात् वही संयोगमात्र ही स्वीकार्य है। 'वैरूप्य'—मुख्य जन्म स्वीकार करनेके लिए कोई भी हेतु नहीं हैं, अतएव वह स्वीकार्य नहीं है॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें पूर्वोक्त सिद्धान्तको और भी दृढ़तापूर्वक समझा रहे हैं। शस्य होनेके बाद जो प्राणी उस शस्यका भोजन करके शुक्र त्याग करते हैं, चन्द्रमण्डलसे लौटनेवाले जीव उस प्राणीके भावको प्राप्त होते हैं। इसलिए व्रीहि आदि भावसे युक्त अनुशयी जीवका रेतःसेचनकारित्व मुख्य नहीं हो सकता, क्योंकि एक पदार्थका पदार्थान्तर—परिग्रह सम्भव नहीं है। अतएव वह संश्लेषमात्र ही है। मनुष्य द्वारा भक्षित जैसे मनुष्य होता है, इसी प्रकार पशु आदिसे भक्षित पशु आदि होता है। इस प्रकार वीर्य रूपसे (पुरुषके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुए तेजसे) स्त्रीके गर्भाशयमें प्रविष्ट हुआ तद्रूप (उसीके आकारका) हो जाता है, क्योंकि वीर्य, वीर्यसेचन

करनेवालेकी आकृतिसे भावित होता है। व्रीहि आदि भावोंके नष्ट होनेपर (कूटने-काटनेपर) अनुशयीगण सुरक्षित रह जाते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वर्गसे लौटनेवाला जीवका आकाशादिसे लेकर अन्न तक सभी भावोंमें केवल संयोगसे तदाकारता है। उस प्रकारके स्वरूपको वह धारण नहीं करता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३१/१)

अर्थात् श्रीभगवान् कपिलदेवजीने कहा—हे माताजी! जीव भगवान्की प्रेरणासे अपने पूर्व कर्मानुसार देहकी प्राप्तिके लिए पुरुषके वीर्यकणोंका आश्रय लेकर स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है।

श्रीरामानुजाचार्यपाद कृत इस सूत्रके श्रीभाष्यका सार इस प्रकार है—व्रीहि आदिके जन्मकी बात तो औपचारिक ही है, व्रीहि आदि भावके बोधक वाक्योंके बाद 'जो-जो अन्न खाते हैं, जो रेत-सिञ्चन करते हैं, बहुलांशमें वही होते हैं', इत्यादि श्रुतिमें दिखलाया गया है कि शुक्र-सिञ्चन भावसे अनुशयी जीवका, रेत-सिञ्चनके साथ जैसा सम्बन्ध होता है, व्रीहि आदि भावमें भी वैसा ही संश्लेष होता है।

श्रीमन्मध्वाचार्यके भाष्यमें है—

'स्वर्गादवाग्गतश्चापि मातुरेवोदरं व्रजेदिति वचनाद् य एव गृही भवति यो वा रेतः सिञ्चति तमेवानुप्रविशतीति श्रुतिः कथमित्यत आह ततो रेतसि चासवान् प्रविशत्यथ मातरमथ प्रसूयते स कर्म कुरुते इति कौषारव्यश्रुतेः। पितरमेव प्रथमतो विशति मातुः प्राप्तेः पश्चादपि भाव्यत्वात्।'

अर्थात् 'स्वर्गसे अवरोहण करके माताके उदरमें प्रवेश करता है' इत्यादि वचनके कारण पहले मातृ-प्रवेश जाना जाता है, अतएव 'जो गृही होकर रेतका सेचन करता है, उसमें प्रवेश करता है'—इस श्रुतिकी किस प्रकार उपपत्ति हो सकती है? अतएव कहते हैं—*'रेतसि चासवान्'* इत्यादि कौषारव्य-श्रुति प्रमाणसे पहले पितामें और बादमें

मातामें प्रवेश कहा गया है। अर्थात् माताको पाकर ही जन्म लेता है, फिर वह कर्म करता है। अतएव कर्ममें वैराग्य सिद्ध हुआ है।

श्रीनिम्बार्काचार्यके भाष्यमें भी देखा जाता है—*'यो-यो ह्यन्नमत्ति यो रेताः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' इति सिग्भाववद् व्रीह्यादिभावोऽपि।*

अर्थात् जो जो अन्न खाता है, जो जिस योनिमें रेतः सिञ्चन करता है, वह पुनः उसी भावमें जन्मता है। जैसे रेतस् सिञ्चनका योग उसका केवल संयोगमात्र है, इसी प्रकार व्रीहि आदि भाव भी केवल व्रीहि आदिका योगमात्र ही है॥ २७॥

सूत्र—योनेः शरीरम्॥ २८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायसस्य प्रथमपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'योनेः'—पितृ शरीरसे मातृयोनिमें प्रवेश करके अनुशयी जीव अवशिष्ट कर्मफलभोगके अनुरूप 'शरीरम्'—देह प्राप्त करते हैं॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथम पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—कर्मभोगानुशायी जीवोंको योनिसे ही शरीरकी प्राप्ति होती है॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथम पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी। पितृशरीरात् मातृयोनिं प्रविश्य देहमाप्नोत्यनुशयफलभोगाय *"तद् य इह रमणीयचरणा"* (छा॰ ५/१०/७) इत्यादेः। तस्मादाकाशादिप्राप्तिरिव व्रीह्यादिप्राप्तिरिति सिद्धम्। इत्थञ्च दुःखसारे संसारे विरज्य हरिरेवानन्दमयो ध्येयः सुधियेति व्यञ्जितम्॥ २८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'योनेः'* इस पदमें 'प्रविश्य' इस ल्यप् प्रत्ययके अन्तमें उह्य क्रियाके कर्ममें ल्यब्लोपे पञ्चमी है—इसका अर्थ

है—पिताके शरीरसे मातृ-योनिमें प्रवेश करके देह प्राप्त करता है, ताकि वह भुक्तावशिष्ट कर्मफलका भोग कर सके। श्रुति कहती है—*'तद् य इह रमणीयचरणाः'* इत्यादि जो उत्तम कर्मोंका आचरण करते हैं, वे पुरुष अतएव सिद्धान्त यह है कि चन्द्रलोकसे अवरोहण करते हुए अनुशयी जीवकी आकाशादि प्राप्तिके समान व्रीहि आदि भावोंकी प्राप्ति होती है। तभी देखा जाता है—इस प्रकार दुःख-बहुल संसारसे विरक्त होकर सुखी व्यक्तिको एकमात्र आनन्दमय श्रीहरिका ही ध्यान करना उचित है—यही सूचित हुआ है॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथम पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—ननु सर्वत्रानुशयिनः संसर्गमात्रेऽङ्गीकृते कुत्रापि मुख्यं जन्म न स्यात्। ततश्च रमणीयां योनिमित्यादिश्रुतेर्मुख्यार्थक्षतिप्रसङ्ग इति चेत् तत्राह योनेरिति। पितृशरीरादित्यनन्तरं रेतोद्वारैवेति शेषः। तस्माद्ब्राह्मणादियोनिष्वेव मुख्यं जन्म आकाशादिषु व्रीह्यन्तेषु तु संयोगमात्रमिति निर्णयः। अथ घटीयन्त्रवत् सन्ततमावर्त्तमाने विविधयातनाभाजने देहे विरज्य परमदयालौ विचित्रगुणरत्नाकरे सर्वेश्वरे पुरुषोत्तमे स्वामिनि तृष्णा युक्तेति पदार्थं व्यञ्जयन्नाह इत्थञ्चेति॥ २८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—यदि समस्त भावोंमें ही अनुशयी जीवका संसर्गमात्र स्वीकार किया जाता है तब तो किसी भी रूपमें मुख्य जन्म नहीं है। ऐसा होनेपर तो *'रमणीयाम् योनिम्'* 'रमणीययोनि (जन्म) प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतिका मुख्यार्थ बाधित हो पड़ता है। इसके उत्तरमें कहते हैं—*'योनेः शरीरम्।'* भाष्योक्त *'पितृशरीरात्'* इस पदके बाद 'रेतोद्वारैव' इस निवेश्य अर्थात् शुक्रका आश्रय करके मातृयोनिमें प्रवेश करता है। अतएव सिद्धान्त है कि ब्राह्मणादि जन्म ही मुख्य जन्म है और आकाशसे आरम्भ करके व्रीहि इत्यादि शस्य पर्यन्त जन्मोंमें संश्लेष (संयोग) मात्र है। सिद्धान्त बतला रहे हैं—अतएव घटीयन्त्र (कुएँसे जल खींचनेवाला यन्त्र) जिस प्रकार उठता-गिरता है, उसी प्रकार जीवकी सतत आवृत्ति है। अतः विविध प्रकारकी यन्त्रणामयी

देहोंसे विरक्त होकर परम दयालु, अद्भुत गुण-रत्नाकर, सर्वेश्वर स्वामी पुरुषोत्तममें ही जीवका प्रेम होना उचित है। इसीको व्यञ्जित करते हुए 'इत्थञ्च' इत्यादि भाष्य कहा है॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथम पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें पुनः शरीरकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कहते हैं कि कर्मानुशयी जीव पितृ-शरीरसे मातृयोनिमें प्रवेश करके मुख्य जन्म प्राप्त करता है। पूर्वकृत कर्मानुसार विभिन्न शरीरोंको प्राप्त होकर विभिन्न सुख-दुःखोंका भोग करता है। इस प्रकारसे शरीर प्राप्त होनेके पूर्व आकाश, वायु इत्यादिके साथ संयोग मात्र है, जन्म नहीं, उस समय सुख-दुःख भोग नहीं होता।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें है—*'योनिमाश्रित्य शरीरी भवति'* अर्थात् योनि-प्राप्तिके पश्चात् ही अनुशय युक्त आत्माओंको ब्राह्मणादि शरीरोंकी प्राप्ति होती है।

श्रीरामानुजभाष्यमें इस प्रकारसे वर्णन है—

योनिप्राप्तेः पश्चादेव अनुशयिनां शरीरप्राप्तिः, तत्रैव सुखदुःखोप-भोगसद्भावात्। ततः प्रागाकाशादिप्राप्तिप्रभृति तद्योगमात्रमेवेत्यर्थः॥

अर्थात् योनि-प्राप्तिके पश्चात् ही अनुशयी-गणोंको शरीरकी प्राप्ति होती है, उसीसे ही सुख-दुःखका उपभोग होता है। इसके पहले तो आकाशादिमें केवल जीवका योगमात्र होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देखा जाता है—

देहं गर्भस्थितं क्वापि प्रविशेत् स्वर्गतो गत इति वचनात् पश्चादेव प्रविशतीत्यत आह। पितुः शरीरान्मातृयोनिमनुप्रविश्य तत एव शरीरं प्राप्नोति दिवः स्थास्नून् गच्छति स्थास्नूभ्यः पितरं पितुर्मातरं मातुः शरीरं शरीरेण जायत इति संमितं अथासंमितं स्थास्नूभ्यो जायते पितुर्मातुरन्तरे वा गर्भे वा बहिर्वेति पौष्यायणश्रुतेः। स्थावराणि दिवः प्राप्तः स्थावरेभ्यश्च पुरुषम्। पुरुषात् स्त्रियमापन्नस्ततो देहं यथाक्रमम्। देहेन जायते जन्तुरिति सामान्यतो जनिः। विशेषजननं चापि प्रोच्यमानं निबोध मे। स्थास्नूष्वथापि

पुरुषे प्रमदायामथापि वा। गर्भे वा बहिरेवाथ क्वचित् स्थानान्तरेषु चेति ब्राह्मे।

अर्थात् जीव पिता द्वारा योनिमें प्रवेश करके शरीर प्राप्त करता है। इसमें सन्देह होता है कि जीव क्या पिता द्वारा मातृयोनिमें प्रवेश करके शरीर प्राप्त करता है? अथवा उक्त रूप नहीं होता? पिताके शरीरसे मातृयोनिमें अनुप्रवेश किये बिना जीवको शरीरकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जीवका योनिप्रवेश नहीं है। स्वर्गगत जीव गर्भस्थित देहमें प्रवेश करता है—श्रुतिमें मातृयोनि प्रदेश यही प्रतीति होती है। इसलिए पितृ द्वारा मातृयोनिमें प्रवेश करके शरीर-प्राप्ति सम्भव है? अतएव कहते हैं—पौषायण-श्रुतिमें लिखा है कि पितृ-शरीरसे मातृयोनिमें अनुप्रवेश करके शरीर प्राप्त होता है अर्थात् स्वर्गसे लौटकर स्थावर शरीरमें (अन्नोंमें) प्रवेश करता है, स्थावरसे पितृ-शरीरमें जाता है, पिताके शरीरसे मातृ-शरीरमें प्रविष्ट होता है। इसके बाद शरीरके साथ जन्म-ग्रहण करता है। पिता-माताके परिमाणानुसार सम्मित (सम-रूप) शरीरवान् जीव उत्पन्न होता है। स्थावरसे असम्मित शरीर जन्मता है, इस प्रकारसे पिता-माताके अन्तरमें, गर्भमें अथवा बाह्यमें भी शरीर उत्पन्न होता है। ब्रह्मपुराणमें उल्लेख है कि जीव स्वर्गसे स्थावरको प्राप्त करता है, स्थावरसे पुरुष, पुरुषसे स्त्री और स्त्रीसे देह प्राप्त करता है। इस प्रकार क्रमसे देहके साथ जन्तुका (जीवका) जन्म होता है, सुनो। स्थावरसे, पुरुषसे, स्त्रीके गर्भसे या बाहर किसी भी स्थानसे जन्म होता है। स्थावरमें शुकादि, पुरुषमें मान्धाता (युवनाश्वकी दाहिनी कोखसे जन्म) इत्यादि और स्त्रीमें जरत्कारुके (वासुकि नागकी बहिनके) अनुग्रहसे आस्तीकादिका जन्म हुआ है। अतएव सामान्य जन्मसे पित्रादि प्रवेशके नियमके प्रयोगसे मोक्षके बिना सर्वत्र ही महादुःख है। इसलिए संसारसे विरक्त होकर भगवान्का भजन करें॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीय अध्यायके प्रथम पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



द्वितीयः पादः

मङ्गलाचरणम्

वित्तिर्विरक्तिश्च कृताञ्जलिः पुरो यस्याः परानन्दतनोर्वितिष्ठते।
सिद्धिश्च सेवासमयं प्रतीक्षते भक्तिः परेशस्य पुनातु सा जगत्॥

जिस परमानन्दस्वरूपा भक्तिके समक्ष ज्ञान और वैराग्य अञ्जलि बाँधकर दण्डायमान रहते हैं और समस्त सिद्धियाँ भी जिनकी सेवाके लिए अवसरकी प्रतीक्षा करती हैं—वह परमेश्वर श्रीकृष्ण-विषयक भक्ति सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करे।

मङ्गलाचरण टीका—अथ द्विचत्वारिंशत्सूत्रकं सप्तदशाधिकरणकं द्वितीयं पादं व्याचिख्यासुर्भक्तितो विश्वमङ्गलाशंसनं मङ्गलमाचरति वित्तिरिति। तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया। पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया। इति स्मृतेः। सिद्धिश्चेति। सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती। नित्यञ्च परमानन्दो भवेद्गोविन्दभक्तितः। इति स्मृतेः। परानन्दतनोरिति अग्रे संराधनाधिकरणे व्यक्तीभावि।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—अब इसके बाद बयालीस सूत्रमय और सत्तरह अधिकरणसे युक्त द्वितीय पादकी व्याख्या करनेकी इच्छासे भाष्यकार भक्तिसे विश्वके मङ्गलका आशासूचक मङ्गलाचरण *'वित्तिर्विरक्तिश्च'* इत्यादि श्लोक द्वारा करते हैं—भक्तिसे जो विश्वका मङ्गल है, इस विषयमें स्मृति-वाक्य भी है, यथा—*'तच्छ्रद्धाना मुनयः'* इत्यादि उन परमेश्वरमें श्रद्धायुक्त मुनिगण गुरुमुखसे श्रवणके पश्चात् गृहीत ज्ञानवैराग्यसे समन्वित भक्ति द्वारा सभीके हृदयमें उन परमेश्वरका दर्शन कराते हैं। *'सिद्धिश्च सेवासमयं प्रतीक्षते'* इत्यादि। सिद्धि विषयमें भी स्मृति-वाक्य है कि अति आश्चर्यजनक सिद्धियाँ, शाश्वती भुक्ति (भोग), मुक्ति और नित्य परमानन्दकी प्राप्ति श्रीगोविन्द-भक्तिसे ही उदित होती है। भक्ति जो परमानन्दमयी है, इसे बादमें संराधनाधिकरणमें व्यक्त किया जायेगा।

अवतरणिका भाष्य—अथास्मिन् पादे प्राप्यानुरागहेतुभूता भक्तिरुच्यते। प्राप्यस्य ब्रह्मणोभक्त्यर्हत्वाय स्वप्नादिसृेटिकर्त्तृत्वरूपो महिमा तदाविर्भावाणामैक्यम् आत्ममूर्त्तित्वं भजद्भेदः प्रत्यक्त्वं तथापि भक्त्येकग्राह्यत्वमुभयावभासित्वं परानन्दत्वं भावानुसारिप्रकाशत्वं सर्वपरत्वं सर्वदातृत्वं चेति गुणनिचयो निरूप्यते। भक्तीच्छुः खलु तत्तत्संप्रतीतौ तस्यां प्रवर्त्तते, नेतरथा। तत्रादौ स्वप्नादिसृष्टिकर्त्तृत्वमुच्यते। तदितरस्य तत्कर्त्तृत्वे ब्रह्मणः सर्वकर्त्तृत्वबाधात्। किञ्चित्कर्त्तरि तस्मिन् भक्तिर्नोद्भवेदतस्तत्कर्त्तृतया तन्महिमा प्रदर्श्यते। बृहदारण्यके श्रूयते—*"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशन्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशन्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता"* (बृ०आ० ४/३/१०) इति। तत्रेयं स्वाप्निकी रथादिसृष्टिर्जीवकर्त्तृका परमात्मकर्त्तृका वेति संशये जीवकर्त्तृका स्यात्। तस्यापि प्रजापतिवाक्ये सत्यसंकल्पत्वश्रवणादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इस तृतीय अध्यायके द्वितीय पादमें प्राप्य श्रीकृष्णके अनुरागकी हेतुभूत साधन-भक्तिका निरूपण किया जाता है। साधनसे लभ्य ब्रह्म श्रीकृष्ण जो भक्तिके योग्य हैं, इसीका प्रतिपादन करनेके लिए उनका स्वप्नादि सृष्टिकर्त्तृत्वरूप महिमा, उन परमेश्वरके आत्मभूत अवतारोंका उनके साथ ऐक्य-अभेद, उनकी आत्ममूर्त्तिता, भजनकारियोंका उपास्यके साथ भेद अर्थात् द्वैतवाद प्रत्यक् भाव और ईश्वरका अन्तर्यामित्व—ये सब होनेपर भी जो एकमात्र भक्तिसे ग्राह्य, उभय-प्रकाशक अर्थात् धर्म-धर्मी भावसे स्फुरणशक्तियुक्त, परमानन्दमय, भावानुसार आत्म-प्रकाशक, सर्वश्रेष्ठ (सर्वपर) एवं सर्वदाता हैं—इन समस्त गुणोंका भी इस पादमें वर्णन किया जायेगा। भक्तिकामी व्यक्ति भगवान्के उक्त गुणोंसे अवगत होकर उनमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् उनके भक्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इन समस्त गुणोंमें सर्वप्रथम उनका स्वप्नादिसृष्टिकर्त्तृत्व प्रतिपादित हुआ है क्योंकि यदि ब्रह्मसे भिन्न किसी दूसरेका स्वप्नादि-कर्त्तृत्व रहता है, तब ब्रह्मकी सर्वकर्त्तृत्व श्रुति बाधित होती है और यदि उन्हें किञ्चितमात्र कर्त्ता मान लें तो उनमें भक्ति हो भी नहीं सकती, इसलिए स्वप्नादि सृष्टिकर्त्तृत्व द्वारा उनकी महिमा प्रदर्शित की गयी है। बृहदारण्यकोपनिषदमें श्रुति है—*'न तत्र रथा न रथयोगा ... सृजते स कर्त्तेति'* अर्थात् स्वप्नदशामें रथ नहीं है, रथयोग अर्थात् अश्वादि वाहन नहीं हैं और

रथ चलनेके लिए पथ भी नहीं है किन्तु फिर भी श्रीहरि रथ, अश्वादि वाहन और पथ इत्यादि की उस समय सृष्टि करते हैं। जब स्वरूप सुख नहीं है, वैषयिक सुख नहीं है, उत्तम शब्दादि विषयक भोग जनित सुख भी नहीं है, उस समय भी वे आनन्द, वैषयिक सुख अथवा उसकी अनुभूतिके आनन्दकी सृष्टि करते हैं। उस स्वप्नावस्थामें न गृह है, न क्षुद्र सरोवर है, न पुष्करिणी है और न ही नदी फिर भी श्रीहरि उन गृह, क्षुद्र सरोवर, पुष्करिणी और नदीकी सृष्टि करते हैं। अतः इन सबकी सृष्टिके कारण वे ही समस्तके कर्त्ता हैं। इसमें संशय है कि ये सब स्वाप्निक सृष्टि क्या जीव करता है? अथवा परमेश्वर करते हैं? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि 'यह समस्त सृष्टि जीव द्वारा ही होना उचित है क्योंकि प्रजापतिके वाक्यमें जीवको भी सत्यसङ्कल्पके रूपमें अभिहित किया गया है।' इस पूर्वपक्षीके मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वपादार्थेन स्वदेहपर्यन्ते जगति दोषदृष्ट्या वैराग्ये सिद्धे स्वामिनि हरावनुरञ्जकानां सर्वकर्त्तृत्वादीनां गुणानां द्वितीयेन पादेन निरूपणादनयोर्हेतुहेतुमद्भावः सङ्गतिः। पूर्वन्यायेनास्य न्यायस्य सङ्गतिस्तु प्रत्युदाहरणरूपा बोध्या। योनेः शरीरमिति सूत्रे मातृगर्भं प्रविश्यानुशयी लब्धदेहस्तस्मान्निःसरति। दशमेऽह्नि पित्राहितं देवदत्तादिनाम भजतीति। नामरूपयोगरूपा जागरसृष्टिरियं संज्ञामूर्त्तीत्युपक्रमादस्तु पारमेश्वरी। रथादिरूपा स्वाप्नसृष्टिर्जैवी स्यात् तस्या जीववासनाविजृम्भितत्वादिति। पादार्थान् सूचयति अथेत्यादिना। तदाविर्भावाणां तदात्मभूतानामवताराणामित्यर्थः। उभयेति। भेदाभावेऽपि विशेषबलात् धर्मधर्मिभावेन स्फुरणमित्यर्थः। भक्तीच्छुरिति। श्रीहरेः सर्वकर्त्तृत्वादीन् गुणान् संप्रतीत्य तद्भक्तौ जनः प्रवर्त्तते तेषां तत्रानुरञ्जकत्वात्। इतरथा नैर्गुण्यप्रतीतौ तत्र विरज्येत निर्गुणस्य तौच्छ्यात्। तदितरस्य जीवस्य कालस्य चेत्यर्थः। न तत्रेति। रथयोगाः अश्वादयः। आनन्दाः स्वरूपसुखानि। मुदो वैषयिकसुखानि। प्रमुदः प्रकृष्ट-विषयानुभवजानि सुखानि। वेशन्ताः गृहाः क्षुद्रसरांसी वा। पुष्करिण्यः सरांसी। स्रवन्त्यो नद्यः। उत्तरत्रोभयोर्द्वितीयार्थे प्रथमा ज्ञेया। तत्रेयमित्यादि। तस्य जीवस्यापि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व पादमें वर्णित विषयके द्वारा निर्धारित हुआ था कि निज देह पर्यन्त समस्त जगत्में ही दोष है, तदनुसार समस्त वस्तुओंसे वैराग्य सिद्ध होनेपर भगवान् श्रीहरिमें भक्तिके जनक उनके सर्वकर्त्तृत्वादि गुणोंका इस द्वितीय पादमें निरूपण

है। इस कारण पूर्व पादार्थ एवं यह द्वितीय पादार्थ—इन दोनोंकी कार्य-कारण रूप सङ्गति हुई। पुनः पूर्वाधिकरणके साथ इस अधिकरणकी सङ्गति प्रत्युदाहरणात्मक जानें। पूर्वपादके अन्तमें *'योनेः शरीरम्'* इस सूत्रमें कहा गया था कि अनुशयी जीव मातृगर्भमें प्रवेश करके वहाँ देह प्राप्त करता है और बादमें वहाँसे निःसृत होता है। जन्म होनेके बाद दसवें दिन पिता उसका देवदत्त आदि नाम रखता है, वही नामभागी वह होता है। इसीसे नाम एवं आकृति योगरूप जागरसृष्टि संज्ञामूर्त्ति नामसे अभिहित है। इस प्रकार उपक्रममें कहा गया है कि यह सृष्टि परमेश्वर द्वारा ही होनी चाहिये किन्तु स्वप्नदशामें जिन रथादिकी सृष्टि होती है, वह तो जैवी है अर्थात् जीव द्वारा ही होगी क्योंकि जीवकी जाग्रतकालीन अनुभूत वस्तुओंके संस्कारवश यह घटित होता है। अतःपर इस द्वितीय पादके प्रतिपाद्य विषयोंकी सूचना *'अथास्मिन्'* इत्यादि वाक्य द्वारा दे रहे हैं। *'तदाविर्भावाणामैक्यम्'* इति अर्थात् उनके आत्मभूत मत्स्यादि अवतारोंका उनके साथ ऐक्य है। *'उभयावभासित्वम्'* इति भेद न रहनेपर परस्पर-भेदक विशेष धर्मके कारण दोनोंका धर्म-धर्मी भावमें प्रकाश है; यही उसका तात्पर्य है। *'भक्तीच्छुः खलु'* इति अर्थात् श्रीहरिके सर्वकर्त्तृत्वादि गुणोंके प्रतीत होनेपर जीवोंकी उनके प्रति भक्तिमें प्रवृत्ति होती है। क्योंकि उनके ये गुण ही उनके प्रति भक्तिके आकर्षण हैं। 'इतरथा' अर्थात् यदि उन्हें इन समस्त गुणोंसे रहित जाना जाता है तो उनके प्रति वैराग्य आता है अर्थात् उनकी भक्तिमें उदासीनता होती है क्योंकि जिनका कोई गुण नहीं है, वे तुच्छ हैं। *'तदितरस्य तत्कर्त्तृत्व'* इति 'तदितर' से तात्पर्य है जीव अथवा कालका कर्त्तृत्व माननेपर। 'न तत्रेति' श्रुतिका अर्थ है स्वप्नमें वास्तव रथ नहीं है, रथ-योग अर्थात् रथ-वाहक अश्वादि नहीं है, आनन्दस्वरूप सुखकी सृष्टि है, 'मुद' का अर्थ है वैषयिक सुख, 'प्रमुद्' का अर्थ है उत्तम भोग-भोग्यवस्तुओंका भोगजनित सुख। 'वेशन्तः' का अर्थ है गृह अथवा क्षुद्र जलाशय। 'पुष्करिणी' का अर्थ है सरोवर और 'स्रवन्ती' का अर्थ है—नदी। *'न तत्र रथा न रथयोगा'* इत्यादि वाक्यके परवाक्यमें *'पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः'* इन दो पदोंमें द्वितीया

अर्थमें प्रथमा विभक्ति जानें। *'तत्रेयमित्यादि'* में 'तत्र' का अर्थ है प्रजापति वाक्यमें। 'तस्यापि' का अर्थ है—जीवका भी।

सन्ध्याधिकरणम्

सूत्र—सन्ध्ये सृष्टिराह हि॥ १॥

सूत्रार्थ—'सन्ध्ये'—स्वप्नमें, 'सृष्टिः'—परमेश्वर द्वारा सुख-वाहनादिकी सृष्टि होती है, 'हि'—क्योंकि 'आह'—श्रुति ऐसा कहती है॥ १॥

सूत्रानुवाद—स्वाप्न सृष्टि परमेश्वरकर्त्तृक है क्योंकि श्रुति है—'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते।' (बृ॰आ॰ ४/३/१०)॥ १॥

गोविन्दभाष्य—सन्ध्यं स्वप्नः *"सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्"* (बृ॰आ॰ ४/३/९) इति तत्रैव श्रवणात्। जागरसुषुप्तिमध्यभवत्वाच्च। तत्र या रथादिसृष्टिः सा परमात्मकृतैव। कुतः? हि यतः *"स हि कर्त्ता"* (बृ॰आ॰ ४/३/१०) इति श्रुतिरेव स्वप्ने रथादिसृष्टिं तत्कृतामाह। अयं भावः। अल्पाल्पकर्मानुसारिफलभोगाय स्वप्नद्रष्टृपुंमात्रानुभाव्यांस्तावन्मात्रसमयान् रथादीन् परमात्मा सृजति तस्मात् स हि कर्त्तेति सत्यसङ्कल्पस्याचिन्त्यशक्तेस्तादृशकर्त्तृत्वं सम्भवत्येवेत्यर्थः। स्वप्नान्तमित्यादि-श्रुत्यन्तराच्चेति। जैवी सत्यसङ्कल्पता तु मोक्षे स्यादतो न तया स्वप्नसृष्टिः॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'सन्ध्य' शब्दका अर्थ है—स्वप्न, क्योंकि बृहदारण्यकमें सुना जाता है—*'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्'*—सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थान है—स्वप्न नामक तृतीय दशा ही सन्ध्य है तथा जाग्रत-दशा और सुषुप्ति-दशाकी सन्धिमें अर्थात् मध्यमें उत्पन्न होनेके कारण इसे सन्ध्य अर्थात् तृतीय स्थान कहा जाता है। इस स्वप्न अथवा सन्ध्यामें जो रथ इत्यादिकी सृष्टि है, वह परमेश्वर द्वारा ही है। कारण क्या है? क्योंकि *'सृजते स हि कर्त्ता'*—वे ही कर्त्ता हैं—इस श्रुतिमें स्वप्नावस्थामें रथादिकी सृष्टि उन्हींके द्वारा कहकर उपसंहार किया गया है। बात यह है कि अल्प-अल्प कर्मानुसारी फलभोगके लिए स्वप्नद्रष्टा जीवमात्रके उपभोग्य रथादिकी सृष्टि परमेश्वर परिमित समय (अल्पकाल) के लिए करते हैं। इसलिए वे परमेश्वर ही रथादि सृष्टिके कर्त्ता हैं—यह कहा गया है। इसका प्रमाण है कि वे सत्यसङ्कल्प एवं अचिन्त्यशक्तिमान हैं, उनके द्वारा ही यह रथादि सृष्टिकर्त्तृत्व सम्भव है, किसी औरके

लिए नहीं, इसके अतिरिक्त *'स्वप्नान्तम्'* (कठ० २/४/४) इत्यादि अन्य श्रुतिसे भी यह अवगत होता है। जीवकी सत्यसङ्कल्पता मुक्तिके बाद (मोक्षावस्थामें) हो सकती है, संसारी-दशामें नहीं। अतएव जीवसे निद्रावस्थामें रथादिकी सृष्टि जैवी सत्यसङ्कल्पता द्वारा नहीं हो सकती॥ १ ॥

सूक्ष्मा-टीका—सन्ध्ये इति। व्युत्पत्त्यापि सन्ध्यशब्दः स्वप्नाभिधायीत्याह। जागरेति। तत्कृतां परमात्मनिर्मिताम्। नन्वीदृक्सृष्टौ कथं परमात्मनः प्रवृत्तिरिति चेत् तत्राहाल्पेति। ये ह्यल्पमल्पं कर्मानुतिष्ठन्ति फलं तु रथारोहणादिजन्यानन्दरूपं महदिच्छन्ति तान् कारुणिको हरिः स्वनिर्मितै रथाद्यैस्तत्सुखं स्वप्नेऽनुभावयति जाग्रत्सिद्धरथादिहेतुककर्मानुष्ठाने प्रोत्साहयन्नित्यर्थः। स्वप्नान्तमिति व्याख्यास्यते॥ १ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'सन्ध्या'* इत्यादि सूत्रमें। सन्ध्य शब्द सन्धिसे उत्पन्न है—इसी व्युत्पत्तिके आधारपर ही स्वप्नार्थवाचक है—इसी बातको *'जागर सुषुप्तिमध्य भवत्वात्'* वाक्यसे कहते हैं। *'रथादिसृष्टिं तत्कृतामिति'* में *'तत्कृताम्'* का अर्थ है परमेश्वर-निर्मित। यदि कहो कि ऐसी स्वप्नकालीन रथादि सृष्टिमें भगवान्की प्रवृत्ति क्यों होने लगी? तो इस विषयपर उत्तर देते हैं— *'अल्पाल्पकर्मानुसारिफल भोगाय'* इत्यादि। तात्पर्य यह कि जो अति अल्प मात्रामें कर्मानुष्ठान करते हैं, फिर भी उसके फल रूपमें रथारोहण इत्यादिसे उत्पन्न अतिशय आनन्द भोग करना चाहते हैं, तो परमकरुणामय श्रीहरि ऐसे व्यक्तियोंको स्वेच्छासे स्वशक्तिके बलपर निर्मित रथादि द्वारा स्वप्नमें ही उस सुखका अतिशय रूपमें भोग करा देते हैं। इसके फलस्वरूप जाग्रतदशामें सिद्ध रथादि-आरोहणके हेतुभूत कर्मानुष्ठानमें जीवको उत्साहित करते हैं। *'स्वप्नान्तम्'* इत्यादि श्रुतिकी व्याख्या बादमें होगी॥ १ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस तृतीय अध्यायके द्वितीयपादमें श्रीकृष्णकी अनुरागजननी साधन-भक्तिके विषयमें कहा जा रहा है। भाष्यकार श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने सर्वप्रथम मङ्गलाचरणमें भक्ति-देवीकी महिमाका वर्णन करते हुए उनके निकट जगत्की रक्षाके लिए प्रार्थना ज्ञापित की थी। इसके बाद अवतरणिका भाष्यमें कहा है कि श्रीभगवान्की भक्ति प्राप्त करनेपर जीवको भगवत्-विषयक कुछ गुण अथवा उनकी महिमाके सम्बन्धमें ज्ञानकी आवश्यकता रहती है,

क्योंकि श्रीभगवान्‌की गुण-प्रतीतिके द्वारा ही भक्तिकामी व्यक्ति भक्तिपथपर प्रवृत्त हो सकता है। यही गुण-परम्परा इस पादमें वर्णित हुई है, यथा—श्रीभगवान्‌की स्वप्नादि-सृष्टिकर्त्तृत्वरूप महिमा, उनके आविर्भावों (अवतारों) का उनके साथ एकत्व—अभिन्नता, आत्ममूर्त्तित्व, भजनकारियोंका उनसे भेद, श्रीभगवान्‌का अन्तर्यामित्व, श्रीभगवान्‌की एकमात्र भक्तिग्राह्यता, उनका धर्म-धर्मी भावसे स्फुरण, परमानन्दमयत्व, भक्तोंके भावानुसार आत्मप्रकाशत्व, सर्वोत्तमत्व, सर्वदातृत्व इत्यादि।

इस प्रसङ्गमें प्रथमतः श्रीभगवान्‌के स्वप्नादि सृष्टि-कर्त्तृत्व विषयका वर्णन हुआ है।

बृहदारण्यकमें देखा जाता है—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति इत्यादि।

(बृ॰आ॰ ४/३/१०)

अर्थात् उस अवस्थामें न रथ है, न रथमें जोते जानेवाले (अश्वादि) हैं और न मार्ग ही है।

इस स्थलपर स्वाप्निकी रथादिकी सृष्टि जीव द्वारा है? अथवा परमेश्वर द्वारा? इस प्रकारके संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि स्वप्न-सम्बन्धित रथादिकी सृष्टि जीव द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि जीवके सत्यसङ्कल्पता इत्यादि गुण सुने जाते हैं। इसी प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि स्वाप्निकी सृष्टि ईश्वर द्वारा ही होती है, यह श्रुतिमें प्राप्त होता है। 'सन्ध्य' शब्द अर्थ है—'स्वप्न'—जागर एवं सुषुप्ति इन दोनोंके मध्य रहनेके कारण इसे 'सन्ध्य' कहा जाता है। इस अवस्थामें जो रथादिका सुख देखा जाता है, वह ईश्वर द्वारा ही सृष्ट होता है।

बृहदारण्यक (४/३/९) में कहा गया है—*'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीय स्थानम्।'*

अर्थात् उन पुरुषके दो ही स्थान हैं—यह लोक और परलोक सम्बन्धी स्थान—तीसरा स्वप्नस्थान संध्यस्थान है।

श्रीपाद जीवगोस्वामीकृत सर्वसंवादिनीमें परमात्म-सन्दर्भीय विचार पाया जाता है—*'तदेवं जाग्रत सृष्टिर्यथेश्वरकृतत्वेन न जीवाज्ञान-मात्रकल्पिता तद्वत् स्वप्न-सृष्टिरपि भवेदितीश्वरवादिनामनुमानम्'*—अर्थात्

जिस प्रकार जाग्रत सृष्टि ईश्वरकृत है, जीवके अज्ञानमात्रसे कल्पित नहीं है, स्वप्नसृष्टि भी इसी प्रकार ईश्वर द्वारा सम्पन्न होती है। ईश्वरवादीगणोंका यही अनुमान है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

लोके विततमात्मानं लोकञ्चात्मनि सन्ततम्।
उभयञ्च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम्॥

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः॥

एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/५२-५४)

अर्थात् इस भोग्यात्मक प्रपञ्चमें आत्मा भोक्तृत्व रूपमें व्याप्त है और आत्मामें यह प्रपञ्च भोग्यत्व रूपमें व्याप्त है। इन दोनोंका कारण मैं हूँ, मेरे ही अधिष्ठानके कारणसे ये दोनों मुझमें कार्य रूपमें कल्पित हैं। ऐसा समझना चाहिये। कोई मनुष्य जब प्रगाढ़ नींदमें सोया होता है, तो वह दूर-दराजमें स्थित—पर्वत, नदी और वनको अपनेमें देखता है पुनः स्वप्नसे जगनेपर स्वयंको मनुष्यके रूपमें एक कोनेमें सोया हुआ मान लेता है, उसी प्रकार जागरणादि उपाधियाँ जो बुद्धिकी अवस्थाएँ हैं—ये सब परमात्माकी मायामात्र है। अतः मनुष्यको इन प्रगाढ़ निद्रा, स्वप्न तथा जाग्रदादि अवस्थाओंके मूल स्रष्टा परमात्माको इनके स्पर्शमात्रसे रहित जानकर उनका द्रष्टा एवं अन्तर्यामी रूपमें स्मरण करना चाहिये।

माण्डूक्योपनिषदमें वर्णन है—

भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥

जागरित स्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो
ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥
एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ (माण्डूक्य १-७)

अर्थात् अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत्—इन तीन कालोंको अधिकार करके जो कुछ भी पदार्थ है, वह ॐकारात्मक है। मात्र इतना ही नहीं, त्रिकालातीत अव्याकृत (प्रधान) इत्यादि भी ॐकार स्वरूप ही हैं। इसके बाद ॐकार वाच्य परात्पर ब्रह्मका चतुष्पादरूप वर्णन किया जाता है—आत्मा जिन चार अवस्थाओंका भोग करता है, वे सब उसके चार मात्रा अथवा चार पाद हैं। इनमें जाग्रत् दशाभुक् आत्माके सात अङ्ग, उन्नीस मुख हैं—ये बाह्य विषयोंके प्रज्ञायुक्त, सात स्थूल शब्दादिका भोग करते हैं—ये वैश्वानर नामसे प्रख्यात हैं—यह प्रथमपाद है।

स्वप्नाधिष्ठित आत्मा निद्राकालमें बाह्य विषयोंसे प्रज्ञाशून्य केवल जाग्रतकालीन विषयोंके संस्कार लेकर भोग (अनुभव) करती है, इसमें भी आत्माके सात अङ्ग हैं और पूर्वोक्त उन्नीस स्थानोंकी उपलब्धि रहती है, किन्तु प्रज्ञामात्रसे सूक्ष्म विषयोंका भोग करते हैं। प्रणवका यह द्वितीय पाद तेजोमय मनोभिमानी है, इसलिए तैजस नामसे अभिहित है। सुषुप्ताधिष्ठित आत्मा सुषुप्तिस्थान है। उस समय मनके स्पन्दित (स्फुरित) जो द्वैतपदार्थ—जाग्रत और निद्रामें जिस प्रकार प्रकाशित होते हैं—वे उस प्रकारसे प्रकाशित नहीं होते, इसलिए दोनों मिलकर एकीभूत हो जाते हैं। इस कारण जाग्रत और स्वप्नकालीन मनका स्पन्दनरूप प्रज्ञान घनीभूत-सा हो जाता है।

किन्तु वह अवस्था केवल आनन्द-बहुल है, आत्मा उस समय आनन्दभोगकारी, आनन्दभोगका द्वारस्वरूप चित्त, प्राज्ञ अथवा विज्ञानाभिमानी

है, वही पूर्ण ब्रह्मका तृतीय पाद है। अब पादत्रय-विशिष्ट आत्माकी महिमा बताते हैं—वे परमात्मा सर्वेश्वर, सर्वज्ञ एवं सर्वनियन्ता हैं। वे सभीके निमित्त कारण हैं, वे ही जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामी प्रत्यगात्म रूपमें रहकर समस्त प्राणियोंके परिचालक हैं। वे ही जगत्‌की सृष्टि करते हैं और वे ही समस्त प्राणियोंके उत्पत्तिस्थान और लयस्थान हैं। अब आत्माके चतुर्थपादकी विवृति करते हैं—वे स्वप्नदशाधिष्ठित तैजस आत्माके समान अन्तःप्रज्ञ नहीं हैं और जाग्रत्-दशाधिष्ठित वैश्वानरात्माके समान बाह्य प्रज्ञानी भी नहीं हैं। स्वप्न और जाग्रत्-दशाके मध्यवर्त्ती अवस्थाभुक् आत्माके समान भी नहीं हैं। सुषुप्तात्माके समान घनप्रज्ञानसम्पन्न भी नहीं हैं। बद्धजीवके समान अप्रज्ञ नहीं हैं और जड़वत् निर्व्यापार भी नहीं हैं—ऐसे होते तो अचेतन होते। उनका स्वरूप अदृश्य, प्राकृत ज्ञानेन्द्रियसे अगोचर अर्थात् अप्राकृतत्वका हेतुभूत, लौकिक व्यवहारके अयोग्य, प्राकृत कर्मेन्द्रियका अग्राह्य, प्राकृत लिङ्गज्ञानाधीन अनुमान प्रमाणके अगम्य, प्राकृत मनका अविषय और प्राकृत शब्द-प्रमाणाधीन भी नहीं है। इस कारण वे किसी प्राकृत संज्ञासे संज्ञेय नहीं हैं, तब उनकी सत्ताका प्रमाण क्या? जाग्रदादि समस्त दशाओंमें ही अनुभवकारियोंके वेदप्रमाण द्वारा आत्माके रूपमें जाने जाते हैं—यही उनकी सत्ताका प्रमाण है। उनमें प्रपञ्चका लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं है। उनका स्वरूप शान्त अर्थात् षड्विकारसे रहित है। वे समस्त कल्याणके आधार हैं। यह स्वरूप स्वयं सिद्ध तादृश (सजातीय) और अतादृश (विजातीय) भेदसे रहित अद्वितीय तत्त्व है। उपनिषद-गण इस रूपको चतुर्थ पाद कहते हैं। वे ही श्रुतिकथित 'आत्मन्' शब्दवाच्यसे परमेश्वर हैं, वे ही मुक्तिकामियोंके उपास्य हैं॥ १॥

सूत्र—निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च॥ २॥

सूत्रार्थ—'च एके'—क्योंकि एक शाखावाले कठोपनिषद्‌विद् गण कहते हैं 'निर्मातारं'—परमात्मा ही स्वप्नकालीन काम्यवस्तुकी सृष्टि करते हैं, 'पुत्रादयश्च'—श्रुतिमें उक्त 'काम' शब्दके द्वारा पुत्रादि ही लक्ष्य हैं॥ २॥

सूत्रानुवाद—सन्ध्यमें ही सृष्टि होती है, जिससे एक शाखावाले ईश्वरको निर्माता कहते हैं और पुत्रादि वहाँ निर्माणके योग्य होते हैं॥ २॥

गोविन्दभाष्य—यत एके कठाः परमात्मानमेव स्वाप्निकानां कामानां निर्मातारमामनन्ति। *"य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण"* (कठ० २/२/८) इति। एषु जीवेषु ते च कामाः पुत्रादय एव न त्विच्छामात्रम्। *"सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व"* इति तेषामेव कामशब्देन प्रकृतत्वात्। *"एतस्मादेव पुत्रो जायते। एतस्माद्भ्राता। एतस्माद्भार्या। यदेनं स्वप्ने नाभिहन्ति"* इति स्मृत्यन्तराच्च॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—कोई-कोई कठोपनिषद-अध्येता परमेश्वरको ही स्वप्नदृष्ट कामोंका निर्माता कहते हैं—श्रुति है—*'य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः इति।'* अर्थात् जो ये परमेश्वर प्राण इत्यादि इन्द्रियोंकी निष्क्रिय अवस्थामें भी जागते हैं, वे ही उस समय काम्यवस्तुओंका (कामनाके अनुसार पुत्रादि कामका) निर्माण करते हैं। समस्त जीवोंमें इस कामको कहनेसे पुत्रादिको जानना चाहिये, केवल इच्छामात्र नहीं। इसका प्रमाण श्रुति कहती है—*'सर्वान् कामान्'* इत्यादि। एतस्माद् भार्या, एतस्माद् भ्राता इत्यादि गौपवन श्रुति है। इसका अर्थ है—श्रीभगवान्के समीप अपनी इच्छानुसार समस्त कामनाओंकी प्रार्थना करो, शतवर्षजीवी पुत्र-पौत्रोंकी याचना करो, अतः काम शब्दके द्वारा पुत्र-पौत्रादिका प्रक्रम (उल्लेख) ही ज्ञात हो रहा है। एतस्मादित्यादिका अर्थ है—इनकी दयासे ही पुत्र जन्मता है, इन्हींसे भ्राताकी उत्पत्ति है और इन्हींसे भार्याकी उत्पत्ति है। ये पुत्रादि पदार्थ निद्रित जीवके साथ स्वयंको मिलाते हैं, इसलिए स्मृति-वाक्यसे भी काम शब्दका अर्थ पुत्रादि ही अवगत होता है। ये पुत्रादि निद्रित जीवके साथ सम्बन्धयुक्त होकर स्वप्नदशामें उपस्थित होते हैं॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—निर्मातारमिति। ते च कामाः पुत्रादय एवेति। काम्यन्त इति व्युत्पत्तेरिति भावः। एतस्मादिति गौपवनश्रुतिः। परेशादेव पुत्रादिर्जायते। यदेनमिति। यः पुत्रादिरर्थैः एनं शयानं जीवं स्वप्नेनाभिहन्ति संबध्नातीत्यर्थः॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—*'निर्मातारम्'* इत्यादि सूत्रमें। *'ते च कामाः पुत्रादय एवम्'* इत्यादि भाष्यमें काम शब्दकी व्युत्पत्ति है—जो समस्त वस्तुएँ

कामित अर्थात् प्रार्थित होती हैं—इस सन्दर्भमें काम शब्दका अर्थ है पुत्रादि। *'एतस्मादेव पुत्रों जायते'* इत्यादि गौपवन-श्रुति है। *'एतस्मात्'* उन परमेश्वरसे पुत्रादि उत्पन्न होते हैं। *'यदेनमित्यादि'*—'यत्' अर्थात् जो पुत्रादि वस्तुएँ हैं, एवं—उस निद्रित पुरुषको, स्वप्नेन—स्वप्नके साथ *'अभिहन्ति'* सम्बन्धयुक्त करती हैं अर्थात् स्वप्नदशामें उपस्थित होती हैं॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कठोपनिषदमें देखा जाता है कि *'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः'* इत्यादि (कठ॰ २/२/८), अर्थात् जो पुरुष स्वेच्छापूर्वक सुप्त जीवोंमें काम्यमान अर्थात् स्वाप्निक पदार्थोंका उत्पादन करके स्वयं जाग्रत रहते हैं, प्राज्ञगण उन्हें ही शोकरहित ब्रह्म और अनश्वर कहकर कीर्त्तन करते हैं।

इस प्रकार इस श्रुतिके द्वारा ईश्वर स्वप्न-दृष्ट वस्तुओंके निर्माता और पुत्र इत्यादि द्रव्योंके भी निर्माता रूपमें सुने जाते हैं। इसलिए जाग्रतके समान स्वप्न भी पारमेश्वरी सृष्टि है। कठोपनिषदमें स्वप्न सृष्टिके संवादमें प्राज्ञ (परमेश्वर) का ही प्रकरण है, जीवका नहीं।

श्रीमद्भागवतमें है—

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/७/२५)

अर्थात् बुद्धिकी तीन वृत्तियाँ हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों वृत्तियोंका जिनके द्वारा अनुभव होता है, वे ही सबके अध्यक्ष, सबका नियन्ता परमपुरुष, परमात्मा हैं॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—स्वाप्निकपदार्थनिर्मातुर्भगवतः करणमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—स्वप्नकालीन रथादि पदार्थोंका निर्माण करनेवाले भगवान्की सृष्टिके करणकारण (उपकरण) को परवर्त्ती सूत्रमें बताते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु स्वप्ने रथादयो वासनावशादेव जीवेन भ्रान्त्या दृश्यन्ते शुक्तिरजतादय इव जागरे। न च ते तात्त्विकाः। येनेश्वरसृष्टता

तेषां वाच्या। किञ्च देशकालानौचित्यादपि भ्रान्तिविजृम्भितास्ते बोध्याः। न हि रथादीनामुचितो देशः स्वप्नेऽस्ति नाडीप्रविष्टमनोजातत्वात्। स्वप्नस्य नाप्युचितः कालः घटिकामात्रस्थिते स्वप्नेऽहर्गणसाध्यानां दर्शनात्। तस्मात् प्रातिभासिकास्ते न त्वीश्वरसृष्टा इत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अब प्रश्न यह है कि स्वप्नमें जो रथादि पदार्थ देखे जाते हैं, तो जाग्रतकालीन अनुभूत-पदार्थके संस्कारवश ही जीव भ्रममें पड़कर उन्हें देखता है जैसे कि जाग्रत-दशामें शुक्तिमें रजतका दर्शन (भ्रम) करता है—अतः स्वप्नद्रष्ट वस्तुएँ वास्तव नहीं हैं। यदि वे वास्तव होतीं तो उनकी ईश्वरसृष्टता कही जा सकती थी। और भी एक बात है—ये स्वप्नदृष्ट वस्तुएँ जो भ्रम-विलसित हैं, उन्हें देश, कालके असामञ्जस्यके कारण भी जानना होगा। देखो, रथादि विचरणका उचित देश (स्थान) स्वप्नमें नहीं है क्योंकि यह देश-पुरीतत् नाड़ीमें प्रविष्ट मनसे कल्पित है। पुनः स्वप्न रथादि विचरणके योग्य काल भी नहीं है क्योंकि स्वप्नकी अवधि एक घण्टामात्र तक व्याप्त रहती है और स्वप्नदृष्ट रथादि विचरण बहुदिन-साध्य हैं। अतएव स्वप्नदृष्ट वस्तुएँ प्रातिभासिक-मिथ्याकल्पित हैं, ईश्वर-सृष्ट नहीं हैं—इस आशङ्काके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—मायामात्रन्तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्॥ ३॥

सूत्रार्थ—'तु'—किन्तु 'मायामात्रम्' स्वाप्निक रथादि सृष्टिमें अतर्क्य मायाको ही करण जानना इससे भिन्न पञ्चीकृत पञ्चभूतों अथवा विरिञ्च इत्यादिको नहीं, कारण क्या है? 'कात्स्न्र्येन'—सम्पूर्ण रूपसे 'अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' ये वस्तुएँ सबके समीप अनुभूतिका विषय नहीं होतीं, केवल स्वप्नद्रष्टा ही उनका अनुभव करता है—इस कारणसे॥ ३॥

सूत्रानुवाद—पञ्चीकृत भूतपञ्चकके साथ ब्रह्मा अथवा अन्य प्रजापति इत्यादि द्वारा निर्मित होनेसे इन रथादिको सब देख सकते हैं, लेकिन वे देखे नहीं जाते, अतएव माया द्वारा निर्मित ये रथादि केवल स्वप्नद्रष्टा द्वारा जब तक स्वप्न रहता है तब तक अनुभव किये जाते हैं, पर ये सम्पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त नहीं होते॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—स्वप्नसृष्टावतर्क्या मायैव करणम्। न तु पञ्चीकृतानि भूतानि चतुर्मुखादयश्च। कुतः? कात्स्र्न्येनेत्यादेः सर्वानुभाव्यतयाऽनभिव्यक्तेरित्यर्थः। तस्मात् परमात्मकृता स्वप्नसृष्टिरिति सिद्धम्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—स्वप्नसृष्टिका उपकरण है ईश्वरकी अतर्कणीया—तर्कातीत माया, पञ्चीकृत आकाशादिभूत और विरिञ्च अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्मा इत्यादि इस स्वाप्निक सृष्टिके निर्माता नहीं हैं। किस कारणसे? यही कहते हैं—स्वाप्निक पदार्थ समग्र रूपसे अर्थात् समस्त प्राणियोंमें अनुभूयमान होकर प्रकाश नहीं पाते अर्थात् स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अतिरिक्त अन्य किसीके अनुभवयोग्य नहीं होते। अतः सिद्ध हुआ स्वप्न-सृष्टि परमेश्वर द्वारा ही होती है॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—मायामात्रमिति। अतर्क्या इत्यनेन युक्तेर्व्युदासः। तथा च दुर्घटघटनपटीयसी हरिशक्तिरल्पेऽपि देशादौ दीर्घं देशादिं समावेशयतीति। रथादीनामीश्वरसृष्टत्वेऽपि न काप्यनुपपत्तिरिति। सर्वानुभाव्यतयेति। पञ्चीकृतानि भूतान्युपादाय चतुर्मुखादिभिर्निर्मिता रथादयः सर्वैरनुभूयन्ते। माययैव स्वप्ने श्रीहरिणा निर्मितास्ते तु स्वप्नद्रष्टृभिरेवास्वप्नादनुभूयन्ते न तु सर्वैरित्यर्थः॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—*'मायामात्रन्तु'* इत्यादि सूत्रका अतर्क्या इत्यादि भाष्य है। 'अतर्क्या' अर्थात् जो तर्कके अगोचर है—इस कथनके द्वारा युक्तिका खण्डन किया गया है अर्थात् अघटन-घटन-पटीयसी श्रीहरिकी शक्ति स्वप्नकालमें स्वल्प परिसरको दीर्घ-देश (बड़े-स्थान) में और स्वल्पको भी दीर्घकालमें परिणत कर देती है। अतएव उस समयमें रथादिका ईश्वर द्वारा सृष्ट होनेपर कोई असङ्गति नहीं है। *'सर्वानुभाव्यतयानभि व्यक्तेः'* अर्थात् ब्रह्मा अथवा अन्य प्रजापति इत्यादि द्वारा पञ्चीकृत भूतपञ्चकोंको साथ लेकर निर्मित ये समस्त रथादि देखे जा सकते हैं किन्तु उन्हें कोई नहीं देख सकता। अतएव साथ मायाको लेकर श्रीहरि द्वारा स्वप्नमें निर्मित उन रथादिका भी मात्र स्वप्नद्रष्टा ही केवल जब तक स्वप्न रहता है, तब तक अनुभव करता है, सब नहीं करते—यह तात्पर्य है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि इस प्रकार आशङ्का करे कि स्वप्नमें रथादिकी सृष्टि वास्तव नहीं है, क्योंकि इसे ईश्वरकृत नहीं कहा जा

सकता। देश और कालके असामञ्जस्यके कारण भी स्वप्नदृष्ट वस्तुएँ भ्रमविलसित और मिथ्याकल्पित मानी जाती हैं, इस प्रकारकी आशङ्काके उत्तरमें प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार स्वाप्निक पदार्थोंके निर्माता श्रीभगवान्‌के द्वारा तद्-तद् वस्तुओंके निर्माणके विषयमें उपकरण सम्बन्धसे कहते हैं कि सभीके समीप अनभिव्यक्तस्वरूप होनेके कारण अतर्क्य मायाशक्ति ही करणस्वरूपा है अर्थात् स्वाप्निकी सृष्टिका एकमात्र उपकरण ईश्वरकी माया है। परमात्माकी अघटन-घटन-पटीयसी मायाशक्तिके विलाससे ही स्वाप्निकी सृष्टि होती है।

श्रीमन् रामानुजाचार्य कहते हैं यह कैसी आश्चर्यकी बात है कि स्वप्नमें दृष्टगत ये वस्तुएँ उस कालमात्रमें ही समाप्त हो जाती हैं। ऐसी आश्चर्यमयी सृष्टि सत्यसङ्कल्प परमात्मा द्वारा ही सम्भव है, जीव द्वारा नहीं। जीवके सत्यसङ्कल्प होनेपर भी संसार-दशामें उसका वह गुण पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त नहीं हो पाता, इसलिए ऐसी आश्चर्यमयी सृष्टि उसके द्वारा सम्भव नहीं है। स्वप्नदृष्ट रथ, पुष्करिणी आदि केवल मायामात्र हैं—जो परमपुरुष द्वारा निर्मित हैं। माया शब्द आश्चर्यवाची भी है, जैसे *'जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिते'*—जनकके कुलमें देवमायाने ही मानो जन्म लिया। अतः जो रचता है, वही कर्त्ता है, अन्य कोई नहीं।

श्रीमद्भागवतमें है—

नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययाऽऽरोपितं हि तत्॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/४६)

अर्थात् इस सृष्टि आदि कार्योंके वर्णनसे इन कार्योंका परमात्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् (कारण) परमेश्वरका (अपने स्वरूपमें) इस विश्वके सृष्टादि कार्योंमें कर्त्तृत्व नहीं है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ प्राकृत सृष्टिके कर्त्तापनका निषेध करनेके लिए इन कार्योंका अनुवादमात्र करती हैं, भगवान्‌का इनमें कर्त्तापन दिखाना उनका तात्पर्य नहीं है। बहिरङ्गा मायाके द्वारा उसके अपने प्रभु परमेश्वरके प्रति कर्त्तृत्वका आरोप किया गया है॥ ३॥

अवतरणिका भाष्य—अथ सा सत्योत मिथ्येति विषये बोधोत्तरं बाधात् मिथ्येति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अच्छा! यह रथादि सृष्टि सत्य है? अथवा मिथ्या? इस संशयपर पूर्वपक्षीका मत है कि बोधोत्तर अर्थात् जागरणके बाद ये रथादि रहते नहीं, तो यह मिथ्या ही है। इस पूर्वपक्षीकी मीमांसा करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

सूचकाधिकरणम्

सूत्र—सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः॥४॥

सूत्रार्थ—'सूचकश्च हि'—क्योंकि स्वप्नदृष्ट पदार्थ पापपुण्य और मन्त्रादिके सूचक हैं, अतएव वे सत्य हैं—ये जो धर्म-अधर्मादिके सूचक हैं—इसका प्रमाण क्या है? उत्तर है—'श्रुतेः'—क्योंकि श्रुति यही कहती है, 'च'—और 'तद्विदः' स्वप्नतत्त्वको जाननेवाले व्यक्ति (बृहस्पति इत्यादि) भी 'आचक्षते' स्वप्नको शुभाशुभका सूचक मानते हैं॥४॥

सूत्रानुवाद—स्वप्नाध्यायी श्रुति वचनों द्वारा स्वप्नको धर्माधर्मका सूचक बताया गया है और स्वप्नाध्यायाविद् भी स्वप्नको शुभ-अशुभका सूचक कहते हैं॥४॥

गोविन्दभाष्य—हि यतः स्वाप्नः पदार्थः शुभाशुभयोर्मन्त्रादेश्च सूचकोऽतः सत्यः स्वप्नसर्गः। कुतस्तत्सूचकत्वं? श्रुतेः। *"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने"* इति छान्दोग्यात्। (५/२/९) *"अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति"* इति कौषीतकीब्राह्मणाच्च। तद्विदः स्वप्नज्ञाश्च स्वप्नं शुभादिसूचकमाचक्षते। स्वप्ने गजारोहणं शुभस्य, खरारोहणन्त्वशुभस्य सूचकमित्यादि। *"आदिष्टवान् यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः। तथा लिखितवान् प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिक"* इति स्वप्ने स्तोत्रलाभं स्मरन्ति। एवञ्च भावि-सत्यार्थसूचकत्वे क्वचिन्मन्त्रौषधादिप्राप्तिदर्शनेन सूचकसत्यत्वे च सिद्धे सत्यताप्रत्ययात् साक्षात् स्वप्नदृष्टकर्त्तृकहननश्रवणाच्च। जगत्सृष्टिरिव सत्या स्वप्नसृष्टिः॥४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—क्योंकि स्वप्नदृष्ट पदार्थ जीवकृत पाप-पुण्य और मन्त्रादिके सूचक हैं, अतएव स्वप्नसृष्टि मिथ्या नहीं, सत्य है।

इसका कारण क्या है? श्रुति-प्रमाणका सद्भाव इसका सूचक है। जब काम्यकर्मसे स्वप्नमें स्त्रीका दर्शन करता है, तब जाना जाता है कि तत् कर्म, कर्मकी समृद्धि है, स्वप्न उसका निदर्शक अर्थात् परिचायक है—यह छान्दोग्योपनिषदसे जाना जाता है। पुनः कौषीतकी उपनिषद-धृत ब्राह्मण-वाक्य भी है—कोई व्यक्ति यदि स्वप्नमें कृष्णवर्णके दाँतवाले कृष्णकाय (कृष्णवर्ण) व्यक्तिको देखता है, तो वह स्वप्नदृष्टा उसी व्यक्तिके द्वारा मारा जाता है। स्वप्नतत्त्वविद्-गण इस प्रकार स्वप्नको शुभाशुभका सूचक बताते हैं। इनके अनुसार स्वप्नमें हाथीपर आरोहण भावी शुभका सूचक है और गर्दभपर आरोहण अशुभका ज्ञापक है—इत्यादि बहुत-सी उक्तियाँ हैं। पुनः रामकवचमें कहा गया है—मन्त्रवित् विश्वामित्रको स्वप्नमें श्रीशङ्करने रामरक्षामन्त्रका आदेश किया था, विश्वामित्रने प्रातःकाल जागनेपर उस स्तोत्रको लिपिबद्ध कर दिया था—इससे स्वप्नमें प्राप्त मन्त्रके सम्बन्धमें सूचना प्राप्त होती है। इसी प्रकार भविष्यत्में होनेवाली सत्य घटनाओंकी सूचकताके विषयमें देखा जाता है। किसी-किसी क्षेत्रमें स्वप्नमें मन्त्र-प्राप्ति और ओषधि-प्राप्तिकी घटनाएँ भी होती हैं। अतएव शुभाशुभके सूचक स्वप्नोंकी सत्यता सिद्ध होनेके कारण स्वप्नदृष्ट वस्तुओंकी साक्षात् (सत्यता) प्रतीति होनेसे और स्वप्नमें दृष्ट व्यक्ति द्वारा साक्षात् हत्या श्रुत होनेसे जाग्रतकालीन वृतान्त (सृष्टि) के समान स्वाप्न-वृत्तान्त अथवा स्वाप्न-सर्गको भी सत्य कहा जायेगा॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—स्वाप्निकरथादीश्वरसृष्टेर्मिथ्यात्वमाशङ्क्य समाधेराक्षेपः सङ्गतिः। सूचकश्चेति। यदेति। स्त्रियं शुक्लाम्बरधरां शुक्लगन्धानुलेपनामिति बोध्यम्। समृद्धिं सम्पत्तिम्। एवमेव बृहस्पतिना प्रोक्तत्वात्। शुक्लाम्बरधरा नारी शुक्लगन्धानुलेपना। अवगूहति यं स्वप्ने लक्ष्मीं तस्य विनिर्द्दिशेदिति। अथेति। स स्वप्नदृष्टः कृष्णदन्तादिलक्षणः पुरुष एनं स्वप्नद्रष्टारं जनं हन्ति मारयतीत्यर्थः। एवमुक्तं बृहस्पतिना। करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः। हस्ततो भग्नदन्तश्च मृत्युस्तस्य विनिर्द्दिशेदिति। आरोहणं गोवृषकुञ्जराणां प्रासादशैलाग्रवनस्पतीनाम्। विष्ठानुलेपो रुदितं मृतञ्च स्वप्नेष्वगम्यागमनञ्च धन्यमिति। खरोष्ट्रमेषमहिषीरथयुक्तं यदा भवेत्। तत्रस्थञ्च विबुध्येत मृत्युं तस्य विनिर्द्दिशेदिति चैवमादि। तद्विद इति। स्वप्नज्ञाः स्वप्नफलज्ञा बृहस्पतिप्रभृतय इत्यर्थः। शुभस्य धन्यतायाः। अशुभस्य मरणस्य। एतत् सर्वं बृहस्पत्युक्ते स्वप्नाध्याये द्रष्टव्यम्। आदिष्टवानिति। बुधश्चासौ

कौशिकश्च बुधकौशिको विश्वामित्रः। सूत्रार्थं निगमयत्येवञ्चेति। भावी यः सत्योऽर्थः सम्पत्तिलाभादिः तस्य सूचकः स्वप्न इति तत्सूच्यार्थस्य सत्यत्वं प्रतीयते। जागरोपदिष्टस्येव स्वप्नोपदिष्टस्यापि स्तोत्रादेर्लाभदर्शनात् जागरवत् स्वप्नोऽपि सत्य इति सूचकसत्यत्वञ्च प्रतीयते। तस्मात् स्वप्नसृष्टिः सत्यैव स्वीकार्या। कथमन्यथा स्वप्नदृष्टेन कृष्णदन्तेन पुरुषेण स्वप्नद्रष्टुः साक्षाद्धननं श्राव्येत यदि स्वप्नदृष्टः स मृषा स्यात्। न हि कश्चित् खपुष्पैः शेखरी दृष्टः॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—स्वप्नकालीन दृष्ट रथमें जो आशङ्का की गयी थी कि ईश्वरकृत स्वप्नसृष्टिकी उक्ति मिथ्या है—इस आशङ्काका समाधान होनेसे यह आक्षेप सङ्गति है। सूचकश्चेत्यादि सूत्र—छान्दोग्यमें कहा गया है कि जब काम्यकर्मके फलरूपमें स्वप्नदशामें इस प्रकारकी स्त्रीमूर्त्तिका दर्शन करते हैं कि जो शुक्लवस्त्र परिधान किये हुए हैं, शुक्लगन्धसे अर्चित हैं, तब जानना चाहिये कि समृद्धि अर्थात् सम्पत्ति अथवा सुसमय है। बृहस्पतिने भी इसी प्रकारसे कहा है। यथा—जब शुक्लाम्बर धारण करनेवाली और शुक्लगन्धसे अनुलिप्त स्त्री स्वप्नमें उस पुरुषका आलिङ्गन करती देखी जाय, तब स्वप्नद्रष्टाकी समृद्धि जाननी चाहिये। *'अथेत्यादि सः'* जब स्वप्नद्रष्टा किसी काले शरीरवाले अथवा काले दाँतोंसे युक्त किसी पुरुषको स्वप्नमें देखता है तो वह पुरुष उस स्वप्नद्रष्टाकी हत्या कर देता है। बृहस्पति इसी प्रकारसे कहते हैं—अति दीर्घकाय, कुत्सित आकृतिवाला, मुण्डित मस्तकवाला, कृष्णपिङ्गलवर्णवाला, हाथमें भग्न दण्ड धारण करनेवाला पुरुष स्वप्नमें दिखायी दे तो द्रष्टाकी मृत्यु जानें। और भी देखिये, गाय, बैल एवं हाथीपर आरोहण, अट्टालिकामें, पर्वतके अग्रभागमें एवं वनस्पतिमें आरोहण शुभ-सूचक है और शरीरपर विष्ठा-लेपन, रोदन, मृत व्यक्तिका दर्शन अथवा अगम्या स्त्रीके साथ गमन—ये भी धन्य अथवा शुभसूचक हैं। गर्दभ, ऊँट, मेष (भेड़) और महिषी (भैंस) से युक्त रथमें अपनेको चढ़ता देखे तो स्वप्न-भङ्ग होनेपर अपनी मृत्यु निश्चित मानें। इस प्रकारसे और भी शुभाशुभ-सूचक स्वप्न हैं। *'तद्विदः'* अर्थात् जो स्वप्नफल जानते हैं—ऐसे बृहस्पति प्रमुख व्यक्तिगण। शुभ शब्दका अर्थ सौभाग्य है और अशुभका अर्थ मृत्यु है। इन सबका बृहस्पति कथित 'स्वप्नाध्याय' में अनुसन्धान किया जा सकता है। *'आदिष्टवान् यथा स्वप्ने'* इत्यादिमें बुधका अर्थ है पण्डित जैसे कुशिकनन्दन

विश्वामित्र। अब इस सूत्रार्थका सिद्धान्त *'एवञ्चेत्यादि'* वाक्य द्वारा कहते हैं। भविष्यत्‌में होनेवाले जो सम्पत्ति-लाभ इत्यादि सत्य वृतान्त हैं, स्वप्न उनकी सूचना करते हैं; इस प्रकारसे सूचनीय वस्तुकी सत्यतासे अवगत हुआ जा सकता है। जाग्रत-दशामें उपदिष्ट वस्तुकी जिस प्रकारसे सत्यता है, उसी प्रकार स्वप्नदृष्ट स्तोत्रादिकी प्राप्ति भी दृष्ट होनेके कारण जाग्रतके समान स्वप्न भी सत्य है। इस प्रकार सूचककी सत्यता प्रतीत हो रही है। अतएव ईश्वर द्वारा स्वप्नसृष्टिको सत्य ही मानना होगा। ऐसा न होनेपर स्वप्नदृष्ट कृष्णदन्त पुरुष द्वारा स्वप्नद्रष्टाकी साक्षात् रूपसे हत्या किसलिए श्रुत होगी? यदि स्वप्नदृष्ट वह व्यक्ति मिथ्या ही है तो वह है कौन? किसी व्यक्तिको आकाश-कुसुमकी माला पहने हुए तो देखा नहीं जाता॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—स्वप्न सत्य है? अथवा मिथ्या है? इस प्रकारके संशयका निराकरण करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि स्वप्नमें शुभाशुभकी सूचक उक्तियोंसे और श्रौत-प्रमाणसे भी इस स्वप्न-सर्गकी सत्यताका उल्लेख है, इसलिए स्वप्नको सत्य ही कहा जायेगा।

इस सूत्रसे यह भी ज्ञात होता है कि स्वप्न भावी सत्यके सूचक हैं। कभी-कभी स्वप्नमें औषधि और मन्त्रादिकी भी प्राप्ति होती है। इन वाक्योंसे भी स्वप्नकी सत्य-सूचकता प्रमाणित होती है। और एक बात है यदि जीव उक्त स्वाप्निक सृष्टिकर्त्ता होता तो सदा शुभसूचक पदार्थोंकी ही सृष्टि करता, उन्हें देखकर सदा सुखका ही अनुभव करता, दुःखी नहीं होता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

स्वप्ने प्रेतमपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम्।
यायान्नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४२/३०)

अर्थात् स्वप्नावस्थामें भी प्रेतोंका आलिङ्गन, गधेपर चढ़ना, विषका खाना, जवा कुसुम (अड़हुल) की माला धारण करना, तेलसे तर देह और किसी नग्न पुरुषका देखा जाना इत्यादि अशुभ लक्षण हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी—

स्वप्ने देखे, सेई बालक सम्मुखे आसिञा।
एक कुञ्जे लञा गेल हातेते धरिया॥
(चै॰च॰म॰ ४/३५)

श्रीमन्महाप्रभुने कहा कि श्रीमाधवेन्द्रपुरीने स्वप्नमें देखा कि वही गोपबालक उनके सम्मुख उपस्थित है और उनका हाथ थाम कर उन्हें एक कुञ्जमें ले जा रहा है॥४॥

अवतरणिका भाष्य—यत्तु बोधोत्तरं बाधान्मिथ्येत्युक्तं तत्राह।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—तब जो आपत्तिकी जाती है कि स्वप्न-भङ्ग होनेके बाद स्वप्नदृष्ट वस्तु बाधित (विलुप्त) होती है, अतएव स्वप्न मिथ्या ही है। इस विषयपर सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ॥५॥

सूत्रार्थ—'तु'—किन्तु 'पराभिध्यानात्'—परमेश्वरके सङ्कल्पसे 'तिरोहितम्'—स्वाप्निक रथादि तिरोहित हो जाते हैं, शुक्ति-रजतके समान वे बाधित नहीं हैं, 'हि'—क्योंकि 'अस्य'—इस जीवका 'ततो'—उन परमेश्वरसे ही 'बन्ध-विपर्ययौ'—संसार-बन्धन अथवा मुक्ति है, अतएव बन्धन और मुक्ति-कर्त्ताकी स्वप्न-सृष्टि और उसका परिहार-कर्त्तृत्व आश्चर्यकारी नहीं है॥५॥

सूत्रानुवाद—परमेश्वरके सङ्कल्पसे सृष्टिके समान स्वप्नमें रथादिकी साङ्कल्पिकी सृष्टि भी तिरोहित हो जाती है। इसमें कुछ वैचित्र्य नहीं है। परमेश्वररूप हेतुके अपरिज्ञानसे (अविद्यासे) जीवका बन्ध है और परिज्ञानसे (अनुभवसे) मोक्ष॥५॥

गोविन्दभाष्य—परस्येश्वरस्याभिध्यानात् सङ्कल्पात्तिरोहितं स्वाप्निकं रथादि न तु शुक्तिरजतवत्तस्य बाधः। हि यतोऽस्य जीवस्य ततः परेशादेव बन्धमोक्षौ भवतः। संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरित्यादि श्रुतेः। बन्धमोक्षकर्त्तुः स्वप्नतत्परिहारकर्त्तृत्वं न चित्रमिति भावः। ततश्च तस्यापि तस्मादेवाविर्भावतिरोभावौ मन्तव्यौ। *"स्वप्नादिबुद्धिकर्त्ता च तिरस्कर्त्ता स एव तु। तदिच्छया यतो ह्यस्य बन्धमोक्षौ प्रतिष्ठितौ"* इति स्मृतेश्च। तस्मात् सत्या स्वप्नसृष्टिरैश्वरीति॥५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परमेश्वरके सङ्कल्पसे स्वप्नदृष्ट रथादि तिरोहित होते हैं, किन्तु शुक्तिरजतादिके समान उनका बाध नहीं होता अर्थात् सीपीमें रजतकी भाँति उनका भ्रम नहीं है, क्योंकि इस जीवका परमेश्वरसे ही बन्धन और मोक्ष है—श्रुतिमें यही कहा गया है, यथा— *'संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरिति'*—भगवान् ही संसारके बन्धन, मोक्ष एवं स्थितिके कारण हैं। अभिप्राय यह है कि जो जीवके बन्धन एवं मुक्तिके कर्त्ता हैं, वे ही जीवके स्वाप्निक रथादिके सृष्टिकर्त्ता और उसके परिहारकर्त्ता भी हैं, इसमें फिर वैचित्र्यकी बात ही क्या है? इसीसे उन परमेश्वरसे ही स्वप्न सर्गकी उत्पत्ति (आविर्भाव) एवं तिरोधान जान लेना चाहिये। इस विषयमें स्मृति-वाक्य भी है, यथा—जो स्वाप्न वस्तुके ज्ञापनकर्त्ता एवं तिरोधानकर्त्ता हैं, उनकी ही इच्छासे जीवका संसार-बन्धन एवं मोक्ष प्रतिष्ठित होता हैं। अतएव सिद्धान्त यही है कि स्वप्न-सृष्टि सत्य है और यह ईश्वर द्वारा ही निर्मित है॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—बाधं समाधत्ते परेति। तस्यापि स्वप्नसर्गस्यापि। स्वप्नादीति कौर्मे। न एव ईश्वर एव। अस्य जीवस्य॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्वोक्त बाधका समाधान करते हैं—पराभिध्यानादित्यादि। *'ततश्च तस्यादि'* में 'तस्यापि' का अर्थ है स्वाप्नदृष्ट वस्तुका भी। *'स्वप्नादि बुद्धिकर्त्ताचेत्यादि'* वाक्य कूर्मपुराणमें कहा गया है। *'स एव तु'*—वे परमेश्वर ही। *'तदिच्छया ततो ह्यस्य इति'* में 'अस्य' का अर्थ है—'जीव का'॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि कहे कि निद्रा भङ्ग होनेपर स्वाप्निक पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं, इसलिए स्वप्न मिथ्या है, इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि परमेश्वरके सङ्कल्पसे जिस प्रकार स्वप्नकी सृष्टि है, उसी प्रकार उनके सङ्कल्पसे स्वाप्निक विषयोंका तिरोधान भी है। किन्तु इसे शुक्तिमें रजतके भ्रमके समान नहीं समझना चाहिये, क्योंकि परमेश्वर ही जीवके बन्धन और मोक्षके कर्त्ता हैं। इससे जाना जाता है कि इसमें जीवकी कोई सामर्थ्य नहीं है। यदि कहो, जीवके कर्त्तृत्वके सम्बन्धमें जो श्रुति है, तो वह गौणी है। स्वप्न-सृष्टि भी जाग्रदावस्थाके समान सत्य एवं पारमेश्वरी है।

श्रीजीवगोस्वामीपादने अपनी सर्वसंवादिनीमें परमात्म-सन्दर्भ विचारमें आचार्य श्रीरामानुजके वचनोंको उद्धृत करते हुए कहा है—

स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्याः तत्तत्कालावसानाः तथा भूताश्चार्थाः सृज्यन्ते। तथा च स्वप्नविषया श्रुतिः—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। (बृ॰आ॰ ४/३/१०) *इत्यारभ्य 'स हि कर्त्ता'* (बृ॰आ॰ ४/३/१०) *इत्यन्ता। यद्यपि सकलेतरपुरुषानुभाव्यतया तदानीं न भवन्ति, तथापि तत्तत् पुरुषमात्रानुभाव्यतया तथा विधानर्थान् ईश्वरः सृजति। स हि कर्त्ता। तस्य सत्यसङ्कल्प-स्याश्चर्यशक्तेस्तादृशं कर्त्तृत्वं सम्भवतीत्यर्थः।*

'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।'
(कठ॰ २/२/८)

इति च। सूत्रकारोऽपि 'मायामात्रं तु कात्स्न्र्येन' (ब्र॰सू॰ ३/२/३) *इत्यादिना जीवस्य कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वादिश्वरस्यैव सत्यसङ्कल्पशक्ति-विलासमात्रमिदं स्वाप्निक वस्तु ज्ञातमिति व्याचष्टे। 'तस्मिन् लोकाः' इत्यादि श्रुतेः। अपवरकादिषु (अन्तर्गृह-गर्भगृहादिषु) शयानस्य स्वप्नदृशः स्वदेहेनैव देशान्तरगमन राज्याभिषेकशिरश्छेदादयश्च पुण्यपापफलभूताः शयानदेहस्वरूपसंस्थानं देहान्तरसृष्ट्योपपद्यन्ते।*

अर्थात् प्राणियोंके स्वप्नमें उनके पुण्य एवं पापके अनुसार भगवान्के द्वारा उन-उन पुरुषमात्रके अनुभवमें आनेवाली स्वप्नदृष्ट वस्तुएँ उसी कालमें समाप्त हो जाती हैं—ऐसी आश्चर्यमयी सृष्टि उन्हींके द्वारा सृष्ट हो सकती है। स्वप्न विषयमें इसी प्रकारकी श्रुति है—

'उस स्वप्नमें रथ, रथमें जुतनेवाले अश्व, रथके मार्ग कुछ नहीं रहते हैं, परमेश्वर उन रथ, अश्व एवं मार्गकी सृष्टि करते हैं, यहाँसे आरम्भ करके फिर कहा गया है कि वे ही कर्त्ता हैं। यद्यपि ये सम्पूर्ण रूपसे स्वप्नद्रष्टाके अतिरिक्त अन्य किसीके अनुभव योग्य नहीं है, तो

भी उन-उन पुरुषमात्रके द्वारा अनुभव होनेसे परमेश्वर तथाविध आश्चर्यमयी सृष्टि करते हैं। वे ही कर्त्ता हैं। उनके सत्यसङ्कल्प आश्चर्यशक्तिसे ही इस प्रकारका कर्त्तृत्व सम्भव है।'

जो ये परमेश्वर प्राण इत्यादि, करणों (इन्द्रियों) के सोनेपर अथवा निर्व्यापार होनेपर तत्-तत् काम्य वस्तुओंका निर्माण करते हुए जागते हैं, वे ही शुक्र हैं, वे ही ब्रह्म हैं, वे ही अमृत हैं, उन्हींमें सब लोक अधीनरूप आश्रित हैं। उनका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। सूत्रकारने भी कहा है—स्वाप्निक रथादि सृष्टिमें अतर्क्य मायाको ही करण जानना। इसके अतिरिक्त पञ्चीकृत पञ्चभूतों अथवा विरिञ्चको (ब्रह्माको) नहीं समझना चाहिये। ये रथादि वस्तुएँ सबके समीप अनुभूतिका विषय नहीं होतीं, केवल स्वप्नद्रष्टा ही उनका अनुभव करता है। इस प्रकार ये स्वप्नादि परमेश्वरकी सत्यसङ्कल्प शक्तिके विलासमात्र हैं। *'तस्मिन् लोकाः'* इत्यादि श्रुतिमें यही वर्णन है। अन्तर्गृह-गर्भगृहादिमें सोये हुएके स्वप्नद्रष्टाके अपने शरीरसे ही देशान्तर-गमन, राज्याभिषेक, शिर-छेदन आदि पुण्य एवं पापके फलस्वरूप देहान्तर सृष्टि द्वारा उत्पन्न होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन है—

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यञ्च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/६-७)

अर्थात् इस प्रकार अपनेसे भिन्न प्रकृतिको ही अपना स्वरूप मान लेनेके कारण जीवकी बद्ध दशा हो जाती है। वह प्रकृतिके गुणों द्वारा किये जानेवाले कार्योंमें अपनेको ही कर्त्ता मानने लगता है। वस्तुतः जीव केवल साक्षीमात्र है, किसी भी कर्मका कर्त्ता नहीं है, स्वाधीन है, ईश्वरकी पराशक्तिरूप और स्वयं आनन्दस्वरूप है। किन्तु उसके इस प्रकारके कर्त्तृत्व अभिमानसे जन्म-मृत्यु-प्रवाह-रूप संसार बन्धन हो जाता है एवं उस बन्धनसे ही वह पराधीन हो जाता है॥५॥

अवतरणिका भाष्य—अथ जागरकर्त्तृत्वमीश्वरस्यैवेत्युच्यते। कठवल्ल्यां पठ्यते। *"स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति"* (कठ० २/१/४) इति। तत्र जीवस्य श्रूयमाणो जागरः परेशकर्त्तृको न वेति संशये कालाद्यधीनत्वदर्शनान्नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद जागरणमें भी ईश्वरका ही कर्त्तृत्व कहा जाता है। कठोपनिषदमें पढ़ा जाता है कि *'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।'* अर्थात् जिनके द्वारा स्वप्नान्त अर्थात् स्वप्नमें दृष्टवस्तु और जागरणान्त अर्थात् जागृत् कालीन अवस्था—इन दोनोंही अवस्थाओंका जीव दर्शन करता है, उन महान विश्वव्यापक परमेश्वरका चिन्तन-मनन करनेपर धीर व्यक्ति शोकग्रस्त नहीं होता। यहाँ श्रुत जीवका जो जागरण है, वह क्या परमेश्वर द्वारा है, अथवा जीव द्वारा। इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब जागरण कालादिके अधीन है, तब इसे जीव द्वारा ही कहेंगे। इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्वप्नावस्थां परेशकर्त्तृकाम् अभिधायावस्थाप्रसङ्गाज्जागराद्यवस्थात्रयमपि तत्कर्त्तृकमभिधीयत इति प्रसङ्गसङ्गतिः। कठवल्ल्यामिति। स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यम्। तत्र दृश्यमर्थम्। येनेश्वरेण। स्फुटमन्यत्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'स्वप्नावस्था'* परमेश्वर द्वारा सृष्ट है—यह बतलाकर अब—अवस्था-वर्णन-प्रसङ्गमें कहते हैं कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों ही अवस्थाएँ परमेश्वर द्वारा ही सृष्ट हैं। इसके द्वारा प्रसङ्ग-सङ्गति दिखायी गयी है। कठोपनिषदकी एक वल्लीमें—*'स्वप्नान्तम्'* इत्यादि पढ़ा जाता है। 'स्वप्नान्त' अर्थात् स्वप्नका मध्यकालीन वृत्तान्त अर्थात् उस समयमें दृश्य पदार्थ। *'येनानुपश्यति'* में 'येन' का अर्थ है—जिन परमेश्वरके द्वारा। अन्यान्य भावार्थ स्पष्ट ही है।

देहयोगाधिकरणम्

सूत्र—देहयोगाद्वा सोऽपि॥ ६॥

सूत्रार्थ—'देहयोगात् वा'—देह-सम्बन्धवश जो जागरण होता है, 'सोऽपि' वह भी परमेश्वर द्वारा ही होता है॥ ६॥

सूत्रानुवाद—देहयोगके हेतुसे जागरण भी ईश्वर द्वारा ही होता है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—देहयोगेन वा यो जागरः सः परेशादेव स्वप्नान्तमित्यादिश्रुतेः कालादेर्जाड्याच्च। सुषुप्तिमूर्च्छयोरप्यवस्थयोः सृष्टिरीश्वरकर्त्तृकैवेत्यपिशब्देन समुच्चितम्। तस्यैव सर्वकर्त्तृकत्वश्रवणात्॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अथवा देह-सम्बन्धसे अर्थात् देह-सम्बन्धको प्राप्त होकर जो जागरण होता है, वह भी परेश अर्थात् परमेश्वरसे होता है, क्योंकि *'स्वप्नान्तम्'* इत्यादि श्रुति इसका प्रमाण है। इसके अतिरिक्त काल इत्यादि जो जड़ वस्तुएँ हैं, वे जागरणादिका कारण नहीं हो सकतीं। सुषुप्ति एवं मूर्च्छा-दशाकी भी सृष्टि ईश्वर द्वारा है, इस बातको सूत्रस्थ 'अपि' शब्दके द्वारा समुच्चित किया गया है। इस प्रकार परमेश्वरका ही सर्वकर्त्तृत्व श्रुत हो रहा है॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—देहयोगादिति तं प्राप्येत्यर्थः। ल्यव्लोपे कर्मणि पञ्चमी। तस्यैव सर्वेति। स एव सर्वमसृजद् यदिदं किञ्चेति परेशस्यैव सर्वस्रष्टृत्व-श्रवणादित्यर्थः॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—*'देहयोगादि'* इत्यादि सूत्रमें *'देहयोगात्'* पदमें पञ्चमी विभक्ति है। *'देहयोगं प्राप्यम्'* अर्थात् 'देह-सम्बन्धको प्राप्त होकर' इस प्रकारसे ल्यव् लोपसे कर्मकारकमें पञ्चमी विभक्ति है। *'तस्यैव सर्वकर्त्तृत्वेति'*—*'स एव सर्वमसृजद् यदिदं किञ्चेति'*—श्रुति कहती है—इस जगत्में परिदृश्यमान जो कुछ भी है, वे सभी की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार ईश्वरका सर्वसृष्टत्व सुना जाता है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि संशय करे कि कठवल्लीमें पाया जाता है कि *'स्वप्नान्तं जागरितानन्त चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं भत्वा धीरो न शोचति'* अर्थात् जिनके द्वारा स्वप्नान्त अर्थात् स्वप्नमें दृष्टवस्तु और जागरणान्त अर्थात् जाग्रत्-कालीन अवस्था—इन दोनों ही अवस्थाओंका जीव दर्शन करता है, उन महान विश्व-व्यापक परमेश्वरका चिन्तन-मनन करनेपर जीव शोकग्रस्त नहीं होता। इस स्थलपर संशय यह है कि श्रूयमाण जीवका जागरण परमेश्वर द्वारा है अथवा जीव द्वारा। पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जिस

प्रकार जागरण जब जीव-देह एवं कालके अधीन है, तो यह जागरण जीव द्वारा ही होगा। इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जीवका देहके सम्बन्धसे जो जागरण है, वह परमेश्वरसे ही होता है। इस विषयमें पूर्वोक्त कठ-श्रुति ही प्रमाण है। इसका कारण है कि कालादि जड़ वस्तु हैं, वे जागरणादिका कारण नहीं हो सकतीं। परमेश्वर ही समस्त विषयोंके सृष्टिकर्त्ता हैं—यही श्रुतिमें हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं,
न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः।
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं,
प्राज्वालयत् त्वा तमहं प्रपद्ये॥

(श्रीमद्भा॰ १०/७०/३९)

अर्थात् हे भगवन्! जीव अनादिकालसे अनर्थोंके मूल एक शरीरसे दूसरे शरीरमें संसरण करता है। अर्थात भटकता रहता है, परन्तु इस देहसे मुक्तिका उपाय नहीं जानता। आप उनकी मुक्तिके लिए विविध लीलावतारोंके द्वारा अपने यशरूप दीपकको प्रज्वलित कर देते हैं। इसलिए मैं आपकी शरणमें हूँ। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—अथ सुषुप्तिस्थानं चिन्त्यते। तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयः। *"आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति"* इति छान्दोग्ये (छा॰ ८/६/३)। *"ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते"* इति *"य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते"* इति च बृहदारण्यके (बृ॰आ॰ २/१/१७)। एवमन्यत्र च। इह आकाशशब्दो ब्रह्मवाचकः। अत्र नाड्यः पुरीतद् ब्रह्म च सुषुप्त्याधारतया श्रूयन्ते। किमेषां विकल्पः समुच्चयो वेति वीक्षायां तुल्यार्थानां मिथोऽनपेक्षादर्शनात् *"तुल्यार्थास्तु विकल्पेरन्"* इति न्यायाच्च विकल्पः स्यादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद सुषुप्तिके आश्रयपर विचार किया जाता है। इस विषयपर अर्थात् सुषुप्तिके विषय सम्बन्धमें ये सब श्रुतियाँ हैं। यथा छान्दोग्योपनिषदमें है यथा—*'आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति'* सुषुप्तिकालमें जीव इन नाड़ियोंमें चला जाता है। पुनः बृहदारण्यकमें है यथा *'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते'*, एवं *'य*

एषोऽन्तर्हृदय आकाशास्तस्मिन् शेते'—इन समस्त नाड़ियोंकी सहायतासे प्रवेश करते हुए वह पुरीतत् नामक नाड़ीमें शयन करता है (निष्क्रिय हो जाता है) यह जो हृदयके भीतर आकाश कहा गया है, उसमें जीव शयन करता है। इस प्रकार अन्य श्रुतियोंमें भी कहा गया है। इस स्थलपर आकाश शब्द ब्रह्मका वाचक है और नाड़ियाँ, पुरीतत् एवं ब्रह्म सुषुप्तिके आधार रूपमें सुने जाते हैं। अब संशय यह है कि श्रुतिमें जो नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्मको सुषुप्तिका आश्रय सुना जाता है—इनमेंसे कोई एक विकल्प ही सुषुप्तिका आश्रय है? या समस्त ही? पूर्वपक्षी कहते हैं—तुल्यार्थक सकल शब्दोंकी परस्पर अपेक्षा देखी नहीं जाती और तुल्यार्थक शब्द विकल्पके विषय होते हैं—इस न्यायसे भी यहाँ कोई एक विकल्प ही होगा—इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—परेशकर्त्तृका सुषुप्तिश्चिन्तिता। तामाश्रित्य तदाधारश्चिन्त्यत इत्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। आस्विति नाडीष्विति भावः। सुप्तो गतः। ताभिरिति नाडीभिः। प्रत्यवसृप्य गतो भूत्वा।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—परमेश्वरके द्वारा सुषुप्ति होती है—यह विचार किया जाता है। अब इसीको अवलम्बन करके उस सुषुप्तिके आधारपर विचार किया जा रहा है। इस प्रकारसे आश्रय-आश्रयी भाव सङ्गति जाननी चाहिये। *'आसु तदा नाडीसु'* इत्यादि में 'आसु' का अर्थ है—समस्त नाड़ियोंमें। 'सुप्तः' अर्थात् नाड़ीयोंमें गत (सुप्त) ताभिः प्रत्यवसृप्येति' में 'ताभिः' का अर्थ है—नाड़ियोंके द्वारा। प्रत्यवसृप्य अर्थात् गत होकर।

तदभावाधिकरणम्

सूत्र—तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च॥७॥

सूत्रार्थ—'तदभावो'—जागरण और स्वप्नका अभाव अर्थात् सुषुप्ति, वह 'नाडीषु'—यह (सुषुप्ति) नाड़ीमें, 'च'—पुरीततमें, 'आत्मनि' और ब्रह्ममें समुच्चित रहती है, इस कारण 'तच्छ्रुतेः' श्रुति उस समुदायको सुषुप्तिका आश्रय कहती है। ब्रह्म ही साक्षात् सुषप्ति-स्थान हैं॥७॥

सूत्रानुवाद—जागरण और स्वप्नका अभाव ही निद्रा अर्थात् सुषुप्ति है। श्रुतियोंमें नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्मरूप समुदायको सुषुप्ति-स्थान कहा गया है। ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति-स्थान है॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—चकारः पुरीतत्समुच्चयार्थः। तयोर्जागरस्वप्नयोरभावस्तदभावः सुषुप्तिरित्यर्थः। सा नाडीषु पुरीतत्यात्मनि च ब्रह्मणि समुच्चिता भवति। कुतः? तच्छ्रुतेः। तेषां सर्वेषां सुषुप्तिस्थानत्वश्रवणात्। विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात्। नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ समुच्चयो दृश्यते। *"तासु तदा भवति। यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति"* (कौ॰ ४/१९) इति। न चोक्तन्यायाद्विकल्पः, तुल्यार्थताभावात्। तथा हि यथा द्वारेण प्रविश्य प्रासादे पर्यङ्के शेते तथा द्वारभूताभिर्नाडीभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतद्वर्त्तिनि ब्रह्मणीति प्रकारभेदान्नाड्यादीनां समुच्चय एवेति। तस्माद् ब्रह्मैव साक्षात् सुप्तिस्थानम्। पुरीतत्तु हृदय-पुण्डरीकावरकमुच्यते॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त च-कार पुरीतत्के भी समुच्चय (संग्रह) के लिए है। *'तदभावः'* का अर्थ है—जागरण और स्वप्नका अभाव अर्थात् सुषुप्ति दशा। यह सुषुप्ति नाड़ी-समुदायमें, पुरीतत्में और ब्रह्म—सभीमें समुच्चित (संग्रहीत अथवा योगपूर्वक) रहती है अर्थात् ये सभी सुषुप्तिके आश्रय हैं, एक-एक अलग-अलग नहीं। किस कारणसे? क्योंकि इसी प्रकारसे श्रुतिमें कहा गया है। इन सभीमें ही सुषुप्तिका स्थानत्व सुना जाता है। विकल्प पक्ष (कोई एक) लेनेपर श्रुतिबोधित नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्ममें बाधा पड़ेगी। नाड़ियों और प्राण अर्थात् अर्थात् ब्रह्मका सुषुप्तिमें आश्रयत्व देखा जाता है, यथा—जिस समय सोया हुआ जीव कोई भी स्वप्न नहीं देखता, उस समय वह जीव नाड़ियोंमें रहता है, फिर वह प्राणमें ही लीन हो जाता है। यदि कहो, उक्त युक्तिके अनुसार तो विकल्प ही कहा जायेगा, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ये तुल्यार्थक नहीं हैं अर्थात् ये तुल्य कार्य नहीं करते—इनमें तुल्यार्थताका अभाव है। इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार कोई पहले द्वार द्वारा प्रासादमें प्रवेश करे, बादमें पर्यङ्क (पलङ्ग) पर शयन करे, उसी प्रकार जीव द्वार-स्थानीय नाड़ियोंकी सहायतासे पुरीतत्में प्रवेश करता है, बादमें पुरीतत्में स्थित ब्रह्ममें अवस्थान करता है। इस तरह प्रकारभेद (क्रमिक कार्यभेद) रहनेके

कारण नाड़ी, पुरीतत् एवं ब्रह्म तीनों ही सुषुप्तिके आश्रय हैं, एक, एक नहीं। अतएव ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान हैं, नाड़ी इत्यादि साधन हैं। हृत्-पुण्डरीकके आवरण-कर्त्ताको पुरीतत् कहा जाता है॥ ७॥

सूक्ष्मा-टीका—तदभाव इति। तेषां नाडीपुरीतद्ब्रह्मणाम्। प्राणे परमात्मनीति व्याख्यातं प्राक्। एकधा भवति लीयत इत्यर्थः। च चेति। उक्तन्यायात्तुल्यार्थास्तु विकल्पेरन्नित्यस्मात्॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार— *'तदभावः'* इत्यादि सूत्रमें। *'तेषां सर्वेषाम्'* इत्यादि भाष्य है—यहाँ 'तेषाम्' का अर्थ है—नाड़ी, पुरीतत् एवं ब्रह्मका। 'प्राणे' अर्थात् परमात्मामें। 'प्राण' शब्दका अर्थ है जो परमात्मा—यह व्याख्या पहले ही की गयी है। *'एकधा भवति'*—एकरूप होता है अर्थात् उसमें लीन होता है। *'न चोक्तन्यायादिति'*—उक्त न्याय। *'तुल्यार्थास्तु विकल्पेरन्'* इस न्यायके अनुसार तुल्यार्थ अभावरूप विकल्प नहीं हो सकता है॥ ७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्योपनिषदमें देखा जाता है कि *'तद् यत्रैतत्ः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति'* (छा॰ ८/६/३) अर्थात् ऐसी अवस्थामें जिस समय यह सोया हुआ, भली प्रकार लीन हुआ पुरुष सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता, उस समय यह जीव नाड़ियोंमें चला जाता है अर्थात् सुषुप्तिके समय जीव नाड़ीमें रहता है और किसी स्मृतिमें देखा जाता है *'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते'* (बृ॰आ॰ २/१/१९) अर्थात् जीव सुषुप्तिके समय नाड़ियोंके द्वारा जाकर पुरीततमें रहता है और कहीं कहा गया है *'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते'* (बृ॰आ॰ २/१/१७) अर्थात् यह जीव हृदयाकाश अर्थात् ब्रह्ममें रहता है।

बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदयसे निकलकर सर्वत्र शरीरमें व्याप्त रहती हैं। जो हृदयको वेष्टित करता है, उसका नाम पुरीतत् है (हृदय नामका जो कमलके जैसे आकार वाला मांसपिण्ड है, उसे वेष्टित करनेवाला पुरीतत् है)। यहींसे नाड़ियाँ सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करती हुई बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होती हैं, जिस प्रकार पीपलके पत्तेकी नसें बाहरकी ओर फैली रहती हैं। हृदयाकाश भी इस वेष्टनके अन्तवर्त्ती है। यह जो कहा जाता है कि नाड़ियोंमें सुप्त होता है, पुनः इन

नाड़ियोंकी सहायतासे पुरीतत्में सोता है और फिर अन्तरस्थ हृदयाकाशमें शयन करता है। इस स्थलपर नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्म—इन तीनोंको ही सुषुप्तिके आधार रूपमें सुना जाता है। संशय यह है कि क्या ये तीनों ही सुषुप्तिके आश्रय हैं अथवा इनमेंसे कोई एक? पूर्वपक्षवादी कहते हैं—'तुल्यार्थ' सभी शब्दोंकी परस्पर अपेक्षा देखी नहीं जाती और तुल्यार्थमें विकल्प ही ग्राह्य है; इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि सुषुप्ति दशा नाड़ियोंमें, पुरीतत्में और ब्रह्म—इन तीनोंमें ही समुच्चित रहती है। जीव नाड़ियोंके द्वारा जाकर पुरीतत् देशमें सोता है। नाड़ी तथा प्राणका भी समुच्चय श्रुतिमें देखा जाता है। सूत्र भी है—*'प्राणस्तथानुगमात्'* (ब्र॰सू॰ १/२/२८) प्राण शब्दसे यहाँ ब्रह्मका निदर्शन है। अतः श्रुति विकल्पका नहीं, समुच्चयका प्रतिपादन करती है।

मूल सार यह है कि जीव पहले नाड़ियोंकी सहायतासे पुरीतत्में प्रवेश करता है और अवशेषमें हृदयस्थित ब्रह्ममें अवस्थान करता है। ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति-स्थान है, अन्य दोनों द्वार अथवा उपायमात्र हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्म्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/३२)

अर्थात् जो जाग्रत अवस्थामें चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दिखनेवाले बाल्य, तारुण्य आदि क्षणभङ्गुर देह आदि स्थूल विषयोंका भोग करता है और स्वप्न अवस्थामें हृदयमें ही जाग्रतमें देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका भोग करता है और सुषुप्ति अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर, उनके लयको भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्न अवस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका वही स्वामी है क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जो मैंने स्वप्न

देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक परमात्म वस्तुका ही सब अवस्थाओंमें होना सिद्ध होता है॥ ७॥

सूत्र—अतः प्रबोधोऽस्मात्॥ ८॥

सूत्रार्थ—'अतः'—क्योंकि ब्रह्म ही सुषुप्ति स्थान हैं और नाड़ी इत्यादि केवल द्वार-स्वरूप हैं, इसलिए 'अस्मात्' उन ब्रह्मसे ही, 'प्रबोधः'—सुषुप्तिके बाद जागरण होता है॥ ८॥

सूत्रानुवाद—जिससे ब्रह्म ही सुषुप्तिका स्थान है, इस कारणसे इस शयन प्रकरणमें ब्रह्मसे ही प्रबोध (जागरण) उपदिष्ट है॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—यतो ब्रह्मैव सुप्तिस्थानं नाड्यादीनान्तु द्वारमात्रताऽतोऽस्माद्ब्रह्मणः सकाशादेव स्वापोत्तरं प्रबोधः श्रूयते छान्दोग्ये। *"सतश्चागत्य न विदुः सत आगच्छामहे"* (छा॰ ६/१०/२) इति। विकल्पे तु कदाचिन्नाडीभ्यः कदाचित् पुरीततः कदाचिच्च ब्रह्मणः स श्रूयेत। न च तथास्ति। तस्माद्ब्रह्मैव तत्॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—क्योंकि ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान हैं और नाड़ी इत्यादि वहाँ प्रवेश-द्वार मात्र हैं, इसलिए उन ब्रह्मसे ही सुषुप्तिके बाद जीवका जागरण होता है (जागरण-स्थानकी प्राप्ति उन्हींमें उपपन्न है)। छान्दोग्यमें सुना जाता है *'सतश्चागत्य न विदुः सत आगच्छामहे'* अर्थात् सत् ब्रह्मसे (सत्-स्वरूप-पदार्थसे) लौटकर अर्थात् जागरित होकर जीव फिर यह नहीं सोचता कि वह सत्से आया है। यदि विकल्प पक्ष ग्राह्य होता तो कभी नाड़ियोंमें, कभी पुरीतत्में और कभी ब्रह्ममें सुषुप्ति होती—और इसी प्रकार पृथक्-पृथक् स्थानोंसे जागरण होता, किन्तु ऐसी तो कोई श्रुति नहीं है। अतएव ब्रह्म ही सुषुप्ति-स्थान हैं॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—अत इति। सतो ब्रह्मणः। सः स्वप्नः॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—*'अतः'* इत्यादि सूत्रमें *'सत आगच्छामहे'* इत्यादि भाष्य है। *'सतः'* का अर्थ है 'ब्रह्मसे' *'स श्रूयेत इति'* 'सः' का अर्थ है वह स्वप्न अथवा सुषुप्ति॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्म जो साक्षात् सुषुप्तिके स्थान हैं, इसीको सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें और भी दृढ़ करते हुए समझा रहे हैं कि

अतएव इन ब्रह्मसे ही सुषुप्तिके बाद जागरण होता है। इस विषयमें छान्दोग्यके प्रमाणका भाष्यकारने उल्लेख किया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः।
स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यत्र किञ्चन॥

(श्रीमद्भा॰ ९/१/८)

अर्थात् जो छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे सभी प्राणियोंमें आत्माके रूपमें विद्यमान हैं, वे परमपुरुष भगवान् श्रीहरि ही कल्पके अन्तमें एकमात्र विद्यमान थे। उनके अतिरिक्त यह दिखायी देनेवाला जगत् अथवा अन्य कुछ भी नहीं था।

और भी,

सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहञ्च जज्ञिरे॥

(श्रीमद्भा॰ १/६/३१)

अर्थात् इस प्रकार एक सहस्र चतुर्युग बीत गये और भगवान् पुनः जाग्रत हुए। तब उन्होंने विश्व-सृष्टि करनेकी इच्छा की, उस समय उनकी इन्द्रियोंसे मैं (नारद) भी मरीचि आदि प्रमुख ऋषियोंके साथ प्रकट हो गया॥ ८॥

अवतरणिका भाष्य—अथ *"सतश्चागत्य न विदुरिति"* अत्र विचारान्तरम्। सुप्त एवोत्तिष्ठेदुतान्य एवेति संशये ब्रह्मसम्पन्नस्य प्राचीनदेहादिसम्बन्धासम्भवात् अन्य एवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब *'सतश्चागत्य न विदुः'* 'सत्' से लौटकर जीव जाग्रत्-दशामें पूर्ववृत्तान्तका स्मरण नहीं करता इत्यादि उक्तिमें अन्य विचार प्रदर्शित हुआ है कि क्या यह सुप्त ही उठता है? या अन्य कोई व्यक्ति उठता है? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं सुप्त व्यक्ति नहीं, यह अन्य जीव है क्योंकि सुषुप्तिकालमें जीवके ब्रह्मगत होनेपर उसका पूर्वदेहसे सम्बन्ध रह नहीं सकता। इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्वापोत्तरं परेशाज्जीवस्योत्थानोक्त्या स एव सुप्तिस्थानमित्युक्तं तन्न युक्तम्। सुप्तादितरस्योत्थानसम्भवेन सुप्तस्य नाड्याद्यवस्थानत्वेऽप्य-विरोधादित्याक्षिप्य समाधेराक्षेपः सङ्गतिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—जब निद्राके बाद परमेश्वरसे जीवका उत्थान कहा गया है, तब वे परमेश्वर ही सुषुप्तिस्थान हैं—यह उक्ति युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि सुप्तसे भिन्न व्यक्तिका ही ब्रह्मसे उत्थान सम्भव है। यदि कहो, नाड़ी इत्यादिमें अवस्थान-उक्तिका विरोध है तो ऐसा भी नहीं है। इस सूत्रमें इसी आपत्तिके समाधानके लिए यह आक्षेप-सङ्गति है।

सूत्र—स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः॥ ९॥

सूत्रार्थ—नहीं, अन्य जीव नहीं, 'स एव तु'—वह सुषुप्त जीव ही उठता है, क्योंकि 'कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः' कर्म, अनुस्मरण (ज्ञान) श्रौत शब्द और विधि इनसे उत्थान सिद्ध है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—जो सोता है, वही जगानेपर उठता है, क्योंकि सुप्तावस्थासे पूर्व आधे किये कर्मका अनुस्मरण करके जाग्रतावस्थामें उसकी समाप्तिकी प्रवृत्ति देखी जाती है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—तु शब्दः शङ्काक्षेपाय। सुप्त एवोत्तिष्ठति नान्यः। कुतः? कर्मादिभ्यः। सुप्तेः प्रागनुष्ठितशेषलौकिककर्मसमापनं कर्मशब्दार्थः। अनुस्मृतिः *"योऽहं सुप्तः स एव प्रतिबुद्धोऽस्मि"* इति प्रत्यभिज्ञा। शब्दस्तु *"इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति"* इति छान्दोग्यश्रुतिः (छा॰ ६/९/३)। व्याघ्रादयो जीवाः सुप्तेः प्राग्यद्यच्छरीरं प्राप्तास्त एव प्रतिबुद्धास्तत्तदेवाप्नुवन्तीति तस्यार्थः। विधिश्च *"आत्मानमेव लोकमुपासीत"* (बृ॰आ॰ १/४/१५) इति बृहदारण्यकदृष्टो मोक्षविषयः। सोऽपि सुप्तस्य मुक्तत्वेऽनर्थकः स्यात्। अयं भावः। यथा लवणाम्बुपूर्णः पिहितमुखः कुम्भो गङ्गायां निक्षिप्तः पुनरुद्ध्रियते, तथा वासनावृतो जीवः सुप्तो विरतसमस्तकरणो विश्रामस्थानं ब्रह्म सम्पद्यापि पुनर्भोगायोत्तिष्ठति। न च निर्वासनवत्तत्सारूप्यमुपैति। तदेतच्च कर्मादिभ्योऽवगतमिति॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निरासनके लिए है। जो सुप्त था, वही उठता है, अन्य कोई नहीं—किस

कारणसे? इस विषयमें कर्मादि ही कारण हैं। सुप्तिसे पूर्व (निद्रावस्थासे पहलेके) अनुष्ठित कर्मके अवशिष्ट लौकिक कर्मका वह समापन करता है—सूत्रोक्त 'कर्म' शब्दका यह अर्थ है। 'अनुस्मृति' से तात्पर्य है—'जो मैं सोया था, वही मैं जागा हूँ'—इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा (अनुस्मृति) सुप्तोत्थित जीवकी होती है। कर्म, अनुस्मृतिके बाद इस विषयमें श्रुति भी है—*'इह व्याघ्रो वेति'* व्याघ्र हो अथवा सिंह, वृक (भेड़िया), वराह, कीट, पतङ्ग, दंश, मशक (मच्छर) कोई भी हो—जो जिस भी देहमें सुप्ति (निद्रा) से पहले था, सुषुप्तिके बाद उसी शरीरको प्राप्त होता है—यह भी एक कारण है। इसके अतिरिक्त बृहदारण्यकमें उपासना 'विधि' भी देखी जाती है—यथा *'आत्मानमेव लोकमुपासीत'* 'आत्मतत्त्वका ही ध्यान करें'—इस वाक्यसे मुक्तिका पथ निर्दिष्ट हुआ है—यह विधि-वाक्य है। सुप्त व्यक्ति ब्रह्म-प्राप्तिके कारण मुक्त हो जाता है, यदि यह स्वीकार करते हैं तो तब यह विधि-वाक्य निष्प्रयोजन हो जाता हैं। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार एक कलशको लवण-जलसे भरकर और उसके मुखको आच्छादित करके (ढककर) गङ्गाजलमें डुबाकर बादमें उसमेंसे उठा लिया जाय, इसी प्रकार संस्कार (वासना) से भरा हुआ जीव निद्राकालमें समस्त इन्द्रिय-कार्योंसे विरत होकर विश्रामस्थान ब्रह्मको प्राप्त होनेपर भी उन्हीं ब्रह्मसे पुनः भोगके लिए उठ जाता है। इससे पृथक् जो वासना-रहित है, उस व्यक्तिके समान उसे ब्रह्म-सारूप्यकी प्राप्ति नहीं होती। इन समस्त बातोंसे जीवके कर्मादि (कर्म, अनुस्मृति (ज्ञान), शब्द एवं विधि इत्यादि) से अवगत हुआ जा सकता है॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—स एवेति। कर्मेति। दिनैकसाध्यस्य कर्मणोऽर्द्धं कृत्वा सुप्तो जनः पुनरुत्थायावशिष्टं कर्म कुर्वन् दृष्टः। उत्थितस्य सुप्तादितरत्वेऽवशिष्टं तत् स न समापयेदित्यर्थः। शिष्टं स्फुटार्थम्। अयमिति। तत्सारूप्यं ब्रह्मसाम्यम्॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—*'स एवेति'* सूत्रमें कर्मादिभ्यः इत्यादि भाष्य है। एक सम्पूर्ण दिनमें होनेवाले एक कामको आधा करके कोई मनुष्य सो जाता है बादमें उठनेके बाद वह पुनः उसी असमाप्त कर्मको करने लगता है—यह देखा जाता है। यदि यह सोनेसे उठा हुआ व्यक्ति सुप्तसे भिन्न है तब तो वह अवशिष्ट कामको समाप्त नहीं करेगा न—यह

तात्पर्य है। शेष भाष्यका अर्थ सुस्पष्ट है। अयं भाष्य इत्यादिमें 'तत्सारूप्यम्' का अर्थ है—ब्रह्म-साम्य॥९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सुषुप्तिके आश्रय सत्-वस्तु ब्रह्म हैं; जागरणकालमें उनसे लौटकर भी उन्हें जान नहीं सकते—यह कहनेसे श्रुतिमें विचारान्तर उपस्थित होता है कि क्या यह वही सुप्त ही उठता है? अथवा अन्य कोई उठता है? इस प्रकारके संशयपर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि ब्रह्म-सम्पन्न व्यक्तिके प्राचीन देह-सम्बन्धके अभावके कारण कोई अन्य उठता है। इस प्रकारके मतके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, सुप्त व्यक्ति ही उठता है, दूसरा नहीं, क्योंकि कर्म, अनुस्मृति, श्रुति और विधिसे यही सिद्धान्त किया जाता है कि जीव सुषुप्ति अवस्थासे बुद्धान्तर (जागरण) अवस्थामें आनेके लिए अपनी नियत योनि (शरीर) में आता है—जो व्याघ्र शरीरधारी जीव है, वह सुषुप्तिसे जागरणमें लौटता हुआ व्याघ्र शरीरमें ही आता है, अन्य शरीरमें नहीं।

विस्तारपूर्वक आलोचना भाष्य एवं टीकामें देखनी चाहिये।

श्रीपाद रामानुजाचार्यकृत श्रीभाष्यके सारमें भी यही है—

सुषुप्तिसे पूर्व जीव जो कर्म करता है, सुषुप्तिके बाद भी उस कर्मका फल भोग करते हुए देखा जाता है। सुषुप्ति होनेपर यदि ब्रह्मके साथ ऐक्य होनेसे मोक्ष प्राप्त होता, तो मोक्ष प्राप्तिके लिए शास्त्रमें ऐसे विधि-निर्देशोंका कोई प्रयोजन ही न होता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्द्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माऽखिलसंशयाधिम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/३३)

अर्थात् हे उद्धव! इस प्रकार विचारकर मनकी ये तीनों अवस्थाएँ गुणोंके द्वारा मेरी मायासे मुझमें ही कल्पित हुई हैं, ऐसा निश्चयकर तुमलोग अनुमान और सत्पुरुषोंके द्वारा किये गये उपनिषदोंके श्रवणसे

उत्पन्न तीक्ष्ण ज्ञान-खड्गके द्वारा निखिल संशयोंके आधार-स्वरूप अहङ्कारका छेदनकर हृदयमें स्थित मुझ परमात्माकी उपासना करो।

और भी,

स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम्।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२२/३६)

अर्थात् इस प्रकार महाराज मनुके अपने मन्वन्तरके इकहत्तर चतुर्युग व्यतीत हो गये। वासुदेव कथा-प्रसङ्गमें अभिनिविष्ट रहकर उन्होंने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं एवं सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणोंको पराभूत कर दिया था॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य—प्रसङ्गादिदं चिन्त्यते। मूर्च्छायां ब्रह्मणि संप्राप्तिरर्द्धप्राप्तिर्वा जीवस्येति संशये तस्याः सुप्तिविशेषत्वात्तद्वत् संप्राप्तिरेवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रसङ्गक्रमसे यह भी विचारित किया जा रहा है कि मूर्च्छाकालमें जीवकी ब्रह्ममें सम्पूर्ण-प्राप्ति है? अथवा अर्द्ध-प्राप्ति? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—मूर्च्छा भी एक प्रकारसे सुप्ति-विशेष (निद्रा-विशेष) है, अतएव सुषुप्तिके समान मूर्च्छामें जीवकी सम्पूर्ण ब्रह्म-संप्राप्ति है—यही कहा जायेगा। इसपर सूत्रकारका कहना है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—मूर्च्छापि हरिसृष्टेति चिन्तितं तामाश्रित्य न्यायस्य प्रवृत्तेराश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। प्रसङ्गादिति। तस्याः मूर्च्छायाः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'मूर्च्छा भी श्रीहरिके द्वारा सृष्ट है'—यह सिद्धान्तित हुआ है। उसी मूर्च्छाको आश्रय करके यह अधिकरण प्रवृत्त हुआ है—इस कारणसे आश्रय-आश्रयी भाव नामक सङ्गति है। *'प्रसङ्गादिदं चिन्तयते'* इति में 'तस्याः' का अर्थ है उस मूर्च्छाका।

मुग्धाधिकरणम्

सूत्र—मुग्धेऽर्द्धसंप्राप्तिः परिशेषात्॥ १०॥

सूत्रार्थ—'मुग्धे'—जीवके मूर्च्छित होनेपर उस समय उसकी 'अर्द्धसंप्राप्तिः'—ब्रह्ममें अर्द्ध-प्राप्ति होती है, 'परिशेषात्' यह जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिसे अन्य अवस्था है, इस समय जीवका दुःखसे सम्बन्ध रहता है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिसे अलग कोई अवस्था होनेसे इस मूर्च्छावस्थामें जीवकी ब्रह्ममें अर्द्ध-संप्राप्ति होती है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—मुग्धे मूर्च्छिते सति पुरुषे तस्य ब्रह्मण्यर्द्धप्राप्तिर्भवति। कुतः? परिशेषात्। दुःखानुसन्धानात् न सुप्तिवत् तत्संप्राप्तिः। विषयादर्शनाजागरादिवन्नाप्राप्तिः। किन्तु पारिशेष्यादर्द्धप्राप्तिरेवेत्यर्थः। *"हृदयस्थात् पराजीवो दूरस्थो जाग्रदेष्यति। समीपस्थस्तथा स्वप्नं स्वपित्यस्मिल्लयं व्रजन्। अत एवं त्रयोऽवस्था मोहस्तु परिशेषतः। अर्द्धप्राप्तिरिति ज्ञेयो दुःखमात्रं प्रति स्मृतेः"* इति हि स्मृतिः (वराहपुराण)। दूरस्थोऽक्षिस्थः समीपस्थः कण्ठस्थः। ननु देहस्थस्य जीवस्य तिस्रोऽवस्थाः श्रूयन्ते। जागरः स्वप्नः सुषुप्तिरिति। नातोऽन्या क्वचिदीक्ष्यते। तस्मान्मूर्च्छा नाम पृथगवस्था नास्तीति तिसृणामन्यतमैव सेति चेन्न अन्यत्वात्। तथा हि। न तावज्जागरो मूर्च्छा इन्द्रियैर्विषयावीक्षणात्। नापि स्वप्नः निःसंज्ञत्वात्। न च सुप्तिः मुख-प्रसादर्निष्कम्पत्वाद्यभावात्। तस्मादवस्थान्तरमेव परिशेषादवसीयते। सा चेयं लोके वैद्यके च प्रसिद्धेति। तथा च जागरस्वप्नादिनिखिलकर्त्तृत्वरूपो यस्य महिमा स हरिरेव सेव्य इति प्रकरणाभिप्रायः॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मुग्ध अर्थात् पुरुषके मूर्च्छित होनेपर जीवकी उस समय ब्रह्ममें प्राप्ति अर्द्धमात्र होती है। कारण क्या है? कारण यह है कि उस समय जीवका दुःखानुसन्धान अर्थात् दुःखसे सम्बन्ध रहता है। सुषुप्तिके समान मूर्च्छामें जीवकी ब्रह्ममें सम्पूर्ण प्राप्ति होनेपर दुःखसे सम्बन्ध नहीं रहता और उस समय जाग्रत् दशाके समान जागतिक पदार्थोंका दर्शन भी नहीं होता। अतएव ब्रह्मकी अप्राप्ति भी नहीं कही जा सकती। अतः परिशेषमें अर्द्ध-प्राप्ति ही कही जाती है। यह तात्पर्य है। इस विषयमें स्मृति वाक्य भी है, यथा जाग्रदवस्थामें जीव हृदयस्थित परमेश्वरसे बहुत दूर रहता है और जब ब्रह्मके समीप रहता है, तब स्वप्नका अनुभव करता है सुषुप्ति होनेपर ब्रह्ममें लयको प्राप्त होता है—अतएव इस प्रकारसे जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं, किन्तु परिशेषमें मूर्च्छा अर्द्धलयावस्था है, क्योंकि उस समय दुःखमात्रका

अनुभव करता है—इस प्रकारकी स्मृति है। दूरस्थ शब्दका अर्थ है चक्षु:स्थित और समीपस्थका अर्थ है कण्ठस्थित। अब प्रश्न यह है कि देहस्थित जीवकी तीन अवस्थाएँ श्रुत्र होती हैं, यथा जागरण, निद्रा और सुषुप्ति। इसके अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था किसी जगह दिखायी नहीं देती। अतः मूर्च्छा नामकी कोई स्वतन्त्र अवस्था नहीं है, यह इन्हीं तीनोंके अन्तर्गत कोई अन्यतम अवस्था है। यह यदि कहते हो तो ऐसा नहीं है। मूर्च्छा इन तीन अवस्थाओंसे पृथक् है। कैसे? देखो, मूर्च्छा जागरण हो नहीं सकती, क्योंकि जागरणके समान उस समय कोई पदार्थ प्रत्यक्ष होता नहीं। और यह निद्रास्वरूप भी नहीं है, क्योंकि निद्राकालमें जीवकी संज्ञा (चेतनावस्था) रहती है, इसमें भी यह (मूर्च्छा) रहती नहीं है। इसे सुषुप्ति भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सुषुप्तिके समान उस समय (मूर्च्छावस्थामें) मुखकी प्रसन्नता और निस्पन्दताका अभाव रहता है। अतएव परिशेषमें इन तीन अवस्थाओंसे एक अन्य प्रकारकी अवस्था विशेष है। यह अवस्था लौकिक व्यवहार और वैद्यकशास्त्रमें प्रसिद्ध है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्च्छादिके कर्त्तृत्वमें जिनकी महिमा प्रतिष्ठित है, वे श्रीहरि ही उपास्य एवं सेव्य हैं और यही इस प्रकरणका प्रतिपाद्य है॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—मुग्धे इति। हृदयस्थादिति वाराहे। परात् परेशात्। न च सुप्तिरिति। सुप्तो हि प्रसन्नवदनो निष्कम्पो मुद्रितनेत्रश्चलत्प्राणश्च दृष्टः। मुग्धस्तु भयङ्करवदनः कम्पमानो निश्चलोन्मीलितनेत्रो निश्चलप्राणश्च दृश्यत इति॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—'मुग्धे' इत्यादि सूत्रमें *'हृदयस्थात् पराज्जीवो'* इत्यादि भाष्यमें उद्धृत श्लोक वराहपुराणमें कहा गया है। 'परात्' का अर्थ है 'परमेश्वरसे'। *'न च सुप्तिः मुख प्रसादेत्यादि'* अर्थात् सोये हुए व्यक्तिका मुख बहुत प्रसन्न रहता है, उसमें कम्पादिका अभाव रहता है, आँखें बन्द रहती हैं—उस समय उसके प्राणको चलते देखा जाता है किन्तु मूर्च्छित व्यक्तिका मुख अति भीषण होता है, वह काँपता रहता है, उसकी आँखें खुली रहती हैं फिर भी निश्चल रहता है। प्राण अर्थात् इन्द्रियोंका भी निश्चल होना देखा जाता है। अतएव दोनोंका ऐक्य नहीं हो सकता॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब मूर्च्छावस्थामें जीवकी ब्रह्म-प्राप्ति पूर्ण है अथवा अर्द्ध? इसपर विचार किया गया है। इस विषयमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि मूर्च्छामें भी सुप्ति-विशेषत्वके कारण पूर्ण ब्रह्म-प्राप्तिकी सम्भावना है—इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि मूर्च्छावस्थामें ब्रह्म-प्राप्ति अर्द्धमात्र है। उक्त अवस्थामें इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयके अदर्शनके कारण इसे जागर रूपमें परिगणित नहीं किया जा सकता। संज्ञाके अभावके कारण स्वप्न भी नहीं है और मुखकी प्रसन्नताके अभावमें यह सुषुप्ति भी नहीं है। मूर्च्छा इन तीनों अवस्थाओंसे अन्य है; इस अवस्थामें ब्रह्ममें अर्द्ध-प्राप्ति मात्र है।

श्रीमद्भागवतें द्रष्टव्य है—

कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात् प्रतिक्षणम्।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३१/६)

अर्थात् उसी गर्भमें स्थित भूखसे व्याकुल कृमि उस सुकोमल देहको पाकर उस जीवके समस्त अङ्गोंको नोंच-नोंच कर क्षत-विक्षत कर देते हैं, जिससे वह अतिशय कष्ट पाकर बार-बार मूर्च्छित होता है॥ १०॥

अवतरणिका भाष्य—एवं निखिलनियामकतया भगवतो महिमा दर्शितः। इदानीं बहुधावभातोऽप्यैक्यं स्वस्मिन्न त्यजतीत्यविचिन्त्यस्वरूपता तस्य दर्श्यते। यद्यपि *"प्रकाशादिवन्नैवं परः"* (ब्र॰सू॰ २/३/४४) इत्यादिनोक्तमेतत् तथापि युगपद्बहुभावेन भेदप्रतीतौ न समाहितमतोऽत्राचिन्त्यत्वेन तत्समर्थनम्। *"एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति"* इत्यादि श्रुतम्। (गो॰ता॰ १/२१) तत्र संशयः। नानाविधेषु स्थानेषु स्थितानि भगवतो बहूनि रूपाणि मिथो भिन्नानि न वेति। स्थानभेदेन स्थानिनोऽपि भेदाद्भिन्नानि तानि। न हि मिथो विलक्षणसंस्थानगुणादीनि वस्तून्यभेदं लब्धुमर्हन्ति। एकोऽपि सन्निति तु सामान्याभिप्रायं भावि। ततश्च वस्तुतो भिन्नेषु बहुष्वनेकेश्वरतापत्तिस्तस्याञ्च सत्यां बहुविषया भक्तिरेकस्यासम्भाविनीत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार भगवान् श्रीहरिके निखिल-नियामक अर्थात् सर्वनियन्ता स्वरूपकी महिमा प्रदर्शित हुई है। वे जगत्में बहुत रूपोंमें प्रकाशित होनेपर भी स्व-स्वरूपमें ऐक्यका त्याग नहीं करते—अब उनकी ऐसी अचिन्त्य महिमाका वर्णन किया जाता है। यद्यपि पहले

द्वितीय अध्यायके तृतीय पादके *"प्रकाशादिवन्नैवं परः"* (ब्र॰सू॰ २/३/४४) इत्यादि में दिखाया था कि मत्स्यादि अवतार सूर्य, चन्द्र और प्रदीपादिके समान अंशी श्रीहरिसे भिन्न नहीं है, पुनः वही प्रसङ्ग किसलिए? *'प्रकाशादिवन्नैवं परः'* कहा, ठीक है, पर एक ही समय बहुरूपोंकी भेद-प्रतीति एक ही समय युगपद् रूपसे किस प्रकार सम्भव होगी? इस विषयमें जो आपत्ति है, उसका समाधान तो किया नहीं है। अतएव यहाँ अचिन्तनीयताके वर्णन द्वारा उन सब आक्षेपोंका समाधान करके उस भेद-प्रतीतिका समर्थन किया गया है। श्रुतिमें कहा है, *'एकोऽपि सन् बहुधा विभाति'* (गो॰ता॰ १/२१)—वे एक होकर भी बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होते हैं इत्यादि। इसमें संशय यह है कि नाना प्रकारके स्थानोंमें स्थित श्रीभगवान्‌के बहुत-से रूप परस्पर भिन्न हैं कि नहीं। पूर्वपक्षी कहते हैं कि स्थानी एक होनेपर भी स्थान-भेदसे जब उसमें भेद रहता है, तब बहु-रूप भी परस्पर भिन्न ही हैं। युक्ति यह है कि परस्पर विलक्षण आश्रयमें अवयव संस्थान (गठन) और गुण इत्यादिसे सम्पन्न वस्तुएँ कभी भी अभेद-स्वरूप (ऐक्य-स्वरूप) प्राप्त नहीं कर सकतीं। तब यह जो कहा जाता है कि *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* इसकी उपपत्ति क्या होगी? इसका उत्तर यह है कि जातिको आश्रय करके बहुत-से व्यक्ति एक रूप हो सकते हैं—"जो एक होकर" इत्यादि सामान्य अभिप्रायसे ऐसा हो सकता है। वास्तवमें तो पदार्थ भिन्न और बहु है, अतएव अनेक ईश्वर हो सकते हैं। इसमें श्रुति यह है ईश्वरका बहुत्व सिद्ध होनेपर तन्निष्ठ एक उपासककी बहुत-से ईश्वरोंमें भक्ति असम्भव है, इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके उत्तरपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—निखिलकर्त्तृत्वादीश्वरो भजनीय इत्युक्तं तन्न सिध्यति, ईश्वरबहुत्वात् बहुविषया भक्तिरेकेन दुष्करेत्याक्षिप्य समाधेराक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। एवं निखिलेत्यादि। बहुधावभातोऽपि भगवानिति ज्ञेयम्। स्वस्मिन्नात्मनि। एतदिति। बहुधा भाने सत्यप्यैक्यमित्यर्थः। स्थानभेदेनेति। यद्यपि धाम्नां न स्वरूपतो भेदोऽस्ति तथापि विशेषविभातं वास्तवं भेदकार्यमस्तीति तदादाय पूर्वपक्ष इत्यर्थः। न समाहितं समाधानं न कृतमित्यर्थः। एकोऽपि सन्निति। तथाप्येकत्वं जात्यभिप्रायेणेत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है—पहले जो कहा गया था कि सम्पूर्ण विश्वके कर्त्तृत्वके कारण ईश्वर भजनीय हैं किन्तु यह सिद्ध होता नहीं है, क्योंकि बहुत-से पदार्थोंकी ईश्वर-स्वरूपता है—अतः ईश्वर एक नहीं है, बहुत हैं। एकके लिए बहुत ईश्वरोंकी भक्ति दुःसाध्य है—इस आपत्तिके समाधानके लिए इस अधिकरणमें आक्षेप-सङ्गति है। *'एवं निखिलनियामकतया इत्यादि'* भाष्यमें बहुत-से रूपोंमें भगवान् प्रकाशित हैं—यह तात्पर्य है। *'स्वस्मिन् न त्यजति'* में 'स्वस्मिन्' का अर्थ है 'स्वरूपमें'। *'उक्तमेतत्'* इत्यादिका अर्थ है—वे बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होनेपर भी एक हैं। *'स्थानभेदेन स्थानिनोऽपि'* इत्यादि—यद्यपि सूर्य, चन्द्र, प्रदीप इत्यादिके तेजमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, तो भी उनके विशेष-विशेष रूपोंमें प्रकाशके द्वारा वास्तव भेदकार्य—यह मानना होगा। इसी धारणाको लेकर पूर्वपक्षीकी उक्ति है। *'न समाहितम्'* अर्थात् समाधान नहीं किया गया है। *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* इत्यादि—तेज-समुदाय विशेष रूपसे पृथक्-पृथक् प्रकाशित होनेपर भी 'तेजत्व' जातिके कारण उनका एकत्व है—यह अभिप्राय है।

उभयलिङ्गाधिकरणम्

सूत्र—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि॥ ११॥

सूत्रार्थ—'परस्य'—परमेश्वरका स्वरूप, स्थानतोऽपि—स्थान-भेदसे भी 'न उभयलिङ्गम्' उभयस्वरूप नहीं है अर्थात् स्थान भेद और स्थानी—विशेष्य एक होनेके कारण विभिन्न नहीं है, 'सर्वत्र हि'—क्योंकि सभी स्थानोंमें एक ही स्वरूपका प्रकाश स्वीकार किया गया है॥ ११॥

सूत्रानुवाद—श्रीभगवान्‌का स्वरूप स्थान-भेदसे उभयलक्षण विशिष्ट (निर्विशेष और सविशेष) नहीं है। सभी स्थानों, भावों, श्रुतियों एवं स्मृतियोंमें उनका एक ही स्वरूप स्वीकार किया गया है॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—परस्य भगवतः स्वरूपं स्थानतोऽपि नोभयलिङ्गमुभयलक्षणम्। स्थानभेदेऽपि स्थानि विशेष्यं न भिद्यते इत्यर्थः। हि यस्मादेकमेव स्वरूपमचिन्त्यशक्त्या युगपत् सर्वत्रावभात्येकोऽपि सन्निति श्रुतेः। स्थानानि भगवदाविर्भावास्पदानि

तद्विविधलीलाश्रयभूतानि संव्योमशब्दितानि। विविधभाववन्तो भक्ताश्च। तेषु सर्वेष्वेकमेव स्वरूपं विभाति॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परमेश्वर श्रीभगवान्का स्वरूप स्थान-भेदसे उभय प्रकारका नहीं है अर्थात् स्वरूपतः निर्विशेष और स्थानतः सविशेष—इस प्रकारसे लक्षण विशिष्ट नहीं है। स्थान-विशेषण विभिन्न हो सकते हैं, किन्तु इसके लिए स्थानी—विशेष्य भिन्न नहीं हो सकता, जिस प्रकार देश-भेदसे भी घट एक ही होता है, यह तात्पर्य है। एक ही भगवान्का स्वरूप अपनी अचिन्त्यशक्तिके कारण एक ही साथ (युगपत्) समस्त स्थानोंपर प्रकाशित होता है। एक होकर भी वे बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होते हैं—*'एकोऽपि सन् बहुधा विभाति'*—यह श्रुति-वाक्य ही इसका प्रमाण है। स्थान शब्दसे तात्पर्य है—भगवान्के आविर्भाव-स्थान और उनकी विविध प्रकारकी लीलाओंके आधारभूत स्थान, जो 'संव्योम' संज्ञासे (नामसे) संज्ञित होते हैं। शान्त, दास्य इत्यादि विविध भावोंसे युक्त भक्तगण भी वे ही हैं अर्थात् उनके आविर्भाव-स्थान हैं। इन सभी स्थानोंमें भगवान्का एक ही स्वरूप प्रकाश प्राप्त करता है। स्थान-भेदसे स्थानीका भेद सम्भव नहीं है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—नेति। विविधभावाः शान्तदास्यादयस्तद्वन्त इत्यर्थः॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार—*'न स्थानतोऽपि'* इत्यादि सूत्रमें विविध भाववस्तु इत्यादि भाष्यमें—विविध भाव अर्थात् शान्त, दास्य इत्यादि अवस्थाएँ। तद्विशिष्ट अर्थात् विविध भावोंसे युक्त भक्तगण भी उनके (श्रीभगवान्के) आविर्भाव स्थान हैं॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार श्रीभगवान्की निखिल नियामकतारूप महिमा प्रदर्शित होनेके बाद अब स्वरूपसे एक होनेपर भी बहुविध रूपोंमें प्रकाशित होनेके कारण उनकी अविचिन्त्यशक्ति महिमा प्रदर्शित की गयी है। पहले भी यह उल्लेख किया गया था कि बहुत-से रूपोंमें युगपत् एक ही समय जो भेद-प्रतीति होती है—वह अचिन्त्यशक्तिके कारण है—इस प्रकारसे समाधान नहीं है, उसीका समर्थन हुआ है।

श्रुतिमें कथित *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* इत्यादि वाक्यमें संशय यह है कि परमेश्वर नाना स्थानोंमें नानाविध रूपोंमें अवस्थित होनेपर भी उनके वे नाना रूप एक हैं? अथवा भिन्न हैं? पूर्वपक्षवादी कहते हैं—स्थानभेदसे ये नाना रूप परस्पर भिन्न ही होंगे। और भी कहते हैं, ईश्वरका यदि बहुत्व सिद्ध है तो एक निष्ठावान उपासकके लिए बहुत-से ईश्वरोंकी भक्ति करना असम्भव हो जायेगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि स्थान-भेदसे भी परमेश्वरका स्वरूप एक ही है, उभय प्रकारका नहीं है।

विशेषण बहुत रहें पर विशेष्य एक ही रहता है। श्रीभगवान्की अचिन्तनीयशक्तिका परिचय यही है कि वे एक ही समय बहुत स्थानोंपर अथवा समस्त स्थानोंपर बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होकर भी अपने स्वरूपमें अद्वितीय रहते हैं।

श्रीपाद शङ्कराचार्यने इस सूत्रका जो भाष्य लिखा है, उसका सार यह है कि ब्रह्मके सविशेष और निर्विशेष दोनों लक्षण नहीं हो सकते, उनमें उपाधि-योग भी नहीं हो सकता। उपनिषदमें सर्वत्र ही ब्रह्मके स्वरूपका निर्विशेष रूपमें निर्देश किया है। अतएव ब्रह्मका स्वरूप निर्विशेष है।

आचार्य श्रीरामानुजके भाष्यका सार इस प्रकार है—कोई यदि यह विचार करे कि ब्रह्म जब जीवके शरीरमें सर्वदा ही अवस्थान करते हैं, तब स्वप्न, मूर्च्छादि अवस्थाओंमें जीवको जो दुःख अथवा दोष होता है, वह ब्रह्मको स्पर्श कर सकता है। इस आशङ्काके उत्तरमें कहा जाता है कि ब्रह्मको ये सब दोष स्पर्श नहीं करते। यद्यपि ब्रह्म जीवके साथ एक ही देहमें अन्तर्यामी रूपसे अवस्थान करता है, तो भी सर्वत्र अर्थात् श्रुति एवं स्मृतिमें ब्रह्मको उभयलिङ्ग युक्त कहा गया है। इनमें एक लिङ्ग यह है कि उनमें कोई भी दोष नहीं है और दूसरा लिङ्ग है—वे समस्त कल्याणमय गुणोंके आधार हैं।

श्रीपाद जीवगोस्वामी प्रभुने भी अपनी सर्वसंवादिनीमें भगवत्-सन्दर्भीय विचारमें निर्विशेषवादका खण्डन करनेके लिए इस सूत्रको उद्धृत करते हुए कहा है कि इस अधिकरणमें समस्त वाक्य ही सविशेषत्वके प्रतिपादक हैं।

श्रीमद्‌बलदेव प्रभुने अपने भाष्यमें और भी कहा है, स्थानसे अभिप्राय है श्रीभगवान्‌के आविर्भावका स्थान। संव्योम शब्दसे तात्पर्य है उनकी नानाविध लीलाओंका आश्रय-स्थान तथा शान्त, दास्य इत्यादि विविध भावोंसे युक्त भक्तगण भी बोधित होते हैं। इन समस्त स्थलोंपर श्रीभगवान् एक स्वरूपमें ही प्रकाश प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/६९/२)

अर्थात् जब देवर्षि नारदने सुना कि श्रीकृष्णने नरकासुरका वध करके अकेले ही एक ही समयमें अलग-अलग हजारों भवनोंमें हजारों राजकुमारियोंके साथ विवाह किया है, तो उन्हें यह बात अतिशय विचित्र प्रतीत हुई। वे कौतुहलवश उस अद्भुत लीलाको देखनेकी इच्छासे द्वारका पहुँचे।

श्रीलघुभागवतामृतमें भी प्राप्त है—

अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा।
सर्वथा तत्स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्यते॥

(लघुभागवतामृत १/२१)

अर्थात् एक ही रूपका एक साथ अनेक स्थानोंपर आकार, गुण एवं लीलामें हर प्रकारसे एक ही समान युगपत् प्रकाशित करते हुए मूलस्वरूपसे प्रादुर्भूत होना 'प्रकाश' कहलाता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी इसी प्रकारसे देखा जाता है—

एकइ विग्रह यदि हय बहुरूप।
आकारे त भेद नाहि एकइ स्वरूप॥

महिषी विवाहे यैछे, यैछे कैल रास।
इहाके कहिये कृष्णेर मुख्य प्रकाश॥

(चै॰च॰आ॰ १/६९-७०)

अर्थात् एक ही विग्रह यदि बहुत रूप धारण करता है, तो उनके आकारमें भेद तो है तथापि स्वरूप एक ही है। जैसे महिषियोंके

विवाहमें हुआ और जैसे रासमें हुआ, इसे श्रीकृष्णका मुख्य प्रकाश कहते हैं।

और भी,

एकह विग्रह यदि आकारे हय आन।
अनेक प्रकाश हय, 'विलास' तार नाम॥

(चै॰च॰आ॰ १/७६)

अर्थात् एक ही विग्रहका यदि भिन्न आकारमें एवं अनेक रूपोंमें प्रकाशन होता है तो उसे 'विलास' कहा जाता है।

श्रीमद्भागवतमें ही—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥

(श्रीमद्भा॰ १०/३३/२०)

अर्थात् परीक्षित्! यद्यपि भगवान् आत्माराम हैं—उन्हें अपने अतिरिक्त और किसीकी भी आवश्यकता नहीं है—फिर भी उन्होंने जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही रूप धारण किये और खेल-खेलमें उनके साथ इस प्रकार विहार किया॥ ११ ॥

सूत्र—न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—'इति चेत्'—यदि कहो, बहुत रूपोंमें अवभात (प्रकाशित) होनेपर भी तात्त्विक (वास्तविक) रूपसे भेद और अभेद तो प्रतीत होते ही हैं, इस कारण पूर्वोक्त समाधान युक्तियुक्त नहीं है, 'न' तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'प्रत्येकम् अतद् वचनात्' प्रत्येक श्रुतिमें (प्रत्येक पर्यायमें) अतद् अर्थात् भेदका अभाव होनेसे समस्त रूपोंमें ब्रह्मका ऐक्य ही बोधित है, 'न भेदात्' भेद-बोधक वाक्य नहीं है॥ १२ ॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिमें प्रत्येक सविशेष उपदेशमें 'अतद् वचन' अर्थात् भेदके अभावके कथनसे भेद सिद्ध नहीं होता है॥ १२ ॥

गोविन्दभाष्य—बहुधावभातस्यापि तात्त्विकत्वेन भेदाभेदप्राप्तेः पूर्वोक्तं न युक्तमिति चेन्न। कुतः? प्रतीत्यादेः। *"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः*

शतादशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूतिरित्यनुशासनम्" इति बृहदारण्यके (बृ॰आ॰ २/५/९) सर्वेषां रूपाणामैक्योक्तेरित्यर्थः॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी यदि कहें कि बहु-रूपमें प्रकाशमानका भी वास्तव रूपमें भेद और अभेद रहनेके कारण पूर्वोक्त सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है, तो यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि *'प्रत्येकमतद्वचनात्'* (प्रत्येक श्रुतिमें ब्रह्मके अनेक प्रकाश होनेपर भी उनमें एकताका निरूपण किया गया है)—इस प्रकारसे श्रुतिमें पाया जाता है, यथा *'इन्द्रोमायाभिः ... रित्यनुशासन'*। 'इन्द्र' अर्थात् परमेश्वर, 'मायाभिः' अर्थात् ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्—इन त्रिविध वृत्तियोंसे विशिष्ट नित्य स्वरूपशक्ति युक्त हैं, इसलिए बहुत रूपोंमें प्रतीत होते हैं। क्योंकि भगवान् अचिन्त्य स्वरूप शक्तिमान हैं, इसलिए उनके सहस्र विष्णुरूप युक्तियुक्त हैं। ये परमेश्वर एक होकर भी सङ्कल्पमात्रसे अनेक विष्णुरूपोंमें आविर्भूत होते हैं। यहाँ इन्द्र शब्दका अर्थ हरि है। 'हरि' कहनेसे 'अश्व' का भ्रम नहीं करना चाहिये, यह इन्द्र शब्द परमेश्वरके लिए ही प्रसिद्ध है। वे एक हैं, शत, दश अश्व उनसे युक्त हैं, ये इन्द्र (परमेश्वर) ही ये सब अश्व हैं। ये ही सहस्र, बहु एवं अनन्त रूपोंमें हैं। ये ही द्वारकामें प्रत्येक महिषीके घरमें एक ही रूपमें प्रतिभात होते हैं। एक ब्रह्म ही समस्त रूपोंमें हैं। वे विभु, अपूर्व (जन्य नहीं है), अन-पर (अद्वितीय), अनन्तर (भेद-हीन), अबाह्य (उनसे बाहर कुछ भी नहीं है), आत्मा (व्यापक) और सर्वज्ञानमय हैं। ब्रह्मके सम्बन्धमें इसे उपदेश जानना चाहिये। क्योंकि बृहदारण्यकमें इसी प्रकारसे समस्त रूपोंमें ऐक्य ही कहा गया है। उनमें भेद नहीं है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—न भेदादितीति। पूर्वोक्तं न युक्तम्। कुतः? भेदादिति चेन्न। कुतः? प्रत्येकमित्यादेरिति योज्यम्। बहुधावभातस्यापीति। अपिशब्दादैकस्य चेत्यर्थः। इन्द्र इति (बृ॰आ॰ २/५/९)। इन्द्रः परमेश्वरः पुरुषोत्तमः। मायाभिरिति। ह्लादिनी सन्धिनी संविदित्येवं त्रिवृत्तिकया स्वरूपशक्त्या परयेत्यर्थः। स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युक्तः। अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनमिति श्रुतेः। मायावयुनं ज्ञानमिति निघण्टुकोषे ज्ञानपर्यायाच्च। युक्ता ह्यस्य हरय इति। हि यतोऽसावचिन्त्य-स्वरूपशक्तिरतोऽस्यैकस्यैव इन्द्रस्य शतादश हरयः। सहस्रं विष्णुरूपाः प्रकाशाः

युज्यन्ते। शक्ररथस्याश्वभ्रान्तिं निवारयितुमाह अग्रं वा इति। अयमिन्द्रः परमेश्वरो वै प्रसिद्धौ निश्चये वा एक एवानेकहरयो विष्णवः सङ्कल्पमात्रादेवाविर्भवन्ति। तदुदाहरणत्वेनाह अयं वै इति। अयमेवेन्द्रो दशावतारा मीनादिरूपतया भवति। अयमेव बहूनि सहस्राणि रूपाणि भवतीति द्वारवत्यां प्रतिमन्दिरमैक्यरूपेण संस्थितेः। विधिमोहने यावद्वत्सपवत्सरूपप्राकट्याद्वा। संख्यापरिच्छेदं प्राप्तं निवारयति अनन्तानि चेति। रूपाणीतिशेषः। बहुत्वेन प्राप्तं भेदं निवारयति तदेतद्ब्रह्मेति। तत् सर्वरूपमेकं ब्रह्मैवेत्यर्थः। विभुत्वमाहापूर्वमित्यादि। ज्ञानैकरस्यमाह सर्वानुभूतिरिति। नखरचिकुरादिरूपं सर्वं ज्ञानधातुरित्यर्थः। अथवा सार्वज्ञयमाह सर्वानुभूतिरिति॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—*'न भेदादित्यादि'* सूत्रमें *'पूर्वोक्तं न युक्तमित्यादि'* भाष्य है। तात्पर्य है कि पहले जो सिद्धान्त किया गया है, वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मत्स्यादि अवतारोंमें भेद है—ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहते हैं, उसके प्रतिवाद रूपमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—नहीं, यह नहीं कह सकते, किस कारण से? *'प्रतीत्यादेः'*—प्रत्येकमें ही उनकी सत्ताके कारण। *'प्रत्येकमतद्वचनात्'*—यह पद योजनीय है जिसका अर्थ है प्रत्येकमें ही उनकी सत्ता (प्रकाश) है। *'बहुधावभातस्यापि'* इत्यादि भाष्यमें स्थित 'अपि' शब्दका अर्थ है—ऐक्य रहनेपर भी *'इन्द्रोमायाभिः'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है 'इन्द्रः' अर्थात् 'परमेश्वर, पुरुषोत्तम'। 'मायाभिः' का अर्थ है ह्लादिनी, सन्धिनी एवं सम्वित्—इन तीन प्रकारकी वृत्तियोंसे विशिष्ट, परा अर्थात् स्वरूपशक्तिसे युक्त, माया नामकी स्वरूपभूत नित्यशक्तिसे युक्त। श्रुतिमें कहा गया है—इसीलिए पण्डितगण विष्णुको मायामय, नित्य, पुरुष कहते हैं। माया शब्दका अर्थ है 'ज्ञान'। निरूक्तकर्त्ता यास्कने निघण्टुमें माया, वयून, ज्ञान इत्यादि शब्दोंको एक पर्यायमें निर्देश किया है। *'युक्ता ह्यस्य हरयः'* इत्यादिका अर्थ है—क्योंकि ये परमेश्वर अचिन्तनीय स्वरूप-शक्तिमान हैं, इसलिए उन एक ही इन्द्र (परमेश्वर) का सहस्र हरि युक्त हैं अर्थात् सहस्र विष्णुरूप प्रकाश युक्तियुक्त है। 'हरि' कहनेसे यह भ्रम नहीं करना चाहिये कि इन्द्र-रथके सहस्र-अश्व हैं। वही कहते हैं—'अयमिन्द्रः' अर्थात् ये इन्द्र परमेश्वर, 'वै' का अर्थ है 'प्रसिद्ध' अथवा 'निश्चित' अर्थात् जो एक ही हरि अथवा विष्णु अनेक रूपोंमें सङ्कल्पमात्रसे आविर्भूत होते हैं। उदाहरण-स्वरूप बतलाते हैं कि—*'अयं वै दश च सहस्राणिचेत्यादि'* वे इन्द्र ही दशावतार मत्स्यादि रूपोंमें प्रकाश पाते हैं,

वे ही बहु सहस्र रूपोंमें होते हैं—वे द्वारकाधाममें सोलह हजार महिषियोंके साथ प्रत्येक गृहमें घरमें एक ही समयमें एक ही रूपमें अवस्थान करते हैं अथवा ब्रह्म-विमोहनलीलामें जितने भी वत्स-पालक थे और जितने भी गोवत्स थे वे उन सभी रूपोंमें प्रकट हुए थे। ऐसा कहनेसे तात्पर्य है कि उनका रूप-प्रकटन केवल सहस्रादिकी सीमातक आबद्ध नहीं है, यही दिखाते हैं—*'अनन्तानि चेति'* अर्थात् उनके असंख्य रूप हैं। इसके बाद उनके बहुत्वके कारण जिस भेदकी आशङ्काकी जाती है—उसका निराकरण *'तदेतद् ब्रह्मेति'* वाक्य द्वारा करते हैं कि ये सब समस्त रूप एक ब्रह्मके ही हैं। *'अपूर्वमित्यादि'* वाक्य द्वारा उनका विष्णुत्व देखा जाता है। वे जो केवल ज्ञानैकरस हैं, इसे सर्वानुभूति पदसे कहा गया है। तब जो नख, केश इत्यादि रूप हैं, वे ज्ञानोपादानक हैं—यह अर्थ है अथवा सर्वानुभूति शब्दसे उनकी सर्वज्ञता कही जा रही है॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षवादी यदि कहें कि जो बहुत रूपोंमें प्रकाशित होते हैं—इस वाक्यमें तात्त्विकताके कारण भेद और अभेद दोनोंकी प्राप्ति होनेसे पूर्वोक्त केवल अभेदकी उक्ति युक्तियुक्त नहीं है। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि श्रुतिमें समस्त रूपोंमें अभेदत्व ही कहा गया है, भेद सूचक कोई वाक्य नहीं सुना जाता। बृहदारण्यकमें पाया जाता है कि परमेश्वर अपने नित्यस्वरूपशक्तियुक्त रूपसे ही बहुत रूपोंमें प्रतीत होते हैं।

आचार्य श्रीशङ्करने इस सूत्रकी भी निर्विशेषपरक व्याख्या की है।

आचार्य श्रीरामानुजके भाष्यका सार इस प्रकारसे है—

कोई यदि विचार करे कि देव, मनुष्यादि शरीर-भेदसे ब्रह्म भी सुखादिका भोग करते हैं, क्योंकि वे अन्तर्यामी रूपसे सबमें अवस्थान करते हैं तो ऐसा नहीं है अर्थात् यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि वे प्रत्येक शरीरमें अमृत रूपसे अवस्थान करते हैं, इसलिए प्राकृत सुख-दुःखसे उनका स्पर्श नहीं है। यही बात श्रुतिमें भी है—*'यः आत्मनि तिष्ठन्'*, (शत॰ब्रा॰ १४/५/३०) *'यः पृथिव्यां तिष्ठन्'* (बृ॰आ॰ ३/७/३), *'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'* (बृ॰आ॰ ३/७/३) इत्यादि। (जो

आत्मामें रहनेवाला आत्माके भीतर है, जो पृथिवीमें रहनेवाला पृथिवीके भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।)

इसी प्रसङ्गमें श्रीपाद एक चमत्कारपूर्ण उदाहरण भी देते हैं कि कोई वस्तु सुखात्मक अथवा दुःखात्मक नहीं है। एक वस्तु एक व्यक्तिको सुख देती है और वही दूसरेको दुःख देती है। दृष्टान्तार्थ कहा जाता है किसी नारीका रूप अपने पतिको सुख देता है, लेकिन वही रूप सपत्नी (सौतन) के लिए दुःखदायी होता है। कर्मफलानुसार ही जीव किसी वस्तुके संस्पर्शसे सुख अथवा दुःख प्राप्त करता है। ब्रह्म कदापि कर्मफलके अधीन नहीं है, इसलिए कोई भी वस्तु उनके लिए सुख अथवा दुःखका कारण नहीं हो सकती।

आचार्य श्रीपाद जीवगोस्वामी प्रभुने अपनी सर्वसंवादिनीके भगवत्-सन्दर्भीय विचारमें इस सूत्र और परवर्त्ती सूत्रको भेदत्रय-विचार प्रसङ्गमें उद्धृत किया है। यह वहीं देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात् स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः ॥

(श्रीमद्भा॰ ५/११/१३)

अर्थात् (जीवात्मा एवं परमात्माके भेदसे क्षेत्रज्ञ दो प्रकारका है, उनमेंसे जीवात्माकी बात कहकर अब परमात्माका वर्णन करते हैं), क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वव्यापी, जगत्-कारण, पूर्ण, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, जन्मादिसे रहित और ब्रह्मादियोंके भी ईश्वर हैं। वे नारायण समस्त जीवोंके आश्रय, षडैश्वर्य-पूर्ण, भगवान् और समस्त प्राणियोंके आवास-स्वरूप वासुदेव हैं। वे अपनी मायासे सभी जीवात्माओंमें उनके नियामक रूपमें रहते हैं॥ १२॥

सूत्र—अपि चैवमेके॥ १३॥

सूत्रार्थ—'अपि च'—और एक बात है, 'एके'—कोई-कोई वेदशाखाध्यायी-गण 'एवम्'—इस प्रकार कहते हैं कि वे अमात्र अर्थात् परिमाण और संख्याहीन हैं पुनः अनन्तपरिमाण हैं। इस प्रकार अभेद और अनन्त रूपमें विभिन्न उक्तियाँ हैं॥ १३॥

सूत्रानुवाद—इस प्रकार भेद-दर्शनको अस्वीकार करते हुए एक शाखावाले ब्रह्मके लिए अभेद और अनन्त रूपमें विभिन्न उक्तियाँ कहते हैं॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—अपि चेति किञ्चेत्यर्थः। *"अमात्रोऽनन्तमात्रश्च"* इत्येके शाखिन एवमभेदेनानन्तरूवत्वेन चैनं पठन्ति। अमात्रः स्वांशभेदशून्यः। अनन्तमात्रोऽसंख्येयस्वांशः। *"एक एव परो विष्णुः सर्वत्रापि न संशयः। ऐश्वर्याद्रूपमेकञ्च सूर्यवद्बहुधेयत"* इति स्मृतेश्च। अयं भावः। यथैक एव वैदूर्यमणिद्रष्टृभेदाद्रूपभेदान् दधानोऽपि यथा वाभिनेता नटः स्वस्थितान् भावान् प्रकटयन् बहुधावभातोऽप्यैक्यं स्वस्मिन्न विमुञ्चति एवं ध्यातृभावभेदात् कार्यभेदाच्चानेकतया प्रतीतोऽपि हरिः स्वरूपैक्यं स्वस्मिन्न मुञ्चति। *"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः।" "यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधैरव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः। वभूव तेनैव स वामनो वटुः संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः"* इत्यादि स्मृतिभ्यः। मणिरत्र वैदूर्यः। नटोऽभिनेता। तथाचैकस्यैव सतोऽविचिन्त्यशक्तेर्विरुद्धगुणाश्रयस्य युगपद्-बहुधावभासोऽपि तस्मिन् विरुद्धधीविषयो गुण एवेति तस्मिन्नेकस्मिन्नेवाविचिन्त्यशक्तिके सर्वेश्वरे भक्तिरुपपन्नेति॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'अपि च' शब्दका अर्थ है—और एक बात है। वे अमात्र और अनन्तमात्र हैं। इस प्रकार कोई-कोई वेदशाखाध्यायीगण उनका अभेद (अभिन्न) और अनन्त रूपमें वर्णन करते हैं। अमात्र शब्दका अर्थ है—निज अंश (स्वांश) भेदसे शून्य अर्थात् स्वगत भेदरहित। देखो, बात ऐसी है कि भेद तीन प्रकारके देखे जाते हैं—सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद। इनमें सजातीय भेद है जिस प्रकार नीलघट पीतघटसे भिन्न है, तथा विजातीय भेद है जिस प्रकार घट-पटसे भिन्न है और स्वगत भेद है जिस प्रकार अवयवसे अवयवीका भेद है—ये तीनों ही भेद श्रीहरिमें नहीं हैं। पुनः वे अनन्त मात्र हैं—उनके असंख्य अंश हैं (अर्थात् उनमें अंशका भेद नहीं है।) इस विषयमें संशय हो सकता है कि एक विष्णु किस प्रकारसे अमात्र तथा अनन्त हो सकते हैं? इसके निराकरणके लिए स्मृति-वाक्य

दिखाते हैं—*'एक एव परो विष्णुः'* इत्यादि जो परमेश्वर विष्णु हैं—वे सर्वत्र ही एकरूपमें वर्त्तमान हैं। इस विषयमें कोई सन्देह करनेकी आवश्यकता नहीं है। अचिन्त्य ऐश्वर्यकी महिमाके कारण उनका एक ही रूप प्रत्येक चक्षुमें सूर्यके समान बहुत-से रूपोंमें प्रतीत होता है। इसका भावार्थ यह है कि जैसे एक ही वैदूर्यमणि द्रष्टा (दर्शक) भेदसे रूपभेदके द्वारा बहुत प्रकारसे प्रतिभात होती है और जैसे एक ही अभिनय-प्रदर्शक (अभिनेता) नट निजगत भावोंको प्रकट करता हुआ बहुत रूपोंमें अवभात होता है, तो भी स्वरूपसे एक ही रहता है, उसमें स्वगत भेद नहीं रहता, इसी प्रकार ध्याताओं (उपासकों) के भावभेद और कार्यभेदसे श्रीहरि अनेक रूपोंमें प्रतिभात होनेपर भी कदापि स्वरूपके ऐक्यका त्याग नहीं करते। विष्णुपुराणमें कहा गया है—जिस प्रकार वैदूर्यमणि भाग-भागपर नील-पीत इत्यादि वर्णोंसे युक्त होकर रूपभेदको प्राप्त होती है, उसी प्रकार श्रीहरि ध्याताके ध्यान भेदसे नाना रूप धारण करते हैं। श्रीमद्भागवत (८/१८/१२) में कहा है—जो स्वरूपतः अव्यक्त, चिन्मय, प्रत्यग्, चैतन्यरूपमें सर्वप्रसिद्ध हैं और जिनका शरीर दीप्ति (प्रभा), अलङ्कार और अस्त्रादि द्वारा शोभित होकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार उन्होंने पहले निज स्वरूप (अपना शरीर) धारण किया अर्थात् प्रकाशित किया, फिर उसी शरीरमें, अन्य शरीर अथवा अन्य वेशमें नहीं, वे श्रीहरि पिता-माताके देखते-ही-देखते प्रत्यक्षमें ही इस प्रकारसे वामनाकृति ब्राह्मणकुमार हो गये, जिस प्रकार अलौकिक दिव्यरूपधारी नट देखते-देखते अन्य रूप हो जाता है—इत्यादि स्मृति-वाक्य इसके प्रमाण हैं। *'मणिर्यथा'* इत्यादि इत्यादि श्लोकमें उक्त मणिका अर्थ है—वैदूर्यमणि, नटका अर्थ है-अभिनेता। अतएव सिद्धान्त यह है कि एक ही अचिन्तनीय शक्तिसम्पन्न, विरुद्ध-गुणाधार श्रीहरि एक ही समय बहुत रूपोंसे प्रतिभात होनेपर भी उनमें जो विरुद्ध गुण बुद्धिके विषयीभूत होते हैं, यह उनका गुण ही है। इसलिए एकस्वरूप, अचिन्तनीय शक्तिसम्पन्न सर्वेश्वर श्रीहरिके चरणोंमें ही भक्ति युक्तियुक्त है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—उक्तार्थं द्रढयितुमाहापि चेति। एक एवेति मात्स्ये। सूर्यवदित्यत्र प्रतिचक्षुरिति प्रभयेति च बोध्यम्। यदाह भीष्मः। *"तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि*

हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् प्रति दृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः' (श्रीमद्भा॰ १/९/४२) इति। स्वस्थितानात्मनिष्ठान्। स्वरूपैक्यं स्वस्मिन्नात्मनि रूपाभेदम्। मणिर्यथेति वैष्णवतन्त्रे। यत्तदिति श्रीभागवते। अव्यक्तचित् प्रत्यक्चैतन्यरूपं तत् प्रसिद्धं यद्वपुर्भातिर्विभूषणायुधैरव्यक्तं (श्रीमद्भा॰ ८/१८/१२) प्रकटं यथा स्यात् तथा हरिरधारयत् प्रकाशितवान् तेनैव वपुषा न तु वपुरन्तरेण वेशान्तरेण वा स हरिर्वामनो वटुर्वभुवेत्यन्वयः। दिव्यगतिरलौकिकः स्वर्गी नटो यथेति दृष्टान्तः। पित्रोरदितिकश्यपयोः संपश्यतोः सतोरिति संकल्पमात्रेणैव तदैव तथाभिव्यक्तिरित्यद्भुतो रसो व्यञ्जितः॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्वोक्त सिद्धान्तको और भी दृढ़ करनेके लिए सूत्रकार कहते हैं 'अपिच' इत्यादि। भाष्योक्त *'एक एवेत्यादि'* श्लोक मत्स्यपुराणमें कथित है। 'सूर्यवत्' यहाँ 'प्रतिचक्षुः' और 'प्रभया' ये दो पद योजनीय हैं। इस प्रकार समस्तार्थ यह हुआ कि जिस प्रकार सूर्य प्रत्येक मनुष्यकी आँखोंमें अपनी प्रभासे भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार। इसी बातको श्रीमद्भागवतमें भीष्म पितामह कहते हैं—जो प्रत्येक जीवकी दृष्टिमें एक ही सूर्यके समान बहुत-से रूपोंमें प्रतिभात होते हैं एवं स्वकर्मवशतः विविध शरीर-धारी जीवोंके हृदयमें जो प्रत्यगात्म रूपसे अधिष्ठित हैं, मैंने प्राकृत भेद-ज्ञानका परित्यागकर एवं मोहसे मुक्त होकर ऐसे उन नित्यपुरुष श्रीहरिका आश्रय लिया है। *'नटः स्वस्थितान् भावान् इति'* भाष्यमें कहा है नट जिस प्रकार *'स्वस्थितान्'*—आत्मनिष्ठ अवस्थाओं (भाव इत्यादि) को दिखाता है। *'हरिः स्वरूपैक्यं न मुञ्चति'* इति 'स्वरूपैक्यम्'—अपना स्वरूपगत अभिन्नरूप-स्वरूपकी एकरूपताका त्याग नहीं करते। *'मणिर्यथा विभागेन'* इत्यादि श्लोक वैष्णवतन्त्रमें कहा गया है। *'यत्तद्वपुर्भाति'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतका है। इसका अर्थ है—अव्यक्त चिन्मय प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप। 'तत्' अर्थात् वह प्रसिद्ध जो शरीर दीप्ति, विभूषण, अस्त्र इत्यादि योगसे शोभित है एवं जिस रूपको श्रीहरिने व्यक्त अर्थात् प्रकटित रूपसे प्रकाशित किया है, उसी शरीरके द्वारा, किसी अन्य शरीर अथवा अन्य वेश द्वारा नहीं, श्रीहरि माता-पिताके सम्मुख ही देखते-देखते वामनाकृति-ब्राह्मणकुमार हो गये। इस प्रकारसे उक्त श्लोकका अन्वय है। *'दिव्यगतिः'*—अलौकिक अर्थात् स्वर्गीय (दिव्य) नट जिस प्रकार रूप धारण करता है—यह विभिन्न रूप धारणका

दृष्टान्त है। *'पित्रोः संपश्यतोः'*—पिता कश्यप और माता अदितिके समक्ष ही अर्थात् वे उन्हें देखते रहे। इसके द्वारा कहा गया है कि श्रीभगवान् सङ्कल्पमात्रसे ही उस समय वामन वटु रूपमें अभिव्यक्त हो गये। इस अभिव्यक्तिके द्वारा अद्भुत नामक रस प्रकाशित हुआ है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त विषयको सुदृढ़ करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि कोई-कोई वेद-शाखाका अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणगण ब्रह्मको अमात्र एवं अनेकमात्र (अनन्तमात्र) रूपमें निर्देश करते हैं।

अमात्र अर्थात् स्वांशभेदशून्य और अनेकमात्र अर्थात् असंख्य स्वांशविशिष्ट। मूल बात यह है कि उनके स्वांशतत्त्वमें कोई भेद नहीं है और स्वांशतत्त्व असंख्य हैं। इस विषयमें विस्तारपूर्वक आलोचना भाष्यकारके भाष्य एवं टीकामें द्रष्टव्य है।

श्रील जीव गोस्वामीपाद रचित सर्वसंवादिनीके अन्तर्गत भगवत्-सन्दर्भीय विचारमें देखा जाता है—

'न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमततद्वचनात्' इति (ब्र॰सू॰ ३/२/१२) *अतएव 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'* (छा॰ २/६/१) *इत्येके पठन्ति। तदेतदप्याह 'अपि चैवमेके'* (ब्र॰सू॰ ३/२/१३) *इति। न च—*

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१९/१७)

इत्यत्र श्रीभागवत एव भेदमात्रं श्रुत्यसम्मतमित्युच्यते इति वाच्यम्। विकल्प शब्दस्य संशयार्थत्वात् तत्र विरागश्च वस्तुनिष्ठापेक्षयेति मूल एव वक्ष्यते।

तदेवं स्वगतभेदे त्वपरिहार्ये स्वर्णरत्नादिघटितैककुण्डलवद् वस्त्वन्तर-प्रवेशेनैव स प्रतिषेध्यत इति स्थितम्।

तत्स्वरूपवस्त्वन्तराणां च तच्छक्तिरूपत्वान्न तैः सजातीयोऽपि भेदः।

न चाव्यक्तगत जाड्यदुःखादिभिर्विजातीयो भेदः,—अव्यक्तस्यापि तच्छक्तिरूपत्वात्। अथवा नैयायिकानां 'ज्योतिरभाव एव यथा तमः'

तथाङ्गीकृत्य तादृशचिन्तानुभावमायाकृत चिदानन्द-शक्ति-तिरोभाव-लक्षणा-भावमात्र शरीरत्वेन निर्णेतव्यत्वादिति। न चाभावेनैव तर्हि विजातीयोऽसौ भेद आपतित इति वक्तव्यम् केवलाद्वैतवादिनामपि तदपरिहार्यत्वात्।

एवञ्च निषेध-श्रुतिभिर्युक्तिभिश्च ब्रह्मणि यो द्वैताभावः साध्यते स चावृत्त्याप्यपरिहार्य इति। पुनस्तदापातभिया भावेनैवाद्वैतं मन्यामहे इति वदतां भावद्वैतमप्यवसीयते। तेनाभावेन भावरूपब्रह्मणो यद् द्वैतमस्ति, तस्य भावरूपस्यैव साक्षादवशिष्टत्वात् मिथ्याप्रपञ्चस्या-भावोऽपि मिथ्येत्यत्रापि तद्वत् तत्रापि मिथ्यैवावशिष्यते। अभावस्तु न वस्त्वतिरिक्त इति पक्षोऽपि न सम्यगवगम्यते।

यदा च भूतलं एव घटाभावः स्यात् तदा तत्र पुनर्घटस्य संसर्गो न स्यादेव। तदेवं पूर्वयुक्तिभिरित्थं चापरिहार्यायां भेदवृत्तौ स्वगतभेद-वृत्तिस्तस्मिन्नस्त्येव। ननु निर्भेदेऽपि तस्मिन्नित्यं स्वगतभेदप्रतीतिरपि मिथ्यैवास्तु शुक्तिरजतवदनिर्वचनीयत्वात्। मैवम्। प्राक्तनयुक्तिभिर्विज्ञानादिभेदानां स्वरूपाद-परिहरणीयत्वात्। अविद्यातत्कार्यापोहावशिष्ट—तादृशस्वरूपेऽप्यनिर्वचनीयत्वे सर्वत्र नाशापत्तेः। न च यत्र निर्वक्तुमशक्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वमिति व्याप्तिरस्ति, ब्रह्मण्यव्याप्तेः। 'अनिरुक्तेऽनिलये' (तै॰ २/७/१) इत्यादि श्रुतेः। लोकेऽपि मिथोविरोधिगुणधारित्वेनैव युक्त्यसिद्धत्वादनिर्वचनीय—त्रिदोषघ्नैकव्यक्त्योषधिद्रव्यादिदर्शनेन—व्यभिचारः।

अतएव अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रमहौषधीनां प्रभाव इति। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इत्युक्तम्।

तस्मात्तद्वदचिन्त्यस्य भावतया मिथोविरोधिधर्मवदेव तत्तत्त्वमित्युच्यताम्। तत्र तस्य तादृशत्वाज्ञाने वैद्यकविध्येकानुगततन्निषेधकानुभवः प्रमाणम्। प्रस्तुतस्यापि वेदैकानुगतविद्वदनुभव एव प्रमाणम्। तथाच पैङ्गीश्रुतिः।

'यो विरुद्धोऽविरुद्धोमनुरमनुर्वागवागिन्द्रोऽनिन्द्रः प्रवृत्तिरप्रवृत्तिः स परमात्मा' इति।

अतएव श्रुत्यन्तरम्—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इति (कठ॰ २/९) एवं श्रीविष्णुपुराणे-'यस्मिन् ब्रह्मणि सर्वशक्तिनिलये मानानि नो मानिनां निष्ठायै प्रभवन्ति' इति।

श्रीनारदपञ्चरात्रे च—

'विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकञ्चानैकभेदगम्।

दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसन्नतान्॥' इति॥ तदेवमतर्क्यत्वात्तर्क मूला खण्डनविद्या नास्मिन् प्रयोक्तव्येत्यभिहितम्।

अतएवोक्तं हंसगुह्यस्तवके—

'यच्छक्तयोवदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥' इति

(श्रीमद्भा॰ ६/४/३१)

युक्तञ्च परस्परविरोधिशक्तिगणाश्रयत्वम्—जगति दृष्टश्रुतानां परस्परविरोधिनां सर्वेषामेव धर्माणां युगपदेकाश्रयत्वात्। विद्वदनुभवश्चाग्रे बहुशो दर्शनीयः।

अतस्तस्मिन् तादृशशक्तयः सन्त्येव। किन्तु तस्मिंस्तासामभि-व्यक्त्युपलब्धौ प्राचुर्येण 'भगवत्'-संज्ञा। तदनुपलब्धौ प्राचुर्येण 'ब्रह्म'-संज्ञेति विशेषः।

अतएव श्रीविष्णुपुराणे—

प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

(वि॰पु॰ ६/७/५३)

इत्यत्रप्रत्यस्तमितेत्येवोक्तम्—'अस्त' शब्दस्यादर्शनमात्रार्थत्वात्। तस्माद्द्वैताद्वैतादिश्रुतीनां तस्मिंस्तत्तत्प्राधान्येन प्रवृत्तिरिति।

अर्थात् ब्रह्मसूत्रमें भी इसकी प्रतिध्वनि है, यथा *'न भेदात् इति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्'* इति (ब्र॰सू॰ ३/२/१२) अर्थात् इसके पूर्व जो कहा गया है, भेदवशतः—वह युक्तियुक्त नहीं है, तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रुतिमें भेदसूचक वाक्य दिखायी नहीं देते। इसलिए श्रुति कहती है—'एक अद्वितीय ब्रह्म'—एक श्रेणीके ऋषिगण यह वाक्य कहते हैं। इसके साथ दूसरा और एक ब्रह्मसूत्र योजनीय है—*'अपि चैवमेके'* (ब्र॰सू॰ ३/२/१३) अर्थात् अन्यान्य वेद-शाखाध्यायीगण परमतत्त्वको अमात्र और अनेकमात्र कहते हैं अर्थात् वे कहते हैं कि ब्रह्म अभिन्न और अनन्तरूप हैं। (अमात्र शब्दका अर्थ है स्वांशभेदशून्य और अनन्तमात्रका अर्थ है कि वे असंख्य स्वांशविशिष्ट हैं।)

श्रीमद्भागवत (११/१९/१७) में उल्लेख है—श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य एवं अनुमान—इन चतुर्विध प्रमाणोंसे ही प्रपञ्चजात पदार्थोंका स्थिरत्व सिद्ध नहीं होता—यह जानकर नाना प्रकारके संशयोंसे ज्ञानी पुरुष द्वैत-प्रपञ्चातीतमें यत्नवान् होते हैं। इस श्लोक-प्रमाणसे ज्ञात होता है कि भागवतके भेदमात्रप्रदर्शक ये वाक्य श्रुतिसे असम्मत नहीं हैं। इस श्लोकमें जो विकल्प शब्द है, वह संशयार्थमूलक है। वस्तुनिष्ठताको उपलक्ष्य करके ही उसमें विरागका विषय भागवतमें वर्णित हुआ है।

इस प्रकार स्वगतभेद भी अपरिहार्य है। स्वर्गादिसे निर्मित कुण्डल जिस प्रकार स्वर्ण होकर भी कुण्डलाकारमें उससे भिन्न है—यह भेद भी उसी प्रकारका है। इससे जिस प्रकार दूसरी वस्तुके प्रवेश द्वारा भेदत्व नहीं होता, उसी प्रकार इस स्थलपर भी समझना चाहिये।

ब्रह्मकी स्वरूप वस्तुसे जो समस्त पदार्थ भिन्नवत् प्रतीयमान होते हैं, वे सभी वस्तुएँ उनकी शक्ति हैं, इस रूपमें उन वस्तुओंके साथ ब्रह्मका सजातीय भेद है—यह भी नहीं कहा जा सकता। अव्यक्तगत जाड्य दुःखादि द्वारा जो विजातीय भेद प्रतीयमान होता है, वह भी अमूलक है, क्योंकि वह अव्यक्त ब्रह्मकी शक्ति है। नैयायिकगण जिस प्रकार ज्योतिके अभावको तम कहते हैं, उसी प्रकारसे कहा जा सकता है कि जो जड़ और दुःखके रूपमें अनुभूत होता है, वह मायाकृत चिदानन्दशक्तिके तिरोभावसे सञ्चरित है। इस अभावानुभावसे अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। अभाव नामक भिन्न पदार्थके द्वारा इस प्रकारके जाड्य एवं दुःख उत्पन्न नहीं होते। ऐसा होनेपर विजातीय भेद आपतित होता है। केवलाद्वैतवादियोंके लिए भी इस प्रकारका भेद स्वीकार करना अपरिहार्य हो पड़ता है।

इस प्रकारसे निषेध श्रुतियों द्वारा एवं युक्तियों द्वारा ब्रह्ममें जो द्वैताभाव साधन किया है, वह अवृत्ति द्वारा अपरिहार्य है। और उस द्वैताभाव दोषके दूरीकरणके लिए यदि कहते हो कि हम भावमूलसे अद्वैततत्त्वको स्वीकार करते हैं, तो ऐसा होनेपर भावद्वैत ही स्वीकार्य हो पड़ता है। उसके तादृशत्व (उस प्रकारके) ज्ञानके अभावमें विधि-अनुगत एवं उसके निषेधक अनुभव प्रमाण हैं। इस प्रकारके स्थलपर रसादि रूपके हेतुपर विचार नहीं करना चाहिये, उसके स्वभावपर विचार करना चाहिये।

भाव स्वीकार करनेसे अभाव स्वतः ही स्वीकार्य हो जाता है। इस अभाव द्वारा भावरूप ब्रह्मका जो द्वैत घटित होता है, उस भावरूप ब्रह्मके साक्षात् अविशिष्टत्वके कारण मिथ्या प्रपञ्चका जो अभाव है, वह भी मिथ्या हो पड़ता है। पुनः दूसरे पक्षमें द्वैतभावरूपी ब्रह्मके भाव द्वारा प्रतिपादनमें जो अभाव अवशिष्ट रहता है, वह भी उसके समान मिथ्या हो पड़ता है।

यदि कहो, अभाव, वस्तुके अतिरिक्त नहीं है, यह पक्ष भी सम्यक् रूपसे समझा नहीं जाता। जिस समय भूतलमें घटाभाव होता है, उस समय तो उस भूतलपर घटका संसर्ग नहीं रहता। अतः (अभाव जो वस्तुके अतिरिक्त नहीं है, यह बात किस प्रकार कहोगे?) पूर्वोक्त युक्तिनिवह द्वारा इस प्रकारसे भेद-वृत्ति अपरिहार्य होनेसे ब्रह्ममें स्वगत-भेद वृत्ति अवश्य ही स्वीकार्य है।

यदि कहो निर्भेद ब्रह्ममें शुक्तिरजतके समान अनिर्वचनीयताके कारण स्वगतभेद प्रतीतिको मिथ्या ही समझा जाय, तो भी नहीं कहा जा सकता। पूर्व युक्तियों द्वारा प्रमाणित होता है कि विज्ञान आनन्दादि भेद ब्रह्मस्वरूपसे किसी भी क्रममें परिहरणीय नहीं है। विज्ञानस्वरूप ब्रह्म अविद्या और उसके कार्यको नष्ट करते हैं।

ब्रह्मके इस प्रकारके स्वरूपमें अनिर्वचनीयत्वके सम्बन्धमें सर्वत्र नाश दिखायी देता है। जहाँ-जहाँ अनिर्वचनकी असमर्थता है, उस-उस स्थलपर ही मिथ्यात्व है—इस प्रकार व्याप्ति भी दिखायी नहीं देती, क्योंकि ऐसा होनेपर ब्रह्ममें अव्याप्ति दोष घटित होता है। श्रुतिमें ब्रह्मको 'अनिरुक्त' (न कहने योग्य) और 'अनिलय' (निराधार) कहा गया है। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि परस्पर विरोधी-गुणधारी होनेके कारण युक्ति-असिद्ध, अनिर्वचनीय, इस प्रकारका एक ओषधि द्रव्य त्रिदोषका हरण करता है। इस स्थलपर भी व्याप्तिका व्यभिचार दिखायी देता है। अतएव मणि, मन्त्र, महौषधादिका प्रभाव अचिन्त्य है। शास्त्रमें कहा गया है कि ये सभी भाव अचिन्त्य हैं। इन समस्त भावोंमें तर्क लगाना अनुचित है। इसलिए अचिन्त्य भावके कारण ये सभी तत्त्व परस्पर विरोधी हैं, यही कहा जाय।

आलोच्य विषयमें वेदानुगत विद्वत् अनुभव प्रमाण हैं। पैङ्गी श्रुति कहती है—जो विरुद्ध–अविरुद्ध, मनु–अमनु, वाक्–अवाक्, इन्द्र–अनिन्द्र, प्रवृत्ति–अप्रवृत्ति है, वही परमात्मा हैं। कठ–श्रुति कहती है—'वे बुद्धि तर्क द्वारा प्राप्त करने योग्य नहीं हैं।' श्रीविष्णुपुराणमें वर्णन है कि सर्वशक्तिनिलय ब्रह्ममें मानियोंका मान निष्ठाके लिए प्रभावित नहीं होता। श्रीनारद–पञ्चरात्रमें कहा गया है कि विष्णुतत्त्व एक होकर भी अनेक भेदग है। यह जानकर पृथ्वीपर सभीको दीक्षा दें, शरणागतोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है?

ब्रह्मतर्क अतर्क्य है, इसलिए तर्कमूला खण्डनविद्या इस स्थलपर प्रयुक्त नहीं हो सकती।

श्रीभागवतमें हंसगुह्य–स्तवमें लिखा है—'जिनकी शक्तियाँ मीमांसक और स्वभाववादियोंके वाद–विवादका हेतु होकर उन्हें मोहमें डाल देती हैं, उन अनन्तगुण भूमापुरुषको नमस्कार है।' परस्पर विरोधी शक्तियोंका एकाश्रयत्व अयौक्तिक नहीं है। जगत्के दृष्ट, श्रुत, परस्पर विरोधी समस्त प्रकारके धर्मोंका युगपत् आश्रय केवल एकमात्र भगवान् हैं। इस सम्बन्धमें बहुत–से विद्वत् अनुभव बताने होंगे।

अतः ब्रह्ममें ऐसी शक्तियाँ अवश्य ही हैं, किन्तु उन ब्रह्ममें वे शक्तियाँ जब प्रचुर रूपसे उपलब्ध होती हैं, तभी उनकी भगवत्–संज्ञा है। ये शक्तियाँ जब प्रचुर रूपमें उपलब्ध नहीं होतीं, तब उनकी 'ब्रह्म' संज्ञा रहती है। अतएव श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है—जिसमें भेद प्रत्यस्तमित (समाप्त होना अथवा छिपना) हो गया है, जो सत्तास्वरूप है, वाक्यका अगोचर एवं आत्म–संवेद्य है, ऐसा ज्ञान ही ब्रह्म संज्ञासे समन्वित है।

इस स्थलपर जो *'प्रत्यस्तमित'* पदमें *'अस्त'* पद है, उसका अर्थ है 'अदर्शन'। इस कारण द्वैत एवं अद्वैत श्रुतियोंकी उन ब्रह्ममें प्राधान्य रूपसे प्रवृत्ति है।

श्रीमद्भागवतमें है—

यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधै–
रव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः ।

बभूव तेनैव स वामनो वटुः
सन्पश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः॥

(श्रीमद्भा० ८/१८/१२)

अर्थात् भगवान्‌का जो विग्रह आभूषण और आयुधोंके साथ नित्य प्रकाशमान होता है, उसी अव्यक्त चित्-स्वरूप विग्रहको उन्होंने व्यक्त कर दिया। उन्होंने अपने माता-पिता कश्यप-अदितिके सम्मुख इस प्रकार वामन ब्रह्मचारीका रूप धारण कर लिया, जिस प्रकार नट अपना वेश बदल लेता है। भगवान् परम योगेश्वर हैं और उनकी लीलाएँ बड़ी अद्भुत हैं।

तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्त्ये नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे।

(श्रीमद्भा० ४/१७/३३)

अर्थात् जिनकी शक्तियाँ बड़ी प्रबल और परस्पर विरुद्ध भावसे युक्त हैं, उन अचिन्त्यशाली परमपुरुष विधाताको मेरा प्रणाम है।

श्रीवराहपुराणमें भी पाया जाता है—

विरुद्धशक्त्या यस्य नित्या युगपदेव च।
तस्मै नमो भगवते विष्णवे सर्वजिष्णवे॥

विरुद्ध शक्तियाँ जिनमें युगपत् सदा-सर्वदा विराजमान हैं, उन सर्वत्र जयशील भगवान् विष्णुके लिए नमस्कार है।

प्रस्तुत सूत्रमें भी आचार्य श्रीशङ्करने केवलाद्वैत-परक व्याख्या करनेका प्रयास किया है।

आचार्य श्रीरामानुजके भाष्यका सार इस प्रकार है—वेदकी एक शाखामें उल्लेख है कि यद्यपि जीव और ब्रह्म एक ही देहमें अधिष्ठान करते हैं, तो भी जीव सुखादि कर्मफलका भोग करता है, किन्तु ब्रह्म निज ऐश्वर्यमें अधिष्ठित रहकर सुख-दुःखादिका भोग नहीं करता। इस प्रसङ्गमें मुण्डकोपनिषदका *'द्वा सुपर्णा'* इत्यादि श्लोक उद्धृत किया गया हैं।

इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।

एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥
(श्रीमद्भा० ११/११/६)

अर्थात् चेतनस्वरूप होनेके कारण परस्पर सादृश्ययुक्त, कभी भी नहीं बिछुड़नेवाले और ऐक्य मतके कारण परस्पर सखाभावसे अवस्थित जीव और ईश्वररूप दो पक्षी स्वेच्छापूर्वक देहरूपी पीपलके वृक्षपर हृदयरूपी घोंसलेमें रहते हैं। उनमेंसे एक अर्थात् जीव पीपलरूपी देह-वृक्षका कर्मफल भोग करता है और दूसरे, अर्थात् ईश्वर, कर्मफलको भोग न कर अपनी ज्ञानशक्तिके प्रभावसे सुख-दुःखसे परे और जीवके साक्षीके रूपमें ही विराजमान रहते हैं। इस प्रकार ईश्वर भोक्ता जीवसे बढ़कर पृथक् हैं॥१३॥

अवतरणिका भाष्य—अथात्मविग्रहत्वं भगवतः प्रतिपाद्यते। विग्रहस्यात्मनो भेदे सत्यात्मोपसर्जने तस्मिन् भक्तिरप्युपसर्जनीभावमासीदिति चेन्न चैवमस्ति। तत्रैव तस्याः प्राधान्येनानुभवात्। तथाहि। *"सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे"*। *"तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्"* इत्यादिकमथर्वशिरसि श्रूयते। तत्र ब्रह्म विग्रहवन्न वेति संशये सच्चिदानन्दो रूपं यस्येति बहुब्रीह्याश्रयणाद्विष्णोर्मूर्त्तिरित्यादि-व्यपदेशाच्च विग्रहवत्तदिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब श्रीभगवान्‌की आत्मा ही नित्य एकमात्र विग्रह है—यह प्रतिपादित किया जाता है। यदि उनके विग्रह और आत्माका (स्वरूपका) भेद रहता, तो उनका स्वरूप उपसर्जन (गौण) होता अर्थात् आत्मविशिष्ट (आत्मा जिस विग्रहमें विशेषण अथवा गौण रूपसे हो) विग्रहमें भक्ति उपसर्जनीभूत (विशेषणीभूत) रूपमें रहती है। यदि यह कहते हो, ऐसा नहीं है क्योंकि उस विग्रहमें ही भक्तिका प्रधान रूपसे अनुभव किया जाता है। अथर्वशिरा नामक वेदकी ब्राह्मण श्रुतिमें *'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे'* अर्थात् जो सच्चिदानन्द स्वरूप, अक्लिष्टकर्मा अर्थात् बिना क्लेश (कष्ट) के कर्म करनेवाले हैं, उन श्रीकृष्णको (प्रणाम) है, तथा *'तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहमिति'* अर्थात् उन एक सच्चिदानन्द विग्रह गोविन्दकी (शरण लेते हैं) इत्यादि वाक्य सुने जाते हैं। अब इसमें संशय यह है कि ब्रह्म स्वयं ही श्रीविग्रह हैं? अथवा विग्रहधारी? इसके उत्तरमें

पूर्वपक्षी कहते हैं कि सच्चिदानन्दविग्रह शब्दमें बहुब्रीहि समासके आश्रित होनेके कारण अर्थात् 'सच्चिदानन्दविग्रह है जिनका' इस प्रकारका समास-वाक्य होनेसे और 'विष्णुकी मूर्त्ति' इत्यादि प्रयोग होनेसे ब्रह्म विग्रहविशिष्ट हैं—यही कहा जायेगा—इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एकस्यापि हरेर्बहुधा विभानं प्रागुक्तम्। तदस्त्वचिन्त्य-शक्त्या तत्र तत्सम्भवात्। आत्मविग्रहत्वन्तु मास्तु युक्त्यानुभवेन च तत्त्वस्य तत्र बाधादिति प्रत्युदाहरणं सङ्गतिः। भक्तिः खलु प्रधाने मूर्त्तेऽभ्युदियात्। न त्वप्रधाने अमूर्त्ते प्रधानेऽप्यात्मनि तस्या नाभ्युदयः तस्यामूर्त्तत्वात्। न च मूर्त्तेऽपि विग्रहे तस्याप्राधान्यादित्याक्षेपस्वरूपम्। अथेत्यादि। अथर्वशिरसीत्युक्तेरत्रोपगायः। तत्रैव विग्रहे। तस्या भक्तेः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले प्रतिपादित हुआ है कि एक ही श्रीहरि बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित हैं। यह सम्भव हो सकता है क्योंकि अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न हैं, इसलिये उनमें यह होना सम्भव है किन्तु आत्मास्वरूप ही उनका विग्रह है, यह उक्ति असम्भव है क्योंकि युक्तिमें और अनुभूतिमें आत्मविग्रहत्व उनमें बाधित होता है। यह प्रत्युदाहरण अर्थात् आपत्ति-सङ्गति है। युक्ति यह है कि भक्ति अर्थात् भजन-क्रिया अर्थात् भजन-व्यापार, ये जो मूर्त्तविग्रह अर्थात् प्रधान हैं, उनमें ही उदित हो सकता है, इसके अतिरिक्त अप्रधान अथवा मूर्त्तिहीनमें नहीं हो सकता। पुनः उनका स्वरूप प्रधान होनेपर भी उनमें भक्तिका उदय नहीं हो सकता क्योंकि भगवान्‌का वह स्वरूप अमूर्त्त है। पुनः मूर्त्तविग्रहमें भी भक्ति उत्पन्न हो नहीं सकती क्योंकि वह अप्रधान है—यही आक्षेपका स्वरूप है। *'अथेत्यादि'* भाष्यमें *'अथर्वशिरसि'*—इस उक्तिका प्रधान परिचय है। तत्रैव—*'तस्याः प्राधान्येनानुभवात्'* इति। 'तत्रैव' अर्थात् उस विग्रहमें ही, 'तस्याः' अर्थात् भक्तिका।

अरूपवदधिकरणम्

सूत्र—अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात्॥ १४॥

सूत्रार्थ—'एव' क्योंकि ब्रह्म रूपविशिष्ट नहीं हैं, 'अरूपवत्' इसलिए उन्हें अरूपवत् कहा जाता है, इसका अर्थ है कि वे स्वयं ही विग्रह हैं, क्योंकि 'तत्प्रधानत्वात्' यह रूप ही उनकी आत्मा है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्म विग्रहविशिष्ट (रूपविशिष्ट) नहीं हैं। वे स्वयं ही श्रीविग्रह हैं, क्योंकि उनकी आत्मा अथवा स्वरूप ही श्रीविग्रह है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—रूपं विग्रहस्तद्विशिष्टं ब्रह्म न भवतीति अरूपवदित्युच्यते विग्रहस्तदित्यर्थः। युक्तिनिरासार्थमेवशब्दः। कुतः? तदिति। तस्य रूपस्यैव प्रधानत्वादात्मत्वात्। विभुत्वज्ञातृत्वप्रत्यक्त्वादिधर्मधर्मित्वादित्यर्थः॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—रूप अर्थात् विग्रह तद्-विशिष्ट ब्रह्म नहीं हैं—अरूपवत् शब्दसे यही कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वे स्वयं ही श्रीविग्रह हैं। सूत्रोक्त 'एव' शब्द पूर्वोक्त युक्तिके खण्डनके लिए है। कारण क्या है? 'तत्प्रधानत्वात्' क्योंकि ब्रह्मका रूप ही प्रधान है, वही उनकी आत्मा अर्थात् स्वरूप अथवा विग्रह है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मके जो विभुत्व, ज्ञातृत्व, प्रत्यगात्मत्व इत्यादि धर्म हैं—इन्हीं धर्मोंसे विशिष्ट ब्रह्म धर्मी हैं—ये आत्मस्वरूप ब्रह्म आत्मविग्रहसे पृथक् पदार्थ नहीं हैं॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—अरूपवदिति। रूपमिति। युक्तीति। विष्णोर्मूर्त्तिरिति सम्बन्धषष्ठ्या भेदः स्फुरतीति या युक्तिस्तन्निरासार्थमित्यर्थः। सत्ता सतीत्यादाविवाभेदकार्यस्फूर्त्तेरनुभवान्न तया भेदः श्रद्धेय इत्याशयः। रूपस्यैव श्रीविग्रहस्यैव॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—*'अरूपवदिति'* सूत्रमें *'रूपं विग्रह'* इत्यादि भाष्यमें *'युक्ति निरासार्थमिति'* इसका अर्थ है कि आपने जो युक्ति दिखायी है—'विष्णोर्मूर्त्ति' इत्यादि। इस प्रयोगमें 'विष्णु' पदमें 'सम्बन्धमें' षष्ठी रहनेके कारण उन दोनोंका भेद ज्ञापित होता है—इस युक्तिके निराकरणके लिए—यह इसका अर्थ है। अभिप्राय यह है कि 'सत्ता-सती' (विद्यमानताका होना) इत्यादि वाक्यमें जिस प्रकार दोनोंकी अभिन्नता प्रकाशित होती है, उसी प्रकार यहाँ भी स्वरूप एवं विग्रहका अभेद है, इसलिए उक्त युक्तिमें भेद माना नहीं जाता। *'तस्य रूपस्यैवेति'*—'रूपस्य' अर्थात् श्रीविग्रहका ही॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व सूत्रमें प्रतिपादित हुआ था कि एक ही परमेश्वर अचिन्त्यशक्तिके बलसे एकरूप होकर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशित हो सकते हैं। प्राकृत दृष्टान्त भी देखा जा सकता है कि जिस प्रकार वैदूर्यमणि द्रष्टा भेदसे विभिन्न रूप धारण करके भी और जैसे अभिनेता नट विभिन्न भाव प्रकाशित करके भी स्वरूपतः एक ही रह सकते हैं, तब अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली श्रीभगवान्के लिए नाना रूपोंका प्रकाश होनेपर भी अपने स्वरूपकी एकताका परित्याग न करना असम्भव नहीं है। इस बातपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि अचिन्त्यशक्तिके बलपर श्रीहरिका इस प्रकारसे आत्मप्रकाश करना सम्भव होनेपर भी उनका स्वरूप ही विग्रह है अर्थात् वे स्वयं ही विग्रह हैं—यह नहीं माना जा सकता। पूर्वपक्षवादियोंकी इस आपत्तिके समाधानके लिए सूत्रकार कहते हैं कि ब्रह्म विग्रहविशिष्ट नहीं हैं, वे स्वयं ही श्रीविग्रह हैं। कारण यह है कि उनकी आत्मा अथवा उनका स्वरूप ही श्रीविग्रह है।

श्रीमन्मध्वानुग श्रीजयतीर्थकी टीकाका सार इस प्रकारसे है—श्रीभगवान्का प्राकृत रूप नहीं है, इसलिए उन्हें 'अरूपवत्' कहा जाता है। यदि उनके रूपको प्राकृत स्वीकार करते हैं, तो उसमें अनित्यत्व आ पड़ता है और फिर उनमें भक्ति नहीं हो सकती। पहले तो यह विचार करें कि वे रूपवान हैं कि नहीं। ऐसा सन्देह होनेपर यदि यह कहा जाय कि वे रूपवान हैं, तो यज्ञदत्तादिके समान वे भी अनित्य हो पड़ते हैं और 'वे अरूप एवं अव्यय हैं' यह श्रुति अप्रमाणित हो जाती है और इस कारणसे उनकी भक्ति भी नहीं हो सकेगी। पुनः यदि कहो, वे रूपहीन हैं, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'ईश्वर अद्वितीय रुक्मवर्ण हैं' इत्यादि श्रुति भी बाधित होती है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देखा जाता है—*'प्रकृत्यादि प्रवर्त्तकत्वेन तदुत्तमत्वान्नैव रूपवद् ब्रह्म-हि शब्दात्। अस्थूलमनणु'* (बृ॰आ॰ ३/८/८) *इत्यादि श्रुतेश्च। 'भौतिकानीह रूपाणि भूतेभ्योऽसौ परो यतः। अरूपवानतः प्रोक्तः क्व तदव्यक्ततः परः।' इति च मात्स्ये।* अर्थात् ब्रह्माका रूप प्राकृत अथवा भौतिक नहीं है क्योंकि वे प्रकृति एवं भूत इत्यादिके कर्त्ता एवं प्रवर्त्तक हैं और प्रधान रूपसे ही उनकी उत्तमता जानी जाती

है। ब्रह्माका रूप नहीं है—इसका स्पष्ट उल्लेख है। मत्स्यपुराणका वचन है—भूतोंसे श्रेष्ठ उन ब्रह्मका भौतिक रूप नहीं है, इसीलिए उन्हें अरूपवान कहा जाता है उनका रूप अभिव्यक्तिसे परे है। उन अव्यक्तसे श्रेष्ठ कौन हो सकता है। बृहदारण्यकमें कहा गया है—वे न मोटे हैं और न पतले।

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसार्वभौमजी से कहा-

निर्विशेष ताँरे कहे जेइ श्रुतिगण।
'प्राकृत' निषेधि 'अप्राकृत' करये स्थापन॥

(चै॰च॰म॰ ६/१४१)

अर्थात् जो श्रुतियाँ उन्हें निर्विशेष कहती हैं, वे केवल प्राकृत-विशेषका निषेध करके 'अप्राकृत विशेष' का स्थापन करती हैं।

और भी,

ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार।
से विग्रहे कह सत्त्वगुणेर विकार॥

श्रीविग्रहे ये ना माने—सेइ त पाषण्ड।
अस्पृश्य, अदृश्य सेइ हय यमदण्ड्य॥

(चै॰च॰म॰ ६/१६६-१६७)

अर्थात् वेद-शास्त्रके मतमें ईश्वरका सच्चिदानन्द विग्रह नित्य है। निराकार धर्मका अर्थ है—जड़ीय सत्त्वगुणका वैपरीत्य रूप विकार विशेष अर्थात् जड़ीय सत्त्वमें जो आकार है, उसका निषेधक भाव-विशेष। प्रकृतिसे अतीत जो चिन्मय विग्रह हैं, उनका आकार भी चिन्मय है। मायिक सत्त्वका निराकारत्व उनका स्पर्श नहीं कर सकता। इस प्रकार जो श्रीविग्रहको नहीं मानते, वे पाखण्डी हैं। भक्तगण न तो उनका स्पर्श करते हैं और न ही दर्शन। ऐसे निराकारवादियोंको यमके द्वारा दण्डित होना पड़ता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीके वचन हैं—

रूपं तवैतत् पुरुषर्षभेज्यं
श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।

योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्
पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्तौ॥
(श्रीमद्भा॰ ८/६/९)

अर्थात् हे पुरुष श्रेष्ठ विधाता! अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य वैदिक एवं पाञ्चरात्रिक विधियोंके द्वारा सर्वदा आपके इस स्वरूपकी पूजा करते हैं। अहो! आपकी इस विश्वमय मूर्त्तिमें मुझे (ब्रह्माजीको) तीनों लोक और हम सब भी दिखायी दे रहे हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्तीपाद कहते हैं—

'ब्रह्माभिप्रैति नित्यत्वविभुत्वभगवत् तनोरिति कारिका तन्मूर्त्तेः सनातनत्वमपरिमेयत्वञ्चोपपादयति रूपमित्यत्रावतारिका च श्रीस्वामिपादानामत्र दृश्या।'

अर्थात् श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके नित्यत्व एवं विभुत्वका प्रतिपादन करना ही ब्रह्माजीका अभिप्राय है—श्रीस्वामिपादकी यह कारिका है—*'ब्रह्माभिप्रैति नित्यत्वविभुत्वभगवत्तनोः इत्यादि।'*

उनकी श्रीमूर्त्तिका सनातनत्व और अपरिमेयत्व 'रूपम् इत्यादि' श्लोक द्वारा प्रतिपादित किया गया है। यहाँ श्रील श्रीधर स्वामीपादकी कारिकाका अभिप्राय है—हे **पुरुषर्षभ**! हे पुरुषोत्तम! आपका यह रूप (मूर्त्ति) वैदिक एवं तान्त्रिक उपायोंके द्वारा 'इज्य' अर्थात् चिरकालसे पूजनीय है, अतएव यह आधुनिक नहीं है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें साक्षीगोपाल-वृत्तान्त-वर्णन प्रसङ्गमें भी देखा जा सकता है—

एइ मूर्त्ति गिया यदि एइ श्रीवदने।
साक्षी देह यदि, तबे सर्वलोक शुने॥

कृष्ण कहे, प्रतिमा चले कोथाह ना शुनि।
विप्र बले—प्रतिमा हञा कह केने वाणी॥

प्रतिमा नह तुमि—साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन।
विप्र लागि कर तुमि अकार्य-करण।
हासिञा गोपाल कहे—शुनह ब्राह्मण।
तोमार पाछे-पाछे आमि करिब गमन॥
(चै॰च॰म॰ ५/९४-९७)

अर्थात् विप्रने कहा—'हे भगवन्! आप यदि इसी मूर्त्तिसे वहाँ चलकर अपने श्रीमुखसे साक्षी देंगे, तभी सब लोग मानेंगे।' तब श्रीकृष्णने कहा—प्रतिमा (मूर्त्ति) चलती है, ऐसा तो मैंने कहीं भी नहीं सुना। तब विप्रने उत्तर दिया—मूर्त्ति बोलती है, मैंने भी यह कभी नहीं सुना, मूर्त्ति होकर भी आप किस प्रकार बात कर रहे हैं? आप मूर्त्ति नहीं हैं, साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन हैं। आप ब्राह्मणके लिए अकरणीयको भी सम्भव कीजिये। ब्राह्मणकी बात सुनकर अर्चाविग्रह श्रीगोपाल हँस पड़े और कहा—तुम चलो, मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आता हूँ॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—ननु चिन्त्यमानेन ज्ञानानन्देन परमात्मवस्तुना जडदुःख-रूपत्वेन तद्विरुद्धा प्रकृतिर्निवर्त्तेतैव तादृशि ब्रह्मणि विग्रहत्वं सूत्रकृता कथमभ्युपेयते इति चेत्तत्राह।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि श्रीभगवान्का स्वरूपज्ञान-आनन्दमय है, यह चिन्तन करनेसे इस विचारके विरुद्ध दुःखरूपिणी (दुःखमयी) जड़-प्रकृति निवृत्त होती है, तब सूत्रकारने ऐसे ज्ञानानन्दमय ब्रह्मके विग्रहत्वको क्यों स्वीकार किया है—यदि ऐसा कहते हो तो सूत्रकार उत्तर देते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तद्विरुद्धा तादृग्ब्रह्मस्वरूपविरुद्धा।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'ननु इति।'* तद्विरुद्धा प्रकृति र्निवर्त्तेत इति। तद्विरुद्धा ज्ञानानन्दात्मक ब्रह्मस्वरूपके विरुद्ध। (प्रकृति क्योंकि जड़मयी एवं दुःखमयी है।)

सूत्र—प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम्॥ १५॥

सूत्रार्थ—नहीं, भगवान्का रूप स्वीकार करना होता है, क्योंकि 'प्रकाशवत्' जिस प्रकार प्रकाशमय सूर्यका विग्रहत्व (मूर्त्तित्व) ध्यानका उपाय माना जाता है, 'अवैयर्थ्यम्' वह व्यर्थ नहीं होता है, 'च' और उसी प्रकार ध्यानकी उपयोगिताके कारण उन्हें अर्थात् उनके विग्रहको स्वीकारा जाता है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—प्रकाशस्वरूप सूर्यके श्रीविग्रहके समान ध्यानार्थ ब्रह्मके स्वरूपके विग्रहत्वमें भी व्यर्थताका अभाव अर्थात् सार्थकता है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—शङ्कानिराशाय च-शब्दः। सप्तम्यन्तादिवार्थे वतिः। प्रकाशैकरूपेऽपि रवौ विग्रहत्वस्य यथा ध्यानहेतुत्वादवैयर्थ्यं तथा ज्ञानानन्दैकरसेऽपि ब्रह्मणि तस्य तन्मन्तव्यम्। तद्धेतुत्वादेव। इतरथा ध्यानानुपपत्तिः। *"ध्यायति कान्तं विरहिणी"* इत्यादौ विग्रहविषयं तद्दृष्टम्॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निराकरणके लिए है। 'प्रकाशवत्' शब्दमें जो 'वतिच्' प्रत्यय है, वह सप्तम्यर्थमें है, अतएव 'प्रकाशवत्' शब्दका अर्थ है—एकमात्र प्रकाशस्वरूप सूर्यमें जिस प्रकार ध्यानकी उपयोगिताके कारण विग्रहत्वको स्वीकार करना व्यर्थ नहीं, परन्तु सङ्गत होता है, उसी प्रकार ज्ञानानन्दमय ब्रह्ममें भी यह विग्रहत्व ध्यानके उपायका हेतु होनेसे व्यर्थ नहीं है—यह जानना चाहिये। यदि इस प्रकारसे स्वीकार नहीं करते हो, तो ध्यान भी सङ्गत नहीं होता। विग्रह ही ध्यानका कारण है। ध्यान किसका करोगे? *'ध्यायति कान्तं विरहिणी'* जब यह कहा जाता है कि विरहिणी (पत्नी) अपने कान्त (पति) का ध्यान करती है, तो इसका अर्थ होता है कि वह पतिकी मूर्त्तिका (विग्रहका) ध्यान करती है। यह देखा जाता है। ध्यान विग्रह-विषयको अधिकार करके ही सम्भव हो सकता है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रकाशवदिति। तस्येति। तस्य विग्रहत्वस्य। तदवैयर्थ्यं मन्त-व्यमित्यर्थः। तद्धेतुत्वाद्ध्यानहेतुत्वाद्विग्रहत्वस्य। तदिति। तद्ध्यानम्। दृष्टं प्रतीत-मित्यर्थः॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार— *'प्रकाशवदिति'* सूत्रमें *'ब्रह्मणि तस्य तन्मन्तव्यम्'* इस भाष्यमें 'तस्य' का अर्थ है विग्रहत्वका, 'तत्' अर्थात् व्यर्थताका अभाव अर्थात् सार्थक्य जानें। *'तद्धेतुत्वादिति'* विग्रह ध्यानका उपाय (कारण) है—इसलिए। *'विग्रहविषयं तद्दृष्टमिति'* में 'तद्' का अर्थ है 'वह ध्यान' 'दृष्टम्' अर्थात् प्रतीत होता है॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि ज्ञानानन्दमय परमात्म वस्तुके चिन्तन द्वारा तो तद्-विरुद्ध जड़दुःखमयी प्रकृति निवृत्त होगी, इसलिए इस प्रकारके ब्रह्ममें सूत्रकार विग्रहत्वको स्वीकार क्यों करेंगे? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि प्रकाशस्वरूप सूर्यके समान ब्रह्मके विग्रहत्वको स्वीकार करना व्यर्थ नहीं है। भाष्यकार कहते हैं कि सूर्यके प्रकाश-स्वरूप होनेपर भी उनके ध्यानके कारण

उनका विग्रहत्व जिस प्रकार सङ्गत होता है, उसी प्रकार ज्ञानानन्द-स्वरूप ब्रह्मके ध्यानके लिए स्वरूपका विग्रहत्व स्वीकार करना युक्तियुक्त ही है। उनका विग्रह स्वीकार न करनेपर उनका ध्यान अथवा चिन्तन नहीं हो सकता।

श्रीरामानुजाचार्यके श्रीभाष्यका सार इस प्रकारसे है—*'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तैत्तिरीय आनन्दवल्ली १/१) अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप है इत्यादि श्रुति-वाक्योंकी प्रामाणिकताके कारण जिस प्रकार ब्रह्मका प्रकाशरूपत्व स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व, जगत्कारणत्व, सर्वात्मकत्व, अविद्यादि समस्त दोष-राहित्य इत्यादिके बोधक श्रुति-वाक्योंकी भी प्रामाणिकताके कारण यही सिद्धान्तित होता है कि ब्रह्म उभयलिङ्ग अर्थात् सविशेष और निर्विशेष हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देख सकते हैं—

'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं' (मु॰ १/३), *'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये'* (छा॰ ८/१३/१), *'सुवर्णज्योतिः'* (तै॰ ३/१०/६) *इत्यादि श्रुतीनाञ्च न वैयर्थ्यात् विलक्षणरूपत्वात् यथा चक्षुरादिप्रकाशे विद्यमानेऽपि वैलक्षण्याद् अप्रकाशादि व्यवहारः।*

(ब्रह्मके रूपके अभावमें श्रुति-विरोध और उनके सौन्दर्यादिके अभावकी प्रतीति—इन दोनों आशङ्काओंपर कहते हैं) ब्रह्मका रूप न रहनेपर वाक्यवर्णादि श्रुतिकी व्यर्थता और सौन्दर्यादिके अभावकी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मका रूप है। मुण्डकोपनिषदमें कहा है कि जिस समय द्रष्टा सुवर्णवर्ण और ब्रह्माके भी उत्पत्तिस्थान उन जगत्-कर्त्ता ईश्वर पुरुषको देखता है। छान्दोग्योपनिषदमें कहा है कि 'मैं श्यामवर्णसे शबल ब्रह्मलोकको प्राप्त होऊँ', तैत्तिरीयोपनिषदमें कहा है 'मेरी ज्योति सूर्यके समान नित्यप्रकाश स्वरूप है' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मका विग्रहत्व व्यर्थ नहीं है यह स्पष्ट है। वक्तव्य यह है कि जिस प्रकार चक्षु आदिका प्रकाश विद्यमान रहनेपर भी गृहादि स्थित धन प्रकाशित नहीं होता—यह व्यवहार-प्रसिद्ध है, इसी प्रकार ब्रह्मका रूप होनेपर भी उनके विलक्षणरूपत्वके कारण अरूपत्व श्रुतिका विरोध नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं,
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्व्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्व्विशेषं निरीहं,
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/३/२४)

अर्थात् माता देवकीने कहा—हे देव! वेदोंने जिस अव्यक्त रूपको जगत्का कारण बतलाया है, ब्रह्म, ज्योतिर्मय, मायारहित, निर्विकार, निर्विशेष, केवल-स्वरूप कहकर वर्णन किया है, आप उसी बुद्धि आदिके प्रकाशक साक्षात् विष्णु हैं। अर्थात् निराकार निर्विशेष ज्योतिर्मय ब्रह्म विष्णुसे पृथक् नहीं हैं, परन्तु उनकी अङ्गकान्तिमात्र है॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—न च ध्यानार्थमसदेव तत्त्वं तत्र कल्प्यते यत्तत्र प्रमाणमस्तीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अतः ध्यानके लिए असत् वस्तुकी कल्पना नहीं की जाती है। क्योंकि उस विषयमें प्रमाण है, यह बात सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—न चेति। तत्त्वं विग्रहत्वम्। तत्र ब्रह्मणि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—न चेति, *'तत्त्वम्'* अर्थात् विग्रहस्वरूपत्व 'तत्र' अर्थात् उन ब्रह्ममें।

सूत्र—आह च तन्मात्रम्॥ १६॥

सूत्रार्थ—'आह च' और श्रुति कहती है, 'तन्मात्रम्' विग्रह परमात्मस्वरूप है, अतएव विग्रह प्रमाणसिद्ध है॥ १६॥

सूत्रानुवाद—अथर्वशिरादि उपनिषदमें विग्रहको परमात्मा कहकर निरूपण किया गया है॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—अवधृतौ मात्रशब्दः। तं विग्रहमेव यस्मात् परमात्मानमाह श्रुतिरतः प्रमेयं तत्त्वमित्यर्थः। तत्रैव श्रूयते। *"सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।*

द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्" (गो०ता०पू० १३/१) इति। अत्र पुण्डरीकाक्षत्वादिधर्मा विग्रह एव ईश्वर इति विस्फुटम्। *"देहदेहिभिदा चैव नेश्वरे विद्यते क्वचित्"* इति स्मृतिश्च तथाह। अत्र देहाद्भिन्नो देहीत्येवं भिदेश्वरवस्तुनि नास्ति। किन्तु देह एव देहीति लब्धम्॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'मात्र' शब्दका अर्थ है अवधारण अर्थात् विग्रह ही परमात्माका स्वरूप है। क्योंकि इस विग्रहको श्रुति परमात्मस्वरूप (परमात्मा ही) कहती है, अतः तात्पर्य यह है कि विग्रहका परमात्मत्व प्रमाणसिद्ध है। अथर्वशिरा-उपनिषदमें श्रुत होता है—*'सत्पुण्डरीकनयनं ... वनमालिनमीश्वरम्'* अर्थात् प्रस्फुटित पुण्डरीकके समान जिनके चक्षु हैं, नूतन मेघके समान जिनकी नीलकान्ति है, विद्युत् सम जिनके पीत वस्त्र हैं, वे द्विहस्त (द्विभुज), मौनमुद्रासम्पन्न, वनमाली, ईश्वर हैं। यहाँ स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि पुण्डरीकनयनत्वादि धर्मविशिष्ट सविग्रह ही परमेश्वर है। स्मृति-वाक्य (पद्मपुराणमें) भी इसी प्रकार कहते हैं—यदि कहते हो कि ईश्वर विग्रह हैं और श्रुति कहती है—वे विग्रही हैं, तो इसकी उपपत्ति क्या? तो इसपर कहते हैं कि देह-देहीका भेद ईश्वरमें नहीं है अर्थात् प्राकृत देहसे देही भिन्न है, किन्तु यह भेद ईश्वरतत्त्वमें नहीं है, ईश्वरकी देहमें ही देही है अर्थात् उनका स्वरूप ही विग्रह है—यही प्राप्त होता है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—आहेति। अवधृताविति। *"मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे"* इत्यमरः। तत्रैवाथर्वशिरसि। द्विभुजमिति। एवमुक्तं तैत्तिरीयके। दशहस्ताङ्गुलयो दशपद्या द्वावुरू द्वौ बाहू आत्मैव पञ्चविंशक इति। रहस्याम्नाये च। पाणिभ्यां श्रियं संवहतीत्यादिना। श्रीसात्वते च। वरदाभयदेनैवशङ्खचक्राङ्कितेन च। त्रैलोक्यधृतिदक्षेण युक्तः पाणिद्वयेन स इति। भारद्वाजे च। द्विबाह्वोश्चक्रधृक्पाणिर्दक्षिणः शङ्खभृत् परः। उपविष्टस्तु मोक्षार्थे ह्युत्थितो विश्वसिद्धय इति। एवमन्यत्र च बहुतरम्। एवं चतुर्भुजाष्टभुजद्वादशभुजानि रूपाणि स्मर्यन्ते। तेषु द्विभुजस्यातिचारुत्वात् पारम्यम्। न तु तेभ्यो वस्त्वन्यत्वमस्तीति कथितमानन्दाख्यसंहितायाम्। स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परन्तु द्विभुजं प्रोक्तं तस्मादेतत्त्रयं यजेदिति। तत्रापि श्रीकृष्णरूपे स्वयंभगवति निखिलगुणप्राकट्याच्चातिशयितं तत्। यत्तु परमे व्योम्नि नित्योदितं चतुर्भुजं रूपं परं द्विभुजादिकं तु शान्तोदितमपवमिति केचिदाहुस्तत् किल तद्रूपश्रद्धाजाड्यादेव। तथा सति पूर्णमद इत्यादि श्रुतयः, सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मन इत्यादि स्मृतयश्च व्याकुप्येरन्। परन्तु द्विभुजमिति

कण्ठोक्तिविरोधश्च मायिसिद्धान्तस्पर्शश्च स्यादिति श्रुतौ विग्रहस्यैव परमात्मत्वमर्थं योजयति। अत्र पुण्डरीकेति। देहदेहीति पाद्मे। किन्तु देह एवेति विग्रह एवात्मेति प्राप्तमित्यर्थः॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार— *'आहेति'* सूत्रमें *'अवधृतौ मात्र शब्दः'* यह भाष्य है। अमरकोषमें 'मात्र' शब्दका अर्थ समग्रता और अवधारण बतलाया गया है। वही कहते हैं—मात्रम् इत्यादि। 'तत्रैव श्रूयते' इतिमें 'तत्र' शब्दसे तात्पर्य है—अथर्वशिरा श्रुतिमें। 'द्विभुजमित्यादि'—वे द्विभुजी हैं—तैत्तिरीयक उपनिषदमें इसी प्रकार कहा गया है। 'रहस्याम्नाय ग्रन्थमें' यथा *'पाणिभ्यां श्रियं संवहति'*—इत्यादि वाक्य द्वारा कहा गया है कि वे दो हाथोंमें श्री (लक्ष्मी और पृथ्वी) को ग्रहण करते हैं। 'श्रीसात्वत्' में कहा गया है—*'वरदाभ यदेनैव शङ्खचक्राङ्कितेन च'* अर्थात् उनके दो हाथोंमेंसे एक हाथ वरद है और दूसरा अभयदायक शङ्ख और चक्रसे युक्त है। उनके ये दोनों हाथ त्रिभुवनको धारण करनेमें दक्ष हैं। 'भारद्वाज ग्रन्थमें' कहा है—*द्विबाह्वोश्चक्रधृक्पाणिर्दक्षिणः*—उनकी दो भुजाओंमेंसे दक्षिण भुजा चक्रधारी है और वाम भुजा शङ्खयुक्त है। वे जीवको मुक्ति प्रदान करनेके लिए सदा व्यापृत और विश्च-सिद्धिके लिए सदैव उद्यत हैं। इसी प्रकारके वाक्य अन्य बहुत-से ग्रन्थोंमें हैं। उनमें कहीं उन्हें चतुर्भुज, कहीं अष्टभुज और कहीं द्वादश भुजाओंसे युक्त रूपोंमें स्मृत किया गया है। इन समस्त रूपोंमें द्विभुजरूप चारू एवं अतिमनोरम होनेके कारण सर्वोत्कृष्ट है। इसी कारण यह द्विभुजस्वरूप इन समस्त रूपोंसे पृथक् वस्तु नहीं है। आनन्द-संहितामें वर्णन है कि—*स्थूलमष्टभुजामित्यादि*—विष्णुका अष्टभुजरूप स्थूलरूप है, चतुर्भुजरूप सूक्ष्म है परन्तु द्विभुजरूप सर्वोत्तम है—अतएव इन तीनों रूपोंकी ही उपासना करें। इन सबके मध्य श्रीकृष्णमूर्त्ति ही स्वयं-भगवान् है (अंश अथवा अवतार नहीं) क्योंकि सम्पूर्ण ऐश्वरिक गुण उनमें प्रकटित हैं—इसीलिए वे सर्वातिशायी हैं। तब जो कोई-कोई कहते हैं—चतुर्भुजरूप परमव्योममें नित्य उदित है, इसलिए श्रेष्ठ है और द्विभुजादिरूप शास्त्रमें उदित हैं, इसलिए वह चतुर्भुज रूपसे कम श्रेष्ठ है। यह जो कहना है, वह भक्त-विशेषकी चतुर्भुज रूपमें श्रद्धा-विह्वलताके कारण कहा गया है। अन्यथा *'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'* इत्यादि श्रुति और

उन परमात्माके समस्त देह ही नित्योदित एवं सनातन हैं इत्यादि स्मृति-वाक्य विरुद्ध होते। अधिक क्या, उनमें 'द्विभुजमित्यादि' अथर्वशिरा उक्तिका विरोध होता है और मायावादियोंका (केवलाद्वैतवादियोंका) सिद्धान्त आ पड़ता है। इन समस्त कारणोंसे श्रुतिमें विग्रहकी परमात्मरूपता अथवा स्वरूप अर्थकी सूत्रकार ने योजना की है। *'अत्र देहाभिन्नो देहीति'* में अत्रका अर्थ है—इस 'पुण्डरीकनन्दनम्' इत्यादि वचनमें। 'देहदेहीति' श्लोक पद्मपुराणमें कहा गया है। 'किन्तु देह एवेति'—विग्रह ही आत्मा अर्थात् भगवान्का स्वरूप है। यही सिद्धान्त हुआ है॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि कहे कि ध्यानके लिए जब ब्रह्मका विग्रह स्वीकार किया जाता है, तब यह विग्रह काल्पनिक अर्थात् असत्य ही होगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, विग्रहको स्वीकार करना मिथ्या कल्पना नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें विग्रहको परमात्मा कहकर वर्णन किया है—ऐसे प्रमाण हैं। इसलिए विग्रहको स्वीकार करना प्रमाण-सिद्ध वास्तव वस्तु है। भाष्यकारने इस विषयमें अपने भाष्यमें गोपालतापनी-श्रुतिको उद्धृत करते हुए अपनी टीकामें भी बहुत-से प्रमाणोंका उल्लेख किया है, इन्हें वहीं देखना चाहिये। उन्होंने सर्व-शेष स्मृतिके वचनोंका उल्लेख करते हुए यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि श्रीभगवान्में देह-देहीका भेद नहीं है, अतएव उनका देह ही देही है अर्थात् उनका देह एवं स्वरूप अभिन्न है।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार है—'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप हैं' इत्यादि श्रुति-वाक्य ब्रह्मकी प्रकाशस्वरूपताका प्रतिपादनमात्र करते हैं, किन्तु 'सत्यसङ्कल्पादि' अन्य वाक्योंके द्वारा अवगत धर्मका वारण (प्रतिषेध) नहीं करते। इसके बाद 'नेति, नेति' निषेध विषयक धर्मका वर्णन किया जायेगा।

श्रीमन्मध्वभाष्यका सार इस प्रकारसे है—

ब्रह्मरूपके वैलक्षण्यका निरूपण करते हुए चतुर्वेदशिखामें पाया जाता है कि ब्रह्म आनन्दमात्र, अजर, पुराण, अद्वितीय, सनातन एवं बहुत प्रकारसे दृश्यमान हैं। जो धीरगण इन ब्रह्मको आत्मस्वरूपमें

देखते हैं, उन्हें नित्य आत्मस्थ अर्थात् (शाश्वत) सुख प्राप्त होता है, किन्तु दूसरोंको नहीं। इस बातसे यह भी स्थिर (निर्धारण) होता है कि ब्रह्म सर्वातिरिक्त हैं, अतः उनके रूपादिसत्त्वमें (रूपादि होनेमें) कोई दोष आ नहीं सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२८/१६)

अर्थात् प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने पहले अक्रूरको जिस जलाशयमें डुबकी लगवाकर ब्रह्मरूपका दर्शन करवाया था, उसी ब्रह्मस्वरूप ब्रह्म-ह्रदमें वे नन्दादि गोपोंको भी ले आये। इन गोपोंने इसी स्थानपर डुबकी लगाकर ब्रह्मके स्वरूपका दर्शन किया। इसके बाद श्रीकृष्णने उन्हें वहाँसे निकाल कर उन सबको अपने गोलोक नामक परम धामका दर्शन करवाया।

इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्तीपाद कहते हैं—

सत्यमबाध्यं ज्ञानमजडमनन्तमपरिच्छिन्नं सनातनं शश्वत् सिद्धम्। यत् मुनयो ज्ञानिनः गुणापाये गुणातीतत्वे सति पश्यन्ति। वृन्दावनस्यापि ब्रह्मानन्दस्वरूपत्वेनैतादृशत्वेऽपि मायाविभूतिमध्य वर्त्तित्वेनैव माधुर्याधिक्यम्। यथा दीपज्योतिषस्तमोमध्यवर्त्तित्वेन। अतएव तमसः परं न तु तमोमध्यवर्त्तिसत्यज्ञानादिरूपं ज्योतिर्दर्शयामास। किञ्च ब्रह्मस्वरूपतोऽपि विचित्रलीलामयं भगवत्स्वरूपमतिमधुरं शुकदेवादिभक्तात्मारामानुभवादवसीयते। तच्च भगवद्वपुः सर्वव्यापकमपि परिच्छिन्नं षड्विकाररहितमप्य-प्राकृतजनमास्तित्ववृद्ध्यादिसहितं तरङ्गादिदोषशून्यमपि क्षुत्पिपासाप्रस्वेदभय-मोहसांग्रामिक शस्त्रघातादिसहितमतर्क्यानन्तशक्तित्वादेव यथा तथैव 'पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्' इति भगवदुक्ते 'वृन्दावनमपि ब्रह्मदृष्टानन्तकोटिब्रह्माण्डव्यापकमपि परिच्छिन्नम्। स्मरेत् पुनरतन्त्रितो विगतषट्तरङ्गाम्बुध' इत्यागमादिवाक्यात् तरङ्गादिदोषरहितमपि क्षुत्पिपासा-जन्मजराच्छेदभेदादिमन्मनुष्यपशुखगनगादिकमपि नित्यमेवेत्यनन्तचमत्काराश्रयम् इति।

अर्थात् जो 'सत्यम्' अबाध्य अर्थात् त्रैकालिक सत्य, ज्ञान अर्थात् अजड़, अनन्त अर्थात् अपरिच्छिन्न, सनातन अर्थात् सर्वदा एकरसमें स्थित ब्रह्म है, समाधिनिष्ठ मुनिगण त्रिगुणात्मक सम्बन्धसे निवृत्तिके बाद जिनका दर्शन करते हैं, गोपादियोंपर कृपा करते हुए श्रीकृष्णने उन गोपोंको प्रकृतिसे अतीत उन ही ब्रह्मको दिखाया था। श्रीवृन्दावनका ब्रह्मानन्द-स्वरूपत्व होनेपर भी माया विभूति मध्यवर्त्तिताके कारण उसके माधुर्यका उसी प्रकार आधिक्य है, जिस प्रकार अन्धकारमें दीपका आलोक सुशोभित होता है। पूर्व श्लोक (श्रीमद्भा॰ १०/२८/१४) में जो यह कहा था कि परम करुणामय विभु श्रीकृष्णने इस प्रकार चिन्तन करके गोपगणोंको प्रकृतिसे अतीत वैकुण्ठ लोकका दर्शन कराया था, यहाँ *'तमसः परम्'*—'प्रकृतिसे परे'—यह कहा गया है, तमोमध्यवर्ती सत्यज्ञानादिरूप ज्योतिःका दर्शन नहीं कराया था—यह नहीं कहा गया है। और भी, ब्रह्मस्वरूप होनेसे भी विचित्र लीलामय भगवत्-स्वरूप अति मधुर है—यह श्रीशुकदेव आदि आत्माराम भक्तोंके अनुभवसे भी सिद्धान्तित हुआ है। जिस प्रकार यह श्रीभगवत्-विग्रह अपनी अनन्तशक्तिके प्रभावसे सर्वव्यापक होनेपर भी परिच्छिन्न, षड्विकार-रहित होनेपर भी अप्राकृत जन्म, अस्तित्व, वृद्धि इत्यादिसे समन्वित, तरङ्गादि दोषोंसे शून्य होनेपर भी क्षुधा, पिपासा, धर्म, भय, मोह, युद्धक्षेत्रमें अस्त्रघातादिसे युक्त है, उसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम भी। स्कन्दपुराणके मथुरा-माहात्म्यमें श्रीभगवान्की उक्ति है—*'पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्'* अर्थात् यह वृन्दावन पाँच योजन (बीस कोस) विस्तारवाला मेरा ही देहस्वरूप है। सुषुम्ना नामधारिणी यह यमुना परमामृत प्रवाहिणी हैं, इत्यादि। श्रीवृन्दावन अनन्तकोटि व्यापक होनेपर भी ब्रह्माजी द्वारा दृष्ट होनेपर परिच्छिन्न हुआ है। आगम-शास्त्रमें कहा गया है—*'स्मरेत् पुनरतन्त्रितो विगतषट्तरङ्गाम्बुधः'* अर्थात् षट्-तरङ्गोंसे विरहित श्रीवृन्दावनका अति सावधानीपूर्वक स्मरण करें, इत्यादि वाक्योंमें तरङ्गादि दोषसे रहित होनेपर भी क्षुधा, पिपासा, जन्म, जरा, विच्छेदादिसे युक्त मनुष्य, पशु, पक्षी और सर्पादि वहाँ समस्त ही नित्य हैं—यह एक अनन्त चमत्कारपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि विग्रह ही आत्मा अर्थात् भगवान्‌का स्वरूप है। उनके देह एवं स्वरूप अभिन्न हैं॥ १६॥

सूत्र—दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते॥ १७॥

सूत्रार्थ—'दर्शयति च'—श्रुति भी विग्रहका आत्मत्व और आत्माका विग्रहरूपत्व दिखाती है, 'अथो अपि स्मर्यते' और स्मृति-वाक्य द्वारा भी वही स्मृत किया जाता है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—श्रुति एवं स्मृति—दोनोंके ही प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि विग्रह ही परमेश्वर है और परमेश्वर ही विग्रह हैं॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—*"साक्षात् प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपालः कथं त्ववतीर्णो भूम्यां हि वै"* (गो॰ता॰उ॰ २४) इति तत्रैवोत्तरत्र पठिता श्रुतिः परमात्मानमेव विग्रहं दर्शयति। गोपालशब्दः खलु परमकमनीयपादमुखादिसंनिवेशिन्यभ्रश्यामे सर्ववशे वस्तुनि मुख्यः। पूर्वत्र *"गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितं तदिह श्लोका भवन्ति।* (गो॰ता॰पूर्व॰ १२) *सत्पुण्डरीकनयनम्"* इत्यादि श्रवणात्। स्मर्यते चात्मैव विग्रह इति। *"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रह"* (ब्र॰सं॰ ५/११) इत्यादिभिः। अथो शब्दः कार्त्स्न्ये। सूत्राभ्यां व्यतिहारो दर्शितः। विग्रह एवात्मा आत्मैव विग्रह इति। तथा च श्रुत्यादिगम्येऽविचिन्त्येऽर्थे तर्कानवतारादात्मविग्रहत्वं सिद्धम्। तेन परैव तत्र भक्तिः स्यादिति। विज्ञानानन्दस्यात्मनो मूर्त्तत्वमलौकिकवस्तुत्वात् श्रुतिमात्रात् प्रतिपत्तव्यम्। तन्मूर्त्तत्वं खलु भक्तिभावितेन हृदा ग्राह्यं गान्धर्ववासितेन श्रोत्रेण रागमूर्त्तत्वमिव। अन्यथा विज्ञानघनानन्दघनेति श्रुतिर्व्याकुप्येत्। तदेवं प्रत्यक्त्वादयो धर्माः श्रीविग्रहस्यैव। तस्मिन्नन्यथा विभानं तु माययैव भवति। *"एतत्त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते। इच्छन्मुहूर्त्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः। माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद! सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि"* इति स्मृतेः। नश्येयमदृश्यः स्यामित्यर्थः॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रकृतिसे अतीत श्रीगोपाल यदि साक्षात् ही नित्यसिद्ध हैं, तो वे पृथ्वीपर किस प्रकार अवतीर्ण हुए? इस प्रश्नके उत्तरमें अथर्वशिरा-उपनिषदमें उत्तर-वाक्यमें पठित श्रुति परमेश्वरको विग्रहरूपमें प्रदर्शित करती है—*'गोपालशब्दः खलु'* इत्यादि। गोपाल शब्दका मुख्य अर्थ है—जो परम कमनीय (सुन्दर) चरणमुखादि-सन्निवेश-विशिष्ट, नवनीरद श्यामलाङ्ग हैं, फिर भी सर्वनियन्ता और एक अद्वितीय वस्तु हैं। पहले इस प्रकारसे कहा गया था—जो गोपवेशधारी,

मेघाभ, तरुण और कल्पद्रुमाश्रित हैं। इस प्रकार इस विषयमें ये सब श्लोक पढ़े जाते हैं क्योंकि *'सत्पुण्डरीकनयनम्'* इत्यादि श्रुत होता है और परमात्मा ही श्रीविग्रह हैं—इस प्रकार स्मृतिमें भी विग्रहका ही आत्मत्व कहा गया है। *'सच्चिादनन्द श्रीकृष्ण परमेश्वरः'* इन सब उक्तियोंसे भी वही जाना जाता है। सूत्रोक्त 'अथो' शब्द कात्स्न्‍र्य अर्थमें है। इस सूत्रमें दो सूत्र निहित हैं। एक है *'दर्शयति च'* और दूसरा है *'अथो अपि स्मर्यते'*। इनके द्वारा परस्पर व्यतिहार अर्थात् विनिमय दिखाया है। तात्पर्य यह है कि विग्रह ही परमेश्वर (परमात्मा) है और जो परमेश्वर (परमात्मा) हैं, वे ही विग्रह हैं—दोनोंमें पार्थक्य नहीं है। इसलिए सिद्धान्त यह है कि श्रुति इत्यादि द्वारा गम्य अर्थात् बोध्य विषयमें तर्कका अवकाश नहीं है। जो अचिन्तनीय पदार्थ हैं, उनमें तर्कके अवतरित न होनेके कारण आत्माका विग्रहत्व और विग्रहत्वका आत्मत्व यह सिद्ध होता है। अतः उनमें ही पराभक्ति करणीय है। यदि कहो, परमात्मा विज्ञानानन्दमय हैं, उनकी मूर्त्तिमत्ताकी उक्ति किस प्रकारसे युक्तियुक्त है? इसका समाधान यह है कि अलौकिक वस्तु होनेके कारण उनका विग्रहत्व (मूर्त्तिमत्त्व) श्रुतिके कथनमात्रसे सङ्गत होता है। वे मूर्त्तिमान हैं, इसकी अनुभूति किस प्रकारसे होती है? तो वह भी बतलाते हैं—गान्धर्वविद्यामें वासित (सिक्त अथवा संस्कारयुक्त) कर्ण द्वारा जिस प्रकार राग-रागिनीकी मूर्त्ति उपलब्ध होती है, उसी प्रकार भक्ति द्वारा भावित हृदय द्वारा उनकी मूर्त्ति गृहीत होती हैय यह स्वीकार न करनेपर 'विज्ञानघना, मूर्त्त विज्ञानरूपा, आनन्दघना, मूर्त्तानन्दरूपा मूर्त्तिः' इत्यादि श्रुतिकी अवशिष्ट उक्तिका असामञ्जस्य हो पड़ेगा, श्रुति कुपिता हो जायेगी। (क्योंकि उसमें आनन्दघनमूर्त्ति, विज्ञानघनमूर्त्ति ही कथित हैं।) प्रत्यक्त्वादि (व्यापकत्वादि) धर्म भी श्रीविग्रहके ही हैं। तब विग्रहमें जो अन्यथा (अन्यज्ञान) अर्थात् दृश्यत्वादिकी प्रतीति होती है, वह श्रीभगवान्‌की मायाके द्वारा ही साधित होती है। महाभारतके मोक्षधर्म-पर्वमें श्रीभगवान्‌ने नारदजीसे कहा था—जिस प्रकार अन्य वस्तुएँ रूपविशिष्ट हैं, इसलिए वे दृष्टिगोचर होती हैं, इसी प्रकार ये भगवान् भी दृष्टिगोचर होते हैं—ऐसा तुम मत सोच लेना, क्योंकि इस दृश्यत्व और अदृश्यत्व विषयमें मेरी इच्छा ही हेतु है। इसी बातको

वे अपने श्रीमुखसे कहते हैं—मेरी इच्छा होनेपर मैं मुहूर्त्तमें ही अदृश्य हो सकता हूँ। मैं इस जगत्का नियन्ता, गुरु हूँ। तब हे नारद! तुम जो मुझे देख रहे हो, यह मेरी मायाका कार्य है। यह माया मेरे द्वारा सृष्ट है। तब भी तुम जो समस्त भूतगणोंसे समन्वित मुझे अनुभव कर रहे हो, इसे मेरी माया ही समझना, अन्यथा इस रूपको अनुभूतिमें लानेके लिए (नेत्रगोचर करनेके लिए) तुम अयोग्य (असमर्थ) हो। यह महाभारतीय स्मृति-वाक्य भी अदृश्य श्रीविग्रह श्रीभगवान्के दृश्यत्व विषयमें प्रमाण है। इस वाक्यके अन्तर्गत *'नश्येयम्'* पदका अर्थ है—अदृश्य हो सकता हूँ॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—दर्शयतीति। साक्षादिति। प्रकृतिपरत्वमस्य साक्षान्नित्यसिद्धमेव न तु साधनकृतमित्यर्थः। ईश्वर इति ब्रह्मसंहितायाम्। तेनेति। तत्र विग्रहे ब्रह्मणि। अन्यथेति। विज्ञानघना मूर्त्तविज्ञानरूपा आनन्दघना मूर्त्तानन्दरूपा मूर्त्तिः सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठतीति श्रुतिशेषः। विज्ञानानन्दस्य ब्रह्मणो मूर्त्तत्वाभावे श्रुतेर्मुख्यार्थो बाधितः स्यात्। मूर्त्तो घन इति पाणिनिराह। मूर्त्तौ काठिन्येऽर्थेऽभिधेये हस्तेरप् प्रत्ययो घनश्चादेशो भावे स्यादिति सूत्रार्थः। उदाहरणञ्च। दधिघनः सैन्धवघन इति। ननु भावे प्रत्ययादेशयोरभिधानान्मूर्त्तं दधीत्यादि कथं प्रतीम इति चेत् सत्यम्। धर्मशब्देन धर्मी लक्ष्यत इति। एवमेव सङ्गमितं दीक्षितैः। प्रकृते सान्द्रत्वविशिष्टविज्ञानानन्दत्वात् मूर्त्तिरित्यागतम्। तत्राहुः। अधिष्ठानाधिष्ठातृभावेन गङ्गादितीर्थवदेकस्यैव ब्रह्मणो द्वैरूप्येण प्रकाशः। तत्र अधिष्ठानरूपं गङ्गादि द्रववदसान्द्रं ज्ञानरूपम्। अधिष्ठातृरूपं तु गङ्गादि देवतावत् सान्द्रं मूर्त्तमिति तदिदं सुधीभिर्विभाव्यमिति। तस्मिन्निति। अन्यथा विभानं दृश्यत्वादिप्रतीतिः। तत्र हेतुरेतत्त्वयेति मोक्षधर्मे। अस्यार्थः यथान्यो रूपवानिति हेतोर्दृश्येत तथायमपीत्येतत्त्वया न विज्ञेयम्। इह स्वस्य रूपित्वेऽप्यदृश्यतामभिधाय निजरूपस्य प्रत्यक्चैतन्यत्वं व्यञ्जितम्। तस्य दर्शनेऽदर्शने च मदिच्छैव हेतुरित्याह इच्छन्निति। नश्येयमदृश्यः स्यामित्यर्थः। नश अदर्शने इति धातुपाठात्। अत्र स्वातन्त्र्यं विश्ववैलक्षण्यं च हेतुरित्याह ईशोऽहमिति। तथापि मां सर्वभूतगुणैर्युक्तं यत् पश्यसि प्रत्येषि एषा मायैव मया सृष्टा। मन्माययैव तथा भानमिति। असङ्गश्चाव्ययोऽभेद्योऽनिग्राह्योऽशोष्य एव च। विद्धोऽसृगाचितो बद्ध इति विष्णुः प्रदृश्यते। असुरान् मोहयन् देवः क्रीडत्येष सुरेष्वपि। मानुषान् मध्यया दृष्ट्या न मुक्तेषु कथञ्चनेति स्कन्दाच्च। एतेन मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि (श्रीमद्भा॰ १/९/३४) विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मेत्यादि विपरीतोक्तिर्भीष्मादीनां व्याख्याता। तेषां तदानीम् असुरैरावेशात्॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार— *'दर्शयति'* इत्यादि सूत्रके 'साक्षादित्यादि भाष्यमें'—उन परमेश्वरका प्रकृतिसे अतीतत्व साक्षात् अर्थात् नित्यसिद्ध है; उनका यह स्वरूप साधन द्वारा लब्ध नहीं है। *'ईश्वरः परमः कृष्णः'* इत्यादि श्लोक ब्रह्मसंहिताके अन्तर्गत है। *'तेन परैव तत्र भक्तिः इति'* में 'तत्र' अर्थात् उन श्रीविग्रह ब्रह्ममें। अन्यथा *'विज्ञानघनानन्दघनेति'—विज्ञानघना, मूर्त्तविज्ञान रूपा, आनन्दघना, मूर्त्तानन्दरूपा मूर्त्तिः सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठेति*—यह अंश पूर्वोक्त श्रुतिका अवशिष्टांश है, अन्यथा अर्थात् यदि विज्ञानानन्द ब्रह्मका मूर्त्तत्व न माना जाय तो श्रुतिका मुख्यार्थ बाधित होता है। इस विषयमें पाणिनीयानुशासन दिखाते हैं—पाणिनि कहते हैं— *'मूर्त्तौ घनः'* (पा॰ ३/३/७७) यह सूत्र है। इसका अर्थ है—मूर्त्ति अर्थात् काठिन्य अर्थ वाच्य होनेपर 'हन्' धातुसे 'अप्' प्रत्यय होता है और 'हन्' धातुके स्थानपर 'घन' आदेश होता है। उदाहरणार्थ दधिघनः—दधिका काठिन्य, सैन्धवघनः—सैन्धवका काठिन्य। प्रश्न होता है कि भाववाच्यमें 'अप्' प्रत्यय और 'हन्' धातुके स्थानपर घनादेश विहित होता तो मूर्त्तम् दधि-कठिन दधि इत्यादि की प्रतीति किस रूपमें होगी? ऐसा यदि कहते हो तो कह सकते हो किन्तु इन समस्त प्रयोगोंमें धर्मकी धर्मी रूपमें लक्षणा करके उपपत्ति की गयी है। भट्टोजि दीक्षित (पाणिनिके भाष्यकार) इसी प्रकारसे सङ्गति दिखा रहे हैं। प्रकृत (प्रस्तुत) स्थलपर आनन्द विज्ञानघन इत्यादि शब्दोंका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—सान्द्रविशिष्ट विज्ञान और सान्द्रविशिष्ट आनन्द—इन्हींके द्वारा मूर्त्ति अर्थ आया है। इस विषयमें प्राचीन सम्प्रदाय कहते हैं—गङ्गादि शब्द जिस प्रकार अधिष्ठान (आश्रय) और अधिष्ठातृ—दोनों रूपोंमें प्रकाश पाते हैं, उसी प्रकार एक ही ब्रह्मका दोनों रूपोंमें प्रकाश है। बात यह है कि अधिष्ठान रूपमें स्थित गङ्गादि द्रवात्मक अर्थात् असान्द्र (अनिविड़) हैं, यह ज्ञानस्वरूप है और अधिष्ठातृ रूपमें गङ्गादि देवता विशिष्ट सान्द्रमूर्त्त है—यह सुधीगण विचार करके देखते हैं। *'तस्मिन्नन्यथा विभानम्'* इति—'अन्यथा विभानम्' दृश्यत्वादि प्रत्यय है। इस विषयमें हेतु क्या है—वही दिखाते हैं— *'एतत्त्वया न विज्ञेयमित्यादि ... ज्ञातुमर्हसि'* इत्यन्त वाक्य महाभारतके मोक्षधर्मसे उद्धृत है। इसका अर्थ है कि जिस प्रकार कोई दूसरा पदार्थ

रूपवान् (रूपविशिष्ट) है—इसलिए दर्शनके योग्य हो सकता है, इसी प्रकार वे परमात्मा भी रूपवान होनेपर दृश्य होंगे, ऐसा विचार मत कर लेना। इस वाक्यमें श्रीभगवान् बता रहे हैं कि वे रूपवान होनेपर भी अदृश्य हैं, इसी कारणसे स्वीय रूपकी प्रत्यक् चैतन्यता है, उनके दर्शन और अदर्शनमें उनकी इच्छा ही एकमात्र हेतु है—यह बात *'इच्छन्मुहूर्त्तान्नश्येयमीशोऽहम्'* द्वारा कही गयी है, *'नश्येयम्'*—इस पदका अर्थ अदृश्य हो सकता है। *'नश्येयम्'* पद अदर्शनार्थक नश् धातुसे निष्पन्न है *'नश् अदर्शने'* इस प्रकार धातुगणमें पाठ है। श्रीभगवान्के इस दृश्यादृश्यत्वविषयमें हेतु है—उनका स्वातन्त्र्य एवं विश्वविलक्षणता— इसी बातको ईशोऽहमित्यादि वाक्यमें कह रहे हैं, *'यन्मां पश्यसि नारद'*—तो भी, जो तुम मुझे देख रहे हो, मेरे इस सर्वभूतात्मक और सर्वगुणयुक्त रूपकी अनुभूति कर रहे हो—यह मेरी ही सृष्ट माया है अर्थात् मेरी मायाके प्रभावसे तुम्हें यह अनुभूति हो रही है। स्कन्दपुराणमें भी वर्णित है—*'असङ्गश्चाव्ययेति'*—अर्थात् विष्णु देहादिके सम्पर्कसे रहित, अव्यय (अपरिणामी), बाण द्वारा अभेद्य, निग्रहके अयोग्य, अशोषणीयस्वरूप हैं, फिर भी उन्हें जो विद्ध, रक्तलिप्त और बद्ध देखा जाता है, वह उनकी लीला है। वे देवताओं एवं असुरोंको भी मुग्ध करते हुए क्रीड़ा (लीला) करते हैं। मनुष्योंको भी अपनी माया-दृष्टिसे मुग्ध करके क्रीड़ा करते हैं किन्तु मुक्त पुरुषोंमें कभी भी उनकी मायाकी क्रीड़ा नहीं है; इस प्रबन्ध द्वारा श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णके प्रति भीष्मकी उक्तिकी भी व्याख्या हो गयी है। वहाँ कहा गया है—*'मम निशितशरैरित्यादि ...।'* भीष्म कहते हैं—कवच पहने हुए होनेपर भी मेरे तीक्ष्ण बाणपुञ्ज द्वारा उनका शरीर-चर्म भिद्यमान है, वे ही श्रीकृष्ण मेरे मनमें निविष्ट हों। इस प्रकार भीष्मादिकी विपरीत उक्ति है अर्थात् जो अछेद्य, अभेद्य, अनिग्राह्य हैं, उनके प्रति इस विपरीत उक्तिकी मीमांसा यह है कि उस समय भीष्मादिमें आसुर-भावका आवेश था—इसी कारण उन्होंने यह कहा॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकारने श्रुति और स्मृति दोनोंके ही प्रमाणों द्वारा श्रीभगवान्के स्वरूपविग्रहत्वको प्रमाणित किया है, वही

कहते हैं। इस स्थलपर एक ही सूत्रमें दो सूत्रोंका परस्पर विनिमय दिखाया है अर्थात् विग्रह ही परमेश्वर हैं और परमेश्वर ही विग्रह हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। अतएव श्रुति और स्मृति प्रमाणोंसे सिद्ध विषयमें तर्क नहीं किया जाता, उसे अवश्य ही मानना होता है। इस विषयमें युक्ति और शास्त्र प्रमाणोंका भाष्यकारने अपने भाष्य एवं टीकामें विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

आचार्य श्रीरामानुजके श्रीभाष्यमें पाया जाता है—

'दर्शयति च वेदान्तगणः कल्याणगुणाकरत्वं निरस्तनिखिलदोषत्वञ्च' अर्थात् वेदान्त-वाक्य परमात्माकी कल्याणगुणाकरता और निरस्तनिखिल-दोषत्वका स्पष्टतः उल्लेख करते हैं, यथा—

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्'
(श्वे॰ ६/७)

ब्रह्मादि ईश्वरोंके परम ईश्वर एवं इन्द्रादि देवताओंके परम देव स्तुत्य उन परमेश्वरकी हम ध्यान-योगसे उपासना करते हैं।

स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः। (श्वे॰ ६/९)

अर्थात् वे ही समस्त कारणोंके कारण हैं और इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंके भी अधिष्ठाता हैं। जिस प्रकार जीवके स्वकृत कर्म कालादि देह-ग्रहणके हेतु हैं, उनका इस प्रकारसे उत्पादक कोई नहीं है, उनका अधिष्ठाता भी कोई नहीं है।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
(श्वे॰ ६/८)

अर्थात् उन परमेश्वरका कोई प्राकृत शरीर नहीं है, प्राकृत चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी नहीं हैं, उनके समान अथवा उनसे प्रधान भी कोई नहीं है। उनकी पराशक्ति विविध प्रकारकी है और वे सभी स्वरूपानुबन्धी हैं। यह पराशक्ति ज्ञान, इच्छा और क्रिया अर्थात्

सम्वित्, सन्धिनी और ह्लादिनीरूपा स्वरूपशक्ति नामसे वेदादि शास्त्रमें सुनी जाती है।

इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषदमें भी—

भीष्मास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।

(तै॰ २/८/१)

अर्थात् इन परमेश्वरके भयसे वायु नियमपूर्वक सदा ही प्रवाहित होता है।

स एको ब्रह्मणः आनन्दः। (तै॰ २/८/४) अर्थात् प्रजापतिके आनन्दसे भी हिरण्यगर्भ ब्रह्माका आनन्द शतगुणा है।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तै॰ २/४/१) अर्थात् परब्रह्म परमात्माका स्वरूपभूत जो आनन्द है, वह प्राकृत मन, वाक् आदि समस्त इन्द्रिय रूप शरीरकी अनुभूतिका विषय नहीं है, वे सब परब्रह्मको न पाकर लौट आते हैं।

आनन्दं ब्राह्मणों विद्वान् न विभेति कुतश्च॥। (तै॰ २/९/१) अर्थात् जो विद्वान आनन्दस्वरूप ब्रह्मको जान लेता है, उन्हें कोई भय नहीं होता।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।

(श्वे॰ ६/१९)

अर्थात् वे निष्कल अर्थात् प्राकृत अवयव शून्य, अखण्ड हैं, इसलिए प्राकृत क्रियासे शून्य हैं, अतएव शान्त, निर्विकार, निरवद्य, रागद्वेषादिसे रहित एवं निरञ्जन अर्थात् प्रकृतिसङ्गसे रहित हैं।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।

(मु॰ १/१/९)

जो (भूतयोनि जो अक्षरपुरुष परमेश्वर) 'सर्वज्ञः' अर्थात् समस्त विषयोंके ज्ञाता हैं, 'सर्वविद्' अर्थात् समस्त तत्त्व जिन्हें विशेष रूपसे विदित हैं, 'यस्य' अर्थात् स्वरूपतः और प्रकारतः सर्वविषयक ज्ञानवान् हैं, उन अक्षरपुरुषकी 'तपः' तपस्या अर्थात् जगत्-सृष्टिके लिए उपयुक्त सामर्थ्यका 'ज्ञानमयम्' अर्थात् यह जगत् उनके ज्ञानका अर्थात् उनकी इच्छामात्रका परिणाम है।

इसी प्रकार स्मृति–शास्त्रोंमें भी,

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोक–महेश्वरम्।

(श्रीगी॰ १०/३)

अर्थात् जो मुझे अनादि, जन्मरहित और सभी लोकोंके महेश्वरके रूपमें जानते हैं।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

(श्रीगी॰ १०/४२)

हे अर्जुन! तुम मात्र इतना समझ लो कि मैं अपने एकांशसे इस समस्त जगत्को धारण करके अवस्थित हूँ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥

(श्रीगी॰ ९/१०)

अर्थात् हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षतामें बहिरङ्गा प्रकृति या मायाशक्ति चर–अचर सहित सम्पूर्ण जगत्का सृजन करती है, इसी कारण यह जगत् पुनः–पुनः परिवर्त्तित अर्थात् उत्पन्न होता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(श्रीगी॰ १५/१७)

अर्थात् पूर्वोक्त क्षर और अक्षर तत्त्वसे भिन्न एक अन्य उत्तम पुरुष परमात्मा कहे जाते हैं। वे ईश्वर एवं निराकार हैं तथा तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उनका पालन करते हैं।

विष्णुपुराणमें भी,

सर्वज्ञः सर्वकृत् सर्वशक्तिज्ञानबलर्द्धिमान्।
अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनोऽनादिमान् वशी।
क्लमतन्द्रीभय–क्रोधकामादिभिरसंयुतः
निरवद्यः परप्राप्तेर्निरधिष्ठोऽक्षरः क्रमः॥

(वि॰पु॰ ५/१/४७–४९)

अर्थात् वे सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, सर्वशक्ति, ज्ञान और बलसे ऐश्वर्यवान, ह्रास और वृद्धिरहित, स्वाधीन, अजन्मा, वशी, क्लेश, आलस्य, भय, क्रोध एवं कामादिसे रहित, निर्दोष, अप्राप्य, अनाश्रित एवं नित्य हैं।

इत्यादि। *अतः सर्वत्रावस्थितस्यापि ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वात्ततत्स्थान प्रयुक्ता दोषा न परंब्रह्म स्पृशन्ति।*

अर्थात् इन सभी प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि ब्रह्म व्यापक होते हुए भी दोनों प्रकारके गुणोंसे युक्त होनेके कारण उन-उन स्थानीय दोषोंसे अस्पृष्ट ही रहते हैं।

श्रीमन्मध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

दर्शयति चानन्दरूपत्वम् तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपममृतं यद् विभाति इति। शुद्धस्फटिक सकाशं वासुदेवं निरञ्जनम्। चिन्तयीतयतिर्नान्यं ज्ञानरूपादृते हरेः॥ इति च मात्स्ये।

अर्थात् जो अमृतस्वरूप आनन्दमय ब्रह्म सुशोभित होता है; उसे धीर लोग बुद्धिसे देखते हैं इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मके आनन्दमय रूपका वर्णन किया गया है—मत्स्यपुराणमें भी उसकी पुष्टि की गयी है—शुद्ध स्फटिक मणिकी तरह समुज्ज्वल ज्ञानरूप निरञ्जन वासुदेव हरिके अतिरिक्त यति अन्य किसी रूपका चिन्तन नहीं करते।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीके वाक्य हैं—

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि॥

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः॥

(श्रीमद्भा० ३/९/३-४)

अर्थात् हे परमपुरुष! देश, कालादिसे परे आपका जो आनन्दमात्र ब्रह्मस्वरूप है, उसे मैं इस रूपसे भिन्न नहीं देखता। हे आत्मन्!

इसीलिए उपास्योंमें मुख्य, अद्वितीय, विश्वकी सृष्टि करनेवाले, अतः विश्वसे भिन्न एवं जीवोंकी इन्द्रियोंके अधिष्ठान आपकी इस मूर्त्तिका मैं आश्रय लेता हूँ। हे भुवनमङ्गल! हम आपके उपासक हैं। आपने हमारे मङ्गल–विधानके लिए ही ध्यान–योगमें जिस रूपको दिखलाया है, निरीश्वर व्यक्ति, आपके इस स्वरूपको सच्चिदानन्दमय विग्रह न मानकर मायामय मानते हैं और नरकमें पड़ते हैं। आप चिन्मय गुणोंके अपार–समुद्र हैं। मैं आपको पुनः–पुनः नमस्कार करता हूँ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमहाप्रभुजीके वचन हैं—

आर एक करियाछे परम प्रमाद।
देह–देही भेद ईश्वरे कैला 'अपराध'॥

ईश्वरेर नाहि कभु देह–देही भेद।
स्वरूप, देह, चिदानन्द, नाहिक विभेद॥

(चै॰च॰अ॰ ५/१२१–१२२)

अर्थात् बद्धजीवके समान ईश्वरकी देह और देहीको परस्पर भिन्न वस्तुके रूपमें स्वीकार करनेसे अपराध होता है। मायातीत ईश्वर नित्य सविशेष विग्रह हैं। निज अचिन्त्यशक्ति बलसे प्रपञ्चमें उनका नित्यविग्रह उदित होनेपर भी वह कभी भी प्रापञ्चिक धर्मविशिष्ट मायिक अथवा प्राकृत नहीं हैं। नित्यविग्रहको निर्विशेष कहनेके छलसे देह–देहीमें भेदकी चेष्टा करना महा अपराध है। परमेश्वरमें द्वैतबुद्धि नहीं रखनी चाहिये। वे अद्वयज्ञान हैं। इसलिए उनके नाम, रूप, गुण एवं लीला जड़–जगत्की वस्तुके समान भिन्न–भिन्न नहीं हैं। वे ऐकान्तिक रूपसे अभिन्न हैं।

और भी,

'नाम', 'विग्रह', 'स्वरूप'—तिन एक रूप।
तिने भेद नाहि—तिन चिदानन्द रूप॥

देह—देहीर, नाम—नामीर कृष्णे नाहि 'भेद'।
जीवेर धर्म नाम देह स्वरूपे विभेद॥

अतएव कृष्णेर 'नाम', 'देह', 'विलास'।
प्राकृतेन्द्रिय ग्राह्य नहे हय स्वप्रकाश॥

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द।
कृष्णेर स्वरूप सम, सब चिदानन्द॥
(चै॰च॰म॰ १७/१३१-१३५)

अर्थात् वस्तुतः कृष्णका नाम, कृष्णका विग्रह और कृष्णका स्वरूप—ये तीनों ही समान हैं, तीनों ही चिदानन्दमय हैं। बद्धजीवका देह जीवरूप देहीसे पृथक् है और उसका पितृ-दत्त नाम भी उसकी आत्मा अथवा स्वरूपसे पृथक् एवं जड़ाश्रित है, किन्तु कृष्णका वैसा नहीं है अर्थात् कृष्णका जो देह है, वही देही है, जो नाम है, वही नामी है। कृष्णमें माया अथवा माया-प्रसूत जड़-सम्बन्ध न रहनेके कारण उनके देह-देही अथवा नाम-नामीमें भेद असम्भव है। जीवमें ही नाम, देह और स्वरूपका परस्पर पृथक् धर्म विद्यमान है। अतएव कृष्णकी देह, कृष्णका नाम, कृष्णका रूप, कृष्णके गुण और कृष्णका विलास अथवा परिकर वैशिष्ट्यादि सच्चिदानन्दमय रूप हैं। सत्त्वादि गुणत्रयाभिमानी जीवके जड़ीय रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शादिसे वह चिदानन्दमय वस्तु ग्राह्य नहीं है। जब जीव सेवोन्मुख होता है अर्थात् चित्-स्वरूपसे कृष्णोन्मुख होता है, तभी अप्राकृत जिह्वादि इन्द्रियोंमें कृष्णनामादि स्वयं ही स्फूर्त्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके स्वरूपके समान ही कृष्णके नाम, कृष्णके गुण एवं कृष्णकी लीलाएँ चिदानन्दमय हैं॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ भजद्भ्यो भजनीयस्य भेदः प्रतिपाद्यते। इतरथा स्वाभेदावभासे स्वस्मिन्नाराध्यत्वबुद्धेरनुदयाद्भक्तिर्नोपजायेत। यद्यपि जीवान्यत्वं बहुकृत्वः प्रतिपादितं तथापि प्रतिबिम्बशास्त्रविभ्रान्तः कश्चित्तदभेदमाचक्षीत तत्परिहाराय विधान्तरमेतत्। *"बहवः सूर्यका यद्वत् सूर्यस्य सदृशा जले। एवमेवात्मका लोके परात्मसदृशा मता"* इत्यादि श्रूयते। इह भवति संशयः। आनन्दचिन्मूर्त्तिः परमात्मा पूर्वं निरूपितः। स एव किं कयाचिदवस्थया जीवः किंवा जीवादन्योऽसाविति। किं प्राप्तं? स एव जीव इति। अस्यैवाविद्यायां प्रतिबिम्बतस्य जीवरूपत्वात्। प्रतिबिम्बो हि बिम्बान्नार्थान्तरम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथा निश्चयात्। अत उक्तम्। *"दर्पणाभिहिता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम्। व्याप्नुवत्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम्"* इति। तस्मात् परमात्मैवाविद्यायोगाज्जीव इति प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अब भजनकारी (भक्तगण) के द्वारा भजनीय श्रीभगवान्‌के भेदका प्रतिपादन किया जाता है। यदि

केवलाद्वैतवादका आश्रय करके भजनीय श्रीहरिके साथ जीवके अभेदको स्वीकार किया जाये अर्थात् "मैं ही ईश्वर हूँ" इस प्रकारसे स्वयंमें प्रतीति की जाये तो फिर स्वयंमें ही आराध्यत्व बुद्धि होने लगेगी और भगवान्में आराध्यत्व बुद्धिके उत्पन्न न होनेसे भक्तिका अभ्युदय नहीं हो सकेगा। यद्यपि परमात्माके साथ जीवके भेदका बहुत बार प्रतिपादन हो चुका है तथापि प्रतिबिम्बवादसे विभ्रान्त होकर कोई-कोई अज्ञ जन जीव और ब्रह्ममें अभेद कह सकते हैं—इसी आशङ्कासे इस भ्रान्त बुद्धिके खण्डनके लिए इस प्रकरणका आरम्भ होता है। श्रुति है—*'बहवः सूर्यका यद्वत् सूर्यस्य सदृशा जले। एवमेवात्मका लोके परात्मसदृशा मता'* अर्थात् जिस प्रकार सूर्यके ही समान बहुत-से प्रतिबिम्ब जलमें देखे जाते हैं, उसी प्रकार परमात्माके ही समान अनेक परमात्म-प्रतिबिम्ब इस लोकमें देखे जाते हैं। इस श्रुति-वाक्यमें संशय यह है कि पहले आनन्द चिन्मयस्वरूप कहकर जिन परमात्माका निरूपण किया गया था, वे क्या किसी अवस्थामें पड़कर जीव हो जाते हैं? अथवा परमात्मा जीवसे भिन्न हैं? इस संशयपर पूर्वपक्षके मतमें अविद्यामें पाया जाता है कि परमात्मा ही जीव हैं क्योंकि ये परमात्मा ही अविद्यामें प्रतिबिम्बित होकर जीव संज्ञाको प्राप्त होते हैं। प्रतिबिम्ब बिम्बसे पृथक् पदार्थ नहीं है—अन्वय-व्यतिरेकसे यही ज्ञात होता है। बात यह है कि बिम्ब रहनेपर ही प्रतिबिम्बकी सत्ता है—यह अन्वय है और बिम्ब न रहनेपर प्रतिबिम्बकी सत्ता नहीं है—यह व्यतिरेक है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा बिम्ब-प्रतिबिम्बका ऐक्य निर्णीत हुआ है। इसलिए कहा गया है कि दर्पणमें लगी हुई दृष्टिको वहाँसे लौटानेपर वह निज आश्रय मुखका ही व्याप्त करती है और दर्पण ओर अभिमुख होनेपर उसी मुखको विपरीत आकारमें देखती है। अतएव जब देखा जाता है कि प्रतिबिम्बित दृष्टि और बिम्बस्वरूप (पारमार्थिक) दृष्टि एक ही होकर भिन्न कार्य करती है, इसी प्रकार परमात्मा दर्पण स्थानीय अविद्यामें प्रतिबिम्बित होकर जीवरूपमें विभिन्न कार्य करते हैं—वस्तुतः दोनोंमें ऐक्य है। अतएव पूर्वपक्षीका यह सिद्धान्त कि परमात्मा ही अविद्याके सम्पर्कके कारण जीवरूपमें कहे जाते हैं—तो इस मतका खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वं विग्रहे ब्रह्मणि जीवेन भक्तिः कार्येत्युक्तम्। तन्न सम्भवेज्जीवब्रह्मणोरनन्यत्वात्। भक्तिः खल्वाराधना। सा च स्वस्मादुत्कृष्टेऽन्यस्मिन् दृष्टा न तु स्वस्मिन्नेवेत्याक्षिप्य समाधेः पूर्ववत् सङ्गतिः। अथ भजद्भ्य इति। स्वाभेदावभासे इति। अहमेवेश्वरोऽस्मीति स्वभाने सतीत्यर्थः। बहव इति। सूर्यस्य प्रतिकृतयः सूर्यकास्तस्य प्रतिबिम्बा इत्यर्थः। इवे प्रतिकृताविति सूत्रात् कन्। एवमात्मका इत्येतच्च व्याख्येयम्। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति श्रुतिरादिपदात्। असौ परमात्मा। पृच्छति किमिति। अन्वयेति। सति बिम्बे प्रतिबिम्बः असति तस्मिन् न स इति तयोरभेदनिर्णयादित्यर्थः। प्रतिविधत्ते निरस्यति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि विग्रहस्वरूप ब्रह्ममें (परमेश्वरमें) जीव मात्रकी भक्ति होनी चाहिये; परन्तु यह सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। भक्ति शब्दका अर्थ है—आराधना, सेवा। यह तो स्वयंसे उत्कृष्ट किसी एक वस्तुके प्रति देखी जाती है, स्वयंके प्रति तो हो नहीं सकती। यह आक्षेप करके उसके समाधानके लिए यहाँ पूर्वके समान आक्षेप सङ्गति जानें। *'अथ भजद्भ्यो इत्यादि।' 'स्वाभेदावभासे इति'* स्वयंकी ब्रह्मके साथ अभेद प्रतीति होनेपर अर्थात् "मैं ही ईश्वर हूँ"—इस प्रकार स्वयंकी अभेद प्रतीति होनेपर। 'बहवः सूर्यका' इत्यादिमें 'सूर्यकाः' पदका अर्थ है सूर्यके अनेक प्रतिबिम्ब। इव शब्द प्रतिकृति-प्रतिबिम्ब अर्थमें 'कन्' प्रत्यय होता है *'इवे प्रतिकृतौ'* (पा॰ ५/३/९६) इस सूत्रके अनुसार सादृश्यविशिष्ट प्रतिभाके अर्थमें सादृश्य-प्रतियोगिभूत पदार्थवाचक शब्दसे 'कन्' प्रत्यय होना चाहिये, अतः यहाँ सूर्यका पद सूर्य शब्दके उत्तरमें कन् प्रत्ययसे निष्पन्न हुआ है। *'एवमात्मकाः'* यह पद भी व्याख्यातव्य है अर्थात् आत्मन् शब्दके उत्तरमें प्रतिकृति अर्थ में 'कन्' प्रत्ययका प्रयोग है। *'इत्यादि श्रूयते'* इति यहाँ आदि पदसे ग्राह्य और एक श्रुति है यथा *'एक एव हि भूतात्मा भूत व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्र वत्।'* (ब्रह्मबिन्दूपनिषत् १२) अर्थात् एक ही जीवात्मा प्रत्येक प्राणीमें अवस्थित है। एक होनेपर भी जिस प्रकार चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब एक रूपमें और बहुत-से रूपोंमें प्रतिभात होता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा आश्रय भेदसे बहुत रूपोंमें प्रतीत होता

है; *'जीवादन्योऽसौ'* इति में 'असौ' का अर्थ है 'ये परमात्मा'। *'किं प्राप्तम्'* इति—यहाँ प्रश्न करते हैं, 'क्या समझते हो?' *'अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति'*—अन्वय-व्यतिरेक पदका अर्थ है—*'तत्सत्त्वे तत्सत्ता'* (उसके होनेसे उसकी सत्ता है) इसका नाम अन्वय है, *'तदसत्त्वे तदसत्ता'* (उसके न होनेपर उसकी सत्ता नहीं है) यह व्यतिरेक है। बिम्ब है तो प्रतिबिम्ब है, बिम्ब नहीं है तो प्रतिबिम्ब भी नहीं है—इस प्रकारसे दोनोंका अभेद अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा निर्णय होता है—यह अर्थ है। *'प्रतिविधत्ते'*—पूर्वपक्षीय मतके निराकरणके लिये कहते हैं।

अतएव चोपमाधिकरणम्

सूत्र—अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्॥ १८॥

सूत्रार्थ—'च'—और क्योंकि जीवात्मा परमात्मासे भिन्न है, दोनों एक ही पदार्थ नहीं है, 'अतएव' इसलिए 'सूर्यकादिवत्' सूर्य आदिके प्रतिबिम्ब (सूर्यके प्रतिबिम्बको सूर्यक कहा जाता है) की भाँति 'उपमा' सादृश्यका वर्णन करना सङ्गत है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—परमात्मा पृथ्वीमें रहकर, जलमें रहकर एवं आत्मा इत्यादिमें रहकर सबका नियन्त्रण करते हुए भी उन स्थानोंके दोषसे अस्पृष्ट रहते हैं, इसी बातको शास्त्रोंमें जलदर्पणादि प्रतिबिम्बित सूर्यकादिकी उपमासे समझाया गया है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—यस्मात् परमात्मनोऽन्यो जीवोऽतएव सूर्यकादिवदिति तस्योपमा श्रूयते। न ह्यभेदे बिम्बप्रतिबिम्बभावः। तथा सति वह्निच्छायया दाहः खड्गाभासेन छेदश्च स्यात्। न च तस्मिन् सादृश्यं तस्य भेदतन्त्रत्वात्। चकारोऽन्यान् भेदहेतून् समुच्चिनोति। तस्माज्जीवविलक्षणः परमात्मेति॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—क्योंकि परमात्मासे जीवभिन्न है, इसलिए सूर्यकादिवत् अर्थात् सूर्यके प्रतिबिम्बके समान—इस उक्तिमें जीव और परमात्माकी उपमा अर्थात् सादृश्य श्रुत्र होता है। दोनोंके अभिन्न होनेपर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव सम्भव नहीं होता। यदि ऐसा होता तो अग्निकी छाया द्वारा दाह और खड्गके आभास अर्थात् प्रतिबिम्बसे छेदन होता, किन्तु ऐसा तो

होता नहीं। पुनः अभेद होनेसे बिम्ब स्थलपर सादृश्य भी सम्भव नहीं है। सादृश्यका लक्षण है *'तदभिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्'*—'उससे भिन्न होनेपर भी तत्रस्थ प्रचुर धर्म रहनेका नाम सादृश्य है', अतः यह सादृश्य भेदके घटित होनेपर ही सम्भव है। सूत्रोक्त 'च' शब्द और भी प्रभेद (भिन्नता) के हेतु समूहका संग्राहक है। अतएव सिद्धान्त यह है कि जीव परमात्माका बिम्ब नहीं बल्कि जीवसे परमात्मा पृथक्-धर्मा अर्थात् भिन्न अर्थात् विलक्षण हैं॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—अत एवेति। तस्य जीवस्य। खड्गाभासेनासिच्छायया। तस्मिन्नभेदे। तस्य सादृश्यस्य॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार—*'अतएवेति'* सूत्रमें—*'तस्योपमा श्रूयते इति'* में 'तस्य' का अर्थ है 'जीवका' अर्थात् सूर्यके प्रतिबिम्बके साथ जीवकी उपमा। *'खड्गाभासेन'* का अर्थ है 'तलवारादिकी छाया द्वारा'। 'तस्मिन्' का अर्थ है अभेद होनेपर। *'तस्य भेदतन्त्रत्वात्'* में 'तस्य' का अर्थ है 'सादृश्यका'॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृति—श्रीभगवान्का स्वरूप ही श्रीविग्रह है—यह निरूपित होनेके बाद श्रीभगवान्से जीवके भेदका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे भिन्न प्रकरण आरम्भ हुआ है। श्रीभगवान् उपास्य हैं और जीव उपासक हैं। इनमें परस्पर भेद अस्वीकार करनेपर श्रीभगवान्में आराध्य बुद्धिका उदय नहीं होता, बल्कि स्वयंमें 'मैं ईश्वर हूँ' इस प्रकारकी बुद्धि होनेसे भक्तिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि सूत्रकारने पहले भी बहुत-से सूत्रोंमें जीव और ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन किया है, तथापि प्रतिबिम्बवादमें विभ्रान्त कोई अज्ञ व्यक्ति जीव एवं ब्रह्मका अभेद ज्ञान कर सकता है, इस आशङ्कासे ही भाष्यकारने इस प्रतिबिम्बवादके खण्डनके लिए इस प्रकरणका आरम्भ किया है। प्रतिबिम्बवादी गण कहते हैं कि परमात्मा ही अविद्यावश प्रतिबिम्बित होकर जीवरूपमें प्रतिभात होते हैं। वस्तुतः जीव उनसे पृथक् नहीं है, इस विषयमें वे जलमें सूर्यके प्रतिबिम्बका दृष्टान्त और दर्पणमें मुखके प्रतिबिम्बका दृष्टान्त उदाहरणके रूपमें देते हैं। पूर्वपक्षीके इस मतवादको निरस्त करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं, क्योंकि परमात्मा जीवसे भिन्न है, इसलिए

सूर्यकादिवत् शब्दके प्रयोगके द्वारा परमात्माके साथ जीवकी उपमा दी गयी है अर्थात् दोनोंमें सादृश्यकी बात कही गयी है। भाष्यकारने कितनी ही अकाट्य युक्तियों द्वारा इस मतका खण्डन किया है कि अभिन्न वस्तुओंमें बिम्ब और प्रतिबिम्बका भाव सम्भव नहीं है। यदि ऐसा सम्भव होता तो अग्निकी छायाके द्वारा दहन-कार्य होता और खड्ग (तलवार) की छाया द्वारा छेदन-कार्य सम्भव होता, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। और दूसरी बात यह है कि अभेदस्थलपर सादृश्य सम्भव भी नहीं हो सकता। सादृश्यका लक्षण है—एक वस्तुसे दूसरी वस्तुके भिन्न होनेपर उसमें अवस्थित प्रचुर धर्म रहनेका नाम। सादृश्य तो भेद घटनेपर ही सम्भव होता है। सूत्रस्थ 'च'कार शब्द भी भेदके अन्यान्य हेतुओंका निर्द्धारक है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१८/३२)

अर्थात् जिस प्रकार एक ही चन्द्र जलसे भरे हुए विभिन्न जलाशयोंमें अलग-अलग विविध रूपोंमें दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार एक परमात्मा ही विभिन्न शरीरोंमें और आत्मामें अन्तर्यामी रूपसे बहुत रूपोंमें वर्त्तमान है। यह शरीर भी एक आत्माके सहित सम्बन्धयुक्त है।

इस श्लोककी टीकामें श्रीश्रीलप्रभुपाद कहते हैं—विभिन्न आधारोंमें प्रतिबिम्बित वस्तुओंमें सादृश्य दिखायी देनेसे उन्हें समज्ञान करना (उन्हें समान समझना) अथवा आकरवस्तु (मूल वस्तु) की अवज्ञा करना—यह कर्त्तव्य नहीं है। जो चिन्मय धर्म परमात्मामें अवस्थित है, उस चैतन्य धर्मको विभिन्न आधारोंमें जीवोंमें आक्रमण करनेपर (लादनेपर) अनुभूतिरहित पशुके समान अनभिज्ञता प्रदर्शित हो जायेगी। इसलिए चेतनमय वस्तुका विरोध नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान लोग चेतन पदार्थोंके प्रति सहानुभूतिसम्पन्न होनेपर जीवहिंसादि पापोंकी ओर प्रवृत्त नहीं होते।

और भी,

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/५४/४४)

अर्थात् समस्त जीवोंके अन्तर्यामी परमात्मा एक ही हैं, परन्तु एक ही चन्द्रमा जिस प्रकार जलाशयोंके भेदसे अनेक रूपोंमें दिखायी देता है और एक ही आकाश जिस प्रकारसे घटादि उपाधिके भेदसे अनेक रूपोंमें अनुभूत होता है, उसी प्रकार परमात्मा भी मायाग्रस्त जीवोंकी दृष्टियोंमें विभिन्न प्रकारसे दृष्ट होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें ही और भी देखा जाता है—

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानञ्च प्रकृतेर्गुणः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२२/११)

पच्चीस तत्त्व माननेवाले इस शरीरमें जीव और ईश्वर दोनोंका ही चित्-स्वरूप होनेके कारण उनमें कोई भेद नहीं मानते। इसलिए उनमें भेद कल्पना व्यर्थ है। इस मतमें ज्ञान भी सत्त्वगुणकी वृत्ति होनेके कारण प्रकृतिकी अपेक्षा भिन्न नहीं है, प्राकृत ही है।

इस श्लोककी विवृतिमें श्रीलप्रभुपादने कहा है—

जो पुरुष एवं पुरुषोत्तममें अभेदकी कल्पना करते हैं, वे अपने ज्ञानसे प्रकृतिके गुणोंको समझ नहीं सकते, ब्रह्मसूत्रमें *'स्वशब्दानुमानाभ्यां च'* (२/३/२१) सूत्रके विचारको लक्ष्य करके जीवके अणुत्वकी धारणा नहीं करते। इसी कारण वे भगवान् और भक्त—दोनोंको एक ही पर्यायमें परिगणित करते हुए परमात्मा और जीवात्माके अभेदकी कल्पना कर लेते हैं। ऐसी कल्पनाओंका कोई मूल्य नहीं है। अविद्याग्रस्त जीव अपने स्वरूप-बोधसे असमर्थ होकर 'मेरी अल्पता केवल बद्धावस्थामें है, मुक्तावस्थामें पूर्णता हो जायेगी'—इस प्रकारसे व्यर्थ कल्पनाएँ करते हैं, किन्तु वास्तवमें तो जीव अथवा पुरुष विभु-चैतन्यका अणुमात्र है।

श्रीलजीवगोस्वामीने अपनी सर्वसंवादिनीमें परमात्म-सन्दर्भमें कहा है—

अथ द्वितीय मते—चैतन्यस्याविद्याप्रतिबिम्ब ईश्वरेश्चैतन्याभासो जीवः। स च स च मिथ्येति रज्जुः सर्प इतिवत् बाधायां सामानाधिकरण्यम्; निषेधप्रधाना एव श्रुतयः शुद्धसमर्पिका इति तासामेव महावाक्यत्वम्।

अर्थात् द्वितीय मतमें—चैतन्यका अविद्या-प्रतिबिम्ब-ईश्वर-चैतन्यका आभास ही जीव है—यह मिथ्या है। इस स्थलपर जो पदसमूहका सामानाधिकरण्य है, वह 'रज्जु-सर्प' इस प्रकारकी बाधामें सामानाधिकरण्य मात्र है। (अर्थात् रज्जु जिस प्रकार सर्प नहीं है, उसी प्रकार अविद्या-प्रतिबिम्ब चैतन्य भी ईश्वर नहीं है। चैतन्याभास भी जीव नहीं है। जीव-ब्रह्मकी अभेद निषेधिका श्रुतियाँ शुद्ध सिद्धान्तका समर्थन करती हैं, इसलिए उनका ही महावाक्यत्व स्वीकार्य है।)

श्रील जीवपादने इस स्थलपर मायावादियोंके तीनों मतोंका खण्डन करते हुए प्रतिबिम्बवादका भी खण्डन किया है, यह वहीं देखना चाहिये। संक्षेप रूपसे दो-एक मतोंके सारका किञ्चित् उल्लेख करते हैं।

मायावादियोंके मतमें ब्रह्मका रूप नहीं है, तब जिसका रूप नहीं है, उसके प्रतिबिम्बकी सम्भावना कहाँ है? उपाधिका भी कोई रूप न रहनेके कारण उसके प्रतिबिम्बत्वकी अत्यन्त असम्भावना है। पुनः मुखादि-दृश्य-प्रतिबिम्बका द्रष्टा मुख नहीं, कोई दूसरा व्यक्ति है। यहाँ जीवेश्वररूप (जीव ही ईश्वररूप है) प्रतिबिम्बका—प्रतिबिम्ब-प्राप्त ब्रह्म (प्रतिबिम्ब—जीव ही ब्रह्मको प्राप्त हो गया है) का द्रष्टा ही कौन है? अथवा दृश्यत्वमें जड़त्व कैसे नहीं होगा? इन्हीं सब अनुपपत्तियों (युक्तियोंके प्रमाणित न होने) के कारण प्रतिबिम्बवाद तुच्छ है। प्रतिबिम्बमें अपनी उपाधिकी कल्पना और उस उपाधिके नाशके निमित्त तुच्छताको न देखनेसे यह दोष होता है कि जीवके प्रामाण्य-ज्ञानके द्वारा भी यह उपाधिरूप अविद्या नष्ट नहीं होती। इस प्रतिबिम्बत वस्तुके उपाधि-नाशकी बात तो दूर रहे, बिम्ब एवं प्रतिबिम्बका पृथक् अधिष्ठान रहनेके कारण भेदकी प्रत्यक्ष ही उपलब्धि होती है और इसके द्वारा प्रतिबिम्बके क्षोभमें बिम्बका क्षोभ देखा जा सकता है। बिम्बकी विपरीत दिशामें ही प्रतिबिम्बका उदय होता है। सूर्यका उदय और अस्त दिखायी न देनेपर स्वच्छ पदार्थमें केवल यह आभास—ज्योति

ही दिखायी देती है। केवल स्वच्छवस्तुमें संयुक्त (लगी) दृष्टिके कारण उससे उद्गत होता हुआ प्रतिबिम्ब देखा जाता है। इस स्थलपर दर्शनेन्द्रियके साथ प्रकृत बिम्बका (वस्तुका) योग नहीं है, इस प्रकारकी अवस्थामें प्रतिबिम्बके बिम्बत्वके अभावमें बिम्बके नाशपर आभास-नाशके समान मोक्षका प्रसङ्ग आता है। इसमें भी प्रतिबिम्बवाद दूषित है। और भी, ईश्वर नित्य विद्यामय हैं और जीव अनादिकालसे ही 'मैं नहीं जानता' इस प्रकारके अभिमानसे युक्त अविद्यासे उपहित (अविद्या उपाधिसे युक्त) है।

ब्रह्ममें विक्षेपरूप अविद्यांश-सम्बन्धकी कल्पनामें भी युक्तिके अभावमें ईश्वराकार प्रतिबिम्बकी उपपत्ति नहीं होती। ऐसी अवस्थामें जीव और ईश्वरकी यदि पृथक्-पृथक् उपाधि स्वीकार की जाती है, तो बृहदारण्यकमें जो सर्वान्तर्यामित्वकी श्रुति है, उसके साथ विरोध होता है। दुग्ध एव जलकी भाँति परस्पर मिश्रित उपाधि-द्वयके विचारमें प्रतिबिम्बका एकत्व ही आ पड़ता है। पुनः यदि ईश्वरको अविद्याका प्रतिबिम्ब न कहकर मायाका प्रतिबिम्ब कहा जाता है, तो ईश्वरकी स्व-शक्तिका अभाव एवं मायावशीकरणत्व गुणके अभावके कारण उनके ऐश्वर्यत्वका अभाव हो पड़ता है। और भी, जलमें चन्द्रका प्रतिबिम्ब जिस प्रकार जलके सञ्चालनमें सञ्चालित और जलके स्थैर्यमें स्थिर होता है, उसी प्रकार ईश्वरको भी उपाधिके वश होकर तच्चेष्टानुगत होना पड़ता है। तब ईश्वर मायाके अधीश्वर न होकर मायाके वशीभूत हो पड़ते हैं। अधिक कहना निष्प्रयोजन है, श्रुतिपुराणादि प्रसिद्ध परमेश्वरके स्वरूपैश्वर्यकी मायिकता स्वीकार करनेसे उनके निन्दाजनित, दुर्वार, अनिर्वचनीय कोटि-कोटि महापातक उपस्थित होते हैं।

श्रीपाद रामानुजाचार्यके भाष्यका सार है—

परब्रह्म नाना प्रकारके स्थानोंमें अवस्थित होकर भी उन-उन स्थानोंमें प्रयुक्त दोषोंके भागी नहीं होते। जल एवं दर्पणादिमें प्रतिबिम्बित सूर्यादिके समान परमात्मा ही उन-उन स्थानोंपर अवस्थित होकर भी निर्दोष रहते हैं। शास्त्रमें इस प्रकारसे उपमा अथवा सादृश्य प्रदर्शित हुआ है॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वस्तु तयोपमया जीवपरयोर्भेदः। किन्तु चिदाभासत्वं जीवस्य ततः प्राप्तम्। यथाम्बुनि सूर्यस्याभासः सूर्यक उच्यते तथाऽविद्यायां परस्याभासो जीव इति। एतन्निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि सूर्यकादि उपमा द्वारा जीव एवं परमेश्वरका पार्थक्य हो, किन्तु जीवका चिदाभासत्व भी तो इसी उपमासे प्राप्त होता है। किस प्रकार? वही कहते हैं—जिस प्रकार जलमें सूर्यके आभासको सूर्यकी प्रतिमूर्त्ति कहा जाता है, उसी प्रकार अविद्यामें परमात्माका आभास जीव होगा। जीवके इस चिदाभासत्ववादका खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तत उपमातः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'ननु' इत्यादि जीवस्य। *'ततः प्राप्तमिति'* में 'ततः' का अर्थ है 'उपमा से'।

अम्बुवदग्रहणाधिकरणम्

सूत्र—अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्॥ १९॥

सूत्रार्थ—'अम्बुवत्'—सूर्यादिबिम्बके बहुत दूर अवस्थित जलादि उपाधिमें परिच्छिन्न परिमाणमय सूर्यादिका आभास गृहीत होता है, 'तु'—किन्तु अविद्यामें परमात्माका आभास 'अग्रहणात्' उस प्रकारसे ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि 'न तथात्वम्' परमात्मा परिच्छिन्न परिमाण विशिष्ट नहीं हैं। वे विभु हैं, अविद्यारूप उपाधि उनमें दूर-दूर तक भी नहीं है, यह तो उनकी शक्ति-विशेष है॥ १९॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्म विभु व्यापक पदार्थ एवं अविषय हैं अर्थात् किसीके द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। अतः उनका उपाधिमें प्रतिबिम्बित होना अथवा उपाधि द्वारा परिच्छिन्न होना सम्भव नहीं है। अविद्या ब्रह्मकी एक शक्ति विशेष है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—तुरवधारणे। षष्ठ्यन्तात् सप्तम्यन्ताद्वा वतिः। अम्बुवद्बिम्ब-विप्रकृष्टस्योपाधेरग्रहणान्न तथात्वम्। परमात्मनो विभुत्वेन तद्विदूरपदार्थाप्रसिद्धेरुपमेय-कोटेरुपमानकोटितुल्यत्वं नेत्यर्थः। बिम्बविदूरे जलाद्युपाधौ परिच्छिन्नस्य सूर्यादेराभासो गृह्यते नैवं परमात्मनः तस्यापरिच्छेदात्। अतो न तथात्वमिति वा, परमात्मनः

प्रतिबिम्बो जीवो न भवति। *"अलोहितमच्छायम्"* इति श्रुतेः। किन्तु तद्वच्चेतन एव सः। *"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्"* इति श्रुतेः। इत्थञ्चाकाशदृष्टान्तोऽपि निरस्तः। तद्‌गतपरिच्छिन्नज्योतिरंशस्यैव तत्तया प्रतीतिरवैदुषी। इतरथा दिगादेरपि तदापत्तिः। न चात्र शब्दोऽपि दृष्टान्तः, वैधर्म्यात्। तस्माद्विष्णोः प्रतिबिम्बो नेति॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द अवधारण अर्थात् निश्चयके लिए है। *'अम्बुवत्'* पदका 'वति' प्रत्यय षष्ठी विभक्त्यन्त अथवा सप्तमी विभक्त्यन्त अम्बु शब्दके उत्तरमें है; इसका अर्थ है—अम्बुके (जलके) समान अम्बुमें बिम्बसे दूरवर्त्ती उपाधिके (प्रतिमूर्त्तिके) ग्रहणके समान अविद्यामें परमात्माका आभास—प्रतिबिम्ब (चिदाभास) गृहीत नहीं होता—इसीलिए जीवका भी चिदाभासत्व कहा नहीं जा सकता। युक्ति यह है कि परमात्मा विभु (विश्वव्यापक) हैं, अतएव कोई भी पदार्थ उनसे दूर नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है कि अप्रसिद्धिके कारण उपमेय जीवकोटि और ब्रह्मकोटिके साथ उपमान सूर्य और उसके प्रतिबिम्बका सादृश्य नहीं है। यही तात्पर्य है। उपाधिगत जलादि बिम्बीभूत सूर्यसे बहुत दूर स्थित हैं, उनमें परिच्छिन्नपरिमाण सूर्यका प्रतिबिम्ब अथवा आभास गृहीत हो सकता है किन्तु इस प्रकारसे अविद्यामें परमात्माका आभास अथवा प्रतिबिम्ब हो नहीं सकता क्योंकि परमात्मा अपरिच्छिन्नस्वरूप, सर्वव्यापी हैं, इसलिए उनका आभास नहीं हो सकता। अतएव जीव चिदाभास अथवा परमात्माका प्रतिबिम्ब नहीं है। कारण-श्रुति कहती है—*'अलोहितमच्छायम्'*—परमात्मा अलोहित हैं अर्थात् लोहित वर्ण नहीं हैं वे 'अच्छाय' अर्थात् छायाविशिष्ट भी नहीं है, जिसकी छाया नहीं हैं, उसका प्रतिबिम्ब कभी सम्भव नहीं हो सकता। तब जीवका क्या स्वरूप है? सो वह तो परमात्माके समान चेतनस्वरूप ही है—श्रुति कहती है—*'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'* (कठ० २/२/३) वे (परमात्मा) चेतन (जीव) समूहके चैतन्यसम्पादक हैं और समस्त नित्य वस्तुओंकी नित्यताके हेतु हैं। इसी प्रकार जीवमें आकाशका दृष्टान्त भी खण्डित (निराकृत) हो जाता है। किस प्रकारसे? वही बतलाते हैं—जलादिमें जो आकाशका प्रतिबिम्ब देखा जाता है, वह आकाशवर्त्ती सूर्यादि परिच्छिन्न ज्योतिः अंशके ही

प्रतिबिम्बकी प्रतीति है, अपरिच्छिन्न आकाशकी नहीं। अतएव प्रतिबिम्बरूपमें आकाशकी प्रतीति अज्ञता-प्रसूत है। यदि ऐसा न हो, तो रूपरहित दिशाओं और वायु इत्यादिका भी प्रतिबिम्ब-पात होना चाहिये। अर्थात् प्रतिबिम्ब भाव उठ सकता है। रूपरहित ध्वनिकी प्रतिध्वनिके समान नीरूप ब्रह्मका प्रतिबिम्ब जीव है—इस प्रकार शब्द-दृष्टान्त भी सङ्गत नहीं होता, क्योंकि प्रतिबिम्बवाद और प्रतिध्वनिवादमें परस्पर वैषम्य सुप्रसिद्ध है अर्थात् प्रतिध्वनि और प्रतिबिम्ब एक नहीं है। दोनों विषम दृष्टान्त हैं। अतएव जीव विष्णुका प्रतिबिम्ब नहीं है॥१९॥

सूक्ष्मा-टीका—अम्बुवदिति। उपमेयकोटेर्ब्रह्मजीवलक्षणस्य उपमानकोटितुल्यत्वं सूर्यतत्प्रतिबिम्बसमत्वं नेत्यर्थः। तथा च विषमनिदर्शनतादोष इति। बिम्बविदूरे इत्यादि। आभासः प्रतिबिम्बः। तत्र हेतुरलोहितमिति। अच्छायं प्रतिबिम्बरहितम्। छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातप इति नानार्थवर्गः। तद्वत् परमात्मवत्। इत्थञ्चेति। विभोः प्रतिबिम्बासम्भवनिरूपणेनेत्यर्थः। नन्वाकाशस्य प्रतिबिम्बं प्रतीम इति चेत्तत्राह तद्गतेति। आकाशवर्त्तिनः सूर्यादिज्योतिरंशस्यैव तत्प्रतिबिम्बतया प्रतीतिर्भ्रान्तिरित्यर्थः। किञ्च नैरूप्याच्च न तस्याभासः। अन्यथा दिग्वातयोस्तदापत्तिः। ननु यथा नीरूपस्य ध्वनेः प्रतिध्वनिस्तथा नीरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बः स्वीकार्य इति चेत्तत्राह न चेति। तत्र हेतुर्वैधर्म्यादिति। प्रतिबिम्बं साधयितुं प्रवृत्तस्तत्र प्रतिध्वनिमुदाहरन् विषमदृष्टान्ती भवतीत्यर्थः॥१९॥

सूक्ष्मा-सार— *'अम्बुवदित्यादि'* सूत्रमें 'अम्बुवत्' कहनेसे उपमान-उपमेय रूप प्रकाशित हो रहा है। इनमें उपमेय अंश है—जीव और ब्रह्मस्वरूप, उपमान अंश है—सूर्य एवं उसका प्रतिबिम्ब—इन दोनों अंशोंका साम्य नहीं है—अतएव दृष्टान्त वैषम्य है—यह एक दोष है। *'बिम्बविदूरे जलाद्युपाधौ'* इत्यादि वाक्यमें *'आभासो गृह्यते'* में 'आभासः' का अर्थ है 'प्रतिबिम्ब'। जीव जो कि परमात्माका प्रतिबिम्ब नहीं है, इस विषयमें हेतु है—*'अलोहितमच्छायमित्यादि'* श्रुति-वाक्य। 'अच्छायम्' शब्दका अर्थ है प्रतिबिम्बहीन। अमरकोष अभिधानके नानार्थवर्गमें छाया शब्दके अनेक अर्थ हैं यथा छाया नामकी सूर्यकी स्त्री, कान्ति, प्रतिबिम्ब और आतपका अभाव। *'तद्वच्चेतन एव सः इति'* में तद्वत्का अर्थ है परमात्माके समान। *'इत्थञ्चाकाशदृष्टान्तोऽपीति'* में 'इत्थञ्च' का अर्थ है—इस रूपसे अर्थात् जीव विभुका प्रतिबिम्ब हो नहीं सकता—इस

निरूपणके द्वारा। प्रश्न है कि जीव परमात्माका प्रतिबिम्ब न हो, आकाशका प्रतिबिम्ब तो मानोगे—यह यदि कहते हो तो इसपर कहते हैं—*'तद्गतपरिच्छिन्नज्योतिरित्यादि'* अर्थात् आकाशवर्त्ती सूर्यादिका ज्योतिः—अंश ही आकाशके प्रतिबिम्ब रूपमें प्रतीत होता है, इसलिए यह प्रतीति भ्रमात्मक है, यही तात्पर्य है। और भी एक बात है—आकाशके रूपके अभावके कारण उसका प्रतिबिम्बपात हो नहीं सकता। यदि रूपहीनका भी प्रतिबिम्बपात कहने लगें तब तो दिक् (दिशा) और वायुका भी प्रतिबिम्ब होना चाहिये। पुनः प्रश्न यह है कि यदि कहो कि जिस प्रकार रूपहीन ध्वनिकी प्रतिध्वनि होती है, उसी प्रकार नीरूप ब्रह्मका भी प्रतिबिम्ब स्वीकार करें तो इस विषयमें प्रतिवाद करते हैं—*'न चात्र शब्दोऽपीति'*—शब्द भी इस विषयमें दृष्टान्त हो नहीं सकता। इस विषय पर हेतु बतलाते हैं—वैधर्म्यात्-परमात्मा तथा शब्दका परस्परमें साम्य नहीं है अर्थात् प्रतिबिम्बवादको स्थापन करनेमें प्रवृत्त होकर प्रतिध्वनिको दृष्टान्त-रूपमें उल्लेख करनेवाले व्यक्ति विषम दृष्टान्तोंका अवलम्बन करते हैं॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः और एक संशय उठा रहे हैं कि पूर्वोक्त उपमा द्वारा जीव और ब्रह्मका भेद निरूपित हुआ हो, किन्तु जीवका चिदाभासत्व अर्थात् चित्प्रतिबिम्बत्व तो कहा ही जा सकता है। जिस प्रकार जलमें प्रतिफलित सूर्यके आभास अर्थात् प्रतिबिम्बको सूर्य कहा जाता है, इसी प्रकार अविद्यासे परमात्माके आभासको जीव कहा जा सकता है। पूर्वपक्षवादियोंके इस जीवके चिदाभासत्ववादके खण्डनके लिए सूत्रकार कहते हैं कि अम्बु अर्थात् जलके समान अर्थात् जलमें बिम्बसे दूरस्थ उपाधिके ग्रहणके समान अविद्यामें परमात्माका आभास गृहीत नहीं हो सकता।

इस विषयमें भाष्यकार युक्ति दिखाते हैं कि सूर्य जलसे अतिशय दूर स्थित है, इसमें परिच्छिन्न सूर्यका प्रतिबिम्ब अथवा आभास गृहीत हो सकता है, किन्तु इस प्रकार अविद्यामें परमात्माका आभास घटित नहीं हो सकता। परमात्मा विभु—विश्वव्यापक अर्थात् अपरिच्छिन्न हैं और उनसे दूरवर्त्ती कोई पदार्थ है—ऐसी प्रसिद्धि भी नहीं है, बल्कि

वे सर्वत्र हैं—यह प्रसिद्धि है। तात्पर्य यह है कि जल जिस प्रकार सूर्यसे दूरवर्त्ती स्थानमें है, उस प्रकार वह परमात्माकी सर्वव्यापकताके कारण परमात्मासे दूरस्थ नहीं है। अतएव उपमान और उपमेयमें सादृश्य नहीं है। विस्तारपूर्वक आलोचना भाष्य एवं टीकामें देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/४२)

जगत्में जिस प्रकार समस्त भूत-समुदायको महाभूतोंके अनुवर्ती रूपमें देखा जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगी भी समस्त प्राणियोंमें परमात्माको और परमात्माको समस्त प्राणियोंमें अनन्यभावसे देखे।

श्रीगीतामें भी—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(श्रीगी॰ ६/२९)

अर्थात् सर्वत्र समदर्शी योगयुक्त पुरुष सभी भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सभी भूतोंका अवस्थित देखते हैं।

भाष्यकार श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा रचित 'प्रमेयरत्नावली' ग्रन्थमें भी देख सकते हैं—

प्रतिबिम्ब-परिच्छेदपक्षौ यौ स्वीकृतौ परैः।
विभुत्वाविषयत्वाभ्यां तौ विद्वद्भिर्निराकृतौ॥

(प्र॰र॰ ४/८)

अर्थात् जो लोग प्रतिबिम्ब और परिच्छेद पक्षको मानते हैं, उनके पक्षोंका स्वतः ही खण्डन हो जाता है। कारण ब्रह्म विभु और व्यापक हैं। जो परिच्छिन्न है, उसीका प्रतिबिम्ब हो सकता है और ब्रह्म-पदार्थ विभुत्व एवं अविषयत्वके कारण कभी भी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार विद्वानोंने उन दोनों पक्षोंका निम्नलिखित रूपसे निराकरण किया है।

पहली बात तो यह है कि ब्रह्म जब सर्वव्यापक हैं, तो उनका प्रतिबिम्ब किस प्रकार सम्भव है? सर्वव्यापक वस्तुका प्रतिबिम्बरूप भेद कभी भी नहीं हो सकता। जिस प्रकार जागतिक दृष्टान्तमें सर्वव्यापी आकाशका प्रतिबिम्ब नहीं होता—आकाशमें उदित साकार ग्रह, नक्षत्रादि ज्योतिष्कोंका ही प्रतिबिम्ब हो सकता है। आकाशका प्रतिबिम्ब होनेपर वायु, काल और दिशा इत्यादिके भी प्रतिबिम्ब स्वीकार करने पड़ेंगे। अतएव सर्वव्यापक ब्रह्मका प्रतिबिम्ब स्वीकृत नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि ब्रह्म अविषय हैं, इसलिए निर्गुण हैं। निर्गुण अविषयमें किस प्रकारसे परिच्छेदकी सम्भावना हो सकती है? आकाश जात-द्रव्य रूपमें परिमाण विशिष्ट है; जात-द्रव्यका इस प्रकारसे उपाधिका परिच्छेद सम्भव हो सकता है, किन्तु ब्रह्म तो जात-द्रव्य नहीं हैं—इसलिए ब्रह्मका परिच्छेद निराकृत हुआ। परिच्छेदका वास्तवत्व स्वीकार करनेपर अपरिच्छिन्न ब्रह्मको टङ्क (प्रस्तर-भेदन अस्त्र) से छिन्न पाषाण-खण्डके समान विकारी कहा जायेगा। किन्तु ब्रह्म अविकारी हैं, उनका परिच्छेदरूप भेद नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रतिबिम्ब और परिच्छेद—ये दोनों ही मतवाद दूषित हैं—यह व्याख्या परमाराध्यतम श्रीश्रील प्रभुपाद द्वारा की गयी है।

इस सूत्रके भाष्यमें श्रीरामानुज भी कहते हैं—जल और दर्पणादि पात्रमें जैसे सूर्य, मुखादिका प्रतिबिम्ब देखा जाता है, पृथ्वी इत्यादि स्थानोंपर तो परमात्माका वैसा प्रतिबिम्ब दृष्टिगत नहीं होता। क्योंकि भ्रान्तिवश ही जलादि पात्रोंमें सूर्यादिको देख लिया जाता है, किन्तु वास्तवमें तो वे वहाँ रहते ही नहीं।

आचार्य श्रीशङ्करने कहा है जलमें सूर्यके प्रतिबिम्बके साथ बुद्धिमें ब्रह्मके प्रतिबिम्बकी तुलना करना उचित नहीं है, दोनों स्थल एक समान नहीं है। सूर्य एवं जल भिन्न देशोंमे अवस्थित हैं, इसलिए सूर्यका प्रतिबिम्ब जलके ऊपर पड़ सकता है, किन्तु ब्रह्म सर्वव्यापक हैं, इसलिए उनका प्रतिबिम्ब बुद्धिमें नहीं पड़ सकता।

इस प्रकार उपमा एवं उपमेयकी तुल्यता न होनेसे उक्त दृष्टान्त स्वीकार नहीं है॥ १९॥

अवतरणिका भाष्य—अथ शास्त्रं सङ्गमयति।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इस विषयपर पूर्वपक्षी प्रतिबिम्ब-बोधक शास्त्रकी सङ्गति दिखाते हैं अर्थात् दृष्टान्त-सङ्गतिका प्रतिपादन करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एवं तर्हि प्रतिबिम्बशास्त्रस्य का गतिः। तच्च बहवः सूर्यका यद्वदित्यादि यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भित्त्वा बहुधैकोऽनुगच्छन् उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवक्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मेत्यादि काठकादिवाक्यञ्च। (ब्रह्मविन्दूपनिषत् १२) तत्राह अथेति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—यदि जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब नहीं है तो प्रतिबिम्ब-बोधक शास्त्र-वाक्योंकी उपपत्तिका क्या? यह वाक्य है, यथा—*बहवः सूर्यका यद्वदित्यादि*। इसी प्रकारसे काठक एवं अन्य श्रुति-वाक्य भी हैं—*'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिनो क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा'* इति—अर्थात् जिस प्रकार यह ज्योतिः-स्वरूप सूर्य जल-भेद करके (भिन्न-भिन्न जलोंमें) एक अकेले ही प्रतिफलित (प्रतिबिम्बित) होकर जलादि उपाधि द्वारा बहुत प्रकारसे भिन्न (अनेक) रूपोंमें कृत होता है, उसी प्रकारसे देव-क्षेत्रोंमें (देवसमाजमें) बहुत-सी विभिन्न मूर्त्तियोंमें प्रकाशमान ये ही नित्य (अज) परमात्मा जीव रूपोंमें बहुत-से हो जाते हैं अर्थात् उपाधि द्वारा भेद युक्त बहुत-से स्वरूपोंमें हो जाते हैं—इत्यादि तो इन काठक इत्यादि वाक्योंकी गति क्या होगी? इसपर सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्॥ २०॥

सूत्रार्थ—'वृद्धिह्रासभाक्तत्वम्' जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका ह्रास देखा जाता है, किन्तु वास्तवमें सूर्यकी वृद्धि है, अतएव वृद्धि एवं ह्रास—धर्मयोगित्व मुख्यवृत्ति (अभिधा नामक शक्ति) द्वारा साधित नहीं है, किन्तु गौणी लक्षणा द्वारा जाने जा सकते हैं। कारण क्या है? 'अन्तर्भावात्—इस अंशमें अर्थात् वृद्धि-ह्रास-अंशमें ही प्रतिबिम्ब—शास्त्रका तात्पर्य है। 'एव'—इस वृद्धि-ह्रासादि कृत साधर्म्यको लेकर शास्त्रका

तात्पर्य स्वीकार करनेपर ही 'तदुभयसामञ्जस्यात्' दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी (उपमान-उपमेयकी) सङ्गति रहती है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—वृद्धि-ह्रासादि रूप साधर्म्य द्वारा शास्त्रका तात्पर्य सिद्धान्तित होनेपर ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों पदार्थोंकी सङ्गति होती है, इसलिए गौणी लक्षणा द्वारा ही शास्त्रका आरम्भ है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—प्रतिबिम्बशास्त्रेण मुख्यया वृत्त्या नायं दृष्टान्तः प्रयुज्यते किन्तु गुणवृत्त्यैव वृद्धिह्रासभाक्त्वम्। साधर्म्यांशमाश्रित्य उपलक्षणमेतत्। कुतः? अन्तर्भावात्। एतस्मिन्नेवांशे शास्त्रतात्पर्यपरिसमाप्तेरित्यर्थः। एवं सत्युभयसामञ्जस्यात्। उपमानोपमेययोः सङ्गतेरित्यर्थः। अयं भावः। पूर्वसूत्रे बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य मुख्यस्य निरासात् किञ्चित् साधर्म्यमादाय प्रकृते तद्भावः प्रकीर्त्त्यते। तच्चेत्थं बोध्यम्। सूर्यो हि वृद्धिभाक्, जलाद्युपाधिधर्मैरसम्पृक्तः स्वतन्त्रश्च तत्प्रतिबिम्बाः सूर्यकास्तद्ध्रास-भाजो जलाद्युपाधिधर्मयोगिनः परतन्त्राश्च भवन्त्येवं परमात्मा विभुः प्रकृतिधर्मैरसम्पृक्तः स्वतन्त्रश्च तदंशका जीवास्त्वणवः प्रकृतिधर्मयोगिनः परतन्त्राश्चेति। तस्मादियमुपमा तद्भिन्नत्वतदधीनत्वतत्सादृश्यैरेव धर्मैः सिद्धा। न तूपाधिप्रतिफलितरूपाभासत्वेन धर्मेणेति। अतएव निरुपाधिप्रतिबिम्बो जीव इत्याहु पैङ्गिश्रुतिः। *"सोपाधिरनुपाधिश्च प्रतिबिम्बो द्विधेष्यते। जीव ईशस्यानुपाधिरिन्द्रचापो यथा रवेः"* इति॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'बहवः सूर्यका यद्वदित्यादि'* प्रतिबिम्बवाद-शास्त्र (वाक्य) द्वारा ये सूर्यकादि दृष्टान्त मुख्यवृत्ति द्वारा प्रयोजित नहीं होते हैं, किन्तु गौणी लक्षणाके द्वारा ही वृद्धि और ह्रासभागित्वरूप दोनों अंशोंका सादृश्य प्रयोजित (प्रयोग) हो सकता है। इस उपाधि धर्मके योग-अयोग अर्थात् सम्बन्ध और असम्बन्ध एवं स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यके उपलक्षण अर्थात् इन दोनोंके द्वारा ही लेकर ही सादृश्य वर्णित हुआ है। किस कारणसे ऐसा कहते हो? वही बताते हैं—'अन्तर्भावात्' इस वृद्धि एवं ह्रासभागित्वरूप साधर्म्य अंशमें ही (वृद्धि, ह्रासादि कुछ अंशमें साधर्म्य होनेमें ही) प्रतिबिम्बबोधक शास्त्रका तात्पर्य है—यह अर्थ है। ऐसा होनेपर ही दोनोंका अर्थात् उपमान-उपमेयका साधर्म्य सङ्गत हो सकता है। बात यह है कि *'अम्बुवत् ग्रहणात्तु'* इत्यादि पूर्व सूत्रमें सूर्य-प्रतिबिम्बके दृष्टान्तानुसार बोधित जीव-ब्रह्मके मुख्य बिम्ब-प्रतिबिम्ब (सादृश्य) भावका निराकरण हुआ था, फिर भी कथित बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावके सामञ्जस्यकी रक्षाके

लिए कुछ (वृद्धि ह्रासादिक) साधर्म्यको लेकर तद्भावका (गौण सादृश्यका) वर्णन किया जाता है। इस साधर्म्यको इस प्रकारसे जानना चाहिये—जिस प्रकार सूर्य वृद्धिभाक् (बृहद् वस्तु) अर्थात् स्वरूपतः प्रकाण्डदेह होकर जलादिमें प्रतिबिम्बित होनेपर भी जलादि उपाधि धर्मके साथ संपृक्त नहीं होता, स्वतन्त्र ही रहता है और उसकी प्रतिबिम्बित समस्त सूर्यमूर्त्तियाँ—सूर्यकी आकृतियाँ ह्रासभागी (क्षुद्र) होती हैं तथा जलादि उपाधिके कम्पनादि धर्मसे युक्त संयोग प्राप्त करानेवाली और उपाधिके अधीन परतन्त्र होती हैं, इसी प्रकारसे परमात्मा विभु-परिमाण, प्रकृतिके धर्म—उत्पत्ति-नाशादिके साथ सम्पर्करहित और परम स्वतन्त्र हैं और उन्हीं परमात्माके अंश जीव चैतन्य हैं, किन्तु वे अणु परिमाण, प्रकृतिके धर्म सुख-दुःखादि धर्मोंसे युक्त और पराधीन अर्थात् ईश्वराधीन कर्मफलयुक्त हैं। अतएव यह जो उपमा है, उसकी उपपत्तिको बिम्बसे प्रतिबिम्बके भिन्नत्व, बिम्बाधीनत्व और बिम्ब सादृश्यरूप धर्म द्वारा ही जानना चाहिये, इसके अतिरिक्त भिन्न जलादि उपाधिमें और अविद्यामें प्रतिफलित रूपाभासस्वरूप धर्मके द्वारा इस उपमाकी सिद्धि नहीं मानी जा सकती। अतएव जीव निरुपाधि प्रतिबिम्बस्वरूप है—यह बात पैङ्गी-श्रुति कहती है। प्रतिबिम्ब दो प्रकारके हैं—सोपाधि और निरुपाधि। इनमें जीव ईश्वरका निरुपाधि प्रतिबिम्ब है, जैसे कि इन्द्रधनुष सूर्यका निरुपाधि प्रतिबिम्ब है॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—वृद्धीति। अयं सूर्यकादिवदित्येषः। उपलक्षणमिति। उपाधिधर्म-योगायोगयोः स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययोश्चेदमुपलक्षणमित्यर्थः। एतस्मिन्निति। वृद्धिह्रासादिभाक्त्वांशे इत्यर्थः। एवं सतीति। वृद्धिह्रासादिकृतेन साधर्म्येण शास्त्रतात्पर्यसमापने सति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सङ्गतेर्गौणवृत्त्यैव शास्त्रप्रवृत्तिरित्यर्थः। उक्तार्थं विशदयितुमाह अयमित्यादि। सोपाधिरिति। ईशस्यानुपाधिः प्रतिबिम्बो जीव इत्यन्वयः। वाराहे चैवमुक्तम्—*"द्विरूपावंशकौ तस्य परमस्य हरेर्विभोः। प्रतिबिम्बांशकश्चाथ स्वरूपांशक एव च। प्रतिबिम्बांशका जीवाः प्रादुर्भूताः परे स्मृताः। प्रतिबिम्बे स्वल्पसाम्यं स्वरूपाणीतरानि च"* इति। स्वरूपांशको मत्स्यकूर्मादिः॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार—वृद्धि इत्यादि सूत्रमें *'अयं दृष्टान्त'* इति में 'अयम्'—सूर्य-प्रतिबिम्बादिके समान। *'उपलक्षणमेतत्'* इति उपाधिका योग एवं अयोग, स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यका भी यह प्रतिपादक है—यह अर्थ है।

'एतस्मिन्नवांशे' इति 'एतस्मिन्' अर्थात् वृद्धि-ह्रास-भागित्वरूप अंशमें। *'एवं सत्युभयसामञ्जस्यात्'* इति—एवं अर्थात् इस प्रकारसे अर्थात् वृद्धि-ह्रासादि रूप साधर्म्य द्वारा शास्त्र तात्पर्य सिद्धान्तित होनेपर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों पदार्थोंकी सङ्गति होती है—इसलिए गौणी लक्षणा द्वारा ही शास्त्रारम्भ है—यही अर्थ है। इसी अर्थको विशद करनेके लिए—*'अयं भावः'* इत्यादि ग्रन्थ कहते हैं। *'सोपाधिरनुपाधिश्चेति'*—जीव ईश्वरका उपाधिशून्य प्रतिबिम्ब है—यह अन्वय है। वराहपुराणमें भी इसी प्रकारसे कहा गया है—द्विरूपावंशकौ—इत्यादि उन परमेश्वर विभु श्रीहरिके दो प्रकारके अंश हैं—एक प्रतिबिम्बांश और दूसरा स्वरूपांश। इनमें प्रतिबिम्बांश जीव है और स्वरूपांश मत्स्य, कूर्मादि अवतारोंके रूपमें वर्णित हुए हैं। प्रभेद यह है कि प्रतिबिम्ब अंशमें साम्य अल्पमात्र है, दूसरे उनका स्वरूपांश हैं—इसमें पूर्ण वैभव है। स्वरूपांश कहनेपर मत्स्यकूर्मादि अवतार जानने चाहिये॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब प्रतिबिम्ब-प्रतिपादक शास्त्रकी सङ्गति दिखाते हुए सूत्रकार पूर्वपक्षीके मतको प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि प्रतिबिम्ब शास्त्रमें मुख्यवृत्तिके द्वारा यह दृष्टान्त प्रयोजित नहीं है, गौणवृत्तिमें ही यह प्रयुक्त है। वृद्धि-ह्रास अंशमें ही इस साधर्म्यका तात्पर्य है। इस तात्पर्यको स्वीकार करनेपर ही उपमान और उपमेयकी साधर्म्यरूप सङ्गति रहती है। जीव कभी भी बिम्बस्वरूप नहीं हो सकता।

भाष्यकारकी व्याख्यामें देखा जाता है कि सूर्य वृद्धिविशिष्ट अर्थात् बृहत्-वस्तु है, इसलिए जलादि उपाधिके धर्मके साथ असम्पृक्त है, जलमें उसका संयोग कैसे हो सकता है। विशेष रूपसे मूल सूर्य स्वतन्त्र है, किन्तु प्रतिबिम्बित सूर्य ह्रासविशिष्ट अर्थात् क्षुद्र एवं परतन्त्र है, इसलिए उपाधिके साथ युक्त है, अर्थात् जलके कम्पनादिमें उसके भी कम्पनादि हैं, किन्तु मूल सूर्यमें ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार परमात्मा विभु हैं, इसी कारण प्रकृतिके धर्मके साथ वे सम्पृक्त नहीं होते, विशेष रूपसे वे स्वतन्त्र हैं। जब कि परमात्माके अंशभूत जीव अणु-चैतन्यरूप प्रकृतिके धर्मके साथ युक्त हैं। कारण वे परतन्त्र हैं। अतएव तद्भिन्नत्व, तदधीनत्व इत्यादि सादृश्योंके द्वारा इस प्रकारकी उपमा सिद्ध हो सकती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः॥

(श्रीमद्भा० ३/७/११)

जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके कम्पनादि आकाश स्थित चन्द्रमाके नहीं होते, जलके होते हैं, उसी प्रकार शुद्ध जीवात्मामें अनात्म गुण शोक, मोहादि न रहनेपर भी देहाभिमानी (बद्ध) जीवमें ही देखे जाते हैं।

इस श्लोकको टीकामें श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—

'यथा जले इति—तत्कृतः जलोपाधिकृतः कम्पादिश्चन्द्रस्य प्रतीयते वस्तुतस्तु न स चन्द्रस्य किन्तु जलस्यैव। अयमर्थः—जले यश्चन्द्रो दृश्यते स हि चन्द्रमण्डलस्य किरणपुञ्ज एव न तु चन्द्रः। तथाहि चन्द्रसूर्यादिकिरणः जलस्थवृक्षभित्तिपाषाणादिषु प्रसर्पन्नपि तेषु मध्ये यत् स्वच्छं तत्र लोकैः स प्रतिबिम्बतयोच्यते। चन्द्रो हि मुखनासिकाहस्तपादादि-भूषणवाहनादि-परिकरविशिष्टत्वेनैव तत्रत्य जनैरनुभूयते। स हि भगवद्दृष्टान्तः। स एव स्व-स्वरूपभूत-किरणपुञ्जव्याप्तञ्च किञ्चिदन्तिकस्थैः किञ्चिद्दूरस्थैश्च किञ्चिद्विशेषत्वेन निर्विशेषत्वेन चानुभूयमानः क्रमेण परमात्मदृष्टान्तो ब्रह्मदृष्टान्तश्च ज्ञेयः, तद्बहिर्भूतकिरणपुञ्जस्तु मण्डलाकारसमष्टिजीवदृष्टान्तः तत्प्रतिबिम्बो जले दृश्यते। स प्रतिबिम्बत्वेन प्रतीयते मात्रं न तु वस्तुतः प्रतिबिम्बस्तत्र जलेऽपि किरणपुञ्जस्य सत्यसयैव दृश्यमानत्वादतः स एव जलोपाधिवर्त्ती जलधर्मैः कम्पादिभिर्यथान्वितस्तथैवान्तःकरणधर्मैः शोक-मोहादिभिरन्वितो जीवस्तदध्यासात् तदितस्ततः प्रसृमराः किरणास्तु व्यष्टिजीवदृष्टान्ता ज्ञेया इति।'

अर्थात् जिस प्रकार जलमें तत्कृत अर्थात् जलके उपाधिकृत कम्पनादि चन्द्रके भी प्रतीत होते हैं, वस्तुतः वे कम्पनादि चन्द्रके नहीं हैं, जलके ही हैं और जलमें जो चन्द्रमा दिखायी देता है, वह चन्द्रमण्डलका किरण-पुञ्ज ही है, चन्द्र नहीं। इस प्रकार चन्द्र एवं सूर्यादिकी किरणें जल, स्थल, वृक्ष, भित्ति, पाषाणादिमें प्रसूत (उत्पन्न) होनेपर भी इनमें जो स्वच्छ हैं, वहीं पर ही उसे प्रतिबिम्ब रूपमें कहते

हैं, वहाँ चन्द्रमण्डलस्थ लोग मुख, नासिका, हस्त, पादादि, भूषण, वाहनादि, परिकर-विशिष्टत्व रूपमें ही उस चन्द्रका अनुभव करते हैं। ऐसा ही श्रीभगवान्‌का दृष्टान्त है। ये भगवान् भी स्व-स्वरूपभूत किरणपुञ्जके द्वारा व्याप्त हैं। कुछ समीपस्थ, कुछ दूरस्थ (भक्त) जनोंके द्वारा किञ्चित् विशेषत्व रूपमें और निर्विशेष रूपमें अनुभूयमान होनेसे क्रमशः परमात्म दृष्टान्त और ब्रह्म दृष्टान्त जानना होगा, किन्तु उनका बहिर्भूत किरण-पुञ्ज, मण्डलाकार-समष्टि जीवका दृष्टान्त है। प्रतिबिम्ब जो जलमें दीखता है, वह प्रतिबिम्ब रूपमें मात्र प्रतीत होता है, वह वस्तुतः प्रतिबिम्ब नहीं है। जलमें सत्य किरण-पुञ्ज दृश्यमान होनेसे जलके उपाधिवर्त्ती जलधर्म कम्पनादि द्वारा वह प्रतिबिम्ब जिस प्रकार युक्त होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणके अध्यासके कारण भी जीव शोक, मोहादि धर्मोंके द्वारा युक्त होता है। चारों दिशाओंमें प्रसरणशील किरणें व्यष्टि जीवका दृष्टान्त हैं—यह जानना चाहिये।

कठोपनिषदमें कहा है-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तया सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठ॰ २/२/९)

अर्थात् जिस प्रकार एक ही अग्नि इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक दाह्यवस्तुमें अवस्थित है और उस दाह्यवस्तके अनुसार प्रतीत होती है, उसी प्रकार परमेश्वर भी एक होकर भी इस जगत्‌में प्रत्येक जीवके देहमें प्रविष्ट होकर देहानुरूपमें प्रतीत होते हैं और बाहर भी वे अपने पूर्णस्वरूपमें ब्रह्मण्डमें एवं तदतीत प्रदेशमें भी विराजमान हैं, परमात्म-स्वरूपको उनका प्रकाश मात्र जानना चाहिये। इसी प्रकार कठोपनिषदमें (२/२/१०) भी द्रष्टव्य है॥ २०॥

सूत्र—दर्शनाच्च॥ २१॥

सूत्रार्थ—दर्शनात्—विवक्षित साधर्म्यांशको लेकर लौकिक प्रयोग भी देखे जाते हैं, 'च' इस कारण भी सङ्गति है॥ २१॥

सूत्रानुवाद—अभिप्रेत अंशमात्र सादृश्यके आधारपर लौकिक दृष्टान्त भी देखे जाते हैं॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—सिंहो देवदत्त इत्यादयः प्रयोगा विवक्षितसाधर्म्यांशमाश्रित्य लोके प्रवृत्ता दृश्यन्ते। तस्माच्च गौण्यैव वृत्त्या शास्त्रसङ्गतिरिति भावः॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'सिंहो देवदत्तः'* कहनेपर सर्वांशमें देवदत्तमें सिंहकी समानता न रहनेपर भी विवक्षित तेजस्वितारूप साधर्म्यके द्वारा उपमान-उपमेय भाव लौकिक प्रयोगमें भी देखा जाता है। अतएव गौणीवृत्तिके द्वारा ही शास्त्र सङ्गति है, यही अभिप्राय है॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—न चाप्रयुक्तत्वं दोष इत्याह दर्शनाच्चेति। दार्शनिकैरालङ्कारिकैश्च गौर्वाहीकः सिंहो माणवक इत्यादिकं विवक्षितगुणयोगेनैव प्रयुज्यते तथात्रापीति न किञ्चिदवद्यम्॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार— *'न चेति'*—इसके (विवक्षित अंशका आश्रय करके प्रयोगके) अभावरूप-अप्रयुक्तत्व दोष नहीं है—इसी पूर्वपक्षीके मतको सूत्रकार *'दर्शनाच्च'* सूत्रमें दिखाते हैं—दार्शनिकगण एवं आलङ्कारिकगण *'गौर्वाहीकः'* अर्थात् 'किसान ही बैल है', *'सिंहोमानवकः'*—'यह ब्राह्मण वटु ही सिंह है' इत्यादि प्रयोग जिस प्रकार विवक्षित धर्मको लेकर किये जाते हैं; उसी प्रकार प्राकृत (प्रकरणगत) स्थलपर भी जानना चाहिये। अतः कुछ भी दोषावह नहीं है॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षीके अभिप्रायको लेकर सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें लौकिक दृष्टान्तमें साधर्म्यांशमें जो सङ्गति है, वही कहते हैं।

जिस प्रकार लोकमें दार्शनिक कहते हैं—*गौर्वाहीकः*—'यह किसान ही बैल है' और आलङ्कारिकगण कहते हैं— *'सिंहो माणवकः'*—यह ब्राह्मण बटु सिंह है इत्यादि। इन प्रयोगोंमें विवक्षित धर्मको ही लिया जाता है। इसी प्रकार 'देवदत्त सिंह' इस कथनमें देवदत्त सर्वांशमें सिंहके समान न होनेपर भी तेजस्वितारूप साधर्म्य अंशमें प्रयुक्त होनेसे ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार इस स्थलपर भी गौणीवृत्ति द्वारा ही शास्त्र-सङ्गतिको जानना चाहिये।

अतएव दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें सर्वथा साम्यका अभाव होनेपर भी कुछ अंशोंमें साधर्म्य होनेसे ऐसी उपमाएँ दी जा सकती हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
(श्रीमद्भा० १०/९/१३)

अर्थात् सर्वव्यापक होनेके कारण जिनमें न बाहर है और न भीतर, न आदि है, न अन्त, जो जगत्से पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे जो सर्वकाल एक ही स्वरूपमें नित्य विराजमान रहते हैं, जो जगत्के कार्य और कारण हैं, एवं जगत्-स्वरूप हैं॥ २१॥

अवतरणिका भाष्य—ननु नैतदुपपद्यते परमात्मवच्चेतनो जीव इति किन्तु तदाभास एव सः। बृहदारण्यके द्वे वावेत्यादिना तदन्यवस्तुमात्रप्रतिषेधात्। तथाहि *"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च"* (बृ०आ० २/३/१) इत्युपक्रम्य द्वैराश्येन विभक्तानि पञ्चभूतानि ब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य *"तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तैव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद"* (बृ०आ० २/३/६) इत्यनेन पुनः पुरुषशब्दोदितस्य तस्य माहारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वेदमाम्नायते। *"अथात आदेशो नेति नेति। न ह्येतस्मादिति। नेत्यन्यत् परमस्ति। अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्"* (बृ०आ० २/३/६) इति। अस्यार्थः—अथ सप्रपञ्चमूर्त्तामूर्त्तादिरूपनिरूपणानन्तरं यस्मात् तत्परिज्ञानान्निरतिशयं श्रेयो नास्ति अतो नेति नेतीत्यादेशः। नेति नेतीत्युपदेश्यमानं ब्रह्मैव बोध्यमित्यर्थः। तत्र वासनाराशिभूतराश्योर्जडचेतनयोर्वा तदन्ययोः प्रतिषेधाय वीप्सा। आदेशार्थमेवाह न हीति। एतस्माद्ब्रक्षणोऽन्यन्न ह्यस्तीति नेतीत्युच्यते। ननु प्रपञ्चवद्ब्रह्मापि न स्यात्। नेत्याह। अन्यद्दृश्यात् प्रपञ्चाद्विलक्षणं परं सर्वभ्रमावधिभूतं सन्मात्रं ब्रह्मस्वरूपमस्तीति। तथाच। नेतीति ब्रह्मान्यवस्तुमात्रनिषेधात्तस्माद्भिन्नस्तद्वच्चेतनश्च जीव इति नोपयुक्ता भणितिरपि तु ब्रह्मैवाविद्यायां प्रतिबिम्बितं जीवरूपमिति युज्यते। यत्तु जीवपरौ द्वावात्मानौ भवतः तयोर्भेदे कारणमणुत्वविभुत्वादि धर्मजातमित्युक्तं तत् किल घटाकाश-महाकाशगतमल्पत्वविभुत्वादिकमिव तयोर्भेदाय नालं कल्पितत्वादिति चेत्तत्राह।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि आप (सिद्धान्ती) जो यह कह रहे हैं कि जीव परमात्माके समान चेतन वस्तु है—तो यह युक्तियुक्त नहीं हो सकता। तब क्या? जीव परमात्माका आभास-प्रतिबिम्ब है अर्थात् जीव चिदाभासमात्र (चेतनाभासमात्र) ही है, क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषदमें *'द्वे वाव'* इत्यादि श्रुति द्वारा ब्रह्मसे इतर किसी

वस्तु मात्रका प्रतिषेध किया गया है। वहाँ श्रुति कहती है—*'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च'* (बृ॰आ॰ २/३/१) इत्यादि—ब्रह्मके दो रूप हैं। इनमें एक मूर्त्त-चाक्षुष (भूतमय) रूप है और दूसरा अमूर्त्त अर्थात् अचाक्षुष (इच्छामय) रूप है—इस प्रकारसे उपक्रम (आरम्भ) करके पञ्चभूतको दो भागोंमें विभक्त किया गया है। इन दोनोंको ही ब्रह्मका रूप मानकर कहते हैं—उन परम पुरुषका (परमात्माका) रूप इस प्रकारका है जैसे दिव्य हरिद्रा द्वारा रञ्जित (हल्दीसे रङ्गा हुआ) वस्त्र हो, अथवा जैसे पाण्डु एवं हरित वर्णका मेषादिलोमजात (ऊनी) वस्त्र हो अथवा जैसे अव्यक्त रक्तवर्ण इन्द्रगोप नामक कीट विशेष हो अथवा अग्नि-अर्चि (शिखा) वर्ण हो, अथवा शुक्ल पद्म (श्वेत कमल-पुण्डरीक) हो अथवा एक बार उदित विद्युत वर्ण अर्थात् विद्युतका प्रकाशन हो—इस प्रकार ये सब उन पुरुषकी श्री है अर्थात् नाना रूप हैं—यह जो जानता है। इस तरह पुरुष शब्द वाच्य परमेश्वरका माहारजनादि (हरिद्रा-रञ्जित अम्बर इत्यादि) रूपोंका वर्णन करके श्रुति कहती है—*'अथात आदेशो नेति नेति'* (बृ॰आ॰ २/३/६)—उसके बाद सप्रपञ्च मूर्त्तामूर्त्तादि रूपोंका निरूपण करनेके बाद—क्योंकि इस सबके परिज्ञानसे निरतिशय श्रेयःकी प्राप्ति नहीं होती, अतएव नेति नेत्यादेशः—यह नहीं है, यह नहीं है का आदेश (कथन) है। 'नेति नेति' से उपदिश्यमान (अवशिष्यमाण पदार्थ) ब्रह्म ही बोध्य (जाननेका विषय) हैं, *'न ह्येतस्मात् नेत्यन्यत् परमस्ति'* (बृ॰आ॰ २/३/६) अर्थात् उनसे अतिरिक्त द्वितीय दूसरा कुछ भी नहीं है। *'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्'* इति अर्थात् उनका नाम सत्यका सत्य है अर्थात् प्राण ही सत्य है, उसका सत्यांश ये ब्रह्म हैं। इस श्रुतिका अर्थ—*'अथात आदेशो नेति नेति'*—अथ अर्थात् विश्व-प्रपञ्चके साथ मूर्त्त-अमूर्त्तादि रूप निरूपणके बाद, अतः—क्योंकि इस रूप परिज्ञानसे निरतिशय (सर्वाधिक) श्रेय नहीं होता, इसलिए नेति नेति द्वारा उपदिश्यमान (उपदेशकी विषयीभूत) वस्तु ही ब्रह्म हैं—यह जानना चाहिये। यही इस श्रुतिका तात्पर्य है। इसमें वासनाराशि एवं भूतराशि अथवा जड़ और चेतन—इन दो पदार्थोंसे अन्य पदार्थद्वयके प्रतिषेधके लिए 'नेति नेति' वीप्सा (दो बार कहना) प्रयुक्त है। इत्यादेशः—आदेश शब्दका अर्थ कहते हैं—इन

ब्रह्मसे अन्य कोई भी नहीं है—यह प्रथम नेति द्वारा कहा गया है। यदि कहो, प्रपञ्चके समान ब्रह्मका भी अस्तित्व न रहे, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, ऐसा नहीं है क्योंकि ब्रह्म दृश्यमान विश्व प्रपञ्चसे विलक्षण (पृथग्भूत) वस्तु हैं। यह समस्त वस्तुभ्रमकी अवधि है अर्थात् जिस अधिष्ठान (आधार) पर भ्रम हो रहा है, वह तो सत्स्वरूप ब्रह्मरूप पदार्थ है। पूर्वपक्षी आपत्ति करते हैं कि नेति शब्दका अर्थ ब्रह्म भिन्न अतिरिक्त किसी वस्तुमात्रको निषेध है फिर भी उनसे भिन्न जीव उन्हींके समान चेतन है—यह तो युक्तियुक्त नहीं कह रहे हो। तब क्या कहें? अरे भाई! ब्रह्म ही अविद्यामें प्रतिबिम्बित जीवरूप आभास है—यह मत युक्तियुक्त है। तब जो श्रुतिमें कहा गया है कि जीव और परमात्मा—ये दो पृथक् आत्मा हैं—इनके परस्पर भेदक धर्म हैं—परमेश्वरका विभुत्व एवं जीवका अणुत्व इत्यादि; इसकी सङ्गति कैसे होगी तो वह भी बतलाते हैं—घटाकाश और महाकाशके समान उन दोनोंमें अल्पत्व और विभुत्व इत्यादि भेदक धर्म कल्पित हैं, यथार्थमें भेद कारण नहीं है, इसी प्रकारसे विभुत्व और अणुत्व—ब्रह्म एवं जीवके भेद बोधनमें समर्थ हो सकते हैं तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह भेद कल्पित है। इस पूर्वपक्षीके मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—आशङ्कते नन्विति। तदाभासश्चिदाभासः। द्वे वावेति। वावेति निपातसमुदायो निरर्थकः। तेजोऽवन्नात्मकं भूतत्रयं स्थूलावयवं चाक्षुषं मूर्त्तं वियद्वायुरूपं भूतद्वयं सूक्ष्मावयवमचाक्षुषममूर्त्तम्। उपलक्षणमेतत् ब्रह्माण्डकोटीनाम्। एवं प्राकृतं रूपं सुवर्ण्याथा प्राकृतमाह यथेति। महारजनी दिव्या हरिद्रा तया रक्तं माहारजनम्। वासो वस्त्रम्। पाण्ड्वाविकं पाण्डु हरितञ्च तदाविकमूर्णाभवञ्चेति। तथा इन्द्रगोपोऽत्यरुणः कीटविशेषः। पुण्डरीकं शुक्लं कमलम्। सकृदेकदैवोदिता विद्युत् सौदामिनी एतानि माहारजनादीनि वासांसि यद्वाससां कथञ्चिदुपमानानि भवन्तीत्युक्तं यथा शब्दात्। तत्र माहारजनोपमानमुपमेयस्य कौङ्कुमत्वं बोधयति। सर्वाणि तानि दिव्यानि। कटकमुकुटादीनां कौस्तुभहारस्रजां चोपलक्षणानीति सिद्धान्तगतोऽर्थो व्याख्यातः। पूर्वपक्षार्थस्तु भाष्यकृद्भिरेव विवृतोऽस्ति। तत्र तस्य हैतस्य पुरुषस्येत्यत्र तु तस्य कारणात्मकलिङ्गशरीररूपस्य हिरण्यगर्भस्य पुरुषस्य वासनामयानि स्वाप्नरूपाणि माहारजनादिशब्दैर्बोध्यानीति व्याख्येयम्। अथात इत्यादेः पूर्वपक्षार्थः। सिद्धान्तार्थश्च भाष्ये द्रष्टव्यः। पूर्वपक्षे आदेशवाक्यार्थमाह

अस्यार्थ इति। तदन्ययोर्ब्रह्मभिन्नयोः। आदेशार्थमेवाहेत्यत्र श्रुतिरिति बोध्यम्। न हीति। एतस्माद्ब्रह्मणोऽन्यद्भूतराश्यादिरूपं वस्तु न ह्यस्तीति प्रथमनेतिना यदुक्तं तदेव पुनर्दृढतार्थं द्वितीयनेतिना गद्यत इत्यर्थः। ननु मिथो विरुद्धैरणुत्वविभुत्वाद्यैर्नित्यैर्धर्मैजीवेशयोः पुरा भेदोऽभिहितः स कथं त्वया विस्मृत इति चेत्तत्राह यत्त्विति। तयोरिति। जीवेश्वरयोरित्यर्थः। भेदाय भेदं प्रतिपादयितुं नालं न समर्थमित्यर्थः। एवं प्राप्ते निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'ननु'* इत्यादि वाक्य द्वारा आशङ्का करते हैं—*'तदाभास एवेति'*—*'तदाभासः'*—चिदाभास जीव। *'द्वे वावेत्यादि'* श्रुतिका अर्थ है—'वाव'—इस युग्म निपातका कोई अर्थ नहीं है। मूर्त्तरूप अर्थात् अग्नि, जल और अन्न स्वरूप—तीन भूत—जो कि स्थूलावयव—चक्षु-ग्राह्यरूप हैं और अमूर्त्तरूप आकाश-वायु स्वरूप दो भूत—जो कि सूक्ष्मावयव हैं—चक्षुः ग्राह्य नहीं—वही। मात्र इतना ही ब्रह्मका रूप नहीं है, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको भी उनका रूप जानना चाहिये। इस प्राकृत रूपका विशद रूपसे (विस्तारपूर्वक) वर्णन करके अब इसके बाद अप्राकृत (वास्तव) रूप कहते हैं—यथेत्यादि ग्रन्थ द्वारा। यथा माहारजनं-महारजनी-दिव्य हरिद्रा—उसके द्वारा रञ्जित, वासः—वस्त्र। पाण्डवाविकम् *'पाण्डाविकम्'*—पाण्डु-हरित वर्ण इस प्रकारका-मेषादिलोमजात वस्त्र, इसी प्रकारसे 'इन्द्रगोप' इसका अर्थ है—अत्यधिक रक्तवर्ण एकजातीय कीट। पुण्डरीकं-श्वेत पद्म, सकृद्विद्युत 'सकृत्' मात्र एक बार आविर्भूत विद्युतका अर्थात् सौदामिनीका प्रकाश। ये सब माहारजनादि वस्त्र और जो भी वस्त्रके उपमान हो सकते हैं; वे भी—यह 'यथा' शब्दके द्वारा कहा गया है। इनमें माहारजन वस्त्र—यह उपमान पद उपमेय वस्तुके कुङ्कुमरञ्जित्वको सूचित करता है। इन समस्त वस्त्रको दिव्य जानना चाहिये। मात्र इतना ही नहीं, कटक (हस्ताभरण), मुकुट इत्यादि, कौस्तुभहार और वनमाला भी जान लेना चाहिये। इस समस्त वर्णनके द्वारा सिद्धान्त पक्षमें उक्त श्रुतिके अर्थकी व्याख्या हुई। पुनः पूर्वपक्षी सम्मत अर्थ भाष्यकार द्वारा विवृत हुआ है। उस पक्षमें *'तस्य हैतस्य पुरुषस्य'* इत्यादि श्रुतिके अन्तर्गत 'तस्य' पदका अर्थ कारणस्वरूप लिङ्गशरीरधारी हिरण्यगर्भ पुरुषके स्वप्न (निद्रा) कालीन संस्कारमय रूपसमूह माहारञ्जनादि

शब्दोंके द्वारा ज्ञेय है—इस प्रकार व्याख्या करनी होगी। यह *'अथात आदेशो नेति नेति'*—इस श्रुतिका पूर्वपक्ष-सम्मत अर्थ है। सिद्धान्तपक्षीय अर्थ भाष्यमें ही देखना चाहिये। पूर्वपक्षमें आदेश वाक्यार्थ बतला रहे हैं। *'अस्यार्थः'*—इसके द्वारा। तदन्ययोः *'प्रतिषेधयेति'* में 'तदन्ययोः' का अर्थ है—ब्रह्मसे भिन्न जड़ और चेतनका। *'अथाच आदेश'* इसके अन्तर्गत आदेश शब्दका अर्थ है—'आह'—अर्थात् श्रुतिने कहा है—यह जानना चाहिये। *'न हीति'*—उन ब्रह्मसे भिन्न भूतराशि, वासनाराशि इत्यादि कोई वस्तु नहीं है—यह अर्थ प्रथम 'नेति' शब्द द्वारा बोधित होता है। इस उक्तिको पुनः दृढ़ करनेके लिए द्वितीय 'नेति' शब्द कहा गया है—यही 'नेति नेति' वाक्यका अर्थ है। अब प्रश्न यह है कि इससे पूर्व ही अणुत्व-विभुत्व इत्यादि नित्य विरुद्ध धर्मों द्वारा जीव और परमात्माका भेद तो निरूपित हो गया था, वह तुम कैसे भूल गये? यह यदि कहते तो इसपर कहते हैं *'यत्तु जीवपरौ द्वावात्मानौ'* इत्यादि। *'तयोर्भेदाय नालम्'*—तयोः अर्थात् जीव तथा परमात्माका। 'भेदाय'—भेद प्रतिपादन करनेमें 'नालम्'—समर्थ नहीं है—यह अर्थ है। 'एवं प्राप्ते' इति—इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतका सिद्धान्ती सूत्रकार खण्डन करते हैं—प्रकृतेत्यादि ... सूत्रमें।

प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम्

सूत्र—प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः॥ २२॥

सूत्रार्थ—'प्रकृतैतावत्त्वम्'—द्वे वाव इत्यादि श्रुति द्वारा मूर्त्त, अमूर्त्तादि जो समस्त रूप प्रक्रान्त हुए हैं, उनके द्वारा ब्रह्मकी जो इयत्ता निर्धारित हुई है (परब्रह्मकी परिच्छिन्नता) उसीका प्रत्याख्यान करती है, 'प्रतिषेधति' इससे भिन्न ब्रह्मके वास्तव रूप 'अथातो' इत्यादि श्रुतिका प्रत्याख्यान नहीं करती 'हि ततो' समस्त मूर्त्तामूर्त्तादि रूपके प्रतिषेधके बाद फिरसे 'भूयः'—प्रचुर, 'ब्रवीति च'—श्रुति ब्रह्मके (प्रचुर) सत्य नामादि रूपका वर्णन करती है॥ २२॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मको जो मूर्त्तामूर्त्तादि विशिष्ट प्रकारका बतलाया जाता है, उस इयत्ताका ही 'नेति नेति' द्वारा प्रतिषेध है। वास्तवमें तो उन

ब्रह्मके नाम, रूप और गुणोंकी इति-इयत्ता नहीं है—यह 'नेति, नेति' का प्रकृत तात्पर्य है॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—न ह्येषा श्रुतिनिर्विशेषमेकमेव ब्रह्मेति प्रतिपादयन्ती तदन्यद्वस्तुमात्रं प्रतिषेधति। किं तर्हि रूपविशिष्टं तद्-ब्रुवन्ती प्रकृतैतावत्वं प्रतिषेधति। द्वे वावेत्यादिना यानि रूपाणि मूर्त्तामूर्त्तादीनि प्रकृतानि तैर्यद्ब्रह्मण एतावत्वमियत्ता तत् प्रत्याख्याति न तु प्रकृतानि रूपाणीति। ततः प्रतिषेधानन्तरं भूयः प्रचुरं तस्य सत्यनामादिकं रूपं ब्रवीति च। ततश्चायमादेशवाक्यार्थः। अथ मूर्त्तादिरूपनिरूपणानन्तरम् यस्मादपरिमितरूपं ब्रह्म अतो नेति नेतीत्यादेशः। इति शब्दस्य समाप्त्यर्थकत्वात्। इति न पूर्वोक्तमूर्त्तादिलक्षणमियत्तावदेव ब्रह्मणो रूपं नेत्यर्थः। किन्तु नेति स सत्यनामादिकमनियद्रूपमस्तीति। एतमर्थं श्रुतिरेव व्याचष्टे। न ह्येतस्मादित्यादिना। अस्यार्थः। एतस्मान्मूर्त्तादिलक्षणाद्रूपात् परमन्यत् सत्यनामादिरूपम् इति इयदेव न वाच्यम्। किं तर्हि। नेति। तेन रूपान्तराणामुपलक्षणादनियदेव तद्वाच्यमित्यर्थः। तदेव दिक्प्रदर्शनार्थमाह। अथ नामधेयमिति। सत्यस्य सत्यमिति। यन्नाम तच्च ब्रह्मणो रूपं ब्रवीति। तस्य निरुक्तिः प्राणो वै सत्यमिति। (बृ॰आ॰ २/१/२०) प्राणाः प्राणिनः। रूपाण्यत्र विशेषाः। इह हि प्राकृताप्राकृतानन्तविशेषणवैशिष्ट्यं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते। न तु तदन्यत् वस्तुमात्रं प्रतिषिध्यते। तत्र मूर्त्तामूर्त्तानि रूपाणि प्राकृतानि। माहारजनादीनि त्वप्राकृतानीति बोध्यम्। प्राणशब्दितानां जीवानां सत्यशब्दवाच्यत्वम्। खादिवत् स्वरूपान्यथाभावात्मकपरिणामाभावात् तेभ्योऽपि ब्रह्मणोऽपि सत्यत्वं तद्वजज्ञानसङ्कोचविकाशात्मकस्य परिणामस्य तस्मिन्नभावात्। तस्मान्नित्य-चैतन्यात्मको जीवस्तद्विलक्षणोऽनन्तकल्याणगुणगणः परमात्मेत्युपपन्ना तस्मिन् भक्तिरिति। इह रूपमात्रनिषेधे श्रुत्यभिमते सति माहारजनादिसदृशं रूपमलोकसिद्धं स्वयमुपदिश्य पुनर्निषेधकारिण्यास्तस्या उन्मत्तप्रलपितापत्तिः। सूत्रकारोऽप्येतावत्त्वमिति प्रयुञ्जानोऽसमीक्ष्य-कारितायै कल्प्येत। एतद्रूपं प्रतिषेधतीत्येव सूत्रयेत्। तस्माद्यथोक्तमेव साधीयः॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'अथात आदेश'* इत्यादि श्रुति एकमात्र निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करके उनसे भिन्न (ब्रह्मेतर) अन्य पदार्थ अथवा वस्तुका प्रतिषेध नहीं करती, तब क्या कहती है? रूपविशिष्ट ब्रह्मका वर्णन करते हुए 'द्वे वाव' इत्यादि श्रुति द्वारा प्रकान्त मूर्त्तामूर्त्तादि रूपका प्रत्याख्यान (प्रतिषेध) करती हैं—ब्रह्ममें जो सब मूर्त्त-अमूर्त्तादि रूप पहले कहे गये हैं, उस वर्णनमें दो संख्याके द्वारा जो ब्रह्मकी सीमा निर्धारित करते हैं, उस एतावत्त्वका अर्थात सीमा (इयत्ताका) प्रत्याख्यान करती है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मके प्रकृत (वास्तव) रूपोंका प्रत्याख्यान नहीं करती। सूत्रार्थ है—यथा 'ततः'—उस प्रतिषेधके पश्चात् भी भूयः—

उन ब्रह्मके प्रचुर सत्य, नामादि रूप कहे गये हैं। यही बतला रहे हैं कि ऐसा होनेसे निर्णीत होता है—'अथ' मूर्त्तादि रूपके निरूपणके बाद 'अतः' क्योंकि ब्रह्म अपरिमित रूपसम्पन्न हैं, इसलिए ब्रह्मकी अपरिमितताकी व्याख्याके लिए 'नेति-नेति', 'केवल यही नहीं', 'केवल यही नहीं', ऐसा 'आदेश' उपदेश है। 'इति' शब्दका अर्थ है 'समाप्त'। 'इति न' अर्थात् पूर्वोक्त मूर्त्तादि लक्षण निरूपणके पश्चात् 'जो रूप है' यही पर्याप्त नहीं है बल्कि् सत्यनामादि रूप हैं, इतना मात्र भी नही है—यह द्वितीय 'नेति' द्वारा बोधित है—इस अर्थका ही श्रुति *'न ह्येतस्मात्'* इत्यादिके द्वारा व्याख्या करती है। अभिप्राय यह है कि *'एतस्मात्'*—इस मूर्त्तामूर्त्तादि रूपके अतिरिक्त और भी सत्यनामादि रूप हैं, 'हि' क्योंकि ये ही पर्याप्त हैं, 'न' ऐसा कहना भी मत। तब क्या? 'नेति' अर्थात् सत्य नामक रूप द्वारा सत्यसङ्कल्प-सर्वज्ञत्व-करुणामयत्व इत्यादि रूप बोधित होनेके कारण केवल सत्यनाम रूप ही वक्तव्य हो, ऐसा नहीं है अर्थात् ब्रह्मके नामादि-लक्षणकी भी इयत्ता नहीं है। रूपान्तरके उपलक्षणसे इसे अनियत जानना होगा। इसीके दिग्दर्शनके लिए कहते हैं—*'अथ नामधेयम्'* इति—जिस प्रकार सत्यका सत्य—वे सत्यके सत्य हैं—यह जो सत्य नाम है यह उन ब्रह्मका एक रूप है। यदि कहो नाम और रूप एक किस प्रकारसे हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'यन्नामेति'* जो नाम है, वही ब्रह्मके रूपको प्रकाश करता है। सत्य शब्दकी निरुक्तिको श्रुतिने दिखाया है—*'यथा प्राणो वै सत्यम्'*—प्राण ही सत्य पदार्थ है (बृ॰आ॰ २/१/२०)। प्राण शब्दका अर्थ है 'प्राणीसमूह'। 'रूप' शब्दका अर्थ यहाँ पर 'विशेष' है। इस सूत्रमें यही प्रतिपादित है कि ब्रह्म प्राकृत (प्रकृति-सम्भूत) अप्राकृत (स्वतःसिद्ध) अनन्त-विशेषण विशिष्ट हैं। इनसे भिन्न अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न अतिरिक्त वस्तु मात्र प्रतिषिद्ध नहीं है। इनमें पूर्व-वर्णित मूर्त्तामूर्त्त रूप प्राकृत है और माहारजनादि (जैसे हल्दीसे रङ्गा हुआ वस्त्र हो) रूपको अप्राकृत जानना चाहिये। प्राण शब्दसे अभिहित जीवात्माएँ सत्य शब्दका वाच्य अर्थ हैं अर्थात् प्राण शब्दित जीव ही सत्य शब्द वाच्य है। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार आकाशादि पदार्थोंके स्वरूपका अन्यथाभावात्मक परिणाम है, जीवका वैसा नहीं है। इसलिए जीव समुदाय रूप नित्य

पदार्थसे भी ब्रह्मका नित्यत्व है और जिस प्रकार जीवका ज्ञान–सङ्कोचात्मक तथा ज्ञान–विकासात्मक परिणाम है, ब्रह्ममें उस–उस परिणामका अभाव है। इस प्रकार नित्य चैतन्यस्वरूप जीवसे परमात्मा विलक्षण, अनन्त कल्याण गुण–राशिसे पूर्ण हैं। इसलिए उनमें भक्ति युक्तियुक्त ही है। इस विषयमें भाष्यकार अपना मत दिखाते हैं—ब्रह्ममें रूपमात्रका निषेध ही यदि श्रुतिका अभिमत होतो ब्रह्मके माहारजन वस्त्रादिके समान अलौकिक रूपका स्वयं ही उल्लेख (स्वीकार) करके पुनः उसका निषेध करनेसे श्रुतिके उन्मत्त–प्रलापापत्तिका प्रसङ्ग आ पड़ेगा। सूत्रकार भी 'एतावत्वम्'—शब्दका प्रयोग करके स्वयंको ही असमीक्ष्यकारिता रूप दोषमें परिणत हो पड़ेंगे—जो इस रूपका प्रतिषेध करते हैं, क्या वे इस प्रकारका सूत्र बनाते—क्योंकि *'एतद् रूपं प्रतिषेधति'* इस प्रकारकी सूत्र रचना उन्होंने ही की है। अतएव हमने जैसी व्याख्या की है, वही समीचीन है॥ २२॥

सूक्ष्मा–टीका—प्रकृतेति। न ह्येषेति। एषा अथात आदेश (बृ॰आ॰ २/३/६) इत्याद्या। तद् ब्रह्म। नत्विति। प्रकृतानि रूपाणि न प्रत्याख्यातीत्यर्थः। ततश्चेति। अयमुच्यतानः सिद्धान्तगतो वाक्यार्थः। इतिशब्दस्य समाप्त्यर्थकत्वादिति। इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिष्विति नानार्थवर्गः। मूर्त्तादिलक्षणादित्यत्रादिपदादमूर्त्तादि–सकृद्विद्युत्तान्तं रूपं ग्राह्यम्। तेनेति। तेन सत्यनाम्ना रूपेण, रूपान्तराणां सत्यसङ्कल्पत्वसार्वज्ञ्यकारुण्यादीनां नित्यानन्तविभूतीनां चोपलक्षणात् संग्रहादित्यर्थः। रूपाण्यत्रेति। रूप्यते विशिष्यते एभिरिति व्युत्पत्तेरिति भावः। प्राकृताप्राकृते रूपे विभजति तत्रेति। खादिवत् वियदादिवत्। तेभ्यो जीवेभ्यः। तद्वत् जीववत्। सप्तम्यन्ताद्वतिः। तस्मिन् ब्रह्मणि। तस्मादिति। तद्विलक्षणो विभुत्वादिना। अलोकसिद्धं दिव्यम्। पुनरिति। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति हि न्यायः। मलिनं हि निरस्यं न तु दिव्यम्। सूत्रकारोऽपीति। न च कश्चिद्वैदिकम्मन्यः सर्ववैदिकगुरावीश्वरे तस्मिन् तां सम्भावयितुं शक्नुयादिति भावः॥ २२॥

सूक्ष्मा–सार—*'प्रकृतैतावत्त्वं हि'* इत्यादि सूत्रमें *'न ह्येषाम्'* श्रुतिरिति भाष्यमें *'अथात आदेश'* इत्यादि श्रुति है *'तद् ब्रुवन्ती'* इति में तद्का अर्थ है 'ब्रह्म'। *'न तु प्रकृतानीति'*—अर्थात् प्रकृतरूपका प्रत्याख्यान नहीं किया गया है—क्योंकि उसमें श्रुतिका तात्पर्य ही नहीं है। *'ततश्चायमादेश वाक्यार्थ इति अयम्'* अर्थात् कथ्यमाण सिद्धान्तपक्षीय वाक्यार्थ—इस प्रकारसे। 'नेति' इसके अन्तर्गत इति शब्द यहाँ समाप्ति–अर्थमें प्रयुक्त

है अर्थात् मूर्त्तामूर्त्तादि-स्वरूप रूप ही सीमाबद्ध नहीं है। इति शब्द जो समाप्ति अर्थका बोधक है, इसका प्रमाण अमरकोषमें नानार्थवर्गमें देखा जा सकता है। 'इतीत्यादि'—हेतु, प्रकरण, प्रकाश, आदि पदसे ग्राह्य प्रकार और समाप्ति-अर्थोंका इति शब्द वाचक है। *'पूर्वोक्त मूर्त्तादिलक्षणात्'* यहाँ 'आदि' पदसे ग्राह्य अमूर्त्तसे आरम्भ करके *'सकृद्विद्युतम्'*—तक जितने रूप कहे गये हैं, वे सब ग्रहणीय हैं, *'तेन रूपान्तराणामुपलक्षणात्'* में 'तेन' का अर्थ है वह 'सत्य' नामक रूप शब्द सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व, कारुण्य इत्यादि नित्य अनन्त विभूतियोंका संग्राहक है। *'रूपाण्यत्र विशेषाः'* इति रूप शब्द विशेष अर्थ बतलानेके कारण इन सत्यादि विशेषणों द्वारा विशेषित होता है—यह व्युत्पत्ति है। अब इसके बाद प्राकृत-अप्राकृत रूप विभाग करते हैं—तत्र मूर्त्तामूर्त्तानि इति,— *'खादिवत् स्वरूपान्यथेति'*—खादिवत् अर्थात् आकाशादिके समान। *'तेभ्योऽपि ब्रह्मणोऽपि सत्यत्वमिति'* में 'तेभ्यः' का अर्थ है—जीवसमूहसे भी। *'तद्वज्ज्ञानसङ्कोचेति'* में 'तद्वत्' का अर्थ है—जीवके समान। *'तद्वत् पद तस्मिन्'* (जीवमें) इव यह सप्तमी अर्थमें 'वति' प्रत्ययसे निष्पन्न हुआ है। *'तस्मिन्नभावात्'* इतिमें 'तस्मिन्' का अर्थ है उन ब्रह्ममें। *'तस्मान्नित्यचैतन्येति'* में तद्-विलक्षण—विभुत्वादिके कारण जीवसे ब्रह्म पृथक है। *'रूपमलोक सिद्धमिति'* में 'अलोकसिद्धम्' का अर्थ है दिव्य। *'पुनर्निषेधकारिण्याः'* इति—इस विषयमें एक लौकिक उदाहरण दिखाते हैं—कि कर्दम (कीचड़) का लेपन करके उसे धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे स्पर्श न करना ही श्रेय है। युक्ति यह है कि जब माहारजनादि रूप दिव्य हैं, तब उनका निरास करनेका कोई प्रयोजन नहीं है, अरे, जो मलिन है, उसका ही तो निरास किया जायेगा। सूत्रकारोऽपीत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि स्वयंको वेदज्ञ माननेवाला ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो समस्त वैदिकोंके गुरु, अधीश्वर उन सूत्रकारकी अ-समीक्ष्यकारिताकी कल्पना भी कर सके। सूत्रकार इस रूपका प्रतिषेध करते तो वे इस प्रकारका सूत्र ही क्यों बनाते? ॥ २२ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस स्थलपर पुनः आशङ्का उत्थापित की गयी है कि जीवको परमात्माके साथ अभिन्न चेतन कहना युक्तिसङ्गत नहीं है, जीव चिदाभास मात्र है। बृहदारण्यक-श्रुतिमें देखा जाता है— *'द्वे वाव*

ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च (बृ॰आ॰ २/३/१), अर्थात् ब्रह्मके मूर्त्त एवं अमूर्त्त भेदसे दो रूप हैं। मूर्त्त अर्थमें चाक्षुष रूप है और अमूर्त्त शब्दमें अचाक्षुष रूप है। ब्रह्मके दो रूपोंको मर्त्य और अमृत, स्थिर और चञ्चल और सत् अर्थात् दूसरोंकी अपेक्षा विशेष रूपसे निरूपित किये जानेवाला असाधारण धर्मविशेष और त्यत् अर्थात् वे इस प्रकार सर्वदा परोक्ष रूपसे कहे जाने योग्य अव्यक्त। इसके बाद पुनः उस श्रुतिमें है—'*अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणो वै सत्यं तेषामेष सत्यम्*' (बृ॰आ॰ २/३/६)। अर्थात् इसके बाद 'नेति नेति' अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तु कुछ भी नहीं है, ब्रह्मके बाद और कुछ भी नहीं है, सत्यका सत्य ही उनका नाम है—इस प्रकारसे ब्रह्मका निर्देश किया गया है। प्राण सत्य है, किन्तु ब्रह्म प्राणका भी सत्य है।

इस श्रुतिके अर्थमें पूर्वपक्षी कहनेका प्रयास करते हैं कि जब ब्रह्मसे भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है, तब ब्रह्मसे भिन्न जीव उनके समान चेतन है—यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, ब्रह्म ही अविद्यामें प्रतिबिम्बित होकर जीवरूप होते हैं—यह सिद्धान्त युक्तियुक्त है। तब जो जीवात्मा और परमात्माके भेदसे दो आत्माओंका विषय श्रुतिमें पाया जाता है और उनका परस्पर भेदसूचक अणुत्व और विभुत्व कहा जाता है, तो घटाकाश और महाकाशके समान अल्पत्व और विभुत्वका वह कल्पित भेदमात्र है। इस कल्पित भेदसे जीव और ब्रह्मका भेद प्रतिपादित नहीं होता।

पूर्वपक्षके इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उक्त बृहदारण्यक-श्रुति एकमात्र निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मेतर वस्तुका प्रत्याख्यान नहीं करती, अपितु रूपविशिष्ट उन ब्रह्मको कहनेके अभिप्रायसे प्रस्तावित मूर्त्त और अमूर्त्त दो प्रकारके रूपोंके उल्लेखसे रूपकी इयत्ता अर्थात् सीमाका प्रत्याख्यानमात्र करती है, वास्तवमें तो प्राकृत रूपका प्रत्याख्यान नहीं करती, क्योंकि प्रतिषेधके बाद भी पुनः और प्रचुर (अधिक) रूपमें उनके सत्य नामादि रूप कहे गये हैं।

मूल बात यह है कि मूर्त्तामूर्त्तादि रूपके निरूपणके बाद ब्रह्मके अपरिमित रूप वर्णनके लिए ही नेति-नेति—यह नहीं, यह नहीं—ऐसा उपदेश है। प्राकृत और अप्राकृत अनन्त विशेषणविशिष्ट ब्रह्मका प्रतिपादन करना ही श्रुतिका तात्पर्य है। इसमें ब्रह्मेतर वस्तुमात्रका प्रतिषेध नहीं है। 'सत्यका सत्य' कहकर निर्देश करनेमें जीव 'सत्य' शब्दसे वाच्य है और उसकी अपेक्षा ब्रह्मका अतिशय सत्यत्व है, क्योंकि जीवके ज्ञानकी सङ्कोच अवस्था है अर्थात् मायावश योग्यता है, किन्तु ब्रह्मका ऐसा नहीं हैं अर्थात् ब्रह्म सर्वदा निर्गुण और मायातीत हैं। अतएव जीव नित्य चैतन्यस्वरूप है, उससे विलक्षण परमात्मा अनन्त कल्याण गुणमय हैं, उनकी भक्ति करना ही जीवका कर्त्तव्य है। परमात्मामें भक्तिहीन होनेपर ही जीवकी अधोगति होती है। और एक बात है, यहाँ यह विचार करना होगा कि ब्रह्मके नाम-रूप मात्रका ही निषेध करना ही यदि श्रुतिका तात्पर्य होता, तो माहारजन-वस्त्रादि रूप अलौकिक अर्थात् दिव्य रूपका उपदेश करके पुनः उसके निराकरणके लिए श्रुतिके उन्मत्तकी प्रलाप रूप आपत्ति (पागलपनका आरोप) प्रसक्त होगी और सूत्रकार भी 'एतावत्त्व' शब्दका प्रयोग करके असमीक्ष्यकारिता दोषसे दूषित हो पड़ेंगे। तब ऐसा होनेपर *'एतद्रूपं प्रतिषेधति'* सूत्रकी रचना ही ठीक होती। यदि निषेधार्थक केवल प्रतिषेधक वाक्यका प्रयोग ही सूत्रकारको युक्तियुक्त होता तब गुणकी इयत्ताका निषेध नहीं होता। अतएव भाष्यकारकी व्याख्या ही समीचीन है।

आचार्य श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी देखा जाता है—श्रुतिमें 'नेति-नेति' वाक्यके द्वारा ब्रह्मकी प्रकृत-विशेषताका निषेध किया गया है—यह युक्तिसङ्गत नहीं होता, क्योंकि ऐसा तात्पर्य माननेपर यह (शास्त्रोंमें) भ्रान्त-जल्पना जैसा हो पड़ता है। जिन विशेषणोंसे ब्रह्मकी विशेषता बतलायी गयी, उनके अतिरिक्त प्रमाणान्तरोंके द्वारा अर्थात् अन्य प्रमाणोंसे ब्रह्मके जो विशेषण बताये गये, तो वे ब्रह्म उस रूपमें परिज्ञात नहीं होते इस समस्त विषयका ब्रह्मके विशेषण अथवा धर्मरूपमें उपदेश देना पुनः उनका निषेध करना—ये उन्मत्तोंका (पागलोंका) ही कार्य हो सकता है। इसलिए यहाँ ब्रह्मके विशेष गुणके

उल्लेखको अर्थात ब्रह्मकी विशेषता बतानेवाले वाक्योंको अनुवादमात्र नहीं कहा जा सकता। अतएव उन सबको उपदेश (ब्रह्मकी प्रकारताका विशेषोल्लेख) ही समझना होगा। इसलिए इस *'नेति-नेति'* श्रुतिमें उन सबका निषेध नहीं हो सकता। जिस हेतुसे यह प्रकार है, उसी हेतुसे यह कहना होगा अर्थात् जैसी इनकी (ब्रह्म) विशेषता बतलायी गयी है, उस पर विचार करनेसे यही परिज्ञात होगा कि उक्त वाक्य ब्रह्मके सम्बन्धमें प्रस्तावित *'एतावत्त्वका'* (इयत्ताका) ही प्रतिषेध करते हैं, ब्रह्मके सम्बन्धमें जो समस्त विशेष धर्म प्रकृत अर्थात् प्रस्तावित हुए हैं, अर्थात् जो ब्रह्माकी स्वाभाविक विशेषताएँ हैं, उनमें जो ब्रह्मकी इयत्ता अथवा परिच्छिन्न भाव प्रतीत होता है, *'नेति-नेति'* वाक्यसे उसका ही निषेध होता है। विशेषतः निषेधके बाद भी ब्रह्मके और भी अधिक गुणोंको जब प्रकाश करते हैं, तब उस कारणमें भी जानना होगा कि ब्रह्मके सम्बन्धमें सम्भावित पूर्वोक्त धर्म-सम्बन्ध (विशिष्ट इयत्ताको) ही केवल प्रतिषिद्ध किया गया है। ब्रह्मासे अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, गुणोंमें उनसे कोई उत्कृष्ट नहीं है।

श्रीपाद जीव गोस्वामी प्रभुने अपनी सर्वसंवादिनीमें भगवत्-सन्दर्भके विचारमें श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके अनन्तरूपत्वके विषयमें जो कहा है, उसका सार इस प्रकार है—श्रीभगवान्का श्रीविग्रह अनन्तरूपात्मक ही है, किन्तु श्रुत्यन्तरमें रूपसमूहका एतादृशत निषिद्ध होता देखा जाता है। जैसे बृहदारण्यक (२/३/१) *'मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च'* यह उपक्रम करके पुरुष शब्दोदित अमूर्त्त रूपके माहारजनादि रूपसमूहका वर्णन करके उसके बाद *'अथात आदेशो'* (बृ॰आ॰ २/३/६) कहा गया है। यहाँ समाप्ति अर्थमें इयत्ता वाचक इति शब्दमें प्रस्तावित रूपका एतावत्त्व निषिद्ध किया गया है। पुनः वही श्रुति स्वयं ही उपसंहारमें कहती है—*'न ह्येतस्मात्', 'नेत्यन्यत् परमस्ति'* इत्यादि। 'आदेश' अर्थात् उपदेश-वाक्य व्याचक्षाणाः—बोलनेके अभिप्रायसे इससे भी दूसरे परम रूपसमूह हैं—यह निर्देश करके कहते हैं—इसलिए यही उक्त श्रुतिका तात्पर्य है। इस मूर्त्तलक्षण रूपसे अमूर्त्तलक्षणरूप सम्भवपर नहीं है। तब क्योंकि इससे भी अन्य परम रूप हैं—यही आदेशका फलितार्थ है।

नेति-नेति वाक्यके द्वारा प्राकृत रूपका प्रतिषेध किया गया है, पुनः *'अन्यत् परमस्ति'* इस आदेश वाक्यके द्वारा अन्य परम रूपका विषय कहा गया है।

इस स्थलपर रूपमात्रका निषेध ही यदि इस श्रुतिका अभिप्राय होता, तो ऐसा होनेपर माहारजनादिके समान दिव्य रूपके विषयको स्वयं उपदेश करके पुनः उसका निषेध करना श्रुतिके पक्षमें प्रलापोक्तिके समान होता और *'एतावत्त्व'* पदके प्रयोगके द्वारा सूत्रकारकी भी असमीक्ष्यकारिताका ही परिचय हो पड़ता। 'इस रूपका निषेध किया गया हैं'—इस वाक्यकी सूचनासे यही प्रतिपन्न होता है कि अन्य किसी रूपका विषय कहा गया है अथवा कहा जायेगा।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्त्तये।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२७/११)

अर्थात् हे देव! आपने अपने भक्तोंकी इच्छासे ही अपनी श्रीमूर्त्तिको स्वयं ही इस प्रपञ्चमें प्रकट किया है, आप सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। जीवोंकी भाँति कर्मके वश होकर आपने जन्म नहीं लिया है। परन्तु आपका यह श्रीविग्रह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। आप अपनी अचिन्त्यशक्तिके कारण इस जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं। आप ही सर्वरूप, समस्त पदार्थोंके मूल कारण और समस्त प्राणियोंके आत्म-स्वरूप हैं। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है।

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥

(श्रीमद्भा॰ १/३/३०)

अर्थात् प्राकृत-रूपसे रहित अर्थात् अप्राकृत, चिदेकरस (चिन्मय विग्रह) परमात्माका यह प्राकृत-स्थूल जगदाकार रूप अनित्य एवं स्थूल है। यह जीव-देह महत्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्रादि रूप बहिरङ्गाशक्तिसे उत्पन्न गुणों द्वारा निर्मित हुआ है। मायाधीश भगवान् गुणोंसे उत्पन्न जगत्में आबद्ध नहीं होते।

प्रस्तुत श्लोककी विवृतिमें श्रीश्रील प्रभुपादने लिखा है—भगवान् जड़रूपरहित हैं। वे अविमिश्र चिन्मय वस्तु हैं। वे जीवात्माके साथ मायागुण द्वारा इस भोग्य जगत्की रचना करके उसमें बद्धजीवको आसक्त करते हैं, वे स्वयं अनासक्त होकर जड़ जगत्के साथ किसी सम्बन्धमें आसक्तिविशिष्ट नहीं होते। *'मायाधीश मायावश-ईश्वरे जीवे भेद'* गुणमायाके साथ जीवमायाका सम्बन्ध है। मायाधीश गुणजात जगत्से आबद्ध नहीं होते।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी कहा गया है—

सर्वैश्वर्य परिपूर्ण स्वयं भगवान्।
ताँरे निराकार करि करह व्याख्यान॥

निर्विशेष ताँरे कहे येइ श्रुतिगण।
प्राकृत निषेधि करे अप्राकृत स्थापन॥

(चै॰च॰म॰ ६/१४०-१४१)

अर्थात् षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् सर्वदा परिपूर्ण श्रीसे संयुक्त हैं, इसलिए वे नित्य सविशेष हैं। उन्हें निराकार कहकर व्याख्यान करनेपर वेदार्थ विकृत हो पड़ता है। जो समस्त श्रुतियाँ उन्हें निर्विशेष कहती हैं, वे केवल प्राकृत-विशेषको निषेध करके 'अप्राकृत-विशेष' का स्थापन करती हैं। श्रुतियोंमें भगवान्के अप्राकृत-साकार-सच्चिदानन्द स्वरूपका ही वर्णन है॥ २२॥

अवतरणिका भाष्य—अथ प्रत्यग्रूपत्वं प्रतिपाद्यते। अन्यथा घटादिवत् सर्वसौलभ्ये भक्तिस्तस्मिन् न स्यात्। तथाहि सच्चिदानन्दरूपायेत्यादि श्रूयते। तत्र विग्रहात्मकं परं ब्रह्म ग्राह्यं प्रत्यग्वेति संशये सुरासुरमनुष्यप्रत्यक्षत्वाद्ग्राह्यमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद ईश्वर जो प्रत्यग् रूप अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें स्थित होनेसे विभु हैं—इसीका प्रतिपादन करते हैं। यदि वे प्रत्यग् रूपी अर्थात् विश्वव्यापक न हों तो घटादिके समान सर्वसुलभ उनमें भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव वे प्रत्यगात्मा हैं और उनमें भक्तिसङ्गत है। इस विषयपर श्रुति भी है—सच्चिदानन्दरूपाय इत्यादि—वे सत्, चित् और आनन्द स्वरूप हैं। श्रुति-प्रतिपाद्य इस

विषयमें संशय यह है कि श्रुति-उक्त ब्रह्म क्या विग्रहात्मक परब्रह्म रूपमें ग्रहणीय हैं? अथवा प्रत्यगात्मा (सर्वव्यापक) रूपमें? इस संशयके निराकरणमें पूर्वपक्षी यदि कहें—देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि तिर्यक जातिके प्रत्यक्षीभूत-विषय होनेसे अर्थात् इन सबके प्रत्यक्ष होनेके कारण विग्रहात्मक ब्रह्म ही ग्राह्य हैं। इस मतको निरस्त करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिभाष्य टीका—नन्वस्तु हरिः कल्याणानन्तगुणस्तथापि तत्र भक्तिर्नोद्भवेत्तस्य सौलभ्यात्। न खलु रत्नसाानौ सुराणां भक्तिरस्ति तस्य तत्सुलभत्वादित्याक्षिप्य चिन्तामणिवदतिदुर्लभत्वात्तत्र स्पृहालक्षणा भक्तिरुदयेदेवेति समाधानादाक्षेपः सङ्गतिः। अथेत्यादि। प्रत्यग् रूपत्वमिति। प्रति स्वमञ्चतीति प्रत्यगात्मतत्त्वम्। स्वस्मै स्वयं प्रकाशमानमिन्द्रियाग्राह्यमित्यर्थः। सुरासुरेति। प्राकट्यावसर इति बोध्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रश्न है कि अच्छा! श्रीहरि कल्याण और अशेषगुण सम्पन्न हों तो भी उनमें भक्ति होना सङ्गत नहीं है क्योंकि वे सुलभ हैं। दृष्टान्त यह है कि हेमाद्रि (सुमेरु पर्वत) के रत्नमय शिखरोंपर अवस्थित देवताओंका तो रत्न-शिखरोंके प्रति आकर्षण नहीं होता क्योंकि ये रत्न-शिखर उनके लिए सुलभ हैं—यह आपत्ति करके समाधान करते हैं कि श्रीहरि चिन्तामणिके समान अत्यन्त दुर्लभ हैं इसलिए उनमें स्पृहात्मक भक्तिका उदय होना सङ्गत ही है। इस प्रकार इस अधिकरणमें आक्षेप सङ्गति जाननी चाहिये। अथेत्यादि भाष्यमें प्रत्यग्रूपत्वमिति—प्रत्यक् शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—जो प्रत्येकमें ही अपनेको प्रकाश करते हैं अर्थात् जो इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य हैं। 'सुरासुरेति'—इन समस्त स्थानोंमें उनका प्राकट्य है।

तदव्यक्ताधिकरणम्

सूत्र—तदव्यक्तमाह हि॥ २३॥

सूत्रार्थ—'तद्'—वे—ब्रह्मस्वरूप 'अव्यक्त'—स्वतः अव्यक्त, प्रत्यगात्मा-स्वरूप हैं, 'हि'—क्योंकि 'आह' श्रुति यह सिद्धान्त करती है॥ २३॥

सूत्रानुवाद—क्योंकि ब्रह्म अव्यक्तस्वरूप हैं, इसलिए उनका स्वरूप प्राकृत इन्द्रियों द्वारा ग्रह्य नहीं है—यह शास्त्र कहता है॥ २३॥

गोविन्दभाष्य—तद्ब्रह्म स्वतोऽव्यक्तं प्रत्यगेव, हि यस्मात् *"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्"* इति कठश्रुतिस्तथाह (कठ॰ २/३/९)। *"अगृह्यो न हि गृह्यते"* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इति श्रुत्यन्तरञ्च। *"अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्"* (श्रीगी॰ ८/२१) इति स्मृतिश्च॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वे ब्रह्म स्वरूपतः अव्यक्त प्रत्यक्‌रूपी ही हैं, क्योंकि उनका रूप दृष्टिके विषयीभूत नहीं होता। कोई भी चक्षुके द्वारा उन्हें देख नहीं पाता—*न संदृशे तिष्ठति* इत्यादि कठोपनिषदीय-श्रुति (२/३/९) यही कहती है और अन्य श्रुतिमें भी है—*'अगृह्यो'* इति (बृ॰आ॰ ४/४/२२)—वे अज्ञेय प्रत्यगात्मा हैं, क्योंकि किसीके द्वारा भी वे ज्ञात नहीं होते। स्मृति अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा गया है—*अव्यक्तोऽक्षरेति* (श्रीगी॰ ८/२१) परमात्मा अव्यक्त, अक्षर हैं, उन्हें ही पण्डितगण परम गति कहते हैं॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। अगृह्य इति बृहदारण्यके। अग्राह्यः प्रत्यञ्जित्यर्थः। अव्यक्त इति श्रीगीतासु॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार—*'अगृह्यो न हि गृह्यते'* (बृ॰आ॰ ३/९/२६) यह श्रुति बृहदारण्यकसे उद्धृत है। *'अगृह्य'* पदका अर्थ है—प्रत्यक् आत्मा। *'अव्यक्तोऽक्षर'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता (८/२१) में कहा गया है॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब इसके बाद ब्रह्मका प्रत्यग्‌रूप अर्थात् विश्वव्यापकत्व प्रतिपादित हो रहा है। ऐसा न होनेसे सर्वसुलभ वस्तुमें किसीकी भी भक्ति नहीं होती, जिस प्रकार सुमेरुके रत्नमय शिखरोंपर अवस्थित देवताओंकी उसमें भक्ति अर्थात् आकर्षण देखा नहीं जाता, क्योंकि वह उनके लिए सुलभ है। दूसरी ओर, जैसे चिन्तामणि दुर्लभ है, वैसे ही भगवान् श्रीहरि भी दुर्लभ वस्तु हैं, उनमें भक्ति होना ही उचित है? इस क्षण इस विषयमें संशय हो सकता है कि श्रुति-वर्णित वे परब्रह्म क्या विग्रहविशिष्ट हैं अथवा प्रत्यगात्मस्वरूप अर्थात् विश्वव्यापक हैं? इस प्रकार संशयके स्थलपर हो सकता है कि पूर्वपक्षी मीमांसा करें कि विग्रहवान् होना ही युक्तियुक्त है, क्योंकि देव, असुर और मनुष्य सभीके लिए विग्रह प्रत्यक्षका विषय है। इस प्रकार

पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उन ब्रह्मवस्तुको श्रुति अव्यक्त अर्थात् विश्वव्यापक ही कहती है।

कठोपनिषदमें देखा जाता है—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
(कठ॰ २/३/९)

इन प्रत्यगात्माका रूप दृष्टिविषयमें नहीं ठहरता, अर्थात् सामने स्थिर नहीं रहता। उन्हें नेत्रसे कोई भी नहीं देख सकता।

बृहदारण्यकमें कहा है—

स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यते।
(बृ॰आ॰ ४/४/२२)

वे ये 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किये गये आत्मा अगृह्य अर्थात् प्रत्यक् आत्मा हैं, वे ग्रहण नहीं किये जाते।

श्रीमद्भगवद्गीतामें है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
(श्रीगी॰ ८/२१)

अर्थात् उस अव्यक्त भावको (तत्त्वको) अक्षर तथा परमगति कहते हैं।

मुण्डकोपनिषदमें—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैदेवैस्तपसा कर्मणा वा।
(मु॰ ३/१/८)

अर्थात् वे ब्रह्म न नेत्रसे ग्रहण किये जाते हैं, न वाणीसे, न अन्य इन्द्रियोंसे और न तप अथवा कर्मसे ही।

इसी प्रकार—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम् ।

(मु॰ १/१/६)

अर्थात् वे जो अदृश्य और अग्राह्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम्॥
(श्रीमद्भा॰ ४/११/२३)

अर्थात् हे वत्स! वे किसी भी इन्द्रिय या प्रमाणके विषय नहीं हैं। महदादि नाना प्रकारकी शक्तियाँ उनसे ही उत्पन्न होती हैं। उनकी जो भी इच्छा है, उसे कौन बता सकता है? अतएव भगवान्‌के विषयमें न कोई कुछ जान सकता है और न ही कुछ कह सकता है।

और भी,

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम्॥
(श्रीमद्भा॰ ४/११/३०)

अर्थात् इन्हीं परमात्माको ढूँढ़नेसे ही तुम सर्वशक्तिसम्पन्न परमानन्दस्वरूप सर्वान्तर्यामी उन भगवत्-स्वरूपमें अहैतुकी और व्यवधानरहित पराभक्तिका अनुशीलन करके अति सहजमें ही "मैं और मेरा" रूप इस सुदृढ़ अविद्या-ग्रन्थिका छेदन कर सकोगे॥ २३॥

अवतरणिका भाष्य—अथ प्रतीचोऽपि तस्य ज्ञानभक्तिलभ्यत्वं दर्शयति। सर्वथा दौर्लभ्ये नैराश्येन भक्तेरनुदयः। तथाहि श्रूयते कैवल्योपनिषदि। (कै॰ २) *"श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैति"* इति। अत्र श्रद्धालुर्भक्तिमान् हरिः ध्यायन् प्राप्नोतीति प्रतीयते। इह मानसेन प्रत्यक्षेण ग्राह्यो हरिरुत चक्षुरादिना वेति वीक्षायां मनसैवेदमाप्तव्यं मनसैवानुद्रष्टव्यमिति सावधारणाद्बृहदारण्यक-वाक्यान्मानसेनैव तेन ग्राह्य इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब यह प्रत्यग् आत्मा (विश्वव्यापक) भी जो ज्ञान और भक्ति द्वारा प्राप्य है, वही बताते हैं—यदि वे सर्वतोभावेन दुर्लभ ही होते, तब निराशा ही रहती और उस नैराश्यके कारण उनमें भक्तिका उदय ही न होता। यही बात कैवल्योपनिषद (२) में भी सुनी जाती है। *'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैति'* अर्थात् लोकमें श्रद्धा, भक्ति और ध्यान योग द्वारा उनका (ब्रह्म वस्तुका) साक्षात्कार किया

जा सकता है, इससे प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति शास्त्रके वाक्योंमें श्रद्धावान हैं, भक्तिमय हैं, वे ध्यानके द्वारा श्रीहरिको प्राप्त होते हैं। इस समय संशय यह है कि क्या श्रीहरि मानस प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ग्राह्य हैं अथवा चक्षुः इत्यादि बहिरिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि बृहदारण्यकोपनिषद अवधारण (निश्चय) के साथ (इतरव्यावृत्ति करके) कहता है कि—मन द्वारा ही उन ब्रह्मको पाया जा सकता है, मन द्वारा ही उन्हें देखना चाहिये। इससे प्रमाणित होता है कि वे मानस प्रत्यक्षके गोचर हैं। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु गुणवद्वस्तुनि दृष्टे श्रुते च स्पृहा समुदियात्। ब्रह्मणस्तु प्रत्यक्त्वेनादृष्टाश्रुतत्वान्न तत्र तत्समुदय इत्याक्षिप्य तस्य प्रत्यक्त्वे सत्येव भक्तिदृश्यत्वादिप्रतिपादनेन स स्यादेवेति समाधानादाक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। अथेत्यादि। सर्वथेति। शुद्धैरपीन्द्रियैरग्राह्यत्वे सतीत्यर्थः। श्रद्धेति। श्रद्धादृढविश्वासः। भक्तिः श्रवणाद्या। ध्यानञ्चाविच्छिन्नतैलधारावद्ब्रह्मविषयकं चिन्तनम्। योगशब्दस्त्रिषु सम्बन्धनीयः। अवैति साक्षात्करोति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रश्न यह है कि लौकिक व्यवहारमें देखा जाता है कि जो गुणविशिष्ट वस्तु है, उसके देखनेपर अथवा सुननेपर उसे पानेकी लालसा उदित होती है किन्तु ब्रह्म प्रत्यक्-स्वरूप हैं, वे दृष्ट भी नहीं हैं, श्रुत भी नहीं है; तब उनके लिए स्पृहाका उदय किस प्रकार होगा? इस आपत्तिके बाद उसका समाधान ब्रह्म प्रत्यक् होनेपर भी उनमें भक्ति दृश्यता है इत्यादिके प्रतिपादन द्वारा हो रहा है। उनमें स्पृहाका उदय होगा ही। इस प्रकारसे आक्षेप एवं समाधान रहनेके कारण इस अधिकरणमें आक्षेप सङ्गति जाननी चाहिये। अथेत्यादि भाष्यमें *'सर्वथा दौर्लभ्ये'* समस्त प्रकारसे अर्थात् निर्दोष इन्द्रियके द्वारा भी वे अज्ञेय होनेपर भी। श्रद्धाभक्तिध्यानयोगात् इति में श्रद्धा अर्थात् दृढ़ विश्वास, भक्ति अर्थात् श्रवण-मनन इत्यादि ध्यान-अविच्छिन्न धारामें पतित तैलके समान ब्रह्म विषयक निरन्तर चिन्तन। इनमेंसे प्रत्येकके योग अर्थात् सम्बन्ध होनेपर। योग (सम्बन्ध) शब्द श्रद्धा, भक्ति, ध्यान—तीनोंसे ही सम्बन्धित है। 'अवैति' अर्थात् उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति करें।

संराधनाधिकरणम्

सूत्र—अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥ २४॥

सूत्रार्थ—अपि—पूर्वपक्षीका यह मत भी निन्दनीय है, 'संराधने'—यथायथ रूपसे उनके प्रति भक्ति होनेपर वे चाक्षुष प्रत्यक्षके द्वारा ज्ञात होते हैं, क्योंकि 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'—प्रत्यक्ष श्रुति और स्मृति वाक्योंके द्वारा यह प्रमाणित होता है॥ २४॥

सूत्रानुवाद—संराधन अर्थात् विधिपूर्वक भक्तियोगसे ध्यान करनेपर परब्रह्मका साक्षात्कार होता है—यह बात श्रुति एवं स्मृतिसे प्रमाणित है॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—अपिरत्र गर्हायाम्। गर्हितोऽयं पूर्वपक्षः। संराधने सम्यग्भक्तौ सत्यां चाक्षुषादिना प्रत्यक्षेण ग्राह्यऽसौ भवति। कुतः? प्रत्यक्षेति। श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। *"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमृच्छन्"* इति काठके (कठ॰ २/१/१)। *"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान"* इति मुण्डके (मु॰ ३/१/८) च विद्वद्भक्तदृश्यत्वश्रवणात्। *"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्ज्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप"* (श्रीगी॰ ११/५३-५४) इत्यादिस्मरणाच्च। तस्मात् सम्यग्भक्त्या ग्राह्यः श्रीहरिरिति सिद्धम्। चक्षुरादिनि तु तया भावितानि। अतस्तैः स वेद्यः। एवं सति एवकारोऽयोगव्यवच्छेदी भवेत्॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'अपि' शब्द निन्दा अर्थमें है अर्थात् पूर्वोक्त पूर्वपक्ष मत निन्दित है कि परमेश्वरका व्यक्त रूप नहीं है। सम्यक् प्रकारसे भक्तिकी साधना होनेपर वे प्रत्यगात्मा चक्षुः इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ग्राह्य होते हैं। प्रमाण? श्रुति और स्मृति दोनों वाक्य ही प्रमाण हैं। यथा काठक-श्रुति है—*'पराञ्चि खानि व्यतृणत्'* ब्रह्मा (स्वयम्भू ईश्वर) ने जीवकी इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके सृष्टि की अर्थात् विषयमें प्रवण करके (बहिर्मुख करके) उन्हें हिंसित कर दिया (उनकी हत्या कर दी)। इसका अनुमापक लिङ्ग (प्रमाण) यह है कि इसी कारण जीव विषयासक्त होकर अन्तरात्माका (ईश्वरका) का दर्शन नहीं करता। इससे यह विचार न कर लेना कि मुक्तिका अभाव है; क्योंकि कोई-कोई विवेकी पुरुष अमृत-प्राप्तिकी कामनासे सत्सङ्ग-बलसे

प्राप्त हरिभक्ति द्वारा बहिर्मुख वृत्तिविशिष्ट इन्द्रियोंको अन्तर्मुख वृत्तिसे सम्पन्न करके उन प्रत्यगात्मा श्रीहरिका दर्शन करते हैं। मुण्डकोपनिषदमें भी है—*'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'* (मु॰ ३/१/८) अर्थात् शास्त्रज्ञानके वैशद्य-बलसे अर्थात् विशदतासे (परिष्कृत भक्तिके द्वारा) विशुद्ध सत्त्व होनेके बाद वह पुरुष उसके फलसे प्रत्यागात्माका ध्यान करते-करते उन्हें प्रत्यक्ष कर लेता है। यहाँ विद्वान् भक्तकी दृश्यता श्रुत होनेके कारण यह प्रमाणित होता है कि वे प्रत्यक्ष-विषयीभूत होते हैं। स्मृति-वाक्य भी हैं—गीतामें श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—"तुम जिस प्रकारसे मुझे देख रहे हो सो वेदाध्ययन द्वारा, कष्टसाध्य चान्द्रायणादि तपस्या द्वारा, दान द्वारा अथवा यज्ञ द्वारा यह नराकृति, चतुर्भुज, तुम्हारा सखा देवकीपुत्र मैं दर्शनका विषयीभूत नहीं हूँ।" तब दूसरोंके लिए जाननेका उपाय क्या है? इसपर कहते हैं—हे शत्रुनिषूदन अर्जुन! एकमात्र एकनिष्ठ, अव्यभिचारिणी भक्ति द्वारा ही मैं मानसमें प्रत्यक्षीभूत होता हूँ और चक्षु आदिसे भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ। अतएव सिद्धान्त यह है कि सम्यक् भक्ति द्वारा ही श्रीहरिको प्रत्यक्ष देखा जाता है। तब जो कहा गया है कि 'मनसैव' वे एक मात्र मनके द्वारा ही वेद्य हैं, तो इसका उपाय क्या है? इसपर कहते हैं—'मनसैव' यहाँ 'एव' शब्द अयोग-व्यवच्छेदार्थ है—अर्थात् उन्हें पाया नहीं जा सकता, ऐसा नहीं है, मनके द्वारा उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। यदि चक्षु आदि इन्द्रियाँ उस भक्ति द्वारा भावित होती हैं, तो वे चक्षु आदि बहिरिन्द्रियके द्वारा भी ज्ञेय होते हैं। एवकार अयोग-व्यवच्छेदी है अर्थात् इस प्रकारसे अर्थ होनेपर 'एव' शब्दकी कोई असङ्गति नहीं है॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—अपीति। पराञ्चीत्यस्यार्थः। स्वयम्भूरीश्वरः जीवानां खानीन्द्रियाणि पराञ्चि विषयाभिमुखानि व्यतृणत् विहिंसितवान्। विषयप्रावण्येन सृष्टिरेव तेषां हिंसेत्यर्थः। तथा सर्जने गमकमाह तस्मादिति। इन्द्रियाणां पराक्त्वादेव पराङ्विषयासक्तो जीवोऽन्तरात्मानमीश्वरं न पश्यति। सुपां सुलुगित्यमो लुक् (पा॰ ७/१/३९)। तर्ह्यनिर्मुक्तिप्रसङ्गस्तत्राह कश्चिदिति। धीरः सत्प्रसङ्गलब्ध्या हरिभक्तिरूपया धिया विशिष्टः धियमीरयति राति वेतिव्युत्पत्तेः। आवृत्तचक्षुः संयतेन्द्रियः। अमृतत्वमिच्छन् कामयमानः। प्रत्यगात्मानं हरिमैक्षत् पश्यति स्मेत्यर्थः। ज्ञानप्रसादेन शास्त्रज्ञानवैशद्येन।

तं हरिम्। अत्र श्रुत्यन्तराणि च। आनन्दमात्रमजरं पुराणमेकं सन्तं बहुधा दृश्यमानं तमात्मस्तं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् इति। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभातीति चैवमादीनि। नाहमिति श्रीगीतासु। एवंविधो नराकृतिश्चतुर्भुजस्त्वत्सखो देवकीसूनुरहं वेदादिभिर्द्रष्टुं न शक्यः। तत्र वेदैरध्ययनादिविषयैस्तपोदानयज्ञैश्च भक्तिरिक्तैरिति बोध्यम्। तर्हि केन दृष्टः स्याः इति चेत्तत्राह भक्त्येति। अनन्यया मदेकान्तया। ज्ञातुं मानसप्रत्यक्षं कर्त्तुम् द्रष्टुं चाक्षुषप्रत्यक्षं कर्त्तुं प्रवेष्टमाश्लेष्टुञ्च। तत्त्वेनेति त्रिषु योज्यम्। इदं पद्यद्वयं श्रीकृष्णरूपपरमेव न तु विश्वरूपपरमिति श्रीगीताभूषणभाष्यकृता व्याख्यातं द्रष्टव्यम्। एवं सतीति। मनसैवेत्यादावेवकारो मानसप्रत्यक्षत्वस्यायोगं व्यवच्छिनत्ति न तु चाक्षुषादिप्रत्यक्षत्वस्य योगञ्चत्यर्थः॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार—अपीत्यादि सूत्रमें *‘पराञ्चि खानि’* (कठ॰ २/१/२) इत्यादि श्रुतिका अर्थ है यथा ‘स्वयम्भूः’—ईश्वरने (ब्रह्माने), जीवोंकी ‘खानि’ अर्थात् इन्द्रियोंको ‘पराञ्चि’ अर्थात् विषयाभिमुख करके ‘व्यतृणत्’ हिंसा करते हैं अर्थात् उन्हें विषय-प्रवण करके—सृष्टि करके उनकी हत्या की है। इस प्रकार ‘जो सृष्टि करते हैं’—इसका प्रमाण क्या? वही कहते हैं, ‘तस्मादिति’—‘इसी कारण’ अर्थात् विषयाभिमुख होनेके कारण ही विषयासक्त जीव अन्तरात्मा ईश्वरको प्रत्यक्ष कर नहीं सकते। यहाँ ‘अन्तरात्मन्’ पदमें द्वितीया विभक्तिका *‘सुपां सुलुक् डाच्’* (पा॰ ७/१/३९) इत्यादि पाणिनीय वैदिक सूत्रके अनुसार लोप जानना चाहिये। आपत्ति यह है—यदि कोई ईश्वरका दर्शन न कर पाये तो मुक्तिकी बात तो लुप्त हो जायेगी? ऐसा नहीं है, *‘कश्चित् धीरः’*—कोई धीर व्यक्ति अर्थात् जो ‘धी’ अर्थात् बुद्धिका चालन करता है, वह दर्शन करता है। कौन है वह? सत्सङ्गसे लब्ध हरिभक्तिसे समन्वित है जो व्यक्ति? इस तरह धीर शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ हुआ जो बुद्धिकी भक्तिके द्वारा चालना करते हैं अथवा बुद्धिको ईश्वराभिमुखी करके ग्रहण करते हैं। *‘आवृत्तचक्षुः’* अर्थात् संयत-इन्द्रिय, *‘अमृतत्वमिच्छन्’*—मुक्तिके अभिलाषी *‘प्रत्यगात्मानम्’*—प्रत्यगात्मा श्रीहरिका दर्शन करते हैं। *‘ज्ञानप्रसादेनेति’*—शास्त्रज्ञानकी विशदता उत्पन्न होनेपर। ‘तत्’ का अर्थ है उन श्रीहरिको। इस विषयमें और भी अनेक श्रुतियाँ हैं यथा केवल आनन्दस्वरूप, जराहीन, चिरन्तन पुराणपुरुष, जो एक होकर भी बहुत रूपोंमें दृश्यमान हैं, निज शरीरमें अन्तर्यामी रूपमें

अवस्थित उन आत्माका जो धीर व्यक्ति दर्शन करते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख होता है, दूसरे किसीको भी नहीं। धीर व्यक्ति विज्ञानके बलपर उनका दर्शन करते हैं—जो आनन्दरस-अमृत रूपमें प्रकाश पाते हैं। ऐसी ही और भी श्रुतियाँ हैं। *'नाहमित्यादि'* दोनों श्लोक श्रीमद्भगवद्गीतासे उद्धृत हैं। इनका अर्थ है—*'एवंविधः'*—इस प्रकारसे मैं अर्थात् नराकृति, फिर भी चतुर्भुज, हे अर्जुन! तुम्हारा सखा, देवकी गर्भजात ऐसा मैं तपस्या, दान एवं यज्ञ—ये सब यदि भक्तिसे रहित हैं तो उनके द्वारा जाना नहीं जा सकता—यह ज्ञातव्य है। तो हे श्रीहरि! आप किस प्रकारसे दृश्य होंगे? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं *'भक्त्या त्वनन्ययेति'* 'अनन्यया' का अर्थ है 'मेरी एकनिष्ठ भक्ति द्वारा भक्त 'ज्ञातुम्' मानसमें प्रत्यक्ष करते हैं, *'दृष्टुम्'*—चाक्षुष प्रत्यक्ष करते हैं अर्थात् चक्षुसे देखते हैं *'प्रवेष्टुञ्च'*—मेरे धाममें प्रवेश करके आश्लेष कर सकते हैं किन्तु ये ज्ञान, दर्शन एवं संश्लेष करना यथार्थ रूपमें तब होगा जब इन तीनोंमें भक्ति योजनीय होगी। गीताके ये दोनों श्लोक श्रीकृष्णरूपका आश्रय करके कहे गये हैं—भगवान्के विश्वरूपमें इन श्लोकोंका तात्पर्य नहीं है। यही बात श्रीगीताभूषण भाष्यकारने अपनी व्याख्यामें कही है, वह भी आलोच्य है। *'एवं सति एवकार'* इत्यादि। ऐसी अवस्थामें *'मनसैव इदमाप्तव्यं, मनसैवेदं-द्रष्टव्यमित्यादि'* श्रुतिमें धृत 'एव' शब्दका अर्थ स्वायोग-व्यवच्छेदार्थमें है, अन्य योग-व्यवछेदार्थमें नहीं। 'एवकार' का तात्पर्य यह है कि मानस-प्रत्यक्ष द्वारा वे ज्ञात नहीं होते, ऐसा नहीं है—यही 'स्व-अयोग-व्यवच्छेद' है इससे भिन्न चाक्षुषादि प्रत्यक्ष-विषयत्व निराकरणरूप अन्य 'योग-व्यवच्छेद' अर्थमें नहीं है—वे चक्षु आदिके प्रत्यक्ष नहीं होते, ऐसा भी नहीं है—वे भक्ति भावित चक्षु आदि बहिरिन्द्रियोंके भी प्रत्यक्षीभूत होते हैं। यहाँ तप शब्दका अर्थ श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, एकादशी आदि पर्वोंको उपलक्ष्य करके उपवास करना, दानका अर्थ है श्रीभगवान्के भक्तोंको स्व-भोग्य वस्तुका अर्पण करना और यज्ञ इज्यासे तात्पर्य है श्रीभगवान्के श्रीविग्रहादिकी विधि-विधानसे पूजा॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—परब्रह्म व्यापक होनेपर भी वे जो ज्ञान-भक्तिके द्वारा प्राप्य हैं—वही प्रदर्शन करते हैं। यदि वे सर्वथा दुर्लभ होते, तो

नैराश्यवश उनमें भक्तिके उदयकी सम्भावना भी न रहती। प्राकृत जगत्में भी देखा जाता है जब किसी गुणयुक्त वस्तुको देखा जाय अथवा उसके विषयमें सुना जाय, तो उसे प्राप्त करनेकी स्पृहा उदित होती है। फिर भी यदि आक्षेप यह है कि ब्रह्म-वस्तु जब व्यापक अर्थात् अव्यक्त हैं, उसे देखा भी नहीं जाता, उनके विषयमें सुना भी नहीं जाता, तब उन्हें पानेकी भी वासना क्यों होगी? इसके उत्तरमें पाया जाता है कि वे भक्तिगम्य हैं—इसका प्रतिपादन होनेपर ही पूर्वोक्त आक्षेपका समाधान होता है। किन्तु कोई यदि इस प्रकार पूर्वपक्ष करे कि श्रुतिमें वर्णन है कि श्रद्धालु व्यक्ति भक्ति-योगसे श्रीहरिका ध्यान करे तो उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ संशय यह है कि यह प्राप्ति क्या मानस है? अथवा चाक्षुष है? कारण यह है कि किसी श्रुतिके मतमें वे मानस-प्रत्यक्ष ग्राह्य रूपमें अवगत होते हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षकी निन्दा करते हुए संशयका निराकरण करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि सम्यक् भक्तिके फलस्वरूप परब्रह्म चक्षुः आदि इन्द्रियोंसे ग्राह्य होते हैं—यह श्रुति-स्मृति प्रमाणोंसे सिद्ध है।

कठोपनिषदमें पाया जाता है—

'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।'

(कठ॰ २/१/१)

अर्थात् जिसने अमरत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोंको रोक लिया है, ऐसा कोई धीर (धी अर्थात् बुद्धिको ईश्वराभिमुखी करनेवाला) पुरुष ही प्रत्यगात्माको देख पाता है।

मुण्डकोपनिषदमें भी—

'तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतम् यद् विभाति।'

(मु॰ २/२/८)

विवेकीगण शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशसे प्राप्त तत्त्वज्ञान द्वारा उनका साक्षात् करते हैं, जो समस्त अविद्यादि-दोष रहित, आनन्दघन, शाश्वत और सत्य रूपमें हैं, वे हृदयमें प्रकाशित होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥
(श्रीगी० ११/५४)

अर्थात् हे परन्तप अर्जुन! एकमात्र अनन्याभक्तिके द्वारा ही ऐसे रूपविशिष्ट मुझे तत्त्वतः जानने, देखने और प्रवेश करनेकी समर्थता प्राप्त की जा सकती है।

और भी,

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(श्रीगी० ८/२२)

किन्तु हे पार्थ! वे परमपुरुष एकमात्र अनन्याभक्ति द्वारा ही प्राप्त होने योग्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥
(श्रीमद्भा० ११/१२/८)

गोपियाँ, गायें, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रजके हरिन आदि पशु, कालिया आदि नाग—ये तो साधन-साध्यके सम्बन्धमें सर्वथा ही मूढ़बुद्धि थे। इतने ही नहीं, ऐसे-ऐसे और भी बहुत हो गये हैं, जिन्होंने केवल प्रेमपूर्ण भावके द्वारा ही अनायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृत्कृत्य हो गये।

और भी,

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्॥
(श्रीमद्भा० ११/१४/२१)

अर्थात् मैं सन्तोंका प्रियतम आत्मा हूँ। मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्याभक्तिसे ही ग्राह्य हूँ।

तमक्षरं ब्रह्म परं परेशमव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम्॥
(श्रीमद्भा० ८/३/२१)

अर्थात् जो अविनाशी, सर्वशक्तिमान, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोगके द्वारा प्राप्त होते हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—*'आत्मानं तमेवाधिकृत्य यो योगो भक्ताख्यातस्तेन गम्यम्'* अर्थात् आध्यात्मिक योगसे तात्पर्य है—परमात्माको लक्ष्य करके जो योग है अर्थात् भक्तियोग—उसीके द्वारा वे प्राप्य हैं।

और भी,

तद्दर्शनेनागताध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत्।
दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भक-
श्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/९/३)

अर्थात् भगवान्‌का दर्शन पाकर बालक ध्रुवको बड़ा कुतूहल हुआ। वे प्रेममें अधीर हो गये। उन्होंने दण्डके समान पृथ्वीपर लोटकर श्रीहरिको प्रणाम किया। इसके बाद ध्रुव भगवान्‌की रूप-माधुरीको इस प्रकार प्रेममयी दृष्टिसे देख रहे थे, मानो नेत्रोंसे उन्हें पान कर जायेंगे, मुखसे उनका चुम्बन कर लेंगे और भुजाओंके द्वारा उनका आलिङ्गन कर लेंगे।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें देखा जाता है—

ज्ञान-कर्म-योग-धर्म नहे कृष्ण वश।
कृष्णवश हेतु एक-कृष्ण-प्रेमरस॥

(चै॰च॰आ॰ १७/७५)

अर्थात् ज्ञान-कर्म-योग-धर्म इत्यादि साधन श्रीकृष्णको वशीभूत नहीं कर सकते, श्रीकृष्णके वशीभूत होनेका एकमात्र कारण कृष्णप्रेमरस है।

और भी,

ऐछे शास्त्र कहे—कर्म-ज्ञान-योग त्यजि।
'भक्त्ये' कृष्ण वश हय—भक्त्ये ताँरे भजि॥

(चै॰च॰म॰ २०/३६)

अतएव वेदशास्त्र कहते हैं कि कर्म, ज्ञान और योगका परित्याग करके भक्ति-पथसे ही कृष्णकी प्राप्ति होती है। अतः श्रीकृष्णका भजन करते हुए केवल भक्तिका ही अनुष्ठान करें।

वेद अर्थात् गोपालोपनिषद, तपस्या अर्थात् श्रीजन्माष्टमी और एकादशी तिथिका उपवास करना, दान अर्थात् अपनी भोग्य वस्तुओंको मुझे एवं मेरे भक्तोंको अर्पण करना, इज्या अर्थात् मेरी मूर्त्तिपूजा—इस प्रसङ्गमें परमाराध्यतम श्रीमद् बलदेव प्रभु अपने गीताभाष्यमें आगे और भी कहते हैं—कोई यदि यह कहते हैं कि दिव्य-दृष्टिदान स्वरूप चिह्नके द्वारा नराकृति चतुर्भुजसे देवाकार सहस्रशीर्षमूर्त्तिका उत्कर्ष कहा गया तो यह कथन भी अविचारित अर्थात् अयौक्तिक है, क्योंकि देवाकार उनका चतुर्भुजरूप नराकृतिके अधीन है। उनका चतुर्भुजत्व भी युक्तियुक्त है—जो कारण-समुद्र-जलमें योगनिद्राका सेवन करते हैं इत्यादि स्मरणके कारण। यह नराकृति कृष्णरूप सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है तथा समस्त वेदान्त-वाक्योंका वेद्य हैं। वे विभु हैं अर्थात् वे सर्वावतारी (समस्त अवतारोंके कारण एवं मूल) हैं॥ २४॥

सूत्र—प्रकाशवच्चावैशेष्यात्॥ २५॥

सूत्रार्थ—'प्रकाशवत्' अग्निके समान, 'अवैशेष्यात्' स्थूलता और सूक्ष्मता रूप विशेष धर्म उनमें नहीं है, 'च' इसलिए इस दृष्टान्तसे वे सूक्ष्म रूपमें अदृश्य हैं और स्थूल रूपमें दृश्य हैं—ऐसी व्याख्या नहीं की जा सकती॥ २५॥

सूत्रानुवाद—अग्निमें जिस प्रकारसे सूक्ष्म और स्थूल भेद है, ऐसे भेद परब्रह्ममें नहीं है॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तते। प्रकाशो वह्निः स यथा सूक्ष्मरूपेणाव्यक्तः स्थूलरूपेण तु दृश्यते एवमीश्वर इति चेन्न। कुतः? अग्निवत् सौक्ष्म्यस्थौल्यविशेषाभावात्। *"अस्थूलमनण्वह्रस्वम्"* (बृ॰आ॰ ३/८/८) इति श्रुतेः। *"स्थूलसूक्ष्मविशेषोऽत्र न कश्चित् परमेश्वरे। सर्वत्रैव प्रकाशोऽसौ सर्वरूपेष्वजो यत"* इति स्मृतेश्च॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें 'न' शब्दकी मण्डूकप्लुति-न्यायसे उन्नीसवें सूत्र *'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्'* से अनुवृत्ति है। इसका अर्थ है—यदि कहो, प्रकाश अर्थात् अग्नि जिस प्रकार सूक्ष्म रूपसे अव्यक्त

(अप्रकाश) है, किन्तु स्थूल रूपसे दृश्य है, उसी प्रकार ईश्वर सूक्ष्म रूपसे अव्यक्त हैं और स्थूल (जगदादि) रूपसे दृश्य हैं—यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अग्निके समान उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता है—इस प्रकारसे विशेष धर्म (रूपविशेष) नहीं है। श्रुति कहती है—वे अणु परिमाण नहीं हैं, स्थूल भी नहीं हैं और ह्रस्वाकृति भी नहीं हैं। स्मृति (गरुड़पुराण) में कहा गया है कि ये परमेश्वरका स्थूल अथवा सूक्ष्म ऐसा कोई भी विशेष धर्म नहीं है। वे सर्वत्र समस्त पदार्थोंमें प्रकाशवान हैं, क्योंकि वे नित्यपुरुष एकस्वभाव हैं॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रकाशवदिति। नेत्यनुवर्त्तत इति अम्बुवत् सूत्रात् मण्डुकप्लुत्येति बोध्यम्। स्थूलसूक्ष्मेति गारूडे॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार— *'प्रकाशवदिति'* सूत्रमें 'नेत्यनुवर्त्तते' भाष्यमें मण्डूक-प्लुति न्याय है अर्थात् मेंढक जिस प्रकार एक स्थानसे फलाङ्ग लगाकर दूसरे स्थानपर चला जाता है, इसी प्रकारसे यहाँ *'अम्बुवत् न'* (३/२/१९) इत्यादि पूर्ववर्त्ती सूत्रसे 'न' पदकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति (अथवा अनुकर्षण या आपूर्ति) जाननी चाहिये। *'स्थूलसूक्ष्मविशेषोऽत्र'* इत्यादि श्लोक गरुड़पुराणमें उक्त है॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि कहे कि परब्रह्म अग्निके समान स्थूल रूपसे दृश्य और सूक्ष्म रूपसे अव्यक्त हैं, इसके खण्डनके लिए प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि अग्निके समान जब ब्रह्मकी स्थूल और सूक्ष्म रूप विशेषता नहीं है, तब यह नहीं कहा जा सकता।

श्रुतिमें उन्हें अस्थूल, अनणु और अह्रस्व कहा गया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्॥

(श्रीमद्भा० २/२/३५-३६)

अर्थात् भगवान् सर्वसाक्षी हैं। समस्त प्राणियोंमें वे अन्तर्यामी रूपमें विराजित हैं। अपने चित्तमें बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ उनका अनुमान

करानेवाले लक्षण हैं। अतएव हे राजन्! मनुष्य मात्रको सर्वत्र, सब समय और सभी परिस्थितियोंमें भगवान् श्रीहरिका श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण आदि (तथा पादसेवानादि—नवधाभक्ति) भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। इससे भगवान् श्रीहरिमें परम भक्तियोगका उदय हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई निर्विघ्न पथ नहीं है।

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/८/१७)

अर्थात् इतने ही में भगवान् श्रीहरि अपने सेवक प्रह्लादके वचनोंको तथा अपनी सर्वव्यापकताको सत्य करनेके लिए दैत्य-घातक अति विकराल नृसिंहरूप धारण करके सभाके भीतर उसी खम्भेमेंसे प्रकट हुए। वह रूप न तो पूर्ण रूपसे मनुष्यका था और न ही सिंहका॥ २५॥

अवतरणिका भाष्य—ननु सम्यग्भक्त्या साक्षात्कृतिरनुपपन्ना। तद्वत्स्वपि तद्दर्शनादित्याशङ्क्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि सम्यक् भक्ति द्वारा परमेश्वरका साक्षात्कार होता है—यह उक्ति अयौक्तिक है क्योंकि जो सम्यक् भक्तिमान हैं उन्हें भी तो परब्रह्मका दर्शन प्राप्त नहीं होता। इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तद्वत्स्वपि सम्यग्भक्तिविशिष्टेष्वपि जनेषु भगवत्साक्षात्कारावीक्षणादित्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ननु इति भाष्यमें *'तद्वत्स्वपि'*—सम्यक् भक्ति विशिष्ट लोगोंका भी श्रीभगवान्का साक्षात्कार देखा नहीं जाता। इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

सूत्र—प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्॥ २६॥

सूत्रार्थ—'कर्मणि' उनका ध्यानजनित अर्चनादि 'अभ्यासात्' अभ्यास करते-करते 'च' भी 'प्रकाशः' वे भक्तोंके निकट प्रकाशित होते हैं॥ २६॥

सूत्रानुवाद—कर्मणि अर्थात् संराधन अर्थात् मानसिक अर्चन इत्यादिके पुनः-पुनः अनुष्ठान करके अवाङ्मनस-गोचर श्रीहरिका साक्षात्कार रूप प्रकाश होता है॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय च-शब्दः। तद्ध्याननिर्मिते कर्मण्यर्च्चनादि-केऽभ्यासात्तत्प्रकाशो भवेदेव। *"ध्याननिर्म्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवद्"* इति ब्रह्मोपनिषदादिषु तथा दर्शनात्। अभ्यासेन स्नेहतामापद्यते। ततो दर्शनम्। *"न तमाराधयित्वापि कश्चिद्व्यक्तीकरिष्यति। नित्याव्यक्तो यतो देवः परमात्मा सनातनः"* इत्यत्र तु स्नेहनिहीनमाराधनं बोध्यम्॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द उक्त आशङ्काके निराकरणके लिए है। कर्मणि अर्थात् उनके ध्यान द्वारा रचित (किये गये) अर्चनादि कार्यका अभ्यास करते-करते उनका प्रकाश होता है। ब्रह्मोपनिषद इत्यादिमें उसी प्रकारसे देखा जाता है, यथा ध्यानके मन्थनसे भगवत्-परिचर्या जन्मती है, उस परिचर्याके पुनः-पुनः अनुष्ठानसे भक्त गोपनीय रूपसे दूसरेको साक्षात् हुए बिना परमेश्वरका दर्शन करता है। इस विषयमें युक्ति यह है कि अभ्यासके फलसे प्रेमका उदय होता है, उसके बाद दर्शन होता है। तब जो कहा गया है कि आराधना करके भी कोई व्यक्ति उन्हें प्रत्यक्ष नहीं करता, इसका कारण है कि वे नित्य, अव्यक्त, सनातन, शाश्वत परमपुरुष हैं। बात यह है कि प्रेमहीन आराधना द्वारा उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं हो सकता—इस प्रकारसे सङ्गति जाननी चाहिये॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रकाशश्चेति। तद्ध्यानेति। मानसिकेऽर्च्चनादावभ्यास आवृत्तिस्तत-स्तत्प्रकाशस्तद्दर्शनलक्षणः स्यादित्यर्थः। तत्र प्रमाणं ध्यानेति। ध्यानस्य (यन्निमर्थनं) परिचर्यादिरूपतापत्तिस्तदभ्यासादित्यर्थः। निगूढवदिति। स एव पश्यति न तु सन्निहितोऽप्यतादृगित्यर्थः। मानसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं मुदा। परेऽवाङ्मनसागम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे इति पुराणान्तरे सपरिकरयापि साधनभक्त्या न दर्शनं किन्तु स्नेहरूपयैव तयेत्याह। अभ्यासेनेति। न तमिति ब्रह्मवैवर्त्ते। स्नेहनिहीनमिति। इदमाराधानं स्वर्गाद्यर्थं बोध्यम्॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार—*प्रकाशश्चेति* सूत्रमें *'तद्ध्यानानिर्मिते'* इत्यादि भाष्य है। इसका अर्थ है—मानसिक अर्चन इत्यादिका पुनः-पुनः अनुष्ठान होनेके बाद उनका साक्षात्काररूप प्रकाशित होता है। इस विषयमें *'ध्याननिर्मथ नाभ्यासाद्देवम्'* इत्यादि अर्थात् ध्यानका जो निमर्थन अर्थात् परिचर्या रूपमें परिणति है—उसके पुनः-पुनः अभ्याससे। *'पश्येन्निगूढवत्'* इति अर्थात् वही व्यक्ति उन्हें देख सकता है, इसके विपरीत निकट रहकर भी जो ध्यान-जनित परिचर्यामें रत नहीं है, वह उन्हें नहीं देख सकता। अन्य पुराणमें भी कहा गया है—आडम्बरके साथ साधन-भक्ति करनेसे उनका दर्शन नहीं होता अपितु एकमात्र प्रेमात्मिका भक्ति द्वारा ही सम्भव होता है। इसलिए कहा गया है—मानस उपचार द्वारा उनकी प्रेमपूर्ण परिचर्या करके कोई-कोई व्यक्ति उन अवाङ्मनसगोचर श्रीहरिका साक्षात्कार करते हैं। *'अभ्यासेन स्नेहतामापद्यते'* इति। *'न तमाराधयित्वापि'* इत्यादि श्लोक ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा गया है। *'स्नेहनिहीनमिति'*—स्नेहहीन आराधनाका फल स्वर्गादि जानना चाहिये॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि कहे कि सम्यक् भक्तिके द्वारा भगवान्का साक्षात्कार होता है, यह तो कहा नहीं जाता है, क्योंकि इसी प्रकारके भक्तिमान अनेकोंमें भगवत्-दर्शनका अभाव देखा जाता है। इस प्रकारकी आशङ्काके परिहारके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीभगवान्के ध्यानयुक्त अर्चनादि कर्मके अभ्याससे श्रीभगवान्का प्रकाश होता है।

ध्यानके सम्यक् अभ्यासके फलसे गुप्त रूपमें अर्थात् किसी अन्यके द्वारा बिना साक्षात् किये हुए परब्रह्म आत्मप्रकाश करते हैं—यह श्रुति-सम्मत है। तो साधनभक्तिका यजन करते-करते प्रेमभक्तिका उदय होनेपर उनका दर्शन होता है। किन्तु यदि देखा जाय, तो उनकी आराधना करके भी कोई उनका साक्षात्कार प्राप्त नहीं करता, ऐसा होनेपर यह समझना होगा कि उसकी वह आराधना प्रेमविहीन है। ऐसी स्नेहहीन आराधनाका फल स्वर्गादिकी प्राप्ति है।

भक्ति-माहात्म्यके सम्बन्धमें श्रुतिमें इस प्रकार वर्णन है—*'भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी।'* (३/३/५३ सूत्रका माध्व-भाष्य धृत माठर श्रुति-वचन)

अर्थात् भक्ति ही जीवको भगवान्‌के निकट ले जाती है, भक्ति ही जीवको भगवत्‌-दर्शन कराती है। वे परमपुरुष भगवान् भक्तिके ही अधीन हैं। भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें उल्लेख है—सूर्यकी किरणों और आग्निके तेजको वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा संगठित कर उनसे कार्य संपादन किया जाता है, वैसे ही परमात्माके संराधनसे परमात्माका प्रकाश प्राप्त हो सकता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्॥

(श्रीमद्भा० १/७/४)

अर्थात् भक्तियोगके प्रभावसे श्रीव्यासदेवका मन पूर्णतः एकाग्र और निर्मल होनेपर उन्होंने लीला-परिकरोंके साथ पूर्णपुरुष श्रीकृष्णका दर्शन किया और उनके पृष्ठ भागमें लज्जित भावसे आश्रय लेनेवाली बहिरङ्गा मायाको भी देखा।

श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदके वाक्यमें पाया जाता है—

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः।
आत्मनात्मस्थमात्मानं यथाश्रुतमचिन्तयम्॥
ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्ज्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥

(श्रीमद्भा० १/६/१६-१७)

अर्थात् तदनन्तर उसी निर्जन वनमें मैं एक पीपलके पेड़के नीचे आसन लगाकर बैठ गया और आत्म-बुद्धि द्वारा हृदयस्थित अन्तर्यामी परमात्माका, जैसा उपदेशकोंके मुखसे सुना था, उस मन्त्रोपदिष्ट स्वरूपका ध्यान करने लगा। भक्ति-भावसे शुद्ध निर्मल हृदयमें श्रीहरिके चरणकमलोंका ध्यान करते-करते भगवत्प्राप्तिकी तीव्र लालसासे मेरी दोनों आँखोंसे अश्रुधारा निकलने लगी। तब मेरे शुद्ध हृदयमें श्रीहरि धीरे-धीरे प्रकट हो गये। श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—*'संराधनं तु भक्ति*

ध्यान प्राणिधानाद्यनुष्ठानम्' अर्थात् भगवत्-भक्ति, ध्यान और प्राणिधान आदिके अनुष्ठानको संराधन कहते हैं।

श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—

सत्यं कृपा महत्सेवा श्रद्धा गुरुपदाश्रयः।
भजनेषु स्पृहा भक्तिरनर्थापगमस्ततः॥

निष्ठा रुचिरथासक्तिरतिः प्रेमाथदर्शनम्।
हरेर्माधुर्यानुभव इत्यर्थः स्युश्चतुर्दश॥

भक्तोंके अवश्य प्रयोजनीय चौदह भजनाङ्गकी बात कही गयी है—(१) साधुजनकी कृपा, (२) महत्-सेवा, (३) श्रद्धा, (४) गुरुपदाश्रय, (५) भजनमें स्पृहा, (६) भक्ति, (७) अनर्थ-निवृत्ति, (८) निष्ठा, (९) रुचि, (१०) आसक्ति, (११) रति, (१२) प्रेम, (१३) दर्शन, और (१४) श्रीहरिके माधुर्यका अनुभव।

श्रीमन् महाप्रभुने भी कहा है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
कृष्ण प्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥

तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नामसङ्कीर्त्तन।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेम धन॥

(चै॰च॰अ॰ ४/७०)

भजन-साधनमें सर्वश्रेष्ठ नवविधा-भक्ति है। यह नवविधा-भक्ति (अभिधेय) ही कृष्णप्रेम (प्रयोजन) और कृष्णसम्बन्ध प्रदान करनेके लिए महाशक्ति धारण करती है। साधनभक्ति ही अभिधेय रूपमें प्रकट होकर बादमें प्रेमभक्तिका स्वरूप प्राप्त कराती है, प्रयोजन रूप कृष्णप्रेम ही सर्वतोभावसे कृष्णको प्रदान करता है। इस नवधा-भक्तिमें सर्वश्रेष्ठ नाम-सङ्कीर्त्तन है। जो दस प्रकारके नाम-अपराधसे शून्य होकर निरन्तर अथवा अविश्रान्त रूपसे नामसेवामें रत रहता है, उसे प्रेमधनकी प्राप्ति हो जाती है।

अपराध छाड़ि कर कृष्णसङ्कीर्त्तन।
अचिरात् पाबे तबे कृष्णेर चरण॥

(चै॰च॰अ॰ ७/३३)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुने कहा—हे वल्लभभट्ट! अपराधोंको छोड़कर श्रीकृष्णका कीर्त्तन करो, तभी तुम्हें अविलम्ब श्रीकृष्णके चरणोंकी प्राप्ति होगी।

श्रीमन्मध्वभाष्यका सार इस प्रकार है—

यदि ब्रह्म सर्वथा ही अव्यक्त होंगे तो उनकी भक्तिका प्रयोजन ही क्या है? इस प्रकारकी आशङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—ब्रह्मके अव्यक्त होनेपर भी उनमें श्रवणादि भक्तिका अभ्यास होता है, तो उनका प्रकाश होता है। श्रुतिमें भी है—*'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो'* (बृ॰आ॰ २/४/५), अर्थात् हे मैत्रेयि! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—ननु प्रत्यङ्ङीश्वरस्तस्य पुनरभिव्यक्तिरिति इदमभिधानं विरुद्धम्। साक्षात्कारसाधनोक्तिवैयर्थ्यात् प्रत्यक्त्वप्रहाणाच्चेति चेत्तत्राह।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति है ईश्वर यदि प्रत्यक् (व्यापक) स्वरूप हैं तो उनकी अभिव्यक्ति कैसे—यह तो परस्पर विरुद्ध कथन है। उनके साक्षात्कारके साधन-निर्देश (उक्तिसमूह) जिस हेतुसे है, उसी हेतुसे उनमें उनके प्रत्यक्-रूपत्व (व्यापकत्व) की हानि होती है। अतएव यह अभिव्यक्ति विरुद्ध (व्यर्थ) है, यह यदि कहते हो तो इसके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। साध्यद्वये हेतुद्वयं क्रमाद्योज्यम्। प्रतीचापि भगवतेत्यादि। अत्र प्रत्यक्परेशस्वरूपशक्तिवृत्तित्वाद्भक्तेरपि तद्वत् प्रत्यक्त्वेन भाव्यम्। ततः कथं तस्या मुमुक्षुजनकरणग्राह्यत्वमिति चेच्छङ्क्येत तर्हि तादृगपि सा तन्निष्ठविशेषमहिमा तद्भिन्नतयावभाता सत्प्रसङ्गानुगतातर्क्यतदिच्छया तप्तायःपिण्डन्यायेन तत्करणान्यात्मसात् कृत्वा तेषु तं प्रकाशयतीति द्विविधवाक्यवलाच्छक्यतेऽभिधातुमिति सन्तोष्टव्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ईश्वर प्रत्यक् स्वरूप हो नहीं सकते, यह एक साध्य है अर्थात् पूर्वपक्षीके प्रमाण द्वारा साधनीय (सिद्ध किये जाने योग्य) है, और एक साधनीय यह है कि उन प्रत्यगात्माकी अभिव्यक्ति हो नहीं सकती। इसमें दो हेतु यथाक्रमसे योजनीय हैं अर्थात् वे प्रत्यक्रूपी नहीं हो सकते क्योंकि यदि ऐसा

कहते हैं तो उनके साक्षात्कारके उपायका कथन व्यर्थ होता है और यदि अभिव्यक्तिका अभाव कहते हैं तो इसमें हेतु यह है कि उनके प्रत्यक्‌रूपत्वकी हानि होती है। भाष्यमें कथित *'प्रतीचापि भगवतेत्यादि'* वाक्यका तात्पर्य यहाँ जानना होगा। कारण स्पष्ट है कि प्रत्यक् परमेश्वरकी स्वरूपशक्तिकी वृत्तिमें भक्ति वर्त्तमान है, इसलिए उस भक्तिका भी परमेश्वरके समान प्रत्यक्‌त्व (व्यापकत्व) है। यहाँ आशङ्का यह हो सकती है कि यदि ऐसा ही है तो किस प्रकारसे वह भक्ति मुक्तिकामी लोगोंके द्वारा इन्द्रियग्राह्य हो सकती है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि भक्ति प्रत्यक्‌स्वरूपा होनेपर भी भगवन्-निष्ठ विशेष महिमाके कारण उस प्रत्यक् शक्तिसे प्रत्यक् भक्ति भिन्न रूपमें प्रतिभात होकर साधुसङ्गानुसारिणी होती है। उनकी अतर्क्य इच्छासे अथवा तप्त लौह-पिण्ड न्यायसे—अर्थात् जिस प्रकार अग्नि-सन्तप्त लौह-पिण्डको अग्निसे पृथक् करनेपर—अग्निमें ताप होता है, अतः अग्नि-सन्तापके कारण अग्निको पृथक् करना होता है, इसी प्रकार—श्रीहरि भक्तकी इन्द्रियाँ भगवान् द्वारा आत्मसात किये जानेसे उनमें वे प्रत्यगात्मास्वरूपको प्रकाश करते हैं। इन दोनों प्रकारके वाक्योंके आधारपर प्रत्यगात्माकी अभिव्यक्ति और साधनानुष्ठानकी उक्ति अविरुद्ध कही जा सकती है। इसी रूपमें सुधीगण सन्तोष प्राप्त करें।

सूत्र—अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्॥ २७॥

सूत्रार्थ—'अतः'—इसलिए यह कहा जा सकता है कि 'अनन्तेन'—वे प्रत्यग् आत्मा और ध्यानकारीके प्रत्यक्ष विषय हैं अर्थात् वे भक्तोंके लिए दृश्य हैं 'तथा हि लिङ्गम्'—श्रौत-वाक्योंमें इसका प्रमाण है कि वे श्रीभगवान् अनन्त, असीम प्रत्यगात्मा होकर भी भक्ति द्वारा प्रसन्न होनेसे भक्तोंके निकट अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं—यह अवश्य ही स्वीकार्य है॥ २७॥

सूत्रानुवाद—परमेश्वरके प्रेमवश प्रत्यक्ष होनेपर भी उनके प्रत्यक्‌त्वकी हानि नहीं होती। परासंज्ञक स्वरूपशक्तिके वृत्तिभूत भक्तिरसमें वे भजनकारियोंके निकट कृपापूर्वक प्रकाशित होते हैं। श्रौत-वाक्य इसके प्रमाण हैं। अतः यह अवश्य स्वीकार्य है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—अतः प्रत्यक्त्वे ध्यातृगोचरत्वे च प्रमाणलाभादनन्तेनापरिच्छिन्नेन प्रतीचापि भगवता भक्तिप्रसन्नेन स्वभक्तेषु स्वस्वरूपमभिव्यज्यते निजाचिन्त्यकृपा-शक्तियोगादिति स्वीकार्यम्। इदं कुतस्तत्राह तथेति। *"विज्ञानघनानन्दघनासच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति"* (गो॰त॰उ॰ ७९) इत्यथर्वश्रुतिलिङ्गादित्यर्थः। कृपयैव भजत्सु व्यक्तिः। *"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः। तामृते परमात्मानं कः पश्येतामितं प्रभुम्"* इति स्मृतेः। स्वयञ्चाप्येतद्व्यञ्जितम्। *"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते माम बुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाव्यमनुत्तमम्"* (श्रीगी॰ ७/२४) इति। प्रेम्णा गोचरेऽपि प्रत्यक्त्वं न हीयते। तस्य स्वरूपशक्तिवृत्तित्वात्। प्रेमविहीनेषु त्वाभासरूपेणैव व्यक्तिः। *"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः"* (श्रीगी॰ ७/२५) इति तदुक्तेः। अतएव परमानन्दादिरूपस्य तस्य दारुणत्वादिनावभासः। तथा च प्रेमेतरकरणाग्राह्यत्वमेव प्रत्यक्त्वम्॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अतएव श्रीभगवान् प्रत्यक्रूपी हैं और ध्यानकारियोंके प्रत्यक्षके विषय हैं—इस विषयमें प्रमाण पाया जाता है। अनन्त अर्थात् परिसीमाहीन प्रत्यगात्मा भी भक्तिसे प्रसन्न होकर अपने भक्तोंके लिए अपने स्वरूपको अपनी अचिन्तनीय कृपाशक्तिके योगसे अभिव्यक्त करते हैं—यह स्वीकार करना होगा। क्या किसी प्रमाणसे कह रहे हो? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'तथाहि लिङ्गम्'*—हाँ ऐसे बहुत-से श्रौत प्रमाण हैं। यथा अथर्वश्रुति है—*'विज्ञानेति'* अर्थात् विज्ञानमूर्त्ति, आनन्दमूर्त्ति श्रीहरि सच्चिदानन्दरसमें भक्तियोगसे वर्त्तमान रहते हैं अर्थात् प्रकाशित होते हैं। भजनकारियोंमें कृपावश ही उनका प्रकाश है। स्मृति-वाक्य (नारायणाध्यात्मोपनिषद) भी इसी प्रकारसे है, यथा—नित्य अव्यक्त होकर भी भगवान् अपनी अचिन्तनीय असाधारण करुणासे भक्तोंके दृष्टिगोचर होते हैं। नहीं तो कौन व्यक्ति सर्वनियन्ता, अपरिच्छिन्न परमात्माका दर्शन कर सकेगा? श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने स्वयं ही इसे अभिव्यक्त किया है, यथा *'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्'* इत्यादि अर्थात् अव्यक्तस्वरूप मुझे मूर्खलोग व्यक्तित्वापन्न (मायिक आकारवाला) मानते हैं अर्थात् मुझे मनुष्य मानते हैं, किन्तु वे नहीं जानते कि मैं परब्रह्म प्राकृत इन्द्रियग्राह्य न होनेपर भी भक्तिग्राह्य हूँ—इस तत्त्वसे वे अवगत नहीं हैं—यह तत्त्व इस प्रकारसे है—मैं माया और मायिक वस्तुसे अतीत हूँ, अतएव नित्य हूँ और अति स्पृहणीय हूँ। यदि कहो, प्रत्यक्ष विषयवस्तु किस प्रकारसे प्रत्यक् स्वरूप होगी? इसमें कोई भी

असङ्गति नहीं है। यही कहते हैं—प्रेमके कारण प्रत्यक्ष होनेसे उनके प्रत्यक्त्वकी कोई हानि नहीं है, क्योंकि यह प्रेम उनकी स्वरूपशक्तिका कार्य है। शक्ति और शक्तिमान अभिन्न हैं और जो प्रेमहीन व्यक्तिमें उनका प्रकाश है, उसे आभास रूप ही जानना होगा। यह बात भगवान्ने अपने श्रीमुखसे स्वयं कही है—'मैं योगमायासे समावृत हूँ—इसलिए सबके निकट प्रकाशवान् नहीं होता।' इसलिए ही परमानन्दरूपी श्रीहरि अति दारूणादि अर्थात् भयावह रूपमें भी प्रकाशित होते हैं। सिद्धान्त यह है कि प्रत्यक्त्वरूप कहनेसे तात्पर्य है प्रेम-भिन्न इन्द्रियों द्वारा वे ग्राह्य नहीं हैं॥ २७॥

सूक्ष्मा-टीका—अत इति। इदमिति। विज्ञानघनेत्यादिकं व्याख्यातं प्राक्। सच्चिदानन्दैकरसे पराख्यस्वरूपशक्तिवृत्तीभूतह्लादिन्यादिसारात्मके इत्यर्थः। तिष्ठति प्रकाशते। कृपयैवेति। व्यक्तिः प्रकाशः। नित्याव्यक्त इति नारायणाध्यात्मे। निजशक्तितोऽविचिन्त्यासाधारणकारुण्यात्। नारायणीयभीष्मवाक्यञ्चैवम्। प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेवः सनातनः। साक्षात्तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचिदिति। तमुपविचरवसुं प्रति स्वमिति शेषः। अग्रे वस्वादिवाक्यञ्च। न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते। यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हतीति। स्वयञ्चेति। भगवतापि स्वगीतास्वेतत् प्रकाशितमित्यर्थः। अव्यक्तमिति। अबुद्धयो मत् स्वरूपयाथात्म्यानभिज्ञा जनाः। अव्यक्तमिन्द्रियाग्राह्यमात्मविग्रहं मां व्यक्तिमापन्नस्तद्ग्राह्यं मनुष्यं मन्यन्ते जानन्ति। मम परब्रह्मणो भावमग्राह्यत्वे सत्येव भक्तिग्राह्यत्वरूप-स्वभावमजानन्तः। भावं कीदृशं मायादितः परम्। अतोऽव्ययं नित्यम्। अनुत्तममतिश्लाघ्यम्। ननु मुमुक्षुकरणैर्गृह्यमानस्य कथं प्रत्यक्त्वं श्रद्दध्नाहे इति चेत्तत्राह प्रेम्णेति। प्रेम्णा गोचरोऽपि परेशः प्रत्यङ्ङ्व। तस्य तत्स्वरूपशक्तिवृत्तेस्तदभेदात्। न हि चक्षुः प्रकाशग्राह्यस्य रवेरप्रकाशत्वमस्ति। ननु प्राकट्यावसरे सर्वेषां तद्दर्शनं तत्तेषामव्यक्तमानिनां कथमिति चेत्तत्राह नाहमिति। अतएवेति तद्विमुखष्वसुरेषु तदाविष्टेषु चेत्यर्थः॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार—*'अथ'* इत्यादि सूत्रमें *'इदं कृतः'* इत्यादि भाष्यमें *'विज्ञानघनानन्दघना'* इत्यादि वाक्यकी पहले ही व्याख्या हो चुकी है। *'सच्चिदानन्दैकरस इति'*—परा संज्ञक स्वरूपशक्तिकी वृत्तीभूत जो ह्लादिनी, संविदादि शक्तियाँ हैं, उनके सारभूत भक्तिरसमें वे ठहरते हैं अर्थात् प्रकाश पाते हैं। *'भजत्सु व्यक्तिः'* वे भजनकारियोंके निकट कृपापूर्वक प्रकाशित होते हैं। *'नित्याव्यक्तोऽपि भगवान्'* इत्यादि श्लोक नारायणाध्यात्म-

उपनिषदमें है। *'निजशक्तितः'* अर्थात् अचिन्तनीय असाधारण करुणावश होकर। नारायणके सम्बन्धमें भीष्म-वाक्य भी इस प्रकारसे है—यथा उपरिचर वसुके प्रति प्रसन्न होकर देवादिदेव शाश्वतपुरुष श्रीभगवान्ने उन्हें अपने स्वरूपका साक्षात्कार कराया था किन्तु अन्य किसी पुरुषके द्वारा वे दृश्य नहीं हैं। इस श्लोकके अन्तर्गत 'तम्' शब्दका अर्थ है *'उपरिचर वसुके प्रति'*, 'दर्शयामास' क्रियाका कर्म है 'स्वम्' यह अध्याहार्य है। इसके बाद वसु इत्यादिके वाक्य भी हैं यथा—हे बृहस्पते! तुम या हम अथवा हमारे किसीके भी द्वारा उनका दर्शन नहीं किया जा सकता। वे जिसपर अनुग्रह करते हैं, वही व्यक्ति उनके दर्शन प्राप्त कर सकता है *'स्वयंञ्चाप्येतद्व्यञ्जितम्'* इति अर्थात् स्वयं श्रीभगवान्ने भी स्व-वर्णित गीता-ग्रन्थमें स्वयं यह प्रकाश किया है—*'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नमित्यादि'* में 'अव्यक्तम्' अर्थात् स्व-स्वरूपमें मैं प्राकृत इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य हूँ, ऐसे आत्मविग्रह मुझे मूर्ख व्यक्ति मानते हैं कि मैं इन्द्रिय-ग्राह्य मनुष्यरूपको प्राप्त होता हूँ। किन्तु वे परब्रह्म मेरे भाव (स्वरूप) का अर्थात् इन्द्रिय-ग्राह्य होकर भी केवल भक्ति-ग्राह्य स्वरूप हूँ, यह नहीं जानकर ऐसा मान लेते हैं। यह तत्त्व किस प्रकारका है—वही बतलाते हैं—वे पर अर्थात् माया एवं मायिक कार्यसे अतीत हैं, अतएव नित्य एवं अति-स्पृहणीय है। यदि कहो, मुमुक्षुव्यक्ति जिन्हें इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते हैं, उन्हें प्रत्यक्स्वरूप (अपरिच्छिन्नस्वरूप) के रूपमें कैसे विश्वास करें? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'प्रेम्णा गोचरत्वेऽपि प्रत्यक्त्वं न हीयते'* प्रेमवश परमेश्वरके प्रत्यक्ष होनेपर भी उनके प्रत्यक्त्वकी हानि नहीं होती क्योंकि प्रेम उनकी स्वरूपशक्तिकी एक वृत्ति-विशेष है। इसलिए वे उससे (स्वरूपशक्ति-प्रेमसे) अभिन्न हैं। दृष्टान्त यह है कि चक्षुके प्रकाश द्वारा ग्रहणीय सूर्य क्या अप्रकाश होते हैं? ऐसा तो है नहीं। प्रश्न यह है कि यदि वे प्रकट होते हैं तो उस प्रकारसे प्रकटनके समय सभीको उनके स्वरूपका दर्शन हो, केवल ब्रह्मके अव्यक्त स्वरूपका चिन्तन करनेवालोंको ही क्यों वे प्रत्यक्ष होते हैं? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—*'नाहं प्रकाशः सर्वस्य'* इत्यादि। अतएव *'परमानन्दादिरूपस्येति'* इसका मर्मार्थ यह है कि जो भगवत्-विमुख हैं उन असुरोंके और आसुरिक भावापन्न व्यक्तियोंके निकट वे प्रकट नहीं होते॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि श्रीभगवान् प्रत्यक्स्वरूप होकर भी किस प्रकारसे किसीके भी निकट स्वयंको अभिव्यक्त करेंगे? ऐसे तो व्यापक स्वरूपकी अभिव्यक्ति विरुद्ध हो पड़ती है। इस प्रकारके पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि व्यापकस्वरूप एवं ध्यानगोचर स्वरूप होकर भी वे भक्तकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भक्तके निकट अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं। इससे उनके अनन्त, अपरिच्छिन्न और व्यापक स्वरूपकी कोई हानि नहीं होती। यही उनकी अचिन्त्यशक्तिमत्ताका परिचय है। इस विषयमें श्रुति एवं स्मृति प्रमाण हैं।

नारायणाध्यात्म विद्यामें वर्णन प्राप्त होता है—(१) नारायणके सर्वदा अव्यक्त होनेपर भी उनकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे उनका दर्शन किया जा सकता है। उनके अनुग्रहके बिना कोई भी उनका दर्शन नहीं कर सकता।

(२) श्रीगीतामें भी स्वयंभगवान्ने निज श्रीमुखसे कहा है—निर्बोध व्यक्ति मेरे सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, अव्यय, अप्राकृत स्वरूप एवं जन्मलीलादिको जान नहीं सकते। वे समझते हैं कि प्रपञ्चातीत मुझे प्राकृत मनुष्यादि शरीर प्राप्त होता है।

अखिलदेहिनामन्तराद्दृक प्रेममय श्रीभगवान् प्रेमके द्वारा स्वयंको अभिव्यक्त करते हैं, तो इससे उनके व्यापकत्वकी हानि नहीं होती क्योंकि प्रेम उनकी स्वरूपशक्तिकी वृत्ति-विशेष है। श्रीभगवान्ने कहा है—मैं योगमायासे समावृत हूँ, इसलिए सबके निकट प्रकट नहीं होता। जो भगवान्से विमुख हैं स्नेह विहीन हैं, उन असुरों और आसुरिक भावापन्न व्यक्तियोंके निकट वे प्रकट नहीं होते।

श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदके वाक्य हैं—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्-
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/१०/४८)

अर्थात् युधिष्ठिर! इस मनुष्य-लोकमें तुमलोग अतिशय भाग्यवान हो, क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण मनुष्य रूपमें गुप्त रूपसे निवास करते हैं। इसी कारण जगत्को पवित्र करनेवाले मुनिगण उनका दर्शन करनेके लिए बार-बार तुम्हारे घर आया करते हैं।

नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८/४६)

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! नन्दबाबाने ऐसा कौन-सा बड़ा मङ्गलमय साधन किया था? और महा भाग्यवती यशोदादेवीने भी ऐसी कौन-सी तपस्या थी, जिसके कारण स्वयंभगवान्ने अपने मुखसे उनका स्तनपान किया।

श्रीशुकवाक्यमें भी पाया जाता है—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्व्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥

(श्रीमद्भा॰ १०/९/१३-१४)

सर्वव्यापक होनेके कारण जिनमें न बाहर है और न भीतर, न आदि है, न अन्त, जो जगत्से पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे जो सर्वकाल एक ही स्वरूपमें नित्य विराजमान रहते हैं, जो जगत्के कार्य और कारण हैं, एवं जगत्-स्वरूप हैं, उन अव्यक्त मनुष्याकृति श्रीकृष्णको अपना पुत्र मानकर यशोदादेवीने साधारण बालकके समान उन्हें रस्सीसे ऊखलके साथ बाँध दिया॥ २७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ स्वरूपाद्गुणानामभेदः प्रतिपाद्यते। भेदे हि तस्मात्तेषां गौण्यात्तद्भक्तेरपि तत् स्यान्न चैवमस्ति तेषु तस्याः प्राधान्येनानुभवात्। *"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"* (बृ॰आ॰ ३/९/२८) *"यः सर्वज्ञः सर्व विदानन्दं ब्रह्मणो विद्वान्"* (मु॰ १/१/९) इत्यादीनि वाक्यानि श्रूयन्ते। तत्र संशयः। भजनीयं ब्रह्म ज्ञानानन्दो ज्ञानानन्दि वेति। द्विविधवाक्यदृष्टैरनिर्णयेन भाव्यमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब उनके स्वरूपसे उनके गुणके अभेदका निरूपण किया जाता है। युक्ति यह है कि यदि गुणसे

भगवत्-स्वरूपका भेद होता तो उस स्वरूपसे गुणके अप्राधान्यके कारण अर्थात् गुणीसे गुणके भेदके कारण उनकी भक्ति भी अप्रधान (गौण) होती, परन्तु ऐसा तो है नहीं प्रत्युत् गुणमें ही भक्ति प्रधान रूपसे विराजमान देखी जाती है अर्थात् यदि परमेश्वरकी सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्व, करुणा इत्यादि गुण न रहते तो कोई भी उनका भजन नहीं करता। अतएव गुण ही मुख्य रूपसे ध्येय देखे जाते हैं। अब सिद्धान्तके लिए विषय-वस्तुकी अवतारणा करते हैं। श्रुति-वाक्य है—*'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'* (बृ॰आ॰ ३/९/२८) अर्थात् विज्ञान एवं आनन्द ब्रह्मके स्वरूप हैं—इस श्रुतिमें गुणको गुणीस्वरूप कहा गया है। पुनः *'यः सर्वज्ञ सर्ववित्'* (मु॰ १/१/९) अर्थात् जो सर्वविषयक ज्ञानसम्पन्न सत्यसङ्कल्प हैं—इस श्रुतिमें भी ब्रह्मके सर्वविषयक ज्ञान और सत्यसङ्कल्प धर्मको गुण रूपमें कहा गया है। *'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'* (तै॰ २/४/१) अर्थात् ब्रह्मको आनन्दस्वरूप जाननेपर धर्म-धर्मीका स्पष्ट भेद प्रतिभात होता है। अब संशय यह है कि भजनीय ब्रह्म क्या ज्ञानानन्दस्वरूप हैं? अथवा ज्ञानानन्दी हैं? इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं जब दो प्रकारके वाक्य श्रुत हैं, तब निश्चय (निर्णय) नहीं किया जा सकता। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादि। पूर्वत्र भक्तिव्यङ्ग्यत्वं परमात्मनो निरूपितम्। तदुक्तयुक्तेरस्तु, गुणात्मकत्वं तु (मास्तु) गुणानां तस्माद्भेदानुभवात्तथोक्तेश्चेति प्रत्युदाहरणसङ्गतिः। अत्रैवमाक्षेपः। क्व भक्तिरात्मनि तद्गुणेषु वा नाद्यः गुणानेवोद्दिश्य तस्याः प्रतीतेः नास्त्यः आत्मोपसृष्टैषु तेषु तदनुदयादित्याक्षिप्य समाधानात् सैव सङ्गतिः। अथ स्वरूपादिति। भेदे हीति। तस्मात् स्वरूपात्तेषां गुणानां गौण्यान्नि-हीनत्वात्तद्भक्तेर्गुणविषयभक्तेरपि तद्गौण्यं स्यादित्यर्थः। ओमिति चेत्तत्राह न चैवमिति। तेष्विति। गुणेष्वेव भक्तेः प्रधानतयानुभवात् यदि सार्वैश्वर्यसार्वज्ञ्यकारुण्यादयो गुणा न स्युः तर्हि न कोऽपि त्वं भजेदिति तद्गुणानां मुख्यतया ध्येयत्वस्य स्फुरणादिति यावत्। तस्माद्गुणगुणिनोरद्वैतेन भक्तिः कार्येऽति सिद्धान्तं प्रतिपादयितुं विषयवाक्यमुदाहरति विज्ञानमित्यादि। भजनीयमिति। ब्रह्म स्वप्रकाशानन्दत्मकं स्वप्रकाशानन्दधर्मकं वेत्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व सूत्रमें ब्रह्मको भक्ति-व्यङ्ग्य् (भक्ति द्वारा प्रकाश्य) कहकर सिद्धान्त किया गया था और यह पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार स्वीकार्य है किन्तु ब्रह्म गुणस्वरूप नहीं हो सकते क्योंकि ज्ञानानन्द इत्यादि गुणोंके गुणी उन ब्रह्मसे गुणका भेद ही

अनुभूत होता है और इस प्रकारकी उक्ति भी है यथा *'आनन्दं ब्रह्मणो रूपमित्यादि'*—इस प्रकारसे प्रत्युदाहरण सङ्गति इस अधिकरणमें जाननी चाहिये। यहाँ यह आक्षेप (प्रश्न अथवा संशय) होता है कि भक्ति किसमें करनी चाहिये? परमात्मामें? अथवा उनके गुणमें? इनमेंसे प्रथम अर्थात् परमेश्वरमें भक्ति करनी चाहिये, यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि भक्ति गुणको लक्ष्य करके होती है अर्थात् भक्ति जो प्रतीत होती है, उसमें गुणका ही वर्णन देखा जाता है। पुनः द्वितीय अर्थात् गुणके प्रति भक्ति होती है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा विशेष्य है, गुण विशेषण है अतः गुण अप्रधान है; इसमें भक्तिका उदय हो नहीं सकता—इस आक्षेपके बाद उसके समाधानके लिए आक्षेप-सङ्गति ही यहाँ ग्राह्य है। *'अथ स्वरूपादित्यादि'* भाष्यमें *'भेदे हि तस्मात्तेषामित्यादि'* भाष्यकी व्याख्यामें 'तस्मात्' का अर्थ है स्वरूपसे 'तेषाम्' का अर्थ है गुणोंका, 'गौण्यात्' का अर्थ है अप्रधानत्वके कारण, हेयत्वके कारण गुण-विषयक भक्ति भी अप्रधान होती है, यह तात्पर्य है। यदि कहो, गुण भक्ति अप्रधान ही रहे, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—*'न चैवमिति'*—ऐसा नहीं है क्योंकि गुणोंके प्रति ही भक्ति प्रधान रूपसे अनुभूत होती है। यदि भगवान्के सार्वेश्वर्य अर्थात् सर्वाधिपत्य, सर्वज्ञता, परमकारुणिकत्व—इत्यादि ये समस्त गुण न रहते तो कोई भी उनका भजन नहीं करता। अतएव उनके गुणोंकी ध्येयता ही प्रधान रूपसे प्रकाश पाती है। अतः गुण और गुणीके अभेदको जानकर ही भक्ति करनी चाहिये—इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए इस अधिकरणमें विषय-वाक्य उत्थापित कर रहे हैं—*'विज्ञानमित्यादि।' 'भजनीयं ब्रह्म ज्ञानानन्दो ज्ञानानन्दि वा'* इति अर्थात् भजनीय ब्रह्म स्वरूपतः प्रकाशानन्द स्वरूप हैं? अथवा उनका स्वरूप प्रकाशानन्द धर्मसे विशिष्ट (युक्त) है?

अहि-कुण्डलाधिकरणम्

सूत्र—उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्॥ २८॥

सूत्रार्थ—'उभयव्यपदेशात्'—ब्रह्मका ज्ञानानन्दमयत्वस्वरूप धर्मीभावमें और ज्ञानानन्दस्वरूप धर्मभावमें है—इन दोनों प्रकारके उल्लेखके कारण

'तु' केवल श्रुति द्वारा जाना जाता है। दृष्टान्त है—'अहिकुण्डलवत्' जिस प्रकार अहिकुण्डल कहनेपर 'अहि ही कुण्डल है'—यह कहनेसे कुण्डल जिस प्रकार उसका विशेषण है, उसी प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्मका ज्ञानानन्द विशेषण है॥ २८॥

सूत्रानुवाद—अहिका अवयव-संस्थान-विशेष कुण्डल जैसे अहिसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परमेश्वरके विग्रहसे सार्वेश्वर्यादि (सर्वेश्वरत्वादि) गुण भी अभिन्न हैं। वे कभी ज्ञानानन्द स्वरूपमें और कभी ज्ञानानन्द गुण-विशेषत्व-स्वरूपमें प्रकाशित होते हैं॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—ज्ञानानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणो ज्ञानानन्दो धर्मत्वेन मन्तव्यः अहिकुण्डलवत्। कुण्डलात्मनोऽप्यहेर्यथा कुण्डलं विशेषणत्वेन मन्यते तद्वत्। कुत एतत्? तत्राह उभयेति। उक्तश्रुतिषूभयाभिधानादित्यर्थः। तु-शब्देन श्रुत्येकगम्यता दर्शिता। अविचिन्त्यत्वादित्थं भाति। न च द्विविधवाक्योपलम्भात् पाक्षिकं स्वरूपं, न वा स्वगतभेदवदिति॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्मके ज्ञानानन्दस्वरूप होनेपर भी ज्ञानानन्दको उनके धर्मके रूपमें (विशेषण रूपमें) विचार करना होगा। जिस प्रकार अहिकुण्डल शब्द धर्मीबोधक होनेपर भी धर्मबोधक है अर्थात् कुण्डलस्वरूप होनेपर सर्पके कुण्डलको जिस प्रकार विशेषण रूपमें माना जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मके ज्ञानानन्दात्मक होनेपर ज्ञान और आनन्दको उनका विशेषण माना जाता है। क्या इसमें कोई प्रमाण कहा गया है? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'उभयव्यपदेशात्'* उक्त विषयमें श्रुति ही द्विविध रूपोंको बतलाती है। सूत्रस्थ 'तु' शब्द द्वारा श्रुतिमात्रसे इस सबकी बोध्यता दिखायी गयी है, क्योंकि अचिन्तनीय शक्तिमत्ताके कारण वे इस प्रकारसे अर्थात् ज्ञानानन्द स्वरूपमें और ज्ञानानन्दविशिष्ट रूपमें प्रकाशित होते हैं। यदि कहो कि जब श्रुतियाँ दो प्रकारकी हैं, तब इसका तात्पर्य है कि ब्रह्मका स्वरूप पाक्षिक है अर्थात् कदाचित् ब्रह्म निर्गुण हैं और कदाचित् ब्रह्म सगुण हैं, तो यह नहीं कहा जा सकता और इसी प्रकारसे स्वगत भेदविशिष्ट ब्रह्म हैं—यह भी नहीं कहा जा सकता॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—उभयेति। अहीति। अहेः संस्थितिविशेषः कुण्डलम्। तदयथा ततो नातिरिच्यते तथा विग्रहादात्मनः सार्वैश्वर्यादिकमिति। अविचिन्त्यत्वादविचिन्त्य-

शक्तिमत्वात् तद्रूपविशेषयोगादिति यावत्। इत्थमिति। तादृशस्वरूपत्वेन तादृशगुणवत्त्वेन चेत्यर्थः। पाक्षिकमिति। क्वचिन्निर्गुणं क्वचित् सगुणं चेत्यर्थः। अनुष्ठेयं कर्म खलु द्विरूपं दृष्टम्। षोडशियोगायोगाभ्यामतिरात्रवत् ब्रह्म तु परिनिष्पन्नमेकविधमिति॥ २८॥

सूक्ष्मा–सार— *'उभयव्यपदेशादित्यादि'* सूत्रमें *'अहिकुण्डलवदिति'* भाष्यमें अहिके (सर्पके) अवयव-संस्थान विशेष कुण्डल—यह जिस प्रकार अहिसे भिन्न नहीं है (अवयव-अवयवी अभिन्न होते हैं—इस मतसे) उसी प्रकार परमेश्वरके विग्रहसे सार्वेश्वर्यादि (सर्वेश्वरत्व) गुण भी अभिन्न हैं। इसी कारण वे अचिन्तनीय शक्तिशाली हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, उसी योग-विशेषके कारण। यह तात्पर्य है। *'इत्थमित्यादि'* का अर्थ है कहीं ज्ञानानन्द स्वरूपमें और कहीं ज्ञानानन्द गुणविशिष्ट (गुण-युक्त) रूपमें ब्रह्म प्रकाशित होते हैं। इस प्रकारसे दो प्रकारकी श्रुति प्राप्त होनेके कारण तो उनका स्वरूप पाक्षिक हुआ अर्थात् जब वे निर्गुण हैं, उस समय वे ज्ञानानन्दस्वरूप हैं और जब वे सगुण हैं, उस समय ज्ञानानन्दविशिष्ट हैं यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि इससे तो उनका स्वगत-भेद हो जाता है और ब्रह्म त्रिविध-भेद अर्थात् सजातीय विजातीय और स्वगत-भेदसे रहित हैं। बात यह है कि अनुष्ठेय (अनुष्ठान-साध्य) कर्म दो प्रकारके हो सकते हैं—जैसे कि अतिरात्र याग (ज्योतिष्टोम यज्ञका एक विकल्प) षोडशि (सोमपात्र विशेष) विशिष्ट और षोडशि (अग्निष्टोम यज्ञका रूपान्तर) ग्रहण भाव-विशिष्ट—ये असिद्ध वस्तु हैं परन्तु ब्रह्म एक ही प्रकारकी सिद्ध वस्तु है॥ २८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार श्रीभगवान्‌का स्वरूप जो उनके गुणके साथ अभिन्न है, उसीका प्रतिपादन किया जा रहा है। इसमें भेदका विचार उपस्थित रहनेसे भक्ति भी गौणी हो पड़ती है, किन्तु भक्ति कभी भी गौणी नहीं हो सकती, क्योंकि भक्तिकी प्रधानता सर्वदा ही अनुभूत होती है।

बृहदारण्यकमें पाया जाता है *'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'* (बृ॰आ॰ ३/९/२८) 'विज्ञान आनन्द ब्रह्म है' (विज्ञप्तिका नाम विज्ञान है, वही आनन्द भी है इस प्रकार ब्रह्म विज्ञान और आनन्द इन दो विशेषणोंसे युक्त हैं)

और मुण्डकमें है—*'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'* (मु॰ १/१/९) 'जो स्वरूपतः सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता अर्थात् समस्त विषयोंके ज्ञाता हैं' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मको गुणस्वरूप और गुणीस्वरूप दोनों रूपोंमें कहा गया है। इस स्थलपर संशय उपस्थित होता है कि भजनीय ब्रह्म क्या ज्ञानानन्द स्वरूप हैं अथवा वे ज्ञानानन्दी हैं? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जब दो प्रकारके वाक्योंकी उपलब्धि होती है, तब ब्रह्मके स्वरूपका निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि ज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्मके ज्ञानानन्दको धर्म रूपमें जानना होगा, क्योंकि श्रुति दोनों ही रूपोंका वर्णन करती है। अहिकुण्डल इस विषयमें दृष्टान्त-स्थल है। सर्प कुण्डलयुक्त होनेपर भी जिस प्रकार अहि रूपमें अभिन्न है और कुण्डल रूपमें भिन्न, उसी प्रकार ब्रह्म भी ज्ञान और आनन्द-स्वरूप हैं और ज्ञान एवं आनन्दको उनका (ब्रह्मका) विशेषण भी कहा जाता है। उनकी अचिन्त्यशक्तिकी महिमासे दोनों ही सम्भव हैं।

श्रीमध्व-भाष्यमें पाया जाता है—

'स्वरूपेणानन्दादिना कथमानन्दत्वादिरित्यत उच्यते। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् (तै॰ २/४/१)। *अथैष एव परमात्मानन्द इत्युभयव्यपदेशात् अहिकुण्डलवदेव युज्यते यथाहिः कुण्डली कुण्डलञ्च 'तु' शब्दात् केवल श्रुतिगम्यत्वं प्रदर्शयति।'*

अर्थात् श्रुतिमें परमात्माका गुणात्मक एवं गुणी दोनों रूपोंमें व्यपदेश है। जिस प्रकार कुण्डलात्मक सर्प कुण्डल रूपमें व्यपदिष्ट होता है अर्थात् जिस प्रकार सर्पकी कुण्डली रहनेपर सर्पके साथ कुण्डलीका भेद अनुभव होता है और सर्पस्वरूप कुण्डल कहनेपर दोनोंके अभेदकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार आनन्दादि गुणोंसे समन्वित ब्रह्मको भी गुणी कहा जा सकता है। यद्यपि जो गुणस्वरूप है, वह भगवान् नहीं है इत्यादि युक्तियोंके साथ भय विरोधसे ब्रह्मको गुणवान नहीं कहेंगे, तथापि श्रुतिबलसे ब्रह्मके गुण अनुमित होते हैं।

श्रीपाद जीव गोस्वामीने अपनी सर्वसंवादिनीमें श्रीभगवत्-सन्दर्भीय विचारमें इस सूत्रकी श्रीमध्वाचार्यानुसारी व्याख्याके अवलम्बनसे जो कहा है, उसका सार इस प्रकारसे है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै॰ २/१/१) (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप हैं), *'यः सर्वज्ञः'* (मु॰ १/१/९) जो स्वरूपतः समस्त विषयोंके ज्ञाता हैं, *'एष एवात्मा परमानन्दः'* (बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य), *'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'* (तै॰ २/४/१) 'ब्रह्मके आनन्दमय स्वरूपको विशुद्ध मनसे जान लेनेपर' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मका ज्ञानादित्व और ज्ञानादिमत्त्व—दोनों ही व्यपदिष्ट (उपदिष्ट) हुए हैं। सूत्रस्थ 'तु' शब्द यही निर्धारण करता है कि श्रुति ही इस स्थलपर प्रमाण है। अतः श्रीभगवान्में गुण-गुणीके भेद और अभेद निर्देशक दोनों ही लक्षणविशिष्ट व्यपदेशके कारण अहिकुण्डल दृष्टान्त उपयुक्त है। जिस प्रकार अहि कहनेसे कोई भेद परिलक्षित नहीं होता, लेकिन उसके फण, कुण्डल इत्यादि द्वारा भेदकी प्रतीति होती है, ब्रह्मके सम्बन्धमें इसी प्रकारसे जानना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें देवताओंकी स्तुतिमें है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२/२६)

अर्थात् हे भगवन्! आप सत्यसङ्कल्प हैं, आप सत्यव्रत हैं। सत्य ही आपको प्राप्त करनेका श्रेष्ठ उपाय है, इसलिए आप सत्यपरायण हैं। सृष्टि, स्थिति एवं लय—इन तीनों कालोंमें आप समान रूपसे वर्त्तमान रहते हैं, इसलिए आप त्रिसत्य हैं। आप पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) की उत्पत्तिके कारण हैं, पञ्चभूतकी उत्पत्तिके पश्चात् भी आप उनमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान हैं एवं प्रलयकालमें भी आप ही एकमात्र अवशिष्ट रहते हैं। आप ऋत—मधुरवाणी एवं समदर्शनके प्रवर्तक हैं। अतः हम सत्यात्मक आपके शरणागत हो रहे हैं।

श्रीउद्धवजीके वाक्यमें भी—

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्व्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।

निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये॥
(श्रीमद्भा॰ ११/७/१८)

हे भगवन्! इसीलिए मैं चारों ओरसे दुःख-सन्तप्त और वैराग्ययुक्त होकर इस समय देश, काल आदि परिच्छेदसे रहित सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, काल आदिसे वशीभूत नहीं रहनेवाले वैकुण्ठलोकमें अवस्थित सब प्रकारके दोषोंसे रहित जीवोंके कल्याणमें सदा निरत नरके नित्य सखा नारायणरूपी आपके श्रीचरणोंमें शरणागत हो रहा हूँ।

श्रीब्रह्माजीके वचन हैं—

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(श्रीमद्भा॰ ३/९/११)

अर्थात् हे नाथ! (गुरुमुखसे) आपकी कथा सुननेके बाद वे संसारमें आपकी सेवाप्राप्तिके मार्गको जान पाते हैं। आप अपने निजजनोंके भक्तियोगसे पवित्र हुए हृदयकमलमें निश्चय ही सर्वदा विश्राम करते हैं। हे उत्तमश्लोक! भक्त अपनी-अपनी (सिद्धदेहके भावगत) भावनाके अनुसार आपके जिन नित्य स्वरूपोंकी विभावना करते हैं, आप उनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए उन-उन स्वरूपोंको प्रकट करते हैं॥ २८॥

सूत्र—प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्वात्॥ २९॥

सूत्रार्थ—'वा' अथवा 'प्रकाशाश्रयवद्'—प्रकाशस्वरूप सूर्य जिस प्रकार प्रकाशका आश्रय भी है, उसी प्रकार 'तेजस्वात्' ब्रह्म तेजस्वरूप अर्थात् चैतन्यस्वरूप हैं, इसलिए यह निर्णय किया गया है कि वे प्रकाशाश्रय हैं॥ २९॥

सूत्रानुवाद—तेजस्विता रूपसे प्रकाश और उसके आश्रयका जैसा तादात्म्य होता है, उसी प्रकार श्रीहरि ज्ञानाश्रय रूपमें कथित हैं॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—ब्रह्मणस्तेजस्त्वाच्चैतन्यस्वरूपत्वात् प्रकाशाश्रयवद्वा तस्य निर्णयः स्यात्। प्रकाशात्मा रविर्यथा प्रकाशाश्रयो भवत्येवं ज्ञानात्मा हरिर्ज्ञानाश्रय इत्यर्थः। अविद्याविरोधितिमिरविरोधि च वस्तु तेजः कथ्यते॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्म तेजःस्वरूप अर्थात् चैतन्यस्वरूप हैं—इस कारण प्रकाश-आश्रयत्वके समान उनका भी निर्धारण हो सकता है अथवा जिस प्रकार सूर्य प्रकाशस्वरूप होकर भी प्रकाशके आश्रयके रूपमें अवधारित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप श्रीहरि ज्ञानके आश्रयरूपमें कथित हैं। 'तेजः' शब्दका अर्थ है—जो वस्तु अविद्याकी विरोधी और अन्धकारकी विरोधी (प्रतिपक्षी) है, वही 'तेज' शब्दसे अभिहित होती है॥ २९॥

सूक्ष्मा-टीका—दृष्टान्तान्तरमाह प्रकाशेति॥ २९॥

सूक्ष्मा-सार—इस विषयमें और एक दृष्टान्त बतलाते हैं—*'प्रकाशाश्रय-वद्वा'*॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस स्थलपर सूत्रकारने और एक दृष्टान्त दिया है कि प्रकाशस्वरूप सूर्य जिस प्रकार प्रकाशका आश्रय हैं, उसी प्रकार ज्ञानात्मा श्रीहरि भी ज्ञानके आश्रय हैं। ब्रह्म तेजस्वरूप अर्थात् चैतन्यस्वरूप हैं—इस प्रकारसे उनके स्वरूपका निर्णय किया जाता है। अविद्या एवं अन्धकारकी विरोधी वस्तुको ही तेज कहा गया है।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके भाष्यमें है—

'यथादित्यस्य प्रकाशत्वं प्रकाशितत्वञ्च एवं वा दृष्टान्तास्तेजो-रूपत्वाद् ब्रह्मणः।'

अर्थात् जिस प्रकार आदित्यके प्रकाशात्मक होनेपर भी उसे प्रकाशक कहा जाता है, उसी प्रकार परमात्माके आनन्दादि गुणात्मक होनेपर भी उन्हें आनन्दादि गुणवान कहा जा सकता है। अतएव ब्रह्मका गुणित्व प्रतिपादित होता है।

श्रीशङ्कराचार्यजीके भाष्यमें भी देखा जाता है—

'अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम्। यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्तभिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात्। अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवत एवमिहापीति।'

अर्थात् सूर्यादिका प्रकाश और प्रकाशादिका आश्रय सूर्य इत्यादिके समान इस भेदाभेदको समझना चाहिये। जैसे सूर्यका प्रकाश और उस प्रकाशका आश्रय सूर्य दोनोंका तेजरूप स्वभाव होनेसे दोनों अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, इससे तेज रूपसे ही वे भिन्न-अभिन्न हैं और भेद व्यपदेश (व्यवहार) के भागी (आश्रय) हैं। इसी प्रकार यहाँ इस श्रुतिमें भी परमात्मा सम्बन्धी भेदाभेद समझना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥

(श्रीमद्भा० ११/१३/४०)

मैं समस्त गुणोंसे रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी साम्य, असङ्गता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं और मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी, सुहृद, प्रियतम आत्मा और अन्तर्यामी स्वरूप हूँ॥ २९॥

सूत्र—पूर्ववद्वा॥ ३०॥

सूत्रार्थ—'वा'—अथवा 'पूर्वः कालः' यह कहनेपर जिस प्रकार एक व्यापक कालको खण्ड करके कहा गया है, 'पूर्ववत्' अर्थात् यहाँ जिस प्रकार व्यवच्छेदक (विभाजक) 'पूर्व' शब्द व्यवच्छेद्य कालसे अतिरिक्त नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान और आनन्दस्वरूप अर्थको धर्म और धर्मी दोनों स्वरूपोंमें ही मानना होगा॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—जिस प्रकार 'पूर्वः कालः' कहनेपर 'पूर्व' शब्द व्यवच्छेद्य कालसे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्मको धर्म और धर्मी दोनों रूपोंमें मानना होगा॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य—यथा पूर्वः काल इत्येक एवावच्छेद्योऽवच्छेदकश्च प्रतीयते तद्वज्ज्ञानानन्दोऽर्थो धर्मो धर्मी च प्रत्येतव्यः, आनन्देन त्वभिन्नेन व्यवहारः प्रकाशवत्। पूर्ववद्वा यथा कालः स्वावच्छेदकतां ब्रजेदिति यथोत्तरं दृष्टान्ताः सूक्ष्माः॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार *'पूर्वः कालः'* पूर्ववर्त्ती काल कहनेसे एक ही कालवस्तु अवच्छेद्य (विभाज्य) और अवच्छेदक (विभाजक)

दो काल रूपोंमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार ज्ञान और आनन्द वस्तुको धर्म और धर्मी दोनों ही रूपोंसे जानना चाहिये। इस विषयमें स्मृति-वाक्य (ब्रह्मपुराण-वाक्य) दिखाते हैं—यथा—*'आनन्देन त्वभिन्नेन'* इत्यादि—ब्रह्मका स्वरूप आनन्दके साथ अभिन्न होनेपर भी उस आनन्दके साथ ब्रह्मका जो व्यवहार है अर्थात् 'ब्रह्मका आनन्द है'—इस प्रकारका जो व्यवहार है, वह भाष्योद्धृत प्रकाशके समान है अथवा जिस प्रकार पूर्वकाल कहनेपर एक ही अखण्डकाल अपनी अवच्छेदकता (खण्डता 'पूर्व' विशेषणसे पृथक्ता) को प्राप्त होता है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये। इस विषयमें दृष्टान्त उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते गये हैं॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्यदृष्टान्तमाह पूर्ववदिति। सूत्रद्वयभाष्यं सप्रमाणं कर्त्तुं स्मृतिमुदाहरति आनन्देनेति ब्राह्मे॥ ३०॥

सूक्ष्मा-सार—इसी विषयपर दूसरा दृष्टान्त दिखा रहे हैं—*'पूर्ववद्वा'* उत्तरोत्तर दोनों भाष्योंको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए स्मृति-वाक्य दिखाते हैं—*'आनन्देन त्वभिन्नेन'* इत्यादि। ये वाक्य ब्रह्मपुराणमें कहे गये हैं॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ज्ञान और आनन्द ब्रह्मके धर्म होकर भी धर्मी ब्रह्म रूपमें प्रतीत होते हैं, इस काल-दृष्टान्तके द्वारा भी सूत्रकार वही बतला रहे हैं। दृष्टान्त क्रमशः सूक्ष्म हैं। ब्रह्मका धर्म और धर्मीमें अभिन्नत्व बतानेके लिए भाष्यकारने अपनी टीकामें स्मृतिका प्रमाण भी उद्धृत किया है, यह वहीं देखना चाहिये।

श्रीजीव गोस्मामी पादने अपनी सर्वसंवादिनीमें भगवत्-सन्दर्भके विचारमें जो उल्लेख किया है, उसका सार इस प्रकार है—सूर्यके प्रकाशस्वरूप होनेपर भी जिस प्रकारसे उसकी स्व-पर-प्रकाशक शक्ति प्रतीत होती है, इसी प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्मकी भी स्व-पर ज्ञानानन्द-हेतु-रूप शक्तिकी उपलब्धि होती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः॥

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्त्तये।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥
(श्रीमद्भा० १०/२७/१०-११)

अर्थात् हे भगवन्! हे श्रीकृष्ण! आपको नमस्कार है। आप सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक हैं। आप सभीके हृदयोंमें निवास करनेवाले हैं। हे वासुदेव! आप यदुवंशियोंके एकमात्र स्वामी, भक्तवत्सल एवं सबके चित्तको आकर्षण करनेवाले और आनन्द देनेवाले हैं। मैं आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ। आपने अपने भक्तोंकी इच्छासे ही अपनी श्रीमूर्त्तिको स्वयं ही इस प्रपञ्चमें प्रकट किया है, आप सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। जीवोंकी भाँति कर्मके वश होकर आपने जन्म नहीं लिया है। परन्तु आपका यह श्रीविग्रह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। आप अपनी अचिन्त्यशक्तिके कारण इस जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं। आप ही सर्वरूप, समस्त पदार्थोंके मूल कारण और समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप हैं। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ ३०॥

सूत्र—प्रतिषेधाच्च॥ ३१॥

सूत्रार्थ—'प्रतिषेधात्'—ब्रह्मके सम्बन्धमें गुण-गुणी भेद ज्ञानका निषेध 'च'—भी है॥ ३१॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मके स्वरूप और गुणोंके परस्पर भेदका निषेध किया गया है॥ ३१॥

गोविन्दभाष्य—चोऽवधारणे। *"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।* (कठ० २/१/११) *मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।* (कठ० २/१/१०) *यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति"* इति कठश्रुतौ। (कठ० २/१/१४) *"निर्दोषपूर्णगुणविग्रहआत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीर-गुणैश्च हीनः। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा"* इत्यादिस्मृतौ च। गुणगुणिभेदनिषेधात् स्वरूपात् गुणा न भिद्यन्ते। अतएव ज्ञानादीनां धर्माणां भगवच्छब्दवाच्यता स्मर्यते। *"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यऽतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः"* इति। तथाचैकस्यैव द्वेधा भणितिरम्बुवीचिवत् विशेषाद्भवति। एवं रसावस्थस्य तस्त रसानन्दश्च स्वोल्लासवपुरभ्युपेयः। नित्यश्चैषः कर्मनित्यत्वविनिर्णयात्। विशेषस्तु भेदप्रतिनिधिर्भेदाभावेऽपि भेदकार्यस्य धर्मधर्मिभावादेर्व्य-वहारस्य निर्वर्त्तकः। अन्यथा सत्ता सती कालः सर्वदास्ति देशः सर्वत्रेत्याद्यबाधित-

व्यवहारानुपपत्तिः। न च सत्ता सतीत्यादिबुद्धिर्भ्रमः *"सन् घटः"* इत्यादिवदबाधात्। न चारोपः सिंहो देवदत्तो नेतिवत् सत्ता सती नेति कदाप्यव्यवहारात्। न च सत्ताद्यन्तराभावेऽपि स्वभावादेव तद्व्यवहारः। तस्यैवात्र तच्छब्देनोक्तेः। तत्सिद्धिस्त्वर्थापत्तेर्यथोदकमिति वाक्यबलाच्च बोध्या। इह भगवद्गुणानभिधाय तद्भेदः प्रतिषिध्यते। न हि भेदप्रतिनिधेस्तस्याप्यभावे गुणगुणिभावो गुणबहुत्वे युज्येत। स च वस्त्वभिन्नः स्वनिर्वाहकश्चेति नानवस्था। तथात्वन्तु तस्य धर्मिग्राहकमानसिद्धम्॥ ३१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'च' शब्द अवधारणके लिए है अर्थात् दूसरेकी व्यावृत्ति (निषेध) कर रहे हैं। यथा कठोपनिषदमें है—*'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन'* अर्थात् एकमात्र मनके द्वारा ही ब्रह्मको (भगवान्‌को) पाया जा सकता है, ब्रह्मसे भिन्न नाना वस्तु कुछ भी नहीं है, *'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'* जो व्यक्ति ब्रह्ममें स्वरूपका और गुणोंका परस्पर भेद देखता है, वह भेददर्शी मृत्युके बाद मृत्युके मुखमें ही पतित होता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्मता-मरता रहता है, और *'यथोदकं दुर्गे'* इत्यादि अर्थात् जिस प्रकार पर्वतोंके ऊपर वृष्टिपात होनेपर वह जल दुर्गकी (निम्नस्थानकी) ओर धावित होता है, उसी प्रकार ब्रह्मके स्वरूपसे सार्वज्ञादि ब्रह्म-गुणोंको पृथक् वस्तुके रूपमें जो देखता है, वह जन्म-मृत्यु प्राप्त करता है। स्मृति-वाक्य (नारदपञ्चरात्र) में भी है—*'निर्दोषपूर्णेति'* इत्यादि अर्थात् निर्दोष एवं पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट जिनका विग्रह अर्थात् स्वरूप है, जिनका शरीर और गुण चेतनस्वरूप है, जो आत्मतन्त्र अर्थात् निरपेक्ष हैं, ऐसे स्वप्रकाश सुखात्मा श्रीहरि हस्त, पाद, मुख, उदरादि सकल अवयव आनन्द-विशिष्ट हैं। ऐसे होनेपर भी वे सर्वत्र ही समस्त विषयोंमें स्वगत-भेद-रहित हैं। इन सब निषेधात्मक वाक्योंमें गुण और गुणीके भेदका निषेध किया गया है, जिससे यह समझा जा सकता है कि स्वरूपसे गुण भिन्न नहीं है। ईश्वरके स्वरूपसे गुणोंका भेद स्वीकार करना अयुक्त है। इसलिए ज्ञान, आनन्दादि धर्मोंको भगवत् शब्दका वाच्य कहा गया है। यथा विष्णुपुराणमें है—पाप, जरा इत्यादि हेयादि दोषोंसे रहित श्रीभगवान्‌में ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज ये समस्त शब्द ही अशेष रूपमें भगवत्-शब्द वाच्य हैं। भेद न रहनेपर भी किसी विशेष कारणसे एक वस्तुके गुण-गुणी भावकी प्रतीति दो रूपोंमें होती है, जैसे कि

अम्बु-वीचि अर्थात् जिस प्रकार जलजात तरङ्ग जलसे भिन्न न होनेपर भी जलकी तरङ्ग नामसे भिन्न रूपमें प्रतीयमान होती है, उसी प्रकार गुण एवं गुणीके एक होनेपर भी विशेष धर्मके अर्थात् परमात्मनिष्ठ धर्मत्वके कारण भेदकी प्रतीति होती है। इसी तरह ब्रह्मके रसावस्थापन्न होनेसे उनके रसानन्दमय विग्रहको उनका निज उल्लासमय स्वरूप मानकर स्वीकार करना होगा। उनके सभी धर्म नित्य होनेके कारण उनका यह रसानन्द विग्रह भी नित्य है। तब जो भेदकी प्रतीति होती है, इसका प्रतिनिधि 'विशेष' है अर्थात् परमात्मनिष्ठता रूप वैशिष्ट्यके कारण गुण-गुणीमें भेद न रहनेपर भी भेदकी प्रतीति है। यह विशेष ही भेद न रहनेपर भी भेदकार्य—धर्म-धर्मी भाव इत्यादि व्यवहारका निष्पादक (सम्पादक) है। यदि विशेषको भेदभावमें भी भेदकार्यके व्यवहारका निष्पादक न कहा जाय तो 'सत्ता सती'—'सत्ता सर्वदा है', 'काल सब समय है', 'देश सर्वत्र है' इत्यादि विद्वज्जनव्यवहार भेदाभावमें भी भेदका जो व्यवहार है, वह किसलिए? राहुका मस्तक इत्यादि प्रतीतिके समान सत्ता सती इत्यादि प्रतीतियाँ भ्रमात्मक नहीं हैं, कारण जिस प्रकार *'घटः सन्'*—'घट सत्तावान् है' (सत् पदार्थकी सत्ता है) इत्यादि प्रतीतियाँ अबाधित हैं। पुनः *'सिंहो देवदत्तः'* इस वाक्यमें देवदत्तके ऊपर आरोपित सिंहत्वके बलपर सिंह देवदत्त नहीं हो जाता, ऐसा होता भी नहीं है, क्योंकि *'सत्ता सती न'* अर्थात् सत्ता सत् नहीं है—यह व्यवहार कभी होते भी देखा नहीं गया है। अन्य सत्तादिके अभावमें भी स्वभाववशतः इस प्रकारका व्यवहार होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस स्वभावका ही 'विशेष' शब्दसे उल्लेख किया गया है। विशेषकी सिद्धि अर्थापत्ति प्रमाण (परिस्थितियोंके आधार पर अनुमान) और यथोदकमित्यादि (अर्थात् जिस प्रकार पर्वतोंके ऊपर वृष्टिपात होनेपर) इत्यादिके बलपर ही स्वीकार्य है अथवा अम्बुवीचि (जलकी तरङ्ग) के समान भेद प्रतीति पुरस्सर है (सामने ही चल रही है) *'यथोदकमित्यादि'* वाक्यमें भगवान्के गुणोंको बतलाकर उन गुणोंके साथ गुणी—भगवान्के भेदका प्रतिषिद्ध हुआ है। भेद प्रतिनिधि स्वरूप उस विशेषका अभाव होनेपर जहाँ बहुगुण हैं या गुणोंका बहुत्व है, वहाँ गुण-गुणी भाव सङ्गत नहीं होता, यह 'विशेष' वस्तु स्वरूपमें

अभिन्न होनेपर भी निजका निर्वाहक है, अतएव इसमें अनवस्था दोष भी नहीं है। विशेषका वस्तुके साथ अभिन्नत्व और स्वनिर्वाहकत्व ही धर्मीका अनुमापक (ग्राहक) है, यह प्रमाण द्वारा सिद्ध है॥ ३१॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रतिषेधादिति। य इहेति। इह ब्रह्मणि यो नानेव पश्यति स्वरूपस्य गुणगणस्य मिथो भेदमेव जानाति स मृत्योरनन्तरं मृत्युमाप्नोति पुनः पुनर्जन्ममरणप्रवाहं विन्दति न कदाचिदपि विमुच्यते इत्यर्थः। यथोदकमिति। पर्वतेषु वृष्टमुदकं यथा दुर्गे निम्नस्थाने विधावति एवं धर्मान् गुणान् परमात्मनः पृथग् भिन्नान् पश्यन् विजानन् जनस्थान् प्रसिद्धान् जन्ममृत्युन् विधावति विन्दतीत्यिर्थः। ननु सजातीयो विजातीयश्च भेदो मास्तु स्वगतभेदस्तु स्वीकार्य इति ये प्राहुस्तान्निराकर्त्तुं नारदपञ्चरात्रवचनम् उदाहरति निर्दोषेति। निर्दोषः पूर्णश्च गुणो विग्रहो यस्य सः। विग्रहगुणयोर्जाड्यं व्यावर्त्तयितुं निश्चेतनेति। शरीरं गुणाश्च चेतनात्मकमित्यर्थः। नन्वात्मा विग्रहो गुणाश्चेति त्रयाणां प्रत्ययात् स्वगतभेदो दुर्निवार इति चेत् तत्राह सर्वत्रेति। देहदेहिभावे गुणगुणिभावे च विभातेऽपि स्वगतभेदशून्यः परमात्मेति। सजातीयादिभेदयोर्गधोऽपि नेत्यर्थः। चिन्मात्रत्वं प्राप्तं निरस्यन्नाह आनन्दमात्रेति। तथा च स्वप्रकाशसुखात्मा हरिर्नानाविशेषविशिष्टोऽपि भेदशून्य इत्यर्थः। गुणगुणिनोरभेदे लिङ्गान्तरमाह अतएवेत्यादि। ज्ञानेति श्रीवैष्णवे। विना हेयैरिति। ते चात्र पापजरादयो हेया धर्मा बोध्याः। तत्रैवानस्तकल्याणगुणात्मकोऽसाविति च वाक्यं मृग्यम्। तथा भेद एव सति गुणगुणिभावप्रतीतिं दृष्टान्तेन ग्राह्यति तथाचेत्यादिना। विशेषात् परमात्मनिष्ठाद्धर्मात्। नित्यश्चैव इति। एष रसानन्दः। तत्र हेतुः कर्मेति। एतच्च सर्वाभेदादन्यत्र द्रष्टव्यम्। ननु राहोः शिर इतिवद्भ्रान्तिरेव तद्भावप्रतीतिरस्तु विशेषहेतुका सेति किमर्थमाग्रह इति चेत्तत्राह अन्यथेति। आदिना भेदो भिन्नः इत्यादिग्रहविशेषहेतुकतया वस्तुतस्तद्भावप्रतीतेरस्वीकारे सत्ता सतीत्यादिविद्वत्-प्रतीतेरसिद्धिरित्यर्थः। न चेत्यादि। तस्यैव स्वभावस्य एव। तच्छब्देन विशेषशब्देन। तत्सिद्धिर्विशेषसिद्धिः। इह यथोदकमित्यादिवाक्ये। तस्यापि विशेषस्य। स च विशेषः। तथात्वस्विति। तस्य विशेषस्य। तथात्वंवस्त्वभिन्नत्वम् स्वनिर्वाहकत्वं चेत्यर्थः। येनैवं धर्मानित्यादि प्रमाणेन निर्भेद ब्रह्मणि धर्मधर्मिभावोजृम्भको विशेषो धर्मी सिद्धयति। तेनैव तस्य वस्त्वाभि स्वनिर्वाहकत्वं च स्वस्य तादृशे तद्भावाजृम्भकमचि कमचिन्त्यत्वं सिध्यति। यथा कार्यलिङ्गकेनानुमानेनेश्वरो विश्वकर्त्तृतया सिध्यति। तत्कर्त्तृत्वनिर्वाहकं ज्ञानेच्छाप्रयत्वादिकं च तस्य तेनैव सिध्यति। तथेदं द्रष्टव्यम्। विशेषस्य वस्तुभिन्नत्वेऽनवस्था स्यादतर्क्यत्वेन विना निर्भेद तस्मिन्नुभयोज्जृम्भकता न सिध्येत्॥ ३१॥

सूक्ष्मा-सार— *'प्रतिषेधादिति'* सूत्रमें *'य इह नानेव पश्यति'* इत्यादि भाष्य है। इसका अर्थ है—जो व्यक्ति उन ब्रह्ममें स्वरूपका और

गुणोंका परस्पर भेद-ज्ञान करता है, वह मृत्युके बाद पुनः मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु द्वारा भोग करता है उससे कभी भी मुक्त नहीं होता। *'यथोदकं दुर्गे वृष्टमित्यादि'* कठ-श्रुतिका अर्थ है—पर्वतपर वृष्टिका पड़ा हुआ जल जिस प्रकार निम्न स्थानकी ओर धावित होता है, उसी प्रकार भगवान्के भी समस्त गुणोंको जो उनसे (परमात्मासे) पृथग्भूत देखता है, वह वही प्रसिद्ध जन्म-मृत्यु इत्यादिका भोग करता है। इस समय आपत्ति यह है कि—ठीक है, चलो ब्रह्ममें सजातीय एवं विजातीय भेद न रहे स्वगत-भेद तो मानना पड़ेगा—जो व्यक्ति इस प्रकारकी आपत्ति करते हैं, उनके मतके निराकरणके लिए नारद-पञ्चरात्रके *'निर्दोषपूर्णेत्यादि'* वाक्यो उद्धृत करते हैं। अर्थात् जिनका विग्रह निर्दोष एवं पूर्ण गुणसम्पन्न है। इसके बाद जिनका विग्रह एवं गुण अचेतन नहीं है—वही बतलाते हैं—*'निश्चेतनात्मकशरीर गुणैश्चहीनः'* इति अर्थात् उनका विग्रह (देह) एवं गुण चेतनस्वरूप हैं। यदि कहें, आत्मा (स्वरूप), विग्रह एवं गुण इन तीनोंकी पृथक् प्रतीतिके कारण ब्रह्मका स्वगत-भेद तो अनिवार्य है तो इसके उत्तरमें कहते हैं—*'सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा।'* देह-देही भाव एवं गुण-गुणी भाव प्रतीत होनेपर भी परमात्मा स्वगत-भेद-शून्य हैं—यही विशेष (वैशिष्ट्य) है। तब उनमें जो सजातीय भेद और विजातीय भेदका लेशमात्र भी नहीं है, फिर इस विषयमें कहना ही क्या है। अब केवल चिन्मात्र-स्वरूपका भी निराकरण करते हैं—*'आनन्दमात्रेति।'* इसका अर्थ है—स्वप्रकाश आनन्दमय श्रीहरि नाना विशेषोंसे विशिष्ट होनेपर भी स्वगत-भेद-रहित हैं; गुण-गुणीके अभेदके कारण ही यह सङ्गत है। इस प्रसङ्गमें और एक साधक (हेतु) दिखाते हैं—अतएव *'ज्ञानादीनां धर्माणामित्यादि'* अर्थात् ज्ञान इत्यादि धर्मोंका भगवत्-शब्द वाच्यता अर्थ भी स्मृत होता है। यथा 'ज्ञानशक्ति' इत्यादि यह विष्णुपुराणमें कहा गया है। *'विना हेयैरिति'*—हेय क्या है? पाप, जरा इत्यादि परित्यज्य धर्म ही यहाँ 'हेय' शब्दके द्वारा बोध्य हैं। विष्णुपुराणमें उसी स्थलपर कहा गया यह वाक्य भी अन्वेषणीय है—*'अनन्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ'* अर्थात् श्रीहरि असीम कल्याण गुणस्वरूप हैं। इस प्रकार तो भेद हुआ और भेद रहनेपर

गुण-गुणी भावकी प्रतीति होती है—इसे तथाचेत्यादि वाक्यके दृष्टान्त द्वारा समझा रहे हैं—एक की दो प्रकारसे (गुण-गुणी रूपमें) प्रतीति अम्बु-वीचि (जलकी तरङ्ग) के समान होती है, वह भी भगवत्-विषयमें विशेषत्व अर्थात् परमात्मनिष्ठत्व-स्वरूप धर्म होनेके कारण। *'नित्यश्चैषः कर्मनित्यत्वविनिर्णयात्'* इति में 'एषः' का अर्थ है—यह रसानन्द है। इस विषयमें हेतु है—*'कर्मनित्यत्व विनिर्णयात्'*—उनके कर्म अर्थात् लीला नित्य कहकर निर्णीत हुए हैं। इस प्रकार यह समस्त प्रकारसे अभेद सभी भेद-स्थलोंपर जानना चाहिये। आपत्ति यह है कि *'राहोः शिरः'* इत्यादि प्रतीतिके समान यह गुण-गुणी प्रतीति भी भ्रमात्मक कही जायेगी और वह भी 'विशेष' के कारण। इसीलिए ऐसे अभेदमें भेद साधनेके लिए इतना प्रयास क्यों? यह यदि कहते हो तो इस पर कहते हैं—*'अन्यथा सतीति'*—देशः सर्वत्रास्तीत्यादि। इस इत्यादि पदके आदि पदसे ग्राह्य *'भेदो भिन्नः'* (धर्म-धर्मी) इत्यादि ज्ञान-विशेष जब होता है, तब वस्तुतः उनकी सत्ता अर्थात् स्वरूपका अस्वीकार होनेपर 'सत्ता सती' (सत्ता है), 'काल सर्वदा है' इत्यादि विद्वानोंकी प्रतीतियाँ असिद्ध हो पड़ती हैं—यही तात्पर्य है। *'न च सत्ताद्यन्तराभावेऽपि'* इत्यादि—*'तस्यैव तच्छेदनोक्तेरिति'* में 'तस्य' का अर्थ है—स्वभावका ही, *'तच्छेदनोक्तेः'* का अर्थ है विशेष शब्दके द्वारा। *'तत्सिद्धिस्तु'* उसी विशेषकी किन्तु (अर्थापत्तिके द्वारा) सिद्धि होती है। *'इह भगवद्गुणानभिधाय'* इत्यादिमें 'इह' का अर्थ है—*'यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति'* (पर्वतमें पड़ा हुआ जल जिस प्रकार) इत्यादि पूर्वोक्त वाक्यमें। *'तस्याप्यभावे'* इति में 'तस्य' का अर्थ है 'उस विशेषका' *'स च वस्त्वभिन्नः'* इति में 'स च' का अर्थ है 'वही' विशेष। *'तथात्वन्तु तस्य'* इति में 'तथात्वम्' का अर्थ है वस्तुसे अभेद होनेपर भी विशेष निर्वाहकत्व। *'एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्थानेवानुप्रधावति'*—इस प्रमाणके द्वारा तीनों प्रकारके भेदसे रहित ब्रह्ममें धर्म और धर्मी—दोनों भावोंके प्रकाशक विशेष रूप धर्मी सिद्ध होता है। इसी प्रमाणके द्वारा ही विशेषका विशेषी वस्तुसे अभिन्नत्व एवं स्व-निर्वाहकत्व अर्थात् ब्रह्ममें विशेषका धर्म-धर्मी भावका उद्भावक अचिन्तनीयत्व सिद्ध होता है। इस विषयमें अनुमान प्रमाण दिखा रहे हैं—जिस प्रकार कार्यलिङ्गक

अनुमान द्वारा जगत्के कर्त्तृत्व रूपमें ईश्वरकी सिद्धि है अर्थात् *'क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात् घटवत्, यत् यत् कार्यं तत्त्वं कर्त्तृजन्यं यथा घटः',* इस प्रकार अनुमान द्वारा इतर बाधके साथमें कार्यत्व हेतु द्वारा ईश्वर सिद्ध होते हैं पुनः ईश्वरका विश्व-कर्त्तृत्वरूप विशेष निर्वाहक (नित्य) ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न इत्यादि भी उसी कार्यत्व-लिङ्गक अनुमानके द्वारा ही सिद्ध होता है अर्थात् *'ईश्वरः ज्ञानेच्छाप्रयत्नवान् जगत् कर्त्तृत्वात्'*— इस अनुमान द्वारा जगत्के कर्त्तृत्व हेतुक ज्ञान-इच्छादि की भी सिद्धि होती है, इसी प्रकार उस विशेषकी सिद्धि भी कार्य-लिङ्गक अनुमानके द्वारा जाननी चाहिये। यदि विशेषको अतर्कणीय न कहा जाय तो भेदहीन ब्रह्ममें गुण-गुणी-भाव रूप उभयविधत्व भी सिद्ध नहीं होता॥ ३१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रीभगवान्के गुण-गुणी भेदका विचार समस्त शास्त्रोंमें सर्वत्र ही निषिद्ध है। इसीलिए श्रीभगवान्के गुण भी भगवत् शब्द वाच्य हैं। श्रीभगवान्के साथ गुणोंका भेद देखनेवालेकी जो अधोगति है, वह भी शास्त्रमें वर्णित हुई है। स्मृतिमें भी पाया जाता है, श्रीभगवान् दोषके सम्पर्कसे शून्य, परिपूर्ण कल्याण गुणमय विग्रह, आत्मतत्त्व हैं, उनके विग्रह और गुण सभी चिन्मय हैं; उनके कर, चरणादि सभी अवयव आनन्दमय हैं। वे सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेदसे रहित हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं,
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/७)

अर्थात् हे देव! आप इस विश्वके मङ्गलके लिए अवतीर्ण हुए हैं। आप महाश्चर्यजनक अप्राकृत गुणोंके अधिष्ठाता हैं। जो अति निपुण व्यक्ति हैं, वे बहुत जन्मों तक घोर परिश्रम करके पृथ्वीके धूलि-कणोंकी, आकाशमें हिम-कणों (ओसकी बूँदोंकी), नक्षत्र, तारों आदिकी

और किरणोंमें स्थित परमाणुओंकी गणना कर सकते हैं, परन्तु आपके गुणोंको गिननेमें समर्थ नहीं हो सकते, उनकी मधुरिमाका अनुभव होना तो दूरकी बात है।

और भी,

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि॥

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः॥

(श्रीमद्भा० ३/९/३-४)

अर्थात् हे परमपुरुष! देश, कालादिसे परे आपका जो आनन्दमात्र ब्रह्मस्वरूप है, उसे मैं इस रूपसे भिन्न नहीं देखता। हे आत्मन्! इसीलिए उपास्योंमें मुख्य, अद्वितीय, विश्वकी सृष्टि करनेवाले, अतः विश्वसे भिन्न एवं जीवोंकी इन्द्रियोंके अधिष्ठान आपकी इस मूर्त्तिका मैं आश्रय लेता हूँ। हे भुवनमङ्गल! हम आपके उपासक हैं। आपने हमारे मङ्गल-विधानके लिए ही ध्यान-योगमें जिस रूपको दिखलाया है, निरीश्वर व्यक्ति, आपके इस स्वरूपको सच्चिदानन्दमय विग्रह न मानकर मायामय मानते हैं और नरकमें पड़ते हैं। आप चिन्मय गुणोंके अपार-समुद्र हैं। मैं (ब्रह्मा) आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

तथा निम्न श्लोक भी इस सन्दर्भमें आलोच्य है—

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥

(श्रीमद्भा० ११/१३/४०)

अर्थात् मैं समस्त गुणोंसे रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी साम्य, असङ्गता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते

हैं और मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी, सुहृद, प्रियतम आत्मा और अन्तर्यामी स्वरूप हूँ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

एइ मत कृष्णेर दिव्य सद्गुण अनन्त।
ब्रह्मा-शिव-सनकादि ना पाय याँर अन्त॥

ब्रह्मादि रहु सहस्रवदने अनन्त।
निरन्तर गाय मुखे, ना पाय गुणेर अन्त॥

तेंहो रहु सर्वज्ञ-शिरोमणि श्रीकृष्ण।
निज गुणेर अन्त ना पाञा हयेन सतृष्ण॥

(चै॰च॰म॰ २१/१०, १२, १४)

अर्थात् इस प्रकार श्रीकृष्णकी दिव्य लीलाएँ हैं और उनके अनन्त सद्गुण हैं। श्रीब्रह्मा, शिव और सनकादि भी इन गुणोंका पार नहीं पा सकते। चतुर्मुख ब्रह्मा अथवा पञ्चमुख शिव तो दूरकी बात है, उनके अग्रज अनन्तदेव निरन्तर सहस्रमुखसे गान करके भी उनके गुणोंकी सीमाको प्राप्त नहीं कर सकते। इन सबको भी रहने दो, अनन्तदेव भी दूर रहें, जो स्वयं सर्वज्ञ-शिरोमणि हैं, ऐसे श्रीकृष्ण स्वयं भी अपने गुणोंकी सीमा नहीं पा सकते और सदैव तृष्णायुक्त रहते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और भी पाया जाता है—

ईश्वरेर नाहि कभु देह-देही भेद।
स्वरूप, देह, चिदानन्द, नाहिक विभेद॥

(चै॰च॰अ॰ ५/१२२)

अर्थात् व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण अद्वयज्ञान हैं। इसलिए उनके नाम, रूप, गुण और लीला जड़-जगत्‌की वस्तुके समान भिन्न-भिन्न नहीं है, उन्हें ऐकान्तिक रूपसे अभिन्न जानना होगा। ईश्वरका देह-देही भेदका ज्ञान बद्ध-जीवमें अद्वय-ज्ञानकी प्रतीतिके अभावके कारण है। उनका स्वरूप, देह समस्त ही चिदानन्द है।

श्रीलघुभागवतामृतमें—

'देह-देही विभागोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्।'

(ल॰भा॰ पूर्वखण्ड अंक १२८ उद्धृत कौर्म वचन)

अर्थात् श्रीकूर्मपुराणमें कहा गया है कि परमेश्वरमें कभी भी देह-देही भेद (विभाग) विद्यमान नहीं है।

कालसंहितामें भी पाया जाता है—

अपूर्ण-गुणरूपास्तु सम्पूर्ण गुणरूपकम्।
भजन्ति परमं ब्रह्म देवास्त्रिगुणवर्जितम्॥

अर्थात् देवता अपूर्ण गुणरूप हैं और ब्रह्म सम्पूर्ण गुणरूप हैं। इस प्रकार देवता तीनों गुणोंसे रहित परमब्रह्मका भजन करते हैं॥ ३१॥

श्रीहरि परमानन्दस्वरूप हैं

अवतरणिका भाष्य—इदानीं परानन्दादित्वं श्रीहरेर्निरुप्यते। जीवानन्दादिसाम्ये तत्र भक्तेरनुदयः। तथाहि धर्मबोधकानि वाक्यानि विषयः। ब्राह्मयमानन्दादि जैवानन्दादेर्विलक्षणं न वेति सन्देहे लौकिकानन्दादिपदवाच्यत्वादविलक्षणं तत्। न हि घटपदवाच्यं घटविलक्षणं स्यादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अब श्रीहरिकी परमानन्दरूपताका विचार द्वारा निरूपण किया जाता है। यदि कहो, ब्रह्मानन्दका जीवानन्दादिके साथ साम्य होनेपर परमेश्वरमें भक्तिका उदय नहीं होता। किस प्रकार? वही दिखाते हैं—श्रीभगवान्‌के गुणबोधक वाक्य विषय, इसमें संशय यह है कि ब्रह्मानन्दादि जैवानन्द इत्यादिसे स्वतन्त्र है कि नहीं। इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—नहीं, स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि दोनों ही आनन्द पदके वाच्य हैं, दोनों ही आनन्द हैं। लौकिक आनन्दका नाम भी आनन्द और ब्रह्मानन्दका नाम भी आनन्द। देखो, घट शब्दका वाच्य घट उस घटसे कभी भी पृथक् पदार्थ नहीं होता। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—इदानीमिति। अत्रापि पुर्ववत् सङ्गतिः। अस्तु स्वात्मकविग्रहगुणकश्चिदानन्दो हरिस्तथापि न स जीवेन भजनीयः। भक्तौ प्रवर्त्तकस्य तस्यापि तादृशत्वेन श्रवणादित्याक्षिप्य समाधानात्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'इदानीमित्यादि'* भाष्यमें—इस अधिकरणमें भी पूर्वके समान आक्षेप-सङ्गति है। किस प्रकारसे?—यही दिखाते हैं—प्रथमतः आक्षेप है—अच्छा! श्रीहरि चिदानन्दस्वरूप हों और

उनका विग्रह एवं गुण भी उनका स्व-स्वरूप हों तो ऐसा होनेपर भी वे जीव द्वारा भजनीय नहीं हैं। कारण? भक्तिकी प्रवृत्ति उत्पन्न होनेपर जो ब्रह्मानन्द है, उसका जीवानन्दसे प्रभेद नहीं है अर्थात् जीवानन्द भी ब्रह्मानन्दके समान कहकर श्रुत होता है—इस आक्षेपका समाधान करनेमें सूत्रकारकी आक्षेप-सङ्गति सिद्ध होती है।

पराधिकरणम्

सूत्र—परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः॥ ३२॥

सूत्रार्थ—'अतः परम्'—जैव आनन्दसे ब्रह्मानन्द जातिमें (स्वरूपतः) और परिमाणतः उत्कृष्ट है, क्योंकि 'सेतून्मानसम्बन्ध' ब्रह्म-सम्बन्धमें विधृति (विशेष रूपसे धारण किया गया) गुण है, उन्मान अर्थात् अवाङ्मनसगोचरत्व सम्बन्ध है अर्थात् अन्य वैषायिक आनन्दका ब्रह्मानन्दाधीनत्व रूप सम्बन्ध है और 'भेदव्यपदेशेभ्यः' भेदका उल्लेख है॥ ३२॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सिद्धि उसके ब्रह्मानन्दाधीनत्व होनेपर ही है—इसी बलपर सेतुत्व, उन्मानत्व, सम्बन्धत्व और भेदत्वका व्यपदेश (व्यवहार) है॥ ३२॥

गोविन्दभाष्य—अतो जैवानन्दादेर्ब्रह्मानन्दादि परं जात्यापरिमाणेन चोत्कृष्टम्। कुतः? सेत्वित्यादेः। एष सेतुर्विधृतिर्य एष आनन्दः परस्येति सेतुत्वस्य व्यपदेशात्। *"यतो वाचो निवर्त्तन्त"* (तै॰ २/४/१) इत्युन्मानस्य, *"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"* (बृ॰आ॰ ४/३/३२) इति सम्बन्धस्य। अन्यज् ज्ञानन्तु जीवानामन्यज्ज्ञानं परस्य च। *"नित्यानन्दाव्ययं पुर्णं परं ज्ञानं विधीयत"* इति भेदस्य च। न हि सेतुत्वादिकं लौकिकानन्दादावस्ति॥ ३२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अतः—इस जैवानन्द (लौकिकानन्द) इत्यादिसे यह ब्रह्मानन्द परम उत्कृष्ट है, कैसे? जातिमें और परिमाणमें भी? कारण क्या है? *'सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः'* अर्थात् जो यह ब्रह्मानन्द है—वह सबका सेतु अर्थात् धारक है; यहाँ ब्रह्मानन्दके सेतुत्वका उल्लेख किया गया है और *'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'* अर्थात् जिनसे वाक्य अर्थात् भाषा मनके साथ लौट आते

हैं, वे ही अवाङ्मनसगोचर ब्रह्म हैं—इसमें ब्रह्मके असाधारण परिमाणका (उन्मानका) व्यपदेश है, दूसरा भी कारण है—सम्बन्ध। यथा *'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'*—उन आनन्दस्वरूप ब्रह्मका अंश लेकर अन्य समस्त प्राणी स्थिति प्राप्त करते हैं—इस वाक्यमें ब्रह्मानन्द सम्बन्ध (उपजीवित्व) अन्य आनन्दमें (जीवमें) कहा है। पुनः स्मृति-वाक्यमें दोनोंका भेद कहा गया है, यथा—*'अन्यज्ज्ञानन्तु'* इत्यादि अर्थात् जीव-साधारणका ज्ञान और परमेश्वरका ज्ञान दोनों ही विभिन्न हैं, क्योंकि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं, वे नित्य, आनन्दमय, अपरिणामी, अपरिच्छिन्न अर्थात् पूर्ण रूपमें कथित हैं। यहाँ दोनोंके भेदका उल्लेख है। ये उक्त वर्णित सेतुत्व, उन्मानत्व (उत्कृष्ट परिमाणत्व) एवं सम्बन्ध लौकिक आनन्दादिमें नहीं है॥ ३२॥

सूक्ष्मा-टीका—परमिति। जात्येति। गुडान्मधिव जात्या बिन्दुतः सिन्धुरिव परिमाणेन चोत्कृष्टमित्यर्थः। एतस्यैवेति। आनन्दस्य श्रीहरेरित्यर्थः। अन्यज्ज्ञानमिति। ज्ञानस्यानन्दत्वेन विशेषणं तस्य तदभेदं बोधयति॥ ३२॥

सूक्ष्मा-सार—*'परमितीत्यादि'* सूत्रमें *'जात्या परिमाणेन चेत्यादि'* भाष्यमें जातिके अनुसार ब्रह्मानन्द जीवानन्दादिसे उत्कृष्ट है जैसे कि गुड़से मधु उत्कृष्ट, *'सुस्वादु'*—अति मधुर है, पुनः परिमाणमें भी उत्कृष्ट है जैसे कि जलबिन्दुसे जलसिन्धु। *'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि इति'* में आनन्दस्य अर्थात् आनन्दमय श्रीहरिका। *'अन्यज्ज्ञानन्तु जीवानामित्यादि।'* यहाँ ज्ञानको जो आनन्द रूपमें विशेषित किया गया है, वह ज्ञानके साथ आनन्दका अभेद सूचित कर रहा है॥ ३२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब श्रीहरिकी परमानन्दरूपताका निरूपण किया जाता है। यदि कहा जाय कि जीवके आनन्दके साथ ब्रह्मानन्दका साम्य होनेपर ब्रह्ममें भक्तिका उदय नहीं हो सकता। इस स्थलपर श्रीभगवान्का धर्म (गुण) बोधक वाक्य समस्त ही विषय हैं। इसमें संशय यह है कि ब्रह्मानन्द जीवानन्दसे विलक्षण है कि नहीं? इस स्थलपर पूर्वपक्षीका सिद्धान्त है कि दोनों ही स्थलोंपर जब आनन्द पदका व्यवहार है, तब आनन्द पदके वाच्य सभी आनन्द एक हैं अर्थात् कोई विलक्षणता नहीं है। दृष्टान्तके लिए वे कहते हैं कि घट कहनेसे जिस प्रकार घटको ही जाना जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य

किसी पदार्थको नहीं, इसी प्रकार आनन्द पदसे वाच्य सभी आनन्दोंको एक ही समझा जायेगा।

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेदके व्यपदेशों अर्थात् बोधक वाक्योंसे जैवानन्दसे ब्रह्मानन्दका परमत्व ही प्रपिपादित हुआ है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'न चानन्दादित्वाल्लोकानन्दादिवत् एष सेतु विधृतिर्य एष आनन्दः परस्यैव नित्यो महिमा ब्राह्मणस्येति सेतुत्वम् उच्यते। यतो वाचो निवर्त्तन्त इत्युन्मानत्वम्। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति सम्बन्धः। अन्यज्ज्ञानन्तु जीवानामन्यज्ज्ञानं परस्य च। नित्यानन्दाव्ययं पूर्णं परं ज्ञानं विधीयत इति भेदः। अतोऽलौकिकत्वात् परमेव ब्रह्मानन्दादिकम्।'

(अर्थात् भगवत्-प्राप्तिके साधन-भक्तिके निमित्त भगवत्-गुणोंके अलौकिकत्वका प्रतिपादन करते हैं। ईश्वरके समस्त गुणोंके लौकिक होनेपर उन परमेश्वरमें भक्ति नहीं हो सकती। सबसे पहले परमेश्वरमें समस्त गुण लौकिक हैं अथवा अलौकिक—यह सन्देह है।) ईश्वरके आनन्दादि गुण लौकिक आनन्दादिके समान नहीं हैं, वे लौकिक आनन्दादिसे अतिरिक्त है। लौकिक आनन्द अपूर्ण एवं ब्रह्मानन्द पूर्ण है। इसीलिए लौकिक आनन्दसे ब्रह्मानन्दका अतिशय जाना जाता है। यह धारक सेतु है, यह परमात्माका आनन्द है, यह नित्य महिमा ब्रह्मकी ही है इत्यादि श्रुतिमें उनका सेतुत्व बतलाया गया है। 'जहाँसे वाणी लौट आती है', इत्यादि श्रुतिमें उनका उन्मानत्व बतलाया गया है। इन्हींके आनन्दकी मात्रासे अन्यान्य भूत उपजीवित हैं—इत्यादि श्रुतिमें उनका सम्बन्ध बतलाया गया है। शास्त्रान्तर प्रमाणसे जाना जाता है कि जीवका ज्ञान एक प्रकारका है और परब्रह्मका ज्ञान अन्य प्रकारका है अर्थात् जीवादिका ज्ञान अनित्य है और ब्रह्मका ज्ञान नित्य, आनन्द अव्यय एवं पूर्ण है। इसलिए लौकिक ज्ञान और ब्रह्म ज्ञानका भेद प्रतिपादित होता है। अतएव यही प्रतिपन्न होता है कि ब्रह्मके सभी गुण अलौकिक हैं। अलौकिकता होनेसे ब्रह्मानन्द आदि परम ही हैं।

ठीक ही कहा है कि ब्रह्म यदि जगत्के विधारक अथवा नियामक नहीं होते, तो समुद्र अपनी अत्यन्त विकराल और विक्षुब्ध तरङ्गोंकी चपेटमें पृथ्वीमण्डलको लेकर उसे अस्त-व्यस्त कर देता, भयङ्कर अजगरके समान फुफकारता हुआ बड़वानल अपनी जटिल ज्वालाओंकी लपेटमें जगत्को लेकर कबका भस्मसात् कर डालता, इतना ही नहीं प्रलयङ्कर प्रभञ्जन पूरे ब्रह्माण्डको विघटित कर देता। छान्दोग्योपनिषदमें कहा है—*'अथ य आत्मा सेतुः'* (छा॰ ८/४/१) अर्थात् वह (परमात्मा) जगत्से पार करनेवाला सेतु है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२९/३३)

अर्थात् आत्मज्ञानमें निपुण महापुरुष आपसे ही प्रेम करते हैं, क्योंकि आप प्रिय एवं अपने ही आत्मा हो। अनित्य एवं दुःखद पति-पुत्रादिसे क्या प्रयोजन है? परमेश्वर! इसलिए हमपर प्रसन्न होइये। कृपा करो कमलनयन! चिरकालसे आपके प्रति पाली-पोसी आशा-अभिलाषाकी लहलहाती लताका छेदन मत कीजिये।

और भी,

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः,
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः,
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२३)

अर्थात् आप ही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप ही सबके आत्मा—परमात्मा हैं। आप इस परिदृश्यमान जगत्से भिन्न हैं। आप जगत्के जन्मादिके मूल कारण, पुराण-पुरुष एवं सनातन हैं। आप पूर्ण, नित्यानन्दमय, कूटस्थ, विनाशरहित होनेके कारण अमृतस्वरूप,

निरञ्जन अर्थात् मायिक गुणरहित, विशुद्ध, अनन्त और अद्वय हैं॥ ३२॥

अवतरणिका भाष्य—ननु घटपदवाच्यं घटविलक्षणं नेत्युक्तं तत्राह।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न यह है कि घट पद वाच्य वस्तु तो घटसे स्वतन्त्र (विलक्षण) नहीं है, इसका जो पहले स्थापन किया गया था, इसके उत्तरमें कहते हैं—

सूत्र—सामान्यात्तु॥ ३३॥

सूत्रार्थ—'तु'—नहीं, यह शङ्का करना भी मत, 'सामान्यात्' साधारण धर्म अर्थात् जातिके (सादृश्यताके) द्वारा ऐक्य बुद्धि होती है। इसी कारणसे व्यक्तियोंका ऐक्य नहीं है॥ ३३॥

सूत्रानुवाद—परज्ञानमय कभी भी सामान्य असत् नाम अथवा जाति आदिके विषय नहीं हैं॥ ३३॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काच्छेदाय। यथैक एव घटशब्दो नानाविधेषु घटेषु घटत्वसामान्यमादाय वर्त्तते तथानन्दादिशब्दोऽप्यानन्दत्वादिसामान्यमादाय लौकिकालौकिकेष्वानन्दादिष्विति नैतावता व्यक्तिसादृश्यं सर्वथा। अतएव *"परज्ञानम-योऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः। न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यति"* इति जीवज्ञानात् परं यज्ज्ञानं तन्मय इत्युक्तम्॥ ३३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूवोक्त शङ्काके निराकरणके लिए है अर्थात् जिस प्रकार एक ही घट शब्द घट जाति अर्थात् शुक्ल, रक्त, पीतादि सभी घटोंके लिए प्रयुक्त होता है, इसी प्रकार आनन्द इत्यादि शब्द भी आनन्दत्वरूप साधारण धर्मके अनुसार लौकिक, अलौकिक सभी आनन्दादिमें प्रवृत्त होता है—यह कहनेसे (इसके द्वारा) समस्त प्रकारके व्यक्तियोंका स्वरूपगत सादृश्य सर्वथा प्रतिपादित नहीं हो सकता। (लौकिक एवं अलौकिक) व्यक्तियोंके ये दो आनन्द हैं—व्यक्तियोंका परस्पर सादृश्य नहीं है, इस कारण ही विष्णुपुराणकी यह उक्ति सङ्गत है—यथा परज्ञानमय इत्यादि—अहे महाराज! श्रीहरि परज्ञानस्वरूप हैं, वे कभी भी मिथ्याभूत अनित्य (असत्) नाम, जाति इत्यादि धर्मोंके साथ युक्त नहीं हो सकते, न

पहले कभी हुए हैं और न भविष्यमें कभी होंगे। परज्ञान शब्दका अर्थ है जीवज्ञानसे श्रेष्ठ जो ज्ञान है, तत्स्वरूप अर्थात् वही ज्ञानस्वरूप वे हैं—यही यहाँ कहा जा रहा है॥ ३३॥

सूक्ष्मा-टीका—सामान्यदिति। अतएवेति। परज्ञानेति श्रीवैष्णवे। असद्भिरित्युक्ते सद्भिस्तु योगवानित्यादिकमायाति। तदिदं पीठके भूरिद्रष्टव्यम्। विभुर्हरिः॥ ३३॥

सूक्ष्मा-सार—'*सामान्यादिति*' सूत्रमें '*अतएव*' इत्यादि भाष्यमें '*परज्ञानमयोऽसद्भिः*' इत्यादि श्लोक श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है। यहाँ '*असद्भिः*' यह पद जात्यादिका विशेषण है। इसके द्वारा प्रतिपादित होता है कि सत्यभूत नित्य नामादिके साथ उनका सम्बन्ध है? भाष्यपीठकमें यह प्रचुरतासे देखा जा सकता है। 'विभुः' अर्थात् श्रीहरि। (विश्व-व्यापक अर्थमें प्रयुक्त नहीं)॥ ३३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी कहते हैं कि घट पद वाच्य पदार्थ घटसे विलक्षण (पृथक्) नहीं है, सूत्रकारने इसका उत्तर प्रस्तुत सूत्रमें देते हुए कहा है कि '*सामान्यात्*' अर्थात् साधारण जातिको लेकर यह कहा गया है। जिस प्रकार एक घट शब्दसे विभिन्न प्रकारके घटोंको जाना जाता है, उसी प्रकार आनन्द शब्दसे लौकिक और अलौकिक सभी आनन्दोंको साधारण रूपसे बतलाये जानेपर भी इससे व्यक्तिगत सादृश्यको सर्वथा ही नहीं जाना जाता। अतः जीवज्ञानसे परमेश्वरके ज्ञानका श्रेष्ठत्व एवं पार्थक्य अवगत हो जानेपर लौकिक और अलौकिक आनन्दका पार्थक्य भी जाना जा सकेगा।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'*दर्शनादेव चान्यानन्दादीनाम्। अदृष्टमव्यवहार्यम् व्यपदेश्यं मुख्यं ज्ञानमोजो बलमिति ब्रह्मणः, तस्माद् ब्रह्मेत्याचक्षते इति कौण्डिन्य श्रुतिः।*'

अर्थात् इस प्रकार अन्य कारण प्रदर्शित करते हुए ब्रह्मगुणके अलौकिकत्वका प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि लौकिक जीवादिकोंके आनन्दादि सभी गुण मन एवं वाक्यके गोचर (दृष्टिगत) हैं, किन्तु ब्रह्मका ज्ञान, ओज, बल इत्यादि सभी अदृष्ट एवं अव्यवहार्य हैं। इसलिए ब्रह्मगुणकी लौकिक गुणसे विलक्षण विभिन्नता जानी जाती है। अतएव ब्रह्मके गुण लौकिक नहीं हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें भी है—

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्व्वरसे।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/३४)

हे प्रभो! आप समस्त रसके (आनन्दके) एकमात्र आकर स्थानीय परमात्मरूपी परमानन्दमय एवं शरण्य हैं। आपके रहते हुए मनुष्योंको अपने आनन्द प्राप्तिकी आशासे प्राकृत स्वजन, पुत्र, आत्मा, देह, स्त्री, धन, गृह, भूमि, रथ प्राण एवं प्रतिष्ठा आदिसे भला क्या प्रयोजन! जो परमार्थ तत्त्वसे अनभिज्ञ होकर मैथुन-रतिरूप माया जन्य भ्रमपूर्ण सुखमें निमग्न रहते हैं, उन मनुष्योंको स्वभावतः विनाशी एवं सारहीन पदार्थ संसारमें किसी भी प्रकारसे यथार्थ आनन्द नहीं दे सकते। अर्थात् किसी प्रकारसे वे प्रकृत आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते॥ ३३॥

अवतरणिका भाष्य—ननु जीवजडात्मकात् प्रपञ्चाद्विलक्षणं चेद्धर्मिभूतं ब्रह्म तर्हि *"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तज्जलानिति शान्त उपासीत"* (छा॰ ३/४/१) इत्युपदेशः कथं सङ्गच्छेत तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि यदि जीव और जड़ पृथ्वी आदि स्वरूप प्रपञ्चसे धर्मीभूत ब्रह्म पृथक् हैं, तो *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तज्जलानिति शान्त उपासीत'* (छा॰ ३/४/१), अर्थात् यह परिदृश्यमान प्रपञ्च समस्त ही ब्रह्म है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है क्योंकि विश्व उन्हींसे उत्पन्न है, उन्हींमें लीन है और उन्हींके द्वारा स्थितिमान है—इस प्रकारसे शम-दमादिसे सम्पन्न (युक्त) होकर उनकी उपासना करें। तब इन सब अभेदोपदेश (अभेद-बोधक) वाक्योंसे सङ्गति किस प्रकार होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—आशङ्क्य परिहरति नन्विति। इत्युपदेशः सर्वाभेदबोधकं वाक्यमित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आशङ्का करके अब उसका परिहार करते हैं—*'ननु'* इत्यादि वाक्यमें *'उपासीतेत्युपदेशः'* इति *'उपदेशः'* अर्थात् ब्रह्मके साथ अभेदबोधक समस्त वाक्य।

सूत्र—बुद्ध्यर्थः पादवत्॥ ३४॥

सूत्रार्थ—यदि ब्रह्म प्रपञ्चसे विलक्षण हैं, तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं 'बुद्ध्यर्थः'—यह सर्वेश्वरत्वका उल्लेख समस्त वस्तुओंमें तदीयत्व-ज्ञानके लिए है, 'पादवत्' जिस प्रकार भगवान्के (एक) पाद स्वरूपमें विश्वका व्यपदेश है॥ ३४॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मके एक पादमें सम्पूर्ण विश्व है इत्यादि व्यपदेश बुद्धि अर्थात् उपासनाके लिए है अर्थात् सभी वस्तुओंको उनका समझनेपर कोई राग-द्वेष नहीं रहता॥ ३४॥

गोविन्दभाष्य—सोऽयमुपदेशो बुद्ध्यर्थः। सर्वत्र तदीयत्वज्ञानार्थः पादवत्। *"पादोऽस्य विश्वा भूतानि"* (ऋगवेद १०/९०/३) इत्यत्र यथा विश्वस्य भगवत्-पादत्वोपदेशस्तद्वत्। एवं हि द्वेषविहीनं मनस्तत्प्रवणं भवति। न चैवं रागप्राप्तिर्निहीनत्वबुद्धेर्बाधकत्वात्॥ ३४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यह जो उपदेश है—*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* इत्यादि इस श्रुति-वाक्यका तात्पर्य है—सम्पूर्ण पदार्थ ही तदीयत्व ज्ञानके लिए है अर्थात् समस्त ही भगवदीयत्व ज्ञानके लिए है। दृष्टान्त है—' *पादवत्'*—*'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'*—इस श्रुतिमें जिस प्रकार समस्त प्राणियोंको उनका पादस्वरूप (एकांशस्वरूप) कहा जा रहा है। इसका तात्पर्य है—समस्त ही तत्-सम्बन्धीय है, इसी प्रकार 'सर्वं खल्विदम्' इत्यादि वाक्यमें समस्त ही भगवत् सम्बन्धीय है—यह तात्पर्य है। इस प्रकारसे ज्ञात होनेपर मन द्वेषरहित होकर *'तदुन्मुख'* अर्थात् ईश्वरोन्मुख हो जाता है। यदि कहो समस्त वस्तुओंमें ब्रह्म सम्बन्धीय ज्ञान उत्पन्न होनेसे सर्वत्र आसक्ति भी हो सकती है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि मायाके वैभवमें अपकर्षत्व (दूर खिञ्चनेकी बुद्धि-स्फुरण) उसका प्रतिबन्धक है अर्थात् समस्त वस्तुओंमें क्योंकि द्वेषके अभावका ज्ञान

नहीं है, इसलिए अपकर्ष-बोधसे सर्वत्र राग भी नहीं हो सकता। बुद्धिमें द्वेषका भाव रहनेसे वह उक्त उपासनाकी बाधक हो जाती है। तात्पर्य यह है कि ये वाक्य समस्त वस्तुओंमें अनुरक्त होनेका उपदेश नहीं करते बल्कि कहते हैं कि द्वेषयुक्त बुद्धि उक्त उपासनाकी बाधक है॥ ३४॥

सूक्ष्मा-टीका—बुद्ध्यर्थ इति। एवं हीति। सर्वत्र तदीयत्वे ज्ञाते न कोऽपि द्वेषस्य विषयोऽस्ति। ततो द्वेषशून्यं मनो भगवत्यनुरज्यतीत्यर्थः। न चैवमिति। भगवत्सम्बन्धे ज्ञाते द्वेष एव तत्र निवर्त्तते। ननु रागोऽपि तत्र स्यात् तन्मायावैभवत्वेनापकर्षस्यापि स्फूर्त्तेः। तथा चास्ति भक्तिप्रयोजकः। स्वस्माद्भगवति महानुत्कर्ष इति भजनीयः सः॥ ३४॥

सूक्ष्मा-सार— *'बुद्ध्यर्थ'* इत्यादि सूत्रमें 'एवं हि द्वेषनिहीनमित्यादि भाष्यमें' जो कहा है, उसका तात्पर्य है कि यदि समस्त वस्तुओंको उनकी ही समझें, उनका ही रूप समझें तो कोई द्वेषका पात्र अथवा विषय रहता ही नहीं बल्कि इसके फलस्वरूप सर्वत्र द्वेष रहित मन श्रीभगवान्‌में अनुरक्त रहता है। *'न चैवं रागप्राप्ति रिति'* अर्थात् जिसके प्रति तदीयत्व अर्थात् भगवत्-सम्बन्ध ज्ञात रहता है तो उसके प्रति द्वेष चला जाता है। राग अथवा आसक्ति भी उसमें रहती नहीं है। भगवान्‌की मायाके वैभव रूपमें उसमें अपकर्षका भी स्फुरण होता है। अपकर्ष-बोध उत्पन्न होनेपर उसमें फिर प्रेम (अनुरक्ति) का उदय होता नहीं। अतएव भगवान्‌के प्रति भक्तिका असाधारण हेतु यह है कि स्वयंसे भगवान्‌का महान उत्कर्ष है; इस कारण वे (भगवान्) भजनके पात्र हैं॥ ३४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पूर्वपक्षवादी और एक पक्ष उत्थापित कर रहे हैं कि यदि धर्मीभूत ब्रह्म जीव और इस जड़ात्मक प्रपञ्चसे विलक्षण हैं तो 'यह परिदृश्यमान विश्व ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतिमें कथित अभेद बोधक वाक्योंकी सङ्गति किस प्रकार हो सकेगी? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इस श्रुति-वाक्यका तात्पर्य है—समस्त वस्तुओंमें ही तदीयत्व-ज्ञानको ही निमित्त (कारण) जानना होगा। यह विश्व प्रपञ्च श्रीभगवान्‌का पाद (एकांश) है—यह कहनेपर

जिस प्रकार उनका सम्बन्ध जाना जाता है, इसी प्रकार उक्त वाक्यको भी भगवत्-सम्बन्धीय विचारसे जानना होगा।

समस्त वस्तुओंमें भगवत्-सम्बन्धीय बोध रहनेसे कहीं भी भेद-ज्ञानकी सम्भावना नहीं रहती। द्वेषहीन मन सहजमें ही भगवत्-प्रवणता प्राप्त करनेमें समर्थ है। समस्त वस्तुओंमें भगवत्-सम्बन्धीय विचार उपस्थित होनेपर ही प्रापञ्चिक वस्तुओंमें कभी भी अनुराग उत्पन्न नहीं होगा। यह सब श्रीभगवान्का माया वैभव है—यह जानकर इसके अपकर्षकी ही उपलब्धि होती है और श्रीभगवान्के परम उत्कर्षका अनुभव होनेपर यह जान लिया जाता है कि वे ही एकमात्र भजनीय हैं, इसलिए उनके भजनमें रत हुआ जा सकता है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

अप्रसिद्धस्य कथमानन्द इत्यादि व्यपदेश इत्यतो वक्ति जीवेश्वरसम्बन्ध-ज्ञापनार्थमप्रसिद्धोऽपि पादो यथा पादशब्देन व्यपदिश्यते 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति तथा 'अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छब्दादेव भण्यते। ज्ञापनार्थाय लोकस्य यथा राजेव देवराडिति पाद्मे।

अर्थात् ईश्वरमें यदि आनन्दादि गुण अलौकिक हैं तो श्रुति-पुराणादिमें आनन्दादि शब्दोंका प्रयोग किस प्रकार हो सकता हैं? इस आशङ्कापर कहते हैं कि जीव और ईश्वरके सम्बन्धको विशेष रूपसे जाननेके लिए जिस प्रकार ईश्वरका पाद अप्रसिद्ध होनेपर भी *'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'* इत्यादि श्रुतिमें ईश्वरके पाद शब्दका प्रयोग होता है, इसी प्रकार जीव और ईश्वरके अंशाशिभावके ज्ञापनके लिए अलौकिक ईश्वरानन्दका आनन्द शब्दसे प्रयोग हो सकता है। पद्मपुराणमें इसकी पुष्टि करते हैं कि जिस प्रकार लोक-ज्ञापनके लिए राजामें देवराज इन्द्र शब्दका प्रयोग किया जाता है, उसे इन्द्रके गुणोंसे विभूषित किया जाता है, उसी प्रकार अलौकिक ईश्वरीय ज्ञानादि भी जीवमें ज्ञानादि शब्दसे कहे जाते हैं। अतएव अलौकिक गुणसम्पन्न हरिकी भक्ति करनी चाहिये। श्रीनिम्बार्कभष्यमें वर्णन है—*'मनोब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मं तदेतच्च-तुष्पादब्रह्म। वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षु पादः श्रोत्रं पाद इति।'* (छा० ३/१८/१-२) अपने अन्तःकरणमें परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। अन्तःकरणके चार चरण हैं—वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र। मनको

भगवान्‌के चरण-कमलोंमें, वाणीको उनके गुणानुवादमें नेत्रोंको भगवान्‌की मूर्त्तिके दर्शनमें और कानोंको भगवत्-कथा-श्रवणमें लगा देना चाहिये। प्राणका संयोग होना चाहिये। यह भक्तियोगका सिद्धान्त है। (श्रीमद्भा॰ ९/४/१८)

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥

(श्रीमद्भा॰ २/६/१६)

भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान जो कुछ भी था, है और होगा—सब विराट् पुरुष ही है। इनसे भिन्न किसीकी भी सत्ता नहीं है। वे दस अङ्गुलके स्थानमात्रमें अधिष्ठित रहकर इस विश्वको परिवृत किये हुए हैं।

इसी प्रकार,

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात्।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः॥

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्द्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु॥

(श्रीमद्भा॰ २/६/१८-१९)

हे नारद! वे परमेश्वर अमृत एवं अभयपदके स्वामी हैं अर्थात् वे ही भोक्ता, भोजयिता एवं दाता हैं। मोक्षामृतका तिरस्कार करनेवाले उन्होंने मरणधर्मी (नश्वर) विषय-सुखोंका परित्याग कर दिया है। यही कारण है कि उन परमेश्वरकी महिमा असीम है। पण्डितजन कहते हैं कि जो स्थिति-पद हैं अर्थात् जिनके चरणारविन्दसे समस्त लोकोंका पालन होता है, उनके अंशभूत मायिक-अमायिक प्रदेशोंमें बद्ध-मुक्त जीव विराजित हैं। त्रिगुणमय स्थानोंके ऊपरी भागमें परव्योम है। वहाँ मरणका अभाव (अमृत), रोगदिका अभाव (क्षेत्र), भगवत्-अपराध हेतुक भयका अभाव (अभय) नित्य विराजित है। संक्षेप रूपमें—वहाँ मृत्यु, व्याधि एवं भय नहीं हैं; बल्कि अमृत, क्षेम एवं अभयका सदा-सर्वदा निवास है॥ ३४॥

(भक्तिके वैचित्र्यसे भगवान्‌का प्रकाश-वैचित्र्य)

अवतरणिका भाष्य—अथ भक्तिवैचित्र्याय भजनीयस्य श्रीहरेर्भानवैचित्र्यं निरूप्यते। इतरथा भक्तिवैचित्र्यानुपपत्तिः। भानवैचित्र्यन्तु स्थानानादित्वादनादिसिद्धम्। *"एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति"* (गो॰ता॰पू॰ २१) इत्यादिश्रुतिमाश्रित्य न स्थानतोऽपीत्यादिनानास्थानेषु स्थानीभूतमेकं ब्रह्म प्रकाशत इत्युक्तम्। अथ तेषु तत्प्रकाशस्य तारतम्यं स्यान्न वेति वीक्षायां वस्त्वैक्यात् समानशब्दबुद्धिबोध्यत्वाच्च नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब भक्तिके वैचित्र्यके कारण भजनीय श्रीहरिका भक्तोंके निकट विचित्र रूपमें प्रकाश होता है, इसका निरूपण किया जाता है। यदि श्रीभगवान्‌का भक्तोंमें विचित्र रूपसे प्रकाश (अनुभव) न होता तो भक्तिका वैचित्र्य भी न होता। यह जो भान (प्रकाश) का वैचित्र्य है—तो इस भानका स्थान अनादि है, अतः यह भानवैचित्र्य भी अनादि-सिद्ध है। श्रुति कहती है—जो एक होकर भी बहुत-से रूपोंसे प्रकाश पाते हैं—*'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* (गो॰ता॰पू॰ २१) इस श्रुतिके आधारपर ज्ञात होता है कि स्थानके अनुसार उनका बहुत रूपोंमें प्रकाश नहीं है किन्तु स्थान-भेद होनेपर ही नाना प्रकाश हैं। तात्पर्य यह है कि स्थानवश अर्थात् नाना स्थानोंमें स्थानीभूत एक ही ब्रह्म प्रकाशित होते हैं, यह कहा जा रहा है। यहाँ सन्देह यह है कि इन समस्त स्थानोंमें उनके प्रकाशका तारतम्य है? कि नहीं है? पूर्वपक्षी कहते हैं, नहीं, जब स्थानी वस्तु एक है और एक ही बुद्धि द्वारा वेद्य है, तब प्रकाशका तारतम्य नहीं हो सकता। इस मतके प्रतिवादके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्वस्तुत्कृष्टानन्दादिर्हरिस्तथापि न स भजनीयो-वैचित्र्याभावात्। विचित्रो हि मनः समाकर्षति नाविचित्र इत्याक्षिप्य समाधेरिह प्राग्वत् सङ्गतिः। अथ भक्तीत्यादि स्फुटार्थम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रश्न उठता है कि अच्छा! श्रीहरि सर्वोत्कृष्ट, आनन्दमय और ज्ञानादिस्वरूप हैं, तो वे भजनीय किसलिए होंगे? क्योंकि उनके प्रकाशका कोई वैचित्र्य नहीं है? जगत्‌में विचित्र वस्तु ही चित्तका आकर्षण करती है, विचित्र न होतो चित्तका आकर्षण होता नहीं है। इस आक्षेपके बाद समाधान होनेके

कारण इस अधिकरणमें भी आक्षेप सङ्गति पूर्वाधिकरणके समान जाननी चाहिये। *'अथ भक्ति वैचित्र्यायेत्यादि'* अवतरणिका भाष्यका अर्थ सुस्पष्ट ही है।

स्थानविशेषाधिकरणम्

सूत्र—स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्॥ ३५॥

सूत्रार्थ—'प्रकाशादिवत्' दीपादि प्रकाशक द्रव्योंका जिस प्रकारसे आधार-भेदसे प्रकाश-तारतम्य है, 'स्थान विशेषात्' उसी प्रकार ब्रह्मके एक स्वरूप होनेपर भी भक्त-भेद, प्राकट्य स्थान-भेद और धाम-विशेषके वैशिष्ट्यके कारण श्रीभगवान्के प्रकट्यका तारतम्य है॥ ३५॥

सूत्रानुवाद—दीपादि प्रकाशक द्रव्यके समान ब्रह्मका एकमात्र स्वरूप होनेपर भी स्थान (धाम) और भक्तोंकी रुचि वैशिष्ट्यसे श्रीभगवान्के प्रकाशका तारतम्य है॥ ३५॥

गोविन्दभाष्य—यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपं तथापि तत्प्राकट्यस्थानानां तेषां धाम्नां भक्तानाञ्च विशेषादैश्वर्यमाधुर्यकृताच्छान्तिदास्यसख्यादिकृताच्च तारतम्यात्तत्-प्राकट्यमपि तारतम्यभाक् स्यात् प्रकाशादिवत्। यथा प्रकाशो दैपः स्फाटिकेषु कौरुविन्देषु च मन्दिरेषु चाक्चिक्यारुण्याभ्यां तारतम्यभाक् यथा चैकविधोऽपि शब्दः कम्बुमृदङ्गवंशप्रभृतिषु मन्द्रत्वमधुरत्वादिविशेषभाक् तद्वदित्यर्थः। अयं भावः। यस्मिन् स्थाने भगवतः पारमैश्वर्याविष्कारस्तत्र तस्य भक्तिर्विधिना प्रवर्त्तते तया तीव्रः प्रकाशः स्फाटिकनिकेतदीपवत् यत्र सत्यपि पारमैश्वर्ये माधुर्याविष्कारस्तत्र खलु रुच्या प्रवर्त्तते तया मधुरः प्रकाशः कौरुविन्दनिकेतदीपवदिति धाम्नां तच्चिन्तकानां भक्तेश्च द्वैविध्यं साधितम्॥ ३५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यद्यपि ब्रह्म स्वरूपतः एक हैं, तो भी उनके प्रकाश (प्राकट्य) स्थानोंके अर्थात् धाम और वहाँके भक्तोंके भावके विशेषत्वके कारण और भगवान्के ऐश्वर्य, माधुर्यकी अभिव्यक्ति जनित भक्तोंके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुरादि भावकृत तारतम्यके कारण उनके प्रकाशका भी तारतम्य है। जिस प्रकार दीपादिका प्रकाश आधार भेदसे तारतम्य विशिष्ट होता है अर्थात् जिस प्रकार दीपकके स्फटिकाधारमें रहनेपर उसका प्रकाश चाक्चिक्य विशिष्ट होता है और

पद्मराग-मणि निर्मित गृहमें (कुरुविन्द मन्दिरमें) दीपकका प्रकाश अरुण होता है—इन रूपोंमें दीप-प्रकाशका तारतम्य होता है अथवा जिस प्रकार ध्वन्यात्मक शब्द एक होनेपर भी शङ्ख, मृदङ्ग, वंशी इत्यादिमें उत्पन्न होकर कहीं गम्भीर और कहीं मधुरादि विशेषण रूपसे सुना जाता है, इसी प्रकारसे ब्रह्मकी प्रकटताका तारतम्य जानना चाहिये। बात यह है कि जिस स्थानपर भगवान्‌के परम ऐश्वर्यका आविष्कार है, वहाँ उनके प्रति भक्तकी भक्ति शास्त्रोक्त विधिके अनुसार प्रवृत्त होती है, इसी भक्तिके कारण उनका तीव्र प्रकाश जानना चाहिये जैसे स्फटिकाधारमें दीपकका प्रकाश तीव्र होता है। और जहाँ पारमैश्वर्य होनेपर भी माधुर्यका आविष्कार है, वहाँ भक्ति रुचिके द्वारा प्रवर्त्तित होती है। इस प्रकारकी भक्तिके द्वारा उनका मधुर प्रकाश उसी प्रकार है, जिस प्रकार पद्मरागमणि गृहमें दीपका प्रकाश। इस प्रकार प्राकट्य-स्थानका और भगवत्-चिन्तककी भक्तिका द्विविधत्व (दो प्रकारकी वैधीभक्ति अर्थात् ऐश्वर्यमयी भक्ति और माधुर्यमयी भक्ति) साधित हुआ॥ ३५॥

सूक्ष्मा-टीका—स्थानेति। शान्तिदास्येति। आदिशब्दात् वात्सल्यस्य कान्ताभावस्य परिग्रहः। दृष्टान्तेन स्फुटयति प्रकाशेति। कौरुविन्देष्विति। पद्मरागरचितेषु हिङ्गुललिप्तेष्विति वा। कुरुविन्दस्तु मुस्तायां कुल्माषव्रीहिभेदयोः। हिङ्गुले पद्मरागे च मुकुले च समीरित इति विश्वप्रकाशात्। यस्मिन्निति परव्योमादौ। यत्रेति श्रीगोलोकादौ॥ ३५॥

सूक्ष्मा-सार— *'स्थान विशेषादित्यादि'* सूत्रमें शान्त-दास्य-सख्यादिकृताच्च-इति भाष्यमें आदि पदसे 'वात्सल्य' कान्ता भाव (प्रणयिनी भाव) ग्रहणीय है। दृष्टान्तके द्वारा उक्त अर्थका *'प्रकाशादिवत्'* इस पद द्वारा विस्तार करते हैं— *'कौरुविन्देषु च मन्दिरेषु इति'* अर्थात् पद्मरागमणिसे निर्मित गृहमें अथवा हिङ्गुल-रस-आलिप्त गृहमें। 'कुरुविन्द' शब्दका अर्थ विश्वकोषमें बहुत प्रकारसे कहा गया है यथा—कुरुविन्द मुस्ता (एक प्रकारकी घास मोथा) अर्थमें, कुल्माष (उड़द) अर्थमें, भूसी अर्थमें तथा हिङ्गुल, पद्मरागमणि और कोरक अर्थमें भी कहा गया है। *'यस्मिन् स्थाने भगवत् इति'* में 'यस्मिन्' का अर्थ है परमव्योम इत्यादि में। *'यत्र सत्यापि पारमैश्वर्य इति'* में यत्रका अर्थ है—श्रीगोलोकधाम इत्यादि में॥ ३५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब भक्तिके वैचित्र्यके निमित्त भजनीय श्रीहरिके प्रकाश-वैचित्र्यका निरूपण किया जाता है। प्रकाश-वैचित्र्यके बिना भक्तिका वैचित्र्य उपपन्न (युक्त) नहीं होता। श्रुतिमें पाया जाता है—जो एक होकर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशित हैं—इस श्रुतिके आधार जान सकते हैं कि नानास्थानोंमें वे ही एक स्थानीभूत ब्रह्म ही प्रकाशित होते हैं। इस स्थलपर एक संशय यह उपस्थित होता है कि इन समस्त नाना रूपोंके प्रकाशोंमें प्रकाशका कोई तारतम्य है कि नहीं। पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब वस्तु एक है और एक ही बुद्धिके द्वारा वेद्य है तो प्रकाशका कोई तारतम्य नहीं है। इस पूर्वपक्षका प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि दीपादि प्रकाशक द्रव्यके समान ब्रह्मका एकमात्र स्वरूप होनेपर भी स्थान अर्थात् धाम विशेष और भक्तजन विशेषसे उनके ऐश्वर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण प्रकाशवश शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरादि भावोंके तारतम्य भेदसे प्रकाशका भी तारतम्य है। जहाँ श्रीभगवान्के पारमैश्वर्यका आविष्कार है, जिस प्रकार परव्योममें भक्ति विधि द्वारा प्रवर्त्तित है और जिस स्थानपर पारमैश्वर्य होनेपर भी माधुर्यका आविष्कार है, वहाँ रुचिके द्वारा भक्ति प्रवर्त्तित होती है। परव्योमादिमें ऐश्वर्यलीला है और श्रीगोलोक धामादिमें माधुर्यलीला है। इस प्रकार धामका और भक्तकी भक्तिका द्विविधत्व साधित होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'परानन्दमात्रत्वं कथं ब्रह्माद्यानन्ददीनां विशेष इत्यत उच्यते यथादित्यस्य दर्पणादिस्थानविशेषात् प्रतिबिम्बविशेषः एवमानन्दादेरपि। ब्रह्मादि गुणवैशेष्यादानन्दः परमस्य च। प्रतिबिम्बत्वमायाति मध्योच्चादिविशेषत इति च वाराहे।'

श्रीमध्वभाष्यका अनुवाद—

अब भगवत्-प्राप्ति साधन-भक्तिके निमित्त ब्रह्मादिका आनन्द भी ईश्वरानन्दका प्रतिबिम्ब है—यही प्रतिपादन करते हैं—अन्यथा पूर्वोक्त अलौकिकत्वकी असम्भावनाके कारण ईश्वरमें भक्तियोग हो नहीं सकता। पहली बात तो यह है कि ब्रह्मादिका आनन्द भगवदानन्दका प्रतिबिम्ब है कि नहीं? यही सन्देह है अर्थात् यदि ब्रह्मादिका आनन्द भगवदानन्दका प्रतिबिम्ब नहीं होता तो ब्रह्मादिका आनन्द और

भगवदानन्दका कोई तारतम्य नहीं रहता। इसलिए भगवत्-भक्ति असम्भव है। यह आशङ्का हैं—इसपर ब्रह्मादिका आनन्द भी ईश्वरानन्दका प्रतिबिम्ब है। यही प्रकृत सिद्धान्त है। यदि ब्रह्मादिका आनन्द ईश्वरानन्दका प्रतिबिम्बस्वरूप होता है तो उभयानन्द (दोनों प्रकारके आनन्द) का वैचित्र्य है किसलिए? इसका कारण है कि जिस प्रकार दर्पण, जलादिमें आदित्यका प्रतिबिम्ब पड़नेपर स्थान-विशेषसे उस प्रतिबिम्बका विशेष (वैशिष्ट्य) है अर्थात् उस प्रतिबिम्बमें सूर्य, अग्नि आदिके समान दाहिका शक्ति नहीं है, इसी प्रकार भगवदानन्द और ब्रह्मादिका आनन्द—इन दोनों आनन्दोंका वैचित्र्य है। वराहपुराणके वचनसे यही प्रतिपादित होता है—यथा ब्रह्म आदिके गुण-वैशिष्ट्यसे परमात्माके आनन्दादि विशेष रूपसे प्रतिबिम्बित होते हैं।

और जैसे व्यापक और अपरिच्छिन्न प्रकाश वातायन, गवाक्ष, खिड़की तथा घट आदि उपाधिभूत स्थानोंमें प्रविष्ट होकर उन-उन स्थानोंवाला कहलाता है, उसी प्रकार यहाँ भी अभिव्यक्तिके स्थानके अनुसार अनुसन्धान है।

श्रीमद्भागवतमें है—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥

(श्रीमद्भा० ३/२५/३८)

हे शान्तरूपे! स्वर्गादि लोकोंमें भोक्ता एवं भोग्य विषयोंका किसी-न-किसी समय विनाश हो जाता है, किन्तु मेरे वैकुण्ठलोकमें मेरे परायण भक्तोंकी कभी भी उस प्रकारसे भोग्यवस्तु नष्ट होनेकी कोई भी आशङ्का नहीं है—मेरा अनिमिष कालचक्र भी उन्हें ग्रस नहीं सकता। मैं ही उनका प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद्, और इष्टदेव हूँ।

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोद्ध्वर्मनन्यसिद्धम् ।

दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४४/१३)

अर्थात् अरी सखी! मालूम नहीं, गोपियोंने ऐसी कौन-सी तपस्या की है कि वे नित्य-निरन्तर अपने नेत्रोंके द्वारा श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीका पान करती रहती हैं। श्रीकृष्णका सौन्दर्य समस्त लावण्यका सार है, असमोर्ध्व है, स्वभावसिद्ध है, यश, श्री एवं ऐश्वर्यका एकमात्र आधार हैं, नित्य-नूतन सौन्दर्यका स्रोत है परन्तु इनका दर्शन औरोंके लिए अत्यन्त दुर्लभ है। वह तो केवल गोपियोंके ही भाग्यमें है।

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(श्रीमद्भा॰ ३/९/११)

अर्थात् हे नाथ! (गुरुमुखसे) आपकी कथा सुननेके बाद वे संसारमें आपकी सेवाप्राप्तिके मार्गको जान पाते हैं। आप अपने निजजनोंके भक्तियोगसे पवित्र हुए हृदय-कमलमें निश्चय ही सर्वदा विश्राम करते हैं। हे उत्तमश्लोक! भक्त अपनी-अपनी (सिद्धदेहके भावगत) भावनाके अनुसार आपके जिन नित्य स्वरूपोंकी विभावना करते हैं, आप उनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए उन-उन स्वरूपोंको प्रकट करते हैं।

नारायणव्यूहस्तवमें भी कहा गया है—

पतिपुत्रसुहृद्भ्रातापितृवन्मित्रवद्धरिम्।
ये ध्यायन्ति सदोदयुक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः॥

अर्थात् जो इस लोकमें श्रीहरिको पति, पुत्र, सुहृद्, भ्रातृ, पितृ अथवा मित्रके समान मानकर सदा-सर्वदा उत्साहपूर्वक ध्यान करते हैं, उनके लिए नमस्कार है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

भक्तभेदे रति-भेद पञ्च प्रकार।
शान्तरति, दास्यरति, सख्यरति आर॥

वात्सल्यरति, मधुररति—ए पञ्च विभेद।
रतिभेदे कृष्णभक्तिरसे पञ्च भेद॥

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुररस नाम।
कृष्णभक्ति-रस मध्ये ए पञ्च प्रधान॥

(चै॰च॰म॰ १९/१८३-१८५)

अर्थात् भक्तके भेदसे रतिके भी भेद पाँच प्रकारके हैं—शान्तरति, दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति और मधुररति। रति भेदके आधारपर कृष्णभक्तिरसके भी पाँच भेद हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस। कृष्णभक्ति-रसमें ये पाँच प्रधान रस हैं।

और भी,

शान्तभक्त-नवयोगेन्द्र सनकादि आर।
दास्यभाव भक्त—सर्वत्र सेवक अपार॥

सख्यभक्त श्रीदामादि, पुरे भीमार्जुन।
वात्सल्य भक्त—माता, पिता, यत गुरुजन॥

मधुर-रसे भक्त मुख्य—व्रजे गोपीगण।
महिषीगण, लक्ष्मीगण, असंख्य गणन॥

पुनः कृष्णरति हय दुइ त प्रकार।
ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा केवला भेद आर॥

गोकुले 'केवला' रति ऐश्वर्यज्ञानहीन।
पुरीद्वये वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्य प्रवीण॥

(चै॰च॰म॰ १९/१८९-१९३)

अर्थात् शान्तरसके भक्त हैं—नवयोगेन्द्र (कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रविड़ [द्रुमिल], चमस और करभाजन) तथा सनकादि (सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन)। दास्यरसके भक्त सर्वत्र हैं—इनमें श्रीभगवान्‌के अपार सेवकगण हैं यथा—गोकुलमें रक्तक, चित्रक, पत्रकादि, द्वारकापुरीमें स्थित दारुकादि दासगण, वैकुण्ठादि दासगण और हनुमानादि लीलादासगण। व्रजलीलामें सख्यरसके भक्त

श्रीदामादि हैं, इनका सख्य धामानुसार माधुर्यमय है और द्वारकापुरीमें भीम तथा अर्जुन ऐश्वर्य सख्यरसके भक्त हैं। वात्सल्यरसके भक्त हैं—श्रीकृष्णके माता-पिता—श्रीयशोदा-नन्द और सभी गुरुजन। देवकी-वसुदेव ऐश्वर्य मिश्रित वात्सल्यके आश्रय हैं। श्रीराधादि व्रजगोपीगण व्रजमें शुद्ध मधुररसमें निष्ठ हैं और मथुरा-द्वारका दोनों पुरियोंमें श्रीरुक्मिणी आदि महिषियाँ और वैकुण्ठोंमें लक्ष्मियाँ भी मधुररसके भक्तोंमें परिगणित हैं। पुनः कृष्णरति दो प्रकारकी है—ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा और केवला। गोकुल-व्रजमें ऐश्वर्य ज्ञानसे रहित केवला शुद्धारति है और मथुरा-द्वारका पुरीद्वयमें तथा वैकुण्ठादिमें ऐश्वर्य-प्रवीण कृष्णरति है।

तथा,

भक्त्ये भगवानेर अनुभव पूर्णरूप।
एकइ विग्रहे तार अनन्त स्वरूप॥

स्वयंरूप, तदेकात्मरूप, आवेश नाम।
प्रथमेइ तिनरूपे रहेन भगवान्॥

(चै॰च॰म॰ २०/१६४-१६५)

भक्तिपूर्वक ब्रह्मकी उपासना करनेसे भगवान्के पूर्ण-रूपका अनुभव होता है—वे एक नित्य विग्रहमें अनन्त-स्वरूपोंमें प्रतिभात होते हैं। पहले 'स्वयंरूप', 'तदेकात्मरूप' और 'आवेशरूप' इन तीन रूपोंमें भगवान् परिदृष्ट होते हैं। स्वयंरूपमें 'स्वयं और प्रकाश'—इन दो प्रकारके रूपोंमें उनकी स्फूर्त्ति है, इनमें स्वयंरूपमें व्रजमें गोपमूर्त्ति रूपमें श्रीकृष्ण उदित हैं। भागवतामृतके मतमें—कृष्णकी गोपमूर्त्ति ही स्वयंरूप है, क्योंकि वह उनके अन्य किसी भी रूपकी अपेक्षा नहीं करती। उनका यही रूप स्वयं रूपसे अभिन्न है; फिर भी आकृति और वैभवादिमें भिन्न है—इनको 'तदेकात्मरूप' कहा जाता है। जो जीवमें भगवत्-शक्ति प्रवेश पूर्वक महत् कार्य करते हैं—वे भगवान्के आवेश रूप हैं॥ ३५॥

सूत्र—उपपत्तेश्च॥ ३६॥

सूत्रार्थ—'च' और इस प्रकार व्याख्या करनेसे 'उपपत्तेः' श्रुति-वाक्य भी युक्तियुक्त (सिद्ध) होता है॥ ३६॥

सूत्रानुवाद—जैसे कर्मके अनुसार फलकी भिन्नता है, उसी प्रकार भक्ति-भाव वैचित्र्यसे ही ब्रह्मके प्रकाशका तारतम्य है, यही सङ्गत है॥ ३६॥

गोविन्दभाष्य—एवं सति यथा क्रतुरित्यादि वाक्यमुपपद्यते नान्यथा। तथा चैकस्य भावतारतम्यं स्थानतारतम्याद् युक्तम्॥ ३६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस प्रकारसे होनेपर *'यथाक्रतुः'* इत्यादि अर्थात् जैसा कर्म, वैसा फल, आदि वाक्य भी सङ्गत होते हैं, अन्यथा नहीं। अतएव सिद्धान्त यह है कि एक ही ब्रह्मका जो प्रकाश-तारतम्य है, वह स्थानके तारतम्यसे है और यही युक्तियुक्त है॥ ३६॥

सूक्ष्मा-टीका—उपपत्तेश्चत्यादि स्फुटार्थम्॥ ३६॥

सूक्ष्मा-सार—*'उपपत्तेश्च'* इत्यादि सूत्र और भाष्य अर्थ सुस्पष्ट हैं॥ ३६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कर्मके तारतम्यसे जिस प्रकार फलका तारतम्य घटित होता है, उसी प्रकार भक्तकी भक्तिके तारतम्यसे श्रीभगवान्‌के भी प्रकाशका तारतम्य देखा जाता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी है—

'ऐश्वर्यात् परमाद्विष्णोर्भक्त्यादीनामनादितः। ब्रह्मादीनां सूपपन्ना ह्यानन्दादेर्विचित्रता इति पाद्मे।'

अर्थात् इस समय दूसरी युक्तिके प्रदर्शन द्वारा प्रतिबिम्बानन्दका वैचित्र्य प्रतिपादन किया है। केवल ब्रह्मादि स्थान भेदसे ही आनन्दका वैचित्र्य है, इतना ही नहीं, अपितु ऐश्वर्यवश भी प्रतिबिम्बभूत भगवदानन्दका वैचित्र्य प्रमाणीकृत हुआ है। पद्मपुराणमें उल्लेख है कि विष्णुके परम ऐश्वर्य और भक्ति आदिके अनादित्वके कारण ब्रह्मादिके आनन्दसे भगवदानन्दका वैचित्र्य जाना जाता है। अतएव अलौकिक गुणशाली श्रीहरिकी भक्ति अवश्य करणीय है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥

(श्रीमद्भा॰ १०/५९/२५)

अर्थात् पृथ्वीदेवीने कहा—हे देव-देवेश! हे शंख-चक्र-गदाधर! आप भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए विविध स्वरूप प्रकट करते हैं। हे देव! मैं आपको प्रणाम करती हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(श्रीगी॰ ४/११)

अर्थात् हे पार्थ! जो मनुष्य मुझे जिस प्रकारसे भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी प्रकारसे भजता हूँ, क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं॥ ३६॥

श्रीभगवत्-स्वरूपका सर्वश्रेष्ठत्व

अवतरणिका भाष्य—अथ भगवतः सर्वपरत्वमुच्यते। ततोऽन्यस्य परत्वे तत्र भक्तिर्नोद्भवेत्। तथाहि श्वेताश्वतरैर्वेदाहमेतमित्यादिना सर्वतो वरिष्ठं ब्रह्मस्वरूपं निरूप्य ततो यदुत्तरतरमित्यादिना तस्मादपि परं वस्त्वस्तीति दर्शितम्। तत्र संशयः। उपास्याद्ब्रह्मणः परं वस्त्वस्ति न वेति। शब्दस्वारस्यादस्तीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद श्रीभगवान्का सर्वश्रेष्ठत्व निर्णीत होता है। युक्ति यह है कि यदि कोई दूसरा उनसे श्रेष्ठतर रहता तो भगवान्में भक्तिका उदय न होता। श्वेताश्वतरोपनिषद (३/८) में श्रुत होता है—*'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः परस्तात्'* अर्थात् मैं उन परमपुरुषकी उपासना करता हूँ जो चिरन्तन, ज्योतिर्मय और अविद्यासे अतीत हैं, इत्यादि वचनोंके द्वारा ब्रह्मस्वरूपका सर्वश्रेष्ठत्व निर्वाचन करके *'ततो यदुत्तरवरम्'* 'जो उससे भी उत्कृष्टतर हैं' इत्यादि वाक्य यह दिखाते हैं कि उस स्वरूपसे भी उत्कृष्टतर वस्तु है, इस वाक्यमें संशय यह है कि उपास्य ब्रह्मसे उत्कृष्टतर अन्य वस्तु हैं कि नहीं। पूर्वपक्षी कहते हैं, हाँ, निश्चय ही है अन्यथा श्वेताश्वतरोपनिषद इत्यादिमें इस प्रकारके वाक्य रहेंगे ही क्यों? 'शब्द-स्वारस्यवश हैं' यह कहा जा सकता है। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादि। अत्रापि प्राग्वत् सङ्गतिः। अस्तु परमानन्दे श्रीहरौ भक्तेर्विविधवैचित्री तथापि तत्त्वविदां तस्मिन् भक्तेरनुदयः। तस्मादन्यस्योत्कृष्टस्य तत्त्वस्य शास्त्रे प्रत्ययात्। सर्वोत्कृष्टं हि तत्त्वं तत्त्वविद्भिर्भजनीयमित्याक्षिप्य समाधानात्। ततोऽन्यस्येति। श्रीभगवतोऽन्यस्य वस्तुनः श्रेष्ठ्ये प्रतीते सति तत्र भगवति भक्तिर्नोदयेतेत्यर्थः तत्रेत्यादि। परं श्रेष्ठम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अथेत्यादि भाष्यमें इस अधिकरणमें भी पूर्व सूत्रके समान आक्षेप-सङ्गति है। किस प्रकारसे? वही बताते हैं—'परमानन्दस्वरूप' श्रीहरिमें भक्तिकी विविध विचित्रता होती है, होती रहे, क्योंकि जो तत्त्वदर्शी हैं, उनका उनमें (श्रीहरिमें) भक्तिका उदय होते देखा नहीं जाता। इससे ज्ञात होता है कि शास्त्रोंमें श्रीभगवान्से उत्कृष्टतर तत्त्व प्रतीत हो रहा है। तत्त्वज्ञानी सर्वोत्कृष्ट तत्त्वका ही भजन करते हैं। इस आक्षेपके बाद अब उसका समाधान किया जाता है। *'ततोऽन्यस्य परत्वे'* इत्यादि अर्थात् श्रीभगवान्से अन्य वस्तुका श्रेष्ठत्व प्रतीत होनेपर उनमें ही भक्ति उत्पन्न होगी, श्रीभगवान्में उदित नहीं होगी, यह तात्पर्य है। *'अत्र संशय'* इति—परं वस्तु इति। 'पर' का अर्थ है 'श्रेष्ठ वस्तु'।

अन्यप्रतिषेधाधिकरणम्

सूत्र—तथान्यप्रतिषेधात्॥ ३७॥

सूत्रार्थ—'तथा'—परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ हैं, उनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। प्रमाण क्या है? 'अन्य प्रतिषेधात्' क्योंकि उनसे अपरका श्रेष्ठत्व श्रुति द्वारा निषिद्ध है॥ ३७॥

सूत्रानुवाद—परब्रह्मसे परे अन्य किसी तत्त्वकी प्रतीति भ्रामक है, क्योंकि इसी प्रसङ्गमें परमात्मासे अन्य किसी श्रेष्ठ परतत्त्वका स्पष्ट निषेध किया गया है॥ ३७॥

गोविन्दभाष्य—तथा ब्रह्मैव सर्वस्माच्छ्रेष्टं न ततोऽन्यत् किञ्चित्। कुतः? अन्येति। *"यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्"* (श्वे॰ ३/९) इति। तैरेव तदन्यस्य श्रेष्ठस्य निराकरणात्। अयमर्थः। *"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"* (श्वे॰ ३/८) इति महापुरुषज्ञानममृतस्य पन्थास्ततो

नान्योऽस्तीत्युपदिश्य तत्प्रतिपादनाय यस्मात् परं नापरमस्तीत्यादिना तस्यैव परतरत्वं तदन्यस्य तदसम्भवं चोपपाद्य *"ततो यदुत्तरतरं तद्रुपमनामयं यत्र तद्विदूरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति"* (श्वे॰ ३/१०) इति प्रागुक्तमेव निगमयन्ति न तु ततोऽपि श्रेष्ठं वस्त्वस्तीति वदन्ति। तथा सति तेषां मृषाभाषितापत्तेः। एवञ्च स्वयमाह। *"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय"* इति (श्रीगी॰ ७/७)॥ ३७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—तथा अर्थात् परब्रह्म ही समस्त वस्तुओंसे श्रेष्ठ हैं, उनसे अन्य कोई भी वस्तु श्रेष्ठतर नहीं है। क्या प्रमाण है? श्वेताश्वतरोपनिषदमें उनसे भिन्न किसी भी वस्तुके श्रेष्ठत्वका निराकरण किया गया है, यथा *'यस्यात् परं नापरमस्ति'* इत्यादि (श्वे॰ ३/९) अर्थात् जिनसे उत्कृष्टर कोई दूसरी वस्तु नहीं है तथा जिनसे अणुतर अथवा बृहत्तर वस्तु कुछ भी नहीं है। इसका भावार्थ यह है कि *'वेदाहमेतं पुरुषं ... नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'* इस श्रुतिका अर्थ है—मैं सर्वोत्कृष्ट, ज्योतिर्मय, तमोऽतीत-पदार्थको (पुरुषको) जानता हूँ। उन्हें जो जानता है, वह इस जगत्से मुक्त हो जाता है। महापुरुषके ज्ञानके बिना अन्य कोई भी मुक्तिका पथ नहीं है। इस श्रौत-वाक्यमें महापुरुष-ज्ञान ही अमृतत्वका (मुक्तिका) उपाय है, इससे भिन्न अन्य कोई उपाय नहीं है—यह उपदेश करके इसे युक्तियुक्त करनेके लिए दूसरी श्रुति भी कहते हैं—*'यस्मात्परं नापरमस्ति'* इत्यादि। इस वाक्यसे उन महापुरुषका ही श्रेष्ठतरत्व है, उनसे भिन्न दूसरी वस्तुका परतरत्व असम्भव है यह ज्ञापित करके *'ततोयदुत्तरतरम् ... दुःखमेवापियन्ति इति'* (श्वे॰ ३/१०) अर्थात् क्योंकि महापुरुष-ज्ञानसे अन्य कुछ भी मुक्ति-प्राप्तिका कारण नहीं है और क्योंकि उन महापुरुषसे अन्य कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है—इस कारणसे जो उनके इस उत्तरोत्तर अनामय रूपसे अवगत हो सकते हैं, वे ही अमृतत्वको प्राप्त होते हैं। अन्यथा दुःख ही भोग करते हैं। यह श्रुति पूर्वोक्त सिद्धान्तको ही कहती है। इसके अतिरिक्त अर्थात् महापुरुषसे श्रेष्ठ वस्तु है—यह नहीं कहती है। यदि वही वक्तव्य होता तो उन सभी वाक्योंके मिथ्यावादित्वकी आपत्ति होती—श्रुतिके सारे वचन मिथ्या हो जाते। और एक बात है, श्रीभगवान्ने अपने मुखसे ही श्रीगीता-शास्त्रमें कहा है—'मत्त' इत्यादि अर्थात् हे धनञ्जय! मुझसे उत्कृष्टतर कोई वस्तु नहीं है॥ ३७॥

सूक्ष्मा-टीका—तथेति। तैरेवेति श्वेताश्वतरैरेव। ब्रह्मान्यत् श्रेष्ठं वस्तु नास्तीति प्रतिपादनादित्यर्थः। ततो नान्योऽस्तीति महापुरुषज्ञानादन्योऽमृतस्य मुक्तेः पन्था नास्तीत्युपदिश्येत्यर्थः। तस्यैव महापुरुषस्यैव। परतरत्वं श्रेष्ठत्वम्। उत्तरतरत्वं तदेव। स्वार्थे तरप् उत्तरं प्रतिवाक्ये स्यादूद्धौदीच्यौ तु इति विश्वः। तदन्यस्येति। महापुरुषेतरस्य वस्तुनस्तदसम्भवं परतरत्वायोगमुपपाद्य सिद्धं विधायेत्यर्थः। तत इति। यस्मान्महापुरुषज्ञानादन्यदमृतकारणं नास्ति यस्माच्च महापुरुषादन्यत् परं वस्तु नास्ति तस्मादेव हेतोरित्यर्थः। तथाच श्वेतरसर्वप्रधानत्वाद्भजनीयो हरिरिति सिद्धम्॥ ३७॥

सूक्ष्मा-सार— *'तथेत्यादि'* सूत्रमें *'तैरेवेत्यादि'* भाष्यमें 'तैः' का अर्थ है श्वेताश्वतरोपनिषद ही प्रतिपादन करता है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। *'ततो नान्योऽस्तीत्युपदिश्य'* इति में 'ततः' का अर्थ है—महापुरुष-ज्ञानसे अन्य कोई और मुक्ति-प्राप्तिका पथ नहीं है—यह उपदेश करके। यह अर्थ है। *'तस्यैव परतरत्वमिति'* में 'तस्यैव' का अर्थ है—उन महापुरुषका ही, 'परतरत्वम्' श्रेष्ठत्व है, 'तदेव'—वही—वे ही उत्तरतर हैं अर्थात् उत्तर, स्वार्थमें तरप् प्रत्यय है। विश्वकोषमें उत्तर शब्दका अर्थ प्रत्युत्तर अर्थमें, उत्कृष्ट अर्थमें और उत्तरदिशा इत्यादि अर्थोंमें कहा गया है। *'तदन्यस्य तदसम्भवञ्च'* इति में 'तदन्यस्य' का अर्थ है—महापुरुषसे भिन्न वस्तुका परतरत्व नहीं होता, यह सिद्ध करके—यह अर्थ है। *'ततो यदुत्तरतरमिति'* में 'ततः' का अर्थ है जिस हेतुसे क्योंकि महापुरुष ज्ञानके बिना अन्य कोई मुक्तिका पथ नहीं है और क्योंकि महापुरुषसे अन्य कुछ श्रेष्ठ वस्तु नहीं है—इस कारणसे। अतएव सिद्धान्त है कि—क्योंकि श्रीहरि स्वभिन्न अन्य सभी वस्तुओंसे प्रधान हैं—इसलिए वे ही भजनीय हैं॥ ३७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि आपत्ति करे कि श्वेताश्वतरोपनिषदमें जो यह कहा है कि—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ ततो यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥' (श्वे॰ ३/८-१०)

अर्थात् मन्त्रद्रष्टा ऋषि आत्मानुभूति प्रामाण्यसे परमात्मा तत्त्वज्ञानके ऊपर मुक्ति-प्राप्तिकी दृढ़ता स्थापित करते हुए कहते हैं—मैंने जान लिया है कि ये विश्वव्यापी महापुरुष सूर्यके समान स्वयंप्रकाश ज्योतिर्मय हैं। वे अज्ञानान्धकार अर्थात् मायासे अतीत हैं। उन्हें स्वरूपतः जानकर उपासना करनेपर मृत्युके कवल (ग्रास) से परित्राण पाया जा सकता है। परमपद-प्राप्तिका इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

उनके ध्यानसे मुक्ति कैसे होती है—वही कहते हैं—वे परात्पर हैं, उनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। उनसे न तो कुछ सूक्ष्मतर है और न ही कुछ महत्तर। वे ही एकमात्र वृक्षके समान निश्चल रूपसे अर्थात् अप्रच्युत स्वभावसे अपनी द्योतमान (प्रकाशमय) महिमामें अवस्थित हैं। एक उनके द्वारा ही सारा जगत् परिव्याप्त है। अतएव उनकी उपासना ही मुक्तिका पथ है।

पूर्वोक्त उस जगत् अथवा 'हिरण्यगर्भसे उत्तरोत्तर' अर्थात् जगदादिके कारण होकर भी वे कारणातीत हैं, वे परब्रह्मस्वरूप अर्थात् प्राकृतरूप रहित हैं, किन्तु सच्चिदानन्द विग्रह विशिष्ट हैं। वे अनामय अर्थात् अविद्यादि मालिन्यसे रहित त्रिगुणातीत हैं, किन्तु अप्राकृत अशेष कल्याणगुणोंसे युक्त हैं। जो इन परब्रह्म परमेश्वर तत्त्वको जानते हैं और उनकी उपासना करते हैं, वे अमृतत्व प्राप्त करते हैं अर्थात् मुक्त होते हैं। और जो उनके तत्त्वको नहीं जानते, न ही उपासना करते हैं, वे केवल दुःख ही प्राप्त करते हैं अर्थात् जन्मजन्मान्तर त्रिताप ज्वालाको भोगते हैं।

इन श्रुति-वाक्योंमें परब्रह्म स्वरूपके सर्वश्रेष्ठत्वका प्रतिपादन करके पुनः जो *'यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयम्'* वाक्यमें उनकी अपेक्षा श्रेष्ठतर दिखाया है, उसमें संशय होता है कि उपास्य ब्रह्मसे उत्कृष्टतर कोई वस्तु है या नहीं है। पूर्वपक्षीका मत है कि शब्द स्वारस्यवश ही (शब्दही श्रेष्ठताके कारण) हैं, कहा गया है, अन्यथा इस प्रकारके शब्द किसलिए कहेंगे? इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उपास्य ब्रह्म श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उनसे उत्कृष्टतर

कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि श्रुतियोंने उपास्य ब्रह्मसे अन्यके श्रेष्ठतरका निराकरण किया है।

पूर्वोक्त श्रुतिका तात्पर्य यही प्राप्त होता है कि जिन्हें जान लेनेपर अमृतत्व प्राप्त होता है, इसके बिना अन्य पन्था नहीं है। इन महापुरुषका ज्ञान ही एकमात्र मुक्तिका पथ है, उनसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, इन समस्त वाक्योंमें परब्रह्मके श्रेष्ठत्वका प्रतिपादन करके श्रुतिने पुनः *'यदुत्तरतरम्'* यह जो वाक्य कहा, उसका सार यही है कि जो उन्हें उत्तरतर और अनामयके रूपमें जान सकते हैं अर्थात् उपास्य परब्रह्म श्रीहरिसे अनानय रूप और कोई नहीं है, यह जान सकते हैं, वे ही अमृतत्वको प्राप्त होते हैं, अन्यथा दुःख ही अनिवार्य है। इस प्रकारसे अन्य किसी श्रेष्ठतर वस्तुके विषयमें कहा नहीं है, बल्कि पूर्वोक्त सिद्धान्तकी स्थापना की गयी है कि उपास्य उन ब्रह्मसे श्रेष्ठ वस्तु कुछ भी नहीं है। किसी अन्यके श्रेष्ठतरकी बात कहनेपर समस्त वेद-वाक्योंके मिथ्याभाषणकी आपत्ति हो पड़ेगी। इतना ही नहीं, स्वयंभगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है—इस प्रकार साक्षात् भगवत्-उक्ति भी मिथ्या हो पड़ती है।

नाभिके यज्ञमें आविर्भूत होकर श्रीभगवान्ने स्वयं ही अपने अद्वितीयत्वका वर्णन करते हुए कहा है—

ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यात्

(श्रीमद्भा॰ ५/३/१७)

अर्थात् मेरे समान तो मैं ही हूँ, क्योंकि मैं अद्वितीय हूँ।

श्वेताश्वतरमें और भी उल्लिखित है—

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

(श्वे॰ ६/८)

अर्थात् उनके समान और उनसे बढ़कर कोई भी दिखायी नहीं देता।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो।

(श्रीगी॰ ११/४३)

अर्थात् हे अनुपम-प्रभाव-विशिष्ट! तीनों लोकोंमें जब आपके समान ही कोई नहीं है तो भला आपसे बढ़कर कहाँसे होगा?

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कृष्णेर स्वरूप विचार शुन सनातन।
अद्वयज्ञान तत्त्व व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥

(चै॰च॰म॰ २०/१५२)

अर्थात् हे सनातन! कृष्णका स्वरूप विचार यह है कि कृष्ण व्रजधाममें व्रजपति नन्दके कुमार हैं। वे अद्वयज्ञान तत्त्व हैं, उनके नाम, रूप, गुण और लीला—इन चार प्रकारके तत्त्वोंमें मायाजनित परस्पर भेद अथवा विरोध दिखायी नहीं देता अर्थात् कृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाओंमें मायिक भेद-विधि कार्य नहीं कर सकती।

परम ईश्वर कृष्ण—स्वयं भगवान्
सर्व-अवतारी, सर्वकारण-प्रधान॥

(चै॰च॰म॰ ८/१३३)

ब्रह्मसंहितामें—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण कारणम्॥

सच्चिदानन्द विग्रह श्रीगोविन्द कृष्ण ही परमेश्वर हैं। वे अनादि, सबके आदि और समस्त कारणोंके कारण हैं। (ब्रह्मसंहिता ५/१)॥ ३७॥

श्रीभगवान् सर्वव्यापक हैं

अवतरणिका भाष्य—अथोपास्यसान्निध्य वक्तुं तस्य व्याप्तिर्निरूप्यते। अन्यथाऽसन्निहिते तस्मिन्ननुत्साहाद्भक्तेः शैथिल्यं स्यात्। *"एको वशी सर्वगः कृष्ण ईऽय"* इत्यादि श्रूयते। (गो॰ता॰पू॰ २१) तत्र ध्येयोहरिः परिच्छिन्नो व्यापको वेति संशये मध्यमाकारतयानुभवात् प्रपञ्चान्यस्य तस्य तद्व्यावृत्तत्वावश्यम्भवाच्च परिच्छिन्न इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद उपास्य श्रीहरिका भक्त-सान्निध्य बतानेके लिए उनका सर्वव्यापकत्व प्रतिपादित हो रहा है। यदि वे सन्निहित (निकटवर्ती) न रहें तो भक्तमें उत्साह भी उत्पन्न न हो और

उनके प्रति भक्ति भी शिथिल हो जाय। श्रुति है *'एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य'* अर्थात् एक ही श्रीकृष्ण सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक, स्तवनीय (भजनीय) हैं। इस विषय-वाक्यमें संशय है कि ईड्य अर्थात् ध्येय-श्रीहरि परिच्छिन्न-परिमाण हैं? अथवा सर्वव्यापक हैं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—वे परिच्छिन्न परिमाण हैं उनकी अनुभूति मध्यम परिमाण रूपमें (मध्यमाकारमें) की जाती है और क्योंकि वे प्रपञ्चसे पृथग्भूत हैं। इसलिए प्रपञ्च-व्यावृत्त वे अवश्य ही होंगे; इस कारण उन्हें परिच्छिन्न परिमाण ही कहा जायेगा। बात यह है जो जिससे व्यावृत्त (पृथक्) है, वह उससे अतिरिक्त स्थानपर वर्त्तमान रहेगा ही। जिस प्रकार गोत्वसे व्यावृत्त अश्वत्व है, गोत्वके अभावाधिकरणमें अश्वत्व वर्त्तमान है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रपञ्चातिरिक्त स्थानपर उनकी वर्त्तमानता रहनेसे प्रपञ्च-व्यावृत्त वे होते ही हैं परन्तु प्रपञ्चातिरिक्त स्थान है कौन-सा? अतएव व्यावृत्तत्व शब्दका अर्थ अमिश्रत्व अवश्य ही कहा जाता है पर उस प्रपञ्चके साथ उनकी निःसम्पर्क कहाँ है? हाँ, परिच्छिन्न परिमाण होनेपर यह सम्भव है? पूर्वपक्षीके इस मतपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथोपास्यस्येत्यादि। अस्तु पूर्वपूर्वोक्तगुणको हरिस्तथापि तस्मिन् भक्तिर्नोत्पत्तुमर्हति तस्यातिदूरत्वाद्। सन्निहितं हि तादृशगुणकं लब्धुं जनस्तं भजेत्। अतिद्‌रात्तस्मादुदासीतेत्याक्षिप्य समाधेः प्राग्वदिह सङ्गतिः। भक्तेरिति। तदिच्छाया इत्यर्थः। प्रपञ्चान्यस्येति। जड-चेतनात् प्रपञ्चाद्भिन्नो हरिरुपास्यो लभ्यश्च सिद्धान्तितः। तस्य तद्व्यावृत्तत्वं नाम तदमिश्रत्वमवश्यं मन्तव्यम्। अन्यथा ततो व्यावृत्तेरभावः। तथाच प्रपञ्चदेशत्वाभावात् परिच्छिन्नः स इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'अथोपास्यस्येत्यादि'* भाष्यमें अच्छा! हो! श्रीहरि पूर्व-पूर्व वर्णित गुणोंसे सम्पन्न हों तथापि उनमें भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि वे अति दूरवर्त्ती हैं। देखा जाता है कि जो वस्तु निकटवर्त्ती और असाधारण गुणोंसे सम्पन्न होती है, लोग उसे पानेके लिए भी तो भजन करते हैं। अतः अति दूरवर्त्ती रहनेसे उनसे विमुख होकर ही रहें, यह आक्षेप करके समाधान हेतु इस अधिकरणमें भी पूर्व अधिकरणके समान आक्षेप सङ्गति है। *'भक्तेः शैथिल्यं स्यादिति'* में 'भक्तेः' अर्थात् तद्विषयक इच्छाका। *'प्रपञ्चान्यस्य तस्य*

तद्व्यावृत्तत्वावश्यम्भावादिति'—जड़-पृथ्वी आदि एवं चेतन-जीवात्मक प्रपञ्चसे पृथग्भूत श्रीहरि उपासनीय एवं लभ्य हैं—यह सिद्धान्त किया गया है। वे श्रीहरि प्रपञ्च-व्यावृत्त हैं इसका अर्थ है कि वे प्रपञ्चसे अमिश्रित हैं। यह कहना ही होगा—नहीं कहनेपर व्यावृत्ति सिद्ध नहीं होती। ऐसा यदि होता है तो प्रपञ्च देशत्वके अभावमें वे परिच्छिन्न-परिमाण हैं—यह कहना होगा—ऐसा अर्थ है।

सर्वगतत्वाधिकरणम्

सूत्र—अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः॥ ३८॥

सूत्रार्थ—'अनेन'—उन परमपुरुषके मध्यमाकार होनेपर भी 'सर्वगतम्' उनके द्वारा सर्वव्याप्ति अव्याहत है, कारण क्या है? 'आयामशब्दादिभ्यः'—सर्वव्याप्तित्व-बोधक वाक्य और अचिन्तनीय शक्ति और तद्बोधिका युक्ति ही कारण है॥ ३८॥

सूत्रानुवाद—सर्वसङ्ग वर्जित फिर भी सबमें स्थित विग्रहात्मक श्रीकृष्णका जो सर्वान्तर्यामित्व है, वह केवल अचिन्तनीय शक्तिस्वरूप ऐश्वर्यवश ही सङ्गत है॥ ३८॥

गोविन्दभाष्य—अनेन परेश पुंसा मध्यमाकारेणापि सर्वगतत्वमवाप्तम्। मध्यमाकार एव सर्वव्यापीति। कुतः? आयामेति। आयामशब्दो व्याप्तिवाची। आदिशब्दादविचिन्त्यत्व-धर्मयोगस्तद्बोधिका युक्तिश्च। तत्र *"एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य"* इत्युत्तरवाक्यात् *"यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित"* तैतिरीयक इति (महानारायणोपनिषद ११/२) वाक्याच्च मध्यमस्यैव विभुत्वम्। मध्यमाकारस्यैव मम सर्वस्मात् परस्य सर्वव्यापित्वमचिन्त्यैश्वर्यशक्तियोगादिति स्वयमुक्तम्। *"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्"* इति। (श्रीगी॰ ६/४-५) न च प्रपञ्चान्यस्य तत्प्रदेशवृत्तेः परिच्छेदः, बहिरन्तश्च व्याप्तिश्रुतेः। अतः *"तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिः"* (श्वे॰ १/१५) इति निर्दिशितम्। तस्मादुपास्यो हरिः सर्वग इति सिद्धम्। निरूपितं चेत्थं दामोदरचरिते। तादृशस्यापि तथात्वे युक्तिश्च पुराभिहिता। *"अर्भकौकस्त्वात्"* इत्यस्य व्याख्याने॥ ३८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इन परमपुरुषके मध्यमाकार होनेपर भी उनके द्वारा सर्वगत्व अर्थात् सर्वव्याप्ति विषयमें कोई बाधा नहीं है अर्थात्

मध्यमाकार होकर भी वे सर्वव्यापी हैं। प्रमाण क्या है? *'आयामशब्दादिभ्यः'*— 'आयाम' शब्दका अर्थ है—व्याप्ति बोधक वाक्य और 'आदि' शब्दसे अचिन्तनीयत्व रूप धर्मसम्बन्ध और इस धर्मसम्बन्धका बोध करानेवाली युक्तियाँ ग्राह्य (उपलब्ध) हैं। इनमें व्याप्ति बोधक वाक्य है यथा *'एकोवशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः'*—इस उत्तर श्रुति-वाक्यसे और *'यच्चकिञ्चित् जगत् सर्वम् दृश्यते ... नारायणः स्थितः'*—अर्थात् जो कुछ जगत्में देखा अथवा सुना जाता है—उस सबके अन्तर एवं बाहर व्याप्त होकर नारायण स्थित हैं—इस महानारायणोपनिषद वाक्यसे अवगत हुआ जाता है कि विभुत्व मध्यम परिमाणका ही है। इसके अतिरिक्त श्रीभगवान्के श्रीमुखारविन्दकी उक्ति भी है—मध्यमाकार—मैं ही सर्वोत्तम हूँ। मेरा सर्वव्यापित्व अचिन्तनीय ईश्वरीय भक्ति-सम्बन्ध अथवा भक्ति-योगसे है। उन्होंने श्रीगीतामें कहा है—अव्यक्त-मूर्त्ति मैं ही इस परिदृश्यमान समस्त जगत्में व्याप्त हूँ। मुझसे ही सब विधृत हो रहा है। समस्त वस्तुएँ मेरे में ही अधिष्ठित हैं, किन्तु मैं उन सबमें स्थित नहीं हूँ। वास्तवमें तो ब्रह्मादिसे स्तम्ब पर्यन्त किसी भी भूतमें मैं स्थित नहीं हूँ। ऐसी ही मेरी ऐश्वरिक महिमा है, इसका दर्शन करो। अर्थात् जो मेरा योगैश्वर्य है, अर्जुन! तुम इसे देखो-समझो। यदि कहो कि प्रपञ्चसे भिन्न मध्यम परिमाणसे तो परमेश्वरका परिच्छेदत्व अर्थात् ससीमत्व (सीमामें बँध जाना) हो पड़ता है, तो ऐसा नहीं है। बाहर और भीतरसे जो व्यापी रूपमें सुने जाते हैं, उनके लिए सर्वव्यापित्व असङ्गत नहीं हो सकता। इसीलिए श्वेताश्वतर (१/१५) में तिलमें तैल और दहीमें घृत समान दृष्टान्त दिखाया गया है। अतएव सिद्धान्त यह है कि उपास्य श्रीहरि सर्वत्र ही हैं। श्रीभागवतमें श्रीभगवान्के दामोदर चरितमें श्रीशुकदेवने इस प्रकारसे ही श्रीभगवान्के स्वरूपका निरूपण किया है। मध्यम परिमाण होनेपर भी उनके सर्वव्यापितत्त्व विषयमें प्रथमाध्यायके द्वितीय पादमें उक्त *'अर्भकौकस्त्वात्तद्'* (१/२/७) सूत्रकी व्याख्याके प्रसङ्गमें यह युक्ति पहले भी दिखायी गयी थी॥ ३८॥

सूक्ष्मा-टीका— अनेनेति। यच्चेति। जगत् कार्यं प्रपञ्चरूपं यत्किञ्चिदित्यर्थः। नारायणशब्दो हि रथाङ्गादिशोभितपाणेश्चतुर्भुजस्यातसीकुसुमश्यामस्य पुण्डरीकाक्षस्य श्रीलक्ष्मीपतेर्विग्रहभूतस्यैव वाचकः न तु तद्भिन्नस्य तदधिष्ठातुः सत्त्वानुभूतिरूपस्य

सार्वज्ञादिगुणकस्यात्मनः। तन्मन्त्रस्थस्य तच्छब्दरूपस्य तत्रैवाभिमुख्यात्तथा च विग्रहस्यैव विभुत्वम्। मध्यमेत्यादि। मयेति श्रीगीतासु। अत्र सर्वास्पृष्टस्य सर्वान्तःस्थस्य विग्रहस्यैव श्रीकृष्णस्य सर्वान्तर्यामित्वमचिन्त्यशक्तिरूपादैश्वर्यदेवेति दर्शितम्। निदर्शितं दृष्टान्तितम्। निरूपितमिति श्रीदशमे। यथोक्तं श्रीशुकेन *"न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्। पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः। तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्। गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा"* (श्रीमद्भा० १०/९/१३-१४) इति। मत्वा निश्चिता। एतद्बलेन *"मया ततम्"* इत्यत्र तथा व्याख्यानमिति चारु। तथाच तादृशगुणकत्वाद् हृदि स्थितेश्च भजनीयत्वं तस्य सिद्धम्॥ ३८॥

सूक्ष्मा-सार— *'अनेनेत्यादि'* सूत्रमें *'यच्च किञ्चिज् जगत् सर्वमित्यादि'*— जगत् अर्थात् कार्य-प्रपञ्चात्मक जो कुछ भी है। *'व्याप्य नारायणः स्थितः'*—इस स्थानपर कथित नारायण शब्दका अर्थ है जो शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज हैं, अतसी पुष्पके समान नीलकान्ति हैं, श्वेत पद्म पलाश लोचन हैं, श्रीलक्ष्मीपति विग्रहस्वरूप हैं। उनसे भिन्न यहाँ नारायण शब्द प्रपञ्चके अधिष्ठाता, सत्त्वानुभूतिस्वरूप, सार्वज्ञ्य, सार्वैश्वर्यादि गुणोंसे सम्पन्न परमात्माका वाचक नहीं है। कारण यह है कि इस मन्त्रमें स्थित 'तद्' शब्दके प्रतिपाद्य रूपका ही भक्त हृदयमें प्राकट्य होता है। अतः सिद्धान्त यह है कि श्रीविग्रह ही विभु है। मध्यमाकारस्यैव विभुत्वमिति—महानारायणोपनिषदके वचनानुसार मध्यमाकारका ही विभुत्व सिद्ध होता है। *'मया ततमिदम्'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता (९/४-५) में कहा गया है। इससे देखा जाता है कि जो सर्व-सङ्ग-वर्जित है फिर भी सभीमें स्थित विग्रहात्मक श्रीकृष्णका जो सर्वान्तर्यामित्व है, वह केवल अचिन्तनीयशक्ति स्वरूप ऐश्वर्यके कारण सङ्गत है। *'सर्पिरिति निदर्शितम्'*— *'सर्वव्यापित्व निदर्शितम्'*—दृष्टान्त दिखाया गया है। *'निरूपितं चेत्थमिति'* यह श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें युक्ति द्वारा प्रतिपन्न (प्रमाणित) भी किया गया है। यथा—श्रीशुकदेव कहते हैं— *'न चान्तर्न बहिर्यस्य'* इत्यादि— *'बबन्ध प्राकृतं यथा'* अर्थात् जिन भगवान्का कुछ भी अन्तरमें नहीं है, कुछ भी बाहर स्थित नहीं है, जिनका पूर्वापर देश नहीं है फिर भी जगत्के पूर्वांशमें, पश्चिम भागमें, बाहरमें, अन्तरमें, सर्वत्र विद्यमान हैं, जो समस्त प्रपञ्चात्मक है, उन अव्यक्त, इन्द्रियातीत मनुष्याकार पुरुषकी पुत्र रूपमें धारणा करके गोपकन्या

यशोदाने उन्हें साधारण बालकके समान उलूखल (ओखल) में बाँध दिया। 'मत्वा'—'निश्चित करके' अर्थात् साधारण बालक—यह धारणा करके। श्रीशुकदेवकी उक्तिके आधारपर *'मया ततमिदं सर्वम्'* श्लोकको जो इस प्रकारसे व्याख्या की गयी है, वह सङ्गत ही है। अतएव सिद्धान्त है—श्रीभगवान् जो अचिन्तनीय, सर्वज्ञत्वादि गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी हृदयके मध्यमें स्थित हैं, इसलिए उनकी भजनीयता सङ्गत है॥ ३८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—उपास्य (श्रीहरि) का भक्त-सान्निध्य बतानेके लिए उनकी व्याप्तिका निरूपण किया जाता है। ब्रह्म वस्तुके व्यापक न होनेपर उनके असान्निध्यवश उत्साहके अभावमें भक्तिमें शिथिलता आ सकती है। इसलिए श्रुतिमें उक्त ध्येय ब्रह्म वस्तु परिच्छिन्न है? अथवा व्यापक है? इस प्रकारके संशयमें उनके मध्यमाकार रूपमें अनुभवके कारण प्रपञ्चातिरिक्त उनकी प्रपञ्चसे व्यावृत्ति अवश्यम्भाविनी होनेके कारण उन्हें परिच्छिन्न कहा जायेगा—यह पूर्वपक्षीका सिद्धान्त है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि परमपुरुष परब्रह्म श्रीहरिके मध्यमाकार होनेपर भी उनके सर्वव्यापित्वमें कोई व्याघात नहीं है। कारण आयामादि-शब्द अर्थात् व्याप्ति-वाक्य उनका सर्वव्यापित्व प्रकाशित करता है। आदि पदके द्वारा उन परमपुरुषका अविचिन्त्यशक्ति-धर्मयोग और सर्वव्यापकत्व बोधिका युक्ति भी ग्राह्य है।

इस विषयमें भाष्यकारने अपने भाष्यमें विविध श्रुति-प्रमाण और युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥

तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥

(श्रीमद्भा॰ १०/९/१३-१४)

अर्थात् सर्वव्यापक होनेके कारण जिनमें न बाहर है और न भीतर, न आदि है, न अन्त, जो जगत्से पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे,

जो सर्वकाल एक ही स्वरूपमें नित्य विराजमान रहते हैं, अर्थात् जिनमें पूर्व-पश्चात् कालका व्यवधान नहीं है, जो जगत्के पूर्व और अपर अर्थात् कार्य और कारण हैं और कार्य-कारणके अभेद-विचारसे जो जगत्-स्वरूप हैं, उन अव्यक्त-इन्द्रिय ज्ञानके अगोचर मनुष्याकृति विशिष्ट श्रीकृष्णको अपना पुत्र (साधारण बालक) समझकर उलूखलमें बाँध दिया॥ ३८॥

श्रीभगवान् ही सर्वफल प्रदाता हैं

अवतरणिका भाष्य—अथ सर्वफलदत्वं तस्योच्यते। इतरथाऽदातरि किञ्चिद्दातरि वा तस्मिन् कार्पण्याद्युपस्फुरणेन भक्तेरनुदयः स्यात्। तथाहि—*"पुण्येन पुण्यं लोकं नयति"* इति श्रुतं ब्रहद्‌रण्यके (प्रश्नोपनीषद् ३/७)। तत्र स्वर्गादिफलं यागादेः परेशाद्वेति वीक्षायामन्वयव्यतिरेकसिद्धेर्यागादेरेव तत्फलमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब यह प्रमाणित होता है कि वे समस्त फलोंका दान करते हैं। यदि वे सर्वफलप्रदाता न होते अथवा मुट्ठीभर (थोड़ा-बहुत) दान करते तो उनके कार्पण्यादिके स्फुरणके कारण उनमें भक्तिका उदय न होता। बृहदारण्यकमें श्रुत है कि 'वे पुण्यकारीको उसके पुण्यवश पुण्यलोकमें ले जाते हैं'—*'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।'* इस श्रौत विषयमें संशय यह है कि स्वर्गादि फलकी प्राप्ति क्या यागादिसे होती है? अथवा परमेश्वरसे होती है? पूर्वपक्षी इसके समाधानमें कहते हैं कि यागादि न करनेसे जब स्वर्गादि नहीं है और यागादि करनेपर स्वर्ग है तो इन यागादि कर्मोंके साथ स्वर्गादि फलका अन्वय-व्यतिरेक रहनेके कारण यागादिकको ही स्वर्गादिका कारण कहेंगे। इस मतके निराकरणके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननूक्तलक्षणोऽस्तु हरिस्तथापि न स भजनीयः तस्यादातृत्वात् प्रत्युत भक्तसर्वस्वापऽर्त्तृत्वस्मरणाच्चेत्याक्षिप्य समाधानात् पूर्ववदिह सङ्गतिर्भाविनी। अथ सर्वेत्यादि। पुण्येन यज्ञादिना शुभकर्मणा। पुण्यं सुखमयम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रश्न यह है कि अच्छा! श्रीहरि उक्त गुणसम्पन्न हों तो भी वे भजनीय नहीं हैं क्योंकि वे फल प्रदान नहीं करते, अधिक क्या? भक्तका सर्वस्व हरण कर लेते हैं, यह स्मृत है, यह आक्षेप करके उसके समाधानके लिए इस अधिकरणमें भी

पूर्ववत् आक्षेप सङ्गति होगी। *'सर्वफलप्रदत्वमिति।'* *'पुण्येन पुण्यं लोकमिति'* में 'पुण्येन' का अर्थ है—याग इत्यादि शुभ कर्मों द्वारा और *'पुण्यं लोकम्'* का अर्थ है—आनन्दमय स्वर्गादि।

सूत्र—फलमत उपपत्तेः ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ—'अतः'—उन परमेश्वरसे, 'फलम्'—स्वर्गादि फल होते हैं। कारण क्या है? 'उपपत्तेः' कालान्तरमें यागफल दान-कर्त्तृत्व परमेश्वरमें ही उपपन्न (युक्तियुक्त) होता है॥ ३९ ॥

सूत्रानुवाद—ऐहिक पारलौकिक समस्त फल परमेश्वरसे ही प्राप्त होते हैं। अचेतन एवं क्षणविध्वंसी कर्ममें कभी भी फल-प्रदानकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं हो सकती॥ ३९ ॥

गोविन्दभाष्य—स्वर्गादिरूपं यागादिफलमतः परेशादेव। कुतः? उपपत्तेः। तस्यैव नित्यस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः महोदारस्य यागादिनाराधितस्य कालान्तरिततत्तत्फल-प्रदत्वमुपपद्यते। न तु जडस्य क्षणध्वंसिनः कर्मण इत्यर्थः॥ ३९ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—स्वर्गादि-रूप यागादि कर्मका फल उन परमेश्वरसे ही होता है; किस कारणसे? *'उपपत्तेः'* क्योंकि यही युक्तियुक्त है। किस प्रकारसे? वही बताते हैं—क्योंकि वे नित्यपुरुष—अक्षय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अत्युदारस्वभाव हैं। उनकी यागादिके द्वारा आराधना करनेपर वे कालान्तरमें भावी-यागादिफल-स्वर्गादिका दान करते हैं—यही युक्तियुक्त है; किन्तु कर्म जड़ है, क्षण विध्वंसी है, उसका फल-दातृत्व किस प्रकारसे सम्भव है? यह कर्म दानकर्त्ता नहीं हो सकता॥ ३९ ॥

सूक्ष्मा-टीका—फलमिति। स्फुटार्थो ग्रन्थः॥ ३९ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'फलमिति'* सूत्रमें भाष्य ग्रन्थार्थ सुस्पष्ट है॥ ३९ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब श्रीभगवान् जो कि सर्व-फल-प्रदाता हैं, यही कह रहे हैं। वे यदि सर्वफलदाता न होते अथवा किञ्चित् फलके दाता होते, तो उनके कार्पण्यादिके स्फुरणसे उनमें भक्तिका उदय नहीं हो सकता था। पुनः अनेक लोग यह भी मान सकते हैं कि श्रीभगवान् तो भक्तका सर्वस्व हरण करते हैं, अतः उन्हें सर्वफलदाता किस प्रकारसे कहा जा सकता है? बृहदारण्यक-श्रुतिमें है—*'पुण्येन पुण्यं*

लोकं नयति'—वे पुण्य अर्थात् यागादि शुभकर्मों द्वारा पुण्यलोक अर्थात् सुखमय स्थान प्राप्त करा देते हैं। इस स्थलपर एक संशय यह हो सकता है कि इस पुण्यलोककी प्राप्ति क्या यागादि कर्मसे होती है, अथवा परमेश्वरसे होती है? इसपर पूर्वपक्षकी धारणा है कि अन्वय और व्यतिरेक विचारसे यागादि कर्मके द्वारा जब फल प्राप्त होता हुआ देखा जाता है, तब वह कर्म ही फलदाता है।

पूर्वपक्षीके इस कथनके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीभगवान् ही समस्त कर्मोंके फलदाता हैं, यही युक्तियुक्त है। इसका कारण है कि वे ही नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, महान, उदार हैं एवं यागादिके द्वारा आराधित होनेसे कालान्तरमें उसका फलादि प्रदान करते हैं। कर्म तो जड़ और क्षण-विध्वंसी है, उसमें फल-दातृत्व शक्ति रह ही नहीं सकती।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः।
नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये॥

(श्रीमद्भा॰ ६/९/३१)

अर्थात् देवताओंने कहा—हे भगवन्! आप यज्ञवीर्य अर्थात् यज्ञादि-जन्य स्वर्गादि फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं तथा यज्ञजनित स्वर्गादि फलोंका कालान्तरमें विनाश करनेवाले परिपाक-कालस्वरूप भी आप ही हैं। यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंके विनाशके लिए आप चक्रका सञ्चालन करनेके कारण असुरसंहारक, देवपालक आदि अति सुललित बहुत-से नाम धारण करते हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी है—

'कर्मापेक्षत्वात् फलदानस्य तदेव ददातीति न भाव्यम्। कुतः? अतएवेश्वरात् फलं भवति न ह्यचेतनस्य स्वतः प्रवृत्तिर्युज्यते।'

अर्थात् इस प्रकार अब ईश्वरके फलदातृत्वका प्रतिपादन करते हैं। ईश्वरका फलप्रदत्वादि ऐश्वर्य योग न रहनेपर उनमें निरतिशय भक्ति नहीं हो सकती। पहली बात तो यह है कि ईश्वर फलप्रद हैं कि नहीं—यह सन्देह होता है। यदि कहो कि ईश्वर फल प्रदान नहीं करते, कर्म ही फल प्रदान करता है। यदि ऐसा न कहें तो कर्मकी

व्यर्थतापत्ति होती है। अतः कर्म ही फल प्रदान करता है। इस आशङ्कापर कहते हैं—कर्मका अचेतनत्व प्रयुक्त होनेसे उसका फलप्रदानत्व सम्भव नहीं है। अचेतन पदार्थ कभी भी स्वतन्त्र रूपसे प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्मका फलप्रदत्व नहीं है। ईश्वर ही फलदान करते हैं।

श्रीरामानुजभाष्यमें भी पाया जाता है—

'स एव हि सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्महोदरो याग-दान-होमादिभिरुपासनेन चाराधित ऐहिकामुष्मिकभोगजातं स्वस्वरूपावाप्तिरूपमपवर्गं च दातुमीष्टे, नहि अचेतनं कर्म क्षणध्वंसि कालान्तरभावि-फलसाधनं भवितुमर्हति॥'

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, निरतिशय, उदार प्रकृति वे परमात्मा ही दानयज्ञ आदि क्रियाओं और उपासना द्वारा आराधित होकर ऐहिक और पारलौकिक अनेक प्रकारके भोगों और सारूप्य-मुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ हैं। अचेतन क्षणध्वंसी कर्म कभी भी कालान्तरभावी फल प्रदान करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। *'कर्मणस्त्वनुक्षण विनाशिनः'*—विनष्ट कर्मसे फल नहीं हो सकता॥ ३९॥

अवतरणिका भाष्य—अत्र प्रमाणमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस विषयमें प्रमाण दिखाते हैं—

सूत्र—श्रुतत्वाच्च॥ ४०॥

सूत्रार्थ—'च'—और 'श्रुतत्वात्' श्रुतिमें भी ब्रह्मका कर्मफलप्रदत्त्व सुना जाता है॥ ४०॥

सूत्रानुवाद—परमात्मामें ही उपासनानुसार फलदातृत्वका श्रवण है॥ ४०॥

गोविन्दभाष्य— *"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्"* (बृ॰आ॰ ३/९/२८)। *"स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदानः"* (बृ॰आ॰ ४/४/२४) इति तत्रैवाभ्युदयफलप्रदत्वं श्रूयते। दातुर्यजमानस्य। रातिः फलप्रदम्॥ ४०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ... अन्नादो वसुदानः।'* अर्थात् विज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही दाता हैं, वे यजमानकी परम गति हैं, वे ही महान, नित्य, आत्मा और समस्त प्राणियोंको खाद्यादि देते हैं, धन देते हैं—यह फल-दातृत्व बृहदारण्यकोपनिषदमें ही सुना जाता

है। दातुः शब्दका अर्थ है यजमानकी और रातिः पदका अर्थ है फलप्रद॥ ४०॥

सूक्ष्मा-टीका—श्रुतत्वादिति। विज्ञानमिति। रातिरित्यत्र रा दाने इत्यस्मात् क्तिन्प्रत्ययः स कर्त्तरि न किन्तु भावे भवति। तेन दातृत्वं लक्षणीयमिति व्याख्यातारः। अन्नाद इति। अन्नान्यासम्यक् ददाति प्राणिभ्य इति तथा। वसुदानो धनप्रदः। अत्रैतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। (मैत्रायण्युपनिषद ६/४) एको बहुनां विदधाति यो कामानित्यादि (कठ० २/२/१३) श्रुत्यन्तरं चानुसन्धेयम्॥ ४०॥

सूक्ष्मा-सार—*'श्रुतत्वादिति'* सूत्रमें *'विज्ञानमिति श्रुति'* वाक्यमें—*'रातिः'* पदका अर्थ है 'दानकर्त्ता'। यह दानार्थक 'दा' धातुके उत्तरमें कर्त्तृवाच्य 'क्तिन्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न नहीं है, कर्त्तृवाच्यमें 'क्तिन्' प्रत्यय व्याकरण-अनुशासनके विरुद्ध है, अतएव यह भाववाच्यमें निष्पन्न है। दातृत्व उसका अर्थ है। अतएव दानकर्त्ता लक्षणीय है, व्याख्याकर्त्ता इस प्रकारका मन्तव्य प्रकाश करते हैं। 'अन्नादः' इति अर्थात् अन्नानि—खाद्य पदार्थसमूह 'आ' अर्थात् सम्यक् रूपसे देते हैं—प्राणियोंको दान करते हैं—इस व्युत्पत्तिके आधारपर अन्नदाता अर्थ होता है। 'वसुदानः' यहाँ भी कर्त्तृरि ल्युट् करके धनप्रद अर्थ ग्रहणीय है। इस स्थलपर उक्त श्रुतिके समान अन्य श्रुति भी प्रमाण है यथा *'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्'* (मैत्रायण्युपनिषद ६/४) अर्थात् हे गार्गी! उन अक्षर ब्रह्मको जानकर जो जैसी इच्छा करता है, उसकी वैसी ही सिद्धि होती है। *'एको बहूनां यो विदधाति कामान्'* (कठ० २/२/१३) अर्थात् जो एकाकी ही बहुत-से प्रार्थियोंकी कामना पूर्ण करते हैं—इत्यादि अन्य श्रुति भी अनुसन्धेय है॥ ४०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब श्रीभगवान्में सर्वफल-दातृत्वके विषयमें प्रमाण देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि श्रुतिमें भी ब्रह्मके सर्वफलदातृत्व विषयमें प्रमाण पाया जाता है।

बृहदारण्यक-श्रुतिमें है—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्।'

(बृ॰आ॰ ३/९/२८)

अर्थात् विज्ञान आनन्द ब्रह्म हैं, वे धनदाता (कर्म करनेवाले यजमान) की परम गति हैं।

और भी, *'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद।'* (बृ॰आ॰ ४/४/२४)

अर्थात् वे ये महान अजन्मा आत्मा अन्न भक्षण करनेवाले और कर्मफल देनेवाले हैं। जो ऐसा जानता है, उसे सम्पूर्ण कर्मोंका फल प्राप्त होता है।

कठोपनिषदमें देखा जाता है—

एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

(कठ॰ २/२/१३)

वे एक अकेले ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं।

तैत्तिरीयकमें भी—*'एष हि एव आनन्दयति'* (आनन्दवल्ली ७/१), अर्थात् ये ही तो उन्हें आनन्दित करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं,
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४९/२९)

अर्थात् भगवान्‌की मायाका मार्ग अचिन्त्य है। जो भगवान् अपनी इसी अचिन्त्य-मार्गानुयायिनी मायासे इस विश्वकी रचना करके इसमें अन्तर्यामी रूपसे विद्यमान रहते हैं, जो कर्म एवं उसके फलोंके विभाजन आदिकी यथायथ व्यवस्था करते हैं, जिनकी लीलाका रहस्य अगाध है और जिनकी दुर्ज्ञेय क्रीड़ा संसार-चक्रके आवर्त्तनका एकमात्र कारण है, मैं उन परमैश्वर्यशाली प्रभुको प्रणाम करता हूँ।

और भी,

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा-
मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।

प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतञ्च,
मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१/७)

अर्थात् जिन श्रीकृष्णने सुदर्शनचक्र धारणपूर्वक शरणापन्ना मेरी माताके गर्भमें प्रवेश करके कुरु एवं पाण्डु-कुलके बीजस्वरूप, अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे जर्जरित मेरे इसी शरीरकी रक्षा की थी, हे विद्वन् श्रीशुकदेव! इच्छाशक्ति द्वारा स्वरूपभूत नव-वपु-प्रकटकारी सभी देहधारियोंके अन्तर एवं बाहरमें पुरुष एवं काल रूपमें अवस्थित होकर संसार और अपवर्ग-प्रदाता उन श्रीहरिकी लीला-चरितावलीका वर्णन कीजिये॥ ४० ॥

अवतरणिका भाष्य—मतान्तरमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस विषयमें अन्य मत भी दिखलाते हैं—

सूत्र—धर्मं जैमिनिरत एव॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ—'अतः एव'—उन परमेश्वरसे ही 'जैमिनिः' जैमिनि मुनिके मतसे 'धर्मम्' धर्मकी प्राप्ति है॥ ४१ ॥

सूत्रानुवाद—जैमिनि आचार्य धर्मको ही कर्म-फलका प्रदाता मानते हैं॥ ४१ ॥

गोविन्दभाष्य—अतः परेशादेव धर्मं जैमिनिर्मन्यते। यस्मात् फलं तत्कर्मै-वेश्वरादद्भवति। *"एष एव साधु कर्म कारयति"* (कौ॰ ३/८) इत्यादिश्रुतेः। तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मण एव फलार्पकत्वे सिद्धे न तदीश्वरस्य स्वीकार्यम्। तस्य कर्मजनकत्वेनोपक्षीणव्यापारत्वात्। ननु कर्मणः क्षणविनाशिनः कालान्तरभावि-फलानुपपत्तिः। अभावाद्भावोत्पत्त्यसम्भवादिति चेन्न। विनश्यदपि कर्म स्वकालमेवापूर्वमुत्पाद्य विनश्यति। तदपूर्वं कालान्तरे कर्मानुरूपं फलं पुरुषाय भोक्त्रे दास्यतीति कर्मैव फलप्रदमिति॥ ४१ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उन परमेश्वरसे ही धर्मकी प्राप्ति है—यह जैमिनि मुनिका मत है। जिस कर्मसे स्वर्गादि फलकी प्राप्ति है, वह कर्म ईश्वरसे ही उत्पन्न होता है, जैसा कि श्रुति भी है—वे परमेश्वर

ही उनसे साधुकर्म कराते हैं, जिन्हें वे ऊर्ध्वलोकमें ले जाना चाहते हैं। ऐसा होनेपर देखा जाता है कि अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कर्मका ही फलार्पकत्व (फलदातृत्व) सिद्ध है, अतएव जैमिनिके मतसे ईश्वरका फिर फलदातृत्व स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि श्रुतिसिद्ध उनके (ईश्वरके) कर्मजनकत्वके कारण उस कर्मजन्य फलके प्रति उनका कार्य अन्यथासिद्ध है। अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी व्यापार-कर्मफल कर्मफलदातृत्व अयुक्त है। यदि कहो, कर्म क्षणकालके बाद विनष्ट हो जाता है, तब दीर्घकालके बाद वह भावी स्वर्गादिका जनक किस प्रकार होगा? कार्यके प्रति कारणकी पूर्ववर्त्तिता (पूर्व-वर्त्तमानता) नियम सिद्ध है। इसके अतिरिक्त अभाव (ध्वस्तकर्म) से भाव पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह यदि कहते हो, ऐसा नहीं है। कर्म उत्पन्न होकर नाश पानेके समय ही (अपने स्थितिकालमें ही) अपूर्व (अदृष्ट) नामक एक व्यापारको उत्पन्न करके विनष्ट हो जाता है, यह अपूर्व ही कालान्तरमें भावी कर्मानुरूप फल-भोक्ता यजमानको कर्म-फल दान करता है, इसलिए अदृष्टोत्पादक कर्म ही फलप्रद है—यह जैमिनिका मत है॥ ४१॥

सूक्ष्मा-टीका—धर्ममिति। न तदिति। तत् फलार्पकत्वम्। तस्येश्वरस्य। नन्विति अभावात् प्रध्वंसग्रस्तान्निरूपाख्यात् कर्मण इत्यर्थः। विनश्यदपीति। स्वर्गकामो यजेतेति। स्वर्गहेतुत्वं यागस्य श्रुतं तदुपपत्तमे वैदिकैः क्षणविनाशिनो यागस्योत्तराव-स्थारुपोऽपूर्वाख्यो व्यापारः कल्प्यते। स च यजमाने तिष्ठन्नन्ते तस्मै फलमर्पयेदिति। याग एव फलहेतुरित्यर्थः। किञ्च सर्वसाधारणो हीश्वरः। न तस्य विचित्र-फलार्पकत्वमुपपद्यते। तथा सति वैषम्यादेः प्रसङ्गादिति च बोध्यम्॥ ४१॥

सूक्ष्मा-सार— *'धर्ममत एवेति'* सूत्रमें *'न तदीश्वरस्य स्वीकार्यमिति'* में 'तत्' का अर्थ है ईश्वरका फल-दातृत्व स्वीकार्य नहीं है। *'तस्य कर्म-जनकत्वेनेति'* में 'तस्य' का अर्थ है 'ईश्वर का'। *'ननु कर्मणः क्षणविनाशिनः'* इत्यादि— *'अभावाद् भावोत्पत्त्यसम्भवादिति'* में 'अभावात्' अर्थात् ध्वंसग्रस्त, शून्य कर्मसे। *'विनश्यदपि कर्मेति'* श्रुति है— *'स्वर्गकामो यजेत'* (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०/२/१)—स्वर्गकी कामना करनेवाला यज्ञ करे, अतः यागकी स्वर्गकारणता श्रुति-सिद्ध है—उसकी उपपत्तिके कारण वैदिकगण क्षणविनाशी यागकी उत्तरावस्थारूप अपूर्व (अदृष्ट)

नामक एक व्यापारकी कल्पना करते हैं। जो मृत्यु पर्यन्त यजमानमें ही रहकर बादमें उसे कर्मफल समर्पण करता है, अतएव याग ही फलका हेतु है—यह तात्पर्य है। इसके अतिरिक्त जैमिनि और एक युक्ति दिखाते हैं—ईश्वर सभीके पास ही समान हैं, उनमें कोई पक्षपातिता नहीं है। विचित्र कर्मके अनुसार विचित्र फलदातृत्व उनमें युक्तियुक्त नहीं होता। ऐसा होनेसे तो उनके वैषम्य, नैघृण्य इत्यादि दोष आ जाते हैं॥ ४१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब कर्मफल विषयमें जैमिनिके मतका प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जैमिनिके मतसे परमेश्वरसे ही अर्थात् उनकी इच्छासे ही कर्म अथवा धर्म उत्पन्न होते हैं।

'जैमिनिके मतमें' परमेश्वरसे उत्पन्न धर्म ही कर्मफलका दाता है। कौषीत्क्युपनिषदमें (३/९) में देखा जाता है—*'न ह्येनैनं साधुकर्म कारयति तं यमन्वानून्वेषत्वेष एवैनमसाधु कर्म कारयति इत्यादि।'* इससे यह जाना जाता है कि परमेश्वर ही कर्म कराते हैं, किन्तु अन्वय और व्यतिरेक द्वारा कर्मका ही फलार्पकत्व सिद्ध होनेसे ईश्वरका फल-दातृत्व स्वीकार्य नहीं है। कोई यदि कहे कि कर्म तो उत्पन्न होकर क्षणकालके बाद ही विनाशको प्राप्त हो जाता हैं, इसलिए दीर्घकालके बाद उसका फल-दान किस प्रकार दिखाया जा सकता है? युक्तिसे देखा जाता है कि अभावसे भावकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसके उत्तरमें जैमिनि कहते हैं कि कर्म विनाशशील होनेपर और अपने स्थितिकालमें अपूर्व अर्थात् अदृष्ट उत्पादन करके ही विनष्ट होता है। यह अपूर्व ही कालान्तरमें भोक्ता यजमानको कर्मानुरूप फल प्रदान करता है, इसलिए कर्म ही फलप्रद है। ये और भी कहते हैं कि—'श्रुतिमें है'—*'स्वर्गकामो यजेत'* (आपस्तम्ब श्रौत्रसूत्र १०/२/१) अर्थात् 'स्वर्गकामी यज्ञ करें' इसलिए यज्ञरूप कर्मसे ही स्वर्गरूप फलकी उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। इस स्थलपर ईश्वरके फल-दातृत्वकी कल्पनाका प्रयोजन नहीं है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि यद्यपि जैमिनिने कर्मको ही फलप्रद कहा है, किन्तु परमेश्वरसे ही जिस कर्मकी उत्पत्ति होती है, वह भी

उन्होंने स्वीकार किया है। अतएव फलके हेतु कर्मको जान लेनेसे फिर कर्मके हेतु ईश्वरको स्वीकार करनेपर मूलतः ईश्वरका ही कर्मफल-दातृत्व प्रकाशित होता है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१०/३४)

अर्थात् प्रिय उद्धव! जब मायाके गुणोंमें क्षोभ होता है, तब मुझ आत्माको काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आादि अनेक नामोंसे निरूपण करने लगते हैं। (ये सब मायामय हैं। वास्तविक सत्य मैं ही हूँ।)

इस श्लोककी विवृतिमें श्रीश्रील प्रभुपादने लिखा है—प्राकृत गुणोंके भेदसे बद्धजीवकी बुद्धि आवृत्त और विक्षिप्त होनेपर पुरुषोत्तम वस्तुका अभिज्ञान सम्पूर्ण रूपसे विलुप्त हो जाता है जब कि समस्त वस्तुओंके आकर पुरुषोत्तमको कोई 'काल', कोई 'आगम', कोई 'स्वभाव' और कोई 'धर्म' इत्यादि विभिन्न नामोंसे निर्देश करके विभिन्न मतवादोंका प्रचार करते हैं॥ ४१॥

अवतरणिका भाष्य—स्वमतमाह—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयोऽध्यायस्य द्वितीयपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस विषयमें सूत्रकार अपना मत कहते हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके
श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

सूत्र—पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्॥ ४२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादे
सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'तु'—परन्तु 'बादरायणः' श्रीवेदव्यास 'पूर्वम्' पूर्वोक्त परमेश्वरको ही फलदाता मानते हैं, क्योंकि 'हेतुव्यपदेशात्' उनका फलदातृत्व श्रुतिमें कहा गया है॥४२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—परमेश्वर ही कर्मफलके दाता हैं, क्योंकि शास्त्रमें इसी प्रकारके हेतुका ही व्यपदेश अथवा उल्लेख दिखायी देता है॥४२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। पूर्वोक्तं परेशमेव भगवान् बादरायणः फलप्रदं मन्यते। कुतः? हेत्विति। *"पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्"* इति तस्यैव फलहेतुत्वव्यपदेशादित्यर्थः। कर्मणः करणत्वेनोपक्षयाच्च। कर्मसत्तापि ब्रह्मयत्ता इत्युक्तम्। *"द्रव्यं कर्म च कालश्च"* इत्यादौ। तेन ब्रह्मैव कर्मप्रवर्त्तकं सिद्धम्। यत्तु विनश्यदपि कर्मेत्यादि समाहितं तन्मन्दम्। काष्ठलोष्ट्रवदचेतनस्यादृष्टस्य तत्राक्षमत्वात्तस्याश्रवणाच्च। ननु यज्ञस्य देवार्च्चनत्वात्तदर्च्चितानां देवतानां फलार्पकत्वमस्त्विति चेत् उच्यते। परदेवतया प्रयोज्यास्तास्तदर्पयन्तीति स्वीकार्यमन्तर्यामिब्राह्मणात्। अतः सैव तदर्पिका। एवमेवाह भगवान् पुण्डरीकाक्षः। *"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्च्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्"* इति। (श्रीगी॰ ७/२१-२२) एवञ्च यागादिभिराराधितोऽभ्युदयफलं ददातीत्युक्तम्। भक्त्या तोषितस्तु स्वपर्यन्तं सर्वमिति वक्ष्यति पुरुषोऽतः शब्दादिति। तदित्थं जन्ममरणादिदुःखालयत्वरूपप्रपञ्चदोषोक्तया निखिलनिर्दोषकीर्त्तनेन च निखिलनियामकत्वविशुद्धचिद्विग्रहत्वादिपरमात्मगुणगणनिरूपणेन च ब्रह्मतृष्णैव तदितरवितृष्णापूर्विका तत्प्राप्तिहेतुरिति पादाभ्यां दर्शितं भवति॥४२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादे श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—(अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं—) सूत्रोक्त 'तु' शब्द जैमिनि द्वारा प्रदर्शित मतके निराकरणके लिए है। 'पूर्वम्' अर्थात् पूर्वोक्त परमेश्वरको ही भगवान् वेदव्यास फलप्रदाता मानते हैं। किस कारणसे? *'हेतुव्यपदेशात्'*—श्रुतिमें उनका ही हेतुत्व कहा गया है,

यथा *'पुण्येन पुण्यम्'* इत्यादि भगवान् पुण्यकारी यजमानको पुण्यकर्मके बलपर पुण्यलोक ले जाते हैं और पाप द्वारा पापलोकमें ले जाते हैं अर्थात् उसे नरक प्रदान करते हैं। और भी युक्ति यह है कि कर्म अनुष्ठानमात्रसे ही करणत्वके कारण नष्ट हो जाता है। यदि अपूर्वके द्वारा कर्मकी सत्ता कहते हो तो वह कर्मसत्ता भी ब्रह्मके अधीन है, यह बात पहले ही *'द्रव्यं कर्म च कालश्च'* इत्यादि श्लोकमें कह दी गयी है। अतएव ब्रह्म ही कर्मके प्रवर्त्तक हैं—यह सिद्ध हुआ। तब जो जैमिनिने अपूर्वको स्वीकार करके इस आशङ्काका समाधान किया है, यथा *'विनश्यदपि कर्म स्वकालमेवापूर्वमुत्पाद्य विनश्यति'* अर्थात् कर्म उत्पन्न होकर नाश प्राप्त करनेके समय ही (अपने स्थितिकालमें ही) अपूर्व नामक एक व्यापारको उत्पन्न करके विनष्ट हो जाता है इत्यादि वाक्यके द्वारा किया गया यह समाधान असार असङ्गत और निन्दनीय है, क्योंकि काष्ठ, लोष्ट्र जिस प्रकार जड़ हैं, अचेतन अपूर्व भी उसी प्रकार जड़, अक्षम और अशास्त्रीय है। इसमें फलदानकी योग्यता नहीं है। इसलिए अक्षम है इसके अतिरिक्त कोई भी श्रुति अपूर्व पदार्थको स्वीकार नहीं करती है इसलिए अशास्त्रीय है। यदि कहो, यज्ञ एक प्रकारसे देवताका अर्चन है, अतः उस अर्चनासे सन्तुष्ट होकर देवता फलदान करेंगे, तब कहते हैं कि देवता भी परदेवता परमेश्वरके अधीन हैं, उनके द्वारा प्रयोजित (प्रयुक्त) होकर देवता कर्मफलका अर्पण करते हैं—यह अन्तर्यामि ब्राह्मण-वाक्यमें स्वीकार किया गया है। अतएव परदेवता ही कर्मफलके समर्पक हैं—यह सिद्ध हुआ। इसी बातको पुण्डरीकाक्ष भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे निःसृत गीतामें भी बताया है, यथा *'यो यो यां यां ... विहितान् हि तान्'* इति (श्रीगी॰ ७/२१-२२) अर्थात् "जो-जो भक्त जिस-जिस मूर्त्तिकी (देवताको) श्रद्धापूर्वक अर्चना (भजन) करना चाहता है, मैं उस-उस भक्तकी उस श्रद्धाको दृढ़ करता हूँ। वह भक्त उस अचला श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताकी आराधनामें प्रवृत्त होता है, इसके बाद मेरे द्वारा ही विहित अर्थात् समर्पित अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त करता है।" 'सबका विधायक मैं ही हूँ।' इससे यह प्रतिपादित हुआ कि यागादि द्वारा आराधित श्रीहरि अभिप्रेत फल दान करते हैं। यह तो क्या, वे भक्तिसे परितुष्ट होकर

आत्मपर्यन्त समस्त ही सम्पूर्ण रूपसे समर्पित कर देते हैं। इस बातको उन्होंने बादमें *'पुरुषार्थोऽतः शब्दादित्यादि'* सूत्रमें (वे॰सू॰ ३/४/२) कहा है। अतएव इस प्रकारसे तृतीय अध्यायके प्रथम एवं द्वितीय इन दोनों पाद द्वारा यह प्रदर्शित हुआ कि यह प्रपञ्च जन्म-मरणादि दुःखका आलयत्व होनेके कारण दोषग्रस्त है एवं श्रीभगवान् सम्पूर्ण दोषोंसे निर्मुक्त, अखिल विश्वके नियन्ता और विशुद्ध चित्-विग्रह-स्वरूप इत्यादि हैं। इन परमेश्वरके गुणोंके निरूपणसे सूचित होता है कि परब्रह्मसे इतर अन्यान्य समस्त इच्छाओंसे निवृत्त होकर ब्रह्मप्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न होना ही उन परमेश्वरकी प्राप्तिका कारण है॥४२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—स्वमतमाह पूर्वस्थिति। पापेन निन्द्येन कर्मणा। पापं दुःखमयम्। तेन ब्रह्मैवेति। न तु कर्मापि ब्रह्मप्रवर्त्तकमित्येवकारात्। तत्र फलार्पणे। तस्याश्रवणादिति। अदृष्टे श्रुतिप्रमाणालाभादित्यर्थः। तथाच निमूर्त तन्न स्वीकार्यमिति भावः। श्रीहरेर्भक्तसर्वस्वापहर्त्तृत्वं तु परमपुमर्थे स्वस्मिन्निवेशार्थं तादृशस्वदानार्थं वा इति ज्ञेयम्। परदेवतया परब्रह्मणा। ता देवताः। तत् फलम्। सैव परदेवतैव। यो य इति श्रीगीतासु॥४२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—स्वमत कहते हैं—*'पूर्वन्त्वित्यादि'* पूर्वं तु इत्यादि में *'पापेन पापमित्यादि'* में 'पापेन' का अर्थ है—निन्दनीय कर्म द्वारा। 'पापम्' का अर्थ है 'दुःखमय स्थान'। *'तेन ब्रह्मैवेति'* अर्थात् अतएव ब्रह्म ही। 'एव' शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है कि कर्म ब्रह्मकी प्रवृत्तिका कारण नहीं है, ब्रह्म ही कर्मके प्रवर्त्तक हैं। *'तस्या-श्रवणादिति'* अर्थात् अपूर्व अथवा अदृष्ट-उत्पत्तिके सम्बन्धमें कोई श्रौत प्रमाण नहीं है। अतएव अपूर्वको स्वीकार करना निर्मूलक है। तब जो कहा गया है कि भगवान् भक्तका सर्वस्व हरण करते हैं—इसका तात्पर्य परमपुरुषार्थ स्वरूप स्वयंमें भक्तके अभिनिवेशके लिए है अथवा यह समझा जाय कि उस भक्तमें इस प्रकारसे सर्वगुणाकर स्वयंको ही समर्पण करनेके

लिये है। *'परदेवतया प्रयोज्यास्ता'* इति में 'परदेवतया' अर्थात् परमात्मा द्वारा। 'ताः' का अर्थ है 'देवता', 'तदर्पयन्तीति' में 'तत्' का अर्थ है 'कर्मफल'। *'अतः सैव इति'* का अर्थ है अतएव, वह परदेवता ही। 'यो यो यां इत्यादि दोनों श्लोक श्रीमद्भगवद्गीतामें कहे गये हैं॥४२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार अपने मतका प्रकाश करके कहते हैं कि पूर्वोक्त परमेश्वर ही कर्मफलके दाता हैं, क्योंकि शास्त्रमें इस प्रकारके हेतुका व्यपदेश अथवा उल्लेख देखा जाता है।

कर्मकी सत्ता ही जब ब्रह्मके अधीन है, तब ब्रह्म ही कर्मके प्रवर्त्तक हैं। कर्म अपूर्व द्वारा फल दान करता है—यह कहना अयौक्तिक है, क्योंकि काष्ठ एवं लोष्ट्र इत्यादिके समान अचेतन अपूर्व अथवा अदृष्ट किस प्रकारसे फल दानमें समर्थ हो सकते हैं? दूसरी बात शास्त्रमें यह बात कहीं भी नहीं कही गयी है। यदि कोई कहे कि यज्ञमें जो समस्त देवता उपासित होते हैं, वे फल प्रदान करते हैं तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्तर्यामी-ब्राह्मणमें पाया जाता है कि परदेवता द्वारा प्रयुक्त होकर ही वे फलदान करते हैं—फलदानमें उनका स्वतन्त्र कर्त्तृत्व नहीं है। श्रीगीतामें भी श्रीभगवान्‌ने कहा है—*'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्'* (श्रीगी॰ ७/२२) अर्थात् 'उन कामनाओंको उस देवतासे प्राप्त करता है—वे मेरे द्वारा ही विहित हैं।'

इस स्थलपर भाष्यकार श्रीमद्बलदेव प्रभुने इङ्गित किया है कि श्रीभगवान् भक्तिसे परितुष्ट होनेपर अपने-आपको भी दान कर देते हैं—इस बातको बादमें व्यक्त किया जायेगा। अब इस तृतीय अध्यायके प्रथम एवं द्वितीय पादमें मात्र इतना ही दिग्दर्शित हुआ है कि यह संसार जन्म-मरणादि दुःखोंका आलय है और श्रीभगवान् सम्पूर्ण दोषोंसे रहित एवं अपार गुणोंसे युक्त हैं। उनके गुणादिके निरूपण एवं कीर्त्तनके द्वारा ब्रह्म-प्राप्तिकी इच्छा ही अपने अतिरिक्त समस्त विषयोंसे वितृष्णा उत्पन्न करा देती है और वही भगवत्-प्राप्तिका हेतु है।

श्रीमद्भागवतमें यमदूतोंके वचनोंमें पाया जाता है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१/४०)

अर्थात् यमदूतोंने कहा—वेदोंमें जिसे कर्त्तव्यके रूपमें बतलाया गया है, वही धर्म है और इसके विपरीत जो निषिद्ध है, उसे करना अधर्म है। हमने सुना है कि वेद ही साक्षात-प्रमाण हैं, क्योंकि वे भगवान् नारायणके स्वाभाविक निःश्वासरूप हैं।

यमके वचनोंमें भी पाया जाता है—

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद्यस्य वशे च लोकः॥

(श्रीमद्भा॰ ६/३/१२)

अर्थात् यमराजने कहा—हे दूतो! तुमलोग मुझे ही सर्वश्रेष्ठ समझते हो, किन्तु ऐसा नहीं है। मुझसे, तथा इन्द्र, चन्द्र आदि प्रमुख लोकपालकोंसे भी श्रेष्ठ और एक जन हैं, जो सम्पूर्ण चराचर जीवोंके अधीश्वर हैं। उनके ही अंशभूत ब्रह्मा, विष्णु और शिवसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होता है। सूतमें वस्त्रके समान यह समस्त विश्व उनमें ही ओतप्रोत भावसे अवस्थित है। समस्त विश्व नथे हुए बैलके समान उनके अधीन है।

और भी—

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥

(श्रीमद्भा॰ ६/३/२५)

अर्थात् भागवत-धर्मके तत्त्वको जाननेवाले बारह महाजनोंके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य, जैमिनि आदि अन्यान्य धर्मशास्त्र-प्रणेताओंकी बुद्धि प्रायः

दैवी मायासे अतिशय विमोहित हो जाती है, अतः वे नाम-सङ्कीर्त्तनरूपी परम भागवत-धर्मको जान नहीं सकते। उनका चित्त ऋक्, यजुः और साम—इस वेदत्रयीके अर्थवादरूपी मनोहर वाणियोंमें जड़ीभूत रहता है। वे द्रव्य-संग्रह, अनुष्ठान एवं मन्त्र आदि द्वारा विस्तृत, अति कष्टसाध्य दर्शपौर्णमास आदि तुच्छ एवं अनित्य फलप्रद कर्मयज्ञोंमें ही लगे रहते हैं। अत्यन्त सुखसाध्य (सरल), सभी वर्ण तथा आश्रमोंके व्यक्तियोंको सुलभ्य, परमार्थ फलप्रदाता जो नाम-सङ्कीर्त्तन है—उसकी महिमाको वे नहीं जानते, अतः उसमें रत नहीं होते।

श्रीमद्भागवतमें यह भी पाया जाता है—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/१२)

अर्थात् द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव एवं जीव—इन सबका उन नारायणके अनुग्रहसे ही अस्तित्व है, सत्ता है। यदि वे उपेक्षा कर दें, तो इनमेंसे किसीका भी अस्तित्व नहीं रहता॥ ४२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके द्वितीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



तृतीयः पादः

मङ्गलाचरणम्

परया निरस्य मायां गुणकर्मादीनि यो भजति नित्यम्।
देवश्चैतन्यतनुर्मनसि ममासौ परिस्फुरतु कृष्णः॥

जो देव अर्थात् विचित्र अनन्त गुणराशि-प्रकाशमय लीलारत श्रीहरि परा नामक स्वरूपशक्ति द्वारा सत्त्व, रज और तम—इस त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका निरास करके स्वाभाविक स्वरूप शक्तिवश सर्वज्ञता, सर्वैश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, वात्सल्यादि गुण ग्रहण करते हैं तथा गोवर्धन-धारण और बहुत-से रूपोंमें प्रकटित होकर समस्त गोपियोंका समकालमें एक साथ आनन्द-विधायक रासोत्सवादि इत्यादि अलौकिक कर्म अर्थात् नित्यलीला प्रकटित करते हैं, ऐसे चैतन्यस्वरूप श्रीकृष्ण मेरे हृदयमें स्फुरित हों।

मङ्गलाचरण टीका—

भासयन् स्वगुणान् शुद्धान् भृत्यस्य हृदि मे प्रभुः।
व्रजनाथसुतो मोदं दधातु पुरुषोत्तमः॥

पूर्वस्मिन् पादे विग्रहे ब्रह्मणि भक्तिरुक्ता इह पादे विग्रहब्रह्माभिन्न गुणविषया सोच्यत इत्यनयोराश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। तत्र भगवद्गुणनिरूपकमष्टषष्ठिसूत्रकं त्रयस्त्रिंशदधिकरणात्मकं तृतीयपादं व्याचिख्यासुस्तदगुणनिरूपणयोग्यतासम्पादकं हृदि भगवत्स्फुरणाशंसनरूपं मङ्गलमाचरति परयेति। यो देवो विचित्रानन्तगुण-विजृम्भमाणक्रीडापरः परया स्वरूपशक्त्या मायां त्रिगुणां प्रकृतिं निरस्य तमेव परया गुणान् सार्वज्ञसर्वेश्वरत्वमाधुर्यसौन्दर्यवात्सल्यादीन् कर्माणि च गोवर्द्धनोद्धरण-रासोत्सवादीन्यलौकिकानि भजति परात्मकान्येव तानि प्रकटयतीत्यर्थः। धान्येन धनमिति वद्योजनायां तृतीया बोध्या। स श्रीकृष्णो मम मनसि परिस्फुरतु प्रकाशताम्। कीदृशः। चैतन्यतनुर्ज्ञानविग्रहः। पक्षे स श्रीकृष्णो देवश्चैतन्यतनुः सन् मम मनसि परिस्फुरतु। चैतन्यनाम्नी तनुर्मूर्त्तिर्यस्य सः। गुणादयोऽनुकम्पनप्रभृतयः। कर्माणि च नवद्वीपपुरुषोत्तमक्षेत्रादिषु तत्तल्लीलाः। मायां तत्कार्यभूतां जनानां दुर्वासनाम्। नित्यमित्यनेनास्यावतारस्यावतारास्तरवन्नित्यत्वमभिमतम्। सर्वे नित्याः

शाश्वताश्चेत्यादिवचनात्। भगवत्तं त्वस्य *"आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य"* इत्यादेः *"कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णम्"* इत्यादेश्च सिद्धम्। तथाच भगवद्गुणोपासना पादेस्मिन् वर्णनीयेति पादार्थोऽपि सूचितः।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—अर्थात् श्रीनन्दनन्दन, सर्वशक्तिमान, प्रभु पुरुषोत्तम मुझ सेवकके हृदयमें अपने निर्दोष सार्वज्ञ्य, सर्वेश्वरत्व, कारुण्यादि गुणोंका उद्भावन करते हुए आनन्द-विधान करें। इससे पहलेके पाद (द्वितीय पाद) में विग्रहात्मक ब्रह्मविषयक भक्ति वर्णित हुई। इस पादमें विग्रहात्मक ब्रह्मकी अभिन्नताबोधक उनकी गुणविषयक भक्ति कही जा रही है। अतएव इन दोनों पूर्वापर पादोंकी आश्रय-आश्रयि भावरूप सङ्गति है। यहाँ आश्रय ब्रह्म हैं और आश्रयी गुण हैं—इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध है। यही इस तृतीय पाद—जिसमें अड़सठ सूत्र एवं तैंतीस अधिकरण हैं, जो श्रीभगवान्‌के गुणोंका निरूपण करते हैं, ऐसे इस तृतीय पादकी व्याख्या करनेके अभिलाषी होकर भाष्यकार हृदयमें भगवत्-गुणोंके निरूपणकी योग्यताका सम्पादन करनेवाले श्रीभगवान्‌का परिस्फुरण (प्रकाश) रूप मङ्गलाचरण *'परया निरस्येति'* इत्यादि श्लोकके द्वारा करते हैं। ये देव अर्थात् विचित्र, अनन्त गुण विकासक क्रीड़ा (लीला) में रत, पराशक्ति अर्थात् स्वरूपशक्ति द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका निरास करके अर्थात् प्रकृतिसे अतीत रहकर उसी शक्तिके बलसे सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्व, माधुर्य, सौन्दर्य, वात्सल्यादि गुण, गोवर्द्धन-धारण, रासलीला इत्यादि अलौकिक क्रियाकलाप स्वीकार करते हैं। अर्थात् परस्वरूपात्मक उन सबको प्रकट करते हैं। यहाँ शङ्का होती है कि परया अर्थात् स्वरूपशक्ति द्वारा अर्थ किस प्रकार सङ्गत हो सकता है, क्योंकि स्वरूपशक्ति और शक्तिमान अभिन्न हैं;—इसके उत्तरमें कहते हैं—जिस प्रकार *'धान्येन धनवान्'* कहनेपर धान्यसे अभिन्न धनविशिष्ट अर्थ जाना जाता है, उसी प्रकार अभेदार्थमें तृतीया द्वारा भगवान् शक्तिसे अभिन्न हैं—यह अर्थ जानना चाहिये। ये ही भगवान् श्रीकृष्ण हमारे हृदयमें प्रकट हों। वे कैसे हैं? *'चैतन्यतनुः'*—ज्ञानविग्रह हैं। यहाँपर टीकाकार चैतन्य शब्दके ज्ञान और श्रीगौराङ्ग दोनों अर्थोंके द्वारा लेकर श्रीगौराङ्ग-पक्षमें अर्थ बतला रहे हैं। पक्षमें—वे देव श्रीकृष्ण श्रीचैतन्यरूपमें मेरे हृदयमें प्रकाशित

हों। इस पक्षमें चैतन्यतनुः पदका विग्रह है—*'चैतन्यनाम्नी तनुः अर्थात् मूर्त्तिः यस्य सः।'* गुण–कर्मादीनिमें गुणादिका अर्थ है—जीवके प्रति दया इत्यादि और कर्मादिका अर्थ है—नवद्वीप, पुरुषोत्तम क्षेत्र इत्यादिमें उन–उन लीलाओंको प्रकट करते हैं। मायाम् अर्थात् मायाका कार्य—जीवोंकी संसार–बद्धता हेतु दुर्वासनाको, निरस्य—दूर करके, *'नित्यम्'* पदसे सूचित होता है कि अन्यान्य अवतारोंके समान यह चैतन्यावतार भी नित्यसिद्ध है। इस विषयमें प्रमाण भी है यथा—*'सर्वे नित्याः शाश्वताश्च'*—सभी अवतार नित्यसिद्ध और अविनाशी हैं। इन चैतन्यदेवका जो भगवदवतारत्व है, वह श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णद्वैपायनकी उक्तिमें देखा जाता है, यथा गर्गमुनि व्रजराज नन्दजीसे कहते हैं—*'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य'*—इस बालकके तीन वर्ण थे। ग्यारहवें स्कन्धमें भी *'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्'* गौर ही श्रीकृष्णरूप अवतार हैं (जो कान्तिसे अकृष्ण हैं) इत्यादि वाक्यसे सिद्ध होता है। यहाँ तकके प्रबन्ध द्वारा सूचित होता है कि इस पादमें भगवत्–गुणोपासना वर्णित होगी और इस प्रकारसे पादका प्रतिपाद्य विषय भी कह दिया गया है।

श्रीभगवान्‌की गुणोपासनाका वर्णन

अवतरणिका भाष्य—भगवद्गुणोपासनाऽस्मिन् पादे प्रदर्श्यते। इयमत्र प्रक्रिया। स्वयंरूपे परब्रह्मणि पुरुषोत्तमे अनादिसिद्धानि विचित्राणि रूपाणि वैदूर्यमणाविव नित्याविर्भूतानि विभान्ति। तत्तद्रूपविशिष्टौऽसो निर्विशेषशुद्धिपूर्त्तिभागिति विज्ञाय तेष्वेकतमेन निजाभीष्टेन रूपेण विशिष्टो येनोपास्यते तेन तदन्यतमेन रूपेण विशिष्टे तस्मिन् पठिता गुणाः स्वोपास्येऽपठिताश्चेदुपसंहार्या एव। येन तु मनःप्रभृतीनि विभूतिरूपाणि ब्रह्मेत्युपास्यन्ते तेन शाखान्तरस्थाश्च तत्तदुपासनप्रकरणपठिता एवोपसंहार्या नेतरे, तद्रूपमधिकृत्य तेषां पाठात्। अपरे त्वेवमाहुः। इदमेव पारम्योपेतं ब्रह्मात्मस्थितांस्तत्तद्भावान् अभिनेतृदिव्यनटवत् प्रकाश्य तत्तन्नामभाक् तत्तद्धामावच्छेद एव तत्तद्गुणकर्माण्याविष्करोतीत्येकत्र श्रुतानामन्यत्रोपसंहारः सम्भवतीति। नन्वेकस्मिन् प्रकाशे श्रुता गुणा अन्यस्मिंश्चिन्त्याः कथं स्युरेकस्यैव तथातथाभावेन प्राकट्यात्। ननु माधुर्यैश्वर्यभोगशान्तितपःक्रौर्यादीनां मिथोविरोधाद्वंशशङ्खा–रिशरचापादेर्मीनादौ शृङ्गपुच्छसटादंष्ट्रादेश्च नृलिङ्गे विभावने *"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा"* इति स्मृतिव्याकोपाद्–विद्वदनुभवानुपलम्भाच्च नोपसंहारो युक्त इति चेत् अत्रोच्यते। गुणानामुपसंहार्यत्वमुपासना–यामुपादेयत्वम्। एकस्मिन्नुपासने पठितानामन्यस्मिन्नपठितानां तेषां तत्र चिन्तनं

सत्त्वेन धीमात्रं वा। आद्यं सनिष्ठानामन्तिमं त्वेकान्तिनामिति यावत्। परस्मिन् पादे सनिष्ठादयस्त्रिविधा विद्याधिकारिणो दर्शयिस्यन्ते। तेषु प्रायेणाधिकृताः सनिष्ठाः सर्वेषु रूपेषु समप्रीतयः। ते हि सर्वत्र सर्वान् गुणानुपसंहरन्ति। न चैकस्मिन्ननेक-विरुद्धगुणचिन्तनमसमञ्जसम्। समयभेदेन वैदूर्यमणाविवैकत्र तस्मिन् रूपभेदानां ग्रहीतुं शक्यत्वात्। परिनिष्ठिता निरपेक्षाश्चोभयेऽप्येकान्तिनो विषमप्रीतयः। ते हि स्वेष्टरूपाभिव्यक्तानेव गुणान् विचिन्तयन्ति पश्यन्ति च। तदन्यरूपाभिव्यक्तांस्तेभ्योऽन्यांस्तु तस्मिन् सत्त्वेन ज्ञातानपि न चिन्तयन्ति न च पश्यन्ति। तेषां तत्रानभिव्यक्तेरन-भीष्टत्वाच्चेति पराधिकरणे व्यक्तीभविष्यति। योऽन्यथेति तु चिन्मात्रवादिक्षेपकम्। किञ्च *"तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्"* (छा॰ ८/१/११) इति ब्रह्मगुणानां मुमुक्षुमृग्यत्वाभिधानात् *"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान विभेति कुतश्चन"* (तै॰ २/४/१) इति गुणवेदिनोऽभयफलोक्तेश्च सगुणे ब्रह्मणि शास्त्रतात्पर्यम्। आनुवादिका व्यवहारिकाश्च गुणा इति तु कल्पनैव। मानान्तराप्राप्तानामनुवादासम्भवात् व्यावहारिकपदादर्शनाच्च। *"वाचं धेनुमुपासीत"* (बृ॰आ॰ ५/८/१) इत्यादिवदुपासनायै गुणाः कल्प्या इति च दुर्धीरेव। तथा सति *"आत्मेत्येवोपासीत"* (बृ॰आ॰ १/४/७) इत्यत्रापि तदापत्तेः। *"आनन्दादयः प्रधानस्य" "व्यतिहारे विशिंषयन्ति हीतरवत्"* इत्यत्रानन्दादेर्जीवेशाभेदस्य चोपास्यत्वेऽपि तात्विकत्वस्वीकाराच्च। निर्गुणवाक्यन्तु प्राकृतगुणनिषेधकमित्युक्तम्। गुणानां गुण्यभेदाभ्युपगमाच्च न किञ्चिच्चोद्यम्। ध्येया गुणा द्वेधा बोध्याः। अङ्गिनिष्ठत्वादङ्गनिष्ठत्वाच्चेति स्फुटीभावि। तत्रादौ गुणोपसंहारसिद्धये भगवतः सर्ववेदवेद्यत्वं निगद्यते। तथाहि निखिलानि साधनवाक्यान्यत्र विषयः। तत्र स्वशाखोक्तैः साधनैर्ब्रह्म वेद्यमुत सर्वशाखोक्तैस्तैरिति संशये प्रतिशाखमर्थभेदात् स्वशाख्योक्तैस्तैरिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—श्रीभगवान्‌की गुणोपासनाका वर्णन—तृतीयाध्यायके इस पादमें श्रीभगवान्‌की गुणोपासना प्रदर्शित हो रही है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—स्वयंरूप भगवान् परब्रह्म पुरुषोत्तम जिनमें अनादिसिद्ध विचित्र नाना रूप (जिस प्रकार वैदूर्यमणिमें नाना रूप नित्य आविर्भूत होते हैं, उसी प्रकार) आविर्भूत होकर प्रकाश पाते रहते हैं। उन-उन रूपोंसे विशिष्ट ये श्रीकृष्ण निर्विशेष शुद्धि-पूर्त्तिशाली हैं (सर्वाधिक विशुद्धता और पूर्णतावान हैं) यह जानकर जो भक्त भगवान्‌के इन समस्त रूपोंमेंसे अपने प्रिय (स्वाभीष्ट) किसी एक विशिष्ट रूपकी उपासना करता है, वह भक्त यदि इन समस्त भगवत्-रूप-राशिमेंसे किसी एक रूप-विशिष्ट-निजके उपास्य उन भगवान्‌में यदि उसके पठित गुणसमूह हैं, तो उत्तम है,

अन्यथा अपठित गुणसमूह भी ग्राह्य हैं—यह सिद्धान्त जानकर उस रूपमें उन सभी गुणोंको ग्रहण कर लेता है और जो भक्त अपने मन इत्यादि उनकी विभूतिकी ब्रह्मभावसे उपासना करता है, (मनोरूप मूर्त्तिकी ब्रह्मभावसे उपासना करता है) वह भक्त भगवान्‌के उपासना-प्रकरणमें निर्दिष्ट (वर्णित) किन्तु शाखान्तर अर्थात् अन्य शाखामें अवस्थित उन सभी गुणोंको भी ध्येय रूपमें ग्रहण करे, इसके अतिरिक्त अन्य गुणोंके संग्रहका प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वे सब शुद्ध (निष्कल) ब्रह्मनिष्ठ गुण हैं। ये उपासनाके अनुकूल नहीं हैं—क्योंकि उपास्य-गुण उपासना प्रकरणमें पठित हैं। दूसरे व्याख्यातागण इस प्रकारसे अपना अभिमत प्रकाशित करते हैं यथा परब्रह्मका यही परमत्व अर्थात् उत्कर्ष है कि वे (परब्रह्म) अभिनयकारी दिव्य नटकी भाँति स्वयंमें स्थित उन-उन भावोंका प्रकाश करके उन-उन नामोंसे अभिहित होते है और फिर उन-उन धामावच्छेदसे (अलग-अलग धामोंमें) उन-उन अलौकिक गुण-कर्मोंका (लीलाओंका) आविष्कार करते हैं। इस प्रकारसे एकमें श्रुत गुण-कर्मका अन्यत्र सञ्चार सम्भव होता है। यदि कहो, एक प्रकाशमें जो सब गुण श्रुत होते हैं, वे अन्य प्रकाशमें किस रूपमें चिन्तनीय हो सकते हैं? तो भी असङ्गत नहीं है क्योंकि एक का ही उन-उन भावोंमें प्रकाश होता है। इसमें आपत्ति यह है कि यदि ऐसा ही है तो माधुर्य, ऐश्वर्य, भोग, शान्ति, तपस्या, निष्ठुरता इत्यादि गुणोंके परस्पर विरोधके कारण (यथा श्रीरघुवीरमें माधुर्य और भोग हैं; श्रीकृष्णावतारमें माधुर्य, ऐश्वर्य और भोग हैं, श्रीनरनारायण-मूर्त्तिमें शान्ति और तपस्या है और श्रीनृसिंहमें क्रूरता, विक्रम और ऐश्वर्य है) ये सब एकत्र नहीं रह सकते। यदि उनके एकत्र सन्निवेशमें (समावेशमें) चिन्तन करना है (अर्थात् जिस प्रकार मीन, वराह, हंसादि मूर्त्तिमे वंशी, शङ्ख, चक्र तथा धनुष-बाणका चिन्तन, श्रीनृसिंह-मूर्त्तिमें शृङ्ग-पुच्छका चिन्तन, दाशरथि—श्रीकृष्णादिमें केसर [सटा], दंष्ट्रा इत्यादि का ध्यान) तो इससे दोष ही श्रुत होते हैं। यथा जो व्यक्ति अन्य रूपमें वर्त्तमान, शास्त्रमें वर्णित श्रीहरिके रूपका वेशान्तरमें अथवा अन्य आकारमें चिन्तन करता है, वह क्या पाप नहीं कर रहा होता है। वह तो आत्मापहारी चोर है। इस

(महाभारतोक्त) स्मृति-वाक्यके साथ विरोधके कारण और विद्वत्-सम्प्रदायकी अनुभूतिके विरोधके कारण इस प्रकारका सामञ्जस्य युक्तियुक्त नहीं है—यह यदि कहते हो तो—इसकी मीमांसा करते हैं कि भगवत्-गुणोंको एकमें समन्वयके (उपसंहारके) उद्देश्यसे उपासनाक्षेत्रमें परम उपादेयत्व है। एक मूर्त्तिकी उपासनामें गुण पठित हैं किन्तु अन्य उपासनामें अपठित (अवर्णित) है तो प्रश्न यह उठता है कि उसकी इस उपासनामें इन समस्त अपठित गुणोंके (रूपोंके) चिन्तनमें क्या तात्त्विक बोध है? अथवा धारणामात्र है? इनमें प्रथम अर्थात् तात्त्विक चिन्तन है—यह कह नहीं सकते क्योंकि वह सनिष्ठ भक्तके पक्षमें है और दूसरा अर्थात् तात्त्विक ज्ञान एकान्तनिष्ठके पक्षमें है। इस विषयमें मीमांसा यह है कि इसके पर-पादमें अर्थात् चतुर्थ पादमें सनिष्ठ इत्यादि तीन प्रकारके विद्याधिकारियोंके विषयमें बतलाया जायेगा। इनमें जो सनिष्ठ अधिकारी हैं, वे भगवान्के सभी रूपोंमें समान प्रीतिसे युक्त हैं जैसे ब्रह्मा इत्यादि। ऐसे सनिष्ठ अधिकारी प्रायः समस्त अवतारोंमें ही समस्त गुणोंका समन्वय साधन करते हैं। इनके लिए किसी एक मूर्त्तिमें अनेक विरोधी गुणोंका चिन्तन दोषावह नहीं है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार वैदूर्यमणिमें समय भेदसे विभिन्न रूप प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार उस मूर्त्तिमें भी विभिन्न रूप ग्रहणीय हो सकते हैं। अन्य दो प्रकारके अधिकारी हैं—वे परिनिष्ठित और निरपेक्ष हैं। ये दोनों ही एकान्ती अधिकारी एवं विषम प्रीतिसे सम्पन्न हैं। ये स्वाभीष्ट मूर्त्तिमें अभिव्यक्त गुणोंका ही ध्यान और दर्शन करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य मूर्त्तिमें अभिव्यक्त उसके अतिरिक्त अन्यान्य गुण उसी मूर्त्तिमें विद्यमान हैं—यह जानकर भी ये भक्त न तो उन गुणोंका ध्यान करते हैं और न ही दर्शन। इसका कारण यह है कि वे गुण उनकी स्वाभीष्ट मूर्त्तिमें प्रकट नहीं है और वे भक्तको अभीष्ट भी नहीं है। यह विषय परवर्त्ती अधिकरणमें विशद रूपसे वर्णित किया जायेगा। तब अन्य मूर्त्तिके गुणचिन्तकका जो दोष *'योऽन्यथात्वित्यादित्यादि'* पूर्वोक्त श्लोक द्वारा सुना जाता है; उसका समाधान यह है कि यह श्लोक उनके लिए कहा गया है जो चिन्मात्र ब्रह्मके उपासक हैं। अतएव उसमें ही शास्त्रका तात्पर्य किञ्चेत्यादि

ग्रन्थ (वाक्य) द्वारा स्थापित करते हैं—किञ्च अर्थात् और एक बात है—*'तस्मिन् यदन्वेष्टव्यमिति'*—इस दहर नामक ब्रह्ममें जो समस्त अपहतपाप्मत्व इत्यादि गुण हैं, वे सब अन्तरमें स्वाभीष्ट मूर्त्तिमें भी विद्यमान हैं, यह ध्यातव्य है। इस उक्तिमें शास्त्रका तात्पर्य इस प्रकार है 'मुक्तिकामियोंके लिए ब्रह्मगुणसमूह अन्वेषणीय अर्थात् ध्यातव्य हैं' इस अभिधानके कारण और 'ब्रह्मको जो आनन्दस्वरूप जानते हैं, वे किसीसे भी डरते नहीं हैं'—इस श्रुति-वाक्य द्वारा गुणवेत्ताके अभय-फलकी उक्तिके कारण *'यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्'* वाक्यका तात्पर्य सगुण ब्रह्मविषयक ही जानना चाहिये। इस विषयमें केवलाद्वैतवादी कहते हैं—ब्रह्मके गुण दो प्रकारके हैं—आनुवादिक और व्यावहारिक अर्थात् देवता, महर्षि उग्र पुण्यवान राजर्षियोंमें जो अपहतपाप्मत्व (निष्पापत्व) गुण प्रसिद्ध हैं, उनकी सत्ताका ही श्रुति ब्रह्ममें उल्लेख करती है अन्यथा ये ब्रह्मके वास्तव गुण नहीं हैं, इसीलिए इन गुणोंको आनुवादिक कहा जाता है और जो समस्त गुण निर्गुण ब्रह्ममें अनिर्वचनीय माया द्वारा जगत्के सृष्टि कार्यमें प्रवृत्त परमेश्वरमें प्रवृत्त होते हैं, वे आरोपित हैं, इसलिए व्यावहारिक हैं। इस प्रकारकी कल्पना स्वकपोल-कल्पित है क्योंकि शब्दके अतिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा जो ज्ञात नहीं है, उसका अनुवाद है नहीं और व्यावहारिक हैं—यह भी कहते नहीं बनता क्योंकि व्यवहार-बोधक पद तो कहीं देखा भी नहीं जाता। यदि कहो कि जिस प्रकार *'वाचं धेनुमुपासीत्'* वाक्यरूपी धेनु अर्थात 'वाक्यकी धेनु जानकर उपासना करें'—इस कथनमें उपासनाके लिए वाक्यमें धेनुगण काल्पनिक हैं इसी प्रकारसे ब्रह्ममें गुण काल्पनिक हैं—यह गुणोंकी कल्पनाका चिन्तन भी दुश्चिन्तन है। उपासनाके लिए इस प्रकारकी कल्पना करनेपर *'आत्मेत्युपासीत्'* अर्थात् 'ब्रह्मकी आत्म-बोधसे ही उपासना करें' श्रुतिमें उक्त यह आत्मभाव भी काल्पनिक होना चाहिये, किन्तु ऐसा तो होता नहीं। ब्रह्मका आत्मत्व जो नित्यसिद्ध है; इसके अतिरिक्त केवलाद्वैतवादी इस सूत्रमें जो आनन्दादि धर्मोंको उपास्य कहते हैं और *'व्यतिहारो विशिंषन्ती हीतरवत्'* (वे॰सू॰ ३/३/३८) सूत्रमें जीव और ईश्वरकी अभिन्न रूपमें उपास्यताका निर्देश करते हैं—ये दोनों ही बातें असङ्गत

होती हैं क्योंकि वहाँ उपास्य भावका निर्देश रहते हुए भी वास्तवत्व (तात्त्विकत्व) स्वीकार किया गया है, तब जो ब्रह्मके निर्गुणबोधक वाक्य श्रुत होते हैं, इसका तात्पर्य है कि ब्रह्म प्रकृति द्वारा सम्भूत गुणोंसे वर्जित हैं—इस अर्थमें ये वाक्य कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त गुण-गुणीका अभेद स्वीकृत होनेसे स्वरूपोपासनाकी अपेक्षा गुणोपासना गौण है—यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतएव उक्त उपाख्यानमें आपत्तिका कोई विषय रहता ही नहीं है। ध्येय गुणोंको दो प्रकारका जानना चाहिये—अङ्गीनिष्ठ और अङ्गनिष्ठ। इसे भी बादमें बताया जायेगा। इस प्रकारसे इस अधिकरणकी भूमिका-रचनाके बाद पहले समस्त गुणोंकी भगवान्में समन्वय-सिद्धिके (गुणोपसंहार-सिद्धिके) लिए उनके (भगवान्के) सर्ववेदवेद्यत्वका निरूपण हुआ है। भगवत्-वेद्यताके अनुकूल समस्त साधन-वाक्य इस अधिकरणके विषय हैं। इसमें संशय होता है कि ब्रह्म स्वशाखोक्त साधनों द्वारा वेद्य हैं अथवा सर्वशाखोक्त साधनोंके द्वारा। पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब प्रत्येक शाखामें कथित वाक्योंका अर्थ भिन्न-भिन्न है, तब स्वशाखोक्त वाक्य द्वारा ही ब्रह्म वेद्य है—इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एतत्पादार्थबोधवैशद्याय पीठिकां तावद्रचयति भगवद्गुणेति। इयमत्रेति। स्वयंरूपे श्रीकृष्णे। कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति स्मरणात्। रूपाणीति रूपं वर्णः संस्थानयोगश्चेति द्विविधानि तानि बोध्यानि। विशिष्ट इति पुरुषोत्तम इत्यर्थः। उपसंहार्या ग्राह्यः। येनत्विति। येन प्रतीकोपासकेन मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादिवाक्यान्मनःप्रभृतिप्रतीको ब्रह्मभावेनोपास्यत इत्यर्थः। तत्तदिति। तत्तत् प्रतीकोपासनग्रन्थोक्ता इत्यर्थः। नेतरे इति। शुद्धब्रह्मनिष्ठा गुणास्तेन नोपास्याः। तद्रूपं शुद्धं ब्रह्मस्वरूपम्। सङ्गत्यन्तरमाह अपरे त्विति। इदमेव कृष्णरूपं रामरूपं वा यत्किञ्चित् पारम्योपेतं परं ब्रह्मेत्यर्थः। श्रुतानां गुणानाम्। नन्विति। माधुर्यभोगौ रघुवर्ये। माधुर्यैश्वर्यभोगाः श्रीकृष्णे। शान्तितपसी नरनारायणयोः। क्रौर्यशोर्यैश्वर्याणि तु नृहरौ। एषामेकत्र विरोधः स्फुटः। एवं स्वभावभेदेनोदितानां गुणानामनुपसंहार्यत्वमुक्त्वाकारभेदेनोदितानां तदाह वंशेत्यादि। मीनवराहहंसादिषु वंशादिभावनं दाशरथि-कृष्णादिषु शृङ्गादिभावनं दोषावहम्। योऽन्यथेत्यादेः। भारतवाक्यमेतत्। अस्यार्थः। यथा हरेः रूपं शास्त्रे गदितं ततोऽन्यथा वेशान्तरेणाकारान्तरेण स्थितं यो वेत्ति तेन किं पापं न कृतम् अपि तु सर्वं कृतमित्यर्थः। पापं वक्तुं विशिनष्टि चौरेनेति। ततो विरुद्धभावनमयुक्तमिति

समादधदाह अत्रोच्यते इत्यादिना। तेष्विति। अधिकृताश्चतुर्मुखादयः। प्राग्-ग्रहणात्तदनुयायिनः केचिदन्ये। सर्वेषु रूपेष्विति। विलक्षणवर्णसंस्थानवत्सु सर्वेषु ब्रह्माभिर्भावेष्वित्यर्थः। न चेति एकस्मिन् ब्रह्माविर्भावे। असमञ्जसं विरुद्धम्। रूपभेदानां विलक्षणानां वर्णसंस्थानानाम्। तदन्यरूपेति। तस्मात् स्वेष्टरूपादन्यत् रूपं यस्मिन् तादृशे हरावभिव्यक्तान् न तु स्वेष्टरूपवति तस्मिन् इत्यर्थः। इत्थञ्च तेभ्यः स्वेष्टगुणेभ्योऽन्यान्। तस्मिन् स्वेष्टरूपवति सत्त्वेनावगतानपि न ध्यायन्ति न चाप्नुवन्ति इत्यर्थः। पराधिकरणे न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवदित्यत्र। अयमत्र वर्त्तुलितार्थौ ज्ञेयः। स्वर्गी नटो यथातिशयिविद्याचातुर्यौ भ्रूनेत्रादिचेष्टया व्यञ्जितातिविलक्षणाकृतिः स्व-स्थितानेव विचित्रान् भावान् प्रदर्शयति तथाविचिन्त्य-शक्तियोगादतिसमर्थो विचित्रकलानिधिर्वैदूर्यवदात्मनि व्यञ्जितविविधरूपो हरिर्विविधान् धर्मान् प्रकट्यतीति तान् सर्वांस्तस्मिन् सनिष्ठा भक्ताश्चिन्तयन्ति पश्यन्ति च। अस्मिन् हरौ मदिष्टरूपिणि मद्भावानुकूला धर्माः प्रकटाः सन्ति तैरेव ध्यातैर्मम मोक्षः सेत्स्यति किमन्यैः स्वरूपसद्भिरपि मद्भावाननुकूलैधर्मैर्ध्यातैरिति परिनिष्ठितादयस्तु स्वेष्टरूपव्यक्तानेव तान् ध्यायन्ति लभन्ते च नापरानित्यर्थः इति पराधिकरणे व्यक्तीभविष्यति। योऽन्यथेत्यादिवाक्यस्य गतिमाह। नित्यज्ञानादिगुणकमात्मानं यो विज्ञानमात्रं वेत्ति स निन्द्य इत्यर्थः। गुणानां ब्रह्मस्वरूपानुबन्धित्वाद्भावोल्लासकत्वाच्च तद्वत् तच्चिन्तनमावश्यकमिति दर्शितम्। अतस्तत्र शास्त्रतात्पर्यं स्थापयति किञ्चेति। तस्मिन्निति। दहराख्ये ब्रह्मणि यदपहतपाप्मत्वादिगुणवृन्दमन्तस्तदभिन्नतयास्ति तदन्वेष्टव्यमित्यर्थः। आनन्दमिति। ब्रह्मणः सम्बन्धिनमानन्दं धर्मभूतं तद्विद्वान् जनः कुतश्चन कालकर्मादेन बिभेति विमुच्यत इत्यर्थः। तत्र तात्पर्याभावे गुणविषयाणि सादरवचांसि व्याकुप्येयुः। सभापर्वणिभीष्मः—*"ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः। तेषां गुणवतां शौरेरहं गुणवतो गुणान्। समागतानामश्रौषं बहून् बहुमतान् सताम्। गुणैरन्यानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः"* इति कर्णपर्वणि च सः *"वर्षायुतैर्यस्य गुणा न शक्या वक्तुं समेतैरपि सर्वलोकैः। महात्मनः शङ्खचक्रासिपाणेर्विष्णोर्जिष्णोर्वसुदेवात्मजस्य"* इति। मात्स्ये च—*"यथा रत्नानि जलधेरसंख्ययानि पुत्रक। तथा गुणा ह्यसंख्यया अनस्तस्य महात्मन"* इति। वाराहे च—*"चतुर्मुखायुर्यदि कोऽपि वक्ता भवेन्नरः कापि विशुद्धचेताः। स ते गुणानामयुतैकमंशं वदेन्न वा देववर प्रसीद"* इत्यादीनि। यत्तु केवलाद्वैतिनो वदन्ति आनुवादिका व्यावहारिकाश्च गुणा इति। अस्यार्थः। देवेषु महर्षिषु पार्थिवेषु चोग्रपुण्येष्वपहतपाप्मत्वादयो गुणाः प्रसिद्धाः सन्ति, तान् श्रुतिब्रह्मण्यनुवदति न तु वस्तुतस्तत्र विधत्ते। निर्गुणे एव ब्रह्मण्यनिर्वचनीयया मायया योगान्महदहङ्कारादिरचनया जगद्व्यवहारे प्रवृत्ते सति जगदीश्वरे तस्मिन् मायिकाः सर्वज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्वादयो गुणा भवन्त्यध्यस्त इत्युभयथाप्यवास्तवास्ते इति। तदिदं परिहरति। इति तु कल्पनैवेति। स्वकपोलकल्पनैवेयं न तु शास्त्रसिद्धेत्यर्थः। तत्र हेतुर्मानान्तरेति। प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरेण प्राप्तस्यार्थस्यानुवादो

दुष्टाः। न च ब्रह्मगुणास्तेन प्राप्ताः किन्तूपनिषदैवातस्तेषां नानुद्यता शक्या भणितुम्। स्फुटमन्यत्। वाचमिति। वाचि धेनुत्वकल्पनं निर्गुणे गुणित्वकल्पनं चिन्तार्थः। दुर्धीरिति दृष्टा बुद्धिरित्यर्थः। धेनुवद्वाच्यपि मनोरथपूरकत्वस्य गुणस्य सत्त्वादित्याशयः। तथा सतीति। उपासनायै गुणानां कल्पितत्वे सतीत्यर्थः। तदापत्तेरात्मत्वस्य कल्प्यतापत्तेरित्यर्थः। आनन्दादय इति। केवलाद्वैतिभिरेतस्मिन् सूत्रे आन्नदादीनां धर्माणामुपास्यत्वं भाषितम्। व्यतिहारे विशिंषस्तीतिसूत्रे जीवेशाभेदस्य चोपास्यत्वं भाषितम्। ते स च तात्त्विका एवेति स्वीकार्याः। तथा चात्मत्वस्योपासनार्थं कल्पितत्वेन ब्रह्मणोऽनात्मत्वम् आनन्दरूपत्वविज्ञानघनत्वादेर्गुणगणस्य जीवब्रह्माभेदस्य चोपास्यस्य तात्त्विकत्वास्वीकारे तस्य दुःखरूपत्वं जडरूपत्वञ्च जीवाद्भिन्नत्वष्णोपपद्येत। अनिष्टञ्चैतत्तेषामिति। तस्माद्गुणवदेव ब्रह्मोपास्यमिति सुष्ठु प्रतिज्ञातम्। ननु ब्रह्मणैर्गुण्यवादिवाक्यानां का गतिरिति चेत्तत्राह निर्गुणेति। एष आत्मेत्यादिश्रुतौ पाप्मादिषट्कं प्रतिषिध्य सत्यकामादिद्वयस्य विधानादिति भावः। ननु स्वरूपोपासनापेक्षया गुणोपासनस्य गौण्यमिति चेत्तत्राह गुणानामिति। किञ्च ध्येया इति। अङ्गिनिष्ठाः सार्वज्ञादयः अङ्गनिष्ठाः स्मितावलोकादयः। इत्थं पीठिका व्याख्याता। पूर्वत्र श्रीहरेरेव सर्वफलदत्वं यदुक्तं तन्न युक्तम्। निर्गुणस्य तस्य वस्तुतो दातृत्वादि-गुणाभावादित्याक्षिप्य तस्यैव तद्दातृत्वं सर्वेषु वेदेषु तथोद्गीयमानत्वादिति समाधानां पूर्वन्यायेनास्य न्यायस्याक्षेपलक्षणा सङ्गतिः। तत्रादावित्यादि। भगवतः सर्ववेदबोध्यत्वे सिद्धे सर्वशाखोक्तानां धर्माणां तदुपासने स्यादुपसंहार इति सर्ववेदबोध्यता प्रथमं प्रदर्श्यते। तथाहीति। साधनवाक्यानि श्रवणमननादिप्रतिपादकानि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस पाद-प्रतिपाद्य अर्थके बोध-सौकर्य (जाननेकी सुविधा) के लिए सबसे पहले भूमिकाकी रचना *'भगवद्गुणेत्यादि'* वाक्य द्वारा करते हैं। *'इयमत्र प्रक्रियेति' 'स्वयं रूपे'*—स्वयं सिद्धस्वरूप श्रीकृष्णमें, उनके स्वयं सिद्धत्व-विषयमें *'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'*—श्रीकृष्ण स्वयं सिद्ध पूर्ण ब्रह्म हैं—यह वाक्य प्रमाण है। *'विचित्राणि रूपाणीति'*—रूप शब्दका अर्थ है—वर्ण एवं अवयव गठन। यहाँ ये दो प्रकारके ही रूप जानना चाहिये। *'रूपेण विशिष्ट'* इति अर्थात् पुरुषोत्तमको। *'उपसंहार्याः'* का अर्थ है 'ग्रहणीय'। *'येन त्वित्यादि'* में 'येन' का अर्थ है 'वह प्रतीक-उपासक' *'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'*—मनकी ब्रह्मरूपमें उपासना करें—इस श्रुति-वाक्यके अनुसार मनोरूप मूर्त्तिकी ब्रह्मरूपमें उपासना करें—यह तात्पर्य है। *'तत्तदुपासन प्रकरण पठिताः'* अर्थात् उसी—उसी प्रतीकोपासना ग्रन्थमें वर्णित है। *'नेतरे'* इति—शुद्ध (निष्कल) ब्रह्मनिष्ठ गुणोंकी वे उपासना

न करें। *'तद्रूपमधिकृत्येति'*—'तद्रूपम्' का अर्थ है 'शुद्ध ब्रह्मस्वरूप'। अब इसके बाद अन्य प्रकारकी सङ्गति *'अपरे तु'* इत्यादि वाक्य द्वारा दिखाते हैं। *'इदमेव पारम्योपेतम्'* इत्यादि—ये कृष्णरूप अथवा रामरूप—जो कोई भी हों, वे ही परब्रह्म हैं। *'एकत्र श्रुता श्रुतानामिति'* एक स्थानमें श्रुत गुण राशिका। माधुर्यैश्वर्येत्यादि—माधुर्य एवं भोग गुण रघुनाथ—रामचन्द्रमें प्रकट हैं, इसी प्रकार माधुर्य, ऐश्वर्य एवं भोग श्रीकृष्णमें, शमपरायणता एवं तपस्या नर-नारायण-अवतारोंमें, क्रूरता, शौर्य एवं ऐश्वर्य नरसिंह-मूर्त्तिमें—इन समस्त परस्पर विरुद्ध गुणोंका एकत्र समावेश विरुद्ध है—यह सुस्पष्ट ही प्रतीत होता है। (पूर्वपक्ष) इसी प्रकार स्वभाव-भेदसे वर्णित गुणोंका एक मूर्त्तिमें अग्रहणीयत्व दिखाकर आकार-भेदसे कथित विभिन्न गुणोंका अनुपसंहार्यत्व (अग्रहणीयत्व) *'वंशेत्यादि'* वाक्य द्वारा दिखाते हैं। मीन, वराह, हंसावतारमें वंशी इत्यादिका चिन्तन, दाशरथि, श्रीकृष्ण इत्यादि अवतारोंमें शृङ्गादिका चिन्तन दोषजनक है। इस विषयमें प्रमाण दिखाते हैं—*'योऽन्यथा सन्तमित्यादि'*—यह वाक्य महाभारतमें कहा गया है। इसका अर्थ है—शास्त्रमें श्रीहरिका रूप जिस प्रकारसे वर्णित है, उसका त्याग करके यदि कोई अन्य वेशमें, अन्य आकारमें स्थित भगवान्‌का ध्यान करता है, वह कौन-सा पाप नहीं करता? समस्त पाप ही उसके द्वारा अनुष्ठित हो जाता है। यह पाप कौन जातीय है, इसे बतलानेके लिए इसे विशेषण द्वारा प्रकाश करते हैं—कि वह आत्मापहारी चौर है। अतएव विरुद्ध मूर्त्ति अथवा विरुद्ध गुणका चिन्तन अयुक्त है। इसका समाधान *'अत्रोच्यते'* इत्यादि वाक्य द्वारा बतला रहे हैं। *'तेषु प्रायेणाधिकृता'* इत्यादिमें 'अधिकृताः' का अर्थ है—अधिकारी ब्रह्मा इत्यादि। 'प्राय' शब्दका अर्थ है—तदनुसारी अन्य भी कोई-कोई। *'सर्वेषु रूपेषु समप्रीतय'* इत्यादि—विभिन्न वर्ण, विभिन्न आकृतिविशिष्ट समस्त अवतार ही ब्रह्मके आविर्भाव हैं—इस बुद्धिसे, समका अर्थ है—प्रेमयुक्त अथवा सभीमें प्रीतियुक्त *'नचैकस्मिन्नकेति'*—सभी ब्रह्मके आविर्भाव हैं—अतः जिस किसी एक मूर्त्तिमें विरुद्ध-गुणोंका चिन्तन विरुद्ध हो नहीं सकता। *'रूपभेदानामिति'*—भिन्न-भिन्न वर्ण एवं आकृतियोंका। *'तदन्यरूपाभिव्यक्तान्'* इति—निज अभीष्ट देवताके रूपसे भिन्न अन्य

रूप जिनमें (निजाभीष्ट देवतामें) है—ऐसे श्रीहरिमें अभिव्यक्त—यह अर्थ है, अन्यथा जो एकान्ती अधिकारी हैं, उनकी अभीष्ट रूपवती मूर्त्तिमें अभिव्यक्त—यह अर्थ नहीं है। इस प्रकारसे सिद्धान्त यह है कि निज अभीष्ट रूपविशिष्ट इष्ट-देवतामें उस इष्ट-गुणसे भिन्न अन्य गुण हैं, यह जाननेपर भी उन गुणोंका ध्यान नहीं करते और दर्शन भी नहीं करते। *'पराधिकरणे व्यक्ती भविष्यति'—नवा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वात्* (ब्र॰सू॰ ३/३/८)—इस सूत्रके अधिकरणमें। यह प्रबन्धका समुदितार्थ है—यह जानें। यथा, जिस प्रकार स्वर्गी (अलौकिक) नट (अभिनेता) अतिशय विद्या-चातुर्य-प्राप्त होकर भ्रू-नेत्रादि भङ्गी द्वारा अति असाधारण आकृतिका अभिनय करके स्वगत भावोंको दिखाता है, उसी प्रकार अचिन्तनीय शक्ति-योगमें अति समर्थ, विविध कला-विद्याके आकर श्रीहरि वैदूर्यमणिके समान निज-स्वरूपमें (आकृतिमें) विविध रूप अभिव्यक्त करके विविध गुण प्रकट करते हैं। सनिष्ठ ब्रह्मादि भक्तगण उन समस्त गुणोंका श्रीहरिमें चिन्तन करते हैं और दर्शन करते हैं। जो परिनिष्ठित भक्त हैं, वे चिन्तन करते हैं कि मेरे अभिप्रेत रूपविशिष्ट इन श्रीहरिमें मात्र मेरे भावानुकूल गुणसमूह ही प्रकट होते हैं, उस गुणसमूहके ध्यानसे ही मेरी मुक्ति-प्राप्ति होगी, अन्य (मेरे भावके प्रतिकूल) धर्म (गुणसमूह) उनमें स्वरूपतः रहनेपर भी उनके ध्यानसे क्या लाभ होगा? इस प्रकारसे परिनिष्ठितादि अधिकारीगण अपने अभीष्ट देवतामें अभिव्यक्त रूपका ही ध्यान करते हैं और दर्शन भी करते हैं, अन्य गुणोंका ध्यान वे नहीं करते—यह सब परवर्त्ती अधिकरणमें व्यक्त होगा। यदि कहो, तब *'योऽन्यथा'* इत्यादि वाक्यमें उक्त दोष-श्रुतिकी क्या सङ्गति होगी? इसकी भी मीमांसा करते हैं—इस श्लोकका तात्पर्य है कि जो व्यक्ति नित्य ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न परमात्माको केवल विज्ञानमात्र रूपमें ज्ञान करता है, वह व्यक्ति निन्दनीय है। नित्य ज्ञानादि गुण स्वरूपानुबन्धी हैं एवं उनका चिन्तन प्रेमका उद्दीपक है इसलिए उनका ध्यान आवश्यक है यही उसी रूपमें उनका ध्यान दिखाया गया है, इसीलिए उसमें शास्त्रका तात्पर्य स्थापन करते हैं। *'किञ्च तस्मिन्निति'* में 'तस्मिन्' का अर्थ है—दहर नामक ब्रह्ममें जो अपहतपाप्मत्व (पापहीनत्व)

इत्यादि गुणसमूह हृदयमें दहर ब्रह्मके साथ अभिन्न रूपमें वर्त्तमान हैं, इसका ध्यान करना होगा—यही तात्पर्य है। *'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'* (तै॰ २/९) इत्यादि। ब्रह्म-सम्बन्धी आनन्द-गुणका ध्यान करनेवाला व्यक्ति काल, कर्म इत्यादि किसीसे भी भयभीत नहीं होता अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है। यदि गुण-ध्यानके पक्षमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं होता, तो गुण प्रशंसा सूचक वाक्य व्याहत (व्यर्थ) होते हैं। महाभारतमें सभापर्वमें भीष्म कहते हैं—हे महाराज युधिष्ठिर! मैंने बहुत-से ज्ञान-वृद्धोंकी सेवा की है, उन सभी समुपस्थित गुणवानोंके निकटसे मैंने भगवान् श्रीकृष्णके साधु-सम्मत बहुत-से गुण सुने हैं, इससे मेरी यह धारणा बनती है कि गुणसमूह द्वारा दूसरे सभीको अतिक्रम करनेके कारण श्रीहरि ही परम अर्चनीय हैं। कर्णपर्वमें भी वे ही भीष्म कहते हैं—समस्त मनुष्य समवेत होकर भी शङ्ख, चक्र, खड्ग-पाणि, जयशील, महापुरुष हैं वसुदेव-पुत्रके गुणोंकी अयुतायुत वर्षोंमें भी व्याख्या नहीं कर सकते। मत्स्यपुराणमें भी कहा है—वत्स! जिस प्रकार समुद्रके रत्नोंकी संख्या अनगिनत है, उसी प्रकार महात्मा अनन्तके गुण भी असंख्य हैं। वराहपुराणमें कहा गया है कि हे भगवन्! यदि कोई विशुद्ध-चित्त मनुष्य ब्रह्माकी परमायु पाकर भी कभी आपके गुणोंका वर्णन करना चाहे, तो वह आपके अयुतायुत गुणोंके एकांशका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है कि नहीं; सन्देह है। हे देववर! आप प्रसन्न हों। इत्यादि वाक्य भगवान्के गुण-प्रशंसा-परक हैं। तब जो केवलाद्वैतवादी कहते हैं कि भगवान्के कितने ही गुण आनुवादिक हैं और कितने ही व्यावहारिक हैं तो इसका अर्थ है—देवता, महर्षि और अत्यधिक पुण्यकारी राजाओंके अपहतपाप्मत्व इत्यादि गुण प्रसिद्ध हैं—उन समस्त गुणोंका अनुवाद-पुनरुल्लेख श्रुति परब्रह्ममें करती है—वास्तवमें तो वे ब्रह्ममें विधान करते नहीं हैं और व्यावहारिक गुण कहनेसे जो गुण मायिक अर्थात् निर्गुण ब्रह्ममें ही अनिर्वचनीय मायाके वशसे महत्तत्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रादि-रचना द्वारा जागतिक कार्यमें जगदीश्वरमें प्रवृत्त रहते हैं, इसलिए सर्वज्ञत्व, सत्यसङ्कल्पत्वादि गुण निर्गुण ब्रह्ममें अध्यस्त अर्थात् आरोपित हैं। अतएव इन दोनों प्रकारसे वे अवास्तव ही हैं। इस मतका खण्डन

करते हैं—इति तु कल्पनैव—यह स्वकपोल-कल्पित कल्पना मात्र है अर्थात् शास्त्रानुमोदित नहीं है। इस विषयमें हेतु है—*'मानान्तराप्राप्तानामि-त्यादि'*। प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर द्वारा जो ज्ञात है, उसके कथनका नाम अनुवाद है किन्तु ब्रह्मके गुण श्रुतिके अतिरिक्त किसी प्रमाणसे ज्ञात नहीं हैं, केवल उपनिषद-वाक्यों द्वारा ही श्रुत हैं, अतएव अनुवादोक्ति सङ्गत हो नहीं सकती। अन्य भाष्यांश परिस्फुट है। *'वाचं धेनुमुपासीत'* (वाक्यरूपी धेनुकी उपासना करें) वाक्यके धेनुरूपत्वकी कल्पना और निर्गुण ब्रह्मके सगुणत्वकी कल्पना—इस चिन्तनका तात्पर्य है कि 'दुर्धीरिति' अर्थात् ऐसा ज्ञान कलुषित (दूषित) ज्ञान है। कारण कि वाक्यमें धेनुत्वकी कल्पना है नहीं, वास्तवमें तो कामधेनुके समान मनोरथ-पूरकत्व वाक्यमें है—यही वक्ताका अभिप्राय है—*'तथा सतीत्यादि'*—तथा सति—यदि उपासनाके लिए ब्रह्मके गुणकी कल्पना करनी होती है, तब *'आत्मेत्युपासीत'* (बृ॰आ॰ १/४/७) (आत्माकी ही उपासना करे)—इस श्रुतिसे प्राप्त आत्मरूपमें उपासना भी कल्पित कहनी पड़ेगी किन्तु ऐसा तो है नहीं, ब्रह्मका आत्मत्व वास्तव है। *'आनन्दादय'* इति—केवलाद्वैतवादी इस सूत्रमें भी आनन्दादि-धर्मकी उपास्यता बतलाते हैं और *'व्यतिहारो विशिषन्ति'* इत्यादि सूत्रमें जीव एवं ब्रह्मके अभेदरूपमें उपास्यताकी व्याख्या करते हैं किन्तु वे आनन्दादि गुण और जीवेश्वरका अभेद जो तात्त्विक है, वह उन्हें भी मानना होगा। ऐसा होनेपर उपासनाके लिए ब्रह्ममें आत्मत्वकी कल्पना द्वारा ब्रह्मका अनात्मत्व हो पड़ता है और ब्रह्मका उपास्य आनन्दरूपत्व, विज्ञानघनत्व इत्यादि गुण-राशिका एवं उपास्य जीव-ब्रह्मके अभेदका तात्त्विकत्व स्वीकार न करनेपर दुःखरूपत्व और जड़रूपत्व; जीवसे भिन्नत्व ही सङ्गत होता है किन्तु वह केवलाद्वैतवादियोंका अनभिप्रेत है। अतएव प्रतिज्ञात होता है कि गुणवान ब्रह्म ही उपास्य हैं, यही समीचीन है। यदि कहो, ऐसा होनेपर ब्रह्मके नैर्गुण्य-प्रतिपादक (अद्वैतवादियोंके) वाक्यसमूहकी क्या उपपत्ति होगी? इसके उत्तरमें कहते है—*निर्गुणवाक्यन्तु* इत्यादि—ब्रह्मके निर्गुणत्व-प्रतिपादक वाक्योंका तात्पर्य है कि *'एष आत्मेत्युपासीत'*—इस श्रुतिमें क्योंकि पाप्मत्वादि छहोंका प्रतिषेध करते हुए सत्यकामादि दोका विधान हुआ है, अतएव

वह प्राकृतिक गुणोंके अभाववत्त्व अर्थमें निर्गुणत्व-शब्द प्रयुक्त है। आपत्ति हो सकती है कि ऐसा होनेसे तो ब्रह्मकी स्वरूपोपासनाकी अपेक्षा गुणकी उपासना तो गौण (अप्रधान) हो पड़ेगी। यह यदि कहते हो तो इस विषयपर कहते हैं—*'गुणानां गुण्यभेदाभ्युपगमाच्च'* गुण एवं गुणी दोनोंको अभिन्न रूपमें स्वीकार किया गया है, इसलिए कोई असङ्गति नहीं है। *'ध्येया गुणा द्वेधा बोध्या'* इति ब्रह्मके ध्येय गुणोंमेंसे कुछ तो अङ्गिनिष्ठ हैं और कुछ गुण अङ्गनिष्ठ है—ये दो प्रकारके हैं—इनमें सार्वज्ञय, सावश्वय, कारूण्य इत्याद गुण अङ्गनिष्ठ हैं और मृदुहास्यके साथ स्निग्ध दर्शन इत्यादि गुण अङ्गनिष्ठ (शरीरगत) हैं। इस प्रकारसे भाष्यकार—प्रदर्शित भूमिकाकी व्याख्या की गयी। प्रथम तो पूर्वपक्षीका आक्षेप है कि—श्रीहरिका जो सर्वफलदातृत्व कहा गया है, वह अयौक्तिक है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्मस्वरूप श्रीहरिकी फलदातृत्व गुणकी योग्यता ही नहीं है। इस आक्षेपका समाधान करते हुए कहा गया है कि उन श्रीहरिका ही फलदातृत्व है क्योंकि समस्त वेदमें उसका ही वर्णन है; इस समाधानके कारण पूर्वाधिकरणके साथ इस अधिकरणकी आक्षेप-नामक सङ्गति जानें। *'तत्रादौ गुणोपसंहार सिद्धये'* इत्यादि—भगवान् श्रीहरिके सर्ववेद-बोध्यत्व सिद्ध होनेके बाद समस्त शाखाओंमें उक्त गुणोंका भगवत्-उपासनामें समन्वय सिद्ध हुआ—अतएव प्रथम भगवान्‌की सर्ववेदबोध्यता दिखायी गयी है। *'तथाहि निखिलानि साधन-वाक्यानि'* इति—साधनवाक्यानि-श्रवण-मननादि-विधायक वाक्य।

श्रीभगवान्‌की गुणोपासनाके वर्णनके लिए सर्वप्रथम उनके सर्ववेदवेद्यत्वका दिग्दर्शन

सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्

सूत्र—सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्॥ १ ॥

सूत्रार्थ—'सर्ववेदान्त प्रत्ययम्'—ब्रह्म समस्त वेदार्थक निश्चय द्वारा उत्पाद्य ज्ञानके विषय हैं क्योंकि 'चोदनाद्यविशेषात्' सभी शाखाओंमें विधि-वाक्य और युक्तियाँ समान ही है॥ १ ॥

सूत्रानुवाद—जो विधि और युक्तियाँ एक शाखामें प्रतिपादित हैं, वे ही अन्यान्य शाखाओंमें भी अभिहित हैं, भिन्न-भिन्न नहीं। अतः ब्रह्म समस्त वेदार्थके निर्णय द्वारा उत्पाद्य ज्ञानके विषय हैं॥ १॥

गोविन्दभाष्य—इहान्तशब्दो निश्चयार्थः। *"उभयोरपि दृष्टोऽन्तः"* इत्यत्र तथा प्रत्ययात्। सर्ववेदनिर्णयोत्पाद्यज्ञानं ब्रह्म। कुतः? चोदनेति। आदिशब्दाद्युक्तिर्गृह्यते। *"आत्मेत्येवोपासीत"* (बृ॰आ॰ १/४/७) इत्यादिविधेस्तदुक्तयुक्तेश्च सर्वत्र साम्यात्। यथा माध्यन्दिनानां विधिरेष दृष्टस्तथा काण्वानाञ्च॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'सर्ववेदान्त प्रत्ययमित्यादि'* सूत्रमें कथित वेदान्त शब्दका अर्थ है—वेदका अन्त अर्थात् निश्चय—उसीसे अर्थात् समस्त वेदनिर्णयसे उत्पाद्य (उत्पन्न किये जाने योग्य) ज्ञानके विषय ब्रह्म हैं। 'अन्त' शब्द यहाँ जो निश्चयार्थमें प्रयुक्त है—इसका प्रमाण क्या? वही बताते हैं— *'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वयोस्तत्त्वदर्शिभिः'* (श्रीगी॰ २/१६) भगवद्गीताका यह वाक्य प्रमाण है, इसका तात्पर्य है—तत्त्वदर्शी लोगोंने सत् और असत् दोनों वस्तुकी आलोचना करके ऐसा निष्कर्ष निकाला है—क्या? यही कि *'सर्ववेदान्त प्रत्ययम्'* का अर्थ है—समस्त वेदके निश्चय अर्थात् निर्णयसे उत्पाद्य (उत्पन्न) ज्ञानके विषय ब्रह्म हैं। प्रमाणस्वरूप *'चोदनाद्यविशेषात्'* अर्थात् समस्त विधि-वाक्य सर्वत्र एकरूप (समान) होकर निर्विशेषमें ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं। 'चोदनादि' में आदि शब्दसे युक्तिका भी गृहण है—तो समान विधि-वाक्य और समान युक्ति क्या हैं? वही दिखाते हैं— *'आत्मेत्युपासीत्'*— 'आत्माकी उपासना करें' इत्यादि वेद-वाक्यकी विधियाँ उनमें प्रदर्शित युक्तियाँ सर्वत्र समान देखी जाती हैं—यथा माध्यन्दिन शाखामें जो विधि दिखायी है, वही विधि काण्वशाखियोंके लिए भी है॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—सर्ववेदान्तेति। इहान्तेति। *"अन्तःस्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः"* इति हैमः। स्फुटमन्यत्॥ १॥

सूक्ष्मा-सार— *'सर्ववेदान्त प्रत्ययमित्यादि'* सूत्रमें *'इहान्त शब्दो निश्चयार्थः'*— इस भाष्यमें, अन्त-शब्दका अर्थ है—'स्वरूप', निकट, प्रान्तभाग, निश्चय एवं नाश—यह हेमचन्द्र (कोषकार) कहते हैं। भाष्यके अवशिष्टांशका अर्थ स्पष्ट है॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब इस तृतीय अध्यायके तीसरे पादका आरम्भ होता है। इससे पहलेके पादमें विग्रहात्मक श्रीब्रह्मस्वरूपमें भक्तिके विषयमें बतलाया गया था, इस पादमें ब्रह्म-विग्रहसे अभिन्न गुणोंके विषयमें कहा जा रहा है। इस प्रकार यह परस्परके अर्थात् ब्रह्मके विग्रह और गुणोंके आश्रय-आश्रयि भावकी सङ्गति है। भगवत्-गुणोंका निरूपण करनेवाले इस तृतीय पादमें तैंतीस अधिकरण और अड़सठ सूत्र हैं। भाष्यकारने इनकी व्याख्या करनेके अभिप्रायसे भगवत्-गुण निरूपणकी योग्यताके सम्पादक श्रीभगवान्के हृदयमें स्फूर्त्तिकी कामना रूपसे मङ्गलाचरण करते हुए कहा है—जो अनन्त-विचित्रगुणमय लीलापरायण देव 'परा' नामक स्वरूपशक्ति द्वारा त्रिगुणात्मिका मायाका निरास करते हुए सार्वज्ञ्यादि गुणों और गोवर्द्धन-धारणादि लीलाओंको प्रकट करते हैं, वे श्रीकृष्ण मेरे हृदयमें स्फुरित हों। जो श्रीचैतन्य नामक तनुको धारण करके दया गुणका प्रकाश करते हुए श्रीनवद्वीप और श्रीपुरुषोत्तम धामादिमें लीलाका प्रकाशन करते हैं और अपना कृपा-वर्षण करते हुए जीवकी माया अर्थात् दुर्वासनाको दूर करते हैं—वे नित्यविग्रह श्रीकृष्णसे अभिन्न श्रीचैतन्यदेव कृपापूर्वक मुझे श्रीभगवान्के गुणोंका वर्णन करनेकी शक्ति प्रदान करें। इस प्रकारके मङ्गलाचरण द्वारा हमारे लिए शिक्षणीय यह है कि ग्रन्थके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण एकान्त विधेय अर्थात् यह अवश्य करना चाहिये तथा श्रीभगवान्की कृपाके बिना उनके नाम, रूप, गुण एवं लीलाके वर्णन करनेका अधिकार एवं सामर्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता। श्रीमद्बलदेव प्रभुने प्रत्येक पादके प्रारम्भमें शिष्टाचारमूलक मङ्गलप्रद मङ्गलाचरण करनेके आदर्शकी शिक्षा दी है।

इस पादमें श्रीभगवान्की गुणोपासना प्रदर्शित हो रही है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—स्वयंरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें अनादिसिद्ध नित्य आविर्भूत विचित्र रूपसमूह वैदूर्यमणिके समान प्रकाश प्राप्त करते हैं। उन-उन रूपोंसे विशिष्ट ये श्रीकृष्ण निर्विशेष-शुद्धि-पूर्त्तिशाली हैं—यह जानकर जो इन समस्त रूपोंसे स्वाभीष्ट किसी एक रूपविशिष्ट इष्टदेवकी उपासना करते हैं, वे श्रीभगवान्के अनन्तगुणोंमेंसे जिस किसी रूपविशिष्ट स्वरूपमें पठित गुणोंका निज उपास्यमें

अपठित होनेपर भी संग्रह कर लेते हैं और जो मन इत्यादि उनकी विभूतिकी ब्रह्मज्ञानसे उपासना करते हैं, वे शाखान्तर-स्थित तत्-तत्-उपासना प्रकरणमें पठित गुणोंका ही उपसंहार करें, शुद्ध ब्रह्मनिष्ठ गुणोंकी वे उपासना न करें। इसका कारण यह है कि इस विषयमें रूपको अर्थात् शुद्धब्रह्मस्वरूपका आश्रय करके ही इन समस्त गुणोंका पाठ निर्णीत रूपसे स्थिर किया गया है। और कोई-कोई इस प्रकारकी व्याख्या भी करते हैं कि श्रीकृष्णरूप अथवा श्रीरामरूप परम उत्कर्षको प्राप्त परब्रह्म ही हैं। वे परब्रह्म श्रीकृष्ण अभिनयकारी दिव्य नटके समान विभिन्न धामोंमें आत्मस्थित विभिन्न भावोंका प्रकाश करते हुए तत्-तत् नामोंसे अभिहित होते हैं और उन-उन गुण-लीलादिका आविष्कार करते हैं। इस कारण एक स्थानमें श्रुत रूप-गुणोंका अन्यत्र भी उपसंहार सम्भव होता है।

इस स्थलपर पूर्वपक्षवादियोंकी आपत्ति यह है कि माधुर्य, ऐश्वर्य, भोग, शान्ति, तप एवं क्रूरता इत्यादि गुणोंके परस्पर विरोधके कारण और वंशी, शङ्ख, चक्र, शर एवं चापादि (धनुषादि) विभिन्न चिह्नधारी भगवान्के विभिन्न रूपवश इन रूपों और गुणोंके एकत्र सन्निवेश अर्थात् समावेशका चिन्तन करना असम्भव और असङ्गत है और जो ऐसा करते हैं, वे स्मृति-शास्त्र वर्णित आत्मापहारी चौरतुल्य हैं, उन्हें समस्त पापोंका भागी होना होगा और यह विद्वज्जनोंके अनुभवके विरोधमें भी होगा—ऐसा उपसंहार सामञ्जस्यहीन और अयौक्तिक है।

पूर्वपक्षकी इस प्रकारकी आपत्तिके उत्तरमें कहा जाता है कि गुणोंका उपसंहार उपासनामें उपादेयके रूपमें ही स्वीकार्य है। यदि प्रश्न है कि एक उपासनामें पठित गुण अन्य उपासनामें अपठित हैं तो उनका चिन्तन करनेका अस्तित्व ही क्या है अर्थात् क्या सत्ता अर्थात् तात्त्विक बोध है? अथवा यह धीमात्र है अर्थात् इन समस्त भावोंकी धारणा मात्र है? इस प्रश्नका उत्तर कहा गया है कि दोनों ही सङ्गत हैं। इनमें पहला सनिष्ठ भक्तके पक्षमें है और दूसरा ऐकान्तिक भक्तके पक्षमें है। इस विषयमें विस्तारपूर्वक मीमांसा चतुर्थपादमें प्रदर्शित होगी। इनमें सनिष्ठ अधिकारी भक्त समस्त रूपोंमें ही समान प्रीतियुक्त हैं, जैसे ब्रह्मादि। वे समस्त अवतारोंमें समस्त

गुणोंका समन्वय करते हैं। इससे उनकी एक मूर्त्तिमें अनेक विरोधी गुणोंके चिन्तनसे दोष नहीं होता; कारण है कि जिस प्रकार वदूर्यमणिमें कालभेदसे विभिन्न रूप प्रकाशित होते हैं। इसके अतिरिक्त परिनिष्ठित और निरपेक्ष भेदसे जो और भी दो प्रकारके ऐकान्तिक भक्त हैं, वे विषम प्रीतिसम्पन्न हैं अर्थात् वे निज अभीष्ट देवतामें ही आविर्भूत गुणोंका दर्शन और चिन्तन करते हैं। अपरापर अवतारोंमें अभिव्यक्त गुण निज अभीष्ट देवमें भी है—यह जानकर ही वे समस्त गुणोंका चिन्तन अथवा दर्शन नहीं करते, क्योंकि यह उनका अभीष्ट नहीं है। इस विषयको परवर्त्ती अधिकरणमें और भी स्पष्ट किया जायेगा।

तब शास्त्रमें जो अन्य मूर्त्तिके गुणोंका चिन्तन करनेवालेके दोष सुने जाते हैं, उसका समाधान बतलाया जाता है कि जो चिन्मात्रवादी हैं, उनके लिए ही वह शास्त्र-तात्पर्यरूपमें प्रकाशित हुआ है।

केवलाद्वैतवादी आनुवादिक और व्यावहारिक भेदसे जो दो प्रकारके गुणोंको स्वीकार करते हैं, वह काल्पनिक है। जिसके प्रत्यक्षादि मानान्तर अर्थात् प्रमाण पाये नहीं जाते, उनका अनुवाद सम्भव नहीं है। पुनः व्यावहारिक भी कहा नहीं जाता, क्योंकि व्यवहार-बोधक कोई पद शास्त्रमें देखा नहीं जाता। शास्त्रमें इस प्रकारका मत दिखायी न देनेके कारण यह स्वकपोलकल्पित और नितान्त हेय है। यदि कोई कहे कि शास्त्रमें वाक्यकी धेनुबोधसे उपासना करे, इस कथनके द्वारा उपासनाके लिए वाक्यमें धेनुके गुणोंकी कल्पनाके समान ब्रह्ममें भी गुणोंकी कल्पना की जा सकती है, तो उपासनाके लिए जो गुणोंकी कल्पना करते हैं, वे दुर्बुद्धिपरायण हैं। इस प्रकारकी कल्पना स्वीकार करनेपर श्रुत्तिमें उक्त 'ब्रह्मकी आत्मज्ञानसे उपासना करें' इस स्थलपर भी कल्पना करनी होगी, किन्तु नित्यसिद्ध ब्रह्मकी आत्मभावसे कल्पना करना ठीक नहीं है।

केवलाद्वैतवादीगणोंने जिस आनन्दादि धर्मको उपास्य कहा है और जीव एवं ब्रह्मकी अभेदोपासनाका निर्देश किया है, वह भी असङ्गत ही है, क्योंकि इस स्थलपर आनन्दमय ब्रह्मका उपास्यभावसे निर्देश रहनेपर भी तात्त्विकत्व स्वीकार है। इसे काल्पनिक गुणोंकी काल्पनिक

उपासना नहीं कहा गया है और निर्गुण बोधक वाक्य जो प्राकृत गुणोंके निषेधक हैं, वह भी पहले कहा गया है। श्रीभगवान्में गुण और गुणी अभिन्न रहनेके कारण गुणोपासनामें कुछ भी आपत्तिका विषय रह नहीं सकता। ध्येयगुण जो अङ्गिनिष्ठ एवं अङ्गनिष्ठ भेदसे दो प्रकारके हैं, यह भी बादमें व्यक्त किया जायेगा।

श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु इस अधिकरणकी भूमिकाकी इस रूपमें रचना करनेके बाद पहले श्रीभगवान्में समस्त गुणोंके समन्वयकी सिद्धिके निमित्त उनके सर्ववेदवेद्यत्वका निरूपण कर रहे हैं।

श्रीभगवान्के वेदवेद्यत्वके अनुकूल ही सारे साधन–वाक्य इस अधिकरणके विषय हैं। इसमें संशय यह होता है कि स्वशाखोक्त साधन–वाक्योंकी सहायतासे ब्रह्म वेद्य हैं? अथवा सर्वशाखोक्त साधन–वाक्यों द्वारा ब्रह्म वेद्य हैं? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्रत्येक शाखामें वर्णित वाक्योंका जब अर्थभेद दिखायी देता है, तब स्वशाखोक्त वाक्योंके द्वारा ही ब्रह्म वेद्य होने चाहिये।

इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि समस्त वेदार्थ–निश्चयके द्वारा उत्पाद्य ज्ञानके विषय ब्रह्म हैं, क्योंकि चोदना अर्थात् विधि–वाक्य वाक्यसमूह और आदि अर्थात् युक्तिसमूह, अविशेषात् अर्थात् समस्त शाखाओंमें ही समान रूपसे सम्पूर्ण वेदमें ज्ञानका जो निर्णय किया है, वही ब्रह्म है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'उपासनास्मिन् पादे उच्यते सर्वपरिज्ञानं प्रथमत उच्यते अन्तो निर्णयः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तः (श्रीगी०२/१६) *स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिरिति वचनात्। सर्ववेदनिर्णयोत्पाद्यं ज्ञानं ब्रह्म। आत्मेत्येवोपासीत* (बृ०आ० ३/४/७) *इत्यादिविधीनां तदुक्तयुक्तीनां चाविशिष्टत्वात्।'*

अर्थात् इस पादमें उपासनापर विचार किया जाता है। ब्रह्मजिज्ञासा ही उपासना है। यह उपासना भक्तिसाध्य और ज्ञानका साधन है। अतएव भक्तिके बाद और ज्ञानसे पहले उपासना करनी चाहिये। यह उपासना दो प्रकारकी है—समस्त शास्त्राभ्यास रूपा और ध्यानरूपा। शास्त्राभ्यास रूपा उपासना ही ध्यानका अङ्ग है। अतएव सर्वप्रथम सर्व (वेद) परिज्ञानकी महत्ता बतलाते हैं। समस्त सत्शास्त्रोंके श्रवण–मनन द्वारा अज्ञान और संशय विदूरित होते हैं, ऐसा होनेपर ही ध्यानका

अधिकार होता है। अब यह सन्देह होता है कि श्रवण-मनन द्वारा एक-एक करके ही क्या सर्वशाखोक्त ब्रह्मको जानेंगे अथवा स्व-स्व शाखोक्त ब्रह्म परिज्ञात होंगे? अतएव कहते हैं—पृथक्-पृथक् रूपसे समस्त शाखाओंके प्रतिपाद्य ब्रह्मकी उपासना करें, क्योंकि समस्त वेदोंमें ब्रह्म ही प्रतिपाद्य हैं। *'उभयोरपि दृष्टोऽन्तः'* वचनसे 'अन्त' पद निर्णयार्थक ज्ञात होता है। इसलिए वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म ही तात्पर्य हुआ, समस्त वेद-वाक्योंके विनिर्णयसे होनेवाले ज्ञानके विषय ब्रह्म ही हैं। 'आत्माकी ही उपासना करनी चाहिये' इत्यादि विधियोंमें जो युक्तियाँ दी गयी हैं, वे सभी समान हैं। अतएव समस्त वेदकी विधि और युक्तिके अनुसार ब्रह्मकी उपासना करेंगे।

वेदान्तमें 'अन्त' शब्दका अर्थ निर्णय है। गीतोक्त उभयोरपि इत्यादि (श्रीगी॰ २/१६) श्लोकके भाष्यमें श्रीमद्बलदेवने श्वेताश्वतरोपनिषद (२/१५) से *'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।'* अर्थात् जब योगी साधनाके द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त करता है, तभी उसके शुद्धचित्तमें स्वयंका स्वरूपज्ञान प्राप्त होता है, यह मन्त्रउद्धृत किया है। अतः आत्मतत्त्वज्ञान ही ब्रह्मज्ञानका दीपस्वरूप है। जीवको आत्मतत्त्वज्ञान होनेपर वह जान सकता है कि जीवका स्वरूप श्रीभगवान्‌का विभिन्नांश चित्कण है। भगवत्-विमुखताके फलसे वह मायाबद्ध होकर इस संसारचक्रमें भ्रमण कर रहा है।

श्रीमद्भागवतमें है—*'वासुदेवपरा वेदाः'* (१/२/२८)। अर्थात् समस्त वेदोंका तात्पर्य वासुदेवमें ही है।

श्रीमद्भागवतमें ही—

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/३४)

सर्ववेदसिद्ध भगवान् ब्रह्माजीने एकाग्र चित्तसे सारे वेद-शास्त्रोंका तीन बार विचार करके अपनी बुद्धि द्वारा यह निश्चय करना चाहा था कि किस प्रकारसे परमात्मा हरिमें अनन्य प्रेम हो सकता है। तब उन्होंने अविमिश्रित अर्थात् शुद्ध भक्तियोगको ही सर्वश्रेष्ठ स्थिर किया था।

और भी,

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्व्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० ११/२१/४२–४३)

अर्थात् वह वेदवाणी कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है, उपासना–काण्डमें मन्त्रोंके द्वारा किन देवताओंका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमें किन प्रतीतियोंका अनुवाद करके उनमें अनेक प्रकारके विकल्प करती है, इस बातको इस सम्बन्धमें श्रुतिके रहस्यको मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें यज्ञरूपी मेरा ही विधान करती हैं और उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें वे मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें भी आकाश आदि रूपसे मुझमें ही अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध करती हैं। श्रुतियोंका इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेदका आरोप करती है, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके परमार्थस्वरूप मुझमें ही शान्त हो जाती हैं तब केवल अधिष्ठान रूपसे मैं ही शेष रह जाता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(श्रीगी० १५/१५)

अर्थात् समस्त वेदोंमें एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ, मैं ही वेदान्तकर्त्ता और वेदज्ञ हूँ।

श्रीमन्महाप्रभुके भी वचन हैं—

मुख्य–गौण वृत्ति किंवा अन्वय–व्यतिरेके।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्णके॥

(चै०च०म० २०/१४६)

रूढ़ि (मुख्य वृत्ति अर्थात् अभिधा वृत्तिसे) और लक्षणा वृत्ति (गौण वृत्ति अर्थात् तात्पर्य-वृत्तिसे) अथवा अन्वय-व्यतिरेक (विधि-निषेध वाक्योंसे) देखनेपर भी कृष्ण ही वेदके प्रतिपाद्य विषय रूपमें निर्दिष्ट हैं॥ १ ॥

अवतरणिका भाष्य—ननु क्वचित् *"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"* (बृ॰आ॰ ३/९/२८) इति क्वचन *"यः सर्वज्ञः सर्ववित्"* (मु॰ १/१/९) इत्येवं प्रतिशाखमर्थ-भेदान्नैकाधिकारिविषयाः सर्वशाखाः स्युरिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब आपत्ति यह है कि वेदकी किसी शाखामें उदधृत है *'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'*, इस श्रुतिमें ब्रह्मको विज्ञान एवं आनन्द-स्वरूप कहा गया है पुनः अन्य शाखामें कहा गया है—*'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'* अर्थात् वे सर्वज्ञ एवं सर्वकाम हैं—इत्यादि। यहाँ ब्रह्मको ज्ञानवान् कहकर वर्णन किया है। इस प्रकार प्रत्येक शाखामें अर्थभेद रहनेके कारण समस्त शाखाएँ एक अधिकारी-विषयक हो नहीं सकती अर्थात् अधिकारीके विषयमें ही निरूपण करती हैं तो ऐसा नहीं हो सकता—यह यदि कहते हो तो इस विषयमें सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—भेदादिति चेन्नैकस्यामपि॥ २ ॥

सूत्रार्थ—'भेदादिति चेत्' यदि प्रत्येक शाखामें भेदवश यह आपत्ति की जाती है, तब 'न'—य मानना सङ्गत नहीं है, 'एकस्यामपि' क्योंकि एक शाखामें ही जब सत्यज्ञानादि स्वरूप दिखायी दे रहे हैं, तब ब्रह्मके स्वरूपका कथन सर्वत्र ही समान है॥ २॥

सूत्रानुवाद—किसी शाखामें स्वरूपका प्राधान्य है और किसीमें गुणका प्राधान्य है, तदनुसार विभिन्न उक्तियाँ हैं—इस अर्थ भेदसे कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि सभी शाखाओंमें ब्रह्मके विषयमें समान कथन है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—मैवम्। एकस्यामपि शाखायाम् *"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"* (तै॰ २/१/१) *"आनन्दो ब्रह्म"* (तै॰ ३/६) इत्यादिदर्शनात्। तथाच सर्वत्र तैस्तैः शब्दैरेकमेव ब्रह्मस्वरूपमभिहितम् अतो न विरोधः॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मैवम् नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है—प्रत्येक शाखामें ब्रह्मका भेद निर्दिष्ट नहीं है, क्योंकि किसी एक ही शाखामें ब्रह्मको सत्य, ज्ञान और अविनाशी स्वरूप और कहीं आनन्दस्वरूप देखा जाता है। फलस्वरूप समस्त शाखाओंमें ही विज्ञानब्रह्म, सर्वज्ञब्रह्म इत्यादि शब्दों द्वारा एक ही ब्रह्मस्वरूपका निरूपण हुआ है। अतएव कोई विरोध नहीं है॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—भेदादिति। तथाच सर्वत्रेति। क्वचित् स्वरूपप्राधान्येन क्वचित्तु विशेषप्राधान्येनेति भावः॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—*'भेदादित्यादि'* सूत्रमें *'तथा च सर्वत्र'* अर्थात् *'तैस्तैः शब्दैरित्यादि'* भाष्य है। अभिप्राय यह है कि किसी शाखामें स्वरूपका प्राधान्य माना जाता है और किसी शाखामें गुणके प्राधान्यके अनुसार विभिन्न उक्तियाँ हैं॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि वेदकी किसी शाखामें ब्रह्मको विज्ञानमात्र, आनन्दस्वरूप कहा गया है और किसी शाखामें उन्हें सर्वज्ञ, सर्ववित् कहा गया है, इसके कारण अर्थभेद प्रतीत होता है, अतः समस्त शाखाएँ एक अधिकारी विषयक हैं—यह नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि अर्थभेदके कारण अधिकारी भेदको स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिस किसी भी शाखाको देखो, समस्त शाखाओंमें ही सत्यज्ञान आनन्द रूपमें ब्रह्म दिखायी दे रहे हैं।

एक शाखानिष्ठ व्यक्ति जिस प्रकार इन समस्त भेदोंकी मीमांसा करते हैं, समस्त शाखागत भेदोंकी भी इसी तरहसे मीमांसा करनी होगी। अतः कोई विरोध नहीं है। समस्त शाखाओंमें उन्हीं एक ब्रह्मको सत्य, ज्ञान, अनन्त एवं आनन्द स्वरूप कहा गया है। किसी शाखामें स्वरूप-प्राधान्य उक्तियाँ हैं, तो कहींपर विशेष प्राधान्य उक्तियाँ हैं—इतना ही प्रभेद है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ०आ० ५/९/२८) *सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म* (तै० २/१/१) *इत्यादि प्रतिशाखमुक्तिभेदान्नैकाधिकारिविषयाः सर्वशाखा इति*

चेत् न। एकस्यामपि शाखायामात्मेत्यवोपासीत (बृ॰आ॰ ३/४/७) *कं ब्रह्म खं ब्रह्मेत्यादिभेददर्शनात्।'*

अर्थात् पहले कहा गया था कि पृथक्-पृथक् रूपसे सर्वशास्त्रोक्त ब्रह्मकी उपासना करे—यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शाखामें ही भेद देखा जाता है। सब शाखाओंमें एक ही वस्तु प्रतिपादित नहीं है। किसी शाखामें विज्ञान और आनन्द स्वरूप वस्तु प्रतिपादित हो रही है तो दूसरी शाखामें कहा गया है कि ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय और अनन्त हैं इत्यादि। इस प्रकारसे नाना शाखाओंमें नाना रूप कहे गये हैं। अतएव सर्वशास्त्रोक्त ब्रह्मके पार्थक्यके कारण स्व-स्व शाखाओंमें उक्त ब्रह्मको जानें। यही कहा जा सकता है; तो ऐसा नहीं है। एक शाखामें *'आत्मेत्येवोपासीत कं ब्रह्म खं ब्रह्म'* इत्यादि रूपोंमें भेददर्शन (भिन्न-भिन्न उपास्य) है। वास्तवमें तो नाना शाखाओंमें नाना उक्तियाँ रहनेपर भी वस्तुका साम्य है। समस्त शाखाओंमें एक ही वस्तु अर्थात् एकमात्र ब्रह्म प्रतिपादित हुए हैं।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

सत्यज्ञानानन्तानन्द-मात्रैकरसमूर्त्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद् दृशाम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१३/५४)

अर्थात् वे सभी सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दमय और अद्वितीय विग्रह थे, उपनिषद्दर्शी तत्त्व—ज्ञानियोंकी दृष्टि भी उनकी अनन्त महिमाका स्पर्श नहीं कर सकती।

श्रीब्रह्माजीके वचनमें भी पाया जाता है—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/६/४०)

अर्थात् भगवान् निर्विशेषस्वरूप मायाके लेशमात्रसे रहित, उपाधिशून्य और विशुद्ध हैं। वे कर्त्ता-कर्म-करणके अभावके कारण केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, सबके अन्तरमें विराजित रहनेसे प्रत्यक् हैं, चारों दिशाओंमें ओत-प्रोत भावमें सम्यक् रूपसे अवस्थित होनेके कारण वे

सन्देहसे रहित हैं, व्याप्तिरूपसें सर्वत्र सत्तारूपमें स्थित होनेके कारण सत्य हैं, तारतम्य भावके कारणशक्ति, बल एवं ऐश्वर्यसे परिपूर्ण अपरिच्छिन्न हैं, जन्मादि विकारोंसे शून्य होनेके कारण वे अनादि एवं अनन्त हैं, सत्त्वादि मायिक गुणोंके संसर्गके अभावके कारण वे निर्गुण हैं, सर्वकालमें एक रूप, एक रसमें स्थिर होनेके कारण नित्य हैं, द्वितीय वस्तुके अभावके कारण वे अद्वय हैं॥ २॥

सूत्र—स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च॥ ३॥

सूत्रार्थ—'स्वाध्यायस्य'—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' श्रुतिके 'तथात्वेन' समस्त शाखा-साधारण्य रूपमें प्रवृत्तिके कारण समग्र वेद ही अध्ययनके योग्य है, 'हि'—क्योंकि 'समाचारेऽधिकाराच्च' शक्ति होनेपर समस्त वैदिक कर्ममें अधिकारवशतः भी ब्रह्म वेद्य (ज्ञेय) हैं॥ ३॥

सूत्रानुवाद—शाखाभेद एवं अधिकार भेद अशक्तोंके लिए हैं। सामर्थ्यवान्‌का सभी शाखाओं और सभी कर्मोंमें अधिकार है। अतः शक्तिवान समस्त शाखाओंमें ही साधना द्वारा ब्रह्मको जानें॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—*"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"* (मु॰ ३/२/१०) इति विधेस्तथात्वेन सर्वसाधारण्येन प्रवृत्तेः *"वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना"* इति स्मृतेश्च। समाचारे सर्वस्मिन् कर्मणि सत्यां शक्तौ सर्वेषामधिकाराच्च। स्मृतिश्चैवमाह—*"सर्ववेदोक्तमार्गेण कर्म कुर्वीत नित्यशः। आनन्दो हि फलं यस्माच्छाखाभेदो ह्यशक्तिजः। सर्वकर्मकृतौ यस्मादशक्ताः सर्वजन्तवः। शाखाभेदं कर्मभेदं व्यासस्तस्मादचीक्लृपत्"* इति। तथाच सर्वशाखोक्तैः साधनैर्ब्रह्म वेद्यं सत्यां शक्ताविति स्थितम्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'* अर्थात् स्वाध्याय (अपना-अपना) वेद अध्ययन करे—यह विधि-वाक्य जब साधारण रूपसे समस्त शाखाओंमें प्रवृत्त है, तब समग्र (शाखाओंसे समन्वित) वेदोंका ही अध्ययन किया जाना चाहिये। (यह समस्त वेदके अध्ययनकी प्रवृत्ति सर्वसाधारणके लिए विधि है) इस विषयमें स्मृति-वाक्य (मनुसंहिता-वाक्य) भी है, यथा मनु कहते हैं—*'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना'* अर्थात् द्विजाति रहस्यके साथ समग्र वेदका अध्ययन करे। *'समाचारे इति'*—इसके अतिरिक्त समस्त कर्मोंमें शक्ति

रहनेपर सभीका अधिकार भी वेदमें प्रतिपादित हुआ है। इस कारणसे समस्त शाखाओंमें उक्त साधनोंके द्वारा ब्रह्म वेद्य हैं। इस विषयमें स्मृति-वाक्य भी इसी प्रकार कहते हैं—*'सर्ववेदोक्तमार्गेणेत्यादि'* अर्थात् समस्त वेदोंमें कथित विधिके (मार्गके) अन ही नित्य (प्रत्येक दिन) वैदिक कर्म अनुष्ठेय है, क्योंकि उस कर्मका फल ब्रह्मानन्द है। तब जो शाखाभेद दिखाया गया है, उसकी व्यवस्था अशक्ति-पक्ष अर्थात् अधिकारीकी शक्तिके अभावमें की गयी है। सारे प्राणी सभी वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानमें असमर्थ रहते हैं—इसलिए असमर्थोंके लिए श्रीमन् वेदव्यासजीने शाखाभेद और कर्मभेदका (क्रियाभेदका) विधान किया है। इसलिए सिद्धान्त यही है कि समस्त शाखाओंमें जो-जो ब्रह्मज्ञानके उपाय (साधन) निर्दिष्ट हुए हैं, शक्ति होनेपर उन सभी साधनके द्वारा ब्रह्म ज्ञेय हैं॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—स्वाध्यायस्येति। स्वाध्यायो वेदः सोऽध्येतव्य इति विधेरित्यर्थः। वेद इति मनुः। समाचारे सम्यगाचारे समग्रे कर्मणीत्यर्थः। आनन्दो हीति चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मानन्दस्यापि कर्मफलत्वात्॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—*'स्वाध्यायस्येति'* सूत्रमें *'स्वाध्यायस्य तथात्वेन'* अर्थात् 'वेदका अध्ययन करे'—इस विधिके सर्व-साधारण रूपमें प्रवृत्तिके कारण (अर्थात् स्वाध्याय करें—यह विधि समस्त वेदके अध्ययनमें प्रवृत्त है—यह सर्वसाधारणके लिए है) *'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः'* इत्यादि वाक्य मनुके द्वारा कहे गये हैं। *'समाचारे'*—सम्यक् अनुष्ठानमें अर्थात् समस्त कर्म में। *'आनन्दो हि फलं यस्मादिति'*—कर्मानुष्ठानसे चित्त शुद्धि द्वारा ब्रह्मानन्द-प्राप्तिरूप फल उत्पन्न होता है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त सिद्धान्तको दृढ़ करनेकी इच्छासे सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि स्वाध्यायके सर्वसाधारण्य और सम्यक् आचारमें अधिकारवश भी पूर्वोक्त प्रकारसे मीमांसा करनी होगी।

वेदाध्ययन करनेकी विधि साधारण रूपसे समस्त शाखालम्बियोंको प्रदान की गयी है। इसलिए समस्त वेदोंको ही अधिगत करना होगा। इस विषयमें स्मृति प्रमाण भी है, जिसे भाष्यमें देखना चाहिये। आचारके सम्बन्धमें भी वेदमें इसी प्रकारकी विधि दी गयी है कि

शक्ति रहनेपर सभीका समस्त कर्मोंमें अधिकार है। इस विषयमें भी स्मृति-प्रमाण देखना चाहिये। अध्ययन अथवा कर्मका फल आनन्द अर्थात् ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति है। तब जो शाखा-भेद अथवा अधिकार-भेद देखा जाता है, वह केवल शक्तिके अभावमें ही व्यवस्थापित हुआ है। इसलिए सिद्धान्त यही है कि यदि शक्ति रहती है, तो सभी शाखाओंमें वर्णित सभी साधनोंके द्वारा ही ब्रह्मको जाना जाय।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (तै॰आ॰ २/१५/१) *इति सामान्यविधेः हि शब्दाद्वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मनेति स्मृतेः 'सर्वं वेदोक्तमार्गेण कर्म कुर्वीत नित्यशः। आनन्दो हि फलं यस्माच्छाखाभेदो ह्यशक्तिजः।' सर्वकर्मकृतौ यस्मादशक्ताः सर्वजन्तवः। शाखाभेदं कर्मभेदं व्यासस्तस्माद-चीक्लृपत् इति समाचारे सर्वेषामधिकाराच्च।'*

अर्थात् अब दूसरे हेतुको दिखाते हुए पूर्वोक्त अर्थका समर्थन करते हैं कि श्रुतिमें वेदाध्ययनकी सामान्य विधिका उल्लेख है अर्थात् एक-एक करके समस्त शाखाओंका ही अध्ययन करे। समस्त शाखाओंके अध्ययनमें सर्वसाधारणका ही अधिकार है। शाखा प्रतिपादित अर्थको जानना ही उस शाखाके अध्ययनका फल है। स्मृतिमें कहा है कि द्विजाति शक्ति रहनेपर समस्त वेदोंका अध्ययन करे। दूसरी शाखाओंमें कहा है कि समस्त वेदोक्त मार्गानुसार (नियमानुसार) ही समस्त कार्य करे। इससे आनन्द-फलकी प्राप्ति होती है। शक्ति न रहनेपर शाखाओंका भेद करके अध्ययन करे। सब जन्तु (प्राणी) समस्त कर्ममें अशक्त हैं अर्थात् वेदोक्त समस्त कर्मोंको करना सभी जीवोंके वशकी बात नहीं है इसलिए व्यासदेवने शाखा-भेदके अनुसार कर्म-भेदका निर्धारण कर दिया है जिससे सभी जीव अपनी शक्तिके अनुसार वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान सरलतासे कर सकें। अतएव ज्ञान होता है कि समस्त शाखाओंमें ही सभीका अधिकार है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्॥

त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः॥
(श्रीमद्भा॰ १/४/२३-२४)

अर्थात् पूर्वोक्त पैलादि ऋषियोंने जिस-जिस वेदका अध्ययन किया था, उन्हें (अपनी-अपनी शाखाके) और भी अनेक भागोंमें विभक्त कर दिया। ये विभक्त वेद पुनः शिष्य-प्रशिष्य और उनके भी शिष्योंकी परम्परासे बहुत-सी शाखाओंमें पुनर्विभाजित हो गये। ये विभक्त वेद भी मेधावी जनोंके ही बोधगम्य हैं, अल्प बुद्धि और कम स्मरण शक्तिवाले भी इन्हें समझ सकें—इस प्रकार विचार करके दीनवत्सल कृपालु भगवान् वेदव्यासने वेदका विभाग किया था।

श्रीमन् व्यासजीके शिष्य-प्रशिष्यादिके क्रमसे वेदकी बहुत-सी शाखाओंके विस्तारके विषयमें श्रीमद्भागवतके १२/६/५४ से ५५ और १२/७/१ से ७ श्लोक भी देखने चाहिये।

और भी,

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः॥

नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥
(श्रीमद्भा॰ २/५/१५-१६)

अर्थात् वेदके तात्पर्य-विषय हैं श्रीनारायण। वेदमें उन्हें ही 'उपास्य' रूपमें माना गया है। दूसरे देवता उपास्य रूपमें कहलाये जाते हैं, पर वे भी श्रीनारायणके श्रीअङ्गसे उत्पन्न हुए हैं। श्रीनारायणके प्रभावसे ही उनका प्रभाव है। वे श्रीनारायणके अधीन हैं। स्वर्गादि सम्पूर्ण लोक आदि भी उनके आनन्दांशके आभास-रूप-मात्र ही हैं। यज्ञ भी श्रीनारायण-परायण हैं अर्थात् उनकी प्राप्तिके लिए यज्ञ साधन-स्वरूप हैं। अष्टाङ्ग, सांख्य आदि सभी योग श्रीनारायण-परायण हैं, उनकी प्राप्तिके ही हेतु हैं। सारी तपस्याओंके परम कारण नारायण हैं, सभी तपस्याएँ उनकी ओर ही ले जाती हैं। तपस्याओंका साध्य ब्रह्म-ज्ञान उनके आंशिक स्वरूपको ही प्रकट कर पाता है। मोक्षके

भी परम विषय नारायण हैं, नारायणका तत्त्वज्ञापक जो ज्ञान है, उसका फल है मोक्ष और वह भी श्रीनारायणके अधीन है॥ ३॥

अवतरणिका भाष्य—व्यतिरेके दृष्टान्तमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके विपक्षमें दृष्टान्त दिखाते हैं—

सूत्र—सववच्च तन्नियमः॥ ४॥

सूत्रार्थ—'च' और 'सववत्' सव नामक होमके समान 'तद् नियमः' समस्त वैदिकोंके लिए ही वह ब्रह्मज्ञान नियमित है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—जिस प्रकार शाखान्तरीय (अन्यान्य शाखाओंमें) त्रिविध अग्नि न रहनेसे और आथर्वणिकोंकी एकमात्र अथर्ववेदमें विहित अग्नि रहनेसे ये सभी सव नामक होम उनके इसी अग्निमें सम्पादनीय हैं, उसी प्रकार ब्रह्मोपासना समस्त वैदिकोंका अनुष्ठेय है। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता होमविशेषाः यथाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते तदुक्तैकाग्निसम्बन्धात् एवं ब्रह्मोपासना सार्ववेद्यानामिति। सलिलवच्चेति पाठे तु यथा प्रतिबन्धाभावे सर्वाणि सलिलानि समुद्रं प्रयान्ति तथा सर्वाण्यपि वचांसि ब्रह्मावेदयन्तीति नियमः शक्त्यपेक्षया। *"यथा नदीनां सलिलं शक्त्या सागरतां व्रजेत्। एवं सर्वाणि वाक्यानि पुंशक्त्या ब्रह्मवित्तये"* इति स्मरणात् (अग्नि पुराण)॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सव शब्दका अर्थ है सौर्य इत्यादिसे लेकर शतौदन पर्यन्त सातों होम विशेष। ये सभी होम जिस प्रकारसे अथर्व-वेदाध्यायियोंके लिए अवश्य कर्त्तव्य रूपमें विहित हैं, उसी प्रकार समस्त वेदाध्यायियोंकी ही ब्रह्मोपासना नियमसिद्ध है। अथर्व-वेदाध्यायियोंका यह होम उस वेदोक्त (एकर्षि नामक) एकाग्निमें करणीय है, इसलिए वह आथर्ववणिकोंका नियमानुबन्धी है। किसी-किसी (तत्त्ववादी) ग्रन्थमें 'सववच्च' स्थलपर 'सलिलवच्च' यह पाठ भी है, इसका अर्थ है कि जैसे कोई प्रतिबन्धक न रहनेपर समस्त जल समुद्रमें प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार समस्त वेद-वाक्य ब्रह्मज्ञानमें पर्यवसित होते हैं अर्थात् समस्त वेद-वाक्योंको ब्रह्मबोधक जानना

चाहिये। तब ब्रह्मज्ञान जो वैदिक मात्रका नियमित है, उसे नियम-शक्तिकी अपेक्षासे जानना चाहिये। स्मृतिवाक्य (अग्निपुराण) में इसी प्रकार कहा जा रहा है—'यथेत्यादि' अर्थात् जिस प्रकार नदियोंका जल शक्तिके अनुसार अर्थात् बाधा न रहनेपर स्वाभाविक निम्नगामित्व शक्तिसे सागरमें जाता है, उसी प्रकार समस्त वेद-वाक्य अधिकारी पुरुषकी शक्तिके अनुसार ब्रह्मज्ञानके लिए उपयोगी है॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—सवच्चेति। सवाः सप्तहोमाः सौर्यादयः शतौदनास्ताः। ते हि शाखान्तरोक्तत्रेताग्न्यसम्बन्धादथर्वोक्तैकाग्निसम्बन्धच्चैकाग्नीनामाथर्वणिकानां यथानुष्ठेयान्तथा ब्रह्मोपासना सार्ववेद्यानामिति दृष्टान्तोह्यं व्यतिरेकी बोध्यः। सर्ववेदानधीयते सर्ववेदाः सर्वादेः सादेश्च लुग्वक्तव्य इति ठको लुक्। तस्माच्चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्च। सर्ववेदाध्यायिनामित्यर्थः। सलिलवच्चेति तत्त्ववादिनां पाठः। यथा नदीनामित्याप्नेयवाक्यम्। वाक्यानि वेदवचांसि॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—'शाखा-भेदसे अधिकार-भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता'—इसके विपक्षमें दृष्टान्त है जिस प्रकार शाखा-स्तरीय त्रिविध-(आह्वनीय, दक्षिणग्नि एवं गार्हपत्य) अग्नि न रहनेके कारण एवं आथर्वणिकोंके एकमात्र अथर्ववेदमें विहित अग्निके कारण वह समस्त 'सव' नामक होमसमूह उनके इसी ऋषिसंज्ञक अग्निमें सम्पादनीय होते हैं, उसी प्रकारसे ब्रह्मोपासना भी सभी वैदिकोंके लिए अनुष्ठेय है—यह विपक्षमें दृष्टान्त है। *'सार्ववेद्यानाम्'* पदकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—जो समस्त वेदका अध्ययन करते हैं—इस अर्थमें सर्ववेद शब्दके उत्तरमें ठक् प्रत्यय, दूसरे *'सर्वादेः सादेश्च लुग् वक्तव्यः'* सर्व इत्यादि शब्दोंके अथवा मकारादि प्रातिपादकोंके उत्तरमें विहित ठक् प्रत्ययका लुक् (लोप) होता है। इस वार्त्तिकानुसार 'ठक्' प्रत्ययका लुक् है, अब इसके बाद चातुवर्ण्य इत्यादि के अन्तर्गत होनेके कारण स्वार्थेष्यञ् (य, ञ, इत्) आदि स्वरकी वृद्धि होनेसे इसका अर्थ है—समस्त वेदके अध्ययन करनेवालोंका। 'सववत्' स्थानपर 'सलिलवच्च' यह पाठ तत्त्ववादियोंका है। *'यथा नदीनाम्'* श्लोक अग्निपुराणमें कहा गया है। *'एवं सर्वाणि वाक्यानि'* इति—वाक्यानि अर्थात् वेद-वाक्य॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब व्यतिरेक दृष्टान्त दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि 'सववत्' अर्थात् सव नामक होमके समान समस्त

वैदिकोंके लिए ही इस नियमको जानना होगा अर्थात् ब्रह्मोपासनामें ही समस्त वेदकी विधि है, यह जानना होगा। इस विषयमें विस्तारपूर्वक आलोचना भाष्यमें है।

श्रीमध्व भाष्यमें पाया जाता है—

'यथा सर्वं सलिलं समुद्रं गच्छति एवं सर्वाणि वचनानि ब्रह्मज्ञानार्थानीति नियमः। आग्नेये च यथा नदीनां सलिलं शक्ये सागरगं भवेत्। एवं सर्वाणि वाक्यानि पुंशक्त्या ब्रह्मवित्तये इति।'

अर्थात् यदि सभी शाखाओंमें कहे गये प्रकारोंसे ध्यानाधिकार कहा गया होता, तो मन्दाधिकारियोंका ध्यान हो नहीं सकता था—इस आशङ्कासे कहते हैं—जिस प्रकारसे समस्त प्रकारके जलोंका एकमात्र आयतन समुद्र है, यही नियत (नियम द्वारा नियमित) है, उसी प्रकार सर्ववेदोक्त सभी प्रकारोंसे ध्यानेच्छुकोंके लिए एकमात्र ब्रह्म ही ज्ञातव्य हैं। आग्नेयपुराणमें लिखा है कि जिस प्रकार समस्त नदियोंका जल सागरमें जाता है, उसी प्रकार समस्त वाक्य ही ब्रह्म-विज्ञानके कारण-भूत हैं अर्थात् सारे वेद-वाक्य ब्रह्मज्ञानके लिए ही हैं। अतएव जाना जाता है कि मन्दबुद्धि अपनी शक्तिके अनुसार जो किसी-किसी शाखाका अध्ययन नहीं कर सकते तो, उसी निज शाखासे ही उनके ध्यानकी सिद्धि हो सकती है।

श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/३-४)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जिस वेदवाणीके द्वारा भागवत् धर्मका वर्णन किया गया है, प्रलयमें कालके प्रभावसे वह लुप्त हो गयी थी, फिर सृष्टिका समय आया, तब मैंने अपने सङ्कल्पसे ही ब्रह्माको इस वेद नामक वाणीका उपदेश किया था। ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उपदेश किया और उनसे

भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु—इन सात प्रजापति-महर्षियोंने ग्रहण किया।

तथा,

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत् तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/१२)

हे उद्धव! जो अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, ऐसे विषय-वासनाशून्य व्यक्तिके हृदयमें मेरे परमानन्द-स्वरूपकी स्फुर्ति होनेसे जो सुख होता है, विषयोंमें आसक्त पुरुषोंको वह सुख किस प्रकारसे सम्भव है? अर्थात् किसी प्रकारसे सम्भव नहीं है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

वेदशास्त्र कहे सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन।
कृष्ण, कृष्णभक्ति, प्रेम—तिन महाधन॥

वेदादि सकल शास्त्रे कृष्ण-मुख्य सम्बन्ध।
ताँर ज्ञाने आनुषङ्गे याय मायाबन्ध॥

(चै॰च॰म॰ २०/१४३-१४४)

अर्थात् वेद एवं शास्त्रोंके अध्ययनसे यह जाना जा सकता है कि सम्बन्ध (जीव एवं ईश्वरका सम्बन्ध), अभिधेय (ईश्वर-प्राप्तिका साधन) और प्रयोजन (श्रीकृष्णके प्रति प्रेम) क्या तत्त्व हैं। इस तरह बोध होता है कि श्रीकृष्ण ही प्राप्य सम्बन्धतत्त्व हैं, अभिधेय अर्थात् भक्ति ही उनकी प्राप्तिका साधन है और उनकी सेवा-प्राप्तिके लिए प्रेम ही प्रयोजन है। अतः कृष्ण, कृष्ण-भक्ति और प्रेम—ये तीन महाधन हैं। यह जाननेसे अर्थात् श्रीकृष्णमें सम्बन्ध स्थापित हो जानेसे परम धन प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है और आनुषङ्गिक रूपसे मायाका बन्धन भी समाप्त हो जाता है।

पद्मपुराणमें भी द्रष्टव्य है—

व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा-
स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि।

सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुः समस्तागम-
व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते॥
(पातालखण्ड वचन ९३/२६)

अर्थात् अन्यान्य देवी-देवताओंको सम्बन्धतत्त्व या परतत्त्व बतलानेवाले पुराण एवं आगमादि शास्त्र अर्थात् तन्त्रादि शास्त्र उन समस्त चराचर जगत्-वासियोंको, जो पुराणादिका सम्यक् विचार करनेमें असमर्थ हैं— विशेष रूपसे मोहित करनेके लिए कल्पकाल तक उन देवी-देवताओंको श्रेष्ठ कहकर जल्पना करते रहें तो किया करें, किन्तु समस्त आगमादि शास्त्रोंकी रूढ़ि आदि वृत्तियों द्वारा सम्यक् विचार करनेपर जो सिद्धान्त उपनीत होता है, उस सिद्धान्तके अनुसार एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ रूपमें सम्बन्धतत्त्व अथवा साध्यतत्त्व निश्चित होते हैं॥ ४॥

अवतरणिकाभाष्य—वाचनिकमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस विषयमें श्रुति-प्रमाण भी दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—वाचनिकमिति सर्ववेदवेद्यत्वमित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'वाचनिकमित्यादि'*—श्रीहरिका सर्व-वेद-वेद्यत्व—यह वाचनिक अर्थात् श्रुति-प्रमाण भी है।

सूत्र—दर्शयति च॥ ५॥

सूत्रार्थ—'दर्शयति' सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति—'समस्त वेद जिस ब्रह्म-पदका वर्णन करते हैं'—यह श्रुति भी श्रीहरिके सर्ववेद-वेद्यत्वको दर्शाती है। 'च' शब्दका अर्थ है 'शक्तिके होनेपर'॥ ५॥

सूत्रानुवाद—जिनकी उपासना सम्पूर्ण वेदान्तका विषय है, और उनमें जो निहित है, वही अन्वेषणीय है—इस प्रकार श्रुति स्वयं ही उपासनाकी दृष्टिसे विभिन्न वेदान्तमें उल्लिखित विद्याकी एकता बतलाती है॥ ५॥

गोविन्दभाष्य— *"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"* (कठ॰ १/२/१५) इति श्रुतिः सर्ववेदवेद्यत्वं श्रीहरेर्दर्शयति। च-शब्दः सत्यां शक्तावित्याह। तथाच शक्तैः

सर्वशाखोक्तैः साधनैर्ब्रह्मोपास्यं, अशक्तैस्तु स्वशाखोक्तैस्तैरिति सर्ववेदवेद्यं तत्। यद्यपि *"तत्तु समन्वयात्"* (वे॰सू॰ १/१/४) इत्यनेनैतत् प्राग्वर्णितं तथाप्यत्र गुणोपसंहारोपयोगाय विधान्तरेण प्रपञ्चितम्। स्थैर्यफलकत्वाच्च पौनरुक्तं न दोषः॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'* (कठ॰ १/२/१५) अर्थात् सारे वेद जिस ब्रह्मपदका वर्णन करते हैं—इस प्रकार यह श्रुति श्रीहरिके सर्ववेद-वेद्यत्वका ज्ञापन करती है। सूत्रोक्त 'च' शब्दका अर्थ है—शक्तिके होनेपर। इस तरह सूत्रका सम्पूर्ण अर्थ हुआ—शक्तियुक्त सभी व्यक्ति समस्त शाखाओंमें वर्णित साधनोंका अनुष्ठान करते हुए ब्रह्मकी उपासना करें और अशक्त व्यक्ति स्वशाखा-निर्दिष्ट साधनोंके द्वारा ब्रह्मकी उपासना करें। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि वे ब्रह्म ही सर्ववेदवेद्य हैं। यद्यपि प्रथम अध्यायके प्रथम पादमें उक्त *'तत्तु समन्वयात्'* सूत्रके द्वारा इस विषयको पहले ही विशुद्ध रूपसे वर्णित कर दिया था, तो भी यहाँ गुणोपसंहारके उपयोगार्थ अर्थात् पुनरुक्त समस्त गुणोंका ही ब्रह्ममें समन्वय उपयोगी है—यह सूचित करनेके लिए प्रकाशान्तरसे उसका पुनः विस्तार किया गया है। यद्यपि इसमें आपाततः पुनरुक्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसा नहीं है। स्थिरता एवं दृढ़ताके उद्देश्यसे यह पुनरुक्ति दोषावह नहीं है॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—दर्शयतीति। यद्यपीति। एतत् सर्ववेदवेद्यत्वम्॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'दर्शयति च'* इस सूत्रमें *'यद्यपि'* इत्यादि वाक्यके *'एतत् प्राग् वर्णितम्'* में 'एतत्' का अर्थ है—सर्ववेदवेद्यत्व॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब वाचनिक प्रमाण दिखाते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमे कहते हैं कि श्रुतिमें भी इस प्रकारके वचन हैं, यथा *'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'* (कठ॰ १/२/१५)।

इस प्रकारसे समस्त श्रुतियाँ ही श्रीहरिके सर्ववेदवेद्यत्वकी तार (उच्च) स्वरसे घोषणा करती हैं। 'च' शब्दसे जाना जाता है 'शक्ति होनेपर' अर्थात् शक्ति रहनेपर समस्त शाखाओंमें वर्णित साधनोंके द्वारा उपासना करना ही विधि है और शक्तिका अभाव रहनेपर स्वशाखोक्त साधनोंके द्वारा परब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये।

श्रीमध्वभाष्यमें द्रष्टव्य है—

'सर्वैश्च वेदैः परमो हि देवो जिज्ञास्योऽसौ नाल्पवेदैः प्रसिद्ध्येत्। तस्मादेनं सर्ववेदानधीत्य विचार्य च ज्ञातुमिच्छेन्मुमुक्षुरिति चतुर्वेदशिखायाम्। सर्वान् वेदान् सेतिहासान् सपुराणान् सयुक्तिकान् सपञ्चरात्रान् विज्ञाय विष्णुर्ज्ञेया न चान्यथेति ब्रह्मतर्के।'

अर्थात् समस्त वेदादिकी पर्यालोचना करके परमात्माका ध्यान करें। चतुर्वेदशिखामें वर्णन है कि समस्त वेदोंके द्वारा ही परमात्माका ध्यान हो सकता है, केवल कुछ ही वेद-शाखाओंमें उनका ज्ञान साधित नहीं है। अतएव मुमुक्षुगण समस्त वेदोंका अध्ययन करके विचारपूर्वक परमात्माको जाननेका प्रयत्न करें—ऐसा चतुर्वेदशिखामें स्पष्ट उल्लेख है। ब्रह्मतर्कमें भी यही समर्थन किया गया है कि समस्त वेद, इतिहास और समस्त पुराणोंकी युक्ति और पञ्चरात्र इत्यादिका मर्म जानकर विष्णुको जाननेकी चेष्टा करें, क्योंकि अन्य किसी प्रकारसे विष्णु परिज्ञात नहीं होते।

श्रीमद्भागवतमें भी है—

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः।
तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम्॥

यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/१२-१३)

अर्थात् श्रीसनन्दनने कहा—हे मुनियो! प्रातःकाल होनेपर सम्राट्के अनुजीवी बन्दीजन उसके समीप आकर जिस प्रकार उसके सुयश एवं पराक्रमका स्तुति गान करके उन्हें जगाते हैं, उसी प्रकार प्रलयके समय परमेश्वर भी स्वरचित ब्रह्माण्डको अपनेमें लीन करके सोये-से रहते हैं, उनकी शक्तियाँ भी सुप्त रहती हैं। प्रलयके अन्तमें जब अगली सृष्टिका समय आता है, तब उनके प्रथम निःश्वाससे प्रकट श्रुतियाँ उनके माहात्म्य प्रतिपादक वचनोंके द्वारा उन्हें जगाती हैं॥५॥

अवतरणिका भाष्य—यदर्थं सर्ववेदवेद्यत्वं समर्थितं तमिदानीं गुणोपसंहारं दर्शयति। तथाहि—अथर्वशिरःसु क्वचिद्गोपरूपं तमालश्यामलं पीतवासः कौस्तुभभूषणं-

पिच्छावतंसं वंशकमनीयं गोगोपगोपीविशिष्टं गोकुलाधिदैवतं ब्रह्मस्वरूपं पठ्यते। *"तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभम्"* इत्यादिना। क्वचिजानकीमण्डितवामभागं कोदण्डकरं दशास्यादिरक्षोघ्नमयोध्याधिपं तत् पठ्यते। *"प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासाजटाधरः। द्विभुजः कुण्डलौ रत्नमाली धीरो धनुर्द्धर"* इत्यादिना। क्वचिदतिकरालवक्त्रं वित्रासितद्रुहिणादिकं नृसिंहवपुस्तत् पठ्यते। तन्मन्त्रस्थ-भीषणपदव्याख्याने अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति। *"यस्माद्यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्चिन्न विभेति।" "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम्"* इत्यनेन (तै॰ २/८/१)। ऋचि तु त्रिविक्रमरूपं पठ्यते। *"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। यो अस्कम्भयदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय"* इति। अत्र द्रव्यदेवताभेदाद् यागभेदवत् गुणभेदादुपासनानि भिन्नानीति प्रतीयते। इह संशयः। एकस्मिन्नुपासने श्रुता गुणाः परस्मिन्नुपसंहार्या न वेति। एकत्र पठितेर्गुणैर्विद्योपकारकत्वसम्भवादितरत्रोकास्ते नोपसंहार्याः फलानतिरेका-द्विरोधाच्चेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जिसके लिए श्रीहरिका सर्ववेदवेद्यत्व युक्ति एवं प्रमाण द्वारा स्थापन किया गया है, अब उसी गुणोपसंहार (गुण-समन्वय) को दिखाते हैं। यया अथर्वशिराग्रन्थमें किसी एक स्थानपर पढ़ा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण गोपरूपधारी, तमाल वृक्षके समान श्यामलकान्ति, पीताम्बरधारी, वक्षमें कौस्तुभ-आभरणसे विभूषित, मस्तकपर मयूरपिच्छ-भूषणसे अलंकृत, कमनीय-वंशीधारी, गो-गोप-गोपीसे परिवृत्त, गोकुलके अधिष्ठातृदेव एवं ब्रह्म स्वरूप हैं। पुनः गोपालोपनिषदमें पढ़ा जाता है कि *'तदुहोवाच ... अभ्रामम्'* इति। यहाँ हिरण्यगर्भ ब्रह्माने उन परब्रह्मका गोपवेशधारी, नीलजलदकान्ति इत्यादि रूपोंमें वर्णन किया है। किसी स्थलपर—श्रीरामोपनिषदमें ब्रह्मके विषयमें इस प्रकार कहा गया है, यथा वे वामभागमें स्थित जानकी द्वारा सुशोभित हैं, हाथमें धनुष धारण किये हुए हैं, दशवदन-रावणादि राक्षसका वध करनेवाले हैं, अयोध्याधिपति हैं इत्यादि। इसका प्रमाण है यथा *'प्रकृत्या सहितः'* इत्यादि। वे प्रकृति-स्वरूपा सीतादेवीसे समन्वित, श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, जटाधारी, द्विभुज, कुण्डलधारी एवं रत्नमालासे विभूषित, धीर-प्रकृति, धनुर्धारी इत्यादि वाक्यके द्वारा रामरूपमें वर्णन हुआ है। नृसिंहोपनिषदमें वे नरसिंहाकारमें वर्णित हैं

यथा वे अति करालमुख हैं और ब्रह्मादि देवताओंको भीति प्रदान करनेवाले हैं। उनके उपासना-मन्त्रोंमें *'नृसिंहं भीषणं भद्रम्'* इत्यादि पठित हैं—इस मन्त्रमें भीषण पदकी व्याख्यामें नृसिंहोपनिषदमें प्रश्न करते हुए समाधान किया है—*यथा अथेति।* अच्छा! किस कारणसे उन्हें भीषण कहा जाता है? इसका उत्तर है—उनकी आकृतिको देखकर मनुष्य, देवता एवं अन्यान्य सभी प्राणी भयसे पलायन कर जाते हैं, किन्तु वे स्वयं किसीसे भी भयभीत नहीं होते। उनके भयसे वायु बहती है, उनके भयसे सूर्य उदित होता है, अग्नि एवं इन्द्र भी उनके भयसे दौड़ते हैं और पञ्चम संख्यक मृत्यु भी उनके भयसे धावित होती है। ऋग्वेदमें उनका त्रिविक्रमरूप पढ़ा जाता है, यथा *'विष्णोर्नु कं ... उरुगायः'* अर्थात् विष्णुकी महिमा क्या यथायथ रूपसे वर्णन की जा सकती है? जो पृथ्वीकी धूलिकी गणना कर सकता हो, ऐसा व्यक्ति भी उनकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकता। जिन विष्णुने तीन प्रकारसे पदक्षेप करके निखिल देवोंके साथ ऊर्ध्वलोक अर्थात् सत्यलोक पर्यन्त ऊर्ध्वभागोंका आक्रमण कर लिया था, वे उरुगाय है अर्थात् सबके स्तवनीय हैं। इस प्रकरणमें यह प्रतीत होता है कि द्रव्य तथा देवताके भेदमें यागभेदके (अग्निहोत्रादिके) समान गुणभेदसे (अङ्गकर्मसे) भी उपासनाएँ विभिन्न हैं। इसमें संशय यह है कि एक उपासनामें श्रुत गुण अन्य उपासनामें ग्रहणीय हैं कि नहीं। पूर्वपक्षी कहते हैं—एक उपासनामें श्रुत गुणों द्वारा जब ब्रह्म-विद्याका उपकार सम्भव है, तब अन्योपासनामें वर्णित गुण फिर वहाँ ग्रहणीय नहीं हैं क्योंकि इसमें फल-विशेष नहीं है तथा परस्पर विरोध है। इस पूर्वपक्षीय सिद्धान्तके खण्डनके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—यदर्थमित्यादि। पूर्वन्यायेन सर्ववेदवेद्यत्वे हरेः सिद्धे तस्योपासने सर्वे गुणा उपसंहार्याः स्युरित्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावं सङ्गमयति यदर्थमिति। तदु हेति श्रीगोपालोपनिषदि। हैरण्यो ब्रह्मा। प्रकृत्येति श्रीरामोपनिषदि। प्रकृत्या सीतया। श्यामो दुर्वादलवत्। जटाधर इति वनवासकालिकमेतद्बोध्यम्। अथ कस्मादिति नृसिंहोपनिषदि। यस्मादिति। यस्य नृसिंहस्य रूपं दृष्ट्वेत्यर्थः। स्वयमिति। नृसिंह इत्यर्थः। भीषा भीत्या। विष्णोरिति। कमिति क इत्यर्थः। प्रवोचमित्यत्राडागमाभावश्छान्दसः। विष्णोर्वीर्याणि कः प्रकर्षेणावोचदित्यर्थः। यः

पार्थिवान्यपि रजांसि विममे गणितवान् सोऽपि यो विष्णुस्त्रेधा विचक्रमाणः त्रिविक्रमं कुर्वन् उत्तरमूर्द्धलोकम् अस्कस्भयत् अवष्टब्धवान्। कीदृशं ऊर्द्धलोकम्—सधस्थं निखिलदेवसहितं तिष्ठन्तीति स्था देवाः सहशब्दस्य सधादेशः तैः सहितं सत्यलोकपर्यान्तमूर्द्धलोकमित्यर्थः। एकस्मिन्निति। एकशाखोक्तोपासने कतिपयगुणवति शाखान्तरोक्ताधिकगुणानामुपसंहारः कार्यो न वेत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'यदर्थमित्यादि'*—इस अधिकरणमें पूर्वाधिकरणके साथ हेतुहेतुमद्भाव (कार्यकारणभाव) रूप सङ्गति वर्त्तमान है क्योंकि पूर्वाधिकरण द्वारा श्रीहरिके सर्ववेदवेद्यत्व सिद्ध होनेपर उनकी उपासनामें समस्त गुण ग्रहणीय होते हैं— *'यदर्थम्'* इत्यादि वाक्य द्वारा इस सङ्गतिका समन्वय करते हैं। *'तदु होवाच'* इत्यादि श्रुति श्रीगोपालोपनिषदसे उद्धृत है। *'हैरण्यः'* अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा। *'प्रकृत्या सहितः श्यामः'* इत्यादिमें 'प्रकृत्या' का अर्थ है सीतादेवीके साथ विद्यमान। 'श्यामः' का अर्थ है—दूर्वापत्रके समान श्याम वर्ण। 'जटाधरः' अर्थात् जटाधारी, वनवास-कालमें ही जटा-धारण जानना चाहिये, सब समय नहीं। *'अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति'*—यह श्रुति नृसिंहतापनीयोपनिषदमें है। *'यस्माद् यस्य रूप दृष्ट्वेति'* इत्यादिमें 'यस्य' अर्थात् जिन नृसिंहदेवका रूप देखकर—यह अर्थ है। *'स्वयं यतः कुतश्चिन्न विभेति'* इत्यादि में स्वयं अर्थात् नृसिंहदेव स्वयं 'भीषा'—भयसे। *'विष्णोर्नुकमित्यादि'* अर्थात् विष्णुकी महिमाको कौन प्रकृष्ठ रूपसे जान सकता है? यह अर्थ है। यहाँ 'कम्' पद 'कः'—'के' इस अर्थमें है। 'प्रवोचम्' पदमें 'अट्' आगमका अभाव छान्दस (वैदिक) है, इस प्रकारसे विभक्ति-व्यत्यय भी जानें। (प्रावोचम् स्थलपर 'प्रवोचम्' का प्रयोग है) श्रुतिका समुदायार्थ है—विष्णुकी गुणावलीको कौन सम्यक् रूपसे जान सका है—जो पृथ्वीकी (भूमि) धूलिको गिन सकता हो, वह भी इस विषयमें अक्षम-असमर्थ है। किस प्रकारके विष्णुके? जिन विष्णुने तीन रूपसे पदक्षेप करके ऊर्ध्वलोकको आक्रमण किया है, किस प्रकारका ऊर्ध्वलोकको 'सधस्थम्'—सकल देवताओंके साथ। 'सधस्थ' पदका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ इस प्रकार है—'तिष्ठन्ति' जो स्थितिशील, अमर हैं वे 'स्थ' हैं उनके सहित—इस अर्थमें सह शब्दके स्थानपर 'सध' आदेश (वैदिक) है;

अतएव देवताओंके साथ स्थित सत्यलोक पर्यन्त उर्ध्वलोक—यह अर्थ है। *'एकस्मिन्नुपासने'* इत्यादि में 'एकस्मिन्' का अर्थ है एक शाखामें उक्त उपासनामें यदि कुछ गुण वर्णित रहते हैं तब उसमें शाखान्तरमें उक्त गुणोंका उपसंहार करना चाहिये कि नहीं—यह संशय है—

उपसंहाराधिकरणम्

सूत्र—उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च॥ ६॥

सूत्रार्थ—'समाने च' उपासना समान होनेपर ही 'उपसंहारः' गुणोंके अन्य क्षेत्रमें उपसंहार अर्थात् समन्वय करणीय है; हेतु क्या है? 'अर्थाभेदाद्'—अर्थ-ब्रह्मरूप उपास्यका सर्वत्र ऐक्य—यही हेतु है। दृष्टान्त है—'विधिशेषवद्'—जिस प्रकार अग्निहोत्रादि धर्मोंका सर्वत्र उपसंहार ग्रहण होता है, इसी प्रकार॥ ६॥

सूत्रानुवाद—जिस प्रकार अग्निहोत्र होम सभी शाखाओंमें एक ही प्रकारका है, अतः उसके अङ्ग यागोंकी सर्वत्र उक्ति न रहनेपर भी उनका ग्रहण अथवा अन्वेषण सर्वत्र ही करणीय है, उसी प्रकार श्रीहरिके सर्वत्र एकरूपत्वके कारण गुणोंका उपसंहार होगा॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—च-शब्दोऽवधारणे। उपासने समाने सति शुद्धब्रह्मैकविषयत्वेन तुल्यरूप एव सत्येकत्रोक्तानां गुणानाम् इतरत्रोपसंहारः कार्यः। कुतः? अर्थाभेदात्। अर्थस्य ब्रह्मलक्षणस्योपास्यस्य सर्वत्रोभेदादैक्यात्। अत्र दृष्टान्तो विधीति। विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां क्वचिदुक्तानामस्यत्रानुक्तानाञ्च तेषां यथा भवेदुप-संहारस्तदेवेदमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रेति तद्वत्। अथर्वशिरसि *"यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः"* इति श्रीरामचन्द्रे मत्स्यादिरूपत्वमुपसंहृतम्। *"एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति"* (गो॰ता॰पू॰ २१) इति श्रीकृष्णे रामादित्वम्। *"नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च"* इत्याद्या स्मृतिरूप्येवमाह। इत्थमन्यत्र चान्यत्॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द अवधारण अर्थमें है। तात्पर्य यह है कि उपासना समान होनेपर ही उपसंहार (ग्रहण) करना होगा, अन्यथा नहीं। उपासना समान होनेपर अर्थात् एकमात्र शुद्ध (निरुपाधि) ब्रह्मविषयकत्व होनेके कारण उपासना अवश्य तुल्यरूप है। उपासना

समान होनेपर उपसंहार करणीय होता है। अतः एक शाखामें उक्त गुणोंका अन्य उपासनामें ग्रहण (उपसंहार) करना चाहिये। कारण क्या है? *'अर्थाभेदात्'*—अर्थका अर्थात् उपास्यरूप ब्रह्मका सर्वत्र ऐक्य है अर्थात उपास्य ब्रह्म एक ही हैं। इस विषयमें दृष्टान्त दिखाते हैं—*'विधि शेषवत्'*—सर्ववेदोक्त विधिशेष अग्निहोत्रहोमके अङ्ग जिस प्रकार कहीं उक्त हैं और कहीं अनुक्त; इन सभीकी अग्निहोत्र मात्रमें ही (उपसंहृति) ग्राह्यता है, क्योंकि ये अग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्र एक हैं, इसी प्रकार उपास्य श्रीहरि सर्वत्र एक हैं, अतएव उनके समस्त गुणोंकी ही ग्राह्यता है, चाहे वे कहीं उल्लिखित हो या अनुल्लिजखित। अथर्वशिराग्रन्थमें कहा गया है कि जो श्रीरामचन्द्र हैं, वे ही भगवान् हैं, और जो मत्स्य-कूर्मादि अवतार हैं, वे भी श्रीरामचन्द्र हैं। ये ही भूः भुवः स्वः तीन व्याहृतियाँ (ईश्वरपरक शब्द) हैं, इन्हें बार-बार प्रणाम है। इस श्रुतिमें श्रीरामचन्द्रमें मत्स्य-कूर्मादि-रूपत्वका उपसंहार किया गया है। *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* अर्थात् जो (श्रीकृष्ण) एक होकर भी रामादि बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। इस श्रुतिमें श्रीकृष्णमें रामादि रूपोंका उपसंहार हुआ है। स्मृति-वाक्य (श्रीमद्भागवत १०/४०/२०) इसी प्रकार कहते हैं, यथा—*'नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च'* अर्थात् आप ही रावणका ध्वंस करनेवाले राघवश्रेष्ठ हैं। आपको नमस्कार है। स्मृतिमें भी इसी प्रकारसे कहा गया है। अन्य ग्रन्थोंमें भी यह जातीय वाक्य अनुसन्धेय एवं ग्रहणीय है॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—उपसंहार इति। एकत्रेति। यत्रोपासने यावन्तो गुणाः पठितास्तावद्भिरेव तैर्मोक्षफलसिद्धनेर्तरे गुणास्तत्रोपसंहार्या इत्यर्थः। विधिशेषेति। अग्निहोत्रस्य सर्वत्रैक्यात् तच्छेषाणां यथोपसंहारस्तथा हरेः सर्वत्रैक्यात्तद्गुणानां स इत्यर्थः। एकोऽपीति। बहुधा श्रीदाशरथिनृहरिवराहादिरूपेणेत्यर्थः। नमन्त इति श्रीदशमेऽक्रूरोक्तिः। इत्थमिति। अन्यत्र ग्रन्थान्तरेस्वन्यदेवंजातीय वचनमन्वेषणीयं ग्राहञ्चेत्यर्थः॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—*'उपसंहार'* इत्यादि सूत्रमें *'एकत्रोक्तानां गुणानामित्यादि'* भाष्य है—अर्थात् जिस उपासनामें जितने भी गुण पठित हैं, उन सबके द्वारा मोक्ष-सिद्धि होनेके कारण अन्यान्य गुणोंका उसमें उपसंहार करणीय नहीं है। उपासना तुल्य (समान) होनेपर ही गुणोंका उपसंहार

होगा, इस विषयमें दृष्टान्त दिखाते हैं—*'विधिशेषवत्'*—जिस प्रकार अग्निहोत्र होम सभी शाखाओंमें एक-रूप है, अतः उसके अङ्ग यज्ञ-यागोंकी सर्वत्र उक्ति (उल्लेख) न रहनेपर भी उनका ग्रहण सर्वत्र करणीय है, उसी प्रकार श्रीहरिका सर्वत्र एकरूपत्व है, इसी कारणसे उनके गुणोंका उपसंहार होगा, यह तात्पर्य है। *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* बहुधा अर्थात् श्रीदाशरथि—नृसिंह इत्यादि रूपोंमें। *'नमस्ते रघुवर्याय'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें अक्रूरके स्तवमें है। *'इत्थमन्यत्र चान्यत्'* इति अन्यत्र अर्थात् ग्रन्थान्तरमें, 'अन्यत्' यह जातीय वाक्य अन्वेषणीय और ग्रहणीय है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—गुणोपसंहारके प्रदर्शनके लिए ब्रह्मके सर्ववेद-वेद्यत्वकी युक्तियों एवं प्रमाणोंके (निश्चित निश्चयोंके) द्वारा स्थापना करनेके बाद पुनः उस गुणोपसंहारका समर्थन करते हैं।

समग्र वेद एक अद्वितीय ब्रह्मका वर्णन करते हैं, तो भी विभिन्न शास्त्रोंमें उपास्यतत्त्वके विभिन्न रूपों एवं गुणोंका परिचय पाया जाता है—भाष्यमें इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है। द्रव्य और देवता भेदसे जिस प्रकार याग-भेद दिखायी देता है, इसी प्रकार यहाँ भी गुण-भेदसे उपासनाका भेद प्रतीतमान होता है। अतएव इस स्थलपर एक संशय यह है कि एक उपासनामें श्रुत गुण अन्य उपासनामें ग्रहणीय है कि नहीं? पूर्वपक्षीका मत है कि एकत्र (एक स्थानपर) उल्लिखित गुणोंके द्वारा जब ब्रह्मविद्याका उपकार सम्भव है, तब अन्यत्र उक्त गुणोंके उपसंहारका कोई और प्रयोजन नहीं है। कारण कि इसमें विशेष फल भी नहीं है, बल्कि परस्पर विरोध है। पूर्वपक्षीके इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उपासना समान होनेपर गुणोंका उपसंहार (ग्रहण) कर लेना चाहिये क्योंकि उपास्य ब्रह्म सर्वत्र ही एक है। इस विषयमें दृष्टान्त भी है कि जिस प्रकार समस्त वेदोंमें वर्णित अग्निहोत्र होमके अङ्गोंका कहीं उल्लेख है और कहीं उल्लेख नहीं है। तो भी इन अङ्गोंका उपसंहार कर लेना चाहिये, क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्र एक हैं, इसी प्रकारसे उपास्य परब्रह्म श्रीहरि भी सर्वत्र एक हैं। अतएव उनकी विभिन्न उपासनाओंमें अनुल्लिखित गुणोंका उपसंहार कर लेना चाहिये।

श्रीअक्रूरजीने श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः॥

नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे॥

अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः शूकरमूर्त्तये॥

नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च॥

नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे।
नमस्ते रघुवर्य्याय रावणान्तकराय च॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः॥

नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४०/१६-२२)

अर्थात् अक्रूरजीने कहा—हे प्रभो! मधु-कैटभ-वध आदि प्रापञ्चिक लीलाके लिए आप जितने भी नित्य-सिद्ध-स्वरूप प्रकट करते हैं, उनकी महिमाका गान करनेसे लोगोंके सब प्रकारके शोक-मोहादि धुल-बह जाते हैं। इसलिए वे लोग परमानन्दित होकर आपके निर्मल यशका गान करते हैं। हे भगवन्! मैं सभीके कारणस्वरूप आपके मत्स्य रूपको नमस्कार करता हूँ, इस रूपमें आप प्रलय-समुद्रमें इधर-उधर स्वच्छन्द रूपसे विचरण कर रहे थे। हे प्रभो! मैं आपके मधु-कैटभ विनाशन हयशीर्ष अवतारको, मन्दराचल धारण करनेवाले विशाल आकार कूर्मराज कच्छप अवतारको और प्रलय-सलिलमें पृथ्वीके उद्धारके लिए आपके वराह रूपको पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ। हे प्रह्लादादि सज्जनोंके भयविनाशन! आपके अद्भुत नृसिंहरूपको मेरा नमस्कार है। आपने वामनरूप धारणकर अपने पगोंसे तीनों

लोक नाप लिये थे, आपको नमस्कार करता हूँ। हे देव! धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले घमण्डी क्षत्रियरूप जङ्गलका छेदन कर देनेवाले आपके परशुराम रूपको मैं प्रणाम करता हूँ। राक्षसराज रावणका संहार करनेवाले रघुकुल-शिरोमणि श्रीरामचन्द्ररूपी आपको मेरा बार-बार नमस्कार है। हे प्रभो! वैष्णवों तथा यदुवंशियोंके अधिपति आपको मेरा प्रणाम है। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूपमें आपके द्वारा प्रकटित चतुर्व्यूहस्वरूपको मेरा नमस्कार है। हे भगवन्! वेदविरुद्ध-शास्त्रोंका प्रणयनकर दैत्य-दानवोंको मोहित करनेवाले हे निर्दोषस्वभाव बुद्धरूप! आपको मेरा नमस्कार है। क्षत्रिय जब म्लेच्छप्राय होने लगेंगे, तब आप कल्किरूप धारणकर म्लेच्छोंका संहार करेंगे, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

श्रीमन्महाप्रभुके वचन हैं—

मुञि कृष्ण मुञि राम मुञि नारायण।
मुञि मत्स्य मुञि कूर्म वराह वामन॥

मुञि बुद्ध कल्कि हंस मुञि हलधर।
मुञि पृश्निगर्भ हयग्रीव महेश्वर॥

मुञि नीलाचलचन्द्र कपिल नृसिंह।
दृश्यादृश्य सब मोर चरणेर भृङ्ग॥

(चै॰भा॰अ॰ १/२५/२५३)

अर्थात् मैं ही कृष्ण हूँ, मैं ही राम हूँ, मैं ही नारायण हूँ, मैं ही मत्स्य हूँ, मैं ही कूर्म हूँ, मैं ही वराह वामन हूँ। मैं ही बुद्ध-कल्कि-हंस हूँ, मैं ही हलधर (बलराम) हूँ। मैं ही पृश्निगर्भ, हयग्रीव हूँ और मैं ही महेश्वर हूँ। नीलाचलचन्द्र, कपिल, नृसिंह सब मैं ही हूँ तथा दृश्य-अदृश्य, प्राकृत-अप्राकृत—सभी मेरे चरणकमलोंके रसास्वादक मधुकर हैं॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वात्मेत्येवोपासीतेत्यादिवाक्यादन्थात्वमुपसंहारस्य प्रतीतमिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि *'आत्मत्येवोपासीत'* (बृ॰आ॰ १/४/७) अर्थात् आत्मस्वरूप ब्रह्मकी उपासना करे इत्यादि श्रुति-

वाक्यसे गुणके उपसंहारका अभाव अवगत होता है—यदि ऐसा कहते हो तो इस विषयपर सिद्धान्त कहते हैं—

सूत्र—अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्॥ ७॥

सूत्रार्थ—यदि कहो 'शब्दात्'—'आत्मत्येवोपासीत'—इस वाक्यसे 'अन्यथात्वम्' गुणोंके उपसंहारका अभाव प्रतीत होता है, ऐसा नहीं है, कारण क्या है? 'अविशेषात्' क्योंकि इसमें कोई बाधक-विशेष वचन नहीं है॥ ७॥

सूत्रानुवाद—'आत्माकी ही उपासना करे' वाक्यसे उपसंहारकी अन्य प्रकारसे प्रतीति नहीं होती, क्योंकि इस विषयमें 'इन गुणोंकी उपासना न करें'—इस प्रकारका कोई विशेष वचन नहीं है॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—अन्यथात्वं गुणोपसंहाराभावः स चात्मेत्यवेति वाक्यात् प्रतीयते इति चेन्न। कुतः? अविशेषात्। एते गुणा नोपास्या इति विशेषवचनाभावात्। एवं सत्येवकारोऽप्यनात्मत्वमेव निवर्त्तयति न तु गुणान्तराणि। न हि राजैव दृष्ट इत्युक्तौ तदीयं छत्रादि व्यावर्त्त्यते। तस्माद्यथाशक्ति गुणाश्चिन्त्या इति सिद्धस्तदुपसंहारः। इदमुक्तं भवति—परस्मिन् ब्रह्मणि वैदूर्यवदनादिसिद्धानि बहुनि रूपाणि सन्ति। तत्तद्रूपविशिष्टं तत् पूर्णं शुद्धञ्च भवति। क्वचित् कृत्स्नान् गुणान् प्रकटयति क्वचित्स्नानिति तत्त्ववित् तत्सर्वरूपे तस्मिन् यत्र क्वापि पठितान् गुणान् विचिन्तयेदिति सनिष्ठस्य तदुपसंहारो निरूपितः॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*अन्यथात्वम्*—अन्य प्रकारसे अर्थात् गुणोंके उपसंहारका अभाव—यह अन्यथा प्रतीति *'आत्मत्येवोपासीत'*—आत्माकी ही उपासना करे—इस वाक्यसे प्रतीत होती है—यह यदि संशय हो तो, ऐसा नहीं है, कारण क्या है? *'अविशेषात्'* क्योंकि इसका वाचक कोई भी विशेष वचन नहीं है अर्थात् गुण उपास्य नहीं है—इस प्रकारका कोई विशेष वचन नहीं कहा गया है, अतएव आत्मस्वरूप उपासनाके समान गुण भी उपास्य हैं—ऐसा होनेपर *'आत्मत्येवोपासीत'* श्रुतिमें जो 'एव' शब्द है, उसका अर्थ अनात्मवस्तुकी उपासनाका निषेध है, गुणान्तरकी निवृत्ति (निषेध) नहीं है। लौकिक प्रयोगमें भी देखा जाता है कि यदि कोई कहे कि 'राजाको देख रहा है', तब उसके साथके छत्र-चामरादि दिखायी नहीं दे रहे हैं—यह तो नहीं कहा

जाता है। अतएव सिद्धान्त यह है कि भगवान्‌के गुण उपास्य हैं, उनका यथाशक्ति चिन्तन करना चाहिये। अतएव गुणोंका उपसंहार शास्त्र-सम्मत है। इससे यही कहा जा रहा है कि परब्रह्ममें वैदूर्यमणिके समान अनादिसिद्ध बहुत-बहुत (अनन्त) रूप अवस्थित रहते हैं, उन-उन रूपोंसे विशिष्ट होनेपर भी ब्रह्म पूर्ण एवं शुद्ध स्वरूप हैं। वे किसी अवतारमें समग्र गुणोंको ही प्रकट करते हैं और किसीमें असम्पूर्ण कुछ ही गुणोंको प्रकट करते हैं। तत्त्वविद् व्यक्ति उन सर्वात्मक ब्रह्ममें सभी शाखाओं (स्थलों) पर वर्णित गुणोंकी सत्ताका ध्यान करें—इस प्रकारसे सनिष्ठ अधिकारीके लिए गुणोपसंहार समर्थित हुआ है॥ ७॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्यथात्वमिति। आत्मेत्येवेति। आत्मत्वेनैवेत्यर्थः। इति तत्त्ववित् इदृशं तत्त्वं जानन्। तत्सर्वरूपे तानि सर्वानि रूपाणि वर्णसंस्थानानि यस्मिन्स्तादृशे॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार—*'अन्यथात्वमित्यादि'* सूत्रमें *'आत्मत्येवोपासीत'* इति—आत्मेति—'आत्मस्वरूपमें ही'—यह अर्थ है। *'क्वचित्त्वकृतस्नान्'* इति—तत्त्वविदिति—तत्त्ववित् अर्थात् जो इस तत्त्वको जानते हैं। *'तत्सर्वरूपे तस्मिन् इति'*—तत् सर्व रूपे—तानि सर्वाणि रूपाणि यस्मिन्—यह विग्रह-वाक्य है, इसका अर्थ है—जिनमें ये समस्त रूप-वर्ण एवं आकृति विद्यमान है—इस प्रकारके परब्रह्ममें॥ ७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि श्रुतिमें आत्माकी ही उपासना करे—इस प्रकारका उपदेश पाया जाता है, इसमें गुणका अनुपसंहार करनेकी बात तो नहीं कही गयी है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वोक्त श्रुति-वाक्यसे उपसंहारका अन्यथात्व नहीं जाना जाता, क्योंकि इस विषयमें कोई विशेष वचन नहीं है अर्थात् गुणोपसंहारका निषेधसूचक कोई वाक्य वेदमें दिखायी नहीं देता। *'आत्मेत्येव'* कथनमें 'एव' शब्द द्वारा केवल अनात्म वस्तुका ही निषेध है, गुणका निषेध नहीं है। इस विषयमें दृष्टान्त है कि जिस प्रकार 'राजाको देखा' कहनेपर उसके साथ छत्र, चामरादिको देखनेका निषेध तो नहीं जाना जाता, अतः श्रीभगवान्‌के गुण यथाशक्ति चिन्तनीय हैं—यही सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान्‌में

वैदूर्यमणिके समान अनादिसिद्ध अनन्त रूप विद्यमान रहते हैं और वे सभी रूपविशिष्ट होकर भी परिपूर्ण स्वरूपमें अवस्थान करते हैं। वे कहीं आंशिक गुण प्रकाश करते हैं और कहीं समग्र गुणोंका प्रकाश करते हैं। जैसा कि श्रीब्रह्मसंहितामें भी देखा जाता है—

रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्र॰सं॰ ५/३९)

अर्थात् जो परमपुरुष अपने अंशकला आदिके नियमन द्वारा राम आदि मूर्त्तियोंमें स्थित होकर बहुत-से अवतारोंका प्रकाश करते हैं तथा स्वयं कृष्णरूपमें प्रकट होते हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

(श्रीमद्भा॰ १/३/२८)

इसलिए तत्त्वज्ञ व्यक्ति सर्वस्वरूप श्रीभगवान्में जिस किसी स्थानमें उक्त अर्थात् सर्वशाखोक्त गुणोंका चिन्तन करें। इस प्रकार सनिष्ठ भक्तके लिए गुणोपसंहार निरूपित हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीकी स्तुति है—

सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि,
तिर्य्यक्षु यादःस्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्म्मदनिग्रहाय,
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च॥

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्,
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति,
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२०-२१)

हे ईश! आप समस्त जगत्के विधाता और स्वामी हैं। आप वस्तुतः जन्मरहित हैं, तथापि देवता, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक् एवं मत्स्यादि रूपोंमें आपका आविर्भाव दुरात्माओंके गर्वका नााश करनेके लिए और साधुओंपर अनुग्रहके लिए होता है। हे भूमन्! आप अनन्त, परमात्मा और योगेश्वर हैं। जिस समय आप योगमायाका विस्तार करके कब, कहाँ, किस प्रकार, किसलिए और कितनी लीलाएँ करते हैं; अहो! त्रिभुवनमें ऐसा कौन है, जो आपकी समस्त लीलाओंको जान सके?॥७॥

अवतरणिका भाष्य—अथैकान्तिनोऽधीतबहुशाखा अपि परिशीलितस्वेष्टोपनिषद-स्तद्व्यक्तानेव गुणान् ध्यायन्ति न तु ज्ञातानप्यन्यानिति पूर्वापवादेनारभ्यते। इह श्रीगोपालादितापन्यो विषयः। तत्रैवं सन्देहः। एकान्त्युपासने सर्वगुणोपसंहारः स्यान्न वेति। सम्भवति सामर्थ्ये श्लाघ्यत्वात् स्यादेवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद जो एकान्ती भक्त हैं, वे बहुत शाखाओंका अध्ययन करके भी अपने अभीष्ट देवताके गुणोंके प्रकाशक उपनिषदोंकी आलोचना करके उपनिषदमें कथित निजाभीष्ट देवताके गुणोंका ध्यान करते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य गुणोंको जाननेपर भी वे उनका ध्यान नहीं करते—इस अधिकरणमें इसीका पूर्वोक्त (पूर्वपक्षके) अपवादके साथ अन्य प्रकरण आरम्भ करते हैं। यहाँ विषय है—'श्रीगोपालतापनी-उपनिषद।' संशय यह है कि ऐकान्तिक भक्तोंकी उपासनामें समस्त गुणोंको ध्येय रूपमें ग्रहण किया जायेगा कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि सामर्थ्य रहनेपर क्यों ग्रहण नहीं किया जायेगा। जब सत्कार्य (श्लाघनीय) है, तब ग्रहण (उपसंहार) होना ही उचित है। इस पूर्वपक्षीय-सिद्धान्तके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ब्रह्मनिष्ठत्वाद्यथा सनिष्ठानां ब्रह्मोपासनमुप-संहृतसर्वगुणकं तद्वत् परिनिष्ठितादीनामपि तत्त्वादेव तादृशमेव तदस्त्विति दृष्टान्त-सङ्गत्यारभ्यते। अथेत्यादि। परिशीलितेति कृष्णैकान्तिभिर्गोपालोपनिषत् परिशीलिता रामैकान्तिभिस्तु रामोपनिषदित्येवं निजोपनियन्निविष्टहृदया इत्यर्थः। तद्व्यक्तानिति स्वेष्टोपनिषदगदितानित्यर्थः। श्लाघ्यत्वात् सत्कार्यत्वात्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—सनिष्ठ भक्तोंके लिए जिस प्रकार ब्रह्मनिष्ठत्वके कारण ब्रह्मोपासनामें समस्त गुणोंका उपसंहार विहित हुआ है, उसी प्रकार परिनिष्ठित भक्त और एकान्ती भक्तोंके भी अभीष्ट देवतामें तद्–तद् गुण रहनेके कारण सर्वगुणोपसंहारपूर्वक उपासना होनी चाहिये; इस दृष्टान्त–सङ्गतिके अनुसार यह प्रकरण आरम्भ हुआ है। अथेत्यादि भाष्यमें परिशीलितस्वेष्टोपनिषद इति—कृष्णैकान्ती भक्त गोपालोपनिषदकी चर्चा करते हैं और रामैकान्ती भक्त रामोपनिषदकी चर्चा करते हैं। इसी प्रकारसे अपने–अपने उपनिषदमें निविष्ट–हृदय भक्तगण—यह अर्थ है। *'तद्व्यक्तानेवेति'*—निज–अभीष्ट देवताके उपनिषदमें कथित गुणोंका ध्यान करें। *श्लाघ्यत्वात्*—अन्यान्य गुणोंकी उपासना भी सत्कार्य–श्लाघनीय है—अतः वह भी करनी चाहिये।

न वा प्रकरणभेदाधिकरणम्

सूत्र—न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत्॥ ८॥

सूत्रार्थ—'न वा' निश्चय ही (उचित) नहीं है, क्योंकि 'प्रकरणभेदात्' प्रकरण भिन्न है अर्थात् एकान्तनिष्ठोंकी भक्तिमें वैचित्र्य है, 'परोवरीयस्त्वादिवत्'—परसे पर, वरसे वरीयान् गुणोंका जिस प्रकार ग्रहण नहीं होता॥ ८॥

सूत्रानुवाद—प्रक्रम भेदसे विषयका भेद होता है। विधेय भेद होनेपर रूप भेद और उससे विद्या भेद होता है। आकाश–उद्गीथमें वर्णित गुण पर से पर अथवा वरसे वरीयान् गुणोंका हिरण्मय पुरुषोद्गीथमें ग्रहण नहीं होता॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—वेति निश्चये। ये यस्मिन् रूपे एकान्तिनस्ते तदन्यरूपव्यक्तान् गुणान्नोपसंहरन्ति। यथा कृष्णादिरूपैकान्तिनो नृसिंहादिनिष्ठान् सटादंष्ट्राभीषणत्वादीन्। यथा च नृसिंहाद्येकान्तिनः कृष्णादिनिष्ठान् वंशवेत्रचन्द्रकादीनिति। कुतः? प्रेति। प्रकरणं प्रकृष्टक्रिया। तदेकतात्पर्या भक्तिरिति यावत्। तस्या भेदाद्विशेषादित्यर्थः। सनिष्ठभक्तेरेकान्तिभक्तिर्गाढावेशाद्वरीयसी। दृष्टान्तमाह पर इति। यथादित्यान्तर्वर्त्ति–हिरण्मयपुरुषैकान्तिनः स्वोपास्ये तस्मिन् परोवरीयस्त्वादीन् गुणानुद्गीथनिष्ठानपि

नोपसंहरन्ति तद्वत्। परस्मात् परश्च वराच्च वरीयानिति परोवरीयानुद्गीथस्तस्य भावस्तत्त्वं तदादिवदित्यर्थः॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'वा' शब्द निश्चयार्थमें है अर्थात् न वा—नैव—नहीं, यह नहीं होगा अर्थात् जो समस्त भक्त जिस रूपमें एकान्ती हैं, वे उससे पृथक् (अन्य) रूपमें प्रकाशित गुणावलीकी उपासना (उपसंहार) नहीं करते। श्रीकृष्ण-रूपके एकान्तीगण नृसिंहादिनिष्ठ भक्तोंके समान दंष्ट्र, जटा (केशर) इत्यादि भीषण अवयवोंका ध्यान नहीं करते और जो श्रीनृसिंहरूपके एकान्ती उपासकगण हैं, वे कृष्णादिनिष्ठ भक्तोंके समान कमनीय वंशी, वेत्र, मयूर-पिच्छादिका ध्यान नहीं करते। इसका कारण क्या है? *'प्रकरणभेदात्'*—प्रकरणका अर्थात् उपासना-प्रक्रियाका (भक्तिका) वैशिष्ट्य है। प्रकृष्ट क्रियाका नाम प्रकरण है अर्थात् उन इष्ट-देवताका एकाग्र मनसे उपास्य-बोधसे आश्रय करते हैं—ऐसी भक्तिकी प्रक्रिया है। यही उस प्रक्रियाका वैशिष्ट्य है। बात यह है कि सनिष्ठ भक्तिसे एकान्ती भक्ति गाढ़ अभिनिवेशके कारण वरीयसी (श्रेष्ठ) है। इस विषयमें दृष्टान्त दिखाते हैं—*'परोवरीयस्त्वादिवत्'* इति जिस प्रकार सूर्यमण्डलके अन्तरवर्त्ती अर्थात् मध्यवर्ती हिरण्मय पुरुषके एकान्ती भक्तगण अपने उपास्य उन पुरुषमें उद्गीथ वेदशाखामें वर्णित रहनेपर भी परोवरीयस्त्वादि गुणोंकी उपासना (उपसंहार) नहीं करते, इसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए अर्थात् एकान्तीभक्त समस्त अन्य गुणोंका उपसंहार नहीं करते। 'परोवरीयस्त्व' शब्दका अर्थ है—जो पर (श्रेष्ठ) से पर है, वरसे वरीयान् है, वह परोवरीयान् है, उसका भाव अर्थात् धर्म। परोवरीयान् शब्दके उत्तर भावमें 'त्व' प्रत्यय है। यह परोवरीयस्त्वादि धर्म जैसे गृहीत नहीं होता, वैसे ही॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—न वेति तदन्यरूपेति। स्वोपास्येतररूपवति ब्रह्माविर्भावे प्रकटानित्यर्थः। एतद्विशदयन्नाह। यथा कृष्णादीति। परोवरीयस्त्वादिवदिति दृष्टान्तार्थं विशदयति यथादित्येत्यादिना। छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उदगीथोपासनास्ति। तत्र हिरण्मयस्याकाशश्च च कारणब्रह्मण उद्गीथशब्दनिर्द्देश्यत्वं दृश्यते। आकाशोद्गीथे परोवरीयस्तं गुणः कीर्त्त्यते। तस्य गुणस्य हिरण्मयोद्गीथे नोपसंहारः तदुपासकानां तत्तद्गुणेस्वेकान्तित्वात् तद्गुणास्तु हिरण्यवर्णत्वपुण्डरीकाक्षत्वादयः। तद्वत् प्रकृतेऽपीत्यर्थः॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार— *'न वेत्यादि'* सूत्रमें *'तदन्यरूपव्यक्तानिति'* भाष्य है—इसका अर्थ है—निज उपास्यसे भिन्न अन्य रूपवान ब्रह्माविर्भावमें प्रकट। इसीको विशद करके कहते हैं यथा— *'कृष्णादिरूपैकान्तिन'* इत्यादि। *'परोवरीयस्त्वादिवत्'*—यह दृष्टान्त दिखानेके लिए प्रयुक्त है—इसीको *'यथाऽदित्येत्यादि'* वाक्य द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। छान्दोग्योपनिषदके प्रथम प्रपाठकमें उद्गीथोपासना वर्णित है। वहाँ उद्गीथ शब्दके द्वारा हिरण्मय पुरुष एवं आकाश—इस कारण ब्रह्मका निर्देश किया गया है—यह देखा जाता है। इसमें आकाशोद्गीथ परोवरीयत्व गुणका कीर्त्तन है किन्तु इस गुणका हिरण्मय पुरुषोद्गीथमें ग्रहण नहीं है क्योंकि हिरण्मय पुरुषके जो एकान्ती भक्त हैं, उनका हिरण्मय पुरुषगुणमें ही अनुराग होता है। वह गुण है—हिरण्यवर्णत्व, पुण्डरीकाक्षत्व इत्यादि। *'नोपसंहरन्ति तद्वत्'* इति 'तद्वत्' अर्थात् प्रकृत-स्थलपर यही रूप जानना चाहिये॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब विशेष विधि-स्थापनके विचारसे प्रकरणान्तरका आरम्भ करते हैं कि एकान्त भक्तगण बहुत-सी शाखाओंका अध्ययन करनेपर भी निजाभीष्ट देवताके गुण-प्रकाशक उपनिषदोंका अनुशीलन करते हुए उनमें व्यक्त गुणोंका ही ध्यान करते हैं, इनके अतिरिक्त ज्ञात अन्य गुणोंका चिन्तन नहीं करते। कोई यदि गोपालतापनी आदि उपनिषदोंको इस स्थलपर विचारका विषय निर्धारित करके उसपर संशय करे कि एकान्त भक्तोंकी उपासनामें समस्त गुणोंका उपसंहार करना चाहिये या नहीं? तो पूर्वपक्षी कहते हैं—सामर्थ्य रहनेपर श्लाघ्यताके होनेके कारण उपसंहार अवश्य करना चाहिये। पूर्वपक्षीके इस मतके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, यह नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ प्रकरण-भेद है। सनिष्ठ भक्तोंकी उपासनासे ऐकान्तिकोंकी उपासनाका वैशिष्ट्य है। दृष्टान्त भी है कि आकाशोद्गीथमें वर्णित गुण—परसेपर अथवा वरसे वरीयान गुणोंका जैसे हिरण्मय पुरुषोद्गीथमें ग्रहण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि छान्दोग्योपनिषदके प्रथम प्रपाठकमें उद्गीथ-उपासना वर्णित है। वहाँ उद्गीथ शब्दके द्वारा हिरण्मय पुरुष और आकाश—इन कारण-ब्रह्मका निर्देश करते हुए देखा जाता है। उनमें आकाशोद्गीथमें परोवरीयत्व

(परस्मात् परञ्च वराच्च वरीयान्) गुणोंका कीर्त्तन है—*'आकाशो ह्येवैभ्यो भूतेभ्य ज्यायान्'* अर्थात् इस लोकको गति आकाश है, आकाश ही इनसे बड़ा है। (छा॰ १/९/१) किन्तु उन गुणोंसे हिरण्मयपुरुषोद्गीथका ग्रहण नहीं है, क्योंकि हिरण्मय पुरुषोंके जो एकान्ती भक्त हैं, उनका हिरण्मय पुरुषोंमें ही अनुराग होता है। ये गुण हैं, जैसे हिरण्यवर्णत्व, पुण्डरीकाक्षत्व इत्यादि।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—*'प्रकरणभेदान्नैवोपसंहारः कार्यः। परोवरीयस्त्वादिषु तावतैव हि उक्तम्।'*

अर्थात् यदि कहो कि ब्रह्मके समस्त गुणोंका निरूपण किसीके लिए भी सम्भव नहीं है, अतः उन समस्त गुणोंका उपसंहार किस प्रकार हो सकता है? इस आशङ्काके निरासके लिए कहते हैं कि ब्रह्म समस्त गुणोंके आधार हैं, इस प्रकारसे उनमें ही समस्त गुणोंका निश्चय करके उनकी उपासना करें। अतएव प्रत्येक गुणका निरूपण अशक्य होनेपर भी ब्रह्मके समस्त गुणोंका उपसंहार अप्रसिद्ध नहीं है। इस प्रकार प्रकरणके भेदसे उपास्यके गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिये। उत्कृष्टता अवकृष्टताकी ज्ञापक श्रुतियोंके लिए ऐसा ही कहा गया है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्त्ति॥

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२१/५-६)

अर्थात् (व्रजवनिताएँ भावनेत्रोंसे देखने लगीं कि) श्रीकृष्णका मस्तक मयूर-पिच्छरूप शिरोभूषणसे विभूषित है, कानमें पीत वर्णका कनेर पुष्प सुशोभित है, सुनहरे वर्णका पीताम्बर धारण कर रखा है, गलेमें पाँच वर्णोंके सुगन्धित पुष्पोंसे गुँथी हुई वैजयन्ती-माला है। इस

प्रकार रङ्गमञ्चपर अभिनय करते हुए नट-सा सुन्दर वेश धारणकर अपने अधरामृत द्वारा वंशीके छिद्रोंको भरते हुए शंख, चक्र आदि चिह्नोंसे युक्त पदयुगलसे वे वृन्दावनमें ग्वालबालोंके साथ प्रवेश कर रहे हैं। ग्वालबाल उनकी पवित्र कीर्त्तिका गान करते हुए पीछे-पीछे चल रहे हैं। हे राजन्! व्रजनारियोंने जड़, चेतन समस्त प्राणियोंके मनोंको हरण करनेवाली वंशीकी ध्वनिको सुना और सुननेके बाद उसके प्रभावका वर्णन करने लगीं। वर्णन करते-करते वे तन्मय हो गयीं और मन-ही-मन श्रीकृष्णको पाकर आलिङ्गन करने लगीं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी द्रष्टव्य है—

चतुर्भुज मूर्त्ति करि आछेन बसिया।
कृष्ण देखि गोपी कहे निकटे आसिया॥

इँहो कृष्ण नहे, इँहो नारायणमूर्त्ति।
एत बलि सबे ताँरे करे नति-स्तुति॥

नमो नारायण, देव करह प्रसाद।
कृष्णसङ्ग देह मोरे घुचाह विषाद॥

(चै॰च॰आ॰ ७/२८६-२८८)

अर्थात् श्रीकृष्ण चतुर्भुजरूप धारण करके विराजमान थे। उन्हें देखकर गोपियाँ निकट आयीं और उनसे कहा—ये तो कृष्ण नहीं हैं, ये नारायणमूर्त्ति हैं। इतना कहकर सभीने उन्हें प्रणाम किया और स्तुति करने लगीं—हे नारायण! आपको नमस्कार है। हे देव! हमपर प्रसन्न हों! हमें श्रीकृष्णका सङ्ग प्रदान कर हमारे दुःखको दूर करें।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

प्रातःकाले आसि मोर धरिल चरण।
कान्दिते कान्दिते किछु करे निवेदन॥

रघुनाथेर पाये मुञि बेचियाछों माथा।
काड़िते ना पारि माथा, मने पाइ व्यथा॥

श्रीरघुनाथ-चरण छाड़न ना जाय।
तब आज्ञा भङ्ग हय, कि करि उपाय॥

ताते मोरे एइ कृपा कर दयामय।
तोमार आगे मृत्यु हउक, याउक संशय॥
(चै॰च॰म॰ १५/१४८-१५१)

अर्थात् श्रीमुरारिगुप्त प्रातःकाल होते ही मेरे पास आये और मेरे चरणोंको पकड़कर रोते-रोते यह निवेदन करने लगे—मैं अपने मस्तकको श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें बेच चुका हूँ। अब तो यह मस्तक उन चरणोंसे हट नहीं सकता। मेरा मन बहुत व्यथित है। श्रीरघुनाथजीके चरण मुझसे छोड़े नहीं जा सकते। इससे आपकी आज्ञा भङ्ग होती है, अब आप ही बताइये, क्या उपाय है। हे दयामय! इससे आप मुझपर कृपा कीजिये कि आपके ही सम्मुख मेरी इस देहको मृत्यु प्राप्त हो जाय और सारा संशय मिट जाय।

और भी,

शुनह, वल्लभ, कृष्ण—परम मधुर।
सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम विलास प्रचुर॥

कृष्णभजन कर तुमि आमा दुहाँर सङ्गे।
तिन भाई एकत्रे रहिमु कृष्णकथा-रङ्गे॥

एइ मत बार-बार कहि दुइ जन।
आमा-दुँहार गौरवे किछु फिरि गेल मन॥

तोमा दुँहार आज्ञा आमि केमने लङ्घिमु।
दीक्षामन्त्र देह कृष्णभजन करिमु॥

एत कहि रात्रिकाले करेन चिन्तन।
केमने छाड़िमु रघुनाथेर चरण॥

सब रात्रि क्रन्दन करि कैल जागरण।
प्रातःकाले आमा दुहाँय कैल निवेदन॥

रघुनाथेर पादपद्मे बेचियाछों माथा।
काड़िते ना पारों माथा पाइ बड़ व्यथा॥

कृपा करि मोरे आज्ञा देह दुइ जन।
जन्मे-जन्मे सेवों रघुनाथेर चरण॥

रघुनाथेर पादपद्म छाड़न ना जाय।
छाड़िबार मन हैले प्राण फाटि जाय॥
तबे आमि दुँहे तारे आलिङ्गन कैलुँ।
साधु दृढ़भक्ति तोमार कहि प्रशंसिलुँ॥
(चै॰च॰अ॰ ४/३४-४३)

अर्थात् श्रीसनातन गोस्वामीपाद श्रीमन्महाप्रभुसे कहते हैं—मैंने और रूपने अपने छोटे भाईसे कहा, 'वल्लभ! सुनो! कृष्ण बड़े ही माधुर्यमय हैं। उनका सौन्दर्य, माधुर्य और प्रेमविलास श्रीरामकी तुलनामें बहुत अधिक है। अतः तुम भी हम दोनोंके समान कृष्णका भजन करो। तब हम तीनों भाई एक साथ मिलकर कृष्णकथाके आनन्दमें डूबे रहेंगे।' इस प्रकार हम दोनों उससे बार-बार कहते रहे। हम दोनोंके बड़े होनेके कारण उसका मन कुछ फिरा और उसने कहा—'आप दोनोंकी आज्ञाका मैं किस प्रकारसे उल्लंघन कर सकता हूँ? मुझे दीक्षामन्त्र दे दीजिये, जिससे मैं कृष्ण-भजन करूँ।' इतना कहकर वह सारी रात चिन्तन-मनन करता रहा। उसने सारी रात जागरण किया और रोता रहा कि मैं किस प्रकारसे श्रीरघुनाथजीके चरण छोड़ सकता हूँ। वह प्रातःकाल हमारे पास आया और निवेदन करने लगा कि 'हे भाइयो! मेरा तो यह माथा श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंमें बिक चुका है। अब यह माथा वहाँसे हट नहीं सकता। इस दुविधामें पड़ा हुआ मैं अत्यन्त व्यथित हो रहा हूँ। आप दोनों कृपा करके मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं जन्म-जन्मान्तर तक श्रीरघुनाथजीके चरणोंकी सेवा करता रहूँ। मुझसे उनके चरणारविन्द छोड़े नहीं जा सकेंगे। छोड़नेके विचारसे ही मेरे प्राण विदीर्ण होने लगते हैं।' तब हम दोनोंने उसका आलिङ्गन किया और उसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि तुम्हारी श्रीरामके चरणोंमें दृढ़ भक्ति ठीक ही है।

श्रीमत् हनुमानजीके वचन हैं—

श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः॥

'यद्यपि लक्ष्मीपति, जानकीनाथ और परमात्मामें अभेद है, फिर भी कमलनयन श्रीराम ही मेरे सर्वस्व हैं॥'८॥

अवतरणिका भाष्य—ननूभयेषां ब्रह्मोपासकादिसंज्ञा समैवात् एकान्तिभिरपि सनिष्ठैरिव सर्वे गुणाः सर्वत्र चिन्त्याः स्युः यथा विप्रसंज्ञानां गायत्र्युपासना निर्विशेषा दृष्टेति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि सनिष्ठ और एकान्ती—दोनों ही उपासकोंकी ब्रह्मोपासक संज्ञा समान ही है (दोनों ही ब्रह्मोपासक हैं)—अतएव एकान्ती भक्त सनिष्ठ भक्तोंके समान सभी गुणोंका सर्वतोभावसे ध्यान करें जिस प्रकार विप्र संज्ञाधारी द्विजाति मात्रकी ही गायत्री-उपासना निर्विशेषमें ही दिखायी देती है—यह यदि कहते हो तो इस पर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। उभयेयां सनिष्ठानामेककान्तिनाञ्च।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'उभयेषाम्'*—ब्रह्मोपासकादि संज्ञा उभयेषाम्—दोनों ही भक्तोंकी—सनिष्ठ और एकान्ती भक्त—इन दोनोंकी।

सूत्र—संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि॥ ९॥

सूत्रार्थ—'चेत्' यदि यह शङ्का करते हो, तो 'तु' यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'संज्ञातः' एक संज्ञाके कारण समस्त गुणोंका ग्रहण समस्त अवतारोंमें ही होगा, 'तदुक्तम्' यह जो कहा गया है, तो इसका उत्तर 'न वा प्रकरणभेदात्' इस सूत्रमें कह दिया गया है, 'तदपि' यह संज्ञाकी एकता विधेयके भेद रहनेपर भी 'अस्ति' होती ही है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—संज्ञाके एक होनेसे उसकी विद्यामें भी ऐक्य होगा, यह नहीं कह सकते, यह बात 'न वा प्रकरणभेदात्' में कह दी गयी है। छान्दोग्यमें प्रथम प्रपाठकमें उदित अनेक विद्याओंमें उद्गीथ विद्या—इस उद्गीथादि संज्ञाकी एकता देखी जाती है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—शङ्कानिवारकस्तुशब्दः। संज्ञैक्यात् सर्वगुणोपसंहारो युक्त इत्यत्र यदुत्तरं तत्तु न वा प्रकरणभेदादित्यनेनैवोक्तम्। सामान्यसंज्ञापेक्षया विशेषभूतैकान्तितायाः श्रैष्ठ्यान्न तैस्ते सर्वे विचिन्त्या इत्यर्थः। इतरथा श्रैष्ठ्यक्षतिः। रूपविशेषाभिषक्तचित्तत्वेन

ह्येकान्तिनः साधारणेभ्यः सनिष्ठेभ्यो श्रेष्ठा भवन्ति। न च निखिलगुणानुपसंहर्त्तुं सनिष्ठोऽपि क्षमः। *"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्"* इत्यादिश्रुतेः। *"नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मुर्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्या"* इत्यादि स्मरणाच्च। संज्ञैक्यस्य हेतोरन्वयव्यभिचारं दर्शयति अस्तीति। प्रमितभेदेष्वपि परोवरीयो हिरण्मयाद्युपासनेषूद्-गीथोपासनमिति संज्ञैक्यमस्तीत्यर्थः। तथा च सनिष्ठाः सर्वान् गुणानुपसंहृत्योपा-सीरन्नेकान्तिनस्तु गुणविशेषानित्यधिकरणाभ्यां निर्णीतम्॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वोक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्षीकी शङ्काके निवारणके लिए है। संज्ञाके ऐक्यवश एक होनेके कारण समस्त उपासकोंका समस्त अवतारोंमें ही समस्त प्रकारके गुणोंका ग्रहण (उपसंहार) युक्तियुक्त है—इस आशङ्काका जो समीचीन उत्तर है, वह *'न वा प्रकरणभेदात्'* सूत्रमें दे दिया गया है अर्थात् साधारण (सामान्य) संज्ञाकी अपेक्षा विशेष संज्ञाभूत एकान्ती भक्त संज्ञाके श्रेष्ठत्वके कारण उन समस्त भगवत्-गुणोंकी उपासना अपनी उपासनामें न करें। यदि यह (समस्त गुणोंकी उपासनाको) स्वीकार करते हो, तो इन एकान्तियोंके श्रेष्ठत्वकी हानि होती है। इसका कारण है कि किसी रूप-विशेषमें उनका चित्त आसक्त है, इसलिए साधारण सनिष्ठ भक्तसे वे एकान्ती भक्त श्रेष्ठ हैं। और, यह बात भी सत्य है कि सनिष्ठ भक्तगण भगवान्‌के सम्पूर्ण गुणोंको जाननेमें (उपसंहारमें) समर्थ नहीं हो सकते। श्रुति यही कहती है—*'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्'* इत्यादि अर्थात् विष्णुके गुणोंकी गणना करनेमें कोई समर्थ नहीं है। इस विषयमें स्मृति-वाक्य भी है कि ये जो भव (महादेव), पद्मयोनि (ब्रह्मा) इत्यादि योगेश्वरगण हैं, वे भी गुणातीत श्रीहरिके गुणोंकी परिसीमाको प्राप्त नहीं कर सकते, इत्यादि। और भी एक बात है—तुमलोग जो संज्ञाका ऐक्य रूप हेतु दिखा रहे हो, वह अन्वय-व्यभिचार दोषसे दूषित है अर्थात् कारण रहनेपर भी यदि कार्य नहीं होता, तो उसे अन्वय-व्यभिचार कहा जाता है। यहाँ यही दोष है—इसीको दिखाते हैं—*'अस्ति तु तदपि'* परिगणित भेदोंमें *'परोवरीयो हिरण्मयाद्युपासनेषूद्गीथोपासनम्'* श्रुति इसके द्वारा हिरण्मयादि उपासनामें उद्गीथोपासनानिष्ठको परोवरीय कहकर निर्देश करती है, अतः गुण उपासनामें संज्ञाका ऐक्य है, फिर भी हिरण्मय पुरुषमें एकान्ती

इत्यादिकी उपासना विहित नहीं है, क्योंकि इससे उनके श्रेष्ठत्वकी हानि होती है, यह पहले भी कहा गया है। अतएव सिद्धान्त यह है कि सनिष्ठ भक्तगण सभी अवतारोंके समस्त गुणोंका उपसंहार करते हुए ध्यान करें और एकान्तीगण गुण-विशेषका चिन्तन करें। इस प्रकार यह सिद्धान्त इन दो अधिकरणोंमें निर्णीत हुआ है॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—संज्ञात इति। संज्ञैक्यान्नामाभेदात्। न तैस्ते इति। तैरेकान्तिभिस्ते भगवद्गुणाः सर्वे स्वोपासनायां तु न भाव्या इत्यर्थः। अयमर्थः। एकान्तिनो द्वेधा। फलकामेभ्योऽन्ये हर्येकदैवता एके। एषां पारमार्थिकवस्त्वेकनिष्ठया श्रैष्ठ्यम्। *"चतुर्विधा मम जनाः फलकामा हि ते स्मृताः। एषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते वै चानन्यदेवता"* इति स्मृतेः। तेष्वेव तदेकरूपानुरक्ताः परे तेषां तत्तीव्रानुरागेण तद्वशीभावाधिक्यं परम् श्रैष्ठ्यम्। *"नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह"* (श्रीमद्भा॰ १०/९/२१) इति। *"यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः। स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम्"* (श्रीमद्भा॰ १०/१२/१२) इति चैवमादिस्मरणात्। पादपांशुरंङ्घ्रिरजस्तरुद्युतिर्वेत्यर्थः॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार— *'संज्ञात'* इत्यादि सूत्रमें *'संज्ञैक्यादिति'* नाम (ब्रह्मोपासक) एक होनेके कारण—यह अर्थ है। *'न तैस्ते सर्वे विचिन्त्याः'* इति में 'तैः'—उन एकान्ती भक्तगणों द्वारा 'ते'—भगवद्गुण, 'सर्वे'—समुदय, न विचिन्त्याः—निज अभीष्ट देवताकी उपासनामें दोष नहीं है—यह अर्थ है। बात यह है कि एकान्ती भक्त दो प्रकारके हैं—कोई तो फलकामी हैं और कोई श्रीहरिको ही एकमात्र आराध्य देवता जानकर उनकी सेवाकी कामना करते हैं, अन्य कोई कामना नहीं करते। ये पारमार्थिक वस्तुमात्र-निष्ठ हैं, इसलिए श्रेष्ठ हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—मेरे भक्त चार प्रकारके हैं—ये सभी सकाम हैं किन्तु इनमें एकान्ती भक्त श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे एकमात्र श्रीहरिका ही आश्रय करते हैं और उनमें भी श्रीहरिके एक रूपमें अनुरक्त एकान्ती अधिक श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनका श्रीभगवान्के तीव्र प्रेमके कारण भगवान्का वशीकारक भाव अधिक है, इसलिए परम श्रेष्ठ हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि ये गोपिकानन्दन श्रीहरि इस जगत्में जिस प्रकार भक्तके लिए सुख-प्राप्य हैं, उस प्रकारसे मनुष्यमात्रको अनायास-प्राप्त

नहीं हैं, इतना ही नहीं, आत्मभूत ज्ञानियोंके लिए भी नहीं हैं। 'यत् पादेत्यादि' का अर्थ है—जिनकी चरणरेणुको बहुत जन्मोंकी तपस्याके द्वारा भी जितेन्द्रिय योगीगण प्राप्त नहीं कर सकते। वे स्वयं ही जिनकी दृष्टिके विषयभूत होकर सर्वदा अवस्थान करते हैं, उन व्रजवासियोंके भाग्यकी कथा और क्या कहें—यह आदि पदके द्वारा स्मरणीय है। 'पादपांशुरजः'—इसका अर्थ है—चरणधूलि और पादपका अर्थ है—वृक्षके अंशु—किरणवत् द्युतिसम्पन्न—यह अर्थ भी है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि यह कहे कि सनिष्ठ और एकान्ती दोनों ही भगवत्-उपासक हैं, इसलिए जब दोनोंकी ही संज्ञा एक है, तो एकान्ती भक्तोंके द्वारा सर्वत्र समस्त गुण ही ध्येय होने चाहिये, जिस प्रकार विप्र संज्ञासे संज्ञित सभी विप्रोंकी ही गायत्रीकी उपासना निर्विशेषमें देखी जाती है। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, इस प्रकारकी आशङ्का हो ही नहीं सकती, क्योंकि संज्ञाके ऐक्यके कारण सभीके लिए समस्त गुणोंका उपसंहार युक्तियुक्त नहीं है, यह पहले सूत्रमें कहा गया है।

दोनोंकी संज्ञा एक विवेचन करनेसे ऐकान्तिकोंको भी निज उपास्यकी उपासनामें समस्त अवतारोंके सभी गुणोंका चिन्तन करना होगा—यह कहनेसे उनके वैशिष्ट्य एवं श्रेष्ठत्वकी हानि होती है। सनिष्ठ भक्तसे एकान्ती भक्तका वैशिष्ट्य है कि वे श्रीभगवान्के रूप-विशेषमें ऐकान्तिक रूपसे आसक्त-चित्त हैं। इसलिए सनिष्ठ भक्तसे उनका श्रेष्ठत्व है। और भी एक बात है कि सनिष्ठ भक्तगण श्रीभगवान्के समस्त अवतारोंके समस्त गुणोंका उपसंहार करनेमें समर्थ नहीं होते।

श्रीरामानुजाचार्यके श्रीभाष्यका सार इस प्रकारसे है—

'उद्गीथ विद्या' इस प्रकार नामकी एकताके कारण यदि विद्याका एकत्व कहना चाहते हो, तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विधेयका भेद रहनेपर भी संज्ञाका एकत्व रहता है। जिस प्रकार नित्य अग्निहोत्र और कुण्डपायी अग्निहोत्रमें एक ही अग्निहोत्र संज्ञा है। छान्दोग्योपनिषदमें वर्णित बहुत-सी विद्याओंमें एक ही 'उद्गीथ' संज्ञा

देखी जाती है—प्रमितिका भेद रहनेपर भी 'परोवरीय' तथा 'हिरण्मयादि' उभय प्रकारकी उपासनाको ही उद्गीथ उपासना कहते हैं।

छान्दोग्योपनिषदमें वर्णन है—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ... विद्वानमक्षरमुद्गीथमुपास्ते।

(छा॰ १/१/१–८)

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

सर्वविद्या उक्त्वा सोऽहं नामविदेवास्मि नात्मविदिति (छा॰ ७/१/३) *वचनात् सर्वस्य ब्रह्मनामत्वात्तदुपसंहारः कार्यः। 'नामत्वात् सर्वविद्यानां गुणानामुपसंहृतिः। कार्यैव च ब्रह्मणि परे नात्र कार्या विचारणा।' इति ब्रह्मतर्के इति चेत् सत्यम्। उक्तो ह्युपसंहारः तत्प्रमाणमप्यस्त्येव नाम वा एता ब्रह्मणः सर्वविद्यास्तस्मादेकः सर्वगुणैर्विचिन्त्यः इति कौण्डिन्यश्रुतौ।*

पूर्वसूत्रमें उक्त अर्थको प्रमाण सहित कहते हैं कि ब्रह्ममें समस्त वेदोंमें उक्त गुणोंका उपसंहार अवश्य करना चाहिये। सभी विद्याएँ ब्रह्म नामसे अभिहित हैं और ब्रह्मके गुणाभिधायक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराण—इन सबका सनकादिमुनिसे अध्ययन करके ही नारदजीने अन्तमें स्वयंको समस्त विद्याविद् कहकर *'सोऽहम्'* (मैं नामका ज्ञाता हूँ किन्तु आत्मवेत्ता नहीं हूँ) इस प्रकारसे जाना था। समस्त विद्याएँ ही भगवान्‌का नाम हैं और समस्त वेद उनके ही गुणोंका कीर्त्तन करते हैं—इसीलिए ब्रह्मके गुणोंका एकत्र ही बिना विचार किये उपसंहार करना चाहिये। ब्रह्मतर्कमें वर्णन है कि समस्त विद्या ही ब्रह्मका नाम है। इसलिए ब्रह्ममें ही गुणोपसंहार करें, इसमें कुछ भी विवेचनाका विषय नहीं है—यह ठीक ही है। कौण्डिन्य-श्रुतिमें भी कहा है—ये समस्त नाम ब्रह्मके हैं, समस्त विद्याओंसे एकमात्र उन्हींके समस्त गुणोंका चिन्तन करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें श्रीप्रह्लादजीके वाक्य हैं—

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/६/२७)

अर्थात् पहले नर ऋषिके सखा भगवान् नारायण ऋषिने इस दुर्लभ एवं अमल ज्ञानको देवर्षि नारदको दिया था, जो भगवान्के ऐकान्तिक भक्त हैं, जो भगवान्के अतिरिक्त किसी भी कामनासे रहित हैं तथा भगवान्के ही चरणारविन्दके रज द्वारा अभिषिक्त हैं, उन्हें यह निर्मल ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह ज्ञान केवल उत्तम एवं शुद्ध जनोंको ही प्राप्त होता हो, ऐसा कोई नियम नहीं है।

और भी,

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/९/१८)

हे नृसिंहदेव! मैं आपका दास हूँ और आपके चरणकमलोंमें रहनेवाले भक्तोंका सङ्ग प्राप्त करके रागादि दोषोंसे मुक्त हो जाऊँगा। आप हमारे प्रिय, अहैतुक सुहृद् और परमाराध्य हैं। मैं ब्रह्माजी और उनकी साम्प्रदायिक परम्परामें वर्णित आपकी लीला-कथाओंका श्रवण-कीर्त्तन करते हुए इस संसारकी समस्त बाधाओंको पार कर जाऊँगा।

श्रीभगवान्के गुण अनन्त हैं—

को नाम तृप्येद्रसवित् कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः॥

(श्रीमद्भा॰ १/१८/१४)

ऐसा कौन रसज्ञ व्यक्ति होगा, जो महापुरुषोंके एकमात्र जीवन-सर्वस्व श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंसे तृप्त हो जाय? समस्त प्राकृत गुणोंसे अतीत भगवान्के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणोंका पार तो ब्रह्मा, शङ्कर आदि बड़े-बड़े योगेश्वर भी नहीं पा सके॥ ९॥

श्रीभगवान्के बाल्यादि गुणोंका उपसंहार

अवतरणिका भाष्य—अथ बाल्यादीन् गुणान् भगवत्युपसंहर्त्तुमारभते। तास्वेव *"कृष्णाय देवकीनन्दनाय ॐ तत् सत् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नम"* इति। कृष्णशब्दस्तु तमालनीलत्विषि यशोदास्तनन्धये रूढिरिति नामकौमुदीकाराः। *"ॐ चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दाशरथे हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थित"* इति चैवमादिषु बाल्यादयो ब्रह्मधर्माः श्रूयन्ते। स्मर्यन्ते च तथा स्मृतिषु। ते किं चिन्त्या न वेति वीक्षायां तैर्विग्रहे न्यूनाधिक्यभावापत्ते रैकरस्यश्रुतिव्याकोपान्न चिन्त्या इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद बाल्यादि कालीन गुणोंका भगवान्में ध्यानके उपदेशके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है। गोपालतापनी-श्रुतिका उपदेश है—*'कृष्णाय देवकीनन्दनाय ॐ तत्सत् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः'* इति अर्थात् देवकीपुत्र (यशोदानन्दन) श्रीकृष्णको बार-बार प्रणाम करते हैं जो *'भूर्भुवः स्वः'*—इन तीन लोकोंमें व्याप्त रहनेवाले सच्चिदानन्दरूपी ब्रह्म हैं। यहाँ कहा गया कृष्ण शब्द तमाल-श्यामल यशोदास्तनपायी श्रीहरिमें रूढ़ (प्रसिद्ध) है—नाम कौमुदी-ग्रन्थकार भी इसी प्रकार कहते हैं। श्रीरामतापनीमें है—*'ॐ चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दाशरथौ हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः'*—ये विज्ञानैकरस महाविष्णु श्रीहरिके दशरथ-पुत्र-रूपमें रघुवंशमें प्रकट होनेपर समस्त सम्पद् स्वयं चली आयी। वे पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर विराजमान (सुशोभित) हो रहे हैं—इस प्रकार उपनिषदोंमें ब्रह्मके बाल्यादि धर्म सुने जाते हैं और स्मृति-ग्रन्थोंमें भी इस प्रकारसे स्मृत है। इस विषयमें संशय यह है कि ये बाल्यादि गुण ध्येय होंगे कि नहीं? उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, ध्येय नहीं होंगे क्योंकि ऐसा होनेपर भगवत्-विग्रहमें न्यून-आधिक्यकी आपत्ति आ पड़ती है और श्रुति-बोधित एकरसत्वका भी विरोध आ पड़ता है। इसपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्राकाशोद्गीथनिष्ठं परोवरीयस्तं हिरण्मयोद्गीथे तदेकान्तिभिर्नोपास्यमित्युक्तम्। तद्वत् किशोरे हरौ तद्बाल्यादिकमनुपसंहार्यमस्तु तेन तस्मिन्नैकरस्यविरोधादिति दृष्टान्तसङ्गत्याह अथेत्यादि। तास्विति श्रीगोपालादितापनीषु। कृष्णायेति श्रीगोपालतापस्याम्। देवकी श्रीनन्दपत्नी वसुदेवपत्नी च। *"द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च। अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया"*

इत्यादिपुराणात् प्रसिद्धेश्च तस्यास्तस्याश्च नन्दनः सुतः। ननु हरेर्यशोदासुतत्वं न स्फुटार्थविरोधात्। मैवम्। तत्सुतत्वस्यापि मुनिना बोधितत्वात्। *"निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दने। देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः। आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः"* (श्रीमद्भा॰ १०/३/८) इत्यत्र *"यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत। न तद्वेद परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः"* (श्रीमद्भा॰ १०/३/५३) इत्यत्र च। तलिङ्गं क्वचित् पाठः। अस्यार्थः। वसुदेवपत्नी इव नन्दपत्नी च परं परमेश्वरमेव स्वगर्भाज्जातमबुध्यत। तद्वसुदेवागमनादिकं न वेद। पाठान्तरे तस्य वसुदेवागमादेर्लिङ्गं चिह्नं नाबुध्यतेत्यर्थः। तत्र हेतुः परीत्यादि। इत्थञ्च *"अदृश्यतानुजा विष्णोः" "नन्दस्त्वात्मजे" "गोपिकासुत"* इत्यादिनी सुपपन्नानि। *"उपगुह्यात्मजाम्"* इत्यादिवदारोपितसुतत्वशङ्कापि निरस्त; देवकीसुतस्य यशोदासुतेन सहैक्यात्तदैक्यवतस्तस्य मथुरादौ गमनात्। स्फुटार्थे च न सन्देहः। तदुभयसुतत्वं हरेः प्रागपि सिद्धम्। तत्त्वेनागमादिषुपासनविधानात्। धरादीनां सुतपसन्तुष्टब्रह्मादिवरहेतुकेन यशोदादि-सायुज्यमात्रेण तद्भावलाभ इति सर्वं स्थिरम्। ओमिति श्रीरामतापन्याम्। चिन्मये विज्ञानैकरसेऽस्मिन् दाशरथे श्रीरामे जाते प्रकटे सति रघोः कुलेऽखिलं सर्वा सम्पत् राति स्वयं दत्ता भवत्यभूदित्यर्थः। महाविष्णौ निखिलव्यापके। हरौ भक्ताविद्यापहारके। बाल्यादय इत्यादिपदात् पौगण्डकैशोरे ग्राह्ये तत्र तत्र तयोरप्युक्तेः। श्रूयन्त इति देवकी नन्दन दाशरथ-शब्दाभ्यामधिगम्यन्त इत्यर्थः। स्मर्यन्ते श्रीभागवतादिषु श्रीरामायणादिषु च। स्फुटार्थमन्यत्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व अधिकरणमें कहा गया है कि हिरण्मयोद्गीथके एकान्ती भक्तगण आकाशोद्गीथनिष्ठ परोवरीयस्त्व गुणकी उपासना नहीं करते। इसी प्रकारसे किशोर-वयस्क श्रीकृष्णमें उनकी बाल्यादि लीला उपास्य न हो क्योंकि यह स्वीकार करनेपर उनके चिर एकरसत्वका विरोध होता है। इसीको दृष्टान्त-सङ्गति द्वारा—अथेत्यादि वाक्यके द्वारा दिखाते हैं। तास्वेव इति—में 'तासु' अर्थात् गोपालतापनी इत्यादि उपनिषदमें—इसमें कृष्णाय देवकीनन्दनाय इत्यादि श्रुति गोपालतापनीमें विद्यमान है। 'देवकीनन्दनाय'—इसका अर्थ है—यशोदाका पुत्र क्योंकि देवकी शब्दका अर्थ है—श्रीनन्द-पत्नी और वसुदेव-पत्नी। आदि-पुराणमें वर्णन है—नन्दभार्याके दो नाम हैं—एक यशोदा और दूसरा देवकी, नाम-सादृश्यके कारण उन दोनोंका बन्धुत्व हुआ है और प्रसिद्ध भी है कि भगवान् देवकीके पुत्र भी हैं और यशोदाके पुत्र भी हैं। यदि कहो, श्रीकृष्णमें तो यशोदाका पुत्रत्व नहीं है क्योंकि इससे लोक-प्रसिद्ध अर्थके साथ विरोध होता है। ऐसा मत

कहना क्योंकि गर्ग-मुनिने श्रीनन्दजीसे कहा था—श्रीकृष्ण यशोदाके भी पुत्र हैं—यह बात है। यथा—*'निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दने। देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः'*—अर्द्धरात्रिमें निविड़ अन्धकारसे आच्छन्न कालमें देवरूपिणी देवकीसे सबके अन्तर्यामी श्रीविष्णु उसी प्रकार आविर्भूत हुए जिस प्रकार पूर्व दिशामें पूर्ण चन्द्रका प्रकाश होता है। इस स्थानपर देवकीसे सम्भूतत्व कहा गया है तथा *'यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत। न तद्वेद परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः'* नन्दपत्नी यशोदाने जाना कि परमपुरुष आविर्भूत हुए हैं किन्तु वसुदेवके आगमनादि वृतान्तको कुछ भी जान नहीं सकी क्योंकि वे परिश्रान्ता थीं और निद्राके कारण (योगमाया वश) लुप्त-स्मृति थीं। इस वाक्यमें परमेश्वरका यशोदाके गर्भसे सम्भूतत्व कहा गया है। पाठान्तर है *'न तल्लिङ्गम्'* अर्थात् वसुदेवके आगमनादिका चिह्न जान नहीं सकीं। उसका कारण था *'न तल्लिङ्गम्'*—निद्रा द्वारा (योगमाया द्वारा) अपहृत-स्मृति हो गयी थीं। इसके इस प्रकारके व्याख्यानमें *'अदृश्यतानुजा विष्णोः'* नन्दात्मज उत्पन्ने गोपिकासुतः—नन्दने यशोदा-गर्भजात पुत्र-सन्तानको देखा—इत्यादि विरुद्ध उक्तियाँ भी सुमीमांसित होंगी। *'उपगुह्यात्मजाम्'* इत्यादि वाक्यमें *'आत्मजाम्'*—कन्याको लेकर—इस अर्थके समान आरोपित-सुतत्व—यह शङ्का भी *'नन्दस्त्वात्मजे गोपिकासुते'* इस वाक्यमें परिहृत हुई (आरोपित की गयी) है। इसका कारण है कि—ये देवकी-सुत और यशोदा-पुत्र एक ही हैं—इस ऐक्यविशिष्ट श्रीकृष्णका मथुरादिमें गमन हुआ है। इस प्रकारसे विशद अर्थ लेनेपर फिर कोई सन्देह रहता नहीं है। श्रीहरि यशोदा एवं देवकी दोनोंके पुत्र हैं—यह पहले भी सिद्धान्तित हुआ है। तत्त्वानुसार देखा जाता है कि आगमादिमें अभिन्न रूपमें उपासनाका विधान है। यदि कहो, यशोदा-पुत्रका धरा नामकी वसु-पत्नीका पुत्रत्व किस प्रकार सङ्गत हुआ? उसका समाधान यह है कि धरादिकी अति कठोर तपस्यासे सन्तुष्ट ब्रह्मादिके वरसे उनकी यशोदा इत्यादिमें सायुज्य-प्राप्तिके कारण उस भावकी (रूपकी) प्राप्ति हुई है। अतएव और कोई आपत्ति नहीं है, सभी सङ्गत है। *'ॐ चिन्मयेऽस्मिन्'* इत्यादि मन्त्र श्रीरामतापनी-उपनिषदके अन्तर्गत है।

'चिन्मयेऽस्मिन्' इत्यादि का अर्थ है—'चिन्मये'—विज्ञानैकरस ये दशरथपुत्र श्रीरामचन्द्र—जात अर्थात् प्रकट (आविर्भूत) हुए। रघुवंशमें समस्त प्रकारकी सम्पत् स्वयं-भगवान् द्वारा दी गयी है; भवति अर्थात् हुई है। महाविष्णौ—अर्थात् विश्वव्यापक श्रीरामचन्द्र। हरौ—भक्तकी अविद्याके निवारक। *'एवमादिषु'* बाल्यादयो ब्रह्मधर्मा इति—बाल्यादयः—बाल्य इत्यादि, आदि पदसे पौगण्ड (दशम वर्ष पर्यन्त), कैशोर (पञ्च दशावधि—पन्द्रह वर्ष) वयस जानना चाहिये। उस-उस वयसमें उन राम-कृष्णके ब्रह्मधर्मकी उक्ति है, इसलिए। *'ब्रह्मधर्माः श्रूयन्ते'* इति—श्रूयन्ते अर्थात् देवकीनन्दन एवं दाशरथि—शब्द द्वारा ज्ञात हो जाता है। *'स्मर्यन्ते च तथेति'*—स्मर्यन्ते—श्रीभागवतादिमें और श्रीरामायणादिमें भाष्यके अन्य अंशका अर्थ सुस्पष्ट है।

व्याप्तेश्च समञ्जसाधिकरणम्

सूत्र—व्याप्तेश्च समञ्जसम्॥ १०॥

सूत्रार्थ—'व्याप्तेः' श्रीभगवान्‌की बाल्यादि अवस्थामें भी व्याप्तिके कारण न्यून-आधिक्य भाव नहीं होता, 'च' अतएव 'समञ्जसम्' समस्त ही सुसङ्गत है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्म बाल्यादि धर्मविशिष्ट होनेपर भी व्यापक हैं। उनके बाल्यादि भावोंमें न्यूनाधिक्य भावका अभाव रहनेके कारण समस्त ही सुसङ्गत एवं सामञ्जस्यपूर्ण है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—बाल्यादिधर्मिणस्तस्य भगवतो व्याप्तेर्विभूत्वाद्बाल्यादिना तद्भावाभावात् समञ्जसं तत्र तदित्यर्थः। प्रपञ्चितञ्चैतदनेन सर्वगतत्वमित्यादिना। न चैवं जन्माख्यो विकारः। *"अजायमानो बहुधा विजायत"* इति पुरुषसूक्तात्। जनिशून्यस्यैवाभिव्यक्तिमात्रं जन्मेति तदर्थः। चकारात् *"रसो वै सः"* (तै॰ २/७/१) इति रसात्मकत्व श्रवणात्। स्वोपासकानां यादृशेन रूपेण लीलारसानुभवस्तादृशं रूपमचिन्त्यया शक्त्या प्रकटयतीति समुच्चितम्। तदुपासकाश्च नित्यमुक्तादयोऽनन्ताः *"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"* (गो॰ता॰पू॰ ३०) इत्यादि श्रुतिसिद्धा बोध्याः। एक एव नानावयांसि तत्तदुपासकेषु युगपद्व्यनक्ति। सुरमनुष्यासुरेषु द-शब्द इव नानार्थानित्यन्ये। तथाच बाल्यादिमतोऽपि विभुत्वेनैकरस्याच्चिन्त्यास्तत्र बाल्यादय इति॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीभगवान् बाल्यादि समस्त अवस्थाओंसे सम्पन्न हैं। उनके विभुत्वके कारण बाल्यादि वयस द्वारा उनके विग्रहका न्यूनाधिक भाव सम्भव नहीं होता—अर्थात् न्यूनाधिक भावके अभाव होनेके कारण सब सामञ्जस्य है। *'तत्र तदित्यर्थः इति'* का अर्थ है—उन परब्रह्ममें, वे बाल्यादि अवस्थाएँ। 'सर्वगतत्वम्' इत्यादि वाक्य द्वारा इसीका विस्तारसे वर्णन किया गया है। आपत्ति है कि यदि भगवान्के बाल्यादि धर्मको स्वीकार करते हैं, तो उनका जन्म नामक विकार स्वीकार करना पड़ता है, परन्तु ऐसा है नहीं। पुरुषसूक्तमें कहा गया है—*'अजायमानो बहुधा विजायत'* वे स्वरूपतः अज होकर भी बहुत रूपोंमें अवतीर्ण होते हैं,—पुरुषसूक्तकी उक्तिसे यह प्रतिपन्न होता है कि वे जन्म-विकार-रहित हैं। यहाँ विजायते—जन्म शब्दका अर्थ है उत्पत्ति-रहित होनेके कारण उनका जन्म नहीं है, मात्र अभिव्यक्ति है। सूत्रोक्त 'च' शब्दके द्वारा *'रसो वै सः'* इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि उनमें रसात्मकत्व अथवा आनन्दरूपत्व प्रकाशित होता है—इससे समुच्चित अर्थ यह होता है कि जिस प्रकारके रूपको ग्रहण करनेपर निज उपासकोंको लीलारसका अनुभव हो, वैसा ही रूप वे अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे प्रकटित करते हैं। उन-उन रूपोंके उपासक भी नित्यमुक्त इत्यादि हैं, वे अनन्त हैं। *'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'* (अर्थात् वह विष्णुका परम पद है जिसे ज्ञानी दिव्य दृष्टिसे देखते हैं) इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित है। श्रुतिके अन्तर्गत 'सूरयः' पद द्वारा नित्यमुक्त उपासकोंको जानना चाहिये, क्योंकि वे 'सदा पश्यन्ति' सर्वदा ही भगवत्-दर्शन करते हैं। तत्त्व क्या है? वे अनादिकालसे ही समस्त अविद्यादि पञ्च क्लेशोंको सम्पूर्ण रूपसे दूर कर देते हैं। ये उपासक नित्यमुक्त एवं सर्वज्ञ हैं, इसलिए क्लेशादि उन पर आक्रमण नहीं कर सकते। *'इत्यादि श्रुतिसिद्धा इति'* इस आदि पदसे *'तद्विप्रासो विपण्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम्'* इन सब मुक्त पुरुषोंको जानना चाहिये। बात क्या है? ये साधना न करके भी सम्पूर्ण क्लेशोंसे परित्राण प्राप्त हैं। 'विप्रासः' का अर्थ है ब्राह्मणगण केवल वे ही नहीं, क्षत्रियादि भी। विपण्यवः अर्थात् लौकिक व्यवहार छोड़कर 'जागृवांसः' श्रीहरिकी साक्षात् अनुभूति प्राप्त

करके विष्णुका जो परम पद है, उसका ही आश्रय करते हैं। *'नानावयांसि तत्तदुपासकेषु'* इति में *'नानावयांसि'* का अर्थ है—बाल्य, पौगण्ड और कैशोर वयस। वे ही एक उपासकोंके निकट एक ही कालमें एक साथ नाना वयसकी अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे लोग व्याख्या करते हैं कि सुर, मनुष्य, असुरोंके लिए प्रजापतिने जिस प्रकार 'द' कारादि तीन शब्दोंका प्रतिपाद्य अर्थ एक 'द' शब्दसे समझा दिया था अर्थात् देवताओंसे कहा—तुम 'दम' ग्रहण करो, मनुष्योंको दानका उपदेश दिया और असुरोंको दयाकी शिक्षा दी—यह एक 'द' शब्द जिस प्रकार एक ही कालमें नाना अर्थोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार भगवान् भी एक ही समय नाना वयस अभिव्यक्त करते हैं। अतएव सिद्धान्त यह है कि श्रीभगवान् बाल्यादि अवस्थाओंसे विशिष्ट होनेपर भी विभुत्वके कारण सर्वदा एकरूप हैं, इसलिए ये बाल्यादि वयस उनमें चिन्तनीय हैं॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—व्याप्तेश्चेति। बाल्यादीति। तद्भावाभावाद्विग्रहे न्यूनाधिक-भावायोगादित्यर्थः। तत्र विग्रहे ब्रह्मणि। तद् बाल्यादि। तदुपासकाश्चेति। तथाच तद्भोक्तृणां नित्यं सत्त्वाद् ब्रह्मणो विभूतीनां नारण्यचन्द्रिकात्वप्रसङ्गः। तद्विष्णोरिति गोपालतापन्यादौ दृष्टम्। सूरय एते नित्यमुक्ता बोध्याः सदा पश्यन्तीत्युक्तेः। तत्त्वज्ञानादिनिर्धूतनिखिलक्लेशत्वं बोध्यम्। नित्यसर्वज्ञत्वादेव क्लेशादेरनवकाशः। आदिशब्दात्तद्विप्रासो विपण्यवो जागृवांसः समिन्धते इति श्रुतिसिद्धा मुक्ता ग्राह्याः। तत्त्वष्णोपायनिवृत्तनिखिलक्लेशत्वं बोध्यम्। विप्रासो ब्राह्मणाः। क्षत्रियादिनामुपलक्षणमेतत्। विपण्यवस्त्यव्यवहाराः। जागृवांसोऽनुभूतहरय इत्यर्थः। नानावयांसि बाल्यपौगण्डकैशोराणि। द-शब्द इवेति बृहदारण्यके। स्वाभ्युदयं पृच्छतो देवमनुष्यासुरान् प्रजापतिर्दशाब्दमुपादिशत्। स यथा तेषु दम-दान-दयारूपानर्थान् युगपत् प्रत्यापत्तथेत्यर्थः। अर्थभेदे शब्दभेद इति न्यायाश्रयान्त नैतं दृष्टान्त सहन्त इत्येके इत्युक्तं वैदूर्य इव रूपभेदानिति तु सम्यक्। ननु किशोरे तस्मिंस्तच्चिन्तकैर्बाल्यादि कथं भाव्यं विरोधादिति चेत्। मैवम्। न हि ते तत्र साक्षात् तत् पश्यन्ति किन्त्वविचिन्त्यशक्तिके तस्मिंस्तद्भावग्राह्यं तदस्त्येवेति सत्त्वेन धीमात्रमेव तेषां न त्वन्यदिति न किष्णिदसमञ्जसमिति व्याख्यातारः॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार— *'व्याप्तश्चेति'* सूत्रमें *'बाल्यादिधर्मिणः'* इत्यादि भाष्यमें *बाल्यादिना तद्भावभावात् इति तद्भावाभावात्*—विग्रहमें न्यूनाधिक भावके अभावके कारण—यह अर्थ है। तत्र तद्—उन ब्रह्ममें बाल्यादि अवस्था

हैं। *'तदुपासकाश्च नित्यमुक्तादयोऽनन्ता'* इति—सिद्धान्त यह है कि उस रसानुभवकारीकी नित्य सत्ताके कारण ब्रह्मकी विभूतियाँ अरण्यमें अन्तर-अन्तरमें प्रकाशमान ज्योत्स्नाके समान नहीं है। *'तद्विष्णोरित्यादि'* श्रुति गोपालतापनी इत्यादि उपनिषदमें उद्धृत है। *'सूरयः'* इस पदमें वे नित्यमुक्त हैं—यह जानना चाहिये क्योंकि *'सदा पश्यन्ति'* कहा गया है। नित्यमुक्त शब्दका अर्थ जानना चाहिये—अनादि कालसे सम्पूर्ण क्लेशोंसे मुक्त। युक्ति यह है कि—नित्य सर्वज्ञत्वके कारण क्लेशादिका प्रसङ्ग उनमें नहीं होता। इत्यादि श्रुतिसिद्धा इति—इस आदि पदसे ग्राह्य श्रुति है यथा—*'तद्विप्रासो विपण्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम्'*—इन सबको श्रुति सिद्ध मुक्तपुरुष जानना चाहिये। बात क्या है? इसका तत्त्व यह है कि ये उपाय (साधना) न करके भी वे अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेशोंसे परित्राण पा लेते हैं। विप्रासः—अर्थात् ब्राह्मणगण केवल वे ही नहीं क्षत्रियादि भी। विपण्यवः—अर्थात् लौकिक व्यवहार छोड़कर, जागृवांसः—श्रीहरिकी साक्षात् अनुभूति करनेवाले। नानावयांसि युगपद् इति—एक ही समयमें बाल्य, पौगण्ड, कैशोर वयसको अभिव्यक्त करते हैं। 'द-शब्द इव' यह बृहदारण्यकमें है। आख्यायिका इस प्रकारसे है—एक बार देवता, मनुष्य और असुरगण अपने-अपने मङ्गलके लिए प्रजापतिसे जिज्ञासा करने लगे। उन्होंने उन सबको 'द' शब्दका उपदेश दिया अर्थात् इस 'द' शब्दका अर्थ 'दम'—'मनका दमन'—यह अर्थ देवताओंको बता दिया, मनुष्योंको दान-अर्थ और असुरोंको दया-अर्थ बतला दिया। इसी प्रकार श्रीभगवान् एक ही कालमें अपने उपासकोंके निकट समस्त वयस अभिव्यक्त करते हैं। क्योंकि भिन्न अर्थ रहनेपर ही शब्द-भेद रहेगा—न्यायावलम्बीगण इस 'द' शब्दके दृष्टान्तको मानते नहीं हैं; इसीलिए 'अन्ये' अथवा 'एके' यह कहा गया है। अतएव वैदूर्यमणिके समान रूपभेद-दृष्टान्त जो कहा गया, वही समीचीन है। प्रश्न यह है कि किशोर वयस्क श्रीहरिका ध्यान करनेवाले उन्हीं भगवान्में बाल्यादि विरुद्ध भावोंका किस प्रकारसे चिन्तन करें। यह यदि कहते हो तो इस प्रकारसे मत कहिये—इसका तात्पर्य अन्य प्रकारसे है। उस (कैशोर) वयसका ध्यान करनेवाले श्रीभगवान्में तत्काल (उस समय)

उन बाल्यादि अवस्थाका साक्षात्-दर्शन नहीं करते किन्तु अचिन्त्य-शक्तिशाली श्रीभगवान्में उन-उन भावों द्वारा बाल्यादि अवस्थाएँ ग्रहणीय हैं, उस सत्ता रूपमें उनका चिन्तनमात्र ही होता है, अन्य कुछ नहीं। अतएव कुछ भी असङ्गति नहीं है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब श्रीभगवान्की बाल्यादि लीलाओंके गुणोंके उपसंहारके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है।

कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि यशोदाके स्तनपायी तमालवर्ण श्रीकृष्ण ही कृष्णमन्त्रके प्रसिद्ध अधिदेव हैं। इनमें श्रीकृष्णके जन्मादि एवं बाल्यादि स्वीकृत हैं और राममन्त्रमें भी श्रीरामचन्द्रकी इस प्रकारकी जन्म और बाल्यादि लीलाओंके विषयमें श्रुति और स्मृतिसे अवगत हुआ जा सकता है। यहाँ एक संशय यह है कि श्रीभगवान्के सब बाल्यादि धर्मोंका चिन्तन करनेपर श्रीभगवत्-स्वरूपके न्यूनाधिक भाव आ पड़ते हैं और श्रुतिमें भगवान्को जो एकरस कहा गया है, उसके साथ भी विरोध घटता है। अतएव इनका चिन्तनीय न होना ही उचित है। पूर्वपक्षीके इस मतके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीभगवान् विभु हैं, इसलिए वे बाल्यादि धर्मोंसे युक्त होकर भी व्याप्तिवश न्यूनाधिक भावोंको प्राप्त नहीं होते। अतः समस्त ही सामञ्जस्यपूर्ण है। उनकी अभिव्यक्ति ही उनका जन्म है।

इस प्रसङ्गमें श्रीभगवान्के जन्मादि स्वीकार करनेपर किसी विकारकी आपत्ति घटित नहीं होती। बाल्यादि लीला-प्रकाशमें एकरस श्रुतिका विरोध नहीं है और श्रीकृष्णका यशोदानन्दनत्व विचार, श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तगण तथा उनकी लीलाका नित्यत्व इत्यादि विषयमें श्रीमद् बलदेव प्रभुने अपने भाष्य एवं टीकामें विस्तारसे विचार किया है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'युज्यते चोपसंहारोऽनुपसंहारश्च योग्यताविशेषात्। गुणैः सर्वैरुपास्योऽसौ ब्रह्मणा परमेश्वरः। अन्यैर्यथाक्रमश्चैव मानुषैः कैश्चिदेव तु इति भविष्यत् पर्वणि।' अर्थात् साधककी योग्यता विशेषमें ब्रह्मकी गुणोपसंहार और अनुपसंहार दोनोंकी ही व्यवस्था जाननी चाहिये। भविष्यत् पर्वमें कहा है कि ब्रह्मा समस्त गुणों द्वारा परमेश्वरकी उपासना करते हैं, किन्तु अन्य मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार ब्रह्मके गुण परिशीलन

द्वारा उपासना करते हैं। वास्तवमें जिसकी जैसी शक्ति है, वह व्यक्ति उस शक्तिके अनुसार ब्रह्मके गुणोंकी पर्यालोचना द्वारा उपासना करे।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्व्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥

(श्रीमद्भा॰ १०/९/१३-१४)

अर्थात् सर्वव्यापक होनेके कारण जिनमें न बाहर है और न भीतर, न आदि है, न अन्त, जो जगत्से पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे जो सर्वकाल एक ही स्वरूपमें नित्य विराजमान रहते हैं, जो जगत्के कार्य और कारण हैं, एवं जगत्-स्वरूप हैं, उन अव्यक्त मनुष्याकृति श्रीकृष्णको अपना पुत्र मानकर यशोदादेवीने साधारण बालकके समान उन्हें रस्सीसे ऊखलके साथ बाँध दिया।

प्रस्तुत श्लोकोंकी टीकामें श्रीलचक्रवर्तीपाद कहते हैं—

ब्रह्मादिसे स्तम्ब पर्यन्त सभीको वे अपनी माया-रज्जु द्वारा बाँधते हैं, वे सर्वव्यापक महामहेश्वर हैं, उन्हें स्वप्रेमरज्जुबलसे ही माँ यशोदाने पट्टमय रज्जुसे बाँधा था। बाहरसे वेष्टित रज्जुके द्वारा परिच्छिन्न वस्तुका ही बन्धन सम्भव है, किन्तु व्यापक होनेके कारण उनका बाहर ही नहीं है तो वहाँ रज्जु भी रहेगी कैसे और किस प्रकार उसका आवरण होगा? उनका सर्वदेश-व्यापकत्व ही नहीं, सर्वकालव्यापकत्व भी है। सारा जगत् भी उन्हें बाँध नहीं सकता। प्रेमवश्यत्वके कारण ही उनका महान ऐश्वर्य प्रच्छन्न रहता है। चित्पुञ्जरूप होनेपर ही उनका बन्धन किया गया। अहो! माँ यशोमतीका कैसा प्रेमबल है!

श्रीकृष्ण श्रीनन्दजीके नित्य पुत्र हैं—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय,
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।

वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/१)

अर्थात् श्रीब्रह्माजीने स्तुति करते हुए कहा—हे जगत्-पूज्य! आपका श्रीविग्रह वर्षाकालीन नवीन मेघके समान-श्यामल है, इसपर आपने स्थिर विद्युतके समान झिलमिलाता पीताम्बर धारण कर रखा है। आपके गलेमें गुञ्जाकी माला, कानोंमें मकराकृति कुण्डल एवं सिरपर मोरपंखोंका मुकुट है। आपके गलेमें वृन्दावनके रङ्ग-बिरङ्गे पत्र-पुष्पादिसे रचित वनमाला लटकी हुई है, हाथोंमें दधिमिश्रित भातका कौर है, बगलमें बेंत, सिंगी (विषाण) और कमरकी फेंटमें वेणु सुशोभित हो रहे हैं। आपके श्रीचरणयुगल कमलके समान अतिशय कोमल हैं। आप गोपराज नन्दके नित्य पुत्र हैं। मैं आपका स्तव करता हूँ।

श्रीभगवान् भक्तोंकी इच्छाके अनुसार रूप धारण करते हैं—

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥

(श्रीमद्भा० १०/५९/२५)

अर्थात् पृथ्वीदेवीने कहा—हे देव-देवेश! हे शंख-चक्र-गदाधर! आप भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए विविध स्वरूप प्रकट करते हैं। हे देव! मैं आपको प्रणाम करती हूँ।

श्रीभगवान्की देहका स्वरूप है—

अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः।

(श्रीमद्भा० १०/४८/२२)

अर्थात् अतः न आपमें बन्धन है और न मोक्ष। आपमें अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार बन्धन या मोक्षकी जो कुछ कल्पना होती है, उसका कारण केवल हमारा अविवेक ही है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

किशोरशेखर-धर्मी ब्रजेन्द्रनन्दन।
प्रकटलीला करिबारे जबे करि मन॥

आदौ प्रकट कराय माता-पिता भक्तगणे।
पाछे प्रकट हय जन्मादिक-लीलाक्रमे॥
वयसो विविधत्वेऽपि सर्वभक्तिरसाश्रयः।
धर्मी किशोर एवात्र नित्यलीला-विलासवान्॥
(चै॰च॰म॰ २०/३७८-३८०)

पूतना-वधादि यत लीला क्षणे-क्षणे।
सब लीला नित्य प्रकट करे अनुक्रमे॥
अनन्त ब्रह्माण्ड, तार नाहिक गणन।
कोन लीला कोन ब्रह्माण्डे हय प्रकटन॥
एइ मत सब लीला येन गङ्गाधार।
से-से लीला प्रकट करे ब्रजेन्द्रकुमार॥
क्रमे बाल्य-पौगण्ड-किशोरता-प्राप्ति।
रास आदि लीला करे, किशोर नित्यस्थिति।
'नित्यलीला' कृष्णेर सर्वशास्त्रे कय।
बुझिते नारे लीला केमने 'नित्य' हय॥
दृष्टान्त दिया कहि, तबे लोक सब जाने।
कृष्णलीला नित्य, ज्योतिश्चक्र प्रमाणे॥
ज्योतिश्चक्रे सूर्य येन फिरे रात्रि-दिने।
सप्तद्वीपाम्बुधि लप्ति फिरे क्रमे-क्रमे॥
रात्रिदिने हय षष्टि दण्ड-परिमाण।
तिन सहस्र छय शत पल तार मान॥
सूर्योदय हैते षष्टि पल क्रमोदय।
सेइ एक दण्ड, अष्ट दण्ड 'प्रहर' हय॥
एक-दुइ-तिन-चारि प्रहरे अस्त हय।
चारि प्रहर रात्रि गेले पुनः सूर्योदय॥
ऐछे कृष्णलीला मण्डल चौद्दमन्वन्तरे।
ब्रह्माण्ड मण्डल व्यापि क्रमे-क्रमे फिरे॥
(चै॰च॰म॰ २०/३७६-३८९)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—हे सनातन! सुनो! व्रजेन्द्रनन्दन कृष्णका श्रीविग्रह किशोरधर्मी है। उनका वयस किशोर-शेखरताको प्राप्त है। जब वे प्रकटलीला करते हैं, तब वे सर्वप्रथम अपने माता-पिता और भक्तोंको प्रकट करते हैं। जैसा कि भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है कि नित्यलीलाविलासवान् सर्वभक्तिरसाश्रय कृष्णके विविध वयस रहनेपर भी किशोर वयस श्रेष्ठ है (वे सर्ववय बाल्य-पौगण्ड-किशोरादि धर्मोंसे विशिष्ट पूर्णतम हैं)। उनकी लीलाएँ नित्य प्रकट हैं, अनन्त ब्रह्माण्डमें समय-समयपर क्रमसे नित्यलीला प्रकटित होती है। कृष्ण एक ब्रह्माण्डमें जन्मलीलासे आरम्भ करके १२५ वर्ष पर्यन्त रहकर मौषलान्तलीला प्रकट करते हैं, तब उस ब्रह्माण्डमें लीला अप्रकट हो जाती है और पहले क्षणके अन्तमें जैसे ही दूसरा क्षण आरम्भ होता है, तब अन्य ब्रह्माण्डमें प्रथम क्षण सम्बन्धिनीलीला प्रकट होती है। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती। इनमें प्रतिक्षण सम्बन्धिनीलीला प्रकट होकर पुनः अन्य ब्रह्माण्डमें तत्क्षण सम्बन्धिनीलीलाका उदय होता है।

अनन्त ब्रह्माण्डमें कृष्णकी असंख्य लीला क्रमपूर्वक उदित होकर अप्रकटित होती है। जीवके ज्ञानमें उनकी अनन्त लीलाओंकी नित्यताकी उपलब्धिकी सम्भावना नहीं है। गङ्गाकी धारा जिस प्रकार निरवच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होती है, अलातचक्र-भ्रमण जिस प्रकारसे निरन्तर और व्यापक है, उसी प्रकार कृष्णलीलाका भी निरवच्छिन्न प्राकट्य भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें उपलब्ध होता है। सूर्यका भ्रमण-मार्ग अर्थात् ज्योतिश्चक्रके भ्रमणके अनुसार सूर्य रात-दिन घूमता हुआ दीखता है और सप्तद्वीप (जम्बु, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौञ्च, शाक एवं पुष्कर) तथा सात समुद्र (क्षारोद, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद, शुद्धोद) को अतिक्रमण करता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण नित्यलीला प्रकटित करते हैं। जन्मलीलाके पश्चात् कृष्ण बाल्य, पौगण्ड एवं कैशोर लीलाको क्रमानुसार प्रकट करते हैं। कैशोर श्रीभगवान्‌की नित्य स्थिति है। इसी अवस्थामें वे रासलीला करते हैं। वेद, पुराणादि सभी शास्त्रोंमें कृष्णलीलाको नित्य कहकर वर्णन किया है। साठ-साठ घड़ियोंके रात और दिन होते हैं। एक

घड़ीमें साठ पल होनेसे एक दिन अथवा एक रातमें ६०×६०=३६० पल होते हैं। सूर्योदय होनेसे साठ पलके बाद एक घड़ी बीत जाती है। आठ घड़ियोंके बीतनेपर एक प्रहर होता है। चार प्रहर बीत जानेपर सूर्य अस्त हो जाता है। चार प्रहर और बीतनेपर रात्रि समाप्त हो जाती है और पुनः सूर्योदय होता है। इसी प्रकार कृष्णलीला मण्डल चौदह मन्वन्तर अर्थात् कल्पके निर्दिष्ट कालमें क्रम-क्रमसे किसी-न-किसी ब्रह्माण्डमें पुनरावर्तित होता है॥ १०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु बाल्यादिकर्मणामपि भगवद्धर्मत्वान्नित्यत्वं तेषु तत्तत्परिकरयोगेन च भाव्यमिति वाच्यम्। तत्रैकस्य तत्परिकरस्य पूर्वोत्तरभावेनानेक-कर्मसम्बन्धोऽभिमतः। पूर्वस्य कर्मणो नित्यत्वे तत्सम्बन्धिनः परिकरस्यापि तत्र नित्यसम्बन्धो वाच्यः। तमन्तरा तत्स्वरूपासिद्धेः। एवं सत्युत्तरकर्मसम्बन्धस्तस्य दुरुपपादः। उत्तरस्मिन् सम्बन्धे स्वीकृते तु पूर्वस्य नित्यत्वं व्याहन्येत। नित्यत्वे चोत्तरकर्मसम्बन्धिनस्तस्यान्यत्वं भवेत्। तदिदमनुभवेन शास्त्रेण च विरुध्यते। तथा कर्म खलु पूर्वापरीभूतांशः प्रत्यंशमप्यारम्भसमाप्तिभ्यां सिध्यद्वीक्ष्यते। तेन विना न तत्स्वरूपं सिध्येत्। न च तेन क्रमेण रसानुभवः। ततः कथं तन्नित्यत्वम्। चित्रलिखितवत् सदैकरस्यै हि नित्यता प्रतीता। किञ्च प्रकाशभेदैरारम्भे प्रत्येकं बहुत्वात् स्यादविच्छेदः। पृथगारम्भादन्यत्वं तु दुर्निवारम्। ततश्च तदेवेदमिति प्रतीत्यनुदयात् कथं तन्नित्यत्वं प्रत्येतव्यम्। तस्मात् कर्मनित्यत्वमसमाधेयमित्येवं प्राप्ते तन्त्रेणोत्तरमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का यह है कि बाल्यादि कालीन कर्म (लीला) भी जब भगवान्‌के धर्म हैं, तब उन्हें भी नित्य कहा जायेगा और इस कर्मके निर्वाहक परिजन आदि भी वहाँ रहेंगे—यह सुनिश्चित माना गया है, तब ऐसा होनेपर उस कर्म-समुदायमेंसे एक कर्मका परिकर पहले भी है और बादमें भी है—क्योंकि वह नित्य है। इससे उस परिकरका अनेक कर्मोंके (लीलाओंके) साथ योग अभिमत (स्वीकृत) हुआ है। इस विषयमें युक्ति यह है कि पूर्व कर्मके नित्य होनेपर तत्सम्बन्धी (अर्थात् उस कर्मका) निर्वाहक परिजन भी नित्य ही उससे सम्पृक्त (सम्बन्धित) है—यह भी अवश्य कहा जा सकता है क्योंकि ऐसा न होनेपर कर्म ही निष्पन्न (सिद्ध) नहीं होगा और उस स्वरूपकी असिद्धि हो जायेगी, साथ ही कर्मके

निष्पन्न न होनेपर उत्तरकर्ममें उस परिकरका परवर्त्ती कर्मके साथ सम्बन्ध अयौक्तिक हो पड़ेगा क्योंकि उत्तरकर्मके साथ सम्बन्ध स्वीकार करनेपर पूर्वकर्म फिर नित्य नहीं रहेगा और यदि पूर्वकर्म नित्य है तो उत्तरकर्म सम्बन्धी परिकर दूसरा होने लगेगा—इस प्रकार परिकरके योग द्वारा कर्मका नित्यत्व सिद्ध नहीं होगा। यह तो अनुभव-विरुद्ध एवं शास्त्र-विरुद्ध हो रहा है। इसे युक्ति द्वारा भी उपपन्न करते हैं—कर्म (लीला) मात्रके ही दो अंश हैं—एक पूर्व तथा दूसरा उत्तर। प्रत्येक अंश ही आरम्भ एवं समाप्ति द्वारा सम्पूर्ण होता देखा जाता है क्योंकि आरम्भ और समाप्तिके व्यतिरेकमें कर्मका स्वरूप (लीलाका स्वरूप) सिद्ध नहीं होता और फिर इस उक्त कर्मको अर्थात् आरम्भ-समाप्ति क्रमको माननेपर एक रसानुभूतिका सदा बने रहना सिद्ध नहीं होता। अतएव भगवत्-कर्मका (लीलाका) नित्यत्व किस प्रकारसे होगा? बात यह है कि चित्रमें अङ्कित (चित्रलिखित) वस्तुके समान यदि सर्वत्र एकरस स्वभाव रहता है तो वह एक रस वस्तु नित्य रूपमें प्रतीत होती है। और एक बात है प्रकाश-भेद स्वीकार करनेपर यदि आरम्भ-भेदको स्वीकार किया जाता है, तब प्रत्येक आरम्भके ही बहुत होनेके कारण (प्रत्येक प्रकाश अनेक होनेके कारण) अविच्छेद्य अर्थात् एकरसत्व बना रहता है। अतएव पृथक्-पृथक् आरम्भ होनेसे उनका अन्यत्व (पार्थक्य अथवा भेद) मानना पड़ेगा—यह दुर्निवार है अर्थात् इसका वारण किसीसे नहीं हो सकता। यह स्वीकार करनेपर 'यह वही एक ही वस्तु है' इस प्रत्यभिज्ञाका व्याघात होनेसे अर्थात् ऐसी प्रतीति होनेके कारण भगवत्-कर्मका नित्यत्व किस प्रकार प्रत्यय-योग्य (विश्वसनीय) होगा? अतएव भगवत्-कर्मका (भगवत्-लीलाका) नित्यत्व समाधानके योग्य नहीं है—इस प्रकार पूर्वपक्षीकी आशङ्काका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु बाल्यादिकर्मणां नित्यत्वे क्वचिदुक्तानामन्यत्रोप-संहारः स्यात्। न च तेषां तदस्ति कर्मत्वेन विनाशध्रौव्यात्। कर्म क्रिया लीला चेति पर्यायशब्दाः। आरम्भ-समाप्तितत्तज्जनसम्बन्धवन्ति खलु कर्माणि प्रतीयन्ते।

तत्सम्बन्धं बिना तेषां स्वरूपाणि न स्युः तेन घटितत्वात्। आरम्भसमाप्तिमतां ह्यनित्यत्वमसन्देहम्। यत्तु प्रत्येकं कर्मणां बहुत्वं पूर्वोत्तरयोः कर्मणोस्तिरोभावाविर्भावौ च स्वीकृत्य धारावाहिकतया तेषां नित्यतां मन्यन्ते तन्मन्दं प्रत्येकं तद्वतां तेषां तेषां मिथोऽन्यत्वात्। तस्मात् तयोस्तौ विनाशोत्पादावेव भवेताम्। यत्तु तदेवेदं कर्मेत्यभेदप्रतीतेस्तद्रूपतया नित्यतां वदन्ति तच्च निरवधानं तदेवेदं महौषधं यत् त्वया पुरोपभुक्तमितिवत् तस्याः सादृश्यविषयत्वात् तच्चोक्तयुक्त्या भेदविनिश्चयात्। नन्वारम्भसमाप्ती मास्तां चित्रनर्त्तकन्यायेन तत्कर्मैवैकरसमस्तु, तेन नित्यतेति चेन्न। ताभ्यां विना तत्स्वरूपासिद्धेस्तत्क्रमानुभूत्या रसोदयासिद्धश्च। किञ्च पूर्वोत्तरयोस्तयोस्तत्तज्जनसम्बन्धः सर्वानुभवसिद्धस्तस्यैकत्राभ्युपगमेऽन्यस्य स्वरूपं न सिध्येत् नित्यत्वं तु दुरापास्तमित्येवमाक्षेपे विभाते परसूत्रव्याख्यामवतारयति नन्वित्यादिना। नित्यत्वं सार्वज्ञादिधर्मवत्। तेषु कर्मषु। तत्र पूर्वकर्मणि। तमन्तरेति। परिकरयोगेनैव कर्मस्वरूपसिद्धेरित्यर्थः। तस्येति पूर्वकर्म-सम्बन्धिपरिकरस्य। पूर्वस्येति कर्मणः। तस्येति परिकरस्य। इत्थं परिकरयोगेन कर्मणो नित्यत्वं न सिध्यतीत्यापाद्य स्वरूपेणापि तस्य तन्न सम्भवेदिति प्रतिपादयति तथेत्यादिना।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अब प्रश्न यह है कि यदि भगवत्-लीला नित्य है तो अन्य अवस्थामें उक्त लीलाका उपसंहार (ग्रहण) हो सकता है, किन्तु लीला ही नित्य नहीं है, क्योंकि कर्ममात्रके ही कर्मत्वके कारण विनाश सुनिश्चित रहेगा। यदि कहो, कर्म नश्वर हो सकता है, लीला ऐसे किस प्रकार होगी? यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्म, क्रिया और लीला एक ही पयार्यभुक्त शब्द हैं। कर्ममात्रमें देखा जाता है कि उसका आरम्भ है, समाप्ति है, उसका निर्वाहक परिजन भी है। परिजनके सम्बन्धके व्यतिरेकमें कर्मका स्वरूप निष्पन्न होगा नहीं क्योंकि इन सबके द्वारा ही कर्म घटित होता है। और यह भी निःसन्देह है कि आरम्भ और समाप्ति रहनेपर वस्तुमात्र ही अनित्य है। तब जो कोई-कोई कहते हैं प्रत्येक कर्म बहु है एवं पूर्वापर कर्म-दोनोंकी ही उत्पत्ति अर्थात् आविर्भाव है एवं विनाश अर्थमें तिरोभाव है इस प्रकारसे धारावाहिकता रूपमें कर्ममात्र नित्य है—ऐसा कहनेवाले मन्द, युक्तिहीन हैं—क्योंकि प्रत्येक कर्ममें परिजन विशेष है और वह-वह परिजन परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। अतएव उन दोनों कर्मों (पूर्व एवं अपर) का यह उत्पत्ति-विनाश रहेगा ही। तब जो कोई-कोई कहते हैं—'यह वही कर्म है'—इस प्रकार

अभिन्न रूपमें प्रतीत होनेके कारण तद्रूपतः कर्म नित्य है, उनकी यह उक्ति प्रमादहीन नहीं है अर्थात् यह प्रमत्त व्यक्तिकी उक्ति है क्योंकि यह अभेदोक्ति 'यह वही महौषध है जो तुमने पूर्वमें सेवन की है' यह उक्ति जिस प्रकार सादृश्यको लेकर प्रवृत्त होती है, यह भी उसी प्रकार दो ओषधियोंके समान पूर्वापर दोनों कर्मोंका अभेद-ज्ञान सादृश्यके कारण है और सादृश्य जो भेदघटित है, वह पूर्वोक्त युक्तिमें पाया जाता है। यदि कहो, चित्राङ्कित नर्त्तकमें जिस प्रकार नृत्यकर्मका आरम्भ और समाप्ति कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार भगवत्-लीलाका आरम्भ और समाप्ति नहीं है, अतएव भगवान्‌के कर्म सर्वदा एकरस (एकस्वरूप) होंगे, इसीलिए वह (लीला) नित्य है, ऐसा नहीं है क्योंकि आरम्भ, समाप्तिके बिना कर्म सिद्ध होता नहीं और क्योंकि कर्ममें क्रम अनुभूत हो रहा है, तब उनके (आरम्भ, समाप्तिके) बिना रसोदय भी हो नहीं सकता। और एक बात है, पूर्वकालीन लीलाका और उत्तरकालीन लीलाका आनुषङ्गिक भिन्न-भिन्न परिवार-वर्गसे सम्पर्क सर्वानुभव सिद्ध है, उस परिजनका एक लीलामें सम्बन्ध मान लेनेपर अन्य लीलाकी सिद्धि होगी नहीं, दोनों लीलाओंकी नित्यता तो दूरकी बात है। इस प्रकार आक्षेप दृढ़ होनेपर उसके समाधानके लिए बादके सूत्रकी व्याख्याकी भाष्यकार 'ननु इत्यादि वाक्य द्वारा' अवतारणा करते हैं। *'भगवद्धर्मत्वान्नित्यत्वमिति'*— नित्यत्व अर्थात् सर्वज्ञत्वादि गुण-वैशिष्ट्य। *'तेषु तत्तत्परिकरयोगेनेति'* में 'तेषु' अर्थात् कर्मसमूहमें, तत्रैकस्येति में 'तत्र' का अर्थ है—पूर्वकर्ममें, तमन्तरा तत्स्वरूपासिद्धेरिति अर्थात् परिकर योग द्वारा ही कर्मका स्वरूप सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं होता, इस कारण। उत्तरकर्मसम्बन्धतस्य दुरुपपाद इतिमें 'तस्य' का अर्थ है पूर्व कर्ममें सम्बन्धी परिजनका। *'पूर्वस्य नित्यत्वं व्याऽन्येतेति'*—में पूर्वस्यका अर्थ है—पूर्व कर्मका, *'तस्यान्यत्वं भवेदिति'* में 'तस्य' अर्थात् उस परिकरका प्रभेद होगा। इस प्रकारसे परिकर-सम्बन्ध द्वारा कर्मकी नित्यता सिद्ध नहीं होती, यह आक्षेप करके स्वरूपतः भी जिस कर्मकी नित्यता सम्भव नहीं है, उसीका *'तथेत्यादि'* वाक्य द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

सर्वाभेदाधिकरणम्

श्रीहरि, उनके परिकर और लीलाका अभेदत्व एवं नित्यत्व

सूत्र—सर्वाभेदादन्यत्रेमे॥ ११॥

सूत्रार्थ—'सर्वाभेदात्' ये जो श्रीहरि, उनके परिजन तथा कर्मांश हैं—समस्तका कोई प्रभेद नहीं है, इसलिए 'अन्यत्र इमे' उत्तरकालीन कर्ममें भी वे ही रहते हैं॥ ११॥

सूत्रानुवाद—श्रीहरि, उनके परिकर एवं उनके कर्मांशसमूह पूर्वकाल अथवा पूर्वकर्ममें जो रहते हैं, उत्तर काल अथवा उत्तरकर्ममें भी वे ही रहते हैं। कारण वे सभी श्रीभगवान्से अभिन्न हैं, अतएव नित्य हैं॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—ये हरितत्परिकरास्तत्कर्मांशा वा पूर्वस्मिन् काले कर्मणि वा सन्ति त एवेमेऽन्यत्रोत्तरस्मिन् कर्मणि काले वा स्युरिति मन्तव्यम्। कुतः? सर्वाभेदात्। सर्वेषां पूर्वोत्तरवर्त्तिनां हरितत्परिकरप्रकाशानां तत्कर्माञ्ज्ञानां वा भेदाभावादित्यर्थः। एकस्य हरेर्बहुत्वम् *"एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति"* (गो॰ता॰पू॰ २१), *"एकानेकस्वरूपाय"* (वि॰पु॰ १/२/३) इति श्रुतिस्मृतिसिद्धम्। एकस्य तत्परिकरस्य च तन्मन्तव्यम्। भूमविद्यायां मुक्तस्य तदुक्तेः। महिष्युद्वाहादौ तथा स्मरणाच्च। तुल्यात्मनां कर्मणां कालभेदेनोदितानामप्यैक्यम्। *"द्विः पाकोऽनेन कृतो न तु द्विधा पाकः कृत"* इति विद्वत्प्रतीतेः, *"द्विर्गोशब्दोऽयमुच्चारितो न तु द्वौ गौशब्दौ"* इति शब्दैक्यवत्। इत्थञ्च श्रीहरेस्तज्जनानां तद्धाम्नाञ्च प्रकाशबाहुल्यात्तद्विशेषैः कर्मणामारम्भात् समाप्तेश्च पृथगारब्धानां तेषामैक्याच्च स्वरूपनित्यत्वे सिद्धे। तत्क्रमानुभवहेतुको विचित्ररसोदयश्चैतेनैव व्याख्यातः। न चैतदमूलम्। *"यदगतं भवच्च भविष्यच्च"* इति बृहदारण्यकात् *"एको देवो नित्यलीलानुरक्तः"* इत्यथर्ववाक्यात् *"जन्म कर्म च मे दिव्यम्"* (श्रीगी॰ ४/९) इत्यादिभगवद्वाक्याच्च। ईदृक्प्रत्ययः खलु तत्कृपयैव। *"यावानहं यथा-भावोयद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्"* (श्रीमद्भा॰ २/९/३१) इति तदुक्तेः। तस्मान्नित्यं तत्कर्मेति। किञ्च स्वरूपेण चिच्छक्त्या च कृतं कर्म नित्यं, तेन प्रकृतिकालाभ्याञ्च कृतन्त्वनित्यम्। तच्च स्वर्गादिकमेवान्यथा लयोक्तिव्याकोपः॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यह मानना होगा कि श्रीहरि, उनके परिजन अथवा उनके कर्मांश जो पूर्वकाल और पूर्वकर्ममें रहते हैं, वे सब

अन्यत्र अर्थात् परवर्तीकाल और परवर्ती कर्ममें भी रहेंगे। हैं। किस प्रकार? *'सर्वाभेदात्'* क्योंकि समस्त ही एक हैं, उनका कोई भेद नहीं है अर्थात् पूर्व एवं उत्तर काल और कर्ममें वर्त्तमान श्रीहरि, उनका परिजन—प्रकाश और कर्मांश—इनका कोई प्रभेद नहीं है। प्रमाण यह है कि श्रीहरिके एक होनेपर भी उनके बहुत्वका प्रकाश है—*'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'*—एक होनेपर भी जो बहुत रूपोंमें प्रकाशित होते हैं, इस श्रुतिके अनुसार उनके इस बहुत्वकी सिद्धि है। *'एकानेकस्वरूपाय'* (एक होकर भी अनेक स्वरूप) इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्य द्वारा भी यह सिद्ध है। श्रीहरि एक हैं, किन्तु उनके परिकर बहुत हैं, इसका प्रमाण है कि भूमविद्याकी आराधनाके फलमें मुक्त पुरुषका बहुत्व कहा गया है, इसलिए। स्मृतिसे भी देखा जाता है—श्रीकृष्णकी बहुत-सी महिषियोंके विवाहादिमें भी एक तत्त्वका युगपत् बहुत रूपोंमें प्रकाश है। एक प्रकारके कर्मका भिन्न-भिन्न कालोंमें वर्णन होनेपर भी तुल्यताके कारण उनका ऐक्य ही माना जाता है। इस विषयमें दृष्टान्त रूपमें लौकिक प्रयोग दिखाते हैं—*'द्विःपाकोऽनेन कृतः'*—इस व्यक्तिने दो बार पाक किया (रसोई बनायी)—यह कहनेसे पाकका द्विकालीनत्व जाना जाता है, पृथक्-पृथक् दो प्रकारका पाक नहीं जाना जाता। इसी प्रकार कर्म दो बार हुआ है, किन्तु कर्म भिन्न नहीं है—यह जानना चाहिये। यह उदाहरण लौकिक व्यवहारके लिए है। शब्दका ऐक्यरूप दृष्टान्त भी पाया जाता है, यथा—*'द्विर्गोशब्दोऽनेनोच्चारितः, न तु द्वौ गो शब्दौ'* अर्थात् इस व्यक्तिने दो बार गो शब्दका उच्चारण किया (गौ-गौ), किन्तु दो गौओंके लिए शब्द उच्चारित नहीं हुआ है, इसी प्रकार कर्मका भी ऐक्य जानना चाहिये। इस प्रकारसे श्रीहरिका, उनके परिजनवर्गका और उनके धामोंका बहुत प्रकाश रहनेपर इस प्रकार-भेदके द्वारा कर्मके आरम्भ एवं समाप्तिकी उपपत्तिके कारण पृथक्-पृथक् रूपसे आरम्भ होनेपर भी इन समस्त प्रकाशोंमें भेदके अभाव अर्थात् एकताके कारण सर्वत्र एकरूपत्व सर्वदा अक्षुण्ण रहता है। इसलिए कर्मके क्रमानुसार अनुभूति-जनित जो विचित्र आनन्दका उदय अर्थात् रसोदय कहा गया है, वह भी इस कर्मारम्भ-समाप्तिके स्वरूप-कथनके द्वारा

ही साधित हुआ है। यह अमूलक अथवा अयौक्तिक नहीं (निराधार) है, क्योंकि बृहदारण्यक-श्रुति-प्रमाणसे वह अवगत हो जाता सकता है, यथा *'यद्भतं भवच्च भविष्यच्च'* अर्थात् जो अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत् भगवान्‌की गुण-कर्म वस्तु है, वह तीनों ही कालोंमें वर्त्तमान है। अथर्वशिरा-वाक्यसे भी जाना जाता है कि *'एको देवो नित्यलीलानुरक्तः'* अर्थात् एक श्रीहरि नित्यलीलामें अनुरक्त हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवत्-वाणी है—*'जन्मेत्यादि'*—अहे अर्जुन! मेरे जन्म, कर्म—ये सभी वस्तुएँ दिव्य हैं अर्थात् अप्राकृत हैं, नित्य-स्वरूपानुबन्धी हैं। इस प्रकार ज्ञान उन्हींकी कृपासे ही उत्पन्न होता है। उन्होंने निज मुखारविन्दसे स्वयं ही कहा है—*'यावानहं यथा भावो ... मदनुग्रहात्'*—यावान् अहम् अर्थात् मैं जैसा हूँ अर्थात् मध्यमाकार होनेपर भी विभु हूँ, यथा भावः सर्वांशमें पारमार्थिक सत्ताविशिष्ट हूँ, *'यद्रूपगुणकर्मकः'* जो-जो रूप-विग्रह हैं, भक्तवात्सल्यादि गुण हैं, अवतारलीलास्वरूप कर्म (लीला) विशिष्ट हैं, मेरे अनुग्रहसे तुम्हें उसी प्रकारसे तत्त्वविज्ञान हो। अतएव यह सिद्ध होता है कि उनके कर्म नित्य हैं। और भी एक बात है कि नित्यानित्य सम्बन्धमें सिद्धान्त यह है कि जो स्वरूपानुबन्धी चिच्छक्ति द्वारा सम्पन्न होता है, वह नित्य है और उनकी प्रकृति एवं काल द्वारा जो निष्पन्न होता है, वह अनित्य है। स्वर्गादिको अनित्य कहना होगा, ऐसा न माननेपर अर्थात् स्वर्गादिको भी नित्य कहनेपर शास्त्रमें प्रलयोक्तिका व्याघात अर्थात् विरोध होता है। प्रलयमें स्वर्गादि भी ध्वंस हो जाते हैं, अतः वे अनित्य हैं॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—सर्वाभेदादिति। पूर्वोत्तरवर्त्तिनामिति। पूवोत्तरकर्मसम्बन्धिनां पूर्वोत्तरकालवर्त्तिनां कर्मांशानाञ्चेत्यर्थः। अयं भावः—पूर्वपूर्वकर्मारम्भे परपरकर्मणः परपरकर्मारम्भे पूर्वपूर्वकर्मणश्च प्रकाशान्तरेषु सत्त्वात् कर्मणां सदैकरस्यं सिद्धम्। सर्वेषां प्रकाशानामभेदाच्च कर्मणां नान्यारब्धत्वं। इत्थञ्च पृथगारम्भादन्यत्वं दुर्निवारमिति निरस्तम्। तदिति बहुत्वम्। एकस्य कर्मणो बहुरूपत्वं प्रतिपादयितुमाह तुल्येति। समानाकाराणामित्यर्थः। तत्रानुभवं प्रमाणयति द्विः पाक इति। तत्र दृष्टान्तो द्विर्गोशब्दोऽयमिति। एतेनोत्पन्नः को विनष्टः क इतिबुद्धेरनित्यत्येति वदन् वेदानित्यत्ववादी तार्किको निरस्तः। इत्थञ्चेति। तद्विशेषैः प्रकाशभेदैः स्वरूपनित्यत्वे सिद्धे इति। आरम्भसमाप्तिमत्त्वात् स्वरूपं सिद्धं पृथगारब्धानामपि तेषां भेदाभावात् सदैकरस्यरूपा नित्यता च सिद्धेत्यर्थः। तत्क्रमेति। तेषां कर्मणां

यः क्रमेणानुभवः साक्षात्कारः तज्जनितो यो विचित्रस्य बहुविशेषविशिष्टस्य रसस्योदयः स चैतेन कर्मारम्भसमाप्तिमत्त्वप्रतिपादनेन व्याख्यातः साधित इत्यर्थः। न चैतदिति। एतत् कर्मनित्यत्वम्। यद्गतमिति ब्रह्मगतं गुणकर्मरूपं वस्त्वित्यर्थः। गतभवद्भविष्यच्छब्दैस्तस्य त्रैकालिकत्वं लब्धम्। जन्मेति। *"एवं यो वेत्ति तत्त्वतः त्यक्त्वादेहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्ज्जुन"* इति वाक्यशेषः। मे जन्म कर्म च दिव्यमप्राकृतं नित्यं स्वरूपानुबन्धीति यावत्। तस्यैवंभूतत्वाभावे तज्ज्ञानेन मोक्षोक्त्यनुपपत्तिः। ब्रह्मज्ञानमेव मोचकम्। तमेव विदित्वेत्यादिश्रुतेः। तज्जन्म-कर्मणोर्ब्रह्माभेदात् तज्ज्ञानेन तदुक्तिर्नासङ्गतेति वाराहोक्तिश्च— *"एवं जन्मानि कर्माणि नामानि च वसुन्धरे। मम दिव्यानि सञ्चिन्त्य मुच्यते सर्वपातकैः"* इति। ईदृगिति। प्रतायो ज्ञानम्। यावानिति। यत्परिमाणः मध्यमत्वे विभुत्ववान्। यथाभावः सर्वांशे पारमार्थिकसत्ताविशिष्टः। यद्रूपेति। स्वरूपानुबन्धिरूपादिकः। तत्र रूपाणि विग्रहा गुणाः सार्वज्ञयादयः कर्माणि जन्मलीलारूपाणीत्यर्थः। किञ्चेति। तेन रूपेण। अन्यथा सर्गादिकर्मणोऽपि नित्यत्वस्वीकारे सति। तस्मात् सर्गादिभिन्नं कर्म नित्यमिति सिद्धम्। ये तु केचित् मध्याह्नरविप्रभावच्चित्प्रकाशमयः सर्वात्मभूतः परमात्मा श्रुतितात्पर्यगोचरस्तादृशे तस्मिन् जन्मकर्मरूपविविधमालिन्यविभावनं दुर्धीरेव। ननु दाशरथ्यादिरूपे तत्र श्रुत्यादिभिर्वर्णितत्वात् तत्तद्विदुषापि श्रद्धेयमिति चेत् मैवमेतत् प्रापञ्चिकमेव तत् स्वानुसारेणाज्ञैर्निष्प्रपञ्चेऽपि तस्मिन्नर्पितं श्रुत्यादीन्य-नुवदस्त्यपवदन्ति चान्ते तस्मान्नभोनैल्यवत् कल्पितत्वादनृतमेव तत्तन्मन्तव्य-मतस्तद्वाक्यार्थश्रद्धालु नामतत्त्वविततमेव। यस्तु कश्चित् तत्त्ववित् स एव निर्गुणचिदेकरसत्वावेदिश्रुतेर्जन्मादिमालिन्यशून्यमुक्तलक्षणमेव तं विन्दत्यतो वित्कतेखे तद्विषयो न त्वनुरक्तेरिति जल्पन्ति ते खलु न केनाप्यनुगृहीता बोध्या। मालिन्यक्लेशाष्पदत्वान्नृदेहेषु तत् कर्मसु च विरक्त्या भवितव्यं न तु देवादिदेहेषु तत्कर्मसु च। सत्त्वप्राधान्येन सत्यसङ्कल्पतया च तेषु तत्तविरहात्। किञ्च दैत्यहेतुकदुःसहक्लेशयोगेन देवदेहेष्वपि तत्त्वविद्विरज्यति न तु क्लेशकर्म-विपाकाशयास्पृष्टे सत्यसङ्कल्पसत्यकामसार्वज्ञ्ययापारमैश्वर्य-सौशील्यकारुण्यादि-विचित्रानन्तगुणरत्नालयेऽपरिच्छिन्नचित्सुखविग्रहे वारिवीचिन्यायेन सोल्लासात्मकरसमय-विचित्रकर्मणि प्रपत्तिमात्रेण सर्वक्लेशहरे स्वपर्यन्तनिखिलदातरि हरावित्युक्ताभिप्रायिणः पृथग्जना एव विदिताः। श्रीहरिगुणानामानुवादिकत्वादि तु पुरा निरस्तम्। नैर्गुण्यवाक्यान्नभोनैल्यवत् तत्र तदध्यस्तमिति तु बालकोलाहलः। अविषये तदयोगाद्बादरायणादिसर्वज्ञानुभवविरोधाच्च निर्गुणवाक्यन्तु प्राकृतगुणनिषेधकृदित्युक्तम्। ये च केचित् वैष्णवन्मन्याः कल्पयन्ति निस्तरङ्गसिन्धुरिवानन्दचिन्मयो नित्योत्कृष्ट-विशुद्धसत्त्वपुर्निर्विकारः सत्यसङ्कल्पादिगुणको हरिर्न तस्य जन्मादि स्वाभाविकं किन्तु जनमनोनिवेशायोपात्तसत्त्वो नृभावमनुकुर्वन् उपाधिकमेव कदाचित् तदात्मनि विन्दतीति न तत्र तात्विकं तद्विभाव्यम्। न च तत्तत्क्रीडानन्दविरहे स्वस्वरूपे

श्यूनतापत्तिरिति वाच्यम्। स्वतो नित्यानन्दे पूर्णे तदनापत्तेः। क्रीडाहेतुकस्यानन्दस्य जन्यत्वेन नित्यानन्दत्वश्रुतिवाक्योपाच्च न स तस्मिन् स्वीकार्यः। अतएव दाशरथेः शौरेश्च गार्हस्थ्यौदासीन्यस्मरणमुपपन्नम्। तस्मादुक्तरूपमेव भगवत्तत्त्वमिति तेऽप्यपूर्ववैष्णवा भवन्ति, तत्तदभावे तत्तदावेदिश्रुत्यादिव्याकोपात् सर्वदेशिक-व्यासाद्यनुभवविरोधाच्च। पूर्णत्वं हि तत्तद्विचित्रानन्दकृतमेव, तस्य च स्वरूपोल्लास-रूपत्वान्न जन्यत्वशङ्का। कर्मनित्यत्वनिरूपणाच्च तदुल्लासस्यापि नित्यत्वम्। एवमेवोक्तम्। तज्जज्ञैः। रूपादिभोगजैः पूर्त्तिर्या सौख्यैः सा स्वतोऽस्ति चेत्। तथापि न्यूनवैचित्र्यः परात्मेति तवापतेत्। स्वतस्तच्चापि वैचित्र्यं तस्मिन्नस्तीति चेद्वदेः। मत्कुक्षावागतं धीमन् भवतेति निभाल्यतामिति। तस्य तस्य च तदौदासीन्यस्मरणं जनशिक्षार्थं लीलारूपमिति सन्तोष्टव्यम्। तस्मात् कृत्स्नवाक्यार्थपर्यालोचनाक्षमा तव तेषां तद्व्यवस्थाकल्पनेति प्रतीतम्। यत् किल तदनुकरणबोधकमिव नृलोकविडम्बनादिपदाञ्चितं क्वचिद्वाक्यमस्ति तच्च लोकस्थस्य हरेर्लौकिककर्मकत्वेन तदपहेलनकत्वात् सङ्गमनीयमित्यलमतिविस्तरेण॥ ११ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'सर्वाभेदादित्यादि'* सूत्रमें *पूर्वोत्तरवर्त्तिनामित्यादि* भाष्य है—पूर्वापर-कर्मसे सम्पृक्त और पूर्वापरकालमें वर्त्तमान कर्मांशसमूहका—यह अर्थ है। बात यह है कि पूर्व-पूर्व कर्मारम्भमें पर-पर कर्मके प्रकाशमें विभिन्न रूपसे सत्ताके कारण और पर-पर कर्मारम्भमें पूर्व-पूर्व कर्मके प्रकाशकी वर्त्तमानताके कारण कर्मसमूहका सर्वदा एकरूपत्व सिद्ध है। और समस्त प्रकाशकी भी अभिन्नताके कारण कर्मोंकी भी अन्य द्वारा उत्पत्ति नहीं है, इस कारण पूर्वमें आशङ्कित पृथक्-पृथक् आरम्भके कारण कर्मका भेद जो दुर्निवार कहा गया था, वह खण्डित हुआ। *'तत्परिकरस्य च तन्मन्तव्यम् इति'* में—तत् अर्थात् बहुत्व। एक ही कर्म बहुत प्रकारसे किस तरह होता है, इसे युक्ति द्वारा सिद्ध करनेके लिए कहते हैं—*'तुल्यात्मनां कर्मणामित्यादि' 'तुल्यात्मनाम्'* अर्थात् समानाकार कर्मसमूहका। इस विषयमें विद्वद्-वृन्दका अनुभव प्रमाण रूपमें दिखाते हैं—*'द्विः पाकः'* इत्यादि। इस विषयमें दृष्टान्त यह है—*द्विर्गोशब्दोऽयमित्यादि*। इसके द्वारा 'क' शब्द उत्पन्न हुआ और 'क' शब्द विनष्ट हुआ उस ज्ञानके कारण वेदका भी अनित्यतावादी तार्किक मत खण्डित हुआ। *इत्थञ्च श्रीहरेस्तज्जनानामित्यादि तद्विशेषैः कर्मणामित्यादि'— 'तद्विशेषैः'* अर्थात् प्रकाश भेद द्वारा कर्मादिके स्वरूपका नित्यत्व सिद्ध हुआ, इस प्रकार अन्वय है। प्रकाश भेद

द्वारा आरम्भ एवं समाप्तिमत्त्व उक्ति हेतु स्वरूप-सिद्ध कारणके पृथक् आरम्भ होनेपर भी कर्मका कोई भेद न रहनेसे सर्वदा एकरूपत्व एवं नित्यत्व सिद्ध है। *'तत्क्रमानुभवेति'* उस कर्मसमुदयके क्रमानुसार जो अनुभूति है, उसीसे विचित्र अर्थात् बहु-विशेष विशिष्ट रसका उदय होता है, यह इस प्रकारसे कर्मारम्भ एवं कर्मसमाप्तिमत्त्वके प्रतिपादन द्वारा निरूपित हुआ। *'न चैतदमूलमिति'* में 'एतत्' का अर्थ है—यह कर्मनित्यत्व, 'यद्गतम्' इत्यादि 'यद्गतम्' अर्थात् ब्रह्मविषयक जो गुणकर्मरूप वस्तु है, गत-अतीत, भविष्यत्-भावी और भवत्-वर्त्तमान्—इन तीनों शब्दोंके द्वारा उसका त्रैकालिकत्व अवगत हो जाता है। *'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'* इत्यादि इसका अवशिष्टांश है—*'यो मे वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन'* गीतामें श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुनसे कहते हैं—अहे अर्जुन! मेरे जन्म एवं कर्म दिव्य अर्थात् अप्राकृत, नित्य-स्वरूपानुबन्धी हैं। यदि ऐसा न होता तो भगवत्-विषयक उन जन्म, कर्मके ज्ञान द्वारा मुक्तिकी उक्ति असङ्गत होती। ब्रह्मज्ञान ही मुक्तिका कारण है, *'तमेव विदित्वा'* इत्यादि श्रुति वही कहती है—अतएव यह उक्ति असङ्गत नहीं है; क्योंकि भगवान्के जन्म एवं कर्म उनसे अभिन्न हैं। वराहपुराणकी उक्तिमें भी इसी प्रकारसे है यथा *'एवं जन्मानि कर्माणि'* इत्यादि। भगवान् पृथ्वीसे कहते हैं—अयि वसुन्धरे! मेरे इस प्रकारके जन्म, कर्म, नाम एवं स्वरूप दिव्य अर्थात् अप्राकृत हैं—इसका ध्यान करनेपर जीव समस्त पापसे मुक्त हो जाता है। *'ईदृक् प्रत्ययः खलु तत्कृपयैवेति'* में 'ईदृक् प्रत्ययः' का अर्थ है—इस प्रकारका ज्ञान श्रीभगवान्की कृपासे ही होता है, अन्यथा नहीं। किस प्रकारका ज्ञान? वही बतलाते हैं—'यावानहम्' इत्यादि—मैं जिस प्रकारसे परिमाण-सम्पन्न हूँ अर्थात् मध्यम-परिमाण हूँ फिर भी विभु-सर्वव्यापक हूँ, 'यथाभावः' अर्थात् सर्वांशमें पारमार्थिक सत्ता विशिष्ट हूँ। 'यद्रूपः'—अर्थात् स्वरूपानुबन्धिरूपादि-सम्पन्न हूँ। रूपादिके मध्यमें 'रूप' का अर्थ है विग्रह, गुण-सार्वज्ञ्य इत्यादि अर्थात् कर्म-जन्म एवं लीला। *'किञ्चस्वरूपेण चिच्छक्त्येत्यादि'*—*'तेन प्रकृति कालाभ्याञ्च कृतत्व नित्यम् इति'* तेन—उस स्वरूप द्वारा अर्थात् चित्-शक्ति द्वारा कृतकर्म नित्य हैं, इसीलिए प्रकृति और काल द्वारा

कृतवस्तु मात्र ही अनित्य है। यदि ऐसा नहीं मानते अर्थात् सृष्टि, लय इत्यादि कर्मको नित्य कहते हो तो प्रलयोक्तिका विरोध होता है अतएव सृष्टि—इत्यादिसे भिन्न (पृथक्) कर्म नित्य हैं, यह सिद्ध हुआ। तब जो कोई-कोई कहते हैं—परमात्मा मध्याह्नकालीन सूर्यकी प्रभाके समान चित्प्रकाशमय एवं समस्तके आत्मस्वरूप हैं—यही श्रुतिका तात्पर्य-विषय भी है किन्तु ऐसा होनेपर इस प्रकारके परमात्मामें जन्म एवं कर्म रूप विविध मालिन्यका चिन्तन करनेसे ज्ञान दूषित हो पड़ेगा। यदि कहो, दाशरथि इत्यादि विग्रहमें श्रुति इत्यादिके द्वारा जन्म-कर्मका वर्णन करनेसे वह सिद्धान्त ज्ञानी व्यक्तिका भी विश्वास्य (श्रद्धेय) है तो ऐसा नहीं है, यह प्राकृतिक ही है। अज्ञ व्यक्तियोंने अपनी धारणानुसार प्रपञ्चातीत परमात्मामें यह आरोपित किया है और उसके पोषक श्रुति-वाक्य अनुवादक हैं, बादमें श्रुति ही उसका प्रतिवाद भी करती है, अतएव वर्णहीन आकाशकी नीलिमाके समान यह कल्पित होनेके कारण मिथ्या-स्वरूप ही विचार करना होगा। अतएव इनके वाक्यमें जो विश्वासी हैं, वे तत्त्ववित् नहीं हैं। यदि कोई तत्त्ववित् है, तब तो वह निर्गुण, चिदेकस्वभाव ब्रह्मस्वरूपके ज्ञापक श्रुति-वाक्यके अनुसार जन्मादि मालिन्यसे रहित निर्गुण चिदेकरस ब्रह्मका ज्ञान करता है। अतएव रामादि अवतारोंके जन्म-कर्म-वैराग्यके विषय हैं, वे अनुरागके विषय नहीं हैं, इस प्रकार जो जल्पना करते हैं, वे किसीके भी द्वारा समर्थित होते नहीं, यह जान लेना चाहिये, क्योंकि नर-देहमें मालिन्य रहता है, इसलिए वैराग्य हो सकता है किन्तु देवादि देहोंमें और उनके कर्ममें मालिन्य होता ही नहीं तो वैराग्य आयेगा कैसे? सत्त्वगुणप्राधान्य और सत्यसङ्कल्पताके कारण देवादि देहोंमें मालिन्य रह नहीं सकता। परन्तु एक बात है देवादि देहसे भी दैत्यादिके उत्पीड़न-क्लेश (कष्ट) के कारण उस देहोंमें तत्त्वज्ञानी विरक्त हो सकते हैं किन्तु जो भगवदवतार क्लेश, कर्म, कर्मफल, संस्कारादि सम्पर्कसे रहित हैं, सत्यसङ्कल्प, सार्वज्ञ्य, पारमैश्वर्य, सुशीलता, परम कारुणिकतादि विचित्र अनन्त गुणोंके आकर हैं, अपरिच्छिन्न चित्सुखमय विग्रह हैं और जो जलकी तरङ्गके समान उल्लासमय रसात्मक विचित्र लीलाके आस्पद

हैं, उन अवतारोंकी तो शरणागतिमात्र ही सर्वक्लेशहरणकारी है। इतना ही नहीं, वे तो भक्तवात्सल्यके कारण स्वयंको भी दान कर देते हैं, ऐसे श्रीहरिसे वैराग्य होगा किसलिए? अतएव पूर्वोक्त अभिप्रायसे सम्पन्न वादीगण पामरोंमें ही गण्य हैं। और जो श्रुति आनुवादिक गुणका उल्लेख करती है—हरि-गुणकी यह आनुवादिकत्वोक्ति इत्यादि पहले ही खण्डित हो चुकी है साथ ही ब्रह्मके नैर्गुण्यवादानुसार आकाशकी नीलिमाके समान ब्रह्ममें जन्म-कर्म आरोपित हैं—यह उक्ति भी बालकका कोलाहलमात्र है। यदि जन्म-कर्मका विषय परमेश्वर न हो तो उनमें वह (वैराग्य) रहेगा नहीं और सर्वज्ञ बादरायणादिके अनुभवका विरोध भी होगा। तब जो ब्रह्मके नैर्गुण्य-वाक्य हैं वह प्राकृत गुणहीनत्वके लिए है, स्वरूपानुबन्धी गुण निषेधके लिए नहीं है, यह बात पहले भी कही गयी है। और जो कतिपय वैष्णवत्वभिमानी कल्पना करते हैं—भगवान् श्रीहरि तरङ्गहीन समुद्रके समान सर्वदा एक आनन्द चित्स्वरूप हैं; नित्य सर्वातिशायी विशुद्ध सत्त्ववपु, निर्विकार, सत्यसङ्कल्पादि गुणसम्पन्न हैं, इसलिए उनके जन्मकर्मादि स्वाभाविक नहीं हैं, केवल जिनसे मनुष्यमें प्रेम उत्पन्न हो, इसीलिए सत्त्वगुणका आश्रय करके मनुष्य-भावका अनुकरण करते हैं। अतएव उनके जन्मादि औपाधिक (मायिक) हैं, कभी-कभी वे इन्हें स्वयंमें ग्रहण करते हैं, इससे पृथक् उनका वास्तव जन्मादि नहीं है—यह कुछ लोगोंका विचार जानें। यदि कहो, उनका लीलानन्द न रहे तो उनका स्वरूप शून्य हो पड़ेगा, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि वे भगवान् स्वरूपतः नित्यानन्द और पूर्ण हैं, अतएव यह आपत्ति हो नहीं सकती। क्रीड़ाजनित आनन्द अनित्य है, इसलिए ब्रह्मकी नित्यानन्द श्रुतिका विरोध होता है, अतएव परमेश्वरमें वह स्वीकार्य नहीं है। इसलिए दाशरथि श्रीरामचन्द्रका और श्रीकृष्णका गार्हस्थ-औदासीन्य स्मरण युक्तियुक्त होगा, अतएव उक्त रूप ही भगवत्-तत्त्व है—यह बात जो कहते हैं, वे अपूर्व वैष्णव हैं, क्योंकि यदि भगवान्‌का यथार्थमें जन्म-कर्म नहीं होता है तो उस जन्मादिबोधक श्रुतिका विरोध होगा और सर्वाचार्य व्यासादिके अनुभवका भी विरोध होगा। यदि कहो, भगवान्‌के जन्म-कर्मादि स्वीकार करनेपर उनकी पूर्णता कहाँ रही?

ऐसा भी नहीं है, उनकी पूर्णता विचित्र आनन्दजनित है। वह विचित्रानन्द भी स्वरूपोल्लासस्वरूप है, इसलिए 'जन्य' रूपमें कहकर शङ्का करना ठीक नहीं। और उनके कर्म जब नित्य कहकर निरूपित हैं, तब उनका उल्लास भी नित्य है—इस प्रकारसे श्रीहरितत्त्वविद्गण कहते हैं। यथा *'रूपादिभोगजैः ... निभाल्यताम्'*—रूपादि भोगजन्य सुख द्वारा भी यदि उनकी स्वतः पूर्णता रहती है, यह बात यदि कहते हो तो भगवान्‌के वैचित्र्यकी न्यूनता तुम्हारी उक्तिमें आ पड़ेगी और यदि कहते हो कि उनमें स्वतः वैचित्र्य है, तब हे बुद्धिमान! विचार करके देखो, उन्होंने (उन अवतारोंने) मेरे उदरसे जन्म-ग्रहण किया है। अतएव उन-उन अवतारोंके उन-उन विषयोंमें जो औदासीन्य स्मृत है, वह भी लोक-शिक्षाके लिए लीलास्वरूप है, इसी प्रकारसे सन्तुष्ट होना होगा। अतएव तुमलोगोंकी बुद्धि समग्र वाक्यार्थकी पर्यालोचनामें अक्षम है, इसीलिए तुमलोग इस प्रकारसे अवतारोंके जन्म-रूपादिकी व्यवस्थाकी कल्पना करते हो, यह अवगत होता है। और जो किसी-किसी स्थलपर नृलोक विडम्बनादि वाक्य मनुष्य लोकके अनुकरण-बोधकके समान प्रयुक्त हैं, उसकी भी सङ्गति करनी होगी, इस लोकमें अवस्थित श्रीहरिके लौकिक विडम्बनादि वाक्य कर्मकारीत्व (नृलोकवत् परिदृश्यमान वाक्य) अवहेलात्मक हैं, और अधिक कहनेसे कोई प्रयोजन नहीं है॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पूर्वपक्षवादियोंको पुनः संशय हो रहा है कि श्रीभगवान्‌के बाल्यादि कर्म (लीला) यदि उनका धर्म हैं, तो वे भी नित्य होंगे और उन-उन परिकरके योगसे ही इन कर्मोंका निर्वाह होगा। अतः कहना होगा कि ये चिन्तनीय हैं। ऐसा होनेसे उस स्थलपर एक ही परिकरका पूर्व एवं उत्तर भावके द्वारा अनेक कर्मोंसे सम्बन्ध स्वीकार करना होता है। इस समय यह देखा जा रहा है कि पूर्व कर्म यदि नित्य है, तो तत्सम्बन्धित परिकरका भी उसमें नित्य सम्बन्ध कहा जायेगा, क्योंकि इसके बिना उस लीलाकी सिद्धि ही न होगी। किन्तु यदि ऐसा होता है, तो पूर्वके परिकरके साथ परवर्ती लीलाका सम्बन्ध तो उपपन्न नहीं होगा और यदि परवर्ती कर्मके साथ पूर्व परिकरका सम्बन्ध स्वीकार किया जाय, तो कर्मके नित्यत्वका

व्याघात होता है। दूसरी बात यह है कि यदि पूर्व कर्म नित्य होता है, तो उत्तर कर्मसे सम्बन्धित परिकरका अन्यथात्व होगा। अतएव यह शास्त्र और अनुभव दोनोंके ही विरुद्ध है। पूर्वपक्षीकी युक्ति यह है कि कर्मके दो अंश हैं—पूर्व और अपर, और वे आरम्भ एवं समाप्तिके द्वारा सिद्ध होते हैं। इनके बिना कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकारसे क्रम स्वीकार करनेपर रसानुभव भी सिद्ध नहीं होता। सिद्ध न होनेपर भगवत्–लीलाका नित्यत्व किस प्रकार होगा? चित्रलिखित वस्तुकी भाँति यदि सर्वदा एक ही स्वभाव रहे, तो उसके नित्यत्वकी प्रतीति होती है। और प्रकाशभेद स्वीकार करनेपर भी प्रकाशके बहुत्वके कारण प्रत्येकके आरम्भमें अविच्छेद होगा। जिसका पृथक् आरम्भत्व है, उसका भेद दुर्निवार है। भेद हुआ, तो 'वही यह है', इस प्रकारकी प्रतीतिके अभावके कारण भगवत्–लीलाके नित्यत्व पर किस प्रकार विश्वास किया जा सकेगा? अतएव भगवत्–लीलाओंके नित्यत्वका सिद्धान्त नहीं हो सकता। पूर्वपक्षीकी इस आशङ्काके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वकर्ममें अर्थात् परिकरके योग द्वारा ही कर्मस्वरूप सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। श्रीहरि, उनके परिकर और उनका कर्मांश पूर्वकालमें अथवा पूर्वकर्ममें रहते हैं और अन्यत्र उत्तरकर्ममें अथवा उत्तरकालमें भी वे सब यथायथ रहेंगे, क्योंकि सबमें अभिन्नता है, श्रीहरि एक होकर भी अनेक होते हैं, परिकर भी वैसे ही होते हैं। वे सब श्रीभगवान्से अभिन्न हैं, अतएव नित्य हैं।

श्रीमद् बलदेव प्रभुने इस समस्त विषयको श्रुति एवं स्मृतिके द्वारा प्रमाणित करके दिखाया है। इसके अतिरिक्त एक प्रकारका कर्म भिन्न–भिन्न कालमें वर्णित होनेपर भी तुल्यताके कारण एक है, इसे भी लौकिक प्रयोग दृष्टान्त द्वारा दिखाया है। इस विषयमें उनके भाष्य एवं टीकामें विस्तारपूर्वक आलोचना है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

अलातचक्रप्राय सेइ लीलाचक्र फिरे।
सब लीला ब्रह्माण्डे क्रमे उदय करे॥

जन्म, लीला, पौगण्ड, कैशोर प्रकाश।
पूतना वधादि करि मौषलान्त विलास॥
कोन ब्रह्माण्डे कोन लीलार हय अवस्थान।
ताते लीला 'नित्य' कहे निगम पुराण॥
गोलोक, गोकुल धाम—'विभु' कृष्णसम।
कृष्णेच्छाय ब्रह्माण्डगणे ताहार संक्रम॥
अतएव गोलोकस्थाने नित्य विहार।
ब्रह्माण्डगणेर क्रमे प्रकटे ताहार॥
(चै॰च॰म॰ २०/३९१-३९५)

अर्थात् श्रीकृष्णकी लीलाओंका चक्र इस प्रकार घूम रहा है, जैसे एक लकड़ीके सिरेको जलाकर उसे द्रुतवेगसे घुमानेपर अविच्छिन्न अग्निचक्र अथवा अलातचक्र दीखता है। समस्त लीलाएँ समस्त ब्रह्माण्डोंमें ही क्रम-क्रमसे उदित होती है। जन्म, बाल्य, पौगण्ड तथा कैशोर अवस्थाओंको प्रकट करनेवाली पूतना-वधसे लेकर मूषल-लीला-विलास पर्यन्त श्रीभगवान्‌की जितनी लीलाएँ हैं; किसी-न-किसी ब्रह्माण्डमें किसी-न-किसी लीलाका अवस्थान रहता है। इसीसे निगम-पुराणोंमें कृष्णलीलाको नित्य कहा गया है। गोलोक अथवा गोलोकधाम श्रीकृष्णकी भाँति व्यापक है। श्रीकृष्णकी इच्छासे ब्रह्माण्डोंमें क्रम-क्रमसे गोलोकधाम अवतरित होता है। गोलोक-स्थान श्रीकृष्णका नित्य विहार-स्थान है, जो ब्रह्माण्डोंमें क्रमशः प्रकटित होता है।

श्रील प्रभुपादके अनुभाष्यमें देख सकते हैं कि कृष्णका जन्म, बाल्य और पौगण्ड कैशोरादि लीला नित्यकाल ही संघटित होती हैं। किसी एक ब्रह्माण्डमें अवस्थित जीवको कृष्णलीलाकी नित्य-प्राकट्यकी अनुभूति न होनेपर भी उनकी लीलाकी नित्यता है। समस्त लीलाओंका एक ही समयमें नित्य प्राकट्यका नाम ही 'नित्यलीला' है, किन्तु प्रपञ्चमें अनुक्रमसे लीलाका प्राकट्य होता है। उस समय अन्यान्य लीलाके दूसरे ब्रह्माण्डमें प्रकट रहनेके कारण किसी एक ब्रह्माण्डमें एक समयमें नित्यत्व उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः लीला नित्य है; चौदह मन्वन्तर अर्थात् कल्पके निर्दिष्ट कालमें एक

ब्रहमाण्डमें क्रम-क्रमसे कृष्णलीला-मण्डल पुनरावर्त्तित होता है; अतएव लीला अनित्य नहीं है। अन्य किसी ब्रह्माण्डमें नित्यलीला परिदृश्यमान न होनेके कारण उस ब्रह्माण्डमें लोग नित्यलीलाकी उपलब्धि करनेमें समर्थ नहीं होते। इसलिए वेद-पुराणादि नित्यलीलाकी ही बात कहते हैं। गोलोककी नित्य विहार-स्थली सभी ब्रह्माण्डोंमें क्रम-क्रमसे प्रकट होती है।

लघुभागवतामृतमें पूर्वखण्ड संख्या ४२७ में देखा जाता है—

तथैव च पुराणेषु श्रीमद्भागवतादिषु।
श्रूयते कृष्णलीलानां नित्यता स्फुटमेव हि॥

अर्थात् श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणोंमें भी श्रीकृष्णकी लीलाकी नित्यता स्पष्ट ही सुनी जाती है।

इस श्लोककी टीकामें श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभुने लिखा है—इस स्थलपर प्रतिपक्ष होता है कि लीला क्रियाविशेष होती है (कर्म, क्रिया और लीला एक ही पर्यायभुक्त शब्द हैं), इस कारण आरम्भ एवं पूरण (सम्पूर्ति) द्वारा ही लीलाकी सिद्धि कही जा सकती है, इनके बिना (आरम्भ एवं पूरणके बिना) लीलाका स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता, विशेष रूपसे आरम्भ और समाप्ति-विशिष्ट होनेके कारण विनाशकी ही निश्चयता होनेसे लीला किस प्रकारसे नित्य हो सकती है?

इसके उत्तरमें कहा गया है कि भगवान् विष्णु एक होकर भी बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। 'भगवान् विष्णु एक और अनेक' इत्यादि गोपालतापनी (पू॰ २१) तथा विष्णुपुराण (१/२/३) आदिके प्रमाण-वाक्यों द्वारा भगवदाकारका आनन्त्य (निरवच्छिन्नता) और 'एक प्रकार, तीन प्रकार' इत्यादि छान्दोग्योपनिषद (३/४/२) वाक्य द्वारा उन भगवत्-पार्षदोंका भी आनन्त्य प्रमाणित होता है। पुनः *'परमं पदमवभाति भूरि'* 'कृष्णका वह परम पद प्रचुर रुपमें प्रकाश प्राप्त कर रहा है—इस ऋक् मन्त्र (ऋ॰ १/५४/६) द्वारा—भगवत्-लीला स्थानका आनन्त्य—इस आनन्त्यके कारण लीलाका अभाव अथवा अनित्यता घटित नहीं हो सकते। उन-उन आकारगत और प्रकाशगत भेदसे

लीलाका आरम्भ एवं पूरण होनेसे ही एक-एक स्थलपर वे लीलांश जिस काल तक समाप्त होते हैं, उसी समय तक ही अन्यत्र वे सब लीलाएँ आरम्भ हो जाती हैं। इस प्रकार विच्छेद घटित न होनेसे ही लीलाका नित्यत्व सिद्ध होता है। यदि कहो, लीलाका अविच्छेद घटित हो, कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन पृथक् आरम्भ होनेके कारण लीलाकी समाप्ति भी तो अवश्यम्भावी है। इसका उत्तर यह है कि कालभेद कहे जानेपर भी एक ही रूपविशिष्ट लीलाओंका ऐक्य ही स्वीकृत है (शङ्करभाष्य ब्रह्मसूत्र १/३/२८ और गोविन्दभाष्य ब्रह्मसूत्र ३/३/११), जिस प्रकार कोई व्यक्ति पाक कर रहा है, पाक कर रहा है—(रसोई बनायी, रसोई बनायी) यह दो बार कहनेपर भी एक ही पाक-क्रियाके दो बार अनुष्ठानके अतिरिक्तम दो अलग पाक नहीं जाने जाते अथवा जिस प्रकार 'गौः, गौः' कहकर दो बार उच्चारण करनेपर भी एक ही 'गौः' शब्दके दो बार उच्चारण ही जाने जाते हैं, दो गायें नहीं जानी जातीं—इसी प्रकार उनके चार प्रकारके आकारादिके भी ऐक्यके कारण कोई आशङ्का नहीं है। 'एकमात्र वे भगवान् विष्णु ही नित्यलीलानुरक्त भक्तोंमें व्यापक हैं' एवं 'भक्तगणके हृदयमें आत्म रूपसे विराजमान हैं' इत्यादि श्रुति-वाक्य भी इसी रूपमें ही उदाहृत हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्,
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति,
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं,
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते,
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/२१-२२)

अर्थात् हे भूमन्! आप अनन्त, परमात्मा और योगेश्वर हैं। जिस समय आप योगमायाका विस्तार करके कब, कहाँ, किस प्रकार,

किसलिए और कितनी लीलाएँ करते हैं; अहो! त्रिभुवनमें ऐसा कौन है, जो आपकी समस्त लीलाओंको जान सके? यह सम्पूर्ण जगत् अनित्य है, इसलिए स्वप्नवत् अचिरस्थायी, ज्ञानशून्य, जड़ एवं अतीव दुःखप्रद है। आप सच्चिदानन्दस्वरूप, परम ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। आपपर आश्रित अचिन्त्यशक्तिसे ही इसकी उत्पत्ति एवं विनाश होता है, तथापि यह सत्यके समान प्रतीत होता है।

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे॥

(श्रीमद्भा॰ ८/३/२१)

अर्थात् जो सर्वशक्तिमान नित्य अव्यक्त अविनाशी, इन्द्रियातीत, अत्यन्त सूक्ष्म, अनन्त, आद्य, परिपूर्ण स्वरूप परमात्मा हैं, जो निकट रहनेपर भी दूरवत् जान पड़ते हैं और जो आध्यात्मिक योग—भक्तियोगसे प्राप्त होते हैं, उनके लिए मेरा नमस्कार है।

बृहद्वैष्णवमें भी देखा जाता है—

नित्यावतारो भगवान् नित्यमूर्त्तिर्जगत्पतिः।
नित्यरूपो नित्यगन्धो नित्यैश्चर्यसुखानुभूः॥

मद्रूपमद्वयं ब्रह्म मध्याद्यन्तविवर्जितम्।
स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम्॥

(वासुदेवोपनिषत् ६/५)

भगवान् नित्य-अवतार, नित्य-मूर्त्ति, नित्य-रूप, नित्य-गन्ध, नित्य-ऐश्वर्य एवं नित्य सुखका अनुभव करनेवाले तथा (समस्त) जगत्के स्वामी हैं। (भक्त) मद्रूप (आत्मरूप, स्व-स्वरूप) अद्वय (द्वैत-रहित), आदि, मध्य और अन्त रहित, स्वतः सम्भवी अविनाशी (अव्यय) एवं सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मको भक्तिके द्वारा जानता है।

अप्रसिद्धेस्तद्गुणानाम् अनामासौ प्रकीर्त्तितः।
अप्राकृतत्वाद्रूपस्याप्यरूपोऽसावुदीर्य ते॥

सम्बन्धेन प्रधानस्य हरेर्नास्त्येव कर्त्तृता।
अकर्त्तारमतः प्राहुः पुराणं तं पुराविदः॥

(वासुदेवाध्यात्मे)

श्रीहरिके समस्त गुणोंकी (पूर्ण रूपसे) प्रसिद्धि (सम्भव) नहीं होनेसे वे नामरहित (अनाम) ही कीर्त्तित होते हैं, (अपने) रूपकी अलौकिकता (अप्राकृतत्वके) कारण वे अरूप ही कहे जाते हैं। कर्त्तृत्वका सम्बन्ध प्रधानसे है, अतः हरिकी कर्त्तृता (कर्त्तापन) है ही नहीं, इसीलिए पुराणवेत्ता उन पुराण-पुरुषको अकर्त्ता ही कहते हैं।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी पाया जाता है—

ए सब लीलार कभु नाहि परिच्छेद।
'आविर्भाव' 'तिरोभाव' मात्र कहे वेद॥

(चै॰भा॰आ॰ ३/५२)

अर्थात् इन समस्त लीलाओंका कभी भी विच्छेद नहीं होता। वेद इनका मात्र आविर्भाव-तिरोभावके रूपमें वर्णन करता है।

इस प्रसङ्गमें श्रील प्रभुपादने कहा है—

भगवान्‌की लीला अलातचक्रके समान अपरिच्छिन्न और अप्रतिहत है, यह कर्मफलभोगीकी विकृत धारणासे उत्थित नश्वर कालसे क्षोभ्य क्रिया नहीं है। शुद्धसत्त्व विग्रह नित्य वस्तुका प्रपञ्चमें शुभागमन और प्रपञ्चसे अप्रकाश इत्यादि शब्दोंके द्वारा वेद-शास्त्र अनित्य जगत्‌में नित्यलीलाका ही अभ्युदय बतलाते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी,

'सर्वगुणयुक्तत्वेनोपासनादन्यत्रैव फले ब्रह्मादयो भवन्ति। सम्पूर्णोपासनाद् ब्रह्मा सम्पूर्णानन्द भाग्भवेत्। इतरे तु यथायोगं सम्यग् मुक्तौ भवन्ति हि। इति पाद्मे।'

अर्थात् यद्यपि पहले आपने अपनी शक्तिके अनुसार ब्रह्ममें गुणोपसंहार प्रमाणीकृत किया हो, तथापि ब्रह्ममें बहुत गुणोंका उपसंहार करना चाहिये, क्योंकि जो बहुगुणोपसंहार करते हैं, उनका ही फलाधिक्य होता है। पद्मपुराणमें कहा गया है कि ब्रह्माने परमेश्वरके समस्त गुणोंकी पर्यालोचना करके उनकी उपासना की थी, इसीलिए

वे सम्पूर्ण आनन्दकी उपलब्धि कर सके थे। दूसरोंने जिस प्रकारसे ब्रह्मके गुणोंका अनुशीलन किया है, वे उसी प्रकारसे ही (अपनी अर्हताके अनुरूप) आनन्दके भागी हुए हैं। अतएव जाना जाता है कि जो ब्रह्मके बहुत गुणोंका उपसंहार करते हैं, वे बहुत आनन्दका भोग कर सकते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्राप्त है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(श्रीगी॰ ४/९)

अर्थात् हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म अप्राकृत हैं, जो इसे यथार्थ रूपमें जान लेते हैं, वे वर्त्तमान शरीरको त्यागकर पुनः जन्म नहीं ग्रहण करते हैं, बल्कि मुझे ही प्राप्त करते हैं।

इस श्लोकको टीकामें श्रील चक्रवर्तीपाद कहते हैं—

'उक्तलक्षणस्य मज्जन्मनः तथा जन्मान्तरं मत्कर्मणश्च तत्त्वतो ज्ञानमात्रेणैव कृतार्थः स्यादित्याह—जन्मेति। दिव्यम् अप्राकृतमिति श्रीरामानुजाचार्याचरणाः श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाश्च। दिव्यमलौकिकमिति स्वामिचरणाः। लोकानां प्रकृतिसृष्टत्वात् अलौकिकशब्दस्याप्राकृत-त्वमेवार्थस्तेषामप्याभिप्रेतः। अतएव अप्राकृतत्वेन गुणातीतत्वाद् भगवज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वम्।'

उक्त लक्षण-विशिष्ट मेरे जन्म और जन्मके पश्चात् किये गये कर्मोंका तत्त्वतः ज्ञान होनेसे ही कृतार्थ होओगे—इसके लिए जन्म इत्यादि कह रहे हैं। श्रीपाद रामानुजाचार्यचरण और श्रीपाद मधुसूदन सरस्वतीने 'दिव्य' शब्दका अर्थ किया है 'अप्राकृत' एवं श्रीधरस्वामीपादने किया है—'अलौकिक'। लोकसमूह प्रकृति द्वारा सृष्ट होते हैं, अतः दिव्य शब्दसे श्रीधरस्वामीपादका भी मन्तव्य 'अप्राकृत' ही है। अलौकिक शब्दका अप्राकृतत्व अर्थ उनका भी अभिप्रेत है। अतः अप्राकृत और गुणातीत होनेके कारण श्रीभगवान्‌के जन्म एवं कर्म नित्य हैं॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—अथेदं विचारयति। वेदान्तेषु पूर्णानन्दादयो ब्रह्मधर्माः श्रूयन्ते। ते सर्वेषु तदुपासनेषूपसंहार्या न वेति वीक्षायामनारभ्याधीतानामुपसंहारे

प्रमाणाभावादारभ्याधीतानामेवोपसंहारः। सर्वगुणोपसंहारस्यानियमाच्च। तस्मान्नोप संहार्यास्त इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अब यह विचार किया जाता है कि वेदान्त-वाक्यसमूहमें ब्रह्मके जो पूर्णानन्दत्व, पूर्णसङ्कल्पत्व इत्यादि धर्म सुने जाते हैं तो इसमें संशय यह है कि समस्त भगवत्-उपासनाओंमें ये सभी ब्रह्मधर्म ग्रहणीय (ध्येय अर्थात् उपसंहार्य) हैं? कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जो अनारभ्य-अधीत (बिना आरम्भके अधीत) अर्थात् बिना प्रकरणके पठित हैं, उनके (ब्रह्म-धर्मोंके) उपसंहारके लिए कोई प्रमाण न रहनेसे उनका त्याग करना होगा और आरभ्य अर्थात् प्रकरणमें पठित (आरब्ध) धर्मोंका (गुणोंका) ही उपसंहार (ग्रहण) होगा (आरब्धका ही उपसंहार होता है)। इसके अतिरिक्त समस्त गुणोंके उपसंहारका कोई नियम भी नहीं है। अतएव ये सभी गुण उपसंहरणीय नहीं हैं—इस प्रकार पूर्वपक्षकी उक्तिके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्वस्तु बाल्यादेरुपसंहारः बाल्यादिरूपस्यापि हरेर्विभुत्वेन विग्रहे न्यूनत्वाद्यनापत्त्या तदैकरस्यश्रुत्यविरोधात्। किन्तु आनन्दादेर्गुणगणस्य मास्तु सः। तस्य क्वाचित्कत्वादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्यारभाते अथेदमित्यादि। आरभ्येति। आरभ्य प्रकृत्य ये धर्माः अधीतास्तेषामुत्तरवर्त्तिन्युपासने स्यादुपसंहारः। पूर्वतोऽनुवृत्तिसम्भवात्। ये त्वानन्दादयः क्वचित्कास्तेषां स न स्यात्। न वा प्रकरणभेदादित्यधिकरणे सर्वगुणोपसंहारस्यापवादाच्च। एवं प्राप्ते ब्रवीति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है कि श्रीहरिके विभुत्वके कारण बाल्यादि अवस्थाका भी ग्रहण होता है, हो एवं श्रीहरिके विभुत्वके कारण बाल्यादिरूपका भी उपसंहार समस्त उपासनाओंमें होता है, हो, उनके विग्रहमें न्यूनाधिक्यका प्रसङ्ग न रहनेके कारण श्रुत्युक्त सर्वदा एकरसत्व (एकरूपत्व) धर्मका कोई विरोध नहीं है। हाँ, आनन्दादि गुण-समुदायका उसमें उपसंहार न हो क्योंकि ये गुण कादाचित्क अर्थात् सामयिक हैं—इस प्रत्युदाहरण (आपत्ति) सङ्गतिके अनुसार वक्ष्यमाण अधिकरणका आरम्भ *'अथेदमित्यादि'* वाक्य द्वारा होता है। *'आरभ्याधीतानामित्यादि'*—आरभ्य अर्थात् प्रकरणको लेकर जो समस्त ब्रह्मधर्म पठित हैं, उनका परवर्त्ती उपासनामें उपसंहार होना

चाहिये क्योंकि उनकी पूर्वसे अनुवृत्ति रह सकती है। जो समस्त आनन्दादिधर्म कदाचित् वर्णित हैं, उनका कादाचित्कत्वके कारण उपसंहार नहीं होना चाहिये; और *'न वा प्रकरण भेदात्'*—इस अधिकरणमें समस्त गुणोंके उपसंहारका निषेध भी है—इस पूर्वपक्षीकी उक्तिके प्रति सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

आनन्दाद्यधिकरणम्

सूत्र—आनन्दादयः प्रधानस्य॥ १२॥

सूत्रार्थ—'प्रधानस्य' अर्थात् धर्मी परमात्माके जो समस्त 'आनन्दायः' पूर्णानन्द, पूर्णबोध एवं निजाश्रित भक्तोंके प्रति वात्सल्यादि धर्म सुने जाते हैं, वे सब उपसंहरणीय—ग्रहणीय हैं॥ १२॥

सूत्रानुवाद—प्रधान अर्थात् धर्मीभूत परमात्माके पूर्णानन्द इत्यादि धर्मोंका उपसंहार होना चाहिये, जिससे भगवान्‌के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—प्रधानस्य धर्मिणः परमात्मनो ये पूर्णानन्दबोधस्वाश्रितवात्सल्यादयो धर्माः श्रूयन्ते ते सर्वत्रोपसंहार्यास्तत्तृष्णाहेतुत्वात्॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रधानका अर्थात् धर्मी परमात्माके जो समस्त पूर्णानन्द, पूर्ण-बोध, स्वाश्रित वात्सल्य इत्यादि धर्म वेदान्त-वाक्यमें सुने जाते हैं, उन सभी धर्मोंका सभी उपासनाओंमें ग्रहण होना चाहिये। क्योंकि इससे तत्-तृष्णा (ब्रह्म-तृष्णा) अर्थात् श्रीभगवान्‌के प्रति प्रेमाधिक्य उत्पन्न होता है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—आनन्दादयः प्रधानस्येति। शेषं पूरयति तत्तृष्णेति तदनुराग-जनकत्वादित्यर्थः॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार— *'आनन्दादयः प्रधानस्य'* इति सूत्रमें। *'ते सर्वत्रोपसंहार्याः'* इति भाष्यमें सूत्रकार *'आनन्दादयः प्रधानस्य'* के रूपमें आनन्दादिका भी उपसंहार होगा, यह कहते हैं किन्तु कोई हेतु उसमें दिखाया नहीं है, भाष्यकारने उसीको *'तत्तृष्णाहेतुत्वात्'* इस पदसे पूर्ण कर दिया है। इसका अर्थ है—उनके ऊपर (प्रति) अनुराग उत्पन्न होता है, इसलिए॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस समय यह विचार किया जाता है कि वेदान्तमें ब्रह्मका पूर्णानन्दत्व, पूर्णसङ्कल्पत्व इत्यादि धर्मोंके विषयमें सुना जाता है। इसमें संशय यह है कि ये सभी धर्म उनकी समस्त उपासनाओंमें ग्रहणीय होंगे कि नहीं। इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि आरम्भ न करके अर्थात् बिना प्रकरणके अधीत गुणोंके उपसंहारके प्रमाणके अभावमें आरब्ध अधीत धर्मोंका ही उपसंहार करना होगा। विशेष रूपसे समस्त गुणोंके उपसंहारका नियम भी नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें स्पष्ट रूपसे कहते हैं कि प्रधानका अर्थात् धर्मीभूत परमात्माके पूर्णानन्द, पूर्णज्ञान और भक्तवात्सल्यादि गुणोंका सभी उपासनाओंमें उपसंहार अर्थात् ध्यान करना चाहिये। इससे भगवत्-अनुरागकी वृद्धि होती है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः,
कर्म्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा,
भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/६९/४५)

हे वत्स! भगवान् श्रीकृष्ण विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहारके कारण हैं। उन्होंने इस मनुष्य-लोकमें जो-जो लीलाएँ कीं हैं, वे किसी औरके लिए असाध्य हैं। जो इन समस्त लीलाओंका गान, श्रवण अथवा अनुमोदन करता है, उसके हृदयमें निश्चय ही मोक्षफल-प्रदायक भगवान् श्रीहरिके चरणोंमें प्रेममयी भक्तिका उदय होता है।

एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥

श्रीसूत उवाच—
य इदमनुश्रृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्त्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।

जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं,
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८५/५८-५९)

हे परीक्षित्! अनन्त प्रभावशाली श्रीकृष्णके इस प्रकारके आश्चर्यजनक बहुत-से लीला-चरित्र हैं। श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णकी कीर्त्ति अक्षय है, अमृतमयी है। उनके चरित्र जगत्के सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाले, भक्तोंके कर्ण कुहारोंमें अमृतको प्रवाहित करनेवाले हैं। जो व्यासपुत्र द्वारा सुनायी गयी इन कथाओंको निरन्तर सुनता है अथवा दूसरेको सुनाता है, उसका चित्त भगवान्में लग जाता है भगवान्के मङ्गलमय धामको प्राप्त होता है।

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं,
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित्।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो,
देहं भृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम्॥

हित्वात्मधामविधूतात्म-कृतत्र्यवस्थ-
मानन्दसंप्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८३/३-४)

हे प्रभो! आपकी लीला-कथाएँ जो महापुरुषोंके मुखकमलसे निःसृत होकर जीवोंके संसारके हेतु अविद्याका समूल नाश कर देती हैं, ऐसे आपके श्रीपादपद्मोंके मकरन्दका जो एक बार भी कानोंके द्वारा पान कर लेते हैं, उनका अमङ्गल किस प्रकार सम्भव हो सकता है? हे प्रभो! आपके स्वरूपके प्रकाशसे आपके सम्मुख बुद्धिकी तीनों अवस्थाएँ—जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति नष्ट हो जाती हैं। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप, चित्-शक्तिसम्पन्न और अखण्ड आनन्दके समुद्र हैं। कालके प्रभावसे लुप्तप्राय वेदोंकी रक्षाके लिए आप अपनी योगमायासे सर्वश्रेष्ठ अपना नर वपु प्रकट करते हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देखा जाता है—

'सर्वेषां मुमुक्षूणां कियन्नियमेनोपास्यमित्याह—प्रधान फलस्य मोक्षस्यार्थे आनन्दो ज्ञानं सदात्मेत्युयापास्य एव। सच्चिदानन्द आत्मेति ब्रह्मोपासा-विनिश्चिताः। सर्वेषाञ्च मुमुक्षूणां फलसाम्यादपेक्षतेति ब्रह्मतर्के।'

अर्थात् भगवत्-उपासनाका नियम-विज्ञापन आवश्यक है। अतएव किस नियमसे ब्रह्मोपासना करें—यह निरूपण करते हैं। भगवत्-उपासनाका प्रधान फल मोक्ष है। मुमुक्षु इसी मोक्षकी कामना करके 'आत्मा नित्यानन्दमय एवं सच्चिदानन्द स्वरूप हैं'—इस ज्ञानसे उपासना करें। ब्रह्मतर्कमें कहा है कि 'आत्मा सच्चिदानन्द है'—इस भावसे ब्रह्मोपासना निश्चित है। सभी मुमुक्षुओंके फलमें साम्य है—इससे मुमुक्षुओंकी उपासनामें मोक्षके अतिरिक्त अन्य फलापेक्षा नहीं है॥ १२॥

अवतरणिका भाष्य—आनन्दमयस्य श्रीविष्णोः प्रियशिरस्त्वादयो धर्माः श्रुताः *"तस्य प्रियमेव शिरः"* इत्यादिना। तेऽपि सर्वत्रोपसंहार्या न वेति विषये आनन्दादीनां सर्वत्रोपसंहार्यत्वाभिधानात्तेषामप्यानन्दत्वाविशेषात् स्यात् सर्वत्रोपसंहार इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'तस्य प्रियमेव शिरः'* (तै॰ २/५/१) उनका प्रिय ही उनका सिर (मस्तक) है, इत्यादि वेद-वाक्य द्वारा आनन्दमय श्रीहरिके प्रियशिरस्कत्व इत्यादि धर्म सुने जाते हैं। इस विषयमें संशय यह है कि ये प्रियशिरस्कत्वादि धर्म क्या सभी उपासनाओंमें ग्रहणीय हैं? अथवा नहीं हैं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब आनन्दादि धर्मोंकी सर्वत्र उपसंहरणीयता है, तब प्रियशिरस्कत्वादि धर्मोंकी भी उपसंहरणीयता होगी क्योंकि आनन्दादि धर्मोंके साथ इन प्रियशिरस्त्वादि धर्मोंका कोई प्रभेद (पार्थक्य) नहीं है, सर्वत्र उपसंहार है। इस पूर्वपक्षीके मतके ऊपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वात् यथानन्दस्य गुणस्य सर्वत्रोपसंहारः पूर्वमुक्तस्तद्वत् प्रियशिरस्त्वादेरप्यानन्दत्वाविशेषात् सोऽस्थिति दृष्टान्त-सङ्गत्याह—आनन्दमयस्येत्यादि। पूर्वपक्षे पक्षिरूपत्वेन विरुद्धभावनं फलं सिद्धान्ते तु निजभावोपयोगिदिव्यचिद्रूपविग्रहत्वेन भावनं तदिति भाव्यम्। तेषामपि प्रियशिरस्त्वादीनामपि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—जिस प्रकार आनन्दगुण श्रीभगवान्‌का स्वरूपानुबन्धी धर्म है, इस कारण समस्त उपासनामें उसका उपसंहार पहले ही निर्धारित हुआ है, इस प्रकार प्रियशिरस्त्वादि धर्मोंका भी निर्विशेषमें आनन्दरूपताके कारण उपसंहार होना चाहिये—इस दृष्टान्त-सङ्गतिको लेकर कहते हैं—*'आनन्दमयस्येत्यादि'* वाक्य द्वारा पूर्वपक्षीके मतमें भगवान्‌का पक्षीरूपमें विरुद्ध ध्यान उद्देश्य है और सिद्धान्तीके मतमें भक्तका अवलम्बित निज भावका पोषक दिव्य चिद्रूप-विग्रहरूपमें ध्यान वक्तव्य है—यह जानें। भाष्यमें *'तेषामपि आनन्दत्वाविशेषात्'* इति में 'तेषाम्' का अर्थ है—प्रियशिरस्त्वादि धर्मोंका।

प्रियशिरस्त्वाद्यधिकरणम्

सूत्र—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे॥ १३॥

सूत्रार्थ—'प्रियशिरस्त्वाद्य प्राप्तिः' प्रियशिरस्त्वादि धर्मोंका सभी उपासनाओंमें उपसंहार नहीं होगा, क्योंकि प्रियशिरस्त्वादि धर्म पक्षीके पक्षमें ही सम्भव है, भगवान् श्रीहरि पुरुषाकार हैं, वे पक्षीरूपी नहीं हैं, 'उपचयापचयौ'—इस विषयमें युक्ति यह है कि वृद्धि एवं ह्रास आनन्दगत हैं, 'हि' क्योंकि, 'भेदे' आनन्दका यदि भेद रहता है, तभी यह सम्भव है और श्रीहरिका तो स्वगतभेद ही नहीं है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—'मस्तक ही उनका प्रिय है' इस वेद-वाक्यमें आनन्दादि धर्मोंकी भाँति प्रिय-शिरस्त्व इत्यादिकी प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्ममें शिर-पक्ष-पुच्छ आदि अवयवोंका भेद माननेसे उपचय-अपचय होंगे, पर श्रीहरिमें तो स्वगत भेद भी नहीं है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणामप्राप्तिः सर्वत्रोपसंहारो न स्यात्। आनन्दमयस्य विष्णोः पुरुषविधस्य पक्षिरूपत्वाभावात्। किञ्च तस्मिन् वाक्ये प्रमोदमोदशब्दाभ्यामानन्दगतावुपचयापचयौ वृद्धिह्रासौ प्रतीतौ। तौ च भेदे सति सम्भवेताम्। न चैवमस्ति। स्वगतभेदस्यापि प्रत्याख्यानात्। तस्मान्नोपसंहार्यास्ते॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रियशिरस्त्वादि धर्मोंकी सर्वत्र अप्राप्ति है अर्थात् उनका सर्वत्र उपसंहार नहीं होगा, क्योंकि आनन्दमय श्रीविष्णु

पुरुषाकार हैं, पक्षीरूपी नहीं। इसके अतिरिक्त *'प्रियमेव शिरः'* इत्यादि वाक्यमें अभिहित प्रमोद और मोद—इन दोनों शब्दों द्वारा यथाक्रमसे आनन्दगत वृद्धि (उत्कर्ष) और ह्रास (अपकर्ष) की बात प्रतीत होती है। यदि इस आनन्दका उत्कर्ष-अपकर्ष भेद रहता तभी यह भेद सम्भव हो सकता किन्तु आनन्दमय पुरुषका भेद कहाँ है? उनके सजातीय-विजातीय भेदके निराकरणकी भाँति उनका स्वगतभेद भी प्रत्याख्यात (निषिद्ध) हुआ है। अतएव ये प्रियशिरस्त्वादि गुण सर्वत्र उपसंहरणीय नहीं हैं॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रियशिरेति। स्वगतेति। अहिकुण्डलाधिकरणे तन्निरासादित्यर्थः॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार— *'प्रियाशिरस्त्वादि'* सूत्रमें *'स्वगत भेदस्यापि प्रत्याख्यानात्'* इत्यादि भाष्यमें अहिकुण्डलाधिकरणमें ब्रह्मके स्वगतभेदके निराकरणके कारण—यह अर्थ है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस बार और एक संशय उपस्थित हुआ है कि आनन्दमय ब्रह्मके *'प्रियशिरस्त्वादि'* जो समस्त धर्मोंकी बात सुनी जाती है, क्या वह भी समस्त उपासनाओंमें ग्रहणीय होगी? पूर्वपक्षीका मत यह है कि जब आनन्दादि धर्म सर्वत्र उपसंहरणीय हैं, तब प्रियशिरस्त्वादि धर्मोंका भी उपसंहार करना चाहिये, क्योंकि आनन्दादि धर्मोंके साथ इन धर्मोंका कोई भेद नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि प्रिय-शिरस्त्वादि धर्मोंका सर्वत्र उपसंहार करना अनावश्यक है क्योंकि आनन्दमय श्रीविष्णुके पुरुषाकारत्वके कारण उनका पक्षीरूपत्व वास्तविक नहीं है। विशेष रूपसे उक्त स्थलपर उल्लिखित मोद एवं प्रमोद शब्दोंके द्वारा आनन्दमय ह्रास और वृद्धि प्रतीत हो रहे हैं, जो भेद रहनेपर ही सम्भव हैं, किन्तु ब्रह्म तो स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदरहित हैं। अतएव इन समस्त काल्पनिक रूपादिका उपसंहार नहीं किया जा सकता।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं
श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः
स्वपार्षदाग्र्यैः परिसेवितं विभुम्॥

भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं
प्रसन्नहासारुणलोचनाननम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं
पीतांशुकं वक्षसि लक्षितं श्रिया॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/१४-१५)

ब्रह्माजीने देखा कि उस वैकुण्ठलोकमें समस्त भक्तोंके वल्लभ, यज्ञपति, जगत्पति, लक्ष्मीपति विभु भगवान् वहाँ विराज रहे हैं। सुनन्द, नन्द, प्रबल और अर्हण आदि पार्षदवृन्द उन्हें परिवृत्त करके उनकी सेवा कर रहे हैं। भगवान् श्रीहरि वहाँ भृत्योंपर अपने प्रसादके (प्रसन्नता) वितरणके लिए मकरन्द-मधुर-रसविशेषसे युक्त रहते हैं, उनकी चितवन बड़ी मोहक है, उनकी दृष्टि देखनेवालोंका आनन्द विधान करती है। मुख-मण्डल सदैव ही सुप्रसन्न एवं मधुर मुसकानसे युक्त रहता है, आँखोंमें लालिमा छायी रहती है। उनके श्रीमस्तकपर मुकुट एवं कानोंमें कुण्डल दीप्तिमान रहते हैं। वे चतुर्भुजधारी हैं। अपने श्याम वर्णपर पीत वर्णका झिलमिलता वस्त्र धारण कर रखा है। वक्षःस्थलके वाम भागमें स्वर्ण रेखाकृति 'श्री' (लक्ष्मीदेवी) समलंकृत होकर सदा विराजमान रहती है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

फलभेदार्थमुपचयापचयोर्भावान्न सर्वेषां प्रियशिरस्त्वादिगुणानामुपास्यता प्राप्तिः। 'नैव सर्वे गुणाः सर्वैरुपास्यामुक्तिभेदतः। विरिञ्चस्यैव यन्मुक्तावानन्दस्य सुपूर्णता' इति हि वाराहे।

अर्थात् भगवत्-प्राप्ति साधन उपासनामें भगवान्‌के समस्त गुणोंमें प्रियशिरत्वादि गुणोंका निरास करना चाहिये। यद्यपि उनका सिर ही प्रिय है, इस प्रकारका गुण हो, किन्तु उपासनाके समय इन गुणोंका परित्याग करना चाहिये। वराहपुराणमें कहा गया है कि मुक्ति-भेदके

कारण (मुक्तिके सम्बन्धमें भेद किये गये हैं) सब साधक भगवान्‌के समस्त गुणोंकी उपासना न करें, क्योंकि विरिञ्चिमें ही पूर्ण मुक्तिके आनन्दकी बात देखी जाती है। हरेकको प्रियशिर आदि उत्तम स्वरूपकी उपासनाका अधिकार नहीं है॥ १३॥

सूत्र—इतरे त्वर्थसामान्यात्॥ १४॥

सूत्रार्थ—'इतरे तु' किन्तु दूसरे जो सब विभुत्व, चिदानन्दमयत्व, जगत्-कारणत्व आदि धर्म ब्रह्ममें पढ़े जाते हैं, वे सब अन्य उपासनामें उपसंहरणीय हैं, क्योंकि 'अर्थसामान्यात्' दोनों उपासनाओंका फल एक ही है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—'ब्रह्म सबके शरण, बन्धु हैं' और 'संसारके बन्धन, स्थिति एवं मुक्तिके कारण हैं' इत्यादि वाक्यों द्वारा वर्णित गुणोंके ध्यान द्वारा जो मुक्ति-फल प्राप्त होता है, वही उनके विभुत्व, चित्सुखत्वादि धर्मों (गुणों) के ध्यान द्वारा भी होता है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—तस्माद्वा एतस्मादित्यादिना सोऽकामयतेत्यादिना भीषास्मादित्यादिना च तस्माद्वाक्यात् प्रागूर्द्धञ्च ये प्रियशिरस्त्वादिभ्य इतरे विभुत्वचित्सुखत्व-जगत्कारणत्वपारमैश्वर्यादयस्तस्यानन्दमयस्य ब्रह्मणो धर्माः पठ्यन्ते ते तूपसंहार्या एव। कुतः? अर्थेति। फलैक्यादित्यर्थः। वेदान्तोदितैर्वीर्यसंभूतिसर्वसौहृदशरणत्व-मोचकत्वादिभिश्चिन्तितैर्गुणैर्यो। मोक्षलक्षणोऽर्थस्तस्यैव एतैरपि तथाभूतैः सम्भवादि-त्यर्थः॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः सकाशादाकाश सम्भूतः'* (तै० २/१) इत्यादि द्वारा ब्रह्मका विभुत्व एवं चित्सुखत्व, *'सोऽकामयत्'* (तै० २/६) इत्यादि वाक्य द्वारा जगत्-कारणत्व एवं *'भीषास्माद् अग्निस्तपति'* (तै० २/८/१) इत्यादि वाक्य द्वारा जो परमेश्वरत्व प्रतिपादित हुआ है, ये सभी ब्रह्म-धर्म प्रियशिरस्त्वादि प्रतिपादक वाक्योंके पहले एवं बादमें पठित हैं, किन्तु ये सभी उपसंहरणीय होंगे, क्यों? *'अर्थसामान्यात्'* अर्थात् उनमें फलगत ऐक्य है, इसलिए। किस फलका ऐक्य है, वही कहते हैं—वेदान्त-वाक्योंके द्वारा वर्णित श्रीभगवान्‌के वीर्य, सम्भूति, सर्वसौहृद्य (सर्वप्रियत्व), सर्वशरण्यत्व, मुक्तिजनकत्व (मोचकत्व) इत्यादि गुणोंकी उपासना द्वारा जो मोक्षलक्षण

अर्थ अर्थात् मुक्तिरूपी फल साधित होता है, इन आनन्दमय ब्रह्मके उन विभुत्व, चित्सुखत्व इत्यादि गुणोंकी उपासना द्वारा भी वही मुक्तिरूपी फल सम्भव है। फलगत ऐक्यके कारण उन गुणोंका भी उपसंहार कर्त्तव्य है॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—इतरे त्विति। तस्मादिति। प्रियशिरस्त्वादिवाक्यात् पूर्वत्रोत्तरत्र चेत्यर्थः। तस्माद्वा एतस्मादिति विभुचित्सुखत्वं पूर्वत्रोक्तं सोऽकामयतेति जगत्कारणत्वं भीषास्मादिति पारमैश्वर्यं चोत्तरत्रोक्तम्। वेदान्तोदितैरिति। ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभूतानि सर्वस्य शरणं सुहृत् संसारबद्धस्थितिमोक्षहेतुरित्येतद्वाक्योक्तैरिति बोध्यम्। एतैरिति विभुचित्सुखत्वादिभिरपीत्यर्थः॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—'*इतरे तु*' इत्यादि सूत्रमें '*तस्माद्वा एतस्मादित्यादि*' भाष्यमें '*प्रागूद्धर्वञ्चेति प्रियशिरस्त्वादि*' वाक्यके पूर्वमें और परमें (पश्चात्में) यह अर्थ है। '*तस्माद्वा एतस्मात्*' इत्यादि श्रुति द्वारा ब्रह्मका विभुत्व, चिदानन्दमयत्व पहले भी प्रतिपादित हुआ है; इसी प्रकार '*सोऽकामयत*' इत्यादि वाक्यमें जगत्कारणत्व '*भीषास्मात्*' इत्यादि वाक्यमें '*प्रियशिरस्त्वादि*' वाक्यके बाद पारमैश्वर्य वर्णित हुआ है। '*वेदान्तोदितैरित्यादि*'—यह वाक्यसमूह इस प्रकारसे है—'*ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भूतानि सर्वस्य शरणं सुहृदं संसार बन्धस्थितिमोक्ष हेतुरित्येतद् वाक्योक्तैरिति बोध्यम्*'—अर्थात् ब्रह्मकी शक्ति सर्वश्रेष्ठ है, समस्त ही उनके करतलगत है, वे सभीकी शरण हैं, बन्धु हैं, संसारके बन्धन, स्थिति एवं मुक्तिके कारण इत्यादि वाक्य द्वारा वर्णित गुणोंके ध्यान द्वारा जो मुक्ति-फल होता है, '*एतैरपि-तथा-भूतैरिति*' में 'एतैः' अर्थात् विभु चित्सुखत्वादि धर्मके ध्यान द्वारा भी वही फल होता है॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि जिन समस्त वेदान्त-वाक्योंमें ब्रह्माका विभुत्व, चित्सुखमयत्व, जगत्कारणत्व और परमेश्वरत्व प्रतिपादित हुआ है, उन सभी ब्रह्म-धर्मोंका उपसंहार करना होगा, क्योंकि उनमें फलगत ऐक्य है। वेदान्त-वाक्यके द्वारा वर्णित वीर्य (पराक्रम), सम्भूति इत्यादि गुणोंकी उपासनामें जिस प्रकारसे मुक्ति-फल साधित होता है, आनन्दमय ब्रह्मके विभुत्वादि गुणोंकी उपासना द्वारा भी वही फल सम्भव है। दोनों उपासनाओंका फल एक ही है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं,
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो,
न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२७/४)

इन्द्रने कहा—हे देव! आपका स्वरूप अप्राकृत है, ज्ञानमय, रजो एवं तमोगुणसे रहित, विशुद्ध एवं अप्राकृत सत्त्वमय है। गुणोंके प्रवाहके रूपमें प्रतीत होनेवाला यह प्रपञ्च मायामय है। आपका स्वरूप न जाननेके कारण ही यह संसार आपमें विद्यमान प्रतीत होता है, पर है नहीं।

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः॥

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्त्तये।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२७/१०-११)

हे भगवन्! हे श्रीकृष्ण! आपको नमस्कार है। आप सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक हैं। आप सभीके हृदयोंमें निवास करनेवाले हैं। हे वासुदेव! आप यदुवंशियोंके एकमात्र स्वामी, भक्तवत्सल एवं सबके चित्तको आकर्षण करनेवाले और आनन्द देनेवाले हैं। मैं आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ। आपने अपने भक्तोंकी इच्छासे ही अपनी श्रीमूर्त्तिको स्वयं ही इस प्रपञ्चमें प्रकट किया है, आप सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। जीवोंकी भाँति कर्मके वश होकर आपने जन्म नहीं लिया है। आपका यह श्रीविग्रह विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। आप अपनी अचिन्त्यशक्तिके कारण इस जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं। आप ही सर्वरूप, समस्त पदार्थोंके मूल कारण और समस्त प्राणियोंके आत्म-स्वरूप हैं। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—*'इतरे गुणाः फलसाम्यापेक्षयोपसंहर्त्तव्याः'* अर्थात् ईश्वरके साक्षात्कारके कारण-स्वरूप उपासनामें देवादिके बहुत

गुणोंका उपसंहार करना चाहिये, अन्यथा उपसंहारोक्तिकी अनुपपत्ति होती है। सभी समस्त गुणोंकी उपासना करें या नहीं, इस सन्देहपर कहते हैं—केवल चतुर्मुखकी ही समस्त गुणों द्वारा उपासना करनी चाहिये, अन्य मुमुक्षु भगवान्‌की चतुर्गुणों द्वारा उपासना करें॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वानन्दमयस्य ब्रह्मणः पक्षिभावेन रूपकं किमर्थम्? अन्यत्र हि *"आत्मानं रथिनं विद्धि"* इत्यादिभिरुपासकस्य तच्छरीरादेश्च रथिरथादिभावेन रूपकमुपास्त्युपकरणशरीरेन्द्रियादिवशीकारार्थं दृष्टम्। न चात्र तादृशं किञ्चित् फलं दृश्यते। न हि फलमनुद्दिश्य तथात्वेन रूपके वेदस्य प्रवृत्तिर्युक्ता वक्तुमित्याशङ्क्य तस्य फलमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न यह है कि आनन्दमय ब्रह्मकी पक्षीरूपमें कल्पना (रूपक) किस अभिप्रायसे है? अन्य स्थान अर्थात् कठोपनिषद (१/३/३) में *'आत्मानं रथिनं विद्धि'*—'तुम आत्माको रथी जानो' इत्यादि वाक्य द्वारा आत्माको रथी एवं शरीरकी रथरूपमें जो कल्पना की गयी है, उसका यह उद्देश्य देखा जाता है कि उपासककी रथीरूपमें और उसके शरीरादिकी रथादि रूपमें कल्पना उसकी उपासनाके उपयोगी साधन-शरीर, इन्द्रियादिके वशीकरणके अभिप्रायसे है किन्तु यहाँ तो इस प्रकारका कोई फल दिखायी नहीं देता। फलको उद्दिष्ट न करके पक्षी इत्यादि रूपोंकी कल्पनामें वेदका प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति युक्तियुक्त नहीं है—यह आशङ्का करके सूत्रकार इस पक्षीरूपकका फल बताते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। किमर्थं किं फलम्। तथात्वेन पक्षिभावेन। तस्य पक्षिरूपकस्य।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'ननु'* इत्यादि। *'रूपञ्च किमर्थम्'* इतिमें 'किमर्थम्' का अर्थ है किस प्रयोजनसे? तथात्वेन रूपके इति—तथात्वेन—पक्षीरूपमें रूपणमें। *'तस्य फलमाहेति'* में 'तस्य' का अर्थ है—पक्षीरूपकका उसका फल बतलाते हैं—

सूत्र—आध्यानाय प्रयोजनाभावात्॥ १५॥

सूत्रार्थ—'प्रयोजनाभावात्'—अन्य प्रयोजन कुछ भी नहीं है, अतएव 'आध्यानाय' सम्यक् चिन्तनके लिए ही इस रूपकको जानना चाहिये॥ १५॥

सूत्रानुवाद—उक्त कल्पनाका कोई प्रयोजन नहीं है, केवल आध्यान (अनुचिन्तन, उपासना) के लिए ही यह कल्पना की गयी है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—प्रयोजनस्यान्यस्याभावादाध्यानायैव रूपकोपदेशः कृतः। आध्यानं सम्यगनुचिन्तनम्। अयमर्थः। *"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"* (तै॰ २/१) इत्युपक्रान्तमेकं ब्रह्म स्वयंरूपत्वेन विलासत्वादिना च द्वेधावतिष्ठते। तच्च स्वयंभगवान्नारायणवासुदेव-सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धसंज्ञं स्वरूपतो गुणतो नामादितश्च विभुचित्सुखात्मकं स्थूलधियामादौ दुर्विभाव्यमतस्तदेकमानन्दमयं ब्रह्म प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिरःपक्ष्यादिभावेन रूपयित्वोपदिश्यते तेषां सुबोधत्वाय। इथञ्च तस्य बुद्ध्यारोहणे सति वेदनशब्दोदितं ध्यानं सम्यग् भवति। यथा ह्यन्नमयस्य पुरुषस्यास्य देहस्य शिरःपक्ष्यादिरूपकेण बुद्धावारोहणं *"तस्येदमेव शिरः"* इत्यादिना यथा च प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानां तथारूपकेण तत् क्रियते *"तस्य प्राण एव शिरः"* इत्यादिभिः तथैवैतेभ्योऽर्थान्तर-भूतस्यानन्दमयस्य च पुरुषस्य तेन तत् *"तस्य प्रियमेव शिरः"* (तै॰ २/५/१) इत्यादिना। तथाच पञ्चावयवविशुद्धब्रह्मोपलक्षणार्थत्वात्तेषां सर्वत्रोपसंहारो नेति सुष्ठूपपपादितम्। न चैकमेव ब्रह्म पञ्चावयवमित्यमूलम्। *"एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति"* (गो॰ता॰पू॰ २१) इति *"एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्"* इति *"स शिरः स दक्षिणः पक्षः स उत्तरः पक्षः स आत्मा स पुच्छम्"* इति च श्रुत्यन्तरात्। *"शिरो नारायणः पक्षो दक्षिणः सव्य एव च। प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च सन्देहो वासुदेवकः। नारायणोऽथ सन्देहो वासुदेवः शिरोऽपि वा। पुच्छं सङ्कर्षणः प्रोक्त एक एव तु पञ्चधा। अङ्गाङ्गित्वेन भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः। ऐश्वर्यान्न विरोधश्च चिन्त्यस्तस्मिन् जनार्दने। अतर्क्ये हि कुतस्तर्कस्त्वप्रमेये कुतः प्रमा"* इति स्मरणाच्च॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अन्य किसी प्रयोजनकी उपलब्धिके अभावके कारण सम्यक् ध्यानके (अनुचिन्तनके) उद्देश्यसे ही पक्षी भावसे यह रूपक कहा गया है। 'आध्यान' शब्दका अर्थ है 'सम्यक् रूपसे चिन्तन'। तात्पर्य यह है कि *'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* (तै॰ २/१/१) अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। श्रुतिने इस वाक्यमें जिन एक ब्रह्मका उल्लेख आरम्भ किया है, वे ब्रह्म स्वयंरूप और विलासादि रूपमें दो प्रकारसे नित्य अवस्थित हैं। वे ही विभु, चित्सुखस्वरूप ब्रह्म स्वयं रूपसे भगवान् श्रीकृष्ण हैं और विलास रूपमें नारायण, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इत्यादि संज्ञाओंसे संज्ञित हैं। यह विभु, चित्सुखमय स्वरूप स्वरूपतः, गुणानुसार और नामानुसार है किन्तु स्थूलबुद्धि उपासकोंके लिए इन

रूपोंमें चिन्तन करना दुष्कर है, इसलिए उन्हीं एक आनन्दमय ब्रह्मका पहले प्रियमोदादि रूपमें विभाग किया है और बादमें उनके शिर और पक्षी इत्यादि रूपोंमें रूपक करते हुए उपदेश (वर्णन) है—जिससे उन (स्थूलबुद्धि) उपासकोंको यह सहज रूपसे बोधगम्य हो जाये। इस प्रकारसे 'सुखमय' चित्स्वरूप एक ब्रह्मके बुद्धिके विषयीभूत होनेपर बादमें ब्रह्मविद् श्रुतिके अन्तर्गत ब्रह्म-वेदनका वाच्य अर्थ जो ब्रह्म-ध्यान है, वह यथायथ रूपसे होगा। दृष्टान्त रूपसे कह सकते हैं कि जिस प्रकार अन्नमय इस जीवदेहके *'तस्येदमेव शिरः'* इत्यादि वाक्य द्वारा शिर-पक्षी इत्यादि रूपोंमें रूपण द्वारा बुद्धिगोचरता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूपकी बुद्धिगोचरताके लिए ही इस प्रकारका रूपण किया गया है। और भी देखिये, जिस प्रकार प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय जीवको *'तस्य प्राण एव शिरः'* 'उनका प्राण ही शिर है' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्राणको शिरोरूपमें बुद्धिगोचर कराया गया है, इसी प्रकारसे 'शिरः पक्षी' इत्यादिसे पृथक्भूत पदार्थ आनन्दमय पुरुषके (ब्रह्मके) शिरः-पक्षादि रूपोंमें *'तस्य प्रियमेव शिरः'* इत्यादि वाक्यों द्वारा रूपणसे बुद्धिगोचरता करायी गयी है। ऐसा होनेपर सिद्धान्त यह है कि इन सब प्रियशिरत्वादि धर्मोंका सभी उपासनाओंमें उपसंहार (ग्रहणीयता) नहीं है, क्योंकि ये सब धर्म पञ्चावयव निर्मुक्त ब्रह्मके कादाचित्क लक्षण हैं, विशेषण नहीं। यही सम्यक् युक्ति द्वारा प्रतिपादित हुआ है। यदि कहो, एक ही ब्रह्म पञ्च अवयवसे सम्पन्न किस प्रकार हो सकता है, अतएव यह वाक्य प्रमाणशून्य है, तो यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* (परमात्मा) एक होकर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। पुनः *'एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्'* अर्थात् वे एक होनेपर भी बहुत रूपोंमें दृश्यमान हैं। इसी प्रकार अन्य श्रुति भी है—*'स शिरः स दक्षिणः पक्षः ... पुच्छमिति'* वे पक्षीका मस्तक हैं, वे दक्षिण पक्ष (पंख) हैं, वे वाम पक्ष हैं, वे आत्मा हैं, वे पुच्छ हैं—इस वर्णनसे ब्रह्मका पञ्चावयवत्व सिद्ध होता है। इस विषयमें स्मृति-वाक्य (बृहत्-संहिता) भी है, यथा *'शिरो नारायणः'* इत्यादि अर्थात् नारायण उस पक्षीका मस्तक हैं, प्रद्युम्न दक्षिण पक्ष हैं, अनिरुद्ध वाम पक्ष हैं और वासुदेव

मध्यकाय हैं अथवा नारायण उनकी देह हैं, वासुदेव उनका मस्तक हैं, सङ्कर्षण (बलभद्र) उनकी पुच्छ हैं, प्रद्युम्न दक्षिण पक्ष हैं और अनिरुद्ध भावपक्ष हैं। इस प्रकारसे एक ही ब्रह्म पञ्चधा अर्थात् पाँच प्रकारसे स्थित हैं। भगवान् श्रीपुरुषोत्तम इन अङ्गाङ्गिरूपके द्वारा क्रीड़ा करते हैं। अचिन्तनीय ऐश्वर्यके कारण उन भगवान् जनार्दनमें किसी भी प्रकारका विरोध शङ्कास्पद नहीं है। जो तर्कके अगोचर अर्थात् अतर्क्य हैं, उनमें तर्कका अवकाश ही कहाँ है? जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अयोग्य अर्थात् अप्रमेय हैं, उनमें प्रमेयत्व कैसे सम्भव हो सकता है? यह सब वर्णन स्मृति-वाक्योंसे भी ज्ञात होता है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका— आध्यानायेति। ब्रह्मविदाप्नोतीत्यादि। स्वयंरूपत्वेनानन्दमय-कृष्णत्वेन। विलासत्वादिना नारायणादित्वेन। अनन्यापेक्षिमहैश्वर्यमाधुर्यः स्वयंरूपः। प्रायस्तत्समशक्तिभृत् स एव विलासः। एतद्विवृणोति तच्चेत्यादिना। इथञ्चेति। तस्यानन्दमयस्य ब्रह्मणः। तथेति। शिरःपक्ष्यादिरूपकेण बुद्धावारोहणं क्रियते इत्यर्थः। तेन तदिति प्राग्वत्। तेषां प्रियशिरस्त्वादीनाम्। न चैकमिति। अमूलमप्रमाणम्। स शिर इति चतुर्वेदशिखायाम्। स परमात्मेव तत्तद्रूप इत्यर्थः। शिरो नारायण इति बृहत्संहितायाम्॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार— *'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* इत्यादि भाष्य—स्वयंरूपत्वेन अर्थात् आनन्दमय कृष्णरूपमें और विलासत्वादिना-नारायणादि स्वरूपमें। स्वयंरूप कहनेसे अर्थ है जिनका महैश्वर्य महामाधुर्य अन्य-निरपेक्ष है, अर्थात् स्वभाव सिद्ध है। विलास शब्दका अर्थ है—प्रायः उनके समान-शक्तिमान। *'तच्च स्वयं भगवान्'* इत्यादि वाक्य द्वारा विवृत करते हैं। *'इत्थञ्च तस्य बुद्ध्यारोहणे इति'* में 'तस्य' का अर्थ है—उन आनन्दमय ब्रह्मका। *'तथैवेतेभ्यः'* इत्यादि—अर्थात् शिरः पक्षी इत्यादि रूपक द्वारा बुद्धि-गोचरता (बुद्धि-प्रवेशार्थ) की जाती है। *'तेनतत्वस्य'*—उसके द्वारा, तत्—पूर्वके समान। *'ब्रह्मोपलक्षणार्थत्वात् तेषाम्'* इत्यादि में 'तेषाम्' का अर्थ है—प्रियशिरत्वादि धर्मके आरोपितत्वके कारण। *'न चैकमेव ब्रह्म पञ्चावयवमित्यमूलमिति'* में अमूलम् का अर्थ है—निष्प्रमाणक। *'स शिरः स दक्षिणः पक्षः'* इत्यादि श्रुति चतुर्वेदशिख-उपनिषदमें है। 'सः' अर्थात् वे परमात्मा ही जो तत्त्वस्वरूप हैं। *'शिरोनारायण'* इत्यादि वाक्य बृहत्संहिताके अन्तर्गत है॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः एक आशङ्का उत्थापित होती है कि आनन्दमय ब्रह्मका पक्षीरूपमें रूपक करके वर्णन करनेका प्रयोजन क्या है? अन्यत्र (कठोपनिषदमें) आत्माका रथी और शरीरका रथरूपमें रूपण द्वारा वर्णन किया गया है, इसका कारण पाया जाता है कि उसका उद्देश्य उपासनाके उपयोगी शरीर और इन्द्रियादिकों वशीभूत करना ही है, किन्तु इस स्थलपर ऐसा कोई फल दिखायी नहीं देता, वेदके इस फलहीन रूपकमें युक्तिके अभावकी आशङ्का करनेपर इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें इस प्रकारके पक्षी रूपकका फल कहते हैं कि जब अन्य कोई प्रयोजन नहीं है, तब सम्यक् अनुचिन्तनके लिए ही उक्त रूपकका उपदेश दिया गया है। इसके तात्पर्यको श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्य एवं टीकामें विस्तारसे वर्णन किया है। श्रीमद्भागवतमें है—

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि॥

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः॥

(श्रीमद्भा० ३/९/२-४)

अर्थात् हे भगवन्! आपसे चित्-शक्ति सदा-सर्वदा प्रकाशित होती रहती है, इसलिए माया सदा ही आपसे दूर रहती है। बहुत पहले ही शत-शत अवतारोंके एकमात्र मूलकारणस्वरूप आपकी यह श्रीमूर्त्ति भक्तोंके प्रति कृपा करनेके लिए प्रकटित हुई है। आपके ही

नाभि-कमलसे मैं प्रकट हुआ हूँ। हे परमपुरुष! देश, कालादिसे परे आपका जो आनन्दमात्र ब्रह्म-स्वरूप है, उसे मैं इस रूपसे भिन्न नहीं देखता। हे आत्मन्! इसीलिए उपास्योंमें मुख्य, अद्वितीय, विश्वकी सृष्टि करनेवाले, अतः विश्वसे भिन्न एवं जीवोंकी इन्द्रियोंके अधिष्ठान आपकी इस मूर्त्तिका मैं आश्रय लेता हूँ। हे भुवनमङ्गल! हम आपके उपासक हैं। आपने हमारे मङ्गल-विधानके लिए ही ध्यान-योगमें जिस रूपको दिखलाया है, निरीश्वर व्यक्ति, आपके इस स्वरूपको सच्चिदानन्दमय विग्रह न मानकर मायामय मानते हैं और नरकमें पड़ते हैं। आप चिन्मय गुणोंके अपार-समुद्र हैं। मैं आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

उपसंहारानुपसंहार प्रमाणमाह—आत्मध्यानार्थं हि सर्वे गुणा उच्यन्ते प्रयोजनान्तराभावात्। 'ज्ञानार्थमथ ध्यानार्थं गुणानां समुदीरणा। ज्ञातव्याश्चैव ध्यातव्या गुणाः सर्वैऽप्यतो हरेः। नान्यत् प्रयोजनं ज्ञानाद् ध्यानात् कर्मकृतेरपि। श्रवणाच्चाथ पाठाद्वा विद्याभिः किञ्चिदिष्यते' इति परमसंहितायाम्। 'गुणाः सर्वेऽपि वेत्तव्या ध्यातव्याश्च न संशयः। नान्यत् प्रयोजनं मुख्यं गुणानां कथने भवेत्। ज्ञानध्यानसमायोगाद् गुणानां सर्वशः फलम्। मुख्यं भवेन्न चान्येन फलं मुख्यं क्वचित् भवेत्' इति बृहत्तन्त्रे।

अर्थात् इससे पूर्व परमात्म-ज्ञानकी साधन-उपासनामें गुणोपसंहार और अनुपसंहार कहा गया था, अब उसका प्रमाण दिखाते हैं। गुणोपसंहार करना चाहिये कि नहीं? इस सन्देहपर कहते हैं—गुणोंका उपसंहार अवश्य ही करें क्योंकि समस्त विद्याएँ ही भगवान्का नाम हैं और भगवत्-गुणाभिधायक हैं। यह गुणाभिधान ही ध्यान है, इसलिए ध्यानार्थ ही गुणोपसंहारकी कर्त्तव्यता जानी जाती है। परमसंहितामें कहा गया है कि परमात्माके ज्ञानके लिए अथवा ध्यानके लिए उनके गुणोंका निर्णय करें। बृहत्तन्त्रमें कहा गया है कि सभी हरिके समस्त गुणोंको जान सकते हैं, इसलिए उनका ही ध्यान करें। ज्ञान एवं ध्यानके लिए ही समस्त गुणोंका व्याख्यान किया गया है। ब्रह्मके गुण-कथनका, नाम-श्रवण, नाम-स्तोत्र इत्यादि पाठ करनेका प्रधान

प्रयोजन यही है अर्थात् ज्ञान-ध्यान ही है। समस्त गुणोंके ज्ञानका ध्यानयोगमें मुख्य फल होता है। गुणानुवादका पूर्ण फल ज्ञान-ध्यानसे ही मिलता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी रूप अथवा किसी भी कालमें कोई फल हो नहीं सकता। ज्ञान-ध्यान-उपासना ही मोक्षका साधन है। इस प्रकार जान लेना चाहिये कि ब्रह्मका गुणोपसंहार अर्थात् गुण-निर्णय अवश्य कर लेना चाहिये॥ १५॥

सूत्र—आत्मशब्दाच्च॥ १६॥

सूत्रार्थ—'च' और, 'आत्मशब्दात्' आत्मा आनन्दमय है इत्यादि श्रुतिमें आनन्दमय ब्रह्मका आत्म-शब्दके द्वारा निर्देश करना उनके (ब्रह्मके) सु-बोधत्वके लिए है, इसी प्रकार पुच्छादिका रूपण भी समझा जाना चाहिये॥ १६॥

सूत्रानुवाद—आत्म शब्दसे निर्देश होनेपर भी प्रियशिरस्त्व इत्यादि आनन्दमय ब्रह्मके स्वरूपभूत धर्म नहीं हैं। आत्मामें पक्षीकी भाँति शिर, पक्ष, पुच्छ इत्यादि असम्भव हैं। इसलिए मात्र सुखपूर्वक बोधनके लिए ही रूपण किया गया है॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—आत्मानन्दमय इति तस्यात्मशब्देन निर्द्देशादात्मनः पक्षिवत् पुच्छादिकमसम्भवीत्यतः सौबोध्याय रूपकमात्रं तदित्यवगम्यते॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'आत्मानन्दमयः'* इति 'आत्मा आनन्दमय है'—श्रुतिमें आनन्दमयको (ब्रह्मको) आत्म शब्दके द्वारा निर्देश किया है, अतः पक्षीकी भाँति उनके पुच्छादि तो हो नहीं सकते, इस कारण (स्थूल-बुद्धिवालोंके लिए) सहजबोध्यताके उद्देश्यसे यह रूपकमात्र ही है—यह जाना जा सकता है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—आत्मेति तस्येति ब्रह्मणः॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—*'तस्यात्मशब्देनेति'* में 'तस्य' अर्थात् 'ब्रह्मका'॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार और भी कहते हैं कि श्रुतिमें आत्माको आनन्दमय कहा है, इसलिए भी आनन्दमय ब्रह्म आत्म शब्दसे निर्दिष्ट है, अतः पक्षीकी भाँति उनके पुच्छादि रह नहीं

सकते; मात्र स्थूल-बुद्धि व्यक्तियोंको सहजबोध्य करानेके लिए ही इस प्रकारके रूपकका उपदेश जानना होगा।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते।
आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/५८/३८)

अर्थात् नग्नजित्‌ने यथाविधि पूजन करके अन्तमें श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार निवेदन किया—हे जगत्पते! नारायण! आप आत्मानन्दमें परिपूर्ण हैं। अतएव मुझ जैसा क्षुद्र व्यक्ति आपका कौन-सा प्रिय कार्य करनेमें समर्थ होगा?

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—*'आत्मेत्येवोपासीतेत्यनुपसंहारे प्रमाणम्'* अर्थात् पूर्वसूत्रमें ब्रह्मके गुणोपसंहारका प्रमाण प्रदर्शन करके अब अनुपसंहारको प्रमाणित कर रहे हैं। ब्रह्मके किसी गुणका अनुसन्धान न करके परमात्मरूपमें उपासना करनी चाहिये। इस उपसंहारात्मक वाक्यमें स्पष्ट रूपसे आत्मा शब्दका उल्लेख करके उपास्य रूपसे परमात्माकी विशेषता दिखलायी गयी है। इस प्रकार विभिन्न विद्याओंमें उल्लेख्य गुणोंको लक्ष्य किया गया है। इसीसे मोक्षफल हो सकता है। अतः गुणोपसंहारका प्रयोजन नहीं है॥ १६॥

सूत्र—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥ १७॥

सूत्रार्थ—'आत्मगृहीतिः' श्रुतिमें जो आत्मन् शब्दको ग्रहण किया गया है, वह विभु, चेतन, परमात्मबोधक है, 'इतरवत्' जिस प्रकार 'आत्वा वा इदमेक एव अग्र आसीत्' (ऐ॰ १/१) इत्यादि वाक्यमें आत्मन् शब्द विभु-चेतन बोधक है। इसका कारण क्या है? 'उत्तरात्' क्योंकि परवर्ती वाक्यसे यही बोधित होता है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—आत्म शब्दसे परमात्मा ही गृहीत होते हैं—इतरके समान। आत्मा वा इदमेति इत्यादि ऐतरेय-वाक्योंमें आत्म शब्द परमात्माका बोधक है। यह आनन्दमय आत्मविषयक परवर्ती वाक्योंसे ज्ञात होता है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—नन्वन्योऽन्तर आत्मा वा प्राणमयः (तै॰ २/२) इत्यादिषु जडाणुचेतनेष्वप्यात्मशब्दस्य प्रयोगादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः इत्यत्र तस्य विभुचेतनपरत्वं कथं निश्चितमिति चेदिहोच्यते। तत्रात्मशब्दः परमात्मानमेव विभुचेतनं गृह्याति इतरवत्। *"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"* (ऐ॰ १/१) इत्यादि वाक्ये यथा। एतच्च कुतः? उत्तरात्। *"सोऽकामयत बहु स्याम्"* (तै॰ २/६/१) इत्यादिकादानन्दमयात्म विषयादुत्तरस्माद्वाक्यादित्यर्थः। न चानन्दमयात्मनः परमात्मत्वाभावे तदिदमभिध्यानं सङ्गच्छेत। तस्य तदसाधारणत्वात्॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आशङ्का यह है कि *'अन्योऽन्तर आत्मा वा प्राणमयः'* इत्यादि तीन वाक्योंमें आत्मन् शब्दका जड़, अणु एवं चेतन पदार्थोंमें प्रयोग रहनेके कारण *'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'* इस वाक्यमें उस आत्मन् शब्दका विभु और चेतनपरताका निर्णय किस प्रकार करोगे? यदि ऐसी शङ्का है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—*'आत्मगृहीतिरित्यादि'* वहाँ अर्थात् *'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'* इस वाक्यमें गृहीत आत्मन् शब्द विभुचेतन-स्वरूप परमात्माका ही बोध कराता है। जिस प्रकार *'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'* (ऐ॰ १/१) इत्यादि श्रुतिमें उक्त आत्मन् शब्द विभु, चेतन परमात्माको ही निर्दिष्ट करता है। इसका कारण है कि *'सोऽकामयत बहुस्याम्'*—'उन्होंने कामना की कि मैं बहुत रूपोंमें व्यक्त हो जाऊँ' इस परवर्ती वाक्यमें आनन्दमय आत्माका अधिकार करके प्रयोग है। यदि आनन्दमय आत्माको परमात्मा न कहा होता, तो इस जगत् रूपमें आविर्भावका सङ्कल्प असङ्गत होता, क्योंकि यह अभिध्यान (उत्कट सङ्कल्प) केवल परमात्मनिष्ठ है और उनके असाधारण शक्तित्वका हेतु है॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—आत्मगृहीतिरिति। इत्यादिष्विति त्रिषु वाक्येष्वित्यर्थः। जडानुचेतनेष्विति प्राणमयादिषु त्रिष्वित्यर्थः। अन्नरसमयस्यात्मेति विशेषणाभानात् तं विहाय प्राणमयादीनां ग्रहणम्। प्राणमयाद्यौ जडौ विज्ञानमयस्त्वणुचेतनः। ननु मनोमयः कथं जडस्तस्य यजुराद्यङ्गत्वात् यजुरादेर्ब्रह्मात्मकत्वसिद्धान्तादिति चेदुच्यते। तत्र हि यजुरादिधारिका स्तदाविर्भावभूमयो मनोवृत्तय एव तत्तच्छब्दैर्ग्राह्यः। ताभिः सह यजुराद्यभेद उपचरितः। ततश्च प्राणमनःशब्दाभ्यां द्व्यचश्छन्दसीति विकारे मयट् स्यादवयवे वेति न किञ्चिदवद्यम्। तस्येत्यात्मशब्दस्य। तत्रेत्यानन्दमयवाक्ये। तदिदं जगद्रूपतयाविर्भावसङ्कल्पनम्। तस्येति। तदभिध्यानस्य परमात्ममात्र-निष्ठत्वादित्यर्थः॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार— *'आत्मगृहीतिरित्यादि'* सूत्रमें *'नन्वन्योऽन्तर'* इत्यादिषु इति—इत्यादि तीन वाक्यमें। जडाणुचेतनेषु इति किसी वाक्यमें जड़को, किसीमें अणुको और किसीमें चेतनको जाना जाता है, प्राणमयादि तीन वाक्य उसके प्रकाशक हैं। अन्नरसमय शरीरको आत्मन् शब्दसे विशेषित नहीं किया गया है, इसलिए उसे छोड़कर प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय—ये तीन आत्मा शब्दसे गृहीत हुए हैं, इनमें प्राणमय एवं मनोमय आत्मा जड़ है किन्तु विज्ञानमय अणु-परिमाण चेतन है। यदि कहो, मनोमय आत्मा जड़ किस प्रकारसे है? ये जो यजुः इत्यादिके अङ्ग हैं (*मनोयजुः प्रपद्ये इति* श्रुति) यजुः इत्यादिकी ब्रह्म-स्वरूपता अवधारित है (ब्रह्मस्वरूप होनेपर ही वह चेतन है) यह यदि कहते हो तो इसीसे कहा जा रहा है, इन यजुः आदि वाक्यमें मनस् इत्यादि शब्दों द्वारा यजुः इत्यादिके धारक अर्थात् आधार, ब्रह्मकी आविर्भाव-क्षेत्र मनोवृत्तियाँ ही ग्रहणीय हैं अर्थात् मनोवृत्तिके साथ यजुः इत्यादिका अभेदार्थमें प्रयोग उपचरित अर्थात् लाक्षणिक है। अतएव प्राणमय, मनोमय शब्दमें जो प्राण एवं मनस् शब्दोंके उत्तरमें मयट् प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है, वह *'द्वयचश्छन्दसि'* (षष्ठी समर्थ द्वयच् प्रातिपदिकसे छन्दोविषयमें विकार और अवयव अर्थ होनेपर मयट् प्रत्यय होता है—पा॰ ४/३/१५०) इस सूत्रके अनुसार विकार अर्थमें 'मयट्' अथवा *'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः'* (षष्ठी समर्थ प्राणी, ओषधि और वृक्षवाचीय प्रातिपादिकसे अवयव और विकार अर्थमें यथाविहित प्रत्यय होता है—पा॰ ४/३/१३५) इस सूत्रसे अवयव अर्थमें 'मयट्' है, अतएव कुछ भी अवद्य (दोषयुक्त) नहीं है। *'तस्य विभुचेतनपरत्वमिति'* में 'तस्य' का अर्थ है—आत्मन् शब्दका, तत्रात्मशब्दः—*'परमात्मानमेवेति'* में 'तत्र' का अर्थ है आनन्दमय बोधक श्रुतिमें। *'तदिदमभिध्यानम् इति'* में 'तदिदम्'—अर्थात् परब्रह्मके जगत्-रूपमें आविर्भावका सङ्कल्प *'तस्य तदसाधारणत्वादिति'* में 'तस्य'—यह अभिध्यान एकमात्र परमात्मनिष्ठ है, इस कारण॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार आत्मन् शब्दसे परमात्माको ही ग्रहण करना होगा, इसे परवर्ती श्रुतिके द्वारा समर्थन करते हुए ज्ञापन करते हैं—

कोई यदि इस प्रकार पूर्वपक्ष करे कि तैत्तिरीय-श्रुतिमें है—*अन्याऽन्तर आत्मा प्राणमयः* (२/२/३), *अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः* (२/३/२), *अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः* (२/४/१) और इसके बादमें है—*अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः* (२/५/१)। इस प्रकार पूर्वमें यथाक्रमसे आत्माको प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय शब्दोंसे निर्दिष्ट करके अवशेषमें आत्माको आनन्दमय कहकर निर्दिष्ट किया है। तब यह आत्मन् शब्द जो परमात्मविषयक है, यह किस प्रकारसे निश्चय किया जाय? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—'इतरवत्' अर्थात् अन्यत्र जिस प्रकार कि ऐतरेय-श्रुतिमें पाया जाता है—*आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्* (ऐ॰ १/१), *स ईक्षत लोकान् नु सृजा* (ऐ॰ १/१), इस स्थलपर जिस प्रकार आत्मन् शब्दसे परमात्माको ग्रहण किया जाता है, यहाँ भी इसी प्रकारसे परमात्माको ग्रहण करना होगा। यदि कहो कि इस प्रकारके अर्थका कारण क्या है? तो उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—'उत्तरात्' अर्थात् वाक्य-शेषसे (अन्तिम वाक्यसे) जिस प्रकार तैत्तिरीय-श्रुतिमें भी परवर्ती वाक्यमें पाया जाता है—*सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति* (तै॰ २/६/२)।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/४१)

अर्थात् पञ्चभूत, इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव संज्ञक आत्मासे सर्वोपादानरूप भगवान् नित्य पृथक् हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

न चानन्दादयः प्रधानस्येत्युक्ति विरोधः। यतः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै॰ २/१/१) *विज्ञानमानन्दं ब्रह्म* (बृ॰आ॰ ३/९/२८) *इति वदेवात्मशब्दगृहीतिः। अत्र ह्येते सर्वे एकी भवन्तीत्युत्तरात्।* (ब्र॰आ॰ ३/४/७) *आनन्दानुभवत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च भण्यते। नित्यत्वाच्च तथात्मेति वेदवादिभिरीश्वरः इति बृहत्तन्त्रे।*

आत्मा शब्दके उल्लेखसे आनन्द आदि प्रधान गुणोंसे विरुद्धता होती हो, ऐसी बात नहीं है। भगवत्-परोक्षज्ञानकी साधन-उपासनामें

ब्रह्मके निरतिशय आनन्दादि गुणोंका समर्थन करना चाहिये। इस समय सभी मुमुक्षुओंके लिए क्या ब्रह्म आनन्दादि गुण–चतुष्टय रूपसे उपास्य हैं? अथवा आत्मत्व रूपमें उपास्य हैं? इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं—*'आत्मेत्यवोपासीत'* (बृ॰आ॰ १/४/७) इस श्रुतिके आधारपर आत्मत्व रूपसे ही ब्रह्मकी उपासना करें। (आत्म शब्दसे परमात्मा गृहीत होते हैं) ब्रह्मके आनन्दादि गुणोंका अनुसन्धान न करके केवल आत्मत्व रूपमें उपासना ही सुखकर है। विशेष रूपसे आनन्दादि गुणचतुष्टय आत्म शब्दके ही अन्तर्गत है। अतएव आत्मत्व रूपमें उपासना करनेपर ही चतुर्गुणोपासना सिद्ध होती है, इसलिए आनन्दादि गुणोपासना निष्प्रयोजन है॥ १७॥

सूत्र—अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्॥ १८॥

सूत्रार्थ—'अन्वयादिति चेत्' यदि कहो कि उत्तर वाक्यसे आत्मन् शब्दका विभुचेतन–अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि जड़, अणु परिमाण चेतनमें ही आत्मन् शब्दका प्रयोग होता है—यह यदि कहते हो, तो ऐसा नहीं है, 'स्यात्' वह विभुचेतन–अर्थ निश्चय होगा ही, 'किस कारणसे?' क्योंकि 'अवधारणात्' पूर्व श्रुतिमें उन विभु चेतनका ही अवधारण है, इसलिए॥ १८॥

सूत्रानुवाद—आत्म शब्दसे परमात्माका ही निर्णय होगा, क्योंकि 'तस्मादेति' श्रुति द्वारा प्रकृत आत्माका ही प्राणमयसे लेकर आनन्दमय तकका जो वर्णन है, वहाँ आत्म शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—ननूत्तरवाक्यात्तत्रात्मशब्देन विभुचेतनो निश्चेतुं न शक्यते। पूर्वत्र प्राणमयादिषु जडाणुचेतनेष्वात्मशब्दान्वयादिति चेत् स्यात् तत्रात्मशब्देन विभुचेतनस्य परमात्मनो निश्चयः स्यादेव। कुतः? अवेति। पूर्वं *"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः"* इति तस्यैव बुद्ध्यावधारितत्वात्। इतरथानन्दमयविषयकमभिध्यानवचनं पीड्येत। प्राणमयादिष्वात्मस्ववतीर्णाऽपि पूर्वावधारिता परमात्मबुद्धिरानन्दमय एव विश्राम्यति। तदन्यस्यात्मनोऽनिरूपणात्। तस्मादरुन्धतीदर्शनन्यायमाश्रित्य पूर्वपूर्व–परित्यागेनोत्तरत्रैव तस्मिंस्तद्बुद्धेः पर्यवसितिरत उत्तरस्माद्वाक्यात्तस्य तत्परत्वं निश्चेयमिति सर्वं निरवद्यम्॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आशङ्का यह है कि *'सोऽकामयत बहु स्याम्'* इत्यादि परवर्ती वाक्यसे *'अन्योऽन्तर आत्मा'* इस श्रुतिमें कथित आत्मन् शब्दके द्वारा विभु चेतनका अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि पूर्व वाक्यमें अर्थात् प्राणमयादि श्रुतिस्थ प्राणमयादि शब्दमें जड़, अणु एवं चेतनमें आत्म शब्दकी अनुवृत्ति (अत्वय) है—यह यदि कहते हो, तो ऐसा नहीं है, 'स्यात्' वहाँ उक्त आत्मन् शब्दके द्वारा विभुचेतन परमात्माका ही निश्चय होता है। कारण क्या है? 'अवधारणात्' पहले *'तस्माद्या एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः'* (तै॰ २/१/१) (इस आत्मासे आकाशादिकी उत्पत्ति हुई है) इस श्रुतिमें आत्मासे परमात्माका ही बुद्धि द्वारा निर्णय किया गया है। अर्थात् यह श्रुति परमात्माका ही बोध कराती है। यदि ऐसा नहीं कहा जाय, तो आनन्दमय ब्रह्मकी बहुत रूपोंमें अभिव्यक्तिके सङ्कल्पका कथन बाधित अथवा विरुद्ध होता है। यद्यपि प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आत्मामें परमात्म-बुद्धि पहले ही स्थापित हुई है, तो भी आनन्दमय आत्मामें इस परमात्म बुद्धिकी ही चरम विश्रान्ति देखी जाती है। कारण यह है कि इसके अतिरिक्त (आनन्दमयके अतिरिक्त) आत्माका कोई निरूपण नहीं है। अतएव अरुन्धती दर्शन—न्यायवत् अरुन्धती नक्षत्रके दर्शनके समान पूर्व-पूर्व धारणाओंको छोड़कर चरमोक्त आनन्दमय आत्मामें परमात्म बुद्धिका पर्यवसान जानना चाहिये। अतएव उत्तर वाक्यसे आत्मन् शब्दका परमात्मबोधकत्व निर्णय करना ही यथायुक्त है, इससे समस्त ही निर्दोष हो जाता है। इस प्रकार आत्मा शब्द आनन्द ब्रह्मका सूचक है॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्वयादिति। नन्विति। उत्तरवाक्यात् सोऽकामयतेत्यादेः। तत्रानन्दमयवाक्ये। तदन्यस्यानन्दमयभिन्नस्य॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार—*'अन्वयादित्यादि'* सूत्रमें *'ननूत्तर वाक्यादित्यादि'* भाष्यमें—उत्तर वाक्यादिति—*'सोऽकामयत बहु स्याम्'* इत्यादि वाक्यसे। *'तत्रात्मशब्देनेति'* में 'तत्र' अर्थात् आनन्दमय ब्रह्मबोधक वाक्यमें *'तदन्यस्यात्मनोऽनिरूपणात्'* इति—'तदन्यस्य' का अर्थ है—आनन्दमयसे भिन्न आत्माका॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब यदि कोई इस प्रकार कहे कि प्रथमोक्त अन्नमयादि अनात्म विषयमें आत्मन् शब्दका अन्वय अर्थात् सम्बन्ध अथवा प्रयोग देखा जाता है, इसलिए केवल उत्तर वाक्यके ही अनुसार परमात्मा-अर्थ निश्चय नहीं किया जा सकता। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—आत्मन् शब्दमें यहाँ विभुचेतन परमात्मा ही हैं, यह निश्चय रूपसे कहना होगा, क्योंकि 'अवधारणात्' अर्थात् इसी प्रकारका अवधारण है। तैत्तिरीय-श्रुति *'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'* इस वाक्यमें (२/१/३) में आत्मन् शब्दसे परमात्मा अर्थ ही निश्चित हुआ है। और भी देखा जाता है कि प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आदिमें परमात्म बुद्धि आरोपित होकर अन्तमें 'आनन्दमय' यह परमात्म-बुद्धि पर्यवासन प्राप्त करती है। कारण इसके बाद इस विषयमें कुछ और नहीं कहा गया है। अतएव यह चरम सिद्धान्त है। परवर्ती *'सोऽकामयत'* (तै॰ २/६/२) वाक्यमें आत्मन् शब्दमें परमात्मा अर्थ निश्चित होनेके कारण यह जानना होगा कि उपक्रममें भी आत्मन् विषयमें परमात्म बुद्धिके कारण ही आत्मन् शब्दका सम्बन्ध है। इसलिए उत्तर वाक्यसे उक्त शब्दोंका परमात्मपरत्व अवधारण करना ही युक्तियुक्त है। अतएव यह समस्त ही निर्दोष है।

श्रीमद्बलदेव प्रभुने अपने भाष्यमें इस स्थलपर अरुन्धती दर्शनन्याय-आश्रयका दृष्टान्त दिखाया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्ति-स्वप्न-जाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४७/३१)

आत्मा ज्ञानमय एवं गुणातीत है। यह जड़-प्रकृति आदि भौतिक पदार्थोंसे पृथक् है। वस्तुतः भौतिक गुण उसका स्पर्श नहीं कर सकते, इसलिए वह शुद्ध स्वरूप है। वही जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूपमें मायिक मनोवृत्तिके कारण विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ रूपमें प्रतीयमान होता है। स्वभावतः उसका आत्माका वैसा स्वरूप नहीं है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'सर्वगुणानामन्वय आत्मशब्दे भवति। आत्मव्याप्तेरात्मशब्दः परमस्य प्रयुज्यते इति वचनादिति चेत् सत्यं स्याच्चैवं आत्मेत्येवेत्यवधारणात्, अन्यथा सर्वोपसंहारवचनविरोधः।'

अर्थात् भगवत्-दर्शनके लिए आत्मशब्दोक्त सभी गुणोंकी उपासना करनी चाहिये। यही विवेचना की जा रही है। इस समय आत्म शब्दोक्त गुणोपासना सभीको करनी चाहिये? या नहीं? इस सन्देहके निवारणके लिए कहते हैं—आत्म शब्दमें ही उपास्यके समस्त गुणोंका अन्वय हो जाता है। पुनः परब्रह्मवाचक आत्म शब्द ही सर्वव्यापकके लिए प्रयुक्त होता है। अतएव आत्म शब्द ही समस्त गुणोंका प्रतिपादन करता है। एक आत्मत्व रूपमें उपासना करनेसे ही समस्त गुणोपासना सिद्ध होती हैं, अतएव सभीको ही आत्मशब्दोक्त गुणोपासना करनी चाहिये। यही प्रमाणित हुआ है। 'आत्मेत्येव' इस अवधारणा सूचक पदमें भी उक्त कथ्यकी ओर ही सङ्केत है। यदि यह स्वीकार नहीं करते हैं तो सर्वोपसंहार वचनका विरोध होता है॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—अथ पितृत्वादीन् धर्मानुपसंहर्त्तुमारभते। *"माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः"* इति श्रूयते। जितन्ते स्तोत्रेऽप्येवं स्मरन्ति *"पिता माता सुहृद्बन्धुर्भ्राता पुत्रस्त्वमेव मे। विद्या धनञ्च कामश्च नान्यत् किञ्चित् त्वया विना"* इत्याद्येऽध्याये। *"जन्मप्रभृति दासोऽस्मि शिष्योऽस्मि तनयोऽस्मि ते। त्वञ्च स्वामी गुरुर्माता पिता च मम माधव"* इति मध्येऽन्ते च। तत्रैवं संशयः। पितृत्वपुत्रत्वसखित्व स्वामित्वरूपं धर्मजातं भगवति चिन्त्यं न वेति। आत्मेत्येवोपासीतेति श्रुतेर्न चिन्त्यमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अब श्रीहरिके पितृत्व इत्यादि धर्मोंकी उपास्यताके लिए इस प्रकरणका आरम्भ करते हैं। श्रुतिमें पाया जाता है, यथा *'माता, पिता, भ्राता ... नारायणः'* अर्थात् श्रीनारायण जीवके माता, पिता, भ्राता, आश्रय, रक्षक, बन्धु एवं गति स्वरूप हैं। जितन्त्रे स्तोत्रमें भी इसी प्रकारका पाठ करते हैं यथा *'पिता, माता, ... किञ्चित् त्वया विना'* अर्थात् हे भगवन्! आप ही मेरे पिता, माता, सुहृत, आत्मीय, भ्राता और पुत्र हैं। विद्या, धन, सम्पत्ति जो कुछ भी भोग्य वस्तुएँ हैं, आपके बिना कुछ नहीं है—यह वर्णन प्रथम अध्यायमें है। पुनः *'जन्म प्रभृति दासोऽस्मि ... माधव।'*

अर्थात् हे माधव! जन्मसे लेकर मैं आपका दास हूँ, मैं आपका शिष्य हूँ, आपका पुत्र हूँ, आप ही मेरे इष्ट देवता हैं, आप ही गुरु, माता एवं पिता हैं—यह समस्त वर्णन मध्यम एवं अन्तिम अध्यायोंमें है। इस वाक्य-विषयपर संशय यह होता है कि श्रीभगवान्‌में पितृत्व, पुत्रत्व, सखित्व, स्वामित्व इत्यादि धर्म चिन्तनीय होंगे? कि नहीं? पूर्वपक्षी उसके प्रतिवादमें कहते हैं—नहीं, ये चिन्तनीय नहीं होंगे क्योंकि 'आत्मेत्येवोपासीत्' केवल आत्म रूपमें ही उपासना करे। श्रुति यह कहती है। इस मतके विरोधमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र हरौ प्रियशिरस्त्वादीनामनुपसंहार्यत्वं तस्य पक्षिरूपत्वाभावादित्युक्तम्। तद्वत् तत्र पितृत्वादीनामपि तदस्तु। पित्रादिशब्दानां लोकवदिह मुख्यार्थत्वाभावादिति दृष्टान्तसङ्गत्यारभ्यते। अथ पितृत्वादीनिति। मातेत्यादिकं व्याख्यातं प्राक्। पितेत्यादेर्विधिवर्त्तिनामयमर्थः। पिता तद्वदुत्पादको हितप्रवर्त्तकश्च। माता तद्वदुल्लासार्थं बहुव्यापारकृत् हितप्रवर्त्तनशीलश्च। सुहृन्नित्यहितेच्छुः। बन्धुर्विपदि सम्पदि च सहायः। भ्राता तद्वत् पक्षपाती। पुत्रस्तद्वदुल्लालनीयो निरयनिवारकः समये रक्षकश्च। विद्या धनञ्चेति। तद्वदभ्यसनीयो गोपनीयश्च। कामो विषयो रूपरसादिस्तद्वत् स्पृहणीयः। स्वामी निजेष्टदैवतम्। गुरुरज्ञानविनाशी। *"गु-शब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रु-शब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकार-निरोधित्वादगुरुरित्यभिधीयते"* इत्युक्तेः। नारायणव्यूहस्तवे चैते भावा उक्ताः। *"पतिपुत्रसुहृद् भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम्। ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः"* इति। सुहृन्निरपेक्षहितकृत्। मित्रं सहविहारी। आत्मेत्येवेति। अत्रैवकार आत्मत्वमात्रं धर्मं चिन्त्यं दर्शयंस्तदितरद्गुणवृन्दं निवर्त्तयति। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि श्रीभगवान्‌की पक्षीरूपताके अभावके कारण प्रियशिरस्त्वादि धर्मकी उपास्यता नहीं है, इसी प्रकार उनमें पितृत्वादि धर्मकी भी उपास्यता नहीं रहनी चाहिये क्योंकि श्रीभगवान्‌में प्रयुक्त पितृ इत्यादि शब्दोंकी लौकिक अर्थके समान मुख्यार्थता नहीं हैं, इस प्रकारसे दृष्टान्त-सङ्गति द्वारा इस प्रकरणका आरम्भ *'अथ पितृत्वादीन्'* इत्यादि वाक्य द्वारा आरम्भ करते हैं। *'माता-पिता'* इत्यादि वाक्य पहले व्याख्यात हुआ है, अब पिता-माता इत्यादि वाक्यके विधेयान्तःपाती (विधेय-वाक्यके अन्तर्गत) पितृ इत्यादि शब्दोंका यह अर्थ है—पिता जिस प्रकार पुत्रको

उत्पन्न करनेवाला है और उसके हितमें प्रवृत्त रहता है, इसी प्रकारसे श्रीभगवान् भी। माता—जिस प्रकार पुत्रको आनन्द देनेके लिए बहुत-से कार्य करती है और उसके हितमें प्रवर्त्तनशील रहती है, इसी प्रकारसे श्रीभगवान् भी। सुहृत्—नित्यहितकामी, बन्धु—विपत् और सम्पद्में सहाय, भ्राता—भ्राताके समान पक्षपाती, पुत्र—अर्थात् पुत्रके समान पिता द्वारा उल्लालनीय, नरक-निवारक और वृद्ध वयसमें रक्षक। विद्या और धनस्वरूप अर्थात् विद्याके समान सर्वदा अभ्यासनीय और धनके समान गोपनीय। काम अर्थात् रूप-रसादि भोग्यवस्तुएँ—इसीके समान श्रीभगवान् स्पृहणीय हैं। वे स्वामी हैं—निज इष्टदेवता। गुरु अर्थात् अज्ञान-निवारक क्योंकि गुरु शब्दकी व्युत्पत्तिमें कहा जाता है—'गु' शब्दका अर्थ है 'अन्धकार' और 'रु' शब्दका अर्थ है उसका निवारक—अतएव अज्ञानान्धकार—निवर्त्तकत्वके कारण गुरु शब्दसे संज्ञित होते हैं। नारायण व्यूह-स्तवमें भी इन पितृत्वादि धर्मोंका उल्लेख है यथा *'पतिपुत्र ... नमो नमः।'* जो सर्वदा एकनिष्ठ होकर श्रीहरिका पति, पुत्र, सुहृद, भ्राता, पिताके समान ध्यान करते हैं एवं मित्रके समान चिन्तन करते हैं, उनके भी उद्देश्यसे उन्हें भूयोभूयः प्रणाम। इस वाक्यमें उक्त सुहृत् शब्दका अर्थ है—जो निरपेक्ष भावसे हितकारी हैं, मित्रका अर्थ है एक सङ्ग विहार करनेवाला। *'आत्मेत्येवोपासीत्'* इति इस श्रुतिके अन्तर्गत 'एव' शब्द श्रीभगवान्का केवल आत्मत्व-धर्म ही उपास्य है इसलिए इसके अतिरिक्त गुण-वृन्दकी अनुपास्यता प्रकाशकी गयी है। इस पूर्वपक्षीके मतके प्रति सूत्रकारकी प्रत्युक्ति है—

कार्याख्यानाधिकरणम्

श्रीहरिके पितृत्वादि धर्मोंका उपसंहार आरम्भ

सूत्र—कार्याख्यानादपूर्वम्॥ १९॥

सूत्रार्थ—'अपूर्वम्'—पहले पूर्णानन्दत्वादि कहा गया था, इसी प्रकार यह पितृत्वादि धर्म अपूर्व होनेपर भी उपास्य हैं, क्योंकि 'कार्याख्यानात्' इस श्रुतिमें उनके कर्मोंका वर्णन हुआ है॥ १९॥

सूत्रानुवाद—पूर्वोक्त पूर्णानन्दत्वादिके सदृश अपूर्व पितृत्वादि सभी धर्म उपासकोंके द्वारा चिन्तनीय हैं, क्योंकि परमेश्वर भाव-ग्राह्य हैं, इत्यादि वचनोंसे भाववश्यता लक्षण फलका अभिधान सुननेमें आता है॥ १९ ॥

गोविन्दभाष्य—पूर्वं पूर्णानन्दत्वादि। तत्सदृशमपूर्वं पितृत्वादि। तच्चिन्त्यमेव तत्तदुपासकैः। कुतः? कार्याख्यानात्। कार्यस्य तत्तद्भाववश्यतालक्षणस्य फलस्य भावग्राह्यमनीडाख्यमित्येननाभिधानादित्यर्थः। आह चैवं श्रीभगवान्। *"येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्ठम्"* इति। तस्मात् पूर्णानन्दत्वादिवत् पितृत्वादिकमपि तस्मिन् विचिन्त्यं भावुकैः। आत्मेत्येवेत्येतत्तु प्रागेव समाहितम्॥ १९ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वम् अर्थात् पूर्वोक्त पूर्णानन्दत्वादि धर्मोंके समान पितृत्वादि धर्म पहले कहे गये न होनेपर भी इन्हें उन-उन उपासकोंके द्वारा चिन्तनीय जानना चाहिये। इसका कारण है—'कार्याख्यानात्' क्योंकि इस रूपमें उपासनाका कार्य है अर्थात् उन-उन रूपोंमें भक्तवश्यता रूप फल 'भावग्राह्यमनीडाख्यम्' अर्थात् श्रीभगवान् अनीड़ नामक भाव-ग्राह्य वस्तु हैं—इस वाक्यके द्वारा कहा गया है। इसी प्रकार श्रीभगवान् (श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिल भगवान्) ने कहा है—जिनका मैं आत्मा, स्वामी, सखा-रहस्य गोपनका योग्यपात्र, सुत, गुरु, सुहृद् और इष्टदेवता-स्वरूप हूँ। अतएव सिद्धान्त यह है कि श्रीभगवान्में जिस प्रकार पूर्णानन्दत्वादि धर्म ध्येय हैं, उसी प्रकार पितृत्वादि धर्मोंका भी भावुक उपासकगण ध्यान करेंगे। तब जो 'आत्मत्येव' (आत्माकी ही उपासना करे) में इस 'एव' कार द्वारा अन्य रूपका निषेध आशङ्कित होता है, तो उसका भी समाधान पहले ही हो गया है॥ १९ ॥

सूक्ष्मा-टीका—कार्येति। येषामिति श्रीभागवते कपिलदेववाक्यम्। आत्माऽहं येषां प्रियादिरूपः। प्रियः कान्तः। सखा रहस्ययोग्यः। उक्तार्थमन्यत्। प्रागेवेति। अन्यथात्वं शब्दादित्यस्य व्याख्याने॥ १९ ॥

सूक्ष्मा-सार—*'कार्याख्यानमित्यादि'* सूत्रमें *'येषामित्यादि'* श्लोक श्रीमद्भागवतमें कपिलदेवकी उक्ति है। इसका अर्थ है—मैं जिनका आत्मा एवं प्रियादिस्वरूप हूँ। प्रिय अर्थात् स्वामी, कान्त, सखा—रहस्य

बतलानेके लिए योग्य पात्र। अन्यान्य पदका अर्थ पहले भी कहा गया है। प्रागेव समाहितमिति—प्रागेव—अर्थात्—*'अन्यथात्वं शब्दात्'*—इस सूत्रके व्याख्यान प्रसङ्गमें॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब श्रीहरिके पितृत्वादि धर्मोंका उपसंहार आरम्भ करते हैं। श्रुति श्रीभगवान्‌को माता, पिता, भ्राता इत्यादि कहकर निर्देश करती है। इस स्थलपर यदि इस प्रकारका संशय उपस्थित होता है कि श्रीभगवान्‌में पितृत्व, पुत्रत्व, सखित्व, स्वामित्व इत्यादि धर्म चिन्तनीय हैं? या नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं—जब श्रुतिमें 'आत्माकी उपासना करें' कहकर निर्देश है, तब अन्य प्रकारसे चिन्तन करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं है, इस प्रकारके पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि—

पूर्वोक्त पूर्णानन्दत्वादिके समान ये पितृत्वादि धर्म भी परवर्ती हैं। अतः उपासकोंके द्वारा चिन्तनीय हैं, क्योंकि कार्याख्यानात् अर्थात् श्रीभगवान् भावग्राह्य हैं—इस वाक्यमें उनके भाववश्यता-लक्षण फलका अभिधान सुना जाता है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२५/३८)

हे शान्तरूपे मातः! स्वर्ग आदि लोकोंमें भोक्ता और भोग्य वस्तुओंका कभी-न-कभी विनाश हो ही जाता है किन्तु मेरे वैकुण्ठलोकमें मेरे परायण भक्तोंके लिए कभी भी इस प्रकारसे भोग्यवस्तु नष्ट होनेकी कोई भी आशङ्का नहीं है। मैं ही उनके लिए आत्माके समान प्रिय, पुत्रके समान स्नेह-पात्र, सखा तुल्य विश्वास-पात्र, गुरु सदृश उपदेष्टा, सुहृत्‌के समान हितकारी और इष्टदेवके समान पूज्य हूँ अर्थात् जो इस प्रकारसे सम्यक्‌रूपेण मेरा ही भजन करते हैं, मेरा अनिमिष कालचक्र उन्हें कभी भी ग्रास नहीं कर सकता।

श्रील चक्रवर्तीपादने इस श्लोककी टीकामें कहा है—*'येषामहं प्रियः' इति प्रेयसीभाववताम्। आत्मेति शान्त भक्तानाम्। सुत इति वात्सल्यभाववताम्। सखेति सख्यवताम् गुरुरिति दास्यविशेषवताम्। सुहृद् इति बहुत्वमार्षं सख्यभेदवताम्। इष्टं दैवमिति दास्यभाववताम्। तथा चोक्तं नारायणव्यूहस्तवे—'पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम्। ये ध्यायन्ति सदोदयुक्तास्तेभ्याऽपीह नमो नमः' इति। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यस्याः श्रुतेरपि। यं प्रियत्वेन वा पितृत्वेन भ्रातृत्वेन वा सखित्वेन वा पुत्रभृत्यादित्वेन वा वृणुते तेन लभ्य इत्यर्थो वेदितव्य इति रागानुरागायाः स्वाभाविक्या भक्तेरुदाहरणं ज्ञेयम्।*

अर्थात् यहाँ मैं उनका प्रिय हूँ, यह कहनेसे प्रेयसी भावयुक्त भक्तोंका, 'आत्मा' से शान्त भक्तोंका, 'सुतः' से वात्सल्यभावयुक्त भक्तोंका, 'सखा' से सख्यभावविशिष्ट भक्तोंका, गुरुसे दास्य भावविशिष्ट भक्तोंका, सुहृदः—यह बहुवचनमें आर्ष प्रयोग है—सख्यभेदयुक्त सखाओंका, इष्टदेव दास्य भावयुक्त भक्तोंका (प्रिय है)। इस प्रकार नारायणव्यूह स्तवमें कहा गया है। 'पतिपुत्र' इत्यादि अर्थात् जो पति, पुत्र, सुहृद्, भ्राता, पितृतुल्य और मित्रके समान श्रीहरिका निरन्तर एकनिष्ठभावसे ध्यान करते हैं, उन्हें भी मैं पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ। श्रुतिमें भी कहा गया है—*'यमेवैष वृणुते'* अर्थात् वे भगवान् जिन्हें प्रियत्व रूपमें अथवा पितृत्व, भ्रातृत्व अथवा सखित्व अथवा पुत्र-भृत्यादित्व रूपमें अपना कहकर ग्रहण करते हैं, वे ही उन्हें प्राप्त होते हैं—इस प्रकारसे अर्थ समझना चाहिये। यह रागानुगाकी स्वाभाविकी भक्तिका उदाहरण है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—*पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।* अर्थात् मैं ही जगत्का माता, पिता, धाता एवं पितामह हूँ। (श्रीगी० ९/१७)

श्रीअर्जुनने भी कहा है—*पितासि लोकस्य चराचरस्य।* (श्रीगी० ११/४३) अर्थात् हे अनुपम प्रभावविशिष्ट! आप इस चराचर विश्वके पिता हैं।

और भी,

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।
(श्रीगी॰ ११/४४)

अर्थात् हे देव! जैसे पिता पुत्रको, सखा सखाको तथा प्रिय अपनी प्रियाको क्षमा कर देते हैं, वैसे ही आप भी मुझे क्षमा करनेमें समर्थ हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

अलौकिकास्तस्य गुणा ह्युपास्याः अलौकिकं मुक्तिकार्यं यतोऽस्येति कार्याख्यानादन्यत्रादृष्टा एव गुणा उपास्याः।

अर्थात् ब्रह्मदर्शन साधन उपासनामें ब्रह्ममें अलौकिक गुणोपासना ही करनी चाहिये, अन्यथा अलौकिक गुणोंकी असिद्धि होती है। इस क्षण ब्रह्मके अलौकिक गुणोंकी उपासना करें? अथवा लौकिक गुणोंकी उपासना करें? इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं— ब्रह्मके अलौकिक गुणोंकी उपासना करनी चाहिये, (ब्रह्मके अतिरिक्त अलौकिक गुण किसी औरमें प्राप्त नहीं होते) क्योंकि ध्यान द्वारा मोक्ष फल होता है और इस ध्यानका फल मोक्ष अलौकिक है, विशेष रूपसे फलानुसार ही ध्यान होता है। अतएव जाना जाता है कि अलौकिक मोक्ष फलके लिए अलौकिक गुणोंका ध्यान करना चाहिये, इसलिए अलौकिक गुणोपासना ही प्रतिपन्न (प्रमाणित) होती है॥ १९॥

ब्रह्मके विग्रहत्वरूप धर्मके उपसंहारका आरम्भ

अवतरणिका भाष्य—अथ विग्रहत्वं ब्रह्मण्युपसंहर्त्तुमारभते। *"आत्मेत्येवोपासीत"* (बृ॰आ॰ १/४/७) *"आत्मानमेव लोकमुपासीत"* (बृ॰आ॰ १/४/१५) इति क्वचित् पठ्यते। क्वचितु *"तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्"* (गो॰ता॰पू॰ १२) तदिह श्लोका भवन्ति *"सत्पुण्डरीक"* इत्यादि *"चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः"* (गो॰ता॰पू॰ १२/३) इत्यन्तम्। इह संशयः। आत्ममात्रत्वेनात्मविग्रहत्वेन वोपासनया मुक्तिरिति। किं प्राप्तम्! आत्म-मात्रत्वेनोपासनयेति। तस्यैवैकरस्यात्। एकरसात्मोपासनया खलु मुक्तिरुक्ता। विग्रहस्य तु मिथो विलक्षणचक्षुरादिवैशिष्ट्येनानैकरस्यान्नासौ तदुपासनयेत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब ब्रह्ममें विग्रहरूपता-ध्यानके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है। श्रुतिमें कहीं *'आत्मेत्येवोपासीत्'*

(आत्माकी ही उपसना करें और कहीं *'आत्मानमेव लोकमुपासीत्'* (आत्म-लोकको उपासना करे) यह पाठ है और किसी श्रुतिमें *'तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्रामं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्'*—अर्थात् हिरण्यगर्भने उन ब्रह्मसे इस प्रकार कहा, वे गोपालवेशी, नवजलधरश्याम (अभ्राम), तरुणवयस्क, कल्पद्रुमाश्रयी हैं। इस विषयमें *'सत्पुण्डरीकनयन'* इत्यादि और *'चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः'* अर्थात् उन प्रफुल्ल श्वेतपद्मलोचन इत्यादि रूपोंमें भगवान् श्रीकृष्णका मन-ही-मन ध्यान करनेपर संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं, इत्यादि वाक्य देखनेमें आते हैं। इस विषयमें संशय यह है कि आत्मा-रूप-मात्र-उपासनासे मुक्ति होगी? अथवा विग्रह रूपमें आत्माके ध्यानसे मुक्ति होगी? सिद्धान्ती प्रश्न करते हैं कि आप इस विषयमें क्या सिद्धान्त करते हो? उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—आत्म-मात्र रूपमें उपासना द्वारा मुक्ति होगी। कारण क्या है? तो पूर्वपक्षी कहते हैं कि आत्माका सर्वदा एकरसत्व एवं श्रुति द्वारा एकरस आत्माकी उपासनासे मुक्ति कही गयी है, यही कारण है। विग्रहकी उपासना नहीं कही गयी है क्योंकि समस्त विग्रहोंकी परस्पर विलक्षणता है; चक्षुः इत्यादिके वैशिष्ट्यके कारण एकरूपता (एकरसता) नहीं, अनेकरूपता (अनेकरसता) है—इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पितृत्वादिकं ब्रह्मणि प्रागुक्तं तदस्तु तस्योक्तरूपतया तस्मिन् सम्भवात् विग्रहत्वन्तु मास्तु विग्रहवत्त्वेनाननुभवादुक्तेश्चेति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह अथेति। सत्पुण्डरीकेत्यादि। सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्। द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्। गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमलताश्रितम्। दिव्यालङ्करणोपेतं रक्त-पङ्कजमध्यगम्। कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् इत्यादि पदात् पूर्यम्। पक्षद्वये फलन्तु भाव्यम्। तस्यैवात्मनः। मुक्तिरुक्तेति। *"एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन"* (बृ०आ० ४/४/१९) इत्यादि श्रुतिभिः। असौ मुक्तिः। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले ब्रह्ममें जो पितृत्व इत्यादि धर्मकी व्यवस्था की गयी थी, वही हो, क्योंकि श्रीभगवान्‌की पितृ इत्यादि रूपता है—अतः उनमें यह उक्ति सम्भव है किन्तु विग्रहरूपता न हो क्योंकि विग्रहवान रूपमें उन्हें कोई देखता नहीं है और उक्त

युक्तिके अनुसार भी विग्रहत्त्व सम्भव नहीं है—इस प्रत्युदाहरण-सङ्गतिके अनुसार *'अथ विग्रहत्वम्'* इत्यादि वाक्य द्वारा यह अधिकरण कहते हैं। सत्पुण्डरीकेत्यादि श्लोक, यथा—परमेश्वर विकसित पद्मपलाशलोचन, नवनीरदाभ, विद्युत्वत् पीताम्बर, द्विभुज, मौनमुद्रायुक्त, वनमाली, गोप, गोपी एवं गोपवृन्दवेष्टित, कल्पद्रुम-तले विद्यमान, दिव्य अलङ्कारोंसे शोभित, रक्तपद्मासीन एवं यमुनाजलकी तरङ्गसे सम्पृक्त वायु द्वारा सेवित यह आदि पदसे पूरणीय है। पूर्वपक्षीका उद्देश्य एवं सिद्धान्तीका उद्देश्य-स्वयं चिन्तनीय है। *'तस्यैवैकरस्यादिति'* में तस्यैव का अर्थ है 'आत्मा का'। मुक्तिरुक्तेति—*'नेह नानास्ति किञ्चन'* (बृ॰आ॰ ४/४/१९)—इस जगत्में बहुत कुछ नहीं है, एक ही वस्तु सब कुछ है, इत्यादि श्रुति द्वारा एक आत्म रूपमें ही उन्हें देखना उचित है, यह प्रतिपादित हुआ है। *'नासौ तदुपासनयेति'* में असौ का अर्थ है 'यह मुक्ति'। 'एवं प्राप्ते'—इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

समानाधिकरणम्

सूत्र—समान एवञ्चाभेदात्॥ २०॥

सूत्रार्थ—'च' ऐसा होनेपर भी अर्थात् चक्षु आदिका पार्थक्य रहनेपर भी 'समान एव' श्रीभगवान् एक रूप ही हैं। क्यों? 'अभेदात्' आत्माका चक्षु आदिके साथ कोई भेद नहीं है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—विग्रहस्वरूप आत्माकी उपासनासे ही मुक्ति होगी, क्योंकि चक्षु आदि श्रीभगवत्-विग्रहसे भिन्न नहीं हैं॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—अप्यर्थे च-शब्दः। एवमपि चक्षुरादीनां वैलक्षण्येन भानेऽपि समान एकरसः स एव हिरण्यप्रतिमादिवद्भगवान् बोध्यः। कुतः? अभेदात्। चक्षुरादीनामात्मानतिरेकादित्यर्थः। तस्माद्विग्रहभूतात्मोपासनयैव मोक्षः। एवञ्च चिन्तयंश्चेतसेत्यादिवाक्यव्याकोपः। *"सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः"* इति स्मृतिस्तु वैचित्र्या विभातस्य तद्विग्रहस्यैकरस्यमाह। अरूपवदित्यनेन चिन्तितमप्येतद्विधान्तरेण चिन्तितम्। कृपालुराचार्योदुष्प्रवेशमर्थमसकृद्विमृशति सुप्रवेशत्वाय॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द अपि अर्थमें है—ऐसा होनेपर भी अर्थात् चक्षु आदि की विशेष रूपसे (पृथक्-पृथक्) रूपमें प्रतीति

होनेपर भी वे 'समान एव' एकरस (एक स्वरूप) ही है क्योंकि सुवर्णादि (हिरण्यमयादि) प्रतिमा जिस प्रकार विभिन्न रूपोंमें प्रतीयमान होनेपर भी वह एक ही अर्थात् हिरण्यमय ही है (उसके सभी अङ्ग हिरण्यमय हैं) इसी प्रकार श्रीभगवत्-विग्रहको भी जानना चाहिये। कारण? 'अभेदात्' व्यक्तिगत भेद नहीं है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंका आत्मासे (श्रीभगवत्-विग्रहसे) पार्थक्य नहीं है (समानता अर्थात् अभिन्नता ही है), यह तात्पर्य है अतएव सिद्धान्त यह है कि विग्रहस्वरूप आत्माकी उपासनासे ही मुक्ति (मोक्ष) होगी—यह स्वीकार करना होगा। इस स्वीकार न करनेपर अर्थात् विग्रह भूत आत्माकी उपासना द्वारा मुक्ति न माननेपर 'चिन्त्यंश्चेतसा' अर्थात् 'उनका (श्रीकृष्णका) चित्त द्वारा इस प्रकारसे ध्यान करनेपर'—इत्यादि वाक्यका विरोध होगा। तब जो *'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः'* इत्यादि स्मृति-वाक्य हैं—इन सबका तात्पर्य है कि नाना रूपोंमें प्रतिभात भगवत्-विग्रहकी एक ही सत्ता है और एक ही आनन्दरूपता है। पुनः 'अरूपवत्' (वे रूपहीन हैं)—इस उक्ति द्वारा चिन्तित (चिन्तन किये गये) ब्रह्म-पदार्थका अरूप होनेपर भी प्रकारान्तरसे भी उनके चिन्तनका विचार (प्रतिपादन) किया गया है। कृपालु आचार्य वेदव्यास जीवके लिए दुर्बोध्य इस ब्रह्म-पदार्थका पुनः-पुनः विचार करते हैं, जिससे यह तत्त्व सुबोध्य (सहज बोध्य) हो जाय—उत्तम रूपसे उसमें प्रवेश हो जाय॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—समान इति। हिरण्येति। आदिशब्दाद्बहुवर्णैकपुष्पैकवर्णैक-कौशेयसूत्रनिर्मितचित्राम्बरचन्द्रका ग्राह्याः। एवं तेनैकधैवेत्यादि वाक्यं व्याख्यातम्। एवञ्चेति विग्रहभूतात्मोपासनया मोक्षानङ्गीकारे सतीत्यर्थः। सत्येति श्रीभागवते। ननु ब्रह्मणो विग्रहवत्त्वनिरूपणं पुनरुक्तं प्रागुक्तेरिति चेत् तत्र समादधदाह अरूपवदिति॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार—*'समान एवञ्चेति'* सूत्रमें *'हिरण्यप्रतिमादिवत्'* इत्यादि भाष्यमें, हिरण्य-प्रतिमादिके समान, आदिपदके द्वारा जानना चाहिये—बहु-वर्णोंसे विशिष्ट एक ही पुष्प और एक वर्णसे एक ही रेशमी धागेसे बना विचित्र वस्त्रका कल्पा (मयूरपंखमें चन्द्र जैसी रचना)। इसके द्वारा वे 'एकधैव' एक प्रकारसे ही—इस विरुद्ध उक्तिकी भी

मीमांसा हुई। *'एवञ्च चिन्तयं श्चेतसेति'* में 'एवञ्च'—अर्थात् विग्रहभूत आत्माकी उपासनासे मुक्ति स्वीकार न करनेपर। *'सत्यज्ञानान्तेत्यादि'* वाक्य श्रीमद्भागवतसे उद्धृत है। यदि कहो, ब्रह्मकी विग्रहवत्ता-निरूपण पुनरुक्ति-दोषसे दूषित है क्योंकि पहले भी यह कहा गया है तो इसमें समाधान करते हुए भाष्यकारने अरूपवत् इत्यादि कहा है॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब ब्रह्मके विग्रहरूपत्वका ध्यान करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है। किसी श्रुतिमें 'आत्माकी ही उपासना करे', पुनः कहीं 'आत्मलोकको ही उपासना करे' इत्यादि पाठ है। पुनः कहीं गोपालवेश, नवजलधरश्यामवर्ण, कल्पद्रुमाश्रित, सत्पुण्डरीक-नयन श्रीकृष्णका ध्यान करनेपर जीव संसारसे मुक्त होता है, इत्यादि वाक्य भी देखे जाते हैं। इस स्थलपर एक संशय उपस्थित हो सकता है कि क्या श्रीभगवान्‌की आत्ममात्र रूपमें उपासना करनेसे मुक्ति होती है? अथवा आत्मविग्रह रूपमें उपासना करनेसे मुक्ति होती है? पूर्वपक्षी कहते हैं—आत्मा एकरस अथवा एकरूप है, इसलिए श्रुतिके समान उनकी उपासनासे मुक्ति प्राप्त होती है, इस कारण एकरस आत्माकी ही उपासना करना उचित है। श्रीभगवान्‌के सभी विग्रह परस्पर विलक्षण हैं और ये विभिन्न चक्षु आदि विशिष्ट विग्रह—नानारसमय हैं, इसलिए ऐसे विग्रहोंकी उपासनासे मुक्ति सम्भव नहीं है। पूर्वपक्षके इस मतके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीभगवत्-विग्रहोंके चक्षु आदिमें विलक्षणता रहनेपर भी वे सर्वत्र समान हैं और उन्हें अभिन्न रूपमें जानना होगा। हिरण्मय प्रतिमाके जिस प्रकार सभी अङ्ग सुवर्णमय हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् विभिन्न विग्रहवान होनेपर भी अभिन्न स्वरूप हैं। अतः श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहकी उपासनासे ही मोक्षफलकी प्राप्ति होती है—यह स्वीकार करना होगा, अन्यथा पूर्वोक्त श्रुतिके साथ विरोध होगा।

स्मृति (श्रीमद्भागवत) में भी इसी प्रकारका वर्णन है, जिसे भाष्यमें देखना चाहिये। पहले *'अरूपवत्'* (ब्र॰सू॰ ३/२/१४) सूत्रमें सूत्रकारने व्यक्त किया था कि ब्रह्म विग्रहविशिष्ट नहीं हैं, वे स्वयं ही श्रीविग्रह हैं। पुनः इस स्थलपर भी श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके विचारको प्रकारान्तरसे प्रकाशित कर रहे हैं, जिससे दुर्बोध्य विषय सुबोध्य हो जाय—यही

जगद्गुरु श्रीव्यासदेवकी महती कृपा है। दुःखका विषय यह है कि ऐसी कृपा ग्रहण न कर सकनेके कारण अनेक दुर्भागे व्यक्ति श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहको न मानकर निराकारवादी हो पड़ते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीसार्वभौमसे कहते हैं—

ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार।
से विग्रहे कह सत्त्वगुणेर विकार॥

श्रीविग्रह ये न माने सेइ त पाषण्ड।
अस्पृश्य, अदृश्य सेइ हय यमदण्ड्य॥

(चै०च०म० ६/१६६–१६७)

अर्थात् ईश्वरका श्रीविग्रह सत्, चित् एवं आनन्दमय है और इस साकार स्वरूपको आप सत्त्वगुणका विकार मानते हैं, जो भगवान्‌के श्रीविग्रहको नहीं मानता, वह पाषण्डी है। वह देखने अथवा स्पर्श करनेके योग्य भी नहीं है और वह यमके द्वारा भी दण्डका भागी होता है।

श्रीमन्महाप्रभु काशीवासी विप्रसे कहते हैं—

कृष्णनाम कृष्णस्वरूप—दुइ त समान॥

नाम, विग्रह, स्वरूप—तिन एक रूप।
तिने 'भेद' नाहि—तिन चिदानन्दस्वरूप॥

देह-देहीर नाम-नामीर कृष्णे नाहि 'भेद'।
जीवेर धर्म—नाम-देह-स्वरूपे 'विभेद'॥

अतएव कृष्णेर नाम, देह, विलास।
प्राकृतेन्द्रिय-ग्राह्य नहे, हय स्वप्रकाश॥

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द।
कृष्णेर स्वरूप सम, सब चिदानन्द॥

(चै०च०म० १७/१३०–१३५)

इन पयारोंकी व्याख्यामें सच्चिदानन्द श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—मायावादी कृष्णके नाम, रूप, गुण एवं लीलाको अनित्य जानकर महा अपराधी होते हैं। कृष्णके मुख्य नामोंका परित्याग करके ब्रह्म, आत्मा, चैतन्य इत्यादि समस्त गौण नामोंका उच्चारण करते हैं।

यद्यपि कभी गोविन्द, माधव, कृष्ण—ये सभी मुख्य नाम उनके मुखसे बाहर निकलते हैं, तथापि उनके ज्ञानदोषसे (कृष्णनाममें अविश्वासके कारण अन्यान्य प्राकृत अथवा जागतिक शब्दोंके विशेष रूपके ज्ञानके कारण उनके मुखसे) चित्-विग्रह कृष्णका 'नाम' कभी भी नहीं निकलता। वस्तुतः कृष्णका नाम और कृष्णका स्वरूप—ये दोनों चित्-वस्तु हैं अर्थात् नाम, विग्रह और स्वरूप—तीनों ही चिदानन्दमय हैं। बद्धजीवकी देह जीवरूप देहीसे पृथक् है और उनका पितृदत्त 'नाम' भी उनकी 'आत्मा' अथवा स्वरूपसे पृथक् एवं जड़ाश्रित है, किन्तु कृष्णमें ऐसा कुछ नहीं है अर्थात् कृष्णका जो देह है, वही देही है, जो नाम है, वही नामी है। कृष्णमें माया अथवा मायाप्रसूत जड़ सम्बन्ध न रहनेके कारण देह-देही अथवा नाम-नामीमें भेद असम्भव है। बद्धजीवके लिए ही देह-देही अथवा नाम-नामीमें पार्थक्य वर्त्तमान है अर्थात् जीवमें ही नाम, देह और स्वरूपका परस्पर पृथक् धर्म विद्यमान है। कृष्णकी देह, कृष्णका नाम, कृष्णका रूप, कृष्णके गुण, कृष्णका विलास अथवा कृष्णका परिकर वैशिष्ट्यादि सच्चिदानन्दमय होनेके कारण सत्त्वादि गुणत्रयाभिमानी जीवके जड़ीय रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्शादिसे ग्राह्य नहीं हैं। इन्हें कोई प्रकाश नहीं करता, ये स्वयं प्रकाश होते हैं तथा ब्रह्मज्ञानियोंको भी आकर्षित कर लेते हैं। अतएव श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुण-लीला कभी भी प्राकृत चक्षु, कर्ण आदिके द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। जब जीव सेवोन्मुख होता है अर्थात् चित्-स्वरूप कृष्णोन्मुख होता है, तभी अप्राकृत जिह्वादि इन्द्रियोंमें कृष्णनामादि स्वयं ही स्फूर्ति प्राप्त करते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीसे कहते हैं—

ब्रह्म शब्दे मुख्य अर्थे कहे 'भगवान्'।
चिदैश्वर्य परिपूर्ण अनूर्द्ध समान॥

ताँहार विभूति, देह—सब चिदाकार।
चिद्विभूति आच्छादिया कहे 'निराकार'॥

चिदानन्द—देह, ताँर स्थान, परिवार।
ताँरे कहे प्राकृत-सत्त्वेर विकार॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१११—११३)

'ब्रह्म' शब्दके मुख्य अर्थमें चिदैश्वर्यसे परिपूर्ण, अनूर्द्ध (असमोर्द्ध) भगवान्‌के विषयमें कहा जाता है कि उनकी विभूति, देह—सब कुछ चिदाकार है। (मायावादी) चित्-विभूतिको आच्छादित करके उन्हें 'निराकार' कहते हैं। उनका परिवार, देह, स्थान—सब चिदानन्दमय हैं और वे इन्हें प्राकृत सत्त्वका विकार कहते हैं।

प्राकृत करिया माने विष्णु-कलेवर।
विष्णु-निन्दा आर नाहि इहार उपर॥
(चै॰च॰आ॰ ७/११५)

वे (पूर्वपक्षी) विष्णु-कलेवर (विष्णुविग्रह) को प्राकृत मानते हैं। इससे अधिक विष्णुकी निन्दा और नहीं हो सकती।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी प्राप्त होता है—

हस्त, पद, मुख मोर नाहिक लोचन।
एइ मत वेदे मोरे करे विडम्बन॥

काशीते पढ़ाय बेटा प्रकाशानन्द।
सेइ बेटा करे मोर अङ्ग खण्ड-खण्ड॥

बाखानये वेद मोर विग्रह ना माने।
सर्व अङ्गे हैल कुष्ठ, तबु नाहि जाने॥

सर्वयज्ञमय मोर ये अङ्ग पवित्र।
अज भव आदि गाय याँहार चरित्र॥

पुण्य पवित्रता पाय ये अङ्ग परशे।
ताहा मिथ्या बले बेटा केमन साहसे?
(चै॰भा॰म॰ ३/३६—४०)

अर्थात् महाप्रभु (श्रीवराह-आवेशमें) बोले—वेद यह कहकर मेरी विडम्बना करते हैं कि मेरे हाथ, पैर, मुख नहीं हैं और न ही मेरे नेत्र हैं। काशीमें बेटा प्रकाशानन्द सरस्वती (केवलाद्वैतवादी संन्यासी) पढ़ाता है और अपने अध्यापनमें मेरे अङ्गोंको खण्ड-खण्ड करता है। वेदोंका बखान तो खूब करता है, परन्तु मेरे विग्रहको नहीं मानता। उसके समस्त अङ्गोंमें कुष्ठ रोग हो गया है, तब भी उसे बोध नहीं

होता। ये मेरे पावन अङ्ग-प्रत्यङ्ग सर्वयज्ञमय हैं और जिनकी महिमाका निरूपण ब्रह्मा, शिवादि सभी करते हैं। मेरे इन अङ्गोंके स्पर्शसे पुण्य और पवित्रताकी प्राप्ति होती है, उन्हें वह बेटा (बदमाश) किस प्रकार 'मिथ्या' कहनेका साहस कर सकता है?

और भी,

संन्यासी प्रकाशानन्द बसये काशीते।
मोरे खण्ड-खण्ड बेटा करे भाल मते॥

पढ़ाय वेदान्त मोर विग्रह ना माने।
कुष्ठ कराइलुँ अङ्गे तबु नाहि जाने॥

अनन्त ब्रह्माण्ड मोर ये अङ्गेते बैसे।
ताहा मिथ्या बले बेटा केमन साहसे?

(चै०भा०म० २०/३३-३५)

अर्थात् प्रकाशानन्द नामका एक संन्यासी काशीमें रहता है। वह मुझे अच्छी तरहसे खण्ड-विखण्ड करता रहता है। वेदान्त पढ़ाता है, पर मेरे विग्रहको नहीं मानता है। उसके अङ्गोंपर मैंने कुष्ठरोग कर दिया, फिर भी उसे कुछ समझमें नहीं आता। अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे जिन अङ्गोंमें विराजमान हैं, उन्हें वह मिथ्या बतलाता है, कैसा दुःसाहस है उसका?

अन्यत्र भी,

चिदानन्द कृष्णविग्रहे 'मायिक' करि मानि।
एइ बड़ 'पाप', सत्य चैतन्येर वाणी॥

(चै०च०म० २५/३५)

श्रीकृष्णके चिदानन्दविग्रहको जो मायिक मानते हैं, यह सबसे बड़ा पाप है। श्रीचैतन्यदेवकी यह वाणी परम सत्य है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्। (श्रीमद्भा० ७/१०/४८) युधिष्ठिर! साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यका रूप धारण करके गुप्त रूपसे निवास करते हैं।

साक्षाद्-गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्। (श्रीमद्भा॰ ७/१५/७५) परब्रह्म मनुष्य-चिह्न धारणकर गूढ़ रूपसे रहते हैं।

यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः। (श्रीमद्भा॰ ९/२३/२०) अर्थात् यदुवंशमें स्वयं-भगवान् परब्रह्म श्रीकृष्णने मनुष्य रूपमें अवतार लिया था।

यदयं नृलिङ्ग-गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः। (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१३) अर्थात् व्रजभूमिमें पुराण पुरुष पुरुषोत्तम रङ्ग-बिरङ्गे जङ्गली पुष्पोंकी माला धारणकर मनुष्यके वेशमें छिपकर रहते हैं।

देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद् भवो न साक्षान्न भिदाऽऽत्मनः स्यात्। (श्रीमद्भा॰ १०/४८/२२) अर्थात् भक्त अक्रूर श्रीभगवान्से कहते हैं—आपके देहादि उपाधि-निरूपित नहीं हैं। इस कारण आपका जन्म तथा देह-देहीका भेद रह नहीं सकता। इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्तीपाद कहते हैं—अतएव आपके देहादिके उपाधित्वके अभावके कारण जीवके समान आपको साक्षात् पैतृक धातु-सम्बन्धित जन्मादि नहीं, किन्तु आविर्भावात्मक जन्मादि होते हैं।

और भी,

गूढैश्वर्ये परेऽव्यये। (श्रीमद्भा॰ ११/५/४९) अर्थात् उन्होंने लीलाके लिए मनुष्यरूप प्रकट करके अपना ऐश्वर्य छिपा रखा है।

वपुषा येन भगवान् नरलोकमनोरमः।
यशो वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/६/४)

अर्थात् इस समय उन्होंने अपना श्रीविग्रह प्रकट करके उसके द्वारा तीनों लोकोंमें ऐसी पवित्र कीर्त्तिका विस्तार किया है, जो समस्त लोकोंमें पाप-तापको सदाके लिए मिटा देती है।

शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः। (श्रीमद्भा॰ ३/२१/८) अर्थात् अपने शब्द ब्रह्ममय स्वरूपसे मूर्त्तिमान होकर कर्दमजीको दर्शन दिये।

श्रुतिमें भी प्राप्त है—

ॐ सच्चिदानन्द रूपाय कृष्णाय। (गो॰ता॰पू॰ १) सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर श्रीकृष्णके लिए नमस्कार है। उन एक गोविन्द सच्चिदानन्द विग्रहकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं। (गो॰ता॰पू॰ ३५) *द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्।* (गो॰ता॰पू॰ १२/१) अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमय गुणादि-विशिष्ट हैं, अद्वितीय तत्त्व होकर भी पञ्चपदात्मक सच्चिदानन्दविग्रह है, वे एकमात्र हैं—त्रिविध भेदरहित हैं, 'द्विभुजम्' अर्थात् हिरण्यगर्भ एवं विराट् पुरुष उनके (हस्तस्थानीय हैं), *'ज्ञानमुद्राढ्यम्'* अर्थात् 'तत् त्वमसि' इत्यादि वाक्यकी आलोचनामें जो सच्चिदानन्दैक रसाकार वृत्तिमें प्रकाशित होते हैं, जो केवल ज्ञानके विषय हैं *'वनमालिनमीश्वरम्'* अर्थात् जिनके गलदेशमें वनमाला सुशोभित है, अर्थात् विविक्त (वन अर्थात् निर्जन) प्रदेशमें ऐकान्तिक भक्तोंके हृदयमें जो आत्म-प्रकाश करते हैं और जो ब्रह्मादि देवताओंके नियन्ता हैं अर्थात् जिनके प्रशासनमें समस्त नियन्त्रित है।

ब्रह्मसंहितामें भी पाया जाता है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अर्थात् सच्चिदानन्द विग्रह श्रीगोविन्द कृष्ण ही परमेश्वर हैं।

ऋग्वेदमें—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानसा। (१ मण्डल, २२ अनुवाक्, १६४ सूक्त, ३१ ऋक्) अर्थात् गोपवंशमें उत्पन्न एक बालकको देखा, जिसका कभी भी पतन (विनाश) नहीं है।

और भी,

तदुरुगायस्य कृष्णः परमं पदमवभाति भुरि। (१ मण्डल, २१ अनुवाक्, १५४ सूक्त, ६ ऋक्) मैं आपके (राधाकृष्णके) उस परम धामको प्राप्त करनेकी अभिलाषा करता हूँ।

इसी सन्दर्भमें श्रीगीताका *'अवजानन्ति मां मूढाः'* (९/११) श्लोक भी आलोच्य है॥ २०॥

आवेशावतारका गुणोपसंहार विचार

अवतरणिका भाष्य—तदेवं साक्षाद्रूपेषु भगवदाविर्भावेषु तत्तद्गुणोपसंहृतिरुक्ता। अथ जीवभूतेष्वावेशावतारेषु सा विमृश्यते। *"अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच"* (छा॰ ७/१/१) इति। *"तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु"* (छा॰ ७/१/३) इति चैवमादि छान्दोग्यादौ पठितम्। अत्र भगवतो ज्ञानशक्त्यादिनिजधर्मैराविष्टाः कुमारादयो जीवास्तस्यवेशा भवन्तीति भगवच्छब्दात्

प्रतीयते। तेषु तद्भक्तैर्निखिलभगवद्धर्मा उपसंहार्या न वेति संशय विकल्पं स्थापयति। तत्रादौ विधिपक्षमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार पहले साक्षात् रूप श्रीभगवान्के अवतारोंमें उन-उन गुणोंका उपसंहार कहा गया था, अब जीवस्वरूप आवेशावतारोंमें उस-उस गुणोपसंहार पर विचार किया जाता है। छान्दोग्य इत्यादि उपनिषदोंमें पढ़ा जाता है—*'अधीहि भगव इति होप पसाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच इति तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' इत्यादि* अर्थात् हे भगवन्! आप मुझे ब्रह्म विषयक उपदेश प्रदान कीजिये—यह कहते हुए नारद सनत्कुमारके समीप उपस्थित हुए और बादमें उनसे कहा। हे भगवन्! ब्रह्म विषयक उपदेश-प्रार्थी मुझे शोक-सागरसे पार करा दीजिये इत्यादि और भी छान्दोग्यमें पठित है। यहाँ श्रुति-पठित भगवत्-शब्दके द्वारा प्रतीत होता है कि सनत्कुमारादि ऋषिगण भगवान्के ज्ञान, शक्ति इत्यादि निज-धर्ममें आविष्ट हुए थे, इसलिए वे जीव होनेपर भी भगवान्के आवेश अवतार हैं—यह हे भगवन्! सम्बोधनके द्वारा प्रतीत भी होता है। यहाँ संशय यह है कि इन सब भगवदावेशावतारोंके भक्तगण अपने-अपने उपास्य उन आवेशोंमें निखिल भगवत्-धर्मोंको ग्रहण करेंगे? कि नहीं करेंगे? इस संशयपर दो पक्ष स्थापित हुए हैं—एक विधि पक्ष और दूसरा निषेध-पक्ष। इनमेंसे सम्पूर्ण भगवत्-धर्मोंका जिसमें उपसंहार है, वह है विधि-पक्ष—पहले वही बतलाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—साक्षादवतारोपासनेष्वनुक्ता गुणा नेया इत्युक्तम्। तत्र प्रसङ्गात् तदाविष्टेषु महत्तमेषु जीवेषु तेषां नयनविचारं प्रवर्त्तयत्येवमित्यादिना। विधिपक्षे तदाविष्टानां जीवत्वेन तेभ्यो भेदात् तदुपासनेषु ते नेया नेति प्रत्युदाहरणसङ्गतिः। निषेधपक्षे तु साक्षाद्रूपेष्विव तदाविष्टेष्वपि ते नेयाः तप्तायः-पिण्डन्यायेन तद्भावस्य तेष्वागतत्वादिति दृष्टान्तसङ्गतिरिति बोध्यम्। आवेशावतारेष्विति। ज्ञानवीर्यादिभगवद्गुणावेशेन तदवतारतया निगदितेष्वित्यर्थः। अधीहीति। अध्यापय मामित्यर्थः। एवं वदन् नारदः सनत्कुमारमुपससाद। तमिति तमुपसन्नं मां नारदम्। तस्य भगवतः सर्वेशस्य। तेष्विति। कुमारादिष्वावेशेष्वित्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—साक्षात् अवतार श्रीरामचन्द्रादिकी उपासनामें अनुक्त गुणसमूह भी ग्रहणीय हैं, यह बात पहले भी कही

गयी थी। इसमें प्रसङ्गाधीन भगवदाविष्ट महत्तम जीव-विशेषमें उन समस्त गुणोंका उपसंहार है? कि नहीं? इसपर 'एवमित्यादि' वाक्य द्वारा विचार करते हैं। इसमें जो संशय उत्थित हुआ है, उसके दो पक्ष हैं, एक है—हाँ, उपसंहार होगा, यह विधि-पक्ष है, इसमें आपत्ति है, भगवदाविष्ट जीव-विशेषके जीवत्वके कारण साक्षात् अवतारोंसे पार्थक्य हेतु उनकी उपासनामें वे सब भगवत्-धर्म उपास्य नहीं हैं; यह प्रत्युदाहरण अथवा आपत्तिरूप-सङ्गति है। पुनः निषेध-पक्षमें अर्थात् नहीं; समस्त भगवत्-धर्मका उपसंहार नहीं होगा, इस निषेध-पक्षमें समाधान है—भगवदाविष्ट जीव-विशेष सनत्कुमारादिमें भी साक्षात् अवतारके समान उन समस्त गुणोंका उपसंहार करना चाहिये, जिस प्रकार अग्नि-तप्त लौह-पिण्डमें अग्निके आवेशके कारण अग्निका चिन्तन किया जाता है, उसी प्रकार उन भगवदाविष्ट जीवसमूहमें भी भगवत्-भावके उदयके कारण समस्त भगवत्-धर्मका उपसंहार होगा, यह दृष्टान्त-सङ्गति जाननी चाहिये। *'आवेशावतारेषु'* इति—श्रीभगवान्‌के ज्ञान, वीर्यादि गुणोंके वहाँ (उनमें) आविर्भावके कारण वे भी भगवदवतारके रूपमें कथित हैं—यह अर्थ है। *'अधीहि भगव'* इत्यादि में *'अधीहि'* पदका अर्थ है—मुझे अध्यापना कीजिये (उपदेश दीजिये)। नारद इस प्रकार कहकर सनत्कुमारके निकट आये। *'तं मां भगवन्'* इत्यादि में 'तम्' वही उपसन्न (आश्रित) नारद मुझे। *'जीवास्तस्यावेशा भवन्ति'* इति में 'तस्य' अर्थात् वे श्रीभगवान् सर्वेश्वर हैं। *'तेषु तद्भक्तैरित्यादि'* में 'तेषु' का अर्थ है—'कुमारादि भगवदावेश में' यह अर्थ हैं।

सूत्र—सम्बन्धादेवमन्यत्रापि॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—'अन्यत्रापि' अन्य स्थलपर भी अर्थात् भगवदाविष्ट कुमारादि उपास्योंमें भी 'एवम्' सम्पूर्ण भगवत्-धर्मोंका उपसंहार होगा, क्यों? 'सम्बन्धात्' उनमें भगवत्-शक्तिका आवेश है, इसलिए॥ २१ ॥

सूत्रानुवाद—सनत्कुमारादि जीवसमूह भगवान्‌की ज्ञानशक्तिके द्वारा आविष्ट हैं—ये भगवान्‌के आवेशावतार हैं—इसलिए भगवान्‌के निखिल धर्मोंका इनमें आवेश होगा॥ २१ ॥

गोविन्दभाष्य—अन्यत्र भगवदाविष्टेषु कुमारादिष्वेवं निखिलतद्धर्मोपसंहारो भवति। कुतः? सम्बन्धात्। अयःपिण्डेषु वह्नेरिव तेषु तस्यावेशात्॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अन्यत्र भगवान् द्वारा आविष्ट सनत्कुमारादिमें इस प्रकारसे सम्पूर्ण धर्मोंका उपसंहार होगा। किस कारणसे? *'सम्बन्धात्'* भगवान्के उनमें आवेशरूप सम्बन्धके कारण। जिस प्रकार तप्त लौह पिण्डसमूहमें अग्निके आवेशसे (संयोगसे) दाहिका शक्ति आती है, उसी प्रकार भगवदाविष्ट जीवमें भी उनके आवेशके कारण भगवत्-धर्मका सञ्चार होता है—इस कारणसे॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—सम्बन्धादिति। स्फुटार्थम्॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार—*'सम्बन्धात्'* इत्यादि सूत्र एवं भाष्यका अर्थ सुस्पष्ट है॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रीभगवान्के साक्षात् अवतारोंमें उन-उन गुणोंके उपसंहार अर्थात् ग्राह्यता (अधिग्रहणता) के वर्णनके अन्तमें अब जीवभूत आवेशावतारोंके विषयपर विचार किया जाता है। भगवदावेशावतरोंमें उनके भक्तगण उपासनामें भगवान्के सम्पूर्ण धर्मका उपसंहार करेंगे या नहीं। अब इस संशय-स्थलपर विकल्प स्थापित करते हुए पहले विधि-पक्ष बतलाया गया है।

भगवदाविष्ट कुमारादिमें सम्पूर्ण भगवत्-धर्मका ही उपसंहार करना होगा, क्योंकि उनमें इस प्रकारका आवेश-सम्बन्ध है। जिस प्रकार लौहपिण्डमें अग्निके प्रवेश करनेपर उसमें दाहिका शक्ति प्रकट होने लगती है, उसी प्रकार आवेशावतारोंमें भी भगवत्-धर्मका प्रकाश होता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी प्राप्त है—

शक्त्यावेशावतार कृष्णेर असंख्य गणन।
दिग् दरशन करि मुख्य-मुख्य जन॥

शक्त्यावेश दुइ रूप—'मुख्य', 'गौण' देखि।
साक्षात् शक्त्ये 'अवतार' आभासे विभूति लिखि॥

'सनकादि', 'नारद', 'पृथु' परशुराम।
जीवरूप 'ब्रह्मार' आवेशावतार नाम॥

वैकुण्ठे 'शेष', धरा धरये 'अनन्त'।
एइ मुख्यावेशावतार, विस्तारे नाहि अन्त॥
सनकाद्ये ज्ञानशक्ति, नारदे शक्ति भक्ति।
ब्रह्माय सृष्टि शक्ति, अनन्ते 'भू-धारण' शक्ति॥
शेषे 'स्व-सेवन' शक्ति पृथुते 'पालन'।
परशुरामे 'दुष्टनाश', 'वीर्य-सञ्चारण'॥
(चै॰च॰म॰ २०/३६५-३७०)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुने कहा—हे सनातन! श्रीकृष्णके शक्त्यावेशातर भी असंख्य-असंख्य हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती। इनमें जो मुख्य-मुख्य हैं, मैं उनका दिग्दर्शन कराता हूँ। शक्त्यावेशावतार दो प्रकारके हैं—एक मुख्य और दूसरे गौण। जिनमें साक्षात् रूपसे शक्तिका आवेश है, उन्हें मुख्य अवतार मानना चाहिये और जिनमें शक्तिका आभासमात्र है, उन्हें गौण शक्त्यावेशावतार अथवा 'विभूति' जानना चाहिये। श्रीसनकादि, नारद, महाराज पृथु, परशुराम, जीवकोटि ब्रह्मा, वैकुण्ठमें श्रीशेष जो श्रीअनन्तरूपसे पृथ्वीको धारण कर रहे हैं—ये सभी मुख्य शक्त्यावेशावतार हैं, इनकी महिमाका कोई अन्त नहीं है। श्रीसनकादिमें ज्ञानशक्तिका आवेश है, श्रीनारदजीमें भक्तिशक्तिका, श्रीब्रह्माजीमें सृष्टिशक्तिका, श्रीअनन्तमें भू-धारण शक्तिका, श्रीशेषजीमें स्व-सेवन शक्तिका एवं महाराज पृथुमें प्रजा-पालन शक्तिका तथा श्रीपरशुरामजीमें दुष्टोंका नाश करनेकी शक्तिका अर्पण है। श्रीगीतामें श्रीभगवान्‌की जिन-जिन विभूतियोंका वर्णन किया है, उन्हें गौण शक्त्यावेशावतार समझना चाहिये। जैसा कि कहा है—

विभूति कहिये यैछे गीता-एकादशे।
जगत् व्यापिल कृष्णशक्त्याभासावेशे॥
(चै॰च॰म॰ २०/३७२)

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायमें तथा श्रीमद्भागवतके एकादश-स्कन्धके षोडश अध्यायमें भगवान्‌की यावत् विभूतियोंका वर्णन किया गया है, वे सब गौण शक्त्यावेशावतार हैं, किसी अवतारमें श्रीकृष्णकी शक्तिका आवेश है और किसीमें उनके भावका। साधारण मनुष्योंकी

अपेक्षा जिनमें शक्ति एवं भावका आवेश अधिक दिखता है, वे भगवान्‌की विभूतियाँ हैं और वे समस्त जगत्‌में व्याप्त-वर्त्तमान हैं।

इस प्रकार अपने एकांशसे ही श्रीकृष्ण इस समस्त जगत्‌को धारण करके अवस्थित हैं।

और भी द्रष्टव्य है—

ईश्वरेर अवतार ए तिन प्रकार।
अंश अवतार, आर गुण अवतार॥

शक्त्यावेश अवतार—तृतीय ए मत।
अंश अवतार—पुरुष-मत्स्यादिक यत॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव—तिन गुणावतार गणि।
शक्त्यावेशावतार—पृथु, व्यासमुनि॥

(चै०च०आ० १/६५-६७)

अर्थात् ईश्वरके अवतार तीन प्रकारके होते हैं। अंश-अवतार, गुण-अवतार और शक्त्यावेशावतार। पुरुष (कारणसमुद्रशायी, गर्भोदशायी एवं क्षीर-समुद्रशायी) और मत्स्यादि अंश-अवतार हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीन गुणावतारमें गण्य हैं। सनकादि (चतुःसन), पृथु और व्यासमुनि शक्त्यावेश अवतार हैं।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके अमृतप्रवाह-भाष्यमें पाया जाता है—अंशावतारगण श्रीविष्णुके साक्षात् अवतार—मायाधीश हैं। सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंमें प्रतिभात भगवत्-अवतार ही गुणावतार हैं और जिन समस्त महत् जीवोंमें कृष्णशक्ति विशेषका आवेश होता है, वे शक्त्यावेशावतार हैं।

लघुभागवतामृतमें पाया जाता है—

ज्ञानशक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः।
त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः॥

(पूर्वखण्ड, आवेश प्रकरण १८)

भगवान् जनार्दन ज्ञानशक्ति आदि कलाओंके द्वारा जिन महत्तम जीवोंमें आविष्ट होते हैं, वे सभी महत्तम जीव 'आवेश अवतार' के रूपमें गिने जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥
(श्रीमद्भा॰ १/३/६)

अर्थात् उन्हीं प्रभुने पहले कौमारसर्गमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार ब्राह्मणोंके रूपमें अवतीर्ण हो करके अत्यन्त दुष्कर, अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया था।

तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥
(श्रीमद्भा॰ १/३/८)

अर्थात् इन्हीं भगवान् श्रीविष्णुने तृतीय अवतारमें ऋषियोंमें देवर्षि श्रीनारदके रूपमें अवतरित होकर सात्त्वततन्त्र पञ्चरात्रकी व्याख्या की थी। इस पञ्चरात्रके अनुसार वर्णाश्रमधर्म आदिका अनुष्ठान करनेसे कर्मबन्धनका नाश होता है॥ २१॥

अवतरणिका भाष्य—अथ निषेधपक्षमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब निषेध-पक्षके विषयमें बतलाते हैं।

सूत्र—न वाऽविशेषात्॥ २२॥

सूत्रार्थ—'न'—नहीं, सनत्कुमारादि भगवदाविष्ट जीवोंमें सम्पूर्ण भगवत्-धर्मका उपसंहार नहीं होगा, क्यों? 'अविशेषात्' जीवत्वधर्ममें कोई वैलक्षण्य नहीं है, 'वा' तब? भगवत् प्रियत्वके कारण उनमें आदर दिखाया है॥ २२॥

सूत्रानुवाद—अब निषेध पक्ष कहते हैं—आवेशावतारोंमें भगवान्का आवेश होनेपर भी जीवत्व धर्मके कारण उनमें अन्य जीवोंसे कोई विशेषता नहीं है॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—न तेषु निखिलभगवद्धर्मोपसंहारो भवति। कुतः? अविशेषात्। सत्यपि तदावेशे जीवत्वलक्षणे धर्मे विशेषाभावात्। वाशब्दात्तत्प्रेष्ठत्वादिना तत्रादरविशेषात्॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इन भगवदाविष्ट सनत्कुमारादि महत्तम जीव-विशेषमें (शक्ति आवेशावतारोंमें) सम्पूर्ण भगवत्-धर्म तथा भगवच्छक्तिकी ध्येयता नहीं होगी (इन जीव-विशेषमें भगवत्-धर्मका उपसंहार कर्त्तव्य भी नहीं है), क्योंकि यद्यपि भगवदावेश वहाँ हुआ है, तो भी जीवत्व-लक्षण धर्मके कारण उनमें अविशिष्टता है अर्थात् अन्य जीवोंकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिए। सूत्रोक्त 'वा' शब्दसे जाना जाता है कि श्रीभगवान्के प्रियतम भक्त होनेके कारण उनके प्रति आदरातिशयमात्र है॥ २२॥

सूक्ष्मा-टीका—नवेति। तत्रेत्यावेशेषु॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार—*'तत्रादरविशेषादिति'* में 'तत्र' अर्थात् उन समस्त आवेशोंमें॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब निषेधपक्ष कहते हैं कि समस्त आवेश अवतारोंमें समस्त भगवत्-धर्मोंका उपसंहार नहीं होगा, क्योंकि श्रीभगवान्की शक्ति आदिका आवेश होनेपर भी जीवत्व लक्षण धर्मके कारण अविशेषत्व वहाँ जानना होगा। तब श्रीभगवान्के प्रेष्ठत्व विचारसे वे विशेष आदरणीय होते हैं। श्रीभगवान्के स्वरूपके वैशिष्ट्य वर्णनमें श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तव भी पाया जाता है—

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२८)

अर्थात् हे प्रभो! प्राकृत इन्द्रियोंके सम्पर्कसे रहित और स्वतन्त्र-ईश्वर होनेपर भी आप समस्त प्राणियोंकी सम्पूर्ण इन्द्रियशक्तिको परिचालित करते हैं। जैसे छोटे-छोटे राजा अपनी-अपनी प्रजासे कर लेकर स्वयं अपने सम्राट्को कर देते हैं, उसी प्रकार अविद्या (मायाशक्ति) सहित सभी देवता विश्वकर्त्ता आपके उद्देश्यसे मनुष्योंके द्वारा दिये गये हव्य-कव्य आदि उपहारोंका भोग करते हैं और आपसे भयभीत

होकर वे सभी आपके द्वारा नियुक्त अपने-अपने अधिकारोचित कर्मोंको सम्पन्न कर आपका पूजन करते हैं॥ २२॥

सूत्र—दर्शयति च॥ २३॥

सूत्रार्थ—'च' और 'दर्शयति'-'तं माम्' इत्यादि श्रुति भगवदाविष्ट नारदजीकी जिज्ञासुता दिखा रही है॥ २३॥

सूत्रानुवाद—श्रुति भी नारदजीकी जिज्ञासा प्रकट करती है॥ २३॥

गोविन्दभाष्य— *"तं मां भगवान्"* इत्याद्या श्रुतिस्तदाविष्ठस्यापि श्रीनारदस्य जिज्ञासुतां दर्शयति। अतो न तत्र सर्वधर्मोपसंहारः॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—केवल युक्ति ही नहीं, *'तं मां भगवान्'* इत्यादि श्रुति भगवदाविष्ट होनेपर भी श्रीनारदजीका ब्रह्मजिज्ञासुत्व प्रकट करती है। अतएव भगवदाविष्ट जीवोंमें सम्पूर्ण भगवत्-धर्मोंका उपसंहार नहीं है॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—दर्शयतीति। तं मामित्यादि। नारदस्य तदाविष्टत्वं श्रीभागवतादिषु ख्यातमत्रोक्तं बोध्यम्॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार— *'दर्शयतीत्यादि'* सूत्रमें *'तं मां भगवान्'* इत्यादि भाष्य—नारदादि भी जो भगवदाविष्ट हैं, यह बात श्रीमद्भागवतादिमें विख्यात है, वही यहाँ कही गयी है, यह जानें॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस विषयमें शास्त्र-प्रमाण भी दिखाते हैं—*'तं मां भगवान्'* इत्यादि। भाष्यमें श्रीनारदजीकी जिज्ञासाके विषयमें कहा गया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज।
तद्विजानीहि यज्ज्ञानमा ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/५/१)

श्रीनारदजीने ब्रह्माजीसे कहा—हे देवाधिदेव! आप भूतभावन हैं, समस्त प्राणियोंके पूर्वज हैं, आप सबसे पहले उत्पन्न हुए हैं, आपने ही समस्त प्राणियोंकी सृष्टि की है, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप

परमात्मा एवं जीवात्माका जो तत्त्वपरक ज्ञान है, उसे बहुत अच्छी तरह–से जानते हैं, उस ज्ञानको मुझे भी विशेष रूपसे प्रदान कीजिये।

देवर्षिकी महिमामें भी प्राप्त है—

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत् कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥

(श्रीमद्भा॰ १/६/३९)

अहो! श्रीहरिकीर्त्तनरत नारदमुनि धन्य हैं, वे शार्ङ्गपाणि भगवान् विष्णुके यशोगुणको अपने वीणायन्त्रमें गान करते हुए आनन्दित रहते हैं और प्रसन्निचत्तसे विषयभोगोंसे तप्त विश्वको सर्वदा कृष्ण–प्रेमानन्द प्रदान करके हर्षोल्लसित करते हैं॥ २३॥

सूत्र—संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः॥ २४॥

सूत्रार्थ—'च' और, 'संभृति' अर्थात् पूर्णता और 'द्युव्याप्ति' अर्थात् सर्वलोकव्यापकत्व—ये दोनों धर्म 'अपि' भी आवेशावतारमें संग्रहणीय नहीं हैं। कारण? 'अतः'—जीवत्वके कारण॥ २४॥

सूत्रानुवाद—पूर्णता और व्यापकता—ये दोनों गुण आवेशावतारोंमें उपसंहृत नहीं होते, क्योंकि जीवत्वके कारण उनमें इन दोनों धर्मोंकी स्थिति नहीं हो सकती॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तयोः समाहारस्तथा। एतच्च तेषु नोपसंहार्यम्। इह पूर्वोक्तं हेतुमतिदिशति अत इति। जीवत्वादेवेत्यर्थः। अयमर्थः। एणायनीयानां खिलेषु पठ्यते। *"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान। ब्रह्मभूतानां प्रथमं तु जज्ञे। तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं क"* इति। अत्र वीर्यसंभृतिद्युव्याप्तिप्रमुखो ब्रह्ममहिमा प्रकीर्त्तितः। न स तेषु जीवेषुपसंहार्यस्तस्य परेशसाधारणत्वादिति॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'संभृति द्युव्याप्ति'—'संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्चानयोः समाहारः'* वाक्य समाहार द्वन्द समाससे निष्पन्न है, इसलिए क्लीव लिङ्ग एकवचनान्त है। संभृति एवं द्यु–व्याप्ति दोनों धर्म आवेशावतारमें ग्रहणीय नहीं हैं। इस विषयमें पूर्वोक्त हेतुका निर्देश 'अतः' पदके द्वारा करते हैं। 'अतः' अर्थात् जीवत्ववशतः (जीवत्व होनेसे उनमें इन

दोनोंका अभाव है। संभृति एवं द्युव्याप्तिका शाण्डिल्यादि-विद्याओंमें प्रत्यभिज्ञान नहीं है अतः इन दोनों धर्मोंका उपसंहार नहीं किया जा सकता)। अभिप्राय यह है कि एणायनीय उपनिषदसमूहके खिल नामक परिशिष्ट ग्रन्थमें पढ़ा जाता है, यथा *'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या ... स्पर्द्धितुं कः'* अर्थात् श्रीभगवान्‌के आकाश इत्यादि पराक्रम-विशेष रूप वीर्य हैं। ये ब्रह्मज्येष्ठ (कारण अर्थात् धारक) हैं अर्थात् इन सब (आकाशादिकी) उत्पत्तिके कारण हैं, वे एकमात्र निरपेक्ष हैं, आकाशादि ब्रह्मसे संभृत अर्थात् धृत (पुष्ट) हैं। *'ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान'* इति अर्थात् सृष्टिके पूर्व श्रेष्ठ (ज्येष्ठ) ब्रह्म ही आकाश इत्यादिको व्याप्त करके स्थित थे। इसका कारण? *'ब्रह्म भूतानां प्रथमन्तु जज्ञे'* इति अर्थात् ब्रह्मा इत्यादि जीवोंकी उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्म प्रादुर्भूत थे। *'तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः'* इति अर्थात् इस कारण ब्रह्मके साथ स्पर्द्धा करनेके लिए कौन योग्य हो सकता है? इस श्रुतिमें वीर्याधिक्य एवं आकाशादि व्याप्ति इत्यादि रूपमें ब्रह्मकी महिमा वर्णित हुई है। यह महिमा ईश्वरावेशित जीवोंमें उपसंहरणीय नहीं है, क्योंकि ये सब गुण केवल परमात्मगत हैं॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—संभृतीति। ब्रह्मेत्यस्यार्थः। वीर्येति। वीर्याणि भगवत्पराक्रम-विशेषरूपाणि खादीनीत्यर्थः। सुपां सुलुगित्यादिना जस्विभक्तेरात्। तानि कीदृशानीत्याह ब्रह्मज्येष्ठेति। ब्रह्मैव ज्येष्ठमनन्यापेक्षिकारणं येषां तानि। अतएव ब्रह्मणा कारणेन तानि संभृतानि धृतानि पृष्ठानि चेत्यर्थः। तदुक्तं तन्नामन्त्रोत्रे—*"द्यौश्चन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः। वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मन"* इति। तच्च ब्रह्म अग्रे चतुर्मुखादिजन्मनः प्राक् दिवं खादिकमाततान व्याप। कथमेतत् तत्राह। भूतानां चतुर्मुखादिजीवानां प्रथमं पूर्ववर्त्ति सत् जज्ञे प्रादुर्भूतं बभूव। तेन हेतुना सर्वकारणेन प्राक्सिद्धेन ब्रह्मणा सह स्पर्द्धितुं कोऽर्हति अवरजन्मा तन्नियम्यश्च को जीवो योग्यो भवति न कोऽपीत्यर्थः। सर्वोपजीव्यं सर्वपूज्यञ्च ब्रह्मेत्यर्थः। नेति। स महिमा। तस्य महिम्नः॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार— *'संभृतीत्यादि'* सूत्रमें ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या (सामवेदीय राणायनीय शाखाके उपनिषदमें पठित शाण्डिल्यादि ब्रह्मविद्या) इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—वीर्याणि—श्रीभगवान्‌के महिमा-विशेष—स्वरूप आकाशादि पदार्थ। प्रश्न यह है कि वीर्याणि-ब्रह्मज्येष्ठानि न होकर ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या कैसे

हुआ? इसका समाधान है, *'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः'* (पा०अ० ७/१/३९) इस पाणिनीय वैदिक सूत्रके अनुसार 'जस्' विभक्तिके स्थानपर 'आ' आदेश हुआ। ये वीर्यसमूह (सामर्थ्य अथवा विभूतियाँ) किस प्रकारके हैं? उसके उत्तरमें कहते हैं—'ब्रह्मज्येष्ठा' अर्थात् ब्रह्म ही ज्येष्ठ (धारक) अर्थात् अन्यनिरपेक्ष हैं क्योंकि उनमें ही समस्त संभृत (निहित) है, इसलिए ब्रह्मरूप कारण द्वारा ये समस्त आकाशादि भूत संभृत अर्थात् धृत (धारण किये हुए) एवं पुष्ट हैं। वही बात विष्णुनामस्तोत्रमें कही गयी है। *'द्यौश्चन्द्रार्कनक्षत्रा'* इत्यादि—आकाश, चन्द्र, सूर्य, अन्तरीक्ष, दिक्, पृथ्वी, महासागर इत्यादि सभी महाशक्तिशाली श्रीवासुदेवकी महिमासे पुष्ट हैं। वे ब्रह्म-अग्रे अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्मा इत्यादि जीवोंके जन्मसे पूर्व सद् रूपमें आकाशादिको व्याप्त करके स्थित (विराजमान) थे। कारण क्या है? वही बतलाते हैं—*'ब्रह्म भूतानामित्यादि'* अर्थात् चतुर्मुखादि जीवोंके पूर्ववर्त्ती होकर 'सत्' आविर्भूत हुए थे। अतः समस्तके कारणीभूत पूर्ववर्त्ती ब्रह्मके साथ कौन प्रतियोगिता (स्पर्द्धा) कर सकता है। अर्थात् जीव उनका पर-जात (पश्चात्में उत्पन्न हुआ) है और उनके द्वारा नियम्य है, इसलिये उनके सदृश (समान) होनेके लिये कौन योग्य होगा कोई नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सभीके उपजीव्य (आश्रयणीय) एवं सर्वपूज्य हैं। *'न स तेषु जीवेषूपसंहार्यः'* इतिमें 'सः' का अर्थ है वह महिमा। *'तस्य परेशसाधारणत्वादिति'* में 'तस्य' का अर्थ है—वह महिमा ईश्वर मात्रमें ही वर्त्तमान है, इसलिए॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि पूर्णता और सर्वलोकव्यापकत्व—दोनों गुण ही आवेशावतारमें ग्रहणीय नहीं हैं, क्योंकि आवेशावतारसमूह भी महत्तम जीवस्वरूप है।

ब्रह्म श्रेष्ठ, वीर्यवान एवं पूर्ण हैं। वे सभीके ज्येष्ठ हैं, इसलिए उनके समान कोई और हो नहीं सकता। यह समस्त महिमा ब्रह्मके सम्बन्धमें ही कीर्त्तित हैं, आवेशावतार जीवोंमें इन सबका उपसंहृत होना उचित नहीं है। ब्रह्म ही समस्तके उपजीव्य (आश्रयणीय) एवं सर्वपूज्य हैं।

इस प्रसङ्गमें छान्दोग्यकी निम्न श्रुतियाँ भी आलोच्य हैं—*एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्यां ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।* (छा० ३/१४/३) अर्थात् हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन समस्त लोकोंकी अपेक्षा भी बड़ा है।

और भी,

यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः।
(छा० ८/१/३)

अर्थात् जितना यह (भौतिक) आकाश है, उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह।
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि॥
(श्रीमद्भा० २/७/४०)

अर्थात् जिन श्रीविष्णुने एक बार त्रिलोकीको नापते समय त्रिविक्रमावतार धारण करके अपने चरणोंके प्रबल वेगसे प्रकृतिरूप अन्तिम आवरणसे लेकर सत्यलोक आदि तक सारा ब्रह्माण्ड कँपा दिया था और फिर जिन्होंने अपनी शक्तिसे सत्यलोक सहित समस्त ब्रह्माण्डको स्थिर भी कर दिया था, अतएव कौन व्यक्ति उनके पराक्रमकी गणना करनेमें समर्थ हो सकेगा।

और भी,

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥
(श्रीमद्भा० २/७/४१)

अर्थात् परमपुरुष भगवान्की मायाशक्ति अनन्त है, उसे मैं—स्वयं ब्रह्मा एवं तुम्हारे बड़े भाई सनकादि भी नहीं जान सकते। (उनकी चित्-शक्तिका अन्त पाना तो बहुत दूरकी बात है) फिर अन्यान्य

जीव तो किस प्रकारसे जान सकेंगे। आदिदेव-अनन्त सहस्र मुखोंसे उनके गुणोंका कीर्त्तन करते रहते हैं, परन्तु उनकी सीमाको प्राप्त नहीं कर पाते॥ २४॥

अवतरणिका भाष्य—अनुपसंहारे हेत्वन्तमाह।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ईश्वराविष्ट जीवमें संभृति और द्यु-व्याप्ति गुणोंके अनुपसंहारके विषयमें दूसरा हेतु भी दिखाते हैं—

सूत्र—पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्॥ २५॥

सूत्रार्थ—'इतरेषाम्' समस्त भूतोंकी उपादानकारणता, सर्वनियामकत्वादि गुणोंका, 'अनाम्नानात्' कुमारादिके उपाख्यानमें पठित न होनेके कारण, अभाव-पक्षमें दृष्टान्त है 'पुरुषविद्यायामिव' जिस प्रकार सहस्रशीर्षेत्यादि पुरुषसूक्त मन्त्रमें ये सब गुण कहे गये हैं, जब कि कुमारोपाख्यानमें नहीं। सूत्रोक्त 'च' शब्दके द्वारा गोपालतापनी इत्यादि उपनिषदमें भी जिस प्रकारसे वर्णित है, कुमारोपाख्यानमें उस प्रकारसे नहीं॥ २५॥

सूत्रानुवाद—एक स्थानमें उल्लेख गुणोंका दूसरी जगह पठित न होनेके कारण उपसंहार नहीं हो सकता, जिस प्रकार पुरुषसूक्त मन्त्रमें पठित गुण कुमारोपाख्यानमें नहीं पढ़े जाते॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—कुमाराद्युपाख्यानेष्वितरेषां सर्वभूतोपादानत्वसर्वनियामकत्वादीनां धर्माणमनाम्नानाच्च न तेषु सर्वतद्धर्मोपसंहारः। व्यतिरेकी दृष्टान्तः पुरुषेति। पुरुषसूक्तेषु च-शब्दाद्गोपालतापन्यादिषु यथा ते निरूप्यन्ते न तथा तदुपाख्यानेष्वित्यर्थः। इदमत्र निष्कृष्टम्। ईशाविष्टेषु तप्तायःपिण्डवदंशद्वयमस्ति। ये वह्न्यंशमिवेशांशः पश्यन्ति ते निखिलतद्धर्मांस्तेषु भावयन्ति। ये खल्वयोऽंशमिव जीवांशं ते तु न। किन्तु तत्प्रेष्ठत्वादीन् धर्मांस्तेषु चिन्तयन्ति। ईशस्तु स्वप्रेष्ठानुवृत्तिपरितुष्टस्तान् स्वीकरोति। श्रीभागवतादिभिरपि शास्त्रैस्तेषु भगवदादिशब्दाः प्रयुज्यन्ते। जीवधर्माश्च दैन्याभिधानेन प्रकाश्यन्ते। तत्राप्येवमेव सङ्गतिरिति॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सनत्कुमारादिके उपाख्यानोंमें सर्वभूतोपादानत्व सर्वानियामकत्व इत्यादि अन्य समस्त असाधारण धर्मोंके (गुणोंके) अनुल्लेखके कारण इन कुमारादि ईश्वरावेशित जीव-विशेषमें इन सब सर्व भूतापादानत्व इत्यादि गुणोंकी ग्रहणीयता नहीं होगी। इस विषयमें

व्यतिरेकी दृष्टान्त अर्थात् अभाव-पक्षको लेकर दृष्टान्त है—*'पुरुष विद्यायामिव'*—जिस प्रकार पुरुषसूक्त मन्त्रमें और गोपालतापनी इत्यादि उपनिषदोंमें ये सब सर्वोपादनत्वादि धर्म निरूपित हुए हैं, इस प्रकारसे सनत्कुमारादिके उपाख्यानमें नहीं कहे गये हैं, किसी औरमें भी नहीं कहे गये हैं। इस अधिकरणमें यही निष्कर्ष है यथा परमेश्वरावेशित जीव-विशेषमें (कुमारादिमें) तप्तलौह पिण्डके समान दो अंश हैं। जो इन आवेशावतारोंमें अनलांशकी भाँति ईश्वरांशका ध्यान (दर्शन) करते हैं, वे निखिद् भगवत्-धर्मोंकी उनमें उपासना (उपसंहृति) करते हैं और जो केवल लौह-अंशके समान जीवांशमात्रका चिन्तन करते हैं, वे उन जीव विशेषमें सर्वोपादानत्वादि समस्त धर्मोंका ध्यान नहीं करते, किन्तु भगवान्‌के प्रियतमत्वादि धर्मका दर्शन करते हैं। फलस्वरूप परमेश्वर निज प्रियतम उन सब भक्तोंकी अनुवृत्ति अर्थात् प्रेमसे सन्तुष्ट होकर उन्हें स्वीकार कर उन्हें अपना पार्षद बना लेते हैं। श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंके द्वारा भी उन सब भक्तोंको (कुमारादिको) भगवत् इत्यादि शब्दोंसे अभिहित किया गया है। 'हम अति दीन हैं, हमारी रक्षा कीजिये' इत्यादि दैन्य-उक्तियों द्वारा उनमें जीव-धर्मका भी प्रकाश किया गया है। इन सब स्थलोंपर इसी प्रकारसे सङ्गति बोद्धव्य है॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—पुरुषेति। तेषु कुमारादिषु। ते सर्वभूतोपादानत्वादयः सर्वेशधर्माः। तदुपाख्यानेषु कुमाराद्याख्यानेषु। ये कुमारादीनां भक्ताः॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार— *'न तेषु सर्वतद्धर्मेत्यादि'* में 'तेषु' अर्थात् उन सनत्कुमारादि ईश्वरावेशित जीवमें। *'यथा ते निरूपयन्ते'* इत्यादि में 'ते' अर्थात् सर्वभूतोपादानत्व इत्यादि परमेश्वरके धर्म। *'तदुपाख्यानेष्वित्यर्थ'* इति में 'तदुपाख्यानेषु'—कुमारादिकी आख्यायिका में। *'ये वह्न्यंशमिवेत्यादि'* में 'ये' का अर्थ है, जो कुमारादिके भक्त हैं, वे॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें आवेशावतारोंमें भगवद्धर्म अनुपसंहारका और एक हेतु प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि पुरुषविद्यामें परमेश्वरके सम्बन्धमें जिस प्रकार सर्वभूतोपादानत्व और सर्वनियामकत्वादि गुण कहे गये हैं, दूसरोंके सम्बन्धमें इस प्रकारके

कथन दिखायी नहीं देते। इस कारणसे भी सनत्कुमारादिमें भी इन समस्त असाधारण गुणों अथवा धर्मोंका उपसंहार नहीं हो सकता। इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्यमें देखनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

सनत्कुमारादि मुनिगण श्रीभगवान्‌की स्तुति-प्रसङ्गमें कहते हैं—

तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम्।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/१५/४७)

हे भगवन्! निरभिमान होनेके कारण असत् विषयोंसे अनासक्त मुनिगण आपकी कृपाके द्वारा ही सुदृढ़ भक्तियोगसे हृदयमें जिस परमात्मतत्त्वकी उपलब्धि करते हैं, हम समझ गये कि आप ही वही परमतत्त्व हैं। हे प्रभो! आप विशुद्धसत्त्व श्रीमूर्त्ति हैं, इसीके द्वारा आप प्रतिक्षण भक्तोंके लिए नवनवायमान आनन्दका सृजन करते हैं।

श्रीभगवान्‌ने भी सनत्कुमारादिसे कहा है—

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/१६/३)

अर्थात् हे मुनियो! आपलोग भी मेरे परम अनुगत निजजन हैं। अतएव इस प्रकार मेरी ही अवज्ञा करनेके कारण आपने इन दोनोंको जो दण्ड दिया है, उसे मैं भी अनुमोदन करता हूँ॥ २५॥

श्रीभगवान्‌के शत्रु-वेध्यादि गुण मुमुक्षुओंके उपास्य नहीं हैं

अवतरणिका भाष्य—स्वशाखोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्मोपास्यमित्युक्तम्। अथ तदुक्ता अपि केचिद्गुणा मुमुक्षणा नोपास्या इत्युच्यते। *“अग्ने त्वं यातुधानस्य भिन्धि तं प्रत्यञ्चमर्च्चिषा विध्य मर्म”* इति श्रुतमर्थवणि। इह वेधादिगुणजातमुपास्यं न वेति संशये दुष्टनिग्रहस्यापेक्ष्यत्वादुपास्यमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले यह स्थिर किया गया था कि अपनी-अपनी शाखाओंमें वर्णित गुण-विशिष्ट बोधसे ही श्रीभगवान्‌की उपासना करें किन्तु उन समस्त शाखाओंमें कुछ ऐसे गुणोंका उल्लेख रहनेपर भी मुक्तिकामी व्यक्ति उन गुणोंकी उपासना नहीं करें, यही इस अधिकरणमें कहा गया है। अथर्वशिरोपनिषद में सुना जाता है—*'अग्ने त्वं यातुधानस्य भिन्धि तं प्रत्यञ्च मर्च्चिषा विध्य मर्म'* अर्थात् हे अग्नि! (सर्वाग्रणी!) आप दैत्यके समान मेरे शत्रुका मर्मस्थल विदीर्ण कर दीजिये। मेरे प्रतिकूलवर्त्ती उस शत्रुपर आप अपनी अर्चि (तेज अथवा शिखा) द्वारा प्रहार कीजिये। इस श्रौत विषयमें संशय यह है कि इन श्रीभगवान्‌में शत्रुबेधादि गुण उपास्य होंगे? कि नहीं? इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं, हाँ, जब दुष्ट-निग्रह ही काम्य (प्रयोजन) है, तो वे ही गुण उपास्य होंगे, इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्वशाखोक्तेत्यादि। आथर्वणिकानां शाखास्वभिचार-मन्त्राः सन्ति। तदुक्ता ब्रह्मगुणास्तद्गतोपनिषद्वर्णितासूपासनासु नोपसंहार्याः। शान्त्यादि-प्रतिकूलत्वात् तदुपसंहारस्येति वक्तुं न्यायः प्रारभ्यत इत्यर्थः। पूर्वमनीश्वरोपासना-यामुपसंहर्त्तुमयोग्या अपि सार्वैश्वर्यादयो भगवद्गुणा भगवज्ज्ञानवीर्यादिरागहेतु-कतत्तोषायोपसंहार्या इत्युक्तम्। तद्वत् सौशील्यकारुण्यार्जवादिप्रधानगुणायां भगवदुपासनायामुपसंहर्त्तुमयोग्या अपि अथर्वोक्ता वैरिवधादयो भगवद्गुणा वैरिनिग्रहहेतुकोपासनानैर्विघ्न्यायोपसंहार्याः स्युरिति दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिः। अग्ने त्वमिति। हे अग्ने सर्वाग्रणीर्भगवन्। त्वं यातुधानस्य तत्तुल्यस्य मद्रिपोर्मर्म भिन्धि विदारय। प्रत्यञ्चं प्रतिकूलवर्त्तिनं तं मद्रिपुमर्चिषा तेजसा विध्यताडयेत्यर्थः। वाक्यान्तरञ्चान्ति *"सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रमृज्य शिरोऽभिप्रमृज्य त्रिधा विभक्त"* इत्यादि मद्रिपुरिति बोध्यम्। इहेति स्पष्टम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—स्वशाखोक्तेत्यादि—अथर्व-वेदाध्यायियोंकी शाखामें अभिचार-मन्त्र (मारण-कर्म) समूह हैं। उनमें उक्त ब्रह्म-गुण उस शाखामें स्थित श्रुतिमें वर्णित उपासनाओंमें उपसंहृत नहीं होंगे क्योंकि वे शान्ति इत्यादिके प्रतिकूल हैं, इसलिए उनका उपसंहार न्यायसङ्गत नहीं है, यह बतलानेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है—यही तात्पर्य है। पहले कहा गया था कि ईश्वरसे भिन्न ईश्वरावेशित जीव-विशेषकी उपासनामें सार्वैश्वर्यादि भगवत्-गुण अनुपसंहरणीय है, ऐसा होनेपर भी श्रीभगवान्‌की प्रीतिके

कारण—भगवत्-विषयक ज्ञान, उनकी (भगवान्‌की) महिमा इत्यादिमें अनुराग, इसलिए वे सब भी उपास्य हैं। इस प्रकार सौशील्य, करुणा, सरलतादि प्रधान गुणोंके निमित्तीभूत भगवान्‌की उपासनामें अथर्ववेदोक्त शत्रु-बधादि भगवत्-गुण उपासनाके अयोग्य होनेपर भी वे ग्रहणीय होने चाहिये, क्योंकि शत्रु-वध होनेपर उससे निर्विघ्न निर्विहनतापूर्वक भगवान्‌की उपासना सम्पन्न होती है। यह यहाँ दृष्टान्त-सङ्गति है। *'अग्ने त्वमित्यादि'* मन्त्र का अर्थ है—हे अग्नि! तुम सर्वश्रेष्ठ हो! हे भगवन्! तुम यातुधानका अर्थात् दैत्य-तुल्य मेरे शत्रुका मर्मस्थल विदीर्ण करो। प्रत्यञ्चम्—अर्थात् प्रतिकूलवर्ती मेरे इस शत्रुको, अर्चिषा अपने तेज द्वारा—शिखा द्वारा, विध्य अर्थात् आघात-प्रहार करो। इस श्रुति-मन्त्रके समान अन्य वाक्य भी है—*'सर्वम् प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रमृज्य शिरोऽभिप्रमृज्य त्रिधा विभक्त'*—(अभिचार कर्म—मारण कर्ममें यह कर्त्ताकी प्रार्थना है) मेरे शत्रुका सम्पूर्ण रूपसे विदारण कर दो, हृदयको विदीर्ण कर दो, उसकी धमनियोंका (शिराओंका) शोधन कर डालो, उसके मस्तकको फोड़ डालो, मेरे शत्रुको तीन भागोंमें विभक्त कर दो, इत्यादि, मेरा शत्रु—यह ज्ञातव्य है। (यह मन्त्र आथर्वणिक उपनिषत्‌के प्रारम्भ में है।) *इह वेधादि गुणजातस्येति* में 'इह' इत्यादिका अर्थ सुस्पष्ट है।

वेधाद्यधिकरणम्

सूत्र—वेधाद्यर्थभेदात्॥ २६॥

सूत्रार्थ—'वेधादि' शत्रु-वेध इत्यादि उपास्य नहीं है, किस कारणसे? 'अर्थभेदात्' इसमें फलभेद (प्रयोजन-भेद) है, इसलिए॥ २६॥

सूत्रानुवाद—इन सब शत्रु-वेधादि गुणोंका उपासनामें उपसंहार नहीं होगा, क्योंकि उनमें फल-भेद है॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तते। वेधादिकं तेनोपास्यं न। कुतः? अर्थभेदात्। अर्थः फलम्। हिंसात्मके तस्मिन्निवृत्त्यधिकारादित्यर्थः। यदुक्तं श्रीभगवता। *"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्"* इति। *"निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्"* इति च॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'न वा विशेषात्'*—इससे 'न' इस पदकी अनुवृत्ति है अर्थात् ये शत्रु-वेधादि गुण (जीवोंके लिए कष्टदायी होनेके कारण) मुमुक्षुओंके लिए उपास्य नहीं हैं। किस कारणसे? 'अर्थभेदात्'—अर्थ शब्दका अर्थ है—फल। इसका भेद रहनेके कारण अर्थात् हिंसात्मक इस शत्रु-वेध इत्यादि कर्ममें ईश्वरोपासकादियोंकी अधिकार-निवृत्ति (प्रतिषिद्धता) रहनेके कारण। (मुक्तिकामी व्यक्ति काम्यकर्मों और निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होते।) श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है— *अमानित्वमदम्भित्वमित्यादि* (१३/८) अभिमान त्याग, गर्वशून्यता, जीवहिंसा-वर्जन, सहिष्णुता और सरलता—ये सब भगवत्-भक्तोंके उपास्य हैं। श्रीमद्भागवतमें भी श्रीभगवानने कहा है—मेरे भक्त नित्य-नैमित्तिक सन्ध्योपासनादि कर्मोंका अनुष्ठान करेंगे एवं ज्योतिष्टोमादि साङ्ग काम्य (प्रवृत्यात्मक) कर्मोंका त्याग करेंगे॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—वेधाद्यर्थेति। तेन मुमुक्षुणा। तस्मिन् वेधादिके गुणगणे। अमानित्वमिति श्रीगीतासु। निवृत्तमिति श्रीभागवते। निवृत्तं नित्यनैमित्तिकं सन्ध्योपासनादि। प्रवृत्तं हि साङ्गं काम्यज्योतिष्टोमादि। *"मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्य-नैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया"* इति स्मरणात्॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार— *'वेधाद्यर्थभेदात्'* इस सूत्रमें *'तेनोपास्यं नेति'* भाष्यमें 'तेन' का अर्थ है—मुमुक्षु व्यक्तिके द्वारा *'तस्मिन्निवृत्त्यधिकारत्'* इति में 'तस्मिन्' का अर्थ है वेध इत्यादि गुणसमूह *'अमानित्वमित्यादि'* श्लोक श्रीभगवद्गीतामें कहा गया है। *'निवृत्तं कर्म सेवेत'* (श्रीमद्भा॰ ११/१०/४) इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतका है। निवृत्तं अर्थात् नित्य-नैमित्तिक सन्ध्या-वन्दनादि निवृत्तिका पथ। प्रवृत्तं—प्रवृत्ति-पथपर उक्त अङ्ग कार्योंसे समन्वित ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म। इस विषयपर प्रमाण दिखाते हैं—मोक्षार्थीति—मुक्तिकामी व्यक्ति काम्य-कर्म एवं निषिद्ध-कर्ममें प्रवृत्त नहीं होंगे किन्तु अकरणमें प्रत्यवाय उत्पन्न होनेके भयसे उसके परिहारके लिए नित्य-नैमित्तिक कर्म करेंगे॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले कहा गया था कि स्वशाखोक्त गुणविशिष्ट रूपमें ब्रह्म उपास्य हैं, किन्तु अब कह रहे हैं कि स्वशाखोक्त होनेपर भी कितने ही गुण उपास्य नहीं है। जिस प्रकार आथर्वणिकजनोंके

द्वारा उपनिषदके आरम्भमें अग्निको आदेश किया गया है कि 'आप अपने तेजके द्वारा यातुधानोंका मर्म भेद डालिये।' इस स्थलपर संशय यह है कि इस प्रकारके मर्मभेदादि गुण उपास्य होंगे? या नहीं? पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि दुष्ट-निग्रह जब श्रीभगवान्‌के पक्षमें प्रयोजन है, तब ये उपास्य होंगे ही। इस पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि—

शत्रु-वेधादि मुमुक्षुओंके लिए उपास्य नहीं हैं, क्योंकि उनमें फलभेद अर्थात् प्रयोजन भेद है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१०/४)

अर्थात् मद्‌गत चित्त व्यक्तिको सम्पूर्ण रूपसे काम्य-कर्मोंका परित्याग कर देना चाहिये, उन्हें अन्तर्मुख करनेवाले निष्काम तथा नित्य-नैमित्तिक कर्म ही करना चाहिये। उन्हें आत्मतत्त्वके विचारोंमें भलीभाँति निविष्ट होकर निष्काम कर्मविधिके प्रति भी आदर नहीं रखना चाहिये।

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्म्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१०/६)

शिष्यको अभिमान नहीं करना चाहिये। उसे कभी भी किसीसे डाह नहीं करना चाहिये, न किसीका बुरा सोचना चाहिये। सर्वत्र समस्त लौकिक विषयोंसे अनासक्त होना चाहिये, श्रीगुरुदेव और अपने इष्टदेवके प्रति विश्रम्भ प्रीतिपरायण होना चाहिये। कोई भी काम हड़बड़ा कर न करे। सदा परमार्थके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेके लिए इच्छुक हो, किसीका गुण, दोष न देखे व्यर्थकी बात न करे।

इसी प्रसंगमें गीताका निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
(श्रीगी॰ १३/८)

अर्थात् मेरे भक्तोंके गुण हैं—मानशून्यता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, सद्‌गुरुकी सेवा, अन्दर-बाहरकी पवित्रता, चित्तकी स्थिरता तथा देह-इन्द्रियोंका संयम।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतके ३/२५/२१-२२, ११/११/२९-३२, ११/११/३४-४१ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

सर्वे महागुणगण वैष्णव शरीरे।
कृष्णभक्ते कृष्णेर गुण सकलि सञ्चारे॥

सेइ सब गुण हय वैष्णव लक्षण।
तब कहा ना जाय करि दिग्दर्शन॥

कृपालु, अकृतद्रोह, सत्यसार, सम।
निर्दोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिञ्चन॥

सर्वोपकारक, शान्त, कृष्णैकशरण।
अकाम, निरीह, स्थिर, विजित षड्‌गुण॥

मितभुक्, अप्रमत्त, मानद, अमानी।
गम्भीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी॥

(चै०च०म० २२/७२, ७४-७७)

अर्थात् वैष्णव शरीरमें समस्त महागुण विराजते हैं। कृष्णके भक्तमें कृष्णके समस्त गुणोंका सञ्चार हो जाता है। जिन समस्त गुणोंसे वैष्णवजन लक्षित होते हैं, तो उनमें समस्तका वर्णन तो हो नहीं सकता, केवल कुछका ही दिग्दर्शन किया जा सकता है। वैष्णव, कृपालु, द्रोह-रहित, सत्यवाक्, समदृष्टि, निर्दोष, दाता, कोमल-चित्त, पवित्र एवं अकिञ्चन होता है। सबका उपकार करनेवाला, शान्त (कृष्णनिष्ठ), एकमात्र श्रीकृष्णका शरणागत, अकाम, निरीह (श्रीकृष्ण-सेवा व्यतीत समस्त चेष्टाशून्य), स्थिर (विजित षड् विकार), मितभुक्, अप्रमत्त (आवेश-रहित), मानद, स्वयं सम्मान न चाहनेवाला, गम्भीर, दयालु, सबका मित्र, कवि (श्रुतमधुर एवं भाव-परिपाटीमें चतुर, कार्य-कुशल, वृथा अलाप न करनेवाला होता है॥ २६॥

अवरणिका भाष्य—श्वेताश्वतराः पठन्ति *"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिःक्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदेविश्वैश्वर्यकेवलमाप्तकामः"* (श्वे॰ १/११) इति। अत्र देवज्ञानाद्देहगेहादिममतापाशहानिर्भवति। जन्ममृत्युकृतक्लेशाभावा- त्तत्प्रहाणिश्चेति शास्त्रजदेवज्ञानमहिमोक्तेः। ततो ज्ञातयाथात्म्यस्य तस्य देवस्याभिध्यानान्निरन्तरविचिन्तनाद्देहभेदे लिङ्गक्षये सति चान्द्रब्राह्मोभयापेक्षया तृतीयं भागवतं पदं देवज्ञो विन्दति। कीदृशं तत्। विश्वेश्वर्यं पूर्णविभूतिकम्। केवलममायिकम्। तत आप्तकामः पूर्णमनोरथो भवतीति। अत्र शास्त्रीयज्ञानगम्यत्वं देवस्योक्तम्। तच्चिन्तनं नियतमैच्छिकं वेति वीक्षायां परिनिष्ठाविवृद्ध्या मनोनिवेशहेतुत्वान्नियतं तदिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—श्वेताश्वतर उपनिषदध्यायीगण कहते हैं—*'ज्ञात्वा देवं सर्व ... माप्तकामः'* (श्वे॰ १/११) अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान उत्पन्न होनेपर समस्त प्रकारके मायावाशकी हानि होती है। क्लेश (अविद्यादि पाँच प्रकारके क्लेश) क्षीण हो जानेपर फिर जन्म-मृत्यु नहीं होते, संसार क्षय हो जाता है। उनके स्वरूपका यथायथ रूपसे जानकर ध्यान करनेपर लिङ्गदेहका—नाश हो जाता है। लिङ्गदेहका क्षय होनेपर चान्द्र और ब्राह्म—इन दोनोंसे अतिरिक्त तृतीय भागवत पदकी प्राप्ति होती है। इस भागवत पदमें पूर्ण विभूति (विश्वैश्वर्य) सम्पूर्ण रूपसे विराजमान है, यह अमायिक है, इसमें मायाका कार्य नहीं रहता। जीव पर-योगी (आप्तकाम) एवं पूर्णकाम (पूर्णमनोरथ) हो जाता है। इस विषयमें भी परमेश्वरका शास्त्रीय ज्ञान-गम्यत्व प्रतिपादित हो रहा है। यहाँ संशय यह है कि परमेश्वरका यह चिन्तन क्या निश्चित (अनिवार्य) रूपसे करणीय है? अथवा ऐच्छिक (इच्छा पर निर्भर) है। इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि मनोनिवेशपूर्वक निरन्तर तत्त्व-चिन्तन करनेसे परिनिष्ठा-विवृद्धि अर्थात् उनमें प्रेम बढ़ता है, अतः भगवत्-चिन्तन नियत (निश्चित) रूपसे करणीय कहा जायेगा। इसके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र शक्रविनाशित्वस्य भगवद् गुणस्यानुपयोगादुपासने नियतमनुपसंहार्यत्वमुक्तं तद्वत् शास्त्रगम्यत्वरूपस्य तद्गुणस्य चित्तकार्कश्यहेतु- त्वेनानुपयोगात् तस्यां तदस्त्विति प्राग्वदत्र सङ्गतिः। ज्ञात्वेत्यादि। क्षीणैरितीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। तैर्विशिष्टस्येत्यर्थः, तद्भावयत इति यावत्। एतन्निष्कर्षं व्याचष्टे जन्ममृत्युक्वेतेति। जन्मादिसत्वेऽपि विद्यामहिमा तत्कृतक्लेशास्पर्श इत्याशयः।

लिङ्गक्षये सतीति। भागवतपदलाभस्य तत्क्षणयानन्तरभावित्वात्। विश्वैश्वर्यं केवलमिति। *"लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यषाड्गुण्यसंयुतम्। अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम्। न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता"* इत्यादि स्मृतेः। परिनिष्ठेति। निरन्तरतत्त्वविमर्शस्य तन्निष्ठावर्द्धकत्वाद् भवति तत्र मनोनिवेशः। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि श्रीभगवान्‌का शत्रु-विनाशकारित्व गुण उपासनामें अनावश्यक-बोधसे (अनावश्यकताके कारण) चिन्तनीय नहीं है, उसी प्रकार एकमात्र शास्त्र-चिन्तन द्वारा वे ज्ञेय हैं—इस शास्त्र-गम्यत्व-गुणका चिन्तन करनेपर मनमें कार्कश्य (कर्कशता) उत्पन्न होता है, इसलिए उसकी आवश्यकता नहीं है, अतः भगवदुपासनामें उस गुणका अनुपसंहार (अग्रहण) ही होना चाहिये, यह दृष्टान्त-सङ्गति पूर्व अधिकरणके समान यहाँ भी ज्ञातव्य है। *'ज्ञात्वा देवमित्यादि'* श्रुतिका अर्थ है—*'क्षीणैः क्लेशैः'*—इस स्थलपर इस प्रकारके लक्षणमें तृतीया अर्थात् क्षीण-क्लेशविशिष्ट युक्त व्यक्तिका—यह तात्पर्य है। भाष्यकार इस निष्कर्षकी जन्म-मृत्यु इत्यादि द्वारा व्याख्या करते हैं—जन्म-मृत्यु रहनेपर अविद्यादि क्लेश होते हैं, सत्य है किन्तु तत्त्वज्ञानकी महिमासे जन्म-मृत्यु क्लेश उस तत्त्वज्ञानीका स्पर्श नहीं करते—यह इस वाक्यका अभिप्राय है। *'लिङ्गक्षये सतीति'*—लिङ्ग-देहके नाश होनेके बाद भागवत-पद प्राप्त होता है, इस कारण यह उक्ति है। *'विश्वैश्वर्यं केवलमाप्तकामः'* इति में 'विश्वैश्वर्य'—इस सम्बन्धमें स्मृति-वाक्य है—*'लोकमित्यादि'*—जिस लोकमें पूर्ण विभूति है, ऐसा वैकुण्ठ नामक लोक जो दिव्य ऐश्वर्यादि षड्गुणसम्पन्न है, उसे विष्णुभक्तके अतिरिक्त दूसरा कोई प्राप्त नहीं कर सकता; जिसमें सत्त्व, रज, तमोगुणका सम्पर्क नहीं, मायाकी गन्ध नहीं, अन्य क्लेशादिके अभावके बारेमें तो क्या कहा जाय, जिस लोकमें केवल देवासुर-प्रशंसित विष्णुभक्तगण ही रहते हैं, इत्यादि और भी स्मृति-वाक्य हैं। *'परिनिष्ठाविवृद्धया'* इति—निरन्तर भगवतत्त्व विचारसे भगवान्‌में निष्ठा अथवा प्रेममें वृद्धि होती है, इसलिए उसमें मनोनिवेश होता है अतएव भगवत्तत्त्व विचार सर्वदा करना चाहिये। इस प्रकार पूर्वपक्षीकी उक्तिपर सूत्रकार कहते हैं—

हान्यधिकरणम्

परमेश्वरका शास्त्रगम्यत्वरूपमें चिन्तन—अनुरागी भक्तके पक्षमें ऐच्छिक

सूत्र—हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम्॥ २७॥

सूत्रार्थ—'तु' नहीं, ऐसा नहीं है, 'हानौ' परमेश्वरके ज्ञानके द्वारा मायापाश छिन्न होनेपर देवानुरक्त विज्ञका और अधिक तत्त्वचिन्तन अर्थात् शास्त्र एवं युक्ति द्वारा तत्त्वचिन्तन नियत अर्थात् आवश्यक नहीं है—यह ऐच्छिक है; दृष्टान्त यह है कि 'कुशाच्छन्स्तुत्युपगानवत्'—प्रतिदिन करणीय वेदपाठ करनेके बाद अवसर प्राप्त करनेपर यदि ब्राह्मण इच्छा करते हैं—'मैं समग्र संहिताका पाठ करूँ', तब ब्रह्माञ्जलि बाँध करके वे वही करेंगे। 'कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्' शब्दका अर्थ है—दोनों हाथोंके मध्य उत्तराग्र कुशको रखकर दोनों हाथ जोड़नेपर इसे ब्रह्माञ्जलि कहा जाता है, उस समय वह वेदस्तुति गान जिस प्रकार इच्छाधीन है, नियमानुगत अवश्य करणीय नहीं है, इसी प्रकार। इसका प्रमाण क्या है? 'उपायनशब्दशेषत्वात्' क्योंकि अन्यान्य समस्त वाक्य भगवत्-प्रेमबोधक वाक्योंके अनुगत हैं, इसलिए यही कहा जाता है—हेतु वाक्यके अनुसार ही अन्याय समस्त वाक्य हैं। 'तदुक्तम्'—निरन्तर उनमें रति रहनेसे फिर तत्त्वविमर्शका अवकाश नहीं रहता॥ २७॥

सूत्रानुवाद—मायापाश हानि (छिन्न) होनेपर नियत स्वाध्यायके उपरान्त कुश ग्रहणपूर्वक स्तुति-गान ऐच्छिक है। अन्यान्य समस्त वाक्य भगवत्-प्रेमबोधक वाक्योंके अनुगत हैं। निरन्त भगवदनुराग रहनेसे तत्त्वविमर्शका अवकाश नहीं रहता॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—पूर्वपक्षनिरासार्थस्तुशब्दः। देवज्ञानेन पाशहानौ सत्यां देवानुरक्तस्य विदुषः तत् शास्त्रगम्यत्वरूपदेवधर्मचिन्तनं कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदुक्तम्। यथा नियतस्वाध्यायानन्तरं कुशग्रहणपूर्वकमाच्छन्देन सम्यगीषद्वेच्छया स्तुत्युपगानं भवति तद्वत् तद्धर्मचिन्तनम्। तस्याभिध्यानादित्यनेन तथैव व्यञ्जनादित्यर्थः। तत्र हेतुरुपायनेति। उपायनं सामीप्यलाभस्तदनुरक्तिरिति यावत्। तच्छब्दस्तदावेदि वाक्यम्। तच्छेषत्वात्तद-

नुयायित्वात् सर्वेषां वाक्यानाम्। यदुक्तम्—*"तमेव धीरः"* (बृ॰आ॰ ४/४/२१) इत्यादि। *"पूर्त्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना। राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्"* (श्रीमद्भा॰ ३/९/४१) इत्यादि। तस्मादैच्छिकं तच्चिन्तनम्। अयं भावः। दुरधिगमार्थकश्रुतियुक्तिभ्यां दुष्करस्तत्रापि बहुविषयकत्वेन बहुशाखश्च तत्त्वविमर्शः। स चानन्दरूपभगवद्विभावनोपनतमार्द्दवे तदेकानुरक्ते चेतसि नावृत्तिमर्हति कार्कश्यकरत्वात्। किन्तु वैयुत्थानिक एव कदाचित्तद्भावानुभावतया प्रवर्त्तत इति॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्षके निराकरणके लिए प्रयुक्त है। परमेश्वर ज्ञान द्वारा संसार पाशके हानि अर्थात् छिन्न होनेपर ईश्वरमें अनुरक्त विद्वानके लिए शास्त्रगम्यत्व रूप भगवत्-गुणोंका चिन्तन कुशाच्छन्द स्तुतिके उपगानके समान ऐच्छिक है। बात यह है कि जिस प्रकार नियत अर्थात् प्रतिदिन करणीय वेदाध्ययनके बाद कुश ग्रहण करते हुए सम्यक् इच्छानुसार अथवा ईषत् परिमाणमें इच्छानुसार स्तुति-उपगान होता है, इसी प्रकार शास्त्रगम्यत्व धर्मोंका चिन्तन ऐच्छिक होगा। इसका कारण है—*'तस्याभिध्यानात्'* अर्थात् 'उनका अभिध्यान' श्रुति द्वारा इसी प्रकारसे ही सूचित हो रहा है—यही तात्पर्य है। इस विषयमें हेतु है *'उपायनशब्दशेषत्वात्'*—उपायन शब्दका अर्थ है—भगवत् सामीप्य-प्राप्ति, जिसे भगवदनुराग कहा जाता है। 'तच्छब्द' शब्दका अर्थ है—तद्बोधक वाक्य, उसके ही शेष अर्थात् अनुसारी अन्यान्य समस्त वाक्य। कहा गया है कि *'तमेव धीरः'* इत्यादि वाक्य द्वारा और *'पूर्त्तेन तपसा यज्ञैः'* इत्यादि वाक्य द्वारा, पूर्त्त (जलाशयादिकी प्रतिष्ठा) द्वारा, कृच्छ्र चान्द्रायणादि तपस्या द्वारा, अग्निहोत्रादि यज्ञ द्वारा और दान, योग एवं समाधि द्वारा मुक्ति पुरुषके लिए अर्जनीय है। हमारी अनुरक्ति ही निःश्रेयस है—तत्त्वज्ञ व्यक्ति यही कहते हैं। अतएव शास्त्रगम्यत्व चिन्तन ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं। बात यह है कि दुरधिगमार्थ अर्थात् दुर्बोध श्रुतियों एवं युक्तियों द्वारा तत्त्व-चिन्तन दुष्कर है। पुनः यह तत्त्व-विमर्श बहु-विषयक होनेके कारण बहु-शाखाओंमें विद्यमान है। (बहु-विषयकसे तात्पर्य है—भगवान्की प्राकृत-अप्राकृत अनन्त विभूतियाँ और बहु-शाखासे तात्पर्य है बहु-अङ्गोंसे युक्त।) इस तत्त्वानुशीलनसे आनन्दमूर्त्ति भगवान्के विभावन

अर्थात् ध्यानके द्वारा चित्तकी कोमलता उत्पन्न होनेपर उनमें ही चित्त ऐकान्तिक रूपसे अनुरक्त होता है, इसके फलस्वरूप फिर चित्तमें कर्कशताकारक तत्त्व-विमर्श करनेकी इच्छा नहीं होती, किन्तु व्युत्थान-दशामें (योग-भङ्ग दशामें अर्थात् समाधि-भङ्गके बाद उत्थित योगीकी दशामें) कभी-कभी तत्त्ववित् प्रसङ्ग घटित होनेपर उस भावका अनुभाव अर्थात् भगवत्-स्वरूप निरूपक शास्त्रोंका चिन्तन होता है॥ २७॥

सूक्ष्मा-टीका—हानाविति। हानौ त्यागे विनाशे सतीत्यर्थः। कुशाच्छन्देति। वैधं वेदपाठं कृत्वा पुनः समये लब्धे संहितामावर्त्तयामीति चेदिच्छति विप्रस्तदा कृतब्रह्माञ्जलिस्तामावर्त्तयति। उदगग्रान् कुशान् मध्ये निधाय योजितं पाणियुग्मं ब्रह्माञ्जलिरुच्यते। तदा तत् स्तुत्युपगानं यथा ऐच्छिकं न तु नियतं तद्वत् देहादिमोहपाशविनाशे सति शास्त्रयुक्तिभ्यां तत्त्वचिन्तनमैच्छिकं न तु नियतमित्यर्थः। आच्छन्देत्यत्र सम्यगर्थे ईषदर्थे वा आ भवतीति तथैव व्याख्यातम्। तस्याभिध्यानादिति। अभिध्यानमनिशं भगवद्रतिः तस्यां सत्यां तत्त्वविमर्शस्य नावकाशोऽत ऐच्छिकः स इति। श्रुत्या संसूचनादित्यर्थः। तदनुरक्तिरिति लक्षणया लभ्यते। तमेवेत्यस्यार्थः परत्रव्यक्तीभावी। पूर्त्तेनेति श्रीभागवते। मत्प्रीतिर्मदनुरागः। अयमिति। बहुविषयकत्वेनेति। प्राकृताप्राकृतानन्तविभूतितत्स्वरूपतल्लक्षणनिर्णेतव्यत्वेनत्यर्थः। बहुशाखो बहवाङ्गः। कार्कश्येति। चित्तकाठिन्यहेतुत्वादित्यर्थः। वैयुखानिक इति। व्युखाने बाह्यदशायां भव इत्यर्थः। कालाट् ठञ्। समाधेरुत्थितस्य तत्त्ववित्प्रसङ्गे सति भगवद्स्वरूपादि-निरूपकः शास्त्रविमर्शो भवति। स च तदनुरागानुभावतयाभ्युदेति न तु पाशनाशकतयेत्यर्थः॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार— *'हानौतूपायनशब्दशेषत्वादित्यादि'* सूत्रका अर्थ है—हानौ—ममतादि पाशके विनाश होनेपर *'कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्'*—ब्राह्मण विधि-बोधित वेदपाठके बाद पुनः अवसर प्राप्त होनेपर संहिता पाठ करेंगे—यह इच्छा यदि करते हो तो उस समय ब्रह्माञ्जलि बाँधकर वेदकी आवृत्ति करे। *'कुशाच्छन्दस्तुत्युपगान'* शब्दका सारार्थ यह है कि दोनों हाथोंके मध्य उत्तराग्र कुश रखकर दोनों हाथोंको जब जोड़ा जाता है तो उसे ब्रह्माञ्जलि कहते हैं। उस समय यह स्तुत्युपगान जिस प्रकार इच्छाधीन (इच्छानुसार) है, नियमानुगत नहीं है, उसी प्रकार देहादिके प्रति माया-मोह-पाश काटना और शास्त्रयुक्ति द्वारा परतत्त्व-चिन्तन इच्छाधीन है, नियम-नियन्त्रित नहीं है, यही अर्थ है।

'आच्छन्द'—पदकी व्युत्पत्ति है—'आ' सम्यक् अथवा ईषत् अर्थमें 'आ' अवयवके साथ छन्दका (अभिप्रायका) सम्बन्ध। कुशास्त्रछन्दस्तुत्युगान—स्थलपर ऐसी व्याख्या की गयी है। *'तस्याभिध्यानादिति'* में अभिध्यान अर्थात् निरन्तर भगवत्-रति ऐसा होनेके बाद फिर तत्त्व-विमर्शका प्रसङ्ग रहता नहीं, अतः तत्त्व-विमर्श उस समय ऐच्छिक रहता है। *'व्यञ्जनादिति'* अर्थात् श्रुति द्वारा सूचित होनेके कारण। *'सामीप्यलाभस्तदनुरक्तिरिति'* उपायन-शब्दका यथाश्रुत अर्थ है—सामीप्य-प्राप्ति किन्तु यहाँ अर्थ है—भगवत्-विषयक रति—यह अर्थ लक्षणाके आधारपर लेना होगा। *'तमेव धीरः'* इत्यादि (बृ॰आ॰ ४/४/२१) श्रुतिका अर्थ बादमें व्यक्त होगा। *'पूर्त्तेन तपसा यज्ञैः'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवत (३/९/४१) में उक्त है। *'मत्प्रीतिस्तत्त्व-विन्मतमिति'*—में 'मत्प्रीतिः' का अर्थ है—मेरे प्रति अनुराग। *'अयं भावः'*—इसके अन्तर्गत *'बहुविषयकत्वेनेति'* भगवान्‌की प्राकृत-अप्राकृत अनन्त विभूतियाँ हैं—उनका स्वरूप एवं उनका लक्षण निर्णेय होनेके कारण। 'बहुशाखः'—बहुत अङ्गोंसे समन्वित। *'कार्कश्यकरत्वादिति'*—चिन्तनकी कठिनताके कारण, यह अर्थ है। *'वैयुत्थानिक'* इति—व्युत्थानावस्थामें उत्पन्न अर्थात् योगभङ्ग-दशामें जात—इस अर्थमें व्युत्थान—शब्दके उत्तरमें *'कालाट् ठञ'* (कालवाचीय शब्दोंसे शैषिक ठञ् प्रत्यय होता है) सूत्र (पा॰ ४/३/११) से ठञ् प्रत्यय है। समाधि-भङ्गके बाद उत्थित योगीका तत्त्ववित्-सङ्ग होनेपर भगवत्-स्वरूपका निरूपक शास्त्र-विचार होता है। यह विचार श्रीभगवान्‌में अनुरागजनक रूपमें होता है, पाशनाशक रूपमें नहीं—यह तात्पर्य है॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्वेताश्वतर-उपनिषदमें पाया जाता है—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवलमाप्तकामः॥

(श्वे॰ १/११)

अर्थात् सद्‌गुरुके मुखसे शास्त्र-श्रवणके कारण परमेश्वरके तत्त्वसे अवगत होकर निरन्तर उनके ध्यानसे देहगत इत्यादि पर अहंता-ममता

कट जाती है, जन्म-मृत्यु कृत क्लेश फिर नहीं रहते अर्थात् जन्मादि घटित होनेपर भी तत्त्वज्ञानकी महिमासे तत्कृत क्लेशादिका सम्पर्क नहीं रहता। इसके बाद अर्थात् मृत्युके बाद लिङ्गदेहका क्षय हो जाता है, तत्पश्चात् चान्द्र और ब्राह्म—दोनों लोकोंसे भिन्न तृतीय भागवत पद—भगवत्-तत्त्वविद् रूप प्राप्त होता है, जो पूर्णविभूतिसम्पन्न है एवं मायाके सम्पर्कसे रहित है। ये तत्त्वज्ञ पूर्णमनोरथ होते हैं। इस वर्णनके द्वारा उन परमेश्वरका शास्त्रीय ज्ञानगम्यत्व और भक्तिलभ्यत्व प्रतिपादित हुआ।

इसी सन्दर्भमें श्वेताश्वेतरोपनिषदकी १/८, २/१५, ४/१६, ५/१३, ६/१३ इत्यादि श्रुतियाँ भी द्रष्टव्य हैं।

इस स्थलपर देखा जाता है कि परमेश्वरके अभिध्यान द्वारा जीवको अमायिक भागवत पदकी प्राप्ति होती है और उस समय वह पूर्णमनोरथ होता है। अब संशय यह हो सकता है कि इस शास्त्रीय ज्ञान द्वारा श्रीभगवान्का तत्त्व-चिन्तन नियत अर्थात् वैध है? अथवा ऐच्छिक? अर्थात् इच्छानुसार? पूर्वपक्षी कहते हैं—यह वैध ही होगा, क्योंकि उसके फलस्वरूप परिनिष्ठा-वृद्धिक्रमसे मनोनिवेश होगा। पूर्वपक्षके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रके मर्ममें कहते हैं कि रागानुग परम भक्तोंका भगवत्-चिन्तन ऐच्छिक अर्थात् इच्छाकृत जानना होगा। आनन्दस्वरूप श्रीभगवान्के विभावनके फलस्वरूप उन भक्तोंका हृदय कृष्णानुरक्त होकर मृदुताको प्राप्त होता है। उस समय फिर श्रुति एवं युक्तियों द्वारा सुदुष्कर तत्त्वविचार कर्कशता-कारक होनेके कारण उनके चित्तमें स्थान नहीं पाता। तब बाह्य दशामें कदाचित् तत्त्ववित् प्रसङ्ग-क्रमसे तद्भावानुभावरूपमें प्रवृत्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२९/११-१२)

श्रीभगवान् कपिलदेवने कहा—माताजी! इस प्रकारसे यह त्रिविध भक्ति ही सगुण ही है और इसके अतिरिक्त निर्गुण शुद्धभक्ति भी है। गङ्गाजल जिस प्रकारसे सागरकी ओर स्वाभाविक रूपसे प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें निवास करनेवाले मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति आत्माकी जो तैलधारावत् अविच्छिन्ना स्वाभाविकी गति उदित होती है, वही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है। पुरुषोत्तमस्वरूप मुझमें वह भक्ति—भगवत्सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य सब कामनाओंसे रहित निष्काम और अनन्य प्रेममयी होती है।

नैते गुणा न गुणितो महदादयो ये
सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्॥

(श्रीमद्भा० ७/९/४९)

अर्थात् सत्त्वादि तीनों गुण, गुणादिके अभिमानी देवता, महत्तत्त्व, मन आदि, देवता अथवा मनुष्य—इनमेंसे कोई भी आपके स्वरूपको जाननेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि ये सब आदि और अन्तवाले हैं और आप अनादि एवं अनन्त हैं। ज्ञानीजन इस प्रकार विवेचना करके वेदाध्ययनादि कार्योंसे विरक्त हो जाते हैं (और समाधि योगमें आपकी उपासना करते हैं)।

बृहदारण्यकमें पाया जाता है—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तदिति॥

(बृ०आ० ४/४/२१)

अर्थात् बुद्धिमान ब्रह्मज्ञको उन्हें ही जानकर उन्हींमें प्रज्ञा (प्रेमभक्ति) करनी चाहिये। बहुत शब्दोंका अभिध्यान (निरन्तर चिन्तन) न करें, यह तो वाणीका श्रम ही है।

अन्य श्रुति भी है—*किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं वक्ष्यामहे।* अर्थात् किसलिए हम अध्ययन करेंगे, किसलिए हम कहेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी द्रष्टव्य है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
(श्रीगी॰ २/५२)

अर्थात् जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप सघन वनको पार कर जायेगी, तब तुम सुनने योग्य और सुने हुए विषयोंके प्रति वैराग्य प्राप्त करोगे।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

अरसज्ञ काक चूषे ज्ञान निम्बफले।
रसज्ञ कोकिल खाय प्रेमाम्र-मुकुले॥
अभागिया ज्ञानी आस्वादये शुष्कज्ञान।
कृष्णप्रेमामृत पान करे भाग्यवान्॥
(चै॰च॰म॰ ८/२५७-२५८)

अर्थात् जिन्हें मुक्तिकी इच्छा है, वे ज्ञानी रसको नहीं जानते हैं। ज्ञान निम्बफलके समान है, इसलिए आस्वादनके अयोग्य है एवं कर्कश तर्कनिष्ठ काकावस्थ जीवके द्वारा भक्ष्य है, किन्तु 'प्रेम' रूप आम्रमुकुलका आस्वाद प्रिय एवं सुमिष्ठ है। यह रसास्वादक कोकिलके समान कृष्णभक्तोंका ही आस्वादनीय है। इस प्रकार नीरस ज्ञान दुर्भाग्यशाली ज्ञानियोंके भोगकी आस्वादनीय वस्तु है और सरस कृष्णप्रेमामृत भाग्यवान भक्तोंकी पानीय वस्तु है॥ २७॥

अवतरणिका भाष्य—तत्र युक्तिं प्रमाणञ्चाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस विषयमें युक्ति एवं प्रमाण दिखाते हैं—

सूत्र—साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये॥ २८॥

सूत्रार्थ—'साम्पराय' अर्थात् भगवत्-विषयक प्रेम उत्पन्न होनेपर 'तर्त्तव्याभावात्' तरणीय-पाशके अभावमें तत्त्वविमर्श ऐच्छिक होगा, नियमानुगत सार्वदिक नहीं, 'हि' क्योंकि, 'तथा' इसी प्रकारसे 'अन्ये' वाजसनेयी पाठ करते हैं॥ २८॥

सूत्रानुवाद—श्रीहरिमें प्रेमभक्ति हो जानेपर समस्त पाश नष्ट हो जाते हैं, उस समय तत्त्वचिन्तन इच्छानुसार है। पाशकी स्थितिमें ही विधिकी आवश्यकता है॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—सम्परायो भगवान् संपरायन्ति तत्त्वान्यस्मिन्निति व्युत्पत्तेः। तद्विषयकः प्रेमा साम्परायः कथ्यते। तत्र भव इत्यण् स्मरणात्। तस्मिन् सत्यैच्छिकस्तत्त्वविमर्शो न नियतः। कुतः? तर्त्तव्याभावात्। तदानीं तेन तरणीयस्य छेद्यस्य पाशस्याभावात्। तथा ह्यन्ये वाजसनेयिनः पठन्ति *"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायेद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तद्"* इति एवमेवोक्तं श्रीभगवता। *"तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह"* इति॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सम्पराय शब्दका अर्थ है—श्रीभगवान्। इसकी व्युत्पत्ति है—जिनमें सभी तत्त्व मिलित हैं। इस सम्पराय (भगवत्) विषयक प्रेमको साम्पराय कहा जाता है। सम्पराय शब्दके उत्तरमें *'तत्र भवः'* इस अर्थमें 'अण्' प्रत्यय सिद्ध होनेसे साम्पराय शब्द निष्पन्न होता है। साम्पराय अर्थात् भगवत्-प्रेमके उत्पन्न होनेपर तत्त्वविचार इच्छाधीन होता है, आवश्यक अथवा नियत नहीं। कारण क्या है? *'तर्त्तव्याभावात्'* क्योंकि उस समय उसके द्वारा छेदनयोग्य (मायाममतादि रूप) बन्धन नहीं रहता। इसी बातका वाजसनेयीगण पाठ करते हैं, यथा—*'तमेव धीरो विज्ञाय ... विग्लापनं हि तत्'* अर्थात् बुद्धिमान वेदाभ्यासपरायणगण विप्र उन पुरुषोत्तमके विषयमें शास्त्र एवं गुरुमुखसे अवगत होकर उनकी उपासना करेंगे, तदुप कर्मकाण्डसहित सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्योंका अनुशीलन अर्थात् पाठ नहीं करेंगे। क्योंकि यह बहुशाखापाठ केवल वाक्शक्तिका शोषक है। श्रीमद्भागवत (४/४/२१) में श्रीभगवान्ने भी इसी प्रकार कहा है—अतएव इस साधना-पथमें मेरे अनुरक्त भक्तयोगियोंके लिए शास्त्रज्ञान और वैराग्य प्रायः श्रेयस्कर नहीं होते॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—साम्पराये इति। तेन तत्त्वविमर्शेन। तमेवेति। धीरो धीमान् ब्राह्मणो वेदाभ्यासनिरतः तं पुरुषोत्तमं विज्ञाय शास्त्रात् गुरुमुखाच्च निश्चित्य प्रज्ञां तस्योपासनां कुर्यात्। बहून्शब्दाननुपयोगिकर्मकाण्डसहितान् निखिलान् वेदान्तानित्यर्थः। नानुध्यायेत् नानुचिन्तयेत् न परिपोठदिति यावत्। हि यतस्तद्बहुशाखानुध्यानं

वाचो विग्लापनं शोषकं भवति। तत्र वाच इति वागादि स्थानाष्टकोपलक्षणम्। तदष्टकञ्चोक्तं वेदभाष्ये—*"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च"* इति। तस्मादिति श्रीभागवते। मदात्मनो मदनुरक्तस्य। ज्ञानं शास्त्रीयम्। वैराग्यं विषयवैतृष्ण्यम्। प्राय इति। तत्त्वनिश्चय-मार्जनादीषदित्यर्थः। अन्यच्च तत्रैव। *"एवं गुरुपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः। विवृश्च्य कर्माशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्"* (श्रीमद्भा॰ ११/१२/२४) इति। कर्माशयं लिङ्गदेहम्। आत्मानं हरिम्। अस्त्रं ज्ञानकुठारम्॥ २८॥

सूक्ष्मा-सार—साम्पराये इत्यादि सूत्रमें *'तेन तदानीं तरणीयस्येति'* भाष्यमें 'तेन' का अर्थ है, उस तत्त्व-विचार द्वारा। *'तमेवेत्यादि'* श्रुतिका अर्थ है—'धीरः'—जो धीमान् और ब्राह्मण हैं—वेदाभ्यासपरायण हैं; वे शास्त्रकी सहायता एवं गुरुमुखसे अवगत होकर उन परुषोत्तमकी उपासना करते हैं। इसलिए अनुपयोगी कर्मकाण्डके साथ सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्यका अनुशीलन नहीं करते अर्थात् पाठ नहीं करते। क्योंकि उन-उन बहुशाखाओंका अनुशीलन केवल वाक्शक्तिका शोषक है। केवल वाक्शक्ति ही नहीं 'वाचः' इस बहुवचनके निर्देशके कारण आठ उच्चारण-स्थानोंका शोषक जानें। वेदभाष्यमें आठ उच्चारण-स्थान कहे गये हैं यथा अष्टौ स्थानानि इत्यादि—वर्णके आठ उच्चारण स्थान हैं यथा—वक्षःस्थल, कण्ठ, शिरः, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, अधर-ओष्ठ एवं तालु। *'तस्माद्मद्भक्तियुक्तस्य'* (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३१) इत्यादि श्लोक श्रीभागवतोक्त हैं। 'मदात्मनः' अर्थात् मेरे एकान्त अनुरक्तका। ज्ञानं—शास्त्रीय ज्ञान, वैराग्यं—भोग्य-विषयोंसे वितृष्णा। प्रायः शब्दका अर्थ है—तत्त्व-निश्चय और चित्तशुद्धिसे अल्प प्रयोजनक। इस श्रीभागवतमें और एक श्लोक है यथा *'एवं गुरुपासनयैक भक्त्या'* इत्यादि इस प्रकारसे धीमान् एकनिष्ठ गुरुभक्ति द्वारा लब्ध शाणित-ज्ञान कुठार द्वारा कर्मके आधार लिङ्गशरीरका छेदन करके श्रीहरिके अप्रमत्त रूपसे प्राप्त होनेपर बादमें उस ज्ञान-कुठारका त्याग करें॥ २८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें युक्ति और प्रमाण दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिन्हें श्रीभगवत्-विषयक प्रेम प्राप्त हो गया है, उनका फिर और भव-बन्धन पाश नहीं रहता। अतः उनके लिए भगवत्-तत्त्व-विचार विधि-बोधित नहीं हो सकता। बन्धनके रहनेपर

विधि आवश्यक है, जब बन्धन ही नहीं तब विधिकी आवश्यकता क्या है? यदि देखा जाय, तो इसे ऐच्छिक समझना होगा। युक्ति-प्रदर्शनके बाद अब प्रमाण देते हैं—*'तथाहन्ये'* अर्थात् वाजसनेयी भी पाठ करते हैं कि विज्ञ ब्राह्मण उन्हें जानकर उनकी ही उपासना करें, बहुकर्मकाण्डाश्रित अनुपयोगी वेद-वाक्योंका अनुध्यान (निरन्तर चिन्तन) न करें, क्योंकि यह वृथा श्रम है और वाक्शक्तिका शोषक है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३१)

अर्थात् अतएव मद्गतचित्त, मद्भक्तियुक्त योगीपुरुषके लिए ज्ञान अथवा वैराग्य इस संसारमें श्रेयःसाधन रूपमें गण्य नहीं होते, किन्तु भक्तिके अङ्गीभूत ज्ञान और वैराग्य वर्जनीय नहीं हैं।

इस प्रसंगमें श्रीमद्भागवतका निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१२/२४)

अतएव हे उद्धव! तुम भी विवेकवान और सावधान होकर पहले कहे गये क्रमसे श्रीगुरुदेवकी सेवासे प्राप्त ऐकान्तिक भक्तिके साथ अत्यन्त तीक्ष्ण ज्ञानकी कुल्हाड़ीके द्वारा त्रिगुणात्मक लिङ्ग-शरीरको छेदन करके परमात्माको प्राप्त होनेपर ज्ञानरूप साधनका भी परित्याग कर देना।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें वैधी साधन-भक्तिके उपदेशमें भी पाया जाता है—

बहुग्रन्थ कलाभ्यास व्याख्यान वर्जिबे।

(चै॰च॰म॰ २२/११५)

बहुत ग्रन्थोंका तथा अनेक विद्याओंका अभ्यास नहीं करना, व्याख्यान उपदेश नहीं करना॥ २८॥

अवतरणिका भाष्य—ब्रह्मोपासनं गुणवदित्युक्तम्। तदिदानीं द्विविधमिति दर्शयितुमारभते। *"तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभम्"* इत्यादि *"प्रकृत्या सहितः श्यामः"* (गो॰ता॰पू॰ १/१२) इत्यादि *"स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः"* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यादि च श्रूयते। अत्र क्वचिन्माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता रुचि-भक्तिस्तत्प्राप्तिहेतुः प्रतीयते। क्वचित्त्वैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता विधिभक्तिश्चेति। ततश्च विषयवैलक्षण्येन तत्तद्भक्तेरपि वैलक्षण्यात् कतमा सा तद्धेतुरित्यनिश्चयात्तल्लिप्सोस्तत्र प्रवृत्त्यसम्भवः स्यादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले कहा गया था कि ब्रह्मकी उपासना निरतिशय रतिका कारण है। यह उपासना दो प्रकार की है—यह दिग्दर्शित करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ करते हैं। यथा *'तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभम् … प्रकृत्या सहित श्यामः'* इत्यादि अर्थात् हैरण्यने (ब्रह्माजीने) कहा 'भगवान् गोपवेशधारी, मेघकान्ति हैं' इत्यादि वाक्य द्वारा "वे प्रकृति समन्वित श्यामरूपी कहे गये हैं।" पुनः *'स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः'*—अर्थात् यह जो आत्मा है, वह ये ही परमात्मा सर्वनियन्ता, वशी, सर्वेश्वर हैं इत्यादि वाक्य भी श्रुत है। इस प्रकार इन दो प्रकारके वाक्योंमें *'तदु होवाच'* इत्यादि वाक्यमें भगवान्के माधुर्यज्ञानसे प्रवृत्त 'रुचि भक्ति' उनकी प्राप्तिके कारण रूपमें प्रतीत होती है और अन्यत्र *'स वा अयमात्मा'* इत्यादि वाक्यमें उनके सर्वेश्वरत्वादि ऐश्वर्यज्ञानसे प्रवृत्त विधिभक्ति अर्थात् शास्त्र विधिके अनुसार क्रियमाण (की जानेवाली) भक्ति उनकी प्राप्तिके हेतु रूपमें प्रतीत होती है। अतः दोनों विषयोंमें परस्पर वैलक्षण्य रहनेके कारण दोनों ही भक्तिका प्रभेद (वैलक्षण्य) दिखायी देता है। ऐसी अवस्थामें कौन-सी भक्ति भगवत्-प्राप्तिका कारण (साधन) होगी, इस निश्चयके अभावमें तत्प्राप्तिकाम (उनकी प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले) व्यक्तिकी दोनोंमेंसे किसी एक भक्तिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस आशङ्कापर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सर्वत्र हरौ निरतिरूपं तदुपासनमुक्तं तत्र सम्भवति। तद्द्वैविध्यबोधिवाक्यदर्शनेन कतवत् तदुपादेयमिति निश्चयाभावात् तत्र प्रवृत्त्या-

सम्भवादित्याक्षिप्य समाधेरोक्षेपः सङ्गतिः। तदिदानीमित्यादि। माधुर्येति। पारमैश्वर्यप्रकाशने तदप्रकाशने च नृभावानति क्रमो हरेर्माधुर्यं पारमैश्वर्यऽनुसंहितेऽपि हृत्कम्पहेतुसम्भ्रम-लेशस्याप्यनुदयात् स्वभावादिस्थैर्यकरो धर्मविशेषो माधुर्यज्ञानम्। रुचिभक्तिरिति। रुचिरत्र रागस्तदनुगता भक्तिः श्रवणाद्या रुचिभक्तिः। सा च स्वाभीष्टे तज्जनानुयायिभावलोभेन क्रियमाणा बोध्या। इयमेव रागानुगेति गदिता। ऐश्वर्येति। नृभावनैरपेक्ष्येण पारमैश्वर्यप्रकाशनं हरेरैश्वर्यं पारमैश्वर्यऽनुपसंहिते हृत्कम्पहेतुना सादरसम्भ्रमेण स्वभावशैथिल्यकरो धर्मविशेषस्त्वैश्वर्यज्ञानम्। विधिभक्तिरिति। शास्त्रानुशासनभयेन क्रियमाणा श्रवणादिरित्यर्थः। इयं वैधीत्यभिहिता। इदमत्र विवेच्यम्। तल्लीलापरिकरस्य भावमाधुर्यो श्रीभागवतादिसिद्धनिर्देशशास्त्रात् श्रुते सत्येतन्मेऽपि भूयादिति लोभोत्पत्तिसमये शास्त्रयुक्त्यपेक्षा न भवेत्। सत्याञ्च तदपेक्षायां लोभित्वस्यासिद्धेः। न हि लोभ्ये वस्तुनि शास्त्रयुक्तिप्रवृत्तलोभोऽनुभूयते किन्तु श्रुते दृष्टे वा तस्मिन् स्वत एव भवन् स प्रतीयते। ततश्च तद्भावलोभोपायजिज्ञासायां भवेदेव तदपेक्षा तत्रैव तदुपायविनिर्णयात्। तथाच द्वयी भक्तिः शास्त्रीया। पूर्वत्रान्ते शास्त्रापेक्षा परत्रत्वादाविति। ततश्चेति। विषयो माधुर्यगुणको गोकुलपतिरैश्वर्यगुणकश्च वैकुण्ठपतिः तस्य वैलक्षण्येन विलक्षणगुणकतया ग्रहणेनेत्यर्थः तत्तद्भक्तेरपि वैलक्षण्यात् लोभमूलकतया भयमूलकतया च ग्रहणादित्यर्थः। कतमेति। कासौ रुचिपूर्वा विधिपूर्वा वा मोक्षकरीति निश्चयाभावादित्यर्थः। तल्लिप्सोः पुरुषोत्तमप्रेप्सोः। तत्र उभयसाधने। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आशङ्का यह है कि इससे पूर्व सभी अधिकरणोंमें उनकी (भगवान्‌की) श्रीहरिप्रेमरूप उपासना वर्णित हुई है, वह सम्भव नहीं है, क्योंकि दो प्रकारके भक्ति-बोधक वाक्य देखे जाते हैं, ऐसा होनेपर कौन वाक्य ग्रहणीय है, इस विषयमें निश्चयके अभावमें किसीमें भी प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, इस आशङ्काके उत्तरमें समाधानके कारण यहाँ आक्षेप नामक सङ्गति है। *'तदिदानीं द्विविधमित्यादि।' 'क्वचिन्माधुर्यज्ञान प्रवृत्तेति'*—श्रीभगवान्‌के परमेश्वरत्व प्रकाश करनेपर भी अथवा वह अप्रकाशित होनेपर भी मनुष्यरूपका जो अपरित्याग है, उसका नाम माधुर्य है और माधुर्यज्ञान कहनेसे परमेश्वरभाव गृहीत होनेपर भी (उसका अनुसन्धान रहनेपर भी) लेशमात्र हृत्कम्पके कारण सम्भ्रमका उदय न होनेसे स्वभावकी अतिदृढ़ताजनक अवस्था विशेष जाननी चाहिये। जिस माधुर्य-ज्ञानसे रुचि-भक्ति उत्पन्न होती है, इसका नाम श्रवणमननादि-स्वरूपा रागानुगा-भक्ति है। यह भक्ति निज अभीष्ट देवताके प्रति उनके भक्तका अनुसृतभाव

अथवा भक्त-वात्सल्य पानेकी आशासे की जाती है, इसीको रागानुगा-भक्ति कहा जाता है। *'ऐश्वर्य-ज्ञान-प्रवृत्ता विधिभक्तिरिति'*—ऐश्वर्य शब्दका अर्थ है मनुष्यरूपकी अपेक्षा न करके परमेश्वरत्वका प्रकाश, यही श्रीहरिका ऐश्वर्य है। और ऐश्वर्यज्ञान कहनेसे उनका परमेश्वरत्व भाव गृहीत होनेपर हृत्कम्पके कारण सादर-सम्भ्रमका उदय होता है; तज्जनित भक्तके स्वभावकी शिथिलतारूप अवस्था विशेषसे प्रवृत्त है—विधिभक्ति अर्थात् शास्त्रकी विधिके अनुसार अर्थात् शास्त्रके अनुशासन-भयसे जो भक्तिकी जाती है, जैसे भगवत्-विषयक श्रवणादि, इसीको वैधीभक्ति कहा जाता है। इस विषयमें यह विचारणीय है। उनके सिद्धस्वरूप-निर्देशक श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंसे श्रीहरिके लीला-परिकरका मधुरभाव श्रुत होनेपर, 'मेरा भी इस प्रकारसे हो' यह लोभ जिस समय उत्पन्न होता है तब शास्त्र अथवा युक्तिकी अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि शास्त्र अथवा युक्तिकी अपेक्षा रहनेसे भक्तका भावमें लोभ असिद्ध ही है कारण लोभनीय वस्तुमें शास्त्र एवं युक्ति प्रणोदित (निदेशित) लोभ देखा नहीं जाता किन्तु लोभनीय वस्तु श्रुत होनेपर अथवा दृष्ट होनेपर उसके प्रति स्वतः ही लोभ उदित होता है, यह अनुभव-सिद्ध है। ऐसा होनेपर सिद्धान्त होता है—भगवत्-प्रेम लोभका उपाय क्या है? यह जाननेकी इच्छा होनेपर ही शास्त्र-युक्ति जाननेकी अपेक्षा होगी, क्योंकि शास्त्र एवं युक्तिमें इस भाव-प्राप्तिका उपाय निर्द्धारित है, तब देखा जाता है कि दोनों भक्ति ही शास्त्रीय हैं। प्रभेद यह है कि रागानुगा-भक्तिमें बादमें शास्त्रकी अपेक्षा है और विधिभक्तिमें पहले शास्त्रानुसन्धान है। *'ततश्च विषय वैलक्षण्येति'* अतः दोनों विषयमें प्रभेद रहनेके कारण अर्थात् माधुर्य गुणाश्रय श्रीगोकुलपति रागानुगा-भक्तिके विषय हैं और परमेश्वर गुण-विशिष्ट वैकुण्ठपति वैधीभक्तिके विषय हैं—इस प्रकार परस्पर विलक्षण गुणवत्तारूपमें प्रतीत होनेके कारण। *'तद् भक्तेरपि वैलक्षण्यादिति'*—भगवत्-भक्तिका प्रभेद अर्थात् एक तद्भाव-लोभमूलक, दूसरा भयमूलक रूपमें गृहीत होनेके कारण। *'कतमा सा तद्धेतुः'* इति अर्थात् रूचिपूर्वक भक्ति अथवा विधिपूर्वक भक्ति, कौन-सी मुक्तिदायिनी होगी, इसका निश्चय न रहनेके कारण *'तल्लिप्सोः'*—उन पुरुषोत्तम श्रीहरिके प्राप्तिकामी व्यक्तिका।

'तत्र प्रवृत्त्यसम्भवः' इति में 'तत्र' अर्थात् दोनों साधनामें प्रवृत्ति सम्भव हो नहीं सकती, इस प्रकारकी आशङ्काके निरासके लिए सूत्रकार कहते हैं—

छन्दत उभयविरोधाधिकरणम्

सूत्र—छन्दत उभयाविरोधात्॥ २९॥

सूत्रार्थ—यह आशङ्का करनी भी नहीं चाहिये, क्योंकि 'छन्दतः' ईश्वरके सङ्कल्पानुसार जिस किसी प्रकारसे जीवकी भक्तिमें आस्था हो सकती है—यह किस प्रकारसे होती है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'उभयाविरोधात्'—दोनों प्रकारके वाक्योंके अनुरोधसे॥ २९॥

सूत्रानुवाद—उभय भक्ति द्वारा ही भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। दोनों ही प्रकारकी भक्तिमें आस्था होनेसे दोनोंमें ही प्रवृत्ति हो सकती है—दोनों प्रकारके वाक्योंके अनुरोधसे अर्थात् ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों ही भक्तिके पोषक हैं॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—मण्डुकप्लुत्या नेत्यनुवर्त्तते। छन्दतस्तादृशासत्प्रसङ्गानुयायि-भगवत्सङ्कल्पादेवोभयविधानां जीवानामुभयविधायां भक्तावास्थेति न प्रवृत्त्यसम्भवः। एवं कुतः? तत्राहोभयेति। उभयविधयोर्वाक्ययोरनुरोधादित्यर्थः। अयं भावः। अनादिसिद्धद्विविधभगवद्गुणोपासना खलु तन्नित्यपार्षदवृन्दादारभ्य साधकेभ्यः सुरसरित्प्रवाहवत् प्रचरति। तस्माद्विश्ववर्त्तिनां जीवानां यादृच्छिके सत्प्रसङ्गे सति तद्देशिकसदुपासस्येषु स्वगुणेषु भक्तिरसिकः श्रीहरिः सत्प्रसङ्गिनस्तान् प्रवर्त्तयितुमिच्छति। ते तु तेन वर्त्मना तमनुवर्त्तन्त इति। अनुग्राही साधकस्तु मध्यमो ग्राह्यः। *"ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः"* इत्युक्तेः। (श्रीमद्भा॰ ११/२/४६) इत्थञ्च श्रीहरौ वैशम्याद्यप्रसङ्गः॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें *'न वाऽविशेषात्'* (३/३/२२) सूत्रोक्त 'न' पदका मण्डूकप्लुति न्यायसे अनुवर्त्तन जानना चाहिये। इस प्रकार सत्-प्रसङ्गके अनुयायी श्रीभगवत्-इच्छासे ही दोनों प्रकारके जीवोंकी दोनों प्रकारकी भक्तिमें ही विश्वासमूलक प्रवृत्ति सम्भव है, असम्भव नहीं। यदि कहो, ऐसा किसलिए है? इसके उत्तरमें कहते हैं— *'उभयाविरोधात्'*—दोनों ही प्रकारके वाक्योंके अनुरोधसे। ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों ही भक्तिके पोषक हैं, इसलिए उभय प्रकारसे ही

भक्तिमें प्रवृत्ति सम्भव है। बात यह है कि अनादिसिद्ध ऐश्वर्य एवं माधुर्य—इन दोनों ही प्रकारके भगवत्-गुणोंकी उपासना उनके (भगवान्के) नित्य पार्षदवृन्दसे आरम्भ होकर साधक-भक्तोंकी श्रेणी तक गङ्गा-प्रवाहके समान प्रवाहित हो रही है। इस कारण विश्वान्तर्वर्ती जीवोंका अदृष्टवश साधुसङ्ग होनेपर उन समस्त जीवोंके उपदेष्टा जो साधु-वैष्णव हैं, उनके उपास्य भक्तिरसिक श्रीहरि अपने गुणोंसे सत्प्रसङ्गी जीवोंको प्रवृत्त करनेकी इच्छा करते हैं। ये सत्प्रसङ्गी जीवगण भी उस पथपर (उस साधुसेवित पथपर गुरु-उपदिष्ट मार्गका अनुसरण करते हुए) श्रीभगवान्की सेवा करते हैं, परन्तु अनुग्राहक साधकोंको मध्यम श्रेणीभुक्त जानना चाहिये, क्योंकि उन्हें ही मध्यम साधक कहा गया है। ये ईश्वरसे प्रेम, ईश्वरभक्तोंसे मैत्री, अज्ञजीवोंपर करुणा और भगवान् एवं भगवत्-भक्तोंके विद्वेषियोंकी उपेक्षा (औदासीन्य या सङ्गत्याग) करते हैं। तब देखा जाता है कि श्रीहरिका अनुग्रह होनेपर जीवकी मुक्ति होती है। इसमें यद्यपि श्रीभगवान्का वैषम्य (पक्षपातित्व) आपाततः (ऊपर-ऊपरसे दिखायी देनेवाला) देखा जाता है, ऐसा होनेपर भी उनका भक्तवात्सल्य स्वीकार करनेसे फिर वैषम्य निर्दयतादि दोषोंकी आपत्ति नहीं रहती॥ २९॥

सूक्ष्मा-टीका—छन्दत इति। उभयविधयोरिति। तदु होवाचेत्यादेः। स वा अयमित्यादेश्च वाक्यस्येत्यर्थः। तद्देशिकेति। तेषां जीवानां देशिक उपदेष्टा यः सन् वैष्णवस्तस्योपास्येषु स्वगुणेष्वित्यर्थः। तान् जीवान्। ईश्वर इति श्रीभागवते। अयमर्थः—त्रिविध्य हरिभक्ता उत्तमो मध्यमः कनिष्ठश्चेति। तेष्वाद्यो नानुग्राही सार्वत्रिकहरिस्फूर्त्तेस्तस्यानुग्राह्यभावात्। तदुक्तम्—*"सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः"* (श्रीमद्भा॰ ११/२/४५) इति। न चान्त्यः अनुग्रहे तस्यासामर्थ्यात्। यदुक्तम्—*"अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद्भक्तेषु चान्येषु न भक्तः प्राकृतः स्मृतः"* (श्रीमद्भा॰ ११/२/४७) इति। किन्तु मध्यमोऽनुग्राही, ईश्वरे तदधीनेष्वित्यादेः। ईश्वरे भगवति। तदधीनेषु तद्भक्तेषु। बालिशेषु अज्ञेषु। द्विषत्सु भगवद्भागवतनिन्दकेषु। प्रेमेत्यादिकं क्रमादवगन्तव्यम्। इत्थञ्चेति। हर्यनुग्रहात् जीवानां मोक्षे स्वीकृते तस्मिन् वैषम्यादिकमापतेत् भक्तानुग्रहात् तस्मिन् स्वीकृते तत्परिहारः सिद्धः। ननु भक्तेऽपि वैषम्यमवद्यमिति चेन्न। मध्यमे तस्मिन् तत्स्वीकारात्। ननु हरेरनुग्राहकत्वं श्रुतं व्याकुप्येदिति चेन्न। भक्तानुग्रहानुगामितया तदनुग्रहस्यापि प्रवृत्तेरित्यनुबन्धाधिकरणे वक्ष्यते॥ २९॥

सूक्ष्मा–सार— *'छन्दत'* इत्यादि सूत्रमें *'उभयविधयोर्वाक्ययोरनुरोधादिति* (दोनों प्रकारके वाक्योंके अनुरोधसे जानना चाहिये) *तदु होवाच हैरण्यः'* इत्यादि वाक्यमें *'स वा अयमात्मा विश्वस्य वशी'* इत्यादि वाक्य हैं—इन दो प्रकारके वाक्य रहनेके कारण—यह अर्थ है। *'तद्देशिक सदुपास्येषु स्वगुणेषु'* इति—समस्त जीवोंके उपदेष्टा जो साधु–वैष्णव हैं, वे समस्त भगवत्–गुणोंकी उपासना करते हैं, उन सबमें—यह अर्थ है *'श्रीहरिः सत्प्रसङ्गिनस्तान्'* इति में 'तान्' का अर्थ है—उन सत्प्रसङ्गी जीवगणोंको। *'ईश्वरे तदधीनेषु'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतमें (श्रीमद्भा० ११/२/४६) उक्त है। इसका तात्पर्य यह है कि—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारके हरिभक्त हैं, उनमें उत्तम हरिभक्त अनुग्राही नहीं हैं क्योंकि उनका सर्वत्र ही श्रीहरि–दर्शन विद्यमान है, अतः उनका अनुग्राह्य व्यक्ति (कृपापात्र) कोई नहीं है—यह बात श्रीमद्भागवतमें कही गयी है—*'सर्वभूतेषु यः'*—भागवतोत्तमः जो समस्त जीवोंमें अपने भगवत्–भावका और आत्मस्वरूप श्रीभगवान्में समस्त प्राणियोंकी सत्ताका दर्शन करते हैं, वे ही उत्तम भक्त हैं। इस प्रकार कनिष्ठ भक्त भी अनुग्राहक हो नहीं सकते क्योंकि उनमें जीवानुग्रह करनेकी क्षमता नहीं है। कनिष्ठ भक्तका लक्षण भी वहाँ बताया गया है, यथा अर्चायामेवेत्यादि जो प्रतिमामें ही श्रीहरि–बुद्धिसे श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं किन्तु हरि–भक्तोंमें अथवा दूसरे जीवोंमें जिनकी प्रीति नहीं होती, वे कनिष्ठ भक्तके रूपमें कथित हैं। अतएव मध्यम भक्त ही अनुग्राही (अनुग्रह करनेवाले) हैं—*'ईश्वरे तदधीनेषु'* इत्यादिमें यही उक्ति है। ईश्वरमें अर्थात् श्रीभगवान्में, तदधीनेषु—श्रीहरिके भक्तवृन्दमें। बालिशेषु—अतत्त्वज्ञसमूहमें, द्विषत्सु—श्रीभगवान्के और भगवत्–भक्तके निन्दकमें। यथाक्रमसे प्रेम, मैत्री, करुणा एवं उपेक्षा ज्ञातव्य हैं। *इत्थञ्च श्रीहरौ* इत्यादि। यद्यपि श्रीहरिके अनुग्रहसे जीवका मोक्ष स्वीकार करनेमें ईश्वरमे पक्षपातिता, निर्दयता इत्यादि दोष आ पड़ते हैं, ऐसा होनेपर भी भक्तोंके ऊपर उनके अनुग्रह ही मुक्ति है, यह स्वीकार करनेपर उस दोषका परिहार होता है, यह सिद्ध है। आपत्ति है कि यदि भक्तविशेषमें अनुग्रह स्वीकार किया जाता है तो उसमें भी उनका

वैषम्य हुआ, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि मध्यम भक्तमें ही उनका अनुग्रह स्वीकार किया जाता है। इसमें भी आपत्ति हो सकती है कि शास्त्रमें श्रुत भगवान्‌का सर्वानुग्राहकत्व-उक्ति विरुद्ध हुई, ऐसा नहीं है। श्रीहरिभक्तके अनुग्रह (की योग्यता) के अनुसारसे श्रीभगवान्‌का उसमें अनुग्रह होता है—यह बात अनुबन्धाधिकरणमें बादमें वर्णित होगी॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पूर्वपक्षियोंकी एक आशङ्का उठा रहे हैं कि पहले सूत्रमें कहा गया था कि श्रीहरिमें निरति अर्थात् प्रेम ही उनकी उपासना है, किन्तु वह सम्भव नहीं है, क्योंकि शास्त्रमें दो प्रकारके भक्तिबोधक वाक्य देखे जाते हैं। प्रथम स्थलपर माधुर्यज्ञान-प्रवृत्त रुचिभक्तिको उनकी प्राप्तिका हेतु जाना जाता है और द्वितीय स्थलपर ऐश्वर्यज्ञानप्रवृत्त विधिभक्तिको ही तत्प्राप्तिके हेतु रूपमें जाना जाता है। अतएव विषयकी विलक्षणताके कारण तद्-तद् भक्तिका ही वैलक्षण्य देखा जाता है। अतः इन दोनों उपायोंमें भगवत्-प्राप्तिका निश्चित साधन कौन-सा होगा, उसके निश्चयके अभावके कारण तत्-लिप्सु जनकी किसीमें भी प्रवृत्ति होनेकी सम्भावना नहीं है। पूर्वपक्षीकी इस प्रकारकी आशङ्काके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, असम्भव नहीं है, क्योंकि भगवत्-इच्छा क्रमसे ही दोनोंका विधान है। जीवोंके लिए भी दोनों प्रकारकी भक्तिका आश्रय करनेकी सम्भावना है, क्योंकि शास्त्र एवं महाजन परम्परामें दोनों प्रकारकी भक्तिकी शिक्षा और आदर्श अनादि कालसे ही चले आ रहे हैं। भाष्यमें इसका विस्तारसे वर्णन है।

मूलकथा—वैधी एवं रागानुगा भेदसे दो प्रकारकी उपासना ही नित्यसिद्ध पार्षदोंसे साधकादि क्रमसे गङ्गाकी धाराके समान प्रवाहमान है। ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती जीवोंका भी पूर्व-पूर्व जन्मोंकी सुकृति-क्रमसे यादृच्छिक सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर उस महत्-कृपासे उनके उपदेशानुसार भगवत्-कृपासे उपास्य वस्तुमें आकर्षण होता है और उन महत्‌के आश्रयसे दीक्षादि ग्रहण करके उनके द्वारा उपदिष्ट भक्तिपथके अनुवर्त्तनमें प्रवृत्ति होती है।

श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर रचित जैवधर्ममें इस सम्बन्धमें देखा जाता है कि—

बाबाजी—प्रेमभक्ति स्वरूपशक्तिकी एक विशेष वृत्ति है। अतः वह अवश्य ही नित्यसिद्ध है। जड़बद्ध जीवके हृदयमें वह प्रकट नहीं होती। तन, मन और वचनसे उसे हृदयमें प्रकट करनेके लिए जो चेष्टा की जाती है, वही उसकी साधना है। यह साधना जिस काल-पर्यन्त साधित होती है, तब तक वह साध्य भाव प्राप्त है, प्रकट होते ही उसकी नित्यसिद्धता स्पष्ट होती है।

ब्रजनाथ—साधनाका लक्षण क्या है?

बाबाजी—जिस किसी भी उपायसे कृष्णमें मनोनिवेश किया जाय, वही साधनभक्तिका लक्षण है।

ब्रजनाथ—यह साधनभक्ति कितने प्रकारकी होती है?

बाबाजी—दो प्रकारकी—वैधी एवं रागानुगा।

ब्रजनाथ—वैधी-साधनभक्ति किसे कहते हैं?

बाबाजी—जीवकी प्रवृत्ति दो प्रकारसे उदित होती है। विधिके अनुसार जो प्रवृत्ति होती है, उसे वैधी-प्रवृत्ति कहा जाता है। शास्त्र ही विधि है—शास्त्रके शासनमें रहकर जिस भक्तिका उदय होता है, वह वैधी-प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेके कारण वैधीभक्तिके रूपमें कही जाती है।

बाबाजी—वैधीभक्तिके अङ्गोंका निष्ठाके साथ बहुत दिनों तक पालन करनेपर भी जो फल नहीं होता है, रागानुगाभक्ति द्वारा वह फल थोड़े ही समयमें उदित हो जाता है। वैधमार्गकी भक्ति विधिसापेक्ष होनेसे (विधिकी अपेक्षा रखनेवाली होनेसे) दुर्बल होती है आर रागानुगाभक्ति स्वतन्त्र प्रवृत्ति अर्थात् सम्पूर्ण निरपेक्ष होनेके कारण स्वभावतः प्रबल होती है। अतएव ब्रजके प्रेमीजनोंके आनुगत्याभिमान-लक्षण भावविशेष द्वारा जो राग उदित होता है, उसमें श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, आत्मनिवेदनात्मक प्रक्रिया सर्वदा ही अवलम्बित होती है। जिनका हृदय निर्गुण है, उन्हींकी ब्रजजनोंके आनुगत्यमें रुचि उत्पन्न होती है। अतएव रागानुगा-भक्तिमें लोभ अथवा रुचि ही

एकमात्र सद्धर्मप्रवर्तक है। रागात्मिकाभक्ति जितने प्रकारकी है, रागानुगा-भक्ति भी उतने ही प्रकारकी है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी प्राप्त है—

नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम 'साध्य' कभु नय।
श्रवणादि शुद्धचित्ते करये उदय॥

एइ त साधनभक्ति दुइ त प्रकार।
एक 'वैधीभक्ति', 'रागानुगा-भक्ति' आर॥

रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय।
'वैधीभक्ति' बलि तारे सर्वशास्त्रे गाय॥

(चै॰च॰म॰ २२/१०४-१०६)

अर्थात् कृष्णप्रेम नित्य सिद्धवस्तु है, वह साध्यवस्तु कभी भी नहीं हो सकती। श्रवणादि करते-करते जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब यह कृष्णप्रेम स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। यह साधनभक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधीभक्ति और रागानुगाभक्ति। शास्त्रकी आज्ञामें रहकर जो बिना रागके ही भजन करते हैं, उसीको समस्त शास्त्र वैधीभक्ति कहते हैं।

और भी,

रागात्मिका भक्ति मुख्या व्रजवासी जने।
तार अनुगत भक्ति 'रागानुगा' नामे॥

इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'—रागेर स्वरूप लक्षण।
इष्टे 'आविष्टिता'—तटस्थ लक्षण कथन॥

रागमयी भक्तिर हय 'रागात्मिका' नाम।
ताहा शुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान॥

लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

(चै॰च॰म॰ २२/१४५, १४७-१४९)

अर्थात् हे सनातन! यह रागात्मिकाभक्ति ही सब प्रकारकी भक्तियोंमें मुख्य है। यह केवल व्रजवासीजनोंमें ही रहती है। इन

व्रजजनोंके आनुगत्यमें जो भक्ति की जाती है, उसे रागानुगाभक्ति कहते हैं। रागका स्वरूपलक्षण है—इष्टमें गाढ़ तृष्णा होना और रागका तटस्थलक्षण है—इष्टमें परम आवेश होना। इस प्रकार रागविशिष्ट जो भक्ति है—उसका नाम रागात्मिकाभक्ति है। इस भक्तिके विषयमें सुननेपर कोई भाग्यवान ही उसके प्रति लालायित होता है। लोभ होनेपर तब वह सौभाग्यशाली व्रजवासीजनोंका आनुगत्य करता है। फिर ऐसा साधक शास्त्रकी युक्तियोंकी अपेक्षा नहीं रखता। वह निषेध एवं युक्ति आदिसे ऊपर उठ जाता है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ,
परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/५१/५३)

हे अच्युत! इस प्रकार प्रपञ्चमें भटकते जीवका सौभाग्यसे जिस समय सांसारिक बन्धन छूटनेका समय आता है, उस समय उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है और जिस समय सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी समय साधुओंके परमाश्रयस्वरूप, समस्त कार्य-कारणोंके नियन्ता आपके प्रति भक्ति उत्पन्न होती है और उसीसे सांसारिक प्रपञ्च छूट जाता है।

इसी प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतमें प्रेमतारतम्यमें भक्तोंकी महिमाका त्रिविध तारतम्य देखना चाहिये जो कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम भक्तोंके दृष्टान्त हैं। श्रीभागवतके ११/२/४५ से ४७ पर्यन्त श्लोक इस सन्दर्भमें आलोच्य हैं।

श्रीउद्धवजीके वाक्योंमें भी पाया जाता है—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४७/६१)

जिन्होंने दुस्त्यज्य घर-बार, पति, पुत्रादि, आत्मीय स्वजन, वैदिक मर्यादा एवं लोक-लज्जा—सबका परित्याग करके श्रुतियोंके द्वारा अन्वेषणीय मुकुन्द श्रीकृष्णकी पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है, अहो! मैं इस वृन्दावनमें उन गोपियोंकी चरणरेणुसे सिक्त गुल्म, लता अथवा ओषधिमेंसे किसी भी एक स्वरूपमें जन्म प्राप्त करूँ, तो मेरे लिए यह बड़े सौभाग्यकी बात होगी।

श्रीमद्भागवतमें ही—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२५/३८)

अनुवाद वे॰सू॰ ३/३/९ की व्याख्यामें देखा जाना चाहिये।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें भी—

कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निज समीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥

(भ॰र॰सि॰ १/२/२९४, २९५)

अर्थात् रागानुग-मार्ग-साधक श्रीकृष्णका और उनके निज परिकरमें अपने अभीष्ट परिकरका स्मरण करते हुए अपने भावानुकूल लीला-कथामें अनुरक्त होकर सर्वदा व्रजमें वास करें। साधकरूप (यथावस्थित देह) से एवं सिद्धरूप (सिद्धदेह) से स्वाभीष्ट श्रीकृष्णके प्रिय परिकरोंके भावोंका लिप्सु होकर उनका अनुसरण करते हुए सेवामें लग जायें॥ २९॥

सूत्र—गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः॥ ३०॥

सूत्रार्थ—इस प्रकारकी व्यवस्था स्वीकार करनेपर 'गतेः' भगवत्-प्राप्तिकी, 'उभयथा'—दोनों ही प्रकारसे 'अर्थवत्त्वम्' सार्थकता है।

'अन्यथा' इस प्रकारसे स्वीकार न करनेपर 'विरोधः' इन दोनों वाक्योंका अप्रामाण्य हो पड़ता है। 'हि' क्योंकि दोनों ही वाक्योंका तुल्य प्रामाण्य है—दोनों ही श्रौत वाक्य हैं॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—दोनों ही प्रकारकी भक्तिसे भगवत्-प्राप्तिकी सार्थकता है, अन्यथा दोनों प्रकारके श्रौत वचन अप्रमाणित हो पड़ेंगे क्योंकि दोनोंका ही तुल्य प्रामाण्य है॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य—एवं स्वीकारे सति गतेस्तत्प्राप्तेरुभयथार्थवत्त्वम्। माधुर्यगुणक-भगवत्कर्मकतया पारमैश्वर्यगुणकतत्कर्मकतया च सार्थत्वम्। अर्थः पुरुषार्थः पुरुषोत्तमस्तद्वैशिष्ट्यमित्यर्थः। अन्यथेत्थमस्वीकारे विरोधस्तयोर्वाक्ययोर्व्याकोपापत्तिः स्यात्। हि शब्दस्तयोः समं प्रामाण्यं सूचयति। न चोपसंहारसूत्रादुभयोः प्राप्त्योर्व्यतिकरः। एकान्तिषु स्वेष्टेतरगुणाप्रकाशात्। वक्ष्यति चैवमुपरिष्टात् व्यतिरेकस्तद्भावेत्यादि॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस प्रकारकी व्यवस्था स्वीकार करनेपर गतिकी अर्थात् श्रीहरिकी प्राप्तिकी दोनों प्रकारसे सार्थकता है अर्थात् माधुर्य भगवान् गोकुलनाथकी उपासनासे गोकुलनाथकी प्राप्ति है और ऐश्वर्य भगवान् वैकुण्ठनाथके उपासकोंको वैकुण्ठनाथजीकी प्राप्ति है—इसलिए दोनों ही वाक्योंकी सार्थकता है। दोनों प्रकारकी प्राप्तिमें ही भगवान् सम्बन्धी लीला-गुण रहनेके कारण दोनों ही सार्थक हैं। *'अर्थवत्त्वम् इति'*—अर्थ शब्दका अर्थ है—पुरुषार्थ अर्थात् पुरुषकाम्य पुरुषोत्तम—इस पुरुषार्थकी विशिष्टता एक अर्थमें गोकुलनाथ-प्राप्ति है और दूसरे अर्थमें वैकुण्ठनाथ-प्राप्ति है। इस प्रकार दोनों ही वाक्य उपाय और उपेय विशेषके निरूपक हैं अर्थात् पुरुषार्थके और पुरुषार्थ-प्राप्ति दोनोंके बोधक हैं। अन्यथा—अर्थात् ऐसी व्यवस्था स्वीकार न करनेपर विरोधः—दोनों ही शास्त्र-वाक्य अप्रमाणित हो पड़ते हैं, जब कि सूत्रोक्त 'हि' शब्दसे दोनों ही वाक्योंका तुल्य प्रामाण्य जाना जाता है। यदि कहो, पूर्वोक्त *'उपसंहारोऽर्थाभेदात्'* सूत्रसे दोनों प्रकारकी प्राप्तिका साङ्कर्य (मिश्रण अर्थात् एकरूपत्व) होनेपर अर्थात् वैकुण्ठनाथ-प्राप्ति एवं गोकुलनाथकी प्राप्ति—दोनों ही में जब भगवत्-गुणोंका उपसंहार है, तब सांकर्य (एकरूपत्व) होना अनिवार्य है, तो ऐसा नहीं है। एकान्ती भक्तोंके लिए अपने इष्टदेवके गुणोंके विरुद्ध अन्य गुणोंका

प्रकाश अथवा उपसंहार नहीं है। यह समाधान बादमें *'व्यतिरेकस्तद्भावेषु'* (वे॰सू॰ ३/३/५६) इत्यादि सूत्रमें व्यक्त किया जायेगा॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—एतद्व्यवस्थास्वीकारे गुणस्तद्भावे तु दोषः स्यादिति दर्शयितुमाह गतेरित्यादि। तयोर्वाक्ययोर्माधुर्यगुणकं गोकुलनाथं ध्यायतां तन्नाथप्राप्तिरैश्वर्यगुणकं वैकुण्ठनाथं ध्यायतां तु तन्नाथप्राप्तिरित्युपायोपेयविशेषनिरूपकयोर्विशिष्टयोर्वचनोरित्यर्थः। न चानयोर्बाध्यबाधकभावः शक्यो वक्तुमित्याह हीति। श्रुतित्वाविशेषादित्याशयः। न चेति। उपसंहारसूत्रादुपसंहारोऽर्थाभेदादिति सूत्रादित्यर्थः। व्यतिकरः साङ्कर्यम्॥ ३०॥

सूक्ष्मा-सार—इस प्रकार व्यवस्था स्वीकार करना ही ठीक है, ऐसा न होनेपर दोष होगा, यह दिखानेके लिए—*'गतेरर्थवत्वमुभयथाऽन्यथा'* इत्यादि सूत्र कहते हैं। *'विरोधस्तयोर्वाक्ययोरिति'* में 'तयोः'—इन दोनों वाक्योंका अर्थात् एक वाक्यमें कहते हैं, माधुर्यगुणसम्पन्न गोकुलनाथके ध्यान करनेवालेको गोकुलनाथकी प्राप्ति होती है और अन्य वाक्यमें ऐश्वर्य-गुणवान वैकुण्ठनाथके उपासकोंको वैकुण्ठनाथकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार उपाय और उपेय विशेषके निरूपक दोनों वाक्योंका ही। यदि कहो, इन दोनों वाक्योंका प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव स्वीकार किया जाना चाहिये, तो यह भी कहा नहीं जा सकता क्योंकि सूत्रकारने 'हि' शब्दके द्वारा दोनों वाक्योंका तुल्य प्रामाण्य दिखलाया है कारण दोनों ही श्रौत-वाक्य हैं। *'न चोपसंहार सूत्रात् इति'*—*'उपसंहारोऽर्थाथेदात्'* (वे॰सू॰ ३/३/६)—इस सूत्रके आधारपर। व्यतिकरः का अर्थ है—साङ्कर्य (इकट्ठा मिला देना)॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकारके प्रस्तुत सूत्रमें ज्ञात होता है कि श्रीभगवत्-प्राप्तिके उपाय रूपमें दोनों ही प्रकारकी भक्तिकी सार्थकता है। दोनों ही प्रकारकी भक्तिसे श्रीभगवान्‌को पाया जा सकता है। तब तारतम्य यह है कि विधिभक्ति द्वारा ऐश्वर्यलीलामय वैकुण्ठनाथको पाया जाता है और रागानुगाभक्तिके द्वारा माधुर्यलीलामय गोकुलनाथकी प्राप्ति होती है। ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों ही श्रीभगवान्‌के गुण हैं। श्रीभगवान्‌के विधानको अस्वीकार करनेपर विरोध प्रकट होता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

गुण शब्देर अर्थ—गुण कृष्णेर अनन्त।
सच्चिद्‌रूपे-गुणे सर्वपूर्णानन्द॥

ऐश्वर्य–माधुर्य–कारुण्य स्वरूप पूर्णता।
भक्तवात्सल्य आत्मा पर्यन्त वदान्यता॥

(चै॰च॰म॰ २४/४१–४२)

अर्थात् गुण शब्दका अर्थ यह है कि श्रीकृष्णके गुण अनन्त हैं। श्रीकृष्णके रूप एवं गुण सभी सत् एवं चित्स्वरूप हैं और सभी पूर्णानन्दमय हैं। श्रीकृष्णके स्वरूपके ऐश्वर्य, माधुर्य और करुणा सभीमें पूर्णता है। वे ऐसे भक्तवत्सल और महावदान्य हैं कि भक्तोंके लिए वे अपने आपको भी बेच देते हैं।

इसी प्रकार,

ऐश्वर्यज्ञाने विधि भजन करिया।
वैकुण्ठके जाय चतुर्विध मुक्ति पाञा॥

(चै॰च॰आ॰ ३/१७)

अर्थात् ऐश्वर्यज्ञानसे विधिभक्तिका भजन करके साधक सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य और सालोक्य नामक चार प्रकारकी मुक्तिको पाकर वैकुण्ठमें जाता है।

और भी,

सेइ गोपीभावामृते याँर लोभ हय।
वेदधर्म त्यजि से कृष्णके भजय॥

रागानुग मार्गे ताँरे भजे जेइ जन।
सेइ जन पाय ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन॥

ब्रजलोकेर कोन भाव लञा जेइ भजे।
भावयोग्य देह पाञा कृष्ण पाय ब्रजे॥

ताहाते दृष्टान्त—उपनिषद् श्रुतिगण।
रागमार्गे भजि पाइल ब्रजेन्द्रनन्दन॥

(चै॰च॰म॰ ८/२१९–२२२)

श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरने अपने भाष्यमें कहा है—वैधभक्ति चौंसठ भजनाङ्गरूप है। उसके प्रति निर्मल श्रद्धा रहनेपर ही उसमें अधिकार उत्पन्न होता है। ब्रजजनोंका कृष्णके प्रति जो स्वाभाविक राग है, उसे देखकर उस पथपर जिनका लोभ होता है,

उन्हें वह गोपीभावामृत लोभ ही रागानुग-मार्गमें अधिकार देता है। रागानुग-मार्ग भजनमें वर्णाश्रमादि वैदिक धर्ममें आसक्ति-त्याग सहज प्रयोजन है। व्रजमें रक्तक, पत्रकादि कृष्णदास हैं, श्रीदाम-सुबलादि कृष्णसखा हैं, नन्द-यशोदादि कृष्णके पिता-माता हैं, वे अपने-अपने रसभावसे कृष्णका भजन करते हैं। व्रजरस-भजनमें प्रवृत्ति होनेपर उक्त किसी रस-विशेषमें जिनका लोभ है, वे उस भावयोग्य चित्स्वरूपको प्राप्त करके सिद्धिकालमें व्रजेन्द्रनन्दन कृष्णको प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें भी पाया जाता है—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२३)

अर्थात् हे प्रभो! चिन्तनशील मुनियोंने प्राण, मन, इन्द्रिय आदिको वशमें करके दृढ़ भक्तियोगसे युक्त होकर हृदयमें जिस तत्त्वकी उपासना करके जिस परम सत्यको प्राप्त किया है, शत्रुओंने भी आपके नित्य-निरन्तर स्मरणके कारण उसी तत्त्वको प्राप्त किया है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। हे देव! जो रमणियाँ (व्रजाङ्गनाएँ) सर्पराजके शरीरके समान आपके विशाल भुजाओंके प्रति लालसाके कारण आपको परिछिन्न मानती हैं और आपकी उन सुकुमार भुजाओंके प्रति काम-भावसे आसक्त रहती हैं, वे जिस परम पदको प्राप्त करती हैं, वही परम पद हम श्रुतियोंको भी उन गोपरमणियोंका अनुगमन करनेसे प्राप्त होता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और भी,

गोपी आनुगत्य बिना ऐश्वर्यज्ञाने।
भजिलेह नाहि पाय ब्रजेन्द्रनन्दने॥

ताहाते दृष्टान्त लक्ष्मी करिल भजन।
तथापि ना पाइल ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन॥

(चै॰च॰म॰ ८/२२९-२३०)

अर्थात् ऐश्वर्य-बुद्धिसे विधि-मार्गके द्वारा व्रजेन्द्रनन्दनका भजन नहीं होता। माधुर्याकर्षणसे गोपियोंके अनुगत होकर भजन करनेपर ही व्रजेन्द्रनन्दन कृष्णकी प्राप्ति होती है। दृष्टान्तके लिए कहा जा सकता है कि श्रीलक्ष्मीजीने गोपियोंका आनुगत्य किये बिना भजन किया, इसलिए वे श्रीव्रजमण्डलमें श्रीव्रजेन्द्रनन्दनको प्राप्त नहीं कर सकीं।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें भी यही विवेचन है—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्य्योषितां नलिनगन्धरुचां कुन्तोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४७/६०)

रासलीलामें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी बाँह गोपियोंके कण्ठोंमें डालकर उनका आलिङ्गन करते हुए उनका मनोरथ पूर्ण किया था, वैसा अनुग्रह तो वक्षःस्थलपर विलास करनेवाली नित्य सङ्गिनी, परम प्रेमवती लक्ष्मीदेवीको भी प्राप्त नहीं हुआ और न ही कमलकी सुगन्धके समान अङ्ग-सौरभ एवं कान्तिसे युक्त देवाङ्गनाओंको प्राप्त हुआ, फिर अन्य स्त्रियोंकी तो बात ही क्या?

श्रीमद्भागवतमें ही,

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥

(श्रीमद्भा॰ १०/९/२१)

गोपिकासुत (यशोदा-दुलाल) भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके लिए जिस प्रकारसे सुलभ हैं, देहाभिमानी तपस्वियों अथवा ज्ञानियोंके लिए भी वे उस प्रकार सुलभ नहीं है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और भी देखा जाता है,

रागभक्ति, विधिभक्ति हय दुइ रूप।
'स्वयंभगवत्ता', 'प्रकाश' दुइ त स्वरूप॥

रागभक्त्ये ब्रजे स्वयं भगवाने पाय।
विधिभक्त्ये पार्षद-देहे वैकुण्ठके जाय॥

(चै॰च॰म॰ २४/८०-८१)

भक्तिके दो प्रकार हैं—रागभक्ति और विधिभक्ति। जो रागानुग-भजन करते हैं, उन्हें स्वयंभगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी प्राप्ति होती है और जो विधि-मार्गसे भजन करते हैं, उन्हें वैकुण्ठाधिपति भगवान् श्रीनारायणकी प्राप्ति होती है और वे वैकुण्ठोपयोगी पार्षददेहको प्राप्त करके वैकुण्ठधामको प्राप्त होते हैं॥ ३०॥

अवतरणिका भाष्य—अथ रुचिभक्तेः श्रैष्ठ्यं प्रतिपादयति। विधिवर्त्मनानुवृत्तः श्रेष्ठ उत रुचिवर्त्मनेति संशये विधिपरिष्कारेणाभ्यर्हणाद्विधिवर्त्मनानुवृत्तः श्रेष्ठ इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब उक्त दो प्रकारकी भक्तिमें रुचि भक्तिकी श्रेष्ठता स्थापित करते हैं। उक्त विषयपर संशय यह है कि विधि-पथपर जो भक्त चलते हैं, वे श्रेष्ठ हैं अथवा रुचि-पथपर जो चलते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं, विधिभक्ति ही श्रेष्ठ है—किसलिए? विधिभक्तिके जितने अङ्ग विहित हैं, वे सभी विधिके अनुसार अनुष्ठित होते हैं, अतएव उनके अभ्यर्हितत्व (प्रशंसनीयत्व) होनेके कारण विधि-पथके अनुसारी भक्तोंको ही श्रेष्ठ कहेंगे। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र द्वेधा भक्तिरापादिता। तामाश्रित्य तदधिकारिणोः श्रैष्ठ्याश्रैष्ठ्य प्रतिपाद्ये इत्याश्रयाश्रयिभावसङ्गत्याह—अथ रुचिभक्तेरित्यादि। पूर्वपक्षे रुचिवर्त्मनि प्रवृत्तिमान्थर्यकं फलं सिद्धान्ते तु तदमान्थर्यं तदिति बोध्यम्। अनुवृत्तो भजन्नित्यर्थः। विधीति। विधिभक्तेर्षावस्त्यङ्गानि तानि सर्वाणि विधिनैवानुष्ठीयन्ते अतोऽभ्यर्हिता सेत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणमें दो प्रकारकी भक्तिकी स्थापना की गयी थी, इस भक्तिका आश्रय करके उसके अधिकारी दो भक्तोंमें एकका श्रेष्ठत्व, दूसरेका अनुत्कर्ष प्रतिपादन करना होगा, इस आश्रय-आश्रयी भावरूप सङ्गतिके अनुसार कहते हैं—*'अथ रुचिभक्तेः श्रैष्ठ्यमिति'* (अब इसके बाद रुचि-भक्तिका श्रेष्ठत्व कहते हैं) पूर्वपक्षीकी भक्तिका उद्देश्य रुचि-पथपर प्रवृत्ति मन्थर-भावसे होती है और सिद्धान्त-पक्षमें प्रवृत्तिकी मन्थरता होती नहीं—यही वक्तव्य-ज्ञातव्य है। *'विधि वर्त्मना अनुवृत्तः'* इति। अनुवृत्तः अर्थात् भजनकारी। *'विधिपरिष्कारेणेभिः'*—विधिभक्तिके जितने भी अङ्ग

हैं, वे सभी विधिके अनुसार अनुष्ठित (परिमार्जित) होते हैं; इसीलिए विधिभक्ति श्रेष्ठ है—यह अर्थ है।

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थाधिकरणम्

सूत्र—उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—रुचि-पथपर श्रीहरिका भजन करनेवाले (रागभक्तिमार्गीय) भक्त ही 'उपपन्नः'—श्रेष्ठ हैं? अथवा श्रीपुरुषोत्तममें उपपत्तियुक्त (श्रीपुरुषोत्तमके अनुभवयुक्त) श्रेष्ठत्व अथवा उपपत्तियोग्यत्व किस कारणसे है? वही कहते हैं—*'तल्लक्षणार्थोपलब्धेः'*—माधुर्यगुणसम्पन्न श्रीपुरुषोत्तमका इस प्रकारका भक्तिप्रियता लक्षण है, तादृश गुणसम्पन्न श्रीपुरुषोत्तमको इसी हेतुसे वह भक्त प्राप्त कर लेता है। दृष्टान्त है 'लोकवत्' लौकिक वृत्तान्तके समान, कैसे? जिस प्रकार राजा सर्वाधिक होनेपर भी स्वजनानुवृत्तिप्रिय होता है, उसका एकमात्र हित करनेमें निपुण व्यक्ति ही उस राजाको स्वायत्त अर्थात स्वाधीन करके प्रशंसाभाजन होता है॥ ३१ ॥

सूत्रानुवाद—रुचि-मार्गसे भजन करनेवाला ही श्रेष्ठ है, क्योंकि माधुर्यगुणशाली श्रीभगवान् माधुर्यमयी भक्तिके वशीभूत होकर रहते हैं, जैसे राजाका ऐकान्तिक हितकारी निपुण व्यक्ति उस राजाको सर्वाधिक वशमें करके प्रशंसाका भाजन बनता है॥ ३१ ॥

गोविन्दभाष्य—रुचिवर्त्मना हरिं भजन्नुपपन्नः श्रैष्ठ्यमुपेतस्तस्मिन्नुपपत्तियुक्तो वा। कुतः? तदिति। तत् तादृशस्वभक्तैकरतत्वं लक्षणं यस्य स चासावर्थश्च माधुर्यगुणकः पुरुषोत्तमस्तस्योपलब्धेः स्वाधीनत्वेन लाभादित्यर्थः। दृष्टान्तेन विशदयति लोकेति। लोके यथा सर्वाधिकस्यापि राज्ञः स्वजनानुवृत्तिरसिकस्य कश्चिज्जनस्त-देकहितनिपुणस्तं स्वाधीनं कुर्वन् प्रशस्यते तद्वत्। न च प्रभोः पारतन्त्र्यं दोषः। तादृशस्य स्वीयस्नेहाधीनताया गुणत्वात्। अयं भावः। पुरुषोत्तमः खलु प्रीतिरसिको रुचिभक्तेषु स्वमाधुर्यं प्रकाश्य तदनुरक्तैस्तैः कृतं स्वार्पणं स्वीकुर्वन् तत्प्रीत्या परिक्रीतस्तान् प्रधानीकरोति स्वसमनुभवाय। तमन्यथा तथानुभवितुं न ते प्रभवः; यदाह श्रीमान् शुकः। *"नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह"* इत्यादि। यद्यपि सर्वभक्तसाधारणी तस्य वश्यता तथापि एषु तस्याः पराकाष्ठेति सर्वश्रैष्ठ्यसिद्धिः। तस्माद्रुचिवर्त्मनानुवृत्तः श्रेयानिति॥ ३१ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—रुचि-मार्ग द्वारा जो श्रीहरिका भजन करते हैं, वे ही उपपन्न अर्थात् श्रेष्ठत्वको प्राप्त होते हैं अथवा वे ही श्रीहरिमें उपपत्तियुक्त हैं अर्थात् वे ही स्वाधीन रूपसे श्रीहरिको प्राप्त होते हैं। इसका कारण क्या है? *'तल्लक्षणार्थोपलब्धे'* इति—जो श्रीहरिका निज भक्तवात्सल्यमय-स्वरूप है, वही माधुर्यगुणशाली श्रीपुरुषोत्तमस्वरूप उनके (रुचि-भक्तोंके) द्वारा स्वाधीन रूपसे प्राप्त होता है, इसलिए। इसकी दृष्टान्त द्वारा व्याख्या करते हैं—*'लोकवत्'* जिस प्रकार लौकिक व्यवहारमें देखा जाता है। सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी अनुगत निजजनोंके प्रति अनुवृत्तिप्रवण (अनुकूलता रसिक) राजाका कोई जन, जो उस राजाके एकमात्र हितसाधनमें निपुण है, वह उस राजाको स्वायत्त (स्वाधीन) करके प्रशंसाका भाजन बनता है—यह भी इसी प्रकारसे है। इसमें उस राजाकी भृत्याधीनता दोषकी आपत्ति नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र प्रभुकी निज भृत्यकी स्नेहाधीनता एक गुण है। बात यह है कि श्रीपुरुषोत्तम हरि प्रेमप्रिय अर्थात् प्रीतिरसिक हैं, वे रुचिमार्गीय भक्तोंमें अपने माधुर्यको प्रकट करते हैं। वे एकान्त भक्तगणकृत आत्मसमर्पणको ग्रहण करके, उनके प्रेमके विनिमयमें क्रीत (खरीदे हुए-से) होते हैं और उन भक्तोंको प्रधान (सर्वाधिक सम्मानीय) बना देते हैं, जिससे वे भक्तगण उनकी सम्यक् रूपसे उपलब्धि कर सकें। (भक्तगण उनके माधुर्यकी पराकाष्ठाका अनुभव कर सकें।) यदि वे रुचिभक्तोंको प्रधानता प्रदान न करें, तो ये भक्त उनका सम्यक्रूपेण अनुभव नहीं कर पायेंगे। इस विषयमें श्रीमान् शुकदेव भी इस प्रकारसे कहते हैं—*नायम्* इत्यादि (श्रीमद्भा॰ १०/९/२१)। ये यशोदानन्दन पूर्ण षडैश्वर्यशाली श्रीगोकुलनाथ देहाभिमानी जीवोंके लिए अनायासलभ्य (सहज-प्राप्त) नहीं हैं, यह तो क्या, विधिपूर्वक जो उनकी आराधना करते हैं, ऐसे उन तत्त्वविदोंके लिए भी वे इस प्रकारसे आनन्दप्रद नहीं हैं, देहाभिमान रहित सनकादि आत्मभूत ज्ञानी व्यक्तियोंके लिए भी वे इस प्रकारसे प्रीतिप्रद नहीं हैं, जैसे कि वे रुचिभक्तोंके लिए अनायास-लभ्य हैं इत्यादि श्रीभागवतीय वाक्य प्रमाण हैं। यद्यपि उनकी अधीनता सभी भक्तोंके लिए समान है, तो भी रुचिभक्तों (प्रेमीभक्तों) के लिए उनकी भक्ताधीनताकी पराकाष्ठा है, इसी कारण

रुचिभक्तोंका श्रेष्ठत्व सिद्ध है। अतएव सिद्धान्त यह है कि रुचि-पथपर प्रवृत्त भक्त ही श्रेष्ठ है॥ ३१॥

सूक्ष्मा-टीका—उपपन्न इति। तदभावात् रुचिभक्तिर्न तथेति तन्मान्थर्ये हेतुर्व्यज्यते। तदिति। तादृशस्वभक्तो माधुर्यगुणकपुरुषोत्तमभक्तः। तदेकरतत्त्वं लक्षणं यस्य गोकुलनाथस्य सः। अर्थः परमपुमर्थः। दृष्टान्तेनेति। तं राजानम्। तादृशस्य स्वतन्त्रस्य प्रभोः। तमन्यथेति। अन्यथा प्रधानीकरणाभावे तं स्वं प्रभुं तथा सम्यगनुभवितुं ते रुचिभक्ताः प्रभवः समर्था न भवेयुरित्यर्थः। तेन तस्य प्रीतिरसास्वादो हीयेतेत्याशयः। तादृशस्वभक्तैकरतत्त्वं तस्यैव लक्षणमित्यत्र प्रमाणमाह नायमिति। अयं गोपिकासुतो यशोदात्मजो भगवान् पूर्णषडैश्वर्यः श्रीगोकुलनाथः देहिनां देहाभिमानसहितानां विधिना तमाराधयतां भक्तानां ज्ञानिनां तत्त्वज्ञानामपि तथा सुखापः सुखप्रदो न आत्मभूतानां देहाभिमानरहितानां सनकादीनाञ्च ज्ञानिनां तथा सुखापः न यथेह गोपिकासूते माधुर्यगुणके गोकुलनाथे भक्तिमतां रुचिभक्तानां सुखाप इथ्यर्थः। आदिशब्दात् यत्पादपांशुरित्यादि। *"एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति। सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्म तनयप्राणाशयास्त्वत्कृते"* इत्यादि च। यद्यपीति। तस्य हरेः। एषु रुचिभक्तेषु। तस्या वश्यतायाः॥ ३१॥

सूक्ष्मा-सार— *'उपपन्न'* इत्यादि सूत्रमें। *'तदभावात्'*—श्रेष्ठत्वके अभावमें क्योंकि श्रीभगवान्‌का माधुर्यगुण रुचिभक्तिका हेतु है—रुचि-भक्ति इस प्रकार उत्पन्न नहीं होती, यह सूचित हुआ है। *'तादृशस्वभक्तैकरत्वमिति'* तादृशस्वभक्त-माधुर्यगुणवान पुरुषोत्तमके भक्त हैं। *'तदेकरतत्त्वं लक्षणं यस्येति'* तादृश पुरुषोत्तम-भक्तोंके ऊपर जिनका प्रेम है, जो गोकुलनाथका स्नेह है, वे माधुर्यगुणवान श्रीपुरुषोत्तम हैं, वही माधुर्य रुचिभक्तका परम पुरुषार्थ है। दृष्टान्तको विशद करते हुए कहते हैं कि—*'तं स्वाधीनं कुर्वन् इति तम्'*—उन प्रभुको, राजाको स्वयंके आयत्त करके (स्वाधीन करके) *'तादृशस्य स्वीय स्नेहाधीनताया इति'* में 'तादृशस्य' का अर्थ है—स्वतन्त्र प्रभुका। *'तमन्यथा तथानुभवितुमित्यादि'* में 'अन्यथा' का अर्थ है, यदि प्रधान न किया जाय तो 'तम्'—अपने प्रभुको, तथा—उस प्रकारसे सम्यक् रूपमें, अनुभवितुं—उपलब्धि करनेमें, ते—रुचिभक्तगण समर्थ नहीं होंगे, यह अर्थ है। अभिप्राय यह है कि उसीसे अर्थात् रुचिभक्तगण उनकी उपलब्धि न करें तो उनकी (परमेश्वरकी) प्रीतिका रसास्वाद उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार स्वभक्त

वात्सल्यरूप धर्म एकमात्र उनका ही लक्षण है, इस विषयमें प्रमाण दिखाते हैं—नायमित्यादि; इसका अर्थ है—अयं—ये यशोदातनय, पूर्ण षड्गुणैश्वर्यशाली श्रीगोकुलनाथ, देहिनाम्—जो देहाभिमानी हैं किन्तु विधिपूर्वक उनकी आराधना करते हैं, इन समस्त भक्तोंको एवं ज्ञानिनामपि—तत्त्वविद्गणोंको इस प्रकारसे प्रीतिप्रद नहीं होते, किस प्रकारके ज्ञानियोंको? आत्मभूतानाम्—देहाभिमान-रहित सनकादि तत्त्व विद्गणोंके लिए इस प्रकारसे प्रीतिप्रद नहीं होते, जिस प्रकार इस जगत्में माधुर्यगुणवान यशोदानन्दन गोकुलानाथ रुचिभक्तोंके लिए सुखप्रद होते हैं इत्यादि—यहाँ आदि पदसे ग्राह्य प्रमाण है—*'यत् पाद पांशुरित्यादि'* (श्रीमद्भा॰ १०/१२/१२) इसी प्रकारसे *'एषां घोषनिवासिनामित्यादि'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३५) हे देव! भगवन्। इन समस्त व्रजवासियोंकी कृतार्थताके विषयमें और क्या कहें जिनके पास जिस कारणसे आपने आत्मसमर्पण किया है, इस विषयको लेकर हमारा चित्त विमूढ़ (मोहित) है, इसका कारण यही जान पाया हूँ कि विश्व-सृष्टिकर्त्ता आप अपनी प्राप्तिके अतिरिक्त दूसरे किस फलकी इनके पास प्रत्याशा करते हो, इसलिए इनके पास आत्मसमर्पण किया है अर्थात् हे सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप! आपसे बढ़कर और कोई फल तो है नहीं, आपः उन्हें अपने-आपको देकर भी उऋण नहीं हो सकते। दृष्टान्त यह है कि—सुन्दरी रमणीका वेश धारण करनेवाली पूतना राक्षसीको भी आपने उसके वंश-सहित आत्मगति प्राप्त करा दी, जिस आत्मगतिको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे जिन्होंने गृह, गवादि अर्थ (द्रव्य), सुहृद, स्वामी, देह, पुत्र, प्राण एवं चित्तको आपमें नियोजित कर दिया है, उन व्रजवासियोंके पास उसके विनिमयमें (परिवर्त्तमें) आप और क्या फल प्रदान करेंगे, यही सोचकर मेरा मन मुग्ध हो रहा है। और भी इस प्रकारसे अनेक उक्तियाँ हैं। *'यद्यपि सर्वभक्तसाधारणी तस्य वश्यतेति'* में 'तस्य' अर्थात् उन श्रीहरिका, *'तथाप्येषु तस्याः पराकाष्ठेति'* एषु उरुचिभक्तगणोंकी तस्याः का अर्थ है, उस वश्यताकी चरमसीमा॥ ३१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब रुचिभक्ति श्रेष्ठ है अथवा विधिभक्ति? इस विषयपर संशय उपस्थित होनेपर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि विधिभक्तिको ही श्रेष्ठ कहा जायेगा, क्योंकि वह विधिमार्ग द्वारा परिमार्जित है।

पूर्वपक्षीके इस मतका खण्डन करते हुए रुचिभक्तोंकी सर्वश्रेष्ठताको प्रतिपादन करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि रुचि अर्थात् रागानुग मार्ग द्वारा भजन करनेवाले भक्त ही श्रेष्ठ हैं और स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण इसी मार्गके द्वारा ग्राह्य होते हैं। श्रीभगवान् रागानुग भक्तोंके निकट अधिक वशीभूत हैं। यद्यपि भक्तिमार्गसे ही भगवान् वशीभूत होते हैं, तथापि रागानुगाभक्तिकी ही पराकाष्ठा है।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/९/२०)

ग्वालिनी यशोदाने जगत्के मुक्तिदाता श्रीकृष्णका जिस प्रकार अनुग्रह प्राप्त किया था, उसे पुत्र होनेपर भी ब्रह्मा, आत्मीय होनेपर भी महेश्वर, यहाँ तक कि अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीदेवी भी प्राप्त नहीं कर सके।

तथा

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८२/४४)

सखियो! मेरे प्रति भक्ति उत्पन्न होनेसे ही प्राणिमात्रको अमृतत्त्व प्राप्त हो जाता है। अधिकन्तु यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमलोगोंको मेरा वह स्नेह (परिपक्व प्रेम) भी प्राप्त हो चुका है, जो मेरी प्राप्तिका कारणस्वरूप है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी प्राप्त है—

माता मोरे पुत्र भावे करेन बन्धन।
अति हीन ज्ञाने करे लालन-पालन॥

सखा शुद्ध सख्ये करे स्कन्धे आरोहण।
तुमि कोन बड़ लोक, तुमि आमि सम॥

प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन।
वेदस्तुति हैते हरे सेइ मोर मन॥

(चै॰च॰आ॰ ४/२४-२६)

अर्थात् स्यमन्तपञ्चकमें सूर्यग्रहणके उपलक्ष्यमें द्वारकासे यादवगण एवं व्रजसे सगोष्ठी नन्दमहाराज उपस्थित हुए थे। गोकुलवासिनी व्रजकी गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका सम्मिलन होनेपर श्रीकृष्ण गोपियोंसे कहते हैं—माता मुझे पुत्र समझकर बाँध देती है तथा अत्यन्त अबोध जानकर मेरा लालन-पालन करती है, सखा शुद्ध सख्यभावसे मेरे कन्धोंपर चढ़ जाते हैं और कहते हैं—तुम कौन-से बड़े हो, हम तुम समान हैं। प्रियाजु यदि मानपूर्वक मेरी भर्त्सना करती हैं, तो वह भर्त्सना भी वेदस्तुतिसे अधिक मेरे मनको हरण करनेवाली होती है।

इस सन्दर्भमें श्रील प्रभुपादने अपने 'अनुभाष्य' में लिखा है—

शुद्ध अनुरागके वशवर्त्ती होकर परम-आत्मीय ज्ञानसे आश्रयका विषयके प्रति जो शासन-प्रतिम दुर्वचन है, वह आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक प्रीतिका ही परिचायक है। जिस स्थलपर विषयके प्रति पूज्य एवं गुरु-बुद्धि होती है, वहाँ स्वाभाविकी प्रीतिका शैथिल्य न्यूनाधिक वर्त्तमान रहता है। प्रीतिरहित अज्ञ जनोंके लिए जो विधि एवं निषेध वेदशास्त्रोंमें निर्धारित हुए हैं, उस प्रकारके विधि-बाध्य-जनोचित गौरव वाक्योंके साथ प्रीतिमूलक वाक्योंके तारतम्यके विचारसे उनमें गौरव-पूजाका अभाव रहनेपर भी उनका उत्कर्ष वेदस्तुतिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। कृष्णेतर विषयसे मुक्त शुद्धभक्तका भगवत्ताके साथ घनिष्ठतर सम्बन्ध है। इस प्रकारके सम्बन्धज्ञानसे जिस नित्यवृत्तिका उदय देखा जाता है, वह ऐश्वर्य-प्रधान वैध गौरवकी अपेक्षा सर्वतोभावसे उपादेय है।

और भी देखिये,

एइ सब रसनिर्यास करिब आस्वाद।
एइ द्वारे करिब सब भक्तेरे प्रसाद॥

ब्रजेर निर्मल राग शुनि भक्तगण।
रागमार्गे भजे येन छाड़ि धर्म-कर्म॥

(चै॰च॰आ॰ ४/३२-३३)

अर्थात् इस सभी रसनिर्यासका आस्वादन करके मैं इन लीलाओंके द्वारा समस्त भक्तोंपर अनुग्रह करूँगा, जिससे व्रजके निर्मल रागको सुनकर भक्तवृन्द धर्म-कर्मको छोड़कर रागमार्गसे मेरा भजन करेंगे॥ ३१ ॥

अवतरणिका भाष्य—अथेदमुपासनमेकानेकाङ्गतया द्विविधमिति दर्शयितुमारभते। अथर्वशिरःसु *"ॐ मुनयो ह वै ब्रह्माणमूचुः"* इत्यादिना *"सकलं परमं ब्रह्म"* इत्यन्तेनाष्टादशार्णस्वरूपं निरूप्य पठ्यते। *"एतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवति"* इति। तत्र संशयः—ध्यानादीनि समुदित्य मोक्षसाधनानि प्रत्येकं वेति तान्युक्त्वामृतत्वोक्तेः समुदित्येति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद एकाङ्ग और अनेकाङ्ग भेदसे दो प्रकारकी ब्रह्मोपासनाका दिग्दर्शन करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ करते हैं। अथर्वशिरोनामक उपनिषदमें—*'ॐ मुनयो ह वै ब्रह्माणमूचुः'* कहा गया है। (एक बार) मुनिगणोंने ब्रह्माजीसे उपासनाके प्रकारके विषयमें जिज्ञासा की—तब ब्रह्माजीने *'सकलं परमं ब्रह्म'* इस प्रकारसे अन्त होनेवाले वाक्य द्वारा अष्टदशाक्षर मन्त्रके स्वरूपका निरूपण किया था। इसके बाद पठित है—*'एतद्यो ध्यायति, रसति, भजति, सोऽमृतो भवति'* इत्यादि अर्थात् इस मन्त्रका जो ध्यान करता है, जप करता है, वह मुक्तिका भागी (अधिकारी) होता है। इस विषयमें संशय यह है कि ध्यान, जप, भजन सब मिलकर क्या मुक्ति (मोक्ष) के साधन हैं अथवा प्रत्येक ही अर्थात् एक-एक अङ्ग मुक्तिका साधन हैं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब ध्यायति इत्यादि कहकर पश्चात् अमृतत्व प्राप्तिकी बात कही जा रही है तो सब मिलकर ही अनुष्ठेय हैं—इस उक्तिपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—रुचिविधिपूर्वकं ब्रह्मोपासनं प्रागुक्तम्। तदाश्रित्य तस्यैकाङ्गत्वमनेकाङ्गत्वञ्च निरूप्यमिति प्राग् वत् सङ्गतिः। अथेदमिति। एतदिति। एतदष्टादशार्णस्वरूपं वाचकं ब्रह्म यो ध्यायति आनुपूर्व्येण तदक्षरस्वरूपं चिन्तयति रसति जपति भजति वाच्यभूतं तत् सेवते सोऽमृतो मोक्षी भवति इति मन्त्रतद्देवतयोरैक्यमुक्तम्। समुदित्य सम्भूय मिलित्वेत्यर्थः। तानि ध्यानादीनि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले रुचिपूर्वक और विधिपूर्वक दो प्रकारकी ब्रह्मोपासना बतलायी गयी थी। उसका आश्रय करके यह उपासना एकाङ्ग होगी? अथवा अनेकाङ्ग होगी? यह निरूपणीय है, इसलिए पूर्ववत् आश्रय-आश्रयी भावस्वरूप सङ्गति जाननी चाहिये। अथेतमित्यादि भाष्य—*'एतदित्यादि'*—इस अष्टादशाक्षर मन्त्र-स्वरूप शब्दब्रह्मका जो ध्यान करता है अर्थात् पूर्वापर अक्षर क्रमको बनाये

रख उस मन्त्रस्वरूपका चिन्तन करता है, रसति—इस मन्त्रका जप करता है, भजति—इस मन्त्रके अभिधेय ब्रह्मकी जो सेवा करता है, वह अमृतः—मोक्षाधिकारी होता है, इसमें मन्त्र और अभिधेय देवताका ऐक्य कहा गया है। *ध्यानादीनि समुदिता मोक्षसाधनानि इति* में—समुदिताका अर्थ है—मिलित होकर, समुच्चित रूपसे (समस्तका संयोग करके) *'तान्युक्त्वामृतत्वस्योक्तेः'*—इति में 'तानि' का अर्थ है ध्यानादि।

अनियमाधिकरणम्

सूत्र—अनियमः सर्वेषामविरोधाच्छब्दानुमानाभ्याम्॥ ३२॥

सूत्रार्थ—'सर्वेषाम्' ध्यान, जप, भजन—ये सभी मुक्तिके साधन होंगे, 'अनियमः' ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु प्रत्येक ही मुक्तिका साधन है, किस कारणसे? 'शब्दानुमानाभ्यामविरोधात्' श्रुति-वाक्य और स्मृति-वाक्योंके साथ इस 'यो ध्यायतीत्यादि' श्रुति-वाक्यका कोई विरोध नहीं है॥ ३२॥

सूत्रानुवाद—ध्यानादि सभीके अनुष्ठानसे मुक्तिका अधिकारी हुआ जा सकता है—ऐसा कोई नियम नहीं है, बल्कि प्रत्येक ही पृथक् रूपसे मुक्तिका साधन है, इसमें अन्यान्य श्रुति-स्मृति वाक्योंका भी कोई विरोध नहीं है॥ ३२॥

गोविन्दभाष्य—ध्यानादीनां सर्वेषां समुदितानां मुक्तिसाधनतेति न नियमः किन्तु प्रत्येकं तत्साधनतेति। कुतः? शब्दानुमानाभ्यां सह, तस्याः श्रुतेरविरोधात्। चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः। (गो॰ता॰पू॰ १३) *"पञ्चपदं पञ्चाङ्गं जपन् द्यावाभूमी सूर्याचन्द्रमसौ साग्नि"* इति *"तद्रूपतया ब्रह्म संपद्यत"* (गो॰ता॰पू॰ १३) इत्यादि श्रुत्या *"कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्।" "एकोऽपि कृष्णाय कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय"* इत्यादिस्मृत्या च *"साकमेतद् यो ध्यायति"* इत्यादिश्रुतेर्विरोधाभावात्। इतरथा प्रतिभक्तिमुक्तिविबोधिकाभ्यां ताभ्यां सहासौ विरुध्येत। इत्थञ्च सोऽमृतो भवतीत्यस्य ध्यायतीत्यादिषु प्रत्येकं सम्बन्धः। समुदितानां तथात्वे तु कैमुत्यं व्यक्तम्। उपलक्षणमदः श्रवणादीनां नवानाञ्च। ननु ध्यानोत्तरैव मुक्तिः श्रूयते। *"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"* इत्यादिषु। कथमत्र जपाद्युत्तरा साभ्युपगतेति चेदुच्यते। जपादिकं ध्यानञ्च मिथोऽनुस्यूतम्। जपादौ ध्यानं ध्याने च जपादीति प्रागुक्तं सुस्थिरम्॥ ३२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ध्यान, जप, सेवा—ये तीनों ही मिलित रूपसे मुक्तिके साधन होंगे—ऐसा कोई भी नियम नहीं है, किन्तु प्रत्येक ही मुक्तिका साधन है। कारण क्या है? शब्द अर्थात् श्रुति-वाक्य और अनुमान-स्मृति-वाक्योंके साथ इस श्रुति (*एतद्यो ध्यायति, रसति, भजति, सोऽमृतो भवति*) का कोई विरोध नहीं है। श्रुति-वाक्य है, यथा—*'चिन्त्यश्चेतसा कृष्णम्'* इत्यादि मन-ही-मन श्रीकृष्णका ध्यान करनेपर संसार-बन्धनसे मुक्ति हो जाती है। पृथ्वी, अन्तरीक्ष, सूर्य, चन्द्र और अग्नि—इन पाँच अङ्गोंसे समन्वित अष्टादशाक्षरात्मक (*क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा*) मन्त्रका जप करनेपर पृथ्वी आदि स्वरूपमें ब्रह्म-सम्पत्ति प्राप्त होती है इत्यादि श्रुतिके साथ और *'कीर्त्तनादेव कृष्णस्य ... न पुनर्भवाय'* अर्थात् श्रीकृष्णका नाम उच्चारण करनेमात्रसे ही संसार-बन्धनसे मुक्ति हो जाती है और परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। यदि श्रीकृष्णके उद्देश्यसे मात्र एक बार भी प्रणाम किया जाय, तो उसकी तुलना दश अश्वमेध यज्ञाभिषेकसे भी नहीं हो सकती, क्योंकि दशाश्वमेध यज्ञानुष्ठायी पुनः जन्म-ग्रहण कर सकता है, किन्तु कृष्णको प्रणाम करनेवालेको फिरसे जन्म नहीं लेना पड़ता इत्यादि स्मृति-वाक्यके साथ *'एतद् यो ध्यायति'* इत्यादि श्रुतिका कोई विरोध नहीं है। यह (अविरोध) स्वीकार न करनेपर अर्थात् समुच्चित रूपसे अनुष्ठेय कहनेपर भक्तिबोधिका एवं मुक्तिबोधिका प्रत्येक श्रुतिके साथ इस श्रुतिका विरोध घटेगा। ऐसा होनेपर अर्थात् ध्यानादि प्रत्येक ही अमृतत्व-प्राप्तिका कारण है। अतएव *'यो ध्यायति'* इत्यादि श्रुति-वाक्यके 'ध्यायति' इत्यादि प्रत्येक पदके साथ ही 'अमृतो भवति' इस अंशका अन्वय करना चाहिये, यथा—*'यो ध्यायति सोऽमृतो भवति, यो रसति स चामृतो भवति, यो भजति सचामृतो भवति।'* ध्यानादि सभी अमृतत्वके साधन हैं—इसमें और कहनेके लिए क्या है? यह स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है। *'समुदितानां तथात्वे'* इति अर्थात् समुदितानां ध्यानादीनाम्—सम्मिलित अथवा समुच्चित ध्यान, जप, सेवा जो अमृतत्व प्रदान करेंगे, उसमें तो और कहना ही क्या है? यह श्रवणादि नवविधा भक्तिका भी उपलक्षण अर्थात् संग्राहक है। उपलक्षण शब्दका अर्थ है—स्वयंका

बोध कराके दूसरेका भी बोधक अर्थात बोध कराना। अब आपत्ति यह है कि श्रुतिमें ध्यानसे ही मुक्ति सुनी जाती है, यथा—*आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः* इत्यादि। तब यहाँ कैसे जप और सेवाके बाद मुक्ति स्वीकृत हुई है? यह यदि कहते हो, तो हमारा उत्तर है—जप, सेवादि और ध्यान परस्पर अनुस्यूत अर्थात् सम्बन्धयुक्त हैं, यथा जपादिसे ध्यान, पुनः ध्यान होनेपर जपादि। यह पहले भी कहा गया था—यह सिद्धान्त स्थिर है॥ ३२॥

सूक्ष्मा-टीका—अनियम इति। नियमाभाव इत्यर्थः। पञ्चपदमष्टादशार्णम्। तद्रूपतया द्यावाभूम्यादिकारणतया प्रसिद्धं यत् परं ब्रह्मेत्यर्थः। ताभ्यामुक्ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्याम्। असावेतद् यो ध्यायतीत्याद्या श्रुतिः। इत्थञ्चेति यो ध्यायति स च यो रसति स च यो भजति स चामृतो भवतीति सम्बद्ध इत्यर्थः। समुदितानां ध्यानादीनाम्। तथात्वे मोक्ष साधनत्वे। उपलक्षणमिति। स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वमुपलक्षणत्वम्। अद एतद् यो ध्यायतीत्यादि वाक्यम्। श्रवणादीनामिति। *"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्"* (श्रीमद्भा० ७/५/२३-२४) इति प्रह्लादोक्तानामित्यर्थः। एतद् यो ध्यायतीत्यत्रानुक्तानामित्यर्थः। चकारान्नृत्यगीतादीनाञ्चेति बोध्यम्। नन्विति। सा मुक्तिः॥ ३२॥

सूक्ष्मा-सार—*'अनियमः'* इत्यादि सूत्रमें 'अनियमः' शब्दका अर्थ है, नियमका अभाव अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यताका अभाव। *'पञ्चपदं पञ्चागमित्यादि'* जिसमें पाँच पद हैं, ऐसा अष्टादशवर्णात्मक मन्त्र। *'तद्रूपतया ब्रह्म सम्पद्यते'* इति में तद्रूपतया—अन्तरीक्ष-पृथ्वी आदि कारण रूपमें प्रसिद्ध जो परब्रह्म हैं, वही। *'प्रतिभक्तिभुक्तिविरोधिकाभ्यां ताभ्यामिति'* में 'ताभ्याम्' का अर्थ है—इस कथित श्रुति एवं स्मृति वाक्यके साथ असौ विरुध्येत इति में 'असौ'—*'एतद्यो ध्यायति'*—इत्यादि श्रुति, *'इत्थञ्च सोऽमृतो भवतीत्यस्येति'*—इस प्रकार होनेपर *'सोऽमृतो भवति'*—इस वाक्यका ध्यायति इत्यादि पदमें प्रत्येकके साथ अन्वय ज्ञातव्य है अर्थात् *'यो ध्यायति स च, यो रसति स च, यो भजति स च, अमृतो भवति'*—इस प्रकार अन्वय करना चाहिये। *समुदितानाम्*—सम्मिलित ध्यान, जप, भजनके, तथात्वे-मुक्ति साधनताके विषयमें। *'उपलक्षणपदः'*—उपलक्षण शब्दका अर्थ है—स्वयंका प्रतिपादन

करके स्वसे भिन्नका प्रतिपादन करना। 'अदः'—यह अर्थात् एतद्यो ध्यायतीत्यादि वाक्य। श्रवणादीनां नवानाञ्चेति—श्रवणादि नौका यथा श्रीविष्णुका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह नौ प्रकारकी भक्ति यदि श्रीविष्णुमें की जाती है तो ऐसा होनेसे मानता हूँ—यही उत्तम अध्ययन है—यह प्रह्लादोक्त नौ प्रकारकी भक्ति इस *'एतद्यो ध्यायति'* इत्यादि श्रुतिमें अनूक्त है, उसका उपलक्षण है। नवानाञ्च इति—'चकार' में भगवत्-उद्देश्यसे नृत्य-गीतादिका भी उपलक्षण जानना चाहिये। *'ननु ध्यानोत्तरैव जपाद्युत्तरा साभ्युपगतेति'* में 'सा' का अर्थ है—'मुक्ति'॥ ३२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रीभगवान्‌की उपासना क्या एकाङ्ग है? अथवा अनेकाङ्ग? इसीका इस अधिकरणमें विचार किया जा रहा है।

अथर्वोपनिषदमें कहा गया है कि जो अष्टादशाक्षर-स्वरूप परब्रह्मका ध्यान, जप और भजन करेंगे, उन्हें ही मुक्ति प्राप्त होगी। इस स्थलपर संशय हो सकता है कि ध्यान, जप और भजन—इन सभीका अनुष्ठान करनेपर मुक्ति होगी? अथवा किसी एकका अनुष्ठान करनेसे मुक्ति होगी? पूर्वपक्षी मानते हैं कि श्रुति जब सबका निर्देश करके बादमें मोक्षकी बात कह रही है, तो ध्यानादि सभीके अनुष्ठानसे मोक्ष ही होगा—यही स्थिर सिद्धान्त है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि ध्यानादि सबका अनुष्ठान करेंगे, तभी मुक्ति होगी—ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रत्येक साधनको पृथक् रूपसे करनेपर भी मुक्ति प्राप्ति सम्भव है। इस विषयमें अन्यान्य श्रुति एवं स्मृतिमें जो विधान देखा जाता है, उसके साथ पूर्वोक्त श्रुतिका भी कोई विरोध नहीं है। अन्यान्य श्रुतियोंके एवं स्मृतियोंके सिद्धान्तमें पाया जाता है कि ध्यानादि साधनोंमेंसे किसी एक साधनके करनेपर जब अमृतत्व प्राप्त हो सकता है, तब सभी साधनोंको करनेपर मुक्ति प्राप्त होगी, उसमें सन्देह ही क्या है? भाष्यमें इस विषयकी विस्तारपूर्वक आलोचना की गयी है।

आचार्य श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

सभीकी अर्थात् सभी ब्रह्मोपासकोंकी जब ब्रह्मलोकमें ही अवश्य गति है, तब केवल उपकोसल आदि उपासनानिष्ठों (उपासकों) की

इसी प्रकारकी गति होती हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। विशेषतः सभीके लिए इसी पथपर गति निश्चित होनेपर श्रुति एवं स्मृति शास्त्रके साथ अविरोध होता है, अन्यथा विरोध उपस्थित हो पड़ता है।

श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर *'पञ्चपद पञ्चाङ्ग जपन्'* की व्याख्यामें कहते है कि जो द्यावा (द्युलोक) एवं भूमि (भूर्लोक) हैं अर्थात् ऊर्ध्व-अधः प्रदेश ब्रह्म इन समस्तके आश्रयस्वरूप हैं, और जो अग्निके साथ सूर्य-चन्द्रमा सर्वप्रकाशक हैं, ब्रह्म उनके भी प्रकाशक हैं। अतः परबह्म श्रीकृष्णका सर्वाधिष्ठातृ देवताके रूपमें चिन्तन करना चाहिये। श्रीठाकुरने पञ्चपदी एवं पञ्चाङ्गका सम्बन्ध इस प्रकार बताया है—

द्यावा (द्युलोक)	ब्रह्मसे अभिन्न नामरूपका आश्रय	क्लीं कृष्णाय
भूर्लोक	प्रकाशमान कार्यरूप विभूति	गोविन्दाय
सूर्य	सर्वाधिक उद्दीप्त भाव	गोपीजन
चन्द्र	अपनी कान्तिसे सर्वहलादकत्व	वल्लभाय
अग्नि	समर्पण	स्वाहा

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

मर्त्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२९/३४)

मनुष्य जब समस्त कर्मोंको परित्याग करके मुझमें आत्मसमर्पण करता है, उस समय मेरी इच्छासे वह भक्तियोगी ज्ञानीकी अपेक्षा अधिक ज्ञानसम्पन्न हो जाता है। वह मेरी विशेष कृपाका पात्र हो जाता है। तदनन्तर अमृतत्व प्राप्तकर मेरे सहित समान ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/५/२३-२४)

श्रीप्रह्लादजीने कहा—भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और परिकरोंकी लीलादिका श्रवण, उनका कीर्त्तन, उनका स्मरण करना, उनके ही चरणकमलोंकी सेवा-परिचर्या करना, षोडशोपचारके द्वारा उनका अर्चन करना, उनका दास बन जाना, उनके साथ सख्यभाव स्थापित करना और उनके चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पण कर देना—ये भक्तिकी नौ विधियाँ हैं। जो मनुष्य भगवान् विष्णुमें अपने चित्तको समर्पण करके इस नवविधा भक्तिका साक्षात् अनुष्ठान करता है, मेरे विचारसे उसने ही उत्तम शिक्षा प्राप्त की है।

श्रवणं कीर्तनञ्चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/११/११)

महत् जनोंके आश्रय-भगवान्के गुण और लीलाओंका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, उनकी सेवा, और पूजा उन्हें नमस्कार, दास्य, सख्य, आत्मसमर्पण (करे)।

पद्यावली (५३) में भी भक्तिरसामृतसिन्धुका निम्न श्लोक उद्धृत है—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने।
प्रह्लादः स्मरणे तदंघ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः।
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/२६५)

अर्थात् राजा परीक्षित् श्रीविष्णुकी कथा श्रवणसे, शुकदेव उनके कीर्त्तनसे, प्रह्लाद उनके स्मरणसे, लक्ष्मी पादसेवनसे, पृथु महाराज उनके पूजनसे, अक्रूर वन्दनासे, कपिपति हनुमान दास्यसे, अर्जुन उनके साथ सखाभावसे एवं बलि उनके चरणोंमें सर्वस्व दान और आत्मनिवेदन द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए हैं।

सर्वाङ्गानुशीलनका दृष्टान्त इस प्रकार है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामञ्च दास्ये नतु कामकाम्यया
यथोत्तमःश्लोकजनाश्रया रतिः॥

(श्रीमद्भा० ९/४/१८-२०)

महाराज अम्बरीषने अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें, वाणीको भगवान्के गुण-कीर्त्तनमें, हाथोंको श्रीहरिके मन्दिर-मार्जन आदि सेवाओंमें और कानोंको भगवान् अच्युतकी मङ्गल करनेवाली सत्यकथाओंके श्रवणमें लगा रखा था। उन्होंने अपने नेत्रोंको भगवान् मुकुन्दकी मूर्त्ति एवं मन्दिरोंके दर्शनमें, अपनी स्पर्श-इन्द्रियको भगवत्-भक्तोंके शरीर-स्पर्शमें, नासिकाको भगवान् श्रीहरिके चरणोंमें अर्पित तुलसीको सूँघनेमें और रसनाको भगवान्को निवेदित प्रसादको आस्वादन करनेकी सेवामें नियुक्त कर रखा था। महाराज अम्बरीषके पैर मथुरा आदि विष्णु-स्थलोंकी पैदल यात्रामें लगे रहते थे। मस्तकको उन्होंने भगवान् श्रीहरिके चरणोंकी वन्दनामें और कामनाओंको भगवान्की दास्य प्राप्तिमें लगाये रखा था। विषय-भोगोंके प्रति उनकी तनिक भी रुचि नहीं थी। परीक्षित्! उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियोंको भगवत्-भक्तिपूर्ण कार्योंमें लगाया था। उत्तमश्लोक भगवान्के प्रेमीभक्तोंमें उनकी निष्काम प्रीति थी॥ ३२॥

अवतरणिका भाष्य—ननु ब्रह्मविद्यायां सत्यां विमुक्तिरित्य युक्तम्। सिद्धविद्यानामपि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादीनां चिरं प्रपञ्चावस्थितिभगवत्प्रातिकूल्यादिदर्शनादिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होनेपर मुक्ति होती है, यह कहना अयौक्तिक (युक्तिहीन) है क्योंकि ब्रह्मविद्यामें सिद्ध ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि देवताओंका प्रपञ्चमें चिरकाल अवस्थान और श्रीभगवान्‌के प्रति प्रतिकूलाचरण दिखायी देता है। मुक्ति होनेपर यह सब कैसे होगा? यह यदि कहते हो तो श्रीमन् वेदव्यास कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—आशङ्क्य परिहरति नन्वित्यादिना।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—सूत्रकार 'ननु' इत्यादि वाक्य द्वारा आशङ्का करके उसका परिहार करते हैं—

सूत्र—यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्॥ ३३॥

सूत्रार्थ—'आधिकारिकाणाम्' अधिकारमें नियुक्त ब्रह्मा इत्यादि पुरुषोंका 'यावदधिकारम्' जब तक अधिकार है, तब तक 'अवस्थितिः' उनकी प्रपञ्चमें अवस्थिति रहेगी॥ ३३॥

सूत्रानुवाद—भगवान् द्वारा नियुक्त ब्रह्मादि पुरुषोंका जब तक अधिकार है, तब तक ब्रह्मविद्या सम्पन्न होनेपर भी वे प्रपञ्चमें कार्यरत रहेंगे॥ ३३॥

गोविन्दभाष्य—न खलु सर्वेषां ब्रह्मविदां विद्यासिद्धौ सत्यां विमुक्तिरित्यस्माभिरुच्यते। किन्तु येषां सञ्चितस्य कर्मणोविद्यया विनाशः, क्रियमाणस्य तया विश्लेषः, शरीरारम्भकस्य तु तस्य भोगेन संक्षयस्तेषामेव तस्यां सेति। ब्रह्मादीनां त्वाधिकारिकाणां विनष्टविश्लिष्टसञ्चितक्रियमाणकर्मणामप्यधिकारारम्भकं कर्म यावदधिकारं न क्षीयतेऽतस्तेषां तावत् प्रपञ्चेऽवस्थितिर्भवेत्। तदारम्भकस्य तस्य समाप्तौ तु ते विमुच्य परं पदं विशन्तीति। इदन्तु बोध्यम्। अचिराधिकारा मघवादयोऽधिकारान्ते चिराधिकारं ब्रह्माणं गच्छन्ति। तदधिकारान्ते तस्मिन् विमुक्ते तेन सह विमुच्यन्त इति। वक्ष्यति चैवम्—*"कार्यात्यये तदध्यक्षेण"* इत्यादिना। भगवति तेषां प्रातिकूल्यं तु तल्लीलापोषात्तदिच्छानुगुणमेवेत्यदोषः। विषयावेशोऽप्येषामाभासरूप एव विद्यानिष्ठत्वात्। तस्मादधिकारिभिन्नानां तत्त्वविदां विद्याधिगमे विमुक्तिरिति न कापि क्षतिः॥ ३३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सारे ही ब्रह्मविदोंकी ब्रह्मविद्या सिद्ध होनेपर मुक्ति होती है, ऐसा तो हम नहीं कह रहे हैं, किन्तु जिन ब्रह्मविदोंका ब्रह्मविद्याके द्वारा सञ्चित कर्मका नाश हुआ है एवं इसी ब्रह्मविद्याके बलसे क्रियमाण कर्मका विश्लेष (वियोग) अर्थात् असम्पर्क और इसीसे शरीरारम्भक कर्मका भोगके द्वारा क्षय हो गया है, उनकी ही ब्रह्मविद्यासे मुक्ति होगी। ब्रह्मादि अधिकारमें (सृष्टि इत्यादि कार्यमें) नियुक्त पुरुषोंके यद्यपि सञ्चित कर्म विनष्ट हो गये हैं तथा क्रियमाण कर्मके संश्लेषका अभाव भी हो गया है तो भी उनके अधिकारारम्भक कर्म अधिकार-पर्यन्त अपेक्षा रखनेके कारण क्षय नहीं हुए हैं, इसलिए अधिकारावधि तक उनका प्रपञ्चमें अवस्थान रहेगा ही। जब उनके इन अधिकारारम्भक कर्मका क्षय (भोग द्वारा) होगा, तब वे मुक्त होकर ब्रह्मपदमें प्रविष्ट होंगे। इस विषयमें चिन्तनीय यह है कि अचिर अधिकार प्राप्त इन्द्र इत्यादि अधिकार समाप्त होनेपर स्थायी अधिकार सम्पन्न ब्रह्माको प्राप्त होंगे। ब्रह्मात्व-प्राप्तिके आरम्भक कर्मका क्षय होनेपर, अधिकारके अवसान (समाप्ति) पर ब्रह्मा भी विमुक्त होंगे अर्थात् कर्मसे निर्मुक्त होंगे, तब ब्रह्माके साथ ये भी मुक्त हो जायेंगे। इसी बातको *'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्'* (ब्र॰सू॰ ४/३/१०) में और भी स्पष्ट किया जायेगा। कार्य अर्थात् अधिकार समाप्त होनेपर उसके अध्यक्षके साथ अधिकारसे मुक्ति होती है। ब्रह्मादिकी श्रीभगवान्में प्रतिपक्षता (प्रतिकूल भावमय) दोषमय आचरण नहीं है, वह तो उनकी लीलाकी पुष्टिका साधक है। यह प्रतिकूलता भगवान्की इच्छानुसार होती है। इसलिए दोषावह नहीं है। उनका विषयावेश भी वास्तव नहीं है, आभासरूप है, क्योंकि वे सब विद्यानिष्ठ होते हैं। अतएव सिद्धान्त यह है कि अधिकारमें नियुक्त पुरुषोंसे अतिरिक्त जो तत्त्वविद्‌गण हैं, उनकी ब्रह्मविद्या सिद्ध होनेपर मुक्ति होगी। इस प्रकारसे माननेपर फिर कोई भी अनुपपत्ति (क्षति) नहीं है॥ ३३॥

सूक्ष्मा-टीका—यावदिति। यावानधिकारो यावदधिकारम्। यावदवधारणे इति सूत्रात् समासः। तावत्पदं वृत्तावन्तर्भूतमित्युक्तम्। इहाधिकारशब्देनाधिकारारम्भक-कर्मसमापकः कालो लक्ष्यते। आधिकारिकाणामधिकारे नियुक्तानाम्। तत्र नियुक्त

इति सूत्रेण ठक् प्रत्ययः। तया विद्यया। तस्यां विद्यायां सत्याम्। सा मुक्तिः। समाप्ताविति। भोगेन क्षये सतीत्यर्थः। विमुच्य मुक्तो भूत्वा। तदधिकारान्ते ब्रह्मत्वारम्भककर्मक्षये सति। तस्मिन् ब्रह्मणि। भगवति तेषामिति। वत्सादिहरणेन वाणयुद्धेनाभिवर्षणेन च तत्तत्कृतेन मे तत्तल्लीला सिद्ध्येदिति तदिच्छावशैरेव तैस्तत्तद्विहितमिति न प्रातिकूल्याचारस्त्वेष्वविज्ञतां प्रसञ्जयतीत्यर्थः। तथापि तदाचारे निमित्ततां स्मरतां तेषां तन्मन्तुः क्षमार्थास्तुतिर्दासधर्मत्वादुपजातेति बोध्यम्॥ ३३॥

सूक्ष्मा-सार— *'यावदधिकारमित्यादि'* सूत्रमें *'यावदधिकारम्'* जिस काल पर्यन्त अधिकार है— *'यावदवधारणे'* इस पाणिनीय (२/१/८) (अवधारण अर्थमें वर्त्तमान 'यावत्' अव्यय समर्थ सुबन्तके साथ समासको प्राप्त हो तो वह समास अव्ययीभाव संज्ञक होता है) सूत्रके अनुसार 'यावत्' शब्दके साथ अव्ययीभाव समास है। *'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः'* यत् शब्द रहनेपर ही 'तत्' शब्द प्रयोज्य है, इस नियमकी हानि यहाँ नहीं है क्योंकि विग्रह-वाक्यमें ही यह अन्तर्भूत है अर्थात् *'यावान् अधिकारः तावती अवस्थितिः'* इस विग्रह-वाक्यमें तावत्—शब्द अन्तर्भूत है, यह कहा गया है। *'यावदधिकरम्'*—इस पदके अन्तर्गत अधिकार शब्दके द्वारा अधिकारजनक कर्मका समाप्तिकाल लक्षित हुआ है। *'अधिकारिकाणाम्'*—अर्थात् अधिकारमें जो नियुक्त है, उनका *'तत्र नियुक्तः'*—इस सूत्रके अनुसार अधिकार शब्दके उत्तरमें उक्तार्थमें ठक् प्रत्यय है। *'क्रियमाणस्य तया विश्लेषः'* इति तया—अर्थात् उस ब्रह्मविद्या द्वारा। *'तेषामेव तस्यां सेति'* में 'तस्याम्' का अर्थ है—ब्रह्मविद्या होनेपर। 'सा' वह मुक्ति होती है। *'तदारम्भकस्य तस्य समाप्तौ तु'* इति में 'समाप्तौ' अर्थात् भोग द्वारा क्षय होनेपर। 'विमुच्य'—मुक्त होकर। *'तदधिकारान्ते तस्मिन् विमुक्ते'* इति में 'तस्मिन्' का अर्थ है—ब्रह्माके विमुक्त होनेपर। *'भगवति तेषां प्रातिकूल्यञ्तु'* इति—भगवान् श्रीकृष्णके प्रति उनका प्रतिकूलाचरण—जिस प्रकार ब्रह्माका वत्स-हरण, रुद्रका बाणके पक्षमें श्रीभगवान्के साथ युद्ध, इन्द्रका एक सप्ताह पर्यन्त वर्षण, 'उन-उन देवताओं द्वारा कृत इन समस्त कर्मों द्वारा मेरी लीला सिद्ध होगी,' इस भगवदिच्छाके वश उन्होंने (देवताओंने) वे सब वत्सहरणादि कार्य किये हैं—इसलिए ये समस्त प्रातिकूल्याचरण देवताओंकी मूर्खताके आपादक (उपयोगमें लाये जानेवाले प्रसङ्ग) नहीं

हैं। ऐसा होनेपर भी वे सब देवतागण उन समस्त आचरणमें स्वयंको निमित्त मानकर मननकर्त्ता उन श्रीहरिके निकट क्षमापणके लिए उनकी स्तुति करते हैं—इसे दास्य-धर्मके अनुसार सङ्गत जानना चाहिये॥ ३३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि ब्रह्मविद्या होनेपर ही मुक्ति होगी, यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मानी जा सकती, क्योंकि सिद्धविद्य ब्रह्मा-रुद्रादिको भी चिरकाल तक प्रपञ्चमें अवस्थान करते देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, उनके आचरणमें भी श्रीभगवान्के प्रति प्रतिकूलता भी दिखायी देती है।

इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि आधिकारिक देवतागणोंको अधिकार काल पर्यन्त प्रपञ्चमें अवस्थान करना ही होगा।

इस वर्णनके द्वारा यह सिद्धान्तित होता है कि ब्रह्मविद्या होनेपर सबकी मुक्ति होगी—यह सब नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होनेपर जिसके फलस्वरूप सञ्चित कर्मोंका नाश हो जाता है, क्रियमाण कर्मोंके साथ विश्लेष हो जाता है और भोगोंके द्वारा शरीरारम्भक कर्मोंका क्षय हो जाता है, उनकी ही ब्रह्मविद्या प्राप्तिके बाद मुक्ति होती है, अन्यथा अधिकार पर्यन्त अपेक्षा करनी होती है। ब्रह्मादि आधिकारिकगणोंकी भी यही अपेक्षा रहती है। उनकी भी इस सबकी परिसमाप्तिपर मुक्ति होगी एवं परमपदकी प्राप्ति होगी। ब्रह्मा-रुद्रादिका प्रतिकूलाचरण भी परमेश्वरकी लीला-पुष्टिके निमित्त ईश्वरेच्छासे संघटित होता है। उनका विषयावेश भी उनकी विद्यानिष्ठाके कारण आभास रूप है, वास्तव नहीं—यह जानना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥

(श्रीमद्भा० २/६/३२)

हरिकी आज्ञासे ही नियुक्त होकर मैं संसारका सृजन करता हूँ। उनके ही अधीन होकर शिव इस विश्वका संहार करते हैं।

त्रिगुणमायाशक्तिधर (अन्तरङ्गा चित्-शक्ति, बहिरङ्गा [मायाशक्ति] एवं तटस्था जीवशक्तिको धारण करनेवाले) श्रीहरि विष्णुरूपमें विश्वका पालन करते हैं।

स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत्
क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे।
भ्रूभङ्गमात्रेण हि संदिधक्षोः
कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति॥

अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः
प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
मूर्ध्न्यर्पितं लोकहितं वहामः॥

(श्रीमद्भा॰ ९/४/५३-५४)

ब्रह्माजीने कहा—जब मेरी दो परार्धकी आयु समाप्त होगी और कालस्वरूप भगवान् अपनी यह सृष्टिलीला समेटने लगेंगे और इस जगत्‌को जलाना चाहेंगे, उस समय उनके भ्रूभङ्ग मात्रसे यह सारा संसार और मेरा यह लोक भी लीन हो जायेगा। मैं, शङ्करजी, दक्ष आदि प्रजापति, भृगु आदि ऋषि, भूतनाथ, श्रेष्ठ देवगण सब उनके ही अधीन हैं। उनके आदेशका पालन करते हुए ही हम सब इस संसारका हित करते हैं। उनके भक्तसे द्रोह करनेवालेको बचानेमें हम समर्थ नहीं हैं॥ ३३॥

अवतरणिका भाष्य—अथास्थौल्यादिधर्मानुपसंहर्त्तुमारभते। *"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्"* इत्यादि श्रूयते। (बृ॰आ॰ ३/८/८) *"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रम्"* (मु॰ १/१/५-६) इत्यादि च। इह भवति वीक्षा। अक्षरशब्दितपरब्रह्मविषयाः स्थौल्यादि-प्रतिषेधबुद्धयः सर्वासूपासनासु नेया न वेति। समान एवञ्चाभेदादित्यत्र विग्रहात्मकब्रह्मोपासनाया निरूपणात्तादृशे ब्रह्मण्येतासामसम्भवान्नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद ब्रह्मके अस्थौल्य अनणुत्व इत्यादि धर्मोंके उपसंहारके लिए (ग्रहणके लिए) इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है। श्रुतिमें सुना जाता है *'एतद् वै*

तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादि (बृ॰आ॰ ३/८/८) में महर्षि याज्ञवल्क्य गार्गीको सम्बोधन करते हुए कहते हैं—अयि गार्गि! ये ही वे प्रसिद्ध अक्षर ब्रह्म हैं, जिन्हें वेदविद्गण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व कहते हैं। और भी श्रुति है—*'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं इत्यादि'* अर्थात् यह वही पराविद्या है, जिसके द्वारा अदृश्य, इन्द्रिय-अग्राह्य, गोत्र-रहित, वर्ण-रहित, चक्षु-रहित, कर्ण-रहित ब्रह्म-पदार्थको अधिगत किया जा सकता है। इस श्रौत विषयमें समीक्षा यह है कि अक्षर-शब्दके द्वारा बोधित परब्रह्मका अवलम्बन करके जिन स्थौल्य इत्यादि धर्मोंका निषेध किया गया है, यह (निषेधकरूपी) ज्ञानसमूह अर्थात् अक्षर शब्द कथित परब्रह्मा स्थूलतादि निषेधक बुद्धि सभी उपासनाओंमें ग्रहण (उपसंहार) करनी चाहिये? कि नहीं? इस संशयका समाधान करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं, नहीं, *'समान एवञ्चाभेदात्'* (वे॰सू॰ ३/३/२०) सूत्रसे विग्रहात्मक ब्रह्मोपासनाके निरूपणके कारण उन विग्रहमय परमात्मामें अस्थूलत्व, अनणुत्व इत्यादिकी असम्भावनाके कारण समस्त उपासनाओंमें यह समस्त धर्म ध्येय नहीं है—इस समाधानका खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्रोपसंहृतानन्दसौन्दर्यसार्वज्ञयसार्वैश्वर्यादि-गुणकेनैकाङ्केनानेकाङ्केन चोपासनेन मोक्षार्थिभिर्मूर्त्तं ब्रह्मोपास्यमित्युक्तम्। अस्तु तस्मिन् मूर्त्तब्रह्मोपासने तेषामानन्दादिगुणानामुपसंहारः सम्भवात् मास्तु अस्थौल्यादीनां तत्र तेषामसम्भवादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह अथास्थौल्यादिति। तादृशे विग्रहात्मके। एतासां बुद्धीनाम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले अधिकरणमें कहा गया था कि मुक्ति-कामी आनन्द, सौन्दर्य, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्व गुण-समन्वित विग्रहात्मक ब्रह्मकी एकाङ्क उपासना और अनेकाङ्क उपासना करे, अच्छी बात है, ऐसा ही हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि मूर्त्त ब्रह्मकी उपासनामें ब्रह्मके उन समस्त आनन्दादि गुणोंका ग्रहण सम्भव है किन्तु अस्थौल्य इत्यादि धर्मोंका उनमें उपसंहार असम्भव है, इसीलिए ऐसा नहीं हो, इस प्रत्युदाहरण-सङ्गतिके अनुसार—*'अथास्थौल्यादीति'* वाक्य द्वारा शङ्का करते हैं। *'तादृशे ब्रह्मण्येतासामसम्भवादिति'* में

'तादृश' का अर्थ है—विग्रहात्मक ब्रह्ममें। 'एतस्याम्'—अस्थौल्यादि बुद्धिका।

अक्षर-ध्यधिकरणम्

सूत्र—अक्षरधियान्त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम्॥ ३४॥

सूत्रार्थ—'तु' नहीं, पूर्वपक्षका सिद्धान्त ठीक नहीं है, 'अक्षरधियामित्यादि'—अक्षर ब्रह्म विषयक जो अस्थौल्य इत्यादि धर्मोंकी उक्ति है, उस चिन्तनका सभी उपासनाओंमें ही 'अवरोधः' संग्रह करना चाहिये, किस कारणसे? 'सामान्य तद्भावाभ्याम्' क्योंकि उपास्य ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र एक प्रकारका है, उस स्वरूपमें कोई प्रभेद नहीं है, इसके अतिरिक्त विग्रहात्मक ब्रह्ममें अस्थौल्य इत्यादि भी रहते हैं, इसलिए। इस विषयमें दृष्टान्त है—'उपसदवत्', जिस प्रकार 'उपसत्' नामक कर्मके अङ्गभूत मन्त्र सामवेदमें पठित होनेपर भी प्रधान (असाधारण) कर्मके अनुगामी हैं, तदुक्तन्—इसी कारण यजुर्वेदाध्यायी पाठ करते हैं॥ ३४॥

सूत्रानुवाद—अक्षर ब्रह्मसे सम्बन्धित अस्थौल्यादि 'धी' का सभी उपासनाओंमें अवरोध करें। उपास्य ब्रह्म सर्वत्र एक हैं। विग्रहात्मक ब्रह्ममें अस्थौल्यादि धर्म रहते हैं। यह ज्ञान असाधारण रूपसे ग्राह्य है, साधारणतः नहीं, अन्यथा अति प्रसङ्ग हो जायेगा। उपसद् और विधि काण्डमें यही कहा है॥ ३४॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दात् पूर्वपक्षो निवर्त्त्यते। अक्षरब्रह्मसम्बन्धिनीनाम् आसामस्थौल्यादिधियां सर्वासु तास्ववरोधः संग्रहः कार्यः। कुतः। सामान्येति। *"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"* इति श्रुतेः (कठ॰ २/१५)। सर्वत्रोपास्यस्य ब्रह्मस्वरूपस्य सामान्यादैकरूप्यात्। तत्र विग्रहेऽस्थौल्यादीनां भावाच्च। अयं भावः—*"ज्ञात्वा देवम्"* इत्यादि (श्वे॰ १/११) श्रुतेर्ज्ञानान्मोक्षः। तच्च ज्ञानं तमसाधारण्येन गृह्णीयान्नतु साधारण्येन। अन्यत्रातिप्रसङ्गात्। ततश्चास्थौल्यादिविशेषित-विभुज्ञानानन्दाभिन्नविग्रहरूपत्वेन ज्ञानमसाधारण्याय स्यात्तदितरनिखिलभेदानुमापकत्वात्। इत्थञ्च सकलहेयप्रत्यनीकत्वं तद्विग्रहस्य सिद्धम्। *"स वै न देवासुरमर्त्त्यतिर्यङ् स्त्री न षण्डो न पुमान्न जन्तुः। नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्निषेधशेषो जयतादशेषः"* (श्रीमद्भा॰ ८/३/४) इति स्थौल्यादिनिहीनत्वेनाभ्यर्थितं वस्तु तादृग्विग्रहात्मनाविर्भूतमिति स्मर्यते *"हरिराविरासीत्"* इति। अत्रैतादृशाविर्भावमर्थयमाने

गजेन्द्रे येन रूपेणाविर्भूतं तत् खलु तादृगेव भवेदिति विस्फुटं तत्त्वम्। इतरथा ज्ञानमात्रं तच्चेतस्यवभासेत। इह प्रापञ्चिकं देवत्वादि प्रतिषिध्यते। स्वरूपनिष्ठं देवत्वं पुरुषत्वं चास्त्येव तथैव प्राकट्यात्। गुणानां प्रधानानुगामित्वे निदर्शनम् औपसदवदिति। उपसदाख्यकर्माङ्गभूतमन्त्रवदित्यर्थः। यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूप-सत्स्वग्नेर्वेहोत्रमित्यादिकाः पुरोडाशप्रदानमन्त्राः सामवेदपठिता अपि प्रधानानुगामितया याजुर्वेदिकैरध्वर्युभिरभिसंबध्यन्ते। तत् प्रदानस्य तत्कार्यत्वात्। एवं क्वाचित्क्योऽपि तद्बुद्धयः प्रधानेनाक्षरेण सह सर्वत्र सम्बध्यन्ते। तासां तदनुगामित्वादिति। तदुक्तं विधिकाण्डे। *"गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः"* इति॥ ३४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द द्वारा पूर्वपक्षका निराकरण किया गया है। 'अक्षरधियाम्' अक्षर ब्रह्म सम्बन्धिनी अस्थौल्य, अनणुत्व इत्यादि बुद्धिका सभी उपासनाओंमें संग्रह करना चाहिये। कारण क्या है? *'सामान्यतद्भावाभ्याम्'—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'* समस्त वेदशास्त्र जिन ज्ञातव्य (उपास्य) परब्रह्म तत्त्वको भूयोभूयः मुख्य रूपसे प्रतिपादन करते हैं—इस श्रुतिमें कथित उपास्य ब्रह्मकी सर्वत्र अर्थात् सभी उपासनाओंमें सामान्यता अर्थात् एकरूपता है तथा विग्रह-ब्रह्ममें अस्थौल्यादिका भी सद्भाव (विद्यमानता) है, इसलिए भी। बात यह है कि श्रुतिमें है *'ज्ञात्वा देवमित्यादि'*—उन्हें जान लेनेपर मुक्ति प्राप्त होती है। अतः ज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्ति है। यह ज्ञान क्या है? जिस ज्ञानसे उन देव (ब्रह्म) का अस्थौल्यादि असाधारण गुणोंके अनुसारविशिष्ट (असाधारण) रूपसे ग्रहण है, साधारण धर्मानुसारी (साधारण देव) ज्ञानसे उनका ग्रहण नहीं है। साधारण भावसे ग्रहण करनेपर दोष यह है कि तत्त्व रूपमें अर्थात् अस्थौल्यादि यथार्थ स्वरूपमें यदि ग्रहण नहीं है, तो इस साधारण धर्म-देवत्व अनुसार ग्रहणसे ही मुक्ति माननी पड़ेगी, (अति प्रसङ्ग हो जायेगा) अतएव अस्थौल्यादि धर्मविशिष्ट (गुणविशिष्ट) विभु ज्ञानानन्द अर्थात् सच्चिदानन्दसे विग्रहात्मक ब्रह्मका अभिन्न रूपमें ज्ञान ही असाधारण्य ज्ञानका कारण है, क्योंकि यही ज्ञान उन ब्रह्मके अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं, उन सबसे भेदका अनुमापक है अर्थात् ब्रह्मसे इतर समस्त पदार्थोंसे भेदका परिचायक है। इसके फलस्वरूप विग्रहात्मक ब्रह्ममें समस्त हेय वस्तुओंकी प्रतिपक्षता (हेयता) सिद्ध हुई। और ब्रह्म-विग्रहका निखिल हेय-वस्तुसे विशेषत्व सिद्ध हुआ। अप्राकृत श्रीविग्रहमें प्राकृत हेय गुण

सम्भव नहीं है। श्रीमद्भागवतमें गजेन्द्र-उपाख्यानमें गजेन्द्रकृत हरिस्तवसे जाना जाता है कि *'स वै न देवासुरमर्त्त्यतिर्यक् ... जयतादशेषः'* अर्थात् वे श्रीहरि देव, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी नहीं हैं, वे स्त्री-जाति, नपुंसक अथवा पुरुषजाति नहीं हैं, कोई जन्तु नहीं हैं और गुण, कर्म, सत्, असत्, स्थूल, सूक्ष्म वस्तु भी नहीं हैं। इस प्रकार नेति, नेति द्वारा निषेधके आकारमें जो अशेष दोषरहित हैं, वे जययुक्त होवें। इस प्रकार स्थौल्यादि गुणोंसे वर्जित रूपमें गजेन्द्र द्वारा प्रार्थित वस्तु वे शंख, चक्रधरादि रूपमें उसके सम्मुख आविर्भूत हुए, यह *'हरिराविरासीदित्यादि'* वाक्यसे अवगत हुआ जाता है। इस वृत्तान्तमें देखा जाता है कि क्लिष्ट अर्थात् दुःखी गजेन्द्रकी क्लेश-निवृत्तिके लिए इन साधारण स्थौल्यादि गुणोंसे रहित, देवादियोंसे विलक्षण परमात्माको पुकारा गया था, वे जिस विज्ञानानन्द स्वरूपमें आविर्भूत हुए थे, वे मूर्त्तिमान, आनन्दघन उसी रूपमें होंगे—यह विषय सुस्पष्ट है। (तात्पर्य यह है कि जिस रूपमें उन्हें बुलाया गया था, वे उसी रूपमें आये थे, जो कि उनका यथार्थ स्वरूप है।) ऐसा न होता, तो केवल ज्ञानमात्र ही गजेन्द्रके हृदयमें आविर्भूत (प्रकाशित) होता। तब जो उनके देवत्वादिका निषेध (प्रतिषेध) किया गया है, वह निषेध प्राकृत प्रपञ्चके अन्तर्गत देवत्वादिका है। स्वरूपनिष्ठ देवत्व और पुरुषत्व उनके ही हैं, क्योंकि इसी रूपमें उनका प्राकट्य देखा जाता है। गुण जो प्रधानका अनुगमन करते हैं, इस विषयमें उदाहरण देते हैं—*'उपसदवत्'*। उपसदवत् शब्दका अर्थ है—उपसद् नामक कर्मके अङ्गभूत मन्त्रके समान। बात यह है कि जिस प्रकार जामदग्न्य अहीन (चार दिनोंमें समाप्त होनेवाले) यज्ञमें पुरोडाशयुक्त उपसद नामक इष्टोंमें 'अग्नेर्वेहोत्रम्' इत्यादि पुरोडाश प्रदान मन्त्रसमूह सामवेदमें पठित होनेपर भी यजुर्वेदी-ब्राह्मण अध्वर्युगण प्रधान कर्माङ्गके रूपमें सर्वत्र पुरोडाश प्रदान करना कर्ममें इन मन्त्रोंका पाठ करते हैं, क्योंकि पुरोडाश-प्रदान यजुर्वेदी अध्वर्युका कर्त्तव्य है। इसी प्रकार अन्यत्र अर्थात् किसी स्थलपर पठित अस्थौल्यादि ज्ञानका (अन्यसकलगुणोंका) मुख्य (प्रधान) अक्षर-ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होगा। इसका कारण है—यह बुद्धिसमूह ब्रह्मका अनुसारी है। उपसद्-कर्माङ्गभूत मन्त्र जिस प्रकार प्रधान कर्मका अनुगमन

करता है, ठीक उसी प्रकार भगवान्‌के गुणसमूह प्रधान गुणके अनुगामी है। इस विषयमें जैमिनिका प्रमाण दिखाते हैं—जैमिनिके मीमांसादर्शनमें विधिकाण्डमें कहा गया है—*'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः'* (जै॰सू॰ ३/३/९)—इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि *'गुणमुख्यव्यतिक्रमे'* मुख्य गुणका व्यतिक्रम होनेपर अर्थात् उत्पत्ति-विधि और विनियोग-विधि दोनोंका स्तव-विषयमें विरोध उपस्थित होनेपर 'मुख्येन' प्रधानीभूत विनियोग विधिके अनुसार *'वेदसंयोगः'* वेदका अर्थात् वारयन्तीय इत्यादि मन्त्रोंका संयोगः—सम्बन्ध होगा अर्थात् साम मन्त्रोंके स्वरका संयोग होगा। यजुर्वेदोक्त उच्चैःस्वरका नहीं, क्योंकि यह *'तदर्थत्वात्'* उत्पत्ति-विधि विनियोग विधिके लिए प्रयुक्त होती है अर्थात् प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति उसके विनियोगके लिए होती है॥ ३४॥

सूक्ष्मा-टीका—अक्षरधियामिति। तासुपासनासु। तच्चेति। तच्च ज्ञानं तं देवमसाधारण्येनास्थौल्याद्यसाधारणधर्मविशिष्टत्वेन गृह्णीयात्। तत्त्वेन संगृह्णद्विमोचकं स्यात्। तत्त्वेनाग्रहणे देवत्वेन देवसामान्यं गृह्णीयात्। न च तेन ज्ञानेन मोक्षः तमेव विदित्वेत्यादिश्रवणादिति भावः। (श्वे॰ ६/१५) स वै नेति। सत् स्थूलं असत् सूक्ष्मम्। अत्रैतादृशेति। गजेन्द्रेण क्लिष्टेन स्वक्लेशनिवृत्तये देवादिविलक्षणः स्थौल्यादिगुणशून्यो विज्ञानानन्दः परमात्माकारितः स खलु तद्दैन्यश्रवणाभ्युदितदयो मूर्त्तानन्दविज्ञानः प्रादुर्भूत इति स्मर्यते। तेन तादृक् स इत्यागतं न ह्यनाकारित आगच्छेदिति भावः। ननु मूर्त्तस्य पुरुषस्य हरेः कथं स्थौल्यादिशून्यत्वं प्रतीमस्तत्राह इह प्रापञ्चिकमिति। पूर्वपक्षिणापि प्रापञ्चिकमेव तत् प्रतिविध्यते। स्वरूपनिष्ठं तत्तु रागमूर्त्तत्ववत् तत्रास्तीति प्रागुक्तम्। तच्चाचिन्त्यशक्तिसिद्धमिति। श्रुतेस्त्वित्य-धिकरणलब्धम्। उपसदवदिति। उपसदामिमे उपसदा मन्त्रास्तद्वदित्यर्थः। यथा जामदग्न्ये इत्यादि। तत्प्रदानस्य पुरोडाशप्रदानस्य। तत्कार्यत्वादध्वर्युकर्त्तव्यत्वात्। क्वाचित्काः क्वचित् पठिताः। सर्वत्र सर्वासूपासनासु। तासामिति। तद्बुद्धीनामक्षरब्रह्मानु-गामित्वादित्यर्थः। अयमर्थः—यजुर्वेदजमग्निं पुष्टिकामश्चतुरात्रेणायजेतेत्युत्पन्ने जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्तीति पुरोडाशयुक्तासूपसत्स्विष्टिषु पुरोडाशप्रदानकर्ममन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नानामग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरमित्यादीनामुत्गातृप्रयोगे प्राप्तेऽध्वर्युकर्त्तृके पुरोडाशप्रदाने कर्मणि तेषां मन्त्राणां विनियोगात् विनियोगविधेश्च सार्थक्यसम्पादकस्य स्वरूपमात्रबोधकोत्पत्तिविध्यपेक्षया मुख्यत्वात् मुख्यानुरोधेनाध्वर्यूणैव तेषां प्रयोगो न तु गौण्युत्पत्तिविध्यनुरोधेनोद्गात्रेति। यथाध्वर्युकर्त्तृकपुरोडाशप्रदानविषयाणां मन्त्राणां यत्र क्वापि श्रुतानामप्यध्वर्युणां सम्बन्धस्तथा यत्र क्वापि पठिता-नामप्यस्थौल्यादिधियां मुख्येनाक्षरेण ब्रह्मणा सम्बन्ध इति। अस्मिन्नेवार्थे उदाहरणान्तरतया

जैमिनेनिर्णयं दर्शयति। तदुक्तमिति। गुणमुख्येत्यस्यार्थः। य एवं विद्वानग्निमाधत्ते इति यजुर्वेदविहिताधानाङ्गत्वेन य एवं विद्वान् वारयन्तीयं गायति य एवं विद्वान् यज्ञा यज्ञीयं गायति य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायतीति यजुर्वेद एव सामानि विहितानि विषयः वारयन्तीपदयुक्तं साम वारयन्तीयम् एवमग्रेऽपि बोध्यम्। उच्चैः साम्नोपांशु यजुषेति सामयजुषोः स्वरभेदोऽस्ति। तत्र किमेतानि सामानि सामवेदोत्पन्नत्वात् तदीयेनोच्चैःस्वरेणाधाने प्रयोज्यान्युत येन यजुर्वेदेन विनियुज्यन्ते तदीयेनोपांशुस्वरेणेति संशये उत्पत्तिविधिबलादुच्चैःस्वरेणेति प्राप्ते सिद्धान्तयति गुणमुख्येति। गुणमुख्य-योरुत्पत्तिविनियोगविध्योर्व्यतिक्रमे स्वरविषये विरोधे प्राप्ते मुख्येन विनियोगविधिना वेदस्य वारयन्तीयादेः संयोगो ग्राह्यः। साम्नां विनियोगः स्वरसंयोग इत्यर्थः। तत्र हेतुः तदर्थत्वादिति। उत्पत्तिविधेर्विनियोगार्थत्वादित्यर्थः। एतत्तुल्यन्यायतया पूर्वमुपसन्मन्त्रा दृष्टान्तिता इति बोध्यम्॥ ३४॥

सूक्ष्मा-सार—*'अक्षरधियामित्यादि'* सूत्रमें *'सर्वासु तास्ववरोध'* इति भाष्यमें 'तासु' का अर्थ है, उन समस्त उपासनाओंमें, *'तच्च ज्ञानं तमित्यादि'* में *'ज्ञात्वा देवम्'* (श्वे॰ १/११) इत्यादि श्रुति ज्ञानसे मुक्तिकी बात कहती है। इस ज्ञानको कहनेसे उन परमात्माको असाधारणधर्म (अस्थौल्यादि) विशिष्ट रूपमें ग्रहण करना चाहिये, साधारणधर्म (देवत्वादि) रूपमें नहीं क्योंकि तत्त्व रूपमें ज्ञान मुक्तिका कारण होता है। और तत्त्व रूपमें (स्वरूपतः) ज्ञान न करनेपर अर्थात् परमात्माको साधारण देवत्व रूपमें ज्ञान होनेपर देव-सामान्य ही गृहीत होगा और इस देवत्व-ज्ञानसे मुक्ति होती नहीं क्योंकि *'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'* (श्वे॰ ६/१५) श्रुति तत्त्वज्ञानसे मुक्ति बतलाती है। *'स वै न देवासुर'* इत्यादि वाक्यके अन्तर्गत *'न सत् न चासत्'* इति में 'सत्' अर्थात् स्थूल पदार्थ, 'असत्' अर्थात् सूक्ष्म पदार्थ। *'अत्रैतादृशमित्यादि'*—गजेन्द्रने ग्राह द्वारा पकड़ लिये जानेपर अपनी क्लेश-निवृत्तिके लिए साधारण देवादिसे पृथक् स्थौल्यादि धर्मसे रहित, विज्ञानान्दस्वरूप परमात्माको पुकारा था, परमात्मा भी उसके दैन्यके श्रवणवश (दीनतापूर्ण वचनोंको सुनकर) दयाके मूर्त्तिधारी मूर्त्त आनन्दविज्ञान-रूपमें प्रादुर्भूत हुए थे—यही श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें स्मृत होता है। अतएव जाना जा सकता है कि वे मूर्त्तविज्ञानानन्द आये थे। जिन्हें पुकारा गया था, वे ही आये थे, यही तात्पर्य है। प्रश्न है—यदि श्रीहरि मूर्त्तिमान पुरुष हैं, (परमात्मा हैं) तो उनके स्थौल्यादि

धर्म नहीं हैं, यह किस प्रकारसे विश्वास करेंगे—इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—*'इह प्रापञ्चिकमित्यादि'* इस श्रुतिमें प्रपञ्चके अन्तर्गत देवत्वादि प्रतिषिद्ध हुआ है, स्वरूपनिष्ठ देवत्वादिका प्रतिषेध नहीं है, पूर्वपक्षी भी प्रापञ्चिकदेवत्वका प्रतिषेध करते हैं। स्वरूपनिष्ठ देवत्व इच्छाधीन मूर्त्तिग्रहणके समान परमात्मामें रहता है—यह पहले भी कहा गया है, वह भी अचिन्त्यशक्ति-सिद्ध है यह बात 'श्रुतेस्तु' इत्यादि अधिकरणसे ज्ञात है। 'उपसद्वत्' इति 'उपसद्'—शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'उपसदाम्' अर्थात् उपसद्-इष्टियोंके (एक प्रकारका यज्ञ) इमे—जो सम्बन्ध मन्त्र हैं, इस अर्थमें। उपसद्—शब्दके उत्तरमें अण् प्रत्ययके फलस्वरूप उपसद् मन्त्र उनके समान हैं, यह अर्थ है *'यथा जामदग्न्ये अहीने'* (जमदग्नि कृत चार दिनोंमें समाप्त होनेवाले कई यज्ञ) इत्यादि—तत्प्रदानस्य तत्कार्यत्वात् इति—तत्प्रदानस्य—क्योंकि पुरोडाश-प्रदान तत्कार्यत्वात्—अध्वर्यु (यजुर्वेदका ज्ञाता, पुरोहित) का कार्य है। *'एवं क्वाचित्क्योऽपि तद्बुद्धयः'* इति किसी स्थलपर पठित होनेपर भी *'सर्वत्र सम्बन्ध्यन्ते'*—समस्त उपासनाओंमें ग्राह्य है। *'तासां तदनुगामित्वादिति'*—क्योंकि अस्थौल्यादि बुद्धि अक्षर-ब्रह्मकी अनुसारिणी है। बात यह है कि *'यजुर्वेदजमग्निं पुष्टिकामश्चतुरात्रेणायजते'*—यह एक उत्पत्ति विधि-वाक्य (कर्मस्वरूप बोधक) है, जिससे जामदग्न्य अहीन यज्ञ बोधित होता है। इस यज्ञमें *'पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्ति'* यह एक विधि-वाक्य श्रुत होता है, इससे जाना जाता है कि उपसद् नामक इष्टियाँ पुरोडाश-युक्त होंगी—उसमें पुरोडाश-प्रदान-कर्मके अङ्गमन्त्र जो सामवेदमें उद्धृत हैं, वे *'अग्नेर्वे होत्रं वेरध्वरम्'* (आपस्मम्ब श्रौतसूत्र २२/१९/१) (हे अग्ने! (वेर् अर्थात् देवगणके) होत्र और अध्वर तुमसे ही होते हैं)। इत्यादि स्वरूप हैं। अतएव सामवेदाध्यायी उद्गाताओंका यह प्रयोग जाना जाता है, किन्तु अध्वर्यु द्वारा पुरोडाश-प्रदान-कर्म विहीत रहनेके (पुरोडाश-प्रदान अध्वर्युकर्त्तृक होता है) कारण विनियोगवश है, फिर भी विनियोग-विधि (अङ्गाङ्गिभाव बोधक) उत्पत्ति-विधिके सार्थक्यकी सम्पादक है, अतः कर्मस्वरूपमात्र-विधायिका उत्पत्ति-विधिकी अपेक्षा यह मुख्य है। इस मुख्यानुरोधसे ही अध्वर्यु इन मन्त्रोंका स्व-वेदोक्त स्वरसे पाठ करेंगे, गौण उत्पत्ति-विधिके अनुसार उद्गाता सामस्वरसे नहीं। यहाँ जो किसी स्थलपर सुना जाता

है कि अध्वर्यु द्वारा प्रदेय पुरोडाश-प्रदान मन्त्रोंका पाठ अध्वर्युका कर्त्तव्य है, उसी प्रकार किसी-किसी श्रुतिमें पठित होनेपर भी अस्थौल्यादि बुद्धिके प्रधानीभूत अक्षरब्रह्मके साथ सम्बन्ध समस्त उपासनाओंमें होगा। इस विषयमें अन्य उदाहरण जैमिनिके सिद्धान्तानुसार दिखाते हैं—*'तदुक्तं विधिकाण्डे इति गुणमुख्य-व्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः'* (जै॰सू॰ ३/३/८) (विधि काण्डमें कहा गया है कि उत्पत्ति गौण होती है और विनियोग प्रधान होता है, यहाँ गुण-मुख्यके व्यतिक्रम विरोध होनेपर गुणके मुख्यार्थक होनेसे बली मुख्य अध्वर्युके साथ मन्त्रात्मक वेदका सम्बन्ध होता है अर्थात् अध्वर्युकृत कर्मके साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि कर्म विनियोग सम्बन्धके लिए ही उस वेदकी उत्पत्ति हुई है, इत्यादि।) *'गुणमुख्यव्यतिक्रमे'* इसका अर्थ है—य एवं विद्वानग्निमाधत्ते—यह विधि यजुर्वेदमें उक्त अग्न्याधानके अङ्ग रूपमें विहित है। पुनः *'य एवं विद्वान् वारयन्तीयं गायति'*—इस प्रकारसे अर्थ जानकर जो वारयन्तीय स्तुतिका गान करते हैं, *'य एवं विद्वान् यज्ञा यज्ञीयं गायति'*—जो इस प्रकारसे ज्ञान करके यज्ञा यज्ञीय इत्यादि मन्त्रका गान करते हैं, *'य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति'* इस प्रकार जानकर जो वामदेव्य-मन्त्रगान करते हैं इत्यादि साममन्त्र यजुर्वेदमें ही विहित हैं। इसका आश्रय करके बादमें संशय हुआ है। वारयन्ती पदयुक्त सामको वारयन्तीय कहा जाता है, इस प्रकार बादमें भी जानना चाहिये। सामवेद और यजुर्वेदके पाठ-विषयमें स्वर-भेद है—यथा सामवेद उच्चस्वरमें है और यजुर्वेद उपांशु स्वरमें (दूसरोंके द्वारा न सुने योग्य स्वरमें) है। इस विषयमें सन्देह होता है, ये सभी साममन्त्र सामवेदमें उद्धृत होनेके कारण सामवेदीय उच्चस्वरसे अग्न्याधान-कार्यमें पाठ्य हैं? अथवा यजुर्वेद द्वारा जो विनियोग जाना जाता है, उस यजुर्वेदोक्त उपांशु स्वरसे उनका पाठ होगा। पूर्वपक्षी कहते हैं, उत्पत्ति-विधि-वाक्यके अनुसार आधान-कार्यमें ये सब उच्चैः स्वरसे पाठ्य हैं—इसके प्रतिपक्षमें सिद्धान्ती कहते हैं—गुणमुख्य व्यतिक्रमे इत्यादि। उत्पत्ति-विधि, विनियोग-विधि—इन दोनोंका व्यतिक्रम अर्थात् स्वर-विषयमें विरोध उपस्थित होनेपर मुख्य विनियोग विधिके अनुसार वारयन्तीय इत्यादि वेदका सम्बन्ध ग्राह्य है। साम-मन्त्रके विनियोगमें ही स्वरसंयोग है—यह अर्थ है। इस विषयमें हेतु

है—तदर्थत्वात्—विनियोग-विधि उत्पत्ति विधिकी सार्थक्य-सम्पादक है। इसी तुल्य युक्तिके अनुसार सूत्रकारने उपसद् मन्त्रोंका दृष्टान्त रूपमें उल्लेख किया है॥ ३४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रुतिमें पाया जाता है—*'स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्।'* इत्यादि (बृ॰आ॰ ३/८/८), अर्थात् उन याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे गार्गि! उस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्ता (ब्राह्मण) अक्षर कहते हैं। ये अक्षरब्रह्म न मोटे हैं, न पतले, न छोटे हैं और न बड़े' इत्यादि।

मुण्डक-श्रुतिमें भी देखा जाता है—*'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रम्'* इत्यादि। (मु॰ १/१/५-६) अर्थात् उन अक्षर परमात्माका ज्ञान होता है, वह पराविद्या है। वे अक्षरब्रह्म जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुः श्रोत्रादि रहित हैं।

इस स्थलपर यदि संशय है कि अक्षर शब्दित परब्रह्म विषयक स्थौल्यादि प्रतिषेधक ज्ञान सभी उपासनाओंमें ग्रहणीय है कि नहीं? पूर्वपक्षी इसपर कहते हैं कि पहले *'समान एवञ्चाभेदात्'* (ब्र॰सू॰ ३/३/२०)—इस सूत्रमें जब विग्रहात्मक परब्रह्मकी उपासनाका ही निरूपण है, तब उनमें अस्थूल, अनणु इत्यादि गुण ग्रहण करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, इस प्रकारसे पूर्वपक्ष ठीक नहीं हो सकता। अक्षर विषयक अस्थौल्यादि गुण अथवा धर्मको सभी उपासनाओंमें ग्रहण करना चाहिये। इसका कारण है कि उपास्य ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र एक प्रकारका है। दूसरी बात यह है कि विग्रहात्मक परब्रह्ममें भी अस्थौल्यादि धर्म हैं। इस विषयमें 'उपसदवत्' उदाहरण देखना चाहिये।

श्रीमद् बलदेव प्रभुके भाष्यमें विस्तृत आलोचना देखी जा सकती है।

सभी विधि वाक्य चार प्रकारके होते हैं—(१) उत्पत्ति-विधि (कर्मस्वरूप बोधक), (२) विनियोग विधि (अङ्गाङ्गि भाव-बोधक), (३) प्रयोग विधि सभी विधियोंका एकवाक्यतापन्न, और (४)

अधिकार (फल-स्वाम्य-प्रतिपादक वाक्य) इनमें उत्पत्ति-वाक्य गौण और विनियोग-वाक्य प्रधान होता है।

सारांश यह है कि यद्यपि उत्पत्ति विधिमें भी उत्पत्तित्व (अनुष्ठेयत्व), विनियोगत्व (अङ्गाङ्गिभावत्व), प्रयोगत्व (प्रधानाङ्गैक वाक्यत्व) और अधिकारत्व (फलस्वामित्व) ये चारों रूप उपलब्ध होते हैं तथापि सभी वाक्योंका उद्देश्य भिन्न होता है। कथित चारों रूपोंमें जो रूप वाक्यान्तरमें उल्लिखित नहीं होता, वही उद्देश्य माना जाता है। साममन्त्र सामवेदमें विहित होनेपर भी उस विधिका तात्पर्य केवल उत्पत्तिमें माना जाता है, विनियोगमें नहीं क्योंकि विनियोग यजुर्वेदीय-वाक्यसे प्राप्त है। फलतः उत्पत्ति-वाक्यके द्वारा समीहितार्थत्व (अभीष्ट प्रयोजनकत्व) की अवगति न होकर विनियोग-वाक्यसे होती है, अतः उत्पत्ति-वाक्योंको विनियोगार्थक माना जाता है। इस प्रकार जिस वाक्यके द्वारा विनियोग सम्पन्न किया जाता है, उसी वाक्यके वेदका स्वर ही गृहीत होता है उत्पत्ति सम्बन्धी वेदका स्वर नहीं। सामगानकी उत्पत्ति सामवेदम हुई, अतः सामवदाय उच्चस्वर प्राप्त है किन्तु सामगानका विनियोग यजुर्वेदीय आधानमें है, अतः यजुर्वेदीय उपांशु स्वर प्राप्त होता है—इस प्रकारका व्यतिक्रम (विरोध) उपस्थित होनेपर मुख्य विनियुज्यमान सामगानके साथ यजुर्वेदीय उपांशु स्वरका संयोग न्यायोचित माना जाता है।

अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मके निरूपणमें सर्वत्र अस्थूलत्वादि धर्मोंका सम्बन्ध पर्यवसित होता है।

श्रीगजेन्द्रने हृदयमें मनको समाहित करके पूर्वजन्ममें जिस स्तोत्रको सीखा था, उसीका जप करना आरम्भ कर दिया और श्रीभगवान्‌को उद्देश्य करके जो वाक्य कहे थे—उसमें भी पाया जाता है—

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम्।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम्॥

(श्रीमद्भा० ८/३/२६)

जो इस विश्वके स्रष्टा विश्वरूप होनेपर भी विश्वसे रहित हैं, जो विश्वके ज्ञाता, विश्वकी आत्मा और अजन्मा परमपदस्वरूप हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत्॥

(श्रीमद्भा॰ ८/३/३०)

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! गजराज किसी मूर्त्तिविशेषका वर्णन न करके निर्विशेष भावसे परमात्म-तत्त्वका वर्णन करता रहा। अतः नाना प्रकारके नाम एवं रूपसे सम्पन्न ब्रह्मादि देवता जब उसकी रक्षाके लिए नहीं आये, तब उस स्थानपर अखिलात्मा सर्वदेवमय भगवान् श्रीहरि प्रकट हुए॥ ३४॥

अवतरणिका भाष्य—ननु तादृग्विग्रहत्वादिधर्मजातमिव *"सर्वकर्मा सर्वगन्धः"* (छा॰ ३/१४/२) इत्यादिप्रतिपन्नं सर्वकर्मत्वादिकमप्यवश्यं सर्वत्र चिन्त्यं स्यादिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कहो, श्रीभगवान्‌के उन आनन्द-विज्ञान-विग्रहत्वादि धर्मोंके समान *'सर्वकर्मा सर्वगन्धः'*—वे समस्त करते हैं, समस्तके साथ उनका सम्पर्क है, इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपन्न (बोधित) सर्वकर्मकत्वादि धर्म भी समस्त उपासनाओंमें अवश्य चिन्तनीय हों, इसपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। स्थौल्यादिविहीनविभुविज्ञानानन्दाभिन्न-विग्रहत्वादिधर्मजातं यथा सर्वस्मिन् ब्रह्मोपासनेऽवश्यं विचिन्त्यते तथा सर्वकर्म-कत्वादिकमपि तत्रावश्यं विचिन्त्यं स्यादित्याक्षेपार्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ननु इत्यादि आक्षेप ग्रन्थका तात्पर्य यही है—स्थौल्यादि-रहित, विभु, विज्ञानानन्द-स्वरूप, विग्रहत्वादि धर्मसमूहका जिस प्रकार समस्त ब्रह्मोपासनामें अवश्य ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार सर्वकर्मकत्वादि धर्म भी उस ब्रह्मोपासनामें अवश्य चिन्तनीय हों।

सूत्र—इयदामननात्॥ ३५॥

सूत्रार्थ—'इयत्'—इन आनन्दविज्ञान विभुके स्थौल्यादि-विहीन विग्रहत्वादि धर्म ही सभी उपासनाओंमें ध्येय हैं, क्योंकि 'आमननात्' इस परिमाण

गुणसमूह समन्वित रूपमें उनका ध्यान होता है, अतएव वे अवश्य ध्येय हैं॥ ३५॥

सूत्रानुवाद—आमनन (अनुचिन्तन) के हेतु अस्थूलतादिके साथ विभुके आनन्दादि गुणोंको सर्वत्र ध्येय बताया गया है॥ ३५॥

गोविन्दभाष्य—इयदेव तादृग्विग्रहत्वादिगुणवृन्दमेव तस्यावश्यं सर्वत्र चिन्तनीयम्। कुतः? आमननात्। आमननमाभिमुख्येन चिन्तनं तस्मात्। इयता गुणजातेन तस्यानुचिन्तनं भवेदतस्तदवश्यमनुचिन्त्यम्। सर्वकर्मत्वादिकन्तु चिन्तितस्वरूपे तस्मिन्ननुवर्त्तेत तस्मान्न तच्चिन्ता नियतेति॥ ३५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इयदेव अर्थात् इतना मात्र ही अर्थात् स्थौल्यादि रहित विभु विज्ञानानन्दरूप श्रीभगवान्के विग्रहत्वादि गुण सभी उपासनाओंमें अवश्य चिन्तनीय अथवा अनुसन्धेय हैं। आमननात्—क्योंकि इसीसे उनका यथार्थ चिन्तन किया जाता है। केवल इसी विग्रहत्वादि गुणसमूहके द्वारा उनका ध्यान (अनुचिन्तन) सिद्ध होता है, इसलिए यह विग्रहत्वादि धर्मसमूह अवश्य ही ध्येय हैं, अन्यथा सर्वकर्मकत्वादि धर्म चिन्तनीय नहीं होंगे, क्योंकि वे तो चिन्तितस्वरूप ब्रह्ममें अनुस्यूत रहते ही हैं अर्थात् पूर्वोक्त धर्मीरूपमें ब्रह्मका चिन्तन करनेपर ही इन सर्वकर्मकत्वादि धर्मोंका भी चिन्तन करना हो जायेगा, इसलिए उनका स्वतन्त्र चिन्तन अनावश्यक है॥ ३५॥

सूक्ष्मा-टीका—इयदिति। स्फुटार्थम्॥ ३५॥

सूक्ष्मा-सार—भाष्यार्थ सुस्पष्ट ही है॥ ३५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक पूर्वपक्ष उठा रहे हैं कि छान्दोग्योपनिषदमें पाया जाता है—*'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वत्रमिदमभ्यात्तो'* इत्यादि (छा॰ ३/१४/४) अर्थात् जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस—इस सबको सब ओरसे व्याप्त करनेवाले हैं इत्यादि। ऐसा होनेसे उस प्रकारके विग्रहत्वादि धर्मोंके समान इस श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित 'सर्वकर्मा' इत्यादि धर्म भी सर्वत्र चिन्तनीय हों—इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उस प्रकारके विग्रहत्वादि गुणसमूह सर्वत्र ही चिन्तनीय होंगे, क्योंकि उसके बिना उनका आभिमुख्य (मनन अर्थात् अनुचिन्तन) प्राप्त नहीं किया जा

सकता और सर्वकर्मत्वादि धर्म भी इस चिन्तित स्वरूपमें अनुवर्त्तन करेंगे। इसलिए इनके स्वतन्त्र रूपसे चिन्तनका कोई प्रयोजन नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन॥
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/५६-५७)

अर्थात् वस्तुतः जो कृष्णतत्त्वसे यथार्थ रूपसे अवगत हैं, उनके मतमें स्थावर-जङ्गमात्मक और उससे परे परमात्मा, ब्रह्म, नारायण आदि जो भगवत्-स्वरूप हैं, सभी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कृष्णरूप है। श्रीकृष्ण समस्त कारणोंके कारण हैं। कार्य एवं कारणसे अभिन्न श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृत-अप्राकृत वस्तु है ही नहीं। सभी वस्तुओंकी अन्तिम सत्ता अपने कारणमें ही स्थित होती है, अतः प्रधान रूपसे यही निर्णय किया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही उन कारणोंके कारणस्वरूप हैं। कृष्ण-सम्बन्धसे रहित इस ब्रह्माण्डमें कुछ है—यह नहीं कहा जा सकता।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

आमननका अर्थ है—आभिमुख्यसे तद्गत भावका निरन्तर चिन्तन। आमननके हेतु समस्त ब्रह्मविद्याके ही अनुसन्धान अथवा चिन्तनके लिए ये समस्त गुण ही अर्थात् अस्थूलता आदि सहित आनन्दादि गुण ही ब्रह्मविद्यामें सर्वत्र अनुसन्धानके लिए प्राप्त हैं। तात्पर्य यह है कि जिन गुणोंके बिना ब्रह्मके स्वरूपका चिन्तन सम्भवपर नहीं है, केवल उन समस्त गुणोंके अनुवर्त्तनका ही प्रयोजन है। सर्वकर्मत्वादि दूसरे गुण प्रधानके अनुगत होनेपर ही चिन्तनके निमित्त प्रत्येक विद्यामें पृथक् रूपसे निरूपित हैं। अतः अन्यत्र इन सबके उपसंहारका प्रयोजन नहीं है॥ ३५॥

स्वात्मकाधिष्ठानत्व—धर्मके उपसंहारका आरम्भ

अवतरणिका भाष्य—अथ स्वात्मकाधिष्ठानत्वं धर्ममुपसंहर्त्तुमारभते। मुण्डके श्रूयते—*"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि संबभूव दिव्ये पुरे ह्येष संव्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः"* (मु॰ २/१/७) इत्यादि *"ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्"* (मु॰ २/२/११) इत्यन्तम्। तत्र संशयः—संव्योमशब्दाभिहितं ब्रह्मपुरं किं सामर्थ्यैश्वर्यपर्यायस्तन्महिमैव भवेदुत विचित्रप्रासादगोपुरप्राकारादिरूपं तदिति। किं प्राप्तम्। तादृशस्तन्महिमैव तदिति। *"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः"* (छा॰ ७/२४/१) इति। *"स्वे महिम्नि"* (छा॰ ७/२४/१) इति स्वमहिमाधारत्वश्रवणात्। तस्मान्महिमैव पुरत्वेन निरूपितः। संव्योमशब्दितश्च सः, तस्यानन्त्यात्। न खलु विभोरधिष्ठानं संभवेदित्युक्तं ब्रह्मैवेत्यादिना। एवं प्राप्ते पठति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद ब्रह्मके स्व-स्वरूपमें (स्वात्मक) अधिष्ठान-ध्यानके लिए इस अधिकरणका आरम्भ करते हैं। मुण्डकोपनिषदमें श्रुत है—*'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि संबभूव दिव्ये पुरे ह्येष संव्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः'* अर्थात् जो सर्वज्ञ, सर्वाधिपति हैं, जिनका यह ऐश्वर्य पृथ्वीपर बिखरा पड़ा है, जो संव्योमात्मक दिव्यपुरमें आत्म रूपसे अधिष्ठित हैं, इत्यादि तथा *'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'* अर्थात् ब्रह्म ही यह समस्त विश्व हैं, ये ब्रह्म ही वरिष्ठ (श्रेष्ठ) हैं—यह अन्तमें भी कहा है। इस विषयमें संशय यह है कि संव्योम शब्दसे वाच्य 'ब्रह्मपुर' क्या उनकी महिमाको ही कहा जायेगा क्योंकि महिमन् शब्द सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य आदि पयार्यभुक्त है अथवा ब्रह्मपुर शब्दसे विचित्र प्रासाद (राज-अट्टालिका) गोपुर (पुर-द्वार), प्राकार (प्राचीर) इत्यादि स्वरूपविशिष्ट पुर विशेष कहा जायेगा। आप क्या समझते हैं? इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—यह एक ही रूपक है अर्थात् पुरके समान ब्रह्मपुर उनकी महिमा है। तात्पर्य यह है कि महिमाको जो पुर कहा गया है, वह रूपक मात्र है। *'हे भगवन्! स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः'* ये परमात्मा किसमें प्रतिष्ठित हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—*'स्वे महिम्नि'* अर्थात् वे अपनी महिमामें प्रतिष्ठित हैं अतएव इस श्रुतिसे बोध होता है कि निज महिमा ही उनका आधार है। अतः महिमाका ही पुररूपमें वर्णन किया गया है। यदि कहो पूर्व श्रुतिमें *'संव्योम्नि आत्मा*

प्रतिष्ठितः' कहा गया था तो इसमें कोई असङ्गति नहीं है, संव्योम शब्द द्वारा यह महिमा ही संज्ञित है क्योंकि महिमा शब्दका अर्थ है—'आनन्त्यः' (परमेश्वर) जो विभु हैं, अनन्त हैं, उनका आधार (अधिष्ठान या लोक) सम्भव नहीं हो सकता—इस बातको *'ब्रह्मैवेदं विश्वम्'* इत्यादि श्रुति द्वारा कहा गया है। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्थौल्यादिगुणशून्यं। सार्वज्ञानन्दादिगुणकं विज्ञानानन्द-विग्रहरूपं ब्रह्मोपास्यमित्युक्तं प्राक्। अन्त तद्गुणकं तदुपासनं गोकुलादिधामविशिष्टत्व-गुणकन्तु मास्तु। सर्वभूतनिवासस्य विभोस्तदसम्भवादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह। अथेत्यादि स्फुटार्थम्। तत्रेति। संव्योमशब्दादिभिहितं परमव्योमशब्दवाच्यमित्यर्थः। सामर्थ्येति। महिमा सामर्थ्यमैश्वर्यं बलमिति पर्यायशब्दा भवन्तीत्यर्थः। तन्महिमैवेति। महिम्नः पुरत्वासम्भवात् तत्त्वेन वर्णितं रूपकमात्रं यथा ब्रह्मणः पक्षिभावेन रूपकं दर्शयत इत्यर्थः। ननु महिम्नि संव्योमशब्दस्य कथं प्रवृत्ति स्तत्राहानन्त्यादि। आनन्त्यं तत्र प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणमें कहा गया था कि स्थौल्यादि धर्मरहित, सर्वज्ञता, आनन्दादि गुणमय, विज्ञानान्द विग्रहात्मक ब्रह्म उपास्य हैं—इसमें आपत्ति यह है कि अच्छा! उसी प्रकारके गुणोंको ग्रहणकर उनकी उपासना हो, किन्तु गोकुलादिधाम-निवासित्वरूप धर्मको ग्रहणकर उनकी उपासना नहीं होनी चाहिये क्योंकि जो सर्ववस्तुके आधार विभु हैं, उनका गोकुल-निवासित्व असम्भव है। इस प्रत्युदाहरण-सङ्गतिके अनुसार कहते हैं—*'अथ स्वात्मकाधिष्ठानत्वमित्यादि'*—इसका अर्थ सुस्पष्ट है। इसमें संशय है *'संव्योमशब्दाभिहितमिति'* अर्थात् परमव्योम शब्दका वाच्य। *'सामर्थ्यै-श्वर्येत्यादि'*—महिमा, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, बल ये सब एक पर्यायभुक्त शब्द हैं। *'तन्महिमैव तत् इति'*—यद्यपि महिमा और पुर एक नहीं हो सकते, तथापि महिमाको जो पुर कहा गया है, वह रूपकमात्र है, जिस प्रकार ब्रह्मका पक्षीरूपमें रूपक देखा जाता है। यदि कहो, संव्योम शब्दकी महिमा अर्थमें शक्ति किस प्रकारसे होगी? तो इसके उत्तरमें कहते हैं—महिमाके अनन्त होनेके कारण आनन्त्य ही उसका शक्यार्थ है। इस प्रकारके मतके उत्तरमें कहते हैं—

अन्तरत्वाधिकरणम्

सूत्र—अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः॥ ३६॥

सूत्रार्थ—'स्वात्मनः' अपने भक्तोंके 'अन्तरा' संव्योमात्मक पुरमें 'भूतग्रामवत्' ब्रह्मात्मक होनेपर भी पृथ्वी आदि निर्मित वस्तुओंके समान समस्त पदार्थ उनमें प्रकाशित होते हैं॥ ३६॥

सूत्रानुवाद—स्वभक्तोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के अधिष्ठानरूप संव्योम नामक पुरमें पृथ्वी आदि प्राकृत भूतके समान प्रतीत होते हैं, किन्तु सभी वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हैं॥ ३६॥

गोविन्दभाष्य—अन्तरा संव्योमपुरमध्ये स्वात्मनो भूतग्रामवद्विभाति। स्वात्मनः स्वीयत्वेन वृतस्य भक्तस्येत्यर्थः। *"यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः"* इत्यादि श्रुतेः। (मु॰ ३/२/३) तत्रत्यं वस्तुजातं सर्वं ब्रह्मात्मकमपि पृथिव्यादिनिर्मितवत् स्फुरतीत्यर्थः। वत्-शब्देन भूतग्रामत्वं तस्य निरस्तम्। किन्तु स्वात्मकत्वमुक्तम्। *"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् पश्चाच्च। ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेणाधश्चोर्द्धं प्रसृतम्। ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्"* (मु॰ २/२/११) इति। यथा विज्ञानानन्दे परमात्मनि पाणिपादनखरकुन्तलादिमयं वैचित्र्यं तद्भक्तस्य स्फुरति तथा तदात्मभूते तल्लोकेऽपि भू-तोयादिरूपं तदित्यर्थः। एकमपि विचित्रं चन्द्रकादिवद्विभातीति॥ ३६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अन्तरा अर्थात् मध्यमें—संव्योम नामक पुरमें, स्वात्मनः—स्वीय भक्तोंकी दृष्टिमें भौतिक पदार्थोंके समान प्रकाश पाते हैं। स्वात्मनः—अर्थात् स्वीय रूपमें वरण किये हुए भक्तोंके वे भक्त—जिनका उन्होंने वरण किया है, इस विषयमें श्रुति प्रमाण है—*'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य'* (मु॰ ३/२/३) अर्थात् जिन्हें वे अपना मानकर वरण करते हैं—वे ही उन्हें पा सकते हैं, इत्यादि और भी श्रुतियाँ हैं। इस संव्योमपुरके मध्यगत प्राकार, प्रासादादि समस्त ब्रह्मात्मक होनेपर भी वे भौतिककी भाँति अर्थात् पृथ्वी आदि निर्मित द्रव्योंकी भाँति प्रकाशित होते हैं। *'भूतग्रामवत्'* इसमें उपमानार्थक (सादृश्य-वाचक) 'वत्' प्रत्यय द्वारा प्रकाशित प्राकारादिका भौतिकत्व (भूतत्व) खण्डित (निरस्त) हुआ है, किन्तु वे सब स्वात्मक अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपके रूपमें कथित हैं। जैसे कि श्रुति है—*'ब्रह्मैवेदममृतं... विश्वमिदं वरिष्ठम्'* अर्थात् वे अविनश्वर ब्रह्म ही पूर्वमें, पश्चिममें

प्रसृत अर्थात् व्याप्त (फैले हुए) हैं। ब्रह्म ही दक्षिणमें, उत्तरमें, अधोभागमें और ऊर्ध्वदेशमें विस्तृत हैं। यह अति विशाल विश्व भी ब्रह्म ही है। इस श्रुति-वाक्यसे उक्त पुरका ब्रह्मात्मकत्व स्थिर हुआ है। जिस प्रकार भक्तके निकट विज्ञानानन्द परमात्माके हस्त, पाद, नख, केशादि रूप वैचित्र्य स्फुरित (प्रतिभात) होता है, उसी प्रकार ब्रह्मात्मक परव्योममें पृथ्वी, जलादिमय विचित्रता परिस्फुरित होती है। विचित्र ब्रह्म एवं उनका अधिष्ठान परव्योम एक होकर भी एक मयूरके पुच्छमें नाना वर्णोंके मेचक (चन्द्राकृति चिह्नों) के समान प्रकाशित होता है॥ ३६॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्तरेति। तत्रत्यमिति। संव्योमपुरगतं वस्तुजातं प्राकारप्रासाद-सरित्तडागादि ब्रह्मात्मकं ब्रह्मस्वरूपं शक्तिविलासरूपमपीत्यर्थः। ननु भौतिकमेव तत् स्यादिति चेत् तत्राह वत्-शब्देनेति। किन्तु स्वात्मकत्वमेवोक्तमिति अतर्क्येऽर्थे श्रुतिरेव शरणमिति भावः। तर्कस्त्वचिन्त्यत्वादेव पराहतः। तदिति वैचित्र्यम्। एकमपीति। चिदानन्दैकरसं ब्रह्म तदधिष्ठानं संव्योमपुरञ्च विविधवैलक्षण्योपेतं स्फुरति चन्द्रकादिवत्। चन्द्रको बर्हिपुच्छम्। आदिना बहुवर्णैकपुष्पादिकं ग्राह्यमिति व्याख्यातारः॥ ३६॥

सूक्ष्मा-सार—*'अन्तरेत्यादि'* सूत्रमें *'तत्रत्यं वस्तुजातं सर्वम्'* इति में 'तत्रत्यम्' का अर्थ है संव्योमपुरमें प्रकाशित पुर, प्राकार, नदी, तड़ाग आदि समस्त वस्तुएँ ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हैं—ब्रह्मस्वरूप—ब्रह्मकी शक्तिका विलासस्वरूप होनेपर ही। यदि कहो, यह पुर भी भौतिक वस्तु हो सकता है, इसके उत्तरमें कहते हैं, नहीं, यह 'वत्' शब्दके द्वारा खण्डित हुआ है अभिप्राय यह है कि भौतिकके समान प्रतीयमान है, वास्तवमें तो ब्रह्मस्वरूप है इसीलिए स्वात्मकत्व कहा गया है। इस तर्कके अगोचर-विषयमें श्रुति ही एकमात्र आश्रय है—यही तात्पर्य है। अचिन्तनीय रूपमें तर्क भी वहाँ पराहत है। *'भू-तोयादिरूपं तत्'*—इति में 'तत्' का अर्थ है—'वैचित्र्य'। *'एकमपि विचित्रमित्यादि'*—एक ही चिदानन्दमय ब्रह्म एवं उनका अधिष्ठान परमव्योम नाना प्रकारसे वैचित्र्ययुक्त होकर मयूरपुच्छकी चन्द्राकृति चिह्नके समान प्रकाश पाता है। चन्द्रक शब्दका अर्थ है मयूरपुच्छ। *'चन्द्रकादिवत्'* में इस आदि पदके द्वारा बहुत वर्णों (रङ्गों) से

समन्वित एक पुष्प आदि जानना चाहिये। व्याख्या करनेवाले इस प्रकार कहते हैं॥ ३६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब परब्रह्मके स्वस्वरूपाधिष्ठानत्व धर्मके उपसंहारके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है।

मुण्डक-श्रुतिमें पाया जाता है कि—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
(मु॰ २/२/७)

अर्थात् जो सर्वज्ञ, सर्वाधिपति हैं, जिनका यह ऐश्वर्य पृथ्वीपर बिखरा पड़ा है, वे संव्योमात्मक दिव्यपुरमें आत्म रूपसे अधिष्ठित हैं।

इस स्थलपर संशय यह है कि संव्योमात्मक अर्थात् परव्योम नामक दिव्य ब्रह्मपुर क्या श्रीभगवान्‌की ऐश्वर्यात्मक महिमा है अथवा विचित्र प्रासादादि विशिष्ट कोई विशेष पुरी है? पूर्वपक्षी कहते हैं—इसे श्रीभगवान्‌की महिमा ही कहेंगे, क्योंकि विभु भगवान्‌का अधिष्ठान सम्भव नहीं है, उनकी निज महिमा ही उनका आधार है, उस महिमाको ही यहाँ पुररूपमें वर्णन किया गया है। पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि भक्तोंके निकट श्रीभगवान्‌के उस अधिष्ठानभूत परव्योमात्मक दिव्यपुरमें समस्त वस्तुएँ प्राकृत भूतवत् प्रतीत होती हैं, किन्तु वहाँकी समस्त वस्तुएँ ही ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्मका शक्तिविलासरूप हैं।

परव्योमस्थित ये वस्तुएँ भौतिकके समान प्रतीत होनेपर भी ये भौतिक नहीं हैं, क्योंकि *'भूतग्रामवत्'* में निहित 'वत्' शब्दसे उसके भौतिकत्वको निरस्त किया गया है।

श्रीमद्भागवतके श्रुति-स्तवमें प्राप्त है—

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८७/१४)

अर्थात् श्रुतियाँ कहती हैं—हे अजित! आपकी जय हो, जय हो! आप स्वभावसे ही समस्त ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण हैं। प्रभो! आपकी इस गुणमयी मायाने दोषके लिए—जीवोंके शुद्ध-स्वरूपको आच्छादन कर उन्हें बन्धनमें डालनेके लिए ही सत्त्वादि गुणोंको ग्रहण किया है। इसलिए आपके मिटाये बिना यह माया मिट नहीं सकती। अतः आप ही उसे दूर कीजिये। आप ही जगत्‌की समस्त शक्तिको जगानेवाले हैं। जब आप अपनी शक्तियोंके साथ चित्-जगत्‌में लीला करते हैं और जब किसी कारणवश अपनी छायाशक्ति मायाके प्रति ईक्षण करके उससे स्वयं निर्लिप्त रहकर सृष्टि आदि लीला करते हैं—हम श्रुतियाँ आपकी इन दोनों प्रकारकी लीलाओंका प्रतिपादन करती हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्तीपाद कहते हैं—*'क्वचिद् जया कदाचित् सृष्ट्यादि समये मायया बहिरङ्गशक्त्या सह आत्मना च सर्वकालमेव स्वरूपशक्त्या च सह चरत इति कर्मणि षष्ट्यार्षी। चरन्तं क्रीडन्तं त्वां निगमोऽस्मल्लक्षणः श्रुतिकदम्बः अनुचरेत् परिचरेत्।'*

अर्थात् कभी अर्थात् सृष्टि आदिके समय बहिरङ्गाशक्ति और सब समय अपनी स्वरूपशक्तिके साथ विचरण करते हुए आप क्रीड़ा करते हैं। निगम अर्थात् श्रुतिरूप हम आपकी परिचर्या करती हैं।

और भी,

धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि

(श्रीमद्भा॰ १/१/१)

अर्थात् जिनमें कभी भी कपटताका अधिष्ठान नहीं है, उन सत्यस्वरूप लक्षणविशिष्ट परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्तीपाद कहते हैं—*'स्वेन धाम्ना श्रीमथुराख्येन सर्वत्र तदानीं कृपया दर्शितेन श्रीविग्रहेण च सदा निरस्तकुहकं जीवानामविद्या येन तम्।'*

अर्थात् मथुरा नामक निज धामके द्वारा और सर्वत्र उस समय कृपापूर्वक दिखाये गये श्रीविग्रहके द्वारा जीवोंकी अविद्या (कुहक) निरस्त हुई है।

अनिन्द्रिया अनाहारा अनिष्पन्नाः सुगन्धिनः।
एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः॥

(नारायणीयात्)

अर्थात् श्वेतद्वीपनिवासी पुरुषगण इन्द्रियरहित, अनाहारी, अनिष्पन्न (उत्पत्तिरहित) एवं सुगन्धयुक्त हैं।

इसी बातको सप्तम-स्कन्धमें भी कहा है—

देहेन्द्रियासु हीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्।

(श्रीमद्भा॰ ७/१/३५)

अर्थात् वैकुण्ठपुरवासीगण प्राकृत देह, इन्द्रिय और प्राणोंसे रहित हैं॥ ३६॥

सूत्र—अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्॥ ३७॥

सूत्रार्थ—'इति चेत्'—यदि कहो 'अन्यथा' ब्रह्म और उनका लोक—इस लोक-लोकीका भेद न माननेपर 'भेदानुपपत्तिः' एक अधिष्ठान है और दूसरा अधिष्ठाता—इस भेदकी असङ्गति होती है 'न' तो ऐसा नहीं है, क्योंकि 'उपदेशान्तरवत्' अन्य श्रुति-वाक्य 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादिमें आनन्दसे अभिन्न ब्रह्मका आनन्दोक्तिरूप भेद जिस प्रकारसे युक्तियुक्त होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये॥ ३७॥

सूत्रानुवाद—लोक-लोकीका भेद न माननेपर अधिष्ठान और अधिष्ठाताका भेद सिद्ध नहीं होगा—यह कहना अयौक्तिक है। उपदेशान्तरके दृष्टान्तसे इसका समन्वय करना होगा यथा 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।' विशेषधर्मके आधारपर यह दोषावह भी नहीं है॥ ३७॥

गोविन्दभाष्य—अन्यथा भेदाभावे सत्यधिष्ठानाधिष्ठातृभेदानुपपत्तिरिति चेन्नैष दोषः। कुतः? उपदेशान्तरवदुपपत्तेः। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानित्याद्युपदेशान्तरे यथा सत्यप्यभेदे विशेष बलाद्भेदकार्यमुपपद्यते तद्वदिहापीत्यर्थः॥ ३७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आशङ्का करनेके बाद परिहार करते हैं—अन्यथा अर्थात् भेदाभाव कहनेपर (ब्रह्म और उनके अधिष्ठानका भेद अस्वीकार करनेपर) अधिष्ठान और अधिष्ठाता भेदोक्तिकी असङ्गति होती है। यह यदि कहते हो, तो यह दोषावह नहीं है। इसका कारण

है कि अन्य उपदेशके समान इसकी भी सङ्गति है। वह क्या है? *'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'* (ब्रह्मको आनन्द जानना होगा) (तै॰ २/९/१) इत्यादि श्रुति-वाक्यमें जिस प्रकार आनन्द और ब्रह्मका अभेद रहनेपर भी विशेष धर्मके द्वारा भेदोक्ति युक्तियुक्त (सिद्ध) है, इसी प्रकार इस स्थलपर भी जानें॥ ३७॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्यथेति। *"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्"* (मु॰ २/२/११) इत्यादि श्रुत्या लोकलोकिभेदप्रतिषेधे सतीत्यर्थः। आनन्दमित्यादि श्रुतौ यथा गुणगुणिभेदाभावेऽपि विशेषात् तद्भावभानं तथा ब्रह्मैवेदमित्यादि श्रुतौ लोकलोकिभेदाभावेऽपि तस्मादेव तद्भावभानं सत्ता सतीत्यादौ सत्तादीनां सत्तावत्त्वादीति भानवदिति भावः॥ ३७॥

सूक्ष्मा-सार—*'अन्यथेति'* सूत्रमें—अन्यथा अर्थात् *'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्'* इत्यादि श्रुतिके आधारपर लोक एवं लोकीका भेद (अधिष्ठान और अधिष्ठाताका प्रभेद) निषिद्ध होनेपर भी। भावार्थ यह है *'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'* (तै॰ २/९/१) इत्यादि श्रुतिमें जिस प्रकार गुण और गुण-विशिष्टका भेद न रहनेपर भी विशेषके आधारपर भेद-प्रतीति होती है, उसी प्रकार *'ब्रह्मैवेदम्'* इत्यादि श्रुतिमें लोक-लोकीका भेदाभाव प्रतिपादित होनेपर भी विशेषके आधारपर भेदभावकी प्रतीति होगी, जिस प्रकार सत्ता जाति, सत्ता-विशिष्ट इत्यादि प्रयोगोंमें सत्तादिकी सत्ता स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार॥ ३७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार स्वयं आशङ्का उठाकर प्रस्तुत सूत्रमें उसका परिहार करते हुए कहते हैं कि यदि कोई कहे कि ब्रह्म और उनके अधिष्ठानका भेद अस्वीकार करनेपर अधिष्ठाता और अधिष्ठानकी भेदोक्तिकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं होती, तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्य उपदेशोंके समान इसमें भी सङ्गति है।

भावार्थ यह है कि *'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'*—'ब्रह्मको आनन्दमय जानें' इस उपदेशसे भेदकी प्रतीति नहीं होनेपर भी विशेष बलसे भेदकी उपपत्ति होती है, उसी प्रकार अधिष्ठान और अधिष्ठाताका स्वरूपसे भेद नहीं रहनेपर भी विशेष बलसे भेदकी सिद्धि जाननी होगी।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/१८)

हे भगवन्! क्या आपने केवल माताको ही इस प्रकारसे दिखलाया था, जो आज मुझे भी दिखलाया है? आज ही आपने अपने अतिरिक्त इस ब्रह्माण्डका जो मायातत्त्व है, उसे मेरे सामने भी प्रदर्शित किया है। प्रथमतः आप अकेले थे। इसके बाद आप व्रज-बालक, बछड़े, वेणु, छड़ी और छीकोंके रूपमें दिखायी देने लगे। बछड़े एवं व्रजबालक सभी चतुर्भुज थे और मेरे सहित अखिल तत्त्व उन सभी रूपोंकी उपासना कर रहे थे। जितनी संख्यामें बछड़े एवं गोपबालक थे, आपने अलग-अलग उतनी ही संख्यामें ब्रह्माण्डोंका रूप भी धारण किया था। अब आप अद्वय ब्रह्मरूपमें अवशिष्ट हैं॥ ३७॥

गोकुल-वैकुण्ठादि धाम और धामेश्वर श्रीहरिका सम-उपास्यताका विषय वर्णन

अवतरणिका भाष्य—लोकलोकिनोरूपास्यभावं सममिति व्यञ्जयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—लोक एवं लोकी—दोनोंकी ही समान उपास्यता है अर्थात् दोनोंके ही उपास्य भावोंका समत्व है, यही व्यञ्जित करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—लोकेति। लोको गोकुलवैकुण्ठादिर्महिम संव्योमशब्दोक्तः लोकी हरिर्भगवत्परमात्मसर्वेश्वरादिशब्दोक्तः। तावुभौ तौल्येनोपास्याविति सूचयतीत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—लोक अर्थात् गोकुल, वैकुण्ठ—इत्यादि जो संव्योम अथवा महिमन् शब्दके वाच्य हैं और लोकी—श्रीहरि जो भगवत्-शब्द, परमात्मन्-शब्द और सर्वेश्वर-शब्दके वाच्य हैं—वे

दोनों (लोक एवं लोकी) तुल्य भावसे उपास्य (उपासनीय) हैं, यही सूचित करते हैं।

सूत्र—व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्॥ ३८॥

सूत्रार्थ—'हि' क्योंकि 'विशिंषन्ति' कोई श्रुति लोक रूपमें परमात्माको विशेषित करती है और कोई श्रुति लोकको परमात्म रूपमें विशेषित करती है, 'व्यतिहारो' यह क्रिया-विनिमय द्वारा जाना जाता है कि लोक ही परमात्मा है और परमात्मा ही लोक है। इस विषयमें दृष्टान्त है 'इतरवत्' जिस प्रकार 'सत्पुण्डरीकम्' इत्यादि श्रुति विग्रहको परमात्म रूपमें विशेषित करती है, पुनः 'साक्षात् प्रकृति परोऽयमात्मा गोपालः' जो साक्षात् प्रकृतिसे अतीत मायाधीश परमात्मा हैं, वे भूमिपर अवतीर्ण हुए। (गो॰ता॰उ॰ २४) इत्यादि श्रुति परमात्माको विग्रह रूपमें विशेषित करती है, इसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये॥ ३८॥

सूत्रानुवाद—लोक-लोकीका परस्पर अभेद है। अतः श्रीभगवान् तथा उनका धाम दोनों ही समान रूपसे ध्येय हैं। श्रुतियाँ विग्रहका परमात्मा रूपसे तथा परमात्माका विग्रह रूपसे निर्देश करती हैं॥ ३८॥

गोविन्दभाष्य—*"आत्मानमेव लोकमुपासीत"* (बृ॰आ॰ १/४/१५) इत्याद्याः श्रुतयो हि यस्माल्लोकत्वेन परमात्मानं विशिंषन्ति परमात्मत्वेन लोकञ्च अतो व्यतिहारः सिद्धः। परमात्मैव लोको लोकः परमात्मेति। इतरवत् यथेतराः सत्पुण्डरीकनयनमित्याद्याः *"साक्षात् प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपालः"* इत्याद्याश्च श्रुतयो विग्रहः परमात्मत्वेन विशिंषन्ति परमात्मानञ्च विग्रहत्वेनेति तद्वत्। तथा चानन्दचिद्विग्रहो हरिरचिन्त्यशक्त्या स्वयं विचित्रस्तादृशलोकरूपश्च स्वभक्तस्य स्फुरति नान्यस्येति। तद्वत् सोऽपि ध्येयं इति सिद्धम्॥ ३८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'आत्माकी लोक रूपमें उपासना करें' इत्यादि श्रुतियाँ लोकरूपमें परमात्माका निर्देश करती हैं, पुनः लोकको परमात्मरूपमें निर्देश करती हैं, अतएव दोनोंमें परस्पर अभेद सिद्ध है। परमात्मा ही लोक है, लोक ही परमात्मा है। दृष्टान्त है—*'इतरवत्'* अर्थात् जिस प्रकार अन्यान्य श्रुतियाँ जैसे कि *'सत्पुण्डरीकनयनम्'*—वे विकसित पद्मपलाशलोचन, नवनीरदश्याम इत्यादि हैं—परमात्माको मूर्त्तिमान विग्रह कहती हैं। पुनः *'अयमात्मा गोपालः'* वे गोपाल ही परमात्मा हैं,

इत्यादि श्रुतिमें प्रथमोक्त श्रुति विग्रहका परमात्म रूपमें निर्देश करती है। दूसरी श्रुति परमात्माको विग्रह रूपमें निर्देश करती है, इस प्रकार व्यतिहार (एकसे दूसरेके धर्मका विनिमय होनेसे अभेदत्व) है। अतएव सिद्धान्त यह है कि सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीहरि अपने अचिन्त्यशक्ति बलसे अपने ही विचित्र उस प्रकारके लोक रूपमें अपने भक्तोंके निकट प्रकाशित होते हैं, अन्यके निकट नहीं। अतएव इस प्रकारसे उनका धाम ही ध्येय है॥ ३८॥

सूक्ष्मा-टीका—व्यतिहार इति। व्यतिहारः परस्पराभेदः। तादृशेति विचित्रलोकरूप इत्यर्थः। सोऽपीति। हरिरिव तल्लोकोऽपि चिन्त्य इत्यर्थः॥ ३८॥

सूक्ष्मा-सार—*'व्यतिहारः'* इत्यादि सूत्रमें। *'व्यतिहारः'* अर्थात् लोक-लोकीका परस्पर अभेद। *'स्वयं विचित्रस्तादृशलोकरूपश्चेति'*—उस प्रकारसे लोकरूपः—विचित्र लोकरूपी—यह अर्थ है। *'सोऽपि ध्येयः इति'*—सोऽपि अर्थात् श्रीहरिके समान उनका धाम भी ध्येय है॥ ३८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब लोक अर्थात् गोकुल वैकुण्ठादि धाम और लोकी अर्थात् धामेश्वर भगवान् श्रीहरि जो समभावसे उपास्य हैं—यही प्रस्तुत सूत्रमें इङ्गित कर रहे हैं। श्रुतिमें जो आत्मरूप लोककी उपासनाका उल्लेख है, उसमें लोक ही परमात्मा है और परमात्मा ही लोक है, इस प्रकारसे परस्पर अभेद प्रतीत होता है। अन्य श्रुतिमें भी इसी प्रकार देखा जा सकता है कि विग्रहको ही परमात्मा एवं परमात्माको विग्रह कहा है। आनन्दमय चित्-विग्रह श्रीहरि स्वयं अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा ही इस प्रकारके लोकको व्यक्त करते हैं। एकमात्र अपने ही भक्तोंके निकट वे व्यक्त होते हैं। इस स्थलपर यही सिद्ध होता है कि श्रीभगवान्के समान उनका धाम भी ध्येय है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२५/१८)

ये सारे व्रजवासी मेरे अधीन हैं और मैं ही इनका एकमात्र रक्षक हूँ। मैंने गोपोंके समुदाय—व्रजको अपना स्वीकार किया है। मैं अपनी अलौकिक शक्तिसे इनकी रक्षा करूँगा। भक्तोंकी रक्षा करना तो मेरा व्रत है।

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं,
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः,
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म॥

(श्रीमद्भा॰ १०/३५/९)

तब वनके वृक्ष तो पल्लव-फल-फूलोंसे लद जाते हैं और उनके भारसे शाखाएँ धरतीकी ओर झुक जाती हैं; मानो प्रणाम कर रहे हों। यह देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्ष एवं लताएँ अपने भीतर विराजमान विष्णुको सूचित करते हुए प्रेमसे पुलकित हो रहे हैं, उनका रोम-रोम खिल रहा है और वे अश्रुधाराओंके बहाने मधुधाराएँ उँड़ेल रहे हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

'कृष्णनाम', 'कृष्णगुण', 'कृष्णलीला' वृन्द।
कृष्णेर स्वरूपसम सब—चिदानन्द॥

(चै॰च॰म॰ १७/१३५)

श्रीकृष्णके नाम, श्रीकृष्णके गुण और श्रीकृष्णका लीलासमूह—ये सब श्रीकृष्णके स्वरूपके समान ही चिदानन्दमय हैं।

इसी प्रकार,

'नाम', 'विग्रह', 'स्वरूप'—तिन एकरूप।
तिने 'भेद' नाहि—तिन 'चिदानन्द' रूप॥

(चै॰च॰म॰ १७/१३१)

अर्थात् वस्तुतः कृष्णका नाम कृष्णका विग्रह और कृष्णका स्वरूप—ये तीनों ही चित्-वस्तु हैं अर्थात् नाम, विग्रह और स्वरूप—तीनों ही चिदानन्दमय हैं।

तथा,

कृष्णेर महिमा बहु केबा तार ज्ञाता।
वृन्दावन स्थानेर आश्चर्य विभुता॥

षोलक्रोश वृन्दावन, शास्त्रेर प्रकाशे।
तार एकदेशे वैकुण्ठाजाण्डगण भासे॥

अपार ऐश्वर्य कृष्णेर नाहिक गणन।
शाखा-चन्द्र-न्याये करि दिग्‌दरशन॥

(चै०च०म० २१/२८-३०)

श्रीकृष्णकी महिमा अपार और अगाध है। इसे भला कौन जान सकता है? इसी प्रकार वृन्दावन धामकी भी विभुता आश्चर्यमयी है। व्रजमण्डलमें जो सोलह वन हैं—ये समस्त मिलकर चौरासी कोस होते हैं। इनमें वृन्दावन नामक वन वर्त्तमान वृन्दावन नगरकी सीमासे नन्दग्राम वृषभानुपुर तक १६ कोस हैं—यह शास्त्र कहता है। इसी वृन्दावनके एक अंशमें ब्रह्माजीने अनन्त वैकुण्ठ एवं अनन्त ब्रह्माण्ड देखे थे। अहो! श्रीकृष्णका ऐश्वर्य अपार है, इसे कोई परिगणित नहीं कर सकता। शाखा-चन्द्र न्यायके समान यह तो दिग्दर्शनमात्र है। (चन्द्रकी एक शाखा दिखाकर जिस प्रकार चन्द्रमाका परिचय दिया जाता है, उसी प्रकार किसी तत्त्वका एक देश (अंश) दिखाकर समस्त देशका किञ्चित् ज्ञान दिया जाता है, यह न्याय शाखा-चन्द्र न्याय कहलाता है)॥ ३८॥

अवतरणिका भाष्य—अथोक्तार्थस्थैर्याय इदमारभ्यते। विशेषबोधकानि वचांसि विषयः। विशेषा मायिकाः स्वाभाविका वेति संशयः। *"नेह नानास्ति किञ्चन"* (बृ०आ० ४/४/१९), *"अथात आदेशो नेति नेति"* (बृ०आ० २/३/६) इत्यादि श्रवणान्मायिकास्तु इति प्राप्ते पठ्यते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब उक्त विषयकी दृढ़ता-साधनके लिए (स्थिरता) इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है। श्रीहरिके सार्वज्ञ्य इत्यादि गुणोंका निरूपण करनेवाले विशेष-बोधक नाना-वाक्य इसी विचारके विषय हैं। संशय यह है कि ये सर्वज्ञतादि विशेष धर्म क्या मायिक हैं? अथवा स्वाभाविक? इसपर पूर्वपक्षीका मत है— *'नेह नानास्ति किञ्चन'* (बृ०आ० ४/४/१९) 'इस जगत्‌में नाना वस्तु कुछ

भी नहीं है? एकमात्र ब्रह्म ही हैं' और *'अथात आदेशो नेति नेति'* (बृ०आ० २/३/६) इसके बाद ब्रह्म सम्बन्धमें उपदेश है यह नहीं, यह नहीं इत्यादि रूपमें प्रपञ्चके निषेध द्वारा जो अवशिष्यमाण हैं, वे ही ब्रह्म हैं, इत्यादि वेद-वाक्य श्रुत होनेके कारण ये सार्वज्ञ्यादि समस्त गुण मायिक ही कहे जायेंगे, इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र सार्वज्ञयादिगुणसंव्योमधामविशिष्टत्वं हरौ विचिन्त्यमित्युक्तम्। तथात्वं हरेरस्तु सार्वज्ञ्यादेरमायिकत्वं मास्तु निर्गुणवाक्यबलेन तस्य मायिकत्वप्रत्ययादिति प्रत्युदाहरणमत्र सङ्गतिः। अथोक्तार्थेत्यादि। विशेषबोधकानि गुणादिनिरूपकाणि। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व अधिकरणमें कहा गया था कि श्रीहरिका सार्वज्ञ्य इत्यादि गुणविशिष्ट एवं संव्योमादि धामविशिष्ट रूपमें ध्यान करें। अच्छा! ऐसा ही हो! किन्तु ये सार्वज्ञ्यादि गुण अमायिक न हों क्योंकि निर्गुणत्व-बोधक श्रुति-वाक्यके आधारपर सार्वज्ञ्यादिका मायिकत्व ही प्रतीत होता है—यह प्रत्युदाहरण सङ्गति इस स्थानपर ज्ञातव्य है। *'अथोक्तार्थस्थैर्यायेति विशेष बोधकानि वचांसि इति'*—गुणादिके निरूपक वाक्य। यह प्राप्त होनेपर—पूर्वपक्षीका इस प्रकारसे सिद्धान्त स्थिर होनेपर—

सैव हि सत्याद्यधिकरणम्

सूत्र—सैव हि सत्यादयः॥ ३९॥

सूत्रार्थ—'सा एव' परा नामकी जो स्वरूपशक्ति है, 'हि सत्यादयः' वही सत्यादि विशेष धर्मस्वरूप है॥ ३९॥

सूत्रानुवाद—जो परा नामकी परमेश्वरकी स्वाभाविकी अर्थात् स्वरूपानुबन्धिनी शक्ति है, वह सत्यादि विशेष धर्मस्वरूप है॥ ३९॥

गोविन्दभाष्य—*"पराऽस्य शक्तिः"* (श्वे० ६/८) इत्यादौ *"विष्णुशक्तिः परा"* (वि०पु० ६/७/६१) इत्यादौ च मायेतरा वह्न्युष्णतेव स्वाभाविकी या पराख्या स्वरूपशक्तिरुक्ता सैव हि यस्मात् सत्यादयो विशेषा भवन्त्यतस्ते न मायिका अपि त्वात्मानुबन्धिनः स्युरित्यर्थः। सत्यादीनां गुणानां परात्वे वक्ष्यमाणावायतनौ हेतु

द्रष्टव्यौ। अतएव *"नेह नानास्ति किञ्चन"* (बृ०आ० ४/४/१९) इत्युक्तम्। अथात इत्याद्यर्थस्तु प्राग्विवृतः। आदिशब्दात् शौचदयाक्षान्त्यादयः सार्वज्ञ्यसार्वैश्वर्यानन्द-सौन्दर्यादयश्च बोध्याः। अतएव श्रीमान् पराशरो भगवच्छब्दस्य शुद्धो महाविभूतिधर्मी परमात्मा वाच्य इत्युक्त्वा संभर्त्तृत्वादीन् पूर्णैश्वर्यादींश्च धर्मान् व्यस्तसमस्तभूतस्य तस्य वाच्यानवोचत्। समस्तस्य तस्य पुनरशेषज्ञानादीन्धर्मान् वाच्यानभ्यधात्। *"शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते। मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे"* इत्यादिना। *"संभर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने। ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना।* (वि०पु० ६/५/४७) *वसन्ति यत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः। ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य"* इत्यादिना च। तथा च तत्स्वरूपाभिन्ना परैव तत्र सत्यादयो विशेषा भवन्तीति ध्येयं धर्मिनिर्भेदमिति सिद्धम्॥ ३९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'परास्य शक्तिः'* और *'विष्णुशक्तिः परा'* इत्यादि श्रुतिमें मायासे इतर अग्निकी दाहिका शक्तिके समान जो परा नामकी स्वाभाविकी (आत्मानुबन्धिनी अर्थात् स्वरूप) शक्ति कही गयी है, क्योंकि वहीसे सत्यादि विशेष धर्मस्वरूप है, अतएव परमेश्वरके ये सब धर्म मायिक नहीं हो सकते, बल्कि तो उन समस्त धर्मोंका आत्माका (परमेश्वरका) स्वरूपानुबन्धी होना ही उचित है, यही इसका अर्थ है। सत्यज्ञानादि गुणोंकी पराशक्तिरूपताके विषयमें बादमें कहे जानेवाले *'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः'* (ब्र०सू० ३/३/४०) सूत्रमें 'आय' एवं 'तन' ये दो हेतु द्रष्टव्य हैं। इसका तात्पर्य है 'आय' अर्थात् व्याप्ति 'तन' अर्थात् भक्तके मोक्षानन्दका विस्तार—इन्हीं दोनों हेतुओंसे सत्यादिको पराशक्ति कहा गया है। इसी कारण *'नेह नानास्ति किञ्चन'* श्रुतिमें विजातीय भेदराहित्य कहा गया है, किन्तु स्वरूपानुबन्धी सजातीय भेदभाव नहीं कहा गया है। *'अथाच आदेशो नेति नेति'* (बृ०आ० २/३/६) इत्यादि श्रुतिके अर्थको पहले *'प्रकृतैतावत्त्वम्'* इत्यादि सूत्र (३/२/२२) में विवृत किया गया था। *'सत्यादयः'* इस सूत्रमें आदि पदसे शौच, दया, क्षमा, सार्वज्ञ्य, सार्वैश्वर्य, आनन्द एवं सौन्दर्यादि धर्मोंको जानना चाहिये। इसी कारणसे भगवान् महर्षि पराशरने विष्णुपुराणमें भगवत् शब्दके वाच्यार्थ कथन-प्रसङ्गमें कहा है—जो शुद्धस्वभाव, महाविभूति सम्पन्न परमात्मा हैं, वे ही भगवत्

शब्द वाच्य हैं—यह कहकर संभर्त्तृत्व और पूर्णैश्वर्यादि धर्मभूत व्यष्टि-समष्टि स्वरूपको भगवत् शब्दका वाच्य अर्थात् इस भगवत् शब्दके प्रत्येक वर्णका एवं वर्ण समुदायका वाच्य अर्थ विश्लेषण किया है। पुनः अशेष (समस्त) भगवत् शब्दके सम्पूर्ण ज्ञानादि धर्मको भगवत् शब्दके वाच्य अर्थमें निर्देश किया है। यथा—*'शुद्धे महाविभूत्याख्ये ... सर्वकारणकारणे'* इत्यादि अर्थात् हे मैत्रेय! भगवत् शब्द समस्त कारणोंका कारण, शुद्ध, महाविभूति संज्ञक एवं परब्रह्मका वाचक है। इसी प्रकार अन्यान्य वाक्यों द्वारा भी यही कहा गया है। पुनः संभर्त्तृत्वादि धर्मोंको भी भगवत् शब्दके अन्तर्गत प्रत्येक वर्णका वाच्य कहा है, यथा *'संभर्त्तेति तथा भर्त्ता ... ततोऽव्ययः।'* 'भ' शब्दका अर्थ है—सर्वधारण और सर्वपालन, (संभर्त्ता और भर्त्ता) ये दो। 'ग' वर्णके अर्थ हैं—नेता अर्थात् वे निज उपासकोंको स्वरूपशुद्धि प्राप्त कराते हैं, गमयिता अर्थात् स्वरूपशुद्धिके बाद उन्हें स्वपद प्राप्त कराते हैं एवं स्रष्टा स्वपदकी प्राप्ति कराके उन्हें विचित्र (अद्भुत) आनन्द देते हैं—इस प्रकार 'ग' कारके तीन अर्थ हैं। अतःपर 'भग' इस समष्टिका अर्थ बतलाते हैं—समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छहकी संज्ञा भग शब्दसे शाब्दित है। इसमें 'वत्' यह 'मतुप्' प्रत्यय है, इस मतुप् प्रत्ययके अन्तर्गत 'व' कारका अर्थात् 'वत्' का अर्थ कहते हैं—*'वसन्ति यत्र ... ततोऽव्ययः।'* पूर्व सिद्धस्वरूप और अखिल शक्तिमान होनेके कारण समस्त कार्योंके उपादानस्वरूप जिन ब्रह्ममें समस्त वस्तुएँ अवस्थित हैं और जो समस्त प्राणियोंमें प्रत्यगात्म रूपसे वास करते हैं, वे अव्यय परब्रह्म ही 'व' वर्णका अर्थ हैं। अतः समष्टिभूत तीनों वर्णों 'भ-ग-व' का अर्थ ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य इत्यादि द्वारा कहते हैं—जिनमें सर्वज्ञता शक्ति अघटन-घटन-सामर्थ्य अर्थात् इच्छामात्रसे ही अखिलकर्त्तृत्व, बल अर्थात् निखिल जगत्को धारण करनेकी सामर्थ्य है, जो वीर्य अर्थात् सर्वनियामकत्व इत्यादि धर्मविशिष्ट हैं, वे ही भगवान् हैं। अतएव सिद्धान्त यह है कि पराशक्ति उनके स्वरूपसे अभिन्न है। सत्यादि धर्म इस शक्तिके ही विशेष गुण हैं। इस प्रकारसे धर्मीके साथ (श्रीहरिके साथ) धर्मका (सत्यादिका) भेद ज्ञान न करके ध्यान करें॥ ३९॥

सूक्ष्मा-टीका—सैव हीति। परास्येति मायेतरा त्रैगुण्यभिन्ना। वक्ष्यमाणाविति कामादीति सूत्रे इति बोध्यम्। अतएव नेह नानेति। इह ब्रह्मणि यदन्ति तन्नाना विजातीयं भिन्नं नास्ति किन्तु सजातीयं स्वरूपानुबन्ध्यस्तीत्युक्तम्। अन्यथेह किञ्चिदपि नास्तीत्येवं वदेदिति भावः। अथेति। प्राक् प्रकृतैतावत्त्वमिति सूत्रव्याख्याने। आदिशब्दादिति। यदुक्तं प्रथमे धर्मं प्रति भूदेव्या। *"सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्। शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्। ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः। स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिधैर्यं मार्दवमेव च। प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः। गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्त्तिमानोऽनहंकृतिः। इमे चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः। प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्"* इति। एषु सत्यं यथार्थभाषित्वम्। शौचं पावनत्वं शुद्धत्वं वा भावशुद्धिर्वा। स्वाश्रितेषु प्रत्युपकारनैरपेक्ष्यरूपा च तारतम्यानादरेण भक्तिमात्रप्रसाद्यत्वरूपा वा। दया निर्हेतुकपरदुःखनिराचिकीर्षा। क्षान्तिः क्रोधप्राप्तौ चित्तसंयमः। त्यागो याचकेषुमुक्तहस्तता। सन्तोषः स्वानन्दपूर्णता। आर्जवं मनोवाक्कायैकरूप्यम्। तपः स्वधर्माचरणम्। साम्यं जातिगुणादिवैषम्यभाजां शरण्यतायाम् अवैशिष्ट्यं शत्रुमित्राद्यभावो वा। तितिक्षा परापराधसहनम्। उपरतिर्लाभप्राप्तावौदासीन्यम्। श्रुतं शास्त्रविचारः। ज्ञानं सर्वसाक्षात्काररूपं सार्वज्ञ्यम्। विरक्तिवैतृष्ण्यम्। ऐश्वर्यं नियमनसामर्थ्यम्। शौर्यं युद्धोत्साहः। तेजः पराभिभवसामर्थ्यम्। बलं साधारणसामर्थ्यम्। स्मृतिः कर्त्तव्यानुसन्धिः। स्वातन्त्र्यमपराधीनत्वम्। कौशलं क्रियानैपुण्यम्। कान्तिः सौन्दर्यं यथोचिताङ्गसन्निवेशलक्षणम्। धैर्यमभग्नप्रतिज्ञत्वम्। मार्द्दवं स्वभक्तविरहासहत्वम्। प्रागल्भ्यं प्रतिभातिशयः। प्रश्रयो विनयित्वम्। शीलं सुस्वभावः महतो मन्दतरैरप्यभिमुखैः सह नीरन्ध्रप्रणयः। सह-ओजो-बलानि मनोज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियपाटवानि क्रमात्। भगो भोगास्पदता। गाम्भीर्यं भक्तानामपराधैस्तत्प्रदर्श कैश्चाक्षोभ्यत्वम्। स्थैर्यं सदैकरस्यम्। आस्तिक्यं शास्त्रतदर्थानुष्ठानश्रद्धा। मानः सर्वपूज्यता। अन्ये स्फुटार्थाः। अतत्रवेति। यस्माद्गुणाः स्वाभाविकास्तत इत्यर्थः। शुद्ध इति। विभूत्या गुणैश्च विशिष्टाऽपि केवल इति तेषां ध्येयत्वमुक्तम्। व्यस्तसमस्तभूतस्येति। एकैकवर्णस्य वर्णत्रयस्य चेत्यर्थः। व्यञ्जनस्य तदाश्रितत्वात् नार्थः पृथक्। संभर्त्तेति सर्वधारणं सर्वपालनञ्च भकारस्यार्थः। नेता स्वोपासकानां स्वरूपशुद्धिप्रापकः। गमयिता शुद्धानां तेषां स्वपदप्रापकः। स्रष्टा स्वपदे तेषां विचित्रानन्दप्रकाशक इति गकारस्यार्थः। अथ समस्तयोरर्थमाहैश्वर्यस्येति। समग्रस्येति षण्णां विशेषणम्। इङ्गना संज्ञा। (इज्य इगिर्णिजन्तः ततः करणेषु च निवृत्तिः प्रेषणात् धातोः प्रकृतेऽर्थे निजिस्यते इत्युक्ते ज्ञापकायत इत्युक्तम्। लुतन्तो वास्तु डिम्बभावस्त्वार्षः) इङ्ग्यते ज्ञायतेऽनयेति व्युत्पत्तिः। अथ वकारस्यार्थमाह—वसन्तीति। भूतात्मनि पूर्वसिद्धस्वरूपे। अखिलात्मनि शक्तिमद्रूपेण सर्वोपादाने। तथाच सर्वाधारः सर्वान्तर्यामी हरिरिति वकारस्यार्थः। अथ वर्णत्रयस्य समस्तस्यार्थमाह ज्ञानेति। ज्ञानं सार्वज्ञ्यम्।

शक्तिरघटितघटसामर्थ्यं सङ्कल्पमात्रेणैव निखिलजगत्कर्तृता। बलं निखिलजगद्विधारण-सामर्थ्यम्। ऐश्वर्यं निखिलनियामकत्वम्। वीर्यमविकारित्वं स्वजनोद्धरणसामर्थ्यं वा। तेजो मायातिरस्कारी प्रभावः। अशेषतोहशेषाणि परिपूर्णानीत्यर्थः। एतानि भगवच्छब्दवाच्यानि तत्स्वरूपाभिन्नधर्मत्वादिति भावः। ननु गुणानां स्वरूपानतिरेकस्वीकारे निराकार्यनैर्गुण्यवादापत्तेः स्वरूपादतिरिक्तास्ते सन्तु, मैवं स्वरूपस्य सविशेषत्वस्वीकारात्। विशेषबलेन सत्ता सतीत्यादिवत् तस्यैव गुणगुणिभावेन भानात्। भेदाभ्युपगमे तत्प्रतिषेधकवचांसि व्याकुप्येयुरित्यसकृदवोचाम्॥ ३९॥

सूक्ष्मा-सार— *'सैव हि सत्यादयः'* इस सूत्रमें *'परास्य शक्तिरित्यादि'* भाष्यमें *'मायेतरा'*—त्रिगुणात्मिका भिन्न वक्ष्यमाणाविति— *'कामादीतरत्र'* इत्यादि सूत्रमें द्रष्टव्य है। *'अतएव नेह नानास्ति श्रुतिः'* में 'इह' का अर्थ है—उन ब्रह्ममें जो कुछ धर्म है, वह ब्रह्म-विजातीय अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न नहीं है किन्तु स्वरूपानुबन्धी ब्रह्म सजातीय धर्म है, यह बात कही गयी है। इस प्रकारसे अर्थ न करनेपर *'नेह नानास्ति किञ्चन'* न कहकर *'किञ्चिदपि नास्ति'* इस प्रकार कहते हैं—यही अभिप्राय है। *'अथात आदेशो नेति नेति'* इत्यादि का अर्थ पहले *'प्रकृतैतावत्त्वम्'* इस सूत्रकी व्याख्यामें विवृत हुआ है। सूत्रोक्त 'सत्यादयः' यहाँ आदि पदसे धर्म ग्राह्य है—यथा धर्मके प्रति भूदेवीकी उक्ति है *'सत्यं शौचं दया क्षान्तिः ... न वियन्ति स्म कर्हिचित्'* इति (श्रीमद्भा० १/१६/२७-३०) हे भगवन् धर्म! जो महत्त्व प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, वे जिनमें ये समस्त नित्य महागुण विराजमान हैं अर्थात् स्वरूपानुबन्धी होकर स्थित हैं; कभी भी उनसे विच्युत नहीं होते। (उनकी कथा कहें) इनमें सत्य-यथार्थ भाषण, शौच-पवित्रता-सम्पादन अथवा स्वतःशुद्धत्व अथवा भाव-शुद्धि जो निज आश्रित व्यक्तियोंसे प्रत्युपकारकी प्रत्याशा नहीं रखते, तारतम्य न रखकर केवल भक्ति द्वारा प्रसादनीयत्वरूप भाव-शुद्धि, दया शब्दका अर्थ है—हेतुके बिना पर दुःखको दूर करनेकी इच्छा। क्षान्ति अर्थात् क्रोधके उद्रेकमें भी चित्तका संयम, त्याग-याचकको प्रार्थित वस्तुका अकातर होकर दान, सन्तोष—अपने आनन्दमें पूर्ण रहना, आर्जव-मन, वाक्य एवं कायिक व्यापारकी एकरूपता। तप—अपने-अपने वर्णाश्रमोचित धर्माचरण, साम्य—जाति गुण विभिन्न होनेपर भी अपने रक्षा-कार्यमें विशेषत्वका अभाव अथवा शत्रु-मित्रादिका अभाव। तितिक्षा—दूसरोंके

अपराधको सहन करना, उपरति (प्राप्य वस्तुके प्राप्त होनेपर भी उसमें औदासीन्य—निस्पृहता, श्रुत—शास्त्र-विचार, ज्ञान—सर्वज्ञता अर्थात् समस्त वस्तुका तत्त्व-साक्षात्कार, विरक्ति—वैराग्य अथवा वितृष्णा। ऐश्वर्य—नियमन-क्षमता, शौर्य—युद्धमें उत्साह, तेजः—दूसरेको पराभूत करनेकी क्षमता, बल—साधारणशक्ति, स्मृति—कर्त्तव्यानुसन्धान, स्वातन्त्र्य—पराधीनताका अभाव, कौशल—क्रिया सिद्धि विषयमें निपुणता, कान्ति—सौन्दर्य-यथोचित अङ्ग-सन्निवेश, धैर्य—दृढ़ प्रतिज्ञा, मार्दव—निज भक्तोंके विच्छेदको सहन करनेका अभाव, प्रागल्भ्य—असाधारण प्रतिभा, प्रश्रय—विनय, शील—सुस्वभाव जो महत् होनेपर भी अपनेसे निकृष्ट आश्रित व्यक्तियोंके साथ गाढ़-प्रणय। सहः—मनोबल, ओजः—ज्ञानेन्द्रियशक्ति, बल—कर्मेन्द्रियकी पटुता, भग—भोगाश्रयत्व, गाम्भीर्य—भक्तोंके अपराध करनेपर भी उनके ऊपर अथवा भक्तोंके अपराध-प्रदर्शक व्यक्तियोंके प्रति चित्त-विकृत्तिका अभाव! स्थैर्य—सर्वदा एक भावसे रहना। आस्तिक्य—शास्त्र-वाक्यमें विश्वास और शास्त्रार्थानुष्ठानमें श्रद्धा। मान—सर्वपूजनीयत्व। अन्यान्य जो समस्त धर्म कहे गये हैं, उनका अर्थ सुस्पष्ट है। अतएव श्रीमान पराशर इत्यादि—'अतएव' का अर्थ है क्योंकि ये समस्त गुण श्रीभगवान्में स्वाभाविक हैं, इसलिए! शुद्धो महाविभूतिधर्मी इत्यादि—वे शुद्ध महाविभूति एवं गुणविशिष्ट होनेपर भी एक अखण्ड हैं—इसके द्वारा उन समस्त गुणोंकी ध्येयता कही गयी है। व्यस्तसमस्तभूतस्येति अर्थात् भगवत् शब्दके अन्तर्गत एक-एक वर्णका और समुदय वर्णका स्वरूप—भगवान्‌का है। वर्ण ही अर्थ—व्यञ्जक होता है—इसलिए व्यञ्जक और व्यञ्ज्य अर्थ पृथक् नहीं है। संभर्त्तेत्यादि—सर्व-धारण एवं सर्वपालन ये दो भ-कारके अर्थ हैं। ग-कारके अर्थ तीन हैं—नेता, गमयिता और स्रष्टा—इसमें नेतृ शब्दका अर्थ है—जो अपने उपासकोंको स्वरूप-शुद्धि प्राप्त करा देते हैं गमयितृ शब्दका अर्थ है—जो शुद्ध उपासकोंको जो स्व-पद प्राप्त करा देते हैं। स्रष्ट्र शब्दका अर्थ है—जो उपासकोंको स्व-पदमें ले जाकर उनमें विचित्रानन्द प्रकाश करते हैं। अब इसके बाद 'भ' और 'ग' इन दो मिलित अक्षरोंका अर्थ कहते हैं—*'ऐश्वर्यस्य समग्रस्येत्यादि'*—समग्रस्य—यह विशेषण पद ऐश्वर्यादि छहों पदोंके साथ अन्वित है

अर्थात् 'समग्रस्य' ऐश्वर्यस्य, समग्रस्य वीर्यस्येत्यादि। 'इङ्गना' अर्थात् संज्ञा (ज्ञापक) इज्या—इगि—इग् धातुके उत्तरमें णिच् प्रत्यय, बादमें करण वाच्यमें युच् प्रत्यय प्रेरणार्थ धातुके उत्तरमें प्रकृत अर्थमें णिच् प्रत्यय अभिप्रेत है। यह कहनेसे यह ज्ञापकके समान है अथवा 'इगि' धातुके ल्युट् प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग और पुलिङ्ग आर्ष प्रत्ययके कारण। इङ्गना शब्दकी व्युत्पत्ति है—जिसके द्वारा ज्ञात हुआ जाता है। अब इसके बाद 'वत्' शब्दके व-कारका अर्थ कहते हैं—*'वसन्तियत्र भूतानीत्यादि।'* 'भूतात्मनि'—अर्थात् पूर्व सिद्धस्वरूप जो भगवान् हैं, उनमें । अखिलात्मा अर्थात् शक्तिमान रूपमें समस्त वस्तुके उपादान कारण। फलस्वरूप श्रीहरि सर्वाधार और सर्वान्तर्यामी हैं—यही व-कारका अर्थ है। इसके बाद मिलित वर्ण-त्रय का अर्थ *'ज्ञान शक्ति बलैश्वर्यादि'* श्लोक द्वारा बतलाते हैं। इनमें ज्ञान-शब्दका अर्थ है—सर्वज्ञता। शक्ति—अघटित वस्तुकी सृष्टि-सामर्थ्य अर्थात् सङ्कल्पमात्रसे ही समस्त जगत्-कर्त्तृता-स्वरूप, बल—सम्पूर्ण जगत्-धारणकी सामर्थ्य, ऐश्वर्य—सर्व-नियन्तृत्व, वीर्य—अविकारित्व अथवा भक्तोंकी उद्धार-सामर्थ्य। तेजः—मायाकी प्रभाव-निवारक शक्ति। अशेषतः में अशेषका अर्थ है—परिपूर्ण। ये सब भगवत् शब्दके वाच्य अर्थ हैं क्योंकि ये सभी भगवत्-स्वरूपसे अभिन्न हैं। आपत्ति यह है कि यदि गुणोंको भगवत्-स्वरूप कहा जाता है तो उनका निराकरणीयत्व और भगवान्का निर्गुणत्व आ पड़ता है अतएव भगवत्-गुण भगवत्-स्वरूपसे पृथक् हों। ऐसा कहना भी मत; क्योंकि स्वरूपको विशेषविशिष्ट स्वीकार किया गया है। इस विशेषके आधारपर सत्ता सती इत्यादि प्रतीतिके समान विशेष और विशिष्टकी गुण-गुणी रूपमें प्रतीति होती है। स्वरूपसे गुणका भेद स्वीकार करनेपर भेद-निषेधक वाक्योंका व्याघात होगा, यह हमने बहुत बार बतलाया है॥ ३९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त विषयके स्थिरीकरणके लिए इस प्रकरणका आरम्भ किया गया था। इस स्थलपर श्रीभगवान्के विशेषबोधक वाक्यसमूह ही विचारके विषय हैं, जिन विशेषोंके द्वारा परब्रह्म श्रीहरि, उनके धाम तथा उनके विग्रह उनसे भिन्न रूपमें बोधित होते हैं—और संशय यह है कि यह विशेषसमूह क्या मायिक है? अथवा

स्वरूप-सम्बन्धित स्वाभाविक? पूर्वपक्षी कहते हैं—जब कठ-श्रुतिमें पाया जाता है कि ब्रह्मसे भिन्न जगत्‌में अन्य वस्तु कुछ भी नहीं है (कठ॰ २/१/११) और बृहदारण्यकमें भी है *'नेह नानास्ति किञ्चन'* (बृ॰आ॰ ४/४/१९) और भी श्रुतियाँ हैं, यथा—'यह नहीं, यह नहीं' इत्यादि रूपमें उपदेश द्वारा समग्र प्रपञ्चका निषेध करते हुए ब्रह्मतत्त्व निरूपित हुआ है। तब विशेषबोधक गुणनिरूपक वाक्योंको कल्पित अभिप्रायसे मायिक कहा जायेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीभगवान्‌की परा नामकी स्वरूपशक्तिसे सत्यादि विशेष धर्म प्रकाशित होते हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषदमें पाया जाता है—*'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'* (श्वे॰ ६/८) अर्थात् उनकी पराशक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है।

विष्णुपुराणमें भी कहा गया है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

(वि॰पु॰ ६/७/६०)

अर्थात् विष्णुशक्ति तीन प्रकारकी है—परा, क्षेत्रज्ञा एवं अविद्या संज्ञाओंसे युक्त। विष्णुकी पराशक्ति ही 'चित्-शक्ति' है, क्षेत्रज्ञाशक्ति ही जीवशक्ति है (जिसे मायारूपी 'अविद्या' से 'अपरा' भिन्नाके रूपमें कहा गया है), कर्मसंज्ञारूपी अविद्याशक्तिका नाम माया है।

इस प्रकार श्रीभगवान्‌के ये सब धर्म अमायिक और स्वरूपानुबन्धी हैं। सत्यादि गुणोंके परात्व विषयमें विस्तृत आलोचना श्रीमद् बलदेव प्रभुके भाष्यमें देखनी चाहिये। श्रीभगवान् अनन्त कल्याण गुणशाली हैं, उनमें कोई हेय गुण या सम्पर्क न होनेके कारण वे गुणातीत हैं। सत्यादि विशेष गुणसमूह उनकी पराशक्ति स्वरूपा हैं और उनसे अभिन्न हैं। अतएव पूर्वोक्त गुण श्रीभगवान्‌के साथ अभिन्न रूपसे ध्येय हैं। श्रीभगवान्‌में धर्मी और धर्म भाव अभिन्न है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥
एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥
(श्रीमद्भा० १/१६/२७-३०)

जिनमें सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति (लाभ आदिमें उदासीन), शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, वीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्त्ति, गौरव और निरहङ्कारता—ये उनतालीस अप्राकृत गुण तथा महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंके द्वारा वाञ्छनीय और भी बहुत-से महान गुण नित्य अक्षय रूपमें विद्यमान हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

सच्चिदानन्दमय हय ईश्वर-स्वरूप।
तिन अंशे चिच्छक्ति हय तिन रूप॥
आनन्दांशे 'ह्लादिनी' सदंशे 'सन्धिनी'।
चिदंशे 'सम्वित्' यारे कृष्णज्ञान मानि॥
(चै०च०म० ६/१५८-१५९)

अर्थात् वेद-वेदान्त मतमें ईश्वर, जीव और माया—इन तीन तत्त्वोंके स्वरूप और सम्बन्धके विषयमें जानना आवश्यक है। पहले ईश्वरका स्वरूप जानना एकान्त प्रयोजन है। सच्चिदानन्दमयत्व ही ईश्वरका स्वरूप है। भगवान्‌की एक चित्-शक्ति ही सत्, चित् और आनन्द—इन तीन अंशोंमें तीन रूपसे प्रकाशित होती है। आनन्दांशसे ह्लादिनी, सदंशसे सन्धिनी और चिदंशसे संविद्। यह संविद् ही कृष्ण-सम्बन्धित ज्ञान है।

और भी,

ह्लादिनी कराय कृष्णे आनन्दास्वादन।
ह्लादिनीर द्वारा करे भक्तेर पोषण॥
(चै०च०आ० ४/६०)

ह्लादिनी श्रीकृष्णको आनन्दका आस्वादन कराती है और इसी ह्लादिनीके द्वारा वे भक्तोंका पोषण करते हैं॥ ३९॥

श्रीभगवान्में श्रीविशिष्ट्ता रूप गुणका उपसंहार

अवतरणिका भाष्य—अथ श्रीवैशिष्ट्यं गुणमुपसंहर्त्तुमारम्भः। *"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्चपत्न्यौ"* इति यजुषि श्रूयते। इह श्रीरमादेवी। लक्ष्मीर्भागवती सम्पदित्येके। श्रीर्वाग्देवी, लक्ष्मीस्तु रमादेवीत्यपरे। अथर्वशिरसि च *"कमलापतये नमः रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः"* इति *"रमाधाराय (रमाध्वाय) रामाय"* इति चैवमादि। अत्र भवति वीक्षा श्रीरियं प्राकृतत्वादनित्योत परात्वन्नित्येति। *"अथात आदेशो नेति नेति"* इति परमात्मनि निःशेषविशेषप्रतिषेधात् न तत्र श्रुत्यादिरूपः कश्चिद्विशेषः सम्भवी किन्तु स्वीकृतमायो विशुद्धसत्त्वमूर्त्तिस्तादृश्यापि श्रिया युज्यते इत्यनित्या तस्य श्रीरिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद श्रीभगवान्में श्रीवैशिष्ट्यरूप गुणोंके उपसंहार (चिन्तन) विधानके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है। यजुर्वेदमें सुना जाता है *'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्चपत्न्या अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणिरूपम् अश्विनौ व्यात्तमिष्णन्निषानामुन्मईषाण सर्वलोकं मयीषाण्'*—इस श्रुतिमें उक्त श्री-शब्दका अर्थ है—रमादेवी—यह बात कोई-कोई (वाजसनेयी) कहते हैं। उनका प्रमाण है—*'लक्ष्मीर्भागवती सम्पद्'*—लक्ष्मी भागवती सम्पद् हैं अर्थात् श्रीभगवान्की सम्पद् लक्ष्मी हैं, किन्तु श्री शब्दका अर्थ है सरस्वती देवी। दूसरे (वेदपाठी) व्याख्या करते हैं कि श्री वाग्देवी हैं तथा लक्ष्मी रमादेवी हैं। अथर्वशिरा वेदमें भी सुना जाता है—*'कमलापतये नमः' 'रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमोनमः' 'रमाधाराय रामाय इत्यादि'*—अर्थात् कमलापतिको नमस्कार है, रमाके मानसहंस गोविन्दको बार-बार नमस्कार है, रमाधार-रमापतिको नमस्कार है, रामको नमस्कार है! इस बातपर संशय यह होता है कि क्या श्री प्रकृतिसम्भूत होनेके कारण अनित्या-श्री हैं? अथवा पराशक्ति होनेके कारण नित्या श्री हैं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—ये श्री अनित्या हैं क्योंकि *'अथात आदेशो नेति नेति'* (बृ०आ० २/३/६) इस

श्रुतिमें भगवान्‌का विजातीय-द्वितीय राहित्य स्वरूप प्रतिपादित हुआ है, तब उनमें श्री, लक्ष्मी इत्यादि किसी विशेष धर्मका रहना सम्भव नहीं है, अतएव जो मायावलम्बी विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति हैं, ऐसे श्रीहरिका इस प्रकारकी माया-समन्वित विशुद्ध सत्ता श्रीके साथ सम्बन्ध-सङ्गत है, अतएव उनकी श्री-शक्ति अनित्य है—इस पूर्वपक्षवादके प्रत्युत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्वप्रकाशानन्दवपुर्हरिः स्वात्मके धाम्नि स्वप्रभामण्डले रविरिवोपास्य इति पूर्वमुक्तमित्यस्तु तद्धामवैशिष्ट्यस्य तद्गुणस्य सर्वत्रोपसंहारस्तेन स्वरूपे विकाराप्रसङ्गात् श्रीवैशिष्ट्यस्य तद्गुणस्य तु क्वचित् श्रुतस्यापि स मास्तु तेन तत्र स्मारविकारापत्तेरिति पूर्वया सङ्गत्याह अथ श्रीत्यादि। श्रीश्चेति वाजसनेयिनः पठन्ति। अन्ये तु ह्रीश्चेति तत्र ह्रीर्भूर्देवीत्याहुः। श्रीर्वाग्देवीति *"श्रीर्वेशरचना-शोभाभारतीसरलद्रुमे लक्ष्म्यां त्रिवर्गसम्पत्तौ वेशोपकरणे मतौ"* इति विश्वः। लक्ष्मीरिव चेतना नित्या गीर्देवी हरेः पत्नी। स्कान्दे बृहस्पतिकृते तत्स्तोत्रे—*"सरस्वतीं नमस्यामि चेतनां हृदि संस्थिताम्"* इति *"केशवस्य प्रियां देवीम्"* इति *"शुक्लां क्षेमप्रदां नित्याम्"* इति च तस्या विशेषणात् तयोः पतिरित्यनेन हरेः परमपुमर्थत्वमुक्तम्। बहुगुणरत्नाढ्यापि तरुणी पत्यैव शोभते नान्यथा विधिरुद्राद्यतिशयहेतुभूतयोरपि तयोस्तेनैवातिशयात् तस्य तत्त्वम्। ननु स्पर्द्धाविधानात् तन्मायावृत्तिभ्यां ताभ्यां भाव्यमिति चेत् मैवं भ्रमितव्यम्। परात्मकत्वोक्त्या मायिकत्वनिरासात् परैव लक्ष्मीरिति वक्ष्यते। लक्ष्मीरेव रूपान्तरेण वाग्देवीत्युक्तम्। *"सन्ध्या रात्रिः प्रभा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती"* इति श्रीवैष्णवे। ह्लादप्रधाना वृत्तिर्लक्ष्मीः संवित्प्रधाना तु वाग्देवीति। परैवोभयीति तत्त्वविदः। सापत्न्यहेतुका स्पर्द्धा तु रसपोषायैव हरेरिच्छयैवेति साम्प्रतम्। कमलेति श्रीगोपालतापन्यां, रमाधारायेति श्रीरामतापन्यां दृष्टम्। तादृश्येति मायिकाविरुद्धशुद्धसत्त्वमूर्त्येत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले वर्णित हुआ था कि निज प्रभामण्डलमें जिस प्रकार सूर्य उपास्य होता है, उसी प्रकार स्वप्रकाशानन्दमूर्त्ति श्रीहरि स्व-स्वरूप अधिष्ठानमें (संव्योममें) उपास्य होते हैं। अच्छा! ऐसा ही हो! समस्त उपासनाओंमें उनके धाम-वैशिष्ट्यरूप उनके गुणकी ध्येयता हो सकती है; कारण, उसके द्वारा स्वरूपगत कोई विकार घटता नहीं किन्तु श्रीवैशिष्ट्यरूप उनका गुण किसी-किसी श्रुतिमें श्रुत होनेपर भी श्रीहरिका उससे सम्पर्क नहीं होना चाहिये क्योंकि उससे उनका काम-विकार घटित हो सकता है, इस

आक्षेप–सङ्गतिके आधारपर अथ श्रीरित्यादि ग्रन्थ (वाक्य) *'श्रीश्च ते'* इत्यादि कहते हैं। वाजसनेयी यजुर्वेदीगण *'श्रीश्च ते'* इत्यादि श्रुति पाठ करते हैं। अन्य वेदपाठी *'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च'* इत्यादि रूप पाठ करते हैं। 'श्री' शब्दका अर्थ है वाक्‌देवी सरस्वती, विश्वकोष अभिधानमें वही है, यथा 'श्रीवेशरचना' इत्यादि श्री–वेशरचना, शोभा, सरस्वती, सरलवृक्ष, लक्ष्मी, धर्म, अर्थ, काम—यह त्रिवर्ग, वेश, उपकरण और मति। गीर्देवी (वाग्देवी) सरस्वती लक्ष्मीदेवीके समान नित्या एवं चेतना हैं और श्रीहरिकी पत्नी हैं। स्कन्दपुराणमें बृहस्पतिकृत सरस्वती–स्तोत्रमें है—*'सरस्वतीं नमस्यामि चेतनां हृदि संस्थिताम्'* इति मैं सरस्वतीदेवीको प्रणाम करता हूँ, जो जीवके हृदयमें स्थित–चैतन्यमयी हैं। पुनश्च, *'केशवस्य प्रियाम् देवीम्'* जो केशवकी प्रिया लीलामयी हैं। पुनः *'शुक्लां क्षेमप्रदाम् नित्याम्'* अर्थात् शुक्लवर्णा, मङ्गलदात्री, नित्या हैं, इत्यादि रूपोंमें जिन्हें विशेषित किया गया है। उन्हीं लक्ष्मी और सरस्वतीके पति श्रीहरि हैं—यह बात कहनसे श्रीहरि—परमपुरुषार्थ कहे गये हैं। देखा जाता है कि बहुगुणमयी एवं रत्नालङ्कारसे शोभित युवा नारी उसी प्रकारके पतिके द्वारा ही शोभित होती है, अन्यथा नहीं। ब्रह्मा एवं रुद्रादिसे श्रीभगवान्‌की उत्कर्षताका हेतु हैं—वाग्देवी एवं लक्ष्मीदेवी। और उन वाग्देवी और लक्ष्मीका उत्कर्ष उन श्रीहरिकी पत्नीके रूपमें है—इसलिए श्रीहरि ही परमपुरुषार्थ हैं (जीवके चरम काम्य अथवा लक्ष्य हैं) यदि कहो, लक्ष्मी–सरस्वती परस्पर स्पर्द्धा करती हैं यह श्रुत होनेके कारण ये दोनों मायावृत्ति अथवा श्रीहरिकी मायाशक्ति हो सकती हैं, यह कहनेपर भ्रम हो जायेगा, यह भूल मत करना क्योंकि *'परास्य शक्तिः विष्णुशक्तिः'* 'परा' इत्यादि श्रुतिमें विष्णुकी परा नामकी स्वरूपशक्ति कहनेसे लक्ष्मी सरस्वतीकी *'मायिकवृत्ति रूपता'* खण्डित हुई है। लक्ष्मी पराशक्ति हैं, यह बात बादमें कही जायेगी। और लक्ष्मीको ही रूपान्तरसे वाग्‌देवी कहा गया है। यथा 'विष्णुपुराणमें है' *'सन्ध्या रात्रिः प्रजा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती'*—श्रीहरिकी ह्लादप्रधाना (ह्लादिनी) शक्ति लक्ष्मीको ही कहा गया है। तब दोनोंका रूप भेद है यथा—लक्ष्मी ह्लादप्रधाना हैं और सरस्वती संवित्–प्रधाना (ज्ञानमयी) हैं। तत्त्वज्ञ व्यक्तिगण कहते हैं, सरस्वती एवं लक्ष्मी दोनों

ही पराशक्ति हैं। तब इन दोनोंकी स्पर्द्धा (प्रतिपक्षता) देखी जाती है, वह सपत्नीत्वके कारण है, वह श्रीभगवान्‌की रसपुष्टिके कारण है, श्रीहरिकी इच्छासे ही हो रहा है—यही युक्तियुक्त है। *'कमलापतये नमः'* यह श्रीगोपालतापनीमें धृत है। 'रमाधाराय' यह श्रीरामतापनी-उपनिषदमें दृष्ट होता है। *'तादृशस्यापि श्रियेति'* मायिकके साथ अविरुद्ध शुद्ध सत्त्व मूर्त्ति श्रीके सहित—यह अर्थ है।

कामाद्यधिकरणम्

सूत्र—कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः॥ ४०॥

सूत्रार्थ—यह श्रीरूपाशक्ति ही परा एवं नित्या हैं, वे 'तत्र' प्रकृतिके सम्पर्कसे रहित संव्योम नामके स्वधाममें रहती हैं। 'इतरत्र'—वे संव्योमके बाहर प्रपञ्चमें उस धामके प्रकट कालमें प्रकट होती हैं और 'कामादि' निज नाथके (परमेश्वरके) कामादिका विस्तार करती हैं। कारण क्या है? 'आयतनादिभ्यः च' क्योंकि आय अर्थात् व्याप्ति और तन अर्थात् भक्तके मोक्षानन्दका विस्तार धर्म नित्य पराशक्तिका ही है॥ ४०॥

सूत्रानुवाद—वह श्रीरूपाशक्ति पराशक्ति हैं। जो प्रकृतिसे अस्पृष्ट संव्योम नामक धाममें निवास करती हैं। श्रीहरिके प्राकट्य कालमें वे भी प्रकट होकर उनके कामादिका विस्तार करती हैं॥ ४०॥

गोविन्दभाष्य—सैवेति पूर्वतोऽनुवर्त्तते। सैव परैव श्रीः सती तत्र प्रकृत्यस्पृष्टे संव्योम्नि तस्मादितरत्र प्रपञ्चान्तर्गते तत्प्रकाशे च स्वनाथस्य परमात्मनः कामादि वितनोतीति नित्यश्रीकः सः। कामोऽत्र शृङ्गाराभिलाषः। आदिना तदनुगुणा तत्परिचर्या च। श्रीः परैवेति। कुतः? आयेति। आयाद्व्याप्तेः। तनाद्भक्तमोक्षानन्द-विस्ताराच्च। उभयत्र सत्यादिवदिति दृष्टान्तः। आदिना परैक्यवाक्यं गृह्यते। तत्र परास्य शक्तिरित्यादौ स्वाभाविकीति परमात्माभेदाभिधानात् परा विभ्वी सैव हीति ज्ञानकारुण्यादिरूपत्वोक्तेर्मोक्षदा च। तदभेदादेव श्रीश्च तथा। स्मृतञ्चैवं श्रीविष्णुपुराणे—*"नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम"* इति। *"आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी"* इति च। न च भेदे सतीदं द्वयं शक्यं वक्तुमपसिद्धान्तापत्तेः। श्रियः परैक्यञ्च स्मृतं तत्रैव। *"प्रोच्यते परमेशो यो यः शुद्धोऽप्युपचारतः। प्रसीदतु स नो विष्णुरात्मा*

यः सर्वदेहिनाम्" इति। अत्र परैव मेति विस्फुटम्। आयादीनि प्रकृतेर्न संभवन्तीति तदन्यत्वं श्रियः सुव्यक्तम्। तस्मात् परैव श्रीरतो नित्या सेति॥४०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'सैव हि सत्यादयः'* इस सूत्रसे 'सैव' यह अंश अनुवृत्त है। इसका समुदायार्थ है—वह पराशक्ति—श्रीदेवी ही प्रकृतिके सम्पर्कसे रहित अर्थात् प्रकृतिसे अस्पृष्ट होकर संव्योम नामक धाममें रहती हैं और भगवान् जिस समय इस प्रपञ्च-वैभवके अन्तर्गत श्रीगोकुल अयोध्यादि स्वरूप निज धामका प्रकाश कराते हैं तब वे उस संव्योमसे भिन्न श्रीभगवान्के प्राकट्य स्थानमें रहते हुए अपने नाथ परमात्माके कामादिका सम्पादन करती हैं, यही कारण है कि भगवान्को 'नित्यश्रीक' अर्थात् 'नित्य श्रीयुक्त' कहा जाता है। कामादि शब्दका अर्थ है—काम शृङ्गाराभिलाष और आदि पदसे ग्राह्य है—श्रीभगवान्के कामके अनुकूल परिचर्या (सेवा) भी। श्रीदेवी पराशक्ति हैं—इस विषयमें प्रमाणकी जिज्ञासापर कहते हैं—कहाँ-से? अथवा किस कारणसे? आप यह कहते हैं, तो इसका उत्तर है—*'आयतनादिभ्यः'*, 'आय' अर्थात् व्याप्ति और 'तन' अर्थात् भक्तके मोक्षानन्दके विस्तारके कारण। इन दोनों कारणोंसे 'श्री' का परात्व सिद्ध है। व्यापकत्व और मुक्तिदातृत्व—इन दोनोंमें 'सत्यादिवत्' को गुण-दृष्टान्त जानना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार सत्यादि गुण श्रीभगवान्से अभिन्न परात्मक हैं, इसी प्रकार 'श्री' भी परात्मिका हैं। 'सत्यादयः' इस आदि पदसे *'परास्य शक्तिः'*, *'विष्णुशक्तिः परा'* इत्यादि वाक्योंके साथ एकवाक्यता अर्थात् श्री एवं परात्व दोनोंका एकार्थमें प्रयोग है। इनमें *'परास्य शक्तिः'* इत्यादि वाक्यके अन्तर्गत स्वाभाविकी शब्दका अर्थ है कि परमात्माके साथ उन श्रीका अभेद कहा गया है। अभेद कथन होनेसे यह पराशक्ति ही विभ्वी—विभुत्व सम्पन्ना अर्थात् परमात्मस्वरूप रूपा हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञान, करुणा इत्यादि स्वरूपोंमें कहा गया है, इसलिए वे मुक्तिदायिनी भी हैं। पराशक्तिके साथ अभेदके कारण ही श्रीदेवी भी विभ्वी और मुक्तिदायिनी हैं। विष्णुपुराणमें इस प्रकार देखा जा सकता है, यथा—*'नित्यैव सा'* इत्यादि अर्थात् हे ब्राह्मणोत्तम मैत्रेय! ये श्रीदेवी नित्या, जगन्माता और विष्णुकी अनपायिनी अर्थात् अविच्छिन्ना स्वरूपशक्ति हैं। जिस प्रकार विष्णु सर्वगत, विभु हैं, उसी प्रकार इन

श्रीको भी सर्वगता, विभ्वी जानना चाहिये। और यह बात भी है—दे देवि! आप आत्मविद्या-स्वरूपिणी (ब्रह्मविद्यारूपिणी) और मुक्तिदायिनी हैं। श्रीहरिसे श्रीदेवीको भिन्न कहनेपर व्यापकत्व और मोक्षदातृत्व उनमें (श्रीदेवीमें) ये दो गुण रह नहीं सकते। ऐसा होनेसे तो (भेद माननेसे) अपसिद्धान्त अर्थात् सिद्धान्तके साथ विरोध हो पड़ता है। श्रीदेवी पराशक्ति हैं और श्रीहरिसे अभिन्न हैं—यह बात श्रीविष्णुपुराणमें भी स्मृत है, यथा—*'प्रोच्यते परमेशो यो यः शुद्धोऽप्युपचारतः ... आत्मा यः सर्वदेहिनाम्'* अर्थात् जो विष्णु शुद्ध अर्थात् देहरहित होनेपर भी परा—श्रेष्ठा मा—लक्ष्मी—उनके ईश (पति) हैं—यह सत्ता सती (आस्तित्व सदैव विद्यमान है) इत्यादि प्रयोगके समान अभेदमें विशेष भेद-कार्यका अवलम्बन करके भेदरहित परमात्माके लिए लक्षणावश (उपचार वश) कहा है। जो समस्त प्राणियोंके आत्मा—प्रवर्त्तक हैं—वे विष्णु हमपर प्रसन्न होवें—यही अन्वय है। इस श्लोकमें कहा गया द्वितीय यद् शब्द प्रसिद्धि अर्थमें है। 'आय' अर्थात् 'विभुत्व', 'तन' अर्थात् मोचकत्वबोधक ये वाक्य प्रकृतिके लिए सम्भव नहीं है; अतएव श्री—प्रकृतिसे भिन्न हैं—यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अतएव श्री परा प्रकृति हैं और वे नित्या हैं। श्री एवं परामें ऐक्य है॥४०॥

सूक्ष्मा-टीका—कामादीति। तत्प्रकाशे श्रीगोकुलायोध्यादिरूपे वितनोति। श्री परेत्यत्र हेतवः आयतनादिभ्य इति। आयाद्व्याप्तेरिति। आयशब्दो व्याप्तिवाचकः। वीगतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेष्वितिधातुपाठात्। वीच ईचेति धातुद्वयमिति व्याख्यातारः। ई व्याप्तौ धातुस्तस्माद्भावेऽच एरजिति सूत्रात् ततः स्वार्थिकः प्रज्ञाद्यणिति बोध्यम्। तनाद्भक्तमोक्षानन्दविस्तारादिति तनोतेर्भावे कः घञर्थे कविधानमिति वार्त्तिकात्। तत्रायं प्रयोगः श्रीः परा विभुत्वान्मोक्षप्रदत्वाच्च सत्यादिगुणवत् यन्नैवं तन्नैवं यथा त्रैगुण्यम्। अत्र विभुत्वादिहेतुभ्यां श्रियः परात्वं साध्यते। अस्य हेतोः पक्षवृत्तित्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिश्चास्तीति सद्धेतुत्वम्। श्रीसत्याद्योरभेदेऽपि विशेषाद्वास्तवभेदकार्यसत्त्वाद्दार्ष्टान्तिकदृष्टान्तभारः सिद्धः। उभयत्रेति। व्यापकत्वान्-मुक्तिदत्वाच्च हरेः सत्यादयो गुणा यथा तदभिन्नपरात्मकास्तथात्वादेव श्रीश्च तदात्मिकेत्यर्थः। तदभेदात् परया सार्द्धमद्वैतात् श्रीश्च तथा विभ्वी मुक्तिदा चेत्यर्थः। परायां विभुत्वं मोक्षदत्वञ्च सिद्धमभ्युपेत्य तदद्वैतात् श्रियस्तदुभ्यं प्रतिपादितम्। तदधुना विशदयति तत्र स्वाभाविकीत्यादिना। तदुभयं वाचनिकं कर्त्तूमुदाहरति नित्यैवेति। सावधारणया कण्ठोक्त्या अनित्यत्वशङ्का विभुवद्व्याप्त्युक्त्या

प्राकृतत्वशङ्का चातिदूरोत्सारितात्र बोध्या। हरेर्भिन्ना श्रीरिति केचिन्मन्यन्ते तान्निराकर्त्तुमाह न च भेदे सतीति। इदं द्वयं व्यापकत्वं मोचकत्वञ्चेत्यर्थः। स्वेतरनिखिलान्तर्बहिःप्रवेशः खलु सर्वव्याप्तिरुच्यते। तथात्वे हरेः परिच्छेदादिरीश्वरद्वयप्रसङ्गश्च तद्भिन्नयोः श्रियोः मुक्तिदत्वे तमेव विदित्वेत्यादि सावधारणश्रुतिवाक्योपश्च स्यात्। तथाचाप-सिद्धान्तापत्तिरिति। पूर्वमायतनाभ्यां श्रियः परात्वमनुमितं तदिदानीमादिपदगृहीतेन परैक्यवचनेन वाचनिकं दर्शयति प्रोच्यत इत्यादिना। यो विष्णुः केवलः शुद्धोऽपि निर्भेदोऽपीत्यर्थः। परा चासौ मा च लक्ष्मीस्तस्या ईशः पतिरित्युपचारतः प्रोच्यते। सत्ता सतीत्यादिवद्विशेष विभातं भेदकार्यमादाय निर्भेदेऽपि तस्मिंस्तत्त्वे तथा निगद्यत इत्यर्थः। स नः प्रसीदत्वित्यन्वयः। आत्मा प्रवर्त्तकः। द्वितीयो यच्छब्दः प्रसिद्धौ। आयादीनीति। विभुत्वमोचकत्वपरैक्यानि प्रकृते र्न सम्भवन्त्यतः श्रियस्तद्भिन्नत्वं स्फुटमित्यर्थः। स्कान्दोक्तिमप्यत्रोदाहरस्ति—*"अपरं त्वक्षरं या सा प्रकृतिर्जडरूपिणी। श्रीः परा प्रकृतिः प्रोक्ता चेतना विष्णुसंश्रया"* इति। यत्तु पाद्मे सत्वांशेन लक्ष्मीरहमिति मूलप्रकृत्योक्तं तत् खलु शास्त्रदृष्ट्या सङ्गच्छेतोक्तनिर्णयात्॥ ४०॥

सूक्ष्मा-सार— *'कामादीतरत्रेत्यादि'* सूत्रमें *'तत्प्रकाशे च स्वनाथस्येति'*— तत्प्रकाशमें अर्थात् श्रीगोकुल—श्रीअयोध्यादि रूप प्रकट-स्थानोंमें। निजनाथ—परमेश्वरका कामादि सम्पादन करती हैं। श्रीदेवी जो विष्णुकी पराशक्ति हैं, इस विषयमें हेतु है—*'आय-तनादिभ्यः'*—आय अर्थात् व्याप्ति हेतु। आय-शब्द व्याप्तिका वाचक है। गणपाठमें 'वी' और 'ई' दोनों ही धातु गति, व्याप्ति, प्रजनन, कान्ति, असन (निक्षेप) और खादन (भोजन) अर्थमें पठित हैं। 'वी' और 'ई'—ये दोनों धातुएँ मिलकर 'वी' निष्पन्न हुआ है—व्याख्यातागण इस प्रकारसे व्याख्या करते हैं। अतएव व्याप्ति—अर्थ-बोधक 'ई' धातुके भाववाच्यमें 'एरच्' सूत्रसे (पा॰ ३/३/५६) से 'अच्' प्रत्यय परे होनेपर प्रज्ञादिके अन्तर्गत होनेके कारण स्वार्थे अण् होकर आदि स्वरकी वृद्धिके द्वारा 'आय' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'तन' शब्दका अर्थ है—भक्तके मोक्षानन्दका विस्तार। 'तन्' धातुके भाववाच्यमें 'क' प्रत्यय है, वार्त्तिकमतमें घञर्थ में 'क' प्रत्यय विहित है। अतएव इस विषयमें अनुमानका प्रयोग यह है कि श्रीः (पक्ष है) परा (नित्या चैतन्यमयी विष्णुशक्तिः, यह साध्य है।) विभुत्वान् मोक्षप्रदत्वाच्च (यह हेतु है) सत्यादिगुणवत् यह दृष्टान्त है यन्नैवं तन्नैवं यथा त्रैगुण्यम् (प्रकृति यह व्यतिरेकिणी व्याप्तिका उदाहरण है) इस व्यतिरेकी अनुमानमें विभुत्व एवं

मोक्षप्रदत्व दोनों हेतु द्वारा श्रीदेवीका परात्व साधित हुआ है। यदि हेतुका पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व और विपक्षव्यावृत्ति, असत्-प्रतिपक्षिततत्व एवं अबाधितत्व रहता है, तभी वह हेतु सद्-हेतु होता है। इस अनुमान हेतुमें पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व और विपक्षसे व्यावृत्ति है, अतएव ये हेतु-द्वय सद्धेतु हैं। श्री और सत्य इत्यादि धर्मोंका परस्पर भेद न रहनेपर भी विशेष धर्मके आधारपर वास्तव भेदकार्य रहनेके कारण दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका समन्वय सिद्ध है। दोनों स्थलोंमें सत्यादिकी भाँति यह दृष्टान्त है। उभयत्र—दोनों स्थलोंपर—व्यापकत्व एवं मुक्तिप्रदत्व—इन दो हेतुओंसे श्रीहरिके सत्यादि गुण जिस प्रकार विष्णुसे अभिन्न पर स्वरूप हैं, उसी प्रकार विभुत्व एवं मोक्षप्रदत्वके हेतुसे श्रीदेवी भी परा है। *'परमात्मा-भेदाभिधानादिति'*—पराशक्तिके साथ विष्णुके ऐक्यके कारण श्रीदेवी भी विभ्वी एवं मुक्तिदायिनी हैं। *'परैक्यवाक्यमिति'* पराशक्तिमें विभुत्व एवं मोक्षप्रदत्व सिद्ध मानकर उन पराशक्ति श्रीदेवीके एवं परमात्माके ऐक्यके कारण यह विभुत्व और मुक्तिप्रदत्व प्रतिपादित हुआ। अब इसीको *'तत्र स्वाभाविकी'* इत्यादि वाक्य द्वारा विशद करते हुए कहते हैं—श्रीदेवीका विभुत्व एवं मोक्षप्रदत्व—इन दोनोंको पहले युक्ति-सिद्ध करके अब वचन-प्राप्त *'नित्यैवेत्यादि'* श्लोक द्वारा दिखाते हैं, यथा विष्णुपुराणमें कहा गया है—*'नित्यैव सा जगन्माता ... द्विजोत्तमेति।'* 'नित्यैव'—यह 'एव' शब्द अवधारणार्थमें प्रयुक्त है अर्थात् वे नित्य ही हैं, कभी भी अनित्या सम्पद्रूपा नहीं हैं, यह 'एव' शब्द द्वारा प्रतिपादित हुआ। *'एवं यथेत्यादि'* जिस प्रकार विष्णु सर्वगत हैं, उसी प्रकार ये श्रीदेवी भी सर्वगता हैं। एकान्त रूपमें विभुके समान व्याप्ति कहनेसे प्रकृति-सम्भूतत्व शङ्का निरस्त हुई—जानना चाहिये। कोई-कोई मानते हैं कि श्रीदेवी श्रीहरिसे भिन्न हैं, उनका मत खण्डन करनेके लिए कहते हैं, *'न च भेदे सतीदमित्यादि इदं द्वयमिति'*—अर्थात् व्यापकत्व एवं मुक्तिप्रदत्व। सर्वव्याप्ति कहनेसे स्व-भिन्न समस्त वस्तुके भीतर एवं बाहर स्थितिको कहा जाता है। ऐसा होनेपर अर्थात् विष्णुसे श्रीदेवीका भेद स्वीकार करनेपर विभु श्रीहरिके परिच्छेद (सीमा) इत्यादि एवं ईश्वर-द्वय स्वीकार हो पड़ते हैं। उन ईश्वर-द्वयसे भिन्न श्रीद्वयका मुक्तिप्रदत्व

होनेपर *'तमेव विदित्वा'* इत्यादि श्रुतिमें उक्त उन एक ईश्वरको जाननेपर मृत्युसे अतिक्रमण होता है—इस उक्तिका व्याघात होता है। फलस्वरूप अपसिद्धान्त-आपत्ति होती है। पहले 'आप' और 'तन' इन दो हेतुओं द्वारा श्रीदेवीके परात्वका अनुमान किया गया था, अब इस सूत्रोक्त आदि पदसे ग्राह्य परैक्य वाक्य द्वारा वचन-सिद्ध भी दिखाते हैं—यथा *'प्रोच्यते परमेशो य इत्यादि'* इसका अर्थ है—जो विष्णु केवल अर्थात् शुद्ध-भेदरहित होकर भी। परमेशः—परा स्वरूपा ऐसी जो मा लक्ष्मी हैं—उनके ईश—पति, यह अर्थ लाक्षणिक है। यदि कहो, यदि वे लक्ष्मीके पति हैं, तब तो द्वैतापत्ति है, ऐसा नहीं है, सती सत्ता इत्यादि प्रयोगके समान अभेदमें भी विशेष धर्मको ग्रहण करके भेद-कार्यके अवलम्बनसे भेद-रहित परमात्मामें इस प्रकार कहा गया है। 'स नः' इसके साथ 'प्रसीदतु' इस क्रिया पदका अन्वय है। विष्णुरात्मा इति—विष्णु अर्थमें व्यापक है और आत्मा-व्यापक है, अतएव पुनरुक्ति है, ऐसा नहीं है; यहाँ आत्मन् शब्दका अर्थ प्रवर्त्तक है। विष्णु व्यापक एवं प्रवर्त्तक है, इसी प्रकार दो यद् शब्दके द्वारा पुनरुक्ति अथवा भेदोक्ति नहीं है यहाँ द्वितीय 'यद्' शब्द प्रसिद्ध अर्थ में है। *'आयादीनि प्रकृतेर्न सम्भवन्ति इति'*—विभुत्व और मोक्षप्रदत्वका भी परमेश्वरके साथ ऐक्य है, यह प्रकृतिके पक्षमें सम्भव नहीं है, अतएव श्रीदेवी जड़ा-प्रकृतिसे भिन्न हैं, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। कोई-कोई स्कन्दपुराणकी उक्तिका भी उल्लेख करते हैं यथा *'अपरं त्वक्षरं या सा'* इत्यादि—जो अपर अक्षरस्वरूपा हैं वे जड़ा-प्रकृति हैं। श्रीदेवी परा-प्रकृति हैं, जो विष्णु संश्रिता चैतन्यमयी हैं। तब जो पद्मपुराणमें आद्या प्रकृतिने कहा—मैं सत्त्वगुणांश रूपमें लक्ष्मी हूँ—यह प्रकृतिस्वरूपत्वोक्ति है, यह शास्त्रसिद्धान्तानुसार सङ्गत है क्योंकि वह सिद्धान्त कहा ही गया है॥ ४०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब श्रीभगवान्के श्री-वैशिष्ट्यरूप गुणोंका उपसंहार करते हैं। यजुर्वेदमें श्री और लक्ष्मी नामकी दो पत्नियोंकी बात सुनी जाती है—इस स्थलपर श्री शब्दसे रमादेवी और लक्ष्मी शब्दसे भागवती सम्पत् कहा गया है। पुनः कोई-कोई श्रीको वाग्देवी और लक्ष्मीको रमादेवी कहते हैं। इस विषयमें संशय यह है कि उक्त श्री

क्या प्राकृत होनेके कारण अनित्य हैं? अथवा पूर्वके समान पराशक्तिके विचारसे नित्या हैं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब नेति-नेति विचार (परमात्मामें निःशेष विशेषका निषेध) श्रुतिमें दिखायी देता है, तो परमेश्वरमें श्री इत्यादि कोई विशेष धर्म नहीं रह सकते। यदि श्रीभगवान् मायाको स्वीकार करनेसे मायायुक्त होते हैं, तो ऐसा होनेसे वे श्रीयुक्त चाहे कहे जा सकते हों, किन्तु यह श्री मायिक और अनित्य ही रहेगी। पूर्वपक्षीके इस प्रकारके मतके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीभगवान्‌में उक्त श्री—पराशक्ति और नित्या हैं। ये शक्ति श्रीभगवान्‌के निज धाममें और जब उनका प्रपञ्चमें अवतरण काल रहता है, तब प्रपञ्चमें भी श्रीभगवान्‌के साथ सर्वदा युक्त रहती हैं और श्रीभगवान्‌के कामादिकी पूर्त्तिके लिए लीलाके विस्तारके लिए सहायता करनेवाली होकर चित्-लीला-मिथुन रूपमें अवस्थान करती हैं।

इस स्थलपर काम शब्दका अर्थ शृङ्गाराभिलाष है। आदि शब्दसे तदनुरूप परिचर्याको भी जाना जाता है। 'आय' एवं 'तन'—इन दोनों शब्दोंके तात्पर्यसे भी श्री शक्तिका परात्व सिद्ध होता है। इस विषयमें श्रीमद् बलदेवप्रभुने भाष्यमें विस्तारपूर्वक आलोचना की है, जिसे वहीं देखा जाना चाहिये।

श्रीविष्णुपुराणमें प्राप्त है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकारी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥
(वि॰पु॰ १/१२/६९)

अर्थात् ध्रुवजी कहते हैं—हे भगवन्! आप जो सर्वाश्रय, निर्गुणस्वरूप हैं, आपमें 'ह्लादिनी', 'सन्धिनी', एवं 'संवित्' तीनों विषय ही चिन्मय हैं। मायावशयोग्य चित्कण जीव मायाविष्ट होकर मायाके त्रिगुणका आश्रय करके जिस अवस्थाको प्राप्त हुआ है, उससे शक्ति 'ह्लादकरी', 'तापकरी' एवं 'मिश्रा' इन तीन प्रकारके भावोंको प्राप्त हुई है यह आपमें नहीं रहती, किन्तु आप जो सर्वगुणातीत हैं, आपमें वही शक्ति निर्मल एवं निर्गुण स्वरूपमें एकाकार है।

श्रीब्रह्मसंहितामें देखा जाता है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्र॰सं॰ ५/३३)

अर्थात् मैं आदिपुरुष उन श्रीगोविन्द भगवान्‌का भजन करता हूँ, जो प्राणियोंके आत्मस्वरूप होकर भी अथवा गोलोक-निवासी अन्य प्रियवर्गोंके परमप्रेष्ठ होनेके नाते जीवात्माकी तरह उनके निकट रहकर भी आनन्दचिन्मयरस अर्थात् परमप्रेममय उज्ज्वल नामक रसके द्वारा सराबोर स्वरूपवाली एवं निजस्वरूप होनेके कारण ह्लादिनीशक्तिकी वृत्तिस्वरूपा गोपियोंके साथ गोलोकधाममें ही निवास करते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

कृष्णकान्तागण देखि त्रिविध प्रकार।
एक लक्ष्मीगण, पुरे महिषीगण आर॥

ब्रजाङ्गनारूप, आर कान्तागण सार।
श्रीराधिका हइते कान्तागणेर विस्तार॥

(चै॰च॰आ॰ ४/७४-७५)

कृष्णकान्तागण तीन प्रकारकी हैं—लक्ष्मीगण, द्वारकाकी महिषीगण और ब्रजाङ्गनागण। ये ब्रजाङ्गनागण सब कान्ताओंकी सार रूप (श्रेष्ठ) हैं एवं श्रीराधिकाके द्वारा ही इन कान्ताओंका विस्तार होता है।

विष्णुपुराणमें और भी देखा जा सकता है—

सोऽपि कैशोरक-वयो मानयन्मधुसूदनः।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थः क्षपासु क्षपिताहितः॥

(वि॰पु॰ ५/१३/५९)

अर्थात् अमङ्गलरहित श्रीकृष्णने कैशोर-वयसमें रात्रिके समय स्त्रियोंके मध्य स्थित होकर विहार करते हुए कैशोर-वयसका विशेष सम्मान किया। महाभावमयी श्रीराधा एवं भावमयी गोपियोंके बीच स्थित परमचैतन्य श्रीकृष्ण ही कूटस्थ तत्त्व हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८२/३९)

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—गोपियोंको दीर्घ-विछोहके बाद जब श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त हुआ, तो वे उन्हें एक टक निहारती ही रह गयीं। देखते समय आँखोंकी पलकोंके गिरनेके कारण वे पलकोंके सृष्टिकर्त्ता विधाताकी निन्दा करने लगीं। इसके बाद नेत्र-पथसे प्रियतम श्रीकृष्णको हृदयमें ले जा कर उन्होंने उनका प्रगाढ़ आलिङ्गन किया और उस प्रकार तन्मय हो गयीं, जो योगका निरन्तर अभ्यास करनेवाले योगियोंके लिए भी अतीव दुर्लभ है।

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोद्ध्र्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४४/१४)

अर्थात् (अहो, हम [मथुरा-रमणियाँ] अल्प पुण्यवती हैं क्योंकि अनवसरपर कृष्णको देखा है, परन्तु गोपियाँ अतिशय पुण्यवती हैं, ऐसा मानकर कहने लगीं) गोपियोंने किस अनिर्वचनीय तपस्याका अनुष्ठान किया है, क्योंकि वे अपने नेत्रों द्वारा इन श्रीकृष्णके लावण्यसार, असमोर्ध्व, स्वभाव-सिद्ध, यश, श्री और ऐश्वर्यके एकमात्र आधारस्वरूप, दुर्लभ, नित्य-नूतन सौन्दर्यका दर्शन करती रहती हैं।

या वै श्रियार्च्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४७/६२)

स्वयं लक्ष्मीदेवी जिन श्रीकृष्णकी पदसेवा करती हैं, पूर्ण काम और आत्माराम बड़े योगेश्वर तथा ब्रह्मा, शङ्कर आदि परम समर्थ देवता, जिन श्रीकृष्णके पदारविन्दकी सेवा करते हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंको रासलीलाके समय साक्षात् रूपसे अपने-अपने स्तनमण्डलोंपर रखकर और उनका आलिङ्गन करते हुए इन गोपियोंने अपने हृदयकी विरह-व्यथाको शान्त किया था।

बृहत्-गौतमीयतन्त्र-वाक्यमें भी प्राप्त है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्ति सम्मोहिनी परा॥

अर्थात् परदेवता राधिकादेवी साक्षात् कृष्णमयी, सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति, कृष्णसम्मोहिनी एवं पराशक्तिके रूपमें प्रोक्त हैं॥४०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु परैव चेत् श्रीस्तर्हि तद्भक्तेर्विलोपापत्तिः। न हि स्वस्मिन् स्वभक्तिः सम्भवेदिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि यदि श्रीदेवी ही पराशक्ति हैं अर्थात् पराशक्ति श्रीकृष्णकी अभिन्न शक्ति हैं तो उन श्रीके द्वारा हरिभक्तिकी लोपरूप आपत्ति आ पड़ती है क्योंकि अपने ही प्रति अपनी भक्ति सम्भव नहीं हो सकती। यह यदि कहते हो तो सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तद्भक्तेः श्रीकर्त्तृकाया हरिभक्तेः। न हीति। श्रीः खलु परैव। परा च हरिरेवेति। न हरिश्रियोः सेव्यसेवकभावः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ननु इत्यादि आपत्ति ग्रन्थ है। *'तद्भक्तेर्विलोपापत्तिः'*—अर्थात् श्री द्वारा हरिभक्तिका। *'न हि स्वस्मिन् स्वभक्तिरिति'* श्रीदेवी पराशक्ति हैं और पराशक्ति ही श्रीहरि हैं। अतएव ऐक्यके कारण दोनोंका सेव्य-सेवक भाव हो नहीं सकता।

सूत्र—आदरादलोपः॥४१॥

सूत्रार्थ—'आदरात्' परा 'श्री' का और परमेश्वरका भेद न रहनेसे भी परमेश्वर विचित्र गुण-रत्नाकर और श्रीदेवीके आश्रय हैं, इसलिए

उनमें श्रीदेवीके प्रति आदर होनेके कारण 'अलोपः' भक्तिके विलोपकी सम्भावना नहीं है॥ ४१॥

सूत्रानुवाद—यद्यपि श्री पराशक्ति हैं और परमेश्वरसे अभिन्न हैं, तथापि विचित्र गुणरत्नाकर परमेश्वरमें उनका आदर अवश्यम्भावी होनेसे भक्तिके विलोप होनेकी सम्भावना नहीं है॥ ४१॥

गोविन्दभाष्य—सत्यप्यभेदे विचित्रगुणरत्नाकरत्वेन स्वमूलत्वेन च श्रियः परस्मिन्नादरात्तद्भक्तेरलोपः। न खलु वृक्षमनाद्रियमाणा शाखास्ति न च चन्द्रं तत्प्रभा। तद्भक्तिश्चोक्तश्रुतिभ्यः प्रतीयते। *"श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्धापि वक्षसि पदं किल भृत्यजूष्ठम्"* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/३७) इत्यादि स्मृतिभ्यश्च॥ ४१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीदेवी और श्रीहरिका अभेद होनेपर भी परमेश्वर विचित्र गुणरत्नराशिके आकर अर्थात् समुद्र और श्रीदेवीके मूल आश्रयतत्त्व हैं, इसलिए परमेश्वरमें श्रीशक्तिका आदरातिशयके कारण उनके प्रति श्रीदेवीकी भक्तिकी लोपापत्ति नहीं हो सकती। वृक्षका अनादर करके (अर्थात् उसे छोड़कर) शाखा भी नहीं रह सकती और चन्द्रकी प्रभा चन्द्रका आश्रय न करे, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। विशेष रूपसे श्रीदेवीकी हरिभक्तिके सम्बन्धमें पूर्वोक्त *'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च'* इत्यादि श्रुतियोंसे श्रीदेवीकी परमेश्वरमें भक्तिसे अवगत हुआ जा सकता है। भागवत पुराणमें भी है—*'श्रीर्यत्पदाम्बुज … भृत्यजुष्टम्'* अर्थात् श्रीदेवी भगवान्के वक्षःस्थलपर रहकर भी तुलसीके साथ अखिल भक्तोंके द्वारा सेवित श्रीहरिके पादपद्मरागकी कामना करती हैं, इत्यादि ऐसे और भी पुराण-वाक्य हैं॥ ४१॥

सूक्ष्मा-टीका—आदरादिति। तरुतच्छाखान्यायेन चन्द्रतत्प्रभान्यायेन चाभेदे सत्यप्याश्रयलक्षणा भक्तिः सम्भवेदिति व्याचष्टे सत्यपीत्यादिना। वृक्षस्य स्थैर्यादयो गुणाश्चन्द्रस्य कलाधारकत्वादयः। उक्तश्रुतिभ्यः श्रीश्चते इत्यादिभ्यः। आसु पातिव्रत्यादिलक्षणा भक्तिः स्फुटा। श्रीर्यदिति। श्रीभागवते वल्लवीनामुक्तिः। चकमे वाञ्छति स्म॥ ४१॥

सूक्ष्मा-सार—*'आदरादित्यादि'* सूत्रमें। वृक्षमें और उसकी शाखामें जिस प्रकार कोई भेद न रहनेपर भी एवं चन्द्रमा और चन्द्रप्रभाका ऐक्य रहते हुए भी दोनोंका आश्रयरूप आदर देखा जाता है, उसी

प्रकार श्रीदेवीके भी आश्रयत्वके कारण श्रीभगवान्‌के प्रति भक्ति सम्भव है, यही सत्यापि इत्यादि वाक्य द्वारा विवृत्त करते हैं इनमें वृक्षके स्थैर्यादि गुण और चन्द्रमाका कलाश्रयत्वादि गुण हैं। उक्त श्रुतिभ्यः इति *'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या अहोरात्रे'* इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवर्गसे। *श्रीर्यत्पदाम्बुजरजः* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित रासलीलामें गोपियोंकी उक्ति है। *'चकमे'* पदका अर्थ कामना किया गया है॥ ४१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार और एक पूर्वपक्षकी आशङ्का उठाते हैं कि यदि कोई इस प्रकार पूर्वपक्ष करे कि श्रीभगवान् और पराशक्ति अभिन्न हैं और श्री ही वही पराशक्ति हैं, अतः श्रीभगवान्‌के साथ वे भी अभिन्न हैं, तो ऐसी अवस्थामें स्वयंके प्रति स्वयंकी सेव्य-सेवक भावसे सम्बन्धित भक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है? इस प्रकार पूर्वपक्षकी मीमांसाके लिए प्रस्तुत सूत्रकी अवतारणा करते हुए कहते हैं कि यद्यपि श्री पराशक्ति हैं और श्रीभगवान्‌के साथ अभिन्न हैं, तो ऐसा होनेपर भी श्रीहरि विचित्र गुण-रत्नाकर और श्रीदेवीके मूल आश्रयतत्त्व हैं। इसीलिए उन परमेश्वरतत्त्वमें श्री शक्तिका अतिशय आदर होनेके कारण भक्तिके लोपकी सम्भावना नहीं रह सकती।

इस विषयमें श्रीबलदेव प्रभुने अपने भाष्य और टीकामें दो दृष्टान्त दिये हैं—जिस प्रकार वृक्षका आदर अथवा आश्रय किये बिना उसकी शाखा रह नहीं सकती और चन्द्रका आश्रय किये बिना चन्द्रकी प्रभा रह नहीं सकती, उसी प्रकार परमेश्वरकी शक्ति भी उनका आश्रय करती है और उनमें भक्तिपरायण होकर अचिन्त्यभेदाभेद रूपसे अवस्थान करती है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

राधा पूर्णशक्ति, कृष्ण पूर्णशक्तिमान्।
दुइ वस्तु भेद नाहि, शास्त्र परमाण॥

मृगमद तार गन्ध—यैछे अविच्छेद।
अग्नि ज्वालाते यैछे कभु नाहि भेद॥

राधाकृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप।
लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप॥

(चै॰च॰आ॰ ४/५६-५८)

अर्थात् श्रीराधा पूर्णशक्ति और श्रीकृष्ण पूर्णशक्तिमान हैं। दोनोंमें कोई भी भेद नहीं, यही शास्त्र-प्रमाण है। मृगमद और उसकी गन्ध दो पृथक् वस्तुएँ होनेपर भी वे जैसे अविच्छेद्य हैं, और जैसे अग्नि एवं अग्निकी ज्वाला पृथक् वस्तु होकर भी अविच्छिन्न हैं, उसी प्रकार श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण लीलारसके आस्वादनके लिए नित्य पृथक् होते हुए भी एकस्वरूप हैं। लीलारसके आस्वादनके लिए वे दो रूप धारण करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें—

श्रीर्यत् पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२९/३७)

हे स्वामिन्! जिन लक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेकी लालसासे ब्रह्मादि बड़े-बड़े देवता भी तपस्या करते हैं, वही लक्ष्मीजी आपके वक्षःस्थलमें बिना किसी प्रतिद्वन्द्विताके स्थान प्राप्त कर लेनेपर भी अपनी सौतन तुलसीके साथ आपकी चरणरेणुको पानेकी कामना करती हैं। उन्हींकी भाँति हम भी भक्तोंके द्वारा सेवित आपके चरणरेणुकी शरणमें आयी हैं॥ ४१॥

अवतरणिका भाष्य—ननु रतिविषयाश्रयभावेनालम्बेनविभावभेदे सति शृङ्गाराभिलाषः सम्भवेत्। निर्भेदे तु तत्त्वे नासौ सम्भावयितुं शक्य इति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि श्रीदेवीका श्रीकृष्णमें शृङ्गाराभिलाष तभी सम्भव है, यदि रति नामक स्थायीभावका एक विषय-विभाव और दूसरा आलम्बन विभाव रहता हो—इससे द्वैतापत्ति स्वीकृत है और यदि स्वगत भेदाभाव (निर्भेद) कहा जाय तो

शृङ्गाराभिलाषकी सम्भावना नहीं की जा सकती। ऐसा यदि कहते हो तो इस पर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। नायकनायिकारतेर्विषयालम्बनो नायकः आश्रयालम्बनस्तु तस्या नायिकेति एवमुभयोर्भेदे सतीत्यर्थः। नायिकानां नायकरतिस्तु रत्युद्दीपनीति भगवद्रसनिरूपकस्य बादरायणस्य सिद्धान्तः। भरतस्तु मिथो विषयाश्रय-भावमाह। निर्भेदे तु तत्त्वे इति। *"नेह नानास्ति किञ्चन"* इत्यादि श्रुतिभिर्निरस्तस्वगत भेदेऽपीत्यर्थः। असौ शृङ्गाराभिलाषः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रत्येक रसमें एक-एक स्थायी-भाव रहता है और उस स्थायीभावके दो आलम्बन-विभाव होते हैं। इनमें रतिका विषयालम्बन नायक और नायिका उस रतिका आश्रयालम्बन होती है, अतः दोनोंका भेद रहनेपर—यह अर्थ है। पुनः नायककी रति नायिकाओंकी रतिका उद्दीपन विभाव है। भगवत्-रस निरूपणकारी श्रीबादरायणका यही सिद्धान्त है। नाट्याचार्य भरतमुनि कहते हैं—नायक रतिका विषय और नायिका रतिका आश्रय नहीं है, दोनोंमें ही रतिका विषय एवं आश्रय है। भेदरहित विषय होनेपर अर्थात् *'नेह नानास्ति किञ्चन'* इत्यादि श्रुति द्वारा स्वगत भेद न रहनेपर। *'नासौ सम्भावयितुं शक्यमिति'* में 'असौ' से तात्पर्य है—शृङ्गाराभिलाष।

सूत्र—उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्॥ ४२॥

सूत्रार्थ—'उपस्थिते' शक्ति और शक्तिके आश्रयके विशेषत्वानुसार ज्ञान होनेपर शृङ्गाराभिलाषादि उदित होते हैं, अतएव यह सिद्ध है। इसका प्रमाण है 'तद्वचनात्' अथर्वशिरा उपनिषदमें यह उक्ति है॥ ४२॥

सूत्रानुवाद—शक्ति एवं शक्तिके आश्रयमें अभेद है, तथापि शक्तिका आश्रय पुरुषोत्तम रूपमें और शक्ति श्रीरत्नस्वरूपमें उपस्थित रहनेके कारण स्वात्मारामत्वके अदुगुण कामादिका उदय सिद्ध होता है॥ ४२॥

गोविन्दभाष्य—उपस्थितमिति भावे निष्ठा। यद्यपि शक्तितदाश्रययोरस्त्यभेदस्तथापि शक्त्याश्रयस्य पुरुषोत्तमत्वेन शक्तेश्च युवतीरत्नत्वेनोपस्थितौ सत्यां स्वारामत्वपूर्त्याद्यनुगुणं कामादि समुदेत्यतः सिद्धं तत्। इदं कुतः? तद्वचनात्। *"यो ह वै तु कामेन कामान् कामयते स कामी भवति।"* यो ह वै त्वकामेन कामान् कामयते

सोऽकामी भवतीत्यथर्वशिरसि तादृशकामाद्यभिधानादित्यर्थः। अकामेनेति सादृश्ये नञ्च। कामतुल्येन प्रेम्णेत्यर्थः। तेनात्मानुभवलक्षणेन विषयकामना खलु स्वारामत्वं पूर्णताञ्च नातिक्रामतीति। स्वात्मकश्रीस्पर्शादुदग्रानन्दस्तु स्वसौन्दर्य वीक्षणादेरिव बोध्यः। एतदुक्तं भवति—पराख्यस्वरूपशक्तिविशिष्टं खलु परतत्त्वं श्रुत्यादिषु प्रतिपन्नं स्वप्राधान्येन स्फुरत्तत् पुरुषोत्तमसंज्ञम्। पराख्यशक्तिप्राधान्येन स्फुरत्तु धर्मादिसंज्ञम्। परैव खलु ज्ञानसुखकारुण्यैश्वर्यमाधुर्याद्याकारेण स्फुरन्ती धर्मरूपा। शब्दाकारेणाह्वयोक्तिरूपा। धराद्याकारेण धामरूपा। ह्लादिनीसारसमवेतसंविदात्मक-युवतीरत्नत्वेन तु राधादि श्रीरूपा चेति सामस्त्येन परेत्युक्ता। तथा चाभेदे सत्यपि विशेषविजृम्भितेन भेदकार्येण विभाववैलक्षण्यविभानात्तदभिलाषः सिद्ध इति। धर्मादिरूपता तू न पश्चात्तनी किन्तु अनादिसिद्धिमतीति न कापि क्षतिरस्ति। तस्मात् परं तत्त्वं श्रीमदेव ध्येयं तज्जनानुयायिभिः॥ ४२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*उपस्थिते* अर्थात् उपस्थितिमें उपस्थिते पद उप पूर्वक स्था धातुके भाववाच्यमें 'क्त' प्रत्ययके पश्चात् सप्तमीके एकवचनसे निष्पन्न है। उपस्थितिका तात्पर्य यहाँ भावमें निष्ठा है। यद्यपि शक्ति और शक्तिमानका अभेद है, ऐसा होनेपर भी शक्तिके आश्रय श्रीहरि पुरुषोत्तम हैं और शक्ति श्रीदेवी युवतीरत्न स्वरूपमें उपस्थित हैं। इस प्रकारका ज्ञान होनेपर श्रीहरिका स्वात्मारामत्व एवं पूर्णत्वानुकूल कामादि उद्भूत होंगे ही। इसलिए यह सिद्ध है। यह जो कामादिका उदय होता है, इस विषयमें प्रमाण क्या है? यही कहते हैं कि अथर्वशिरा उपनिषदमें है—*'यो ह वै तु कामेन ... सोऽकामी भवति'* अर्थात् देव, मनुष्यादि भोग्य वस्तुओंके भोगकी आङ्क्षाक्षासे जो प्राणी काम निपीड़ित होकर रूप, रसादि भोग विषयोंका भोग करना चाहता हो, उसका नाम कामी है और जो कामतुल्य हैं अर्थात् स्वरूपभूत श्रीविषयक प्रेमाधीन होकर श्रीगत रूप-स्पर्शादिकी कामना करते हैं, वे श्रीहरि अकामी हैं अर्थात् पूर्वोक्त कामीसे स्वतन्त्र हैं, अथर्वशिरा उपनिषदमें इस प्रकार कामके विषयमें कहा गया है। यदि कहो, कामनाके अभावमें कामी कैसे हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'अकामेन'*—इस पदमें 'नञ' सादृश्य अर्थमें है अर्थात् कामतुल्य—प्रेम-वशतः काम सदृश। यह आत्मानुभवस्वरूप प्रेमवशतः विषयकामना श्रीहरिके आत्मारामत्व एवं पूर्णत्वका अतिक्रमण नहीं करती। स्व-स्वरूप अर्थात् निज शक्ति श्रीदेवीके स्पर्शसे जो उत्कट आनन्द है, उसे स्वगत

(अपने) सौन्दर्यके दर्शनादिके आनन्दके समान जानना चाहिये। इस प्रबन्धके द्वारा यह कहा गया है कि परमेश्वरतत्त्व परा नामकी स्वरूपशक्तिसे विशिष्ट होकर प्रकाश पाता है। श्रुति इत्यादिमें प्रतिपादित यह परतत्त्व जब स्व-प्राधान्यमें प्रकाशित होता है, तब यह पुरुषोत्तम नामसे अभिहित होता है और जब पराशक्तिके प्राधान्यमें प्रकाशमान होता है, उस समय यही तत्त्व धर्मादि संज्ञक होता है। ज्ञान, आनन्द, कारुण्य (दया), ऐश्वर्य, माधुर्य आदि रूपोंमें स्वयं ही प्रकाशित होनेवाली पराशक्ति धर्मरूपा है। पुनः यह शक्ति जब शब्दाकारमें स्फुरित होती है, तब यह नामरूपा है। धरित्री इत्यादिके आकारमें स्फुरित होकर वृन्दावनादि धामरूपिणी हैं तथा ह्लादिनीशक्तिके सम्मिलित सार-सवित् नामक युवती-रत्न-स्वरूपमें स्फुरित होकर ये राधादि श्रीरूपा हैं। इस प्रकार यह सम्मिलित शक्ति समुदाय शक्ति रूपमें वे पराशक्तिके रूपमें कही जाती हैं। अतएव परमेश्वरके साथ स्वरूपतः भेद न रहनेपर भी विशेष-विशेष धर्मवश भेद रहनेके कारण विभावोंका भी वैलक्षण्य (पार्थक्य) प्रकाशित होनेसे श्रीभगवान्‌की श्रीरूपिणी पराशक्ति-भोगमें शृङ्गारादि अभिलाष सङ्गत है। यदि कहो, पराशक्ति ही जब धर्मरूपता धारण करती हैं, तब बादमें उत्पन्न उस समस्त धर्मका कार्यतावश अनित्यत्व हो पड़ेगा, तो ऐसा भी नहीं है। धर्मादि रूप बादमें उत्पन्न नहीं हैं, ये तो अनादि सिद्ध हैं। अतः किसी प्रकारकी कोई आपत्तिकी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार यह पुरुषोत्तमतत्त्व श्रीनामकी पराशक्तिसे शक्तिमान है। अतः भक्तगण परतत्त्वको शक्तिसे समन्वित करके उनका ध्यान करते हैं॥ ४२॥

सूक्ष्मा-टीका—उपस्थिते इति। शक्तीति श्रीहर्योरित्यर्थः। तथापीति। विशेष-बलेनाबाधितभेदकार्ये विभाते सतीत्यर्थः। स्वारामत्वेति। तथाच श्रीरमणस्यापि हरेरात्मारामत्वादीनि बोधयन्ति वचांसि सङ्गतानीति। एतेन उदासीनस्य हरेर्जनानुग्रहायैव तादृशी लीला न तु वस्तुत इति दुरुक्तिर्निरस्ता। यो हेति श्रीगोपालतापन्याम्। यो देवमनुष्यादिर्विषयाकाङ्क्षी प्राणिनिकरः कामेनेन्द्रभूतेन स्मरेण निपीडितः सन् कामान् रूपस्पृशादि विषयान् कामयते भोक्तृमिच्छति स कामी कथ्यते। यस्तु अकामेन कामतुल्येन स्वरूपभूतश्रीविषयकेण प्रेम्णा कामान् तन्निष्ठान् रूपस्पर्शादीन् कामयते स हरिरकामी पूर्वोक्तकामिविलक्षणस्तत्तुल्य इत्यर्थः। तेन प्रेम्णा। नन्वात्मैव चेत् श्रीस्तर्हि तया रममाणस्य न लोकवदानन्दसमृद्धिरिति चेत् तत्राह

स्वात्मकेति। स्वशोभां पश्यन् जनो यथातिहृष्टौ दृश्यते तथा स्वभूतां श्रियं पश्यन् हरिरित्यर्थः। एतदुक्तमिति। स्वप्राधान्येन विशिष्टप्राधान्येन। आह्वयोक्तिरूपेति। आह्वया भगवन्नामानि उक्तयो भगवद्वाक्यानि च तद्रूपेत्यर्थः। राधादिश्रीरूपा चेति। पुरुषबोधिन्यामथर्वोपनिषदि *"गोकुलाख्ये माथुरमण्डले"* इत्यारभ्य *"द्वे पार्श्वे चन्द्रावली राधिका च"* इत्याभिधायोत्तरत्र *"यस्या अंशे लक्ष्मीदुर्गादिका शक्तिः"* इति पठ्यते। गौतमीये च तन्मन्त्रकथने— *"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा"* इति। श्रीकृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वमिव श्रीराधाया महालक्ष्मीत्वं सिद्धम्। शङ्काविशेषास्तु भाष्यपीठके निरस्ता द्रष्टव्याः। तदन्यासां श्रीत्वं तु तदवतारत्वाद्बोध्यम् कृष्णावतारत्वाद्यथा नृसिंहादीनां भगवत्तम्। तत्र वल्लवीनां नित्याप्रियाणां श्रीत्वं यथा— *"लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि"* इति *"गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्"* इति च स्मृतेः। पट-महिषीणां तत्त्वस्तु *"रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतः"* इति स्मरणात्। श्रीजानक्यास्तत्त्वस्तु श्रीरामायणाद्बोध्यम्। ननु परैव चेद्धर्मादिरूपतां धत्ते तर्हि पश्चाज्जातानां तेषां महदादीनामिव कार्यतापत्तेरनित्यत्वमिति चेत् तत्राह धर्मादिरूपता त्विति। यदुक्तं जितन्ते स्तोत्रे— *"नित्यज्ञानबलैश्वर्यभोगोपकरणाच्युत"* इति। *"तज्जनानुयायिभिः"* इति। तत्र शास्तास्त्वरूपया रेखास्वरूपया श्रिया विशिष्टं हरिं ध्यायन्ति पश्यन्ति च दासाः सखायश्च तत्कान्तारूपया तया च विशिष्टं तं यथाधिकारं चिन्तयन्ति लभन्ते च। वात्सल्यभावास्तु तादृशं तं लालनरूपेणोपासनेनानु-भवन्ति। शृङ्गारभावास्तु तादृशं तं साक्षादेव ध्यायन्ति परिचरस्तीति तत्तदनुगामिभिः सर्वैभक्तैः श्रीमत्त्वं भाव्यम्॥ ४२॥

सूक्ष्मा-सार— *'उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्'* इस सूत्रमें। *'शक्तितदाश्रयोरिति'* अर्थात् पराशक्ति श्रीदेवी और श्रीहरिका। *'तथापि शक्त्याश्रयस्य'* इति—तथापि अर्थात् विशेष-धर्मके आधारपर भेदकार्य अधिगत होनेपर भी। *'स्वारामत्वपूर्त्त्याद्यनुगुणमिति'*—अतएव श्रीरमणकारी होकर भी श्रीहरिके आत्मारामत्व, पूर्णत्वादि बोधक वाक्य सङ्गत हैं। इसके द्वारा निष्काम श्रीहरिके भक्तानुग्रहके कारण ये समस्त लीलाएँ होती हैं, ये वास्तव नहीं हैं, इस प्रकारकी दुरुक्ति खण्डित हुई। *'यो ह वै तु'* इत्यादि वाक्य श्रीगोपालतापनी-उपनिषदके अन्तर्गत है। इसका अर्थ है—जो प्राणी देव-भोग्य और मनुष्य-भोग्य वस्तुओंकी कामना करते हैं अर्थात् कामाधीश्वर मदन द्वारा निपीड़ित होकर रूप-रस-स्पर्शादि भोग्य-वस्तुओंका भोग करना चाहते हैं तो उन्हें कामी कहा जाता है और जो काम-तुल्य स्व-स्वरूपभूत श्रीविषयक प्रेमाधीन होकर

श्रीनिष्ठ रूप स्पर्शादिकी कामना करते हैं, वे श्रीहरि अकामी अर्थात् पूर्वोक्त कामीसे स्वतन्त्र हैं। *'तेनात्मानुभवलक्षणेनेति'* 'तेन'—वह प्रेम (श्रीहरिका प्रेम) आत्मानुभवस्वरूप है। आपत्ति है यदि श्रीदेवी परमेश्वरकी आत्मस्वरूप हैं तो उन श्रीदेवीके साथ रममाण श्रीहरिका लौकिक आनन्दके समान आनन्दातिशय किस प्रकारसे है? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'स्वात्मक श्रीस्पर्शादिति'*—इसका तात्पर्य है—साधारण व्यक्ति जिस प्रकार अपने सौन्दर्यको देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार श्रीहरि भी अपनी आत्मभूत श्रीको अवलोकन करके हर्षित होते हैं *'एतदुक्तं भवतीति'*—जिस समय यह पुरुषोत्तमतत्त्व अपने विशिष्ट प्राधान्यसे युक्त होकर प्रकाश पाता है, अर्थात् स्फुरित होता है उस समय पुरुषोत्तम नामसे कहा जाता हैं *'शब्दाकारेणह्वयोक्तिरूपता'* इति आह्वय अर्थात् भगवन्नाम एवं उक्ति भगवत्-स्वरूपबोधक वाक्य—इस प्रकार प्रकाश पाते हैं। *'राधादि श्रीरूपा च इति'*—पुरुष-तत्त्व बोधिनी अथर्वशिरा-उपनिषदमें कहा गया है कि गोकुल नामक मथुरा प्रदेशमें यह आरम्भ करके श्रीहरिके दोनों पार्श्वमें चन्द्रावली और राधिका हैं, यह कहा गया है, इसके बाद कहते हैं—जिस पराशक्तिके अंशसे लक्ष्मी, दुर्गा इत्यादि शक्तियाँ विराजमान हैं। गौतमीय-तन्त्रमें भी राधामन्त्र-कथनके प्रसङ्गमें कहा गया है—*'देवी कृष्णमयी प्रोक्ता'* इत्यादि श्रीराधादेवी कृष्णमयी परदेवता स्वरूपिणी हैं—वे सर्वलक्ष्मी, सर्वकान्ति, परा सम्मोहिनीशक्ति हैं। श्रीकृष्णकी भगवत्ता जिस प्रकार स्वयं सिद्ध है, उसी प्रकार श्रीराधाका भी महालक्ष्मीत्व स्वरूपसिद्ध है, इस विषयमें विशेष-विशेष आशङ्काएँ भाष्यपीठकमें निराकृत हुई हैं, यह जानें। परा—श्रीसे भिन्न दूसरोंको भी 'श्री' शब्दसे कहा जाता है, वह उन्हीं परा—श्रीके अवतारत्वके कारणसे है, जिस प्रकार नरसिंहादि अवतारोंकी भगवत्ता श्रीकृष्णके अवतारत्वके कारण है। भगवान्‌की नित्य प्रिया गोपियोंके भी श्रीत्व विषयमें प्रमाण हैं यथा—*'लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानमित्यादि'*—जो लक्ष-लक्ष लक्ष्मियों द्वारा ससम्भ्रम सेव्यमान हैं—मैं उन आदिपुरुष गोविन्दका भजन करता हूँ। यहाँ गोपियोंको लक्ष्मियाँ कहा गया है। पुनः *'गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्'*—श्रीरूपिणी

गोपियाँ उन अच्युत अतीव प्रिय श्रीकृष्णको स्वामीरूपमें प्राप्त होकर—इस वाक्यमें भी गोपियोंकी श्रीसंज्ञा प्रदान की गयी है। पट्ट-महिषी रुक्मिणी इत्यादिका भी श्रीत्वके विषयमें प्रमाण है—यथा *'रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतः'*। आत्माराम श्रीकृष्णने लक्ष्मियोंके साथ रमण किया था। सीतादेवीका श्रीत्व बाल्मीकीय रामायणसे अवगत होता है। आपत्ति है कि—यदि पराश्री ही धर्मादिरूपता धारण करती है, तब तो महदादि तत्त्वोंके समान बादमें उत्पन्न होनेके कारण उनका कार्यत्व हो पड़ता है, इसलिए धर्म अनित्य है, इसके उत्तरमें कहते हैं—पराश्रीकी धर्मादिरूपता स्वरूपतः अनादिसिद्ध है, बादमें उत्पन्न नहीं है, यह बात विष्णुपराणमें जितन्ते पुण्डरीकाक्षेत्यादि स्तोत्रमें वर्णित है यथा *'नित्यज्ञान बलैश्वर्य भोगोपकरणाच्युत'*—हे अच्युत! आप नित्य स्वरूपसिद्ध ज्ञान, बल, ऐश्वर्य एवं भोगोपकरणादिसे समन्वित हैं। *'तज्जनानुयायिभिरिति'* में 'तज्जन' कहनेसे तात्पर्य है—शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य भावसे युक्त भगवत्-भक्त। इनमें शान्तस्वभाव भक्तगण रूपरहित रेखास्वरूप श्रीविशिष्ट श्रीहरिका ध्यान करते हैं एवं दर्शन करते हैं। दास्य-सख्य-भावसे युक्त भक्तगण श्रीहरिकी कान्तारूपिणी श्रीके साथ अपने-अपने अधिकारानुसार श्रीहरिका ध्यान करते हैं और उसी रूपमें साक्षात्कार करते हैं। वात्सल्यभावापन्न भक्तगण उन श्रीहरिकी लालनात्मक उपासना द्वारा उनका साक्षात् अनुभव करते हैं किन्तु शृङ्गारभावयुक्त भक्तगण शृङ्गारी श्रीहरिका साक्षात् ध्यान करते हैं और परिचर्या करते हैं। जो भी हो, उन-उन भावोंसे युक्त सभी भक्त भगवान्‌का श्रीविशिष्ट रूपमें ही ध्यान करेंगे॥ ४२॥

गोविन्दतोषणीवृति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें भी और एक पूर्वपक्षकी आशङ्का उठाते हुए मीमांसा करते हैं। यदि कोई आपत्ति करे कि रति विचारमें देखा जाता है कि विभाव दो प्रकारका है—आलम्बन और उद्दीपन। पुनः आलम्बन भी दो प्रकारका है—आश्रय और विषय। जिनमें रति रहती है, उनके आधार रूपमें वे आश्रय हैं। रति जिनके प्रति धावित होती है, वे इस रतिके विषय हैं। अतः रतिके विषय श्रीकृष्ण हैं एवं आश्रय भक्तगण हैं। श्रीकृष्णके गुण, वयस, मोहनता, सौन्दर्य, रूप, चेष्टा इत्यादि रसके उद्दीपन हैं। जहाँ विषय और

आश्रयमें भेद रहता है, वहाँ शृङ्गाराभिलाष उदित होता है, किन्तु श्रीशक्ति यदि श्रीभगवान्‌के साथ अभेद अवस्थामें रहती हैं तो ऐसा होनेपर शृङ्गाराभिलाष सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्वपक्षकी मीमांसाके लिए सूत्रकार कहते हैं कि शक्ति और शक्तिमानका अभेद रहनेपर भी शक्तिके आश्रय श्रीहरिके श्रीपुरुषोत्तम स्वरूपमें और शक्ति श्रीदेवीके युवतीरत्न स्वरूपमें उपस्थित रहनेके कारण श्रीहरिके आत्मारामत्व एवं पूर्णत्वके अनुकूल कामादिका उदय होगा ही—अतएव यह कामादि सिद्ध है। अथर्वोपनिषदके प्रमाणमें भी यही देखा जाता है।

इस विषयकी विस्तारपूर्वक श्रीबलदेव विद्याभूषणके भाष्यमें देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

(श्रीमद्भा० १०/३३/१६)

अर्थात् बालक जिस प्रकार अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, उसी प्रकार लक्ष्मीके अधिपति (प्रभु) श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार आलिङ्गन, करमर्दन, स्निग्ध चितवन, उद्दाम विलास और मन्दमन्द मुस्कानके साथ अपनी शक्ति व्रजरमणियोंके सहित रासक्रीड़ा करने लगे।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण एकमात्र अद्वयज्ञान वस्तु हैं, उनकी शक्ति अनन्त है। वह समस्त शक्ति रूपवती होकर कृष्णको क्रीड़ा कराती हैं। एक पराशक्तिकी विभूति समस्तको अनन्त शक्ति प्रदान करती हैं। एक कृष्ण जितनी संख्यामें गोपी शक्ति है, उतनी ही संख्यामें होकर प्रकट हुए थे। सब ही कृष्ण है; किन्तु चित्-शक्ति योगमायाने कृष्ण इच्छावश गोपियोंको प्रकटित किया था। रस-पुष्टिके लिए इस स्थलपर जिस लीलाको स्वरूपशक्ति योगमायाने प्रकटित किया था। वह अर्भक-प्रतिबिम्बके समान ही चाहे हो किन्तु यह लीला चित्-शक्ति-प्रकटितके रूपमें नित्य एवं स्वतः प्रकाश है।

श्रीलचक्रवतीपादकी टीकामें भी लिखा है—*'अत्रापि एकैकया प्रियया सह एकैकस्वरूपो रेमे इत्यर्थः। तासां ह्लादिनीशक्तित्वेन स्वरूपभूतत्वात्। स्व-प्रतिच्छवित्वानौचित्यात् व्याख्यान्तरं नेष्टम्॥'* अर्थात् इस स्थलपर जिस प्रकार बिम्ब शब्दसे स्वरूप कहा गया है, इसी प्रकार इस स्थलपर एक एक प्रियाके साथ एक-एक स्वरूप प्रकटित करके उन्होंने क्रीड़ा की है। इसका कारण है कि ह्लादिनीशक्ति उनकी स्वरूपभूता है। यहाँ स्वप्रतिच्छवित्वके अनौचित्यके कारण अन्य रूपमें व्याख्या अभिप्रेत नहीं है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

कृष्ण-प्राप्तिर उपाय बहु विध हय।
कृष्ण-प्राप्ति तारतम्य बहुत आछय॥

किन्तु याँर येइ रस, सेइ सर्वोत्तम।
तटस्थ हञा विचारिले आछे तर-तम॥

पूर्व-पूर्व-रसेर गुण परे-परे हय।
एक दुइ गणने पञ्च पर्यन्त बाड़य॥

गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाड़े प्रति रसे।
शान्त-दास्य-सख्य वात्सल्येर गुण मधुरेते रेसे॥

(चै॰च॰म॰ ८/८२-८३, ८५-८६)

अर्थात् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके उपाय बहुत प्रकारके हैं इसलिए उनकी प्राप्तिमें भी बहुत तारत्मय है। इनमें जिसका जो रस है, उसके लिए वही सर्वोत्तम है। तटस्थ रहकर विचार करनेपर अवगत होता है कि विभिन्न भावोंमें एक ही तारतम्य है। पूर्व-पूर्व रसका गुण बाद-बादवाले रसमें भी रहता है, इस प्रकार पहलेमें एक, दूसरेमें दो और तीसरेमें तीन—यह संख्या पाँचवें रसमें पाँच गुणों तक बढ़ जाती है। गुणोंकी अधिकतासे प्रत्येक रसमें स्वादकी अधिकता भी बढ़ जाती है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—सभी गुण मधुररसमें रहते हैं।

इसी प्रकार,

यद्यपि सोन्दर्यसौ-कृष्णमाधुर्येर धूर्य।
व्रजदेवीर सङ्गे तार बाड़ये माधुर्य॥

(चै॰च॰म॰ ४/१३)

अर्थात् कृष्णका सौन्दर्य माधुर्यकी धुरी (चरमसीमा) है और इस कारण उसमें वृद्धिका अवकाश नहीं है तो भी व्रजदेवियोंके सङ्गसे उनका माधुर्य और भी बढ़ने लगता है।

श्रीमद्भागवतमें है—

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा॥

(श्रीमद्भा॰ १०/३३/६)

यमुनाजीकी रमणरेतीपर व्रजसुन्दरियोंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी अनोखी शोभा हुई। ऐसा जान पड़ता था, मानो अगणित पीली-पीली दमकती हुई सुवर्ण-मणियोंके बीचमें ज्योतिर्मयी नीलमणि चमक रही हो।

और भी,

नाना भक्तेर रसामृत नानाविध हय।
सेइ सब रसामृतेर 'विषय', 'आश्रय'॥

(चै॰च॰म॰ ८/१५०)

अर्थात् विभिन्न भक्तोंका विविध पञ्चादि प्रकारका रसामृत है। इस रसामृत-उपासनामें भक्त ही उसके 'आश्रय' हैं और उपास्य श्रीकृष्ण ही उस रसके विषय हैं।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें भी प्राप्त है—

अखिलरसामृतभूत्तिः प्रसृमररुचिरुद्ध-तारका-पालिः।
कलित-श्यामा-ललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥

(भ॰र॰सि॰ १/१/१)

अर्थात् जो अखिल-रसामृत-मूर्त्ति हैं, जिन्होंने अपने चारों ओर फैलनेवाली रुचि (कान्ति) से तारका पंक्ति (तारका एवं पालिका नामकी गोपियों) को अवरुद्ध-निष्प्रभ (वशीभूत) कर दिया है, जो रात्रिके सौन्दर्यका विधान करनेवाले हैं, जिन्होंने श्यामा तथा ललिताजीको सम्मोहित कर लिया है और जो राधाजीके अत्यन्त प्रिय हैं—ऐसे श्रीकृष्णचन्द्रकी जय हो।

श्रीमद्भागवतमें और भी—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे,
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत् तपो,
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥
(श्रीमद्भा॰ १०/१६/३६)

अर्थात् हे देव! जिस पदरेणुकी प्राप्तिकी आशासे आपकी अर्द्धाङ्गिनी परम सुन्दरी लक्ष्मीजीने समस्त विषय-भोगका परित्याग करके बहुत दिनों तक व्रत-नियमोंका धारण करते हुए तपस्या की थी, यह कालिय उसी आपकी चरणरेणुका अधिकारी किस प्रकार बन गया? हमारी समझमें नहीं आ रहा कि उसने कौन-सा पुण्य किया है—जिसके प्रभावसे उसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है॥४२॥

अवतरणिका भाष्य—तत्रैव श्रूयते। *"तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजेत्तं यजेदित्यों तत्सत्"* इति। अत्र संशयः। श्रीकृष्णत्वेन गुणेन श्रीहररुपासनं नियतं न वेति।—अवधारणस्वारस्यात्तेन तन्नियतमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसी अथर्वशिरा-उपनिषदमें श्रुत होता है कि *'तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भवेत्तं यजेदित्यों (यजेत् इति ओम्) तत्सत्'* अतएव इसीसे श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं, उनका ध्यान करें, जप करें, भजन करें और उनकी ही पूजा करें, वे ही परमतत्त्व शाश्वत पुरुष हैं। इस श्रुतिमें संशय यह है कि श्रीकृष्णस्वरूपमें ही श्रीहरिकी उपासना अवश्य करनी चाहिये? कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब *'कृष्ण एव परो देवः'* इस श्रुतिमें अवधारणार्थक 'एव' शब्द श्रुत होता है, तब उसी रूपमें ही उपासना नियत (अवश्य करनीय) है। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र श्रीमत्त्वेनोपासनं सर्वेषां नियतमित्युक्तं तन्न युक्तम्। *"तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेदित्यत्र विभुविज्ञानानन्द-यशोदास्तनन्धयत्वेन तन्नियमप्रतीतेरित्याक्षिप्य समाधेराक्षेपोऽत्र सङ्गतिः।"* तत्रैवेत्यादि। तत्रैवाथर्वशिरसि। तस्मादिति। कृष्ण एव परो देवः सर्वेश्वरो न तु शितिकण्ठादिरित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस अधिकरणमें उत्थित विषयपर सङ्गति दिखाते हैं—पूर्व अधिकरणमें श्रीहरिकी श्रीदेवीविशिष्ट (युक्त)

रूपमें उपासना सभीको अवश्य करनी चाहिये यह कहा गया था किन्तु यह तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि *'तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्'* इत्यादि श्रुतिमें 'एव' शब्द द्वारा केवल श्रीकृष्ण ही अर्थात् वे विभु हैं और विज्ञानानन्दमय हैं, वे ही यशोदास्तनपायित्व रूपमें हैं, उनकी ही उपासना प्रतीत होनेके कारण सभी देवताओंके पक्षमें इस प्रकारकी उपासना विहित नहीं है, यह आक्षेप करके समाधान होनेके कारण आक्षेप-सङ्गति है। *'तत्रैवेत्यादि'* में 'तत्र' का अर्थ है—अथर्वशिरा नामक उपनिषदमें—*'तस्मात् कृष्ण एवेत्यादि'* अर्थात् श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वर हैं, शितिकण्ठ महादेवादि नहीं।

तन्निर्धारणानियमाधिकरणम्

सूत्र—तन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्॥ ४३॥

सूत्रार्थ—'तन्निर्द्धारणानियमः' श्रीकृष्णत्व रूपमें ही उपासनाका कोई निर्धारित नियम नहीं है क्योंकि 'तद्दृष्टे' श्रीकृष्णके आत्मस्वरूप श्रीबलदेव आदि की भी उपासना दिखायी जाती है, तब तो श्रीकृष्णरूपमें उपासनाका भी नियम विफल है, ऐसा नहीं है 'हि' कयोंकि 'पृथक् फलम्' श्रीबलदेवादिकी उपासनाका पृथक् (स्वतन्त्र) फल है अर्थात् 'प्रतिबन्ध' कृष्णोपासनाके प्रतिबन्धकी निवृत्ति इस नियमका फल है॥ ४३॥

सूत्रानुवाद—श्रीकृष्णकी ही उपासना करें, ऐसा कोई नियम नहीं है। श्रीकृष्णके अपतमभूत श्रीबलदेवादिका भी उपास्यत्व प्रतीत होता है। देवतान्तरके श्रेष्ठत्वके निरास द्वारा श्रीकृष्णोपासनाके प्रतिबन्धकी निवृत्ति इस नियमका फल है। श्रीकृष्णोपासनाका फल स्वतन्त्र है॥ ४३॥

गोविन्दभाष्य—तेन निर्द्धारणेनानियमः श्रीकृष्णत्वेनैव धर्मेण श्रीहरिरुपास्यो नान्येन श्रीरामत्वादिनेति नियमो नेत्यर्थः। श्रीकृष्णत्वं यशोदास्तनन्धयत्वे सति विभुविज्ञानानन्दवस्तुत्वम्। एवं कुतः? तद्दृष्टेः। *"यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः। रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः। चतुःशब्दो भवेदेको ह्योङ्कारस्यांशकैः कृतः"* इति तत्रैव श्रीकृष्णात्मभूतानां बलदेवादीनामपि तद्वदुपास्यत्वप्रतीतेरित्यर्थः। तर्हि कृष्ण एवेत्यवधारणं विफलम्। तत्राह पृथगिति।

हि यस्मात्तत् फलं पृथगस्तीत्यर्थः। किम्तदित्याह। अप्रतिबन्ध इति। देवतान्तरपारम्यस्य श्रीकृष्णो पास्तिप्रतिबन्धस्य विनिवृत्तिस्तदित्यर्थः। तथाच शक्तौ रुचौ च सत्यां समुच्चित्योपासनं तदभावे तु तेनैवेति स्थिरम्॥ ४३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—किसी निर्द्धारण द्वारा कोई ऐसा उपासनाका नियम नहीं बनाया गया है कि श्रीकृष्णत्वरूपमें ही श्रीहरि उपास्य हैं अन्य रामत्वादि धर्म (रूप) में नहीं। श्रीकृष्णत्व धर्म है—जो यशोदास्तन्यपायी हैं, फिर भी विभु और विज्ञानानन्दस्वरूप हैं। अरे! इस प्रकारके नियमका अभाव कहाँ-से जान लिया? तो इस पर कहते हैं—*'तद्दृष्टेः'* क्योंकि इसका वर्णन हुआ है यथा—*'यत्रासौ संस्थितः ... अंशकैः कृतः'*, अर्थात् जिस स्थानपर विभु भगवान् श्रीकृष्ण त्रिविध शक्तिके साथ समन्वित होकर बलराम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और रुक्मिणीके साथ लीलारत रहते हैं और श्रीकृष्णके वाचक, ये चारों शब्द (बलराम इत्यादि) चार वर्णोंसे मिलित एकमात्र प्रणवके चार अंशों (अकार, उकार, मकार एवं नादात्मक) के द्वारा रचित हैं अर्थात् एकमात्र प्रणव ही चार वर्णोंमें चार अंशोंमें रुकिमणी इत्यादि रूपमें विराजित हैं। यहाँ श्रीकृष्णके आत्मभूत बलदेव इत्यादि की भी श्रीकृष्णके समान उपास्यता प्रतीत होती है। यदि कहो, तब *'कृष्ण एव परो देवः'* में 'एव' शब्दका प्रयोग किस अभिप्रायसे है तब तो वह विफल है, तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि *'पृथक्ह्यप्रतिबन्धः फलम्'* 'हि'—क्योंकि उसका फल स्वतन्त्र अर्थात् अन्य रूप है। वह फल क्या है? वही कहते हैं—*'अप्रतिबन्ध'*, देवतानन्तर अर्थात् अन्य देवताके श्रेष्ठत्वके निरास द्वारा श्रीकृष्णोपासनाका जो प्रतिबन्धक है, उसीकी निवृत्ति कराना ही इसका फल (सिद्धान्त) है (अन्य देवतासे श्रीकृष्णकी ही उपासनाका श्रेष्ठत्व है)। रही फलकी बात तो शक्ति और रुचि रहनेपर समुच्चित भावसे बलदेवादिकी उपासना करनी चाहिये, शक्ति और रुचिके अभावमें केवल कृष्णत्वरूपकी ही उपासना की जाय॥ ४३॥

सूक्ष्मा-टीका—तन्निर्द्धारणेति। तेन कृष्णत्वेनैव। श्रीकृष्णत्वञ्च यशोदेति। यथाहुर्नामकौमुदीकाराः। तमालस्यामलत्विषि श्रीयशोदास्तनन्धये परब्रह्मणि कृष्णशब्दस्य रुढिरिति। दलद्वयार्थश्च *"न चान्तर्न बहिर्यस्य"* इत्यादौ श्रीमुनीन्द्रेण व्यक्तं

वर्णितः। यत्रासाविति। इह रुक्मिणीसाहित्येन श्रीमत्त्वस्यागतत्वाच्चोद्यं निरस्तम्। तच्च श्रीराधादीनामुपलक्षणम्। तदात्मभूतानामिति। इतरथा श्रुतं तेषामुपासनं विलुप्येतेत्याभिप्रायः। एतच्च श्रीनृसिंहादीनामुपलक्षणम्। पृथगिति। अन्यदित्यर्थः। समुच्चित्येति। कृष्णत्वरामत्वादीन् सर्वान् गुणानादायेत्यर्थः। तदभावे शक्तिरुच्योरभावे। तेनैव कृष्णत्वेनैव गुणेन॥ ४३॥

सूक्ष्मा-सार—*'तन्निर्द्धारणार्थेत्यादि'* सूत्रमें तेन निर्द्धारणेनेति भाष्यमें—'तेन' का अर्थ है श्रीकृष्णरूपत्वमें ही। श्रीकृष्णत्व धर्म क्या है? कहते हैं, जो तमालवर्ण हैं, यशोदाके स्तनपायी होकर भी विभु एवं विज्ञानानन्दमय हैं, वे ही परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, श्रीकृष्णत्व ही उनका स्वरूप है। नामकौमुदी ग्रन्थकार इसी प्रकारसे कहते हैं—जो तमाल वृक्षके समान श्याम कान्ति हैं, यशोदाके स्तनपायी हैं, उन परब्रह्ममें ही श्रीकृष्णशब्दकी प्रसिद्धि है। मुनीन्द्र शुकदेवने भी *'नचान्तर्न बहिर्यस्य'* इत्यादि श्लोकमें *'यशोदास्तनन्धयत्वे सति विभुविज्ञानान्दमयत्व'* (श्रीकृष्णत्वका अर्थ विभु विज्ञानानन्द होकर भी यशोदास्तनपानकारी श्रीकृष्णस्वरूप है) इन दोनों अंशोंका अर्थ सुस्पष्ट रूपसे वर्णन किया है। *'यत्रासौ संस्थितः'* इत्यादि श्लोकमें रुक्मिणी-सहितत्व कहनेसे श्रीयुक्तत्व भी प्रतिपादित हुआ है; अतः किसी भी प्रश्नके लिए अवकाश नहीं है। रुक्मिणी-सहितत्व उक्ति श्रीराधादिसाहित्यकी भी ज्ञापक है—यह जानें। *'तदात्मभूतानामिति'*—श्रीकृष्णके आत्मभूत बलदेवादिका भी उपास्यत्व प्रतीत होनेके कारण। यदि उनका भी उपास्यत्व न कहा जाय तो उनकी उपासनाकी उक्ति व्यर्थ होती है, यही तात्पर्य है। इसे बलदेवादिके समान नृसिंहादि अवतारोंकी उपासनाका ज्ञापक जानें। *'फलं पृथगस्ति'* में पृथक्का अर्थ है स्वतन्त्र। *'समुच्चित्येति समुच्चित्योपासनं'* इति में *'समुच्चिता'*—श्रीकृष्णत्व, श्रीबलदेवत्व इत्यादि धर्मके साथमें, यह अर्थ है। तदभावे—शक्ति एवं रुचि न रहनेपर, तेनैव—केवल कृष्णत्वरूपमें ही उपासना करनी चाहिये॥ ४३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अथर्वशिरा-गोपाल-तापनी-उपनिषदमें पाया जाता है कि *'तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजेत्तं यजेदित्यों तत्सत्'* अर्थात् श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं, उनका ही ध्यान करे, जप करे, भजन करे और उनकी ही पूजा करे, वे ही परमतत्त्व शाश्वत

पुरुष हैं—इत्यादि वाक्यमें एक संशय उपस्थित होता है कि क्या श्रीहरि केवल श्रीकृष्णत्वरूपमें ही उपास्य हैं अथवा अन्य रूपमें भी उनकी उपासनाकी जा सकती है? यहाँ पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जब श्रुति 'एव' शब्द द्वारा श्रीकृष्णका ही अवधारण (निश्चय) करती है, तब श्रीकृष्णत्वरूपमें ही उपासनाका विधान है—यह जानना चाहिये। इस प्रकार पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, ऐसा कोई निर्द्धारित नियम नहीं है कि श्रीकृष्णत्वरूपमें ही उपासना करनी होगी और श्रीबलरामादि रूपोंमें उपासना नहीं होगी। कारण कि उक्त श्रुतिमें ही श्रीकृष्णके समान तदात्मभूत श्रीबलदेवादिका उपास्यत्व भी दिखायी देता है। जैसे कि श्रीकृष्ण यशोदाके स्तन्यपायी होनेपर भी विभु एवं विज्ञानानन्दमय वस्तु हैं। वे त्रिविध शक्तिके साथ समाहित रहते हैं और बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं रुक्मिणी इत्यादिके साथ लीला करते हैं। एकमात्र प्रणव ही चार वर्णोंमें—चार अंशोंमें रुक्मिणी आदि रूपमें विराजित हैं।

इस स्थलपर 'एव' शब्दके द्वारा स्वतन्त्र फल सूचित करते हैं अर्थात् देवतान्तरकी परतमता (श्रेष्ठता) का निरास करते हुए श्रीकृष्णकी उपासनाके प्रतिबन्धकको दूर करना ही उक्त 'एव' शब्दके व्यवहारका फल है। शक्ति एवं रुचि रहनेपर व्यूहकी (चतुर्व्यूहकी) उपासना अथवा अन्य नरसिंहादि भगवदवतारोंकी उपासना करनेसे कोई दोष हो नहीं सकता। तब शक्तिका अभाव रहनेपर श्रीकृष्णकी उपासनाको ही स्थिर जानना होगा।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्चयः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/९/१३)

सर्वव्यापक होनेके कारण जिनमें न बाहर है और न भीतर, न आदि है, न अन्त, जो जगत्से पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे जो सर्वकाल एक ही स्वरूपमें नित्य विराजमान रहते हैं, जो जगत्के कार्य और कारण हैं, एवं जगत्-स्वरूप हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कृष्णेर स्वरूप-अनन्त, वैभव अपार।
चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति आर॥

वैकुण्ठ, ब्रह्माण्डगण—शक्तिकार्य हय।
स्वरूपशक्ति शक्तिकार्येर—कृष्ण समाश्रय॥

(चै॰च॰म॰ २०/१४९-१५०)

अर्थात् श्रीकृष्णके श्रीराम, श्रीनरसिंहादि अनन्त स्वरूप हैं और उनका ऐश्वर्य भी असीमित है। वे नित्य तीन शक्तियोंसे संवलित रहते हैं—चित्-शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति। वैकुण्ठादि धाम उनकी चित्-शक्तिका कार्य हैं और अन्यान्य ब्रहमाण्ड उनकी मायाशक्तिका कार्य है। स्वरूपादि शक्तियोंके तथा समस्त शक्तियोंका कार्यरूप यह जगत् है—श्रीकृष्ण ही इनके एकमात्र समाश्रय हैं।

और भी,

'भक्त्ये' भगवानेर अनुभव—पूर्णरूप।
एकइ विग्रहे ताँर अनन्त स्वरूप॥

स्वयंरूप, तदेकात्मरूप, आवेश—नाम।
प्रथमेइ तिन रूपे रहेन भगवान्॥

वैभव प्रकाश कृष्णेर—श्रीबलराम।
वर्णमात्र-भेद सब—कृष्णेर समान॥

प्राभव विलास—वासुदेव सङ्कर्षण।
प्रद्युम्न, अनिरु,—मुख्य चारिजन॥

लीलावतार कृष्णेर ना याय गणन।
प्रधान करिया कहि दिग्दरशन॥

मत्स्य, कूर्म, रघुनाथ, नरसिंह, वामन।
वराहादि—लेखा याँर ना याय गणन॥

(चै॰च॰म॰ २०/१६४, १६५, १७४, १८६, २९७, २९८)

अर्थात् भक्तिके द्वारा उनकी उपासना करनेपर भगवान्‌की पूर्ण रूपसे अनुभूति होती है। भगवान् श्रीकृष्णके एक ही नित्य विग्रहसे

उनके अनन्त स्वरूप प्रकाशित होते हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मरूप और आवेशरूप—इन तीन रूपोंमें भगवान् दिखायी देते हैं। स्वयंरूपमें स्वयं और प्रकाश—इन दो प्रकारके रूपोंमें उनकी स्फूर्ति है—उनमें व्रजमें स्वयंरूप—गोपमूर्त्तिरूपमें श्रीकृष्ण उदित हैं। वस्तुतः श्रीकृष्णकी गोपमूर्त्ति ही स्वयंरूप है क्योंकि यह उनके अन्य किसी भी रूपकी अपेक्षा नहीं करती। उनका जो रूप स्वयंरूपसे अभिन्न है, परन्तु आकृति और वैभवादिमें भिन्न है। उसे ही तदेकात्मरूप कहा जाता है। जिन जीवोंमें भगवत्-शक्ति प्रवेश करके महत् कार्य करती है, वे भगवान्के आवेशरूप हैं। श्रीकृष्णका वैभवप्रकाश श्रीबलराम हैं। मात्र वर्णका भेद है—शेष सब श्रीकृष्णके समान है। विलासके दो भेद हैं—प्राभव और वैभव और इनके भी अनेक विलास और भेद हैं। प्राभवके विलास हैं—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चारों मुख्य हैं और स्वयंरूपके ही विलास हैं। श्रीकृष्णके लीलावताार असंख्य हैं, उनकी गणना नहीं की जा सकती फिर भी जो प्रधान-प्रधान हैं उनका दिग्दर्शनमात्र किया जाता है, यथा—मत्स्य, कूर्म, रघुनाथ, नरसिंह, वामन, वराहादि अगण्य अवतार हैं।

श्रीमद्भागवतमें और भी,

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्त्येकमूर्त्तिकम्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४०/७)

अर्थात् कोई-कोई दीक्षाका अतिक्रमण—उल्लप्त्नकर संस्कारसम्पन्न होकर विशुद्ध चित्तसे आपके द्वारा बतलायी हुई पाञ्चरात्रिक विधिके अनुसार आपमें चित्त सन्निविष्ट करके आपके चतुर्व्यूह आदि, अनेक और परमव्योम अधिपति नारायणरूप एक स्वरूपकी उपासना करते हैं॥ ४३॥

श्रीगुरुदेवके कृपागुणका उपसंहार

अवतरणिका भाष्य—अथ गुरुगम्यत्वं गुणमुपसंहर्त्तुमारभ्यते। विद्याप्रदेशेषु श्रूयते—*"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः"* इति श्वेताश्वतरोपनिषदि्। (श्वे॰ ६/२३) *"आचार्यवान्*

पुरुषो वेद" (छा॰ ६/१४/२) इति। *"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्"* (मु॰ १/२/१२) इति चान्यत्र। इह संशयः। गुरुलब्धाच्छ्रवणादितः फलं गुरुप्रसाद-सहितात्तस्माद्वेति। तत्र श्रवणादितः फलाभिधानात् किं तत्प्रसादेनेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद आचार्य-प्राप्य विद्या द्वारा उपासनाकी कर्त्तव्यताको बतलानेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषदमें विद्या-प्रकरणमें कहा गया है—*'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'* (श्वे॰ ६/२३) अर्थात् जिस व्यक्तिकी देवतामें (भगवान् श्रीकृष्णमें) पराभक्ति है और जैसी देवतामें है, वैसी ही परमाभक्ति गुरुदेवमें भी है, उसी महात्माके सम्बन्धमें ये उपनिषद-प्रोक्त फल प्रकाशित होता है अर्थात् सिद्ध होता है। अन्य छान्दोग्य-श्रुतिमें भी कहा है कि—*'आचार्यवान् पुरुषो वेद'* अर्थात् जो आचार्यका आश्रय करके उनकी सेवामें रत रहता है—वही ब्रह्मत्वको जान सकता है। अतएव ब्रह्मको जाननेके लिए गुरुके निकट जाये। इस उक्तिमें संशय यह है कि गुरुमुखसे श्रुत ब्रह्म-विषयक श्रवणादिसे क्या तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त होगा? अथवा गुरु-प्रसाद (गुरु-कृपा) सहित श्रवणादिसे फल होगा। इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब केवल गुरुमुखसे श्रुत श्रवणादिसे फल-प्राप्तिकी बात कही जा रही है तब गुरुके अनुग्रहकी आवश्यकता नहीं है, केवल श्रवणमात्रसे ही फल सिद्धि होगी। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र कृष्णत्वादिधर्माणां समुच्चयेन विकल्पेन चोपासनमुक्तम्। तदेव कार्यमस्तु तेनैव मोक्षलक्षणस्य फलस्य सिद्धेः। देशिक-लभ्यत्वगुणेनोपसंहृतेन तदुपासनं मास्तु तेन फलानतिरेकादिति प्रत्युदाहरणं सङ्गतिः। अथ गुर्विति। यस्येति। हरि-गुरुभक्त्या येनेयमुपनिषत् पठ्यते तस्यैव तदर्थाः स्फुरन्ति फलाय च कल्पन्ते। येन जीविकार्थिना तद्भक्तिविरहितेन छद्मना पठ्यते तस्य तु नेत्यर्थः। आचार्यवानिति। कृतगुर्वाश्रयणः सर्वदा तत्सेवी चेत्यर्थः। फलं हरिसाक्षात्कारः। तस्मात् श्रवणादेः। तत्प्रसादेन गुरुकृपया।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व अधिकरणमें वर्णित हुआ था कि कृष्णत्व-बलरामत्व इत्यादि धर्मोंकी समुच्चित रूपमें अथवा अक्षमता और अरुचि पक्षमें केवल कृष्णत्वरूपमें ही उपासना करनी

चाहिये। अच्छा! वही करणीय हो, क्योंकि उसीके द्वारा ही मुक्तिरूप फलकी सिद्धि होती है। आचार्य-लब्ध विद्या द्वारा वह उपासना न हो क्योंकि उसमें अतिरिक्त फल कुछ भी नहीं है, इस प्रत्युदाहरण-सङ्गति अथवा आक्षेप-सङ्गतिके अनुसार इस अधिकरणका आरम्भ *अथ गुरुगम्यत्वम्* इत्यादि वाक्य द्वारा होता है। श्रीहरि एवं श्रीगुरुमें समान-भक्तिके साथ जो व्यक्ति इस उपनिषदका पाठ करता है, उसे ही वह उपनिषद-अर्थ प्रतिभात होता है और फल-सिद्धि होती है किन्तु जो हरि एवं गुरुभक्तिरहित होकर जीविकाके लिए छलपूर्वक पाठ करते हैं अर्थात् जिसके पाठमें छल देखा जाता है, उसे वह फल होता नहीं है यही तात्पर्य है। *'आचार्यवान् पुरुषो वेदेति'*—आचार्यवान् अर्थात् जो सद्गुरुका आश्रय करके एवं उनकी सेवामें सर्वदा रत रहता है, उसका श्रीहरि-साक्षात्काररूप फल होता है। *'तस्माद् वा इति'* का अर्थ है श्रवणादिसे। *'किं तत्प्रसादेनेति'*—तत्प्रसादेन—अर्थात् गुरुकृपासे क्या प्रयोजन है?

प्रदानाधिकरणम्

सूत्र—प्रदानवदेव तदुक्तम्॥ ४४॥

सूत्रार्थः—'प्रदानवत्' प्रसन्न गुरु द्वारा जिस प्रकार ब्रह्मप्राप्तिके हेतुभूत श्रवणादि प्रदत्त हुए हैं उसी प्रदान-विधिकी भाँति 'एव' ही 'तदुक्तम्' यह फल प्राप्ति होगी॥ ४४॥

सूत्रानुवाद—गुरु प्रसन्न होकर जैसे ब्रह्म प्राप्तिके हेतुरूप श्रवणादि साधनको प्रदान करते हैं, उसी प्रकार गुरु-प्रसादसे ही भगवत्-प्राप्ति रूप फलकी प्राप्ति कही गयी है॥ ४४॥

गोविन्दभाष्य—यथा प्रसन्नेन गुरुणा ब्रह्माप्तिहेतुः श्रवणादि साधनं दत्तं तथैव तत्प्राप्तिरूपं फलं भवति। न तु श्रवणादिमात्रेणेत्यावश्यकम्। तद्गुर्वनुग्रहावेक्षणमुक्तम्। प्र-शब्दः प्रसादं व्यञ्जयति। आह चैवं श्रीभगवानरविन्दाक्षः। आचार्योपासनं शौचमिति। तथाच तदनुग्रहसहिताच्छ्रवणादितस्तत्प्राप्तिरिति॥ ४४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीगुरुदेव प्रसन्न होकर जिस प्रकार ब्रह्मप्राप्तिके हेतुभूत श्रवणादि साधन बतला दिया करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्तिरूप फल होगा, मात्र श्रवणादिसे तो फल प्राप्त नहीं होगा, अतएव गुरुकी

प्रसन्नता अत्यावश्यक है। *'तदुक्तमिति'* इस फलमें गुरुकी अनुग्रहसापेक्षता कही गयी है। सूत्रोक्त 'प्रदान' पदमें 'प्र' शब्द प्रसादका सूचक है। पद्मपलाशलोचन श्रीहरि स्वयं *'आचार्योपासनं शौचम्'* इत्यादि द्वारा आचार्य-उपासनाके विषयमें कह रहे हैं—अतएव सिद्धान्त यह है कि श्रीगुरुके अनुग्रहके साथ किये गये ब्रह्मविषयक श्रवणादिसे ब्रह्मप्राप्तिरूप फल होता है॥ ४४॥

सूक्ष्मा-टीका—प्र-शब्द इति। प्रसादं विना प्रकर्षेण विद्यादानं न भवेदिति तथैव व्याख्यातम्। अस्ति हि हरेराचार्ये विशेषः। *"हरिरधोऽपि निनीषत्यसाधु कर्म कारयति दैत्येषु विपरीतमुपदिशति च आचार्यस्तु सर्वानुम्निनीयति साधेव कर्म कारयति सर्वत्र यथार्थं वदति"* इति। तलक्षणञ्च स्मरन्ति। *"शास्त्रोक्तं धर्ममुच्चार्य स्वयमाचरते सदा। अन्येभ्यः शिक्षयेद्षस्तु स आचार्यो निगद्यते।"* तस्माद्गुरुकृपा स्पृहणीयैव॥ ४४॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रोक्त 'प्र' शब्द प्रकर्षका सूचक है, गुरुके अनुग्रहके बिना प्रकृष्ट रूपमें विद्यादान नहीं होता इसलिए इस प्रकारकी व्याख्या की गयी है। श्रीहरिसे आचार्यका विशेषत्व है यथा हरि अधोगामी कराना भी चाहते हैं और असाधु कर्म भी कराते हैं, दैत्यादिको शास्त्रके विपरीत अर्थका उपदेश देते हैं किन्तु आचार्य समस्त शिष्योंको ही ऊर्ध्वलोकमें ले जाना चाहते हैं और साधुकर्म कराते हैं, देव-दैत्य सभीको यथार्थ कथा बतलाते हैं। पण्डितगण आचार्यके लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—जो शास्त्रोक्त धर्मका उच्चारण करके स्वयं सर्वदा उसीका आचरण करते हैं एवं दूसरे सभीको उस शास्त्रकी ही शिक्षा देते हैं, वे ही आचार्यके रूपमें कहे जाते हैं। अतएव गुरुकृपा अवश्य ही स्पृहणीय है॥ ४४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब श्रीगुरुके निकट लब्धविद्याके द्वारा श्रीभगवान्की उपासना करना ही कर्त्तव्य है—यह सूचित करनेके लिए इस प्रकरणका आरम्भ करते हैं—

मुण्डकोपनिषदमें पाया जाता है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेववाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मु॰ १/२१/१२)

अर्थात् उस भगवत्–वस्तुका विज्ञान (प्रेमभक्ति सहित ज्ञान) प्राप्त करनेके लिए वे यज्ञीय समिध् हाथमें लिये हुए वेदतात्पर्यज्ञ और कृष्णतत्त्वविद् सद्गुरुके पास कायमनोवाक्यके साथ पूर्ण समर्पित भावसे जायेंगे।

छान्दोग्यमें भी पाया जाता है—*'आचार्यवान् पुरुषो वेद'* (छा॰ ६/१४/२)। अर्थात् आचार्यसे दीक्षाप्राप्त व्यक्ति ही उन परब्रह्मको जानता है।

श्वेताश्वतरमें भी कहा है—

यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वे॰ ६/२३)

अर्थात् जिनकी श्रीभगवान्में पराभक्ति है और श्रीभगवान्के समान श्रीगुरुदेवके प्रति भी शुद्धभक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें श्रुतियोंके सभी ममार्थ प्रकाशित होते हैं।

इस स्थलपर संशय यह है कि श्रीगुरुके निकट शास्त्र श्रवण करनेपर ही फल प्राप्त होगा? अथवा तत्वज्ञान प्राप्तिके लिए अथवा भगवत्–प्राप्तिके लिए श्रीगुरुदेवके प्रसाद अर्थात् अनुग्रहकी अपेक्षा है।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि श्रीगुरुदेवके निकट श्रवण करनेपर जब फलकी बात सुनी जाती है, तब फिर श्रीगुरुदेवकी प्रसन्नताका प्रयोजन ही क्या है? इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीगरुदेव प्रसन्न होकर ब्रह्मप्राप्तिके हेतुभूत जिस प्रकार श्रवणादि साधन प्रदान करते हैं, उस रूपमें ही यह ब्रह्मप्राप्तिरूप फल होता है—केवल श्रवणसे ही यह सम्भव नहीं होता, श्रीगरुकी प्रसन्नता ऐकान्तिक रूपसे आवश्यक है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

लब्धानुग्रह आचार्य्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्च्चेन्मूर्त्त्याभिमतयात्मनः ॥

(श्रीमद्भा॰ ११/३/४८)

अर्थात् सर्वप्रथम निष्कपट सेवा आदिके द्वारा प्रसन्नकर श्रीगुरुदेवके निकट दीक्षा–उपनयन और मन्त्र आदि प्राप्त करे और अर्चन प्रणाली जानकर अपने अभीष्ट मूर्त्तिमें श्रीभगवान् हरिकी आराधना करे।

एवं गुरुपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१२/२४)

अतएव हे उद्धव! तुम भी विवेकवान और सावधान होकर पहले कहे गये क्रमसे श्रीगुरुदेवकी सेवासे प्राप्त ऐकान्तिक भक्तिके साथ अत्यन्त तीक्ष्ण ज्ञानकी कुल्हाड़ीके द्वारा त्रिगुणात्मक लिङ्गशरीर अर्थात् जीवभावको काटकर परमात्माको प्राप्त होनेपर ज्ञानरूप साधनको भी परित्याग कर देना।

श्रीभगवान्ने भी कहा है—

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८०/३४)

अर्थात् समस्त प्राणियोंका आत्मास्वरूप मैं सबके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान रहता हूँ। मैं जिस प्रकार श्रद्धापूर्वककी गयी गुरुसेवासे सन्तुष्ट होता हूँ, उस प्रकार ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययनादि), गार्हस्थ्य (पञ्च महायज्ञादि), वानप्रस्थ (तपस्या) और संन्यास (सर्वतोभावेन उपरति) से सन्तोष प्राप्त नहीं करता।

इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मनि।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८०/४३)

अर्थात् हे विप्रवर! गुरु–गृहमें निवास करते हुए इस प्रकारकी अनेक घटनाएँ घटित हुई थीं। मित्र! मनुष्य गुरुके अनुग्रहसे परिपूर्ण होकर शान्तिको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण॥

(चै॰च॰म॰ २२/२५)

अर्थात् गुरुसेवा और कृष्णभजनके आधारपर ही बद्धजीव माया-जालसे मुक्त होकर कृष्णपादपद्म प्राप्त करते हैं।

और भी,

ब्रह्माण्ड भ्रमित कोन भाग्यवान जीव।
गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति लता बीज॥

(चै॰च॰म॰ १९/१५१)

अर्थात् इस प्रकार संसारमें भ्रमण करते-करते किसी सौभाग्यवान जीवको श्रीगुरु और कृष्णकी कृपासे भक्ति-लताका बीज प्राप्त होता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(श्रीगी॰ ४/३४)

अर्थात् हे अर्जुन! तुम तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणामकर तथा सेवा और निष्कपट भावसे प्रश्न करके उस ज्ञानको जानो। तत्त्वदर्शी ज्ञानीगण तुम्हारे दण्डवत्-प्रणाम, परिप्रश्न और सेवावृत्तिसे सन्तुष्ट होकर कृपापूर्वक तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।

और भी,

यो मन्त्रः स गुरुः साक्षात् यो गुरुः स हरिः स्वयम्।
गुरुर्यस्य भवेत् तुष्टस्तस्यं तुष्टो हरिः स्वयम्॥

(भक्तिसन्दर्भ अनुच्छेद २३७)

अर्थात् जो मन्त्र है वही साक्षत् गुरु है और प्रियत्व हेतु गुरु ही श्रीहरिके समान पूज्य हैं। श्रीगरुदेव जिनके प्रति प्रसन्न रहते हैं, श्रीभगवान् भी उनके प्रति प्रसन्न हो जाते हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

प्रमिन्तु गुरु पूज्यं ततश्चेव ममार्च्चनम्।
कुर्वन् सिद्धिमवाप्नोति ह्यन्यथा निष्फलं भवेत्॥
(ह॰भ॰वि॰ ५/१३४ भग्वद्भक्ति)

अर्थात् सर्वप्रथम अपने श्रीगुरुदेवकी पूजा करो, तदनन्तर मेरा अर्चन करो। इस पद्वतिको अपनानेपर तुम सहज ही सिद्वि प्राप्त कर सकोगे। इसके विपरीत करनेपर तुम्हारा सब कुछ निष्फल हो जायेगा।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—*'न च श्रवणादिमात्रेण ब्रह्मदृष्टिर्भवति किन्तु सेति कर्त्तव्येन यथा गुरुदत्तं तथैव भवति आचार्यवान् पुरुषो वेदेति ह्युक्तम्।'* (छा॰ ६/४/१२)

अर्थात् अब भगवत्-ज्ञान साधन उपासनाकी इतिकर्त्तव्यता (कर्मके प्रकारका) निरूपण करते हैं। सबसे पहले तो यह सन्देह है कि केवल श्रवण-मननादिके द्वारा जैसे-तैसे रूपमें अनुष्ठान करें अथवा गुरु प्रसन्न होकर जैसा उपदेश प्रदान करें, उस उपदेशानुसार सम्यक् रूपेण उपासना करें। यदि कहो *'आत्मा वा अरे दृष्टव्यो'* इत्यादि श्रुतिके द्वारा केवल श्रवण-मननादि द्वारा ही ज्ञान साधित हो सकता है। अन्य किसी प्रकारकी उपासनाका क्या प्रयोजन है? इस आशङ्काका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—केवल श्रवणादि ही ज्ञानके साधन नहीं हैं। गुरु प्रसन्न होकर जिस प्रकारकी उपासना अर्थात् आराधना प्रणाली उपदेश करें, तदनुसार ही उपासना करनी चाहिये। गुरुके अनुग्रहानुसार ही फल (श्रीहरि-साक्षात्कार) प्राप्त होता हैं। यदि गुरुकी प्रसन्नता ही ज्ञानका प्रतिकारण है तो ऐसा होनेपर *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिधासितव्यो'* श्रुति द्वारा प्रतिपाद्य श्रवण-मननादिकी ज्ञानसाधनता व्यर्थ होती है तो इसकी मीमांसा यह हो सकती है कि श्रवण-मननादि गुरुके अनुग्रहसे भिन्न नहीं हो सकते अर्थात् श्रवण-मननादिमें भी गुरुके उपदेशकी कारणता है। विशेष रूपसे शास्त्रान्तरमें 'आचार्यवान गुरु ही सब जानते हैं'—इत्यादि रूपसे उपासनामें भी गुरु-प्रसन्नताकी आवश्यकता है॥ ४४॥

अवतरणिका भाष्य—अथ स्वप्रयत्नो बलवान् श्रीगुरुप्रसादो वेति सन्देहेऽकृते प्रयत्ने तत्प्रसादस्याकिञ्चित्करत्वात् स्वप्रयत्नो बलवानिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब सन्देह यह होता है कि अपनी चेष्टा प्रबल है? अथवा गुरुका अनुग्रह? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि अपनी चेष्टा न करनेपर मात्र गुरुके अनुग्रहसे कुछ कार्य होता नहीं है, अतएव अपनी चेष्टा ही प्रबल है—इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—गुरुप्रसाद-भगवदुपासने मुक्तिहेतु इत्युक्तं प्राक्। ते आश्रित्य तयोर्बलाबले विचिन्तय इत्याश्रयश्रयिभावोऽत्र सङ्गतिः। अथ स्वप्रयत्न इत्यादि। स्वप्रयत्नः स्वर्त्तृकश्रवणादिव्यापारः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणमें कहा गया था कि श्रीगुरुके प्रसाद और श्रीभगवान्‌की उपासना ये दोनों मुक्तिके कारण हैं; उन्हीं दोनोंका आश्रय करके इन दोनोंके बलाबलका विचार करना चाहिये, यह आश्रयाश्रयिरूप सङ्गति इस अधिकरणमें ज्ञातव्य है। अथ स्वप्रयत्न इत्यादि—स्वप्रयत्न शब्दका अर्थ है—स्वयं कृत श्रवण-मननादि व्यापार।

लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्

सूत्र—लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि॥ ४५॥

सूत्रार्थ—'लिङ्गभूयस्त्वात्' बहुत प्रमाण रहनेके कारण 'तद्बलीयःहि' यद्यपि गुरुका प्रसाद ही प्रबल है 'तदपि' तथापि श्रवणादि परमावश्यक हैं॥ ४५॥

सूत्रानुवाद—शास्त्रमें ऐसे बहुत-से प्रमाण हैं, जिनमें गुरुकृपाको ही बलवान कहा गया है, तो भी मोक्ष-सिद्धिके लिए श्रवणादिकी चेष्टामें शैथिल्य होना अनुचित है॥ ४५॥

गोविन्दभाष्य—ऋषभादिभ्यो ब्रह्मश्रुतवता सत्यकामेन भगवांस्त्वेव मे कामं ब्रूयादिति श्रीगुरुः प्रार्थ्यते। (छा॰ ४/९/२) तथाग्निभ्यः श्रुतविद्येनोपकोशलेन चेत्यादिछान्दोग्यादिदृष्टगुरुप्रसादनलिङ्गबाहुल्यात्तत्प्रसादनमेव बलिष्ठम्। तर्हि तावताल-मित्यपि न मन्तव्यम्। किन्तर्हि। तदपि श्रवणादि च कर्त्तव्यम्। *"यस्य देवे परा भक्तिः" "श्रोतव्यो मन्तव्यः"* इत्यादि श्रुतेः। *"गुरुप्रसादो बलवान् न तस्माद्बलवत्तरम्। तथापि श्रवणादिश्च कर्त्तव्यो मोक्षसिद्धये"* इति स्मृतेश्च॥ ४५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जाबाल सत्यकामने ऋषभदेव इत्यादि (अग्नि, हंस और मद्गु इत्यादि) से ब्रह्मतत्त्वको जानकर गुरु गौतमाचार्यसे प्रार्थनाकी कि भगवन् मुझे (मेरी इच्छानुसार) अभीष्ट तत्त्वका उपदेश करें। उपकोशल नामक राजाने गार्हपत्याग्नि, अन्वाहार्यपचनाग्नि और आहवनीयाग्निसे ब्रह्मविद्या श्रवण करके भी सत्यकामगुरुको प्रसन्न करके उनसे आत्मविद्या प्राप्त की थी। इस प्रकार छान्दोग्यादिमें दृष्ट गुरु-प्रसादनका बहुत वर्णन रहनेके कारण इसे ही प्रबलतर जानना चाहिये। यह कहनेसे केवल गुरु-प्रसाद ही यथेष्ट है, तो यह मानना भी उचित नहीं है। तब क्या? इसपर सूत्रकार कहते हैं कि 'तदपि' तथापि श्रवण, मननादि भी करना चाहिये। इन दोनोंके सम्बन्धमें प्रमाण देखा जाता हैं जैसे *'यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ'* इत्यादि और *'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'* इत्यादि। पुराणादिमें भी कहा गया है *'गुरुप्रसादो बलवान्'* इत्यादि और वाक्यके अन्तमें लिखा है *'मोक्ष सिद्धये'* अर्थात् यद्यपि श्रीगुरुदेवका अनुग्रह अपनी चेष्टाकी अपेक्षा अधिक प्रबल है, उससे प्रबलतर और कुछ भी नहीं है तो भी मोक्ष-प्राप्तिके लिए श्रवणादि भी करना चाहिये॥ ४५॥

सूक्ष्मा-टीका—लिङ्गेति। ऋषभादिभ्य ऋषभाग्निहंसमद्गुभाश्चतुर्भ्यः। भगवानिति। गौतममाचार्यं प्रति सत्यकामोक्तिः। भगवांस्त्वेव गौतमस्त्वेव मे सत्यकामस्य काममभीष्टं ब्रूयादित्यर्थः। अग्निभ्यो गार्हपत्यान्वाहार्यपचनाहवनीयेभ्यस्त्रियः। आख्यायिका छान्दोग्येऽस्ति—जबालया मात्रा प्रेरितो जाबालः सत्यकामो गौतममुपससाद। स गौतमस्तु तमुपनीय गोसेवायां नियोजयामास। तस्य गुरुनिष्ठया प्रसन्ना ऋषभादयो धर्मरूपास्तस्मै विद्यामुपदिदिशुः। स सत्यकामस्तेभ्यः श्रुतविद्योऽपि गौतमं प्रसाद्य तस्मात् विद्यां जग्राहेति। उत्तरत्र उपकोशलो नाम विप्रः सत्यकाममुपससाद। स तमग्निपरिचर्यायां नियोजयामास। भार्यया प्रोक्तोऽपि विद्यां नाध्यापिपत्। तस्य गुरुनिष्ठया तुष्टास्तेऽग्नयस्तस्मै विद्यां ददुः। अग्निभ्यः श्रुतविद्योऽप्युपकोशलः सत्यकामं प्रसाद्यात्मविद्यां तस्मात् प्रापेति। अनयोराख्यायिकयोगुरुप्रसादो विद्याफलप्रकाशे बलीत्यागतम्। अन्यथा तदवज्ञायां विद्या नोदयेत्। तत्फलप्रकाशस्तु दूरापास्तः सत्यादिति। तावता गुरुप्रसादमात्रेण। स्फुटार्थमन्यत्॥ ४५॥

सूक्ष्मा-सार—*'लिङ्गभूयस्त्वादि'* सूत्रमें *ऋषभादिभ्यो* इत्यादि भाष्यमें—ऋषभ इत्यादि—ऋषभदेव, अग्नि, हंस एवं मद्गु—इन चारोंसे ब्रह्मविद्या श्रवण करके सत्यकामने आचार्य गौतमसे प्रार्थना की, हे भगवन्! आप ही

सत्यकाम हैं—मेरे अभीष्ट-तत्त्वका उपदेश दें। तथाग्निभ्यः इति—गार्हपत्याग्नि, अन्वाहार्यपचनाग्नि और आहवनीयाग्नि—इन तीन अग्नियोंसे। इस विषयमें छान्दोग्यमें आख्यायिका है—जबाला माता द्वारा प्रेरित होकर पुत्र जाबाल सत्यकामने गौतममुनिका आश्रय किया। महर्षि गौतमने उसे उपनीत (उपनयन संस्कारसे संस्कृत) करके उसे गोसेवामें नियुक्त कर दिया। उसकी (सत्यकामकी) ऐकान्तिक गुरुसेवासे प्रसन्न होकर धर्मावतार ऋषभदेव इत्यादि चारोंने उसे ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। सत्यकामने उन चारों गुरुओंके मुखसे ब्रह्मविद्या सुननेके बाद भी गौतमको प्रसन्न करके उनसे विद्या ग्रहण की। उपकोशल ब्राह्मणके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारकी आख्यायिका सुनी जाती है। उपकोशल नामक एक ब्राह्मणने बादमें इन्हीं सत्यकामका आश्रय ग्रहण किया था। सत्यकामने उसे अग्नि-परिचर्यामें नियुक्त कर दिया था। सत्यकामकी स्त्रीने आचार्यसे विद्या-दान करनेके लिए कहा, तो भी उन्होंने उपकोसलको ब्रह्मविद्याका अध्ययन नहीं कराया। बादमें उसकी गुरुसेवासे सन्तुष्ट होकर उन तीन अग्नियोंने उसे विद्या प्रदान की। अग्नियोंके निकट विद्या श्रवण करके भी उपकोशलने सत्यकामको सन्तुष्ट करके उनसे ब्रह्म-विद्या प्राप्त की। इन दोनों आख्यायिकाओंसे अवगत होता है कि गुरुके अनुग्रहसे विद्या ही फल-प्रकाशमें प्रबल है। यदि गुरुप्रसादकी अवज्ञा की होती तो ब्रह्मविद्या प्राप्त ही नहीं होती। ब्रह्मविद्याका फल तो दूरकी बात है। *'तर्हि तावतालमिति'* में तावता—केवल गुरुप्रसाद द्वारा ही। भाष्यका अन्यांश सुस्पष्ट है॥ ४५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त कथनके बाद भी यदि किसीको संशय होता हो कि ऐसा होनेपर निजकी प्रचेष्टा ही प्रबल है। अथवा श्रीगुरुदेवका अनुग्रह ही बलवान है। इसपर पूर्वपक्षीका मत है कि जब स्वयंकी चेष्टाके व्यतिरेकमें श्रीगुरुके अनुग्रहको अकिञ्चित्कर देखा जाता है, तब स्वयंके प्रयत्नको ही बलवान कहना होगा। इस मतके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि वेदादि शास्त्रोंमें बहुत-से स्थानोंपर—बहुत प्रकारसे श्रीगुरुके प्रसाद अथवा प्रसन्नताको ही बलवान कहकर प्रमाण किया गया है फिर भी

तदानुगत्यमें तदुपदेशानुसार शिष्यको श्रवण-कीर्त्तनादि साधनोंका आश्रय करना चाहिये।

श्रीगरुदेवको प्रसन्न करते हुए उनका अनुग्रह प्राप्त करनेके लिए उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये—यही शास्त्रीय सिद्धान्त देखा जाता है।

श्रीगुरुकी प्रसन्नता विषयक आख्यायिका छान्दोग्यादि श्रुतियोंमें उल्लिखित है—जिन्हें सूक्ष्मा-टीकामें पढ़ा जाना चाहिये।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमहाप्रभुजीके वाक्य हैं—

प्रभु कहे—शुन, श्रीपाद, इहार कारण।
गुरु मोरे मूर्ख देखि' करिल शासन॥

मूर्ख तुमि, तोमार नाहि वेदान्ताधिकार।
'कृष्णमन्त्र' जप' सदा,—एइ मन्त्र सार॥

कृष्णमन्त्र हैते हबे संसार-मोचन।
कृष्णनाम हैते पाबे कृष्णेर चरण॥

नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म।
सर्वमन्त्रसार नाम,—एइ शास्त्रमर्म॥

एत बलि' एक श्लोक शिखाइल मोरे।
कण्ठे करि' एइ श्लोक करिह विचारे॥

(चै॰च॰आ॰ ७/७१-७५)

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(चै॰च॰आ॰ ७/७६, बृहन्नारदीय ३८/१२६)

एइ आज्ञा पाञा नाम लइ अनुक्षण।
नाम लैते लैते मोर भ्रान्त हइल मन॥

धैर्य धरिते नारि, हैलाम उन्मत्त।
हासि, कान्दि, नाचि, गाइ यैछे मदमत्त॥

तबे धैर्य धारे मने करिलाम विचार।
कृष्णनामे ज्ञान आच्छन्न हइल आमार॥

पागल हइलाम आमि धैर्य नाहि मने।
एत चिन्ति निवेदिलाम गुरुर चरणे॥

किवा मन्त्र दिला गोसाञि किवा तार बल।
जपिते जपिते मन्त्र करिले पागल॥

हासाय नाचाय मोरे कराय क्रन्दन।
एत शुनि, गुरु मोरे बलिया वचन॥

कृष्णनाम महामन्त्रे एइ त स्वभाव।
येइ जपे, तार कृष्णे उपजय भाव॥

(चै०च०आ० ७/७७-८३)

अर्थात् प्रभुने कहा—सुनिये! श्रीपाद! इसका कारण बता रहा हूँ। गुरुने देखा कि मैं मूर्ख हूँ, इसलिए मुझपर शासन करते हुए उन्होंने कहा—तुम मूर्ख हो, वेदान्तमें तुम्हारा अधिकार नहीं है, तुम सदैव 'कृष्णमन्त्र' जपते रहो, यह सभी मन्त्रोंका सार मन्त्र है। कृष्णमन्त्रसे संसार छूट जायेगा और इसीसे कृष्ण-चरणकी प्राप्ति होगी। कलियुगमें नामके बिना कोई और धर्म नहीं है। नाम सभी मन्त्रोंका सार है, यही शास्त्रोंका मर्म है। इतना कहकर उन्होंने मुझे एक श्लोक सिखाया और कहा कि कण्ठमें धारण करके इस श्लोकपर विचार करना। कलियुगमें मात्र हरिनाम, हरिनाम और हरिनाम ही जीवोंकी एकमात्र गति है, इस हरिनामके बिना कोई और गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।

यह आज्ञा प्राप्त करके मैंने क्षण-प्रतिक्षण नाम जपना प्रारम्भ कर दिया। नाम जपते-जपते मेरा मन भ्रान्त हो गया। मैं धैर्य धारण न कर सका और उन्मत्त हो गया। मदमत्तके समान कभी हँसने लगा, कभी रोने लगा, कभी नाचने-गाने लगा। तब जैसे-तैसे धैर्य धारण करके मैंने मनमें विचार किया कि कृष्णनामके कारण मेरा ज्ञान आच्छन्न हो गया है। मैं पागल हो गया हूँ। मेरा मन धैर्य धारण करनेमें असमर्थ है। इतना सोचकर गुरुके चरणोंमें मैंने एक निवेदन किया—हे गोसाईं! आपने यह कैसा मन्त्र दे दिया! मन्त्रशक्ति भी कैसी है। जपते-जपते इस मन्त्रने मुझे पागल बना दिया। यह मन्त्र कभी मुझे हँसाता है, कभी नचाता है और कभी रुलाता है। इतना सुनकर

गुरुजीने मुझसे कहा—कृष्णनाम महामन्त्रका यही तो स्वभाव है—जो भी इसे जप करता है, उसके हृदयमें कृष्णके प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

श्रीगुरुदेवके अनुग्रहकी प्राप्तिके लिए श्रीगुरुकी सेवा करना ही शिष्यका धर्म है और श्रीगुरुकी आज्ञाका पालन ही श्रीगुरुकी सेवा है; जैसा कि शास्त्रमें पाया जाता है—

स शुश्रुवान् मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात् प्रहृतं द्विषद्वत्।
प्रत्यग्रहीदग्रज शासनं तदाज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया॥

(रघुवंश सर्ग १४, श्लोक १३)

अर्थात् पिताकी आज्ञासे परशुरामने अपनी माता (रेणुका) को शत्रुके समान मार डाला—यह सुनकर लक्ष्मणजीने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा (श्रीजानकीजीको वनमें छोड़ आनेकी आज्ञा) को धारण किया क्योंकि गुरुवर्गकी आज्ञा बिना विचार किये ही पालनकी जानी चाहिये।

'गुरुणां ह्यविचारणीया' के सम्बन्धमें और भी पाया जाता है—

निर्विचारं गुरोराज्ञा मया कार्या महात्मनः।
श्रेयो ह्येवं भवत्यश्च मम चैव विशेषतः॥

(रामायण)

महात्मा गुरुदेवकी आज्ञा मेरे द्वारा बिना विचार किये ही अनुष्ठेय है, इसीमें आपका भी श्रेय है और विशेष रूपसे मेरा भी श्रेय है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और भी—

भट्ट कहे—गुरुर आज्ञा हय बलवान्।
गुरु आज्ञा ना लघ्घिवे—शास्त्र प्रमाण॥

(चै॰च॰म॰ १०/१४४)

अर्थात् श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यने कहा—हे प्रभो! गुरुकी आज्ञा बलवान है। शास्त्र-प्रमाण है कि गुरुकी आज्ञाको कभी उल्लघ्घन नहीं करना चाहिये।

तबे रामानन्द आर सत्यराज खाँन।
प्रभुर चरणे किछु कैल निवेदन॥

गृहस्थ विषयी आमि, कि मोर साधने।
श्रीमुखे करेन आज्ञा निवेदि चरणे॥
प्रभु कहेन—'कृष्णसेवा', 'वैष्णव-सेवन'।
निरन्तर कर कृष्णनाम—सङ्कीर्त्तन॥
(चै॰च॰म॰ १५/१०२-१०४)

अर्थात् इसके बाद तब रामानन्द और सत्यराज खानने श्रीप्रभुजीके चरणोंमें कुछ निवेदन किया कि हम गृहस्थ हैं, विषयोंमें फँसे हुए हैं, हमारे लिए क्या साधन है। हम आपके चरणोंमें निवेदन करते हैं कि आप अपने श्रीमुखसे कुछ आज्ञा करें। इसपर श्रीमन्महाप्रभुने कहा श्रीकृष्ण-सेवा, वैष्णव-सेवा और नित्य-निरन्तर कृष्णनामका सङ्कीर्त्तन करते रहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः॥
गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धर्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥
श्रद्धया तत्कथायाञ्च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम्।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः॥
(श्रीमद्भा॰ ७/७/२९-३१)

अर्थात् यों तो भव-बन्धनसे छूटनेके लिए मनुष्य सहस्र-सहस्र धर्मानुष्ठानोंका आचरण करते हैं, किन्तु उन सभी उपायोंमें जिसके द्वारा सर्वेश्वर भगवान्में अविचलित आसक्ति हो जाय, उसीका स्वयं भगवान्ने श्रेष्ठ मानकर वर्णन किया है। भक्तियोगका अभ्यास करनेके लिए गुरुकी सेवा-शुश्रूषा, उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा, जो कुछ भी प्राप्त हो, उन सबका समर्पण, सदाचार परायण भक्तोंका सत्सङ्ग, भगवान्की आराधना, भगवत्-कथाओंमें श्रद्धा, उनके गुण एवं लीलाओंका कीर्त्तन, उनके चरणकमलोंका ध्यान और उनकी श्रीमूर्त्तिका दर्शन-पूजादि करना चाहिये।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतके ११/२/३७ और ११/३/२१–३२ श्लोक भी आलोच्य हैं।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या–
दीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं,
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

अर्थात् शरीरमें आत्मबुद्धि होनेसे ही भय उत्पन्न होता है। भगवत्–विमुख लोगोंको भगवत्–स्मरण नहीं होता। भगवान्‌की मायासे इस मरणशील देहमें 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि रहती है। अतएव अपने गुरुको ही परमाराध्यतम परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्‌की भलीभाँति आराधना करनी चाहिये।

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेयः उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

तत्र भागवतान् धर्म्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥

सर्व्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गञ्च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥

शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्ज्जवम्।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसाञ्च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥

सर्व्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्म्मदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि॥

श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्म्मणः।
जन्मकर्म्मगुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मैनिवेदनम्॥

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्य्यांञ्चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥

अर्थात् इसलिए जीवोंके परममङ्गल अर्थात् जो लौकिक और पारलौकिक कर्मोंके द्वारा प्राप्त भोगोंकी भाँति अनित्य नहीं है, ऐसे शाश्वत कल्याणको जाननेके लिए इच्छुक व्यक्तिको शब्दब्रह्म अर्थात् वेदोंके पारदर्शी विद्वान, जिससे वे ठीक-ठीक शिष्योंको शास्त्रोंका विचार समझा सकें और सात्त्विक परब्रह्ममें परिनिष्ठित तत्त्वज्ञानी भी हों, जिससे वे अपने अनुभवसे प्राप्त हुई पारमार्थिक रहस्यकी बातोंको बतला सकें, उनका चित्त शान्त हो तथा प्रपञ्चके विषयोंमें अनासक्त हो, ऐसे गुरुके शरणागत होना चाहिये। ऐसे श्रीगुरुदेवको अपना परम हितकारी बान्धव और परमाराध्य हरिका स्वरूप जानकर निरन्तर निष्कपट भावसे अनुगमन करना चाहिये तथा जिन धर्मोंके अनुष्ठानसे अपनेको भी दे देनेवाले श्रीहरि सन्तुष्ट हो जाते हैं, प्रसन्न हो जाते हैं, उन भागवत् धर्मकी—भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले भक्तिके साधनोंकी शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। सर्वप्रथम देह, गेह, पुत्र आदि समस्त विषयोंमें अनासक्त, निरन्तर तत्त्वविद् और अपने प्रति प्रीतियुक्त साधुओंका सङ्ग करना चाहिये। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, अपनेसे छोटे प्राणियोंके प्रति यथार्थतः दया, तुल्य व्यक्तिके प्रति मित्रता और अपनेसे उत्तम पुरुषोंके प्रति विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहणकर उसका अभ्यास करना चाहिये। अतःपर मिट्टी, जल आदिसे बाह्य-शरीरकी पवित्रता, तपः अर्थात्

छल, कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, क्षमा, मौन, स्वाध्याय (वेद, भागवत् पाठ आदि), सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखना चाहिये। सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें चेतन रूपसे आत्मा और नियन्ता रूपसे ईश्वरको देखना, एकान्त सेवन, 'यह घर मेरा है'—ऐसा भाव न रखना, निर्जन स्थानमें पतित वस्त्र-खण्ड या विशुद्ध बल्कल (वृक्षोंके छाल) आदिको पहनना, बिना परिश्रमसे अनायास ही लब्ध वस्तुओंमात्रसे सन्तोष रखनेकी शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। भगवद्विषयक शास्त्रोंमें श्रद्धा, दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, मन, वचन और कर्मका संयम, सत्य और शम दमका अभ्यास करना भी सीखना चाहिये। हे राजन्! भगवान्की लीलाएँ अद्भुत हैं, उनके जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्त्तन, ध्यान और भगवान्के प्रति प्रीतिकी कामनासे अपने समस्त कर्मको करना सीखे। यज्ञ आदि इष्टकर्म, दान, तप, जप, सदाचार और अपने प्रिय गन्ध, पुष्प आदि द्रव्य, स्त्री, पुत्र, गृह और प्राण आदि समस्त विषयोंको भगवान्के उद्देश्यसे समर्पण करना सीखे। इस प्रकार श्रीकृष्णके आश्रित मनुष्योंके प्रति सौहार्द प्रीति, स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणियोंकी सेवा, विशेषकर मनुष्योंके प्रति, उनमें भी स्वधर्मशील व्यक्तियों और उन लोगोंमें भी महाभागवतोंकी सेवा करना सीखे। उन भगवद्भक्तोंके साथ मिलकर परमाराध्य श्रीकृष्णके पवित्र यशके सम्बन्धमें आत्माका अनुराग, समस्त स्थितियोंमें सन्तुष्ट रहना और परस्पर निखिल दुःखोंके निवृत्तिके लिए शिक्षा ग्रहण करे। इस प्रकार भगवत्-प्रेमी पुरुष साधनभक्तिसे उत्पन्न प्रेमभक्तिके प्रभावसे समस्त प्रकारके पापोंको दूर करनेवाले श्रीहरिका स्मरण करे और दूसरोंको करावे इस प्रकार साधनभक्ति करते-करते प्रेमाभक्तिका उदय हो जाता है और वे सर्वदा प्रेमोद्रेकसे पुलकित शरीर धारण करते हैं। अनन्तर अनित्य देहमें 'मैं' एवं मेरा रूप अभिमानकी बुद्धि दूर होनेपर उनकी साधारण संसारी लोगोंकी अपेक्षा कुछ विलक्षण स्थिति होती है। वे निरन्तर भगवत्-चिन्तनमें निमग्न होकर ऐसा सोचते हैं कि अब तक भगवान् नहीं

मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन उनकी प्राप्ति करावे—इस प्रकार सोचते-सोचते वे कभी-कभी रोने लगते हैं। कभी-कभी भगवान्‌की लीला-स्फूर्ति हो जानेपर यह देखकर कि परम ऐश्वर्यशाली भगवान् गोपियोंके डरसे छिपे हुए हैं, खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। कभी-कभी अपने आराध्यदेवका दर्शनकर आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। कभी लोकातीत भावमें स्थित होकर भगवान्‌के साथ वार्त्तालाप करने लगते हैं। कभी नाच-नाचकर उन्हें रिझाते हैं। कभी गीत गाकर उन्हें प्रसन्न करते हैं और कभी श्रीहरिके मधुर लीलाओंका अभिनय करने लगते हैं। इस प्रकार वे श्रीहरिका साक्षात्कार प्राप्तकर शान्त एवं मौन धारण करते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

गुरुप्रसादः स्वप्रयत्नो वा बलवानिति निगद्यते। ऋषभादिभ्यो ब्रह्मविद्यां ज्ञात्वापि सत्यकामेन भगवांस्त्वेव मे कामं ब्रूयाच्छुतं ह्येवंमे भगवद्दृशेभ्यः आचार्यात् ह्येव विद्या विदिता प्रापय (छा॰ ४/९/३) *इति वचनात्। अत्र हि न किञ्चन वीयाय* (छा॰ ४/९) *इत्यनुज्ञात्। उपकोशलवचनाच्च लिङ्गभूयस्त्वाद् गुरुप्रसाद एव बलवान् तर्हि तावताऽलमिति न मन्तव्यं। श्रोतव्यो मन्तव्यः* (बृ॰आ॰ ४/४/५) *इत्यादिस्तदपि कर्त्तव्यम्। वाराहे च—'गुरुप्रसादो बलवान्न तस्माद् बलवत्तरम् तथापि श्रवणादिश्च कर्त्तव्यो मोक्षसिद्धये।' इति।*

अर्थात् भगवत-प्राप्ति साधन-उपासनाकी इतिकर्त्तव्यतामें गुरुका अनुग्रह ही बलवान है, इसीको प्रमाणित करते हैं—अब यह सन्देह होता है कि उपासनाकी इतिकर्त्तव्यतामें क्या केवल गुरुप्रसाद ही बलवान है? अथवा श्रवणादि रूप शिष्यका प्रयत्न बलवान है? इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—गुरुप्रसाद केवल इतिकर्त्तव्यतामात्र है, शिष्यका प्रयत्न ही बलवान है, यह कहा नहीं जा सकता। वास्तवमें तो गुरुप्रसाद ही बलवान है। ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिमें गुरुके अनुग्रहकी बलवत्तामें ही सिद्धिका दर्शन है। सत्यकाम ऋषभदेवादिके निकट ब्रह्मविद्या श्रवण करके भी गुरुके निकट ब्रह्मविद्या श्रवण करके भी गुरुके निकट जिज्ञासा करके उनके उपदेशसे ब्रह्मविज्ञान प्राप्त किया—सत्यकामने आचार्यसे कहा—पूज्यपाद! अब आप ही मेरी

इच्छानुसार विद्याका उपदेश करें। मैंने श्रीमान् जैसे ऋषियोंसे सुना है कि "आचार्यसे जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुताको प्राप्त होती है"—इस प्रकार सत्यकामके कहनेपर आचार्यने मन्त्रोपदेश दिया। यदि श्रवणादि साधन बलवान होते तो गुरुके निकट फिरसे जिज्ञासाका प्रयोजन ही न था। उधर उपकोशलने भी अग्निके निकट ब्रह्मविद्या श्रवण करके भी गुरुके निकट उस ब्रह्मविज्ञान प्राप्तिके उपदेशकी प्रार्थना की। तदनन्तर गुरु सत्यकामने उपकोशलको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जिससे उपकोशलको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हुई—इत्यादि बहुत-से स्थलोंपर गुरुप्रसादपूर्वक ब्रह्मविज्ञानकी प्राप्ति देखी जाती है। अतएव गुरु-प्रसादका ही प्राबल्य जाना जाता है। यद्यपि गुरुप्रसादका प्राबल्य रहे, तथापि श्रवण-मननादि करे। वराह पुराणमें लिखा है कि ब्रह्मविज्ञान विषयमें गुरुप्रसाद ही बलवान है, इससे बलवान साधन और कोई नहीं है तथापि मोक्ष-सिद्धिके लिए श्रवणादि करने होंगे॥ ४५॥

अवतरणिका भाष्य—एवं गुणादिविशिष्टस्य भगवत उपासनाद्देशिकानुग्रहसह-कृतात् फलमित्यापादितम्। अथैतद्विरोधिवाक्यार्थसमाधिना परिपुष्यते। गोपालतापन्यां मुनिभिः सर्वाराध्यत्वादिगुणकं वस्तु पृष्टः पद्मयोनिस्तथात्वेन श्रीकृष्णमुपदिश्य तत्प्राप्तिहेतु तद्भक्तिमुपदिशति। तदुत्तरत्र च। *"तस्मादेव परो रजसेति सोऽहमित्यवधार्य गोपालोऽहमिति भावयेत्।"* स मोक्षमश्नुते स ब्रह्मत्वमधिगच्छति स ब्रह्मविद्भवतीत्यादि पठ्यते। इह सोऽहमित्यभेदाभ्यासो दृश्यते। अत्र संशयः। परापरात्मस्वरूपैक्यविषयेयं सोऽहमिति भावना किंवा पूर्वोपदिष्टाया भक्तेरेव कश्चन प्रकार इति शब्दस्वारस्यात्तद्विषयासौ मोक्षहेतुरिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार आचार्यानुग्रह-सहकृत (गुरु-प्रसादके सहयोगसे) 'श्री' इत्यादि गुणविशिष्ट भगवान्की उपासना करनेसे मोक्ष फल प्राप्त होता है—यह प्रतिपादित हुआ। अब इसके विरोधी वाक्योंकी मीमांसाके द्वारा इस प्रतिपादनको परिपुष्ट करते हैं। गोपालतापनी-श्रुतिमें है कि मुनियोंने ब्रह्माजीसे एक बार यह जिज्ञासा की थी कि 'सर्वाराध्यत्व गुणविशिष्ट वस्तु कौन-सी है?' इसके उत्तरमें पद्मयोनि ब्रह्माजीने कहा, श्रीकृष्ण ही सर्वाराध्यत्व गुणविशिष्ट वस्तु हैं और बादमें यह उपदेश दिया कि उनकी भक्ति ही उनकी

प्राप्तिका हेतु (एकमात्र साधन) है इसके बाद और भी कहा, 'वे जो रजोगुणसे अतीत हैं, वही मैं हूँ—यह निश्चय करके आत्माका (स्वयंका) गोपालरूपमें (यह मैं ही गोपाल हूँ) ध्यान (चिन्तन) करें; ऐसे व्यक्तिको मोक्ष प्राप्त होता है, ब्रह्मत्व प्राप्त होता है और वह ब्रह्मविद् हो जाता है। इस श्रुतिमें 'मैं वही रजोगुणातीत गोपाल हूँ'—यह अभेदात्मक (अभेदाभ्यास) बार-बार देखा जाता है। इसमें संशय यह है कि यह जीव-ब्रह्म और पर-ब्रह्मका जो अभेद ध्यान है, क्या वह जीवात्मा तथा परमात्माके स्वरूपगत ऐक्यको आश्रय करके है अथवा पूर्वकथित भक्तिका ही कोई प्रकार है? इसपर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि यह स्वरूपगत ऐक्य जब *'सोऽहमित्यादि'* शब्द-लभ्य अर्थात् शब्द—स्वारस्यसे प्राप्त ही है, तब उसका उभय-ब्रह्मके ऐक्यका आश्रय मानना ही उचित प्रतीत होता हैं, यही मुक्तिका हेतु है, इसपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र गुर्वनुग्रहसहितं भगवदुपासनं मुक्तिकरमित्युक्तं तन्न युक्तम्। तदुपासनशास्त्रेष्वेव ब्रह्मजीवैक्यभावनायास्तत्करत्वदर्शनादित्याक्षिप्य समाधानादाक्षेपः सङ्गतिः। एवं गुणादीत्यादि। तथात्वेन सर्वाराध्यत्वादिगुणकत्वेन। तद्विषया परापरात्मैक्यविषया।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व अधिकरणमें कहा गया था कि गुरुके अनुग्रहके साथ भगवान्‌की उपासना मुक्तिका कारण है, यह तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि भगवदुपासना-बोधक शास्त्र-वाक्योंमें ही ब्रह्म एवं जीवकी ऐक्य भावनाको मुक्तिप्रद कहा गया है—यह आक्षेप करके समाधान हेतु इसमें आक्षेप सङ्गति है *'एवं गुणादिविशिष्टस्येति'* भाष्यमें *'पद्मयोनिस्तथात्वेन श्रीकृष्णमुपदिश्य'*—में 'तथात्वेन'—सर्वाराध्यत्वादि गुणविशिष्टत्वरूपमें। *तद्विषयाऽसौ मोक्षहेतुरिति*—में तद्विषयाका अर्थ है—परापरात्माके ऐक्यको लेकर।

पूर्वविकल्पाधिकरणम्

सूत्र—पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत्॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—पूर्वविकल्पः पूर्वोक्त भक्तिका ही यह विकल्प है अर्थात् 'सोऽहम्' यह भावना भक्तिका ही प्रकारान्तर है। प्रमाण क्या है?

'प्रकरणात् स्यात्' पहले नैष्कर्म्य भक्तिको ही उपक्रान्त, उपसंहार और तद्रूप कहा था, अतएव तादात्म्य कहना भावनाका प्रकार विशेष ही है, अन्य कोई और पदार्थ नहीं। इस विषयमें दृष्टान्त है— 'क्रियामानसवत्'—परिचर्या, पूजादि क्रिया और मानस–ध्यान जिस प्रकार भक्तिसे कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, इसी प्रकारसे ही 'सोऽहम्' भावना है॥ ४६॥

सूत्रानुवाद—'सोऽहम्' यह अभेद भाव पूर्व कथित भक्तिका ही विकल्प अर्थात् प्रकार विशेष है, प्रकान्त होनेसे भी यही सङ्गत है। परिचर्या–अर्चनादि क्रिया द्वारा यह भावना भी मानस–अनुस्मरणके तुल्य ही है॥ ४६॥

गोविन्दभाष्य—पूर्वस्या भक्तेरेव विकल्पोऽयं सोऽहमिति भावः। कुतः? प्रेति। *"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुस्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्"* इति तस्याः पूर्वं प्रकृतत्वात् *"सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति"* इति तथैवोपसंहाराच्च प्रकारविशेष एव नार्थान्तरमित्यत्र दृष्टान्तः क्रियेति। क्रिया परिचर्यार्चनादिरूपा। मानसञ्च ध्यानम्। ते यथा भक्तेरेव प्रकारौ तथा सोऽहमिति भावोऽपि पूर्वोपदिष्टाया भक्तेः प्रकारविशेषो भवतीति। रागाद्भयाच्च गाढावेशे सति सोऽहमिति भावोऽभ्युदेति। कृष्णोऽहमिति सिंहोऽहमिति च। एतदुक्तं भवति। पूर्वविभागे *"कः परमो देवः"* इत्यादिना। सर्वाराध्यत्वसंसारनिवर्त्तकत्वसर्वाश्रयत्व–सर्वकारणत्वगुणकं परमार्थवस्तु मुनिभिः पृष्टो ब्रह्मा *"श्रीकृष्णो वै परमं दैवतम्"* इत्यादिना तत्तद्गुणकतादृशवस्तुत्वं श्रीकृष्णस्याभिध्यायैतद्यो ध्यायतीत्यादिना तच्चिन्तनज्जपाद्विरूपया भक्त्या संसारभयनिवृत्तिं दर्शयति। पुनश्च *"ते होचुः किन्तद्रूपम्"* इत्यादिना। भजनीयस्य तस्य तद्भक्तेश्च विशेषप्रश्ने तैः प्रवर्त्तिते *"तदु होवाच—हैरण्यो गोपावेशमभ्राभम्"* इत्यादिना सपरिकरं तत्स्वरूपमुपवर्ण्य रस्यं पुना रसनमित्यादिना जप्यमुपदिश्य भक्तिरस्य भजनमित्यादिना भक्तिस्वरूपं निरूपयति। अथोङ्कारेणान्तरितं यो जपतीत्यादिना जप्येन तेन प्राप्यं तत्स्वरूपं फलमुक्त्वा तच्च तमेकं गोविन्दमित्यादिना ज्ञानसुखात्मकं भवतीति निर्णयान्तेऽपि *"तस्मात् श्रीकृष्ण एव परो देवः"* इति तथैवोपसंहरति। उत्तरविभागे तु तत्प्रेष्ठा गोप्यस्तेन सह विहृत्य पृष्टेन तेनाज्ञप्तास्ता वरान्नेन दुर्वाससं मुनिं भोजयामासुरित्येकदा हीत्यादिना प्रकीर्त्त्यते। अथ तुष्टेन तेन दत्ताशीर्भिस्ताभिः श्रीकृष्णतत्त्वं पृष्टः स मुनिस्तल्लीलाया लोकविलक्षणत्वं विवक्षुरयं हि श्रीकृष्ण इत्यादिना तस्य सर्वकारणत्व–विशुद्धस्नेहवश्यस्वभावत्वनित्यतत्कान्तत्वादिकमाचष्टे अथ सा होवाचेत्यादिना तस्य जन्मकर्ममन्त्रधामानि ताभिः पृष्टो मुनिः पूर्वार्थ एवाभ्यासलिङ्गेन तात्पर्यं निर्णेतुं

ब्रह्मनारायणोपाख्यानमुपक्षिपति *"स होवाच तां हि"* इत्यादिना। तत्र च श्रीकृष्णस्य पूर्णत्वं संसारतारकत्वम्। तस्य मथुराख्यमधिष्ठानं तच्च ब्रह्मात्मकं चक्राधारकं वनैरनेकैरुल्लसदिति निरूप्य तस्मादेव परो रजसेति सोऽहमित्यादिना तदभेदो भावो मोक्षहेतुरित्यभिधीयते। स चोक्तहेतोर्भक्तेरेव पूर्वोपदिष्टायाः प्रकारभेदो भवितुं युक्तः। तस्मादश्रुप्रलयादिवत्तद्विशेषोऽयम्। *"अहमस्मि" "ब्रह्माहमस्मि"* इति तैत्तिरीयकादिदृष्टः, अभेदव्यपदेशस्तु तदायत्तवृत्तिकत्वादिभिर्भेद एव सति सङ्गच्छेतेति पूरैवाभिहितम्॥ ४६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'सोऽहम्'* यह अभेद भाव पूर्ववर्णित भक्तिका ही प्रकार विशेष है अर्थात् यह भक्ति एवं मुक्ति दोनोंका कारण है। पुनः *'सोऽहम्'* भावमें अभेद-ध्यान भी मुक्तिका कारण है—प्रमाण क्या है? वही कहते हैं कि प्रकरण-बलसे यह अर्थ प्राप्त है कि भक्ति शब्दका अर्थ है 'भजन', यह अन्य और कुछ नहीं है। ऐहिक और पारत्रिक निखिल उपाधियोंका त्याग करते हुए भगवान्में मनका जो समर्पण है, उसीको नैष्कर्म्य अर्थात् भक्ति कहते हैं। पहले भी वही प्रकान्त होनेके कारण और उपसंहारमें भी सच्चिदानन्दमय श्रीहरिमें अव्याहत (एकरस) भक्तियोग प्राप्त (अवस्थान) करता है, यह वर्णन रहनेके कारण—यह (*सोऽहम्*) भक्तिका ही प्रकार विशेष है, अर्थान्तर अर्थात् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। इस विषयमें दृष्टान्त दिखाते हैं—*'क्रिया मानसवत्'* जिस प्रकार परिचर्या-अर्चन (सेवा-पूजादि) क्रिया भक्तिका ही प्रकार-विशेष है और मानस-ध्यान भी भक्तिका ही प्रकार, उसी प्रकार *'सोऽहम्'* 'मैं ही वह हूँ'—यह ध्यान भी पूर्ववर्णित भक्तिका प्रकार विशेष है। जब अतिशय अनुराग अथवा भयवश गाढ़ प्रेम उत्पन्न होता है, तभी *'सोऽहम्'* यह भाव उदित होता है। जब अतिशय अनुराग उत्पन्न होता है, तब 'मैं ही श्रीकृष्ण हूँ' इस ऐक्य अर्थात् तन्मय भावका अभ्युदय उपास्यमें होता है और जब अतिशय भय होता है, तब 'मैं ही सिंह हूँ' इस तन्मय भावका प्रकाश होता है। बात यह है कि ब्रह्मा-मुनि-संवादमें श्रुतिके पूर्वांशमें मुनियोंने ब्रह्माजीसे साधारण रूपसे 'परम देव कौन हैं' इत्यादि वाक्य द्वारा जिज्ञासा की। किनमें सर्वाराध्यत्व, संसार-निवर्त्तकत्व, सर्वाश्रयत्व एवं सर्वकारणत्व इत्यादि गुण हैं? परमार्थ वस्तु क्या है? इन प्रश्नोंके

उत्तरमें जिज्ञासित ब्रह्माजीने कहा, *'श्रीकृष्णो वै परमं देवतम्'* अर्थात् 'श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं' इत्यादि वाक्य द्वारा ज्ञात कराया कि सर्वाराध्यत्वादि गुणविशिष्ट परमार्थवस्तु श्रीकृष्ण ही हैं—यह जानकर जो व्यक्ति उन परमेश्वरका ध्यान करता है, जप करता है, भजन करता है—इत्यादि वाक्यके द्वारा श्रीकृष्णके चिन्तन-जपादिरूप भक्ति द्वारा संसार भयकी निवृत्तिका साधन दिग्दर्शित किया। तत्पश्चात् मुनियोंने उनसे विशेष रूपसे प्रश्न किये कि उनका रूप कैसा है? अर्थात् भजनीय उन देवताका और उनकी भक्तिका स्वरूप कैसा है? तब ब्रह्माजीने *'गोपवेशम् अभ्राभम्'*—'वे गोपवेशधारी मेघवत् नीलकान्ति हैं' इत्यादि वाक्यसे सपरिकर उनके स्वरूपका वर्णन किया, तत्पश्चात् अष्टादशाक्षर जप्य मन्त्रका *'रसनमित्यादि'* वाक्य द्वारा उपदेश दिया और उसके बाद *'भक्तिरस्य भजनम्'* इत्यादि वाक्यमें भक्तिका उपदेश एवं उसके स्वरूपका निरूपण किया। अनन्तर *'यो जपति'* इत्यादि वाक्य द्वारा कहा कि जो व्यक्ति ॐकारको संपुटित करके इस अष्टादशाक्षर मन्त्रका जाप करता है, यह कहनेके बाद इस जप्यमन्त्र द्वारा प्राप्य भगवान्के स्वरूप-फलका वर्णन किया। यह स्वरूप-फल क्या है? वह भी *'तमेकं गोविन्दम्'*—'उन एक गोविन्दको' इत्यादि वाक्य द्वारा निरूपण किया कि श्रीकृष्णका स्वरूपज्ञान एवं आनन्दात्मक है। इस प्रकार निर्णय करनेके बाद भी *'तस्मात् श्रीकृष्ण एव परो देवः'* इत्यादि *'श्रीकृष्ण एव परो देवः'* इत्यादि वाक्यमें 'श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं'—यह परिशेषमें अर्थात् उपसंहारमें कहा। उत्तर ग्रन्थमें (विभागमें) उनकी प्रियतमा गोपियोंने श्रीकृष्णके साथ विहार किया और बादमें उनसे जिज्ञासा की कि 'किसके निकट तत्त्वोपदेश प्राप्त किया जाय?' श्रीकृष्णने कहा—'दुर्वासा मुनिके निकट' इसके बाद उनकी प्रियतमाओंने मुनिको उत्तम-उत्तम व्यञ्जनोंसे भोजन कराया—यह *'एकदाहि'* इत्यादि वाक्य द्वारा वर्णित है। जब मुनि भोजनसे सन्तुष्ट हो गये तब मुनिने गोपियोंको आशीर्वाद दिया, गोपियोंने उनके निकट श्रीकृष्णतत्त्वकी जिज्ञासा की। मुनिने भी श्रीकृष्ण-लीलाका लोक-विलक्षणत्व (अलौकिकत्व) कहनेके अभिप्रायसे *'अयं ही श्रीकृष्णः'* इत्यादि वाक्यके द्वारा श्रीकृष्णका सर्वकारणत्व, विशुद्ध प्रेमाधीन स्वभावत्व,

नित्य गोपीकान्तत्व धर्मका वर्णन किया। अनन्तर *'सा होवाचेत्यादि'* अर्थात् गान्धर्विका श्रीराधिकाने समस्त गोपियोंकी प्रेरणासे उन श्रीकृष्णके जन्म, कर्म, मन्त्र तथा धामके विषयमें मुनिसे प्रश्न किया। मुनिने उस पूर्वोक्त विषयको ही पुनरुक्ति (अभ्यास-लक्षण) के द्वारा दृढ़ करनेके लिए तात्पर्य-निर्णयार्थ ब्रह्म-नारायणोपाख्यानका *'स होवाच तां हि'* इत्यादि वाक्यसे आरम्भ किया। इसमें बताया गया है कि इसीसे ही श्रीकृष्णके पूर्णत्व एवं संसार-तारकत्वादि धर्म प्रकाशित होते हैं। मथुरामण्डल उनका धाम है, यह मथुरामण्डल सुदर्शन-चक्रपर अधिष्ठित ब्रह्मात्मक (ब्रह्मस्वरूप) है। यह नानाविध वनश्रेणियों द्वारा शोभायमान है। यह सब निरूपण करनेके बाद रजोगुणसे अतीत जीवात्माके सहित ब्रह्मका *'सोऽहम्'*—यह अभेद ज्ञान मुक्तिका (मोक्षका) हेतु है—इस प्रकारका उपदेश दिया। अतएव उक्त ऐक्य भावका—प्रक्रम और उपसंहार—दोनों ही हेतुओंसे पूर्ववर्णित भक्तिका ही प्रकार भेद होना युक्तियुक्त है। इसलिए अश्रु, प्रलयादि जिस प्रकार स्फूर्ति-विशेष हैं, उसी प्रकार *'सोऽहम्'* भावको भी एक विशेष भाव जानना चाहिये। *'अहं ब्रह्मास्मि'* (बृ०आ० १/४/१०), *'ब्रह्म अहमस्मि'* इत्यादि तैत्तिरीयकोपनिषदमें दृष्ट अभेद-बोधक सकल वाक्यका उल्लेख *'ब्रह्माधीन वृत्तिकत्वादिवशतः'* अर्थात् ब्रह्मके अधीनत्व वृत्तिके कारण भेदमें ही सङ्गत होगा। *'अहम् ब्रह्मास्मि'* का तात्पर्य है—'मैं ब्रह्मका हूँ'—यह पहले भी बतलाया गया है॥ ४६॥

सूक्ष्मा-टीका—पूर्वविकल्प इति। क्रियेति समाहारद्वन्द्वः। रागात् कृष्णोऽहमिति भावोदयः, भयात् सिंहोऽहमिति भावोदय इति बोध्यम्। एतदुक्तमिति। कः परमो देव इति सामान्याकारेण प्रश्नात् कृष्णो वै परमं दैवतमिति विशेषाकारेण तदुत्तराच्च कृष्णस्यैव परत्वं सिद्धम्। यथा किमेकं दैवतमिति सामान्यप्रश्नात् जगत्प्रभुं देवदेवमित्यादिविशेषोत्तराच्च देवकीसूनोः परदैवतत्वं सहस्रनाम्नि निर्णीतं तद्वदिदं बोध्यम्। ते होचुरिति। ते मुनयः। तैरिति मुनिभिः। रस्यमिति जप्यमष्टादशार्णं मन्त्रराजमित्यर्थः। अन्तरित। सम्पुटितं कृत्वेत्यर्थः। तच्चेति स्वरूपम्। उपसंहरतीत्यत्र ब्रह्मेति योज्यम्। पष्टेनेत्यत्र गोपीभिरिति बोध्यम्। तेन कृष्णेन। तेन दुर्वाससा। ताभिर्गोपीभिः। अथ सा हेति। सा गान्धर्विका श्रीराधिका सर्वाभिर्गोपीभिः प्रेरिता कृष्णतत्त्वं पप्रच्छेति बोध्यम्। तस्याः सर्वमुख्यत्वात् तन्मुखेनैव सर्वासां प्रश्न इति भावः। सङ्गीतविद्यातिनैपुण्याद्गान्धर्विकेति तन्नामेति व्याख्यातारः। पूर्वार्थे इति।

पूर्वमुक्ते कृष्णयाखात्म्यरूपेऽर्थे इत्यर्थः। स होवाच तां हीति। स दुर्वासाः। तां गान्धर्विकाम्। स च तदभेदभावः। उक्तहेतोरिरिति। प्रकरणादुपसंहाराच्चेति हेतोरित्यर्थः। अहमिति। अहं ब्रह्मास्मि ब्रह्माह्मस्मीत्यर्थः॥ ४६॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्वविकल्प इत्यादि सूत्रमें *'क्रियामानसवत्'* इस पदमें *'क्रियाच मानसञ्च'* इति समाहार द्वन्द्वसमास है। रागाद्भयाच्च *'गाढावेशे सतीति'*—रागात्—प्रेमातिशयताके कारण 'मैं कृष्ण हूँ' इस प्रकारके भावका उदय 'भयात्'—भयके कारण 'मैं सिंह हूँ'—इस भावके उदयके कारण। यह ज्ञातव्य है। *'एतदुक्तं भवतीति'*—सर्वप्रधान देवता कौन हैं? इस सामान्याकारमें प्रश्नका 'श्रीकृष्णका ही परम देवता हैं'—इस विशेषाकारमें उत्तरके कारण श्रीकृष्णका ही परम देवतात्व सिद्ध हुआ है। दृष्टान्त यह है—जैसे 'परदेवता क्या एक हैं?' इस प्रकारके सामान्याकारमें प्रश्नका *'जगत्प्रभु देवदेवको'* इत्यादि कहकर विशेष रूपमें उत्तरसे देवकीनन्दनका परमदैवतत्व उनके सहस्रनामोंमें निर्णीत हुआ है, इसी प्रकार यह भी ज्ञातव्य है। *'ते होचुरिति'* में 'ते' का अर्थ है 'मुनिगण'। *'तैः प्रवर्त्तिते'* इतिमें तैः का अर्थ है मुनियोंके द्वारा *'रस्यं पुना रसनामिति'*—रस्यं अर्थात् जपनीय अष्टादशाक्षर मन्त्रराज। *अथोङ्कारेणान्तरितमिति*—अन्तरितं—सम्पुटित करके अर्थात् आदि और अन्तमें ॐकारकी योजना करके। *'तच्च तमेकमिति'* में 'तच्च'—वही स्वरूप। *'तथैवोपसंहरेति'* इति—इसमें ब्रह्म यह पद भी योजनीय है। *'विहृत्य पृष्टेनति'* पृष्टेन अर्थात् गोपियोंके द्वारा जिज्ञासा करनेपर यह जानना होगा। *'तेनाज्ञप्ता इति'* में 'तेन' का अर्थ है श्रीकृष्ण द्वारा आदिष्ट होकर। *'तेन दत्ताशीर्भिस्ताभिरिति'* में 'ताभिः' का अर्थ है—गोपियों द्वारा 'तेन' दुर्वासा द्वारा। *'अथ सा होवाचेति'* में 'सा'—वे गान्धर्विका श्रीमती राधिका समस्त गोपियों द्वारा प्रेरित होकर श्रीकृष्ण-स्वरूपकी जिज्ञासा करने लगीं, यह बोद्धव्य है। भावार्थ यह है कि श्रीमती राधिका सभी गोपियोंमें मुख्य हैं, इसलिए उनके श्रीमुखके द्वारा ही समस्त गोपियोंका प्रश्न हुआ था। श्रीमतीका नाम गान्धर्विका होनेका हेतु है—सङ्गीतविद्यामें उनकी सर्वाधिक निपुणताका होना—यह व्याख्याकारी कहते हैं। *'पूर्वार्थ एवाभ्यास लिङ्गनेति'*—'पूर्वार्थमें' अर्थात् पूर्वोक्त श्रीकृष्णके यथार्थ स्वरूपमें। *'स होवाच तां हीत्यादि'* में 'सः'

से तात्पर्य है—दुर्वासा मुनि। 'ताम्'—गान्धर्विका श्रीमतीको। *'स चोक्तहेतोरिति'* में 'स च' का अर्थ है उनके साथ अभिन्न भाव 'उक्तहेतोः' से तात्पर्य है—उक्त हेतुके कारण अर्थात् प्रकरण और उपसंहाररूप हेतुओंके कारण। *'अहमस्मीत्यादि'* में *'अहम् ब्रह्मास्मि'* अर्थात् मैं ब्रह्मका हूँ॥ ४६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्री इत्यादि गुणोंसे विशिष्ट श्रीभगवान्‌की उपासना श्रीगुरुदेवके अनुग्रहसे ही फलप्रद होती है—यह प्रतिपादित हो जानेके बाद अब विरोधी वाक्योंके समाधान द्वारा इस तत्त्वको परिपुष्ट किया है।

गोपालतापनी-श्रुतिमें पाया जाता है कि ब्रह्माजीने पहले मुनियोंको श्रीकृष्णके सर्वाराध्यत्वादि गुणोंका वर्णन किया और कहा भक्तिके द्वारा ही उन्हें पाया जाता है यह कहकर अन्तमें 'वही मैं हूँ' इस प्रकारके अवधारण (निश्चय) द्वारा 'मैं गोपाल हूँ' इस प्रकारकी अभेद-भावनाका उल्लेख किया। यहाँ संशय यह है कि ऐसी अभेद-भावना क्या जीव और ब्रह्मके स्वरूपगत ऐक्यविषयक है? अथवा पूर्वोपदिष्ट भक्तिका ही प्रकार विशेष है? पूर्वपक्षवादी कहते हैं—*'शब्दस्वारस्य दृष्टे'* अर्थात् *'सोऽहम्'* इत्यादि शब्दसे जीव एवं ब्रह्मके स्वरूपगत ऐक्य-विषयको ही स्थिर करना होगा। पूर्वपक्षीके इस मतके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उक्त अभेदभाव पूर्वोक्त भक्तिका ही विकल्प है अथवा प्रकार-विशेष है—यह समझ लें क्योंकि उपक्रम एवं उपसंहार दोनों ही में भक्तिकी परिचर्चा ही दिखायी देती है—अतः यह इस प्रकारका अभेद भाव भक्तिका ही प्रकार-विशेष है—इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परिचर्या, अर्चनादि क्रिया और मानस-ध्यान जिस प्रकार भक्तिके प्रकार हैं, उसी प्रकार इस अभेद भावनाको भी पूर्वोक्त भक्तिका प्रकार-विशेष जानना चाहिये।

अनुराग एवं भयके गाढ़ आवेशके कारण इस प्रकारका एकात्म भाव उदित होता है। इस विषयमें विस्तृत आलोचना श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण प्रभुके भाष्य एवं टीकामें प्रदर्शित हुई है—यह वहीं देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें श्रीप्रह्लादके चरित्रमें पाया जाता है—

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥

(श्रीमद्भा० ७/४/४०)

अर्थात् प्रह्लाद कभी अन्तःस्फूर्तिमें भगवान्‌को देखकर उत्कण्ठावश जोरसे चिल्ला पड़ते, कभी आनन्दमें डूबकर लोक-लज्जाका त्याग करके नाचने लगते और कभी भगवत्-चिन्तनमें इतने डूब जाते कि विभोर होकर उनकी लीलाका अनुकरण करने लगते।

इस श्लोकको टीकामें श्रीलचक्रवर्तीपादने लिखा है—*'नदतीति स्फूर्तिप्राप्तं हरिम् अतिदूरे दृष्ट्वा उत्कण्ठः उच्चीकृतकण्ठः भोः प्रह्लाद वत्स। त्वामनालोक्याहं नैव निवृणोमि यतस्त्वमेव ममातिप्रिय इत्युक्तः सन् आनन्दातिशयेन विक्षिप्त एव विलज्जो नृत्यति, तदेव स्फूर्ति भङ्गे सति तद्विरहखेदाधिक्येन तद्भावनातिशययुक्त उन्माद-सञ्चारि-प्राबल्येन अहमेव हरिरिति तन्मयः सन् तल्लीलां राम कृष्णाद्यवतारगतामपि अनुचकार अनुकृतवान्।'*

अर्थात् 'नदति' इत्यादि स्फूर्ति प्राप्त होनेपर श्रीहरिको अति दूरसे देखकर कभी उच्चस्वरसे चीत्कार करते हैं। हे वत्स प्रह्लाद! तुम्हें बिना देखे मुझे शान्ति प्राप्त नहीं होती—क्योंकि तुम मुझे अतिप्रिय हो—भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर आनन्दातिशयतासे वे कभी विक्षिप्त होकर निर्लज्जके समान नृत्य करते हैं। पुनः स्फूर्ति भङ्ग होनेपर उनके विरहजनित खेदके आधिक्यसे भगवत्-भावनामें अतिशययुक्त उन्माद और सञ्चारी भावके प्राबल्यसे 'मैं ही हरि हूँ' इस प्रकार तन्मय होकर राम-कृष्णादिके अवतारोंकी लीलाका अनुकरण करते हैं।

श्रीगोपियोंके आचरणमें भी पाया जाता है—

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥

(श्रीमद्भा० १०/३०/३)

अर्थात् उस समय कृष्ण-प्रिया गोपियाँ श्रीकृष्णके ही समान मूर्त्तिको धारण करने लगीं—वही चाल, वही मुसकान, वही चितवन, वही आलाप, वही मति, वही भाव-भङ्गिमा, विभ्रम-दशाको प्राप्त होकर वे स्वयंको सर्वथा भूल गयीं और कृष्णात्मिका भावसे परस्पर इस प्रकार कहने लगीं—'मैं ही वही कृष्ण हूँ।'

श्रीलचक्रवर्त्तीपादकी टीकामें भी पाया जाता है—*'ततश्चोन्माददेकीभावे सति असौ कृष्ण एवाहं किंवा अहमेव कृष्ण इत्यादि सावधारणां भावनां विहाय असावहं कृष्णोऽहमिति रसास्वाद प्रौढिमयीमवस्थां प्राप्य तदात्मिकाः प्राप्तकृष्णतादात्म्याः न तु अहंग्रहोपासतावशादेवेति ज्ञेयम्। प्रियः प्रियस्येत्युक्तः। न्यवेदिषुः परस्परं निवेदितवत्यः न तु वयं व्रजस्त्रियः मनागपि का अपि जानन्ति स्मेत्यर्थः। तत्र हेतुः कृष्णविहारैः स्मर्यमाणैर्विभ्रम उन्मादो यासां ताः।'*

इसके बाद उन्मादवश एकीभाव प्राप्त होनेपर 'कृष्ण ही मैं हूँ' अथवा 'मैं ही कृष्ण हूँ'—इस प्रकार रसास्वादनीय प्रौढ़ीमयी अवस्थाको प्राप्त होकर 'तदात्मिकाः' कृष्ण-तादात्म्य भावको प्राप्त हो गयी थीं। इस अवस्थाको अहंग्रहोपासना (अद्वैतवादियोंका *'अहं ब्रह्मास्मि'*) की अनुभूति नहीं मान लेना चाहिये। यह तो प्रेम-तन्मयता वश रसके लीला-सागरमें एक अनुभूति विशेष है। *'प्रियाः प्रियस्य'* कृष्णकी प्रियाएँ श्रीकृष्णमें स्वाभाविक प्रेमवती थीं। *'न्यवेदिषुः'*—इस प्रकार वे परस्पर निवेदन करने लगीं किन्तु हम ही व्रजरमणियाँ हैं—इसकी सुध-बुध न रही इसका कारण था—कृष्णके विहारका स्मरण होनेके कारण उनकी विभ्रम अर्थात् उन्माद दशा हो गयी थी।

और भी पाया जाता है—

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन्।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्स्वरूपताम्॥

एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया॥

कामाद्द्वेषाद्भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥

(श्रीमद्भा० ७/१/२८-३०)

अर्थात् जिस प्रकार भृङ्गी (तैलपायी) कीटको पकड़कर दीवारपर बने छिद्रमें बन्द कर देता है और वह कीट भय और द्वेषके कारण भ्रमरका स्मरण करते-करते उसीके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है अर्थात् भृङ्गी ही बन जाता है, उसी प्रकार स्वरूपशक्तिके प्रभावसे नित्य नर-स्वरूपमें प्रपञ्चमें अवतीर्ण साक्षात् श्रीभगवान्का शत्रु भावसे चिन्तन करते हुए उन असुरोंके सारे पाप धुल गये और उन्होंने भगवान्की प्राप्ति कर ली। युधिष्ठिर! बहुत-से जनोंने भगवान् श्रीकृष्णमें अपने मनको समर्पित करके मोक्षकी प्राप्ति की है चाहे यह कामसे हो, द्वेषसे हो, भयसे हो अथवा स्नेहसे हो। राजन्! भगवान् श्रीकृष्णमें मनका संयोग कर देनेसे किस प्रकार निष्पाप हुआ जा सकता है और किस प्रकार उनका साक्षात्कार करके मुक्ति प्राप्त हो सकती है, यह तुम मुझसे सुनो।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'न च पूर्वप्राप्त एव गुरुरिति नियमः समग्रानुग्राहकं चेत् तपश्चात्त नः प्रकरोति स्वयमेव तदा विकल्पः स्यान्मानसक्रियावत्। यथोभयोर्ध्यानयोः समयोः पूर्वस्मादुत्तमो लब्धः स्वयमेव गुरुर्यदि। गृह्णीयादविचारेण विकल्पः समयोर्भवेत। समग्रानुग्रहाभावात्सत्यकामस्स्वक गुरुम्। ऋषभाद्यनुज्ञया चैव प्राप तस्माद्धि युज्यते इति बृहत्तन्त्रे। समग्रानुग्रहं कश्चित् स्वयमेव समो यदि। कुर्यात् पुनश्च गृह्णीयादविरोधेन कामतः। ध्यानयोः समयोर्यद्वद्विकल्पः कामतो भवेत्। एवं गुरोर्द्वितीयस्य विकल्पो ... हणेऽपि चेति महासंहितायाम्॥'

अर्थात् जिस प्रकार गुरुके प्रसादसे ब्रह्मविज्ञान साधन उपासनाकी इतिकर्त्तव्यता जानी जा सकती है—उसका निरूपण करते हैं—विचारपूर्वक उत्तम गुरुको स्वीकार न करनेपर भावी फलानुसार उपासनाकी अनुपपत्ति (असिद्धि) होती है, अतएव गुरु-विचार आवश्यक है। पहले तो सन्देहका विषय यह है कि पूर्व-प्राप्त गुरु ही सदैव स्वीकृत रहें अथवा पूर्व गुरुका परित्याग करके अन्य गुरु किया जाय। यदि कहो, प्रथम-प्राप्त गुरुको ही स्वीकार करेंगे क्योंकि पूर्व-प्राप्त गुरुका परित्याग करनेसे रौरव नरक होता है, इत्यादि प्रमाणमें पूर्व प्राप्त गुरुके परित्यागमें दोष सुना जाता है। अतएव पूर्व-प्राप्त गुरुके

स्वीकारका ही नियम देखा जाता है। इसकी मीमांसामें कहते हैं—पूर्व-प्राप्त गुरुको ही स्वीकार करना होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है, बल्कि पूर्व-प्राप्त गुरुसे अन्य गुरुको स्वीकार किया जा सकता है किन्तु बादमें मिलनेवाला गुरु पहले गुरुसे अधिक अनुग्रहकारी हो अथवा उसीके समान गुरुको स्वीकार किया जाय, उससे अधम नहीं। बृहत्तन्त्रमें लिखा है कि यदि पहले ही उत्तमगुरु स्वयं प्राप्त होते हों तो उन्हें उसी समय बिना विकल्पके ग्रहण कर लेना चाहिये, कोई संशय नहीं रखना चाहिये। जैसे कि सत्यकाम जाबालने पूर्व ऋषभादि गुरुओंकी अनुज्ञासे पूर्ण कृपा प्राप्त करनेकी इच्छासे अपने योग्य गुरुका चयन किया था, वैसा करना ही उचित है। अथवा उसीके (पूर्व-प्राप्त) समान गुरुको स्वीकार करें, उससे अधम नहीं। विवेचना जब करनी चाहिये, जब पूर्व-प्राप्त और पर-प्राप्त गुरुमें समता हो। जैसे विचार करते समय दो विकल्पोंमेंसे सही सुसङ्गतका इच्छानुसार चयन कर लिया जाता है, वैसे ही गुरुके विषयमें कर लेना चाहिये महासंहितामें भी इसी प्रकार गुरुका विचार निरूपित है कि पूर्व और बादमें मिलनेवाले गुरुमेंसे यदि बादवाले गुरु सद्गुण सम्पन्न हैं तो दूसरे गुरुको ही ग्रहण करना चाहिये। अतः निष्कर्ष यही है कि पूर्व-प्राप्त गुरुको ही ग्रहण किये रहें—ऐसा कोई नियम नहीं है अर्थात् उत्तमगुरुको स्वीकार करके ही ब्रह्मोपासना करें॥ ४६॥

अवतरणिका भाष्य—सोऽहमितिभावो भक्तेरेव प्रकारविशेषो मन्तव्यो न तु परापरात्मस्वरूपैक्यानुसन्धिरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले कहा गया था कि *'सोऽहम्'* इस तादात्म्य भावको भक्तिका ही प्रकार विशेष मानना चाहिये। यह जीवात्मा एवं परमात्माका स्वरूपगत अभेदज्ञान अर्थात् अद्वैत-बोध नहीं है, इसमें दूसरा हेतु भी दिखलाते हैं—

सूत्र—अतिदेशाच्च॥ ४७॥

सूत्रार्थ—'च' और 'अतिदेशात्' 'अतिदेशबोधक श्रुति से' अर्थात् ब्रह्माजीके प्रति श्रीविष्णुकी उक्तिसे, तुल्यताबोधक वाक्य एवं परवर्त्ती वाक्यसे भी अवगत हुआ जा सकता है॥ ४७॥

सूत्रानुवाद—'सोऽहम्' अर्थात् तादात्म्य भाव भक्तिका प्रकार विशेष है। श्रीगोपालतापनी आदि श्रुतियोंमें सेव्य-सेवक भावका निर्द्धारण रहनेसे भी यही भाव मानना होगा॥ ४७॥

गोविन्दभाष्य—तत्रैवोत्तरत्र *"यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणैः सह। यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः"* इति पद्मयोन्यादेः पुत्रादिसाहित्यवत् स्वस्य स्वभक्तसाहित्यातिदेशात्। च-शब्दात् *"ध्यायेन्मम प्रियो नित्यं स मोक्षमधिगच्छति।" "स मुक्तो भवति तस्मै स्वात्मानञ्च ददामि"* इति तत्परवाक्यं गृहीतम्। तत्र नित्यप्रियत्वस्वात्मदानसम्प्रदानत्वादि भक्तस्योच्यते। तदेतच्च तदैक्ये न सम्भवेत्। तस्माच्च तद्विशेषोऽसावित्यधिगन्तव्यम्। इत्थञ्च श्रीरामतापन्यादिदृष्टोऽपि सोऽहमिति भावो व्याख्यातः। तथाच देशिकानुग्रहसहकृतात् भगवदुपासनात् विमुक्तिरिति न कापि क्षतिरिति॥ ४७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इसी श्रीगोपालतापनी-उपनिषदमें बादमें जो वाक्य है यथा— *'त्वमित्यादि'*—यह श्रीविष्णुका पद्मयोनि ब्रह्माजीके प्रति कथन है—हे पद्मयोने! तुम जिस प्रकार अपने पुत्र सनकादि एवं दक्षादिके साथ प्रसन्न होते हो, जिस प्रकार रुद्र प्रमथगणोंके साथ प्रसन्न होते हैं और मैं श्रीदेवीसे समन्वित होकर आनन्दका अनुभव करता हूँ। अतः जैसे ये सनकादि ब्रह्मादिकी प्रीतिके कारण हैं, उसी प्रकार भक्त भी मेरे प्रिय हैं। यहाँ पद्मयोनि इत्यादिके पुत्रादि सम्मेलनके समान विष्णुका अपने भक्त-साहित्यकी तुल्यताके कथनके कारण तथा सूत्रोक्त 'च' शब्दसे बोधित वाक्यान्तर यथा— *'ध्यायेन्मम प्रियो नित्यं स मोक्षमधिगच्छति'*—मेरा ध्यान करनेपर मेरा नित्य प्रिय वह भक्त मुक्ति प्राप्त कर लेता है और इसके परवर्त्ती वाक्यमें *'स मुक्तो भवति'* इत्यादि वह साधक मुक्त हो जाता है, मैं उसके लिए आत्मदान तक कर देता हूँ—इन दोनों वाक्योंमें प्राप्त भक्तका नित्य प्रियत्व और उसे श्रीहरिके आत्मदानका पात्रत्व कहा गया है। किन्तु ये दोनों केवलाद्वैतवादमें सम्भव नहीं हैं। अतएव *'सोऽहम्भाव'* भक्तिका ही प्रकार—विशेष है—यह ज्ञातव्य है। इसी प्रकार श्रीरामतापनी-उपनिषदमें दृष्ट सोऽहम्भावकी भी भक्तिके प्रकार विशेष रूपमें व्याख्या की गयी है। सिद्धान्त यह है कि आचार्यके अनुग्रहके सहायसे श्रीभगवान्‌की उपासनासे ही मुक्ति होती है—इस उक्तिमें कोई हानि नहीं है॥ ४७॥

सूक्ष्मा-टीका—अतिदेशाच्चेति। अन्यतुल्यत्वोक्तिरतिदेशः। स्वात्मेति। स्वस्य श्रीकृष्णस्य य आत्मा श्रीविग्रहस्तस्य यत् स्वकर्त्तृकं दानं तस्य सम्प्रदानं भक्तस्तत्त्वमित्यर्थः। तदेतच्चेति। तत् स्वभक्तसाहित्यम्। एतच्च स्वभक्तनित्यप्रियत्वादि। तदैक्ये परापरात्मनोरभेदे सति। इत्थञ्चेति। तद्वाक्यं तस्यामेव द्रष्टव्यम्॥ ४७॥

सूक्ष्मा-सार— *'अतिदेशाच्च'*—इस सूत्रमें जो 'अतिदेश' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ अन्य-तुल्यताकी उक्ति है। *'स्वात्मदानसम्प्रदानत्वेति'* में 'स्व' अर्थात्—श्रीकृष्णकी आत्मा-शरीर अर्थात् श्रीविग्रह—उसका जो निजके द्वारा सम्प्रदान है उसका (श्रीविग्रहका) सम्प्रदान-पात्र भक्त हैं, यह अर्थ है। *'तदेतच्च'*—*'तदैक्ये न सम्भवति'* इति में 'तत्' अर्थात् निज भक्तकी सहितत्वोक्ति। एतच्च एवं अपने भक्तका *'नित्यप्रियत्वादि तदैक्ये'*—परमात्मा एवं जीवात्माके अभेदमें अर्थात् केवलाद्वैतवादमें सम्भव नहीं होता। *'इत्थञ्च श्रीरामतापन्याम्'* इति—यह वाक्य उसी उपनिषदमें देखना चाहिये॥ ४७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त *'सोऽहम्'* भाव अर्थात् तादात्म्यभावको भक्तिका प्रकार-विशेष मानना होगा, यह भाव जीव और ब्रह्मका केवलाभेदविषयक नहीं है, इस अन्य हेतु द्वारा भी सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें दिखाते हैं—इस श्रीगोपालतापनी-श्रुतिमें ही इस प्रकारके साहित्यका अतिदेश (सदृशता-बोध अर्थात् अन्य-तुल्यताका कथन) रहनेके कारण और अन्यत्र भी अर्थात् श्रीरामतापनीमें भी इस प्रकारका निर्द्धारण (चिन्तन-उपासना) रहनेके कारण इस भावको भक्तिका प्रकार-विशेष मानना होगा।

श्रीभगवान्‌के नित्य अतिशयप्रियत्व और आत्मदानके पात्रत्व विचारसे (भगवान्‌का सम्प्रदानपात्र भक्त ही हैं) भक्तका ही निर्द्धारण करना होगा। इस कारण यह केवलाभेदवादियोंमें सम्भव नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

'तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परम ऋषयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणा-विगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः॥' (श्रीमद्भा॰ ५/१/२७)

अर्थात् संन्यासी होनेके कारण ये (प्रियव्रत) जितेन्द्रिय और परम ऋषि बन गये थे। हर पल, हर क्षण सम्पूर्ण जीवोंके आश्रय एवं भवसे त्रस्त लोगोंके एकमात्र रक्षक भगवान् वासुदेवके पादपद्मोंका चिन्तन करते रहते थे। भक्तियोगके प्रभावसे उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था और उसमें समग्र चित् एवं अचित्के अधिष्ठान (अर्थात् चिदाचित्-शक्तिसे युक्त) भगवान्का आविर्भाव हो गया था। उन्होंने औपाधिक देह एवं मनोधर्मका परित्याग करके भगवत्-साधर्म्यको प्राप्त कर लिया था।

और भी,

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवाः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिंयथा॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा॰ ९/४/६३-६४, ६६, ६८)

अर्थात् श्रीभगवान्ने कहा—'हे द्विज! हे मुनिवर! मैं तो सदा ही भक्तोंके अधीन हूँ। (रुद्र आदि देवता जिस प्रकार मेरे अधीन होनेके कारण तुम्हारी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं, उसी प्रकार मैं भी भक्तोंके अधीन होनेके कारण तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता।) मुझे भी परतन्त्र जैसा ही समझो। मेरे प्यारे भक्तोंको मुझसे अधिक प्रिय कुछ नहीं और मुझे भी उनसे प्रिय कुछ नहीं।' हे ब्रह्मन्! जिनका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ, उन साधु-स्वभाववाले भक्तोंके अतिरिक्त मैं न तो स्वयंको चाहता हूँ और न ही अपनी उन लक्ष्मीजीको, जिनका कभी भी विनाश नहीं होता। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार अपने पातिव्रत्य धर्मसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार सदा मुझमें अनुरक्त रहनेवाले समदर्शी साधुजन अपनी प्रेममयी भक्तिसे मुझे अपने

वशमें कर लेते हैं। मेरे प्रेमीभक्त मेरा हृदय हैं और मैं उन प्रेमीभक्तोंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते और मैं उन्हें छोड़कर कुछ भी नहीं जानता।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कृष्णेर समता हैते बड़ भक्तपद।
आत्मा हैते कृष्णेर भक्त हय प्रेमास्पद॥

आत्मा हैते कृष्ण भक्ते बड़ करि माने।
इहाते बहुत शास्त्र–वचन प्रमाणे॥

(चै॰च॰आ॰ ६/९८–९९)

अर्थात् श्रीकृष्णके समान होनेके विचारसे श्रीकृष्णके भक्त होनेका पद श्रेष्ठ है क्योंकि श्रीकृष्णके लिए उनके भक्त उनकी आत्मासे भी अधिक प्रिय हैं। श्रीकृष्ण अपनी आत्मासे भी अपने भक्तको श्रेष्ठ मानते हैं। अनेक शास्त्रोंके वचन इसके प्रमाण हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'ब्रह्मोपासस्व, ब्रह्मोपचरस्व तच्छ्रृणु हि त्वामवन्तु। यथा ब्रह्मोपचरेर्यथा मामुपचरेर्ये चान्येऽस्मद्विधाः। श्रेयसश्च तानुपासस्व तानुपचरस्व तेभ्यः शृणु हि ते त्वामवन्त्विति पौष्याणश्रुतावतिदेशाच्च।'

अर्थात् अब अन्य हेतु दिखाते हुए उत्तमगुरु स्वीकार विषयका प्रतिपादन करते हैं। पौष्यायण–श्रुतिमें उल्लेख है कि पूर्व–प्राप्त गुरु—उत्तमगुरुको स्वीकार करनेके लिए इस प्रकार आदेश करते हैं कि ब्रह्मकी उपासना करो, ब्रह्मकी परिचर्या (अनुसरण) करो, ब्रह्मके गुणोंका श्रवण करो। जिस प्रकारसे ब्रह्मोपासना करोगे, उसी प्रकारसे मेरी भी परिचर्या होगी और जो मेरे समान श्रेष्ठ हैं अर्थात् ब्रह्मविद्याके उपदेशक हैं, उनका आश्रय ग्रहण करो, उनकी भी उपासना करो, और परिचर्या करो, उनसे भगवत्–तत्त्वका श्रवण करो, वे तुम्हें ब्रह्मतत्त्व बतलावेंगे, तुम्हारी रक्षा करेंगे। अतएव सर्वज्ञ गुरुसे उपदेश प्राप्त करके ब्रह्मोपासना करें—इत्यादि पौष्यायण–श्रुतिके अतिदेशसे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है॥४७॥

अवतरणिका भाष्य—शास्त्रज्ञानपूर्वकमुपासनं विद्योच्यते, तया मुक्तिरित्येतत् परिष्कर्त्तुमारभ्यते। *"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"*

(श्वे॰ ६/१५) इति पुरुषसूक्ते *"तमेव विद्वानमृत इह भवति"* इत्यादि चान्यत्र पठ्यते। तत्र कर्म मोक्षहेतुरुत समुच्चिते विद्याकर्मणी किंवा विद्येति संशयः। किं प्राप्तं? कर्मेति। शेषत्वात् पुरुषार्थत्वादिति षट्सूत्रीनिर्णयात्। विद्या तु तच्छेषो भवेत् समुच्चिते विद्याकर्मणी वा तद्धेतु र्न तु तयोरेकतरं तं विद्याकर्मणी इति श्रवणात्। यदुक्तम्—*"उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणो गतिः। तथैव कर्मज्ञानाभ्यां मुक्तो भवति मानवः"* इति। विद्या वा तद्धेतुः। तमेव विदित्वेत्यादिश्रवणात्। तस्मादनिर्णयोऽस्तु। एवं प्राप्ते ब्रवीति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—शास्त्र ज्ञानपूर्वक उपासनाको ही विद्या कहा गया है। इस विद्यासे ही मुक्ति प्राप्त होती है। इसीका ही विस्तृत (परिष्कृत) रूपसे वर्णन करनेके लिए परवर्त्ती अधिकरणका आरम्भ करते हैं कि पुरुषसूक्तमें पढ़ा जाता है *'तमेव विदित्वेत्यादि'* अर्थात् उन परमात्माको स्वरूपतः जान लेनेपर संसार-बन्धनसे मुक्त हुआ जा सकता है—अन्यथा संसारको पार करनेका अन्य कोई पथ नहीं है। दूसरे उपनिषदमें भी पढ़ा जाता है कि *'तमेव विद्वानमृत इह भवति'* अर्थात् जो व्यक्ति उन्हें जानता है, वह इस जगत्में अमृतत्व (मुक्ति) को प्राप्त करता है। यहाँ संशय यह है कि क्या केवल कर्म ही मुक्तिका कारण है? अथवा विद्या एवं कर्म दोनों मिलित रूपसे मुक्तिके कारण हैं? अथवा केवल ज्ञान ही मुक्तिका कारण है? इसपर सिद्धान्ती पूर्वपक्षवादियोंसे प्रश्न करते हैं कि क्या प्राप्त होता है? अर्थात् आप मुक्तिके कारण रूपमें किसे प्राप्त करते हैं? पूर्वपक्षी कहते हैं—कर्म ही प्राप्त होता है। कहाँ-से? तो उनका उत्तर है—बादमें वक्ष्यमाण *'शेषत्वात् पुरुषार्थत्वादित्यादि'*—इन छह सूत्रोंसे। तब जो *'तमेव विदित्वेत्यादि'* श्रुति-ज्ञानको मुक्तिका कारण कहती है—इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—ज्ञान उस कर्मका शेष-भाग अर्थात् अङ्ग होगा। अथवा विद्या (ज्ञान) एवं कर्मको मिलित रूपसे मुक्तिका हेतु कहा जायेगा। ज्ञान एवं कर्ममेंसे किसी एकको मुक्तिका कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि *'तं परेतं पुरुषं प्रति विद्याकर्मणी फलमारभेते'* अर्थात् उस मृत व्यक्तिका पारलौकिक फल ज्ञान एवं कर्म दोनोंको दिया जाता है—इस श्रुतिमें दोनोंको कारण कहा गया है। धर्म-शास्त्रमें यह भी कहा गया है—*'उभाभ्यामेव पक्षाभ्याम्'* इत्यादि जिस प्रकार आकाशमें पक्षीकी गति दो पंखोंके सहारेसे ही होती है,

उसी प्रकार ज्ञान एवं कर्म दोनोंके ही आश्रयसे मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। अथवा केवल विद्या (ज्ञान) को ही मुक्तिका हेतु (साधन) कहेंगे क्योंकि *'तमेव विदित्वेति'* (उन्हें जानकर मृत्युका अतिक्रमण किया जा सकता है) श्रुति यही कहती है, जो भी हो, मुक्तिका कारण क्या है, इसका कोई निश्चय हो नहीं पा रहा है तो इस अनिर्णयपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—उपासनशब्दवाच्या गुरुप्रसादलब्धा ब्रह्मविद्या मोक्षकरीति यत् प्रागुक्तं तन्न युक्तं कर्मणैव कर्मज्ञानाभ्याञ्च समुच्चिताभ्यां मुक्तिरिति निरूपणादित्याक्षिप्य तत्र समाधानात्। पूर्वैवात्र सङ्गतिरित्येके। पूर्वमुपक्रमोप-संहारयोर्भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वप्रतीतेरान्तरालिकस्य सोऽहमिति भावस्य यथा भक्तिविशेषतया सङ्गतिस्तथा तं विद्येति श्रुतौ विद्याकर्मणोः (बृ॰आ॰ ४/४/२) परलोके फलारम्भकत्व-प्रतीतेस्तमेवेत्यत्र मोक्षैकहेतुतया प्रतीतापि विद्या कर्मसमुच्चितैव तद्धेतुरस्त्विति सङ्गमनीयमिति दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिरित्यपरे। शास्त्रज्ञानेति। परिष्कर्त्तुं विशदयितुम्। तमेवेति। तं हरिं विदित्वा ज्ञात्वोपास्य चेत्यर्थः। अतिमृत्युं मोक्षम्। विद्यातोऽन्यः पन्थाः साधनम् अयनाय मोक्षगमनाय न विद्यते नास्ति सैव सत्पथ इत्यर्थः। अनायेति यलोपश्छान्दसः। विद्वानिति जानन्नुपासीनश्चेत्यर्थः। *"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय"* इति स्मृत्या तस्य तद्धेतुत्वावधारणाच्च। तच्छेषः कर्माङ्गम्। यजमानो हि देवतां स्वञ्च याथात्म्येन विदित्वैव पारलौकिके कर्मण्यधिकृद्भवतीत्याशयः। तमिति। तं परेतं पुरुषं प्रति विद्याकर्मणी फलमारभेते। समुच्चिते ते इति। पूर्वपक्षे कर्मणा स्वर्गाद्यानुषङ्गिकफलमारभ्यते विद्यया तु परं पदमिति सिद्धान्तार्थे वक्ष्यते। तस्मादिति पक्षत्रयेऽपि प्रमाणलाभादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—उपासना शब्दका अर्थ है—गुरु-प्रसाद लब्ध ब्रह्मविद्या ही मुक्तिका कारण है। यह जो पहले कहा गया था, वह तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि किसी वाक्यमें केवल कर्म द्वारा मुक्ति जनकत्व कहा गया है और किसी वाक्यमें मिलित विद्या-कर्म द्वारा मुक्तिका उल्लेख है, यह आशङ्का करके उसके समाधान हेतु यहाँ आक्षेप-सङ्गति है, यह बात कोई-कोई कहते हैं, पुनः दूसरे कोई-कोई कहते हैं कि पूर्वाधिकरणमें उपक्रम और उपसंहारमें भक्तिका ही मुक्तिहेतुत्व प्रतीत होनेके कारण उसमें कथित सोऽहम्-भावकी जिस प्रकार भक्ति विशेष रूपमें सङ्गति है, उसी प्रकार *'तं विद्याकर्मणी'* इत्यादि श्रुतिमें परलोकमें विद्या एवं कर्म दोनोंका

फलजनकत्व प्रतीत होनेके कारण *'तमेव विदित्वा'* इत्यादि श्रुतिमें केवल विद्याका मोक्षहेतुत्व प्रतीत होनेपर भी यह विद्या कर्मके साथ मिलित रूपमें मुक्तिका हेतु हो, इस रूपमें इसकी सङ्गति की जा सकती है, अतएव इसमें दृष्टान्त-सङ्गति है। *'शास्त्रज्ञानेत्यादि परिकर्त्तुम्'* इति—विशद करनेके लिए यह अर्थ है। *'तमेव विदित्वेत्यादि'*—श्रुतिका अर्थ है—'तम्'—उन श्रीहरिको, विदित्वा—जानकर एवं उपासना करके—यह अर्थ है, अतिमृत्युम्—मुक्ति। अन्यः पन्थाः—विद्या—ज्ञान एवं उपासनासे भिन्न, अन्य साधन, अनाय—मुक्तिप्राप्तिका उपाय 'न विद्यते'—नहीं है अर्थात् वही सत्पथ है। अयनाय स्थलपर अनाय पाठ किसलिए हुआ? वैदिक 'यकार' लोप द्वारा छान्दस प्रयोग जानना होगा। *'तमेव विद्वान् इति'*—विद्वान का अर्थ है—ज्ञानकारी एवं उपासक। कर्मेव मुक्ति हेतुता विषयमें श्रीभगवद्गीताके वाक्य हैं यथा *'कर्मणैव ही संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'* जनकादि राजर्षियोंने केवल कर्म द्वारा ही मुक्तिको प्राप्त किया था—इस उक्ति द्वारा कर्मका मुक्तिहेतुत्व निर्द्धारित हुआ है, इसलिए कर्म ही कारण है। *तच्छेषः विद्या इति*—ज्ञान कर्मका अङ्ग है। किस प्रकारसे ज्ञान कर्मका अङ्ग है? वही कहते हैं—यजमान (कर्मकर्त्ता) यज्ञाङ्ग-देवताका स्वरूप और स्व-स्वरूपको यथायथ रूपमें जानकर ही पारलौकिक कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, यही अभिप्राय है। *'तम् विद्याकर्मणी'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—'तम्'—उस मृत व्यक्तिको विद्या एवं कर्म-फल दान करते हैं। अतएव विद्या एवं कर्मका समुच्चित रूपसे फल-जनकत्व है। पूर्वपक्षीके मतमें कर्म द्वारा स्वर्गादि आनुषङ्गिक फल होता है और विद्या द्वारा परमपद (मुक्ति) प्राप्त होती है—यह सिद्धान्त—अर्थमें कहना होगा। *'तस्मादनिर्णय इति'*—क्योंकि उक्त तीनों पक्षोंमें ही त्रिविध प्रमाण प्राप्त होते हैं—अतएव अनिश्चय ही होता है। इस अनिश्चितताके समाधानके लिए इस सूत्रकी अवतारणा करते हैं—

विद्यैवत्वधिकरणम्

सूत्र—विद्यैव तु तन्निर्द्धारणात्॥ ४८॥

सूत्रार्थ—'विद्यैव'—ज्ञान ही मुक्तिका कारण है, कर्म नहीं और विद्या तथा कर्म मिलकर भी नहीं। प्रमाण क्या है? 'तन्निर्द्धारणात्' क्योंकि 'तमेव विदित्वा' इत्यादि श्रुतिमें 'एव' शब्द द्वारा विद्याको ही मुक्तिके कारण रूपमें निर्धारित किया गया है॥ ४८॥

सूत्रानुवाद—विद्या ही मोक्षका कारण है, अकेला कर्म भी नहीं और कर्म तथा विद्या मिलकर भी नहीं। श्रुतियोंमें विद्यासे ही मोक्षका निर्धारण है॥ ४८॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काच्छेदार्थः। विद्यैव मोक्षहेतुर्न तू कर्म। न च समूच्चिते विद्याकर्मणी। कुतः? तदिति। तमेव विदित्वेत्यादौ तस्यास्तत्त्वावधारणात्। विद्याशब्देनेह ज्ञानपूर्विका भक्तिरुच्यते। *"विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत"* (बृ॰आ॰ ४/४/२१) इत्यादौ तादृश्यास्तस्यास्तत्त्वाभिधानात्। स्मृतिश्चोभयत्र विद्याशब्दं प्रयुङ्क्ते। *"विद्याकुठारेण शितेन धीरः"* इति *"राजविद्या राजगुह्यम्"* इति च। तस्मादसौ तन्त्रेण ते द्वे गृह्णीयात्। कौरवशब्दवन्मीमांसकशब्दवच्च। पूर्वौ धार्त्तराष्ट्रपाण्डवौ परस्तु कर्मविद्-ब्रह्मविदौ यथा गृह्णाति॥ ४८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्षीकी आशङ्काकी निवृत्तिके लिए प्रयुक्त है। अभिप्राय यह है कि एकमात्र विद्या ही मुक्तिका हेतु है, कर्म नहीं। विद्या और कर्म दोनों मिलकर भी इसके साधक नहीं हैं। इसका कारण? *'तन्निर्द्धारणात्'* क्योंकि *'तमेव विदित्वामृत्युमेति'* इत्यादि श्रुतिमें 'एव' शब्द प्रयुक्त होनेसे विद्याको ही मुक्तिके हेतु रूपमें निर्धारित किया गया है। विद्या शब्दसे यहाँ ज्ञानके साथकी जानेवाली भक्ति विवक्षित है—इसका कारण है कि *'विज्ञाय प्रज्ञां कुवीत्'* ज्ञानके बाद (जानकर) उपासना (भक्ति) करें—इत्यादि श्रुतिमें ज्ञानपूर्वक भक्तिको मुक्तिका हेतुत्व कहा है। धर्म-शास्त्र भी ज्ञान और भक्ति—दोनों विषयोंमें भक्ति शब्दका प्रयोग करते हैं। यथा *'विद्याकुठारेण शितेन धीरः'* अर्थात् 'विवेकी व्यक्ति शाणित विद्या (ज्ञान) रूप कुठारके द्वारा' इत्यादि। *'राजविद्या राजगुह्यम्'* इत्यादि गीता (९/२) वाक्यमें भी इसी प्रकार कहा गया है। अतएव इस विद्या एक शब्दको कहनेसे ही दोनोंका (ज्ञान और भक्तिका) ग्रहण करना चाहिये। जिस प्रकार कौरव शब्दसे एक ओर धृतराष्ट्रके वंशधरोंको तो दूसरी ओर पाण्डवोंको भी जाना जाता है अथवा जिस प्रकार मीमांसक शब्दसे

कर्मविद् मीमांसक और ब्रह्मविद् मीमांसक दोनोंको ही ग्रहण किया जाता है, इसी प्रकार विद्यासे (ज्ञान एवं भक्ति) भी समझना चाहिये॥ ४८॥

सूक्ष्मा-टीका—विद्यैवेति। अन्ययोगायोगात्यन्तायोगानां व्यवच्छेदकत्वादेवकारस्य त्रयोऽर्थाः। तेष्वाद्यो विशेष्यसम्बन्धः यथा—*"पार्थ एव धनुर्धरः"* इति। द्वितीयो विशेषणसम्बन्धः यथा—*"शङ्खः पाण्डुर"* एवेति। तृतीयस्तु क्रियासम्बन्धः यथा *"उत्पलं नीलं भवति"* एवेति। अत्र विद्यान्यस्य मुक्तिहेतुत्वं व्यवच्छिद्यते। तस्यास्तत्त्वेति। विद्याया मुक्तिहेतुत्वावधारणादित्यर्थः। उभयत्रेति। शाब्दे ज्ञाने भक्तौ चोपासनायामित्यर्थः। विद्याकुठारेति। शास्त्रीयं ज्ञानं बोध्यम्। राजविद्येत्यत्र भक्तिरिति व्याख्यातारः। असौ विद्याशब्दः। ते ज्ञानभक्ती। पूर्वः कौरव-शब्दः। परो मीमांसकशब्दः॥ ४८॥

सूक्ष्मा-सार— *'विद्यैवेत्यादि'* सूत्रमें। 'एव' शब्दका अर्थ है 'निर्द्धारण' अर्थात् अन्य योग व्यवच्छेद, स्वायोग व्यवच्छेद एवं अत्यन्तायोग व्यवच्छेद—ये तीन अर्थ हैं। इनमें प्रथम है—विशेष्य सम्बन्धावगाही यथा *'पार्थ एव धनुर्द्धरः'* अर्थात् पार्थके अतिरिक्तका धनुर्द्धरत्व निराकृत किया गया है, दूसरा विशेषण सम्बन्धावगाही है यथा *'शङ्खः पाण्डर एव'* अर्थात् शङ्खका पाण्डरत्व (धवलपीतत्व वर्ण) सम्बन्धका अयोगव्यावर्त्तक है और तीसरा अत्यन्तायोग व्यवच्छेदार्थक 'एव' शब्द क्रियाके साथ अन्वित होता है जिस प्रकार *'उत्पलं नीलं भवत्येव'* पद्म (कमल) नीलवर्णका नहीं होता, ऐसा नहीं है, होता भी है। यहाँ *'अन्ययोगव्यवच्छेदार्थक'* 'एव' शब्द अर्थात् विद्यासे भिन्नका मुक्तिहेतुत्व निराकृत किया गया है। *'तस्यास्तत्त्वावधारणात्'* इतिमें 'तस्याः' का अर्थ है 'विद्याका' तत्त्वावधारणात्—मुक्तिहेतुत्व निश्चय हेतु—यह अर्थ है। *'स्मृतिश्च उभयत्रेति'*—उभयत्र अर्थात् शाब्दबोधात्मक ज्ञानमें और उपासनामें प्रयुक्त। *'विद्या कुठारेण शितेन धीरः'* इति विद्यारूप कुठार अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान विद्या शब्दके द्वारा बोध्य। राजविद्या, राजगुह्यम्—यहाँ भक्तिग्राह्य—यह व्याख्याकर्त्तागण कहते हैं। *'तस्मादसौ तन्त्रेणेति'* में 'असौ' अर्थात्—यह विद्या शब्द। *'ते द्वे गृह्णीयात् इति'* में 'ते' अर्थात् ज्ञान एवं भक्ति दोनोंको। *'पूर्वे इति'* प्रथम कौरव शब्द, परः—अन्तिम मीमांसक शब्द॥ ४८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—शास्त्रज्ञानानुसार उपासना करनेको ही विद्या कहा जाता है। पहले भी कहा गया था कि श्रीगुरुप्रसादसे लब्ध ब्रह्मविद्या ही उपासना शब्दसे वाच्य है, यही विद्या ही मुक्तिका हेतु है—इसीको परिष्कृत रूपसे निश्चित करनेके लिए इस प्रकरणका आरम्भ किया गया है।

पुरुषसूक्तमें देखा जाता है कि *'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'* (श्वे॰ ३/८, ६/१५) अर्थात् 'भगवान्‌को जानकर संसाररूपी मृत्युसे तर जाते हैं। इसके अतिरिक्त मोक्ष-प्राप्तिका अन्य कोई सत्पथ (उपाय) नहीं है।' अन्यत्र भी देखा जाता है—*'तमेव विद्वानमृत इह भवति',* अर्थात् उन्हें जाननेवाला व्यक्ति इस जगत्‌में अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। इस स्थलपर एक संशय उपस्थित होता है कि क्या कर्म मुक्तिका कारण है। जैसा कि गीतामें कहा है—*'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'* (३/२०), अर्थात् जनक आदि राजर्षियोंने कर्मके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त किया था अथवा कर्म और ज्ञान दोनों ही मिलित रूपसे मुक्तिके कारण हैं? अथवा केवल ज्ञान ही मुक्तिका कारण है? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—शास्त्रमें कहीं कर्मको, कहीं ज्ञानको, कहीं कर्म और ज्ञान दोनोंको मिलित रूपसे और उन्हें जान लेनेपर मोक्ष हो जाता है—इस उक्तिसे केवल ज्ञानको ही मुक्तिका हेतु बतलाया है। अतः इस विषयमें कुछ निश्चित नहीं कहे जानेके कारण सिद्धान्त अनिर्णीत ही रह जाता है। पूर्वपक्षीके इस प्रकारके वाक्यके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्या ही मुक्तिका कारण है क्योंकि शास्त्रने उसीका दृढ़तापूर्वक निर्धारण किया है।

इस स्थलपर विचारणीय विषय यह है कि, यह विद्या है क्या? विद्या शब्दसे श्रीगुरुप्रसाद प्राप्त भगवदुपासना ही ब्रह्मविद्या है, उसीके द्वारा जीवकी मुक्ति सम्भव है। इस विषयपर विस्तृत आलोचना श्रीमद्बलदेव प्रभुके भाष्य एवं टीकामें देखनी चाहिये।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ८/२४४) में पाया जाता है—

प्रभु कहे,—कोन विद्या विद्या-मध्ये सार?
राय कहे,—कृष्ण भक्ति बिना विद्या नाहि आर॥

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—समस्त विद्याओंमें सार सर्वस्व विद्या कौन–सी है? श्रीराय रामानन्दजीने उत्तर दिया सार–विद्या तो कृष्णभक्ति ही है, इसके अतिरिक्त और कोई विद्या नहीं है।

स्वयं ब्रह्मविद्या भी कृष्ण–रतिके लिए तप करती हैं—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैयाचमृग्यते।
साहं हरिपदांभोज काम्पया सुचिरं तपः॥

चराम्यास्मिन् वने घोरे ध्यायंती पुरुषोत्तमं।
ब्रह्मानंदेन पूर्णाहं तेनानंदेन तृप्तधीः॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्ण रति विना॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ७२/३०/३२)

अर्थात् मैं वह अनुपम ब्रह्मविद्या हूँ, जिसका योगीन्द्रलोग अन्वेषण करते हैं, परन्तु मैं हरिके चरणकमलकी भक्तिकी कामनासे दीर्घकालसे तप कर रही हूँ और इस घोर वनमें पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई घूमती हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे पूर्ण हूँ, मेरी बुद्धि भी उस आनन्दसे तृप्त है, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णकी रतिके बिना अपनेको शून्य–सी अनुभव करती हूँ।

श्रीमद्भागवतमें भी है—

तत् कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया।

(श्रीमद्भा॰ ४/२९/४९)

अर्थात् हे राजा बर्हिष्मन्! सुनो! जिसके द्वारा श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं, वही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य कर्म है और जिसके द्वारा श्रीहरिके प्रति मति होती है, वही विद्या है।

श्रीप्रह्लादजीके वचनमें भी यही पाया कहा गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/५/२३–२४)

अर्थात् श्रीप्रह्लादजीने कहा—भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और परिकरोंकी लीलादिका श्रवण, उनका कीर्त्तन, उनका स्मरण करना, उनके ही चरणकमलोंकी सेवा-परिचर्या करना, षोडशोपचारके द्वारा उनका अर्चन करना, उनका दास बन जाना, उनके साथ सख्यभाव स्थापित करना और उनके चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पण कर देना—ये भक्तिकी नौ विधियाँ हैं। जो मनुष्य भगवान् विष्णुको समर्पण करके इस नवविधा-भक्तिका साक्षात् अनुष्ठान करता है, मेरे विचारसे उसने ही उत्तम शिक्षा प्राप्त की है।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी पाया जाता है—

ताहारे से बलि विद्या, मन्त्र-अध्ययन।
कृष्णपाद-पद्मे ये करये स्थिर मन॥

(चै॰भा॰अ॰ ३/४५)

अर्थात् विद्या एवं मन्त्र अध्ययन उसीको कहते हैं जिससे श्रीकृष्णके पादारविन्दोंमें मन स्थिर हो जाय।

सेइ से विद्यार फल जानिह निश्चय।
'कृष्णपादपद्मे' यदि चित्त-वित्त रय॥

(चै॰भा॰आ॰ १३/१७८)

अर्थात् श्रीगौरसुन्दरने कहा—हे विप्र! तुम यह निश्चयपूर्वक जान लो कि विद्याका फल तभी है, जब श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें चित्त-वित्त निमग्न हो जाय।

पड़े केन लोक?—कृष्णभक्ति जानिवारे।
से यदि नहिल, तबे विद्याय कि करे॥

(चै॰भा॰आ॰ १२/४९)

अर्थात् लोग किसलिए पढ़ते हैं? कृष्णभक्ति जाननेके लिए। यदि पढ़कर भी कृष्णभक्ति नहीं हुई, तो विद्या क्या करेगी?

श्रीमद्भागवतमें भी—

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/११/४)

अर्थात् हे महामते! मैं अद्वितीय स्वरूपवाला हूँ। मेरे अंशसे (विभिन्नांशसे) जीव प्रकट होकर अविद्याके द्वारा बन्धनको प्राप्त होता है तथा विद्याके द्वारा उसकी मुक्ति हुआ करती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥

(श्रीगी॰ ९/२)

अर्थात् यह ज्ञान सभी विद्याओंका राजा, गोपनीय विषयोंका राजा, अतिशय पवित्र, प्रत्यक्ष अनुभव योग्य, धर्मसङ्गत, बिना कष्टके साधित होने योग्य और सनातन है। इस प्रसङ्गमें *'ज्ञानाग्निर्भस्मसात् कुरुते'* श्लोक भी आलोच्य है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'न च कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः (श्रीगी॰ ३/२०) *इत्यादिना नान्यन्मोक्षसाधनम्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यते अयनायेति* (श्वे॰ ३/८) *निर्द्धारणाद्विद्ययैव मोक्षः॥'*

अब ब्रह्मोपासना अवश्य करनी चाहिये—इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—'कर्म द्वारा ही जनकादिने संसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लिया था' इत्यादि प्रमाणोंसे दूसरे भी मोक्षके साधन हैं, यह जाना जाता है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल ब्रह्मको जाननेसे ही मृत्युका अतिक्रमण किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त मोक्षप्राप्तिका अन्य कोई पन्था नहीं है। इत्यादि श्रुति-प्रमाणोंसे ब्रह्मोपासना ही मोक्षके साधनके रूपमें निर्द्धारित हुई है, अतएव ब्रह्मविद्या मोक्षका साधन है, यह प्रतिपन्न हुआ॥ ४८॥

अवतरणिका भाष्य—स च मोक्षो विद्यया बहिःसाक्षात्कारेणैवेत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यह मुक्ति विद्याके द्वारा बहिः साक्षात्कार अर्थात् चाक्षुषादि प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे होती है—यही कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—बहिःसाक्षात्कारेण चाक्षुषादिप्रत्यक्षेण।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'बहिः साक्षात्कारणेति'*—बाह्य चाक्षुष इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा।

सूत्र—दर्शनाच्च॥ ४९ ॥

सूत्रार्थ—'च' और 'दर्शनात्' मुण्डकोपनिषदमें बहिःसाक्षात्कारके द्वारा सर्वानर्थ निवृत्तिरूप मुक्ति देखी जाती है॥ ४९॥

सूत्रानुवाद—अनर्थ-निवृत्तिरूप मोक्ष विद्या द्वारा लभ्य ब्रह्म-साक्षात्कारसे ही होता है॥ ४९॥

गोविन्दभाष्य—*"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"* इति मुण्डके (मु॰ २/२/९) तेनैव तद्वीक्षणादित्यर्थः॥ ४९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'भिद्यते हृदयग्रन्थिः ... परावरे'* परावर अर्थात् नित्य मुक्तगण जिनके सेवक हैं, ऐसे पार्षदविशिष्टसे परिवेष्टित श्रीभगवान्‌का दर्शन करनेपर हृदयकी ग्रन्थि अर्थात् अहङ्कारका छेदन हो जाता है, समस्त प्रकारके संशयोंकी निवृत्ति हो जाती है और सञ्चित कर्मोंका भी क्षय हो जाता है। मुण्डकोपनिषदमें इन बाह्य-चाक्षुषादि प्रत्यक्ष प्रमाणोंके द्वारा सकल अनर्थ-निवृत्तिरूप मुक्तिका सन्धान पाया जाता है॥ ४९॥

सूक्ष्मा-टीका—दर्शनाच्चेति। परावरे इति। परे नित्यमुक्ता अवरे सेवका यस्य तस्मिन्। तैः पार्षदैर्विशिष्टै इत्यर्थः। तेनेति। बहिःसाक्षात्कारेणैव सर्वानर्थनिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य दर्शनादित्यर्थः। स च भक्तिभाजां भवतीति निर्णीतमपि संराधने इत्यत्र प्राक्। स्मृतन्तरञ्चास्ति। *"शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः, स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः। त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्"* (श्रीमद्भा॰ १/८/३६) इति। *"पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि। दिव्याणि रूपाणि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति"* (श्रीमद्भा॰ ३/२५/३५) इति चैवमादि॥ ४९॥

सूक्ष्मा-सार— *'दर्शनाचेति'*—सूत्रमें परावरे इस पदका अर्थ पर अर्थात् नित्यमुक्त व्यक्तिगण, अवर अर्थात् सेवक जिनके उस प्रकारके अर्थात् ऐसे पार्षदगण। पार्षदगणोंसे परिवेष्टित *'तेनैव तद्वीक्षणात्'* में 'तेनैव' का अर्थ है बहिःसाक्षात्कार द्वारा ही समस्त अर्थ निवृत्तिरूप मुक्तिका सन्धान पाया जाता है, यह अर्थ है। यह बहिःसाक्षात्कार भक्तिमानोंका होता है, यह निर्णीत होनेपर भी पूर्वमें *'संराधने'* (सेवामें) कहा गया है। इस विषयमें अन्य स्मृति-वाक्य भी है यथा श्रीमद्भागवतमें—*'शृण्वन्ति*

गायन्ति गृणन्त्य भीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः त एव पश्यन्तचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्' (१/८/३६), अर्थात् जो सब भक्त आपके तत्त्वका श्रवण करते हैं, आपका नाम गान करते हैं, निरन्तर आपका स्तव करते हैं, आपका स्मरण करते हैं, आपकी महिमाकी प्रशंसा करते हैं, वे ही शीघ्र ही संसार-धारा-निवर्त्तक आपके पादपद्मका दर्शन करते हैं। इसी प्रकार *'पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः वक्त्रारुणलोचनानि रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति'* (श्रीमद्भा॰ ३/२५/३५), अर्थात् हे माता! ये समस्त साधु मेरे प्रसन्नवदन-अरुणलोचन-विशिष्ट अभीष्ट वरप्रद दिव्यमूर्त्तिका दर्शन करते हैं और मुझसे अनेक वाञ्छनीय वाक्य भी कहते हैं। इसी प्रकार और भी उक्तियाँ धर्म-शास्त्रोंमें भी देखी जाती हैं॥ ४९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि भगवदुपासना रूप ब्रह्मविद्या द्वारा श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त हो जानेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है। यह मुण्डकोपनिषदमें देखा जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मु॰ २/२/९)

कार्य-कारणस्वरूप उन परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तमतत्त्वका दर्शन होनेपर अर्थात् तत्त्वज्ञानके साथ भजनके फलस्वरूप यथार्थ रूपमें उनका दर्शन होनेपर उस जीवकी अविद्याजनित हृदय-ग्रन्थि (समस्त कषाय) विनष्ट हो जाती है। जिस कारणसे इस जड़-शरीरमें आत्मबुद्धिरूप विवर्त्त था और ब्रह्म विषयक नानाविध संशय थे, वे समस्त ही छिन्न हो जाते हैं साथ ही उनके समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धनोंका क्षय हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/२१)

अर्थात् आत्माओंकी आत्मा भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सन्देहरूपी रज्जु विदीर्ण हो जाती है और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है।

इस श्लोकके अनुरूप ही श्रीमद्भागवतका श्लोक भी देखा जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३०)

अर्थात् आत्माओंकी आत्मा परमात्मा श्रीभगवान्‌के स्वरूप-साक्षात्कारके फलस्वरूप अर्थात् भगवत्-स्वरूपकी स्फूत्ति प्राप्त होते ही उस तत्त्ववेत्ताके अहङ्काररूप मनकी ग्रन्थि विनष्ट हो जाती है, असम्भावनादिरूप समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं और अनारब्ध फलसमूह (कर्मवासनाएँ) भी क्षयको प्राप्त होते हैं।

श्रीमध्वभाष्य भी है—

'न केवलं विद्यया किन्तु अपरोक्षज्ञानेनैव च। सर्वान् परो माययायं निमीते दृष्ट्वैव तु मुच्यते नापरेणेति कौषिकश्रुतेः।'

अर्थात् पूर्वसूत्रमें ब्रह्मविद्या ही मोक्षका साधन है—यह प्रतिपादित किया गया था। अब जिज्ञास्य यह है कि यदि ब्रह्मविद्या ही मोक्षका साधन है तो ध्यान और उपासनाका प्रयोजन क्या? इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—केवल विद्यासे ही मोक्ष होता है, ऐसा नहीं है। ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान भी मोक्षका साधन है। अतएव अपरोक्ष ज्ञानके लिए ध्यान करना होता हैं कौषिक-श्रुतिमें उल्लेख है कि परमेश्वर माया द्वारा सबकी सृष्टि करते हैं। उनका दर्शन (साक्षात्कार) करनेसे सब लोग मुक्त हो सकते हैं—किसी अन्य कारणसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। विशेष रूपसे उपासनाके बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता—इसलिए उपासना अवश्य करनी चाहिये। किसी-किसी भाष्यकारने इन दोनों सूत्रोंको एकत्र भी निबद्ध किया हैं॥४९॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वेवं कर्मणा मुक्तिरिति ज्ञानकर्माभ्यां मुक्तिरिति च शास्त्रं विरुद्धं स्यात्। तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि यदि इसी प्रकारका सिद्धान्त है (कि विद्या ही मोक्षका हेतु है), तब कर्म द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति एवं मिलित ज्ञान-कर्म द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति ये तो शास्त्र-विरुद्ध हो पड़ेंगे—इस विषयपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वपक्षौ निराकुर्वन् व्याचष्टे नन्विति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—दोनों पूर्वपक्षका (कर्मवाद एवं समुच्चित ज्ञानकर्मवादका) निराकरण करते हुए 'ननु' इत्यादि वाक्य द्वारा व्याख्या करते हैं।

सूत्र—श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः॥५०॥

सूत्रार्थ—विद्या ही मुक्तिका कारण है, यह उक्ति शास्त्रके कर्मवाद और समुच्चित ज्ञानकर्मवाद द्वारा बाधित नहीं होती—किस कारणसे? 'श्रुत्यादि बलीयस्त्वाच्च' 'तमेव विदित्वा' इत्यादि अवधारण ज्ञापक श्रुतिके और लिङ्ग एवं युक्तिके प्राबल्यके कारणसे 'च' भी 'न बाधः' इसका बाध होना सम्भव नहीं है॥५०॥

सूत्रानुवाद—विद्यासे ही मुक्ति होती है। क्योंकि श्रुति बलीयसी है और 'तमेव विदित्वा' इत्यादि श्रुतिमें यही कहा है। अतः श्रुतिके लिङ्ग एवं युक्तिके प्राबल्यके कारण किसी बाधाकी सम्भावना नहीं है॥५०॥

गोविन्दभाष्य—न खलु विद्यैव मुक्तिहेतुरित्यस्य शास्त्रस्य ताभ्यां बाधः शक्यः। कुतः? श्रुत्यादीति। तमेव विदित्वेत्यादेः सावधारणायाः श्रुतेर्बलिष्ठत्वात्। आदिशब्दो लिङ्गयुक्ती संगृह्णाति। *"इन्द्रोऽश्वमेधाञ्चच्छतमिष्ट्वापि राजा ब्रह्माणमीड्यं समुवाचोपसन्नः। स कर्मभिर्न धनैर्नापि चान्यैः। पश्येत् सुखं तेन तत्त्वं ब्रवीहि"* इति लिङ्गं *"नास्त्यकृतः कृतेन"* इति युक्तिश्च। शेषत्वादित्यादिषट्सूत्री तु सूत्रकृद्भिरेव प्रत्याख्यास्यते। अधिकोपदेशात् त्वित्यादिभिः। विद्यया सर्वकर्मनिर्मूल-निरूपकवाक्यसंग्रहाय च-शब्दः। तं विद्येत्यादिश्रुतिस्तु तैरेव समाधास्यते। विभागः शतवदिति। तस्मात् विद्यैव मोक्षहेतुरिति स्थिरम्॥५०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—विद्या ही मुक्तिका कारण है—इस शास्त्र (वाक्य) का कर्मके द्वारा और ज्ञान-कर्मके समुच्चयके द्वारा बाधित होना सम्भव नहीं है। इसका कारण इन श्रुति इत्यादि की बलवत्ता होना

है; *'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति'* (उन्हें जाननेसे ही मुक्ति होती है) इत्यादि श्रुति अवधारणार्थक (निश्चयार्थक) है अर्थात् इतरव्यवच्छेदार्थक 'एव' शब्दके साथ उक्त होनेके कारण अति बलीयसी है तथा आदि शब्दसे लिङ्ग और युक्तिके समुच्चयकी बलवत्ता ज्ञापित होती है। लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक अथवा अनुमापकका हेतु—यथा—*'इन्द्रोऽश्वमेधान् शतमिष्ट्वापि'* (इन्द्रने एकशत यज्ञका अनुष्ठान किया) इत्यादि। शत अश्वमेधयज्ञ करके इन्द्र चाहे देवराज हो गये हों किन्तु उन्हें अक्षय सुख प्राप्त न हो सका। इसलिए वे पूजनीय ब्रह्माजीके पास पहुँचे और कहा, 'न तो कर्म द्वारा सुखानुभूति हो रही है और न ही धनके द्वारा। यह सुख किसी और उपायसे भी दिखायी नहीं देता। अतएव इस सुख-हेतु कोई तत्त्व बताइये।' इन्द्रकी इस उक्तिसे यह प्रमाण (लिङ्ग) प्राप्त होता है कि कर्मसे मुक्तिजनकत्व अर्थात् मुक्तिकी सम्भावना नहीं है और युक्ति भी यही है कि कर्मसे मुक्ति अलभ्य है अर्थात् कर्म द्वारा मुक्ति हो नहीं सकती। तब जो *'शेषत्वादि'* इत्यादि छह सूत्र कर्मका मुक्तिके हेतु रूपमें प्रतिपादन कर रहे हैं, उसका सूत्रकार स्वयं ही *'अधिकोपदेशात् तु'* इत्यादि दो सूत्रोंसे प्रत्याख्यान (निषेध) करेंगे। अर्थात् कर्मका निरसन करेंगे। सूत्रोक्त 'च' शब्द 'विद्या द्वारा समस्त कर्मोंके सम्पूर्ण रूपसे ध्वंसबोधक' (विद्यासे ही समस्त कर्म निर्मूल होते हैं) वाक्यका संग्राहक है। *'तं विद्या'* इत्यादि श्रुतिका भी समाधान सूत्रकारके द्वारा *'विभागः शतवदित्यादि'* सूत्र द्वारा किया जायेगा। अतएव सिद्धान्त यह है कि विद्या (ज्ञान) ही मुक्तिका हेतु है, अन्य कुछ नहीं। यही सिद्धान्त स्थिर हुआ है॥५०॥

सूक्ष्मा-टीका—श्रुत्यादीति। ताभ्यामिति पूर्वपक्षिवचनाभ्यामित्यर्थः। इन्द्र इति। अत्र शताश्वमेधयाजिनोऽपीन्द्रस्याक्षयसुखं नाभूदतस्तादृक्सूखहेतुं तत्त्वं पृच्छतीति ब्रह्मविद्याया मोक्षैकहेतुतां ज्ञापयतीति तस्यास्तथात्वे लिङ्गमेतत्। नास्तीति। अकृतकृतत्वात् कृतलभ्यः स नेति युक्तिश्च। शेषत्वादीति। कर्मणां विद्याङ्गत्वनिर्णयात् कर्मैव मुक्तिहेतुरिति निरस्तम्। विद्यया सर्वेति। भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादि वाक्याच्च तस्यास्तथात्वमित्यर्थः। तं विद्येति। तमेव विदित्वेत्येवकारश्रुत्या तं विद्येति लिङ्गस्य बाधात् विभागः शतवदिति शास्त्रकृतां समाधानम्॥५०॥

सूक्ष्मा-सार—श्रुत्यादीति सूत्रमें *'शास्त्रस्य ताभ्यां बाधः'* इति में 'ताभ्याम्' का अर्थ है—उन दोनों द्वारा अर्थात् पूर्वपक्षी द्वारा प्रदर्शित दोनों वचन द्वारा। *'इन्द्रोऽश्वमेधाञ्च्छतमित्यादि'*—इस उपाख्यानमें वर्णित है कि इन्द्रने सौ अश्वमेधयज्ञ किये तो भी उन्हें अक्षय सुख हुआ नहीं, इसलिए उस अक्षय सुखके हेतुभूत उन्होंने तत्त्व-जिज्ञासा की; यह ब्रह्मविद्याकी एकमात्र मुक्तिहेतुता बतायी गयी है अर्थात् यह ब्रह्मविद्याकी मुक्तिहेतुताका ज्ञापक है। *'नास्त्यकृतः कृतेनेति'* में कृत अर्थात् कर्म द्वारा यह मुक्ति प्राप्य नहीं है, इसलिए यह कृतलभ्य नहीं है, यह युक्ति भी इसमें प्रमाण है। *'शेषत्वादित्यादि षट्-सूत्री तु'* इत्यादि-वैदिक कर्म ब्रह्मविद्याका अङ्ग है, यह निर्णीत होनेके कारण कर्म ही मुक्तिका कारण है—यह वाद खण्डित हुआ। बात यह है कि कर्म ब्रह्मविद्याका अङ्ग है, मुक्तिका साक्षात् कारण ब्रह्मविद्या है। *'विद्ययासर्वकर्मनिर्मूलेति'*—*'भिद्यते हृदयग्रन्थिः'* इत्यादि वाक्योंसे भी जाना जा सकता है कि ब्रह्मविद्याका मुक्ति-कारणत्व है—यह तात्पर्य है। *'तं विद्येति श्रुतिस्तु'* इत्यादि—*'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'* इत्यादि श्रुतिमें विद्यमान 'एव' शब्द द्वारा *'तं विद्याकर्मणी'* इत्यादि ज्ञापककी प्रतिबन्धकता है—इसलिए *'विभागः शतवत्'* इस प्रकारसे सूत्रकारका समाधान है॥ ५०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब कोई यदि आपत्ति उत्थापन करे कि इस प्रकार सिद्धान्त स्थिरीकृत होनेपर शास्त्रमें कहीं कर्मको मुक्तिका हेतु और कहीं कर्म और ज्ञानको मिलित रूपसे मुक्तिका हेतु कह रहे हैं तो इस विरुद्ध-शास्त्रका समाधान किस प्रकार होगा? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीगुरु-कृपालब्ध श्रीभगवदुपासनारूप विद्या ही मुक्तिका कारण है—यह सिद्धान्त पूर्वोक्त अन्यान्य शास्त्र-वाक्योंके द्वारा बाधित नहीं हो सकता क्योंकि *'तमेव विदित्वा'* श्रुति सावधारणा अर्थात् 'एव' शब्द द्वारा निश्चयात्मक वाक्यका प्रयोग करती है, इससे इस श्रुतिका विचार बलिष्ठ हो जाता है। दूसरी बात यह है कि सूत्रोक्त आदि पदके द्वारा भी लिङ्ग और युक्ति संगृहीत हैं। भाष्यकारने इस विषयपर विस्तारपूर्वक आलोचना भाष्य और टीकामें की है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्‌के वाक्यमें पाया जाता है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/२०)

अर्थात् हे उद्धव! मेरी दिनों-दिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी भक्ति जिस प्रकार मुझे वशीभूत करती है, योग, सांख्य, धर्म, वेद-पाठ, तपस्या अथवा दान-क्रिया आदि मुझे उतना वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हैं।

श्रीसनत्कुमारके वाक्यमें भी—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२२/३९)

अर्थात् भक्तलोग भगवान्‌के चरणकमलोंके अंगुलियोंकी छिटकती हुई छटाका भक्तिपूर्वक स्मरण करते हुए जिस प्रकार कर्म-वासनाओंसे गठित हृदय-ग्रन्थिका अनायास ही छेदन कर डालते हैं, भक्तिसे रहित निर्विषयी योगी इन्द्रियोंको संयतकर भी इस प्रकार छेदनेमें समर्थ नहीं हो पाते। अतः इन्द्रिय-निग्रहादिकी चेष्टाका परित्याग करके सर्वप्रिय भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये।

श्रीभगवान् विष्णुने पृथुसे भी यही कहा है—

नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभिर्योगेन वा यत् समचित्तवर्ती।

(श्रीमद्भा॰ ४/२०/१६)

अर्थात् मैं समचित्तवाले व्यक्तियोंके ही अनुभवका विषय हुआ करता हूँ। यज्ञ, तपस्या अथवा योगके द्वारा मैं कभी भी सहज रूपसे प्राप्त नहीं होता हूँ।

श्रीप्रह्लादजीने भी कहा है—

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।

(श्रीमद्भा॰ ७/७/५२)

अर्थात् भगवान् केवल निष्काम प्रेमभक्तिसे प्रसन्न होते हैं—और सब तो विडम्बनामात्र है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

ज्ञान-कर्म-योग-धर्मे नहे कृष्ण वश।
कृष्णवश-हेतु एक-कृष्ण प्रेमरस॥

(चै॰च॰आ॰ १७/७५)

अर्थात् ज्ञान-कर्म-योग-धर्म इत्यादि साधन श्रीकृष्णको वशीभूत नहीं कर सकते। श्रीकृष्णके वशीभूत होनेका एकमात्र कारण कृष्ण-प्रेमरस है।

और भी,

ऐछे शास्त्र कहे—कर्म-ज्ञान-योग त्यजि।
भक्त्या कृष्ण वश हय, भक्त्या ताँरे भजि॥

(चै॰च॰म॰ २०/१७६)

अतएव वेद-शास्त्र यही कहते हैं कि कर्म, ज्ञान और योगका त्याग करके भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णकी सेवा करो। श्रीकृष्ण भक्तिके ही वशीभूत होते हैं एवं भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी देखा जाता है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

(श्रीगी॰ ९/२२)

अर्थात् किन्तु हे पार्थ! वे परमपुरुष एकमात्र अनन्याभक्ति द्वारा ही प्राप्तव्य हैं।

श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

भक्ति बिना कोन साधन दिते नारे फल।
सब फल देय भक्ति स्वतन्त्र प्रबल॥

(चै॰च॰म॰ २४/८७)

अर्थात् कर्म, ज्ञान इत्यादि जितने भी साधन हैं, भक्तिकी सहायताके बिना वे अपना फल प्रदान नहीं कर सकते। भक्ति बड़ी प्रबल और स्वतन्त्र है। यही सभी साधनोंका फल देनेवाली है।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार है—

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान अथवा पाठक्रम, समाख्या अर्थात् यौगिक शक्ति—इनका परस्पर एक ही विषयपर विवाद उपस्थित होनेपर इनमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा पर-पर दुर्बल होता है। इस नियमसे प्रकरणकी अपेक्षा भी श्रुतिकी बलवत्ताके कारण क्रियामय यज्ञके प्रकरणके द्वारा साक्षात् श्रुति-कथित मनश्चिंतादिका (मानस चिन्तनका) विद्यारूपत्व कभी बाधित नहीं हो सकता। इस स्थलपर सूत्रके 'आदि' शब्दसे लिङ्ग और 'वाक्य' रूप दोनों हेतुओंको ग्रहण करना चाहिये। क्रियामय यज्ञ मानस चिन्तनका स्थान नहीं ले सकते।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

सावधारणा बलवती श्रुतिः। इन्द्रोश्वमेधान् शतमिष्ट्वापि राजा ब्रह्माणमीड्यं तमुवाचोपसन्नः 'न कर्मभिर्नधनैर्नैव चान्यैः पश्येत् सुखं तेन तत्त्वं ब्रवीही' ति च बलवल्लिङ्गम्। नास्त्यकृतः कृतेन (मु॰ १/२/१२) *इत्युपपत्तिश्च। कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते। तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः इति च युक्तिमद् भगवद् वचनम्। अतो न प्रमाणान्तरबाधः कर्मणव* (श्रीगी॰ ३/२०) *इत्ययोग व्यवच्छेदः॥*

अर्थात् भगवत्-उपासनाके द्वारा ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष होता है। यही प्रतिपादन किया जा रहा है नहीं तो उपासना ही व्यर्थ हो जायेगी। सबसे पहले सन्देह यह है कि मोक्ष क्या ज्ञानगम्य है? अथवा कर्मसाध्य? इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं कि ज्ञानसे ही मोक्ष साध्य होता है, कर्म द्वारा नहीं। मोक्षकी साधनामें श्रुति ज्ञानको प्रमाणित करती है। स्मृति एवं श्रुति इन दोनोंमें श्रुतिका प्रमाण (निर्धारण) ही बलवत् है। अतएव श्रुति-प्रमाणसे कर्मकी साधनताका प्रतिपादक स्मृति-प्रमाण भी बाधित होता है। इन्द्रने शत अश्वमेधयज्ञ करके भी ब्रह्माजीसे कहा कि कर्म, धन अथवा अन्य किसी भी कारणसे प्रकृत (वास्तविक) सुख प्राप्त नहीं होता है। अतएव तत्त्वका उपदेश दीजिये। विशेष रूपसे कर्म द्वारा जन्तुगण बद्ध होते हैं और विद्या द्वारा मुक्त होते हैं। अतएव पारदर्शी यति कर्म नहीं करते। इस युक्तिपूर्ण भगवत्-वचनमें (भगवत्-निर्धारण) भी कर्म द्वारा ज्ञान साधनता नहीं है—यह जाना जाता है, कर्म ब्रह्मविद्याका अङ्ग हो

सकता है, किन्तु मुक्तिका साक्षात् कारण तो ब्रह्मविद्या है। किसी भी प्रमाणसे यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि कर्मसे मोक्ष होता है॥ ५०॥

अवतरणिका भाष्य—अथ सद्गम्यत्वं गुणमुपसंहरति। *"अतिथिदेवो भव"* (तै॰ १/११/२) इति तैत्तिरीयके श्रुतम्। तत्र संशयः। सदुपासनं मोचकं न वेति। गुरुप्रसादसहितादीशोपासनादेव मोक्षसम्भवादलं सदुपासनेनेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद साधुसङ्ग द्वारा भगवत्-प्राप्ति रूप गुणका उपसंहार करते हैं—तैत्तिरीयकोपनिषदमें श्रुत है—*'अतिथि देवो भव'* अर्थात् हरिभक्तगणोंकी देवताके समान पूजा (सम्मान) करे। इस वाक्यमें संशय यह है कि साधुसेवा मुक्तिका कारण होगी? या नहीं होगी? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि गुरुके अनुग्रहके सहयोगसे ईश्वरकी उपासना करनेसे जब मुक्ति सम्भव है तब और साधुसेवासे क्या प्रयोजन है? इसके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ सद्गम्यत्वमिति। ब्रह्मोपासने गुरुगम्यत्वमस्तुप-संहार्यं गुरुदत्तेनैवोपासनेन मोक्षस्य भावित्वात् सद्गम्यत्वं तूपसंहार्यं मास्तु तेन फलानतिरेकात् तस्य दुष्करत्वाच्चेति प्रत्युदाहरणं सङ्गतिः। प्राग्वदाक्षेपसङ्गतिर्वेत्यन्ये। अतिथिदेव इति। अतिथयो हरिभक्ता देवाविष्टत्वात् देवास्तद्वत् पूज्या यस्य स त्वं तादृशो भवेति शिक्षा। मुण्डके (३/१/१०) चैवं पठ्यते। *"तस्मादात्मज्ञंह्यर्च-येद्भूतिकामः"* इति। आत्मज्ञं भगवत्तत्त्वज्ञं तद्भक्तमित्यर्थः। भूतिकामो मोक्षपर्यन्त-सम्पत्तिलिप्सुरित्यर्थः। तत्रेति। सदुपासनं सद्भक्तिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'अथ सद्गम्यत्वमित्यादि'* भाष्यमें आपत्ति यह है कि परमेश्वरकी उपासनामें गुरुसेवा आश्रयणीय हो, क्योंकि गुरुबोधित उपासना द्वारा ही मोक्ष होता है किन्तु साधुसेवा भी तद्वत् (उसी प्रकारसे) ग्रहणीय है, ऐसा नहीं होना चाहिये क्योंकि उसके द्वारा और अतिरिक्त फल कुछ उत्पन्न नहीं होता, साथ ही साधुका सन्तोष-विधान भी दुष्कर है—यह प्रत्युदाहरण इस अधिकरणकी सङ्गति है। अथवा दूसरोंके मतमें पूर्वाधिकरणके समान इसमें भी आक्षेप-सङ्गति हैं *'अतिथि देवो भवेति'* अतिथि अर्थात् हरिभक्तोंकी देवताके समान पूजा करे क्योंकि वे भगवान् द्वारा आविष्ट हैं अतएव वे देवता हैं। देवताओंके समान हरिभक्तगण पूज्य हैं जिनके, इस

प्रकारके तुम बनो, यह एक उपदेश है। मुण्डकोपनिषदमें भी इस प्रकार पढ़ा जाता है यथा *'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः'* (मु॰ ३/१/१०) (अतएव विभूतिकाम एवं सकाम उपासकोंको भी इसी तरह आत्मविद् गुरुका आश्रय करना चाहिये) श्रेयकाम व्यक्ति आत्मज्ञ अर्थात् भगवत्-तत्त्वज्ञ भगवत्-भक्तको यह अर्थ है। भूतिकामः—मोक्षपर्यन्त साधन करनेका इच्छुक होकर पूजा करे, 'तत्रेति'—सदुपासनं—साधुओंमें भक्ति।

अनुबन्धाद्यधिकरणम्

सूत्र—अनुबन्धादिभ्यः॥ ५१ ॥

सूत्रार्थ—'अनुबन्धादिभ्यः' अनुबन्ध अर्थात् आग्रहके साथ महत् पुरुषोंकी सेवा, आदि पदसे ग्राह्य भगवत्-तीर्थ सेवा और अन्य देवताओंकी निन्दाका परित्याग—इस सबसे ही मुक्ति होगी॥ ५१ ॥

सूत्रानुवाद—महत्की उपासना निर्बन्ध अर्थात् अनुबन्ध है—उनकी तथा भगवत्-तीर्थोंकी सेवामें आग्रहसे मुक्ति होती है॥ ५१ ॥

गोविन्दभाष्य—अनुबन्धो महदुपासनानिर्बन्धः। देवभावेन तदुपासनमित्यर्थः। तस्माच्च तदनुग्रहान्मोक्षः। इतरथेत्थनं न ब्रूयात्। स्मरन्ति चैवं तत्त्वविदः। *"रहूगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्"* (श्रीमद्भा॰ ५/१२/१२) इत्यादिभिः। आह चैवं श्रीभगवान्—*"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा। व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्"* (श्रीमद्भा॰ ११/१२/१-२) इत्यादिभिः। अत्र स्वयं स्वतत्त्वमुपदिश्यापि सत्सङ्गमादिशतीति तस्यान्तरङ्गसाधनतां बोधयति। आदिशब्दात् तत्तीर्थसेवातदन्यनिन्दापरित्यागश्च ग्राह्यौ। *"शुश्रुषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः। स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्"* (श्रीमद्भा॰ १/२/१६)। *"हरिरेव सदाराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः। इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेया कदाचन"* इत्यादि स्मृतिभ्यः। अत्राहुः। देशिकसत्प्रसङ्गस्यापीशहेतुकत्वात् तदनुग्रह एव मोचकोऽस्तु। शुभादृष्टं तु न तत्प्रसङ्गहेतुः तस्यापि तद्धेतुकत्वात्। सर्वा च प्रवृत्तिरीशहेतुकेति *"परात् तु तच्छ्रुतेः"* इत्यनेन निर्णीतम्। तस्माद्देशिकाद्यनुग्रहस्यापि मुक्तिकारणत्वकल्पनमयुक्तमिति। अत्रोच्यते। यद्यपि देशिकादेरनुग्रहेऽपीशहेतुकत्वं सम्भाव्यं तथापि तस्यापि तत्र हेतुता मन्तव्या। कृतप्रयत्नापेक्षस्त्वित्यादिसूत्रनिर्णयात्। किञ्च स्वभक्तवश्येन हरिणा

स्वानुग्रहशक्तिः प्रायेण तेभ्यो दत्तास्ति अतस्तेषामेव तत्र स्वातन्त्र्यम्। तैरनुगृहीते तु जने सोऽपि तमनुप्रवर्त्तयतीति सर्वाणि वाक्यानि सास्पदानि स्युर्वैषम्याद्यपनयश्चेति॥ ५१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अनुबन्ध शब्दका अर्थ है—निर्बन्धके साथ महत्‌की उपासना अर्थात् देवताओंकी उपासनामें आग्रह। इसीसे उनका अनुग्रह प्राप्त होता है और इसी अनुग्रहसे मुक्ति होती है। सद्‌गुरुकी उपासना यदि मुक्तिका कारण न होती, तब श्रुति भी इस प्रकारका उपदेश न करती। तत्त्वविद्‌गण इस प्रकारसे स्मरण भी करते हैं यथा—श्रीमद्भागवतमें राजा रहूगणके प्रति भरतजीकी उक्ति है—*'रहूगणैतदित्यादि'* (श्रीमद्भा॰ ५/१२/१२)—हे रहूगण! यह परतत्त्व विज्ञान तपस्या द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता और न ही यज्ञके द्वारा यह प्राप्त हो सकता है, संन्यासके द्वारा, गार्हस्थ्यके द्वारा अर्थात् अन्नादिके वितरण द्वारा अथवा गृहस्थके निमित्त उपकार साधनसे भी यह प्राप्त नहीं है। यह वेदाभ्यास (वेदाध्ययन) द्वारा, जल, अग्नि और सूर्य इनकी भी उपासनासे प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु महापुरुषोंके (साधुओंके) पादपद्मपरागके अभिषेकसे इसकी प्राप्ति होती है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे यह प्राप्त नहीं है। श्रीभगवान्‌ने उद्धवजीसे भी इसी प्रकार कहा है—अहो उद्धव! अष्टाङ्गयोग, तत्त्वविवेक, अहिंसादि धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन, कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपस्या, संन्यास, इष्टापूर्त्तादि, दक्षिणा अर्थात् दान, उपवासादि व्रत, देवार्चन, रहस्य मन्त्रजप, तीर्थसेवा, यम, नियम ये सब मुझे वशमें नहीं कर सकते, जैसे कि साधुसङ्ग मुझे वशीभूत कर लेता है। यह साधुसङ्ग अन्य समस्त सङ्गोंका प्रतिरोधक है। इस प्रसङ्गमें श्रीभगवान्‌ने निज तत्त्वका उपदेश करके भी सत्सङ्गका उपदेश किया है। अतः यह सत्सङ्ग अन्तरङ्ग साधन है—यह ज्ञात होता है। सूत्रोक्त आदि पदसे भगवत्-तीर्थ सेवा और दूसरोंकी निन्दाका परित्याग—ये दोनों ग्राह्य हैं। पुण्यतीर्थ सेवा भी करणीय है—इसका प्रमाण है—जो भगवत्तत्त्व सुनना चाहते हैं, जो भगवत्तत्त्वमें विश्वास रखते हैं, ऐसे ही व्यक्तियोंकी भगवत्-कथा श्रवणमें रुचि होती है—हे विप्रगण! महापुरुषोंकी सेवा और पवित्र तीर्थसेवासे यह भगवत्-रुचि उत्पन्न होती है। पुनः दूसरे

देवताओंकी निन्दा-त्यागका भी जो प्रयोजन है—यह भी पद्मपुराणादि धर्म-शास्त्रोंमें प्राप्त होता है। यथा—श्रीहरिकी सर्वदा आराधना करें क्योंकि वे ही समस्त—देवताओं—ईश्वरोंके ईश्वर हैं, इसी प्रकारसे अन्य ब्रह्मा, रुद्र इत्यादि देवताओंकी कभी अवज्ञा नहीं करें। इस विषयमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब आचार्यका (अध्यात्म गुरुका) सत्सङ्ग भी भगवान्के अनुग्रहसे होता है, तब मात्र ईश्वरके अनुग्रहको ही मुक्तिका कारण माना जाय, शुभादृष्ट और सत्सङ्गको कारण किसलिए कहें? शुभादृष्ट भी तो ईश्वरके अनुग्रहाधीन है। मात्र इतना ही नहीं, समस्त चेष्टाएँ (प्रवृत्ति) ही ईश्वराधीन हैं यह *'परात्तुतत् श्रुतेः'* (ब्र॰सू॰ २/३/३९) में निरूपित है। अतएव देशिकादि अर्थात् आचार्य इत्यादिके अनुग्रहको मुक्तिकी कारणताके रूपमें कल्पना करना अयौक्तिक है। पूर्वपक्षीकी इस उक्तिपर सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि आचार्य इत्यादिके अनुग्रहकी भी ईश्वराधीन रूपमें सम्भावना की जाती है, तो भी आचार्यके अनुग्रहको (गुरुप्रसादादिको) ही मुक्तिका कारण मानना होगा। *'कृत प्रयत्नापेक्षस्तु'* (ब्र॰सू॰ २/३/४०) इत्यादि सूत्रमें यह निर्णित हुआ है। और भी एक कारण है, भगवान् श्रीहरि अपने भक्तोंके वशमें रहकर आचार्यादि अपने भक्तगणोंमें अपनी अनुग्रहशक्तिको एक तरह-से प्रदान ही कर देते हैं। अतएव अनुग्रह विषयमें आचार्योंकी स्वाधीनता ही स्वीकार्य है। जो हरिभक्त-आचार्यगण मनुष्योंको अनुग्रहीत करते हैं, श्रीहरि ही उस अनुग्रहके प्रवर्त्तक हैं। इस प्रकारसे समस्त वाक्योंका समाधान और असङ्गतियोंका दूरीकरण हो गया है॥५१॥

सूक्ष्मा-टीका—अनुबन्धादीति। इतरथेति। सदुपासनं चेन्मोचकं न स्यात् तर्हि देवभावेन श्रुतिस्तन्नोपदिशेदित्यर्थः। रहूगणेति श्रीभागवते। हे रहूगण! एतत् परतत्त्वविज्ञानं तपसा न याति न लभ्यते पुरुषः इज्यया वैदिककर्मणा निर्वपणादन्नादिविभागेन गृहाद्वा तन्निमित्तोपकारेण छन्दसा वेदाभ्यासेन जलादिभिरुपासितैः। तर्हि केन यातीत्यत्राह विनेति। सदैकान्तभक्त्यैव यातीत्यर्थः। न रोधयतीति च तत्रैव योगोऽष्टाङ्गः, सांख्यं तत्त्वविवेकः, धर्मः साधारणोऽहिंसादिः, स्वाध्यायो वेदजपः, तपः कृच्छ्र चान्द्रायणादि, त्यागः संन्यासः। इष्टापूर्त्तमिति। इष्टमग्निहोत्रादि पूर्त्तं कूपारामादिनिर्माणमित्यर्थः। दक्षिणाशब्देन सामान्यतो दानं लक्ष्यते। व्रतानि हरिवासरोपवासादीनि। यज्ञो देवार्च्चनम्। छन्दांसि रहस्यमन्त्राः। रोधयत्यवरुन्धे

इत्युभयत्र वशीकरोतीत्यर्थः। इतिहाससमुच्चये—*"तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत्। प्रसादसुमुखो विष्णुस्तनैव स्यान्न संशयः"* इति। शाण्डिल्यस्मृतौ च। *"सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युतसेविनाम्। न संशयोऽत्र तद्भक्तपरिचर्यारतात्मनाम्। केवलं भगवत्पादसेवया विमलं मनः। न जायते यथा नित्यं तद्भक्तचरणार्च्चनात्"* इति। अत्रेति। स्वयं श्रीहरिः। तस्य सत्सङ्गस्य। शुश्रुयोरिति श्रीभागवते। पुण्यतीर्थेति प्रायस्तीर्थे सन्तो मिलस्तीत्यभिप्रायः। हरिरेवेति पाद्मे। अत्राहुरिति। तदनुग्रह ईशानुग्रहः। तस्यापीति। शुभादृष्टस्यापीशहेतुकत्वादित्यर्थः। तस्यापि तत्रेति। तस्य देशिकादेरपि तत्र स्वानुग्रहे हेतुता स्वीकार्या। कृतप्रयत्नेति सूत्रेण तत्र कर्त्तृत्वस्थापनादित्यर्थः। तेभ्यो देशिकादिभ्यो निजभक्तेभ्यः। तत्रानुग्रहक्रियायाम्। तैर्देशिकादिभिः। सोऽपि हरिरपि। तमनुग्रहम्। सास्पदानि सविषयाणि सार्थकानीति यावत्। वैषम्येति। हरौ वैषम्यनैघृण्यपरिहारश्च स्यादित्यर्थः॥ ५१॥

सूक्ष्मा-सार— *'अनुबन्धादिभ्यः'*—इस सूत्रमें। इतरथेति भाष्यमें—इतरथा अर्थात् यदि सदुपासना मुक्तिका कारण न होती तब देवरूपमें उसकी उपासनाके लिए जो श्रुति है—*'अतिथि देवो भवेति'* वाक्यमें वह (साधुसेवा करनेका) उपदेश करते नहीं। *'रहूगणैतत्'* इत्यादि वाक्य श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। इसका अर्थ है—हे रहूगण! 'एतत्'—यह परतत्त्व-विज्ञान तपस्या द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता। 'इज्या'—वैदिक कर्म द्वारा भी यह लभ्य नहीं है, अन्नादि-विभाग (वितरण) द्वारा भी नहीं है, गृह-निमित्त उपकार द्वारा, वेदाभ्यास द्वारा, जल इत्यादिकी उपासना द्वारा भी प्राप्य नहीं है। तब किस उपायसे वे प्राप्य हैं? साधुओंकी एकान्त भक्ति द्वारा ही वे प्राप्य हैं। *'न रोधयति च'* इत्यादि वाक्य भी श्रीमद्भागवत (११/२४/२०) में कहा गया है। 'योग'—अष्टाङ्ग, सांख्य—तत्त्व-विवेक, धर्म—साधारण जीवहिंसा-त्यागादि, स्वाध्याय—वेदपाठ, तपः—कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत, त्याग—संन्यास, इष्टापूर्त्त—इष्ट अर्थात् अग्निहोत्रादि नित्यहोम, पूर्त्त अर्थात् कूप, आराम (उपवन) इत्यादि का निर्माण। दक्षिणा शब्दसे साधारण रूपमें दान लक्षणीय है। व्रत—हरिवासरादिमें उपवास, यज्ञ—देवार्चन, छन्दः अर्थात् गुह्य मन्त्र जप। रोधयति वा अवरुन्धे—इन दोनोंका अर्थ है—वशमें करते हैं। इतिहास—समुच्चय ग्रन्थमें है—तस्मादित्यादि—अतएव विष्णुको प्रसन्न करनेके लिए वैष्णवोंको परितुष्ट करें। इसीसे विष्णु प्रसन्न होंगे—इसमें कोई सन्देह नहीं है। शाण्डिल्यस्मृतिमें भी है—श्रीहरि सेवकोंकी सिद्धि

होती है कि नहीं सन्देह रह सकता है किन्तु वैष्णवोंकी परिचर्यामें जो रत हैं, उनके सिद्धि-विषयमें सन्देहका कोई अवकाश नहीं है। केवल भगवत्-पाद-सेवा द्वारा इस प्रकारसे चित्त शुद्धि नहीं होती, जैसे हरिभक्तोंकी नित्य चरणसेवा द्वारा होती है। *'अत्र स्वयं स्वतत्त्वमित्यादि'*—स्वयं श्रीहरि निजका तत्त्व। *'तस्यान्तरङ्गसाधनतामिति'* में 'तस्य' अर्थात् साधुसङ्गका। *'शुश्रुषोः श्रद्धधानस्य'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवत (१/२/१६) का है। *'पुण्यतीर्थ निषेवणात्'*—यह कहनेका उद्देश्य है कि तीर्थोंमें प्रायः साधु मिल जाते हैं—इस कारण। *'हरिरेव सदाराध्यः'* इत्यादि श्लोक पद्मपुराणके अन्तर्गत है। *'अत्राहुः'*—*'देशिकसत्-प्रसङ्गस्यापि'*—इत्यादि *'तदनुग्रहः'*—ईश्वरका अनुग्रह। *'तस्यापि तद्धेतुकत्वात्'* इतिमें 'तस्य' से अर्थ है—उस शुभादृष्टका भी कारण ईश्वर-अनुग्रह है। *'तस्यापि तत्र हेतुता मन्तव्येति'* में 'तस्य' का अर्थ है आचार्यादिका भी; 'तत्र'—निज अनुग्रहमें ईश्वरका कारणत्व स्वीकरणीय है। *'कृत-प्रयत्नापेक्षस्तु'* इत्यादि सूत्र द्वारा देशिकादिके (अध्यात्म-गुरु आदिके) अनुग्रह-विषयमें ईश्वरका कर्त्तृत्व स्थापित होनेके कारण—यह अर्थ है। *'प्रायेण तेभ्यो दत्ताऽस्ति'* इतिमें 'तेभ्यः'—आचार्यादि निज-भक्तोंको ईश्वर द्वारा अनुग्रहशक्ति दी गयी है। *'तत्र स्वातन्त्र्यम्'* इतिमें 'तत्र' का अर्थ है—उस अनुग्रह-कार्यमें *'तैरनुगृहीते तु'* में 'तैः' का अर्थ है आचार्यादि द्वारा अनुगृहीत लोगोंके ऊपर। *'सोऽपि तमनुप्रेरयति इति'* में *'सोऽपि'*—वे श्रीहरि भी, 'तम्'—अनुग्रहको। *'वाक्यानि सास्पदानि'* इतिमें 'सास्पदानि' का अर्थ है सविषयक अर्थात् सार्थक्। *'वैषम्याद्यपनयश्चेति'*—हरि विषयमें पक्षपातिता और निर्दयत्वापत्तिका परिहार भी हो गया—यह अर्थ है॥ ५१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब साधुसङ्ग अथवा साधुसेवा द्वारा भगवत्-प्राप्तिका वर्णन आरम्भ करते हैं। यदि संशय है कि साधुसेवा द्वारा मुक्ति है कि नहीं? तो पूर्वपक्षी कहते हैं कि आग्रहके साथ श्रीगुरुदेवकी सेवाके साथ श्रीभगवान्‌की उपासनाके द्वारा ही मोक्ष सम्भव है, यह पहले भी स्थिर हुआ है। तब साधुसेवाका प्रयोजन ही क्या है? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि निर्बन्धके साथ सदुपासनाकी कर्त्तव्यताके विषयका श्रुति भी निर्देश करती है। इसलिए यह जो मोक्षका हेतु है—इस विषयमें कोई सन्देह रह नहीं सकता।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(श्रीमद्भा॰ ५/१२/१२)

अर्थात् हे राजा रहूगण! महाभागवतोंकी चरणरेणुसे अपनेको पूर्ण रूपसे अभिषिक्त किये बिना केवल ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदिसे अथवा जल, अग्नि एवं सूर्य इत्यादि देवताओंकी उपासनासे भगवत्-तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

श्रीभगवान् भी कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१२/१-२)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! समस्त प्रकारकी आसक्तियोंका विनाश करनेवाला साधुसङ्ग मुझे जिस प्रकारसे वशीभूत कर सकता है, अष्टाङ्गयोग, सांख्यज्ञान, अहिंसा आदि धर्म, स्वाध्याय, तप, इष्टापूर्त्त, दान, व्रत, यज्ञ, मन्त्र, तीर्थ, यम-नियम उस प्रकार मुझे वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हैं।

श्रीकपिलदेवने भी कहा है—

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२५/२४)

अर्थात् हे साध्वि! इन गुणोंसे युक्त इन महापुरुषोंकी धर्म, अर्थ काम और मोक्ष स्वरूप पुरुषार्थोंमें तनिक भी आसक्ति नहीं होती। ये महात्मा ही असत्-सङ्ग जनित दोषोंका हरण करनेमें समर्थ होते हैं।

अतः इस प्रकारके साधुओंके सङ्गके लिए ही आपको प्रार्थना करनी चाहिये।

प्रत्येक युगमें केवल सत्सङ्गसे ही श्रीभगवान्‌के पादपद्मकी प्राप्ति होती है—इसका भी दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना खगा मृगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥

विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगे युगे॥

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१२/३–६)

अर्थात् हे उद्धव! सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि, समस्त युगोंमें केवलमात्र सत्सङ्गके प्रभावसे ही रज, तम स्वभाववाले दैत्य-दानव, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्योंमें वैश्य, शुद्र, स्त्री, अन्त्यज, यहाँ तक कि वृत्रासुर, प्रह्लाद, आदि बहुत-से लोग, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, गजेन्द्र, जटायु पक्षी, तुलाधर वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ और यज्ञपत्नियाँ तथा दूसरे लोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे मुझे प्राप्त कर चुके हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

साधुसङ्गे कृष्णभक्त्ये श्रद्धा यदि हय।
भक्तिफल 'प्रेम' हय, संसार याय क्षय॥

महत्कृपा बिना कोन कर्मे भक्ति नय।
कृष्ण भक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥

'साधुसङ्ग', 'साधुसङ्ग'—सर्वशास्त्र कय।
लवमात्र साधुसङ्गे सर्वसिद्धि हय॥

(चै॰च॰म॰ २२/४९, ५१, ५४)

अर्थात् साधुसङ्गके फलस्वरूप यदि कृष्णभक्तिमें श्रद्धा हो जाय तभी जो भक्तिका फल प्रेम है—उसकी प्राप्ति होती है और भव-बन्धनका क्षय हो जाता है। हे सनातन! जब तक महत्कृपा न हो, तब तक किसी भी प्रकारसे भक्तिका उदय नहीं हो सकता। भक्तिका उदय तो बहुत दूरकी बात है, उसके संसारका भी क्षय नहीं होता। सभी शास्त्रोंका यही उपदेश है—साधुसङ्ग करो, साधुओंका सङ्ग करो। क्षणमात्रके लिए भी साधुसङ्ग प्राप्त हो जाय तो समस्त प्रकारकी सिद्धि अर्थात् सर्वोत्कृष्टतम कृष्णभक्ति प्राप्त हो जाती है।

श्रीप्रह्लाद महाराजके भी वचन हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/५/३२)

अर्थात् इन्द्रिय-तर्पणमें लगे हुए व्यक्ति जब तक निष्किञ्चन परमहंस महावैष्णवोंकी पदरजमें अभिषिक्त नहीं हो जाते, तब तक उनकी मति भगवान् उरुक्रमके पादपद्मोंका स्पर्श नहीं कर सकती। (इसलिए उनके अनर्थ और संसार-वासना भी दूर नहीं होते) विशेष रूपसे यह समझ लेना चाहिये कि भगवत्-चरणमें मतिका एकमात्र तात्पर्य है—अनर्थरूपी संसारकी निवृत्ति।

तथा निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥

(श्रीमद्भा॰ ५/५/२)

अर्थात् पण्डितोंकी उपासना दो प्रकारकी होती है—ब्रह्मोपासना एवं भगवदुपासना। इन पाण्डित्यपूर्ण महापुरुषोंकी सेवासे ब्रह्म-सायुज्यरूप मुक्ति और भक्तियुक्त भगवत्-पार्षदत्व साधनानुसार प्राप्त होता है। स्त्री-सङ्गियोंका सङ्ग नरकका द्वारस्वरूप बतलाया गया है। जो

समदर्शी, भगवान्में निष्ठायुक्त, क्रोधरहित, समस्त प्राणियोंके हितमें लगे हुए एवं किसीके दोषको नहीं देखते—तो वे ही महापुरुष हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

न केवलं श्रवणादिभिर्गुरुप्रसादेन च ब्रह्मदर्शनं किन्तु भक्त्यादिभिश्च। सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वतो विष्णुतत्परः। यद्गुरुः सुप्रसन्नः सन् दद्यातन्नान्यथा भवेत्। तथाप्यनादि संसिद्धभक्त्यादि गुणयोगतः। लभेद् गुरुप्रसादञ्च तस्मादेव च तद्भवेदिति। भक्तिर्विष्णौ गुरौ चैव गुरोर्नित्यप्रसन्नताम्। दद्याच्छमदमादींश्च तेन चैते गुणाः पुनः। तैः सवैर्दर्शनं विष्णोः श्रवणादिकृतं भवेदिति च नारायणतन्त्रे।

अर्थात् केवल गुरुके अनुग्रहसे श्रवणादि द्वारा ब्रह्म-दर्शन नहीं होता किन्तु भक्तिपूर्वक उपासना करनेसे ही मोक्ष-फलकी प्राप्ति हो सकती है। नारायणन्तन्त्रमें कहा है कि सर्वलक्षणसम्पन्न सर्वतोभावसे विष्णु तत्पर गुरु प्रसन्न होकर जो प्रदान करते हैं—वह अन्यथा नहीं हो सकता, फिर भी यदि अकृत्रिम भक्तिके साथ उन गुरुका अनुग्रह प्राप्त किया जाय, तब भी गुरु प्रदत्त उपदेशका फल मिलता ही है। विष्णुमें और गुरुमें अचला भक्ति रहनेसे ही गुरुके प्रसादकी प्राप्ति होती है। इसीसे ही शम दमादि गुण रहते हैं और इन शम दमादिके द्वारा ही विष्णु-दर्शन होता है। अतएव जाना जाता है कि भगवत्-भक्ति ही ज्ञान साधनका हेतु है।

निष्कर्षतः परमेश्वरकी उपासनामें गुरुसेवा आश्रयणीय है क्योंकि गुरुबोधित उपासनासे ही मोक्ष होता है किन्तु साधुसेवा भी उसी तरह ग्रहणीय है। *'अतिथि देवो भवति'* अतिथि अर्थात् हरिभक्तोंकी देवताओंके समान पूजा करें क्योंकि वे भगवान् द्वारा आविष्ट हैं, इसलिए वे देवता हैं। मुण्डकोपनिषदमें भी इसी प्रकार पढ़ा जाता है यथा—

तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।

(मु॰ ३/१/१०)

अर्थात् अतएव विभूतिकाम एवं सकाम उपासकोंको भी इसी तरह आत्मविद् गुरुका आश्रय करना चाहिये। (जो गुरु तत्त्वज्ञानके बलपर

सत्यसङ्कल्प और निर्मल-अन्तःकरणसे युक्त हैं—पाद-संवाहन-शुश्रुषादि द्वारा उन्हें प्रसन्न करना चाहिये) पुण्य-तीर्थ निषेवणसे तात्पर्य है कि साधुगण प्रायः तीर्थोंमें मिल जाया करते हैं॥५१॥

अवतरणिका भाष्य—यथा क्रतुरित्यादिश्रुतौ संशयः। इदं ब्रह्मोपासनं देशिकाद्युपास्तिसहितं स्वतारतम्यात् फलतारतम्यहेतुर्भवेन्न वेति। *"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"* (मु॰ ३/१/३) इत्यादौ विशेषाश्रवणात् न तद्धेतुर्भवेत्। न हि नानाविधैर्वर्त्मभिरुपेयं नगरं तदुपेतृभिर्वैविध्येन दृष्टमिति शक्यं वक्तुमित्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'यथा क्रतुः'* इत्यादि श्रुतिमें संशय उत्थापित होता है यथा आचार्य साधुपुरुषकी उपासनाके साथ यह ब्रह्मोपासना अनुष्ठित होनेपर निजकी ब्रह्मोपासनाके तारतम्यके अनुसार क्या फलका भी तारतम्य उत्पन्न होगा? अथवा नहीं होगा? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—*'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (विशुद्ध होकर परम साम्यको प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुतिमें जब विशेष (पृथक्) फलकी बात श्रुत नहीं होती, तब फलगत तारतम्यका हेतु नहीं रहेगा अर्थात् तारतम्य सम्भव नहीं है। दृष्टान्त यह है कि—नाना प्रकारके पथों (मार्गों) द्वारा किसी गन्तव्य नगरमें गमन करनेवालोंके विविध पथके अनुसार जानेपर नगरमें उपस्थितिका तारतम्य घटित होता है—यह जिस प्रकार कहा नहीं जा सकता (गन्तव्य नगर एक ही है) इसी प्रकार यहाँ भी ब्रह्म-प्राप्तिरूप फलका तारतम्य घटित नहीं हो सकता—पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—गुरुसत्कृपावती हरिभक्तिर्मोचिकेत्युक्तं प्राक्। तामाश्रित्य तस्याः फलवैषम्यं चिन्त्यमित्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। यथेत्यादि स्पष्टम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले ही कहा गया था कि गुरु और साधुपुरुषकी कृपासे समन्वित हरिभक्ति मुक्तिका कारण है, उन्हें (गुरु एवं साधु कृपाको) अवलम्बन करके हरिभक्तिके फलका तारतम्य विचारणीय है—इस प्रकार आश्रयाश्रयिभाव सङ्गति है। *'यथा क्रतुः'* इत्यादि भाष्यार्थ सुस्पष्ट है।

प्रज्ञान्तराधिकरणम्

सूत्र—प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् दृष्टिश्च तदुक्तम्॥५२॥

सूत्रार्थ—'प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्' दो प्रकारकी प्रज्ञाओंमें एक शाब्दबोधात्मक है और दूसरी उपासनात्मक इनके पार्थक्यके वैशिष्ट्यके समान 'दृष्टिश्च'—उपासकोंकी भी ब्रह्मदृष्टिका तारतम्य होता है। 'तदुक्तम्' यह 'यथाक्रतुः' इत्यादि श्रुतिमें कहा गया है॥५२॥

सूत्रानुवाद—दो प्रकारकी प्रज्ञाओंके पार्थक्यके अनुसार उपासकोंका भी ब्रह्म-साक्षात् रूप फलमें तारतम्य होता है, इसलिए वेदमें क्रतुके अनुसार फल कहा गया है॥५२॥

गोविन्दभाष्य—विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेति (बृ॰आ॰ ४/४/२१) द्वे प्रज्ञे दृष्टे। तत्रैका शाब्दी अन्या तूपासना। तस्याः पृथक्त्वं भेदः। तद्वदेव तदुपासकानां तद्दृष्टिर्भवति। तदुक्तमिति। यथा क्रतुरित्यादौ तत्तारतम्यमुक्तमित्यर्थः। तथाचोपासनानुयायि-भगवद्दर्शनं ततो विमुक्तिरिति। साम्यपारम्यं तु नैरञ्जन्यांशेन बोध्यम्॥५२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'* इत्यादि श्रुतिमें जिस प्रज्ञाकी बात कही जा रही है, वह प्रज्ञा दो प्रकारसे व्यक्त होती है—पहली है शाब्दबोधात्मक और दूसरी है उपासनास्वरूप। इस भेदके अनुसार उपासकोंके भी ब्रह्म-दृष्टि भेदका अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कारका भेद होता है। इस *'यथाक्रतुः'* इत्यादि श्रुतिमें क्रतुके (यज्ञके) अनुसार फलका तारतम्य कहा गया है। फलकी बात यह है कि उपासनाके अनुसार भगवत्-दर्शन भिन्न-भिन्न होता है और तदनुरूप ही मुक्ति होती है। तब जो *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* इत्यादि श्रुतिमें फलका अविशेष (अवैशिष्ट्य) सुना जाता है इसका समाधान क्या है? तो इसका उत्तर है—हाँ, इसकी सङ्गति है—यह निरञ्जनत्व अंशमें ही जाननी चाहिये। निरञ्जनत्वका अर्थ है 'निर्मायत्व' अर्थात् विशुद्धत्व॥५२॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रज्ञास्तरेति। तत्तारतम्यं फलवैषम्यम्। *"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"* इत्यादिस्मृतेश्च। नन्वेवं निरञ्जनः परमं साम्यमित्यविशेषश्रुतेः का गतिस्तत्राह साम्यपारम्यस्त्विति। नैरञ्जन्यांशेन निर्मायत्वधर्मेण। तत्र त्रिदण्डिनो वदन्ति मुक्तौ न वैषम्यं प्रमाणविरहात् परमसाम्यमितिश्रुतेश्च। सातिशयत्वे मुक्तेरपि स्वर्गादिवदनित्यतापत्तिराधिक्यवीक्षायां दुःखद्वेषेर्यादि च स्यादिति। अत्र

क्रमः। ईश्वरमुक्तयोः साम्यं मुक्तानामेव वा नाद्यः भवतामपि तयोर्विभुत्वानुत्व-शेषित्वशेषत्वस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादिना वैषम्यात् साम्येनेकेश्वरतापत्तिश्च। तयोर्वैषम्यञ्च श्रुतिराह *"अन्यजज्ञानञ्च जीवानाम्"* इत्याद्या। शास्त्रक्वच्च *"जगद्व्यापारवर्ज्यम्"* इत्यादिना *"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च"* (वे॰सू॰ ४/४/२१) इति सूत्रे भोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यालिङ्गात् जगद्व्यापारवर्ज्यमिति भवद्व्याख्यानाच्च। अत्रावधृतौ मात्रशब्दः। न चान्त्यः भवन्मतेऽपि जीवान् प्रति शेषिण्याः श्रीदेव्याः तान् प्रति नियामकाद्विश्वक्-सेनादितश्चान्येषां जीवानामपकर्षस्वीकारात् मुक्तेः सातिशयत्वेऽपि नित्यता चेशात् जीवसंहतेरपकृष्टत्वे इव प्रमाणबलाद्युक्ता। इतरथोत्कर्षस्याप्यनित्यत्वेन व्याप्तेरीशानन्देऽपि तदापत्तिः। न चोत्कर्षदृष्टेर्दुःखद्वेषाद्युदयः अविद्याविरहात् गुर्वाद्युत्कर्षस्य हर्षजनकत्व-दृष्टेश्च। परानन्दत्वे च सर्वेषां स्व-स्वयोग्यतया घटकरकादिवत् पूर्त्तेः। ननु स्वरूपाभिव्यक्तिर्मुक्तिः स्वरूपाणि च समानीति चेत् सत्यं साधनहेतुकस्य फलवैषम्यस्यापरिहार्यत्वात्। अन्यथा यथा क्रतुरित्यादिवाक्यव्याकोपः। तस्मादुक्त-व्याख्यानमेव सुघटमिति॥ ५२॥

सूक्ष्मा-सार— *'प्रज्ञान्तरेत्यादि'* सूत्रमें *'यथा क्रतुः'* इत्यादौ तत्तारतम्यमितिमें *'तत्तारतम्यम्'* अर्थात् फलका वैषम्य, इसमें धर्म-शास्त्रका वाक्य भी प्रमाण है यथा—*'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'*—जिसका जिस प्रकारका विश्वास है, उसकी सिद्धि भी उसी धारणाके अनुसार होती है। आपत्ति है कि यदि ऐसा ही है तो *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'*—इस श्रुतिमें समस्त ही समान साम्य श्रुत होनेके कारण अर्थात् कोई फल-तारतम्य श्रुत न होनेके कारण आपकी उक्तिकी सङ्गति क्या होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं—परम साम्य—निरञ्जनत्व धर्ममें अर्थात् निर्मायत्व रूपमें। इस विषयमें त्रिदण्डी कहते हैं—मुक्ति विषयमें कोई तारतम्य नहीं है क्योंकि इस विषयमें कोई भी प्रमाण पाया नहीं जाता और *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* इत्यादि श्रुतिमें परम साम्यकी बात कही गयी है। यदि मुक्तिका प्रभेद रहता है तो स्वर्गादिके समान मुक्तिकी भी अनित्यता आ पड़ती है, मात्र इतना ही नहीं, मुक्तिगत उत्कर्ष देखनेपर दुःख, द्वेष, ईर्ष्या इत्यादिका भी उदय होगा। इस विषयमें हम कहते हैं—अहे त्रिदण्डिगण! आप जो साम्यकी बात कहते हैं, वह क्या ईश्वर एवं मुक्तगणोंका साम्य है? अथवा मुक्तपुरुषोंका परस्पर साम्य है? इनमें प्रथम तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि आपलोग भी मुक्तजीवका एवं ईश्वरका—इनमेंसे एकका (ईश्वरका) विभुत्व, दूसरेका (जीवका) अणुत्व, इसी प्रकार प्रधानत्व,

अप्रधानत्व, स्वाधीनत्व, पराधीनत्व इत्यादि धर्मोंमें वैषम्य मान रहे हैं। यदि जीव-ईश्वरका ऐक्य है तो एकेश्वरवाद अर्थात् केवलाद्वैतवाद और जीवशून्यत्ववाद आ पड़ता है। श्रुति तो जीव एवं ईश्वरका वैषम्य कहती है यथा—*'अन्यज् ज्ञानञ्चजीवानाम्'*—जीवका ज्ञान ईश्वर-ज्ञानसे पृथक्भूत है इत्यादि। इन वेदान्तसूत्रकारने भी *'जगद्-व्यापारवर्ज्यम्'* इत्यादि वाक्य द्वारा *'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च'* इस सूत्रमें भोगमात्रमें मुक्तपुरुषका ईश्वर-साम्य है—इस अनुमापक लिङ्ग-हेतु एवं जागतिक व्यापारका वर्जनपूर्वक करके आपकी (सूत्रकारकी) इस व्याख्याके कारण मुक्त एवं ईश्वरका ऐक्य हो नहीं सकता। भोगमात्र—इस मात्र शब्दका अर्थ है अवधारण अर्थात् केवल भोगांशमें ही साम्य है। पुनः मुक्त पुरुषोंका परस्पर साम्य है यह भी कहा नहीं जा सकता क्योंकि आपके मतमें भी जीवके प्रति अनुग्रहकारिणी श्रीदेवीके अनुग्रहका नियामक कुछ है ही, विष्वक्सेन इत्यादि मुक्तसे अन्य जीवोंका अपकर्ष भी स्वीकृत है और मुक्तिगत उत्कर्ष कहनेपर ही मुक्तिकी नित्यता माननी होगी, जिस प्रकार ईश्वरसे जीवके अपकृष्टत्व विषयमें प्रमाण है, इसी प्रकार यह भी प्रमाण-सिद्ध है। यदि ऐसा नहीं मानते हो तो उत्कर्ष और अनित्यकारण अनित्यत्व-व्याप्य उत्कर्ष—उत्कर्षमात्रमें ही अनित्यता रहेगी—ऐसा होनेपर ईश्वरानन्दमें तारतम्य मान लेनेपर वह भी अनित्य कहा जाता है। यदि कहो, उत्कर्ष होनेपर भी दुःख, द्वेष इत्यादिका उदय होगा, यह भी कहा नहीं जा सकता, कारण मुक्तपुरुषोंकी अविद्या रहती नहीं। और भी एक कारण है—गुर्वादिका उत्कर्ष हर्षजनक होता है, वह भी अवगत हो जाता है। परानन्दत्व-मतमें भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार घटका और कमण्डलका जल-पूरण स्व-स्व योग्यतानुसार होता है, उसी प्रकार समस्त मुक्तपुरुषोंकी स्व-स्व योग्यतानुसार आनन्दकी पूर्त्ति होगी। यदि कहो, स्वरूपाभिव्यक्तिका नाम मुक्ति है समस्तका स्वरूप ही समान है, तो ऐसा होनेपर भी साधन हेतुक फल-वैषम्य अपरिहार्य है। ऐसा न माननेपर *'यथा क्रतुः'* इत्यादि श्रुति-वाक्यका विरोध होता है, अतएव हमारी की हुई व्याख्या ही सङ्गत है॥५२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब *'यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति'* (छा॰ ३/१४/१) श्रुतिमें कहा है—क्योंकि पुरुष निश्चय ही क्रतुमय-निश्चयात्मक हैं; इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर जानेपर होता है—यहाँ एक संशय यह उठता है कि श्रीगुरुप्रसादके साथ ब्रह्मोपासनाका फल क्या सभीके लिए एक प्रकारका है? अथवा उपासनाके तारतम्यसे फलका भी तारतम्य है? इस विषयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/१/३) अर्थात् इसके फलस्वरूप ब्रह्मके अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकके आविर्भाववश साधक सारूप्य प्राप्त करेंगे—अतः इस श्रुतिके वाक्यानुसार फलके तारतम्यकी कोई बात दिखायी नहीं देती। युक्ति भी है कि नाना पथोंके द्वारा यदि किसी एक नगरमें जाया जा सकता है तो पथ-भेदसे उस नगर-दर्शनमें क्या कोई तारतम्य घटेगा? जिस भी पथसे उस नगरमें प्रवेश करो, सभीको नगर-दर्शन जैसे एक ही प्रकारका होता है, इसी प्रकार सभीकी ब्रह्मोपासनाका फल एक ही होता है। उपासनाके प्रकार-भेदसे फलका तारतम्य घटित होता हो—यह नहीं कहा जा सकता।

आजकल अधिकांश लोगोंमें ऐसा एक मत प्रचलित हो गया है कि जो जिस मतसे—जिस भी पथसे क्यों न जाये—सभीकी एक ही गतिरूप फल होगा। इसके समर्थनमें लोग आधुनिक बहुल-प्रचारित 'जितने मत, उतने पथ' का उल्लेख करनेका प्रयास करते हैं। ऐसे ही मतवादियोंके मतके निराकरणके लिए सूत्रकार जगद्गुरु श्रीमद् व्यासदेव प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उपासनाके भेदानुसार उपासकके भी तत्त्वदर्शन फलका तारतम्य होता है—यह शास्त्रमें कहा गया है।

इस विषयमें गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्य और टीकामें विस्तृत आलोचना की है।

वेदमें यज्ञके अनुसार फलकी विभिन्नता कही गयी है। समस्त यज्ञोंका एक ही फल है—इसका वर्णन कहीं भी नहीं है। अतः उपासनाके अनुसार भगवत्-दर्शनका और मुक्ति-फलका जो तारतम्य घटित होगा, उसका उल्लेख शास्त्रमें बहुत-से स्थानोंपर है। *'यथा*

क्रतुः' श्रुतिका तो भाष्यकारने यहाँ स्वयं ही उल्लेख किया है। विद्यामय क्रतु क्रियामय क्रतुसे पृथक् है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
(श्रीगी॰ ४/३३)

अर्थात् हे परन्तप पार्थ! ज्ञानयज्ञ द्रव्यमय यज्ञसे श्रेष्ठ है, क्योंकि समस्त कर्म अव्यर्थरूप ज्ञानमें समाप्त होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी,

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो॥

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४०/९-१०)

अर्थात् हे सर्वदेवमय प्रभो! कुछ मनुष्योंकी बुद्धि अन्यत्र आसक्त है। वे दूसरे देवताओंको आपसे भिन्न समझ उनकी उपासना करते हैं। पर, उनकी यह उपासना समस्त देवताओंके अन्तर्यामी होनेके कारण आपकी ही आराधना कही जाती है। आप ही समस्त देवताओंके रूपमें हैं। आप ही सर्वेश्वर हैं। हे प्रभो! समस्त नदियाँ पर्वतसे उत्पन्न होती हैं। जब वे वर्षाके जलसे भर जाती हैं, तब अनेक स्रोतोंसे बहती हुई विशिष्ट रूप धारण कर लेती हैं। इधर-उधर विभिन्न दिशाओंसे घूमती हुई वे नदियाँ जिस प्रकार अन्तमें समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्त कर्म, ज्ञान आदि मार्गोंसे की गयी उपासनाएँ चरमस्वरूप आपमें ही पर्यवसित हो जाती हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपादने जो कहा है, उसका सार इस प्रकार है—

'एवमुक्तलक्षणा योगिकर्मीप्रभृतय उपासकाः सर्वं एव त्वां यजन्ति। कुत इत्यत आह—सर्वे इति। तवैव सर्वदेवमयत्वादीश्वरत्वाच्चेत्यर्थः। ननु केचित् पृष्टा वयं शिवमर्चयामो वयन्तु सूर्यं गणेशमित्याचक्षते

तत्राह—येऽपीति। ननु, ते कादाचित्कीमपि स्मृतिं मयि न दधते तत्राह—यद्यपीति। अन्येष्वेव देवेषु न तु त्वयि धीर्येषां ते। ननु, यदि मामेवार्च्यन्ति तर्हि ते मामेव प्राप्नुयुः। मैवं तेषामर्चना एव त्वां प्राप्नुवन्ति न तु ते अर्चकाः। यदुक्तं त्वयैव—येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् (श्रीगी॰ ९/२३-२५) *इत्यतोऽहमपि दृष्टान्त्वेन तथैव वच्मीत्याह—यथेति। अद्रिभ्यः सकाशात् प्रकर्षेण भवन्तीति ताः। अद्रिभिर्जनितो इत्यर्थः। पर्जन्येन मेघेना पूरिता इति। अद्रिषु पर्जन्यवृष्टानि जलान्येवेतस्तत एकीभूय नद्यो भवन्ति। ताश्च नद्यः सर्वतः प्रसृत्य अन्ततः सिन्धुं विशन्तीति। अद्रिजनिता नद्य एव यथा सिन्धुं प्राप्नुवन्ति न तु नदीजनका अद्रयस्तथैव गतयो गम्यन्ते आभिरिति मार्गभूता अर्चना एव त्वां प्राप्नुवन्ति नत्वर्चकास्ते तवैव सर्वदेवाधिष्ठातृत्वात् अधिष्ठानपूजा अधिष्ठातर्येव पर्यवस्यतीति न्यायात् सर्वदेवपूजापि त्वत्पूजैवेतिभावः। अतः पर्जन्यस्थानीयो वेदः पर्जन्यो हि सिन्धुजलमयत्वात् सिन्धोरुद्भूतः वेदोऽपि त्वत्त उद्भूतस्तुक्ता नानापूजन विधय एव जलानि तत्राधिकारिण एवाद्रयस्तत्कृता नानादेवपूजा एव नानादेशनद्यस्ता नद्यो यथा नानादेशभ्यो निःसृत्य सिन्धुमेव गच्छन्ति तथैव पूजापि देवेभ्यो निःसृत्य विष्णुम्।'*

अर्थात् इस प्रकार लक्षणयुक्त योगी, कर्मी इत्यादि उपासकगण सभी आपकी ही आराधना करते हैं। यदि कहो, कैसे? तो इसके उत्तरमें कहते हैं—सर्वदेवमयेश्वरम्—समस्त देवताओंके अधिष्ठानस्वरूप आप ही सर्वदेवमय एवं सबके ईश्वर हैं। यदि कोई कहे कि मैं शिवकी पूजा करता हूँ, मैं सूर्यकी पूजा करता हूँ, मैं गणेशकी पूजा करता हूँ—इसी प्रकार और भी। यदि कहो कि वे कभी भी मेरे प्रति बुद्धियुक्त नहीं हैं, उनकी बुद्धि अन्यान्य देवताओंमें आसक्त है आपमें नहीं है, फिर भी वे वस्तुतः आपकी ही उपासना करते हैं।

यदि आप कहें कि वे मेरी पूजा करते हैं, अतः वे मुझे ही प्राप्त होंगे, तो ऐसा नहीं है। उनके द्वारा की गयी पूजा-अर्चनादि अवश्य आपको प्राप्त होती हैं किन्तु अर्चन करनेवाले स्वयं आपको प्राप्त नहीं होते। जैसा कि आपने स्वयं कहा है—हे कौन्तेय! जो लोग

श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंकी आराधना करते हैं, वे भी अविधिपूर्वक मेरी ही आराधना करते हैं। देवपूजकगण देवलोकको प्राप्त होते हैं, पितृपूजकगण पितृलोकको प्राप्त होते हैं, भूतपूजकगण भूतलोकको प्राप्त होते हैं और मेरी पूजा करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं। नदियाँ पर्वतोंसे निकलकर मेघ-वर्षण-वारिसे परिपूर्ण रहती हैं पर्वतोंपर यत्र-तत्र बरसनेवाला मेघका जल एकत्र होकर नदीका रूप धारण करता है। ये नदियाँ अनेक स्थलोंसे बहती हुई अन्तमें समुद्रमें प्रवेश कर जाती हैं। जिस प्रकार पर्वतसे उत्पन्न नदियाँ ही सागरको प्राप्त होती हैं, पर उनका उद्गम स्थान पर्वत स्वयं नहीं, उसी प्रकार मार्गभूत अर्चन इत्यादि ही आपको प्राप्त होते हैं, अर्चक नहीं। आप समस्त देवताओंके अधिष्ठाता हैं, अतः अधिष्ठान-पूजा अधिष्ठातामें ही पर्यवसित होगी, इस न्यायसे सर्वदेव-पूजा भी आपकी ही पूजा है। यहाँ भगवान्‌की उपमा सिन्धुसे, वेदकी मेघसे, नाना प्रकारकी पूजा-विधियोंकी जलसे, पूजककी पर्वतसे और नाना प्रकारके देवताओंकी उपमा नाना स्थलोंसे दी गयी है। जिस प्रकार ये नदियाँ नाना देशोंको पार करती हुई समुद्रमें मिलती हैं, उसी प्रकार पूजा भी विभिन्न देवताओंके माध्यमसे विष्णुको प्राप्त होती है, किन्तु पर्वतरूप पूजक विष्णुको प्राप्त नहीं होता।

और भी देखा जाता है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(श्रीमद्भा० १०/४३/१७)

अर्थात् परीक्षित्! बलदेवके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश करते हुए शृङ्गारादि सर्वरसकदम्बमूर्त्ति श्रीकृष्ण उन यम मल्लोंको वज्रके समान कठोर, साधारण नरोंको नरोत्तमस्वरूप, कामिनियोंको मूर्त्तिमान कन्दर्परूप, गोपोंको बान्धव, दुष्ट राजाओंको शासन-कर्त्ता, माता-पिताके समान वृद्धजनोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञ जनोंको विराट् पुरुष, योगियोंको परमतत्त्व एवं भक्त वृष्णियोंको परम आराध्य रूपमें प्रतीत हो रहे थे।

तथा,

तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद्यान् यान् कामयते जनः।
आराधितो यथैवैष यथा पुंसां फलोदयः॥

(श्रीमद्भा॰ ४/१३/३४)

अर्थात् उपासक जिस-जिस वस्तुकी कामना करते हैं, भगवान् श्रीहरि उन्हें वही वस्तु प्रदान कर देते हैं। वस्तुतः भक्त जिस भावसे भगवान्‌की आराधना करते हैं, उनके फलका उदय भी उसी प्रकारसे होता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(श्रीगी॰ ४/११)

अर्थात् हे पार्थ! जो मनुष्य जिस प्रकार मुझे भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ, क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।

इस श्लोकको टीकामें श्रील चक्रवर्त्तीपाद कहते हैं—*'यथा येन प्रकारेण मां प्रपद्यन्ते भजन्ते अहमपि तांस्तेनैव प्रकारेण भजामि भजनफलं ददामि इत्यर्थः।'* अर्थात् श्रीभगवान् कहते हैं *'ये यथा'* इत्यादि अर्थात् जिस प्रकार मेरा आश्रय लेता है या भजन करता है, मैं भी उस प्रकार ही उनका भजन करता हूँ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

आमाके त ये ये भक्त भजे येइ भावे।
तारे से से भावे भजि,—ये मोर स्वभावे॥

(चै॰च॰आ॰ ४/२१)

मेरा ऐसा स्वभाव है कि जो भक्त जिस-जिस भावसे मेरा भजन करता है, मैं भी उसी भावसे उसका भजन करता हूँ।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'उपासना भेदेन दर्शनभेदः। तच्चोक्तं कमठश्रुतौ। अन्तर्दृष्टयो बहिर्दृष्टयोऽवतारदृष्टयः सर्वदृष्टय इति देवावाव सर्वदृष्टयस्तेषु चोत्तरोत्तर

मा ब्रह्मणोऽन्येषु यथायोगं यथा ह्याचार्या आचक्षत इति। अध्यात्मे च दृष्ट्यैव ह्यवताराणां मुच्यन्ते केचिदञ्जसा। दर्शनेनान्तरज्ञानां देवाः सर्वत्र दर्शनात्। तेषां विशेषमाचार्य वेत्ति सर्वज्ञताङ्गतः इति।'

अर्थात् जिस ज्ञानको उपासनाका साधन कहा गया है, अब उसी ज्ञानका विशेष निरूपण किया जाता है। सर्वप्रथम सन्देह यह है कि सभीका एक ही प्रकारका भगवत्-दर्शन होता है अथवा नाना प्रकारसे? इस सन्देहके निवारणके लिए कहते हैं—भगवत्-दर्शन अधिकारी भेदसे नाना प्रकारका होता है। भगवत्-दर्शनकी साधना-उपासना अनेक प्रकारकी है और साधनानुसार फलोत्पत्तिका नियम भी है। कमठ-श्रुतिमें कहा गया है कि कोई-कोई अन्तरमें हरिका दर्शन करता है और कोई उन्हें बाहर देखता है। अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन करता है और कोई उन्हें उनके अवतार रूपमें भी देख सकता है। अध्यात्म-शास्त्रमें कहा है कि कोई-कोई साधक अवतार-दर्शनसे मुक्त हो जाते हैं और ज्ञानी अन्तर्दर्शनसे तथा देवगण सर्वत्र दर्शनसे मुक्त हो जाते हैं। सर्वज्ञ आचार्य ही यह विशेष रूपसे जानते हैं। अतएव यह उपपन्न हुआ कि ब्रह्म-दर्शन नाना प्रकारसे हो सकता है॥५२॥

अवतरणिका भाष्य—स्यादेतत्। न च विद्यया विना दृष्टिर्नापि दृष्टिं विना विमुक्तिरित्युक्तम्। तदुभयमयुक्तं भगवत्प्राकट्यावसरे विद्याशून्यैरपि तद्दृष्टेर्लाभात् दृष्टिमद्भिरपि विमुक्तेरलाभादिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि विद्या अर्थात् तत्त्वज्ञानके बिना भगवत्-साक्षात्कार नहीं होता और भगवत्-साक्षात्कारके बिना मुक्ति भी नहीं होती। इससे पूर्व भी कहा गया था कि ये दोनों अयौक्तिक हैं इसका कारण यह है कि जब भगवान्का अवतार होता है तब ब्रह्मविद्यासे रहित व्यक्तियोंको भी ईश्वरका साक्षात्कार प्राप्त होता है और दृष्टि (ज्ञान) प्राप्त होनेपर मुक्ति होती हो, ऐसा भी नहीं है। दृष्टिवानोंकी (ज्ञानवानोंकी) मुक्ति प्राप्ति देखी नहीं जाती। इस आक्षेपके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्यादिति। भगवत्प्राकट्यावसरे तदवतारसमये। विद्याशून्यैस्तदानीस्तनैः कर्षकादिभिः। दृष्टिमद्भिः सुदर्शननृगादिभिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'स्यादेतदित्यादि'*—भगवत्-प्राकट्य-अवसरमें—भगवान्के अवतार कालमें। विद्याशून्यैरपि—जो ब्रह्मज्ञानसे रहित तत्कालीन कर्षक (किसान) इत्यादि उनके द्वारा और जिन्हें दृष्टिप्राप्त (ज्ञानप्राप्त) है, पुनः दृष्टिप्राप्तकारी सुदर्शन नामक विद्याधर और नृग नामक राजा द्वारा भी मुक्तिप्राप्तिकी बात सुनी नहीं जाती।

सूत्र—न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः॥५३॥

सूत्रार्थ—'मृत्युवत्' जिस प्रकार मृत्युमात्रसे मुक्ति नहीं हो जाती, उसी प्रकार 'न सामान्यादप्युपलब्धेः' साधारण रूपसे जो भगवत्-दर्शन (उपलब्धि) है, वह भी मुक्तिका कारण नहीं है, तब साधारण रूपसे दर्शनका फल क्या है? 'न हि लोकापात्तिः' उत्तम लोकोंकी प्राप्ति—परन्तु वह मुक्ति नहीं है॥५३॥

सूत्रानुवाद—साधारण मृत्युसे जिस प्रकार मुक्ति प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार साधारण दर्शनसे भी मुक्ति नहीं मिल सकती। सामान्य दर्शनसे उत्तम लोकोंकी उपलब्धि हो सकती है, मुक्तिकी नहीं॥५३॥

गोविन्दभाष्य—अपिरवधारणे। सामान्यात् साधारण्येन योपलब्धिर्दृष्टिस्तस्या न मोचकत्वम्। यथा मृत्युमात्रस्य तन्नास्ति। किं तर्हि सामान्यदृष्टेः फलं तत्राह लोकापत्तिरिति। यथा सुदर्शनस्य विद्याधरस्य लब्धसामान्यदृष्टेर्यथा च नृगस्य राज्ञो लोकापत्तिः फलमुक्तम्। ननु सैव मुक्तिरिति चेत् तत्राह न हीति। न खलु लोकापत्तिः सेत्यर्थः। स्मृतिश्च—*"सामान्यदर्शनात् लोका मुक्तिर्योग्यात्मदर्शनात्"* इति। अयं भावः। दृष्टिः खलु द्वेधा आवृतविषयानावृतविषया चेति। तत्राद्या पुण्योद्रेकेण जायमाना तत्प्रभावेण स्वर्गादिलोकान् प्रापयति। अन्तिमा तु ब्रह्मविद्यया लिङ्गभङ्गे सति परमप्रेष्ठत्वचित्सुखविग्रहविषयतया जायमाना विमोचयतीति सर्वं सङ्गतिमत्। यत्तु हतिकालिकं तद्वीक्षणं मोचकं वदन्ति तत्रापि तच्चक्रादिस्पर्शमहिम्ना लिङ्गपर्यन्तविनाशात्। ततः प्रियत्वादिना तद्दृष्टेः सेति बोध्यम्। इतरथा बहुवाक्यव्याकोपापत्तिः॥५३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'अपि' शब्द अवधारण अर्थमें है अर्थात् साधारण दृष्टिसे अर्थात् सामान्यरूप उपलब्धिसे मुक्ति नहीं होती। *'सामान्यात्'*—साधारण भावसे जो भगवत्-दर्शन है, वह मुक्तिका कारण नहीं है, जैसे कि मृत्युमात्रसे किसीकी भी मुक्ति नहीं हो जाती। तब

जो साधारण भावसे दर्शन है, उसका फल क्या है? इसपर कहते हैं—*'लोकापत्तिः'* अर्थात् उत्तम लोकोंकी प्राप्ति। जैसे कि सुदर्शन विद्याधरको साधारण दर्शन प्राप्त होनेके कारण उसकी गति उत्तम लोक तक ही हुई अथवा नृगराजाको भी ऐसे ही उत्तम लोकमात्र प्राप्त हुआ था। यदि कहो, यही मुक्ति है तो इसपर कहते हैं—*'न हि लोकापत्तिः'* लोकप्राप्ति मुक्ति नहीं है। इस विषयमें धर्म-शास्त्र भी कहते हैं—*'सामान्य दर्शनात्'* इत्यादि। साधारण रूपमें भगवत्-दर्शनसे उत्तम लोकादिकी प्राप्ति होती है और (मुक्ति फलोत्पादन योग्यता-विशेष) आत्म-दर्शनसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। भावार्थ यह है कि दर्शन दो प्रकारका है—एक विषयको आवृत रखता है और दूसरा विषयको आवृत नहीं रखता है। इनमें प्रथम अर्थात् आवृत्त विषय दर्शन (दृष्टि) अतिशय पुण्यके उद्रेकसे प्राप्त होता है और इस दर्शनकी प्राप्ति स्वर्गादि लोकोंको उपलब्ध करा देती है और दूसरा अर्थात् अनावृत्त विषय दर्शन (दृष्टि) ब्रह्मविद्याके द्वारा लिङ्गशरीरका नाश होनेके बाद परम प्रियत्व, चित्सुख विग्रहत्वको विषय करके उत्पन्न होता है—यही दर्शन मुक्ति प्रदान कराता है। इस प्रकारसे समस्त सङ्गति जाननी चाहिये। तब मृत्युके समय जिन विद्याहीन चेदि आदि शत्रुओंको हनन-कालमें भगवत्-दर्शनसे मुक्ति हुई थी—यह जो कहा गया है—इसकी सङ्गति कैसे होगी? इसकी उपपत्ति यह है कि उनके सुदर्शनचक्रके स्पर्शके प्रभावसे शिशुपाल इत्यादिका लिङ्गशरीर पर्यन्त नष्ट हुआ था। इसके बाद अर्थात् दृष्टिका आवरण उन्मुक्त होनेके बाद यह जान लेना चाहिये कि श्रीभगवान्‌को जब उन्होंने प्रिय भावसे देखा तो उन्हें मुक्ति प्राप्त हो गयी थी। यदि ऐसा न माना जाय तो शास्त्रोंके बहुत-से वाक्योंके साथ विरोध घटित होगा॥ ५३॥

सूक्ष्मा-टीका—न सामान्यादिति। सामान्यादिति टाविभक्तेरात्। *"सामान्यदर्शनात्"* इति नारायणतन्त्रे। *"दर्शनेनात्मयोग्येन मुक्तिर्नान्येन केनचित्"* इति अध्यात्मे च। आवृतविषयेति। आवृतो मायाकञ्चुकाच्छन्नो हरिः। *"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।" "मायायवनिकाच्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः"* इति स्मरणात्। स विषयो यस्याः सा दृष्टिस्तथा अनावृतः सच्चिदानन्दविग्रहः न विषयो यस्याः सा तथा। तत्प्रभावेणावृतभगवत्स्वरूपमहिमा प्रापयति चिरं तत्र लोके स्थापयतीति

पुण्यतोऽपि तस्योत्कर्षः सूचितः। ब्रह्मविद्यया लिङ्गभङ्गे सतीति। *"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः"* इत्यादिवाक्येभ्यः। यत्त्विति। *"विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये। भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्"* इति प्रथमे भीष्मवाक्यम्। (श्रीमद्भा॰ १/९/३९) इह भारते युद्धे। सरूपं समानं रूपमित्यर्थः। *"ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः। अन्ये च शाल्वकपिबल्वलदन्तवक्त्रसमसप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः। ये वा मृधे समितिशालिनआत्तचापाः काम्बोजमत्स्यकुरुसृञ्जयकैकयाद्याः।* (श्रीमद्भा॰ २/७/३४-३५) *यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीमव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्"* (श्रीमद्भा॰ २/७/३५) इति द्वितीये ब्रह्मवाक्यम्। अस्यार्थः। ये च प्रलम्बादयस्ते सर्वे हरिणा निहतास्तदीयं निलयं वैकुण्ठं यास्यन्ति। अलमतिशयेन निरवद्यतयेत्यर्थः। कीदृशं तन्निलयमित्याह—अदर्शनं भगवद्विमुखजनागोचरम्। अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रय-विवर्ज्जितमिति जितन्ते स्तोत्रे श्रीवैकुण्ठविशेषणात्। तेषु खरो धेनुकः दर्दुरो भेकतुल्यो बकः इभः कुवलयापीड़ः कपिर्द्विविदः कुजो भौमः। समितिशालिनः संग्रामशोभिन इत्यर्थः। ननु प्रलम्बादयो बलदेवेन हताः काम्बोजादयो भीमार्ज्जुनादिभिः शम्बरस्तु प्रद्युम्ने यवनो मुचुकुन्देनेति चेत् तत्राह बलेति। बलपार्थेत्यादयो व्याजाह्वयाश्छद्माभिधानानि यस्य तेनेत्यर्थः। सप्तोक्षाणस्तु हरिणैव दयिताः समयान्तरे तन्निलयं यास्यस्त्येवेति भावः। एवमन्यत्र च वाक्यं मृग्यम्। एवं कृष्णेन निहता विद्विषोऽपि तं वीक्ष्य मुक्तिं लब्धा इति विद्याहीनानामपि तदानीस्तनानां तद्दर्शनाद्विमुक्तिरभुदिति निरूपितं तत् कथं सङ्गच्छेतेत्यर्थः। तत्र समादधदाह तच्चक्रेति। तद्दृष्टेस्तत्साक्षात्कारात्। सा विमुक्तिः। ननु स्वयं भगवतः कृष्णस्यायं हतारिगतिप्रदत्वगुणः। यो दैत्यानपि निर्विद्यान् हत्वैव विमोचयति तत्र चक्रादिसत्सङ्ग-तल्लब्धविद्यादिकल्पनं नोचितम्। विष्णुना निहतस्य कालनेमेर्मुक्तिर्नाभूत्। तस्यैवोत्तरजन्मनि कंसस्य कृष्णेन निहतस्य साभिहितेति चेत् तत्राह इतरथेति। वाक्यानि च तमेव विदित्वा ज्ञात्वा देवमित्यादीनि ज्ञेयानि। अयमाशयः। रूपान्तरेण निहतानां दैत्यानां न मोक्षः किन्तु प्राकृतसुखसमृद्धिरुत्तरजन्मनि भवेत्। कृष्णेन निहतानास्तु तेषां चक्रादिस्पर्शेन विद्योदयादतिदुर्लभस्य मोक्षस्य झटित्येव प्राप्तिरिति तत्रैव तस्य प्राकट्यं न तु रूपान्तरेष्विति सर्वाणि वचनानि सङ्गतानि भवेयुः। एवमेव प्राचामपि भावो व्याख्येयः॥५३॥

सूक्ष्मा-सार— *'न सामान्यादित्यादि'* सूत्रमें। सामान्यात् अर्थात् सामान्येन—साधारण रूपसे, पञ्चमी किसलिए? आर्ष, 'टा' विभक्तिके स्थानपर 'आत्' आदेशके कारण क्योंकि नारायणतन्त्रमें *'सामान्य दर्शनात्'* यह कहा गया है। अध्यात्म रामायणमें भी कहा है कि आत्मयोग्य-दर्शनसे मुक्ति होती है, अन्य किसी उपायसे नहीं। *'आवृत्त*

विषया' में आवृत अर्थात् मायारूप यवनिकासे आच्छन्न मूर्त्ति श्रीहरि जिसके विषय हैं—ऐसी दृष्टि। धर्म-शास्त्रमें श्रीभगवान्ने कहा है—योगमाया द्वारा आच्छन्न मेरा स्वरूप सबके समक्ष प्रकट नहीं होता। पुनः मायारूपिणी यवनिका द्वारा आवृत-महिमा ब्रह्मको नमस्कार है। ऐसे हरि जो दृष्टिके विषय हैं, वही आवृत-विषया दृष्टि है। और अनावृत-विषया सच्चिदानन्द विग्रह श्रीहरि हैं विषय जिसके, उस प्रकारकी दृष्टि। *'तत्प्रभावेण'* (उस आवृत-दृष्टि अर्थात् बाह्य दर्शनसे)—*'स्वर्गादिलोकान् प्रापयति इति'*—में *तत्प्रभावेण*—आवृत भगवान्‌की स्वरूपमहिमा बहुत समय तक वैकुण्ठलोकमें स्थापन करती है, अतः पुण्यसे ही उस आवृत-दृष्टि महिमाका उत्कर्ष सूचित हुआ है। *'ब्रह्मविद्यया लिङ्गभङ्गे सतीति'*—ब्रह्मविद्या द्वारा लिङ्गशरीरका नाश होता है—इसका प्रमाण है—*'ज्ञात्वा देवमित्यादि'*—भगवत्-दर्शनसे सर्वविध बन्धनका छेदन होता है इत्यादि वाक्य। *'यत्तु हतिकालिकं वीक्षणमित्यादि'*—भागवतके प्रथम-स्कन्धमें भगवान्के प्रति भीष्मके वाक्य हैं—*'विजयेत्यादि'* में विजय-अर्जुनके रथके सारथि जो अश्वताड़नी तथा अश्वकी रज्जु (लगाम) लिये हुए हैं और निज श्रीके द्वारा जिनका रूप अति दर्शनीय है, ऐसे उन भगवान् श्रीकृष्णमें मुझ मृत्युकामीकी रति हो, इस भारत युद्धमें जिन्हें देखते हुए निहत वीरोंने उनके ही समान रूप प्राप्त किया था। 'इह' का अर्थ है इस भारतयुद्धमें। सरूपं—समानरूप—यह अर्थ है। और भी द्वितीय-स्कन्धमें ब्रह्माके प्रति उक्ति है प्रलम्बासुर, खर (गर्दभ) रूपी धेनुक दैत्य, भेक तुल्य बकासुर, केशी नामक अश्वरूपी दैत्य, अरिष्टासुर, चाणूरमल्ल, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, कालयवन, नरकासुर, पौण्ड्रक इत्यादि और भी दूसरे जो सब शाल्व, कपि (द्विविद वानर) बल्वल, दन्तवक्त्र, सातों बैल, शम्बर, विदूरथ, रुक्मि प्रमुख वीर अथवा युद्धमें समिति-भूषण (युद्धके शोभाजनक) वीर, धनुर्धारी काम्बोज, मत्स्य, कुरु, सृञ्जय, कैकय इत्यादि ये सब और बलदेव, अर्जुन और भीम आदि नामोंके छलसे श्रीहरिके हाथों ही निरवद्य रूपसे (सुन्दर रूपसे) निधनको प्राप्त होकर उन्हींके (श्रीहरिके) निलय वैकुण्ठधाममें जायेंगे। इन वाक्योंका मार्मिक अर्थ यह है कि जो समस्त प्रलम्बादि असुर हैं, वे सभी श्रीहरि द्वारा निहत

होकर उनके धाम वैकुण्ठमें जायेंगे। 'अलम्' अर्थात् अतिशय निरवद्य रूपसे। वह निलय-धाम किस प्रकारका है? 'अदर्शनम्' जो भगवत्-विमुख लोगोंके लिए अगोचर है और अवैष्णवोंको अप्राप्य है, सत्त्वादि गुण-त्रयसे रहित है। इस जितन्ते इत्यादि स्तोत्रमें वर्णित वैकुण्ठका विशेषण रूपमें निरूपण है। उन प्रलम्बादिमें खर अर्थात् धेनुकासुर, दर्दुर-भेक तुल्य बकासुर, 'इभ' कुवलयापीड़ हाथी, कपि-द्विविद वानर, कुज—पृथ्वी-पुत्र नरकासुर। समितिशाली अर्थात् युद्धके शोभाजनक। यदि कहो, प्रलम्बादि असुर बलराम द्वारा निहत हैं, इसी प्रकार काम्बोजादि राजा भीमार्जुनादि द्वारा, शम्बर प्रद्युम्न द्वारा, कालयवन मुचुकुन्द राजा द्वारा हत हुए हैं, तब भगवान् द्वारा निहत क्यों कहा गया है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि *'बलपार्थ भीमव्याजाह्व्येनेति'* बलराम, अर्जुन इत्यादि श्रीहरिके छद्म नाम हैं, अतः वे श्रीहरि द्वारा ही निहत हैं। सातों बैलोंका भी श्रीहरिके द्वारा दमन हुआ था, समयान्तरमें वे भी विष्णुधामको जायेंगे। इस प्रकारसे अन्य स्थलोंपर भी हरि-माहात्म्य-सूचक वाक्य अनुसन्धेय हैं। इसी प्रकारसे श्रीकृष्ण द्वारा निहत कृष्ण विद्वेषीगणोंने भी उनका दर्शन करके मुक्ति प्राप्त की है अतः ब्रह्मविद्याहीन तदानीस्तन (तत्कालीन) व्यक्तियोंकी भी उनके दर्शनसे मुक्ति हुई थी, जब इस बातका वर्णन है तब किस प्रकारसे यह उक्ति अर्थात् सामान्यतः दृष्टि (सामान्य रूपसे दर्शन) मुक्तिका कारण नहीं है, यह किस प्रकारसे सङ्गत है? इस विषयमें समाधान करके कहते हैं—तच्चक्रेत्यादि। *'तद्दृष्टेः सेति'* में *'तद्दृष्टेः'* का अर्थ है—उनके साक्षात्कारसे 'सा' का अर्थ है—विमुक्ति। आशङ्का है—भगवान् श्रीकृष्णके स्वयंके द्वारा निहत शत्रुओंकी गतिदान महिमा है (हतारिगतिदायकत्व) प्रमाण है, यथा *'यो दैत्यानपि'* इत्यादि जो विद्याहीन दैत्योंका वध करके उन्हें मुक्ति देते हैं। इसमें चक्रादि, सत्सङ्ग और उसकी सहायतासे विद्यादि-प्राप्ति इत्यादि कल्पनायें अनुचित हैं। पुनः विष्णु द्वारा निहत कालनेमिकी भी मुक्ति नहीं हुई, वह दूसरे जन्ममें कंस रूपमें आया और कृष्णके हाथोंसे वध होनेके बाद उसकी मुक्ति कही गयी। इन सब असङ्गत जैसे प्रतीयमान विषयोंकी उपपत्ति क्या? इसके उत्तरमें कहते हैं—इतरथा—बहुवाक्य

व्याकोपापत्तिरिति (अन्यथा अनेक शास्त्र-वाक्योंसे विरोध घट सकता है) ये वाक्य हैं—*'तमेव विदित्वेत्यादि' 'ज्ञात्वा देवमित्यादि।'* इस आशङ्काके समाधानमें भाष्यकारका अभिप्राय यह है—रूपान्तरमें भीमार्जुनादिके हाथोंसे निहत दैत्यादियोंकी मुक्ति है नहीं, किन्तु उन्हें दूसरे जन्ममें प्राकृतिक (भौतिक) सुख-समृद्धि प्राप्त हुई थी, और जो श्रीकृष्णके हाथोंसे निहत हैं, उन्हें चक्रादिके स्पर्शसे ब्रह्मविद्याका उदय हुआ और उससे अति दुर्लभ मुक्ति तत्क्षणात् हुई। अतः भगवत्-हस्तसे मृत्युमें ही उसकी (मुक्तिकी) प्रकटता है, रूपान्तरमें नहीं इस प्रकारसे समस्त वाक्योंकी सङ्गति होगी। प्राचीनोंको भी इसी प्रकारसे इसी रूपमें व्याख्या करनी होगी॥ ५३ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी आशङ्का करके कहते हैं कि पहले कहा गया था कि ब्रह्मविद्याके व्यतिरेकमें भगवत्-दर्शन प्राप्त नहीं होता और भगवत्-दर्शनके व्यतिरेकमें मुक्ति भी नहीं हो सकती किन्तु यह कहना तो युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि श्रीभगवान् जब प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हैं तो विद्याहीन साधारण व्यक्तिको भी उनका दर्शन उपलब्ध हो जाता है जब कि यह भी देखा जाता है कि उन दर्शन प्राप्त करनेवालोंमेंसे कितनोंको ही मुक्ति प्राप्त नहीं होती। पूर्वपक्षीकी इस प्रकारकी आशङ्काके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि साधारण रूपसे श्रीभगवान्का दर्शन कर लेनेसे मुक्ति नहीं होती जैसे कि मृत्युमात्रसे कोई-कोई मुक्त नहीं हो जाता। हाँ, यह अवश्य है कि साधारण दर्शनसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है। इस सन्दर्भमें श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणके भाष्य एवं टीका द्रष्टव्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्च्चितम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/३४/९)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणोंका स्पर्श करनेपर उस सर्पके समस्त अशुभ दूर हो गये और सर्प-शरीरका त्याग कर उसने विद्याधरका रूप धारण कर लिया।

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवन्द्य च।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/३४/१८)

अर्थात् हे राजन्! इस प्रकार परम सुन्दर सुदर्शन नामक इस विद्याधरने भगवान् श्रीकृष्णकी अभिवन्दना की। तत्पश्चात् उनकी प्रदक्षिणा करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। उनसे अनुमति ली और स्वर्गकी ओर चला गया। महाराज नन्द भी कृष्ण द्वारा इस सङ्कटसे उबर गये।

स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो,
विहाय सद्यः कृकलासरूपम्।
सन्तप्तचामीकरचारुवर्णः
स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्रक् ॥
(श्रीमद्भा॰ १०/६४/६)

अर्थात् श्रीकृष्णके करकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके उसने शीघ्र ही गिरगिटका शरीर त्याग दिया और दीप्तिभान्–सुवर्ण कान्तियुक्त देवता रूपमें परिणत हो गया। विचित्र रङ्ग–बिरङ्गे वस्त्र, आभूषण और अलङ्कार धारण करनेसे उसकी बहुत शोभा हो रही थी।

श्रीकृष्णके दर्शनसे मुक्तिप्राप्तिके विषयमें पाया जाता है—

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो–
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्॥
(श्रीमद्भा॰ १/९/३९)

अर्थात् अर्जुनके विजयरथकुटुम्बके रक्षकके जिन श्रीकृष्णके दाहिने हाथमें चाबुक, बाएँ हाथमें घोड़ोंकी रास और मुखारविन्दसे प्रकट हुम्, हुम्—अश्वताड़नका शब्द, सारथिरूप—इस प्रकार रणाङ्गनमें उनकी अद्भुत छवि थी, महाभारत युद्धमें मरनेवाले योद्धा उनकी इस छविका दर्शन करते हुए सारूप्य–मोक्षको प्राप्त हो रहे थे। भक्तकी रक्षाके लिए व्यग्र सारथिरूपमें शोभायमान अचिन्त्य–ऐश्वर्यशाली

पार्थसारथि श्रीकृष्णके प्रति इस मरणासन्न अवस्थामें मेरी (भीष्मकी) मति बनी रहे। उनकी यह सारथिलीला प्रकट-प्रकाशमें तो समाप्त हो रही है, परन्तु मरकर ही इसके माधुर्यका आस्वादन कर सकूँगा।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपाद कहते हैं—

'यं निरीक्ष्य हताः युद्धे अन्येनापि हताः सप्तः असुरस्वभावा अपि तादृश ज्ञानहीना अपि सरूपं सायुज्यमुक्तिं प्राप्ताः।'

अर्थात् जिन्हें देखकर युद्धकालमें अन्योंके द्वारा मारे जानेपर भी, असुर स्वभावापन्न भी, ऐसे ही ज्ञानहीन भी सैन्यगणोंने आपकी सायुज्यरूप मुक्तिको प्राप्त किया था।

और भी,

ये च प्रलम्बखर-दर्दुरकेश्यरिष्ट-
मल्लेभ-कंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः।
अन्ये च शाल्वकपिबल्वलदन्तवक्त्र-
सप्तोक्ष-शम्बरविदूरथ-रुक्मिमुख्याः ॥

ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः
काम्बोजमत्स्य-कुरुसृञ्जयकैकयाद्याः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम-
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/७/३४-३५)

अर्थात् प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, बकासुर, केशी, वृषासुर आदि दैत्य, चाणूर, मुष्टिकादि मल्ल, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, कालयवन, भूमिपुत्र नरकासुर और पौण्ड्रक, शाल्व, द्विविद वानर, बल्वल, दन्तवक्र, राजा नग्नजित्के सात बैल, शम्बरासुर, विदूरथ एवं रुक्मी प्रमुख शूर जो संग्राममें अत्यन्त शेखी बघारते हैं, काम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय, सृञ्जयादि देशोंके वीर राजा अपने-अपने हाथोंमें धनुष ग्रहण करके युद्ध करेंगे—वे सारे-के-सारे बलराम, भीम और अर्जुनादिके द्वारा मारे जायेंगे। पर इन सबका वध तो वास्तविक रूपमें श्रीहरि ही करेंगे।

श्रीभीष्मजीके वचनोंमें भी—

भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन्।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः॥
(श्रीमद्भा॰ १/९/२३)

अर्थात् जिनका अन्तःकरण भक्तिपरायण है, ऐसे योगी भक्त पूर्ण भक्तिभावसे इन श्रीकृष्णमें अपने मनको समर्पित कर देते हैं और मुखसे इनका नाम सङ्कीर्त्तन करते हुए—देहत्याग करते हैं और कामनाओं तथा कर्म-बन्धनसे भी मुक्त हो जाते हैं।

और भी,

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥
(श्रीमद्भा॰ ३/९/१५)

अर्थात् जिनके देवकीनन्दन आदि अवतार-सूचक, सर्वज्ञ भक्तवत्सल इत्यादि गुणवाचक और गिरिधारी, कंसारि आदि लीलाके अनुरूप नामोंका जो व्यक्ति प्राणत्यागके समय विवश होकर भी उच्चारणमात्र कर लेता है, वह शीघ्र ही बहुत जन्मोंसे सञ्चित पापोंसे तत्काल मुक्त होकर निरस्तकुहक (मायाके आवरणोंसे रहित) सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। हे भगवन्! आप अजन्मा हैं, मैं (ब्रह्मा) आपकी शरण लेता हूँ।

यस्मिन् जनः प्राणवियोगकाले,
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्म्माशयमाशु याति,
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४६/३२)

अर्थात् जीव जब प्राणोंके परित्यागके समय अपने विशुद्ध चित्तको क्षणकालके लिए भी उनमें आविष्ट कर लेता है, तब उसकी कर्मवासनाएँ दग्ध हो जाती हैं। वह स्व-पर प्रकाशक सूर्यके समान तेजस्वी एवं ब्रह्ममय अपने चिन्मय स्वरूपको प्राप्त कर लेता है।

आप दोनोंने उन विश्वात्मा, विश्वके कारणस्वरूप और समस्त कारणोंके मूलकारण नराकृति परब्रह्मस्वरूप नारायणमें निरतिशय भक्तिभावका पोषण किया है। अतः आपके लिए और कौन-सा शुभ कर्म अवशिष्ट रह जाता है?

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

अल्पकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(श्रीगी॰ ८/५-६)

अर्थात् जो अन्तिमकालमें मुझे ही स्मरण करते हुए अपने शरीरको त्यागकर प्रस्थान करते हैं, वे मेरे भावको प्राप्त होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। हे कौन्तेय! जो अन्तकालमें जिस-जिस विषयका स्मरण करते हुए शरीर-त्याग करते हैं, सर्वदा उसीके स्मरणमें तन्मय वे उन-उन भावोंको ही प्राप्त होते हैं।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी पाया जाता है—

भक्ति ना मानिलू मुत्रि एइ छार मुखे।
देखिलेइ भक्तिशून्य कि पाइब सुखे॥

विश्वरूप तोमार देखिल दुर्योधन।
याहा देखि वारे वेदे करे अन्वेषण॥

देखिआओ सवंशे मरिल दुर्योधन।
ना पाइल सुख भक्तिशून्येर कारण॥

हेन भक्ति ना मानिल आमि छार मुखे।
देखिले कि हैब आर मोर प्रेम सुखे॥

यखने चलिला तुमि रुक्मिणी हरणे।
देखिल नरेन्द्र तोमा गरुड़वाहने॥

अभिषेके हैल राजराजेश्वर नाम।
देखिल नरेन्द्र सब ज्योतिर्मय धाम॥

ब्रह्मादि देखिते याहा करे अभिलाष।
विदर्भ नगरे ताहा करिला प्रकाश॥

ताहा देखि मरे सब नरेन्द्रेर गण।
ना पाइल सुख—भक्तिशून्येर कारण॥

(चै॰भा॰म॰ १०/२१५-२२२)

अर्थात् मुकुन्द रोते हुए कहने लगे—हे प्रभो! मैं बहुत अभागा हूँ। मैंने भक्तिको स्वीकार नहीं किया। मुझ जैसा भक्तिरहित व्यक्ति आपके दर्शनसे क्या सुख प्राप्त कर पायेगा? दुर्योधनने आपके उस विश्वरूपका दर्शन किया था, जिसे देखनेके लिए स्वयं वेद अन्वेषण किया करते हैं, परन्तु विश्वरूपको देखकर भी दुर्योधन अपने वंश सहित विनाशको प्राप्त हुआ क्योंकि भावहीनताके कारण उसे विश्वरूपका दर्शन करके भी कोई सुख नहीं मिला। उस भक्तिको मुझ जैसे भाग्यहीन व्यक्तिने भी ग्रहण नहीं किया है फिर अब आपको देखनेसे मुझे वह प्रेमसुख कहाँ-से मिलेगा? जब आप रुक्मिणीदेवीका हरण करनेके लिए चल पड़े थे तब राजाओंने आपको गरुड़के कन्धोंपर बैठकर जाते हुए देखा था। उस समय सब राजाओंने ज्योतिर्मय धामके रूपमें आपके दर्शन किये थे। ब्रह्मा आदि भी जिस रूपको देखनेके लिए सदा लालायित रहते हैं, उसे आपने विदर्भ नगरमें प्रकाशित किया था। आपके उस प्रकाशको देखकर सभी राजा हिंसासे जलने लगे—भक्तिहीनताके कारण किसीको कोई सुख नहीं मिला।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'न सामान्य दर्शन मात्रेण मुक्तिः यथा मृत्युमात्रान्न हि लोकापत्तिमात्र मुक्ति सामान्यदर्शनाल्लोका मुक्तिर्योग्यात्म दर्शनादिति नारायण तन्त्रे। मुच्यते नात्र सन्देहो दृष्ट्या तु स्वात्मयोग्येति च दर्शनेनात्मयोग्येन मुक्तिर्नान्येन केनचिदिति चाध्यात्मे भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति माठर श्रुतेः। न परमात्मनो दर्शनमिति चेत् न तस्यैव आत्मा विशते ब्रह्मधामेति (मु॰ ३/२/४) *श्रुतेः। कथं तर्हि एषा श्रुतिः।'*

अर्थात् अब ज्ञानका मोक्ष साधनत्व प्रमाण कहते हैं, अन्यथा बिम्बोपासन अनावश्यक होता है। सबसे पहले सन्देह यह होता है कि क्या बिम्बरूप विषय ही मुक्तिका साधन है? अथवा यत् किञ्चित् रूप विषय मुक्तिका कारण है? इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं कि भगवान्‌के रूपका सामान्य रूपसे दर्शन होनेपर सबकी मुक्ति नहीं हो सकती, किन्तु स्वबिम्बके दर्शनसे ही मुक्ति होती है। जैसे सबकी मृत्यु समान है, तो भी मृत्युमात्रसे मुक्ति नहीं होती, विशेष मृत्यु ही मुक्तिका कारण होती है, इसी प्रकार ब्रह्मरूपका साम्य रहनेपर भी रूप विशेष ज्ञान ही मोक्षका साधन होता है। सामान्य रूपसे दर्शन मुक्तिका कारण नहीं है। भक्ति ही जीवको भगवान्‌के निकट ले जाती है, भक्ति ही जीवको भगवत्-दर्शन कराती है। ये परमपुरुष भगवान् एकमात्र भक्तिके ही अधीन हैं। भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। श्रुतिमें उल्लेख है कि भगवान् समरूपी होनेपर भी स्वबिम्ब प्रदर्शन द्वारा मोचन करते हैं। सामान्य दर्शन जीवका मोचन नहीं कर सकता। नारायण-तन्त्र और अध्यात्मविद्यासे भी यही प्रतिपन्न होता है। अतएव बिम्बदर्शन ही मुक्तिका हेतु है, इसलिए बिम्बोपासना आवश्यक है॥ ५३ ॥

अवतरणिका भाष्य—विद्यया दर्शनात् विमुक्तिरित्येतत् दृढयितुमारम्भः। मुण्डके (मु॰ ३/२/३) काठके (कठ॰ १/२/२३) च श्रुयते। *"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्"* इति। अत्र संशयः। भगवत्कृताद्वरणादेव तत्साक्षात्कार उत वित्तिविरक्तियुक्ततद्भक्तिहेतुकादेव तस्मादिति। शब्दस्वारस्यात् केवलादेव तद्वरणात् स इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—विद्याकी सहायतासे भगवत्-दर्शन होनेपर मुक्ति होती है, इस सिद्धान्तको दृढ़ करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ करते हैं। मुण्डकोपनिषद और कठोपनिषदमें सुना जाता है कि *'नायमात्मा प्रवचेन'* इत्यादि अर्थात् इस आत्माको भक्तिरहित वेदाध्ययन द्वारा, भक्तिवर्जित मेधा द्वारा, बहुव्याख्याकारी मुखसे व्याख्या करनेपर और बहुत प्रकारके शास्त्र-श्रवण द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता किन्तु जिस जीवका श्रीहरि वरण करते हैं अर्थात् जिसपर दया

(कृपा) करते हैं, उसी व्यक्ति द्वारा वे प्राप्य हैं। श्रीहरि उन्हींके समक्ष अपने तनुको (श्रीविग्रहको) प्रकट करते हैं। इसमें संशय यह है कि भगवत्-कृत वरणसे उनका साक्षात्कार होता है? अथवा विद्या-वैराग्ययुक्त ईश्वर-भक्तिसे उनका साक्षात्कार प्राप्त होता है। इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब श्रुतिमें इस प्रकारकी उक्ति है तब श्रुतिमें उक्त शब्द-स्वारस्य अर्थात् शब्द-महिमाके द्वारा केवल वरणसे ही उन्हें प्राप्त किया जायेगा, इस मतके उत्तरमें सूत्रकार सिद्धान्त कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—विद्यया दर्शनाद्विमुक्तिरित्युक्तं प्राक् तन्न युक्तं तस्या हर्येकानुग्रहसाध्यत्वश्रवणादित्याक्षिप्य समाधेराक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। नायमित्यादि। प्रवचनेन भक्तिविहीनेन वेदाध्ययनेन मेधया तद्विहीनया बहुधा श्रुतेन बहुव्याख्यातृप्रमुखतः शास्त्रश्रवणेन च तद्विहीनेनेत्यर्थः। तर्हि कथं लभ्यस्तत्राह यमिति। यं जीवम्। एष हरिर्वृणुते तद्भक्तिपरितुष्टः स्वकीयत्वेन स्वीकरोति तेनैव वृतेन लभ्यः सन् स्वां तनुं मूर्त्तिं तस्य विवृणुते गुणकर्मविशिष्टां तां दर्शयतीति सिद्धान्तार्थः। केवलेनैव वरणेन लभ्यो न तुप्ययैरिति तु पूर्वपक्षार्थो बोध्यः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है कि पहले कहा गया था कि ब्रह्मविद्या द्वारा उनका साक्षात्कार होनेपर मुक्ति होती है, यह तो युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि यह विद्या एकमात्र श्रीहरिके अनुग्रहसे साध्य है, यह श्रुत होता है, यह आक्षेप करके समाधान हेतु इस अधिकरणमें आक्षेप-सङ्गति जाननी चाहिये। *'नायमित्यादि'* श्रुतिका अर्थ है—*'प्रवचनेन'* अर्थात् भक्ति-विरहित वेदाध्ययन द्वारा *'मेधया'*—भक्तिरहित मेधा द्वारा, बहुधा श्रुतेन—बहु व्याख्याकारीके मुखसे भक्तिहीन शास्त्र-श्रवण द्वारा भी वे लभ्य नहीं हैं। तब किस उपाय द्वारा वे लभ्य हैं? इस विषयपर कहते हैं—*'यमेवैष वृणुते'* अर्थात् जिस जीवको ये श्रीहरि 'वृणुते' उसकी भक्तिसे परितुष्ट होकर अपना मान लेते हैं, उसी वरण किये हुए भक्त द्वारा ही वे प्राप्य होते हैं, उसके समक्ष निज मूर्त्तिको प्रकट करते हैं अर्थात् गुण-कर्मविशिष्ट निज मूर्त्तिको उसे दिखाते हैं, यही सिद्धान्त अर्थ है और पूर्वपक्षीका अर्थ है कि केवल वरण द्वारा ही भगवान् लभ्य हैं, अन्य कोई उपाय नहीं है।

पराधिकरणम्

सूत्र—परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः॥५४॥

सूत्रार्थ—'परेण च शब्दस्य' शब्द (श्रुति) की जो भक्ति लभ्यत्व बोधनपरता है, वह इस श्रुतिके अव्यवहित परवर्त्ती वाक्य द्वारा एवं 'च' शब्दके द्वारा बोध्य वाक्यान्तरसे अवगत हो जाती है। 'ताद्विध्यम्' 'यमेवैष वृणुते' इस वाक्यमें जिस भगवत्-वरण द्वारा वे प्राप्य हैं, यह उक्ति परवाक्यके साथ एकवाक्यता द्वारा निर्णीत हुई है, 'अनुबन्धः' इसमें निर्बन्ध करनेके लिए वरणका माहात्म्य है। 'भूयस्त्वात्' क्योंकि वरणके अव्यवहित होनेके बाद ही साक्षात्कार होता है॥५४॥

सूत्रानुवाद—परवर्त्ती वाक्य एवं 'च' शब्दसे यह जाना जाता है कि वरणलभ्यत्वका तात्पर्य भक्तिलभ्यत्वसे है। भगवत्-साक्षात्कारके लिए भगवत्-कृत वरणका अनुबन्ध या निर्बन्ध (महत्-सङ्ग आदि क्रमबद्ध शृङ्खला) है॥५४॥

गोविन्दभाष्य—शब्दस्य वरणैकलभ्यत्वबोधकस्य तस्य वाक्यस्य ताद्विध्यं भक्तिलभ्यत्वबोधनपरत्वं परेण तदव्यवधिना वाक्येन च-शब्दात् वाक्यान्तरेण च गम्यतेऽतो वरणादेव तत्साक्षात्कार इति तस्य नार्थः। एतदुक्तं भवति—*"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम"* इति परवाक्यं मुण्डकेऽस्ति (मु॰ ३/२/४)। इहैतैरुपायैरिति बलाप्रमादादिसाधनक्रमो निर्दिष्टः। बलं खलु भक्तिरेव तादृक्। *"वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा"* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६६)। *"पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया"* (श्रीगी॰ ८/२२) इति वाक्यैकार्थ्यात्। *"नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्"* इति परवाक्यं काठके (कठ॰ १/२/२४)। इह सदाचारनिरतो जितेन्द्रियो हरिं ध्यायंस्तमनुभवतीति क्रमेण साधनान्यभिहितानि। तथाच परवाक्यैकार्थ्यात् पूर्वत्र भक्तिहेतुकमेव वरणमवसीयते। किञ्च वरणेनैव लभ्य इति पूर्ववाक्यार्थः। तत्र प्रेष्ठ एव वरणीयो वाच्यो नाप्रेष्ठः। प्रेष्ठत्वञ्च स्वस्मिन् भक्तिमत् एव नाभक्तस्येति। यदुक्तं स्वयमेव—*"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः"* (श्रीगी॰ ७/१७) इति श्रद्धाभक्तीत्यादिवाक्यान्तरेण चैतदेवम्। इतरथा तद्व्याकुप्येत्। वैषम्यादि च भगवतीति। ननु वृतेनैव लभ्य इति निर्बन्धः कुतस्तत्राह भूयस्त्वादिति। तुरवधारणे। तत्साक्षात्कारं प्रति वरणस्यातिबहुत्वात् स इत्यर्थः। वरणाव्यवधानेन स यद्भवतीति। अयमत्र क्रमः—

प्रथमतस्तावत् सतां प्रसङ्गः सेवा च। तया स्वपरात्मस्वरूपसम्बन्धबोधः। ततस्तदितरवैतृष्ण्यपूर्विका तद्भक्तिः। तया प्रेष्ठत्वेन वरणम्। ततस्तत्साक्षात्कृतिरिति॥ ५४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—शब्दस्य—केवल वरणलभ्यत्व बोधक (वेदमें 'वरण' शब्दके द्वारा भगवत्-प्राप्तिका बोध करानेवाले) उक्त वाक्यका *'ताद्विध्यं—भक्ति लभ्यत्व बोधन'* (भक्ति द्वारा प्राप्तव्य) में तात्पर्य है। (अर्थात् वरणको अनुग्रहका कारण कहनेपर उनकी भक्ति ही उनके दर्शनका कारण होती है।) इसके परवर्त्ती वाक्य द्वारा एवं 'च' शब्द द्वारा लभ्य अन्य वाक्योंके द्वारा भी यही अवगत होता है। अतएव केवल वरणसे ही उनका साक्षात्कार हो जाता है, यह इन श्रुति-वाक्योंका अर्थ नहीं है। बात यह है कि मुण्डकोपनिषदमें इस वाक्यका परवर्त्ती वाक्य है—*'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो ... ब्रह्मधामेति'* (मु॰ ३/२/४) अर्थात् आत्मा बलहीन व्यक्ति द्वारा लभ्य अर्थात् साक्षात्-करणीय नहीं है, यह प्रमादेन—अजितेन्द्रियता द्वारा भी प्राप्य नहीं है, *'अलिङ्गात् तपसः'* शास्त्रीय विधिरहित तपस्या द्वारा भी प्राप्य नहीं है। अतएव बल (भक्ति), अप्रमाद (जितेन्द्रियता), शास्त्रीय विधिके अनुसारकी जानेवाली तपस्या—ऐसे कुछ उपायों द्वारा जो भगवत्-दर्शनके लिए चेष्टा करते हैं, उनके निकट ही श्रीहरि प्रकट होते हैं। ये श्रीहरि ब्रह्म-बृहद्गुणयुक्त और धाम-सर्वाश्रय हैं। ब्रह्मधाम वैकुण्ठ अर्थमें है। इस *'नायमात्मा'* इत्यादि श्रुतिमें *'एतैरुपायैः'* के द्वारा भक्तिरूप, बल, जितेन्द्रियतारूप अप्रमाद इत्यादि साधनोंका क्रम निर्दिष्ट हुआ है। बलका अर्थ है—इस प्रकारकी भक्ति द्वारा ग्राह्य हैं। कैसी? पतिव्रता स्त्रियाँ जिस प्रकार सुशील पतिको सेवा द्वारा वशमें कर लेती हैं, उसी प्रकार भक्त भी मुझे भक्ति द्वारा वशमें कर लेते हैं। गीतामें कहा गया है यथा—*'पुरुषः स परः पार्थ'* इत्यादि अर्थात् हे पार्थ! वे परमपुरुष अनन्यभक्ति द्वारा प्राप्य हैं—इन सभी वाक्योंके साथ एकवाक्यता होनेपर बल शब्दसे भक्तिका ही बोध होता है। सूत्र-निर्दिष्ट परवर्त्ती वाक्य है यथा *'नाविरतो दुश्चरितात्'* इत्यादि अर्थात् जो व्यक्ति दुष्कार्योंसे विरत नहीं है, जो अशान्त अर्थात् अजितबहिरिन्द्रिय, असमाहितः अर्थात् अकृत समाधि (योगरहित) अशान्तमनाः अर्थात् अन्तरिन्द्रिय जयरहित हैं—ऐसे व्यक्ति श्रीभगवान्‌को

प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उन्हें तो बस प्रेम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस श्रुति-वाक्यमें कहा है कि जो व्यक्ति सदाचारनिष्ठ और जितेन्द्रिय है, वही श्रीहरिका ध्यान करके उनका साक्षात्कार करता है। अतएव इसमें सदाचार-निष्ठा, इन्द्रिय-जय और ध्यान इन सबको यथाक्रमसे भगवत्-साक्षात्कारका साधन बताया गया है। ऐसा होनेपर इसपर वाक्यके साथ एकवाक्यता करके निर्णीत हुआ कि पूर्वोक्त वरण वाक्यमें भक्ति हेतुक वरण (जिस वरणमें भक्ति हेतु है) ही भगवत्-साक्षात्कारका कारण है। और एक बात है, पूर्व वाक्यका अर्थ है—वरण द्वारा ही लभ्य हैं। पर इसका तात्पर्य अन्य प्रकारसे है कि जो व्यक्ति भगवान्‌का प्रियतम है वही व्यक्ति ही वरणीय है, यही कहना होगा। अप्रिय व्यक्ति नहीं। प्रियतमत्वका कारण है—उनके प्रति भक्तिमान व्यक्ति ही, अभक्त नहीं। भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे ही कहा है—इन चार प्रकारके साधकोंमें ज्ञानी ही सर्वश्रेष्ठ है। कैसा ज्ञानी? जो नित्ययुक्त एवं एकान्तभक्त हैं। मैं ज्ञानीजनोंका अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी भी मेरे प्रिय हैं। *'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैति'* अर्थात् श्रद्धा, भक्ति और ध्यान-योगसे मेरा साक्षात् करता है—*'यस्य देवे परा भक्तिः'* इस वाक्यमें भी यही कहा है कि जिसकी परमेश्वरमें ऐकान्तिकी भक्ति है—इत्यादि अन्य वाक्योंके साथ एकवाक्यता द्वारा भी भक्तिकी प्रधानतासे अवगत हुआ जा सकता है। *'इतरथा'*—यदि भक्तिलभ्यताको स्वीकार नहीं करते हो तो इन उक्तियोंका विरोध हो पड़ेगा और श्रीभगवान्‌में पक्षपातित्व तथा निर्दयतारूप दोष घटित होगा। यदि कहो, *'तेनैव लभ्यः'* (भगवान् जिसे वरण करते हैं, वह ही उन्हें प्राप्त करता है)। इस उक्तिमें वरणका ही निर्बन्ध किसलिए है? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः'* इति। तु शब्द अवधारणार्थ है अर्थात् भूयस्त्वहेतुक (प्राधान्यवशतः) भगवत्-साक्षात्कारके प्रति वरणके श्रेष्ठत्वके कारण उसमें निर्बन्ध (क्रमबद्ध शृङ्खला) है वरण भगवत्-साक्षात्कारके होनेसे पूर्ववर्त्ती है—यह तात्पर्य है। वरणके अव्यवहित होनेके बाद ही यह साक्षात्कार होता है। इस भगवत्-साक्षात्कारविषयमें इस प्रकारका क्रम पाया जाता है यथा—पहले साधुसङ्ग और साधुसेवा। उस साधुसेवासे जीवात्माका स्वस्वरूप और

ईश्वरके स्वरूपका सम्बन्ध-बोध। इसके बाद भगवान्‌से भिन्न समस्त वस्तुओंसे वितृष्णा अथवा वैराग्य प्राप्ति-पूर्वक भगवत्-भक्तिका उदय। इसके द्वारा प्रियतमत्व रूपमें भगवत्कृत स्वायत्तीकरण अथवा (प्रियता रूपसे) वरण और उसके बाद परमेश्वरका साक्षात्कार॥५४॥

सूक्ष्मा-टीका—परेण चेति। ताद्विध्यं सा भक्तिलभ्यत्वबोधनपरता विधा यस्य तत् तद्विधं तस्य भावस्ताद्विध्यमित्यर्थः। तस्य तथात्वञ्च परवाक्यैकवाक्यतया निश्चीयत इत्याह परेणेति। नायमिति। बलं भक्तिस्तद्धीनेन जनेन न लभ्यः किन्तु बलेनैव तेन लभ्य इत्यर्थः। प्रमादात् न लभ्यः किन्तु अप्रमादेन जितेन्द्रियत्वेनैव लभ्य इत्यर्थः। अलिङ्गात् तपसो न लभ्यः अपि तु शास्त्रीयविधिचिह्नितेन तपसा लभ्य इत्यर्थः। एतैर्बलादिभिरूपायैर्यो विद्वान् यतते तल्लाभार्थं प्रवर्त्तते तस्यैष आत्मा हरिर्विशते मिलतीत्यर्थः। स कीदृगित्याह ब्रह्मधामेति। बृहद्गुणकः सर्वाश्रयश्चेत्यर्थः। इहेति। तपोजितेन्द्रियत्वभक्तयोऽत्र परमैकान्ता बोध्याः। बलमिति। वशे स्वाधीनत्वे। पुरुष इति श्रीगीतासु। नाविरत इति। दुश्चरितादविरतो दुराचारी एनं हरिं नाप्नुयात्। अशान्तोऽजितवहिरिन्द्रियः असमाहितोऽ-कृतसमाधिः अशान्तमानसोऽजितान्तरिन्द्रियश्च नाप्नुयात्। किन्तु सदाचारवान् शमाद्युपेतो ध्याननिष्ठा विज्ञानेन प्रेम्णा प्राप्नुयादिति। पूर्वत्र वरणवाक्ये। तेषामिति श्रीगीताषु। आर्त्तादीनां चतुर्णां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते श्रेष्ठो भवति। तत्र हेतुर्नित्येति। एकस्मिन् मयि एकाकेवला वा भक्तिर्यस्य स इत्यर्थः। तद्वन्मयापि स श्रेष्ठत्वेन वृत इत्याह प्रियो हीति। अत्र भक्तकृते वरणे स्वामित्वसौहार्द-कारुण्यादिगुणकं तत्स्वरूपं हेतुः। भगवत्कृते तस्मिन्‌स्तु तदेकान्तभक्तिरेवेति बोध्यम्। श्रद्धेति। श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैति, यस्य देवे परा भक्तिरित्यादिश्रुत्यस्तरेण चेत्यर्थः। इतरथा भक्तिलभ्यतामस्वीकृत्य वरणैफलभ्यत्वस्वीकारे सतीत्यर्थः। तत् श्रद्धेत्यादि श्रुत्यन्तरम्। भूयस्त्वादिति। स निर्बद्धः। स यदिति स साक्षात्कारः॥५४॥

सूक्ष्मा-सार—*'परेण च शब्दस्येति'* सूत्रमें। *ताद्विध्यं—तद्विषयता तद्रूपता* अर्थात् सा—वही भक्तिलभ्यत्वबोधने तात्पर्य (उसका तात्पर्य भक्ति द्वारा प्राप्त होना जानना चाहिये) यही विधा—प्रकार जिसका, वह तद्विध—उसका धर्म ताद्विध्य, तस्य—उस वाक्यका, तथात्वञ्च—ताद्विध्य—परवाक्यके साथ एकवाक्यता द्वारा निर्णय हुआ है, यह *'परेण तदव्यवधिना वाक्येन'* इति—इस वाक्य द्वारा। *'नायमात्मा इत्यादि'* बलहीनेन—बल अर्थात् भक्ति, तद्-विरहित लोगोंके द्वारा लभ्य नहीं है किन्तु भक्तिमान व्यक्तियोंके द्वारा ही लभ्य है। प्रमाद—अजितेन्द्रियतासे भी लभ्य नहीं है किन्तु अप्रमाद अर्थात् जितेन्द्रियतासे लभ्य है।

अलिङ्ग—अशास्त्रीय तपस्यासे लभ्य नहीं है किन्तु शास्त्रीय विधि चिह्नित तपस्या द्वारा लभ्य है। इन बल, अप्रमाद, तपस्यादि उपाय द्वारा जो विद्वान चेष्टा करते हैं अर्थात् उन्हें प्राप्त करनेके लिए चेष्टा करते हैं, उनके ही सम्बन्धसे श्रीहरि प्रकट होते हैं। वे श्रीहरि किस प्रकारके हैं? वही कहते हैं—ब्रह्म अर्थात् बृहत्-गुणवान एवं धाम-सर्वाश्रय हैं। *'इहैतैरुपायैरिति'*—तपस्या, जितेन्द्रियत्व और भक्ति—यहाँ परमैकान्त जानना होगा। *'बलं खलु भक्तिरेव तादृक्'* इति—वशे कुर्वन्तीत्यादि—वशे—स्वाधीनताकरणमें *'पुरुषः स परः'* इत्यादि श्लोक श्रीगीताका (८/२२) है। *'ना विरतो दुश्चरितादित्यादि-दुश्चरित'*—दुष्कार्यसे अविरत, जो विरत नहीं है अर्थात् दुराचारी व्यक्ति श्रीहरिको प्राप्त नहीं होता 'अशान्त' अर्थात् जिसने बाह्य-इन्द्रियोंको जय नहीं किया है, असमाहित—अर्थात् समाधि (योग) रहित, अशान्तमानस—जिसने अन्तर इन्द्रियोंका दमन नहीं किया है—ऐसे व्यक्ति श्रीहरिको प्राप्त नहीं होते। हाँ, जो सदाचारनिष्ठ हैं, शमदमादियुक्त ध्याननिष्ठ हैं, वे ही प्रेम द्वारा भगवत्-दर्शन प्राप्त करते हैं। *'पूर्वत्र भक्तिहेतुकमेवेति'*—पूर्वत्र अर्थात् वरण-वाक्यमें। *'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त इत्यादि'*—गीता-वाक्य (७/१७) है—इसका अर्थ है—आर्त्त, तत्त्वजिज्ञासु, प्रयोजनार्थी और ज्ञानी—इन चार प्रकारके साधकोंके मध्य ज्ञानी ही श्रेष्ठ है, उसका कारण है कि वह नित्ययुक्त है और एक भक्ति अर्थात् एक मुझमें ही एका अथवा केवलाभक्ति है जिसकी। तद्वत—उसके समान अर्थात् वह जिस प्रकार मुझे प्रिय रूपमें ग्रहण करता है, उसी प्रकार मैं भी उसे प्रियतम रूपमें वरण करता हूँ। यही कहते हैं *'प्रियो हि इत्यादि'* (श्रीगी॰ ७/१७) उस भक्त द्वारा मुझे ग्रहणरूप वरण-विषयमें स्वामित्व, सौहार्द, कारुण्यादि गुणोंसे विशिष्ट श्रीभगवान्का स्वरूप कारण है। और भगवत्-कृत-वरण-विषयमें हेतु है—भगवान्के प्रति उसकी एकान्त भक्ति, यही जानना चाहिये। *'श्रद्धाभक्तीत्यादि वाक्यान्तरेणेति'*—इसका अर्थ है—*'श्रद्धा भक्तिध्यान योगादवैति'* इत्यादि श्रुति-वाक्य एवं *'यस्य देवे परा भक्तिः'* इत्यादि श्रुति-वाक्य। इतरथा—भक्तिलभ्यता स्वीकार न करके एकमात्र भगवत् द्वारा वरणलभ्यता स्वीकार करनेपर *'तत्व्याकुप्येत' तत् श्रद्धेत्यादि'* अन्य श्रुति-वाक्यका विरोध होगा। *वरणस्यातिबहुत्वात्*—श्रद्धा

इत्यादिसे भगवत्-वरण अति श्रेष्ठ है, इसलिए स इति—सः अर्थात् निर्बन्ध। *स यद् भवतीति*—सः का अर्थ है—भगवत्-साक्षात्कार॥५४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्मविद्या द्वारा जो मुक्ति प्राप्त होती है, उसीको दृढ़ करनेके लिए इस प्रकरणका आरम्भ हुआ है। मुण्डक-श्रुतिमें पाया जाता है *'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो ... आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।'* (मु॰ ३/२/३) ऐसा ही वर्णन कठीय श्लोक (कठ॰ १/२/२३) में भी है। इस स्थलपर एक संशय उपस्थित होता है कि, श्रीभगवत्कृत वरणसे ही क्या उनका साक्षात्कार होता है? अथवा ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्ति द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार होता है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि शब्दके स्वारस्यके (श्रेष्ठत्वके) कारण केवल वरण अर्थात् भगवदनुग्रहसे ही उनका साक्षात्कार होता है—यह कहना होगा। इस प्रकार पूर्वपक्षीके विचारके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रुतिमें जिस 'वरण' के विषयमें उल्लिखित है, उसमें भगवत्-दर्शन वरणैक लभ्यत्व (वरणके द्वारा ही लभ्य है) प्राप्त होनेपर भी इसका तात्पर्य भक्तिलभ्यत्वबोधनपर जानना होगा क्योंकि इस श्रुतिके परवर्त्ती वाक्य द्वारा और सूत्रोक्त 'च' शब्दके द्वारा यह अवगत होता है। परवर्त्ती वाक्यके साथ एकार्थता प्रयुक्त पूर्व वाक्यमें भक्ति हेतुक वरण पाया जाता है अर्थात् भक्ति-याजनके फलमें भक्त श्रीभगवान्‌का प्रियतमत्व प्राप्त करते हैं और तभी श्रीभगवान् उनका वरण करते हैं अर्थात् उनपर अनुग्रह करते हैं। इस भगवदनुग्रहके फलस्वरूप भक्तको भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त होता है, इसलिए अव्यवहित भगवत्-साक्षात्कारके पूर्वमें भक्तको वरण करते हैं—यह कहकर निर्बन्ध अर्थात् वरणकी महिमा कही गयी है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा॰ ९/४/६६)

अर्थात् पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार अपने पातिव्रत्य धर्मसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार सदा मुझमें अनुरक्त रहनेवाले

समदर्शी साधुजन अपनी प्रेममयी भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥

(श्रीमद्भा० ३/२५/३४-३५)

जो लोग समस्त इन्द्रियोंके द्वारा मेरी चरणसेवामें प्रीति रखते हैं, जो मेरी ही प्रसन्नताके लिए सम्पूर्ण चेष्टाएँ करते हैं, जो परस्पर सम्मिलित होकर मेरे ही माहात्म्यका वर्णन करते हैं, ऐसे भागवतजन मेरे साथ एकीभावरूप सायुज्य-मुक्तिकी स्पृहा नहीं करते। हे माताजी! वे साधु-महात्मा अरुण-नयन मनोहर मुखारविन्दवाले मेरे सुन्दर और वरदायक दिव्य रूपोंकी झाँकी प्राप्त करते हैं और उनके साथ प्रेमपूर्वक वार्त्तालाप भी करते हैं, जिसके लिए बड़े-बड़े तपस्वी भी लालायित रहते हैं।

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

(श्रीमद्भा० ४/२९/४६)

अर्थात् जिस समय परिपूर्ण ऐश्वर्यशाली भगवान् किसी भी जीवात्माके आत्म-समर्पण (आत्मवृत्ति) अर्थात् हृदयमें बार-बार चिन्तनसे सेवित होते हैं, तब उसपर कृपा करते हैं, जिसके फलस्वरूप वह भक्त लौकिक व्यवहार और वैदिक कर्ममार्गीय बद्धमूला आसक्तिका परित्याग कर देता है।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतके ११/२९/३४, ६/११/२३, ७/७/५१-५२, ८/३/२७, १०/१४/५ और ११/२/५५ इत्यादि श्लोक भी आलोच्य हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

भक्त आमा बान्धियाछे हृदय-कमले।
याँहा नेत्र पड़े ताँहा देखये आमारे॥

(चै॰च॰म॰ २५/१२५)

अर्थात् भक्तोंने मुझे अपने हृदय-कमलमें बाँध रखा है। बाहर-भीतर जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि पड़ती है, वे मुझे ही देखते हैं।

और भी,

भक्ति बिना मुक्ति नाहि, भक्त्ये मुक्ति हय।
तब मुक्ति पाइले, अवश्य कृष्ण भजय॥

(चै॰च॰म॰ २४/१३४)

अर्थात् भक्तिके बिना कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती और जिसे मुक्ति प्राप्त हुई है, वह भक्तिसे ही हुई है। तब जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की है, उन्होंने अवश्य ही कृष्णका भजन किया है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'परमात्मैव भक्त्या दर्शनं प्राप्य मुक्तिं ददातीति प्रधानसाधनत्वात् भक्तिः कारणत्वेनोच्यते। मायावैभवे च भक्तिस्थः परमो विष्णुस्तयैवैनं वशे नयेत्। तथैव दर्शनं यातः प्रदद्यान्मुक्तिमेतया। स्नेहानुबन्धोयस्तस्मिन् बहुमान पुरःसरः। भक्तिरित्युच्यते सैव कारणं परमोशतुरिति सर्वशब्दानां ब्रह्मणि प्रवृत्तेश्च।'

अर्थात् उपासनापूर्वक भक्ति ही मोक्षका साधन है, स्वतन्त्र रूपसे उसकी मोक्षसाधनता नहीं है इसका प्रमाण कहते हैं, इस समय सन्देह होता है कि भक्ति मुक्ति प्रदान करती है? अथवा परमात्मा मुक्ति प्रदान करते हैं? इस सन्देहके निवारणके लिए कहते हैं—परमात्मा ही भक्तिके साथ-साथ दर्शन देकर मुक्ति दे देते हैं। इसलिए भक्तिको ही मुक्तिका कारण कहा जाता है। माया वैभवमें उल्लेख है कि? विष्ण-भक्तिमें विराजमान हैं (भक्तमें भी विराजमान हैं) भक्तिमें उनका अधिकरण होनेसे वे भक्तिके नियामक है—इसलिए वे भक्तिको वशीभूत करते हैं और इसी भक्तिके कारण दर्शन देकर मुक्ति प्रदान करते हैं। विशेष रूपसे परमात्मामें बहुत सम्मानके साथ अग्रसरित जो

स्नेहानुबन्ध है, वही भक्ति है। इसी भक्तिसे ही परमेश्वर मुक्ति प्रदान करते हैं॥५४॥

अवतरणिका भाष्य—दास्यसख्यादिभावाः प्रारम्भादेव परमे व्योम्नि हरिमुपासते तत्रैव तं द्रक्ष्यन्तीति मतम्। अथ केचित् शान्तिभावास्तमादौ जाठरादावुपासत इति दर्श्यते। अत्र जाठरादि वाक्यानि विषयः। जाठरादौ हरिरुपास्यो न वेति संशयः। प्राकृते तस्मिन्नसत्त्वान्नोपास्यः किन्त्वप्राकृते परमे व्योम्न्येव नित्यं सत्त्वात् तत्रैवोपास्य इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—दास्य, सख्य इत्यादि भावापन्न भक्तगण पहले ही परव्योममें श्रीहरिकी उपासना करते हैं, वहीं उस परव्योममें ही वे श्रीहरिका दर्शन करते हैं—यही उनका सम्मत है और कतिपय शान्तभावापन्न भक्त हैं जो पहले जाठरादि अग्निमें उनकी उपासना करते हैं—इस अधिकरणमें यही प्रदर्शित है। यहाँ जाठरादि वाक्य विषय है। इसमें संशय यह है कि जाठरादि अग्निमें श्रीहरि उपास्य हैं? कि नहीं हैं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, क्योंकि ये जो उदरादि हैं, वे प्रकृतिसे सम्भूत होनेके कारण प्राकृत हैं, इनमें श्रीहरिकी सत्ता नहीं हो सकती। अतएव अप्राकृत परव्योममें ही वे उपास्य हैं क्योंकि वहाँ वे नित्य विराजमान रहते हैं। इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—दासादिभक्तानामुपासनां निरूप्य तत्प्रसङ्गाच्छान्त-भक्तानां सा निरूप्येति प्रसङ्गसङ्गतिः। दास्यसख्येति। प्रारम्भात् प्रथमतः। तं हरिम्। जाठरादिवाक्यानीति। उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेति आरुणयो ब्रह्मा हैव ता उर्द्धत्वे चोदसर्पत् तच्छिरोऽश्रयत तच्छिरोऽभवत् तच्छिरसः शिरस्त्वमित्यादीनि। एषामर्थः। उदरं ब्रह्मेति वैश्वानरो ब्रह्मेति वैश्वानरभूतेन ब्रह्मणाधिष्ठितत्वात्। उदरस्थजाठरान्तर्यामिभूतमन्नरसादिप्रवर्त्तनया क्रियाशक्तिप्रदमित्यर्थः। शार्कराक्षा रजःपिहितनेत्राः स्थूलधिय इत्यर्थः। हृदयं ब्रह्मेति तस्योपलब्धिस्थानत्वात्। हृदयस्थजीवान्तर्यामिभूतं बुद्ध्यादिप्रवर्त्तनया ज्ञानशक्तिप्रदमिति यावत्। *"सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः"* इति श्रुतेः। ब्रह्मा हैव ता इति। ब्रह्मा ब्रह्मणी ह स्फुटं ता ते उभयत्र उविभक्तेर्डादेशः उदरोरसी ते ब्रह्मणी एवेत्यर्थः। पुनरपि उर्द्धत्वे च उदसर्पत्। तद्ब्रह्म उर्द्धमुद्गम्य शिरोऽश्रयत अभजत। तत्र श्रोत्रादीनां महेन्द्रियाणां प्रकाशात् सुषुम्नाधारत्वाच्चेत्यर्थः। तद्ब्रह्मैव निजप्रकाशस्थानत्वात् शिरोऽभवदिति। प्राकृते तस्मिन्निति। प्रकृतिकार्ये जाठरादौ हरेरसत्वात् तत्र स नोपास्यः। न चाहं

तेष्ववस्थित इत्यादौ तत्र तदसत्त्वमुक्तम्। न हि मलिने निर्मलस्य स्वतस्त्रस्य स्थितिर्युक्ता। नियमनस्तु सङ्कल्पमात्रेणैव स्यादिति भावः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—दासादि भक्तोंकी उपासना निरूपण करके इस प्रसङ्गमें शान्तभक्तोंकी उपासना निरूपणीय है इसी कारण इस अधिकरणमें प्रसङ्ग-सङ्गति जाननी चाहिये। *'दास्यसख्येत्यादि'*—*'प्रारम्भादेवेति'*—प्रारम्भात्—पहलेसे ही, *'तत्रैव तत् द्रक्ष्यन्तीति'* में 'तम्' का अर्थ है—उन श्रीहरिको जाठरादिवाक्यानीति—शार्कराक्षगण उदरकी ब्रह्म-बोधसे उपासना करते हैं, आरुणिगण हृदयको ब्रह्म मानकर ध्यान करते हैं यथा श्रुति है—*'ब्रह्मा हैव ता उर्द्धत्वे चोदसर्पत् तच्छिरोऽश्रयत तच्छिरोऽभवत् तच्छिरसः शिरस्तम्'* इत्यादि—उदरं ब्रह्मेति, वैश्वानर ब्रह्म है, क्योंकि वैश्वानरस्वरूप ब्रह्म द्वारा अधिष्ठित है, अर्थात् उदरस्थ जाठर अग्निके अन्तर्यामी—प्रवर्त्तक होकर जो विद्यमान हैं, जीवके भुक्त अन्नरसादि प्रवर्त्तन करते हैं, इसलिए क्रियाशक्तिप्रद हैं। जो शार्कराक्ष हैं अर्थात् रजोगुणसे जिनके चक्षुः आवृत हैं, वे सब उपासकगण स्थूल बुद्धिसम्पन्न हैं। हृदयको ब्रह्म मानकर उपासना करते हैं, क्योंकि यह हृदय ब्रह्मका उपलब्धिस्थान है। जीवके हृदयमें रहकर ये अन्तर्यामी हैं, इनका कार्य बुद्धि इत्यादिकी प्रेरणा है, इसलिए ज्ञानशक्तिप्रद हैं। श्रुतिमें भी कहा गया है—सर्वदा समस्त लोगोंके हृदयमें जो सन्निविष्ट हैं। *'ब्रह्मा हैव ता'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है ब्रह्मा अर्थात् दो ब्रह्म, ह—स्पष्टतः ही, एव—वे ही दो ब्रह्म उदर एवं वक्षःस्थल, ये ब्रह्म ही हैं। 'ब्रह्मणी' न होकर ब्रह्मा इस पदके होनेका कारण *'सुपां सुलुक् डा'* (पा॰ ७/१/३९) इत्यादि वैदिक सूत्रके अनुसार 'औ' विभक्तिके स्थानपर 'डा' आदेश है। ड इत हेतु ब्रह्मन् शब्दके टि-अन् इस अंशका लोप है। इसी प्रकार 'ता' पदमें भी 'औ' के स्थानपर 'डा' आदेश है। पुनरपि इति—पुनः शरीरके उर्द्धवांशमें वे (ब्रह्म) उत्थित हुए हैं, तच्छिरोऽश्रयत इति—तत् उन ब्रह्मने ऊर्ध्व उठकर मस्तकका आश्रय किया। वहाँ कर्ण इत्यादि प्रधान-प्रधान इन्द्रियोंके चैतन्य-सम्पादन हेतु एवं सुषुम्ना नाड़ीके आधार हेतु वे ब्रह्म ही निज प्रकाशस्थानत्वके कारण शिरः (मस्तक) हुए हैं। *'प्राकृते तस्मिन्निति'* प्रकृतिके कार्य जाठराग्नि इत्यादिमें हरिकी सत्ता हो नहीं

सकती, इसलिए उसमें वे उपास्य नहीं हैं। इस वाक्यमें गीता-वाक्य प्रमाण है यथा—*'न चाहं तेष्वस्थितः।'* भगवान् कहते हैं—मैं उन सब प्रकृतिके कार्यमें अवस्थित नहीं हूँ। युक्ति यह है कि इस मलिनमें निर्मल स्वाधीन हरिकी स्थिति युक्तियुक्त नहीं है तब जो उदरमें, हृदयमें रहकर नियमन करते हैं यह उक्ति किस प्रकार सङ्गत हुई, इसका समाधान सङ्कल्पमात्रसे ही नियमन हो सकता है।

शरीरे भावाधिकरणम्

सूत्र—एक आत्मनः शरीरे भावात्॥५५॥

सूत्रार्थ—'एक'—कोई-कोई वेदशाखाध्यायीगण 'शरीरे' इस शरीरके मध्य जठर स्थित अग्निमें, हृदयमें और ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित 'आत्मनः आत्मस्वरूप विष्णुकी उपासनाको कर्त्तव्य मानते हैं। किस कारणसे? 'भावात्' क्योंकि वे उन-उन स्थानोंपर सत्ताविशिष्ट हैं॥५५॥

सूत्रानुवाद—कोई-कोई शाखाध्यायी शरीरमें, जाठराग्निमें, हृदयमें एवं ब्रह्मरन्ध्रमें आत्मस्वरूप विष्णुकी उपासनाको कर्त्तव्य मानते हैं क्योंकि इन सभी स्थानोंपर उनकी सत्ता है॥५५॥

गोविन्दभाष्य—एके केचिच्छाखिनः शरीरे देहे जाठरे हृदि ब्रह्मरन्ध्रे चेत्यर्थः आत्मनो विष्णोरूपासना कार्येति मन्यन्ते। कुतः? भावात्। तत्रापि तस्य सत्त्वादित्यर्थः। *"अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"* इति न्यायात्। प्रसादितस्तु दास्यत्येव क्रमेण निजपदमिति तदभिप्रायः। स्मृतिश्चैवमाह। *"उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मषु कूर्पदृशः परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्। तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमः पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमूखे"* (श्रीमद्भा० १०/८७/१८)॥५५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—एक अर्थात् कोई-कोई वेदशाखाध्यायीगण शरीरके मध्य उदराग्नि (जठर) में स्थित, हृदयमें स्थित और ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित विष्णुकी उपासनाको कर्त्तव्य मानते हैं। कारण क्या है? *'भावात्'* उनका यह मन्तव्य है कि इन-इन स्थानोंमें उनकी सत्ता है। युक्ति यह है कि *'अक्के चेत्'* इत्यादि। आभाणक (कहावत) है—यदि घरके कोनेमें ही मधु प्राप्त हो जाये, तब कोई पर्वतपर किसलिए जायेगा। इसका अभिप्राय यह है कि उपासना द्वारा यदि वे प्रसन्न हो जायें तो

उपासकोंको क्रमसे निजपद भी दे ही देंगे। स्मृति-वाक्योंमें भी इसी प्रकारसे पाया जाता है। जैसे कि श्रीमद्भागवतमें *'उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः'* इत्यादि अर्थात् श्रुतियाँ भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहती हैं कि ऋषि-सम्प्रदायमें जो शार्कराक्षमुनि-स्थूलदृष्टि हैं—वे जाठर अग्निकी ब्रह्मबोधसे उपासना करते हैं, *'परिसर पद्धतिं हृदयमारुण्यो दहरम्'* इति अर्थात् सूक्ष्मबुद्धि आरुषिगण दहर अर्थात् हृदयस्थित ब्रह्मकी उपासना करते हैं—यह हृदय कैसा है? *'परिसर पद्धतिम्'* अर्थात् उनकी सन्निद्धिको प्राप्त करानेवाला। *'तत उदगादनन्त। तव धाम शिरः'* इति—हे अनन्त! ततः—उन दोनों उपासनाओंको छोड़कर शिरःस्थित आपकी (अनन्तकी) उपासना करते हैं। किस प्रकारके शिरपर स्थित? *'तव धाम'*—सुषुम्ना नामक आपकी उपलब्धि-स्थानका जो आश्रय है—ऐसा शिर आपका धाम है। ततः—शिरः स्थित ब्रह्मरन्ध्रवर्त्ती आपकी उपासनाके बाद *'परमम्'*—जो प्रपञ्चके सम्पर्कसे रहित और उन्नत होकर आपके श्रीमत्‌वैकुण्ठधामकी उपासना करते हैं, वे *'पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे।' 'यत् समेत्य'*—जो वैकुण्ठधामको प्राप्त करके पुनः इस कृतान्तमुखमें अर्थात् यमके मुखमें—संसारानलमें पतित नहीं होते अर्थात् संसारमें उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती॥ ५५॥

सूक्ष्मा-टीका—एक इति। तत्रापीति। न चैवं मालिन्यसम्पर्कः अचिन्त्यशक्तेस्तस्य तदन्तःस्थस्यापि तदसम्पर्कात्। तदुक्तम्—एतदीशनमीशस्येत्यादि। न चाहं तेष्वित्यादावपि तदसम्पर्कात् तदनवस्थितिरुक्ता। नन्वेवं जाठरादौ तमुपासीनानां विशुद्धतत्पदाप्राप्तिरिति चेत् तत्राह प्रसादितस्त्विति। क्रमेण जाठरानुभवपद्धत्येत्यर्थः। स्वव्याख्याने प्रमाणमाह स्मृतिश्चेति। उदरमिति श्रीभागवते। प्रथमं क्रमसोपानरीत्यान्नमयादिपञ्चपुरुष-वर्णनमयपूर्वोक्तश्रुतिसाम्यात् लब्धावसराः क्रममुक्तिवर्त्मदर्शिका योगोपदेष्ट्र्यः श्रुतयो भगवन्तं स्तवन्ति उदरमिति। हे अनन्त! ऋषिवर्त्मषु ऋषीणां सम्प्रदायेषु ये कूर्पदृशः शार्कराक्षाः मुनयस्ते उदरं जठरस्थं ब्रह्मोपासते हृदयापेक्षया उदरस्य स्थौल्यात् स्थूलधियस्ते कथिताः। यद्वा कूर्पदृशः सूक्ष्मधियः हृदयस्थं सूक्ष्ममेवालक्ष्य तत्प्रवेशाय प्रथमं स्थूलमेवोदरं ध्यायन्तीत्यर्थः। आरुणयस्तु दहरं हृदयस्थमेव सूक्ष्ममुपासते। कीदृशमित्याह हृदयमिति। तदुपलब्धिस्थानत्वात् तद्रुपमित्यर्थः। परिसरपद्धतिमिति हृदयस्य विशेषणम्। तत्सन्निधिप्रापकमित्यर्थः। तत इति। तस्मादुपासनद्वयात्। तद्विधायेति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी। शिरस्तद्वर्त्तिनं त्वामुपासते।

हृदयात् तु सुषुम्ना यत्रोदगात् तदित्यर्थः। कीदृक् शिर इत्याह तव धामेति। सुषूम्नाख्यत्वदुपलब्धिस्थानाश्रयत्वाच्छिरस्तद्धामेत्यर्थः। ततः शिरःस्थब्रह्मरन्ध्रवर्त्तित्व-दुपासनानन्तरं प्रथमं परमं प्रपञ्चास्पृष्टं श्रीमत् वैकुण्ठधाम उपासते। यत् समेत्य उपलभ्य पुनरिह कृतान्तमुखे संसारानले न पतन्ति तस्मात् पुनर्नावर्त्तन्त इत्यर्थः॥ ५५॥

सूक्ष्मा-सार—*एकेत्यादि* सूत्रमें। *'तत्रापि तस्य सत्त्वादिति'* भाष्यमें। यदि कहो, जाठरादि ब्रह्मका मालिन्य सम्पर्क हो सकता है तो ऐसा नहीं है। अचिन्त्यशक्तिमान वे श्रीहरि उनके अन्तःस्थ होनेपर भी उनका उससे सम्पर्क नहीं होता। इस विषयमें प्रमाण है—*'एतदीशनमीशस्य'* ईश्वरका यही ईश्वरत्व है। इत्यादि *'न चाहं तेष्वस्थितः'*—इत्यादि स्मृति-वाक्यमें भी मालिन्य-सम्पर्क नहीं रहता, उसमें उनका अवस्थान नहीं है, यह कहा गया है। प्रश्न है कि यदि कहो, जाठराग्नि इत्यादिमें परमेश्वरके उपासकोंको ब्रह्मपद-प्राप्ति नहीं होती, ऐसा होनेपर उसके उत्तरमें कहते हैं—वे उपासना द्वारा प्रसाधित होनेपर क्रमसे अर्थात् जाठराग्निमें अपने अनुभव-क्रमसे निज पद देते हैं। इस व्याख्यामें प्रमाण दिखाते हैं—स्मृति-वाक्य भी इसी प्रकारसे कहते हैं यथा—उदरमुपासते इत्यादि वाक्य श्रीमद्भागवतसे उद्धृत है। तात्पर्य यह है कि प्रथममें क्रम-सोपान रीति द्वारा अन्नमय इत्यादि पाँचों पुरुषकी वर्णनात्मक पूर्वोक्त श्रुतिके साम्यवश अवसर प्राप्त करके इस समय क्रम-मुक्तिके पथ-प्रदर्शक योगका उपदेश करनेवाली श्रुतियाँ उदरमुपासते इत्यादि वाक्य द्वारा श्रीभगवान्‌का स्तव करती हैं—हे अनन्त! ऋषिवर्त्मसु—ऋषि-सम्प्रदायमें जो कूर्पदृक्-शार्करराक्ष मुनि हैं, वे उदरकी अर्थात् जाठर बह्निगत ब्रह्मकी उपासना करते हैं, हृदयदेशसे उदरके स्थूलत्वके कारण वहाँ ब्रह्मोपासकोंको स्थूलबुद्धि कहा गया है अथवा कूर्पदृशः—सूक्ष्मबुद्धि मुनिगण हृदयस्थित ब्रह्मको सूक्ष्म जानकर उसमें प्रवेश करनेके लिए पहले उदर-ब्रह्मका ध्यान करते हैं, यह अर्थ है। आरुणि मुनिगण दहर-ब्रह्मकी अर्थात् हृदय-स्थित सूक्ष्म ब्रह्मकी उपासना करते हैं। ब्रह्म कैसे हैं? इसीको स्वरूपतः प्रकाश करते हैं, 'हृदयमिति' हृदय उनकी उपलब्धिका स्थान है—इस कारण हृदयस्वरूप हैं। हृदय कैसा है? *'परिसरपद्धतिम्'*—वहाँ जानेका पथ—यह हृदयका विशेषण है अर्थात्

उनका सन्निधिप्रापक। *'तत उदगात् तव धाम शिरः इति'* में 'ततः' का अर्थ है—उन दोनों उपासनाओंके बाद अर्थात् उन दोनोंको छोड़कर *'लाव्लोपे'* कर्मकारकमें पञ्चमी है, आनन्त्य अर्थमें नहीं। आरुणिगण शिरः—शिरः स्थित आपकी (अनन्तकी) उपासना करते हैं, वह शिरःस्थानस्थित ब्रह्म किस प्रकारका है? सुषुम्ना नाड़ीकी सहायतासे हृदयसे जिसमें उठा है—इस प्रकारका शिरः स्थान। किस प्रकारका है? वही बताते हैं, *'तव धाम'* यह शिरः सुषुम्ना नामक आपकी उपलब्धि-स्थानका आश्रय है, इसलिए शिर आपका धाम है। ततः—उसके बाद अर्थात् शिरः स्थित ब्रह्मरन्ध्रवर्ती आपकी उपासनाके बाद वैकुण्ठधामकी उपासना करते हैं, किस प्रकारका वैकुण्ठधाम? प्रथमं—जो परम उत्कृष्ट है, प्रपञ्चके सम्पर्कसे रहित है। श्रीमत् वैकुण्ठधाम। जहाँ उपस्थित होकर अर्थात् जिसे प्राप्त करके पुनः इस कृतान्तमुखमें—संसाराग्निमें पतित नहीं होते अर्थात् उस स्थानसे आवृत्त नहीं होते॥ ५५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—दास्य, सख्यादि भावोंसे युक्त भक्त पहलेसे ही परव्योममें स्थित श्रीहरिकी उपासना करते हैं और वहाँ उनका दर्शन प्राप्त करते हैं—यही उनका सम्मत है किन्तु कोई-कोई शान्तभावापन्न व्यक्ति ऐसे हैं, जो पहले जाठरादिमें श्रीहरिकी उपासना करते हैं—यही इस प्रकरणका विषय है किन्तु इसमें एक संशय है कि जाठरादिमें श्रीहरि उपास्य हैं? कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं—जाठरादि प्राकृत है, उसमें श्रीविष्णुकी सत्ता नहीं हो सकती, अतः वे वहाँ उपास्य नहीं हो सकते। अप्राकृत परव्योममें ही श्रीहरिकी स्थिति है, वहीं उनकी उपासना करनी चाहिये। पूर्वपक्षीके इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि कोई-कोई वेदशाखाध्यायीगण मानते हैं कि शरीरके मध्य जठरमें, हृदयमें और ब्रह्मरन्ध्रमें आत्मरूपी श्रीविष्णुकी उपासना करनी चाहिये क्योंकि इन सभी स्थानोंपर उनकी सत्ता है। भगवान् श्रीहरि भी उपासना द्वारा प्रसादित होनेपर क्रमसे अर्थात् जाठराग्नि इत्यादिमें अपने अनुभवोंके क्रमानुसार अपना पद प्रदान कर देते हैं।

श्रीमद्भागवतमें ही कहा है—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/८)

अर्थात् योगियोंकी पूर्वोक्त धारणासे भी अतिश्रेष्ठ अन्तर्यामी चिद्घनस्वरूप श्रीभगवान्‌की धारणा श्रेष्ठ है। जैसे कि कोई-कोई योगी पुरुष (व्यष्टि अन्तर्यामी चतुर्भुजकी धारणासे युक्त) अपनी देहके भीतर हृदयके गह्वर (आकाश) में विराजित प्रादेशमात्र पुरुष (अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे पन्द्रह वर्षीय किशोर श्रीहरि) की धारणा द्वारा स्मरण करते हैं कि वे चतुर्भुज हैं और अपनी चारों भुजाओंमें शंख चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

'आत्मा'—शब्दे मन कहे, मने येइ रमे।
साधुसङ्गे सेइ भजे श्रीकृष्णचरणे॥

(चै॰च॰म॰ २४/१५९)

अर्थात् 'आत्मा' शब्दका अर्थ 'मन' भी कहा जाता है अतः जो मनमें रमण करता है, वह भी साधुसङ्गके प्रभावसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंका भजन करता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

(श्रीगी॰ १५/१४)

अर्थात् मैं जठराग्नि होकर प्राणियोंके शरीरका आश्रयकर प्राण-अपान वायुके संयोगसे चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'जीवांशनां पृथगुत्पत्तेर्नानादियोग्यतापेक्षयेति न मन्तव्यम्। कुतः? अंशाशिनोरेकत्वमेव। अंशिकर्म-निर्मित शरीर एवांशस्य भावात्।'

अर्थात् अब उपासनाके योग्यता-सापेक्षत्वका प्रतिपादन करते हैं, अन्यथा उपासनाका अव्यवस्था-प्रसङ्ग घटित होगा। पहली बात तो यह है कि भगवत्-उपासना योग्यता सापेक्ष है? कि नहीं? यह सन्देह होता है। यदि कहो, समस्त जीवोंकी पृथक्-पृथक् उत्पत्तिके कारण अनादियोग्यताकी अपेक्षा नहीं है तो यह कहने—जैसी बात नहीं है क्योंकि अंश और अंशी—इन दोनोंका ऐक्य है। विशेष रूपसे अंशी आत्माके कर्मसे निर्मित शरीरमें अंश वर्त्तमान है। इस अंशानुसार ही मनुष्योंकी शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिए योग्यतानुसार ही उपासना प्रतिपन्न होती है॥ ५५॥

अवतरणिका भाष्य—यथा क्रतुरित्यादिषु वाक्येषु माधुर्यगुणकमैश्वर्यगुण-कञ्चोपासनमुक्तम्। तादृक्सत्प्रसङ्गानुयायीशसङ्कल्पात् तत्र तत्रैव जीवानां प्रवृत्तिस्तेन तेन प्राप्तिश्च तत्तद्गुणस्वरूपेति च्छन्दत उभयाविरोधादित्यादिभ्यां दर्शितम्। इह संशयः—येनोपासनेन यद्गुणकं स्वरूपं ध्यातं तद्गुणकमेव तत्प्राप्तमुतास्ति ध्यात-गुणाद्गुणातिरेक इति। उभयत्रापि ध्याने ध्येयैक्याद् गुणोपसंहारन्यायाच्चास्तीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'यथा क्रतुः'* (क्रतुके अनुसार फल होता है) इत्यादि वाक्योंमें दो प्रकारकी उपासना कही गयी है—माधुर्यगुणकी उपासना एवं ऐश्वर्यगुणकी उपासना इस प्रकारसे साधुसङ्ग अनुसारी ईश्वर-सङ्कल्पसे माधुर्यगुणक तथा ऐश्वर्यगुणक दोनों ही प्रकारकी उपासनाओंमें जीवोंकी प्रचेष्टा (प्रवृत्ति) होती है और उन-उन उपासनाओं द्वारा (प्राप्ति-भेदसे) श्रीहरिका साक्षात्कार होता है, यह *'तत्तद् गुणस्वरूपेत्यादि'* और *'छन्दत उभयाविरोधात्'* इत्यादि सूत्रों द्वारा दिखाया गया है। इस विषयमें संशय यह है कि जिस उपासनाके द्वारा जिन गुणोंसे सम्पन्न ध्येय ब्रह्मके स्वरूपका ध्यान किया जाता है, उस ध्यानके द्वारा उन्हीं गुणोंसे सम्पन्न उस ध्येयस्वरूपकी प्राप्ति होगी? अथवा ध्यात गुणोंसे अतिरिक्त गुण जिनमें हैं, उस स्वरूपकी भी प्राप्ति होगी? पूर्वपक्षी इसके उत्तरमें कहते हैं—इन दो प्रकारकी उपासनाओंमें जब ध्येय वस्तु एक ही है, इसलिए भी तथा ध्यात गुणोंके अतिरिक्त गुणोंके ग्रहण-हेतुक भी ध्यात गुणसे गुणातिरेक वस्तुकी (स्वरूपकी) ही प्राप्ति होगी? इसके समाधानके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वं दास्याद्युपासनाच्छान्तोपासनमन्यत् पूर्वस्य विचित्रकर्मकत्वात् परस्य तत्त्वविरहात् सतरङ्गसिन्धोर्निस्तरङ्गसिन्धुरिवेति दर्शितं तन्न युक्तम् उपास्यस्य सर्वत्रैक्यादित्याक्षिप्य समाधानादाक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। यथेत्यादि। तत्र तत्रैवेति। माधुर्यगुणके एवैश्वर्यगुणके एवोपासने इत्यर्थः। तेन तेनोपासनेन उभयत्र द्विभेदे उपासने।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले दिखाया गया था कि दास्यादि भावमें उपासनासे शान्तभावमें उपासना भिन्न है, क्योंकि दास्यादिभावसे उपासनामें नानाविध कर्म हैं किन्तु शान्तभावसे उपासनामें वह नहीं है जिस प्रकार तरङ्गाकुल समुद्रसे तरङ्गहीन समुद्र पृथक् है—यह तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि समस्त उपासनाओंमें उपास्य एक ही है, यह आक्षेप करके उसके समाधान हेतु इस अधिकरणमें आक्षेप नामक सङ्गति हैं *'यथा क्रतुः'* इत्यादि—*'तत्र तत्रैव जीवानां प्रवृत्तिः'* इतिमें 'तत्र तत्र' का अर्थ है—माधुर्यगुणक उपासनामें भी और ऐश्वर्यगुणक उपासनामें भी। *'तेन तेनेति'*—उस उस उपासना द्वारा। *'उभयत्रापि ध्याने इति'*—दोनों प्रकारकी उपासनामें यह अर्थ है।

व्यतिरेकस्तद्भावाधिकरणम्

सूत्र—व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत्॥५६॥

सूत्रार्थ—'न'—नहीं 'व्यतिरेकः न' गुणातिरेक वस्तुकी प्राप्ति उसमें नहीं है, किस कारणसे? 'तद्भावभावित्वात्' इति—ध्यानानुसारीगुणकत्वरूप भगवत्-गुणके तत्प्राप्ति विषयमें ही उद्देश्य रहनेके कारण 'उपलब्धिवत्' अर्थात् ज्ञानके समान—जो रूप ज्ञानमें ध्यात होता है, वह रूप ही मुक्तिमें उदित होता है॥५६॥

गोविन्दभाष्य—तू-शब्दः शङ्काच्छेदार्थः। नास्ति गुणातिरेकः। कुतः? तद्भावेति। तद्भावस्य ध्यानानुयायिगुणकत्वस्य तद्धर्मस्य भावित्वात्। प्राप्तावुद्देश्यत्वादित्यर्थः। उपलब्धिवत् ज्ञानवत्। यथा ज्ञात्वा ध्यातं तथैव प्राप्तवुदियात्। यद्यपि तद्विदुषां स्वोपास्येतरगुणाधारकत्वधीरस्ति तथापि तेषां तदितरेषां प्राप्तावनुदयो ध्यानाभावात्। इत्थञ्च यथाक्रतुश्रुत्यव्याकोपः॥५६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निराकरणके लिए है। 'व्यतिरेको न' से तात्पर्य है कि ध्यानसे अतिरिक्त गुणातिरेक

(गुणोंकी अतिरिक्तताका लभ्यत्व) नहीं होगा। क्यों? *'तद्भावभावित्वात्'*— तद्भावका अर्थात् ध्यानानुयायी गुणकत्वरूप भगवत्-गुणका ही प्रकाश होता है अर्थात् प्राप्तिमें तत्साक्षात्कारका (उन्हीं ध्येय वस्तु) का उद्देश्य रहता है। उपलब्धिवत्का अर्थ है ज्ञानके समान। जिस प्रकारके ज्ञानसे ध्यान किया जाता है, वह स्वरूप ही उपलब्धिमें (प्राप्तिमें) प्रकट होता है। यद्यपि ब्रह्मविद्गण यह जानते हैं कि उनके उपास्य अपने उन गुणोंसे अतिरिक्त अन्य गुणोंके भी आश्रय हैं, तो भी उन ब्रह्मविदोंके मोक्षकालमें उपास्यसे (ध्येयसे) अतिरिक्त गुणोंका उदय नहीं होगा क्योंकि उन गुणोंका ध्यान नहीं किया गया था। इस प्रकारकी व्याख्यासे *'यथा क्रतुः'* इत्यादि श्रुतिके साथ कोई विरोध भी नहीं घटता है॥ ५६॥

सूक्ष्मा-टीका—व्यतिरेक इति। तद्धर्मस्य भगवद्गुणस्य। प्राप्तौ मोक्षे। उदियात् साक्षाद्भवेत्। यद्यपीति। स्वोपास्येभ्यो गुणेभ्य इतरे भक्तास्तरोपास्या ये गुणास्तेषामप्ययमेव हरिराश्रय इति धीर्ज्ञानमस्तीत्यर्थः। तदितरेषां स्वध्येयभिन्नानां गुणानाम्॥ ५६॥

सूक्ष्मा-सार— *'व्यतिरेक'* इत्यादि सूत्रमें। तद्धर्मस्य भावित्वादिति—तद्धर्म अर्थात् भगवद्गुणका। प्राप्तावुद्देश्यत्वात् इति—प्राप्तौ अर्थात् मुक्तिमें। उदियात्—साक्षात्कार होता है। यद्यपीत्यादि—यद्यपि निज-निज उपास्य गुणसे अन्य भक्तके जो समस्त उपास्य गुण हैं—उनके भी श्रीहरि ही आश्रय हैं; यह ज्ञान ब्रह्मविद्गणोंका है। *'तथापि तेषां तदितरेषामिति'* में— *'तदितरेषाम्'*—अर्थात् स्वध्येय गुणसे भिन्न गुणोंका॥ ५६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—'क्रतु अनुसार फल होता है' इत्यादि वाक्यमें माधुर्य गुणकी एवं ऐश्वर्य गुणकी—दो प्रकारकी उपासनाएँ कही गयी हैं। साधुसङ्ग-अनुयायी ईश्वर-सङ्कल्पसे माधुर्य एवं ऐश्वर्य गुणकी उपासनाओंमें जीवोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है और प्राप्तिका भी भेद देखा जाता है। इस स्थलपर एक संशय होता है कि ध्यानानुरूप स्वरूपकी ही प्राप्ति होती है? अथवा ध्यानातिरिक्त स्वरूपकी भी प्राप्ति हो सकती है? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि दो प्रकारकी उपासनाओंमें जब ध्येय वस्तुका ऐक्य है तब ध्यात-गुणोंके अतिरिक्त स्वरूपकी भी प्राप्ति हो सकती है। पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें

सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, ध्यानसे अतिरिक्त गुण प्राप्त नहीं होते, केवल ध्यात-गुण ही प्राप्त होते हैं। इसका कारण है कि तत्प्राप्ति-विषयमें उद्देश्य रहनेके कारण भावनानुसार ही फल होता है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त होता है—

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
व्रजेम तत् तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/४२)

अर्थात् हे भगवन्! विषयाभिनिविष्ट व्यक्ति भी श्रद्धा एवं श्रवणपूर्वक भक्तिके द्वारा मार्जित हृदयमें आपके जिन पादपद्मोंकी उपलब्धि करते हैं और वैराग्यपुष्ट ज्ञानके बलसे परम धीर हो जाते हैं, हम आपकी उसी चरणारविन्दकी चौकी (पाद-सरोज-पीठ) का आश्रय ग्रहण करते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कृष्ण-प्राप्तिर उपाय बहुविध हय।
कृष्ण-प्राप्ति-तारतम्य बहुत आछय॥

किन्तु याँर येइ रस, सेइ सर्वोत्तम।
तटस्थ हञा विचारिले, आछे तर-तम॥

(चै॰च॰म॰ ८/८२-८३)

अर्थात् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके बहुत-से उपाय हैं और उन उपायोंके अनुसार कृष्णकी उपलब्धिमें तारतम्य है। जिसका जो रस है, उसके लिए वही सर्वोत्तम है किन्तु तटस्थ रहकर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि इस प्राप्तिमें तारतम्य है।

श्रील प्रभुपादने इस पयारके सन्दर्भमें अपने अनुभाष्यमें कहा है कि इस वाक्यके द्वारा यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जिसका जो भी मनोधर्म अथवा ख्याल है, वही सर्वोत्तम है। उच्छ्रङ्खलता कभी भी सर्वोत्तम नहीं हो सकती।

श्रील नरोत्तम ठाकुरने कहा है—

साधने भाविवे याहा, सिद्धिते पाइबे ताहा।

अर्थात् साधनमें जैसी भावना रहेगी, सिद्धिमें उसीकी उपलब्धि होगी।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१/२/३०८) में भी है—

पतिपुत्रसुहृदभातृ　　पितृवन्मित्रवद्धरिम्।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः॥

अर्थात् जो बड़े उत्साहके साथ श्रीकृष्णका पति, पुत्र, सुहृत, भ्राता, पिता एवं मित्रके समान सदा चिन्तन करते हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीमद्भागवतका निम्न श्लोक भी इस सन्दर्भमें आलोच्य है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४३/१७)

अर्थात् परीक्षित्! उस समय बलदेवजीके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश करते हुए श्रीकृष्ण मल्लोंको वज्रके समान कठोर, साधारण नरोंको नरोत्तम स्वरूप, कामिनियोंको मूर्त्तिमान कामदेव, गोपोंको बान्धव, दुष्ट राजाओंको शासन-कर्ता, माता-पिताके समान वृद्धजनोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञ जनोंको विराट् पुरुष, योगियोंको परमतत्त्व एवं भक्त वृष्णियोंको परम आराध्यके रूपमें प्रतीत हो रहे थे (सबने अपने-अपने भावके अनुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत शृङ्गार, सख्य और हास्य; वीर, वात्सल्य और करुण, भयानक, वीभत्स, शान्त और दास्य—द्वादश रसोंमें देखा)॥५६॥

अवतरणिका भाष्य—तादृशेन तत्सङ्कल्पेनैव तत्र तथैव प्रवृत्तिस्तेन तेन तथा तथा प्राप्तिरित्यत्र दृष्टान्तत्वेन सूत्रमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सत्-प्रसङ्ग (साधु-प्रसङ्ग) के अनुयायी ईश्वरके सङ्कल्पसे ही उस-उस उपासनामें भक्तकी उन-उन रूपोंमें

(स्थलों या गुणोंमें) ही प्रवृत्ति होती है और माधुर्यगुणक एवं ऐश्वर्यगुणक उपासना द्वारा उन-उन रूपोंमें ही उनका साक्षात्कार होता है। इस विषयमें दृष्टान्त रूपमें परवर्त्तीसूत्रमें कहते हैं।

अवतरणिकाभाष्य टीका—तादृशेनेति। दृष्टान्तत्वेनेति पटवच्चेति सूत्र यथा तद्वदिदं बोध्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—तादृशेनिति। दृष्टान्तत्वेनेति—*'पटवच्च'* (वे॰सू॰ २/१/१९) सूत्र जिस प्रकार व्याख्येय है उसी प्रकार इसे भी जानना चाहिये।

सूत्र—अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्॥ ५७॥

सूत्रार्थ—'अङ्गावबद्धास्तु' ऋत्विकों द्वारा निर्दिष्ट यज्ञाङ्गमें उन ऋत्विकोंका नामकरण करके वरण किया जाता है, समस्त कर्मोंमें निपुण होनेपर भी उनका जिस प्रकार वृत (वरण किये हुए) एक-एक ही कर्ममें अधिकार होता है, समस्त कार्योंमें नहीं, 'न शाखासु' समस्त शाखाओंमें विहित अङ्ग-कार्योंको वे कर नहीं सकते, 'हि प्रतिवेदम्' क्योंकि वेदके अनुसार सभी अङ्ग-कार्य नियमबद्ध हैं॥ ५७॥

सूत्रानुवाद—जिस कार्यके लिए जिस ऋत्विकको यजमान द्वारा वरण किया जाता है, वह उसी कार्यमें अधिकारी होगा, अन्य अङ्गकार्योंका नहीं। वेदमें सभी अङ्ग नियमित हैं॥ ५७॥

गोविन्दभाष्य—तत्तदृत्विग् नियतकर्त्तव्येष्वग्न्याधानादिषु यज्ञाङ्गेषु यजमानेन सर्व ऋत्विजोऽववद्धाः। अवबन्धनं नामकरणमेव। अध्वर्युं त्वां वृणे होतारं त्वां वृणे उद्गातारं त्वां वृणे इत्यादिरूपम्। तस्मादेव हेतोः सर्वकर्मनिपुणानामपि तेषामेकत्राधिकारो न तु सर्वत्रेति नियमः। तथाभूताश्च ते सर्वासु शाखाषु विहितान्यङ्गानि कर्त्तुं न प्रभवन्ति। हि यतः प्रतिवेदमङ्गानि नियमितानि (ऋचा) हौत्रं यजुषाध्वर्यवं साम्नौद्गात्रमथर्वणा ब्रह्मत्वमिति। अत्र यजमानेच्छैव यथर्त्विजां कर्मविशेषे दक्षिणाभेदे च प्रवर्त्तिका तथा जीवानां तत्तदुपासने तत्तत्स्वरूपे च तादृशीशेच्छैवेति॥ ५७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अग्न्याधानादि यज्ञाङ्ग उस-उस ऋत्विकके लिए निर्दिष्ट कार्य (कर्त्तव्य) हैं। इन कार्योंमें यजमान समस्त ऋत्विकगणोंको नामकरण (अवबन्धन) करते हुए वरण करता है यथा—*'अध्वर्युं*

त्वामहं वृणे'—मैं आचार्य रूपमें आपको वरण करता हूँ, *'होतारं त्वां वृणे'* होम-कार्यमें होतृ (होता)—रूपमें आपको वरण करता हूँ, *'उद्गातारं त्वां वृणे'*—सामगान-कार्यमें उदगातृ रूपमें आपको नियुक्त करता हूँ। इन भिन्न-भिन्न कार्योंमें वरणके कारण समस्त कार्योंके निर्वाहमें सुदक्ष होनेपर भी उन ऋत्विकगणोंका उन-उन निर्दिष्ट कार्योंमें ही अधिकार है, समस्त कार्योंमें नहीं, यह नियम है; इन आध्वर्यादि प्रत्येक कार्यमें निपुण होनेपर भी ऋत्विकगण समस्त शाखाओंमें विहित अङ्गोंको करनेके अधिकारी नहीं होंगे क्योंकि प्रत्येक वेदमें ही अङ्ग-कार्य नियमित (निर्दिष्ट) है, जैसे कि ऋग्वेदके द्वारा होत्र-कार्य सम्पन्न होगा, यजुर्वेदके द्वारा अध्वर्युका कार्य निष्पादित होगा, सामवेदके द्वारा उद्गात्र (सामगान) सम्पन्न होगा और अथर्ववेद द्वारा ब्रह्मकर्म। इस कार्य-नियममें जिस प्रकार यजमानकी इच्छा ही कर्मविशेष और विभिन्न दक्षिणाओंमें प्रवर्त्तिका है, उसी प्रकार जीवोंके इन माधुर्यगुणकादि उपासना भेदसे उन-उन स्वरूपोंके ग्रहणमें वैसी ईश्वर-इच्छा ही प्रयोजिका है॥ ५७॥

सूक्ष्मा-टीका—अङ्गेति। तस्माद्वरणादेव। एकत्रेति। यस्मै वृतस्तत्रैव कर्मण्यधिकारी भवति नान्यत्रेत्यर्थः। तथाभूताश्चेति। आध्वर्यवादिसर्वकर्मानुष्ठानविज्ञा अपि तेऽध्वर्युप्रभृतय आध्वर्यवादीन्येव कर्माणि कुर्वन्ति न त्वौद्गात्रादीनीत्यर्थः। तादृगिति। तादृक्सत्प्रसङ्गानुयायिनीत्यर्थः॥ ५७॥

सूक्ष्मा-सार—*'अङ्गावबद्धेत्यादि'* सूत्रमें *'तस्मादेव हेतोः'* इस भाष्यमें 'तस्मात्' उस तत्—तत् कार्यमें वरणसे ही। *'एकत्राधिकारो न सर्वत्रेति'*—एकत्र—जिस कार्यके लिए जो ऋत्विक यजमान द्वारा वरण हुए हैं, उस कार्यमें ही वे अधिकारी होंगे, अन्य कार्यमें नहीं, यह उसका तात्पर्य है। *तथाभूताश्च ते* इत्यादि—तथाभूत अर्थात् आध्वर्यवादि समस्त कार्यानुष्ठानमें अभिज्ञ होकर भी वे अध्वर्यु इत्यादि ऋत्विकगण आध्वर्यावादि कर्म ही करेंगे, किन्तु उद्गात्रादि कर्म नहीं। *तादृशीशेच्छैवेति*—में तादृक्—इस प्रकारकी सत्प्रसङ्गानुयायिनी ईश्वरेच्छा ही प्रयोजिका है॥ ५७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले जो कहा गया था कि साधुसङ्गानुयायी भगवत्-सङ्कल्पसे जीवोंके माधुर्यगुणमय और ऐश्वर्यमय परमेश्वरकी आराधनामें प्रवृत्तिका उदय होता है और तदनुयायी भजनके फलसे

उसी स्वरूपकी प्राप्ति होती है—इसी विषयको दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जिस प्रकार ऋत्विकगण समस्त कर्मोंमें निपुण होनेपर भी यजमान निर्दिष्ट कर्मके लिए यज्ञाङ्गमें ऋत्विजोंको अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मारूपमें इच्छापूर्वक वरण करते हैं और उन-उन निर्दिष्ट कर्मोंको ही वे करते हैं क्योंकि प्रत्येक वेदमें ही अङ्गकार्य नियमित हैं। इस स्थलपर जिस प्रकार यजमानकी इच्छा ही कर्मविशेष और विभिन्न दक्षिणाओंमें प्रवर्त्तक है, उसी प्रकार जीवोंकी भी सत्प्रसङ्गानुयायी ईश्वरेच्छामें माधुर्य और ऐश्वर्य स्वरूपकी उपासनामें प्रवृत्ति है और उपासनानुयायी उसी प्रकारके स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवतमें है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ,
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥

(श्रीमद्भा० १०/५१/५४)

अर्थात् हे अच्युत! इस प्रकार प्रपञ्चमें भटकते जीवका सौभाग्यसे जिस समय सांसारिक बन्धन छूटनेका समय आता है, उस समय उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है और जिस समय सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी समय साधुओंके परमाश्रयस्वरूप, समस्त कार्य-कारणोंके नियन्ता आपके प्रति भक्ति उत्पन्न होती है और उसीसे सांसारिक प्रपञ्च छूट जाता है।

श्रीभगवान्ने भी कहा है—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्व्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

(श्रीमद्भा० ११/२०/८)

जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न तो अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोगसे ही सिद्धि मिल सकती है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

साधुसङ्गे कृष्णभक्त्ये श्रद्धा यदि हय।
भक्तिफल प्रेम हय, संसार याय क्षय॥
(चै॰च॰म॰ २२/४९)

अर्थात् साधुसङ्गके प्रभावसे यदि कृष्णभक्तिमें श्रद्धा हो जाय तभी भक्तिका फल प्रेम प्राप्त होता है और संसार नष्ट हो जाता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देखा जाता है—

'ब्रह्माद्यङ्गदेवता च ब्रह्मोपासनादि प्रतिशाखं प्रतिवेदञ्च नोपसंह्रियते। हि शब्दात् समत्वाद्वोत्तमत्वाद् वा नाङ्गदेवाद्युपासनम्। उपसंहार्य मित्याहुर्वेद सिद्धान्तवेदिनः इति ब्रह्मतर्क वचनात्।'

अर्थात् ब्रह्मज्ञान-साधनामें उपासना यथा ब्रह्मा आदि अङ्गदेवताओंसे सम्बद्ध उपासना आदिका विभिन्न शाखाओंमें उल्लेख है, अतएव ब्रह्मोपासनामें अङ्गदेवताकी उपासना करें—यह प्रतिपादन करते हैं। इस समय यह सन्देह होता है कि अन्य देवताकी उपासना करनी चाहिये? कि नहीं? इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं ब्रह्मादि देवताओंकी उपासना और परिचर्या अवश्य करें। इससे श्रुतिका विरोध नहीं होता क्योंकि श्रुतिमें जो अन्य देवताकी उपासनाका निषेध कहा गया है, उससे यह समझना होगा कि उन देवताओंकी प्रधान रूपमें उपासना न करें। अङ्ग रूपमें अन्य देवताकी उपासना स्वीकार है। ब्रह्मतर्क वचनसे जाना जाता है कि भगवान्‌के समान अथवा उनसे उत्तम जानकर किसी अन्य देवताकी उपासना न करें। अङ्गदेवताकी उपासना ब्रह्म-उपासनासे न तो समता प्राप्त कर सकती है, न ही उत्तम हो सकती है। वेद-सिद्धान्तदर्शी ऐसी उपासनामें ब्रह्मगुणोंका उपसंहार कर लेते हैं। इसके द्वारा भी प्रधान रूपमें अङ्गदेवताकी उपासनाका निषेध जाना जाता है॥५७॥

अवतरणिका भाष्य—अथोद्धवादीनां विमिश्रभावदर्शनादसन्तोषात् निदर्शनान्तर-माह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद उद्धव इत्यादि उपासकोंका ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रभाव परिदृष्ट होनेके (दिखायी देनेके) कारण पूर्वोक्त

युक्तिमें असन्तोष हो सकता है, इस कारण एक और दृष्टान्त दिखाते हैं—

सूत्र—मन्त्रादिवत् वाऽविरोधः॥५८॥

सूत्रार्थ—'वा'—अथवा 'मन्त्रादिवत्' मन्त्र इत्यादिके समान 'अविरोधः'—विरोध नहीं होगा॥५८॥

सूत्रानुवाद—मन्त्रके समान तद्-तद्-विषयक भक्ति प्रवर्त्तनके लिए भी विरोधका सामञ्जस्य ही रहेगा॥५८॥

गोविन्दभाष्य—तत्तद्विषयकभक्तिप्रवर्त्तनाय तादृशस्तत्सङ्कल्पो मन्त्रवत्। यथैक एव मन्त्रो बहुषु कर्मसु विनियुज्यते कश्चित् द्वयोः कश्चित् तु एकस्मिन्नेवेति तथैव विधानात्। आदिशब्दात् कालकर्मग्रहः। यथैक एव कालः क्वचित् कुसुमपत्रादेः क्वचिन्निष्पत्रस्य च क्वचित् बाल्यस्य क्वचित् तारुण्यस्य च हेतुः स्यादेवं वाऽविरोधः तथाच यद्गुणकं यत्स्वरूपमुपास्यते तद्गुणकमेव मोक्षे स्फुरतीति चिन्तितगुणात् गुणान्तरातिरेको नेति सिद्धम्॥५८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—तद्-तद्-विषयक भक्तिकी जिनमें प्रवृत्ति होती है, उसी निमित्त उसी प्रकारका भगवत्-सङ्कल्प अर्थात् भगवदिच्छा होती है, जैसे कोई एक मन्त्र बहुत-से कर्मोंमें प्रयुक्त होता है—दूसरा कोई मन्त्र दो कर्मोंमें और कोई मन्त्र एक ही कर्ममें प्रयुक्त होता है। इसका कारण है कि विधि ही इसी प्रकारकी है। सूत्रोक्त आदि पदसे काल और कर्म ग्राह्य हैं—यह जानना चाहिये। कालका दृष्टान्त है कि जैसे एक ही अखण्डकाल किसी समय (वसन्त ऋतुमें) पुष्प-पत्रादिके उद्गमका कारण होता है तो वही कभी (शीत ऋतुमें) पत्राभावका कारण होता है। पुनः यही काल जिस प्रकार बाल्यावस्थाका कारण होता है और कभी यौवनका हेतु होता है। कर्म-सम्बन्धमें दृष्टान्त टीकामें देखना चाहिये। इस प्रकारसे कोई विरोध नहीं है अर्थात् उसी गुणसे विशिष्ट रूपमें जिस स्वरूपकी उपासना की जायेगी, मुक्तिमें वही गुणविशिष्ट वही स्वरूप प्रकाशित होगा। अतः ध्यात (चिन्तित) गुणसे अतिरिक्त गुणका स्फुरण (उदित) नहीं होगा—यही सिद्धान्त है॥५८॥

सूक्ष्मा-टीका—मन्त्रादिवदिति। तत्तद्विषयेति। तत्तद्भगवत्स्वरूपोद्देश्यिकेत्यर्थः। तत्सङ्कल्प एक एव भगवत्सङ्कल्प इत्यर्थः। निष्पत्रस्य पत्राभावस्य। अभावेऽर्थेऽव्ययी-

भावः। निर्दुःखं मोक्ष इतिवत्। कर्मदृष्टान्तस्त्वेवं व्याख्येयः। यत्र काम्येनैव नित्यकर्मनिर्वाहस्तत्र काम्यार्थसाधने प्रत्यवायप्रहाणे चैकमेव तदुपयुज्यते। यथा सन्ध्योपासनं तथैतदिति। अत्रैवं केचित् व्याचक्षते मन्त्रादिः प्रणवः ओमित्युपादाय मन्त्राणामुच्चारणात् स यथैक एव निखिलेषु मन्त्रेषु सम्बध्यते तथैक एव तत् सङ्कल्पस्तत्तदुद्देशात् तत्तत्प्रवृत्तिक्ववदिति॥५८॥

सूक्ष्मा-सार— *'मन्त्रादिवत्'* इत्यादि सूत्रमें *'तत्तद्विषयक भक्ति प्रवर्त्तनायेति'* भाष्यमें—उस-उस भगवत्-स्वरूपके उद्देश्यसे भक्तकी भक्ति-प्रवर्त्तनके लिए ईश्वरका उसी प्रकारसे सङ्कल्प होता है, यही तात्पर्य है। निष्पत्रस्य—पत्राभावका—*'अभावेऽर्थे अव्ययीभाव समास इति'* अर्थात् *'पत्राणाम् अभावः निष्पत्रम् तस्य'*—इस प्रकारका विग्रह-वाक्य है। जिस प्रकार दुःखानामभावः—निर्दुःखम्—मोक्ष—इसी प्रकारसे। कर्म दृष्टान्तमें—इस प्रकारसे व्याख्या करनी होगी, यहाँ काम्यकर्म द्वारा ही नित्यकर्मका निर्वाह होता है, वहाँ उसी काम्यकर्म काम्य—अर्थ सिद्धि विषयमें और अकरण जनित प्रत्यवायके दूरीकरणमें एक ही कर्म उपयुक्त होता है, जिस प्रकार सन्ध्योपासना, इसी प्रकारसे यह भी। इसी स्थलपर कोई-कोई इस प्रकारसे व्याख्या करते हैं यथा मन्त्रादिः—मन्त्रका आदि वर्ण अर्थात् प्रणव-ॐ—इसे आदिमें लेकर मन्त्रके उच्चारण हेतु वह प्रणव जिस प्रकार एक होनेपर भी समस्त मन्त्रोंमें योजित होता है, उसी प्रकार एक ही ईश्वर सङ्कल्प उस-उस उद्देश्यके कारण उस-उस कार्यमें प्रवृत्ति उत्पन्न करा देता है॥५८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब उद्धवादिके मिश्रित (ऐश्वर्य एवं माधुर्य) भावके दर्शनमें असन्तोषके कारण अन्य निदर्शनका प्रदर्शन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि तद्-तद्-विषयक भक्ति-प्रवर्त्तनके निमित्त मन्त्रके समान तत्सङ्कल्प जानना होगा। जिस प्रकार एक मन्त्र अनेक कर्मोंमें अर्थात् कभी एक कर्म और कभी दो कर्मोंमें प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार उद्धवादि कभी ऐश्वर्यकी और कभी माधुर्यकी सेवा करते हैं।

तद्गुणविशिष्ट भावमें उपासनासे तद्गुणविशिष्ट—रूपकी ही प्राप्ति जाननी चाहिये। इसमें कोई विरोध अथवा असामञ्जस्य नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्त्तिहरो हरिः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४६/१–२)

अर्थात् श्रीशुकदेवजी गोस्वामीजीने कहा—हे राजन्! वृष्णिवंशियोंमें उद्धव एक प्रधान बुद्धिमान व्यक्ति थे। उन्हें साक्षात् बृहस्पतिके शिष्यके रूपमें जाना जाता था। वे कृष्णके प्रियसखा एवं मन्त्री भी थे। भगवान् श्रीहरि शरणागतोंके सन्तापको हरनेवाले हैं। एक बार वे एकान्तमें अनन्यचित्त प्रियभक्त उद्धवका हाथ अपने हाथोंमें पकड़कर कहने लगे।

त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित्।
तथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/७०/४६)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! तुम हमारे बान्धव और परम हितैषी हो। तुम मन्त्रणा-सम्बन्धी विषयोंके परिणामको भलीभाँति जानते हो एवं हमारे उत्तम नेत्रके समान हो। अतः जरासन्ध-विजय और राजसूययज्ञ—इन दोनों कार्योंके बीच हमारा प्रथम कर्त्तव्य क्या है? तुम्हारी बातपर हमारी बड़ी श्रद्धा है। इसलिए तुम जैसी सलाह दोगे, हम तुम्हारी सलाहके अनुसार ही काम करेंगे।

श्रीउद्धवजीकी प्रार्थना—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४७/६१)

जिन्होंने दुस्त्यज्य घर-बार पति, पुत्रादि, आत्मीय स्वजन, वैदिक मर्यादा एवं लोक-लज्जा—सबका परित्याग करके श्रुतियोंके द्वारा

अन्वेषणीय मुकुन्द श्रीकृष्णकी पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है, अहो! मैं इस वृन्दावनमें उन गोपियोंकी चरणरेणुसे सिक्त गुल्म, लता अथवा ओषधिमेंसे किसी भी एक स्वरूपमें जन्म प्राप्त करूँ, तो मेरे लिए यह बड़े सौभाग्यकी बात होगी॥ ५८॥

अवतरणिका भाष्य—अथैतद्विचार्यते *"एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति"* इति। *"एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्"* इति। *"अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म"* इत्यादि च श्रुयते। अत्र वैदूर्यादिवत् भगवति मिथो विलक्षणानि बहूनि रूपाणि सन्ति, तैर्विशिष्टौऽसावेकोऽपि बहुरभिधीयते एवं गुणेऽपि प्रकारबाहुल्यात् तत्त्वमवसेयम्। इह संशयः। स्वरूपगतं गुणगतञ्च बहुत्वं श्रूयमाणं सर्वस्मिन्नुपासने चिन्त्यं न वेति। आनन्दादेरेव सर्वत्रापेक्षणात् बहुत्वस्यैकस्मिन्नविरोध्याच्च नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सम्प्रति यह विचार किया जाता है कि *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* अर्थात् एक होकर भी जो बहुत रूपोंमें प्रकट होते हैं, *'एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्'*—जो एक होनेपर भी बहुत रूपोंमें प्रतीयमान (दृश्यमान) हैं, इत्यादि श्रुतियाँ हैं, इसपर भी फिर अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मं किसलिए उन्हें ब्रह्म इत्यादि शब्दोंसे अभिहित किया जाता है। कारण ब्रह्म तो बहुत नहीं, एक ही हैं एवं *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* इत्यादि श्रुति भी इस सम्बन्धमें श्रुत होती है। इस विषयमें मीमांसा यह है कि वैदूर्यादि मणियाँ जिस प्रकार क्षण-क्षणमें विभिन्न रूप धारण करती हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान्के परस्पर विलक्षण (भिन्न-भिन्न) बहुत-से रूप होते हैं। इन समस्त रूपोंसे विशिष्ट वे एक होकर भी बहुत नामोंसे कहे जाते हैं। इसी प्रकार गुण-विषयमें भी बहुत्व (बहुत प्रकारके) रहनेके कारण गुणके बहुत्वका निश्चय (अवधारण) कर लेना चाहिये—यह सिद्धान्त है। यहाँ संशय यह है कि श्रुतियोंमें भगवान्का स्वरूपगत तथा गुणगत बहुत्व श्रुत होता है, तो यह बहुत्व क्या सभी उपासनाओंमें ध्येय होगा? अथवा नहीं होगा? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि सभी उपासनाओंमें ही जब आनन्दादि रूपत्व अपेक्षित रहता है और एक ईश्वरमें बहुत्व अविरुद्ध ही है, तब सभी उपासनाओंमें यह बहुभावात्मक (भूमा) गुण ध्येय नहीं है, अयुक्त ही है। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—उपासनायामेकान्तिभिः स्वाभीष्टो एव गुणाभाव्या इति यत् प्रागुक्तं तदस्तु तस्यां हरेर्बहुत्वगुणस्तु न भाव्यस्तस्यैकस्मिन् विरोधादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह अथैतदिति। गुणेऽपीति। गुणप्रकाशिते कर्मणीत्यर्थः। तत्त्वं बहुत्वम्। सर्वत्रेति। सर्वेषुपासनेष्वसौ बहुभावरूपो गुणो ध्येय इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि एकान्ती भक्तगण उपासनामें निज अभीष्ट गुणोंका ध्यान करते हैं, यही हो, आपत्ति नहीं है, किन्तु उस उपासनामें श्रीहरिके बहुत्वगुण (भूमा) ध्येय नहीं है क्योंकि एकमें तो बहुत्वगुण रह नहीं सकता, इस प्रत्युदाहरण-सङ्गतिके अनुसार कहते हैं—अथैतद् विचार्यते। *'एवं गुणेऽपि'* इत्यादि—गुणमें अर्थात् गुण-प्रकाशित कर्ममें। *'तत्त्वमवसेयम्'* इति तत्त्वम्—बहुत्व, *'आनन्दादेवेर सर्वत्रापेक्षणात्'* इति में सर्वत्र अर्थात् समस्त उपासनाओंमें। *'सर्वत्रासौ चिन्त्यः'* इति में सर्वत्र अर्थात्—समस्त उपासनामें, असौ—बहुभावरूपगुण (भूमा) ध्येय है, यह अर्थ है।

भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्

सूत्र—भूम्नः क्रतुवत् ज्यायस्त्वम् तथाहि दर्शयति॥ ५९॥

सूत्रार्थ—'भूम्नः'—समस्त गुणोंमें 'भूम्नः' बहुभावसे (भूमाका) जब 'क्रतुवत्' यज्ञके समान 'ज्यायस्त्वम्' श्रेष्ठत्व है, तब समस्त उपासनाओंमें ही बहुभावात्मक गुण (भूमा) ध्येय है। 'तथा हि दर्शयति' इस विषयमें प्रमाण है—'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति' अर्थात् भूमाको छोड़कर आनन्दादिकी सत्ता नहीं है, यह श्रुति दिखाती है। अतएव समस्त उपासनाओंमें भूमाका ही चिन्तन करना चाहिये॥ ५९॥

सूत्रानुवाद—ज्योतिष्टोमादि क्रतु जैसे आरम्भसे स्नान पर्यन्त समस्त क्रतु-विभागमें अनुवर्त्तनके कारण श्रेष्ठ है, उसी प्रकार भगवान्का भूमा गुण सभी गुणोंमें अनुस्यूत रहनेके कारण श्रेष्ठ है॥ ५९॥

गोविन्दभाष्य—भूम्नो बहुभावस्य यस्मात् सर्वेषु गुणेषु ज्यायस्त्वं क्रतुवत् सर्वत्र सहभावादतः सर्वत्रसौ चिन्त्यः। यथा क्रतोर्ज्योतिष्टोमस्य दीक्षाद्यवभृथान्तेष्वनु-वृत्तेर्ज्यायस्त्वं तथा सर्वत्र स्वरूपधर्मादिश्वनुवृत्तेर्भूम्नस्तत्प्रमाणमाह तथा हीति। *"भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति"* इति श्रुतिरानन्दादेर्भूमाविनाभावं दर्शयन्ती तस्यानुचिन्तनं सर्वत्रानुज्ञापयतीत्यर्थः। येन विना कर्मनित्यत्वं न सिध्येत्॥ ५९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—भूमाका अर्थात् बहुत्व-गुणका ही समस्त गुणोंमें श्रेष्ठत्व है। यज्ञके समान समस्त उपासनाओंमें भूमाके सहावस्थानके कारण सभी उपासनाओंमें यह भूमा अर्थात् बहुभावरूप गुण चिन्तनीय अर्थात् उपासनीय है। इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार ज्योतिष्टोमादि यज्ञकी दीक्षासे आरम्भ करके अवभृथ स्नान (यज्ञकी समाप्तिपर किये जानेवाले स्नान) पर्यन्त ज्योतिष्टोम क्रतुकी सभी कर्मोंमें सर्वत्र अनुवृत्ति रहनेके कारण प्रधानता है, उसी प्रकार समस्त स्वरूपों और धर्मादि (गुणों) में भूमागुणकी अनुवृत्ति रहनेके कारण उसका प्राधान्य (सर्वश्रेष्ठत्व) है। इस विषयमें प्रमाण दिखाते हैं, *'भूमैव सुखम्'* इत्यादि—भूमा ही सुखस्वरूप है, अल्पमें कोई सुख नहीं है यह श्रुति, क्योंकि आनन्दादि-धर्म भूमाके बिना रह नहीं सकते, (आनन्दादिके साथ भूमाका अखण्ड भाव अर्थात् नित्य-सम्बन्ध देखा जाता है) अतएव सभी उपासनाओंमें भूमाका ही चिन्तन करना चाहिये, यह दिग्दर्शित करके अनुज्ञा (आज्ञा) करती है, अतएव यही कि भूमा ही सुखस्वरूप है (भूमा ही) ध्येय है। इस भूभा चिन्तनके बिना कर्मका नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता॥ ५९॥

सूक्ष्मा-टीका—भूम्न इति। तत् ज्यायस्त्वम्। तस्य भूम्नः गुणस्य। येन भूम्ना गुणेन विना॥ ५९॥

सूक्ष्मा-सार—*'भूम्नः'* इत्यादि सूत्रमें। *'अनुवृत्तेर्भूम्नस्तत्'* इति—'तत्' अर्थात् वह श्रेष्ठत्व। *'तस्यानुचिन्तनमिति'* में 'तस्य' अर्थात् उस भूमात्मक गुणका। येन विनेति—जिस भूमागणके व्यतिरेकमें॥ ५९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब इसके बाद और एक विचार उपस्थित होता है कि जो एक होकर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशित होते हैं, इत्यादि श्रुति-वाक्यमें ब्रह्मको ही बहुरूपविशिष्ट और बहुभावोंमें प्रकाशित कहकर जो स्थापना की गयी है, उसकी मीमांसामें वैदूर्यमणिका दृष्टान्त प्रदर्शित हुआ है परन्तु इस स्थलपर एक संशय होता है कि समस्त उपासनाओंमें ही स्वरूपगत और गुणगत बहुत्व चिन्तनीय है? कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि सभी उपासनाओंमें जब आनन्दातिरूपत्वकी अपेक्षा रहती है और एक ईश्वरमें बहुत्व अविरुद्ध है तो सभी उपासनाओंमें इस बहुभावात्मक गुणोंका ध्यान

अयुक्त है। पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि समस्त उपासनाओंमें ही बहुभावात्मक गुण चिन्तनीय है। परमेश्वरका यह बहुत्वभाव समस्त गुणोंमें श्रेष्ठ है। भूमा (बहुत्व) को छोड़कर आनन्दादिकी सत्ता नहीं है। अतः सभी उपासनाओंमें ही भूमाका चिन्तन करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु॥

(श्रीमद्भा॰ ६/४/३३)

अर्थात् अचिन्त्य ऐश्वर्यसे सम्पन्न जो भगवान् हैं, वे प्राकृत जड़ बुद्धिवाले जीवोंके लिए देश, काल, वस्तु इत्यादि परिच्छेदोंसे शून्य और प्राकृत नाम, रूपादिसे रहित हैं, लेकिन अपने चरणकमलोंका भजन करनेवाले भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए वे सदैव जन्म-लीलादिका प्रदर्शन करते हैं और उसीके अनुसार नाम-रूप धारण करते हैं, ऐसे सच्चिदानन्द विग्रह परमेश्वर मेरे प्रति प्रसन्न हों।

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे॥

(श्रीमद्भा॰ ८/३/९)

अर्थात् जो अनन्त शक्तिमान और परमैश्वर्यशाली हैं, जो प्राकृत रूपरहित होते हुए भी (राम, कृष्णादि) बहुत-से रूपोंमें विराजमान हैं तथा जिनके कर्म अति आश्चर्यमय हैं, मैं उन भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ।

इस सन्दर्भमें श्रीमद्भागवतके निम्न दोनों श्लोक भी देखे जाने चाहिये।

तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते,
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।

अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो,
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं,
हितावतीर्णस्य क ईश्वरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांशवः खे मिहिका द्युभासः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/१४/६-७)

अर्थात् हे भूमन्! (हे अपरिच्छिन्न्!) आपके गुणातीत स्वरूपकी महिमा इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त निर्मल अन्तःकरणसे जानी जा सकती है क्योंकि भगवत्-महिमा अर्थात् ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार 'यह ब्रह्म है,' 'मैं ब्रह्मको जानता हूँ,' 'यह वही है,' 'यह वही हो सकता है' इस प्रकारसे नहीं होता, किन्तु स्वतः-प्रकाश भावके द्वारा हो सकता है। हे देव! आप इस विश्वके मङ्गलके लिए अवतीर्ण हुए हैं। आप महाश्चर्यजनक अप्राकृत गुणोंके अधिष्ठाता हैं। जो अति निपुण व्यक्ति हैं, वे बहुत जन्मों तक घोर परिश्रम करके पृथ्वीके धूलि-कणोंकी, आकाशमें हिम-कणों (ओसकी बूँदों), नक्षत्र, तारों आदिकी और किरणोंमें स्थित परमाणुओंकी गणना कर सकते हैं, परन्तु आपके गुणोंको गिननेमें समर्थ नहीं हो सकते, उनकी मधुरिमाका अनुभव होना तो दूरकी बात है।

श्रीगीताका *'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः'* (४/९) श्लोक भी आलोच्य है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

एइमत कृष्णेर दिव्य सद्गुण अनन्त।
ब्रह्मा-शिव-सनकादि ना पाय यार अन्त॥
ब्रह्मादि बहु, सहस्रवदने 'अनन्त'।
निरन्तर गाय मुखे, ना पाय गुणेर अन्त॥
(चै॰च॰म॰ २१/१०, १२)

अर्थात् इस प्रकारके गुण अनन्त, दिव्य और सत् है। श्रीब्रह्मा-शिव-सनकादि भी उनका पार नहीं पा सकते। चतुर्मुख ब्रह्मा

अथवा पञ्चमुख शिव तो बहुत दूरकी बात है अनन्तदेव निरन्तर अपने सहस्रमुखोंसे गान करके भी उनके गुणोंकी सीमा प्राप्त नहीं कर सकते॥ ५९ ॥

अवतरणिका भाष्य—अथ तेषु वहुषु रूपेषु उपासनमेकविधं विविधं वेति सन्देहे उपास्यस्वरूपाभेदादेकविधमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब सन्देह यह होता है कि पूर्वोक्त समस्त रूपोंमें उपासना क्या एक ही प्रकारकी होगी? अथवा नाना प्रकारकी होगी? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब उपास्य देवताका कोई स्वरूप-भेद नहीं है, तब उपासना एक ही प्रकारकी होगी, इसके प्रतिवादमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—बहुविधान्युपासनानीत्युक्तं प्राक्। तान्याश्रित्य तेषु प्रकारभेदाश्चिन्त्या इत्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। अथेत्यादि स्पष्टम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—बहुत प्रकारकी उपासना होगी—यह पहले कहा गया था। उन सभी उपासनाओंका आश्रय करके उन सभी उपासनाओंका प्रकार-भेद-विचार्य (विचारणीय) है, इस प्रकारसे आश्रय-आश्रयि भाव सङ्गति इस अधिकरणमें ज्ञातव्य है। *'अथ तेषु बहुषु'* इत्यादि भाष्यार्थ सुस्पष्ट है।

नानाशब्दादिभेदाधिकरणम्

सूत्र—नाना शब्दादिभेदात्॥ ६० ॥

सूत्रार्थ—'नाना' इन सभी रूपोंके प्रत्येक रूपकी पृथक्-पृथक् उपासना ही होगी क्योंकि 'शब्दादिभेदात्' अर्थात् उन-उन रूपके वाचक नृसिंहादि शब्दोंका, मन्त्र, आकार और कर्म (लीला) का पार्थक्य रहता है॥ ६० ॥

सूत्रानुवाद—समस्त रूपोंमें उपासना भी अनेकविध है। शब्दादिसे स्वरूपगत वैलक्षण्य ही प्राप्त होता है। याग, दान, होम कर्मका भेद भी शब्दसे अवगत होता है॥ ६० ॥

गोविन्दभाष्य—तेषु रूपेषु नानैवोपासनं प्रतिरूपं पृथक् तदित्यर्थः। कुतः? शब्देति। तत्तद्वाचकानां नृसिंहादिशब्दानां मन्त्राणामाकारकर्मणाञ्च वैलक्षण्यादित्यर्थः।

स्मृतिश्च—*"कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिरित्येषु केशवः। नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते"* (श्रीमद्भा० ११/५/२०) इति। तस्मात् भिन्ना पूजेति॥ ६०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इन समस्त रूपोंमें नानाविध उपासना ही होगी, एक प्रकारकी नहीं अर्थात् उपास्य-वाचक नृसिंहादि प्रत्येक रूपमें ही यह उपासना स्वतन्त्र और पृथक् है। हेतु क्या है? *'शब्दादिभेदात्'* उन-उन रूपोंके वाचक नृसिंहादि शब्द, उपासना-मन्त्र, देवताओंके आकार एवं कार्योंका वैलक्षण्य अर्थात् पार्थक्य है—यह अर्थ है। इस विषयमें स्मृति-वाक्य (भागवत) भी है, यथा—*'कृतं त्रेता द्वापरञ्च'* इत्यादि भगवान् केशव सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगोंमें नानावर्ण और नाना आकारोंमें अवतीर्ण होते हैं और इसीलिए विभिन्न विधि-विधानोंसे पूजित होते हैं। अतएव समस्त पूजा विभिन्न है। स्वरूपगत ऐक्य होनेपर भी सब स्वरूपोंकी उपासना एक-सी नहीं है॥ ६०॥

सूक्ष्मा-टीका—नानेति। पृथक् तदिति। तदुपासनम्। शब्देति। यथा यजेत दद्यात् जुहुयादिति यागदानहोमानां कर्मणां भेदः शब्दभेदाद्भवति तद्वदिति बोध्यम्। कृतं त्रेतेति श्रीभागवते॥ ६०॥

सूक्ष्मा-सार—*'नानाशब्दादि भेदात्'*—इस सूत्रमें *'पृथक् तत्'* इति भाष्यमें 'तत्' का अर्थ है—उपासना। *'शब्दादिभेदात् इति'* शब्द इत्यादिके भेदवश यथा *'यजेत, दद्यात्, जुहुयात्'* इत्यादि वाक्योंमें याग, दान, होम कर्मका भेद शब्दसे अवगत होता है, इसी प्रकार यह भी जानें। *'कृतं त्रेता द्वापरञ्च'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतोक्त है॥ ६०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पुनः एक संशय यह है कि यह समस्त बहुत रूपोंकी उपासना क्या एक प्रकारकी है? अथवा नाना प्रकारकी है? इसपर पूर्वपक्षीका मत है कि उपास्यस्वरूपके अभेदके कारण यह एक ही प्रकारकी होगी। पूर्वपक्षीके इस मतके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इन समस्त रूपोंकी उपासना एक प्रकारकी नहीं, नानाविध होगी। उपास्य-वाचक नृसिंहादि शब्द, मन्त्र, आकार और कर्ममें वैलक्षण्य है। अतएव स्वरूपतः एक होनेपर भी उपासनाका भेद स्वीकार करना होगा।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते॥
(श्रीमद्भा॰ ११/५/२०)

अर्थात् अब नवयोगीन्द्रोंमेंसे करभाजनजीने कहा—राजन्! सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग हैं। इन युगोंमें भगवान् श्रीहरिके विविध प्रकारके रङ्ग, नाम और आकृतियाँ होती हैं तथा विभिन्न विधियोंसे उनका अर्चन-पूजन होता है।

श्रीप्रह्लादजीने भी कहा है—

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/९/३८)

अर्थात् हे पुरुषोत्तम भगवान्! आप मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि, देवता और मत्स्यादि अवतार लेकर त्रिभुवनका पालन करते हैं और जगत्-द्रोहियोंका विनाश करते हैं। हे महापुरुष! आप प्रत्येक युगमें उसके अनुरूप धर्मोंका संरक्षण करते हैं। कलियुगमें आप प्रच्छन्न रूपमें रहते हैं, इसलिए आपका एक नाम 'त्रियुग' है॥ ६०॥

अवतरणिका भाष्य—नृसिंहादिपुरुषोत्तमरूपोपासनानि विभिन्नविधानीत्युक्तम्। अथ तानि तत्तदुपासकैः समुच्चित्यानुष्ठेयानि विकल्प्य वेति वीक्षायां नियमे हेत्वभावात् समुच्चित्येति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले कहा गया था कि नृसिंहादि पुरुषोत्तमरूपकी उपासनाएँ विभिन्न प्रकारकी होंगी। अब इसमें सन्देह यह है कि ये सभी उपासनाएँ उन-उन उपासकों द्वारा समुच्चय रूपसे ही अनुष्ठेय होंगी? अथवा विकल्पको लेकर अर्थात् कोई एक पृथक् ही होगी? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब इस उपासना-विषयमें नियमका कोई हेतु ही नहीं है, तब समुच्चित अर्थात् समस्तकी एक ही उपासना कही जायेगी। इसपर सूत्रकार मीमांसा करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वन्यायेनोपासनानां नानात्वे सिद्धे तेषां समुच्चयो विकल्पो वेति विचारः प्रवर्त्तत इत्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावः सङ्गतिः। नृसिंहादीति। नियमे हेत्वभावादिति। या काचिदेकैवोपासना यावदायुरनुष्ठेयेति विकल्पे नियामकत्वाभावादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणके द्वारा सिद्ध हुआ था कि उपासना नानाविध है, इस समय उन उपासनाओंका समुच्चय है? अथवा विकल्प है—इस विचारका आरम्भ हो रहा है। अतः पूर्वाधिकरणमें और इस अधिकरणमें *'हेतु हेतुमद्भाव'* अर्थात् कार्यकारणतारूप सङ्गति जानें। *'नृसिंहादि पुरुषोत्तमेति नियमे हेत्वभावादिति'* अर्थात् यावत्-जीवन (जीवन-पर्यन्त) कोई एक उपासना ही करनी होगी, इस विकल्पमें जब कोई नियामक प्रमाण नहीं है, तब समुच्चय ही कहेंगे।

विकल्पाधिकरणम्

सूत्र—विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्॥ ६१ ॥

सूत्रार्थ—'विकल्पः'—इस उपासनाके अनुष्ठानमें विकल्प ही आश्रयणीय है। इसका कारण है—'अविशिष्ट-फलत्वात्' क्योंकि प्रत्येक उपासनाका ही फल समान है अर्थात् मोक्ष और भगवत्-साक्षात्काररूप फल सर्वत्र एक है॥ ६१ ॥

सूत्रानुवाद—उन सब स्वरूपोंकी उपासनाओंके अनुष्ठानमें विकल्प ही आश्रयणीय है क्योंकि उपासनामें फल अविशिष्ट अर्थात् समान है॥ ६१ ॥

गोविन्दभाष्य—तेषामनुष्ठाने विकल्प एव। यादृक्सत्प्रसङ्गानुयायिभगवत्-सङ्कल्पादुपासनमुपलभ्यते तदेवानुष्ठेयं न त्वन्यदित्यर्थः। कुतः? अविशिष्टेति। तेषां सर्वेषामविशिष्टं समानमेव मोक्षसाक्षात्कारलक्षणं फलमुक्तम्। एकेनैव तस्मिन् सिद्धे किमन्येनेत्यर्थः। यद्यपि तद्विदुषामित्यादिकं तू न विस्मर्त्तव्यम्, एकान्तिश्रैष्ठ्यदार्ढ्यात् पौनरुक्तं दोषः॥ ६१ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—फलगत भेद न रहनेपर इन उपासनाओंके अनुष्ठानमें विकल्प ही आश्रयणीय (अनुष्ठेय) है। जिस प्रकार सत्प्रसङ्गानुयायी श्रीभगवान्के सङ्कल्पसे जो उपासना प्राप्त होगी, उसका

ही अनुष्ठान करना चाहिये, अन्य उपासना अनुष्ठेय नहीं है, यह तात्पर्य है। कारण क्या है? *'अविशिष्टफलत्वादिति।'* इस समस्त उपासनाका फल मुक्ति और भगवत्-साक्षात्कार लक्षण समान ही कहा गया है। अर्थात् एक उपासना द्वारा यदि ये मुक्ति और साक्षात्कार सिद्ध होते हैं, तब अन्य उपासनाओंका प्रयोजन ही क्या है? यद्यपि *'तद्विदुषाम्'* इत्यादि सूत्रमें यह विषय कहा गया है, यह विस्मृत होना उचित नहीं है अर्थात् यहाँ पुनरुक्ति हो रही है। ऐसा होनेपर भी एकान्ती भक्तोंकी श्रेष्ठताको दृढ़ करनेके लिए यह पुनरुक्ति दोषावह नहीं है॥ ६१॥

सूक्ष्मा-टीका—विकल्प इति। तस्मिन्निति। मोक्षलक्षणे फले इत्यर्थः। तस्माद्विकल्पः सिद्धः॥ ६१॥

सूक्ष्मा-सार— *'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्'* इस सूत्रमें *'एकेनैव तस्मिन् सिद्धे'* इति—तस्मिन्—वह मुक्तिरूप फल—यह अर्थ है—अर्थात् इस कारणसे विकल्प ही सिद्धान्त है॥ ६१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले जो गया था कि नृसिंहादि पुरुषोत्तमरूपकी उपासनाएँ विभिन्न प्रकारकी हैं। अब इस समय एक संशय उपस्थित होता है कि ये समस्त उपासनाएँ तद्-तद् उपासकों द्वारा समुच्चित रूपसे अनुष्ठित होंगी? अथवा विकल्प रूपसे? अर्थात् इनमेंसे कोई एक उपासना करनी होगी। इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि नियमका कोई कारण नहीं है, इसलिए समुच्चित अर्थात् सभीका अनुष्ठान करना होगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि फलका कोई वैशिष्ट्य न रहनेके कारण विकल्प ही आश्रयणीय है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

(श्रीमद्भा॰ ३/९/११)

अर्थात् हे नाथ! (गुरुमुखसे) आपकी कथा सुननेके बाद वे संसारमें आपकी सेवाप्राप्तिके मार्गको जान पाते हैं। आप अपने निजजनोंके भक्तियोगसे पवित्र हुए हृदय-कमलमें निश्चय ही सर्वदा विश्राम करते हैं। हे उत्तमश्लोक! भक्त अपनी-अपनी (सिद्धदेहके भावगत) भावनाके अनुसार आपके जिन नित्य स्वरूपोंकी विभावना करते हैं, आप उनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए उन-उन स्वरूपोंको प्रकट करते हैं॥ ६१ ॥

अवतरणिका भाष्य—मोक्षफलकानि नृसिंहाद्युपासनानि तत्तदेकान्तिनां नित्यानीत्युक्तम्। अथ कीर्त्तिलोकजयसम्पत्त्यादिफला ब्रह्मोपास्तयो बृहदारण्यकादौ पठ्यन्ते। तासां विकल्पः समुच्चयो वेति वीक्षायां ब्रह्मोपास्तित्वाविशेषात् पूर्ववद्विकल्प इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—मुक्तिफलदायक नृसिंहादि मूर्त्तिकी उपासना उनके एकान्ती भक्तोंके पक्षमें नित्य है—यह बता दिया गया है। अब इसके बाद कीर्त्ति, लोकजय, सम्पत्ति इत्यादि फलक (फलदायी) ब्रह्मोपासना, जो बृहदारण्यकोपनिषदमें पठित है, इसमें विकल्प रहेगा? अथवा समुच्चय ही रहेगा? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब समस्त ही ब्रह्मोपासना है, इसमें प्रभेद भी कोई नहीं है तो इस ब्रह्मोपासनाके अविशेषत्वके कारण पूर्वके ही समान विकल्प (कोई एक) ही अनुष्ठेय होगा, इसपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नृसिंहाद्युपासनानां विकल्पः प्रागुक्तस्तद्वत् काम्योपासनानामपि सोऽस्तु तासामपि ब्रह्मविषयकत्वाविशेषादिति दृष्टान्तसङ्गत्याह मोक्षफलकानीत्यादि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणमें नृसिंहादि उपासनाओंका विकल्प समर्थित हुआ है, इसी प्रकार काम्य उपासनाओंका भी विकल्प होना चाहिये क्योंकि वे उपासनाएँ भी निर्विशेषमें ब्रह्म-विषयक हैं—इस दृष्टान्त सङ्गतिको लेकर 'मोक्षफलकानि' इत्यादि ग्रन्थ कहते हैं—

काम्यास्तु यथाकामाधिकरणम्

सूत्र—काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा पूर्वहेत्वभावात्॥ ६२ ॥

सूत्रार्थ—'काम्याः' काम्य उपासना 'तु' तो 'यथाकामम्' सकाम उपासकगण 'समुच्चीयेरन्' समुच्चित भावसे कर भी सकते हैं 'न वा' और नहीं भी कर सकते हैं 'पूर्वहेत्वभावात्' क्योंकि पूर्वोक्त हेतु नहीं है अर्थात् इसमें फलभेद है॥ ६२॥

सूत्रानुवाद—कामी उपासक कामनानुसार ही समुच्चित उपासना कर सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं क्योंकि पूर्व हेतु—भगवत्-साक्षात्कारका इसमें अभाव है॥ ६२॥

गोविन्दभाष्य—काम्यास्तत्साक्षात्कारानपेक्षाः कीर्त्त्यादितदन्यफलास्ता यथाकामं सकामैस्तदुपासकैः समुच्चीयेरन् न वा। कुतः? पूर्वेति। फलभेदादित्यर्थः। सति तत्तत्फलकामे सर्वास्ताः कार्याः। असति तु तस्मिन् काचिदपि नेत्यर्थः। इदमत्राकूतम्। यदि मुमुक्षुरपि कश्चित् फलान्तरमिच्छेत् तर्हि स तस्मै तत्प्रदं हरिमेवोपासीत न देवतान्तरम्। *"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्"* (श्रीमद्भा० २/३/१०) इत्यादि स्मृतिभ्यः। एतेन दशार्णाद्युपास्तयोऽपि व्याख्याताः। पूर्वानुमानन्तु सोपाधिकं बोध्यम्॥ ६२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—काम्य उपासनाएँ भगवत्-साक्षात्कारकी अपेक्षा नहीं करतीं, ये तो हरि-साक्षात्कारसे पृथक् कीर्त्ति इत्यादि अन्य फलोंके लिए अनुष्ठित होती हैं। ये सभी सकाम उपासनाएँ उन-उन उपासकोंके द्वारा कामनानुसार अनुष्ठित होंगी अथवा नहीं भी हो सकती हैं। क्यों? पूर्व हेतु (भगवत्-साक्षात्कार) इसमें काम्य नहीं है अर्थात् कामनानुसार फलभेद है। बात यह है कि तद्-तद् फलोंकी कामना रहनेपर ये समस्त काम्य उपासनाएँ समुच्चित रूपसे करें और फलकी कामना ही न रहे तो कोई अनुष्ठान ही नहीं करना होगा। इस विषयमें सूत्रकारका विचार यह है कि यदि मुक्तिकामी कोई साधक मुक्तिसे भिन्न अन्य फलकी इच्छा करता है, तो वह तदर्थ अपने उन्हीं फलप्रदाता श्रीहरिकी ही उपासना करे, दूसरे देवताकी नहीं। स्मृति-वाक्य (श्रीमद्भागवत) से भी अवगत होता है कि *'अकामः सर्वकामो वा'* इत्यादि मुक्तिकामी उदारबुद्धि साधक निष्काम हों अथवा सर्वफलकामी हों, वे तीव्रभक्तियोगसे पुरुषोत्तम श्रीहरिकी उपासना करेंगे। इसके द्वारा दशाक्षर मन्त्रकी (*क्लीं गोपीजन वल्लभाय*

स्वाहा) उपासनादि की भी व्याख्या हो जाती है। तब जो पूर्वोक्त अनुमान है यथा—*'काम्योपास्तयो विकल्पेनानुष्ठेया उपास्तित्वात् पूर्वोक्तोपास्तिवत्'* अर्थात् काम्य उपासनाएँ (पक्ष) विकल्पानुसार (एक-एक करके) अनुष्ठेय (साध्य) हैं उपास्तित्वात् (हेतु) क्योंकि यह एक प्रकारकी उपासना है। इस कारण दृष्टान्त है—पूर्वोक्त काम्य-उपासनाके समान। इस अनुमानमें हेतु व्यभिचारी है क्योंकि इसमें उपाधि है। उपाधिका फल हेतुगत व्यभिचारका अनुमान है। यहाँ उपाधि है मोक्ष और श्रीहरि-साक्षात्कार हेतुत्व है। बात यह है कि *'अयंहेतुर्व्यभिचारी उपाधिमत्त्वात्'* इस अनुमान द्वारा उपास्तित्व हेतुका व्यभिचारित्व अनुमित हो रहा है। *'साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा। स उपाधिर्भवेत्'*—इस उपाधिका लक्षण है—जो साध्यका व्यापक और हेतुका अव्यापक है, वही उपाधि है जैसे धूमवान् वह्नेः—इस अनुमानमें आर्द्र ईंधन उपाधि है, यहाँ भी इसी प्रकार *'विकल्पेनानुष्ठेय उपास्तित्वात् पूर्वोक्तोपास्तिवत्'*—जहाँ-जहाँ विकल्पमें उपास्ति है, वहाँ मोक्ष और साक्षात्कार फल है—इसी प्रकार उपाधि साध्यव्यापक है किन्तु उपास्तित्व (उपासना) जहाँ-जहाँ है जैसे कि काम्योपासना, वहाँ मोक्ष और श्रीहरिका साक्षात्कार नहीं है, इसलिए हेतुकी अव्यापक उपाधि है, यह द्रष्टव्य है॥ ६२॥

सूक्ष्मा-टीका—काम्यास्त्विति। फलभेदादिति। विभिन्नफलत्वान्मोक्षेतर-फलत्वाच्चेत्यर्थः। विभिन्नफलत्वात् तत्तत्फलकामैः सर्वास्ताः कार्या मोक्षेतरफलत्वान्नि-ष्कामैर्मुमुक्षुभिस्तास्वेकापि काचिन्न कार्येत्यर्थः। हेत्वर्थं विशदयति सतीति। यदीति। कश्चित् परिनिष्ठितोऽपीत्यर्थः। तत्प्रदं हरिमेवेति। न हि पतिव्रता पत्युर्मार्द्दवमनुभूय स्वकामतापशान्त्ये जारमुपसर्पेदिति भावः। अकाम इति श्रीभागवते। आदिशब्दात्— *"यथा कल्पद्रुमात् सर्वं प्राप्यते मनसेप्सितम्। तथा संप्राप्स्यते विष्णोरपि स्म दुर्लभं मुने। रत्नपर्वतमारुह्य यथा रत्नं न रोचते। सत्त्वानुरूपमादत्ते तथा कृष्णान्मनोरथान्"* इत्यादिसंग्रहः। एतेनेति। दशार्णाद्युपास्तीनां समुच्चयो दर्शितस्तासां काम्यत्वादित्यर्थः। तदुक्तं तस्यामेव। एतस्मादन्य पञ्चपदादभुवन् गोविन्दस्य मनवो मानवानां दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दनाद्यैरभ्यस्यस्ते भूतिकामैर्यथावदिति। संक्रन्दन इन्द्रः। पूर्वानुमानस्त्विति। काम्योपास्तयो विकल्पेनानुष्ठेया उपास्तित्वात् पूर्वोक्तोपास्तिवदित्यनुमाने मोक्षसाक्षात्कारहेतुत्वमुपाधिरित्यर्थः॥ ६२॥

सूक्ष्मा-सार— *'काम्यास्तु यथाकामम्'*—इत्यादि सूत्रमें। *'फल-भेदादित्यर्थः इति'* मोक्षफल दान करते हैं और मोक्षसे अतिरिक्त अन्य फल भी दान करते हैं, यह अर्थ है। जब विभिन्न फल दान करते हैं, तब तद्-तद् फलार्थी व्यक्ति वे समस्त उपासना करेंगे क्योंकि वे सभी उपासनाएँ मोक्षके अतिरिक्त अन्य फल दान करती हैं। जो निष्काम मुक्तिकामी व्यक्ति हैं, उन सभी उपासनाओंमेंसे कोई भी नहीं करें—यह तात्पर्य है। सूत्रोक्त *'हेत्वभावात्'* में इस हेतुका अर्थ विशद करते हैं—*'सति तत्तत्फलकामे'* इति—फल-प्राप्तिकी कामना रहनेपर सभी उपासना करते हैं, न रहनेपर कुछ भी नहीं करते। यदि मुमुक्षुरपीति—परिनिष्ठित मुक्तिकामी होनेपर भी। *'तत्प्रदं हरिमेवेति'*—फलप्रद हरिकी ही उपासना करनी चाहिये, जिस प्रकार कोई भी पतिव्रता स्त्री पतिकी अक्षमता जानकर भी अपने काम-तापकी निवृत्तिके लिए उपपतिका आश्रय नहीं करती—यही भावार्थ है। *'अकामः सर्वकामो वा'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतका है। *'इत्यादि स्मृतिभ्यः इति'*—इस आदि पदसे *'यथा कल्पद्रुमात् सर्वं प्राप्यते मनसेप्सितम्'* इत्यादि जिस प्रकार मनोभीष्ट समस्त वस्तुएँ कल्पवृक्षसे प्राप्तकी जा सकती हैं, उसी प्रकार हे मुने! विष्णुसे दुर्लभ वस्तु भी तुम्हें प्राप्त होगी। जिस प्रकार रत्न-पर्वतपर पहुँचकर फिर रत्नमें रुचि नहीं रहती, उसी प्रकार श्रीकृष्णको प्राप्त होकर भक्त सत्त्वानुरूप द्रव्य ही ग्रहण करते हैं, इस प्रकारकी और भी स्मृतियाँ ग्राह्य हैं। *'एतेन दशार्णाद्युपास्तयो व्याख्याताः इति।'* दशाक्षर इत्यादि मन्त्रोंमें समुच्चित रूपसे ही उपासनाएँ करणीय हैं क्योंकि वे सब काम्य हैं। स्मृतिमें भी वही कहा गया है कि इस पञ्चपदान्वित मन्त्रसे (*क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा*) अन्य दशाक्षर इत्यादि श्रीगोविन्दके अनेक मन्त्र मानवोंके निकट प्रकट हुए हैं। अभ्युदयकामी इन्द्र इत्यादि देवताओं द्वारा उन मन्त्रोंका यथाविधि अभ्यास किया जाता है। सङ्क्रन्दन शब्दका अर्थ है 'इन्द्र' *'पूर्वानुमानन्तु इति'* पूर्वमें जो अनुमान दिखाया गया है यथा *'काम्योपास्तयो विकल्पेनानुष्ठेया उपास्तित्वात् पूर्वोक्तोपास्तिवत्'*—इस अनुमानमें मोक्षफल तथा साक्षात्कार उपाधि है, इसका विस्तृत विवरण भाष्यमें देखना चाहिये॥ ६२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—मोक्षफल और भगवत्–साक्षात्काररूप फलदायक श्रीनृसिंहादिकी उपासना उनके एकान्त भक्तोंके लिए नित्य करनी होगी—यह पहले भी कहा गया है। इसके बाद कीर्त्ति, लोकजय, सम्पत्ति इत्यादि फलदायक ब्रह्मार्चनसमूहका क्या एकत्र ही सभीका अनुष्ठान करना होगा? अथवा किसी एक फल–प्राप्तिके लिए कोई एक अनुष्ठान करना होगा? इस प्रकारके संशय स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्मोपासनाके साथ अविशेषवश पूर्वके समान विकल्प ही अनुष्ठेय है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि सकाम उपासकगण कामनानुसार सकाम उपासनाएँ समुच्चित रूपसे कर सकते हैं अथवा नहीं कर सकते है क्योंकि पूर्व हेतुका यहाँ अभाव है। भगवत्–साक्षात्कारकी कोई अपेक्षा इसमें रहती नहीं है क्योंकि फलभेद है। निष्काम मुक्तिकामी इन समस्त उपासनाओंमेंसे कोई भी न करे। अतः सिद्धान्त यह है कि उपासना–भावना कार्यरूप (साध्यात्मक) है। एक ही वस्तुकी उपासना अनेक भावों (रूपों) में की जा सकती है। गुणभेदसे उपासनाएँ भिन्न हो जाती हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥

देवीं मायान्तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥

अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम्॥

आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥

रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥

यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥

धर्मार्थ उत्तमःश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥
राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा॰ २/३/२-९)

अर्थात् परीक्षित्! आपने पूछा कि मनुष्योंके लिए क्या श्रोतव्य, जप्य, स्मर्तव्य और भजनीय है, मैं आपको सबसे पहले विषय-कामी मन्दबुद्धिवाले व्यक्तियोंके लिए क्या भजनीय है? तो सुनो वह बतला रहा हूँ—जो ब्रह्मतेज प्राप्त करना चाहते हैं, वे वेदपति ब्रह्माकी उपासना करें, जिन्हें इन्द्रियोंकी पटुता (विशेष शक्ति) की इच्छा हो, वे इन्द्रकी तथा जो पुत्रादिकी कामना करते हैं, उन्हें दक्षादि प्रजापतिकी आराधना करनी चाहिये। जिन्हें लक्ष्मीकी कामना है, वे दुर्गादेवीकी और जो तेज प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अग्निकी, धन चाहनेवालेको अष्ट वसुओंकी तथा वीरता चाहनेवाले पुरुषोंको उत्साहके साथ रुद्रोंकी आराधना करनी चाहिये। बहुत अन्न प्राप्त करनेकी चाहवाले भोज्यकामी व्यक्तिको अदितिकी, स्वर्गकी कामना रखनेवालोंको अदितिके पुत्र द्वादश आदित्योंकी, राज्यकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको विश्वदेवोंकी एवं कृषि और वाणिज्य आदिकी तथा पूरी स्वतन्त्रता चाहनेवालोंको साध्य देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। आयुकी कामना करनेवाले पुरुषोंको दोनों अश्विनीकुमारोंकी, पुष्टिकी अभिलाषा रखनेवालोंको पृथिवीकी, प्रतिष्ठा अर्थात् 'स्वपद' से कभी अलग न होना पड़े—इस इच्छासे लोगोंको स्वर्ग एवं लोकमाता पृथिवीका अर्चन करना चाहिये। जो व्यक्ति सौन्दर्य चाहते हैं, उन्हें गन्धर्वोंकी, स्त्रीकामी पुरुषोंको उर्वशी नामक अप्सराकी और सभीके ऊपर अपना प्रभुत्व जमानेकी आङ्क्षा करनेवालोंको ब्रह्माकी आराधना करनी चाहिये। जो यशकी चाह रखते हैं, उन्हें यज्ञ नामके इन्द्रकी, जो धन-संचय (खजाने) के अभिलाषी हैं, वे वरुणकी, विद्या चाहनेवालोंको शिवकी तथा पति-पत्नीमें परस्पर प्रेम बने रहनेकी कामनावाले व्यक्तियोंको सती उमादेवीकी पूजा करनी चाहिये। धर्म उपार्जनकी कामना करनेवाले व्यक्तियोंको पुण्यश्लोक विष्णुकी, सन्तानादि

वंश परम्पराके विस्तार करनेवालोंको पितरोंकी, समस्त विघ्न-बाधाओंसे रक्षा चाहनेवाले पुरुषोंको पुण्यवान यक्षोंकी एवं बल-प्राप्तिकी कामना करनेवाले मनुष्योंको मरुदादि देवताओंकी आराधना करनी चाहिये। जो राज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें मन्वन्तरोंके अधिपतियोंकी, जो अभिचार अर्थात् शत्रुकी मृत्युकी इच्छा करते हैं, वे राक्षसोंकी तथा कामभोगके इच्छुकोंको चन्द्रमाका सेवन करना चाहिये। किन्तु जो व्यक्ति कामनाओंका नाश करना चाहते हैं, वे परमपुरुष पुरुषोत्तम भगवान्की आराधना करें।

पुनः विशेष उपदेश भी देखा जा सकता है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः॥

(श्रीमद्भा० २/३/१०-११)

अर्थात् उदार-बुद्धिवाले समस्त (कही-अनकही) कामनाओंसे युक्त हों या निष्काम (स्वसुख काम कहा जाता है और भगवान् वासुदेवका सुख निष्काम कहा जाता है) हों, चाहे अप्राकृत-बुद्धि (भगवान्की भक्ति) से युक्त हों या अपवर्गकी अभिलाषा करनेवाले हों, सभीको शुद्ध एवं ऐकान्तिक भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष श्रीविष्णुका भजन करना चाहिये। इस पृथिवीपर इन्द्र आदि देवताओंके जितने भी उपासक हैं, उनके लिए सबसे बड़ा हित इसीमें है कि वे भगवान्के प्रेमीभक्तों—महाभागवतोंका सङ्ग कर भगवान् अच्युतकी अविचल भक्ति प्राप्त कर लें।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी पाया जाता है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

(श्रीगी० ७/२०)

अर्थात् आर्त्ति आदि दूर करनेकी कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, वे उन-उन देवताओंकी आराधनाके उपयुक्त

नियमोंका अवलम्बन कर अपने स्वभावके वशीभूत होकर देवताओंको भजते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धिकामी 'सुबुद्धि' यदि हय।
गाढ़ भक्तियोग भवे कृष्णेरे भजय॥

(चै॰च॰म॰ २२/३५)

अर्थात् दुर्वासना दुःसङ्गका-दुःसङ्गसे जीवमें मुक्ति, भुक्ति और सिद्धिकी कामनाएँ उदित होती हैं। यदि किसी सत्सङ्गसे कभी सुबुद्धिका उदय हो जाय तब भुक्ति, मुक्ति और सिद्धिकी पिपासाका परित्याग करते हुए गाढ़ शुद्ध भक्तियोगसे कृष्णका भजन करे॥ ६२॥

अवतरणिका भाष्य—एवमङ्गिगुणध्यानमभिधायेदानीमङ्गगुणानभिधातुमुपक्रमते। श्रीगोपालोपनिषदि पूर्वतापन्यवसाने तमेकं गोविन्दमित्यारभ्य समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामीति प्रतिज्ञाय ॐ नमो विश्वरूपायेत्यादिभिः पद्यैर्विधिर्हरिं स्तुवन् तन्मुखनेत्रादिष्वङ्गेषु मन्दस्मितकृपावीक्षणादीन् गुणान्निरदिक्षत् इह संशयः। मन्दस्मितादयो मुखाद्यङ्गगुणाः पृथक् चिन्त्या न वेति। अङ्गिगुणध्यानेनैव पुमर्थसिद्धेः पृथक् तद्ध्यानेन फलानतिरेकाच्च ते न ध्येया भवन्तीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वोक्त रूपसे अङ्गी—श्रीविग्रहके गुण-ध्यानका वर्णन करके अब श्रीविग्रहके अङ्ग मुखादिके गुणोंके ध्यानका विचार आरम्भ करते हैं। श्रीगोपालतापनी-उपनिषदमें पूर्वतापनीके अवसानमें कहा गया है—*'तमेकं गोविन्दम्'* अर्थात् 'उन एक गोविन्दको' इस प्रकार आरम्भ करके *'समरुद्गणोऽहं परमया स्तुतया तोषयामि'*—अर्थात् मैं मरुद्गणोंके साथ, परम (उत्कृष्ट) स्तुति द्वारा आपको (भगवान्‌को) प्रसन्न करूँगा—यह प्रतिज्ञा करके *'ॐ नमो विश्वरूपाय'* इत्यादि श्लोक द्वारा विधाता श्रीहरिका स्तव करना आरम्भ किया। तत्पश्चात् क्रमपूर्वक श्रीविग्रहके मुख, नेत्र इत्यादि अङ्गोंमें मधुर-हास्य, कृपापूर्ण दृष्टि प्रभृति दर्शनादि गुणोंका निर्देश किया है। इसमें संशय यह है कि मुखादि अङ्गके मन्दहास्यादि गुण स्वतन्त्र रूपमें उपास्य हैं? कि नहीं? पूर्वपक्षी इसपर अपना मत प्रकाश करते हुए कहते हैं कि अङ्गी श्रीविग्रहके गुणध्यान द्वारा जब पुरुषार्थ सिद्ध हो सकता है, तब पृथक् रूपसे अङ्ग-प्रत्यङ्गके गुण-ध्यानका क्या प्रयोजन है? पुनः

उसके अतिरिक्त कोई विशेष फल भी जब इसमें नहीं है, तब ये अङ्ग–गुण ध्येय नहीं हैं। इस मतवादके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एवमङ्गीत्यादि। पूर्वत्राङ्ग्युपासनानां विकल्पोऽभिमतस्तद्वदङ्गोपासनानामस्त्विति दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिः। अङ्गी श्रीविग्रहः परमात्मा, अङ्गानि तन्मुखादीनि। *"ॐ नमो विश्वरूपाय"* इत्यादिभिरिति। तेषु *"नमः कमलनेत्राय"* इति प्रसन्नास्यत्वोक्त्या मुखे मन्दस्मितं नेत्रयोः कृपावलोकश्च द्योत्यते। एवमन्ये च शिखिपिच्छावतंसित्वाकुण्ठमेधत्ववंशीविभूषितास्यत्वविचित्रगीतिकत्वगजेन्द्रगतिमत्त्व नृत्यपाण्डित्यादयोऽङ्गगुणास्तत्रैवानुसन्धेयाः। ते नेति। ते गुणा ध्येया न भवन्तीत्यन्वयः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—एवमङ्गीत्यादि–पूर्वाधिकरणमें अङ्गी अर्थात् श्रीविग्रहकी उपासनाओंमेंसे जिस प्रकार विकल्प सिद्धान्त हुआ है, उसी प्रकार अङ्गोपासनाओंका भी विकल्प होना चाहिये—यहाँ दृष्टान्त–सङ्गति जानना चाहिये। अङ्गी अर्थात् श्रीविग्रह—परमश्वेर। अङ्ग—उनके मुखादि अवयव हैं। *'ॐ नमो विश्वरूपायेत्यादिभिरिति'*—इस समस्त पद्यमें *'नमः कमलनेत्राय'* इस उक्तिमें प्रसन्न–वदनत्व कहनेसे मुखमें मन्द स्मित, चक्षु–द्वयमें कृपापूर्ण दृष्टि सूचित होती है। इस प्रकार अन्यान्य गुण जैसे शिखिपिच्छावतंसित्व, अकुण्ठमेधत्व, वंशी–विभूषितमुखत्व, विचित्र–गीतिकारित्व, गजराजवद्गतिमत्त्व, नृत्यविशारदत्व इत्यादि अङ्ग–गुण भी उस समस्त पद्यमें लक्ष्य किये जाने चाहिये अर्थात् वहाँ वे सभी गुण अनुसन्धेय हैं। *'ते न ध्येया इति'* में 'ते' अर्थात् वे समस्त गुण, न ध्येयः—और उपास्य नहीं हैं, इस प्रकार अन्वय करना चाहिये।

अङ्गेषु यथाश्रय–भावाधिकरणम्

सूत्र—अङ्गेषु यथाश्रयभावः॥ ६३॥

सूत्रार्थ—अङ्गेषु—मुखादि अङ्गोंमें 'यथाश्रय भावः' आश्रय–अनुसार ध्यान करणीय है॥ ६३॥

सूत्रानुवाद—जो अङ्ग जिस गुणका आश्रय है उस अङ्गमें उस गुणका ध्यान करना चाहिये॥ ६३॥

गोविन्दभाष्य—अङ्गेषु मुखादिषु यथाश्रयं भावश्चिन्तनं कार्यम्। यदङ्गं यस्य गुणस्याश्रयस्तत्र तस्य चिन्तनं विधेयमित्यर्थः। मुखे मन्दस्मितं प्रियभाषणञ्च नेत्रयोः कृपावीक्षणं चेत्येवमादि॥ ६३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मुखादि अङ्गोंमें आश्रय-विशेषके अनुसार गुण-ध्यान करणीय है अर्थात् जो अङ्ग जिस गुणका आधार है, उस अङ्गमें उसका (उस गुणका) चिन्तन करना चाहिये। जिस प्रकार मुख-अङ्गमें मृदु-मधुर हास्य और प्रियभाषण, दोनों नेत्रोंमें कृपादृष्टि—इसी प्रकारसे अन्य अङ्गोंमें अन्य गुणोंका चिन्तन (ध्यान) करें॥ ६३॥

सूक्ष्मा-टीका—अङ्गेष्विति। इत्येवमादिरिति। आदिना गीतिमत्त्वनृत्यशालित्वादयः। ननु गीतनृत्यशालित्वं परेशस्य राजकुमारस्य च हरेर्महिमक्षतिकरमिति चेदपेशलमेतत्। शिवेऽर्ज्जुने च तथाभूते तदुक्तेः। तत्प्रेयसीनाञ्च तथाभूतानां तच्छालित्वं तथा शिवायामुत्तरायाञ्च तदुक्तेः। जीविकायै प्रवृत्तं खलु तत् तथा स्यात् न तु स्वभोगाय तथा तदज्ञाने हि प्रत्युत मौढ्यतद्भोगाभावप्रसक्तिः तथाऽपूर्णतापत्तिश्चेति। एवं गोपगोपीगवावीतमित्यत्र हरेर्गोपालकत्वमुक्तम्। तच्च तस्येश्वरस्य युक्तमेव यज्ञपुरुषत्वात्। तत् तस्य गोभिर्धुनभिर्हविर्द्वारा वेदैश्च मन्त्रद्वारा यज्ञनिष्पत्तिरिति॥ ६३॥

सूक्ष्मा-सार—*'अङ्गेषु यथाश्रयभावः'* इस सूत्रमें। इत्येवमादीति भाष्य है। इस आदि पद द्वारा गीतिमत्त्व एवं नृत्यशालित्व इत्यादि गुण ग्राह्य हैं। अब आपत्ति यह है कि जो परमेश्वर एवं राजकुमार हैं, उन श्रीहरिके गीत तथा नृत्यकार्य उनकी महिमाके लिए हानिकर होंगे, यह यदि कहते हो तो यह कहना अच्छा नहीं है क्योंकि शिवका नृत्य और राजकुमार अर्जुनके गीत नृत्यादि शास्त्रोंमें वर्णित हैं। श्रीभगवान्‌की प्रियतमा गोपियोंकी नृत्यगीतपरायणता और शिव-प्रेयसी पार्वती एवं अर्जुन-शिष्या उत्तराके लिए भी यह सब कहा गया है। यदि जीविकाके लिए ये नृत्य-गीत आचरित होते, तब तो दोषावह होता किन्तु स्वभोगके लिए अनुष्ठित होनेपर महिमाकी कोई हानि नहीं होती है बल्कि इन नृत्यगीतादिका ज्ञान न रहनेपर श्रीभगवान्‌के विषयमें अज्ञताके कारण अपूर्णता और उन-उन वस्तुओंके भोगाभावकी आपत्ति आती है और इस प्रकार अपूर्णता भी आ पड़ती है। इसी प्रकार *'गोपगोपीगवावीतम्'* जो गोप, गोपी एवं गोगणोंसे परिवेष्टित हैं—इस शब्दमें श्रीहरिका गोपालकत्व कहा गया है क्योंकि वे यज्ञ

पुरुष हैं, इसलिए उन परमेश्वरका गोपालकत्व अर्थात् गो-शब्दसे धेनु और वेद—दोनों ही बोधित होनेके कारण उनका पालनकारित्व युक्तियुक्त है क्योंकि वे गायोंकी सहायतासे घृत (हवि) द्वारा एवं वेदकी सहायतासे मन्त्र द्वारा यज्ञके निर्वाहक हैं॥ ६३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले अङ्गीका अर्थात् श्रीविग्रहके गुण-ध्यानका वर्णन करके अब अङ्ग अर्थात् श्रीमुखादिके गुण-ध्यानके विषयमें वर्णन करना आरम्भ करते हैं।

गोपालतापनी-उपनिषदमें पाया जाता है कि *'तमेकं गोविन्दम्'* इस प्रकार आरम्भ करके ब्रह्माजीने मैं मरुद्गणोंके साथ उत्कृष्ट स्तवसे आपको सन्तुष्ट करूँगा—यह प्रतिज्ञा करते हुए *'ॐ नमो विश्वरूपाय'* इत्यादि पद्य द्वारा श्रीहरिका स्तव करके उनके *'नमः कमलनेत्राय'* इस उक्तिसे मुखमें प्रसन्नवदनत्व, अधरमें मन्दस्मितत्व, दोनों नेत्रोंमें कृपापूर्ण-दृष्टि इत्यादि गुणोंका निर्देश किया है। इस स्थलपर संशय यह है कि मुखादि अङ्गोंके गुण पृथक् भावसे चिन्तनीय हैं कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि अङ्गी-गुण-ध्यान द्वारा जब पुरुषार्थ सिद्ध होता है, तब पृथक् रूपसे अङ्ग-गुण-ध्यानका प्रयोजन ही क्या है? इससे जब कोई विशेष फल देखा नहीं जाता, तब इसका ध्यान नहीं करना चाहिये। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीहरिका जो अङ्ग जिस गुणका आश्रय है, उस अङ्गमें वही गुण चिन्तनीय है। जिस प्रकार मुखमें मन्दहास्य और प्रियभाषण एवं नेत्रोंमें कृपादृष्टि। इसी प्रकार अन्य अङ्गोंमें अन्यान्य गुण भी अवश्य ही ध्येय हैं यथा—शिखिपिच्छावतंसित्व, अकुण्ठमेधत्व, वंशी-विभूषित मुखत्व, विचित्र गीतकारित्व, गजराजवद्गतिमत्त्व, नृत्यविशारदत्व इत्यादि अङ्ग-गुण भी उन समस्त पद्योंमें लक्ष्य किये गये हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रीध्रुवके प्रति नारदजीका उपदेश है—

प्रसादाभिमुखं शश्वत् प्रसन्नवदनेक्षणम्।
सुनासं सुभ्रुवं चारु-कपोलं सुरसुन्दरम्॥

तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम्।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम्॥

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥
(श्रीमद्भा० ४/८/४५-४७)

अर्थात् श्रीहरि प्रसन्नतापूर्वक भक्तोंको वरदान देनेके लिए सदैव आतुर रहते हैं। उनके मुख एवं नेत्र सदा-सर्वदा प्रफुल्लित रहते हैं। उनकी नासिका, भौंहें एवं कपोल सुन्दर एवं मनोहर हैं। वे समस्त देवताओंमें परम सुन्दर पुरुष हैं। उनका वयस नित्य तरुण है। उनके अङ्ग कमनीय एवं सुडौल हैं और ओष्ठ-द्वय तथा नेत्र अरुण वर्णके (रतनारे) हैं। वे प्रणत जनोंके परम आश्रय और सभी पुरुषार्थोंके आकरस्वरूप हैं। वे ही एकमात्र शरणागतवत्सल एवं दयाके सागर हैं। उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है और वे सजल नवीन मेघके समान श्यामलवर्ण हैं। परमपुरुष श्यामसुन्दर भगवान् गलेमें वन पुष्पोंसे बनी माला धारण करते हैं। शंख, चक्र, गदा एवं पद्म द्वारा उनकी भुजाएँ चतुर्भुज रूपसे सुशोभित हैं।

स्मयमानमभिध्यायेत् सानुरागावलोकनम्।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम्॥
(श्रीमद्भा० ४/८/५१)

अर्थात् इन वरद-श्रेष्ठ श्रीहरिकी पूर्वोक्त धारणा करते-करते जब चित्त सुसंयत एवं एकाग्र हो जाय, तब हे वत्स! इस प्रकारसे धारणा करना कि श्रीहरि मृदु एवं मन्द मुसकान तथा अनुरागरञ्जित दृष्टिसे मेरे ऊपर कृपा कर रहे हैं।

श्रीगोपियोंने भी कहा है—

प्रहसितं प्रियप्रेमवीक्षणं विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥
(श्रीमद्भा० १०/३१/१०)

अर्थात् प्यारे! एक दिन वह था जब हम तुम्हारी प्रेमभरी हँसी और चितवन तथा तुम्हारी तरह-तरहकी क्रीड़ाओंका ध्यान करके आनन्दमें मग्न हो जाया करती थीं। उनका ध्यान भी तो परम मङ्गलदायक है। उसके बाद तुम मिले। तुमने एकान्तमें हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ की, प्रेमकी बातें कही। हमारे कपटी मित्र! अब वे सब

बातें रह-रहकर याद आती है और हमारे मनको क्षुब्ध कर देती हैं॥ ६३॥

सूत्र—शिष्टेश्च॥ ६४॥

सूत्रार्थ—'च' और इसी प्रकार 'शिष्टेः' उपदेश भी है॥ ६४॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्माजीका शिष्यों (मुनियों) के प्रति इस प्रकारका उपदेश भी है॥ ६४॥

गोविन्दभाष्य—स्तुत्यन्ते अथ हैवं स्तुतिभिराधयामि तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः कृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथेति शिष्यान् प्रति विधिनाङ्गगुणध्यानोपदेशाच्च स स तत्र चिन्त्य इत्यर्थः॥ ६४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्माजीने परमेश्वरकी स्तुतिके बाद अन्तमें मुनियोंसे कहा—देखो, मैं इस प्रकारसे स्तुतिके द्वारा श्रीभगवान्‌की आराधना करता हूँ। तुमलोग भी इसी प्रकारसे पञ्चपद मन्त्रका (*क्लीं कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा*) जप करो तथा श्रीकृष्णका ध्यान करो। इसीसे संसारसे पार हो जाओगे अर्थात् मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार शिक्षणीय मुनिगणोंको अङ्ग-गुणोंके यथाविधि ध्यानका उपदेश दिया गया है। इस कारण तद्-तद् गुण श्रीविग्रहके तद्-तद् अङ्गमें चिन्तनीय हैं॥ ६४॥

सूक्ष्मा-टीका—शिष्टेश्चेति। शिष्यान् मुनीन्॥ ६४॥

सूक्ष्मा-सार— *'शिष्टेश्चेति'* सूत्रमें शिष्यान् प्रतीति भाष्यमें—शिष्य अर्थात् मुनिगणोंको॥ ६४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि शिष्यके प्रति ब्रह्माजीका इस प्रकारसे उपदेश भी है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात् पुरुषः पुराणः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/९/२५)

अर्थात् आप अपार करुणामय पुरातन पुरुष हैं। अतः दो प्रार्थना कर रहा हूँ। हे दयालु! हे पुराणपुरुष! आप अतिशय प्रेममयी मुस्कानके साथ नेत्रकमलोंको खोलिये, इस विश्वके उद्भव और मेरे प्रति अनुग्रह करनेके लिए शेषशय्यासे उठिये तथा सुमधुर वाणीसे मेरे विषादको दूर कीजिये।

इसी प्रकार,

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-
श्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/१५/३९)

अर्थात् भगवान् श्रीनारायणके सौम्य मुखारविन्दकी प्रसन्नताको देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो वे द्वारपाल और मुनियों दोनोंपर ही अनवरत कृपा-सुधाका वर्षण कर रहे हैं। वे समस्त वाञ्छनीय गुणोंके आलयस्वरूप हैं। उनका सप्रेम कटाक्ष सभीके हृदयको आनन्दित कर रहा था। श्रीलक्ष्मीदेवी उनके विस्तृत वक्षःस्थलपर स्वर्णरेखाके रूपमें विराजित थीं। श्रीनारायण दिव्यलोकोंके चूड़ामणिरूप अपने स्थान वैकुण्ठकी शोभाकी बढ़ा रहे थे॥ ६४॥

अवतरणिका भाष्य—ननु यथा कप्यासं पूण्डरीकमेवमक्षिणी इत्यत्र कृपावलोकमात्रमुक्तं नान्यत् किञ्चिदिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि जिस प्रकार *'कप्यासं पुण्डरीक मेवमक्षिणी'* इत्यादि श्रुतिमें केवल कृपादृष्टि ही वर्णित है, अन्य कुछ भी उपदेश नहीं है, तब इन समस्त अङ्गोंमें भिन्न-भिन्न गुणोंकी उपासना-उक्ति किस प्रकारसे सङ्गत है अर्थात् कृपादृष्टिसे अतिरिक्त अन्य किसी गुणका चिन्तन नहीं करना चाहिये, इसके उत्तरमें कहते हैं—

सूत्र—समाहारात्॥ ६५॥

सूत्रार्थ—समाहारात्—इस कृपादृष्टिके उल्लेख द्वारा ही दूसरे सभी गुणोंका संग्रह हो जानेके कारण कुछ भी अवर्णित नहीं रहता॥ ६५॥

सूत्रानुवाद—एकमात्र गुणकी उक्तिसे अन्य गुणोंके उपसंहारके कारण श्रुतिकी कोई न्यूनता नहीं होती है॥ ६५॥

गोविन्दभाष्य—तृतीयसूत्रात् नेत्याकृष्य सूत्रद्वये सम्बन्धनीयम्। तेनान्येषां संग्रहान्न किञ्चिदूनमित्यर्थः॥ ६५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इसके परवर्त्ती तृतीय सूत्र *'न वा तत्सहभावाश्रुतेः'* (ब्र॰सू॰ ३/३/६७) से 'न' इस पदका आकर्षण करके उसे इन दोनों सूत्रोंसे योग करना चाहिये। अतएव इस सूत्रका अर्थ हुआ—इस कृपादृष्टि द्वारा अन्य समस्त अङ्ग-गुणोंके संग्रह (उपसंहार) के कारण श्रुतिमें (अवर्णनके कारण) कोई न्यूनता नहीं रहती है॥ ६५॥

सूक्ष्मा-टीका—समाहारादिति। तेनान्येषामिति। तेन कृपावलोकेनान्येषां प्रिय-भाषणादीनामुपलक्षणात् यथा कप्यासमिति वाक्येऽपि किञ्चिदूनं न मन्तव्यमित्यर्थः। मन्दस्मितञ्च तत्रैव प्रतीयते॥ ६५॥

सूक्ष्मा-सार—*'समाहारात्'* इस सूत्रमें *'तेनान्येषामित्यादि'* भाष्यमें। 'तेन' का अर्थ है—उस कृपादृष्टि द्वारा, 'अन्येषाम्' का अर्थ है दूसरे प्रियभाषणादि-गुणोंका संग्रह होनेके कारण यथा—*'कप्यासम्'* इत्यादि वाक्यमें भी कुछ भी त्रुटि नहीं है, इसी रूपमें जानना चाहिये क्योंकि मन्दस्मित हास्य उसीसे प्रतीत होता है॥ ६५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि किसी श्रुतिमें *'कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी'* इत्यादि वाक्यमें केवल उनकी कृपादृष्टिका ही उल्लेख हो रहा है अतएव उससे भिन्न अन्य गुणोंका चिन्तन करना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है? इस प्रकार पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उक्त कृपादृष्टिरूप गुणकी उक्तिके द्वारा ही दूसरे सभी गुणोंका उपसंहार होनेके कारण पूर्वोक्त श्रुतिकी किसी न्यूनताका प्रकाश नहीं होता। इस कृपादृष्टि गुणके द्वारा दूसरे प्रिय भाषणादि गुणके साथ-साथ मन्दस्मित हास्य भी उसमें प्रतीत होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम्॥

लसत्पङ्कजकिञ्जल्क-पीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम्॥

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया।
परार्द्ध्यहारवलय-किरीटाङ्गदनूपुरम् ॥

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्द्धनम्॥

अपीच्यदर्शनं शश्वत् सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्॥

कीर्तन्य-तीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम्।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः॥

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा॥

तस्मिल्ँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुञ्ज्यादङ्गे भगवतो मुनिः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/१३-२०)

अर्थात् श्रीहरिका मुखारविन्द आनन्दसे सुप्रसन्न है, नयन पद्मकोशके समान अरुण वर्णके हैं, अङ्ग नीलोत्पलके समान श्यामवर्णके हैं, उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म सुशोभित हैं, कटि-देशमें कमलकी केसरके समान पीतवर्णका रेशमी वस्त्र लहरा रहा है, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न विराजमान है, कण्ठमें दीप्तिशाली कौस्तुभमणि धारण करके विराजित हैं, गलेमें स्थित वनमाला उनके चरणों तक लटकी हुई है, उसकी सुगन्धसे मत्त मधुकर चारों दिशाओंमें मधुर ध्वनि (गुञ्जार) कर रहे हैं। बहुमूल्य हीरे, वलय, किरीट, अङ्गद एवं नूपुरोंके द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग अनुपम शोभा धारण कर रहे हैं, कमरमें काञ्ची मेखला अद्भुत विलासका विस्तार करती हुई झूम रही है, वे अपने भक्तोंके हृदयरूपी कमलासनपर विराजमान हैं, उनके समान सुन्दर और दर्शनीय वस्तु दूसरी कोई नहीं है। वे प्रशान्त-विग्रह हैं, दर्शकोंके चित्त एवं नेत्रोंके आनन्दको बढ़ानेवाले हैं,

अतीव सुन्दर झाँकी है, समस्त लोकोंके आराध्य हैं, नव-किशोर वे निजजनोंके प्रति कृपा-वितरणके लिए सदा लालायित रहते हैं, उनका यश पवित्र और एकमात्र कीर्त्तनीय है, वे ही बलि-प्रमुख यशस्वी जनोंके यशकी वृद्धि करनेवाले हैं। इस प्रकार सर्वाङ्ग-सुन्दर भगवान्‌के दर्शनसे जब तक चित्त हट न जाय, तब तक ध्यान करे। माँ! यह भगवत्-मूर्त्ति व्यष्टि जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित है, उनकी लीलाएँ अपूर्व-दर्शनीय हैं। इस श्रीमूर्त्तिका किसी विशेष स्थानपर स्थित (श्रीवृन्दावनीय कल्पतरुके मूलमें स्थित), चलते हुए (वैकुण्ठ और गोष्ठसे वनमें जाते हुए), बैठे हुए (रत्न-सिंहासन अथवा श्रीगोवर्द्धनके गिरिके शिखरपर विराजमान) अथवा पौढ़े हुए (अनन्तशय्यापर अथवा गोवर्द्धनकी गुफाओंमें) स्वरूपमें दर्शन करे। जब यह अनुभव हो जाय कि भगवत्-मूर्त्तिके सर्वाङ्गमें चित्त भलीभाँति स्थिर हो गया है, तब भक्तियोगी अपने चित्तको श्रीभगवान्‌के एक-एक अङ्गमें लगावे॥ ६५॥

अवतरणिका भाष्य—तत्र तत्रैव तस्य तस्य चिन्तनं कार्यमित्येतदाक्षिपति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—उन-उन अङ्गोंमें उन-उन गुणोंका चिन्तन ही करणीय है—इस विषयपर आक्षेप करते हुए कहते हैं—

सूत्र—गुणसाधारण्य श्रुतेश्च॥ ६६॥

सूत्रार्थ—'च' और 'गुण साधारण्य'—गुण-साधारण 'श्रुतेः' श्रुति रहनेके कारण ये केवल उन-उन अङ्गोंमें चिन्तनीय नहीं हो सकते॥ ६६॥

सूत्रानुवाद—गुण-साधारण जब समस्त अङ्गोंमें ही श्रुत हैं, तब समस्त अङ्गोंमें ही समस्त गुणोंका ध्यान हो सकता है। (समस्त दिशाओंमें ही पाणि-पादका उल्लेख है। (यह आक्षेप वाक्य है।)॥ ६६॥

गोविन्दभाष्य—*'सर्वतः पाणिपादं तत्'* (श्रीगी॰ १३/१३) इत्यादावङ्गेषु गुण-साधारण्यश्रवणात् तत्र तत्रैव तस्य तस्य चिन्तनमिति न संभवतीत्यर्थः। *"अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति तथा जगन्ति"* (ब्र॰सं॰ ५/३२) इत्यादिका स्मृतिरपि सर्वत्र सर्वगुणयोगं वक्तीति च शब्दात्॥ ६६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'सर्वतः पाणिपादं तदित्यादि'* श्रुतिमें गुण-साधारण्य श्रवणके कारण समस्त अङ्गोंमें उन-उन गुणोंका ध्यान (चिन्तन) नहीं हो सकता है। स्मृति-वाक्य भी समस्त अङ्गोंमें समस्त गुणोंका सम्बन्ध कहते हैं यथा—जिन परमेश्वरके समस्त अङ्ग समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तिसे युक्त हैं क्योंकि उनका अङ्गमात्र ही त्रिजगत्को देख रहा है, रक्षा कर रहा है और प्रलय कर रहा है। (इस आक्षेपका तात्पर्य है कि ऐसा होनेसे अलग-अलग अङ्गोंका चिन्तन न किया जाय)॥ ६६ ॥

सूक्ष्मा-टीका—त्रिसूत्र्या मुखादिश्वेव मन्दस्मितादीनां प्रतिनियतं ध्यानमुक्तम्। तदाक्षिपति गुणेति। अङ्गानीति ब्रह्मसंहितायाम्। यस्य गोविन्दस्य॥ ६६ ॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्वोक्त *'अङ्गेषु यथाश्रयभावः'*, शिष्टेश्च, *'समाहारात्'*—इन तीन सूत्रों द्वारा मुखादि अङ्गोंमे ही मृदु-मधुर हास्य इत्यादिका नियत रूपसे ध्यानका उपदेश किया गया है, इसके ऊपर आक्षेप करते हैं—गुण-साधारण जब समस्त अङ्गोंमें श्रुत है, तब समस्त अङ्गोंमें ही समस्त गुणोंका ध्यान हो सकता है। *'अङ्गानि यस्य'* इत्यादि वाक्य ब्रह्मसंहिताके (५/३२) अन्तर्गत है। *'अङ्गानि यस्येति'* में 'यस्य' का अर्थ है—उन गोविन्दका॥ ६६ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—उन-उन स्थलोंपर उन-उन गुणोंका ध्यान ही करना होगा। इस विषयपर आक्षेप करते हैं कि ब्रह्मके सभी अङ्गोंमें समस्त गुणोंका चिन्तन किया जा सकता है क्योंकि श्रुतिमें *'सर्वतः पाणिपादं तद्'* वाक्यका उल्लेख दृष्ट होता है और ब्रह्मसंहिता (५/३२) में भी कहा है कि परमेश्वरके समस्त अङ्गोंमें ही समस्त इन्द्रियोंकी वृत्ति वर्त्तमान है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

तत् सर्व्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/४३-४४)

अर्थात् जब मेरे सारे शरीरका ध्यान होने लगे, तब अपने चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और अन्य अङ्गोंका चिन्तन न करके केवल मन्द–मन्द मुस्कान छटासे युक्त मेरे मुखका ही ध्यान करे। मुखमण्डलका चिन्तन सुदृढ़ होनेपर चित्तको वहाँसे खींचकर सर्वकारणस्वरूप आकाशमें स्थिर करे। तत्पश्चात् आकाशका चिन्तन भी त्यागकर शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मुझमें प्रतिष्ठित होकर मेरे सिवा किसी भी वस्तुका चिन्तन न करे।

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/८/२२)

अर्थात् अतएव वत्स ध्रुव! तुम उनका ही आश्रय लो। जन्म–मृत्युके चक्रसे छुटकारा पानेकी इच्छावाले मुक्तिकामी पुरुष निरन्तर उनके पादपद्मोंके मार्गकी खोज किया करते हैं। तुम दूसरी आसक्तिको छोड़कर अपने स्वधर्म भक्तिसे उन भक्तवत्सल भगवान्की ही आराधना करो॥ ६६॥

अवतरणिका भाष्य—निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस आक्षेपका सूत्रकार निरास करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एतमाक्षेपं निरस्यति न वेति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस आक्षेपको *'न वा'* इत्यादि सूत्रमें निरास करते हैं—

सूत्र—न वा तत्सहभावाश्रुतेः॥ ६७॥

सूत्रार्थ—'न वा' नैव—नहीं, यह नहीं हो सकता, क्योंकि 'तत्सहभावाश्रुतेः' जिस अङ्गमें जो गुण पठित हैं, अन्य गुणोंसे उसका साहचर्य सुना नहीं जाता। अतएव आश्रय–अनुसार ही चिन्तनीय है, अन्य नहीं॥ ६७॥

सूत्रानुवाद—श्रीभगवान्‌के जिस अङ्गमें जिस गुणका उल्लेख है, उसीका चिन्तन करे, दूसरे गुणका नहीं। सर्वतः पाणिपादं श्रुति सर्वेश्वरत्वकी प्रतिपादक है॥ ६७॥

गोविन्दभाष्य—वेत्यवधारणे। अङ्गेषु गुणसाधारण्यं न चिन्त्यम्। कुतः? तत्सहेति। यस्मिन्नङ्गे यो गुणः पठितस्तत्सहभावोऽन्येषां गुणानां न श्रूयतेहतो न तच्चिन्त्यं किन्तु यथाश्रयं भावनम्। सर्वतः पाणीत्यादिकं तु सर्वत्र सर्वशक्तिरस्तीत्येव निवेदयद्गतार्थम्॥ ६७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'वा' शब्द अवधारण अर्थमें प्रयुक्त है अर्थात् समस्त अङ्गोंमें गुण-साधारण्य चिन्तनीय नहीं होंगे। कारण क्या है? *'तत्सहभावाश्रुतेः'* क्योंकि जिस अङ्गमें जो गुण पठित हैं, अन्य गुणोंकी वहाँ (उस अङ्गमें) सहस्थिति सुनी नहीं जाती, अतएव वे चिन्तनीय नहीं है किन्तु आश्रय-अनुसार अवश्य ही ये गुण चिन्तनीय हैं। तब जो *'सर्वतः पाणिपादम्'* इत्यादि वाक्य कहा गया है—उनके समस्त अङ्गमें ही हस्त-पाद हैं इत्यादि। इस श्रुतिका अर्थ है कि उनकी सर्वत्र ही समस्त शक्ति विद्यमान है, यही बतलाया गया है, इसलिए यह अर्थ सङ्गत ही है॥ ६७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त आक्षेपके, निराकरणके लिए प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि परमेश्वरके समस्त अङ्गोंमें समस्त गुणोंका चिन्तन नहीं हो सकता क्योंकि जिस अङ्गमें जिस गुणका उल्लेख देखा जाता है, उसका दूसरे अङ्गके लिए उल्लेख नहीं होता। अतः आश्रयके अनुसार ही गुणका चिन्तन करना होगा।

श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीकी स्तुतिमें प्राप्त है—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय,
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/१)

अर्थात् श्रीब्रह्माजीने स्तुति करते हुए कहा—हे जगत्-पूज्य! आपका श्रीविग्रह वर्षाकालीन नवीन मेघके समान-श्यामल है, इसपर

आपने स्थिर विद्युतके समान झिलमिलाता पीताम्बर धारण कर रखा है। आपके गलेमें गुञ्जाकी माला, कानोंमें मकराकृति कुण्डल एवं सिरपर चूड़ाग्रवर्त्ती शिखिपुच्छ दीप्यमान है। आपके गलेमें वृन्दावनके रङ्ग-बिरङ्गे पत्र-पुष्पादिसे रचित वनमाला लटकी हुई है, हाथोंमें दधिमिश्रित भातका कौर है, बगलमें बेंत, सिंगी (विषाण) और कमरकी फेंटमें वेणु सुशोभित हो रहे हैं। आपके श्रीचरणयुगल कमलके समान अतिशय कोमल हैं। आप गोपराज नन्दके नित्य पुत्र हैं। मैं आपकी स्तुति करता हूँ।

यच्छौचनिःसृत-सरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्द्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/२२)

अर्थात् इन चरणोंके प्रक्षालित सलिलसे उत्पन्न नदियोंमें श्रेष्ठ भगवती गङ्गाके पवित्र जलको मस्तकपर धारण करके शिव भी शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलमय हो गये हैं। जो व्यक्ति इन चरणारविन्दोंका ध्यान करता है, (पापरूप) पर्वतोंपर वज्र-निक्षेपके समान उसके मनका सारा कल्मष ध्वंस हो जाता है, अतएव भगवान्के उन चरणारविन्दका चिरकाल तक ध्यान करे।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

वंशीगानामृतधाम, लावण्यामृत जन्मस्थान,
ये ना देखे, से चाँदवदन।
से नयने किवा काज, पड़ूक तार मुण्डे वाज,
से नयन रहे कि कारण?

(चै॰च॰म॰ २/२९)

अर्थात् श्रीकृष्णका चन्द्रवदन वंशीगानका अमृतधामस्वरूप एवं लावण्यरूप अमृतका जन्मस्थानस्वरूप है। जो नेत्र इस मुखचन्द्रको देख नहीं सकते, ऐसे नेत्रोंसे क्या प्रयोजन है। अरे ऐसे मस्तकपर तो वज्र ही गिर पड़े। बिना दर्शन किये ये नेत्र किस कारणसे रहें?

इसके अनुभाष्यमें हमारे परमराध्यतम श्रीश्रील प्रभुपादने कहा है—

श्रीकृष्णका चन्द्रवदन वंशीगानरूप सुधाका एवं लावण्य-सुधाका आकर है। जिस गोपीके चक्षु ऐसे परम रमणीय कृष्णरूपके दर्शनसे वञ्चित हैं, ऐसे नयनोंके आश्रय उस गोपीके मस्तकपर व्रजाघात होना ही श्रेयस्कर है। वस्तुतः गोपियाँ कृष्णेतर वस्तुओंको देखकर विराग ही दिखाती हैं अथवा उदासीन हो जाती हैं, प्रसन्न नहीं होतीं। नयनाभिराम सेव्य कृष्णमुखचन्द्र उनकी चक्षुरिन्द्रियकी आराध्य वस्तु हैं। कृष्ण-मुख-चन्द्रके दर्शनके अभावमें नेत्रके धारक अथवा आधाररूप सिरपर वज्राघात ही वाञ्छनीय है। कृष्ण-दर्शनसे रहित होकर अन्य किसी वस्तुको देखनेके लिए चक्षु रहनेके किसी भी कारणकी उनके निकट उपलब्धि नहीं होती है॥ ६७॥

सूत्र—दर्शनाच्च॥ ६८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'च' और 'दर्शनात्' क्योंकि उन-उन अङ्गोंमें उन-उन गुणोंका वर्णन दृष्ट एवं श्रुत है। अतएव उक्त उपसंहार सङ्गत नहीं है॥ ६८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके तृतीय पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिमें और स्मृतिमें तद्-तद् अङ्गोंमें तद्-तद् गुणोंका ही वर्णन है॥ ६८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके तृतीय पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—मुखादिश्वेव मन्दस्मितादीनां वर्णनं दृष्टमतश्च तथा॥ ६८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मुखादि अङ्ग-विशेषमें ही मृदु-मधुर हास्य इत्यादिका वर्णन शास्त्रमें, क्योंकि दृष्ट वही है, इसलिए वही उपसंहृत होना चाहिये॥ ६८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके तृतीय पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—दर्शनाच्चेति। दृष्टमिति। श्रुतिषु स्मृतिषु चेत्यर्थः॥ ६८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार— *'दर्शनाच्चेति'* सूत्रमें। दृष्टमिति भाष्य—श्रुतिमें और स्मृतिमें दृष्ट—यह अर्थ है॥ ६८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके तृतीय पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रीभगवान्के मुखादिमें मन्दहास्यादिका वर्णन दिखायी देनेसे उन्हें ही ग्रहण करना कर्त्तव्य है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/२९/३९)

अर्थात् हे प्रियतम! तुम्हारा सुन्दर मुखकमल जिसपर घुँघराली अलकें झलक रही हैं, तुम्हारे कमनीय कपोल जिनपर सुन्दर-सुन्दर कुण्डल अपना अनन्त सौन्दर्य बिखेर रहे हैं, तुम्हारे मधुर अधर जिनकी सुधा सुधाको भी लजानेवाली है, तुम्हारी नयन-मनोहारी चितवन जो मन्द-मन्द मुस्कानसे उल्लसित हो रही है, तुम्हारी दोनों भुजाएँ जो शरणागतोंको अभय दान देनेमें अत्यन्त उदार हैं और तुम्हारा वक्षःस्थल जो लक्ष्मीजी (सौन्दर्यकी एकमात्र देवी) का नित्य क्रीड़ास्थल है—को देखकर हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं।

श्रीरुक्मिणीदेवी भी कह रही हैं—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥

(श्रीमद्भा० १०/५२/३७)

अर्थात् रुक्मिणी द्वारा दिये गये पत्रके आवरणको खोलकर ब्राह्मणने उस पत्रको श्रीकृष्णको दिखाया और उनसे आज्ञा प्राप्त करके उस पत्रको पढ़ना आरम्भ किया। इस पत्रमें रुक्मिणीने इस प्रकारसे लिखा था—हे भुवनसुन्दर अच्युत! आपके गुणोंको, जो सुननेवालेके कानोंके रास्तेसे हृदयमें प्रवेश कर समस्त अङ्गोंके सन्तापको हर लेते हैं—लोगोंसे इस प्रकारसे सुनकर और जो नेत्रोंसे सम्पन्न हैं, उनकी आँखोंको सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्राप्ति करानेवाले आपके सौन्दर्यके विषयमें सुनकर मैंने हृदयसे लोकलज्जाका त्याग कर दिया है और आपके प्रति मेरा चित्त आसक्त हो गया है।

और भी,

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम्।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च॥

(श्रीमद्भा० ९/२४/६५)

अर्थात् परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके मुखमण्डलपर अद्भुत माधुरी छाई रहती थी। मकराकृत कुण्डलोंसे उनके कमनीय कर्णयुगल बड़े ही मनोहर लगते थे। इन कुण्डलोंकी आभासे उनके कपोल दीप्तिमान हो उठते थे। औत्सुक्य, चापल्य आदि विलासके साथ जब वे हँसते तो नित्य उत्सव प्रकट करनेवाले उनके मुखमण्डलपर आनन्दकी सीमा ही न रहती। सभी नर-नारी बड़े आनन्दके साथ अपनी दृष्टिरूपी प्यालेसे उनकी माधुरीका निरन्तर पान करते, किन्तु अघाते न थे। भगवान्की ऐसी माधुरीका पान करनेमें बाधा डालनेवाली पलकोंके उठने-गिरनेकी क्रियासे वे खीझ जाते और इस क्रियाके स्रष्टा निमिपर क्रोध करने लगते।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुजीके वाक्य हैं—

कृष्णेर मधुर रूप, शुन, सनातन।
ये रूपेर एककण, डुबाय ये त्रिभुवन,
सर्वप्राणी करे आकर्षण॥

योगमाया चिच्छक्ति, विशुद्ध सत्त्व परिणति,
तार भक्ति लोके देखाइते।
एइरूप रतन, भक्तगणेर गूढ़धन,
प्रकट कैला नित्यलीला हैते॥

(चै॰च॰म॰ २१/१०२-१०३)

अर्थात् हे सनातन! सुनो! कृष्णके मधुर रूपका एककण गोकुल, मथुरा और द्वारका—इस त्रिभुवनात्मक—अथवा अन्तःपुर गोलोक वृन्दावन, मध्यमावास परव्योम और बाह्य आवास देवीधाम—इस त्रिभुवनको डुबो देनेमें समर्थ है। यह एक कणमात्र ही त्रिभुवनमें स्थित प्राणियोंको उनकी रूप-माधुरीकी ओर आकर्षित कर देता है। परव्योमादिमें विशुद्ध सत्त्वकी परिणतिरूपा चित्-शक्ति योगमायाकी अवस्थिति नहीं है। इस योगमायाकी अपूर्व असामान्य शक्तिका कार्य दिखानेमें भक्तगणोंकी नितान्त गोपनीय और आदरणीय रत्नस्वरूप नित्यलीलाको गोलोकसे प्रपञ्चमें श्रीकृष्णने प्रकट किया है॥ ६८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके तृतीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



चतुर्थः पादः

मङ्गलाचरणम्

श्रद्धावेश्मन्यास्तृते सच्छमाद्यै।
वैराग्योद्यद्वित्ति सिंहासनाढये॥
धर्म प्राकारञ्चिते सर्वदात्री।
प्रेष्ठा विष्णोर्भाति विद्येश्वरीयम्॥

'*श्रद्धावेशमन्यास्तृते*' इत्यादि। इसका अर्थ है—यह अनुभव गोचरा, प्रत्यक्षीभूता विद्या-महिषी दीप्तिमती हो रही हैं, ये विद्या-महिषी श्रीहरिकी अति प्रिया हैं—ईश्वरकी सभी पट्टमहिषियाँ (पटरानियाँ) अभीष्ट—प्रेय एवं श्रेय-दानमें समर्थ हैं। इनमें ये विद्या श्रद्धारूप गृहमें विराजमान रहती हैं। यह श्रद्धागृह-सत्-विशुद्ध शम-दम इत्यादि आस्तरणसे आवृत्त है और वैराग्यसे उदीयमान जो शास्त्र-संविद् (शास्त्र-ज्ञान) है, उस प्रकारके सिंहासनसे विशिष्ट है। यह श्रद्धागृह राजप्रसाद है क्योंकि वर्णाश्रम विहित निष्काम कर्म ही उसकी प्राचीर है, इसी प्राचीरसे यह सुरक्षित है, इस प्रासादमें परमेश्वरकी पट्टमहिषी विद्यारूपिणी ईश्वरी विराजती हैं।

मङ्गलाचरण टीका—प्रागुक्तया विद्याया निखिलपुरुषार्थहेतुत्वं निरवधिकप्रभावञ्च वर्णयंस्तस्याः भानस्मरणं मङ्गलमाचरति श्रद्धेति। इयमनुभवगोचरतया प्रत्यक्षायमाणा सा विद्या भाति दीप्यते। कीदृशी विष्णोः प्रेष्ठातिप्रिया ईश्वरी ईश्वरस्य तस्य पट्टमहिषी सर्वानर्थनिरसनक्षमा चेत्यर्थः। सर्वदात्री अभ्युदयनिःश्रेयसप्रदा। क्व भाति। श्रद्धावेश्मनि। गुरुवेदान्तवाक्यार्थदृढविश्वासः श्रद्धा, तदेव वेश्म प्रासादरूपं मन्दिरम् तस्मिन्। कीदृशे इत्याह सदिति। सद्भिः शमदमादिभिरास्तरणैरास्तृते जातास्तरणे। वैराग्येति। वैराग्यं तदितरवैतृष्ण्यं तेनोद्यती या वित्तिः शास्त्रसंवित् तदेव सिंहासनं तेनाच्ये विशिष्टे इत्यर्थः। ननु प्राकारमन्तरा कथमस्य राजमन्दिरत्वं तत्राह धर्मेति। वर्णाश्रमविहितं यत् विद्योपयोगि निष्कामं कर्म स एव प्राकारस्तेनाञ्चिते शोभिते इत्यर्थः। रूपकमलङ्कारः। एतेन कर्मणां बहिरङ्गसाधनत्वं शमादीनामन्त-रङ्गसाधनत्वञ्च द्योतितं विद्यायाः साक्षात् भगवत् प्रापकत्वञ्च।

मङ्गलाचरण-टीकानुवाद—पूर्वोक्त विद्याके समस्त प्रकारके पुरुषार्थकी निष्पादकता और असीम प्रभावका वर्णन करके अब भाष्यकार *'श्रद्धावेश्मनि'* इत्यादि वाक्य द्वारा उस विद्याका प्रकाश-स्मरण-रूप मङ्गलाचरण करते हैं। इयम्—अर्थात् अनुभव विषय कहनेसे जिस प्रकार प्रत्यक्षके समान प्रतीयमान होता है, उसी प्रकार विद्या भी दीप्तिको प्राप्त हो रही है। ये विद्या किस प्रकारकी हैं? विष्णोः श्रेष्ठा—श्रीहरिकी प्रियतमा ईश्वरी हैं अर्थात् परमेश्वरकी पट्टमहिषी हैं, जो समस्त प्रकारके अनर्थोंका निरास करनेमें समर्थ हैं और सर्वदात्री हैं अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करनेवाली हैं। वे कहाँ दीप्ति प्राप्त करती हैं? श्रद्धावेश्मनि—श्रद्धारूप राजप्रासादमें—गुरु-वाक्यमें और वेदान्त-वाक्यार्थमें जो दृढ़ (अचल) विश्वासरूप श्रद्धा है—वही प्रासाद (राजमन्दिर) है—उसीमें वे दीप्त हो रही हैं। यह प्रासाद कैसा है? *'सच्छमाद्यैरास्तृते'*—जहाँ निर्दोष (विशुद्ध) शम-दमादि रूप आसन बिछे हुए हैं, एवं जो वैराग्य अर्थात् भगवत्-इतर दूसरी वस्तुओंमें वितृष्णा द्वारा उदीयमान शास्त्रज्ञानस्वरूप सिंहासन विशिष्ट हैं। यदि कहो, प्राचीरके बिना इसे राजमन्दिर किस प्रकार कहेंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'धर्मप्राकारस्तेनाञ्चिते'* इति वर्णाश्रम विहित जो विद्याङ्ग-निष्काम कर्म है, वही प्राचीर है—उसके द्वारा शोभित—यह अर्थ है। यहाँ रूपकालङ्कार है। इसके द्वारा कर्मका बहिरङ्गसाधनत्व और शम-दमादिका अन्तरङ्गसाधनत्व सूचित होता है और विद्या साक्षात् सम्बन्धसे श्रीभगवान्‌की प्राप्ति-साधिका है—यह भी द्योतित होता है।

अवतरणिका भाष्य—पूर्वस्मिन् पादे ध्यानोपासनादिशब्दवाच्या ब्रह्मविषया सपरिकरा विद्या दर्शिता। अथास्मिन् पादे तस्याः स्वातन्त्र्यं कर्मणस्तदङ्गत्वं तदधिकृतानां त्रैविध्यं चेत्येवमादयोऽर्थाः प्रकाश्यन्ते। तत्र क्रतुभेदात् विद्यार्थिनस्त्रेधा सम्भवन्ति। केचित् लोकवैचित्रीदिदृक्षवो वर्णाश्रमधर्मान् परिनिष्ठयाचरन्तः सनिष्ठा उच्यन्ते; केचित् तु लोकसंजिघृक्षयैव तानाचरन्तः परिनिष्ठिताः। ते चैते चोभये साश्रमाः। परे तु प्राग् भवीयैर्धर्मैः सत्यतपोजपादिभिश्च विशुद्धा निरपेक्षाः। तत्र ते निराश्रमाः। इत्येवं त्रैविध्यं व्यक्तं भावि। तत्रादौ विद्यायाः स्वातन्त्र्यमुच्यते। *"तरति शोकमात्मविद्"* (छा॰ ७/१/३) *"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"* (तै॰ २/१/२) इत्येवमादीनि वाक्यानि श्रूयन्ते। *"एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्"*

इति काठके (कठ० १/२/१६) च। इह संशयः—विद्या मोक्षस्यैव हेतुरुत स्वर्गादेश्चेति विदुषोऽन्यत्र स्पृहाऽभावान्मोक्षस्यैवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वपादमें (तृतीय अध्यायके तृतीय पादमें) ध्यान, उपासना इत्यादि शब्दवाच्य ब्रह्मविषयक सपरिकररूपा अर्थात् साङ्गोपाङ्गरूपा विद्याको दिखाया गया था। अब इस चतुर्थ पादमें ब्रह्मविद्याका स्वातन्त्र्य (स्वाधीनत्व), कर्मका विद्याङ्गत्व (विद्याका अधीनत्व) और विद्याधिकारियोंका त्रिविधत्व—ये सब पदार्थ प्रकाशित होंगे, यहाँ क्रतुभेदसे अर्थात् विलक्षण सङ्कल्पभेदसे विद्यार्थी तीन प्रकारके सम्भव होते हैं, यथा कुछ विद्यार्थी स्वर्गादि विचित्र लोकरचनाको देखनेके इच्छुक होकर वर्णाश्रमधर्मका निष्ठाके साथ आचरण करते हैं, इसलिए सनिष्ठ नामसे कहे जाते हैं। कोई-कोई लोगोंको स्वपथपर परिचालित करानेके अभिप्रायसे (लोकसंग्रहकी इच्छासे) वर्णाश्रमधर्मका आचरण करते हैं, उन्हें परिनिष्ठित कहा जाता है। इस प्रकार सनिष्ठ एवं परिनिष्ठित ये अधिकारी-द्वय आश्रमी हैं किन्तु जो दूसरे विद्यार्थी पूर्वजन्मार्जित धर्मवशतः तथा सत्य, तप, जप इत्यादिके आचरणसे विशुद्धमति और निरपेक्ष (निष्काम) हैं, वे आश्रमरहित हैं। इस प्रकारसे अधिकारी-त्रिविधत्व बादमें व्यक्त किया जायेगा। इस समय पहले विद्याकी निरपेक्षता बता रहे हैं यथा श्रुति है—*'तरति शोकमात्मवित्'* आत्मस्वरूपज्ञ व्यक्ति दुःखमय संसारको उत्तीर्ण कर लेता है, *'ब्रह्म विदाप्नोति परम्'* ब्रह्मविद मुक्ति प्राप्त कर लेता है—इत्यादि वाक्य श्रुत होते हैं। कठोपनिषदमें है *'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्'*—उन अक्षर ब्रह्मको जाननेपर जो जैसी कामना करता है, उसकी वे समस्त कामनाएँ सिद्ध होती हैं। यहाँ संशय यह है कि विद्या क्या केवल मुक्तिका कारण है? अथवा स्वर्गादिका भी कारण है? पूर्वपक्षवादी कहते हैं—ब्रह्मज्ञानीकी अन्यत्र अर्थात् अन्य विषयमें स्पृहाके अभावके कारण विद्या केवल मुक्तिका ही हेतु है। पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वस्मिन्नित्यादि। अत्र विद्यारूपस्य साधनस्य स्वातन्त्र्यादिगुणकीर्त्तनादध्यायसङ्गतिः पूर्वपादोदिताया विद्याया यज्ञशमाद्यङ्गकत्वकीर्त्तनात् पादसङ्गतिश्च बोध्या। पूर्वत्र विद्यया संसृतितरणलक्षणो मोक्ष इत्युक्तं तन्न युक्तम्।

कर्मणापि तत्सिद्धेर्निरूपणादिति पूर्वोत्तराधिकरणयोराक्षेपसङ्गतिश्च। द्विपञ्चाशत्सूत्रकः षोडशाधिकरणकोऽयं चतुर्थपादस्तं व्याख्यातुमारभते अथास्मिन्नित्यादिना। तदङ्गत्वं विद्याशेषत्वम्। तदधिकृतानां विद्याधिकारिणाम्। क्रतुभेदात् विलक्षणसङ्कल्पत्वात्। लोकेति। लोकवैचित्री स्वर्गादिविचित्रलोकरचना तां द्रष्टुमिच्छस्तु इत्यर्थः। प्राग्भवीयैः पूर्वजन्मकृतैः धर्मैवर्णाश्रमविहितैरसाधारणैः सत्यादिभिश्च साधारणैरिति ज्ञेयम्। तरतीत्यादिना दुःखहानिसुखप्राप्तिलक्षणो मोक्षो विद्याफलमधिगम्यते। इत्येवमादीनीति आदिपदात् *"एको बहूनां यो विदधाति कामान्"* (कठ० २/२/१३) इति श्रुतिर्ग्राह्या। एतद्ध्येवेत्यत्र तु विद्यया सर्वं लभ्यमित्यधिगतम्। इहेति। विदुषो ब्रह्मानुभविनः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वस्मिन्नित्यादि—इस अधिकरणमें विद्यारूप साधनकी निरपेक्षता इत्यादि गुणोंके कीर्त्तनके कारण अध्याय-सङ्गति जानें एवं तृतीय पादमें वर्णित विद्याके अङ्गरूपमें यज्ञ, शम, दमादि वर्णित होनेके कारण पादसङ्गति भी ज्ञातव्य है। अब आपत्ति यह है कि पहले जो कहा गया था कि विद्या द्वारा संसार पार होना-रूप मुक्ति होती है, यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि कर्म द्वारा भी यह संसार-तरण होता है, यह निरूपित हुआ है। इस प्रकारसे पूर्व एवं उत्तर अधिकरण-द्वयमें आक्षेप-सङ्गति भी लक्षित होती है। इस चतुर्थपादमें बावन सूत्र एवं सोलह अधिकरण हैं। इसीकी *'अथेत्यादि'* वाक्य द्वारा व्याख्या करना आरम्भ करते हैं। *'कर्मणस्तदङ्गत्वमिति'* में *'तदङ्गत्वम्'* का अर्थ है—*'विद्याका अङ्गत्व'*—विद्याशेषत्व'। *'तदधिकृतानां त्रैविध्यञ्च'* इति *'तदधिकृतानाम्'* अर्थात् विद्याधिकारियोंका। *'तत्र क्रतुभेदादिति'*—क्रतुभेदात्—विचित्र सङ्कल्पके कारण *'लोकवैचित्रीदिदृक्षवः'* इति अर्थात् स्वर्गादि विचित्र लोकरचना देखनेके अभिप्रायसे। *'परे तु प्राग्भवीयैरिति'* में *'प्राग्भवीयैः'* का अर्थ है—पूर्व-पूर्व जन्मोंसे अर्जित, धर्मैः—वर्णाश्रम-विहित असाधारण धर्म द्वारा और सत्य, तप, जप इत्यादि साधारण धर्म द्वारा, यह ज्ञातव्य है। *'तरतीत्यादि'*—श्रुति द्वारा दुःखहानि एवं निरतिशय सुखप्राप्तिरूप मुक्ति जो विद्याका फल है, यह जाना जाता है। *'इत्येवमादीनि वाक्यानि श्रूयन्ते'* इति—आदि पदसे ग्राह्य वाक्य है यथा—*'एको बहूनां यो विदधाति कामान्'*—जो एक होकर भी बहुत प्रार्थियोंकी कामनाओंका सम्पादन करते हैं—इत्यादि श्रुति। *'एतद्ध्येवाक्षरम्'*—इस श्रुतिमें ब्रह्मविद्या द्वारा समस्त लभ्य है, यह प्राप्त

होता है। *'इह संशयः'* इति—*'विदुषोऽन्यत्र स्पृहाभावादिति'* में विदुषः अर्थात् ब्रह्म-साक्षात् करनेवालेका।

पुरुषार्थाधिकरणम्

सूत्र—पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः॥ १॥

सूत्रार्थ—'पुरुषार्थ'—समस्त काम्य वस्तुएँ ही 'अतः' इस विद्या-उपासना द्वारा सिद्ध हो सकती हैं 'बादरायणः' यह भगवान् बादरायण मानते हैं क्यों? 'शब्दात्'—उक्त श्रुतियोंके कारण॥ १॥

सूत्रानुवाद—श्रीभगवान् बादरायण मानते हैं कि विद्यासे ही समस्त पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है॥ १॥

गोविन्दभाष्य—सर्वोऽपि पुरुषार्थऽतो विद्यात एव स्यादिति भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः? शब्दात्। उक्तश्रुतेरित्यर्थः। विद्यया परितुष्टो हरिः स्वभक्ताय आत्मानं ददाति। कर्द्दमादिवत् फलान्तरेच्छायां तु तयैव कर्मपरिकरतया तच्चार्पयतीति॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—समस्त काम्य वस्तुओंको ही विद्यासे प्राप्त किया जा सकता है, सर्वज्ञ भगवान् बादरायण यह मानते हैं। क्यों? *'शब्दात्'* उक्त श्रुतियोंके कारण यह प्रतिपन्न होता है। विद्यासे परितुष्ट होकर श्रीहरि अपने भक्तोंको आत्मदान कर देते हैं। कर्दमादि मुनिके समान यदि मुक्तिसे अतिरिक्त फलान्तर (अन्य फल) की कामना रहती है तो इस विद्यामें कर्मयोग (कर्म सम्बन्ध) रहनेके कारण, वे उसे भी प्रदान कर देते हैं॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—पुरुषार्थ इति। सर्वोऽपीति निखिल इत्यर्थः। आत्मानं ददातीति *"तस्मै स्वात्मानं ददामि"* इति श्रुतेः *"ददात्यात्मानमप्यजः"* इतिस्मृतेश्च। तच्च फलान्तरम्॥ १॥

सूक्ष्मा-सार—*सर्वोऽपि* अर्थात् अशेष। *'आत्मानं ददातीति'* उस ब्रह्मवित्को मैं अपनी आत्माका भी दान करता हूँ—यह श्रुति रहनेके कारण और *'ददात्यात्मानप्यजः'*—वे अज परमात्मा आत्म पर्यन्त दान करते हैं इत्यादि स्मृति-वाक्य रहनेके कारण। *'तच्चार्पयतीति'* में तच्च का अर्थ है—वही काम्य अन्य फल॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस चतुर्थ पादके प्रारम्भमें ही भाष्यकार श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभुने मङ्गलाचरणमें कहा है कि श्रीविष्णुकी परम प्रियतमा पट्टमहिषी विद्यारूपा ईश्वरी सर्वदात्री होकर श्रद्धारूपी प्रासादमें विराज रही हैं। यह प्रासाद—वर्णाश्रम-विहित निष्काम कर्म-योगरूप प्राचीरसे वेष्टित है, साधुओं द्वारा शम-दमादि-रूप आस्तरण (बिछौने) से आच्छादित है और इतर विषयोंमें वैराग्यसे उदित शास्त्रज्ञान-स्वरूप सिंहासनसे सुशोभित है। इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि निष्काम कर्म बहिरङ्ग साधन हैं और शम-दमादि अन्तरङ्ग साधन हैं किन्तु विद्या अर्थात् भगवत्-भक्ति साक्षात् भगवत्-प्रापक अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त करानेवाली है।

पूर्वपादमें ध्यानोपासनादि शब्दोंसे वाच्य ब्रह्म-विषयक-विद्याको यज्ञ, शम आदि अङ्गत्वके रूपमें कहा गया था और अब इस अध्यायके चतुर्थ पादमें विद्याका स्वातन्त्र्य, निष्काम कर्मका विद्याके अङ्गरूपमें उल्लेख और विद्याधिकारियोंका त्रिविधत्व अर्थात् सनिष्ठत्व परिनिष्ठितत्व और निरपेक्षत्व इत्यादि विषय वर्णित होंगे। सम्प्रति सर्वप्रथम विद्याके स्वातन्त्र्यका निष्पण किया जाता है।

कठोपनिषदमें पाया जाता है—

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।
(कठ० १/२/२६)

अर्थात् अक्षर वस्तुको जान लेनेपर लोग जो भी इच्छा करते हैं उसकी उन्हें प्राप्ति हो जाती है।

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।'
(श्वे० ३/८)

अर्थात् मैंने जान लिया है कि वे महापुरुष विश्वव्यापी, सूर्यके समान स्वयं प्रकाशस्वरूप, ज्योतिर्मय और अज्ञानान्धकार अर्थात् मायासे अतीत हैं।

मुण्डकोपनिषदमें भी,

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान्नाम रूपाद्विमुक्तः,
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मु० ३/२/८)

जिस प्रकार नदियाँ विभिन्न नाम और आधारके कारण भिन्न-भिन्न रूप धारण करके प्रवाहित होती हैं और अन्तमें समुद्रमें ही अन्तर्हित हो जाती हैं अर्थात् मिल जाती हैं, उसी प्रकार जीव अविद्याजनित नाम और रूप मायाबद्धावस्थाको धारण किये रहता है, लेकिन तत्त्वज्ञान प्राप्तिके फलस्वरूप मुक्तावस्थामें प्राप्त नाम एवं रूपका त्याग करके परात्पर परमेश्वरको प्राप्त होता है।

छान्दोग्योपनिषदमें—

'तरति शोकमात्मविदिति'

(छा० ७/१/३)

अर्थात् आत्मविद् संसारसे उत्तीर्ण हो जाता है।

और भी,

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

(श्वे० ६/१५)

अर्थात् उन ब्रह्मको जाने बिना मोक्ष-प्राप्तिका कोई और मार्ग नहीं है।

तैत्तिरीय-श्रुतिमें भी है—

'ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्।'

(तै० २/१/१)

अर्थात् ब्रह्मविद् परमतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। इस स्थलपर संशय यह है कि विद्या क्या केवल मुक्ति ही प्रदान करती है? अथवा स्वर्गादिको भी प्राप्त करा देती है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि विद्वान व्यक्तिकी अन्यत्र स्पृहा न रहनेके कारण विद्याको केवल मोक्षका ही हेतु कहा जायेगा। पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि समस्त पुरुषार्थ ही इस विद्या द्वारा प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि इस प्रकारका श्रुति-प्रमाण है। भगवान् बादरायण ऋषिका भी यही मत है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकर्दम ऋषिका दृष्टान्त भी है—

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत्।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः॥

(श्रीमद्भा० ३/२१/२३)

अर्थात् श्रीभगवान्ने कहा—हे मुनिवर! तुमने जिस अभिप्रायसे इतने आत्मनियम अर्थात् तपश्चरणादिके साथ मेरी सम्यक् आराधना की है, मैं आपके हृदयके उस भावसे भली-भाँति अवगत हूँ, अतः मैंने पहलेसे ही उसकी व्यवस्था (संयोजना) कर रखी है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

ज्ञान सामर्थ्यमस्मिन् पादे उच्यते। यद्दर्शनार्थमुपासनोक्ता तस्माच्च दर्शनात् सर्वपुरुषार्थ प्राप्तिरिति बादरायणो मन्यते 'यं यं लोकं मनसां संविभाति विशुद्ध सत्त्वः कामयते यांश्च कामान् तं तं लोकं जायते तांश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकाम मः (मु० ३/१/१०) *इति' शब्दाद्यस्त्येव मोक्षसाधनम्॥*

अर्थात् पूर्वपादमें भगवत्-ज्ञानके साधन उपासनाके विषयमें कहा गया था—इस पादमें उस ज्ञानके सामर्थ्यका वर्णन करते हैं—ब्रह्म-प्राप्तिके साधन-ज्ञानके सर्वपुरुषार्थ साधनतारूप महिमाका वर्णन होना आवश्यक है, अन्यथा इस ज्ञान-साधनमें अतिशय प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अब सन्देह यह है कि ब्रह्म विज्ञान क्या केवल मोक्षमात्रका साधन है? अथवा फलान्तरको भी साधित करता है? इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं—बादरायण आचार्यने कहा है कि ब्रह्मदर्शनके लिए पहले उपासना कही गयी थी—उस ब्रह्मदर्शनसे पुरुषके प्रार्थित समस्त प्रकारके शुभ-लाभ तो प्राप्त होते हैं, केवल मोक्षमात्र फल नहीं होता। (जिसके दर्शनके लिए उपासनाका उपदेश दिया गया है, उसके दर्शनसे समस्त पुरुषार्थ मिल जाते हैं) विशुद्धसत्त्व व्यक्ति मन-ही-मन जिन लोकोंकी इच्छा करते हैं और जो-जो कामना करते हैं—उन्हें उन-उन लोकोंकी प्राप्ति और उन-उन कामनाओंकी सिद्धि हो जाती है। अतएव 'आत्मज्ञ कल्याणकी कामनासे परमात्माकी अर्चना करें' इत्यादि प्रमाणोंसे ज्ञानकी मोक्ष साधनता जाननी चाहिये॥ १॥

अवतरणिका भाष्य—अत्र जैमिनिः प्रत्यवतिष्ठते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस विषयमें महर्षि जैमिनि स्वमत दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—विद्याङ्गिका वैदिकी क्रियैव स्वर्गमोक्षदात्रीतिवादी जैमिनिः प्रत्यवतिष्ठते शेषत्वादित्यादिना।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—ब्रह्मविद्याजनित वेदविहित कर्मानुष्ठान स्वर्ग एवं मोक्षदान करते हैं—यह जैमिनिका अभिमत है। *'शेषत्वात्'* इत्यादि वाक्य द्वारा वे यही कहते हैं—

शेषत्वात् पुरुषार्थाधिकरणम्

सूत्र—शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः॥ २॥

सूत्रार्थ—'शेषत्वात्' क्योंकि विद्या कर्मका अङ्ग है। इसलिए विद्यामें जो फलश्रुति है, 'पुरुषार्थवादः' वह पुरुषार्थवाद अर्थात् पुरुष सम्बन्धी अर्थवाद है, 'यथाऽन्येषु'—जैसे द्रव्य, संस्कार और कर्म फलश्रुति हैं, ब्रह्मविद्यामें अर्थवाद भी उसी प्रकारका है, 'इति'—यह 'जैमिनिः' जैमिनि कहते हैं। (जै॰सू॰ ४/३/१)॥ २॥

सूत्रानुवाद—विद्याके कर्मशेष हेतुमें जो फल-श्रवण है, वह पुरुषार्थवाद है। जिस प्रकार द्रव्य, संस्कार और कर्मफल श्रुति अर्थवाद हैं, उसी प्रकार विद्यामें जो फलश्रुति है, वह भी अर्थवाद है। यह आचार्य जैमिनिका मत है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—इज्यस्य विष्णोर्यजमानस्य स्वस्य च स्वरूपसम्बन्धौ विज्ञाय तदुक्तेषु तदाराधनात्मकेषु कर्मषु जीवः स्वयं प्रवर्त्तते। तैरसौ निवृत्तकल्मषोऽदृष्टद्वारा स्वर्गमोक्षरूपं फलं भजतीति विद्यायाः कर्मशेषत्वात्, तस्यां या फलश्रुतिः स पुरुषार्थवादः पुरुषसम्बन्ध्यर्थवादः स्यात्। यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु *"यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति"* (तै॰सं॰ ३/५/७/२) *"यदाऽङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते।" "यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य"* (तै॰सं॰ २/६/१/५) इत्येवं विद्या फलश्रुतिरर्थवादस्तद्वदिति जैमिनिर्मन्यते। यदुक्तम्—द्रव्यसंस्कारकमसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः तद्वादिति। जैमिनिर्मन्यते। यदुक्तं द्रव्यसंस्कार कर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादिति। (जै॰सू॰ ४/३/१)

यावज्जीवं गृहिधर्मान् यज्ञादीननुतिष्ठतः शमदमाद्युपेतस्य ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते। *'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य'* इत्यादिना *'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते'* (छा॰ ८/५/१) इत्यन्तेन। स्मर्यते च। *'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्'* इति (वि॰पु॰ ३/८/९) एवमन्यच्च। त्यागवाक्यन्तु कर्मानर्हपङ्गवन्धविषयमिति॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यजनीय (उपास्य) विष्णु और यागकारी यजमान जीव उन विष्णु और अपने स्वरूपसे तथा यजमान और इज्यके सम्बन्धसे अवगत होकर जब उन वेदरूपी विष्णु द्वारा कथित उन विष्णुके ही आराधनास्वरूप यज्ञकर्ममें स्वयं प्रवृत्त होता है और उन कर्मों द्वारा पापसे मुक्त होकर जिस अदृष्ट अथवा पुण्यका सञ्चय करता है, उसके फलस्वरूप वह स्वर्ग एवं मुक्तिरूप फल भोग करता है। इसलिए विद्या अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ज्ञानको कर्मका उपकारक अर्थात् कर्माङ्ग कहा है। तब इस विद्यामें जो फलश्रुति है, वह पुरुषप्रवर्त्तक अर्थवाद है। इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि जैसे द्रव्य, संस्कार और कर्ममें फलश्रुति अर्थवादात्मक हैं, *'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति'* इत्यादि एतद् यज्ञस्यत्यन्तु इनमें द्रव्यगत फलश्रुति है यथा जिस यजमानका पलाश (किंशुकवृक्ष) (पत्र) रूप जुहू (होम-साधन-स्रुवा) है, (अर्थात् जिस यजमानकी पर्णमयी जुहू होती है,) वह पाप-सम्पर्कसे रहित होता है (वह अपशब्द नहीं सुनता है) (यहाँ पर्णमय द्रव्यका फल श्रवण होता है। संस्कार विषयमें अर्थवाद है यथा—*'यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते'* अर्थात् अञ्जन द्वारा चक्षुको जो यजमान अनुरञ्जित करता है, वह शत्रुको अन्धा कर देता है। (यहाँ संस्कारका फल श्रवण ही रहा है।) कर्मगत अर्थवाद है यथा—प्रयाज और अनुयाज नामक अङ्ग-कर्मका जो अनुष्ठान किया जाता है, वह प्रधान यज्ञ कर्मका वर्म (कवच) अर्थात् आवरण है। इस प्रकारकी फलश्रुति जिस प्रकार अर्थवाद है, उसी प्रकार विद्यामें (ज्ञानविषयक) फलश्रुति भी अर्थवाद है—यह जैमिनिका मत है। महर्षि जैमिनिका सूत्र है—*'द्रव्य संस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्'* (जै॰सू॰ ४/३/१) अर्थात् द्रव्य, संस्कार और कर्ममें जो फलश्रुतियाँ हैं, वे प्रधानोपकारक (परार्थ) होनेके कारण अर्थवाद होंगी। पर्ण (पलाश-काष्ठ)

आदि द्रव्य, अञ्जनादि रूप संस्कार एवं प्रयाजादिरूप (अमावस्या तथा पौर्णमासीके अङ्गभूत पाँचभाग) अङ्ग-कर्म—ये सभी परार्थ (यागके अङ्ग) हैं, स्वतन्त्र फलाङ्कासासे रहित हैं, अतः इनके फलोंका निर्देश करनेवाला वाक्य अर्थवादमात्र (प्रशंसामात्र) है) जीवन-पर्यन्त गृहाश्रम धर्म—यज्ञादिके अनुष्ठानकर्त्ता और शम-दमादियुक्त साधकको ब्रह्म-प्राप्ति श्रुतिसे अवगत होती है जैसे कि *'आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य'* इत्यादि अर्थात् 'आचार्य कुलसे वेदका अध्ययन करके' इत्यादिसे आरम्भ करके *'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते'* 'वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, और उसका पुनरावर्त्तन नहीं होता है' इत्यादि कथन अन्तमें कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि गुरुकुलसे वेद-अध्ययनसम्पन्न करके गृहस्थ होगा और गार्हस्थय-आश्रममें रहकर यज्ञादि अनुष्ठानकारी और शम-दमादिसम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मलोकको प्राप्त होगा और वह इस संसारमें पुनः नहीं लौटेगा—यह अन्तिम श्रुति द्वारा प्रकाशित होता है। इस विषयमें स्मृति-वाक्य (विष्णु-पुराणोक्त) है। यथा—*'वर्णाश्रमाचारवता ... तत्तोषकारणमिति'* अर्थात् वर्णाश्रमाचारवान पुरुषके द्वारा विष्णुकी आराधना होती है। इसके बिना उन्हें प्रसन्न करनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। इसी प्रकार और भी स्मृति-वाक्य हैं। तब भी जो सब कर्मत्यागको बोधित करनेवाले वाक्य हैं, उन्हें कर्ममें अक्षम पङ्गु-अन्ध विषयक (सम्बन्धित) रूपमें जानना चाहिये। (कर्मत्याग विषयक वचन आलस्यपरायण व्यक्तिके लिए है।)॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—तदुक्तेष्विति। तेन वेदरूपेण विष्णुना कथितेश्वित्यर्थः। तदाराधनात्मकेष्विति। अग्न्यादिदेवार्च्चनरूपो योगो भगवदर्च्चनं तासां भगवदङ्गत्वात् तासु तदन्तर्यामिनस्तस्य सत्त्वाद्वेत्येके। यज्ञानुष्ठानं खलु तदर्च्चनमेव *"यज्ञो वै विष्णुः"* इति श्रवणादित्यपरे। तैरसाविति। तैः कर्मभिः। असौ जीवः। कर्मशेषत्वात् कर्माङ्गत्वात्। फलश्रुतिः स्वर्गमोक्षदानश्रवणरूपा। यथान्येष्विति। द्रव्ये फलश्रुतिर्यस्य पर्णमयीत्याद्या। संस्कारे फलश्रुतिर्यदाङ्क्ते इत्याद्या। कर्मणि फलश्रुतिवर्त्म वा इत्याद्या। पर्णमयी पलाशरूपा। *"पलाशे किंशुकः पर्ण"* इत्यमरः। भ्रातृव्यस्य श्रत्रोः। *"व्यन् सपत्ने"* इति सूत्रात् भ्रातृर्व्यन् स्यात् समुदायेन शत्रौ वाच्ये इति सूत्रार्थः। वृङ्क्ते अन्धयति। द्रव्येत्यादि सूत्रं व्याख्यातार्थम्। स्मर्यते चेति श्रीविष्णुपुराणे। वर्णाश्रमाचार एव विष्णुर्च्चनं तत्तोषकः पन्था एष एव नातोऽन्य इत्यर्थः। एवमन्यच्चेति। *"न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।*

न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्" इति तत्रैवोक्तं ग्राह्यम्। त्यागवाक्यन्त्विति। न कर्मणेत्यादिकमित्यर्थः। यत्तु वदन्ति कर्मदेवतयोर्यज्ञाङ्गत्वात् तज्ज्ञानमपि पर्णतावत् यज्ञाङ्गकर्त्रादि द्वारा तदङ्गमिति जैमिनिर्मन्यते। अतो न स ब्रह्मनिष्ठ इति। तदसत्। तन्मतान्युदाहरता तद्गुरुणा बादरायणेन तद्ब्रह्मनिष्ठायाः प्रकाशनात्। विष्णोर्यज्ञाङ्गत्वोक्तिस्तु तस्य सर्वसाधकत्वात् न विरुद्धा राज्ञो भृत्यविवाहाङ्गत्वोक्तिवदिति व्याख्यातारः। ननु कथमस्य मोक्षः गुरुमतविरोधित्वादिति चेदुच्यते। मतविरोधेऽपि तद्गम्ये विरोधाभावात् तावतैव तस्य प्रतोषोऽपि लभ्यते॥ २॥

सूक्ष्मा-सार— *तदुक्तेष्विति*—उन वेदरूपी विष्णु द्वारा वर्णित उनके आराधनास्वरूप कर्ममें। अग्नि इत्यादि देवताके अर्चनस्वरूप याग भगवान्का अर्चन, क्योंकि ये अग्नि आदि देवता भगवान् विष्णुके अङ्ग हैं, उन समस्त अग्नि आदिमें अन्तर्यामी विष्णु विद्यमान हैं, ऐसा कोई-कोई व्याख्याता कहते हैं। पुनः दूसरे लोग कहते हैं कि यज्ञानुष्ठान कार्य ही भगवान् विष्णुका अर्चन है क्योंकि श्रुतिमें कहा है—*'यज्ञौ वै विष्णुः'*—यज्ञ ही विष्णु हैं। *'तैरसौ निवृत्तकल्मषः'* इत्यादि में 'तैः' का अर्थ है—उन समस्त कर्मों द्वारा, असौ—यह यजमान जीव पापसे निवृत्त होता है। *'विद्यायाः कर्मशेषत्वादिति'*—क्योंकि ब्रह्मविद्या कर्मका शेष अर्थात् अङ्ग है। *'फलश्रुतिः इति'* स्वर्ग और मोक्षदानरूप फलश्रुति। *'यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु'* इत्यादि—द्रव्यमें, संस्कारमें और कर्ममें फलश्रुति—अर्थवाद है, इनमें द्रव्यमें फलश्रुति है यथा *'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति'* इत्यादि वाक्य। संस्कारमें फलश्रुति है यथा *'यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते।'* कर्ममें फलश्रुति है यथा—*'यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्येति।'* पर्णमयी शब्दका अर्थ है—पत्रात्मक। अमरकोषमें है—*'पलाशे किंशुकः पर्णः'* (अ०को० २/४/१५६) पर्ण शब्द भी पलाश ही है अर्थात् किंशुक वृक्ष। भातृव्यस्य—शत्रुका *'व्यन् सपत्ने'* (पा० ४/१/१४५) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार शत्रु वाच्य होनेपर भ्रातृ शब्दके उत्तरमें व्यन् प्रत्यय होता है। प्रकृति और प्रत्ययका मिलित अर्थ शत्रु होता है। वृङ्क्ते—अन्धा करता है। द्रव्यसंस्कारकर्मसु इत्यादि जैमिनि-सूत्रका अर्थ भाष्यमें व्याख्यात हो गया है। *'स्मर्यते च इत्यादि'* वर्णाश्रमाचारवता इत्यादि श्लोक विष्णुपुराणोक्त है। इसका अर्थ है—वर्णाश्रमधर्म-पालन ही

विष्णुकी उपासना है, उनका तोषकपथ—(उन्हें सन्तुष्ट करनेका पथ) मुक्तिका पथ है, इससे अन्य कुछ नहीं। *'एवमन्यच्चेति' 'न चलति निजवर्णधर्मतो यः'* इत्यादि—जो व्यक्ति अपने वर्णधर्मसे भ्रष्ट नहीं होता, आत्मीय, बन्धु और शत्रु-सभीके लिए जो समदृष्टिसम्पन्न है, किसीका भी कुछ हरण नहीं करता और किसी की भी हत्या नहीं करता—ऐसे अत्यधिक शुद्ध-चित्तको विष्णुभक्तके रूपमें जानना चाहिये—यह श्लोक विष्णुपुराणमें है। *'त्यागवाक्यन्तु'* इत्यादि *'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः'* (महाना॰ १०/५) अर्थात् 'न कर्मसे, न सन्तानसे, न धनसे, मात्र त्यागसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है इत्यादि वाक्य।' तब जो कोई-कोई कहते हैं—कर्म और देवता यज्ञके अङ्ग हैं, इसलिए कर्मदेवता ज्ञान और पर्णमयी जुहूर्भवति इत्यादिमें उक्त पर्णतादिके समान यज्ञाङ्गकर्त्तृ इत्यादि द्वारा यज्ञका अङ्ग—यह जैमिनि मानते हैं अतएव वह व्यक्ति ब्रह्मनिष्ठ नहीं है। यह व्याख्या असत् है क्योंकि जैमिनिके मतका उल्लेख करनेवाले उनके गुरु बादरायण (वेदव्यास) ने उसके (ऐसे व्यक्तिके) भी ब्रह्मनिष्ठत्वका प्रकाश किया है। विष्णुको जो यज्ञका अङ्ग कहा गया है, वह भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि वे सर्व-साधक हैं, जिस प्रकार राजाको भृत्यका विवाहाङ्ग (व्यवस्थावश) कहा जाता है, इसी प्रकार व्याख्यातागण यह सिद्धान्त करते हैं। यदि कहो गुरुमतके साथ विरोधके कारण केवल वर्णाश्रमाचारवानकी (यज्ञानुष्ठानके बिना) मुक्ति कैसे होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं—मतका विरोध होनेपर भी वर्णाश्रमधर्मानुष्ठान-गम्य विषयमें विरोधके अभावसे और भगवान्‌का सन्तोष भी तो उसके द्वारा (वर्णाश्रम निर्वाहके द्वारा अतः मुक्ति होगी) पाया जाता है॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस स्थलपर जैमिनिके मतको प्रदर्शित करके सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जैमिनि ऋषिका मन्तव्य है—क्योंकि विद्या कर्मका अङ्ग है इसलिए विद्यामें जो फलश्रुति है, वह पुरुषार्थवाद है। जैसे कि द्रव्य, संस्कार और कर्ममें फलश्रुति अर्थवाद है—इसी तरह। यह सूत्र पूर्वपक्ष है।

इस सूत्रके भाष्य और टीकामें श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण प्रभुने जो लिखा है, उसे वहीं देखना चाहिये। ग्रन्थ-विस्तारके भयसे संक्षेपमें

कहा जा सकता है कि जैमिनिकी धारणामें विद्या कर्मका अङ्ग है, इसलिए विद्यामें जो फलश्रुति है, वह कर्मका ही फल है। पुरुष अर्थात् यज्ञकर्त्तासे सम्बन्धित होनेके कारण फलश्रुति पुरुषार्थवादमात्र है। गार्हस्थ्य धर्ममें यज्ञादिके अनुष्ठान और आत्मशुद्धिके लिए शम-दमादिका अभ्यास करते हुए मानव ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। यह भी सुना जाता है।

छान्दोग्योपनिषदमें पाया जाता है—*'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य ... ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।'* (छा॰ ८/१५/१)

अर्थात् नियमानुसार गुरुके कर्त्तव्य कर्मोंको (सेवा-शुश्रुषा आदि) समाप्त करता हुआ (अतिरिक्तकालमें विधिके अनूसार अथ सहित) वेदका अध्ययन कर आचार्य-कुलसे विधिपूर्वक समावर्त्तन करके, कुटुम्बमें, गार्हस्थ्यमें स्थिर होकर प्रतिदिन शुचिदेशमें वेदका अध्ययन तथा अन्य नित्यादि कर्मोंको करता हुआ अन्तमें ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है; और फिर नहीं लौटता।

विष्णुपुराणमें (३/८/९) भी कहा है, *'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्।'* (अर्थात् परमेश्वर विष्णु वर्णधर्म और आश्रतधर्म आचारयुक्त पुरुषों द्वारा आराधित होते हैं। वर्णाश्रामाचारके अतिरिक्त उन्हें प्रसन्न करनेका दूसरा कोई उपाय नही हैं। इस प्रकार और भी अनेक शास्त्र-वचन सुने जाते हैं। पुनः कर्मत्यागपर वाक्य भी हैं। जैमिनि मुनिने यह जो कहा है कि कर्म और देवता यज्ञके अङ्ग हैं; इसलिए ज्ञान भी पर्णताके समान यज्ञका अङ्ग है—यस्यपर्णमयी जुहूर्भवति और कहते हैं—कर्ममें अक्षम पङ्गु और अन्ध व्यक्तिके सम्बन्धमें ही कर्म त्यागसूचक वाक्य दिखायी देते हैं। इससे जैमिनिकी ब्रह्मनिष्ठाका अभाव परिलक्षित होता है, इसलिए यह मत असत् रूप मानना पड़ेगा। तब उनके गुरु ब्रह्मनिष्ठ श्रीबादरायण जिन्होंने उसकी ब्रह्मनिष्ठाकी बात कही है, उसका तात्पर्य स्वतन्त्र है। यह टीकामें देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

कर्म्माकर्म्म विकर्म्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्म्ममोक्षाय कर्म्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥
(श्रीमद्भा॰ ११/३/४३-४४)

अब नवयोगीन्द्रोंमेंसे छठे योगीश्वर आविर्होत्रजीने कहा—राजन्! कर्म (शास्त्र-विहित), अकर्म (निषिद्ध) एवं विकर्म (विहित कर्मोंका उल्लङ्घन)—इन तीनोंका स्वरूप एकमात्र वेद शास्त्रोंके द्वारा जाना जाता है, परन्तु इनकी व्यवस्था लौकिक रीतिसे नहीं होती है। वे वेदसमूह अपौरुषेय हैं—अर्थात् वे वेद-शास्त्र ईश्वरसे प्रकाशित हैं अर्थात् अपौरुषेय होनेके कारण उनका अभिप्राय निर्णय करनेमें बड़े-बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं, भूल कर बैठते हैं। इसीलिए तुम्हें अनधिकारी समझकर सनक आदि ऋषियोंने तुम्हारे प्रश्नका उत्तर नहीं दिया। यह वेद परोक्षवादात्मक है, अर्थात् एक प्रकार स्थित वस्तुका यथार्थ तत्त्व गुप्त रखनेके लिए उसका अन्य प्रकारसे वर्णन करनेवाले हैं। यह वेदोंका एक स्वभाव है। इसलिए पिता जिस प्रकार लड्डू आदि मिठाइयोंका लालच दिखला कर अपनी सन्तानको आरोग्यप्रद औषध सेवन कराता है, वैसे ही वेद भी अनभिज्ञ लोगोंको स्वर्ग आदिका प्रलोभन दिखला कर कर्म निवृत्तिके लिए ही वेदविहित कर्मोंका प्रतिपादन कर उन्हें उस कर्ममें प्रवृत्त कराता है।

श्रीमद्भागवतमें अज्ञ व्यक्तियोंके लिए पूर्वोक्त विधानके वर्णनके बाद विज्ञगणोंके लिए कहा गया है—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥
लब्धानुग्रह आचार्य्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्च्चेन्मूर्त्त्याभिमतयात्मनः ॥
(श्रीमद्भा॰ ११/३/४७-४८)

अर्थात् हे राजन्! जो शीघ्र-से-शीघ्र जीवोंकी हृदयग्रन्थि—मैं और मेरेकी गाँठको खोलनेके लिए इच्छुक हैं, वे तन्त्रों और वेदोंमें वर्णन

किये गये विधानके अनुसार भगवान् श्रीहरिकी पूजा करेंगे। सर्वप्रथम निष्कपट सेवा आदिके द्वारा प्रसन्नकर श्रीगुरुदेवके निकट दीक्षा—उपनयन और मन्त्र आदि प्राप्त करेंगे। और अर्चन प्रणाली जानकर अपनी अभीष्ट मूर्त्तिमें श्रीभगवान् हरिकी आराधना करेंगे।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

प्रभु कहे—पढ़ श्लोक साध्येर निर्णय।
राय कहे—स्वधर्माचरणे विष्णुभक्ति हय॥

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारणम्॥

प्रभु कहे—एहो बाह्य, आगे कह आर।
(चै॰च॰म॰ ८/५७–५९)

अर्थात् श्रीमन् महाप्रभुने कहा—हे रामानन्द राय! साध्यतत्त्व निर्णयकारी शास्त्र-श्लोकको पढ़िये।

रायने कहा—मानवोंके स्वधर्माचरणसे विष्णुभक्ति होती है।

परमेश्वर विष्णु वर्णधर्म और आश्रमधर्ममें आचारयुक्त पुरुष द्वारा आराधित होते हैं।

वर्णाश्रमाचारके बिना उन्हें सन्तुष्ट करनेका अन्य कोई कारण नहीं है।

श्रीमन्महाप्रभुने कहा साध्य वस्तुके निर्णयपर आपने जो कहा, वह तो बाहरकी वस्तु है। इसके आगे कुछ और कहिये।

जैमिनिका कर्मवाद और विष्णु भक्तिमूलक स्वधर्माचरण एक नहीं है। तब जो श्रीमहाप्रभुने स्वधर्माचरणको बाह्य कहा है इसका तात्पर्य हमारे परमाराध्यतम श्रीलप्रभुपादने अपने अनुभाष्यमें बतलाया है—

साध्य अर्थात् साधन योग्य अथवा साधनीय भक्तिका निर्णय करनेमें प्रवृत्त होकर श्रीरामानन्दजीने प्रारम्भमें ब्रह्माण्डान्तवर्त्ती–साधककी बुद्धि ग्रहण करके अन्याभिलाषताका निरसन करते हुए नीतिवादियोंके पक्षका अवलम्बन करके यह साध्य प्रमाण किया कि वर्ण–धर्म एवं आश्रय–धर्मका पालन करनेसे विष्णुकी तुष्टि होती है। निर्णयकारीके अस्मिताकी सम्बन्धोपलब्धि—ब्रह्माण्डके अन्तर्गत है। अतः उस प्रकारकी

अस्मिताकी वृत्ति भी ब्रह्माण्डके अन्तर्गत होती है, इसलिए बाह्य है। अतः श्रीभगवान् गौरहरिने निजधाम वैकुण्ठ अथवा गोलोकके बहिःराज्यमें अवस्थित व्यक्तिकी बाह्यानुभूतिको 'बाह्य साध्य' के रूपमें परित्याग करके अग्रसर होनेको कहा। पूर्वोक्त साध्य-विषयक प्रमाण विष्णुके विशेषत्वकी स्वतन्त्रताका निर्देश नहीं करता, इसलिए इस श्रेणीके साधकगण कर्ममार्गमें निर्विशेष और सविशेष दोनों प्रकारसे विष्णुकी आराधना लक्ष्य कर सकते हैं—यह ज्ञात कर पाने पर। निर्विशेषत्वपरताका त्याग करके सविशेषत्वको ही, जो कर्मादेशका तात्पर्य ज्ञापक है, वही प्रमाण बताया है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी यही कहा है—

'अस्त्येव मोक्षसाधनत्वं ज्ञानस्य स्वर्गादिषु तत्साधन कर्मशेषत्वेन स्वर्गं धनाद् देहतो वै गृहाच्च प्राप्स्यन्ति धीराः न त्वधीराः कुतश्चिदिति जैमिनिः।'

अर्थात् पूर्व सूत्रमें कहा गया था कि ज्ञान, मोक्षादि समस्त ही पुरुषार्थको साधित करते हैं, जिससे ज्ञानकी मोक्षसाधनता जाननी चाहिये। उसके स्वर्गादि साधन नहीं होते क्योंकि कर्म ही स्वर्गादिको साधित करता है। इस प्रकार स्वीकार करनेपर *'यं यं लोकं मनसा संविभाति'* इत्यादि श्रुतिमें जिस ज्ञानकी सर्वपुरुषार्थ साधनता कही गयी है, उसका विरोध होता है। इसकी मीमांसामें वक्तव्य यह है कि ज्ञानके भी कर्मशेषत्व (अङ्गत्व) रूपमें स्वर्गादिकी साधनता स्वीकार है अर्थात् ज्ञान तत्साधन कर्मका शेषफल है ज्ञान मोक्षका साधन है किन्तु स्वर्गादिके साधन यज्ञ आदि कर्मोंके बाद ही ज्ञानका महत्त्व है। धीर लोग धनसे, देहसे, और गृहस्थ आश्रमसे स्वर्गादि प्राप्त कर लेते हैं, अधीर नहीं—यह आचार्य प्रवर जैमिनिका मत है॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—इतोऽपि कर्माङ्गमात्मविद्येत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस कारण भी ब्रह्मविद्याको कर्मका अङ्ग कहा गया है—यह बात जैमिनि कहते हैं—

सूत्र—आचारदर्शनात्॥ ३॥

सूत्रार्थ—'आचारदर्शनात्'—क्योंकि विद्वद्-वरिष्ठोंका भी कर्मानुष्ठान देखा जाता है अतएव कर्मानुष्ठान आवश्यक है—यह आचार्य जैमिनि कहते हैं॥ ३॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मविद्या कर्मका ही अङ्ग है, यह प्रतीत होता है क्योंकि विद्या-निष्ठ व्यक्तियोंका भी कर्माचरण देखा जाता है—यह महर्षि जैमिनिका मत है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—*"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि"* इति बृहदारण्यकादिषु विद्वद्वरिष्ठानामपि कर्माचारवीक्षणात्। केवलया विद्यया पुमर्थसिद्धौ क्रियाप्रयासस्तेषां न स्यात्। अन्धे चेदित्यादि न्यायात्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—बृहदारण्यक इत्यादि उपनिषदोंमें देखा जाता है *'जनको ह वैदेहो यज्ञेनेजे'* (बृ॰आ॰ ३/१/१) *'यज्ञमाणे ह वै भगवन्तोऽहमस्मि'* अर्थात् (छा॰ ५/११/५) विदेह—देशाधिपति जनकने बहुत-सी दक्षिणाओंसे समन्वित यज्ञ द्वारा ईश्वरकी (यज्ञ पुरुषकी) उपासना की थी। वे यज्ञ करनेसे पहले ऋषियोंके निकट गये और उनसे कहा—हे पूजनीय ऋषिगण! मैं आपके शरणापन्न हूँ। इस प्रकार बृहदारण्यक इत्यादिकी उक्तियोंमें देखा जाता है कि अत्यधिक ब्रह्मविद्या-निष्णातोंका भी कर्मानुष्ठान हुआ था। यदि केवल ब्रह्मविद्या द्वारा पुरुषार्थ (मुक्ति) सिद्ध होता, तो उनका कर्ममें प्रयास न होता। यदि घरके कोनेमें ही मधु प्राप्त हो जाय तो मधु-संग्रहके लिए पर्वतपर कोई क्यों जायेगा—इत्यादि लौकिक न्याय भी यही प्रमाणित करते हैं॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—आचारेति। वैदेहो विदेहाधिपतिः। बहुदक्षिणेनाश्वमेधेन ईजे यागं कृतवान् एवं विद्यावतां जनकादीनां कर्माचारस्तस्याः कर्माङ्गत्वे लिङ्गमित्यर्थः। आह चैवं भगवान्—*"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः"* इति॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—*'आचारदर्शनात्'* इस सूत्रमें। *'वैदेहः'*—विदेह-देशाधिपति, बहुदक्षिणेन—जिसमें बहु दक्षिणा निर्दिष्ट है, उस अश्वमेधयज्ञको करके यज्ञपुरुषकी आराधना की गयी है, इस प्रकार ब्रह्मविद्यासे सम्पन्न जनकादि राजर्षियोंका कर्मानुष्ठान देखा जाता है, यह विद्याके

कर्माङ्गत्व विषयमें अनुमापक है। श्रीमद्गीतामें श्रीभगवान् अपने श्रीमुखसे इस प्रकार कहते हैं—*'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'* (श्रीगी॰ ३/२०) जनकादि राजर्षियोंने कर्म द्वारा मुक्ति प्राप्त की थी॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्र भी जैमिनिके मतानुसार पूर्वपक्ष रूपमें उदाहृत हुआ है। इस प्रकार पर-पर सप्तम सूत्र तक पूर्वपक्ष रूपमें सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं। द्वितीय सूत्रमें भी जैमिनि कहना चाहते हैं कि विदेहाधिपति ब्रह्मविद्यासम्पन्न राजर्षि जनकका भी कर्माचरण देखा जाता है। बृहदारण्यकोपनिषदमें पाया जाता है—*'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे'* (बृ॰आ॰ ३/१/१) अर्थात् विदेह देशमें रहनेवाले राजा जनकने बड़ी दक्षिणावाले एक यज्ञ द्वारा यजन किया। श्रीगीतामें भी—*'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'* (श्रीगी॰ ३/२०) अर्थात् जनक आदि राजर्षियोंने भी कर्मके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त किया था। अतः विद्वानोंका भी कर्मानुष्ठान देखा जाता है। अतएव केवल विद्या द्वारा यदि पुरुषार्थ सिद्ध होता तो कर्ममें चेष्टा क्यों होती? घरमें ही मधु मिल जानेपर पर्वतारोहण किसलिए। अतएव विद्या कर्मका ही अङ्ग है।

श्रीमद्भागवतमें है—

दानव्रततपोहोम-जपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४७/२४)

इस संसारमें लोग दान, व्रत, तपस्या, हवन, जप, वेद, अध्ययन, संयम एवं अन्यान्य विविध मङ्गलानुष्ठानोंके द्वारा कृष्णभक्तिकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते रहते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

ज्ञानिनामेव देवादीनामाचारदर्शनात्।

अर्थात् श्रुतिके बलपर ज्ञानकी ही सर्व-पुरुषार्थ साधनता हो, श्रुतिकी अर्थान्तर परिकल्पना किसलिए? इस आशङ्कापर कहते हैं—*'देवतारा ज्ञानी'* इत्यादि वचनमें भी देवताओंका एवं बड़े-बड़े

ज्ञानियोंका शास्त्रीय यज्ञादि कर्मानुष्ठान देखा जाता है। *'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'* (तै॰ ३/१२/७) इत्यादि श्रुतियोंमें देवताओंका यज्ञानि कर्मानुष्ठान देखा जाता है, अतएव ज्ञानमात्रसे ही सर्वपुरुषार्थ सिद्धि नहीं होती।

अतः ब्रह्मवेत्ताओंमें भी कर्मकी स्वरूपानुभूतिरूप विद्या कर्माङ्ग ही है, मात्र विद्यासे पुरुषार्थ सम्भव नहीं है।

'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि।'

(छा॰ ५/११/५)

अर्थात् हे भगवन्त ऋषिगण! मैं यज्ञ करनेवाला हूँ। आप लोग उसे देखनेके लिए यहाँ ठहरे—यह बात ज्ञानी कैकेय राजाने कही थी।

इसी प्रकार उद्दालकादिके पुत्रके प्रति उपदेशादिके दर्शनसे भी उनके गृहस्थ धर्मका यज्ञादिके साथ सम्बन्ध अवगत होता है। अतः केवल ज्ञानसे यदि पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता तो अनेक आयास प्रयाससे युक्त कर्मोंको ज्ञानी लोग क्यों करते? उनके कर्माचारको भी देखा जाता है। अतः ज्ञान कर्माङ्ग है। (यह पूर्वपक्ष है)॥ ३॥

सूत्र—तच्छ्रुतेः॥ ४॥

सूत्रार्थ—'तच्छ्रुतेः' विद्या जो कर्मका अङ्ग है, यह छान्दोग्योपनिषदमें भी सुना जाता है। इस कारण भी विद्याको कर्माङ्ग कहा जाता है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—छान्दोग्यादि श्रुतियोंमें विद्याका कर्मशेषत्व अर्थात् कर्माङ्गत्व सुननेमें आता है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदातदेव वीर्यवत्तरं भवतीति छान्दोग्ये (१/११/१०) तस्याः कर्मशेषत्वश्रवणात्॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'यदेव विद्यया करोति ... वीर्यवत्तरं भवति'* (छा॰ १/१/१०) अर्थात् विद्याके द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह कर्म श्रद्धा एवं शास्त्रज्ञानका योग होनेसे और अधिक शक्तिशाली (बलवत्तर) होता है—यह बात छान्दोग्योपनिषदमें कही गयी है। इस प्रकार यह सुना जाता है कि विद्या कर्मका ही अङ्ग है। अतएव विद्या स्वाधीन रूपसे मुक्तिकी जनक नहीं है॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—तच्छ्रुतेरिति। यदेवेति। यत् कर्मेत्यर्थः। विद्ययेति तृतीया श्रुत्या तस्याः कर्माङ्गत्वश्रवणात् स्वातन्त्र्येण मोक्षजनकत्वं नेत्यागतम्॥४॥

सूक्ष्मा-सार— *'तच्छ्रुतेः'* इस सूत्रमें *'यदेवेत्यादि'* में यत् अर्थात् जो कर्म विद्यया-शास्त्रज्ञान द्वारा इस पदमें तृतीया विभक्ति श्रुत होनेके कारण यह (विद्या) कर्मकी साधन है—यह प्रतिपन्न हुआ है, अतएव निरपेक्ष रूपसे विद्या मुक्तिकी जनक नहीं है, यह पाया गया है॥४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः पूर्वपक्षवादमें श्रुतिको उद्धृत किया गया है। छान्दोग्यमें कहा गया है—*'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'* (छा॰ १/१/१०) अर्थात् ब्रह्मविद्यासे सम्पन्न श्रद्धापूर्वक योगयुक्त होकर (विद्या, श्रद्धाा एवं उपनिषद-ध्यानसे युक्त होकर) जो कर्म किया जाता है, वही बलवन्तर (अतिवीर्ययुक्त) होता है। अतएव विद्याका कर्मशेषत्व अर्थात् कर्माङ्गत्व सुना जाता है। केवल विद्याको पुरुषार्थका हेतुत्व नहीं कहा जा सकता।

श्रीमद्भागवतमें है—

वेदोक्तमेव कुर्व्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/३/४६)

इसलिए जो फलकी अभिलाषा छोड़कर उन कर्मफलोंको भगवान्को समर्पणकर वेदोक्त कर्मोंका ही अनुष्ठान करते हैं, वे नैष्कर्म्य सिद्धि लाभ करते हैं अर्थात् कैवल्य (केवलाभक्ति लाभ करते हैं)। स्वर्ग आदि दूसरे-दूसरे जिन फलोंके विषयमें श्रुतियोंमें उल्लेख है, उन्हें मात्र कर्ममें रुचि उत्पन्न करनेके लिए ही समझना होग, फलकी सत्यतामें नहीं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति शेषत्वश्रुतेः। (छा॰ १/१/१०)

अर्थात् यदि ज्ञान और कर्म दोनों ही स्वर्गादिके साधन हुए, तो भी किस प्रकार ज्ञानका कर्मशेषत्व सम्भव हो सकता है? इस आशङ्कापर कहते हैं कि जिसे विद्या द्वारा उपार्जन करता है, श्रद्धा

द्वारा वह और बलवान होता है अर्थात् श्रद्धाका योग होनेपर वह कर्म अधिक फलसाधक होता है। इसीलिए ज्ञानका कर्मशेषत्व कहा गया है।

इस प्रकार श्रुतिमें भी विद्याकी कर्माङ्गता दिखलायी गयी है। विद्या, श्रद्धा और ज्ञानके सहयोगसे जो कर्म किया जाता है, वही प्रबलतर होता है॥४॥

सूत्र—समन्वारम्भणात्॥ ५॥

सूत्रार्थ—'समन्वारम्भणात्' विद्या और कर्म—दोनों ही मिलित होकर परलोकमें गमन करनेवाले पुरुषके लिए फलजनक (मुक्तिदायक) होनेके कारण अनुसरण करते हैं। इससे विद्या और कमका साहित्य (साहचर्य) देखा जाता है। अतएव मात्र विद्या ही मुक्तिजनक नहीं है॥५॥

सूत्रानुवाद—उस समय (परलोकगमन कालमें) उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (पूर्वोपार्जित प्रज्ञा) भी जाते हैं॥५॥

गोविन्दभाष्य—*"तं विद्याकर्मणी समन्वारभते पूर्वप्रज्ञा च"* इति बृहदारण्यक (बृ॰आ॰ ४/४/२) विद्याकर्मणोः फलारम्भे साहित्यदर्शनादित्यर्थः॥५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उस परलोकगामी पुरुषका विद्या, कर्म और पूर्वोपार्जित प्रज्ञा—ये सब फलदानके लिए अनुसरण करते हैं—यह उक्ति बृहदारण्यकोपनिषदमें कही गयी है। इससे देखा जाता है कि फलदान विषयमें विद्या और कर्म मिलित रूपसे कारण हैं। इसीलिए केवल विद्याको ही निरपेक्ष भावसे कारण नहीं कहा जा सकता॥५॥

सूक्ष्मा-टीका—समन्वारम्भणादिति। तमिति। तं परलोकं गच्छन्तं पुरुषं फलारम्भके विद्याकर्मणी समनुगच्छत इत्यर्थः॥५॥

सूक्ष्मा-सार—*'समन्वारम्भणात्'* इस सूत्रमें तमित्यादि श्रुतिका अर्थ है—तम्—परलोकमें गमनकारी पुरुषका फलजनक (मुक्तिदायक) विद्या और कर्म मिलित होकर अनुसरण करते हैं और पूर्वोपार्जित प्रज्ञा भी उसकी अनुगामिनी होती है॥५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी प्रस्तुत सूत्रमें भी कहते हैं कि विद्या और कर्म मिलित रूपसे फलदान करते हैं, तब केवल विद्याको मुक्तिजनक नहीं कहा जा सकता। जैसा कि बृहदारण्यक-श्रुतिमें पाया जाता है—*'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञा च।'* (बृ॰आ॰ ४/४/२) अर्थात् उत्क्रमणके समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (अनुभूत विषयोंकी वासना) भी जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्म्मिते॥

(श्रीमद्भा॰ ११/११/३)

अर्थात् हे उद्धव! विद्या और अविद्या, दोनों ही मेरी मायाके द्वारा ही रचित हैं, अनादि हैं तथा मेरी शक्तिस्वरूपा हैं और जीवोंके बन्ध-मोक्षकी कारण हैं, इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, ऐसा समझो।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'कर्मैव देहं दैविकं मानुषं वाप्यन्वारभेन्नापरस्तत्र हेतुः। भोगांस्तदीयांश्च यथाविभागं ददाति कर्मैव शुभाशुभं यदिति माठर श्रुतेश्च। संशब्दैः प्राधान्यं दर्शयति।'

अर्थात् यदि ज्ञानका प्राधान्य जानकर भी यह स्वीकार नहीं करते हो और उसके कर्मशेषत्वकी ही सम्मति (अभिमत) करते हो तो ऐसा होनेसे कर्मका प्राधान्य श्रुत होनेपर इसे स्वीकार मत करो। तब विषयमें प्रमाणाभावके कारण ज्ञानका कर्मशेषत्व अथवा साम्य हो। इस आशङ्कापर कहते हैं कि स्वर्गादिके साधन कर्मका एवं ज्ञानका साम्य नहीं हो सकता परन्तु प्राधान्य प्रयुक्त आरम्भकत्व हो सकता है। माठर-श्रुतिमें उल्लेख है कि कर्म ही दैविक अथवा मानुषिक देह प्राप्तिके लिए आरम्भक होता है, दूसरा और कोई हेतु नहीं है। कर्म ही शुभाशुभ प्रदान करता है और शरीरसे भिन्न-भिन्न भोगोंका भोग कराता है—इस प्रकारसे माठर-श्रुति तथा सूत्रस्थ 'सम्' शब्द कर्मकी प्रधानता दिखा रहे हैं॥ ५॥

सूत्र—तद्वतो विधानात्॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—'तद्वतो'—जो ब्रह्मविद्याविशिष्ट हैं, 'विधानात्' उन्हें ही यज्ञमें ब्रह्मा रूपमें वरण करनेका विधान है—इस कारणसे भी ब्रह्मविद्या कर्मका ही अङ्ग है—यह बतलाया जा रहा है॥ ६ ॥

सूत्रानुवाद—विद्यासम्पन्नका ही दर्श पौर्णमासादि यज्ञमें ब्रह्मा रूपमें वरण करनेका विधान है—इस कारणसे भी कर्मका अङ्ग ब्रह्मविद्या कही जाती है॥ ६ ॥

गोविन्दभाष्य—*"ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपौर्णमासयोस्तं वृणीत"* इति तैत्तिरीयके ब्रह्मज्ञानवेता ब्रह्मत्वेन वरणविधानात्। ब्रह्मज्ञानस्य आर्त्विज्याधिकारसम्पादकत्वात् कर्माङ्ग विद्येत्यर्थः॥ ६ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जो अतिशयित (बहुत अधिक) ब्रह्मज्ञानसम्पन्न (सर्ववेदाध्यायी, ब्रह्मिष्ठ) हैं, वे ही ब्रह्माके रूपमें वरण किये जायेंगे। इसलिए दर्शपौर्णमास यागमें उसी प्रकारके ब्रह्माका वरण किया जाता है। इस कथनका तैत्तिरीयकोपनिषदमें उल्लेख है इसलिए ब्रह्मविद्या-विशिष्टका ही ब्रह्मत्व रूपमें वरण विहित है। इस कारणसे भी जाना जाता है कि ब्रह्मज्ञान ऋत्विक कर्माधिकारका सम्पादक है, (अर्थात् ब्रह्मज्ञानके द्वारा ही ऋत्विक् कर्ममें अधिकार होता है) इसलिए भी विद्या कर्मका अङ्ग है—यह तात्पर्य है॥ ६ ॥

सूक्ष्मा-टीका—तद्वत इति। ब्रह्मिष्ठ इति। अतिशयेन ब्रह्मवान् ब्रह्मिष्ठः ब्रह्मवच्छब्दादिष्ठनि मतुपो लुक् विन्मतोर्लुगिति स्मरणात् भगवत्परमैकान्तीत्यर्थः पूर्वपक्षे। सिद्धान्ते तू ब्रह्मशब्दो वेदराशिवाचकः सततवेदाध्यायी ब्रह्मिष्ठ इति तदर्थो वक्ष्यते। अन्ये त्वत्र आचार्यकुलाद्वेदमधीत्येत्यादिश्रुत्या निखिलवेदार्थज्ञानिनः कर्मविधानालिङ्गात् कर्माङ्गं ब्रह्मविद्येति व्याख्यान्ति॥ ६ ॥

सूक्ष्मा-सार-*'तद्वतो विधानात्'* इस सूत्रमें। *'ब्रह्मिष्ठ'* इत्यादि भाष्यमें। ब्रह्मिष्ठ शब्दका अर्थ है—जो अतिशय रूपसे ब्रह्मवान अर्थात् भगवान्का परमैकान्ती भक्त है। ब्रह्मिष्ठ-पदकी व्युत्पत्ति है—अतिशयार्थमें ब्रह्मवत्-शब्दके उत्तरमें इष्ठन् प्रत्यय, बादमें *'विन्मतोर्लुक्'* (पा० ५/३/६५) इष्ठनादि प्रत्ययमें प्रातिपादिकके (धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्तको छोड़कर अन्य सार्थक शब्दस्वरूप प्रातिपदिक कहलाते हैं, तद्धित और

समास भी प्रातिपदिक होते हैं) विन् एवं मतुप् प्रत्ययका लोप होता है, इस सूत्रके अनुसार मतुप् प्रत्ययका लुक् बादमें ब्रह्मन् शब्दका टि लोप, इसका अर्थ है—जो भगवान्का परमैकान्ती भक्त है, यह पूर्वपक्षवादीका अर्थ है। सिद्धान्तपक्षमें ब्रह्मन् शब्दका अर्थ है वेदराशि, तद्विशिष्ट अर्थात् सर्वदा वेदाध्यायी ब्रह्मिष्ठ, यह अर्थ बादमें कहा जायेगा। दूसरे कोई-कोई यहाँ व्याख्या करते हैं—आचार्य कुलसे वेदाध्ययनके अनन्तर इत्यादि श्रुति रहनेके कारण निखिल वेदार्थज्ञानी व्यक्तिकी कर्मानुष्ठानमें विधि, यह अनुमापक है, इसीलिए ब्रह्मविद्या (वेदार्थज्ञान) कर्माङ्ग है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षमें ही प्रमाण दिखा रहे हैं कि तैत्तिरीयकमें वर्णन है—ब्रह्मज्ञानसम्पन्न ब्राह्मणको ही दर्श और पौर्णमास यज्ञमें ब्रह्मा रूपमें वरण करें। इसलिए ब्रह्मज्ञानीका ब्रह्मा रूपमें वरणका विधान होनेके कारण विद्या (वेदार्थज्ञान) को कर्मका अङ्ग कहा जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम्।
यथाञ्जसा विजेष्यामः सपत्नांस्तव तेजसा॥

(श्रीमद्भा॰ ६/७/३२)

तुम ब्रह्मनिष्ठ-ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण हो। अतः वर्णमात्रसे ही तुम सभीके गुरु हो। हम तुम्हें अपने आचार्यके (उपाध्यायके) रूपमें वरण करते हैं, क्योंकि तुम्हारे तपोबलके प्रभावसे हम शत्रुओंको सहज ही पराजित करके विजय प्राप्त कर लेंगे।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'ज्ञानी च कर्माणि सदोदितानि कुर्यादकामः सततं भवेत' इति कमठ श्रुतौ ज्ञानवतोऽपि विधानात्।

अर्थात् फिर भी ज्ञानका कर्म बोधकत्व युक्त नहीं है, किन्तु ज्ञान स्वयं ही पुरुषार्थ साधन करता है क्योंकि ज्ञानकृत कर्मका फलाभाव है। फलाभाव होनेपर जो कर्माचरण देखा जाता है, वह मुक्तपुरुषके समान ही लीलावश होता है। इस आशङ्काका परिहार करनेके लिए कहते हैं—मुक्तपुरुषके समान ज्ञानीका लीलावश कर्म नहीं हो सकता,

जिससे ज्ञानीका फलाभाव हो सके। ज्ञानियोंके लिए कर्म विधानके कारण विहित आचरणमें उनका लीलात्व नहीं है। ज्ञानी भी सदा उच्च कर्म करें—वे निरन्तर कृतकर्म निष्काम हो जाते हैं—इत्यादि कमठ-श्रुतिमें ज्ञानवान्के लिए सतत कर्मका स्पष्ट विधान है॥ ६॥

सूत्र—नियमाच्च॥ ७॥

सूत्रार्थ—'नियमाच्च' ब्रह्मविद् व्यक्तिके जीवन पर्यन्त कर्मानुष्ठानका नियम (अवश्यकर्त्तव्यता) रहनेके कारण भी विद्याको कर्मका अङ्ग कहा जायेगा॥ ७॥

सूत्रानुवाद—नियमपूर्वक कर्मानुष्ठानसे भी कर्मका फल होता है। अतः विद्या कर्मका शेष है॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—ईशावास्योपनिषदि—*"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे"* (ईश॰ २) इत्यात्मविदो यावज्जीवं कर्मानुष्ठाननियमाच्च। एतेन क्वचित् त्याजकवाक्यदर्शनात् विधान-त्यागयोर्विकल्प इत्यपास्तं तस्य पङ्ग्वाद्यशक्तविषयत्वात्। *"वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत"* (तै॰सं॰ १/५/२/१) इति तैत्तिरीयकश्रुत्या त्यागस्य विगीतत्वादिति॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ईशावास्योपनिषदमें (ईशोपनिषदमें) है—*'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'* अर्थात् इस मनुष्य-शरीरमें रहकर सौ वर्षों तक जीवित रहनेकी इच्छा करें। इस इच्छासे कर्मानुष्ठानमें रत रहकर ही मनुष्यके द्वारा इस नियम विधिको प्राप्त किया जा सकता है तथा *'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।'* इसका अर्थ है—*'एवं त्वयि नरे वर्त्तमाने'*—इस प्रकारसे कर्म करते हुए जीनेवाले मनुष्य तुममें अशुभ कर्म लिप्त नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रकार नहीं है, जिसके द्वारा कर्मफलसे मुक्त हो सकें। इस उक्तिके द्वारा, किसी-किसी श्रुतिमें *'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः'* (महानारायणोपनिषद १०/५) अर्थात् कर्म द्वारा नहीं, सन्तानसे नहीं, धन-सम्पत्तिके बलपर भी नहीं, एकमात्र कर्म-त्याग द्वारा ही विद्वान मोक्षको प्राप्त हुए हैं, में कर्म-त्यागका निर्देश पाया जाता है, और कुर्वन्नेवेह कर्माणि इत्यादि वाक्यमें नियमविधि अर्थात् नियमपूर्वक कर्मका विधान रहनेके कारण इच्छा-विकल्प

आश्रयणीय है (इच्छा-विकल्पका निर्देश है)—यह मत जो कोई-कोई कहते हैं, वह भी खण्डित हुआ। इसका कारण है कि विषय भेद (भिन्न-कर्त्ताओं) द्वारा उसका निर्वाह हो सकता है जैसे पङ्गु और अन्ध इत्यादि कर्माक्षम (कार्य करनेमें असमर्थ व्यक्ति) व्यक्तिके लिए कर्मत्याग है और अन्योंके लिए कर्माचरण है इसलिए विकल्पकी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त कर्मत्यागकी निन्दा भी तैत्तिरीय-श्रुतिमें पायी जाती है यथा *'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते'* (तै॰सं॰ १/५/२/१) अर्थात् जो व्यक्ति देवताओंके होमसाधन (आहुति-स्थान) अग्निका विसर्जन करता है, उसके सभी वीर पुत्र मृत्युके मुखमें पतित होते हैं। (वह पुत्रहत्या पापका भागी होता है)॥ ७॥

सूक्ष्मा-टीका—नियमादिति। कुर्वन्नेवेति। इह शरीरे शतं समाः संवत्सरान् जीवितुमिच्छेदिति यत् तत् कर्माणि कुर्वन्नेवेति नियमविधिः। एवं त्वयि नरे वर्त्तमाने सत्यशुभं कर्म न लिप्यते। तेन त्वं न लिप्यस इत्यर्थः। इतः प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति यतः कर्मलेपो न स्यादित्यर्थः। क्वचिदिति। न कर्मणा न प्रजयेत्यादि कर्मत्यागवाक्यवीक्षणादित्यर्थः। वीरहेति। यो देवानामग्निमुद्वासयते स वीरहा भवति तस्य वीराः पुत्रा म्रियन्ते स पुत्रघातपापं विन्दतीत्यर्थः॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार— *'नियमादिति'* सूत्रमें— *'कुर्वन्नेवेहेत्यादि'*—इसका अर्थ है—इह—इस शरीरमें, शतं समाः—सौ वर्षों तक जीनेकी इच्छा करें—यह जो शतवर्षव्यापी जीवन धारण करनेकी इच्छा है, वह तो कर्मानुष्ठान करते हुए इस प्रकारके नियमका विधान है। इस प्रकारसे हे मनुष्य! तुम्हारे जीवित रहते हुए तुम्हें कोई अशुभ कर्म स्पर्श नहीं करेगा अर्थात् पाप द्वारा तुम लिप्त नहीं होगे। *'इतोऽन्यथा'*—इससे भिन्न और कोई प्रकार नहीं है, जिसमें कर्म लेप नहीं होता। *'क्वचित् त्याजकवाक्यदर्शनात्'*—किसी श्रुतिमें कर्मत्याग-बोधक वाक्य देखे जाते हैं यथा— *'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनानृतत्वमानशुः'* अर्थात् कर्म द्वारा नहीं, सन्तान द्वारा नहीं, धनसम्पत्तिके बलपर नहीं, एकमात्र त्याग द्वारा ही विद्वानोंको मोक्ष प्राप्त हुआ है। इस वाक्यमें कर्मत्यागके उपदेश-हेतु कर्मकी विधि और कर्मत्यागका निर्देश—इनमेंसे विकल्प जानें—यह विचार खण्डित हुआ। *'वीरहा वा एष देवानाम्'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—जो व्यक्ति देवताके आहुति-स्थान अग्निका

विसर्जन करता है, वह वीरहा होता है अर्थात् उसके वीर पुत्र मृत्युमुखमें पतित होते हैं, वह पुत्रहत्याके पापका भागी होता है॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः और एक पूर्वपक्ष उठा रहे हैं कि ईशोपनिषदमें पाया जाता है—*'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'* (ईश० २) अर्थात् 'विहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए सौ वर्षों तक जीवित रहें'—इसके द्वारा विद्वान व्यक्तिके लिए जीवन पर्यन्त कर्मानुष्ठानका नियम पाया जाता है। अतः कर्मत्याग सूचक वाक्य पङ्गु और अन्ध इत्यादि कर्ममें असमर्थ व्यक्तिके लिए ही जाने जायेंगे। कर्मवादी मानता है कि इन समस्त कारणोंसे उनका मत तर्क-सिद्ध है। तैत्तिरीयमें भी कर्म-त्यागकी निन्दा सुनी जाती है।

श्रीमद्भागवतमें है—

कर्म्मणा जायते जन्तुः कर्म्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्म्मणैवाभिपद्यते॥

(श्रीमद्भा० १०/२४/१३)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पिताजी! इस लोकमें जीव कर्मोंके अधीन होकर जन्म-ग्रहण करते हैं और कर्मोंके आधारपर ही उनकी मृत्यु होती है। कर्मोंसे ही वे सुख-दुःख, भय एवं शुभोंके निमित्तोंको प्राप्त करते हैं।

श्रीगीतामें भी पाया जाता है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

(श्रीगी० ३/५)

अर्थात् कोई भी पुरुष किसी भी कालमें एक क्षणके लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् कर्मके विहितत्वका प्रयोग ही—यह ज्ञानियोंका कर्म लीलामात्र है, ऐसा नहीं है क्योंकि उनके कर्म-अकरणमें प्रत्यवाय भी सुना जाता है—इस लिए ही ज्ञानियोंके कर्मको लीलामात्र नहीं कहा

जा सकता अर्थात् प्रत्यवायके भयसे ही ज्ञानी कर्म करता है, परन्तु ज्ञानी चाहे कर्म करें, वे कर्ममें लिप्त नहीं होते॥७॥

अवतरणिका भाष्य—इत्थं विद्यायाः कर्माङ्गत्वात् फलसाधने स्वातन्त्र्यं नेति प्राप्ते निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकारसे ब्रह्मविद्याको कर्माङ्ग कहनेके कारण मोक्षदानमें उसकी स्वाधीनता नहीं है—इस जैमिनिके मतका (पूर्वपक्षका) सूत्रकार खण्डन करते हुए कहते हैं कि—

अधिकोपदेशधिकरणम्

सूत्र—अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्॥८॥

सूत्रार्थ—'तु' किन्तु ऐसा नहीं है, तो क्या है? 'अधिका' कर्मसे विद्या प्रधान है किस कारणसे? 'बादरायणस्योपदेशात्' क्योंकि बादरायणका उपदेश 'एवम्'—इसी प्रकारका है। उनका उपदेश निष्प्रमाणक नहीं है 'तद्दर्शनात्' कारण श्रुतिमें कर्मके फलरूपमें विद्याका विधान किया गया है॥८॥

सूत्रानुवाद—कर्मसे विद्या अधिक है। कर्मके फल-प्राप्तिके लिए भी विद्याकी अपेक्षा रहती है—यह मत महर्षि बादरायणका है। अतः यह उपदेश अमूलक नहीं है क्योंकि बृहदारण्यक-श्रुतिका यही विधान है॥८॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दात् पूर्वपक्षो व्यावृत्तः। कर्मणः सकाशादधिका तदुद्देश्यत्वेन तत्प्रधानभूता विद्येति मन्तव्यम्। कुतः? एवं बादरायणस्योपदेशात्। न च तदुपदेशो विनिर्मूल इत्याह तद्दर्शनादिति। *"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति"* इति बृहदारण्क (४/४/२२) विद्याफलकानि कर्माणि विधीयन्ते। जातायाञ्च तस्यां तानि पुनः परित्याज्यन्ते। परत्र तेषां नैरर्थक्यात् साधनात् फलं किल प्रधानम्॥८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्दसे पूर्वपक्ष निरस्त हुआ है। विद्या कर्मसाध्य है—इसलिए कर्मकी अपेक्षा विद्याको ही मुक्तिका प्रधान कारण जानना चाहिये। किसलिए, क्योंकि बादरायणका यही

उपदेश है और उपदेश भी निर्मूल अर्थात् प्रमाण शून्य नहीं है। प्रमाण भी देखा जाता है यथा *'तमेतं वेदानुवचनेन ... प्रवजन्ति'* अर्थात् उन परमात्माको ब्राह्मणगण वेद-व्याख्या द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य द्वारा, कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपस्याचरण द्वारा, शास्त्र एवं गुरु-उपदेशमें दृढ़ विश्वास द्वारा, अग्निहोत्रादि यज्ञ द्वारा और उपवास द्वारा परमात्माको जानकर मुनि अर्थात् मननशील होता है। संन्यास ग्रहण करनेवाले ब्रह्मलोक-प्राप्तिकी कामना करके संन्यास ग्रहण करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषदमें जिन समस्त कर्मोंका विधान है—उनका फल है विद्या। विद्या उत्पन्न (प्राप्त) हो जानेके बाद उन कर्मोंका पुनः परित्याग ही करना है। विद्या-उदयके बाद इन कर्मोंका कोई प्रयोजन अथवा सार्थकता नहीं रहती। कर्म तो विद्याका साधन-अङ्ग है और विद्या इस कर्मका फल है। अतः साधन-कर्मसे फल-विद्या प्रधान है अर्थात् साधनसे फल श्रेष्ठ होनेके कारण कर्मसे विद्या श्रेष्ठ है॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—एवं प्राप्तेऽधिकेति। तदुद्देश्यत्वेन कर्मसाध्यत्वेन। तमेतमिति। तं परमात्मानं वेदानुवचनादिभिर्विविदिषन्तीति विविदिषाङ्गत्वं तेषां विस्फुटम्। परत्र विद्योदयादुत्तरस्मिन् काले, साधनात् कर्मणः, फलं विद्या॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार— *'एवं प्राप्ते अधिकोपदेशात्तु'* इत्यादि सूत्रमें *'तदुद्देश्यत्वेन'*— विद्या कर्मका उद्देश्य है अर्थात् यह कर्मसाध्य है, इसलिए विद्या कर्मसे श्रेष्ठ है। *'तमेतं वेदानुवचनेत्यादि'* में 'तम्' अर्थात् परमात्माको, वेदार्थ-ज्ञान इत्यादि द्वारा जानना चाहते हैं, इसके द्वारा यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि समस्त कर्म विद्याके अङ्ग हैं। *'परत्र तेषामिति'*—परत्र अर्थात् विद्या-प्राप्तिके परवर्त्तीकालमें, साधनात्—कर्मसे, फलम्—विद्या, प्रधान है॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार ब्रह्मविद्याका कर्माङ्गत्व स्थिर (निश्चित) होनेके कारण मोक्षरूप फल-दानमें इसका (ब्रह्मविद्याका) स्वातन्त्र्य भी रह नहीं सकता—यह जैमिनिका मत है। यह पूर्वपक्ष है। इस मतके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वोक्त मत ठीक नहीं है क्योंकि कर्मसे विद्या अधिक है अर्थात् कर्मकी अपेक्षा

विद्याको मुक्तिका प्रधान कारण जानना होगा। यही बादरायण ऋषिका उपदेश है एवं श्रुतिमें भी यही पाया जाता है। बृहदारण्यकमें विद्याको ही कर्मका फल कहा गया है। अतः साधनसे फल श्रेष्ठ है और इसीलिए कर्मसे विद्या श्रेष्ठ है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत्॥

(श्रीमद्भा॰ ५/११/१५)

हे नरनाथ! ज्ञानोदयके द्वारा मायाका तिरस्कार करते हुए देहधारी जीव जब तक असत्–सङ्गसे रहित होकर एवं काम–क्रोधादि षड्–रिपुओंपर विजय प्राप्त करके मायाको निरस्त करते हुए आत्म–तत्त्वको नहीं जान लेता, तब तक वह इस संसार–चक्रमें भटकता ही रहता है।

इस प्रकार विद्या कर्मोंका प्रवर्त्तन नहीं करती, इसके विपरीत कर्मोंका उच्छेद करती है। परब्रह्म विषयक विद्यासे ही ब्रह्म–प्राप्ति है—और यही पुरुषार्थ है। *'ज्ञानं कर्माङ्गम्'* कहनेसे बादरायण मुनिके सिद्धान्तको विचलित नहीं किया जा सकता। आत्मज्ञान स्वतन्त्र पुरुषार्थ है, उसकी अपवर्ग फलश्रुति अर्थवाद नहीं, अपितु फलपरक है॥ ८॥

अवतरणिका भाष्य—यत्तु विद्वद्वरिष्ठानां कर्माचारदर्शनात् तच्छेषो विद्येत्युक्तं तन्निरासायाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले जो कहा गया था कि विद्वद्–वरिष्ठ अर्थात् अतिशय ब्रह्मविद्गणोंका (जनकादिका) कर्मानुष्ठान देखा जाता है, जिसके कारण भी यह मत होता है कि विद्या कर्मका अङ्ग है—इस मतके खण्डनके लिए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—यत्त्विति। तच्छेषः कर्माङ्गम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—यत्तु इत्यादि तच्छेषो विद्या इतिमें 'तच्छेषः' का अर्थ है—'कर्माङ्ग'।

सूत्र—तुल्यन्तु दर्शनम्॥ ९॥

सूत्रार्थ—'तु' विद्या कर्माङ्ग है—इसकी सम्भावना भी मत करना क्योंकि विद्या जो कर्माङ्ग नहीं है—इस विषयमें 'तुल्यं दर्शनम्' तुल्य प्रमाण-साधक श्रुति है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—विद्याकी अनङ्गतामें भी तुल्य आचार देखा जाता है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—तच्छेषत्वसम्भावनानिरासाय तु-शब्दः। विद्यायाः कर्मानङ्गत्वेऽपि तुल्यं दर्शनमस्ति। *"एतद्ध स्म वै विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहवाञ्चक्रिरे* (बृ॰आ॰ ३/५/१) *एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति"* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इति तत्रैव विद्यानिष्ठानां कर्मत्यागदर्शनादनैकान्तिकं तलिङ्गमिति कर्माचारदर्शनमप्यत्र न बाधकं सत्त्वशोधाय लोकसंग्रहाय चापेक्ष्यत्वात्॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त तु शब्द विद्याके कर्माङ्गत्वकी सम्भावनाके निराकरणके लिए प्रयुक्त है। विद्या जो कि कर्माङ्ग नहीं है—इस विषयमें भी पूर्वपक्ष-प्रदर्शित प्रमाणके तुल्य (समान) ही प्रमाण है, यथा—*'एतद्ध स्म वै विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे ... भिक्षाचर्यां चरन्ति'* यह प्रसिद्ध ही है अर्थात् ज्ञानी ऋषि कावषेयगण यह कहते हैं कि हम वेदाध्ययन किसलिए करें? किस प्रयोजनसे यज्ञ करें? पूर्ववर्त्ती ब्रह्मविद्यासे सम्पन्न ऋषियोंने इस अग्निहोत्र यज्ञका अनुष्ठान किया तो था। तत्पश्चात् परमात्माको जानकर उन ज्ञानियोंने पुत्रैषणा (पुत्र-पौत्रादिकी कामना), वित्तैषणा-धन-सम्पत्तिकी कामना, लोकैषणा (स्वर्गादि लोकोंकी कामना) से विरत होकर भिक्षुकवृत्तिको अपना लिया था—इस बृहदारण्यकीय (३/५/१) श्रुतिमें विद्यानिष्ठ व्यक्तियोंकी कर्म-त्यागकी उक्तिसे कर्मत्यागका विधान देखा जाता है। अतएव विद्वद-वरिष्ठ जनकादिका कर्माचरणरूप जो अनुमापक हेतु है, वह हेतु व्यभिचारी पार्थक्य—दोनोंका अलग

होना है। बात यह है कि आप लोग जिस हेतुको लेकर विद्याके कर्माङ्गत्वका अनुमान कर रहे हैं, वह अनैकान्तिक (अनिश्चितता) नामक हेत्वाभास दोषसे दूषित है। किस प्रकार? वही बता रहे हैं—*'विद्या कर्माङ्ग विद्वदाश्रिततत्वात्'*—इस अनुमान-हेतुमें (अनुमान-लिङ्गमें) जो विद्वदाश्रिततत्व कहा है, वह व्यभिचार दोषसे ग्रस्त है क्योंकि यहाँ अर्थात् पूर्वोक्त श्रुति *'एतद्ध स्म वै'* में विद्याको कर्मपूर्वकत्व रूपमें साध्य (सिद्धि किये जाने योग्य) नहीं कहा है (कावषेय ऋषिगण कर्म-त्यागका पाठ करते हैं) लेकिन यहाँ विद्वदाश्रिततत्व हेतु है। यदि कहो तब तो विद्वद्गणोंके (ब्रह्मविद्यासम्पन्न जनकादिके) कर्मानुष्ठान-दर्शनको इस श्रुतिका बाधक कहा जायेगा—तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि चित्त-शुद्धिके लिए और लोगोंको उस पथपर ले जानेके लिए विद्वज्जनों द्वारा आचरणीय कर्म विद्या-प्राप्तिमें अपेक्षित होते हैं॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—तुल्यस्त्विति। तु-शब्देन कर्मानङ्गत्वलिङ्गस्य प्राबल्यं दशर्यते। न हि जनकादीनां कर्माचारदर्शनं विद्यायाः कर्माङ्गत्वे लिङ्गम्। देहाभिमानशून्यतया चोदनाप्रवृत्तेरसम्भवात् तत्कृतकर्मणश्चोदनालक्षणत्वाभावेनाकर्मतया तदाचारदर्शनस्य तस्यास्तत्त्वे दौर्बल्यात्। एषणा इच्छा। कर्मणैवेत्यत्रोपायेनेति विशेष्यं मृग्यम्। ततश्च कर्मणैवेत्येवकारेण तस्या योगो व्यवच्छिद्यते। कर्मणा विशुद्धसत्त्वाः सन्तः संसिद्धिं सम्यग् विद्यां लब्धवा एव इति तस्यार्थः। वर्णाश्रमाचारेत्यत्र तु तादृशेनापि यत् तदाराधनं तदेव तत्तोषहेतुर्न तु कर्मेति तदर्थः। न चलतीत्यादिकं तू प्रतिष्ठितगृहिविषयं बोध्यम्। सप्तदश सूत्रभाष्ये तथैव व्याख्यानात्। सनिष्ठविषयं वाऽस्तु॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—*'तुल्यन्तु दर्शनम्'* इस सूत्रमें उक्त 'तु' शब्द द्वारा विद्या—जो कर्मका अङ्ग नहीं है, इसके अनुमापक लिङ्ग-श्रुति प्रमाणकी प्रबलता दिखाते हैं। यदि कहो, जनकादि ब्रह्मविद् राजर्षिगणोंका जब कर्माचरण देखा जाता है, तब वही विद्याकी कर्माङ्गताके पक्षमें लिङ्ग है। तो यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि विद्या-प्राप्ति होनेपर देहाभिमानका लोप हो जाता है, तब उसके लिए चोदना अर्थात् कर्ममें विधायकत्वशक्तिकी प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इसलिए देहाभिमान-शून्य व्यक्ति द्वारा कृतकर्ममें *'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः'* (जै॰सू॰ १/१/२) (धर्मकी जिज्ञासा होनेपर जैमिनिने कहा कि 'प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाले

वाक्योंसे लक्षित वस्तु ही धर्म है)—यह धर्मलक्षण देखा नहीं जाता, इसलिए उनका कर्म अकर्मस्वरूप है, अतएव उनका कर्माचरण देखकर जिसे विद्याकी कर्माङ्गता कहेंगे, वह अति दुर्बल प्रमाण है। एषणा शब्दका अर्थ है—इच्छा-कामना। *'कर्मणैव हि संसिद्धिमित्यादि'* वाक्यमें कर्मणा यह विशेषण पद है, विशेष्य 'उपायेन' यह अनुसन्धेय है। ऐसा यदि है तो 'कर्मणैव' इस 'एव' कारके साथ सिद्धिका योग छिन्न होता है। फलमें अर्थ है—कर्म द्वारा विशुद्धचित्त होकर वे सम्यक् विद्या प्राप्त करते हैं। *'वर्णाश्रमाचारवता'* इत्यादि वाक्यमें भी इस प्रकारसे अर्थ ग्रहणीय है, यथा वर्णाश्रमाचारी जिसके द्वारा भगवान्की आराधना करते हैं, वही (आराधना ही) भगवान्की सन्तुष्टिका कारण है, कर्म नहीं। *'न चलति'* इत्यादि कर्मत्यागबोधक वाक्य प्रतिष्ठित गृहीको उद्देश्य करके कहे गये हैं, यह जानना चाहिये क्योंकि सत्रहवें सूत्रके भाष्यमें इसी प्रकारकी व्याख्या की गयी है। अथवा सनिष्ठ भक्तके पक्षमें यह वाक्य होना चाहिये॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक पूर्वपक्षका खण्डन कर रहे हैं। ब्रह्मविद्-वरिष्ठोंके कर्माचरण दर्शन विद्याको कर्मका अङ्ग कहकर जो निर्द्धारण किया गया है, उसे निरस्त करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्याके कर्माङ्गत्व और कर्मानङ्गत्वके विषयमें तुल्य श्रुति-प्रमाण हैं बल्कि तो उनमें विद्याके कर्मका अनङ्गत्व लक्षण ही प्रबल रूपसे देखा जाता है।

बृहदारण्यकमें पाया जाता है—

'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजा न कामयन्ते किं प्रजयां करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणा याश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः।' (बृ॰आ॰ ४/४/२२)

अर्थात् पूर्ववर्त्ती विद्वान् सन्तान (तथा सकाम कर्म आदि) की इच्छा नहीं करते थे। (वे सोचते थे) हमें प्रजासे क्या लेना है? जिन हमको कि यह आत्मज्ञान अभीष्ट है। अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा

और लोकैषणासे व्युत्थान कर (उपरत होकर) फिर भिक्षाचर्या करते थे। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये तीनों एषणाएँ ही हैं।

इस प्रसङ्गमें निम्न सन्दर्भ भी आलोच्य हैं—

एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचकिरे

(कौषीतकी २/५)

अर्थात् इसी वाक् एवं प्राणके परस्पर होमरूप अग्निहोत्रको जाननेवाले पूर्ववर्त्ती विद्वानोंने (कर्ममय) अग्निहोत्र नहीं किया। त्वाक् एवं प्राणरूप आहुतियाँ कभी अन्त न होनेवाली तथा अमर हैं। जानते हुए या सोते हुए भी प्राणी इन आहुतियोंको होमता रहता है। प्राचीनकालीन ज्ञानी इस रहस्यके ज्ञाता थे।

तथा,

'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार।'

(बृ॰आ॰ ४/५/१५)

अर्थात् अरे मैत्रैयि! आत्मज्ञानमात्र ही अमृतत्व है यह निश्चित जानो—यह कहकर याज्ञवल्क्यने त्याग किया अर्थात् वे परिव्राजक हो गये—इस श्रुतिसे याज्ञवल्क्यादिका भी कर्म रहितत्व ज्ञात होता है।

आत्मज्ञान होनेपर ज्ञानी ऋषियोंने समस्त कामनाओंका परित्याग करके भिक्षुचर्याका अवलम्बन किया था। इस प्रकार विद्याके उदयमें कर्मत्यागको ही विधेय देखा जाता है।

तब जो जनकादि विद्वान राजर्षियोंका कर्माचरण देखा जाता है, इसे विद्याका कर्माङ्गत्व नहीं कह सकते क्योंकि देहाभिमान शून्य व्यक्तियोंमें कर्मकी प्रेरणाका अभाव होता है—इसलिए उनका कर्म अकर्मस्वरूप है। उनका यह कर्माचरण विशेष रूपसे लोकसंग्रहके लिए है। इसी प्रकार अविद्वान पुरुषका कर्मानुष्ठान चित्तशुद्धिके लिए है और विद्वानका आचरण लोक-संग्रहके लिए है। इस प्रसङ्गमें श्रीगीताके ३/२०, ४/१८, ४/१९ और ४/२० श्लोक भी आलोच्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहंकुर्य्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/११/९)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! मेरे सत्त्व, तम और रज तीन गुणोंकी उपाधिके वशीभूत होकर आत्मा बद्ध या मुक्त कहा जाता है, वस्तुतः—तत्त्वदृष्टिसे आत्माका बन्धन और उसकी मुक्तिकी सम्भावना नहीं है। गुण मायामूलक हैं, इसलिए स्वरूपतः मेरा कोई बन्धन या मुक्ति नहीं है, मैं इससे अतीत हूँ।

श्रीपाद रामानुजाचार्यके भाष्यका सार भी यही है—पहले जो यह कहा कि ब्रह्मविदोंका भी कर्मानुष्ठान देखा जाता है, इसलिए विद्याको कर्माङ्ग कहते हैं तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि विद्याकी अनङ्गताके विषयमें भी तुल्य आचार दर्शन है, अर्थात् ब्रह्मविदोंका जो कर्मानुष्ठान देखा जाता है, वह ऐकान्तिक नहीं है क्योंकि उनमें अननुष्ठान (अनुष्ठानका अभाव) भी देखा जाता है। जिस प्रकार कावषेय ऋषियोंने कहा कि 'हम किसलिए अध्ययन करें, अथवा किसके लिए यज्ञ करें' इत्यादि स्थलपर कर्मत्याग देखा जा रहा है। इस समय यदि प्रश्न है कि ब्रह्मविद्गणोंका कर्मानुष्ठान और अननुष्ठान—दोनों किस प्रकारसे उपपन्न हैं तो इसका उत्तर है कि फलाभिसन्धिरहित (फलकी आङ्काक्षासे रहित) यज्ञादि कर्म ब्रह्म-विद्याके अङ्ग हैं, इसलिए इस प्रकारके कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति देखी जाती है अर्थात् कर्ममें प्रवृत्ति उपपन्न होती है और फलाकाङ्क्षा समन्वित होनेपर एकमात्र मोक्षफल-साधिका (मोक्षदायिनी) ब्रह्मविद्याका विरोधी होनेके कारण, उनका अननुष्ठान (अनुष्ठानका त्याग) भी युक्तियुक्त है। यदि विद्या कर्माङ्ग है तो किसी भी प्रकारसे उसका अर्थात् कर्मका परित्याग सम्भव नहीं हो सकता।

पुनः लोकसंग्रहके निमित्त ज्ञानीकृत कर्म वस्तुतः कर्म नहीं है॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य—तच्छ्रुतेरिति निराह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'तच्छ्रुतेः'* (वे॰सू॰ ३/४/४) इस सूत्र द्वारा विद्याको जो कर्माङ्गरूपमें प्रतिपादन किया गया था, उसका खण्डन करते हैं—

सूत्र—असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—असार्वत्रिकी 'यद्येव विद्यया करोति' इत्यादि श्रुति सर्वविद्या-विषयक नहीं है। अतएव विद्यामात्र कर्माङ्ग नहीं है ॥ १० ॥

सूत्रानुवाद—'यदेव विद्यया' श्रुति भी विद्याके कर्मशेषत्वका प्रतिपादन नहीं करती ॥ १० ॥

गोविन्दभाष्य—*"यदेव विद्यया"* (छा॰ १/१/१०) इति श्रुतिरसार्वत्रिकी न सर्वविद्याविषया प्रकृतोद्गीथविद्याविषयत्वात्। तेन सर्वासां विद्यानां न कर्माङ्गतेति ॥ १० ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'यदेव विद्यया करोति'* अर्थात् जो विद्यायुक्त होकर कर्म करता है इत्यादि श्रुतिको जो पूर्वपक्षके परिपोषक रूपमें कहा था तो यह श्रुति सार्वत्रिकी अर्थात् सर्वविद्या-विषयक नहीं है क्योंकि इस श्रुतिको प्रकान्त उद्गीथ विद्याका अवलम्बन करके कहा गया था। अतएव समस्त विद्याओंका कर्माङ्गत्व नहीं है ॥ १० ॥

सूक्ष्मा-टीका—असार्वत्रिकीति। तथाच तृतीयाश्रुत्या तस्यास्तदङ्गत्वं नेत्यर्थः ॥ १० ॥

सूक्ष्मा-सार—*'असार्वत्रिकी'* इस सूत्रमें। *'यदेव विद्यया'*—इस स्थानपर तृतीया विभक्ति श्रुत होनेके कारण विद्या कर्माङ्ग नहीं है, यह प्रतिपन्न हुआ, यह अर्थ है ॥ १० ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी जो यह कहते हैं कि *'यदेव विद्यया करोति'* श्रुतिमें विद्याको कर्माङ्ग रूपमें प्रतिपादन किया है? तो उसका भी सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें खण्डन करते हुए कहते हैं कि पूर्वपक्षका श्रुति प्रमाण सार्वत्रिक (सर्वविद्याविषयक) नहीं है। यह केवल उद्गीथ विषयक अर्थात् कर्मपद्धति विषयक ही है। (यह आत्मविद्या कर्मका शेष नहीं हैं।)

श्रुतिमें यत् शब्दसे किसी विशेषका निश्चय भी नहीं है जैसे कि *'सर्वे ब्राह्मणा योज्यन्ताम्'* यह वाक्य केवल निमन्त्रित ब्राह्मणोंको ही विषय करता है, सब ब्राह्मणोंको नहीं। अतः इसके द्वारा सर्वविद्याका कर्माङ्गत्व नहीं कहा जा सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

मर्त्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२९/३४)

मनुष्य जब समस्त कर्मोंको परित्याग करके मुझमें आत्मसमर्पण करता है, उस समय मेरी इच्छासे वह भक्तियोगी ज्ञानीकी अपेक्षा अधिक ज्ञानसम्पन्न हो जाता है। वह मेरी विशेष कृपाका पात्र हो जाता है। तदनन्तर अमृतत्व प्राप्तकर मेरे सहित समान ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

विज्ञ जनेव हय यदि कृष्ण-गुण-ज्ञान।
अन्य त्यजि भजे, ताते उद्धव-प्रमाण॥

(चै॰च॰म॰ २२/९४)

अर्थात् कृष्ण-गुणका ज्ञान होनेमात्रसे ही अभिज्ञ व्यक्ति दूसरी उपासनाओंका त्याग करके कृष्णका ही भजन करते हैं। इस विषयमें उद्धव प्रमाण हैं॥ १०॥

अवतरणिका भाष्य—समन्वारम्भणादिति प्रत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'समन्वारम्भणात्'* (ब्र॰सू॰ ३/४/५) सूत्रमें पूर्वपक्षीने विद्या एवं कर्मके फलके जनन (उत्पत्ति) विषयमें साहित्य (सहितता अर्थात् समन्वय) दिखाकर यह प्रतिपादन किया था कि केवल विद्याका फल मुक्ति नहीं है। अब सूत्रकार इसका खण्डन करते हैं—

सूत्र—विभागः शतवत्॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—'तं विद्याकर्मणी' इत्यादि श्रुतिमें जो विद्या और कर्मकी साहित्य-योग (मिलित रूपसे) फलजनकता कही थी, उसका 'विभागः'—विभाग ज्ञातव्य है अर्थात् विद्याका एक फल है और कर्मका दूसरा फल॥ ११ ॥

सूत्रानुवाद—विद्या और कर्मके साहित्य-योगका शतके समान विभाग समझना चाहिये॥ ११ ॥

गोविन्दभाष्य—तं विद्याकर्मणी (बृ॰आ॰ ४/४/२) इत्यत्र विद्या-कर्मकृतस्य फलारम्भस्य विभागो द्रष्टव्यः। विद्ययैकं फलमारभ्यते कर्मणा त्वन्यदिति। अत्र दृष्टान्तः शतेति। यथा धेनुच्छागविक्रयिणं शतमन्वेतीत्युक्तौ धेन्वा नवतिरूपादीयन्ते छागेन तु दशेति शतस्य विभागस्तथेहाप्यभ्योर्भिन्नफलत्वात्॥ ११ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'तं विद्याकर्मणी'*— *'समन्वारभेते'*—परलोक-प्रस्थान-कारीके विद्या एवं कर्म—दोनों ही फल उत्पन्न करनेके लिए उसका अनुसरण (साथमें गमन) करते हैं। इस वाक्यमें जो विद्या और कर्मकृत फलोत्पत्ति सुनी जाती है—यह फलका विभाग जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि विद्या द्वारा एक प्रकारका फल उत्पादित होता है और कर्म द्वारा दूसरे प्रकारका। इस विषयमें दृष्टान्त है— *'शतवत्'*—जिस प्रकार धेनु (गाय) और छाग (बकरी) बेचनेवालेको सौ रुपयेंकी प्राप्ति हुई—कहनेसे धेनु-विक्रयीकी नब्बे मुद्रा और छाग-विक्रयीकी दस मुद्रा—इस प्रकार मुद्राका विभाग जाना जाता है—इसी प्रकार यहाँ भी विद्या एवं कर्मका फल-विभाग है॥ ११ ॥

सूक्ष्मा-टीका—विभाग इति। सनिष्ठेनाधिकारिणा विद्योपासनानुष्ठिता विद्योत्पत्त्य-नन्तरं कर्म च ज्योतिष्टोमादि ताभ्यामारब्धफलं विभज्यते। तत्र विद्यया मोक्षलक्षणं महत्फलमारभ्यते कर्मणा तु स्वर्गादिदर्शनलक्षणमल्पं फलमिति महदल्पभावेन विभागः। यद्यपि विद्यैव स्वर्गादिकमपि दत्ते तथापि कर्मणा द्वारा दत्त इति तदपेक्षस्तद्व्यपदेशः। दृष्टान्तार्थस्तु भाष्ये स्फुटः॥ ११ ॥

सूक्ष्मा-सार— *'विभागः शतवत्'* इस सूत्रमें। सनिष्ठ अधिकारी द्वारा विद्याकी उपासनाका अनुष्ठान किया जाता है इसके फलस्वरूप विद्या उत्पन्न होनेके उपरान्त ज्योतिष्टोमादि कर्म अनुष्ठित होते हैं, यह विद्या

एवं कर्मके द्वारा उत्पादित फलका विभाग करते हैं, इनमें विद्या द्वारा मुक्तिरूप महत् फल उत्पादित होता है और कर्म द्वारा स्वर्गादि लोक-दर्शनरूप अल्पफल उत्पन्न होता है, यह महत्-अल्प रूपमें फलके तारतम्यवश विभाग है। यद्यपि विद्या ही स्वर्गादि फलदान करती है, तो भी कर्मकी सहायतासे दान करती है, कर्म-निरपेक्ष रूपमें नहीं। अतः विद्याका स्वर्गजनकत्व-कथन कर्म सापेक्ष है। दृष्टान्तका अर्थ भाष्यमें परिस्फुटित हुआ है॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले *'समन्वारम्भणात्'* (ब्र०सू० ३/४/५) सूत्रमें पूर्वपक्षीने जो यह कहा कि विद्या और कर्म समन्वय रूपमें अर्थात् मिलित रूपमें मुक्तिफल उत्पन्न करते हैं, इसलिए विद्याको कर्म निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें पूर्वपक्षके इस मतका खण्डन करते हुए कहते हैं कि विद्या एवं कर्मकी जो सहित भावसे फलोत्पत्तिकी बात सुनी जाती है, उसका विभाग करना चाहिये। विद्या द्वारा एक प्रकारका फल उत्पन्न होता है, और कर्म द्वारा उत्पन्न फल अन्य प्रकारका है। इस विषयमें दृष्टान्त है—धेनु और छागको एकत्र विक्रय करनेपर सौ मुद्राएँ प्राप्त होती हैं तो जैसे विभाग करके धेनुका मूल्य और छागका मूल्य ठीक किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी विद्याका फल मोक्ष है और कर्मका फल स्वर्गादि-दर्शन है—इस प्रकारसे विभाग जानना होगा। मोक्ष महत् फल है और स्वर्गादि दर्शन अल्प फल। महत्-अल्पका तारतम्यरूप विभाग है। चार्वाकादि असत् शास्त्रोंके अध्ययनको विद्या नहीं कहा जा सकता। मनु एवं याज्ञ-वन्क्यने कहा है—*'असच्छास्त्राधिगमनम्।'*

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

भगवन् जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया।
अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्म्मवर्त्मसु॥

(श्रीमद्भा० १०/४०/२३)

अर्थात् हे भगवन्! आपकी मायासे मोहित इस संसारमें समस्त प्राणी नश्वर देहादिमें मैं-मेरा इस प्रकारकी मिथ्या धारणा कर लेते हैं और सकाम कर्म-मार्गोंमें भटकते रहते हैं।

और भी,

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्तय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४०/२८)

अर्थात् हे स्वामी! आज मैंने आपके उन पादपद्मोंका आश्रय कर लिया है, जो दुष्टोंके लिए दुर्लभ है। मैं तो इसे आपका अनुग्रह ही मानता हूँ। हे कमलनाभ! जिस समय जीवके संसार-दशासे मुक्त होनेका समय आता है, उसी समय शुद्ध भक्तोंकी सेवा द्वारा उनकी चित्तवृत्ति आपमें लग जाती है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

महत्कृपा बिना कोन कर्मे भक्ति नय।
कृष्णभक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥
(चै॰च॰म॰ २२/५१)

इस प्रकारकी व्याख्या करते हुए हमारे परमाराध्यतम श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादने अपने अनुभाष्यमें कहा है—

कर्मकाण्डीय किसी प्राकृत सुकृति द्वारा अप्राकृत कृष्णभक्ति नहीं होती। एकमात्र कृष्णभक्तकी कृपाके बिना अप्राकृत कृष्णभक्तिके उदयकी सम्भावना नहीं है। कृष्णभक्ति तो दूर रहे, प्राकृत बुद्धिरूप संसार तक भी विनष्ट नहीं होता। कृष्णभक्तके बिना अन्य किसी जीवमें महत्-तत्त्व की सम्भावना नहीं है। कृष्णभक्त ही एकमात्र अप्राकृत हैं।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार भी यही है—

मृत्युके बाद विद्या और कर्म स्वतन्त्र रूपसे अपना-अपना फल प्रदान करते हैं। इसी प्रकारका विभाग है। यथा खेत और रत्नके लिए दो सौ मुद्रा ले जानेवाला एक सौ से रत्न और एक सौ से क्षेत्र खरीदता है, वैसे ही उक्त-व्यवस्था भी है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'नवकोट्यो हि देवानां तेषां मध्ये शतस्य तु। सोमाधिकारो वेदोक्तो ब्रह्मणी द्वे शताधिके। यथा तथैवासंख्ययो प्रजास्तासु कियान् जनः। ज्ञानाधिकारी स प्रोक्तो विष्णुपादैक संश्रयः इति वचनात् सुखापेक्षा साम्येऽपि विभाग इष्यतेऽधिकारार्थम्।'

अर्थात् पूर्वसूत्रमें सभीको ज्ञानाधिकार नहीं है—यह कहा गया था। इस सूत्रमें इसका कारण दिखा रहे हैं। जिस प्रकार नौ करोड़ देवताओंका समान देवत्व होनेपर भी सभीका सोमाधिकार नहीं है केवल सौ देवताओंको और ब्रह्मा, विष्णुको ही सोमपानका अधिकारी वेदोंमें कहा गया है। उसी प्रकार असंख्य मनुष्योंका पुरुषार्थ समान होनेपर भी सभीका ज्ञानाधिकार नहीं होता। ज्ञानाधिकारके लिए पुरुष विभाग स्वीकार है अर्थात् जो व्यक्ति विष्णु-पादमें एकान्त आश्रित है, उसका ही ज्ञानाधिकार जानें। अतएव सभीकी सुखापेक्षा (सुखाभिलाषा) रहनेपर ज्ञानाधिकारका विभाग है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते (बृ॰आ॰ ४/४/२) *इत्यत्र फलद्वय निमित्त शत विभागवद् विभागो ज्ञेयः।'*

अर्थात् उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान और कर्म भी सहगमन करते हैं। यहाँ फल-द्वयके लिए शत विभागके समान विभाग समझना चाहिये। दोनोंका फल विभक्त होनेसे विद्या अपने फलके लिए आरम्भ की जाती है और कर्म अपने फलके लिए। क्षेत्र तथा रत्न विक्रेताको दो सौ दे देना कहनेसे क्षेत्रके लिए सौ तथा रत्नके लिए सौ ऐसा विभाग होता है। ऐसे यहाँ भी समझना चाहिये॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—तद्वतो विधानादिति प्रत्याचष्टे—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ब्रह्मज्ञान-विशिष्टका (ब्रह्मवित्का समस्त कर्मोंमें) ब्रह्मारूपमें वरणका विधान होनेके कारण विद्याका कर्माङ्गत्व है, पूर्वपक्षके इस मतका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—

सूत्र—अध्ययनमात्रवतः॥ १२॥

सूत्रार्थ—'अध्ययनमात्रवतः'—केवल वेदाध्ययनरत व्यक्तिका ही ब्रह्मा-रूपमें वरणका अधिकार है, ब्रह्मविद् रूपमें कोई बात नहीं है, अतएव विद्या कर्माङ्ग नहीं है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—वेदाध्ययननिष्ठ मात्रका ही ब्रह्मारूपमें वरण है किन्तु ब्रह्मज्ञका ब्रह्मारूपमें वरण नहीं है। अतएव विद्या कर्माङ्ग नहीं हो सकती॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—तत्र वेदाध्ययनमात्रनिष्ठस्यैव न तु ब्रह्मज्ञस्य ब्रह्मत्वेन वरणमतः कर्माङ्गत्वं तस्याः प्रत्युक्तमित्यर्थः। तथाहि ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मेत्यत्र ब्रह्मशब्दो वेदार्थको न तु परतत्त्वार्थकः तदात्मकत्वे नैष्कर्म्यश्रवणात्। ततश्चाविकृतशब्दरूपं वेदं विज्ञाय सर्वदा तदध्ययनमात्रं यः करोति न तेन किञ्चिदिच्छति स ब्रह्मिष्ठ उच्यते प्रत्ययेनेष्ठेनातथार्थबोधनादिति। ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वेनानुमतिरत्र कर्मस्तुत्यर्थेति केचित्। नन्वध्ययनमात्रवतः कर्माधिकारो न तु ज्ञानवत इत्युक्तम्। अज्ञानस्य तदसम्भवात् अध्ययनस्य चार्थबोधपर्यन्तत्वात्। तथाच वेदान्तर्गतोपनिषत्सम्भूतात्म-ज्ञानस्यावर्जनीयत्वेन तस्याः पुनस्तदङ्गत्वमिति चेदुच्यते। न हि शाब्दज्ञानिनो ब्रह्मवित्त्वं किन्तु तदनुभविन एव। न च मधु मधुरमिति शाब्दीं प्रतीति-मुपेतस्तन्माधुर्यविद्भवति। तथा सति मत्ततादितत्कार्योदयप्रसङ्गात्। न चैवमस्ति। अतएव यद्वेत्थ तेन मोपसीदेति पृष्टेन नारदेन ऋग्वेदादिस्वाधीतमुक्त्वा *"सोऽहं मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्"* इति निर्दिष्टम्। तथाच शाब्दज्ञानादन्यैवोपासना। भक्त्यनुभवपदवाच्या विद्या पुरुषार्थहेतुः। उक्तञ्च तैत्तिरीयके—*"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे"* इति। शाब्दज्ञानं तु वैराग्यमिव तत्परिकरभूतम्। *"तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया। पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया"* इति स्मृतेः। ननु कायवाङ्मनोव्यापाररूपा भक्तिः। तत्र मानसस्य ध्यानस्यानुभवत्वं भवेत्। कायवाग्व्यापाररूपस्यार्च्चनजपादेस्तत्त्वं कथमिति चेदुच्यते—ह्लादिनीसारसमवेत-संविद्रूपा भक्तिः *"सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति"* (गो॰त॰उ॰ ७८) इति श्रुतेः। इतरथा भगवद्वशीकारहेतुरसौ न स्यात्। तथाभूतायास्तस्याः भक्तकार्यादि-वृत्तितादात्म्येनाविर्भूतायाः क्रियाकारत्वं चित्सुखमूर्त्तेः कुन्तलादिप्रतीकत्ववदवसेयम्। *"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्"* इतिन्यायेनालौकिकेऽचिन्त्येऽर्थे तर्कस्तु निराकृतः॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'ब्रह्मिष्ठ ब्रह्मा, दर्शपौर्णमासयोस्तं वृणीते'*—इस तैत्तिरीयक-श्रुतिमें जो ब्रह्मारूपमें वरणका विधान है, वह मात्र वेदाध्ययनकारी ब्राह्मणके लिए है, ब्रह्मज्ञके लिए नहीं। अतएव

विद्याकी कर्माङ्गताका प्रतिवाद किया गया है। तब श्रुतिमें जो *'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा'* कहा गया है, उस ब्रह्मिष्ठ पदके अन्तर्गत 'ब्रह्मन्' शब्दका अर्थ वेदार्थपर है, परत्तत्त्वार्थपर (ब्रह्मतत्त्वपर) नहीं। ब्रह्मविद्का नैष्कर्म्यत्व (कर्महीनता) श्रुत होनेके कारण ब्रह्मकर्मकी प्रसक्ति (प्रसङ्ग अर्थात् प्रयोजनीयता) ही नहीं रहती है। अतएव सिद्धान्त यह है कि वेदको अविकृत शब्द-स्वरूप जानकर जो व्यक्ति सर्वदा वेदाध्ययनमात्र करते हैं और उस वेदाध्ययनके द्वारा किसी भी फल-अर्थादिकी इच्छा नहीं करते हैं, वे ही ब्रह्मिष्ठ कहे जाते हैं; इस ब्रह्मवत् शब्दके उत्तरमें इष्ठन् प्रत्यय द्वारा इस प्रकारका अर्थ होता है। (जीविकार्थ वेदाध्ययन करना इसका अर्थ नहीं है)—यह बताया गया है। कोई-कोई व्याख्या करते हैं कि ऐसे ब्रह्मविद्का ब्रह्मारूपमें वरण होनेका जो अनुमोदन है, वह मात्र कर्मप्रशंसाके लिए है। अब आपत्ति यह है कि—आप कहते हो कि केवल वेद-अध्ययनकारी व्यक्तिका ही ब्रह्मकर्ममें अधिकार है, वेदज्ञानवानका नहीं—यह किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि वेदार्थ-ज्ञानहीनका तो कर्ममें अधिकार नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अध्ययन कहनेसे अर्थज्ञान (अर्थबोध) पर्यन्त ही अध्ययनका अर्थ जाना जाता है। ऐसा होनेपर वेदके अन्तर्गत उपनिषद-वाक्यसे समुत्पन्न आत्मज्ञान अवश्य ही उदित होता है, इसलिए उसके फलस्वरूप ब्रह्मविद्याकी यह कर्माङ्गता ही आ पड़ी—यदि ऐसा कहते हो तो इसपर कहते हैं कि वेदके केवल शाब्द-बोधात्मक ज्ञानीको ही ब्रह्मवित् नहीं कहा जाता (शब्द-ज्ञानसे ब्रह्मज्ञ नहीं हुआ जाता) किन्तु उस वेदार्थके साक्षात्कारीका (ब्रह्मके अनुभव करनेवालेका) ब्रह्मज्ञत्व है। 'मधु मधुर है'—इस कथनमें जो शब्दार्थ-ज्ञान प्राप्त हो रहा है, इस शब्दबोधसे मधुका माधुर्यवित् नहीं हो जाता (मात्र शब्दार्थ-ज्ञानसे मधुका माधुर्य नहीं जाना जा सकता)। यदि शब्दबोधसे ही मधुका मधुरत्व जाना जाता तो मधुआस्वादनका फल मत्तता (मधुपानसे होनेवाला मतवालापन) इत्यादि भी उत्पन्न होते, ऐसा होता नहीं है, मधु पान करनेसे ही मत्तता आती है। इसीलिए जब नारदजीसे पूछा गया कि 'आप जो जानते हैं—उसके लिए मैं उपसन्न (शरणागत) हुआ हूँ अर्थात् आप मुझे बताइये कि आप क्या

जानते हैं?' इसके उत्तरमें देवर्षि नारदने ऋग्वेदादि अपने अध्ययनकी समस्त बात कही और अन्तमें कहा कि 'मैं मन्त्रविद् हूँ, आत्मविद् (ब्रह्मवित्) नहीं।' अतएव जाना जाता है कि शाब्दज्ञानसे उपासना स्वतन्त्र (पृथक्) है। भक्ति—अनुभव (भक्ति अनुभवका ही स्वरूप है) पदवाच्य द्वारा जो ब्रह्मका साक्षात्कार है, उसी पुरुषार्थका नाम विद्या है, वही मुक्तिका कारण है। तैत्तिरीयकोपनिषदमें इस प्रकार कहा गया है—*'वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः ... परिमुच्यति सर्वे'* (मु॰ ३/२/६) इसका अर्थ है वेदान्त (उपनिषद) हेतुक (जनित) जो विज्ञान है अर्थात् उपासना संज्ञासे संज्ञित जो अनुभूति (साक्षात्कार) है, जिसके द्वारा जिन्होंने ब्रह्मतत्त्व अथवा मुक्तिका स्वरूप निर्द्धारित (सुनिश्चित) किया है, उस पारमहंस्य सम्बन्धी (संन्यास) आश्रम-योगके (ग्रहण करनेके) कारण अर्थात् यतिधर्मके अनुष्ठानके कारण शुद्धचित्त (शुद्धान्तःकरण), प्रयत्नशील साधक—जो सनिष्ठ कहे जाते हैं—उनमेंसे कोई-कोई ब्रह्मलोकमें वास करते हैं। बादमें इन सत्यलोकाधिपति चतुर्मुख ब्रह्माके विनष्ट होनेपर परामृत—अविनश्वर मूल प्रकृति नामक तमः से—समस्त प्रकारसे मुक्त हो जाते हैं और परव्योममें प्रवेश करते हैं। वेदके सम्बन्धमें शाब्दबोधक ज्ञान उसी प्रकार ब्रह्मविद्याका अङ्ग (परिकर) है, जिस प्रकार वैराग्य ब्रह्मविद्याका अङ्ग है, किन्तु यह शाब्दज्ञान साक्षात् विद्या नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भी है—*'तच्छ्रद्दधाना'* इत्यादि—पहले जो यह कहा गया था कि श्रद्धावान मुनिगण शास्त्र-श्रवणसे उत्पन्न ज्ञान-वैराग्ययुक्त, शास्त्र विहित भक्ति द्वारा अपने चित्तमें अद्वितीय परमतत्त्व उन श्रीहरिका साक्षात् दर्शन करते हैं—अब आपत्ति यह है कि भक्ति तो काय, वाक्य और मनका व्यापार-विशेष है, इनमें मानस-व्यापारात्मक (मनके व्यापारसे युक्त) ध्यानको तो अनुभव (भक्तिस्वरूप) कहा जा सकता है, किन्तु जो कायिक एवं वाचिक व्यापार हैं—वे तो इन दोनोंको अनुभवस्वरूप (भक्तिस्वरूप) किस प्रकार कहा जायेगा? यह यदि कहते हो तो इसके उत्तरमें कहा गया है—ह्लादिनीशक्तिकी सार-सम्वलित संवित् (ज्ञान) शक्ति ही भक्ति है—यह सच्चिदानन्दैक रसमयी भक्तियोगमें ही अवस्थान करती है—यह श्रुत होनेसे अर्चन, जपादिका भी अनुभवत्व

सिद्ध होता है। ऐसा न मानें अर्थात् भक्तिको सच्चिदानन्दस्वरूप न मानें तो भक्तिका भगवत्-वशीकारण हेतु सिद्ध नहीं होगा। इस भगवत्-वशीकरण हेतु भक्तके कायिकादि व्यापार (इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके) साथ तादात्म्यता प्राप्त करके अभिन्न रूपसे (श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरणादि रूपोंमें) आविर्भूत होती है तथा यथोचित कार्य सम्पादन करती है। ज्ञानसुखात्मक (चिदानन्दस्वरूप) होनेपर भी इसका क्रियाकारित्व उसी प्रकार है, जिस प्रकार कुन्तल (अलकावली) नख इत्यादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग चित्सुखात्मक होकर भी दैहिक क्रियाओंके निष्पादक हैं। इस अलौकिक अचिन्तनीय विषयमें तर्कका अवसर नहीं है, क्योंकि श्रुति शब्दमूलक है, वह जो कहेगी, वही मानना होगा॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—अध्ययनेति। ननु वेदस्य भगवद्रूपत्वात् तन्निष्ठया कुतो न मुक्तिरिति चेत् उच्यते। *"उपायोपेयरूपो हि भगवान् निवासः शरणं सुहृत् गतिर्नारायणः"* इति गतिशब्दश्रवणात्। तत्र ज्ञानप्रकाशकवेदरूपेण तस्योपायता तद्वाच्यविभुचिद्विग्रहरूपेणोपेयता चेति तथैव रूपद्वयप्राकट्यादित्येके। चिद्रूपाक्षरराशित्वेन ग्रहणे वेदेनैव मुक्तिरविकृतशब्दराशित्वेन ग्रहणे तद्वाच्यभगवदनुभवेनैव सेत्यपरे। तथाच परसन्दर्भः सङ्गतिमानिति। नैष्कर्म्यश्रवणादिति। किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे इत्यादौ। ब्रह्मविद् इति। ईदृक् कर्म यत्र ब्रह्मविदृत्विक् भवतीति तस्य स्तुतिर्भवतीति तदसम्भवादिति कर्माधिकारायोगादित्यर्थः। तत् कार्येति मधुकार्येत्यर्थः। वेदान्तेति। वेदान्तादुपनिषदो हेतोर्यद्विज्ञानमुपासनशब्दितोऽनुभवस्तेन सुनिश्चितोऽर्थो ब्रह्मलक्षणो मोक्षलक्षणो वा यैस्ते संन्यासयोगात् पारमहंस्याश्रमसम्बन्धात् तद्धर्मोद्धेतोः शुद्धसत्त्वा निर्मलचित्ताः यतयः प्रयत्नशीलाः ते सनिष्ठाः केचित् ब्रह्मलोके चतुर्मुखधाम्नि सत्ये निवसन्ति। अथ परस्य तल्लोकपतेर्ब्रह्मणोऽन्तकाले विनाशे सति तेन सह परामृतात् तमसः परिमुच्यन्ति सर्वतोभावेन विमुच्यन्ते परमं व्योम प्रविशन्तीत्यर्थः। परं प्रधानादिनिखिलतत्त्वमूलत्वात् श्रेष्ठञ्च तदमृतमविनाशि चेति परामृतं मूलप्रकृतिशब्दितं तमस्तस्मादित्यर्थः। तत्परिकरभूतं विद्याङ्गम्। तच्छ्रद्दधाना इति श्रीभागवते। तदिति। वदन्ति तत् तत्त्वविद इत्यादि पूर्वकथितं यत् ज्ञानैकरसमद्वयं परं तत्त्वं तदित्यर्थः। आत्मनि चित्ते। आत्मानमद्वयतत्त्वलक्षणं हरिम्। नन्विति। ननु स्मृत्यनुभवयोर्भेदस्तीर्थकाररुक्तः। संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभव इति। ध्यानञ्च स्मृतिरेव। तत् कथं ध्यानस्यानुभवत्वमिति चेदुच्यते। अनुभवरूपैव भक्तिरनुभवितृकरणवृत्तितादात्म्येन श्रवणकीर्त्तनस्मरणादि-रूपेणाभ्युदेति। चित्सुखमूर्त्तेनखरचिकुराद्यङ्गत्ववत् इति श्रुतिबलादेव स्वीक्रियते तस्या अचिन्त्यवस्तुत्वादिति॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—*'अध्ययनेत्यादि'* सूत्रमें। आपत्ति यह है कि वेद भगवान्का स्वरूप है, तब वेदनिष्ठा द्वारा मुक्ति क्यों नहीं होगी? यह यदि कहते हो तो इसमें कहा गया है कि श्रीभगवान् उपायस्वरूप भी हैं और उपेयस्वरूप भी हैं, इसलिए वे साध्य-साधन उभय (दोनों) हैं, वे सभीके आधार, रक्षक, सुहृत्-उपाय, नारायण हैं—इस वाक्यमें उन्हें उपाय कहा गया है। इनमें ज्ञान-प्रकाशक वेदरूपमें वे उपाय हैं और वेदवाच्य विभु हैं, चित्-विग्रह रूपमें वे उपेय (साध्य) हैं, इस प्रकारसे उपाय एवं उपेय दोनों रूप प्रकटित करनेके कारण—ऐसा कोई-कोई कहते हैं। दूसरे कहते हैं—वेदको चित्स्वरूप अक्षरसमूह रूपमें ग्रहण करनेपर वेद द्वारा ही मुक्ति है और अविकृत शब्द समष्टि रूपमें ग्रहण करनेपर उस वेद-वाच्य भगवान्के साक्षात्कार द्वारा वह (मुक्ति) होती है, इस प्रकारसे अर्थ स्वीकार करनेपर परवर्त्ती ग्रन्थके (वाक्यके) साथ सङ्गति रहती है। *'तदात्मकत्वे नैष्कर्म्यश्रवणादिति'*—*'किमर्थं वयमध्येषामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे'*—(किसलिए हम अध्ययन करें, किसलिए हम पूजा करें) इस श्रुतिमें ब्रह्मविद्का कर्मत्याग श्रुत होता है। *'ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वेनानुमतिरिति'* इस प्रकारके कर्म जिनमें हैं, वह वेदज्ञ व्यक्ति ऋत्विक होता है। इस प्रकारसे उसकी प्रशंसा होती है। *'अज्ञानस्य तदसम्भवादिति'*—अज्ञानीका कर्माधिकार सम्भव नहीं है—यह अर्थ है। *'तत् कार्योदयप्रसङ्गात्'*—मधुर कार्यमत्ततादि होनी चाहिये। *'वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः'*—इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—वेदान्त हेतुक जो विज्ञान है अर्थात् उपासना शब्दसे संज्ञित जो साक्षात्कार है, उसके द्वारा जो ब्रह्मपदार्थ अथवा मुक्तिका स्वरूप सुनिश्चित रूपसे जाना गया है, जो संन्यासवश अर्थात् परमहंसाधिष्ठित आश्रमधर्म पालन करनेके कारण निर्मलचित्त प्रयत्नशील हैं, वे सनिष्ठ रूपमें अभिहित होते हैं, उनमें कोई-कोई चतुर्वदन ब्रह्माके अधिष्ठित धाम सत्यलोकमें वास करते हैं, तत्पश्चात् उन लोकाधिपति चतुर्मुखके विनाश होनेपर ब्रह्माके साथ वे भी परामृत—तमः से सर्वतोरूपेण मुक्त होते हैं अर्थात् परमव्योममें प्रवेश करते हैं। इस तमः को परामृत कहनेका हेतु है—प्रधान इत्यादि चौबीस तत्त्वोंका मूल कारण, इसलिए पर अर्थात् श्रेष्ठ एवं अमृत अर्थात् अविनश्वर मूल प्रकृति नामक तमः से।

'शाब्दज्ञानन्तु वैराग्यमिव तत् परिकरभूतम्' इति वैराग्य जिस प्रकार ब्रह्मविद्याका अङ्ग है, उसी प्रकार शाब्दबोधात्मक ज्ञान विद्याका अङ्ग हैं *'तच्छ्रदधाना मुनयः'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतोक्त है। *'वदन्ति तत्तत्त्वविदः'* इत्यादि (श्रीमद्भा॰ १/२/११) पूर्वमें कथित जो एक ज्ञानैकरस अद्वय परमतत्त्व श्रीहरि हैं—श्रद्धावान मुनि ज्ञानवैराग्यसे युक्त श्रवणलब्ध भक्ति द्वारा उनका अपने चित्तमें दर्शन करते हैं। *'ननु कायवाङ्मनोभिरित्यादि'*—यहाँ आपत्ति है कि—पण्डितगण-स्मृति एवं अनुभवका पार्थक्य स्वीकार करते हैं अर्थात् उन दोनोंको पृथक् मानते हैं तो इनमे जो संस्कारजन्य ज्ञान है, वह स्मृति है और स्मृतिसे भिन्न ज्ञान अनुभूति है। ऐसा होनेपर ध्यान अनुभूति किस प्रकारसे होगा? ध्यान तो स्मृति है। यह यदि कहते हो तो इसके उत्तरमें कहते हैं—भक्ति अनुभूतिका ही स्वरूप है, यह केवल अनुभवकारीकी इन्द्रियकी वृत्तिके सहित अभेद द्वारा श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरणादि रूपोंमें प्रकाशित होती है। चित्-सुखात्मक मूर्त्तिके नख, केश इत्यादि अङ्गवत्ताके समान 'यह श्रुतिके आधारपर ही स्वीकृत होता है क्योंकि वह चित्सुखमूर्त्ति अचिन्तनीय वस्तु है'॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्मविद् व्यक्तिका समस्त कर्मोंमें ब्रह्मारूपमें वरण विहित होनेसे (ब्र॰सू॰ ३/४/६) सूत्रमें विद्याको कर्माङ्ग कहकर जिस पूर्वपक्षी मतकी स्थापना की गयी थी, उसका प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार खण्डन करते हुए कहते हैं कि इस स्थलपर मात्र वेदाध्ययनमें निष्ठ व्यक्तिको ही ब्रह्मारूपमें वरण करनेकी बात है, ब्रह्मज्ञके विषयमें नहीं कहा गया है। इसीलिए विद्याको कर्माङ्ग नहीं कहा जा सकता। अर्थज्ञान-पर्यन्त जिस भागका (पूर्व काण्डका) अध्ययन कर्मानुष्ठानका उपयोगी है, उतने अध्ययनका सम्पादन कर लेनेवाले व्यक्तिका अधिकार कर्ममें हो जाता है, उपनिषद भागका अध्ययन अपेक्षित नहीं, क्योंकि वह कर्मनुष्ठानका अनुपयोगी है। इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्य एवं टीकामें देखनी चाहिये।

संक्षेप रूपसे यह कह सकते हैं कि श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्यमें कहा है कि इस स्थलपर तैत्तिरीय-श्रुतिके मतमें *'ब्रह्मिष्ठः ब्रह्मा'* कहनेपर वेदार्थपर है, परतत्त्वार्थपर नहीं; क्योंकि

जिन्होंने परतत्त्वको अधिगत (प्राप्त) कर लिया है, वे ही नैष्कर्म्य प्राप्त करते हैं। पूर्वपक्षवादी यदि कहें कि वेदार्थ-ज्ञानहीनके लिए तो कर्माधिकार भी हो नहीं सकता, इसलिए वेदार्थज्ञान कहनेसे आत्मज्ञान अवर्जनीय (वर्जन किये जाने योग्य नहीं) है। विद्याको कर्माङ्ग कहा जाता है, इसके उत्तरमें कहा गया है कि वेद-विषयमें मात्र शाब्द-बोध उत्पन्न होनेपर ब्रह्मज्ञत्व नहीं होता बल्कि ब्रह्मको अनुभव करनेसे ही वे ब्रह्मज्ञ कहे जाते हैं। शाब्दज्ञानसे उपासना सम्पूर्ण रूपसे पृथक् है। इसलिए भक्ति और अनुभव पदोंसे वाच्य विद्या ही पुरुषार्थका हेतु है। वैराग्य जिस प्रकार भक्तिका परिकर है, साक्षात् भक्ति नहीं—इसी प्रकार शाब्द-ज्ञान भी विद्याका अङ्ग-विशेष है।

मुण्डकोपनिषदमें है—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थः
संन्यासयोगाद्यतशः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताःपरिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मु॰ ३/२/६)

अर्थात् परमेश्वरके साक्षात्कारपयोगी साधन क्रमानुसार दिखाते हैं—मुमुक्षु व्यक्ति पहले वेदान्त-शास्त्र-प्रतिपाद्य विज्ञान द्वारा परमपुरुषार्थका निर्धारण करेंगे, तत्पश्चात् उसे प्राप्त करनेके लिए समस्त विषयोंसे वैराग्यरूप संन्यास ग्रहण करेंगे, परमेश्वरमें एकान्तनिष्ठारूप योग द्वारा शुद्धचित्त होंगे, इस प्रकारसे हो जानेपर वे यत्नवान् साधकगण देहावसान होनेके बाद ब्रह्मधाममें अमृतस्वरूप मोक्ष प्राप्त करके संसारसे विमुक्त होंगे।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/१२)

भजनीय वस्तुमें सेवन-धर्म ही श्रौतपथ है। अप्राकृत वस्तुमें सुदृढ़ एवं निश्चय विश्वाससे युक्त मुनि (कीर्त्तनकारी) शास्त्र-श्रवणसे सुकृति प्राप्त करते हैं। इससे वे सम्बन्ध-ज्ञानसे युक्त हो जाते हैं तथा हृदय

विषय भोगोंसे रहित शुद्ध हो जाता है। वे श्रौतपथके सेवनके फलसे अपने शुद्ध हृदयरूप वृन्दावनमें भक्तिका आश्रय करके भगवान्‌में ही परमात्मा और ब्रह्मरूप तत्त्व-वस्तुकी उपलब्धि करते हैं।

तथा,

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥

(श्रीमद्भा० ११/२०/३१)

अर्थात् इसीलिए मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न योगीके लिए भक्तियोगके अतिरिक्त इस संसारमें ज्ञान और वैराग्य परमार्थ साधनके लिए उपयोगी नहीं हैं।

श्रीशङ्कराचार्य भी इस सम्बन्धमें कहते हैं कि जिन्होंने वेदका अध्ययनमात्र ही किया है और जिन्हें अभी ब्रह्मज्ञान हुआ नहीं है, उनके लिए ही कर्मका प्रयोजन है।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार इस प्रकार है—

छान्दोग्य-वर्णित—*'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य'* (छा० ८/१५/१) वाक्यमें केवल अध्ययन करनेवाले व्यक्तिके सम्बन्धमें ही कर्मका विधान किया गया है। मात्र अध्ययन-विधि ही तो मनुष्यको वेदार्थ-बोधमें प्रवृत्त करती हो—यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि अग्नि इत्यादि ग्रहणके समान यह अध्ययन शब्द भी अक्षर-राशि ग्रहणमात्रमें ही पर्यवसित होता है। (अक्षर-राशिके अभ्यासको वेदाध्ययन कहते हैं, अर्थज्ञान भी हो जाता हो—यह निश्चित नहीं है) अधीन-वेद अर्थात् वेदाध्ययनसे कर्म और उसके फलका निर्देश प्राप्त होता है। कर्म और उस कर्मफलके निर्णयके लिए वेदार्थ-विचारमें मनुष्यकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसके बाद ही कर्मफलार्थी कर्ममें और मोक्षार्थी ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि विद्या कर्माङ्ग नहीं है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'कस्याधिकारः? इत्यत आह, अवैष्णवस्य वेदेऽपि ह्यधिकारो न विद्यते। गुरुभक्तिविहीनस्य शमादिरहितस्य च। न च वर्णवरस्यापि तस्मादध्ययनान्वितः। ब्रह्म-ज्ञाने तु वेदोक्त ह्याधिकारी सतां मतः इति

ब्रह्मतर्के। पठेद्वेदानथार्थानधीयीताथ विचार्य ब्रह्मविन्देदिति च कौषायण श्रुतिः।' अर्थात् यदि सभीका ज्ञानाधिकार न रहे तो किसका ज्ञानाधिकार होता है? इस आशङ्कापर कहते हैं कि ब्रह्मतर्कमें उल्लेख है कि वर्णश्रेष्ठ होकर भी यदि विष्णुभक्ति नहीं रहती और साथ ही गुरुभक्ति विहीन और शमादि वर्जित रहता है तो ऐसे व्यक्तिका वेदमें ज्ञानाधिकारका निषेध है। अतएव जो अध्ययन-तत्पर, विष्णुपरायण, भगवत्-चिन्तनशील गुरुभक्तिशाली और शमदमादि-गुणवान हैं—वे ही ज्ञानाधिकारी हैं—यह साधुओंका मत है। कौषायण-श्रुतिसे भी जाना जाता है कि जो व्यक्ति वेदपाठ करते हैं, वे उसके अर्थानुसन्धान द्वारा यह विचार करते हैं कि वे ब्रह्मको जान सकते हैं। अतएव जाना जाता है कि जो विष्णुपरायण होकर वेदका अध्ययन करते हैं, वे ही ब्रह्मविद्या प्राप्तिके प्रकृत अधिकारी हैं।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी है—

'आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य (छा॰ ८/१५/१) *इत्यत्र त्वध्ययन मात्रवतः कर्म विधीयते।'*

अर्थात् वेदका अध्ययन कर आचार्य कुलसे ... यहाँ जिसने विद्याका केवल अध्ययनमात्र किया है, अनुष्ठान नहीं, उसीके लिए ही कर्मका विधान है॥ १२॥

अवतरणिका भाष्य—नियमाच्चेति प्रत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और पूर्वपक्षीने जो श्रुतिके बलपर कहा था कि विद्वानका जीवन-पर्यन्त कर्मानुष्ठान नियमित है जैसे कि ईशोपनिषदमें है—*'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'*—इसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि—

सूत्र—नाविशेषात्॥ १३॥

सूत्रार्थ—'न' यावज्जीवन कर्मानुष्ठान कहनेवाली श्रुति द्वारा विद्वानको नियमबद्ध नहीं किया जा सकता; क्यों? 'अविशेषात्' इस श्रुतिके प्रामाण्य-विषयमें 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादि श्रुतिका अपेक्षा-वैशिष्ट्य (प्रामाण्य-वैशिष्ट्य) नहीं है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यह श्रुति विद्वानके लिए ज्ञानसे पृथक् कर्मानुष्ठानका यावज्जीवन निर्वाह करनेका उपदेश देती है पर उक्त श्रुतिमें ऐसा कोई विशेष नियम नहीं बताया गया है जैसा कि पूर्वपक्ष समझता है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—यावजीवं विदुषः कर्मानुष्ठानं तया श्रुत्या नियन्तुमशक्यम्। कुतः? अविशेषात्। *"न कर्मणा न प्रजयाधनेन त्यागेनैके नामृतत्वमानशुः"* (महाना॰ १०/५ एवं कै॰ १/३) इति कैवल्य (तैत्तिरीयक) श्रुत्यपेक्षया तस्याः प्रामाण्ये विशेषाभावात्। आश्रमभेदेन तु श्रुतिद्वयं व्यवतिष्ठते॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्मज्ञानीका यावज्जीवन कर्मानुष्ठान *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'* इत्यादि श्रुतिके बलपर नियमित नहीं किया जा सकता। कारण क्या है? *'अविशेषात्'* क्योंकि उक्त श्रुति—*'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः'* कर्म द्वारा, सन्तान द्वारा, धन द्वारा अमृतत्व प्राप्त नहीं होता, एकमात्र त्याग द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है—इस श्रुतिसे पूर्वोक्त कर्मानुष्ठान-प्रामाण्य-विशेषका विशेषत्व प्राप्त नहीं होता है। तब दोनों श्रुतियोंका विषय क्या होगा? तो इसके उत्तरमें कहते हैं आश्रम-भेदसे दोनों श्रुतियोंकी अर्थात् कर्म-त्याग और यावज्जीवन कर्मानुष्ठानकी व्यवस्था माननी होगी॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—नेति। न कर्मणेति। कर्मणा श्रौतस्मार्त्तेन प्रजया पुत्रादिना धनेन दैवेन मानुष्येण च वित्तेन त्यागेन कर्मादि सर्वपरिहारेण संन्यासेन नैरपेक्ष्येण च आनशुरानशिरे प्रापुरित्यर्थः। एके केचिन्महत्तमाः। तस्या इति। कुर्वन्नेवेती-शावास्योपनिषद्गतश्रुतेः प्रामाण्ये आधिक्यविरहादित्यर्थः। आश्रमभेदेनेति। गृहिविदुषां यज्ञादिकर्माचारः सार्वदिकः, न्यासिनां निरपेक्षाणां च स हेय इति शास्त्रद्वय-व्यवस्थेत्यर्थः॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—*'नाविशेषात्'* इस सूत्रमें। *'न कमर्णेत्यादि'* श्रुतिका अर्थ इस प्रकारका है—कर्मणा अर्थात् श्रौतस्मार्त्त कर्म द्वारा, प्रजया—पुत्रादि द्वारा, धनेन—दैव एवं मानुष्य सम्पद् द्वारा अमृतत्व प्राप्त नहीं होता किन्तु 'त्यागेन' कर्म इत्यादि त्याग द्वारा अर्थात् संन्यास द्वारा और समस्त वस्तुओंमें आकाङ्क्षा-त्याग द्वारा, अमृतत्वम्-मुक्ति, आनशुः—वैदिक परस्मैपद, आनशिरे यह समीचीन है—इसका अर्थ प्राप्त है। एके—कोई-कोई

महान व्यक्तिगण, *'तस्याः प्रामाण्ये विशेषाभावात्'* इतिमें तस्याः का अर्थ है—*'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'* इस ईशोपनिषदकी श्रुतिके प्रामाण्य-विषयमें कोई आधिक्य न रहनेके कारण। *'आश्रमभेदेन तु'* इत्यादि—जो गृही विद्वान है उनके यज्ञादि कर्मानुष्ठान सर्वदा ही होंगे किन्तु संन्यासाश्रमियोंके और निरपेक्ष साधकोंके वे यज्ञादि कर्माचरण परित्यज्य हैं—इस प्रकारसे इन दोनों श्रुतियोंके विषय-भेदमें व्यवस्था है। यही तात्पर्य है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी ईशोपनिषदके *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'* (ईश॰ २) वाक्यके आश्रयसे सिद्धान्त करते हैं कि ज्ञानीका कर्मानुष्ठान यावज्जीवन नियमित है (ब्र॰सू॰ ३/४/७)—इसके प्रतिवादमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि—*'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके-नामृत्वमानशुः'* इत्यादि श्रुतिके बलपर पूर्वोक्त श्रुतिके प्रामाण्यमें विशेषत्व नहीं है किन्तु आश्रम-भेदसे कर्म-त्याग और कर्मानुष्ठानकी व्यवस्था है। जो गृही विद्वान हैं, उनका यज्ञादि कर्मानुष्ठान सर्वदा ही होगा किन्तु संन्यासाश्रमियों और निरपेक्ष साधकोंके लिए ये यज्ञादि कर्माचरण परित्यज्य होंगे—इस प्रकारसे दोनों श्रुतियोंकी विषय-भेदसे व्यवस्था है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

तावत् कर्म्माणि कुर्वीत न निर्व्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२०/९)

कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं, उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिये, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग आदि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्त्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

पूर्वे आज्ञा-वेदधर्म, कर्म, योग, ज्ञान।
सब साधि अवशेष आज्ञा बलवान्॥

एइ आज्ञा बले भक्तेर श्रद्धा यदि हय।
सर्वकर्मत्याग करि से कृष्णेर भजय॥
(चै०च०म० २२/५९-६०)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा—हे सनातन! यद्यपि श्रीभगवान्‌ने वेदधर्म, कर्म, योग एवं ज्ञानादिकी अनुज्ञा दी है और गीताके सतरहों अध्यायोंमें इनका उपदेश करके अन्तिम अठारहवें अध्यायमें सर्वस्वको साधित करनेवाला सर्वगुह्यतम उपदेश दिया है। अतः भगवान्‌के इस सर्वोपरि उपदेशपर साधकको यदि श्रद्धा उत्पन्न हो जाय तो उसे अन्याभिलाषित शून्य होकर श्रीकृष्णका भजन करना चाहिये।

आचार्य श्रीशङ्कर कहते हैं—

ब्रह्मज्ञानीको कर्म करना होगा—ऐसा कुछ विशेष रूपसे कहा नहीं गया है।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—

इशोपनिषदके पूर्वोक्त वाक्यमें आत्मवेत्ताको ज्ञानसे पृथक् करके कर्मानुष्ठानमें नियमित किया गया है—यह कहना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उपदेशमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है। फलसाधनभूत स्वतन्त्र कर्मानुष्ठान-विषयमें उसका नियोग (आदेश) होगा, ऐसा कोई नियम भी नहीं है। कर्मको विद्याका अङ्ग कहनेपर उपपत्ति हो सकती है (बात बन सकती है) क्योंकि विद्वान व्यक्तिकी भी उपासनाके अङ्गभूत कर्मानुष्ठान करनेमें कोई असङ्गति नहीं है। कहा जा सकता है कि ब्रह्मविद्याका ही यह सामर्थ्य है कि विद्वान यदि अपने पूर्वाभ्यासके आधारपर जन्म भर कर्म करता रहे, तब भी उसमें किसी प्रकारका बन्धन नहीं हो सकता—*'न कर्म लिप्यते नरे।'* (ईश० २)

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

देवता आदि किसीका भी समान रूपसे अधिकार नहीं है कौण्डिन्य-श्रुति कहती है पुरुषार्थ साधन अर्थ, धर्म, ज्ञान और मोक्ष धर्म उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं और मनुष्य, ऋषि एवं देवगण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अधिकारी होते हैं।

श्रीनिम्बार्कने भी कहा है—

नियमवाक्यस्यापि नियमेन विद्वद्विषयकत्वायोगात्।

अर्थात् 'यावज्जीवम्' श्रुतिके द्वारा विद्यामें कर्माङ्गत्वका नियम नहीं किया जा सकता क्योंकि श्रुति अज्ञानी तथा विद्वान दोनोंके लिए ही सामान्यपरक है, अतः इसे नियमित रूपसे विद्वद् विषयकत्व नहीं कहा जा सकता। अर्थात् यह श्रुति मोक्ष मार्गके महात्माके लिए ही नहीं, साधारण जीवोंके लिए भी है॥ १३॥

अवतरणिका भाष्य—एवं चोद्यं परिह्यत्य तद्वाक्यार्थमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकारसे आपत्तियोंका परिहार करनेके बाद यावज्जीवन कर्मानुष्ठान विधायक-वाक्यका तात्पर्य बता रहे हैं—

सूत्र—स्तुतयेऽनुमतिर्वा॥ १४॥

सूत्रार्थ—'वा'—शब्द अवधारणके लिए है—'स्तुतये'—विद्याकी प्रशंसाके लिए ही 'अनुमति'—यावज्जीवन कर्मानुष्ठानकी अनुमति है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—यावज्जीवन कर्मानुष्ठानका अनुज्ञान (कर्म विषयक अनुमति) विद्याकी प्रशंसाके लिए ही है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—वेत्यवधारणे। विद्यास्तुत्यर्थमियं यावज्जीवं कर्मानुष्ठानानुमतिः ईशावास्यमिति तत्प्रकरणात्। ईदृशी खलु विद्या यन्महिम्ना सर्वदा कुर्वन्नपि कर्म न तेन विद्वान् विलिप्यते इति सा स्तुयते। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्तीतिवाक्यशेषोऽपि तथाह। तथाच कर्माङ्गं विद्येति निरस्तम्॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त वा शब्द अवधारणार्थ अर्थात् निश्चयार्थ है। विद्याकी प्रशंसाके लिए ही इस यावज्जीवन कर्मानुष्ठानका आदेश है। इसका कारण है कि *'ईशावास्यमिदं सर्वम्'*—यह समस्त विश्व परमेश्वरके द्वारा अधिष्ठित है। इस प्रकरणमें इस श्रुतिको ग्रहण किया गया है—इसलिए इससे ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा ही जानी जायेगी। सारार्थ यह है कि यह विद्याका एक प्रकार है, जिसके प्रभावसे सर्वदा कर्मानुष्ठान करनेपर भी ब्रह्मविद् इससे (कर्मानुष्ठानसे) लिप्त नहीं होता—यही विद्याकी प्रशंसा है। इस विषयमें शेष (अन्तिम) वाक्य भी इसी प्रकारसे कहा गया है यथा—*'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति।'* इस प्रकार कर्म करते रहनेपर भी तुममें (ब्रह्मविद्में) कर्मलेप-अभावसे अतिरिक्त अन्य प्रकार अर्थात् कर्मलेप नहीं होता अर्थात् इस प्रकार

कर्मानुष्ठायी व्यक्तिका कर्मबन्धन नहीं होता—इसी प्रकार कर्म कर्त्तामें लिप्त नहीं होता। अतएव विद्या कर्माङ्ग है—यह मत खण्डित हुआ॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—स्तुतये इति। एवं त्वयीत्यस्य सिद्धान्तार्थोह्यम्। एवं कर्म कुर्वति त्वयि इतोऽकर्मलिप्तत्वादन्यथा तल्लिप्तत्वं नास्तीति॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार— *'स्तुतयेऽनुमतिर्वा'* इस सूत्रमें। *'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति'*—इस वाक्यशेषका सिद्धान्त अर्थ इस प्रकारसे है *'एवम्'*—इस प्रकारसे तुम (ब्रह्मविद्) कर्म करनेपर भी तुममें, 'इतः' इस कर्मालेपाभावसे अन्यथा—अन्य प्रकार अर्थात् कर्मलेप होता नहीं॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त वादका खण्डन करके अब इस श्रुति-वाक्यका तात्पर्य बताते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि यावज्जीवन कर्मानुष्ठानकी अनुमति विद्याकी स्तुति मात्रके लिए है।

भाष्यकार विद्याभूषण प्रभु कहते हैं कि विद्याकी ऐसी महिमा है कि सर्वदा कर्मानुष्ठान करनेपर भी विद्वान व्यक्तिको विद्याकी सामर्थ्यके कारण कोई कर्म लिप्त नहीं कर सकता। *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'* श्रुतिके अन्तिम चरणमें देखा जाता है *'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।'* (ईश॰ २) अतः इससे पूर्वपक्षीका मत खण्डित हुआ है।

'कुर्वन्नेह कर्माणि' श्रुतिका सम्पूर्ण तात्पर्य इस प्रकारसे है—हे जीवः तुम चित्तशुद्धिके लिए आपाततः शास्त्रविहित श्रीहरि-सेवानुकूल वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए जीवन-यापन करनेके अभ्यस्त हो जाओ—इस प्रकारसे सौ वर्ष जीवित रहकर भी तुम कर्मकाण्डमें लिप्त नहीं हो सकोगे, बल्कि शास्त्रविहित अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धिक्रमसे अनन्यभक्तिके अधिकारी होकर आसक्तिरहित सम्बन्ध-सहित श्रीकृष्णनुशीलन करते-करते कृष्णसेवासुखतात्पर्य-विशिष्ट केवल हरिसेवामय जीवन व्यतीत कर सकोगे और जीवनके अन्तमें हरिलोकमें नित्यसेवा प्राप्त कर सकोगे।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा॥
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहंकुर्य्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/११/८-९)

अर्थात् हे उद्धव! ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति संस्कारके कारण देहके भीतर रहकर भी स्वप्नसे जगे हुए व्यक्तिकी भाँति देहके सुख-दुःख फलोंका भोगी नहीं है; और अविद्या-ग्रस्त बद्धजीव स्वरूपतः देहगत सुख और दुःखरूपी फलोंका भोगी न होनेपर भी स्वप्न देखनेवाले व्यक्तिकी भाँति देहके सुख और दुःखका भोगी हुआ करता है। विषयोंमें आसक्तिरहित विद्वान व्यक्ति गुणोंसे उत्पन्न इन्द्रियोंके द्वारा गुणोंसे उत्पन्न शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेपर भी 'मैं ग्रहण कर रहा हूँ' इस प्रकार नहीं समझता।

श्रीरामानुजके भाष्यमें भी यही कहा है—

'वा-शब्दोऽवधारणार्थः' 'ईशावास्यामिदं सर्वम्' इति विद्या प्रकरणात् विद्यास्तुतये सर्वदा कर्मानुष्ठानानुमतिरियम्। विद्या माहात्म्यात् सर्वदा कर्मकुर्वन्नपि न लिप्यते कर्मभिः—इति हि विद्या स्तुता भवति। वाक्यशेषश्चैवमेवं दर्शयति 'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' (ईश॰ २) *इति। अतो न कर्माङ्ग विद्या।*

अर्थात् वा शब्द अवधारण अर्थमें प्रयुक्त है। 'यह सब कुछ ईश्वरसे व्याप्त है' इत्यादि विद्याके प्रकरणसे—विद्याकी प्रशंसाके व्याजसे सदा कर्मानुष्ठानकी अनुमति दी गयी है। विद्याके माहात्म्यसे सदा कर्म करते हुए भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता—इस प्रकार विद्याकी स्तुतिकी गयी है। इसी प्रकरणके अन्तिम वाक्यसे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है—तुम भी यदि इस प्रकारसे विद्यामें स्थित रहोगे तो कोई भी कर्म तुम्हें लिप्त नहीं कर सकेगा। इससे स्पष्ट होता है कि विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी है—*विद्यास्तुतये विदुषः 'कुर्वन्नमेवेह कर्माणि' इति कर्मानुज्ञा क्रियते।* अर्थात् ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए (विशेषताके

लिए) ही विद्वानको कर्मोंकी अनुज्ञामात्र है। 'कुर्वन्' इति श्रुति-विद्याके सामर्थ्यके द्योतनके लिए है। (ऐसा साधक कर्मत्यागीसे अधिक स्तुत्य है)॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—एवं विद्यास्वातन्त्र्यमभिधायेदानीं महिमातिशयादपि तदुच्यते। *"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्"* इति वाजसनेयके श्रूयते। तत्र विद्याविशिष्टानां यथेष्टाचारः स्यान्न वेति संशये यथेष्टाचारे विहितत्यागेन प्रत्यवायसम्भवात् न स्यादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार विद्याके मुक्तिदान विषयमें स्वातन्त्र्य अर्थात् कर्म-निरपेक्षत्व निर्देशकर अब विद्याकी महिमाकी अतिशयताके कारण भी उसके स्वातन्त्र्यको कहते हैं। वाजसनेयक-श्रुतिमें कहा है—*'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्'* अर्थात् ब्रह्मविदोंकी यह नित्य (स्थिर) महिमा है कि यह (महिमा) कर्म द्वारा वर्द्धित नहीं होती है और कर्म न करनेपर भी अल्प (कम) नहीं होती। इस स्थलपर विद्याविशिष्टोंके कर्मत्याग अथवा कर्मवर्जनमें उनका यथेच्छाचार होगा कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि वे यादृच्छिक आचार करते हैं अर्थात् स्वेच्छासे कर्मत्याग करते हैं तो विहित कर्मके परित्यागवश प्रत्यवाय सम्भव है, अतएव यदृच्छाचार उचित नहीं है, इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—कर्मनिरपेक्षैव विद्या फलप्रदेति प्रागुक्तम्। तन्न युक्तम्। विद्यावद्भिः कर्मसु त्यक्तेषु तत्त्यागजैः प्रत्यवायैर्विद्याविम्लानिप्रसङ्गात् पुनः प्रत्यवायप्रहाणाय कर्मणामवश्यानुष्ठेयत्वाच्च। तस्मात् कर्मसमुच्चितैव सा फलदेत्याक्षिप्य समाधेराक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। एवं विद्येत्यादि। एष इति। नित्योऽबाधितः महिमा प्रभावः ब्राह्मणस्य ब्रह्मनिरतस्य विदुषः यस्मात् कर्मणानुष्ठितेन न वर्द्धते नाधिको भवति। अकृतेन तेन नो कनीयान् अल्पिष्ठो न भवति। किन्तु विद्यया सर्वदैकरसो दीप्यत इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि कर्म-निरपेक्ष रूपसे ही विद्या मुक्तिकी दायक है किन्तु यह तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि ब्रह्मविद्गण यदि कर्मत्याग करते हैं, तब उस कर्मत्यागके कारण प्रत्यवाय द्वारा विद्याकी हानि होगी, पुनः प्रत्यवाय

नाशके लिए कर्म अवश्य अनुष्ठेय होंगे, अतएव कर्म-सहित विद्या ही मुक्तिदायक है, इस आक्षेपके अनन्तर उसके समाधानवश इस अधिकरणमें आक्षेप-सङ्गति ज्ञातव्य है। *'एवं विद्यास्वातन्त्र्यमभिधायेत्यादि।'* *'एष नित्यो महिमा'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—नित्य—अबाधित (बाधारहित), महिमा—प्रभाव, ब्राह्मणस्य—ब्रह्मनिष्ठ विद्वानका क्योंकि कर्मानुष्ठान द्वारा ब्रह्मज्ञ अधिक होता नहीं और कर्मत्यागसे अल्पतर भी होता नहीं किन्तु विद्याबलसे वह ब्रह्मविद् सर्वदा एक रूपसे ही दीप्ति प्राप्त करता है।

कामकाराधिकरणम्

सूत्र—कामकारेण चैके॥ १५॥

सूत्रार्थ—'च'—और 'कामकारेण'—लोकानुग्रहके लिए यदि स्वेच्छापूर्वक कर्मानुष्ठान होता है, तो उससे जिस गुण या दोषकी उत्पत्ति होगी—उसका सम्पर्क अथवा लेप ब्रह्मवेत्ताको नहीं होगा। इसी अर्थको अभिप्राय करके 'एके' कतिपय शाखाध्यायीगण 'एष नित्यो महिमा' इत्यादि श्रुतिका पाठ करते हैं, अतएव कर्मानुष्ठान अथवा कर्मवर्जन—इस यादृच्छिक आचारमें ब्रह्मानुभवकारीका कोई प्रत्यवाय नहीं होता॥ १५॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मवेत्ता लोकानुग्रहके लिए ही कर्मानुष्ठान करते हैं, उनकी गुण-दोषमें प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं है। अतः कुछ शाखाध्यायी पाठ करते हैं कि विद्वानोंकी महिमातिशयताके कारण उनमें प्रत्यवायका सम्बन्ध नहीं रहता॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—कामकारेण लोकानुग्रहफलेन स्वेच्छापूर्वककर्मानुष्ठानेन जायमान-योर्गुणदोषयोः सम्बन्धो ब्रह्मविदि न स्यादित्येतदर्थिकामेष नित्यो महिमेत्यादिश्रुतिमेके शाखिनो यत् पठन्त्यतः कामचारेऽपि प्रत्यवायास्पर्शात् स स्यादिति। ब्राह्मणो ब्रह्मानुभवी। अत्र विहिते कर्मण्यनुष्ठिते न गुणसम्बन्धस्त्यक्ते च तस्मिन् न दोषसम्बन्धोऽपि। पुष्करपत्रे वारिविन्दोरिव तत्र कर्मणोऽश्लेषात् प्रदीप्तवह्नौ तृणमुष्टेरिव दोषस्य भस्मीभावाच्च। अतः पुरुप्रभावा सेति॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—कामकार द्वारा अर्थात् जिससे लोगोंका उपकार होता है, ऐसे लोकसंग्रह हेतु स्वेच्छापूर्वक कर्मानुष्ठान द्वारा जो गुण-दोष उत्पन्न हो सकते हैं—उन गुण दोषोंका सम्पर्क अथवा लेप

ब्रह्मविद्में नहीं होगा—इस अर्थमें *'एष नित्यो महिमा'* इत्यादि श्रुतिका कोई-कोई वेदशाखाध्यायीगण पाठ करते हैं। अतएव कामचारमें भी किसी प्रत्यवायका स्पर्श न होनेके कारण यह यथेष्टाचरण हो सकता है। ब्राह्मण शब्दका अर्थ है—ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला। विहित कर्मका अनुष्ठान किये जानेपर भी जायमान गुणका ब्रह्मविद्में कोई सम्पर्क नहीं रहता और विहित कर्मका त्याग करनेपर भी कोई प्रत्यवाय स्पर्श नहीं करता; पद्म-पत्रमें जलकी बिन्दुका जैसे संस्पर्श नहीं होता, ब्रह्मवेत्तामें उसी प्रकार कर्मका प्रश्लेष नहीं होता और जिस प्रकार प्रदीप्त अग्निमें निक्षिप्त (फेंके गये) मुट्ठी भर तृण तत्क्षण ही भस्मीभूत हो जाते हैं—उसी प्रकार उसके कर्म भी भस्मीभूत हो जाते हैं। इसी कारण कहते हैं कि विद्याका महत् प्रभाव है अर्थात् ब्रह्मवेत्ताकी ऐसी महिमा है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—कामकारेणेति। न स्यादिति। स यथेष्टाचारः॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार— *'कामकारणेति'* सूत्रमें। *'प्रत्यवायस्पर्शात् स स्यादिति'* में 'सः' का अर्थ है—वह यथेष्ठाचरण हो सकता है॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकारसे विद्याके मुक्तिदान-विषयमें स्वातन्त्र्यका निर्देश करके उसकी अतिशय महिमासे भी उसके स्वातन्त्र्यका वर्णन करते हुए *'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'*—इस वाजसनेयक-श्रुतिको उद्धृत किया है। इस स्थलपर एक संशय होता है कि विद्यासम्पन्न व्यक्ति यदि कर्मत्याग करते हैं, तो ऐसा होनेपर यथेच्छाचार होगा कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि विद्वान व्यक्ति यथेच्छाचारवशतः विहित कर्मका त्याग करते हैं तो प्रत्यवायकी सम्भावना है। इसलिए यथेच्छाचारी होना उचित नहीं है। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि ब्रह्मविद् व्यक्तिकी मात्र लोकके प्रति अनुग्रहपरताके कारण ही स्वेच्छापूर्वक कर्मानुष्ठान द्वारा गुण एवं दोषके साथ कोई सम्बन्ध रहता नहीं है। यही पूर्वोक्त श्रुतिका तात्पर्य है।

भाष्यकार कहते हैं कि पद्म-पत्रमें जलबिन्दु जिस प्रकार संश्लिष्ट नहीं होता, ब्रह्मज्ञ पुरुषका भी विहित अनुष्ठानमें गुण-सम्बन्ध और तदननुष्ठान (विहित अनुष्ठानके न रहनेमें) दोष-सम्बन्ध रहता नहीं

है। ब्रह्मज्ञकी और भी एक महिमा है कि प्रदीप्त अग्निमें निक्षिप्त तृण-मुष्टिके समान सारे दोष भस्मीभूत हो जाते हैं। इस रूपमें ब्रह्मज्ञ पुरुषकी अतिशय महिमा कहे जानेके कारण ऐसे विद्वानकी कामचारमें भी प्रत्यवायकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

श्रीमद्भागवतमें है—

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३६)

अनासक्त, सर्वत्र समदर्शी, मेरी एकान्त भक्तिसे युक्त, मायातीत भगवत्-वस्तुको प्राप्त कर लेनेवाले भक्तोंके लिए शास्त्र-विहित कर्मों या निषिद्ध कर्मोंके लिए पाप या पुण्य सम्भव नहीं होता।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी श्रीमन्महाप्रभुने कहा है—

शुन विप्र, महा अधिकारी येवा हय।
तवे तार दोषगुण किछु ना जन्मय॥
(चै॰च॰अ॰ ६/२६)

अर्थात् हे विप्र सुनो! जो महान अधिकारी होते हैं, उनमें दोष या गुणोंका उदय नहीं होता।

श्रीरामानुजके भाष्यका भी यही सार है—

और भी एक बात है कि किसी-किसी वेदशाखामें ब्रह्मविद्यानिष्ठ व्यक्तिके लिए गार्हस्थ्य-त्यागका (गृहस्थकर्मोंके त्यागका) उपदेश दिया गया है *'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः'* (बृ॰आ॰ ६/८/२२)—मैं सन्तानसे क्या प्राप्त करुँगा, इससे मेरे अभीष्ट लोककी प्राप्ति नहीं हो सकती—इस वाक्यसे विरक्त विद्वानके स्वेच्छानुसार गार्हस्थ्य-कर्म-त्यागके उपदेश द्वारा यही प्रदर्शित किया है कि विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी है—*'कामचाराः कामभक्षाः कामवादाः कामेनैवेमं लोकमुत्सृज्याथ परात् परमीयुरनारम्भणमिति चक्रे पठन्ति।'*

अर्थात् ज्ञानीका सद्-असद प्रवृत्तिमें कोई विशेषत्व नहीं है। इस कारण उनकी यथेष्ठाचरण विधि सम्भव हो सकती है। यदि

ज्ञानियोंका सत्-असत्-प्रवृत्तिमें वैशिष्ट्य रहता है तो उनकी यथेष्ठाचरण विधि किस प्रकार सम्भव हो सकती है। इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—कोई-कोई शाखाध्यायी (सामशाखा) कहते हैं कि ज्ञानी यथेष्ठाचरण करें, तो भी मोक्ष होता है। अतएव असत्-प्रवृत्ति द्वारा ज्ञानियोंका ज्ञान कुण्ठित होनेसे मोक्ष साधनतामें व्याघात नहीं होता। ज्ञानी इच्छानुसार आचरण करके इच्छानुसार भक्षण करके, इच्छानुसार भाषण करके, इच्छानुसार ही इस लोकको छोड़कर आवागमन रहित परात्पर गतिको प्राप्त करते हैं। ऐसी स्वेच्छाचारिताकी स्पष्ट पोषक श्रुति है जो कि प्रशंसामात्र ही है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी है—*'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) *इत्येके विदुषां स्वेच्छया गार्हस्थ्यत्यागमत एवाभिधीयते।'*

अर्थात् एक शाखावाले विद्वानको स्वेच्छाके अनुरोधसे सन्तानके परित्यागका प्रतिपादन करते हैं। हमें सन्तानकी क्या आवश्यकता है? हमारे लिए तो यह आत्मलोक ही अभीष्ट है अर्थात् कर्मफलादिसे रहित आत्मा ही लोक-फल-पुरुषार्थ हैं अतः यहाँ भी विद्वानोंका स्वेच्छापूर्वक गार्हस्थ्य त्यागमत ही कहा जा रहा है।

श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि ब्रह्मविद्याका ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक फल अनुभवारुढ अर्थात् प्रत्यक्ष है। अतः वह परोक्षफलक (कालान्तरमें प्राप्त फल) कर्मका अङ्ग नहीं हो सकती। अतएव तत्त्ववेत्ताओंने अपनी इच्छासे ही कर्म-फलका त्याग किया है॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—एतमर्थं स्फुटयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसी बातको और विस्तारपूर्वक कहते हैं—

सूत्र—उपमर्दञ्च॥ १६॥

सूत्रार्थ—'च' और 'उपमर्द्दम्'—विद्यासे कर्मोंका, ध्वंस होता है—वह श्रुति और स्मृति प्रदर्शित करती हैं॥ १६॥

सूत्रानुवाद—विद्या द्वारा समस्त कर्मोंका ध्वंस होता है, यह स्मृति एवं श्रुतिका संवाद है इससे भी विद्याकी अतिशयता प्रमाणित होती है॥ १६ ॥

गोविन्दभाष्य—*"भिद्यते हृदयग्रन्थिः"* (मु॰ २/२/८) इत्याद्या श्रुतिः—*"यथैधांसि समिध्दोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्ज्जुन"* इति *"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा"* (श्रीगी॰ ४/३७) इति स्मृतिश्च विद्यया सर्वकर्मविनाशं दर्शयति। तस्माच्च तथा। अत्र सामिभुक्तस्य प्रारब्धस्यापि तया विनाशे जाते तदुत्तरकालिकविहितत्यागो दोषो न स्यादिति न चित्रम्। ननु देहारम्भकस्य कर्मणो भोगं विना विनाशो नाङ्गीकृत इति चेदत्रोच्यते। यद्यपि सर्वाणि कर्माणि निर्दग्धुं विद्या समर्था तथापि तत्सम्प्रदायप्रचारार्थायेश्वरेच्छयैव देहारम्भकं कर्म न निर्दहति। तच्च दग्धपटादिवत् विद्वांसमनुवर्त्तत इति प्रारब्धस्य भोगनाश्यत्ववाक्योपपत्तिः। वक्ष्यति चैवम्। अनारब्धकार्ये एव तू पूर्वे तदवधेरिति॥ १६ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'* अर्थात् विद्वानकी हृदय-ग्रन्थि—अहङ्कार नष्ट हो जाता है, उसके सारे संशय छिन्न हो जाते हैं, इत्यादि श्रुति और *'यथैधांसि समिद्धोऽग्निः ... कुरुते तथा'* अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि समस्त काष्ठको भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानानल समस्त कर्मोंको समूल ध्वंस कर देता है—इस स्मृति-वाक्यमें विद्या द्वारा सञ्चित-प्रारब्ध समस्त कर्मोंका विनाश देखा जाता है। अतएव विद्याका अतिशय अर्थात् श्रेष्ठत्व सिद्ध होता है। यहाँ एक विचारणीय बात यह है कि अर्द्धभुक्त प्रारब्ध कर्मका भी विद्या द्वारा विनाश साधित होनेपर है, उसके परवर्त्ती उत्तरकालमें यदि विहित कर्मका त्याग होता है, तब दोष नहीं होगा, इसमें और आश्चर्य की बात क्या है? यदि कहो, देहारम्भक (जिस कर्मवश देह उत्पन्न होता है) कर्मके भोग बिना विनाश तो स्वीकृत होता नहीं, तब विद्या द्वारा समस्त कर्मोंका ध्वंस होता है—यह बात कैसे कह रहे हो? (भोगके बिना जो प्रारब्धका नाश स्वीकार नहीं किया गया है, उसका तात्पर्य अन्य प्रकारका है।) इस विषयमें कहा है कि यद्यपि विद्या समस्त कर्मोंको दग्ध करनेमें समर्थ है, तो भी विद्वत्-सम्प्रदायके प्रचारके लिए ईश्वरेच्छावश विद्या देहारम्भक कर्मोंको दग्ध नहीं करती अर्थात् वैसा करनेपर सम्प्रदायकी

रक्षा नहीं होती। (विद्यावान् ईश्वरेच्छाके अनुगामी होकर कभी-कभी प्रारब्ध कर्मका नाश नहीं करते हुए उसका भोग करते रहते हैं।) देहारम्भक कर्म दग्ध-वस्त्रादि (जले हुए कपड़े) के समान अथवा भुने चनेकी भाँति विद्वान व्यक्तिका अनुसरण करते हैं। इस प्रकारसे आरब्ध कर्मकी भोगनाश्यत्व-उक्तिके सामञ्जस्यकी रक्षा हुई। इसके बाद *'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः'* सूत्र (ब्र॰सू॰ ४/१/१५) में और भी कहेंगे॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—उपमर्दञ्चेति। भिद्यते इत्यादि। सर्वकर्माणीत्यत्र सञ्चितान्येवा-नारब्धकार्याणीति बोध्यं सामिभुक्तस्येत्यादिभाष्यात्। क्रियमाणानास्त्वविश्लेष एव। तद्यथेह पुष्करपलाश इत्यादि श्रुतेः। अत उक्तं पुष्करपत्रे वारिविन्दोरिवेत्यादि। सामिभुक्तस्येत्यर्द्धभुक्तस्येत्यर्थः। नन्विति। नाङ्गीकृतःशास्त्रार्थनिर्णेतृभिः। न निर्द्दहति किन्तु दहतीत्यर्थः। अनारब्धकार्ये इति। पूर्वसञ्चिते पापपुण्ये अनारब्धकार्ये एव विद्यया विनश्यतो न त्वारब्धकार्ये चेत्यर्थो व्याख्यास्यते॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—*'उपमर्दञ्चेति'* सूत्रमें। *'भिद्यते'* इत्यादि श्रुतिका वर्णन है। *'ज्ञानाग्निः सर्वकमाणि'* इति—सर्वकर्म कहनेसे सञ्चित अनारब्ध कर्म (जिसका कार्य आरम्भ हुआ नहीं) यह जानना होगा क्योंकि सामिभुक्तस्य इत्यादि भाष्यमें वर्णित है। जो समस्त कर्म क्रियमाण हैं, उनका अविश्लेष होता है। इस विषयमें श्रुति कहती है—*'तद्यथेऽपुष्करपलाश'* इत्यादि—पद्मपत्रमें जल लिप्त नहीं होता। इसीलिए कहा गया है—पद्मपत्रमें वारि-विन्दुके निर्लेपके समान इत्यादि। सामिभुक्तस्य अर्थात् अर्द्धभुक्त। *'ननु देहारम्भकस्य कर्मणो भोगं विना विनाशो नाङ्गीकृतः'* इति, नाङ्गीकृतः—शास्त्रार्थ-निर्णयकारीगण स्वीकार नहीं करते। *'न निर्दहति'*—दग्ध नहीं करते, ऐसा नहीं है, दग्ध करते ही हैं। अनारब्धकार्ये, पूर्वे इति—पूर्वसञ्चित पाप-पुण्य, जिनका फल आरम्भ हुआ नहीं, वे ही विनष्ट होते है, इसके अतिरिक्त जो पाप-पुण्य फलदानमें प्रवृत्त हुए हैं—वे विनष्ट नहीं होते, इस प्रकार सूत्रार्थ की व्याख्या होगी॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त विषयको और भी परिस्फुट रूपसे कहनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्याके द्वारा समस्त

कर्म उपमर्द अर्थात् विनष्ट होते हैं—यह बात श्रुति एवं स्मृति तारस्वरसे कहती है।

इस विषयमें श्रुति-प्रमाण है यथा—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मु॰ २/२/८)

अर्थात् कार्य-कारणात्मक परमपुरुषका साक्षात्कार होनेपर संसार-बन्धनके हेतुभूत अविद्यादि कर्मपाश और कर्मवासनाएँ छिन्न हो जाते हैं और ज्ञेय ब्रह्म-विषयक समस्त प्रकारके संशय विनष्ट हो जाते हैं। अविद्या दूर होनेपर तज्जन्य सन्देहोंके नष्ट होनेपर ब्रह्मदर्शी पुरुषके ज्ञानोत्पत्तिके पूर्ववर्त्ती पूर्वजन्मार्जित समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें भी है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/२१)

इस प्रकार आत्माओंकी आत्मा भगवान्के स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सन्देहरूपी रज्जु विदीर्ण हो जाती है और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें और भी पाया जाता है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(श्रीगी॰ ४/३७)

अर्थात् हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि ईंधनको भस्म कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देती है।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार भी यही है—

पुण्य-पापात्मक समस्त सांसारिक दुःख और सुखके मूलीभूत कर्मका उच्छेद ब्रह्मविद्या द्वारा हो जाता है—वेदान्तके प्रत्येक अंशमें ही यह निर्देश है। अतः विद्याकी कर्माङ्गता सिद्ध नहीं होती॥ १६॥

सूत्र—ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि॥ १७॥

सूत्रार्थ—'च' और 'ऊर्ध्वरेतःसु'—जो ऊर्ध्वरेता यति महाब्रह्मविद हुए हैं, उनमें 'हि'—क्योंकि 'शब्दे' इच्छामत (स्वेच्छापूर्वक) कर्माचरण श्रुतिमें देखा जाता है। अतएव विद्या कर्मनिरपेक्ष होनेसे स्वतन्त्र है, यह मानना होगा॥ १७॥

सूत्रानुवाद—परिनिष्ठित ऊर्ध्वरेता महाब्रह्मविद यतियोंका ब्रह्मविद्या प्राप्त होनेपर यथेच्छ कर्माचरण-शास्त्रमें देखा जाता है। अतः विद्या स्वतन्त्र है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—परिनिष्ठितविशेषेष्वेवोर्द्धरेतःसु यतिषु महाविद्येषु यस्मात् यथेच्छं कर्माचारः शब्दे प्रतीयते अतः स्वतन्त्रा विद्येत्यङ्गीकार्यम्। शब्दः खलु बृहदारण्यक-श्रुतिः। *"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः"* (बृ॰आ॰ ३/५/१) इति। निर्विद्य लब्ध्वा। *"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसोयथा कुर्वन्ति भारत। कुर्यात् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्"* (श्रीगी॰ ३/२५) इत्यादि तु प्रतिष्ठितपरिनिष्ठितगृहिविषयम्। तथाच कामचारेऽपि प्रत्यवायास्पर्शो विद्या-महिम्नेति॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—विशेष-विशेष परिनिष्ठितोंमें जो महाविद्यासम्पन्न ऊर्ध्वरेता यति हैं उनके लिए यथेच्छ कर्माचरण शब्द (श्रुति) में प्रतीत होता है, अतएव विद्या कर्मनिरपेक्षा होनेसे मुक्तिदात्री है—यह मानना होगा—उसका स्वातन्त्र्य स्वीकार करना होगा। वह शब्द है—बृहदारण्यक-श्रुति यथा *'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य'* इत्यादि इससे ब्राह्मण ब्रह्मविषयक श्रवण प्राप्त करके मनन द्वारा शुद्धचित्त होकर रहनेकी इच्छा करे, बाल्य अर्थात् मननात्मक ज्ञानबल प्राप्त करके मुनि अर्थात् ध्यानपरायण होवे, उसीमें अवस्थित होवे। बादमें अमौन अर्थात् श्रवण-मनन, मौन अर्थात् ध्यानका अवलम्बन करके अमौन और मौन प्राप्त होनेपर किस प्रकार रहेगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जिस भी प्रकारसे हो—वह (ब्रह्मविद्) इसी प्रकारसे होगा—अर्थात् विहित कर्मका त्याग करके भी समस्त आश्रम धर्मोंके अनुष्ठायी ब्राह्मणके तुल्य होंगे। तात्पर्य यह है कि विद्याके प्रभावसे प्रत्यवायके सम्पर्कसे रहित होकर यति अति पवित्र होता है एवं

ब्रह्म-साक्षात्कार करके प्रकाश पाता है। तब जो श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌की उक्ति है—विद्याहीन व्यक्ति कर्ममें आसक्त होकर जिस प्रकार कर्मानुष्ठान करता है, विद्वान व्यक्ति भी उसी प्रकार लोक-संग्रह करनेके अभिप्रायसे अनासक्त होकर—कर्माचरण करे। तो अब सङ्गति कैसे होगी? इसका उपाय क्या है? वही कहते हैं—विहित कर्मका अनुष्ठान प्रतिष्ठित परिनिष्ठित गृहीके लिए है। इससे यह प्रतिपन्न होता है कि विद्यासम्पन्न व्यक्ति कामचार (इच्छानुसार आचार) करे तो भी प्रत्यवायका स्पर्श उसे नहीं होगा। विद्याकी ऐसी ही महिमा है॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—ऊर्ध्वरेतःस्विति। यतिश्विति। तेश्ववगता विद्या कर्माङ्गमिति न शक्यं वक्तुं तेषामग्निहोत्रादिकर्माभावात्। तथाचायं प्रयोगः। विद्याकर्मणी नाङ्गाङ्गीभूते मिथो व्यभिचारात् ऋतुगमननैष्ठिकव्रतवदिति। तस्मादित्यस्यार्थः। यतः सर्वे ब्राह्मणाः परमात्मानं विदित्वा पुत्रैषणादिभ्यो व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्मादधुनातनोऽपि ब्राह्मणः पाण्डित्यं श्रवणं निर्विद्य प्राप्य बाल्येन मननेन शुद्धाशयः स्थातुमिच्छेत्। अध्ययनजातापातब्रह्मधीः पण्डा तद्वान् पण्डितस्तस्य कृत्यं श्रवणं पाण्डित्यमुच्यते। बाल्यं ज्ञानबलं तच्च मननमेव च तदुभयं निर्विद्याथ मुनिर्ध्यानपरः स्यात्। अमौनं श्रवणमननं मौनञ्च ध्यानं निर्विद्याथ-तैत्रसम्पत्त्यनन्तरं ब्राह्मणो लब्धब्रह्मानुभवः केन कर्मणा स्याद्वर्त्तेतेति प्रश्नः। येन कर्मणा स्यात् तेनेदृश इति तस्योत्तरम्। त्यक्तविहितकर्माप्यनुष्ठितनिखिलाश्रमधर्मेण ब्राह्मणेन तुल्यः स्यादित्यर्थः। विद्याप्रभावात् प्रत्यवायेनास्पृष्टोऽतिपवित्रो ब्रह्मानुभवन् विभायादिति यावत्। यद्येवं तर्हि ब्रह्मज्ञस्याप्यज्ञवत् सर्वकर्मानुष्ठानातिदेशवाक्यं कथं सङ्गच्छेतेति चेत् तत्राह। सक्ता इति श्रीगीतासु। आदिना नाचरेद्यस्तु सिद्धोऽपि लौकिकं धर्ममग्रतः। उपप्लवाच्च धर्मस्य ग्लानिर्भवति नारद। विवेकज्ञैरतः सर्वैर्लोकाचारो यथास्थितः। आदेहपातादयत्नेन रक्षणीयः प्रयत्नत इति वाक्यं ग्राह्यम्॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार—*'ऊर्ध्वरेतःसुः'* इत्यादि सूत्रमें। यतियोंमें अवगत विद्या जो कर्माङ्ग है, यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि उनके अग्निहोत्रादि कर्म नहीं हैं। अतएव इस विषयमें अनुमान वाक्य है *'विद्याकर्मणी न अङ्गाङ्गीभूते मिथो व्यभिचारात् ऋतुगमननैष्ठिकव्रतवत्'*—विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है, और कर्म भी विद्याका अङ्ग नहीं है क्योंकि परस्पर व्यभिचार है अर्थात् क्योंकि विद्या रहनेपर कर्म नहीं है और कर्म रहनेपर उससे पूर्व विद्या नहीं है, जिस प्रकार ऋतुकालमें स्त्री-सहवास

एवं नैष्ठिक ब्रह्मचर्य परस्पर व्यभिचरित हैं। *'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्येत्यादि'* श्रुतिका अर्थ है—क्योंकि समस्त ब्रह्मवित् परमात्माको जानकर पुत्रैषणादि त्रिविध एषणाओंको छोड़कर भिक्षाचरण करते हैं, अतएव इदानीस्तन (आधुनिक) ब्रह्मविद् भी पाण्डित्य अर्थात् ब्रह्मविषयक श्रवण प्राप्त करके बाल्य द्वारा अर्थात् मनन द्वारा शुद्धचित् रहनेकी इच्छा करें। पाण्डित्य शब्दका अर्थ है श्रवण क्योंकि पण्डा अर्थात् वेदाध्ययन-जनित आपात् (प्राथमिक) ब्रह्मज्ञान जिसमें उत्पन्न हुआ है, वह पण्डित है, उस पण्डितके कार्य-श्रवणको पाण्डित्य कहते हैं? बाल्य शब्दका अर्थ है—ज्ञानबल (बलका भाव) वह मनन है, इन दोनों (श्रवण एवं मनन) को प्राप्त करके मुनि अर्थात् ध्यान-परायण होंगे। बादमें अमौन अर्थात् श्रवण, मनन एवं मौन अर्थात् ध्यान प्राप्त करके ब्रह्मानुभवकारी ब्राह्मण किस कर्मके साथ रहेंगे? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—*'येन कर्मणा स्यात्तेनेदृशः'*—विहित कर्मत्याग करके भी जो सम्पूर्ण आश्रमधर्मका पालन करते हैं, उन ब्रह्मविदोंके समान ही होंगे, यही अर्थ है। मर्मार्थ (सारार्थ) रूपसे अर्थ यह है कि विद्याकी महिमामें कर्मका अकरणजन्य प्रत्यवाय उनका स्पर्श नहीं करता वे अतिपवित्र ब्रह्म-साक्षात्कारी होकर प्रकाश पाते हैं। आपत्ति यह है कि यदि ऐसे ही हैं तो ब्रह्मविद्का और ब्रह्मज्ञानरहित व्यक्तिका सकल कर्मानुष्ठानका निर्देश समान किस प्रकार सङ्गत होगा? यह यदि कहते हो तो इसके उत्तरमें श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्का वाक्य है—हे भरतकुल प्रदीप अर्जुन! जिस प्रकार अविद्वान व्यक्ति कर्ममें आसक्त होकर कर्मोंका आचरण करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मविद् व्यक्ति भी लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त करानेके भावसे स्वयं अनासक्त होकर समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करे। इत्यादि तु इति—आदि पदसे ग्राह्य वाक्य है यथा—*'नाचरेद् यस्तु सिद्धोऽपि लौकिकं धर्ममग्रतः। उपप्लावच्च धर्मस्य ग्लानिर्भवति नारद ... रक्षणीयः प्रयत्नतः'* इति—अर्थात् हे नारद! जो व्यक्ति ब्रह्मविद्याकी सिद्धि प्राप्त करके भी बादमें लौकिक धर्मका (वर्णाश्रमधर्मका) अनुष्ठान नहीं करते, उसके फलस्वरूप धर्मका विप्लव होनेके कारण धर्मकी हानि घटित होती है। अतएव समस्त विवेकी व्यक्ति जिस प्रकारका लोकाचार है, अपने देहपात-पर्यन्त

यत्नके साथ उसकी रक्षा करें। यह वाक्य आदि पद द्वारा ग्रहणीय है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः पूर्वोक्त विषयको दृढ़ करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि परिनिष्ठित व्यक्तियोंमें ऊर्ध्वरेता महाविद्यासम्पन्न यतियोंके सम्बन्धमें शास्त्रमें कामचार अर्थात् यथेच्छ आचरण करनेकी बात कही गयी है। अतः विद्याका स्वातन्त्र्य अङ्गीकार करना होगा।

बृहदारण्यक-श्रुतिमें भी पाया जाता है—

एतमेव प्रवाजिनो लोकामिच्छन्तः प्रवजन्ति।

(बृ॰आ॰ ४/४/२२)

अर्थात् इस आत्मलोकको ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्यागकर चले जाते (संन्यासी हो जाते) हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

(श्रीगी॰ ३/२५)

अर्थात् हे भारत! कर्ममें आसक्त अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं, लोकशिक्षाके इच्छुक ज्ञानी व्यक्ति उस प्रकार ही अनासक्त होकर कर्म करें।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्य्ययम्।
विद्वान् निर्व्विद्य संसारचिन्तां तुर्य्ये स्थितस्त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/२९)

अहङ्कारका बन्धन ही जीवके आनन्द आदि गुणोंका आवरण करता है और उसीसे अनर्थ होता है। वही अनर्थोंकी जड़ है। यह जानकर उनसे विरक्त होकर अपनी तीनों अवस्थाओंसे अनुगत तुरीय-स्वरूपमें स्थित होकर संसारकी चिन्ता छोड़ दे अर्थात् पूर्वजनित बुद्धिके द्वारा उत्पन्न अभिमान और भोगकी चिन्ताको त्याग देना चाहिये।

इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्य एवं टीकामें देखना चाहिये।

श्रीमध्वभाष्यमें कहा है—

'न तावता कामचाराणां ज्ञानेऽधिकारः। य इमं परमं गुह्यमूर्द्ध्वरेतः सु भाषयेत्। न तथा विद्यते भूयान् यं प्राप्यान्येऽपि भूयसः इति माठर श्रुतेः।'

अर्थात् यदि ज्ञानीगण कामाचारी (यथेच्छाचारी) हों, तो भी मोक्ष हो सकता है। ऐसा होनेपर कामचारी ब्रह्म जिज्ञासुओंका भी क्या ज्ञानाधिकार हो सकता है—यह आशङ्का करके उसके निराकरणके लिए कहते हैं—ज्ञानियोंके कामचारी होनेपर भी उनकी मोक्ष योग्यता रहती है, किन्तु कामचारीका (स्वेच्छाचारीका) ज्ञानाधिकार नहीं है क्योंकि *'य इमं परमं गुह्यः'* इत्यादि श्रुतिमें ऊर्ध्वरेतत्वादि गुणसम्पन्न व्यक्तियोंका ही यह परमगुह्य ज्ञानोपदेश श्रुत है। यह परम तत्त्व ऊर्ध्वरेतसोंको ही बतलाना चाहिये इत्यादि माठर-श्रुतिसे पूर्ण रूपसे संशय निवृत्त हो जाता है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

ऊर्ध्वरेतःसु आश्रमेषु विद्यादर्शनाच्च तस्याः स्वातन्त्र्यं निश्चीयते। ते तु 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि शब्दे दृश्यन्ते।

अर्थात् ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रममें विद्या-दर्शनसे उसके स्वातन्त्र्यका निश्चय होता है। ये आश्रम वैदिक शब्दोंमें दृष्ट होते हैं यथा *'त्रयो धर्मस्कन्धाः'* (छा॰ २/२३/१) अर्थात् धर्मके तीन स्कन्ध (आधारस्तम्भ) हैं। पहला स्कन्ध है—यज्ञ, अध्ययन और दान। तप दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुलमें रहनेवाला ब्रह्मचारी जो आचार्यकुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर देता है—यह ब्रह्मचर्य और संन्यास नामक तीसरा स्कन्ध है। अग्निहोत्रादि कर्म यहाँ श्रूयमाण नहीं है। विद्याके आश्रयसे मुक्ति हो जाती है, कर्मका सम्पुट आवश्यक नहीं है।

श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—ऊर्ध्वरेता संन्यासियोंमें ब्रह्मविद्या विश्रुत है, कर्मप्रधान संस्थानोंमें नहीं।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार है—

ऊर्ध्वरेताके आश्रममें अर्थात् संन्यासाश्रममें ब्रह्म-विद्या-दर्शन (चिन्तन) के विधानके कारण तथा उनमें अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास इत्यादि

कर्मानुष्ठानोंका अभाव होनेके कारण विद्याको कभी भी कर्माङ्ग नहीं कहा जा सकता। यदि कोई कहे कि ऊर्ध्वरेतस आश्रम होते ही नहीं क्योंकि जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र यज्ञ करता है, इत्यादिसे अग्निहोत्र आदिकी जीवन पर्यन्त कर्त्तव्यता निश्चित होती है। इसलिए जो स्मृति-वाक्य ऊर्ध्वरेतस आश्रमोंका विधान बतलाते हैं, वे श्रुति विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक हैं। इसपर सूत्रकार 'शब्दे हि' कहकर बतलाते हैं कि वैदिक-वाक्यमें भी पाया जाता है—त्रयो धर्मस्कन्धाः—धर्मके तीन स्कन्ध (शाखाएँ) हैं। *'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते*—जो अरण्यमें श्रद्धापूर्वक उपासना (तप) करते हैं।' (छा॰ ५/१०/१) *'एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) अर्थात् प्रवाजक आत्मलाभके लोभसे ही प्रव्रजित होते हैं। अतः यावज्जीवन अग्निहोत्र याग करे—इस श्रुतिका विधान वैराग्यवानोंके लिए नहीं, अविरक्त गृहस्थोंके लिए है॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—अस्याः श्रुतेर्जैमिनिमतेनार्थान्तरं दर्शयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद— *'कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'*—इस श्रुतिका जैमिनिके मतमें अन्य अर्थ दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अस्याः श्रुतेरित्यादिकं स्फुटार्थम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'अस्याः श्रुतेः'* इत्यादि भाष्यका अर्थ स्पष्ट है।

सूत्र—परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि॥ १८॥

सूत्रार्थ—जैमिनिः—जैमिनि ऋषि कहते हैं, 'हि'—क्योंकि श्रुति ही परामर्शं—ब्रह्मविद्को कर्मोपदेश कर रही है 'च' और 'अपवदति' कर्मत्यागकी निन्दा कर रही है, इसलिये विद्वान् कर्मत्याग करें 'अचोदना'—यह विधि नहीं है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—जैमिनिका कथन है कि श्रुति ब्रह्मवेत्ताके लिए स्वयं ही कर्मानुष्ठानका विधान करती है और कर्मत्यागकी निन्दा करती है। इसलिए कर्मत्यागको विधि-वाक्य नहीं कहा जा सकता॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—नियमात् विहितकर्मणामेव स्वेच्छया करणं कामचार इत्येव श्रुत्यर्थः। हि यतः श्रुतिरेव विदुषः कर्मपरामर्शं करोति कर्मत्यागमपवदति च तस्मादचोदना विद्वान् कर्माणि त्यजेदिति विध्यभाव इत्यर्थः। अयं भावः। *"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"* इत्यादि श्रुत्या विदुषां कर्मविधानात् *"वीरहा वा"* (यजुर्वेद तै॰सं॰ १/५/२/१) इत्यादिश्रुत्या कर्मत्यागापवादाच्च तत्त्यागे विधिर्न सम्भवेत् युगपत् विधानत्यागयोर्विरोधात्। न च त्याजकवाक्यानां निर्विषयता तेषां पङ्ग्वादयशक्तविषयत्वेनोपपत्तेः। तथा च विदुषां श्रौतस्मार्त्तानि कर्माण्यङ्गीकृत्यैव तत्र केन स्यादित्यादि कामचारो न त्वन्यथेति जैमिनिर्मन्यते इति॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जैमिनि ऋषि कहते हैं नियम रहनेके कारण विहित कर्मोंके इच्छानुसार अनुष्ठानको कामचार कहा जाता है—यही श्रुतिका प्रतिपाद्य अर्थ है। श्रुति ही ब्रह्मविद्को कर्मानुष्ठानका उपदेश करती है और कर्मत्यागकी निन्दा करती है, अतएव 'विद्वान व्यक्ति कर्मत्याग करें' यह विधान (विधि-वाक्य) हो नहीं सकता—श्रुतिका यही अर्थ है। अभिप्राय यह है कि *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'* इत्यादि श्रुति द्वारा विद्वानके लिए यावज्जीवन कर्मके विधानके कारण एवं *'वीरहा वा एव देवानां योऽग्निमुद्वासयते'* (वह व्यक्ति देवताओंमें पुत्रघाती माना जाता है, जो अग्निका उद्वासन (त्याग) कर देता है) अर्थात् कर्मत्यागी पुत्रघाती होता है इत्यादि श्रुति द्वारा कर्म त्यागकी निन्दा घोषित होनेके कारण कर्मत्याग-विषयमें विधिका होना सम्भव नहीं है क्योंकि विधि और त्यागके एकसाथ रहनेसे विरोध होता है। यदि कहो, कर्मत्याग-बोधक-वाक्योंका ऐसा होनेपर तो उनका विषय ही नहीं रहता (त्यागकी बात निर्विषय हो पड़ती है) तो ऐसा भी नहीं है, पङ्गु अन्ध इत्यादि—असमर्थ व्यक्तियोंके लिए कर्मत्याग बोधित होनेके कारण इन वाक्योंका भी विषय है। ये वाक्य अक्षम व्यक्तियोंके लिए प्रयुक्त हैं। अतएव जैमिनिका सिद्धान्त है कि विद्वद्गणोंके लिए श्रौत और स्मार्त कर्म कर्त्तव्यरूपमें स्वीकार करनेपर ही इस विषयमें *'तत्र केन स्यात्'* इत्यादि कामचार (विहितका त्याग) निर्दिष्ट है, अन्यथा नहीं। यह जैमिनि मानते हैं॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—परामर्शमिति। एतदुक्तं भवति। इज्यस्य विष्णोः स्वस्य च यजमानस्य स्वरूपसम्बन्धौ वेदेन विज्ञाय मुमुक्षुर्जीवस्तेन विहितानि कर्माणि

विधितन्त्रः सन् करोति विमुक्तये। तैर्विशुद्धो लब्धब्रह्मानुभवोऽपि यावदायुस्तानि न त्यजतीति कर्मठस्य जैमिनेः सिद्धान्तः। तमनुसृत्य वाक्यार्थं योजयति। लब्ध-पाण्डित्यादिर्ब्राह्मणो विधिनानुष्ठितैः कर्मभिर्विशुद्धो जातब्रह्मरतिरपि तानि सर्वाणि स्वेच्छयानुतिष्ठति ब्रह्मोपलम्भकत्वेन तेषु रुचिनिर्भरात् येन स्यात् तेनेदृश इति सामान्येन कर्मानुष्ठानाभ्यनुज्ञत्वात् न तु किञ्चित् करोति किञ्चित् त्यजतीति शक्यं वक्तुं कुर्वन्निति वाक्यव्याकोपात् वीरहेत्यादिना त्यागे दोषोक्तेश्चेति। न त्वन्यथेति। स्वेच्छया किञ्चित् कर्म कुर्यात् किञ्चित् तु नेत्येवं प्रकारो नेत्यर्थः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार— *'परामर्शं जैमिनिः'* इत्यादि सूत्रमें यह बात कही गयी है—यजनीय विष्णुका स्वरूप एवं यजमानका स्वरूप एवं विष्णुके साथ अपना सम्बन्ध वेदके द्वारा जानकर मुक्तिकामी जीव वेद द्वारा विहित कर्म-विधिके निर्देशवश तदधीन होकर विमुक्तिके लिए आचरण करेंगे; उस कर्म द्वारा विशुद्धि एवं ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करके भी जीवितकाल पर्यन्त कर्मका त्याग नहीं करेंगे, कर्मनिपुण जैमिनिका यही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तका अनुसरण करके वाक्यार्थकी योजना करते हैं—श्रवण-मननादि प्राप्त करके ब्रह्मविद् विधिके साथ अनुष्ठित कर्म द्वारा विशुद्धचित्त और ब्रह्मरतिसम्पन्न होकर भी वेदविहित समस्त कर्मोंका स्वेच्छानुसार अनुष्ठान करते हैं, क्योंकि वह कर्म ब्रह्मप्राप्तिका साधन है, इसलिए उसमें अतिशय रुचि होती है क्योंकि *'येन स्यात्तेनेदृशः'* यह वाक्य कर्मके अनुष्ठान सम्बन्धमें साधारण रूपसे निर्दिष्ट हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ कर्म करते हैं, कुछ त्याग करते है, यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि उसमें *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'* इत्यादि श्रुति-वाक्यका व्याघात होता है और *'वीरहा'* इत्यादि वाक्यके द्वारा कर्मत्यागमें दोषकी भी उक्ति है। *'नत्वन्यथेति जैमिनिर्मन्यते'*—इति इच्छानुसार कुछ कर्म करेंगे और कुछ नहीं करेंगे—ऐसा नहीं है, यही जैमिनिके मतका सार है॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब जैमिनि ईशोपनिषदके *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'* श्रुतिका अर्थान्तर करके कहते हैं कि श्रुति विद्वानके कर्मानुष्ठानका विधान करती है और कर्म-त्यागकी निन्दा ही करती है। इस स्थलपर संन्यासी होनेपर भी कर्मत्याग नहीं करे—यह जैमिनिका मत है;

अर्थात् वेदमें संन्यास-आश्रमका उल्लेख रहनेपर भी इस आश्रमको ग्रहण करनेकी अर्थात् कर्मत्यागपूर्वक प्रवज्या स्वीकार करनेकी प्रेरणा नहीं है, बल्कि निन्दा ही है। यजुर्वेद (१/५/२/१ तै॰सं॰) में पाया जाता है—*'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्धासयते'* अर्थात् वह व्यक्ति देवताओंमें पुत्रघाती माना जाता है जो अग्निका उद्धासन (त्याग) कर देता है। मात्र कर्मकाण्डाश्रित जैमिनिका मत—श्रुति जो कर्मत्यागका विधान करती है, वह केवल पङ्गु, अन्ध इत्यादि कर्ममें अक्षम व्यक्तियोंके लिए है।

जैमिनिके इस मतका परवर्त्ती सूत्रमें श्रीमद्वेदव्यास खण्डन करेंगे।

यदि संन्यास ग्रहण करके भी गृहाश्रमीके अनुष्ठेय कार्योंको करना हो तो संन्यास आश्रमकी कोई सार्थकता नहीं रहेगी।

श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

(श्रीमद्भा॰ १/५/१७)

जो अपने वर्णाश्रमधर्म पालनको छोड़ करके श्रीहरिके चरणकमलोंका भजन करता है, सिद्ध होनेकी बात तो दूर रहे, असिद्ध अवस्थामें भी यदि वह भजनसे किसी प्रकारसे भ्रष्ट हो जाय अथवा उसकी मृत्यु हो जाय, फिर भी कर्मोंमें अनधिकारके कारण यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि उसका पतन हो गया। वह किसी भी अवस्थामें रहे, यहाँ तक कि नीच योनिमें भी रहे, तो भी ऐसे भगवत्-रसिकका क्या कभी अमङ्गल हो सकता है? किन्तु स्वधर्मका पालन करनेवाले भक्तिसे शून्य मनुष्योंको न कोई लाभ मिलता है और न ही कोई प्रयोजन सिद्ध होता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कर्मनिन्दा, कर्मत्याग, सर्वशास्त्र कहे।
कर्म हैते प्रेमभक्ति कृष्णे कभु नहे॥

(चै॰च॰म॰ ९/२६३)

अर्थात् निखिल शास्त्रोंमें कर्मनिन्दा, कर्मत्यागका उल्लेख है। कर्मसे कृष्णमें प्रेमभक्ति कभी भी सम्भव नहीं है। परमाराध्यतम श्रील श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादने इस पयारके सन्दर्भमें अपने अनुभाष्यमें कहा है—असत्-कर्मकी अपेक्षा सत्-कर्म श्रेष्ठ है किन्तु ऐसे कर्मसे भी कभी भी कृष्णप्रेमभक्तिका उदय नहीं होता। कर्म—जीवके सुख अथवा दुःख प्राप्तिके फलसे भक्तिके उदयकी सम्भावना नहीं है। कृष्णकी सुख-प्राप्तिके लिए सेवा ही भक्ति है। निज-भोग-तात्पर्यकी निन्दा और उसके त्यागका विधान समस्त शास्त्रोंमें है। इतना ही नहीं, ज्ञानशास्त्रमें भी यही कहा गया है। अमल प्रमाण शिरोमणि श्रीमद्भागवतमें शुद्धज्ञान विराग भक्तिके साथ नैष्कर्म्यकी बात ही विचारित एवं संस्थापित हुई है। सर्वशास्त्र श्रेष्ठ इस पुराणके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र ही नितान्त तुच्छ फलभोगाभिसन्धि लक्षणमय कर्म और ज्ञानका गर्हण (निन्दा) किया गया है। इस पयारका व्याख्या करते हुए सच्चिदानन्द श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर कहते है—कर्म-प्रतिपादक शास्त्रमें कर्मका उपदेश एवं प्रशंसा बहुत-से स्थानोंपर रहनेपर भी चरममें कर्मकी निन्दा एवं कर्मत्यागकी व्यावस्था ही समस्त शास्त्रोंमें उक्त है। कर्म अथवा कर्मार्पण द्वारा कृष्णमें कभी भी प्रेमभक्ति हो नहीं सकती। तात्पर्य यह है कि कर्मार्पण इत्यादि द्वारा चित्त शुद्ध होता है; चित्त शुद्ध होनेपर सत्सङ्गसे अनन्य कृष्णभक्तिमें श्रद्धाका उदय होता है। श्रद्धोदय होनेपर श्रवण-कीर्त्तनादिरूप 'साधनभक्ति' होती है। श्रवण-कीर्त्तनादि साधन करते-करते अनर्थकी जितनी निवृत्ति होती है, प्रेमका उतना ही अभ्युदय होता है अतः कर्म अथवा कर्मापर्णसे अनिवार्य रूपमें कृष्णभक्तिके उदय होनेकी सर्वत्र सम्भावना नहीं है; क्योंकि शुद्धकृष्णभक्ति सत्सङ्गजनित 'श्रवणोत्पत्ति'-लक्षणा श्रद्धाकी अपेक्षा करती है।

श्रीमद्भागवतमें और भी,

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्म्मान् सन्त्यज्य यः सर्व्वान् मां भजेत स तु सत्तमः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/११/३२)

जो वेदशास्त्रमें मेरे द्वारा उपदिष्ट स्वधर्मके अनुष्ठानमें गुण और उसके अननुष्ठानमें (अनाचरणमें) दोष जानकर उन–उन धर्मोंको मेरी उपासनामें विघ्नदायक मानकर मेरी (कृष्णकी) भक्तिसे समस्त सिद्धियोंको प्राप्त कर लूँगा—सारे मनोरथ पूर्णकर लूँगा—यह दृढ़ निश्चय करके मेरी भक्तिके अतिरिक्त समस्त धर्मोंका परित्याग करके मेरी सेवा करते हैं, वे भी पूर्वोक्त पुरुषोंकी भाँति उत्तम भक्तोंके रूपमें परिगणित होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(श्रीगी॰ १८/६६)

अर्थात् वर्ण, आश्रम आदि समस्त शारीरिक और मानसिक धर्मोंका परित्याग कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो। मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और भी,

एत सब छाड़ि आर वर्णाश्रम धर्म।
अकिञ्चन हइया लय कृष्णैक शरण॥
(चै॰च॰म॰ २२/९०)

अर्थात् भक्तिहीन, मायावादी, कर्मी, योगी, विषयी, स्त्रीसङ्गी, स्त्रीसङ्गी–सङ्गी आदि असत्–सङ्गका परित्यागकर, यहाँ तक कि वर्णाश्रमधर्मका भी परित्यागकर दीन–हीन अकिञ्चन होकर कृष्णकी ऐकान्तिकी शरण ग्रहण करना चाहिये॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—एवं तस्य वाक्यस्य जैमिनिमतानुसारेण सदाचारविधित्वमुक्त्वाथ स्वमते यथेच्छकरणानुज्ञां तावत् तदर्थः दर्शयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार जैमिनिके मतानुसार *'तस्माद् ब्राह्मणः'* इत्यादि वाक्यका सदाचार–विधित्व कहकर अब बादरायण स्वमतमें यथेच्छाचरणकी अनुमति ही श्रुतिका प्रतिपाद्य अर्थ है—यह दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एवमिति। तस्य तस्माद् ब्राह्मण इत्यादिकस्य।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'एवमित्यादि'*—तस्य वाक्यस्य—*'तस्माद् ब्राह्मणः'* इत्यादि वाक्य का।

सूत्र—अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः॥ १९॥

सूत्रार्थ—'अनुष्ठेयम्' अनुष्ठेय कर्मका विद्वान इच्छानुसार कुछ आचरण करें और कुछ न करें 'बादरायणः' यह भगवान् श्रीवेदव्यासका अभिमत है, प्रमाण है—'साम्यश्रुतेः'—जो भी हो, करे अथवा न करे जिस किसी भी प्रकारकी स्थिति होनेपर ब्रह्मविद्की समान अवस्था रहती है, यह श्रुत है, इसलिए॥ १९॥

सूत्रानुवाद—श्रीभगवान् वेदव्यास मानते हैं कि अनुष्ठेय कर्म इच्छानुसार कुछ करणीय है, कुछ नहीं है क्योंकि साम्य-श्रुतिके कारण करण अथवा अकरण दोनोंमें ही ब्रह्मवेत्ताकी समान अवस्था रहती है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—अनुष्ठेयमेव कर्मयथेच्छं किञ्चिच्चरणीयं किञ्चिच्च नेति भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः? साम्यश्रुतेः। *"केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः"* (बृ॰आ॰ ३/५/१) इति श्रुत्या केनापि प्रकारेण वृत्तावपि ज्ञानिनः साम्यश्रवणादित्यर्थः। जैमिनिमतेन सर्वचरणपक्षे साम्योक्तिरनुवादमात्रं स्यात् विहितकर्मणां सर्वेषां चरणे साम्यसम्भवात्। केषाञ्चित् परित्यागेऽपि साम्योक्तिरसम्भव-निवृत्त्यर्थत्वादुपपद्यत इति। कर्मपरामर्शस्य सनिष्ठविषयत्वादविज्ञमादाय वीरघात-श्रुत्युपपत्तेश्च चोद्यं परिह्यतम्। न च त्यागश्रुतेरशक्तविषयता तद्बोधकपदाभावात् *"न कर्मणा न प्रजया"* (महाना॰ १०/५) इत्यादौ मुक्त्यसाधनतया तत्त्यागावगमाच्च॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जो समस्त कर्म अनुष्ठेय हैं, उनमेंसे विद्वान इच्छानुसार किसीका आचरण करे और इच्छा न हो तो किसीका न करे—यह भगवान् बादरायण मानते हैं। कारण? *'साम्यश्रुतेः'* क्योंकि श्रुति कर्म न करनेपर भी ब्रह्मविद्की सर्वकर्मानुष्ठायी ब्राह्मणके तुल्य ही अवस्था बतलाती है, जैसे कि श्रुति है—*'केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः'* अर्थात् किस प्रकारसे? अर्थात् तात्पर्य यह है कि क्या आचरण करके रहेंगे? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं *'येन स्यात्*

तेनेदृशः' अर्थात् जिस प्रकार भी करे, उसीके द्वारा कर्मत्यागी होनेपर भी वह ब्रह्मविद् सर्वकर्मानुष्ठायी ब्राह्मणके तुल्य ही होगा क्योंकि इस श्रुतिके द्वारा जिस किसी भी प्रकारके अवस्थान (वृत्ति) में भी ब्रह्मविद्का साम्य ही बोधित होता है। जैमिनिके मतमें सर्वाचरण पक्षमें अर्थात् सभी कर्मानुष्ठानके लिए साम्य कथन सम्भवपर नहीं है, अनुवाद (परामर्श अर्थात् स्तुति) मात्र है। कारण यह है कि यदि विहित समस्त कर्मका आचरण होता है, तब तो सबका साम्य रहेगा ही, यह स्वतः सिद्ध है—अतएव उसका निर्देश अनुवाद हो जाता है किन्तु कुछ कर्मोंका त्याग करनेपर भी यदि साम्योक्ति होती है, तब तो यह बात सङ्गत हो सकती है अर्थात् विधि हो सकती है क्योंकि इसीसे साम्यकी असम्भावनाका निरास किया गया है (साम्य रहेगा ही)। तब जो समस्त कर्मानुष्ठानका उपदेश है, वह सनिष्ठक-ब्रह्मनिष्ठकको विषय करके है। पुनः वीरपुत्र-घात-दोषकी जो श्रुति है—वह अज्ञ अर्थात् अब्रह्मविदोंके पक्षमें उपपन्न है—अतएव इस आपत्तिका भी परिहार हुआ। और एक बात है, कर्मत्याग—श्रुतिको जिस असमर्थ-पक्षमें (अशक्त लोगोंके लिए) सङ्गत किया जा रहा है, तो यह कह नहीं सकते हो क्योंकि उसका भी बोधक कोई शब्द दिखायी नहीं देता है। इसके अतिरिक्त *'न कर्मणा न प्रजया'* इत्यादि श्रुतिमें कर्म मुक्तिका असाधन है अर्थात् साधक नहीं है—इस कारण उसका त्याग बताया गया है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—अनुष्ठेयमिति। साम्यश्रवणादिति। किञ्चित् किञ्चित् कर्म कुर्वतोऽपि ब्रह्मनिरतस्य सर्वकर्मकर्त्रा ब्राह्मणेन सह तौल्योक्तेरित्यर्थः। असम्भवेति। साम्यासम्भवनिरासकत्वादित्यर्थः। कर्मपरामर्शस्य कुर्वन्नेवेहेतिश्रुतिविहितस्य। अविज्ञ-मादायेति। वीरघातश्रुतेरज्ञानादग्न्युद्वासनोद्यता-हिताग्निद्विजविषयत्वादित्यर्थः। न चेति। अशक्तविषयता पङ्ग्वाद्युपदेश्यकता॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार— *'अनुष्ठेयं बादरायणः'* इत्यादि सूत्रमें *'ज्ञानिनः साम्यश्रवणात्'* इति—कुछ-कुछ कर्म करनेपर भी ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तिका सर्व कर्मानुष्ठायी ब्राह्मणके साथ तुल्य-भावकी उक्तिके कारण साम्य है। *'असम्भव-निवृत्त्यर्थकत्वादिति'*—साम्यके असम्भवत्वका निरास करनेमें यह उक्ति

उपपन्न है। *'कर्मपरामर्शस्येति'—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'* इत्यादि श्रुति द्वारा ज्ञात कर्मानुष्ठानके *'अविज्ञमादायेति'*—अविज्ञके पक्षमें वीरपुत्र-घातदोष-श्रुति अर्थात् अज्ञानवशतः जो आहिताग्नि (ब्राह्मण जो यज्ञकी अग्निको संरक्षित रखता है) प्रणीत (प्रस्तुत) अग्निको विसर्जन कर देनेके लिए उद्यत है, इस प्रकारके ब्राह्मणके लिए जानें। *'न चेति'—'अशक्तविषयता'*—कर्ममें असमर्थ पङ्गु इत्यादि व्यक्तिको उद्देश्य करके कर्मकी त्यागविधि है—यह कहना चलता नहीं है॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जैमिनिके पूर्वोक्त मतपर सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्वान व्यक्ति विहित कर्मोंका यथेच्छ आचरण कर सकते हैं—यही भगवान् बादरायणका मत है। कारण है कि विद्वान अर्थात् ब्रह्मज्ञ पुरुषके सम्बन्धमें कुछ करने अथवा न करनेके विषयमें श्रुति साम्यकी ही घोषणा करती है। बृहदारण्यक-श्रुति (३/५/१) *'केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः'* अर्थात् किस प्रकारसे रहेगा? इस प्रश्नके उत्तरमें प्राप्त होता है—जिस प्रकारसे रहे, जो भी करे—उसीके द्वारा कर्मत्यागी होनेपर भी ब्रह्मज्ञ पुरुषका साम्य है, यह श्रुतिसे उपपन्न है।

कर्मविषयक उपदेश सनिष्ठ व्यक्तियोंके लिए है और वीरघात-श्रुति अविज्ञजनोंके लिए उपपन्न होती है। और जैमिनि जो यह कहते हैं कि त्याग-श्रुति केवल पङ्गु इत्यादि अशक्त व्यक्तियोंके लिए ही है, तो यह ठीक नहीं है। कारण है *'न कर्मणा न प्रजया'* इत्यादि श्रुतिमें कर्मके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है—यह न कहकर त्यागका ही उपदेश है—यह जाना जा सकता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१८/२०)

अर्थात् संन्यासीको चाहिये कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितोंको छोड़कर चारों वर्णोंसे भिक्षा ले। केवल अनिश्चित सात घरोंसे जितना मिल जाय, उतनेसे ही सन्तोष कर ले।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥
(श्रीमद्भा० ११/१८/२८)

ज्ञाननिष्ठ, बाह्य विषयोंसे विरक्त, और मोक्षकी कामनासे रहित मेरे भक्तोंको त्रिदण्ड सहित संन्यास धर्मको भी परित्यागकर विधि और निषेधके अधीन न होकर यथोचित धर्मका आचरण करना चाहिये।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११/५/४१)

हे राजन्! जो लोग इस शरीरमें 'मैं' और 'मेरे' के अभिमानको त्यागकर सब प्रकारसे परम आश्रय श्रीहरिके शरणागत होते हैं, वे साधारण मनुष्यकी भाँति देवता, ऋषि, भूतगण, स्वजन और पितृलोकके किङ्कर अथवा ऋणी नहीं होते।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

गृहस्थाश्रमके समान आश्रमान्तर (अन्य आश्रम) अर्थात् संन्यास आश्रम भी अनुष्ठेय है, यह भगवान् बादरायण मानते हैं। श्रुति-साम्य ही इसका कारण है। श्रुतिमें गृहस्थाश्रमकी जिस प्रकारसे उपादेयता अभिमत है, उसी प्रकारसे आश्रमान्तर (संन्यासादि) के सम्बन्धमें भी उपादेयता प्रतिपादक श्रुति है। इस विषयमें विस्तृत रूपसे जाननेके लिए श्रीभाष्य देखना चाहिये।

श्रीनिम्बार्कआचार्यके वेदान्त-पारिजात-सौरभ-भाष्यमें भी पाया जाता है—

'गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्यानुवाद वाक्ये तुल्यत्व श्रवणाद्दनुष्ठेयमिति भगवान् बादरायणो मन्यते।'

अर्थात् दूसरी श्रुतियों जैसे गृहस्थाश्रमका विधान करती हैं, उसी प्रकार अन्य आश्रमोंका भी विधान है। *'त्रयो धर्मस्कन्धाः'* श्रुतिमें चारों आश्रमोंका अनुवाद है। अनुवाद (कथन) भी उसीका होता है,

जिसका अन्यत्र विधान होता है। अतः जिस प्रकार गृहस्थ आश्रमके धर्मका अनुष्ठान उचित है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास धर्मका भी अनुष्ठान करना चाहिये। भगवान् बादरायण मानते हैं कि आश्रमान्तर (संन्याससदि) भी गृहस्थाश्रमकी तरह अनुष्ठेय है॥ १९॥

सूत्र—विधिर्वा धारणवत्॥ २०॥

सूत्रार्थ—'वा—अथवा 'धारणवत्' केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः' इस वेद-वाक्यको धारण करनेके समान 'विधिः' ब्रह्मविद् विषयक विधि कहेंगे॥ २०॥

सूत्रानुवाद—'केन स्यात्' इत्यादि विधि ज्ञान विषयक है, उसे वेद-धारणकी भाँति ही जानना होगा॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—केन स्यादित्यादिको विधिर्वा ज्ञानिविषयः धारणवत्। यथा वेदधारणं त्रैवर्णिकानां विधीयते एवं केन स्यादिति यथेच्छं कर्माचरणं ज्ञानिनामेव परिनिष्ठितानां विधीयते नान्येषामित्यर्थः। *"शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनयाचरेत्। अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः"*॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'केन स्यात्'* इत्यादि वाक्यको ब्रह्मविद् (ज्ञान) विषयक विधि कहा जा सकता है—जैसे कि वेद-ग्रहण अर्थात् धारणकी विधि है, उसी प्रकार। त्रैवर्णिक अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णोंके लिए जिस प्रकार वेद-ग्रहणकी विधि है, उसी प्रकार *'केन स्यात्'* (श्रुतिमें) किस कर्मके साथ वेदविद् रहेंगे—इस प्रश्नके उत्तरमें—यथेच्छ भावसे कर्माचरण परिनिष्ठित ज्ञानियोंके लिए ही विहित है, दूसरोंके लिए (अशक्त-पङ्गु-अन्धोंके लिए) नहीं। इस विषयमें स्मृति (भागवतोक्त) वाक्य भी है यथा शौच—बाह्य और आभ्यन्तर शुचि, स्नान और आचमन—ज्ञानी व्यक्ति विधिवाक्यकी प्रेरणावश आचरण नहीं करेंगे—इसी प्रकार अन्य समस्त नियम भी इसी प्रकार उनके लिए विधि वाक्यानुसृत (वाक्यके अनुगत) नहीं होंगे किन्तु लीलास्वरूप अर्थात् कामचार होंगे—जैसे ईश्वर—मैं लीला रूपमें समस्त कार्य करता हूँ॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—विधिर्वेति। त्रैवर्णिकानामिति। अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेदित्यादिश्रुत्या तेषां वेदाध्ययनं यथा विधियते तद्वदित्यर्थः। शौचमिति श्रीभागवते। ब्रह्मानुभवोत्तरं तेषां कर्मानुष्ठानं लीलारूपमित्यर्थः। न तु चोदनयेति किन्तु लोकसंजिघृक्षयैवेत्यर्थः॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार— *'विधिर्वेति'* सूत्रमें *'त्रैवर्णिकानामिति'* भाष्यमें। श्रुतिमें है—आठ वर्षके वयस्क ब्राह्मणकुमारको उपनीत करें और उसे वेदका अध्यापन करावें इत्यादि श्रुति द्वारा जिस प्रकार उनका वेदाध्ययन विहित हुआ है, उसी प्रकार यह भी एक विधि है। *'शौचमाचमनामित्यादि'* श्लोक भागवतसे (११/१७/३४) उद्धृत है। इसका तात्पर्य है—ब्रह्म-साक्षात्कारके बाद ब्रह्मविदोंका कर्मानुष्ठान लीलास्वरूप अर्थात् कामचार (स्वेच्छाचरण) है, यह विधि-वाक्य द्वारा बोधित नहीं है किन्तु लोक-संग्रहकी इच्छावश है। उनका कर्माचरण देखकर लोग भी तदनुसार कर्म (बर्ताव) करेंगे, इस बुद्धिसे; अन्यथा कर्म-त्याग करेंगे॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी जिस प्रकार वेद-ग्रहणकी विधि देखी जाती है, उसी प्रकार *'केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः'* (बृ॰आ॰ ३/५/१) इत्यादि श्रुति-वर्णित विधि भी परिनिष्ठित ज्ञानी अर्थात् ब्रह्मज्ञोंके लिए जाननी होगी, अन्य अर्थात् असमर्थ व्यक्तियोंके लिए नहीं।

छान्दोग्योपनिषदके पूर्वोक्त वाक्यमें संन्यासकी विधि दी गयी है, मात्र कर्मका परामर्श दिया हो, ऐसा नहीं है। यावज्जीवन अग्निहोत्र यागका विधान वैराग्यहीन व्यक्तियोंके लिए ही प्रयुक्त है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः।
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्त्तते॥

(श्रीमद्भा॰ ११/११/१२-१३)

अर्थात् जिस प्रकार आकाश सर्वत्र अवस्थित रहकर भी, सूर्य जलमें प्रतिबिम्बित होकर भी एवं वायु सर्वत्र प्रवाहित हो करके भी कहीं भी आसक्त नहीं होते; उसी प्रकार विवेकी पुरुष प्रकृतिमें

अवस्थित रह करके भी उससे अनासक्त होकर वैराग्यरूप तीक्ष्ण तलवार और निपुण रूपसे अपने स्वरूपके दर्शनके द्वारा संशयोंके छेदनपूर्वक स्वप्न-दर्शनसे जगे हुए व्यक्तिकी भाँति प्रपञ्चसे विलक्षण रूपमें निवृत्त होते हैं।

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१८/३६)

जिस प्रकार मैं अपनी इच्छासे ही जगत्‌में अवतीर्ण होता हूँ और कर्म करता हूँ, उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी विधि और निषेधका किङ्कर न होकर इच्छानुसार शौच, आचमन, स्नान और दूसरे कर्मोंको करेंगे।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'केन स्याद् येन स्यात् (बृ॰आ॰ ३/५/१) *इति विधिर्वा। यथा वेदधारणं त्रैवर्णिकानां विहितं नान्येषाम्। एवं स्वमतानुसारिणी प्रवृत्तिर्ज्ञानिनां विहिता। न तत्राधर्म शङ्का कार्या। नान्येषामिति वा, स्वच्छयैव प्रवृत्तिस्तु ब्रह्मणो विधिनोदिता। नाशङ्क्यं तन्मतं क्वापि विष्णुः प्रत्यक्षचोदना। इतरेषां न विहिता स्वेच्छावृत्तिः कथञ्चनेति हि ब्राह्मे।'*

अर्थात् पहले यथेष्टाचार विधिको अङ्गीकार करके दो अर्थ कहे गये थे। जिस प्रकार तीनों वर्णोंके लिए ही वेद-धारण विहित है, दूसरेके लिए वेद-धारणका अधिकार नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानियोंके लिए भी स्वमतानुसार प्रवृत्ति विहित है, इसमें अधर्मकी आशङ्का मत करना। ब्रह्मपुराणका वचन है कि ब्रह्माने ज्ञानियोंके लिए स्वेच्छानुसार विधि कही है, भगवान् विष्णुने इसका प्रत्यक्ष समर्थन किया है। अतः ब्रह्माके मतपर शङ्का मत करना। दूसरोंके लिए स्वेच्छानुसार विधि विहित नहीं है।

श्रीपाद रामानुजके भाष्यके सारमें भी यही देखा जा सकता है—

यहाँ सूत्रस्थ 'वा' शब्दका अर्थ अवधारण है। कर्मकाण्डमें यहाँ सूत्रस्थ वर्णित धारणके (स्रुग्‌के ऊपर-समिध-धारण) समान यह भी आश्रमान्तरके सम्बन्धमें निश्चित विधि है। उन्होंने और भी कहा है कि अप्राप्त विषयमें उक्ति-कथन (अनुवाद) सम्भव ही नहीं है,

इसलिए इस स्थलपर विधि ही आश्रयणीय है अर्थात् ऊर्ध्वरेतस आश्रमोंका स्पष्ट उल्लेख न मिलनेसे अनुवादसे ही विधिकी कल्पना करनी होगी। जैसे कि पूर्वमीमांसाके शेष लक्षणोंमें कहा भी गया है—*'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्'*—धारण क्रिया जब कहीं प्राप्त न हो तो धारणामें विधिकी कल्पना करनी चाहिये। जाबालोपनिषद (४) में पाया जाता है कि ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृही होवे, उसके बाद वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करे और बादमें संन्यास ग्रहण करे अथवा सम्भव होनेपर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थके अक्रमानुसार ही संन्यास ग्रहण करे। मूल बात यह है कि जिस दिन वैराग्य उपस्थित हो, उस दिन ही प्रव्रज्या स्वीकार करे। इस प्रकारसे जाबालोपनिषदमें स्पष्ट निर्देश है।

अन्य वाक्योंमें भी संन्यास आश्रम-प्राप्तिकी अवश्य आश्रयता उपपादित हुई है। अतः अन्य आश्रमोंका भी सद्भाव अर्थात् विधान प्रमाणित होनेके कारण ऋण-श्रुति, यावज्जीव-श्रुति और अपवाद-श्रुति अविरक्त लोगों (गृहस्थों) के सम्बन्धमें ही जाननी चाहिये। ऊर्ध्वरेताओंके सम्बन्धमें आमरण कालपर्यन्त ब्रह्मविद्याका विधान रहनेके कारण विद्यासे ही पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है—यह सिद्ध अर्थात् प्रमाणित हुआ।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

विधिरेवास्ति यथादिष्टोग्निहोत्रे श्रूयते 'अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि देवेभ्यो धारयति' इति वाक्यं भित्त्वोपरिधारणमपूर्वत्वाद्विधीयते तद्वत्।

सकल धारणकी भाँति आश्रमोंकी विधि धारणवत् ही है, यथा अग्निहोत्रमें श्रुत होता है—*'अधस्तात्'* (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ६/८/५) अर्थात् पिण्डपितृ महायज्ञमें विधि है कि आहवनीय अग्निमें हवनकालमें हविसे पूर्ण स्रुग्के (पात्र-विशेषके) नीचे समिधको धारण करता हुआ अनुद्रवण करे (समिधको अग्निहोत्र-हवणीके नीचे सटाकर ले जाये) और देवताओंके लिए तो हविसे ऊपर समिधको धारण करता है—यहाँ धारयतिमें विधिका अभाव है—अतः उपरि—धारणको अनुवाद माना जायेगा। *'अध्स्तात्'* श्रुतिमें समिधका अधोधरण एवं उपरिधारण दोनोंका ही विधान है अपूर्व (अप्राप्त) होनेपर भी उपरिधारणका

विधान माना जाता है। इस प्रकार ऊर्ध्वरेतसोंके आश्रम सिद्ध होते हैं और ऊर्ध्वरेताओंमें विधाके विधानसे विधाकी स्वतन्त्रता सिद्ध होती है॥ २०॥

अवतरणिका भाष्य—उक्तमाक्षिप्य समादधाति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस कथनमें आपत्ति (आक्षेप) करके सूत्रकार समाधान करते हैं—

सूत्र—स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात्॥ २१॥

सूत्रार्थ—'स्तुतिमात्र'—ब्रह्मविद्का यह अर्थवाद—प्रशंसामात्र है—यह विधि नहीं है क्योंकि 'उपादानात्' ज्ञानीकी कर्मविधिको स्वीकार किया गया है 'चेत्' यदि कहते हो तो 'इति न' ऐसा नहीं है 'अपूर्वत्वात्' ब्रह्मविद्के लिए इच्छानुसार कर्माचरण अपूर्व विधि है, स्तुतिमात्र नहीं॥ २१॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मविद्के लिए यथेष्टकर्माचरण अपूर्व विधिके अन्तर्गत है, स्तुतिमात्र नहीं। इन्हें स्वेच्छापूर्वक आचरण करनेकी अनुमति है॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—ज्ञानिनः स्तुतिमात्रमेवैतत् न तु विधिः। यथा प्रीतिप्रात्रं कञ्चित् प्रत्युच्यते यथेष्टं कुर्विवति तेन तस्य स्तुतिरेव स्यात् न तु यथेष्टकृतिविधानं तथैतदपि, ज्ञानिनोऽपि कर्मविधिस्वीकारादिति चेन्न। कुतः? अपूर्वत्वात्। ब्रह्मानुभविनि यथेष्टं कर्माचारस्य अपूर्वविधित्वात् न स्तुतिमात्रं तदित्यर्थः॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह (कामचार) ज्ञानीकी स्तुतिमात्र (प्रशंसामात्र) है, विधि नहीं। दृष्टान्तस्वरूप—जैसे किसी प्रेमभाजन (प्रीतिपात्र) को उद्देश्य करके कहा जाय—'तुम्हारी जैसी इच्छा है, वैसा करो'—इस वाक्यसे उस प्रीतिपात्रकी प्रशंसाकी जाती है, इसके अतिरिक्त उसके प्रति यथेष्ट कर्माचरणका विधान (अनुज्ञा) नहीं जाना जाता, इसी प्रकार 'ज्ञानी यथेच्छानुसार कर्म करे' यह प्रशंसा-वाक्य है, विधि नहीं है—आप यदि यह कहते हो तो ऐसा नहीं है—क्योंकि यह अपूर्व विधि है, कारण ब्रह्म-साक्षात्कारीमें यथेच्छ

भावसे कर्मानुष्ठान विहित है, यह प्राप्त नहीं—(अपूर्व विधि उसे कहते हैं, जिसमें किसी विधिका प्रयोजन किसी भी अन्य प्रमाणसे प्राप्त न हो, जिससे उस प्रयोजनके लिए विधि दी जाय। यागसे स्वर्ग–प्राप्ति होगी, इस प्रयोजनकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नहीं होगी, केवल इसी विधिसे इसका ज्ञान हो सकता है, अतः इसे अपूर्व विधि कहते हैं।) अतएव यह स्तुति अर्थात् प्रशंसामात्र नहीं है—यह अर्थ है॥ २१ ॥

सूक्ष्मा–टीका—स्तुतिमात्रमिति। ज्ञानी यथेच्छं कर्म कुर्यादिति प्रशंसैवेयं न तु विधिः। तस्यापि कुर्वन्नेवेहेति नियमेन कर्मविधानादिति चेन्न। यथेच्छकर्माचारस्य वाक्यान्तरेणाप्राप्तेरपूर्वविधित्वात्। विधिस्त्रिविधः अपूर्वविधिर्नियमविधिः परिसंख्या–विधिश्चेति। तदुक्तम्—विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते इति। मानान्तरेणात्यन्ताप्राप्तस्य विधिरपूर्वविधिः। यथाहरहः सन्ध्यामुपासीत इति ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति च। अत्र सन्ध्यादेः शास्त्रतो रागतः न्यायतो वा क्वचिदप्यप्राप्तेः। ज्योतिष्टोमयाजकस्य स्वर्गार्थत्वमनेनैव विधिना जातं न मानान्तरेण। पक्षे अप्राप्तस्य विधिर्नियमविधिः। यथा ऋतौ भार्यामुपेयात् इति व्रीहीनवहन्तीति च। इह विधेयस्य भार्याभिगमनस्य रागतः प्राप्तावपि रागाभावात् पक्षतोऽप्राप्ते नियमविधिः। एवं वितुषीभावस्य नखविदलनेनापि सिद्धेः पक्षेऽप्राप्तोऽवघातोऽनेन विधीयते। अप्राप्तांशपुरणात्मको नियमोऽत्र वाक्यार्थः। विधेयतत्प्रतिपक्षयोरुभयोः सह प्राप्तावन्यनिवृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः। यथा पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इति। न चेदं भक्षणपरं तस्य रागतः प्राप्तेः। न च नियमपरं पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत् प्राप्तेः पक्षप्राप्त्यभावात्। किन्त्वपञ्च–नखभक्षणनिवृत्तिपरमेवेति भवति परिसंख्याविधिरिति॥ २१ ॥

सूक्ष्मा–सार— *'स्तुतिमात्रमित्यादि'* सूत्रमें पूर्वपक्षी कहते हैं—ज्ञानी यथेच्छ रूपसे कर्म करेंगे, यह ज्ञानीकी प्रशंसा ही है, विधि नहीं है। यदि कहो, *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'* इस वाक्य द्वारा नियमानुसार कर्मका विधान रहा है, तब प्रशंसा–वाक्य किस प्रकारसे होगा, ऐसा नहीं है, यथेच्छ रूपसे कर्मानुष्ठान अन्य वाक्य द्वारा अप्राप्त होनेके कारण वह अर्थवाद (प्रशंसा–वाक्य) नहीं है किन्तु उत्पत्ति–विधि अथवा अपूर्व–विधि है। विधि तीन प्रकारकी है यथा अपूर्वविधि, नियम विधि और परिसंख्या विधि। उसीको स्वरूपतः और लक्षणतः बतलाते हैं— *'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'* इत्यादि एकान्त रूपसे अर्थात् वाक्यान्तरमें और रागतः जो ज्ञात नहीं है, उसका विधान

अथवा व्यवस्था होनेपर उत्पत्ति विधि होती है। *'रागतः'*—प्राप्तवस्तुके रागाभावमें (इच्छाके अभावमें) अवबोधन होनेपर उसका बोधक वाक्य—नियमविधि है और विधेय एवं अविधेय—उन दोनोंकी एक सङ्गमें प्राप्ति होनेपर जो इतर-निवारक वाक्य है, वह परिसंख्याविधि है। इनका विशदार्थ यह है—अन्य किसी प्रमाण द्वारा एकान्त रूपसे अप्राप्त विषयकी विधि अपूर्व विधि अथवा उत्पत्ति विधि है, जिस प्रकार *'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'* यह वाक्य एवं *'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः'*—इस वाक्यमें अपूर्वविधि है क्योंकि प्रतिदिन सन्ध्यानुष्ठान इस वाक्यके अतिरिक्त रागतः (इच्छानुसार) अथवा युक्ति अनुसार किसी भी प्रकारसे प्राप्त नहीं है। इसी प्रकारसे ज्योतिष्टोम यागबोधक-वाक्य जो स्वर्गफल प्रद है, वह (प्रयोजन-सिद्धि) अन्य वाक्य द्वारा ज्ञात नहीं है—केवल यह विधि-वाक्य द्वारा ही ज्ञात है और *'कष्टंकर्म'* इस न्यायसे क्योंकि कर्ममात्र ही कष्टकर है, अतएव रागतः उसमें प्रवृत्ति भी नहीं होती और स्वर्गफलदान विषयमें प्रत्यक्षादि प्रमाण भी नहीं है, इसलिए उसका बोधक यह वाक्य अपूर्व (असिद्ध) विधि है। पक्षे—अर्थात् रुचिके (इच्छाके) अभावपक्षमें अबोधन होनेपर अप्राप्त विषयका विधान नियमविधि है। (जहाँपर अनेक साधनोंसे क्रियाकी सिद्धि हो सके, एक साधन प्राप्त हो किन्तु दूसरे अप्राप्त—तो इन अप्राप्त कारणोंका बोध करानेवाली विधि नियम विधि कहलाती है।) जिस प्रकार *'ऋतौ भार्यामुपेयात्'* ऋतुकालमें (गर्भाधानके लिए उपयुक्त कालमें) अपनी भार्याके साथ गमन करे, यह रुचिके अनुसार प्राप्त है किन्तु रुचि न रहनेपर ऋतुमें भार्यागमन जो करणीय है—वह दूसरे किसी प्रमाण द्वारा प्राप्त नहीं है, उसीका बोध करानेमें यह विधि नियमविधि है। इसी प्रकार *'व्रीहीनवहन्ति'*—धानको मूषल द्वारा आघात (प्रहार) करके तुषहीन (भूसीरहित) करें, यहाँ नख द्वारा वितुषीकरण प्राप्त है (नखसे धान्यको तुषहीन न किया जाय) किन्तु तदभावमें (उसके अभावमें) जो अप्राप्त है, इसका बोध करानेमें यह नियम विधि है। यहाँ अप्राप्त अंशका पूरणात्मक (पूर्ण किया जाना) नियम वाक्यार्थ है। (तुषसे रहित करना नाना उपायोंसे हो सकता है—कोई धानको नाखुनोंसे छील सकता है, कोई चक्कीमें दल सकता है, कोई अवघात कर सकता है, आदि। जब कोई व्यक्ति

अवघात [मूसलसे छाँटना] छोड़कर किसी दूसरे उपायको ग्रहण करना चाहता है तो अवघातकी अप्राप्ति हो जाती है। इस विधिके द्वारा उसी अप्राप्त अवघातका नियमन करते हैं, अन्य उपायोंसे नहीं, केवल अवघातके द्वारा ही धानका तुष छुड़ायें। पाक्षिक रूपसे अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति करानेवाली विधि नियम-विधि है।) जो विधेय और उसका प्रतिपक्ष—इन दोनोंके एक साथ प्राप्ति स्थलपर विधायक भी नहीं है और नियामक भी नहीं है—ऐसे स्थलपर जो अन्य-निवृत्तिका बोध करा देती है, वही परिसंख्या विधि है। (नियम-विधिमें तो एक की अप्राप्ति और दूसरेकी प्राप्ति रहनेपर अप्राप्त वस्तुकी पूर्त्तिकी जाती है, परिसंख्या विधिमें एक ही साथ दो की प्राप्ति रहती है और तब एक की निवृत्ति करते हैं) जिस प्रकार *'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'* (वाल्मीकि-रामायण किष्किन्धा-काण्ड १७/३७) शशक (खरगोश) शजारू (साही अथवा शल्लकी) गोधा (मगरमच्छ) गण्डार (गेंडा) एवं कूर्म (कछुआ) ये पाँच नखवाले प्राणी भक्षणीय हैं—यह विधि रागतः प्राप्त होनेके कारण उत्पत्ति वाक्य नहीं है और इन पाँच प्राणियोंके अतिरिक्त पञ्चनख विशिष्ट प्राणियोंका भक्षण भी एक साथ रागतः प्राप्त है। अतएव रुचिके अभावमें जो अपञ्चनख-भक्षण अप्राप्त होगा, वह भी नहीं है क्योंकि वह भी रागतः प्राप्त है, अतएव नियमविधि हो नहीं सकती, तब क्या होगा? विधिबोधक ण्यत् प्रत्यय भक्ष्य पदमें रहता है। इस सङ्गतिके कारण उक्त पाँच प्राणियोंके अतिरिक्त किसी दूसरे पञ्चनख भक्षणका निवृत्तिबोधक यह वाक्य है, यह निवृत्ति परिसंख्या द्वारा होती है, इस कारण परिसंख्याविधि है। (इस विधिमें एक ही साथ दो की प्राप्ति रहती है और तब एककी निवृत्ति करते हैं।)॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी यदि कहते है कि ज्ञानी यथेच्छ कर्म करें—यह कथन स्तुतिमात्र है—यह विधि नहीं है—प्रस्तुत सूत्रमें इसी आपत्तिको उठाते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्मज्ञानीके लिए यथेच्छ भावसे कर्मानुष्ठान (कर्माचार) अन्य वाक्य द्वारा अत्यन्त अप्राप्त होनेके कारण यह अर्थवाद नहीं है, किन्तु एक उत्पत्ति विधि अथवा

अपूर्वविधि है। अपूर्व विधिका स्वरूप और लक्षण जैसा कि भाष्य एवं टीकामें बतलाया है कि एकान्त भावसे अर्थात् वाक्यान्तरमें रागतः (इच्छानुसार) जो ज्ञात नहीं है, उसकी व्यवस्था अथवा विधान होना अपूर्व अथवा उत्पत्ति विधि कहलाती है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१८/२८)

अर्थात् ज्ञाननिष्ठ, बाह्य विषयोंसे विरक्त और मोक्षकी कामनासे रहित मेरे भक्तोंको त्रिदण्ड सहित संन्यास धर्मको भी परित्यागकर विधि और निषेधके अधीन न होकर यथोचित धर्मका आचरण करना चाहिये।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

विधि-धर्म छाड़ि भजे कृष्णेर चरण।
निषिद्ध पापाचारे तार कछु नहे मन॥

(चै॰च॰म॰ २२/१३७)

अर्थात् जो वैदिक विधिगत समस्त धर्मोंका परित्याग करते हुए निष्किञ्चन होकर भजन करते हैं, उनकी स्वभावतः किसी निषिद्ध पापाचारमें मति नहीं होती।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है कि छान्दोग्यमें कहा है—*'स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः'* (छा॰ १/१/३) अर्थात् यह (पृथ्वी, जल, ओषधि इत्यादि) रसोंका परम रस (श्रेष्ठ रस) आठवाँ उद्‌गीथ (सामवेदध्वनि-प्रणय) नामका रस है। इस स्थलपर विषय यह है कि ये जातीय वाक्य क्या क्रतुके अवयवभूत (यज्ञके अङ्गरूप) उद्‌गीथ आदिके स्तुतिमात्र परक हैं? अथवा उद्गीथादिमें रसतम आदि दृष्टिके विधायक अर्थात् रसतममात्र दृष्टिसे चिन्तनीय हैं? पूर्वपक्ष कहता है कि इस विषयमें यज्ञाङ्गरूप आदिके उपादान होनेसे इन वाक्योंका स्तुतिमात्र ही विवक्षित है) पूर्वपक्षके इस स्तुतिमात्र-वादके उत्तरमें सिद्धान्त यह है कि नहीं, इसे स्तुतिपरक

कहना युक्तियुक्त नहीं है और ऐसा किसी श्रुतिमें भी प्रमाण नहीं मिलता। अपूर्वत्वात् अर्थात् अप्राप्तत्वात्—उद्गीथ आदिकी रसतमता अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है। अतः केवल रसमयताको (श्रेष्ठताको) स्तुतिमात्र नहीं कहा जा सकता। अतएव क्रतुके (यज्ञके) वीर्यवत्तरत्वादि (यज्ञकी प्रबलतम) फल-प्राप्तिकी फलश्रुतिके आधारपर उद्गीथादिमें रसमयता दृष्टि-विधान न्याय-सङ्गत है, स्तुति परकता नहीं।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

स्तुतिमात्रमेव स्वेच्छाचरणं न विधिः। तैरपि सामान्य विधिस्वीकारा दिति चेत्। नापूर्वत्वात् परवशत्वात् सर्वविध्यतिक्रमेण स्तुतिमात्र विषयत्वं परब्रह्मण एव हि। 'विधीनां विषयास्त्वन्ये ब्रह्मणः स्वेच्छया कृतौ। परस्य ब्रह्मणो ह्येव सर्वविध्यति दूरत इति' हि ब्रह्मतर्के।

अर्थात् ज्ञानियोंकी स्वेच्छाचरण विधि स्तुतिमात्र है, कोई विधि नहीं है क्योंकि ज्ञानी सामान्य विधि स्वीकार करते हैं—'सन्ध्या-उपासना करें'—यह सर्वजन साधारण विधि है। स्वेच्छाचार विधि स्वीकार करते हैं तो उक्त सन्ध्योपासन विधिका अयोग होता है—यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि ज्ञानियोंकी स्वेच्छाचार विधिके व्यतिरेक स्तुतिमात्र विषय होनेपर समस्त विधियाँ ही ज्ञानियोंके लिए सुदूर ही पराहत होंगी। इसलिए उनके लिए समस्त विधियोंका बाध हुआ है। सर्व विधियोंके अतिक्रममें केवल ब्रह्म ही स्तुतिमात्रके विषय सुने जाते हैं। ब्रह्मतर्कमें उल्लेख है कि केवल ब्रह्म ही सकल विधियोंके अतिक्रान्त हैं। विधियोंके विषय तो ब्रह्माने स्वेच्छासे औरोंके लिए बनाये हैं॥ २१॥

सूत्र—भावशब्दाच्च॥ २२॥

सूत्रार्थ—'च' और 'भावशब्दात्'—मुण्डकोपनिषदमें भाव अर्थात् रतिवाचक शब्दयुक्त वाक्यसे भी जाना जाता है कि परिनिष्ठित ब्रह्मरत व्यक्तिके समयाभावके कारण केवल लोकसंग्रहके लिए यत्किञ्चित कर्मानुष्ठान है। अतएव ब्रह्मविद्या कर्मनिरपेक्ष होनेसे मुक्तिप्रद है॥ २२॥

सूत्रानुवाद—प्राणो ह्येषेति श्रुतिमें भाववाचक रति शब्दका प्रयोग है। ब्रह्मरत परिनिष्ठित ज्ञानीका यावत् कर्मानुष्ठानमें अवसर नहीं है,

इसलिए लोकसंग्रहके लिए किञ्चित कर्मका अनुष्ठान है। अतएव ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र है॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—मुण्डके *"प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः"* (मु॰ ३/१/४) इति भाववाचकशब्दोपेतात् वाक्यादित्यर्थः। भावो रतिः प्रेमा चेति पर्यायशब्दाः। अयं भावः। ब्रह्मरतस्य परिनिष्ठितस्य तत्समयालाभात् लोकसंग्रहायैव कथञ्चित् किञ्चित् कर्मानुष्ठानमिति स्वतन्त्रा ब्रह्मविद्या॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मुण्डकोपनिषद (३/१/४) में उल्लिखित है—*'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ... वरिष्ठः'* इत्यादि अर्थात् श्रीहरि प्राणस्वरूप हैं। वे समस्त प्राणियोंके सहित (अन्तर्यामी रूपमें) प्रकाशित होते हैं अर्थात् वे सर्वाधिष्ठान हैं—इस प्रकारसे जानकर ब्रह्मविद् व्यक्ति प्राणियोंके लिए उद्वेगजनक नहीं होंगे। वे श्रीहरिके साङ्गोपाङ्ग (पार्षदों) के साथ क्रीड़ा करेंगे। श्रीहरिके गुणोंमें ही उनका चित्त निमग्न रहेगा और अवसरके समान (गौणकालमें) नित्य क्रियानुष्ठायी होंगे। इस भाववाचक शब्दयुक्त वाक्यसे भी जाना जाता है कि ब्रह्मविद्‌का कर्मानुष्ठानमें अवसर नहीं है अर्थात् समयका अभाव है। भाव, रति और प्रेम एक ही पर्यायवाची शब्द हैं। यहाँ आत्मरतिः शब्दके अन्तर्गत रति शब्द भाववाचक है। भावार्थ यह है कि ब्रह्ममें रतिसम्पन्न परिनिष्ठित व्यक्तिको कर्मानुष्ठानका समय प्राप्त न होनेके कारण केवल लोक-संग्रहके लिए ही किसी रूपमें यत्किञ्चित् कर्मका अनुष्ठान कहा गया है। अतएव ब्रह्मविद्या—कर्मनिरपेक्ष है॥ २२॥

सूक्ष्मा-टीका—भावशब्दादिति। प्राणो हीति। प्राणो हरिः सर्वभूतैः सह विभाति सर्वाधिष्ठानं स इत्यर्थः। एवं विजानन् विद्वान्नातिवादी भूतोद्वेजको न भवेदिति परनिन्दाविद्वेषयोरभावेन शमादिमानित्यर्थः। आत्मक्रीडस्तत्परिकरैः सह तत्क्रीडासाधकः। आत्मरतिस्तद्गुणनिमग्नमनाः। क्रियावान् गौणकाले नित्य-कर्मानुष्ठायी॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार— *'भावशब्दादिति'* सूत्रमें। प्राणो हीत्यादि श्रुति है। इसका अर्थ है—प्राण अर्थात् श्रीहरि—समस्त प्राणियोंके साथ (अन्तर्यामी रूपमें) प्रकाश पाते हैं अर्थात् वे सर्वाधिष्ठान हैं। इस प्रकार जानकर

ब्रह्मविद् व्यक्ति किसी भी प्राणीके लिए उद्‌वेगजनक नहीं होंगे अर्थात् परनिन्दा पर-विद्वेषको छोड़कर शमादिमान होंगे। आत्मक्रीड इति—भगवान्‌के पारिषदोंके साथ वे उनकी क्रीड़ाके निर्वाहक होंगे और आत्मरति अर्थात् उनके गुणोंमें वे निमग्नचित्त रहेंगे, गौणकालमें नित्य कर्मानुष्ठायी होंगे॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रुतिमें भाववाचक अर्थात् रतिवाचक शब्द रहनेके कारण ब्रह्मरत परिनिष्ठित ज्ञानियोंके समयाभावके कारण लोक-संग्रहके निमित्त कुछ कर्मानुष्ठान कहे गये हैं किन्तु ब्रह्मविद्या कर्म निरपेक्ष रूपसे ही मुक्तिप्रद है।

न्यायवेत्ताओंका स्मरण (कथन) है कि—

कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्।
एतत् स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥

अर्थात् कुर्यात—करे, क्रियेत—किया जाय, कर्त्तव्यम्—करने योग्य है, भवेत्—होगा और पञ्चम स्यात्—होगा—सब वेदोंमें यह नियत विधिका लक्षण (लिङ्ग) है।

भाववाचक श्रुति है—

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति,
विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा,
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥

(मु॰ ३/१/४)

सर्वव्यापी परमेश्वर ही सबके प्राणस्वरूप हैं अर्थात् सबके प्राणोंके प्राण और जीवनके जीवन हैं। समस्त प्राणियोंमें वे अन्तर्यामी रूपसे प्रकाशित हैं। इस तत्त्वको जो जानते हैं और साक्षात् करते हैं, वे कभी भी अतिवादी नहीं होते अर्थात् भगवत्-तत्त्वकी महिमाके बिना अन्य बातें नहीं करते। जो प्रकृत ब्रह्मविद् (भगवत्-तत्त्वज्ञ) हैं, वे आत्मामें ही क्रीड़ाशील हैं—वे देह, स्त्री, पुत्रादिमें क्रीड़ाशील नहीं हैं, वे आत्मरति विशिष्ट हैं अर्थात् भगवत्-प्रेमी हैं। वे श्रीभगवान्‌की प्रीतिके लिए ही सेवा-परायण रहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें है—

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१८/३६)

जिस प्रकार मैं अपनी इच्छासे ही जगत्में अवतीर्ण होता हूँ और कर्म करता हूँ, उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी विधि और निषेधके किङ्कर न होकर इच्छानुसार शौच, आचमन, स्नान और दूसरे कर्मोंको करेंगे।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१८/२८)

ज्ञाननिष्ठ, बाह्य विषयोंसे विरक्त एवं मोक्षकी कामनासे रहित मेरे भक्तोंको त्रिदण्ड सहित संन्यास धर्मका भी परित्यागकर विधि और निषेधके अधीन न होकर यथोचित धर्मका आचरण करना चाहिये।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

यथा विधानमपरे विधिर्भावे प्रजायते। ब्रह्मणः परमस्यैव सर्वविध्यति दूरत इति हि च तुर श्रुतौ।

अर्थात् ज्ञानियोंकी स्वेच्छाचार विधिमें *'येन स्यात्'* स्फुटतर प्रमाणके होनेपर यह (स्वेच्छाचरण) उपपन्न हो सकता है। इस आशङ्कापर प्रमाणका प्रदर्शन करते हैं—तुर श्रुतिमें उल्लेख है कि साधारणके (ब्रह्मेतर ज्ञानीके) स्वेच्छाचरण विषयमें विधि हो सकती है, परब्रह्म श्रीहरिको समस्त विधियोंसे बहिर्भूत (दूर) जानना चाहिये॥ २२॥

अवतरणिका भाष्य—अथ प्रकारान्तरेणाशङ्क्य समाधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद प्रकारान्तरसे (अन्य प्रकारसे) आशङ्का करते हुए समाधान करते हैं।

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादिकं विस्फुटार्थम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'अथ प्रकारान्तरेण'* इत्यादि भाष्यार्थ सुस्पष्ट है।

सूत्र—पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात्॥ २३॥

सूत्रार्थ—'पारिप्लवार्था'—जो श्रुतियाँ उपाख्यान द्वारा ब्रह्मविद्याका निरूपण करती हैं, वे सभी पारिप्लवके लिए हैं, 'चेत्' यदि यह कहते हो तो 'इति न' ऐसा नहीं है 'विशेषित्वात्' क्योंकि कतिपय उपाख्यान पारिप्लव नामसे विशेषित हैं किन्तु वेदान्तके समस्त उपाख्यान कर्माङ्ग नहीं हैं॥ २३॥

सूत्रानुवाद—सभी आख्यान पारिप्लवार्थक नहीं माने जाते। प्रयोगके लिए विशेष आख्यानोंका ही उल्लेख प्राप्त होता है—'आख्यानका पाठ करो'—ऐसा विधान बतलाकर 'सूर्यवंशमें मनु नामक राजा हुए' इत्यादिमें विशेष आख्यानोंका उल्लेख किया गया है। इससे निश्चित होता है कि वेदान्तके सभी आख्यान पारिप्लव प्रयोगके लिए नहीं हैं, अपितु विद्यार्थक भी हैं॥ २३॥

गोविन्दभाष्य—बृहदारण्यकादिषु *"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च"* (बृ॰आ॰ ४/५/१) इति। *"भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्म"* इति। (तै॰ ३/१/१) *"प्रतर्द्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम"* (कौ॰ब्रा॰ ३/१) इति, *"जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस"* (छा॰ ४/४/१) इति चैवमादिभिरुपाख्यानैः श्रुतिभिर्ब्रह्मविद्या निरूप्यते। ताश्च पारिप्लवार्था उत ब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्था इति वीक्षायां पारिप्लवार्था इति विज्ञायते सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे शंसन्तीति श्रवणात्। शंसने च शब्दमात्रस्य प्राधान्येनार्थज्ञानस्य अतथात्वादाख्यानप्रतिपन्ना ब्रह्मविद्या मन्त्रार्थवादार्थवद्-प्रयोजिकैवेति कर्मशेषता तस्या नाख्यातुं शक्यातः प्रधानता तु सुदुरोत्सारिता धर्मिण एवासिद्धेरिति चेन्न। कुतः? विशेषितत्वात्। पारिप्लवमाचक्षीतेति प्रकृत्य तत्र प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतो राजेति द्वितीयेऽहनीन्द्रो वैवस्वतो राजेति तृतीयेऽहनि यमो वैवस्वतो राजेत्याख्यानविशेषास्तत्र तत्र विनियुज्यन्ते। तत्राख्यानसामान्यग्रहे दिवसविशेषे आख्यानविशेषविधिरनर्थकः स्यात्। ततश्च सर्वाणीति तत्प्रकरणपठितान्येव ज्ञेयानि। तस्मात् वेदान्ताख्यानानि पारिप्लवप्रयोगार्थानि नेत्यर्थः॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—बृहदारण्यकादि उपनिषदमें वर्णित कुछ उपाख्यानों द्वारा श्रुतियाँ ब्रह्मविद्याका निरूपण करती हैं यथा *'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य ... मैत्रेयी कात्यायनी च'* (बृ॰आ॰ ४/५/१) अर्थात् याज्ञवल्क्य मुनिकी मैत्रेयी और कात्यायनी नामकी दो पत्नियाँ थीं। *'भृगुर्वै ...*

ब्रह्मेति' (तै० ३/१/१) अर्थात् वरुणके पुत्र भृगुने पिता वरुणके निकट उपस्थित होकर कहा, भगवन्! आप मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश दीजिये इत्यादि। *'प्रतर्दनो ... धामोपजगाम'* (कौषीतकी-ब्राह्मणोपनिषत् ३/१) अर्थात् दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन इन्द्रके प्रिय स्थान स्वर्गको गया था। *'जानश्रुतिर्ह ... बहुपाक्य आस'* (छा० ४/१/१) अर्थात् जनश्रुतका पुत्र जानश्रुति पौत्रायण दानरत था अर्थात् बहुत लोगोंको श्रद्धापूर्वक दान करता था, बहुत देनेके स्वभाववाला था और बहुत लोगोंको भोजन कराता था इत्यादि उपाख्यानोंके वर्णन द्वारा श्रुतियाँ ब्रह्मविद्याका निरूपण करती हैं। यहाँ संशय यह है कि ये श्रुतियाँ पारिप्लवार्थ (कर्माङ्ग) के रूपमें जानी जाती हैं? अथवा ब्रह्मविद्याके प्रतिपादनके लिए हैं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि सभी उपाख्यान पारिप्लवार्थमें (अस्थिरार्थमें) ही कहे गये हैं अर्थात् संशय प्रकाश करते हैं इस प्रकारका शंसन (कथन अथवा प्रशंसा) श्रुत है। शंसन विषयमें शब्दमात्रका ही प्राधान्य होता है, अर्थज्ञानकी वहाँ प्रधानता नहीं होती। अतएव इन आख्यानों द्वारा बोधित जो ब्रह्मविद्या है, वह मन्त्रभाग और अर्थवादके अर्थकी भाँति अप्रधान होनेके कारण अप्रयोजिका मात्र है अर्थात् प्रयोजन-साधिका नहीं है—अतः इस ब्रह्मविद्याकी कर्माङ्गताका प्रत्याख्यान (निषेध) नहीं किया जा सकता। विद्याका प्रधानत्व तो बहुत दूर ही उत्सारित हो (चला) जाता है क्योंकि मन्त्रके अर्थवादकी तरह वेदान्तमें वर्णित उपाख्यानोंकी विफलताके कारण उनकी फलीभूत ब्रह्मविद्याका स्वरूप निष्पन्न (सिद्ध) नहीं होता अर्थात् धर्मोंकी असिद्धि होती है। पूर्वपक्षीके इस मतके खण्डनके लिए कहते हैं—ऐसा यदि कहते हो तो यह हो नहीं सकता क्योंकि ये श्रुतियाँ पारिप्लव विशेषणसे विशेषित हैं। किस प्रकार? *'पारिप्लवमाचक्षीत'*—पारिप्लवका प्रकथन करे (तद् विशेष आख्यानोंको कहे) यह कहकर आख्यानोंका वर्णन आरम्भ किया गया। इसके बाद इस पारिप्लवमें पहले दिनमें (अश्वमेधके प्रथम दिनमें) में मनु वैवस्वत राजा, द्वितीय दिनमें इन्द्र वैवस्वत राजा, तृतीय दिनमें यम वैवस्वत राजा—ये सब विशेष-विशेष उपाख्यान उस-उस पारिप्लव-विशेषमें प्रयुक्त हुए हैं। यदि इनमेंसे जिस किसी भी उपाख्यानको

सामान्य रूपमें ग्रहण कर लिया जाय तब दिनविशेषमें विभिन्न उपाख्यानोंके ग्रहणका निर्देश अनर्थक होता है। अर्थात् आख्यान-विधि व्यर्थ होती है। अतएव *'सर्वाणाख्यानानि पारिप्लवे शंसन्ति'*—इस वाक्यमें सर्व शब्दसे यह बोधित होता है कि पारिप्लवमें समस्त उपाख्यानोंका शंसन कहे जानेसे तात्पर्य है कि उस (एक ही) प्रकरणमें पठित सारे उपाख्यान शंसनीय हैं। अतएव सिद्धान्त यह है कि वेदान्त-शास्त्रमें जिन उपाख्यानोंका वर्णन है, वे सभी पारिप्लार्थ प्रयोगादि नहीं हैं अर्थात् सभी वेदान्त-आख्यान अस्थिरार्थ नहीं हैं॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—पारिप्लवार्था इति। ताश्चेति। अत्रापि पूर्वेव सङ्गतिबोध्या। स्वप्रभावेण निखिलप्रत्यवायविनाशित्वात् स्वतन्त्रा ब्रह्मविद्येति पूर्वमुक्तम्। तन्न युज्यते। आख्यानप्रतिपन्नायास्तस्याः पारिप्लवार्थायाः कर्माङ्गत्वायोगेन स्वातन्त्र्यवार्त्तायाः सुदूरापास्तत्वादित्याक्षिप्य तत्र समाधानात्। पूर्वपक्षे पुमर्थहेतुत्वासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तु तत्सिद्धिरिति बोध्यम्। पारिप्लवार्था इति। अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय यजमानाय राज्ञे नानाविधकथाकथनं पारिप्लवशब्देनाभिधीयते। तदर्था एव वेदान्तकथा अपीति पूर्वपक्षाभिप्रायः। अतथात्वादिति अप्राधान्यादित्यर्थः। अप्रयोजिका प्रयोजनसाधिका नेत्यर्थः। तस्या ब्रह्मविद्यायाः। धर्मिण एवासिद्धेरिति। मन्त्रार्थवादभागवद्-वेदान्तोपाख्यानानामपि नैरर्थक्येन तदर्थभूताया विद्यायाः स्वरूपानिष्पत्तेरित्यर्थः। समाधत्ते विशेषितत्वादिति। पारिप्लवमाचक्षीतेत्युपक्रम्य मनुर्वैवस्वतो राजेत्यादिवाक्यशेषे कासाञ्चिदेव कथानां पारिप्लवशब्देन विशेषितत्वात् न वेदान्तकथानां तच्छेयत्वमित्यर्थः। किञ्चाख्यानविलक्षणा अपि केनैतरेयकादयो वेदान्ताः सन्ति तेषां तच्छेषत्वशङ्कापि न शक्या कर्त्तुमतो विद्याप्रतिपत्त्यर्था एव सर्वे ते इति॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार— *'पारिप्लवार्था'* इत्यादि सूत्रमें। *'ताच्चपारिप्लवार्था'* इत्यादि भाष्यमें। इस अधिकरणमें भी पूर्वाधिकरणकी सङ्गतिके समान सङ्गति (आक्षेप) जाननी चाहिये। पहले कहा गया था कि ब्रह्मविद्या अपने प्रभावसे समस्त प्रत्यवायोंका नाश करती है इसलिए यह कर्मनिरपेक्ष है। यह उक्ति युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उपाख्यान द्वारा ज्ञात पारिप्लवार्थ ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग नहीं है, यह निर्देशकर जो उसके स्वातन्त्र्यकी बात कही गयी है, वह तो दूरसे ही पराहत है अर्थात् जो ब्रह्मविद्या पारिप्लवार्थ है, वह कर्मनिरपेक्ष कैसे हुई? पूर्वपक्षीके आक्षेपके समाधानके लिए इसमें आक्षेप-सङ्गति जानना चाहिये।

पूर्वपक्षीके मतमें ब्रह्मविद्याका पुरुषार्थ-साधनत्व असिद्ध है, यह फल है। सिद्धान्तीके मतमें पुरुषार्थ-साधनत्व सिद्ध है, यह सिद्धान्त है; यह जानना चाहिये। *'पारिप्लवार्था उत ब्रह्मविद्या प्रतिपत्यार्था'* प्रतिपत्तिका अर्थ है प्रतीति अथवा स्तुति)—अश्वमेधयज्ञमें पुत्रादिसे परिवेष्टित (सपरिवार) व्रती राजाके निकट जो नाना प्रकारके उपाख्यानोंका वर्णन किया गया था, उसे ही पारिप्लव शब्दसे कहा जाता है। पूर्वपक्षका अभिप्राय है कि वेदान्तके उपाख्यान भी यही 'पारिप्लवार्थक ही हैं'। 'अतथात्वात्' अप्राधान्यके कारण ब्रह्मविद्या मन्त्र और अर्थवादके अर्थके समान अप्रयोजिका अर्थात् प्रयोजन-साधक (मुक्तिसाधक) नहीं है। *'तस्या नाख्यातुं शक्या।'* इति—तस्याः ब्रह्मविद्याकी कर्माङ्गता का प्रत्याख्यान (निषेध) नहीं किया जा सकता। अतएव ब्रह्मविद्याकी कर्मनिरपेक्षताके कारण प्रधानत्व सुदूर ही पराहत है क्योंकि *'धर्मिण एवासिद्धेरिति'* मन्त्र अर्थवादादि वेदभागके समान वेदान्तोपाख्यान भी निरर्थक हैं। इन आख्यानोंके निरर्थकत्वके फलस्वरूप ब्रह्मविद्याकी भी स्वरूपानिष्पत्ति (स्वरूप-असिद्धि) है। सुतरां *'विशेषित्वात्'*—इस विशेष हेतु द्वारा सूत्रकार इस पक्षका समाधान (खण्डन) करते हुए कहते हैं कि—*'पारिप्लवमाचक्षीत'* पारिप्लव उपाख्यानका प्रकथन करो—इस विधिके उपक्रममें *'मनुर्वैवस्तो राजा'* (शत॰ब्रा॰ १३/४/३) इत्यादि जो वाक्य कहे गये हैं, उनमें कुछ उपाख्यान पारिप्लव शब्दके द्वारा विशेषित है अर्थात् वह-वह उपाख्यान पारिप्लव (विशेष) शब्दके द्वारा बोधित है, इसके अतिरिक्त वेदान्त-वर्णित उपाख्यानमात्र ही पारिप्लवका अङ्ग नहीं है। और एक बात है, केनोपनिषद, ऐतरयोपनिषद इत्यादि जो वेदान्त हैं, उनमें पारिप्लवाङ्गत्वकी शङ्का भी नहीं की जा सकती। अतएव ब्रह्मविद्या-प्राप्तिके लिए ही समस्त वेदान्त है, यही सिद्धान्त है॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार अन्य एक प्रकारसे आशङ्का उठाते हुए समाधान करते हैं कि कोई यदि कहे—क्योंकि बृहदारण्यकादि उपनिषदमें कुछ उपाख्यानोंके द्वारा ब्रह्मविद्याका निरूपण किया गया है, इसलिए ये सभी श्रुतियाँ पारिप्लवार्थ अर्थात् पारिप्लव नामक कर्माङ्ग कही जायेंगी। पूर्वपक्षमें इस असङ्गतिका प्रदर्शन करते हुए सूत्रकार

कहते हैं कि नहीं, पारिप्लवार्थ हो नहीं सकता क्योंकि *'विशेषितत्वात्'* अर्थात् कुछ उपाख्यान पारिप्लव विशिष्ट इस प्रकार विशेष करके कहे गये हैं। इस स्थलपर मनु इत्यादि की आख्यायिकाओंको ही विशेष करके पारिप्लव प्रयोगमें कहा गया है। सामान्यतः सभी आख्यानोंको एक अर्थमें ग्रहण करनेपर आख्यान विशेषकी विधि अनर्थक हो पड़ती है। अतः उक्त स्थलपर 'सर्व' शब्दसे उस प्रकरणमें पठित उपाख्यानोंको ही जानना होगा। अतएव समस्त वेदान्त-आख्यान पारिप्लवार्थक नहीं है। वेदान्त-विद्या नितान्त दुरुह है, उपाख्यानोंकी सहायतासे एक अबोध व्यक्ति भी उसे ग्रहण कर लेता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्॥

(श्रीमद्भा० ११/२१/३५)

अर्थात् उद्धवजी! वेदमें तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीनों काण्डोंके द्वारा आत्माका ब्रह्मत्व ही प्रतिपादन किया गया है। सांसारित्व प्रतिपादन उनका उद्देश्य नहीं है। मन्त्र या मन्त्रदर्शी ऋषियोंने इसे स्पष्ट रूपमें नहीं बतलाया है, क्योंकि परोक्ष ही मुझे अत्यन्त प्रिय है। निर्मल चित्तवाले व्यक्तियोंका ही इसमें अधिकार है। वे ही परोक्षवाद स्पष्ट रूपसे समझ सकते हैं। अनधिकारी व्यक्तियोंमें उसे समझनेका सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि समझ लेनेपर चित्त-शुद्धि करनेवाले कर्मका भी त्यागकर वे भ्रष्ट हो सकते हैं।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन॥

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्व्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० ११/२१/४२-४३)

अर्थात् वह वेदवाणी कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है, उपासना-काण्डमें मन्त्रोंके द्वारा किन देवताओंका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमें किन प्रतीतियोंका अनुवाद करके उनमें अनेकों प्रकारके

विकल्प करती है, इस सम्बन्धमें इस बातको अर्थात् श्रुतिके रहस्यको मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें यज्ञरूपी मेरा ही विधान करती हैं और उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें वे मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें भी आकाश आदि रूपोंमें मुझमें ही अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध करती हैं। श्रुतियोंका इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेदका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके परमार्थस्वरूप मुझमें ही शान्त हो जाती हैं। केवल अधिष्ठान रूपसे मैं ही शेष रह जाता हूँ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

मुख्य-गौण-वृत्ति किंवा अन्वय व्यतिरेके।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्णके॥

(चै॰च॰म॰ २०/१४६)

अर्थात् रूढ़ि और लक्षणा-वृत्ति अथवा अन्वय और व्यतिरेकसे देखनेपर भी कृष्ण ही वेदके प्रतिपाद्य विषय रूपमें निर्दिष्ट हैं।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

वेदान्तेष्वाख्यान श्रुतयः पारिप्लवार्था इति न मन्तव्यम्। 'पारिप्लवमाचक्षीत' इत्युक्त्वा 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्यादिना कासाञ्चिद्विशेषितत्वात्।

वेदान्त-आख्यानोंमें (उपनिषद कथानकोंमें) सुनी जानेवाली श्रुतियाँ पारिप्लवार्थ हैं—ऐसा नहीं मानना चाहिये। *'पारिप्लवमाचक्षीत'* (पारिप्लवको कहें) यह प्रस्तुत करके यही कहा—*'मनुर्वैर्वस्वतो राजा'* इत्यादि मनु आदि राजाओंके कतिपय (निश्चित) उपाख्यान विशेषितत्वके कारण कहे गये। ये उपाख्यान विशेषण रूपसे पठित है, वे राजाके मनोरञ्जन मात्रके लिए है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'केन स्याद् येन स्यादित्यादयः स्थिरत्वनिवृत्त्यर्था इति चेन्न त्रेधा ह वाव ज्ञानिनो विधिनियता अनियताः स्वेच्छानियता इति। विधिनियता मनुष्या अनियता हि देवा ब्रह्मैव स्वेच्छा नियतमिति गोपवन श्रुतौ विशेषितत्वात्।'

अर्थात् पूर्वोक्त अर्थका समाधान करते हैं—प्रथमतः जैमिनि मतानुसार ज्ञानियोंके लिए प्रातःकाल उठकर सन्ध्या-वन्दनादि समस्त कार्य कहे गये हैं। बादमें *'यस्त्वात्मरतिः'* (श्रीगी॰ ३/१७) इत्यादि श्रुतिके अनुसार ज्ञानियोंका स्वेच्छाचार अनुमित हो रहा है। पुनः *'यथाविधानम्'* इत्यादि तुर-श्रुति प्रमाणसे—स्वेच्छाचार कहा गया है। इस प्रकार इस समय तीन प्रकारसे परस्पर विरोध देखा जा रहा है। इस विरोधके परिहारके लिए कहते हैं कि *'केन स्याद् येन स्यात्'* इत्यादि स्थिरनिवृत्यर्थक (अस्थिरार्थक) वचन हैं। गौपवन-श्रुतिमें उल्लेख है कि ज्ञानी तीन प्रकारके हैं—विधिनियत (विधिसे नियत), अनियत और स्वेच्छानियत। इनमें मनुष्य विधिनियत हैं, देवगण अनियत हैं और ब्रह्म स्वेच्छानियत हैं। अतः मनुष्यादि तीनोंके उक्त तीन प्रकार सुसङ्गत हैं।

निष्कर्षतः पारिप्लवमें विशेषित्व है (विशेष कथाका विहितत्व है)। यदि आख्यानकी तुलनासे सब आख्यानोंका ग्रहण तो यह विशेषण अनर्थक हो जायेगा।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(श्रीगी॰ ३/१७)

अर्थात् जो व्यक्ति आत्माराम हैं और आत्मामें ही तृप्त रहनेवाले हैं तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हैं, उनके लिए कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है॥ २३॥

सूत्र—तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्॥ २४॥

सूत्रार्थ—'तथा च' समस्त वेदान्तोपाख्यानके पारिप्लवार्थक न होनेपर उनकी सन्निधिमें स्थित उन्हें ब्रह्मविद्या-प्राप्तिको उपयोगी कहना ही युक्तिसङ्गत है क्योंकि 'एकवाक्यतोपबन्धात्' एक-वाक्यताके अनुरोधसे वही उचित है॥ २४॥

सूत्रानुवाद—वेदान्त-उपाख्यानोंके पारिप्लवार्थ न होनेसे ही उपाख्यान एवं विधि-वाक्य एक वाक्य होकर अर्थवादके योग्य हो जाते हैं। इन

विधि-वाक्योंसे सम्बन्धित आख्यायिकाएँ विद्या-विधिकी पोषक हैं, पारिप्लवार्थक (अस्थिरार्थक) नहीं है॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—तथाच वेदान्तोपाख्यानानामसति पारिप्लवार्थत्वे सन्निहितविद्या-प्रतिपत्त्युपयोगित्वमेव न्यायाम्। कुतः? एकेति। *"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"* (बृ॰आ॰ २/४/५) इत्यादिसन्निहितविद्याभिरेकवाक्यतयोपबन्धात्। यथा *"सोऽरोदीत्"* (तै॰सं॰ १/५/१/१) इत्याद्युपाख्यानानां सन्निहितकर्मविधेः स्तुत्यर्थता न तु पारिप्लवार्थता तथैतेषां सन्निहितविद्यास्तुत्यर्थता स्यात्। अयं भावः। स्वतन्त्रैव पुमर्थहेतुर्विद्या यदस्यां महान्तोऽपि महता प्रयासेन प्रवर्त्तन्त इति प्ररोचनोपयोगात् प्रज्ञासौकर्योप-योगाच्चोपाख्यानरीत्या विद्योपदेशः। तेन चाचार्यवान् पुरुषो वेद (छा॰ ६/४/२) श्रुत्यनुग्रहश्च। तथा च स्वतन्त्रा सेति॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अतएव वेदान्तोपाख्यानोंकी पारिप्लवार्थकता न होनेसे उन्हें समीपमें प्रतिपादित ब्रह्मविद्या-प्राप्तिका उपयोगी कहना ही युक्तिसङ्गत है। कारण क्या है? *'एकवाक्यतोपबन्धात्'* इससे दोनों वाक्योंकी (उपाख्यान और ब्रह्मविद्याकी) एकवाक्यतारूप उपनिबन्ध (सम्बन्ध) अर्थात् एक विशिष्टार्थकता रक्षित होती है—इसलिए। जैसे कि *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'*—अरे मैत्रेयि! आत्माका दर्शन करना चाहिये इत्यादि विद्योपदेश याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी उपाख्यानके समीपमें हैं—इसका कारण है—इन समस्त विद्योपदेशोंके साथ इन मैत्रेयी, प्रतर्दन, जानश्रुति उपाख्यानोंकी एकवाक्यताकी स्थापना। बात यह है कि जिस प्रकार *'सोऽरोदीत्'* उसने रोदन किया इत्यादि उपाख्यानात्मक अर्थवाद वाक्योंके सन्निहित कर्मविधिकी प्रशंसार्थकता है, पारिप्लवार्थकता नहीं, इसी प्रकार ये समस्त उपाख्यान (याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी इत्यादि) भी सन्निहितमें (समीपमें) प्रतिपादित ब्रह्मविद्याके प्रशंसार्थमें (स्तुति अर्थमें) वर्णित हुए हैं, पारिप्लवार्थमें नहीं। भावार्थ यह है कि मुक्तिकी हेतु ब्रह्मविद्याको कर्मनिरपेक्ष ही जानना चाहिये क्योंकि इस ब्रह्मविद्या विषयमें महत् व्यक्ति भी महाप्रयास स्वीकार करके प्रवृत्त हुए हैं। इसका भाव यह है कि पुरुषार्थ हेतुभूत विधि स्वतन्त्र है। अतएव इस ब्रह्मविद्यामें प्ररोचना-उपयोगके कारणसे और प्रज्ञा-सौकर्य अर्थात् सहजमें ही प्रज्ञा-प्राप्तिके उद्देश्यसे उपाख्यान-पथके द्वारा (उपाख्यान रीतिके अनुसार) वेदान्त ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हैं। इसके

फलस्वरूप *'आचार्यवान् पुरुषो वेद'* 'आचार्यके अनुग्रहसे मनुष्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें'—ऐसे विधि-वाक्योंका भी परिपोषण होता है। अतएव यह ब्रह्मविद्या कर्मनिरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्रा है—यही सिद्धान्त है॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—पूर्वोक्तरीत्या वेदान्तोपाख्यानानां पारिप्लवप्रयोगार्थत्वपरिहारात् तत्सन्निहितविद्याप्रतिपत्त्युपयोगस्तेषां भवतीत्याह तथाचेति। स्फुटार्थो ग्रन्थः॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्वोक्त प्रकारसे वेदान्त-वर्णित उपाख्यानोंका पारिप्लावर्थकत्व परिहार होनेसे समीपमें उपदिष्ट विद्या-प्राप्तिमें उनका उपयोगित्व है, इसी रूपमें ही *'तथा च'* इत्यादि भाष्य ग्रन्थ कहा है। भाष्यग्रन्थका अर्थ सुस्पष्ट है॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त विचारमें यदि वेदान्त-उपाख्यान-समूहका पारिप्लवार्थकत्व नहीं है तो ऐसा होनेपर सन्निहित विद्या-समुदायके साथ एकवाक्य रूपमें उपनिबद्ध (सम्बन्ध) होनेके कारण इन उपाख्यानोंको ब्रह्मविद्या-प्राप्तिका उपयोगी कहना ही युक्तियुक्त है। तात्पर्य यह है कि मैत्रेयी ब्राह्मण, प्रतर्दन ब्राह्मण, जनश्रुति इत्यादिमें पठित विद्याके साथ ही आख्यानका सम्बन्ध दीखता है। ब्रह्मविद्या स्वतन्त्रा अर्थात् कर्मनिरपेक्षा है। इसीलिए महत् व्यक्ति महान् अर्थात् प्रचुर प्रयास स्वीकार करते हुए इसमें प्रवृत्त होते हैं। ब्रह्मविद्यामें प्ररोचना (प्रेमोत्पादनमें उपयोग) एवं प्रज्ञाके सौकर्य (सुगमता) के लिए उपाख्यान-रीतिसे ब्रह्मविद्याका उपदेश श्रुतिमें दिया गया है—यह जानना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/३४)

अर्थात् सर्ववेदसिद्ध भगवान् ब्रह्माजीने एकाग्रचित्तसे सारे वेद-शास्त्रोंका तीन बार विचार करके अपनी बुद्धि द्वारा यह निश्चय करना चाहा था कि किस प्रकारसे परमात्मा हरिमें अनन्य प्रेम हो सकता है। तब उन्होंने अविमिश्रित अर्थात् शुद्ध भक्तियोगको ही सर्वश्रेष्ठ स्थिर किया

था। (ज्ञातव्य—गोवत्स हरण और द्वारकामें जब ब्रह्माने अपने अतिरिक्त बहुत-से मुखोंसे युक्त कई ब्रह्माओंको देखा तो उन्हें यह ज्ञान हुआ कि उनकी श्रीकृष्णके प्रति छल-भक्ति है। अतः उन्होंने यही निश्चित किया कि शुद्ध केवलाभक्ति ही, भगवत्-प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है।)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।
(श्रीगी॰ १५/१५)

अर्थात् सभी वेदोंमें एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्तकर्त्ता और वेदज्ञ हूँ।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—'*एवं सति विधिवाक्यानां स्वेच्छा-वृत्तिवाक्यानाञ्च सम्बन्धो भवति।*'

अर्थात् ज्ञानियोंका त्रैविध्य सिद्ध होनेपर भी मनुष्य, देव और ब्रह्म—इन त्रिविध रूपमें भिन्न विषयत्वके कारण *'प्रातरुत्थाय'* प्रातःकाल उठकर इत्यादि विधि-वाक्य हैं। *'यस्त्वात्मरतिः'* इत्यादि स्वेच्छाचरणका अनुज्ञा-वाक्य (अनुमति-वाक्य) और *'यथाविधानम्'* इत्यादि स्वेच्छाचरण विधि-वाक्योंके अविरोध अर्थात सम्बन्धका तालमेल ज्ञानिभेदके आश्रयसे बैठता है। सर्वसदाचारविधि-वाक्य, स्वेच्छावृत्त्यनुज्ञा-वाक्य एवं स्वेच्छावृत्ति विधि-वाक्योंकी एकवाक्यता होनेसे उपबन्ध (सम्बन्ध) है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—'*एवं सति अन्यासां द्रष्टव्यः इत्यादि विध्येक-वाक्यतयोपबन्धात् सम्बन्धात् ता विद्यार्थाः।*'

अर्थात् ऐसा होनेपर पारिप्लवसे अतिरिक्त जो अन्य आख्यान श्रुतियाँ यथा *'द्रष्टव्यः'* इत्यादिका विधि-वाक्योंके (उपासना-विधि आदिके) साथ एक-वाक्यताके कारण सम्बन्ध होनेसे उन्हें विद्यार्थ ही जानना चाहिये॥ २४॥

सूत्र—अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥ २५॥

सूत्रार्थ—'च' और 'अतएव' इसलिए विद्याकी कर्मनिरपेक्षताके प्रतिपादन हेतु उसके फल विषयमें 'अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' अग्नि ईंधन

(यज्ञीय काष्ठ) प्रभृति-साध्य यज्ञादि कर्मकी कोई अपेक्षा नहीं रहती॥ २५॥

सूत्रानुवाद—विद्याके स्वातन्त्र्य होनेके कारण इसमें फल-प्रदानार्थ यज्ञादि कर्मकी अपेक्षा नहीं रहती है॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—अतो विद्यास्वातन्त्र्यप्रतिपादनादेव हेतोस्तस्याः स्वफले प्रकाश्येऽग्नीन्धनादीनां यज्ञादिकर्मणां नास्त्यपेक्षेति ज्ञानकर्मसमुच्चयव्युदासः॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अतः विद्याकी कर्म-निरपेक्षताके कारण इस विद्याके स्व-प्रकाश्य फल-मुक्तिविषयमें अग्नि-ईंधनादि अर्थात् तत्साध्य अग्निहोत्रादि यज्ञ इत्यादि कर्मोंकी आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार ज्ञान और कर्मके समुच्चय रूपसे प्राप्त माना जानेवाला मुक्तिसाधकतावाद निरस्त हुआ॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—ज्ञानकर्मसमुच्चयभ्रान्तिमपनयन्नाह अतत्रवेति। अत्राग्नीन्धनशब्देन तत्साध्यान्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि लक्ष्यन्त इति व्याख्यातारः॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार—तब ज्ञान एवं कर्म दोनोंके समुच्चित रूपमें मुक्ति-साधनत्व हो सकता है—इस भ्रमका निरास करते हुए *'अतएवेति'* सूत्रमें कहते हैं—इसमें जो 'अग्नीन्धन' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसके द्वारा अग्नि, ईंधन साध्य अग्निहोत्रादि कर्म लक्षित हुए हैं, इस प्रकारसे व्याख्याकारी कहते हैं॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—विद्याके स्वातन्त्र्य अर्थात् कर्मनिरपेक्षताके प्रतिपादनके कारण इसके फल—मुक्तिके सम्बन्धमें अग्नि-ईंधनादि अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञकी कोई अपेक्षा नहीं है। इसके द्वारा ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे जो मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा मतवाद भी निरस्त हुआ।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/७/५१-५२)

अर्थात् हे असुरनन्दनो! ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार और बहुज्ञता—इनमेंसे किसीके द्वारा भगवान्‌को प्रसन्न नहीं किया जा सकता और न ही दान, तपस्या, यज्ञ, शौच और व्रतादि भगवान्‌की प्रीतिके कारण बन सकते हैं, एकमात्र निष्काम भक्तिसे ही भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं। भक्तिके अतिरिक्त सभी कुछ विडम्बनामात्र है, दिखावा है, छल है।

श्रीशङ्करके भाष्यका सार भी यही है—

क्योंकि विद्यासे ही मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए अग्नि-ईंधनादि अर्थात् यज्ञार्थमें अग्नि-प्रजालनादि कर्मकी अपेक्षा नहीं रहती। ब्रह्मज्ञान होनेपर ही मोक्ष होता है। अतः विद्याकी सिद्धिमें कर्मका प्रयोजनाभाव है अर्थात् कर्मकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें प्राप्त होता है—

'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा॰ २/२३/१)—ब्रह्मसंस्थ (ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित) अमृतत्व प्राप्त करते हैं, *'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते'* (छा॰ ५/१०/१) श्रद्धा और तपसे अरण्यमें उपासना करते हैं, *'एवमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति'* (बृ॰आ॰ ६/४/२२) आत्मलोककी प्राप्तिके लिए संन्यासी संन्यास ग्रहण करते हैं, *'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'* (कठ॰ १/२/१५) जिसकी इच्छासे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं इत्यादि श्रुतियों द्वारा ऊर्ध्वरेता आदिकी विद्या और अग्निके आधानपूर्वक अग्निहोत्रादि क्रियाकी अपेक्षा नहीं रहती। अग्नींधनका तात्पर्य है—*'अग्न्याधान'* अर्थात् आधानपूर्वक अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि कर्मोंकी विरक्त आश्रमवालोंको अपेक्षा नहीं होती। मात्र निज आश्रम विहित कर्मोंकी ही अपेक्षा रहती है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी—

'ब्रह्मनिष्ठोऽमृतत्वमेति' इत्यादि श्रुतेरूर्ध्वरेतःसु अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा विद्याऽस्ति। अर्थात् *'ब्रह्मनिष्ठोऽमृतत्वमेति'* (ब्रह्मनिष्ठ अमृतत्व प्राप्त करता है।) इत्यादि ऊर्ध्वरेतस्‌के (विरक्तके) आश्रमसे सम्बन्धित श्रुतियाँ परिगृहीत हैं, इन्हें अग्नि एवं ईंधनकी अपेक्षा नहीं होती। अतः यह निश्चय होता है कि विद्या अग्नि-आधान साध्य कर्मोंसे अनपेक्ष होती है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'अतएव ज्ञानस्य मोक्षदाने नाग्निहोत्राद्यपेक्षा। ब्रह्मतर्के च येषां ज्ञानं समुत्पन्नं तेषां मोक्षो विनिश्चितः। शुभकर्मभिराधिक्यं विपरीतै विपर्ययः। स्वेच्छानुवृत्त्यैव भवेद् ब्रह्मणः प्रायशस्तथा। देवानामपि सर्वेषाम् विशेषादुत्तरोत्तरमिति।'

अर्थात् पहले कहा गया था *'प्रातरुत्थाय'* इत्यादि जैमिनिमत मानुष विषयक है, *'यस्त्वात्मरति'* (श्रीगी॰ ३/१७) इत्यादि द्वितीय मत देवविषयक है और *'अथ विधानम्'* इत्यादि तृतीय मत हिरण्यगर्भ विषयक है—इत्यादि श्रुतिके बलपर ज्ञानीकी सत्-असत् प्रवृत्तिके विशेषके कारण असत् प्रवृत्तिको कुण्ठित करनेवाले ज्ञानको मोक्षका साधन कहा गया है, यह ज्ञान सत्प्रवृत्ति सापेक्ष है। अतएव प्रथम मत (मानुष विषयक) का परिहार हुआ। अब द्वितीय मत (देव विषयक) का परिहार करते हैं—ज्ञानीकी मोक्ष-प्राप्तिमें सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा विशेषत्व होनेपर भी अग्निहोत्रादि सत्प्रवृत्तिका सापेक्षत्व नहीं है। ब्रह्मतर्कमें कहा है कि जिनमें ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उनका मोक्ष निश्चित है। ज्ञानीके शुभ कर्म करनेपर मोक्षाधिक्य (आनन्द-वृद्धि) है। शुभ कर्म करनेमें उसकी विशेष रुचि हो जाती है और अशुभ कर्मसे विरक्ति हो जाती है। उसकी वृत्ति कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर ब्रह्ममें लग जाती है। ब्रह्म (तृतीय मत) के समस्त कर्म स्वेच्छानुसार होते हैं। देवता आदिमें भी ये विशेषताएँ उत्तरोत्तर होती हैं॥ २५॥

अवतरणिका भाष्य—इत्थं विद्यासामर्थ्याद्यभिधाय तदधिकारिणं लक्षयितुमारभते। *"तमेतं वेदानुवचनेन"* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यादि। *"तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्"* इति च श्रूयते बृहदारण्यके (४/४/२३)। अत्र यज्ञादि शमादि च विद्याङ्गतया प्रतीयते। तदुभयमावश्यकं न वेति संशये *"आचार्यवान् पुरुषो वेद"* (छा॰ ६/१४/२) इत्यादिषु गुरूपसत्त्यैव तदुत्पत्तिप्रत्ययान्नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकारसे विद्याका सामर्थ्य (प्रभाव) एवं कर्म निरपेक्षता बतलाकर अब इस विद्याके अधिकारीका निरूपण करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ करते हैं। बृहदारण्यकमें सुना जाता है *'तमेतं वेदानुवचनेन ... ब्राह्मणा विविदषन्ति इति'* (बृ॰आ॰

४/४/२२) अर्थात् उन औपनिषद पुरुषको ब्राह्मणादि अधिकारी लोग (ब्रह्मज्ञ) वेदाध्ययन, यज्ञ, दान एवं तप द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं तथा *'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्'* (बृ॰आ॰ ४/४/२३) क्योंकि परमात्माको जान लेनेपर पापकर्ममें लिप्त नहीं होता—इस कारण परमात्मवित् (परमात्माको जाननेवाला) शम, दम, तितिक्षा, विषयोंसे वैराग्यवान और आचार्य-वाक्यमें एवं शास्त्रार्थमें दृढ़ प्रत्यय (विश्वास) सम्पन्न होकर अपने चित्तमें उन परमात्माके दर्शन करता है। इन दोनों ही श्रुतियोंमें यज्ञादि कार्य और शमदमादि विद्याके अङ्ग रूपमें प्रतीयमान होते हैं। अब यहाँ संशय है कि यज्ञादि और शमदमादि दोनों कर्त्तव्य हैं? कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, दोनोंकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक गुरुसेवासे ही विद्याकी प्राप्ति हो जाती है। श्रुति वही कहती है—*'आचार्यवान् पुरुषो वेद'* (छा॰ ६/१४/२) आचार्यवान पुरुष विद्या प्राप्त करता है—इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—इत्थमित्यादि। स्वफलप्रकाशने कर्माणि विद्यानापेक्षते इत्युक्तं प्राक्। स्वोत्पत्तावपि तानि सा नापेक्षतां स्वरूपशक्तिवृत्तेस्तस्याः स्वप्रकाशत्वादिति दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिः। विद्यार्थं यज्ञादि नानुष्ठेयमिति पूर्वपक्षे फलं सिद्धान्ते त्ववश्यं तदनुष्ठेयमिति बोध्यम्। तस्मादिति। यस्मात् परमात्मानं विदित्वा पापेन कर्मणा न लिप्यते तस्मादेवंविजनः श्रद्धावित्तः शान्तादिश्च सन् आत्मनि चित्ते तमात्मानं पश्येत् ध्यायेदित्यर्थः। श्रद्धावित्तः सुदृढशास्त्रविश्वासः। मुख्यं लक्षणमतेत्। श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् (श्रीगी॰ ४/३९) स्मरणात्। शान्तो दान्त इति। निर्जितबहिरन्तःकरणः शान्तो हरिनिष्ठबुद्धिकः। दान्तः निर्जितद्विविधकरण इत्यपरे। उपरतो निवृत्तविषयरागः। आत्मन्येवेत्येवकारो मानस्याः प्राधान्यं सूचयति। गुरूपसत्या गरुसेवयैव तदुत्पत्तिप्रत्ययात् विद्याधिगमात्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—विद्या निज फल-मुक्तिदानमें कर्मकी अपेक्षा नहीं करती, यह पहले भी कहा गया था, अपनी उत्पत्तिके विषयमें भी वह विद्या कर्मोंकी अपेक्षा न करे क्योंकि स्वरूपशक्तिका कार्य विद्या स्वप्रकाश है, यह यहाँ दृष्टान्त सङ्गति है। पूर्वपक्षमें फल-विद्याके लिए यज्ञादि अनुष्ठेय नहीं हैं। सिद्धान्तपक्षमें फल—यज्ञादि अवश्य अनुष्ठेय हैं। *'तस्मादेवं विद्'* इत्यादि श्रुतिका

अर्थ है—क्योंकि परमात्माको जान लेनेपर पापकर्ममें लिप्त नहीं होता—इसीलिए परमात्म-स्वरूपवित् जन श्रद्धावित्त और शान्त इत्यादि होकर चित्तमें उन परमात्माके दर्शन करें अर्थात् परमात्माका ध्यान करें। *'श्रद्धावितः'* का अर्थ है सुदृढ़ शास्त्रविश्वासी, यह सुदृढ़ विश्वास ही ब्रह्म-दर्शनका प्रधान लक्षण है क्योंकि कहा गया है, *'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'* अर्थात् श्रद्धावान व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है। *'शान्तो दान्त इति'* जो बाह्येन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियका दमन करते हैं, वे शान्त हैं और जो श्रीहरिनिष्ठ बुद्धि हैं, वे दान्त हैं। दूसरे कहते हैं—बाह्य एवं आन्तर—दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंको जय करनेवाले दान्त हैं। *'उपरतः'*—जिनका शब्दादि विषयोंसे अनुराग चला गया है। *'आत्मन्येव'* यह 'एव' शब्द मानसी उपासनाका प्राधान्य सूचित करता है। *'गुरुपसत्त्यैवेत्यादि'*—गुरुपसत्या एव—गुरुसेवा द्वारा ही। *'तदुत्पत्तिप्रत्ययात'*—क्योंकि विद्या प्राप्त होती है।

सर्वापेक्षाधिकरणम्

सूत्र—सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतिरश्ववत्॥ २६॥

सूत्रार्थ—'च'—और यद्यपि विद्या निजफलसे मुक्तिदानमें कर्मनिरपेक्ष है, तो भी 'सर्वापेक्षा' निज उत्पत्तिके विषयमें वह समस्त यज्ञादि धर्मोंकी अपेक्षा करती है 'यज्ञादि श्रुतिः' क्योंकि विद्याके लिए यज्ञादिका और शम इत्यादिका उपदेश श्रुत होता है। इस विषयमें दृष्टान्त है 'अश्ववत्' जिस प्रकार गति-निर्वाहके लिए अश्व अपेक्षित होता है परन्तु ग्रामादि पहुँच जानेपर फिर अश्वकी आवश्यकता नहीं रहती॥ २६॥

सूत्रानुवाद—विद्या अपनी उत्पत्ति (प्राप्ति) में समस्त यज्ञादि आश्रम कर्मोंकी अपेक्षा रखती है। उत्पन्न होनेपर यह कर्मादि निरपेक्ष हो जाती है। दृष्टान्त है—अश्ववत्॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—स्वफलप्रकाशे निरपेक्षापि विद्या स्वोत्पत्तौ सर्वापेक्षा सर्वान् यज्ञादिधर्मानपेक्षत इत्यर्थः। कुतः? यज्ञेति। तमेतमित्यादौ तस्मादेवमित्यादौ च विद्यार्थं यज्ञादेः शमादेश्च श्रवणादित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तोऽश्वेति। यथा गति-निष्पत्तये अश्वोऽपेक्ष्यते न तु निष्पन्नगतेर्ग्रामादिप्राप्तौ तद्वत्॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—विद्या निजफल मुक्ति-दानमें कर्मनिरपेक्ष होनेपर भी निज उत्पत्तिके विषयमें सर्वापेक्षा करती है अर्थात् समस्त यज्ञादि धर्मोंकी अपेक्षा करती है, यह इसका अर्थ है। कारण क्या है? *'तमेतं वेदानुवचनेन'* इत्यादि श्रुतिमें और *'तस्मादेवंविच्छन्तो'* इत्यादि श्रुतिमें विद्योत्पत्तिके लिए यज्ञादि और शमादिकी बात सुनी जाती है। इस विषयमें दृष्टान्त है—*'अश्ववदिति'*—जिस प्रकार ग्राममें गतिके निर्वाहके लिए अश्व अपेक्षित होता है, किन्तु ग्रामादि पहुँचनेपर अर्थात् गतिके निष्पन्न (सिद्ध) होनेपर अश्वकी अपेक्षा नहीं रहती—इसी प्रकार॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—सर्वापेक्षेति। स्वफलप्रकाशे मोक्षोपलम्भने। निष्पन्नगतेर्जनस्य। यत्तु विविदिषन्तीतिवर्त्तमानोपदेशात् यज्ञादीनां विद्याङ्गतायां न विधिरिति वदन्ति तन्न तेषां विद्यासंयोगस्यापूर्वत्वेन विधेः कल्पनीयत्वात्। इदमत्र बोध्यम्। यद्यपि सर्वाणि वेदविहितानि कर्माण्युक्ततत्तत्फलस्पृहां विहायानुष्ठितानि तत्त्वज्ञानं जनयन्तीत्यस्मिन्नधिकरणे प्रतीतं तथाप्येवं विवेचनीयम् अग्निहोत्रदर्शपौर्णमास-चातुर्मास्यान्यपशुकानि कर्माणि सनिष्ठैर्विद्योत्पत्तेः प्रागुत्तरञ्चानुष्ठेयानि तात्पर्येण न तु ज्योतिष्टोमादीनि सपशुकानि। परिनिष्ठितैस्तु भक्तिप्रधानैरपशुकानि तानि भक्त्यविरोधितयानुष्ठेयानि निखिललोकसंजिघृक्षया। निरपेक्षाणां तू भक्त्येकनिरतानां नैराश्रम्यादग्निहोत्रादीनि नोत्पद्यन्ते। न च तैः किञ्चित् तत्फलं तत्फलस्य हृद्विशुद्धेर्ज्ञानस्य च भक्त्यैव सिद्धेः। तस्मात् हिंसाशून्यानि कर्माणि साश्रमैरनुष्ठेयानि। निराश्रमैस्तु प्रणतितत्त्वविमर्शरूपाणि कर्माणीति मन्तव्यम्। अस्यार्थस्य हिंसाकर्मनिन्दा-पूर्वकं मोक्षधर्मे पुनःपुनरुक्तेः। तथाहि पितापुत्रसंवादे पुत्रवाक्यम्—*"सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः। समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्त्यवत्। शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः। वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने। पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति। अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत्"* इति। तत्रैव तदुत्तरत्र कपिलस्युमरस्मिसंवादे कपिलवाक्यञ्चैवमेव। *"दर्शञ्च पौर्णमासञ्च अग्निहोत्रञ्च धीमताम्। चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु यज्ञः सनातनः। अनारम्भाः सुधृतयः शुचयो ब्रह्मसंज्ञिताः। ब्रह्मणैव स्मैते देवांस्तर्पयन्त्यमृतैषिण"* इति। धीमतां साश्रमाणां जिज्ञासूनाम्। अनारम्भा निराश्रमाः। ब्रह्मणैव भगवत्स्वरूपगुणनिरूप-केनोपनिषद्वचसा तद्विमर्शेनेत्यर्थः। तदुत्तरत्र जाजलितुलाधारसंवादे चैवमेव तुलाधार-वाक्यम्। *"यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः। नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथेति।"* औषधैर्ब्रीहियादिभिर्हविषा यागः साश्रमाणम्। नमस्कारेण स्वाध्यायैश्च हविषा योगो निरपेक्षाणां निराश्रमाणामित्यर्थः। यत्तु क्वचिद्विधुराग्निहोत्रं श्रूयते तत् खलु गृहाश्रमारम्भासमर्थानां सकामानामेवेति बोध्यम्। तदुत्तरत्र च

विचक्षुणा राज्ञाप्येवमेवोक्तम्। *"सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्। कामद्वारा विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नरा"* इति। मनुवाक्यञ्चेदम्। *"ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्ते तैर्महामथैः। ज्ञानभूषां क्रियामेषां पश्यतां ज्ञानचक्षुषेति।"* तथाच सकामानां हिंसायज्ञः। निष्कामाणां मुमुक्षूणामहिंसा यज्ञः। तेषु निराश्रमाणां हर्येकनिरतानां नमस्कारो वेदान्तविमर्शश्च यज्ञ इति मोक्षधर्मे निष्कर्षः स्पष्टः। नन्वेवं युद्धयज्ञरूपाणि हिंसावन्ति कर्माणि मुमुक्षुं पार्थं प्रति कथमुपदिष्टानीति चेत् तानि गौणानीति गृहाण। अग्निहोत्रादीनि चत्वारि हिंसाशून्यानि शान्तिमिश्राणि त्वरयैव ज्ञानगर्भां हृद्विशुद्धिं कुर्वन्तीति तानि मुख्यानि। युद्धयज्ञरूपाणि तु हिंसादिविक्षेपमयानि तां शक्नुवन्ति कर्त्तुं किन्तु राजधर्माधिकृतानामपि प्रवृत्तिशीलानां तां प्रवृत्तिं सङ्कोचयितुमुपदिष्टानि। सङ्कुचितायां त्वतिप्रवृत्तौ शान्तिपूर्विका सा हृद्विशुद्धिः स्यादिति गौणानीत्येवमेव भाषितं गीताविभूषणे॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार— *'सर्वापेक्षेति'* सूत्रमें। स्वफलप्रकाशमें मोक्षकी उपलब्धि विषयमें। *'निष्पन्नगतेर्जनस्य'*—जिसकी ग्राममें गतिसम्पन्न हुई है, ऐसे व्यक्तिका। *'वेदानुवचनेन'* इत्यादि *'विविदिषन्ति'* यहाँ वर्त्तमानमे 'लट्' विभक्ति रहनेके कारण यज्ञादिकी विद्याङ्गताके विषयमें यह विधि-वाक्य नहीं है, यह बात कोई-कोई कहते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि यज्ञादिका विद्या-सम्बन्ध अन्य किसी प्रमाण द्वारा प्राप्त न होनेके कारण उसमें अपूर्वविधि कल्पनीय है। इस क्षेत्रमें यह जाननेकी बात है—यद्यपि समस्त वेद-विहित कर्म, तत्-तत् कर्ममें उक्त फलकी स्पृहाका त्याग करते हुए अनुष्ठित हो तो तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, वह इस अधिकरणमें प्रतीत होता है, ऐसा होनेपर भी इस विषयमें इस प्रकारसे विचार करना चाहिये—अग्निहोत्र होम, दर्शपौर्णमास याग, चातुर्मास्य व्रत—इन समस्त पशुहीन कर्मोंका सनिष्ठ व्यक्तिगण विद्योत्पत्तिके पूर्व एवं पश्चात् तत्परताके साथ अवश्य ही अनुष्ठान करें, किन्तु पशु-समन्वित ज्योतिष्टोमादि कर्म उन्हें कभी नहीं करने चाहिये। परिनिष्ठित भक्ति प्रधान साधक पशुहीन अग्निहोत्रादि कर्मोंको भक्तिके अविरोधी रूपमें समग्र-लोक-संग्रहकी इच्छासे अनुष्ठान करें। जो निरपेक्ष भक्तिमात्र-प्रवण हैं, उनके आश्रमके अभावके कारण अग्निहोत्रादि कर्म उत्पन्न नहीं होते। इन अग्निहोत्रादि द्वारा किसी फलका उद्देश्य भी नहीं रहता क्योंकि उनके फल चित्तशुद्धि एवं विद्या-भक्ति द्वारा ही सिद्ध होते हैं। अतएव सिद्धान्त यह है—जीवहिंसारहित अग्निहोत्रादि

कर्म आश्रमियोंके लिए अनुष्ठेय हैं किन्तु आश्रमरहित व्यक्ति केवल भगवत्-प्रणति एवं तत्त्व-विचाररूप कर्मका पालन करें। ये समस्त विषय महाभारतके मोक्षधर्म-प्रकरणमें जीवहिंसाकी निन्दा करते हुए पुनः-पुनः कहे गये हैं जैसे देखो, पिता-पुत्र संवादमें पुत्र पितासे कहता है—*'सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी इत्यादि ... पिशाचवत्'*—हिंसारहित, सत्यकामी, कामक्रोधरहित, सुख-दुःखमें समावस्थापन्न क्षेमयुक्त मैं देवताओंके समान मृत्युको जय करूँगा। हिंसाहीन यज्ञमें रत रहकर दान्त, ब्रह्मयज्ञमें रत मननशील मैं उत्तरायणमें वाचिक, कायिक और मानसिक कर्मरत होऊँगा। मुझ जैसा व्यक्ति हिंसात्मक पशुयज्ञ द्वारा किस प्रकारसे देवयाग कर सकता है। प्राज्ञ व्यक्ति जिस प्रकार विनाशीकी भाँति क्षेत्रयज्ञ द्वारा पिशाचके समान ईश्वरकी उपासना कर नहीं सकता। इसी महाभारतके मोक्षधर्ममें कुछ बादमें कपिलस्युमरस्मिके उपाख्यानमें कपिल-वाक्य भी इस प्रकारसे हैं—यह दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र एवं चातुर्मास्य याग आश्रमी ब्रह्मजिज्ञासुओंके थे, उन समस्त यज्ञोंमें यज्ञपुरुष विष्णु नित्य अधिष्ठित हैं। जो निष्क्रिय, मुक्तिकामी, आश्रमहीन, धृतिसम्पन्न, पवित्र, ब्रह्मसंज्ञित हैं, वे भगवत्-स्वरूप एवं गुणनिरूपणकारी उपनिषद-वाक्यों द्वारा ब्रह्म-विचारसे देवताओंको तृप्त करते हैं। धीमतां—अर्थात् आश्रमी तत्त्व-जिज्ञासुओंके, अनारम्भाः—आश्रमरहित, ब्रह्मणैव—भगवान्‌के स्वरूप एवं गुण निरूपणकारी उपनिषद-वाक्य द्वारा अर्थात् उस स्वरूपादि विचार द्वारा। उसके परवर्त्ती अंशमें जाजलि एवं तुलाधारके उपाख्यानमें तुलाधारका इसी प्रकारसे वाक्य है। *'यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः'* इत्यादि—जो सत्कार्यरूप हवि है, उसके द्वारा देवतागण तुष्ट होते हैं। औषधैः—व्रीहि, यव इत्यादि ओषधिजात द्रव्यमय हविर्द्वारा आश्रमियोंका याग। निरपेक्ष अर्थात् आश्रमहीन व्यक्तियोंका नमस्कार एवं वेदपाठरूप हविर्द्वारा याग सम्पन्न होता है। तब जो किसी क्षेत्रपर (स्थलपर) विधुर अर्थात् उपकरणहीन अग्निहोत्र श्रुत होता है, उसे गृहस्थाश्रम—रचनामें असमर्थ सकाम व्यक्तियोंके पक्षमें जानना चाहिये। परवर्त्ती अंशमें विचक्षु राजाने इसी प्रकारसे कहा है, यथा—*'सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्'* समस्त कर्मोंमें जीवहिंसा-त्याग ही धर्मस्वरूप है—यह मनु कहते हैं।

जो सकाम मनुष्य हैं, वे कामवश (इच्छावश) बहिर्वेदीमें पशुहत्या करते हैं। मनु-वाक्य भी यही है—यथा अन्यान्य ब्राह्मणगण उन समस्त महायज्ञोंको ज्ञान द्वारा ही सम्पन्न करते हैं। वे ज्ञानचक्षुः द्वारा समस्त दर्शन करते हैं, इसलिए इनकी क्रियाएँ ज्ञानालंकृत होती हैं। सिद्धान्त यह है कि—सकाम व्यक्तियोंका हिंसात्मक यज्ञ है और निष्काम मुमुक्षुओंका अहिंसात्मक यज्ञ है। उनमें जो एकमात्र श्रीहरिभक्तिपरायण हैं आश्रमहीन हैं, उनका धर्म तो नमस्कार और वेदान्तार्थ-विचाररूप धर्म है—यही महाभारतमें मोक्षधर्म सारकथा रूपमें सुस्पष्ट हुआ है। इसमें आपत्ति है, यदि ऐसा ही है तो युद्धयज्ञरूप हिंसात्मक कर्मका श्रीभगवान्ने मुक्तिकामी अर्जुनके प्रति उपदेश किया क्यों? इसमें कहा जायेगा इन सबको (युद्धकर्मोंको) अप्रधान रूपमें ग्रहण कीजिये। अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास एवं चातुर्मास्य याग—ये चारों हिंसारहित एवं शान्तिमिश्रित हैं, इसीलिए अतीव द्रुतभावसे ज्ञानगर्भ हृदयमें चित्तशुद्धि उत्पन्न करा देते हैं, अतएव ये प्रधान हैं। युद्धयज्ञरूप कर्म हिंसा एवं चित्तविक्षेपसे पूर्ण है, ये ज्ञानगर्भ चित्तशुद्धि उत्पन्न करा सकते हों किन्तु राजधर्म युद्धादिमें अधिकारी प्रवृत्तिशील अर्जुनादिके पक्षमें इस प्रवृत्तिका खर्व करनेके लिए श्रीभगवान्ने इस समस्त कर्मका उपदेश किया है। इस विषयमें प्रवृत्तिके ह्रास प्राप्त होनेपर शान्तिपूर्वक चित्त-शुद्धि उत्पन्न होगी, इसलिए इस युद्धादि-कर्मको गौण कहा गया है। गीता विभूषण टीकामें इसी प्रकारसे कहा गया है॥ २६ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकारसे विद्याके सामर्थ्यादिका वर्णन करते हुए विद्याके अधिकारीके लक्षण कहना आरम्भ करते हैं। बृहदारण्यकमें पाया जाता है कि *'तमेतं वेदानुवचनेन'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) *'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यादि श्रुति-वचनके द्वारा यज्ञ और शमादि विद्याके अङ्ग रूपमें प्रतीत होते हैं। इस स्थलपर संशय यह है कि विद्याके लिए ये दोनों आवश्यक हैं कि नहीं। पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब छान्दोग्य-श्रुतिमें पाया जाता है—*'आचार्यवान् पुरुषो वेद'* (छा॰ ६/१४/२) आचार्यवान पुरुष विद्या प्राप्त करते हैं, तब इन

दोनोंका प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्या स्वफल अर्थात् मुक्तिदानमें कर्मनिरपेक्ष होनेपर भी अपनी उत्पत्ति विषयमें यज्ञादि सभी धर्मोंकी अपेक्षा रखती है। यज्ञादिके अनुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है—*'कर्मणा विशुद्धिहेतुत्वात्।'* शुद्ध अन्तःकरणमें ही विविदिषा (जिज्ञासा) उत्पन्न होती है। *'अश्ववत्'*—दृष्टान्त द्वारा समझा रहे हैं कि किसी स्थानपर जानेपर जिस प्रकार अश्वकी अपेक्षा रहती है किन्तु ग्रामादि पहुँचनेपर उसकी अपेक्षा नहीं रहती है, इसी प्रकार विद्याकी उत्पत्तिमें उन दोनोंकी अपेक्षा दिखायी देती है किन्तु विद्या प्राप्त होनेपर फिर उसकी अपेक्षा नहीं रहती। इस सन्दर्भमें चिन्तनीय विषय है—

(१) विद्या स्वरूपशक्तिका कार्य है यह स्वप्रकाश हैं।

(२) विद्याके लिए यज्ञादि अवश्य अनुष्ठेय हैं।

(३) परमात्माको जान लेनेसे पापकर्ममें लिप्त नहीं होता, इसलिए परमात्मारूप वित् जन श्रद्धावित्त और शान्त इत्यादि होकर चित्तमें परमात्माका दर्शन करें अर्थात् परमात्माका ध्यान करें।

(४) सुदृढ़ विश्वास ही ब्रह्म-दर्शनका प्रधान लक्षण है, कहा गया है—*'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'* अर्थात् श्रद्धावान व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है।

(५) जिन्होंने बाह्य-इन्द्रियों और अन्तर-इन्द्रियोंका दमन कर लिया है, वे शान्त हैं और जो श्रीहरि-निष्ठ-बुद्धि हैं—वे दान्त हैं। कोई-कोई कहता है बाह्य और आन्तर—दोनों ही इन्द्रियोंको जय करनेवाले दान्त हैं।

(६) 'उपरतः' का अर्थ है—जिनका शब्दादि विषयोंसे अनुराग चला गया है।

(७) यद्यपि समस्त वेद-विहित कर्म, तत्-तत् कर्मोंमें उक्त फलस्पृहाको त्यागकर अनुष्ठित किये जायें तो तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। अग्निहोत्र होम, दर्शपौर्ण-मास याग, चातुर्मास्य व्रत इन सभी पशुहीन कर्मोंका सनिष्ठ व्यक्ति विद्योत्पत्तिके पूर्व एवं पश्चात् तत्परताके साथ अवश्य ही अनुष्ठान करें। किन्तु पशु-समन्वित ज्योतिष्टोमादि कर्म उन्हें कभी नहीं करने चाहिये।

(८) परिनिष्ठित भक्ति प्रधान साधक पशुहीन अग्निहोत्रादि कर्मोंको भक्तिके अविरोधी रूपमें समग्र लोक-संग्रहकी इच्छासे अनुष्ठान करें।

(९) जो निरपेक्ष—भक्तिमात्र प्रवण हैं—आश्रमके अभावके कारण उनके अग्निहोत्रादि कर्म उत्पन्न नहीं होते। इन अग्निहोत्रादि द्वारा किसी फलका उद्देश्य भी नहीं रहता क्योंकि उसका फल चित्तशुद्धि एवं विद्या-भक्ति द्वारा ही सिद्ध होता है।

(१०) जीवहिंसारहित अग्निहोत्रादि कर्म आश्रमियोंके लिए अनुष्ठेय हैं किन्तु आश्रमरहित व्यक्ति केवल भगवत्-प्रणति और तत्त्व-विचार रूप कर्मका पालन करें।

(११) जो निष्क्रिय, मुक्तिकामी, आश्रमहीन, धृतिसम्पन्न, पवित्र, ब्रह्मसंज्ञित हैं, वे भगवत्-स्वरूप एवं गुण निरूपणकारी उपनिषद-वाक्यों द्वारा ब्रह्म-विचारसे देवताओंको तृप्त करें।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

वेदोक्तमेव कुर्व्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/३/४६)

अर्थात् इसलिए जो फलकी अभिलाषा छोड़कर उन कर्मफलोंको भगवान्‌को समर्पणकर वेदोक्त कर्मोंका ही अनुष्ठान करते हैं, वे नैष्कर्म्य सिद्धि लाभ करते हैं अर्थात् कैवल्य (केवलाभक्ति लाभ किया करते हैं)। स्वर्ग आदि दूसरे-दूसरे जिन फलोंके विषयमें श्रुतियोंमें उल्लेख हैं, उन्हें केवलमात्र कर्ममें रुचि-उत्पन्न करनेके लिए ही समझना होगा। फलकी सत्यतामें नहीं।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३३/७)

अर्थात् अहो! जिनकी जिह्वामें आपका नाम एक बार भी उच्चारित होता है, वह श्वपच (चाण्डाल) गृहमें उत्पन्न होनेपर भी इस

नामोच्चारणके कारण ही पूज्य है, उन्होंने समस्त प्रकारकी तपस्या, सर्वविध यज्ञ, सर्वतीर्थ स्नान, सर्व वेदाध्ययन और सदाचार समापन करके इस समय जन्म-ग्रहण किया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

क्षणे क्षणे कर तुमि सर्व तीर्थे स्नान।
क्षणे क्षणे कर तुमि यज्ञ-तपो-दान॥

निरन्तर कर तुमि वेद अध्ययन।
द्विज न्यासी हैते तुमि परम पावन॥

(चै॰च॰म॰ ११/१९०-१९१)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुने कहा—हरिदास! तुम निरन्तर कृष्ण-सङ्कीर्त्तन करनेसे क्षण-क्षणमें समस्त तीर्थोंमें स्नान कर रहे हो, क्षण-क्षणमें तुम समस्त यज्ञ-तप-दानादि कर रहे हो, तुम हर पल ही समस्त वेदोंका अध्ययन कर रहे हो और ब्राह्मण एवं संन्यासीसे भी अधिक पवित्र हो।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'सर्वधर्मापेक्षा च ज्ञानस्योत्पत्तौ विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनेति (बृ॰आ॰ ४/४/२२) *श्रुतेः। यथा गति-निष्पत्त्यर्थमश्वादयोऽपेक्ष्यन्ते। न निष्पन्नगतेर्ग्रामादिप्राप्तौ।'*

अर्थात् जब तक ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, तब तक सर्वधर्मापेक्षा (समस्त धर्मोंके पालनकी अपेक्षा) है। ज्ञानोत्पत्ति होनेपर धर्मका कोई प्रयोजन नहीं है। जिस प्रकार गतिके निमित ही अश्वादिकी (घोड़ा आदि सवारीकी) अपेक्षा रहती है, परन्तु गति निष्पन्न होनेपर फिर अश्वकी अपेक्षा नहीं रहती, इसी प्रकार ज्ञानोत्पत्ति होनेपर धर्मकी अपेक्षा नहीं रहती। विशेष रूपसे श्रुतिमें लिखा है कि—यज्ञ, दान, तपस्या अथवा अनशन—किसीसे भी मोक्षसाधन नहीं होता।

इस प्रकार आश्रमके कर्म विद्याके फलकी सिद्धिमें अपेक्षित नहीं होते हैं और विद्याकी उत्पत्तिमें तो अवश्य उपेक्षित होते हैं। कर्म ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें सहायक हैं, ब्रह्मके साक्षात्कारमें नहीं॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—ननु यज्ञादिनैव विद्यादिसिद्धौ शमादिना किमिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि यदि यज्ञादि द्वारा ही विद्या, चित्तशुद्धि इत्यादि सिद्ध होते हैं तो शम, दम, तितिक्षाका उपदेश किसलिए। यह यदि कहते हो तो इसपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—शमादेरन्तरङ्गसाधनत्वं वक्तुं प्रवर्त्तते नन्वित्यादिना। तत्र यज्ञादीति। विविदिषासन्निधानां यज्ञादीनां बहिरङ्गता विद्यासन्निधानात् शमादीनामन्तरङ्गतेत्याशयः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—शमदमादि विद्याके प्रधान साधन हैं—यह कहनेके लिए ननु इत्यादि वाक्य द्वारा प्रवृत्त होते हैं। इस आशङ्कामें यज्ञादि इति *'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन'* इत्यादि श्रुति-वाक्यमें विविदिषन्ति पदके समीपमें यज्ञादि कर्मका पाठ रहनेके कारण वे सब ब्रह्म-विद्याप्राप्तिके बहिरङ्ग (अप्रधान अङ्ग) हैं और विद्याके समीपमें पठित *'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त'* इत्यादि श्रुतिवर्णित शमादि अन्तरङ्ग हैं अर्थात् ये प्रधान अङ्ग हैं—यही प्रश्नकर्त्ताका अभिप्राय है।

सूत्र—शमदमाद्युपेतस्तु स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्॥ २७॥

सूत्रार्थ—'स्यात्' यद्यपि यज्ञादि द्वारा चित्तशुद्धि होनेपर विद्या होगी ही 'तथापि' ऐसा होनेपर भी विद्याकामी व्यक्ति 'शमदमाद्युपेतः' शम-दमादिसे सम्पन्न होंगे। कारण 'तदङ्गतया' इस विद्याके अङ्ग रूपमें 'तद्विधेः'—शम-दमादिका विधान श्रुतिमें है, 'तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्' विहित शमदमादि अवश्य अनुष्ठेय हैं॥ २७॥

सूत्रानुवाद—यद्यपि यज्ञादि द्वारा विशुद्ध अन्तःकरणमें विद्या-प्राप्ति सम्भव है, तथापि साधक शम-दमादिकी अवश्य ही अपेक्षा करे क्योंकि ये शम-दमादि विद्याके अङ्ग है। अतः उनका विधान अवश्य ही अनुष्ठेय है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—तुद्वयं निश्चयशङ्काच्छेदयोः। यद्यपि यज्ञादिना विशुद्धस्य विद्या स्यात् तथापि विद्यार्थी शमादिभिरुपेत एव स्यात्। कुतः? तदङ्गतया तद्विधेः। तस्मादेवंविदित्यादिना विद्याङ्गतया शमादीनां विधानात् विहितानां तेषामवश्यमनुष्ठेयत्वाच्च।

तथाच वाक्यद्वयस्थत्वादुभयं कार्यम्। तत्र यज्ञादि बहिरङ्गं शमादि त्वन्तरङ्गमिति विवेचनीयम्। आदिपदात् प्रागुक्तं सत्यादि चेत्यधिकारिलक्षणं दर्शितम्॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थित दोनों 'तु' अव्यय निश्चयार्थ और शङ्कानिरासार्थ हैं। इनमें प्रथमोक्त 'तु' शब्दका अर्थ पूर्वोक्त शङ्काके निरासके लिए है अर्थात् नहीं, ऐसी शङ्का करना भी मत। दूसरे 'तु' शब्दका अर्थ है निश्चय अर्थात् हाँ, शमदमादि युक्त होंगे ही। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यज्ञादि द्वारा चित्त-शुद्धिके बाद विद्या-प्राप्ति होगी, ऐसा होनेपर विद्यार्थी शमदमादिसे युक्त होंगे ही। कारण क्या है? क्योंकि विद्याके अङ्ग रूपमें इन शमदमादिका विधान है। कहाँ? *'तस्मादेवंवित्'* इत्यादि श्रुति द्वारा विद्याके अङ्ग रूपमें शमदमादिका विधान है और इन विहित शमदमादिका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये—इस कारणसे। ऐसा होनेपर पृथक्-पृथक् दो वाक्योंमें यज्ञादि और शम-दमादि वर्णित होनेसे दोनों ही करने चाहिये—यह सिद्धान्त है। इनमें यज्ञादि बहिरङ्ग साधन हैं और शमदमादि अन्तरङ्ग साधन हैं—उनका इस प्रकार पृथक् रूपसे विवेकपूर्वक विवेचन करके इन्हें अवश्य ही करना चाहिये। *'शमदमाद्युपेतस्तु'* इस वाक्यमें जो आदि पद प्रयुक्त है, उसके द्वारा सत्यादि नियम जानना चाहिये—इस प्रकारसे अधिकारीके लक्षण दिखाये गये हैं॥ २७॥

सूक्ष्मा-टीका—शमदमादीति। प्रागुक्तमिति। जिज्ञासाधिकरणभाष्ये मुण्डकश्रुत्या मनुस्मृत्या च दर्शितं सत्यतपोजपादि च विद्याङ्गमित्यर्थः। षट्प्रश्नीदृष्टं तपःप्रभृति च ग्राह्यम्। तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्येदिति सुबालोपनिषत्-पठितञ्च सत्यादिषट्कं ग्राह्यम्। तद्वै सत्येन दानेन तपसा ब्रह्मचर्येण निर्वेदेनानाशकेन षडङ्गेनैव साधयेदेतद्व्रतं वीक्षेत दमं दानं दयामिति एषुक्तादन्यदेव संख्येयम्॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार—*'शमदमाद्युपेतस्तु'* इत्यादि सूत्रमें। *'प्रागुक्तं सत्यादि च'* इत्यादि *'ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण'*—भाष्यमें मुण्डक-श्रुति द्वारा एवं मनु-स्मृति द्वारा वर्णित सत्य, तपस्या, जप इत्यादि विद्याके अङ्ग हैं, यह अर्थ है। षट्प्रश्नमें वर्णित तपः इत्यादि ग्रहणीय हैं। यथा—*'तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्येत्'* अर्थात् तपस्या, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और ब्रह्मविद्या द्वारा आत्माके स्वरूपका अन्वेषण करे अर्थात् विचार करे एवं सुबालोपनिषदमें पठित सत्यादि छह ज्ञातव्य हैं। यथा—*'तद्वै सत्येन*

दानेन तपसा ब्रह्मचर्येण निर्वेदनानाशकेन' इत्यादि सत्य, दान, तपस्या, ब्रह्मचर्य, वैराग्य, उपवास—इन छह अङ्गों द्वारा विद्याका साधन करेंगे, यही विद्याव्रत विचारणीय है। इसके अतिरिक्त दम, दान, दया—ये तीन उक्त छह संख्याओंके अतिरिक्त रूपमें ग्रहणीय हैं॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक पूर्वपक्ष है कि यदि यज्ञादि द्वारा ही विद्याकी सिद्धि होती है तो शमदमादिका प्रयोजन क्या है? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि यद्यपि यज्ञादि द्वारा विशुद्ध चित्त व्यक्तिको विद्या प्राप्त हो सकती है तो भी शमदमादिको विद्याका अङ्ग कहे जानेसे विद्यार्थी शमदमादिसे सम्पन्न होकर विद्यार्जनमें चेष्टित होंगे। कारण श्रुतिके विधानानुसार यज्ञादि बहिरङ्ग साधन हैं एवं शमदमादि अन्तरङ्ग साधन हैं—इसलिए दोनों अवश्य ही अनुष्ठेय हैं। बृहदारण्यकमें है—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन।' (बृ०आ० ४/४/२२)

अर्थात् उस इस आत्माको ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान एवं निष्काम तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं।

'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।' (बृ०आ० ४/४/२३)

अर्थात् इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है।

सुबालोपनिषदमें पठित है—*'तद्वै सत्येन दानेन तपसा ब्रह्मचर्येण निर्वेदनानाशकेन'* इत्यादि। सत्य, दान, तपस्या, ब्रह्मचर्य, वैराग्य और उपवास (मनमाना भोजन न करना)—इन छह अङ्गों द्वारा विद्याका साधन करें—यही विद्याव्रत विचारणीय है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

अग्निहोत्रञ्च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्व्ववत्।
चातुर्म्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः॥
एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम्॥

(श्रीमद्भा० ११/१८/८-९)

अर्थात् वानप्रस्थीके लिए अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य आदिका वैसा ही विधान किया है, जैसा गृहस्थके लिए है। इस प्रकार जीवनभर कठोर तपस्या करते-करते मांस सूख जानेके कारण वानप्रस्थीकी एक-एक नस दीखने लगती है। वह इस तपस्याके द्वारा मेरी आराधना करके ऋषियोंके लोकमें जाता है और वहाँ-से महर्षियोंके लोकको भी पारकर मुझे प्राप्त होता है।

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः।
विरक्तः क्षुद्रकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१८/२३)

इसलिए संन्यासीको यह समझना चाहिये कि इन्द्रियोंका चञ्चल होना ही बन्धनका कारण है, ऐसा जानकर वह काम, क्रोध आदि छः वेगोंका संयमकर तुच्छ विषय-लालसासे विरक्त होकर आत्मामें ही चिदानन्दका अनुभव करते हुए सर्वत्र मेरी भावनासे भरकर पृथ्वीमें सर्वत्र विचरण करता रहे।

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्।
धर्म्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यञ्चाभिपद्यते॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१९/२५)

इस प्रकार धर्मोंका पालन करनेसे चित्तमें जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तो साधक शान्त हो करके अपने शान्त चित्तको परमेश्वररूपी मुझमें अर्पण कर देता है, तब उसे धर्म, ज्ञान और वैराग्ययुक्त ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है।

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः॥

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः शौर्य्यं सत्यञ्च समदर्शनम्॥

ऋतञ्च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्तिता।
कर्म्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः सन्न्यास उच्यते॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१९/३६-३८)

अर्थात् बुद्धिका मुझमें लग जाना ही 'शम' है। इन्द्रियोंके संयमका नाम 'दम' है। न्यायसे प्राप्त दुःखके सहनेका नाम 'तितिक्षा' है। जिह्वा और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करना 'धैर्य' है। किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना एवं सबको अभय देना ही 'दान' है। कामनाओंका त्याग करना 'तप' है। अपनी वासनाओंपर विजय प्राप्त करना 'शूरता' है। ब्रह्मविषयक विचार 'सत्य' है। इसी प्रकार सत्य और मधुर भाषणको ही महात्माओंने 'ऋत' कहा है। कर्मोंमें अनासक्त होना 'शौच' है। कामनाओंका त्याग सच्चा 'संन्यास' है। धर्म मनुष्योंका अभीष्ट 'धन' है। परमेश्वर मैं ही 'यज्ञ' हूँ। ज्ञानका उपदेश देना 'दक्षिणा' है। प्राणायाम दुर्दमनीय मनको दमन करनेवाला परम 'बल' है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

ब्रह्मजिज्ञासुर्विद्याङ्गभूतस्वाश्रमकर्मणा विद्या-निष्पत्तिसम्भवेऽपि शमदमाद्युपेतः स्यात्। 'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवाऽत्मानं पश्येत्' (बृ॰आ॰ ४/४/२३) *इति विद्याङ्गतया शमादि विधेस्तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्।*

अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासुको विद्याकी निष्पत्ति सम्भव होनेपर भी विद्याके अङ्गभूत अपने आश्रमके कर्त्तव्यकर्मोंको करते हुए शमदमादिसे युक्त होना चाहिये। *'तस्मादेवम्'* इतिका अर्थ है ऐसे ज्ञानीपुरुष शान्त-दान्त-उपरत-तितिक्षु और समाहित होकर स्वतः ही आत्मस्वरूपका दर्शन करे—तो इस श्रुति द्वारा विद्याका अङ्ग होनेके कारण शम-दमादिका विधान होनेसे विद्या-प्राप्तिके लिए इनका अनुष्ठान अवश्य किया जाना चाहिये।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'यद्यपि ज्ञानेनैव मोक्षो नियतस्तथापि ज्ञानी शमदमाद्युपेतः स्यात्। आचार्याद्विद्यामवाप्यैतमात्मानमभिपश्य शान्तो भवेद्दान्तो भवेदनुकूलो भवेदाचार्यम् परिचरेत् परिचरेदाचार्यमिति माठर-श्रुतौ ज्ञानिनोऽपि तद्विधेः। ब्राह्मीं वाव त उपनिषद्ब्रूमेति तस्यैव तपोदमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनं यो वा एतामुपनिषदं वेद (केन॰ ४/७, ८, ९) *इति ज्ञानाङ्गतया तेषां अवश्यानुष्ठेयत्वात् यस्य ज्ञानं तस्य मोक्ष इति नात्र*

विचारणा। तस्य शान्त्यादयोऽङ्गानि तस्मात्तेषामनुष्ठितिः। अवश्य करणीयास्यादन्यथाल्पफलं भवेदिति चाग्नये। तु शब्दः पूर्णफलाथत्वं सूचयति।

अर्थात् यद्यपि ज्ञान द्वारा मोक्ष नियत हो, तथापि ज्ञानी व्यक्ति शमदमादि युक्त होंगे। 'आचार्यसे विद्या प्राप्त करके आत्म-दर्शन करे', शान्त होवें, दान्त होवे, अनुकूल होवे, आचार्यकी परिचर्या करे इत्यादि माठर-श्रुतिमें ज्ञानीकी भी शमदमादि साधन विधि कही गयी है। 'ब्राह्मी (परब्रह्मविद्या विषयिणी) उपनिषद श्रद्धारूप है, तप, दम, कर्ममें ही उसकी (उपनिषदकी) प्रतिष्ठा (आश्रय) है, जो इस प्रकार जानता है, वह अङ्गों सहित वेद और सत्यका आयतन (निवास-स्थान) हो जाता है'—इत्यादि श्रुतिमें ज्ञानाङ्ग रूपमें तप आदिको अनुष्ठेय बताया गया है। यदि ज्ञानसे मोक्ष सिद्धि होती है, तो शमदमादि विधि व्यर्थ होती है—यह वक्तव्य नहीं है। कारण ज्ञान होनेपर ज्ञानी शमदमादि विधानसे इस ज्ञानकी प्रतिष्ठा करते हैं। अतएव ज्ञानीके लिए शमदमादिकी विधि व्यर्थ नहीं है। ज्ञान द्वारा मोक्षकी सिद्धि होनेपर भी शमदमादि अङ्गयुक्त होकर ही वह ज्ञान सम्पूर्ण होता है। शमादिका अनुष्ठान न किये जानेसे अल्पफल होता है, ऐसा अग्निपुराणका वचन भी है। सूत्रमें तु शब्द पूर्ण फलार्थताका सूचक है॥ २७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ विदुषां निषिद्धाचारं निवारयति। यदि ह वा अप्येवंविन्निखिलं भक्षयीतैवमेव स भवतीति श्रूयते। अत्र सन्देहः। विदुषः सर्वान्नभुक्तौ विधिरुताभ्यनुज्ञेति। सर्वान्नभुक्तेर्मानान्तरेणाप्राप्तेर्विदुषोऽसौ विधीयत इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद ब्रह्मविद्गणोंके निषिद्ध कर्माचरणका निराकरण करते हैं। श्रुतिमें है *'यदि ह वा अप्येवं विन्निखिलं भक्षयतीतैवमेव स भवति।'* परतत्त्वविद व्यक्ति जिस किसी भी व्यक्तिके द्वारा पकाये अन्नका भोजन कर सकते हैं इसमें भी वे पूर्ववत् रहते हैं अर्थात् अति पवित्र ही रहते हैं। इस श्रौत-वाक्यमें संशय यह है कि ब्रह्मविद्के लिए सर्वजातिका अन्न भोजन-विषयमें क्या 'भक्षयीत' सर्वान्न भोजन (भक्षण) कहकर विधि है? अथवा *'एवमेव स्यात्'* इसके द्वारा सर्वजातिका अन्न-भोजन अनुमोदित है।

इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं जब इसके बिना अन्य किसी प्रमाण द्वारा सर्वान्न भोजन प्राप्त नहीं है, तब इसे ब्रह्मविदकी अपूर्व (अज्ञात अथवा असिद्ध कल्पनीय) विधि कहेंगे। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादि। विद्यासन्निधानां शमादिवत् सर्वान्नभक्षणञ्च विद्याङ्गमिति दृष्टान्तोऽत्र सङ्गतिः। यदि हेति। एवंवित् परतत्त्वज्ञो जनः निखिलं सर्वं येन केनापि राद्धमन्नं भुञ्जीतेत्यर्थः। एवमेव स भवति सर्वान्नभक्षणात् पूर्वं यथातिपवित्र आसीदथ भक्षितसर्वान्नोऽपि तथैव भवतीत्यर्थः। न तस्य प्रभाव- विच्युतिस्तद्भक्षणाद्दोषगन्धश्च भवतीति भावः। अत्र सर्वान्नभक्षणं शमादिवद्विद्याङ्गतया विधीयते उत स्तुत्यर्थः तत् कथ्यते। भक्ष्याभक्ष्यविभागासिद्धिः पूर्वपक्षे फलं सिद्धान्ते तु तत्सिद्धिरिति बोध्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—विद्याके सन्निधानमें पठित होनेके कारण जिस प्रकार शमदमादि विद्याके अङ्ग हैं, उसी प्रकार सर्वान्नभक्षणको भी विद्याङ्ग कहेंगे। इस प्रकारसे इस अधिकरणमें दृष्टान्त सङ्गति ज्ञातव्य है। *'यदि ह'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है *'एवं वित्'* परतत्त्वज्ञ (ब्रह्मविद) व्यक्ति, निखिल-समस्त अर्थात् जिस किसी जाति द्वारा पक्व-अन्न भोजन करेंगे, *'एवमेव स भवति'* इति सर्वान्न भक्षणके पूर्व जिस प्रकार वे पवित्र थे, बादमें भी वे वही रहेंगे, इसमें उनके प्रभावमें कोई हानि नहीं होगी और निषिद्ध-भक्षण जन्य दोष लेशमात्र भी उत्पन्न नहीं होगा, श्रुतिका यही अभिप्राय है। इस विषयमें शमदमादिके समान सर्वान्न-भक्षण क्या विद्याके अङ्ग रूपमें विधि है? अथवा विद्याकी प्रशंसाके कारण वह अर्थवाद रूपमें कथित है? पूर्वपक्षीके मतमें भक्ष्य और अभक्ष्य विभागकी असिद्धि फल है। सिद्धान्तीके मतमें भक्ष्य-अभक्ष्य विभाग अक्षुण्ण ही रहेगा, यही फल ज्ञातव्य है।

सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्

सूत्र—सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्॥ २८॥

सूत्रार्थ—सर्वान्नानुमतिः—यह सर्वजातिका अन्न भोजन अभ्यनुज्ञा (अनुज्ञात अनुमति-वचन अर्थात् सम्मत) है, (यह विधि नहीं है)

किस कारणसे? 'प्राणात्यये तद्दर्शनात्' क्योंकि छान्दोग्यकी आख्यायिकामें प्राण-नाश कालमें यही देखा जाता है॥ २८॥

सूत्रानुवाद—विद्वान सर्वान्न भक्षण करें—यह अनुज्ञामात्र है, यह विधि नहीं है क्योंकि अन्नाभावमें प्राण-सङ्कटके समय सर्वान्न भोजन दृष्ट है। छान्दोग्यमें इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका है॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—च-शब्दोऽवधारणे। अन्नालाभप्रयुक्तप्राणात्ययकाल एव सर्वान्नभक्षणे अभ्यनुज्ञैव। कुतः? तद्दर्शनात्। छान्दोग्ये *"मटचीहतेषु कुरुषु"* (छा॰ १/१०/१) इत्यारभ्य *"न वा अजीविष्यमिमा न खादन्निति होवाच कामो म उदपानम्"* (छा॰ १/१०/४) इति चाक्रायणाचारवीक्षणादित्यर्थः। तत्रेयमाख्यायिका। इभ्योच्छिष्टान् कुल्माषांश्चाक्रायणो नामर्षिः प्राणत्राणाय चखाद जलप्रतिग्रहमिभ्येनाभ्यर्थिताऽप्युच्छिष्ट-भयात् यथेष्टं लाभाच्च न तज्जग्राह। पुनः परेद्युः स्वपरोच्छिष्टान् पुर्युषितांस्तान् भक्षयामासेति। अन्यत्राप्येवमेव व्याख्येयम्॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द अवधारणार्थक अव्यय है। अन्नकी (खाद्यकी) अप्राप्तिके कारण प्राण-हानिकी सम्भावनाके समय सर्वान्न-भक्षणमें अनुमति है—यह जानना चाहिये। किस कारणसे? *'तद्दर्शनात्'* क्योंकि छान्दोग्योपनिषदमें वर्णित आख्यायिकामें देखा जाता है कि 'जब कुरुदेश दुर्भिक्षसे पीड़ित हो रहा था'—(वहाँकी समग्र खेतीको मटची-दल अर्थात् टिड्डी दलके द्वारा खा लिया गया था)। इत्यादिसे आरम्भ करके *'न वा अजीविष्यम्'* इत्यादि। 'मैं यदि यह सब न खाता, तो जीवित न रहता' यह कथा चाक्रायण ऋषिने कही है—किन्तु जलपान मेरी इच्छाके अधीन है। इस प्रकार चाक्रायणके (चक्रका पुत्र उषस्ति) आचार-दर्शनके कारण जाना जाता है कि प्राण हानिकी सम्भावना-स्थलपर सर्वान्न भक्षण अनुमोदित है। (यह विधि नहीं है) छान्दोग्यकी आख्यायिका इस प्रकारसे है कि चाक्रायण नामके ऋषिने देशान्तर जाते समय भूखसे व्याकुल होकर हस्ति-पालक (महावत) के अर्द्ध-भक्षित कुत्सित (जूठे) उड़दको प्राण-रक्षाके लिए खा लिया था किन्तु महावत द्वारा जल ग्रहणके लिए अभ्यर्थना (अनुरोधपूर्वक आग्रह) किये जानेपर भी उच्छिष्ट-पानके भयसे और तड़ागादिमें यथेच्छ जल लाभ अर्थात् प्राप्तिकी सम्भावनासे उसे ग्रहण नहीं किया; महावत द्वारा दिया हुआ जल उच्छिष्ट था। पुनः दूसरे

दिन स्वयंके भुक्तावशिष्ट और हस्तिपालकके उच्छिष्ट उन पर्युषित (बासी) उड़दोंको ही फिरसे खा लिया। अन्यत्र अर्थात् बृहदारण्यकमें भी इसी प्रकारकी व्याख्या जाननी चाहिये॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—एवं प्राप्ते सर्वान्नेति। मटचीति। पाषाणवृष्टयो मटचीशब्देन ग्राह्याः। रक्तवर्णाः क्षुद्रपक्षिविशेषा वेत्येके। तत्रेयमिति। कुरुदेशे दुर्भिक्षपीडितश्चाक्रायणो देशान्तरं व्रजन् हस्तिपालकदेशं प्रविष्टस्तेनार्द्धभक्षितान् दत्तान् कुत्सितान् माषान् भक्षितवान्। तेनोदकं गृहाणेत्युक्त उच्छिष्टं न पीतं स्यादिति प्रतिषिद्धवान्। किमेते माषा नोच्छिष्टा भवन्ति तेनोक्ते नवा अजीविष्यमित्याद्युक्तवान्। इमान् कुल्माषान् खादन्न भुञ्जानोऽहं जीवन्न भविष्याम्युदपानं तु तडागादिषु यथेष्टं स्यादित्यर्थः। एवं तान् खादित्वा तदवशिष्टान् जायायै ददौ तया च पतिस्वभावज्ञया स्थापितान् तान् परेऽह्नि स बुभुजे इति दर्शयन्ती श्रुतिर्महापद्येव सर्वान्नभक्षणमनु-ज्ञापयत्यानापदि तु सदाचारे स्थेयमिति वदतीत्यर्थः। अन्यत्रोप्येवमिति बृहदारण्यके न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवतीति (बृ॰आ॰ ६/१/१४) श्रूयते अस्य प्राणोपासकस्य यत् प्राणिमात्रेण जग्धं भक्ष्यं तत् सर्वमनन्नमभक्ष्यं न किन्तु सर्वं भक्ष्यमेव भवतीत्यर्थः अत्राप्येवमेव सङ्गतिः॥ २८॥

सूक्ष्मा-सार—एवं प्राप्ते, *'सर्वान्नेति'* सूत्रमें। *'मटचीहतेषु कुरुषु'* इति— *'मटची'*—शब्दसे पाषाण वृष्टि ज्ञातव्य है। अथवा कोई-कोई इसे रक्तवर्ण क्षुद्र पक्षी विशेष भी कहते हैं। *'तत्रेयमाख्यायिकेति'*—कुरुदेशमें दुर्भिक्ष-पीड़ित चाक्रायण ऋषि देशान्तरमें जाते-जाते हस्ति-पालक (महावत) के देशमें उपस्थित हुए तथा भूखसे प्रताड़ित (व्याकुल) होकर हस्ति-पालकके अर्द्ध-भक्षित कुत्सित (जूठे) उड़दको प्राण-रक्षाके लिए स्वेच्छासे खा लिया। बादमें हस्तिपालकने कहा 'जल पिओ' तो उन्होंने कहा उच्छिष्ट (जूठा) जल तो नहीं पानकर सकूँगा—यह कहकर जल-पान नहीं किया। तब हस्तिपालकने कहा, ये उड़द क्या जूठे नहीं थे? इसपर ऋषिने कहा, 'इन कुत्सित उड़दको न खानेपर मैं जीवन धारण नहीं कर सकता था किन्तु जल तो तड़ाग इत्यादिमें यथेष्ट प्राप्त कर ही लूँगा।' इस प्रकारसे कुल्माष (उड़द) खाकर अवशिष्ट स्त्रीको प्राण-रक्षाके लिए दे दिया। पतिके स्वभावको जाननेवाली स्त्री द्वारा स्थापित उस कुल्माषको ऋषिने दूसरे दिन भी खा लिया। श्रुति इस आख्यायिकाका वर्णन करके कहती है कि

महासङ्कट पड़नेपर सर्वान्न-भक्षण अनुमोदित है, आपद् न होनेपर सदाचार की स्थापना करनी चाहिये। *'अन्यत्राप्येवमिति'*—बृहदारण्यकमें वाजसनेयियोंके प्राण-संवादमें श्रुत होता है कि *'न वा अस्यानन्नं जग्धं भवति'* अस्य इस प्राणोपासकका, यत्—जो प्राणीमात्र द्वारा भक्षित हैं, तत्-सर्वं अनन्नं वे समस्त अभक्षणीय नहीं हैं, किन्तु समस्त ही भक्षणीय हो सकते हैं, यह अर्थ है, इस उक्तिमें भी इसी प्रकारसे सङ्गति करणीय है॥ २८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब ब्रह्मज्ञ व्यक्तिके निषिद्धाचारका निवारण करते हैं। *'यदि ह वा अप्येवं विन्निखिलं भक्षयीतैवमेव स भवतीति'* इत्यादि श्रुतिमें परतत्त्वज्ञानसम्पन्न व्यक्तिके लिए जिस किसीके भी द्वारा पक्व अन्न-भक्षणका उल्लेख प्राप्त होता है। इस स्थलपर संशय यह है कि उसके द्वारा क्या यह विधि दी गयी है? अथवा अनुमति दी गयी है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब तक इसका दूसरा प्रमाण प्राप्त नहीं होता, तब तक इसे अपूर्व विधि ही कहेंगे। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि यह विधि नहीं है, अनुमतिमात्र है। प्राण-सङ्कट उपस्थित होनेपर इस प्रकारसे अन्न-ग्रहणकी बात छान्दोग्य-श्रुतिमें देखी जाती है—*'मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह'* (छा॰ १/१०/१) श्रुति इस आख्यायिकाका वर्णन करके कहती है कि महासङ्कट पड़नेपर ही सर्वान्न-भक्षण अनुमोदित है, आपद् न होनेपर सदाचारमें रहना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यद्यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप।
स तेनेहेत कार्याणि नरो नान्यैरनापदि॥
(श्रीमद्भा॰ ७/१५/६६)

अर्थात् हे राजन्! मनुष्योंको चाहिये वे अपने सारे कार्यकलाप ऐसी वस्तुओं, उपायों एवं प्रयासोंसे सम्पन्न करें, जो शास्त्राज्ञाके विरुद्ध न हों, ऐसे स्थानोंपर रहें, जहाँ वास करना निषिद्ध न हो। आपत्तिकालको छोड़कर इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं करना चाहिये।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें पाया जाता है—

'न ह वा एवं विदि किञ्चनानन्नं भवति (छा॰ ५/२/१) *इति सर्वान्नानुज्ञानं प्राणात्ययपत्तावेव, प्राणात्यये चाक्रायणो हीभ्योच्छिष्टं भक्षणं कृतवान्। तस्य श्रुतौ दर्शनात्।'*

अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानीके लिए (प्राणतत्त्वके ज्ञाताके लिए) कोई अन्न अखाद्य या अग्राह्य नहीं होता' इस प्रकार प्राणात्यय (प्राण-सङ्कट) विषयमें सर्वान्न भक्षणका अनुज्ञान (अनुमति) है। प्राण-हानिके समय चाक्रायणने महावतके जूठे उड़द खाये थे। ब्रह्मज्ञानियोंके लिए प्राणबाधाकी उपस्थितिमें ही उसकी अनुज्ञाका श्रवण है—इसी तथ्यको इस श्रुति-वाक्यमें दिखलाया गया है।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी है सूत्रस्थ 'च' शब्द अवधारण अर्थमें है। इसका तात्पर्य है—प्राणात्यय अर्थात् प्राण-सङ्कटके कालमें ही अर्थात् प्राणान्तक आपत्तिके समयमें ही सबकुछ ग्रहण किया जाना चाहिये क्योंकि श्रुतिमें यही देखा जाता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'यदि ह वा अप्येवं विन्निखिलं भक्षयीतैवमेव स भवतीति सर्वान्नानुमतिः प्राणात्यय विषया। न वात्थ अजीविष्यमिति होवाच कामो म उदपानमिति दर्शनात्' (छा॰ १/१०/४)।

अर्थात् यद्यपि सदसत्प्रवृत्ति द्वारा ज्ञानीका विशेष (वैशिष्ट्य) है, ऐसा होनेपर ज्ञानी व्यक्ति सभीका अन्न भक्षण करे। इस निषिद्धान्न भोजनसे भी उसके ज्ञानका ह्रास नहीं होता—ऐसा सम्भव हो सकता है अतः असत्-प्रवृत्तिमें कुछ विशेष लक्षित नहीं हो रहा है—इस आशङ्कापर कहते हैं—ज्ञानी सबका अन्न भक्षण कर सकता है—इस श्रुतिके आधारपर ज्ञानीका असत्-प्रवृत्तिमें विशेषाभाव कहा नहीं गया कारण ज्ञानीको सबके अन्न-भक्षणमें दोष नहीं है—यह कहा गया है। छान्दोग्य-श्रुतिमें प्राण-सङ्कट कालमें उच्छिष्ट उड़द-भक्षण देखा जाता है। अतएव उक्त श्रुतिमें प्राणनाशके समय सभीका अन्न भक्षण किया जा सकता है—यह कहा गया है, श्रुति सभीको सर्वकाल सर्वभक्षणकी अनुमति नहीं दे रही है अपितु प्राणात्ययकालका उल्लेख कर रही है। अतः ज्ञानी निषिद्ध आचरण नहीं करेंगे—यही प्रतीत होता है॥ २८॥

सूत्र—अबाधाच्च॥ २९॥

सूत्रार्थ—'अबाधात्' आपात्कालमें सर्वजातिका अन्न भक्षण होनेपर भी चित्तकी अदोषताके कारण उससे ज्ञानकी बाधा नहीं है 'च' इसलिए भी सर्वान्न-भक्षण अनुमोदित है॥ २९॥

सूत्रानुवाद—ज्ञानीका चित्त स्वभावतः दोषशून्य होनेसे उक्त ज्ञानमें बाधा नहीं है—इसलिए आपात्-कालमें सर्वान्न भक्षण अनुमोदित है॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—आपदि सर्वान्नभक्षणेऽनुमतिश्चित्तमदूषयता तेन ज्ञाने बाधा-भावात्॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपात्-कालमें सर्वजातिके अन्न-भक्षणमें अनुमति जाननी चाहिये क्योंकि उससे चित्त दूषित नहीं होता। अतएव इससे ज्ञानमें बाधा नहीं है॥ २९॥

सूक्ष्मा-टीका—अबाधाच्चेति। भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्राबाधादेवेत्येके॥ २९॥

सूक्ष्मा-सार—*'अवधाच्चेति'* सूत्रमें यह भक्ष्य है, यह भक्षणीय नहीं है—इस प्रकारसे विभाग-बोधक शास्त्रकी इसमें कोई बाधा नहीं है, इसी कारण ही—यह कोई-कोई कहते हैं॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार और भी दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि आपात्-कालमें सर्वान्न-भक्षणसे ज्ञानीका चित्त दूषित नहीं होता। उसके ज्ञानमें कोई बाधा नहीं होती किन्तु केवल आपात्-कालके लिए ही इसकी अनुज्ञामात्र है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते॥

यदृच्छयोपपन्नामद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम्।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१८/३४-३५)

अर्थात् भिक्षा अवश्य ही माँगनी चाहिये, ऐसा करना उचित ही है; क्योंकि भिक्षासे ही प्राणोंकी रक्षा होती है और प्राणोंके रहनेसे

ही तत्त्वका विचार होता है और तत्त्वविचारसे मुक्ति मिलती है। संन्यासीको प्रारब्धके अनुसार अनायास ही अच्छी या बुरी—जैसी भी भिक्षा मिल जाय, उसीसे पेट भर ले। वस्त्र और बिछौने भी जो अनायास मिल जायें, उसीसे काम चला ले।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें पाया जाता है—

'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छा॰ ७/२६/२) *'इत्यस्या बाधाच्च।'*

अर्थात् 'आहार शुद्धि होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है इस विधिके बाध न होनेसे ब्रह्मवेत्ताओंके लिए सर्वान्न-भक्षण प्राण-सङ्कटमें ही विहित है। बिना बाधाके अभक्ष्य भक्षण न करे।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—*'अन्यायाचरणाभावेन हि ज्ञानस्याबाधनम्। अतो विद्वानपि न्यायं वर्त्ततोत्कर्षसिद्धये इति च ब्रह्मतर्के।'*

अर्थात् ज्ञानीके निषिद्धाचरण न करनेपर कोई बाधा नहीं है, इसलिए भी उनका असदाचरण अकरणीय जाना जाता है। ब्रह्मतर्कमें कहा है कि अन्यायाचरणके अभावमें अर्थात् सदाचरणसे ज्ञान-साधनामें ज्ञानकी बाधा नहीं होती। अतएव विद्वान व्यक्ति अपने नियमके उत्कर्ष साधनके लिए सदाचरण करे॥ २९॥

सूत्र—अपि स्मर्यते॥ ३०॥

सूत्रार्थ—'अपि'—स्मृति-शास्त्रमें भी 'स्मर्यते'-स्मृत है कि प्राणात्ययकी सम्भावना होनेपर जिस किसी जातिके निकटसे अन्न-भक्षण करनेपर भी पापसे लिप्त नहीं होता—इस स्मृति-वाक्यमें भी विपत्-कालमें ही सभीका सर्वान्न भोजन अनुमोदित है, सर्वदा नहीं॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—स्मृतिमें भी विपत्-कालमें ही सर्वान्न-भोजनकी अनुमति है, सर्वदा नहीं॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य— *"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"* (मनुस्मृति १०/१०४) इति स्मृत्या च विपद्येव सर्वेषां सर्वान्नभुक्तिरुक्ता न तु सर्वदा। अतस्तस्यामनुमतिमात्रमेव न तु विधिः प्रतिषेधशास्त्राच्च॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवनकी हानि-दशा (नाश-दशा) उपस्थित होनेपर यदि कोई व्यक्ति किसी स्थानसे अन्न-भोजन करता है तब पद्म-पत्रमें जैसे जल लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह व्यक्ति भी इस (अन्न-भक्षणरूप) पापसे लिप्त नहीं होता। इस धर्म-शास्त्रके वाक्य द्वारा जाना जाता है कि विपद्-दशामें ही सबके लिए सर्वजातिका अन्न-भोजन हो सकता है, सर्वदा नहीं। अतएव इस सर्वान्न-भुक्तिमें अनुमति (अनुमोदन) मात्र जानना चाहिये, विधि नहीं। रुचिप्राप्त विषयमें विधि नहीं होती और इसका निषेध-बोधक शास्त्र भी है॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—अपीति। जीवितेति। य इति। यः कोऽपि॥ ३०॥

सूक्ष्मा-सार—*'अपि स्मर्यते'* इस सूत्रमें। *'जीवितात्ययमापन्नः'* इत्यादि स्मृति-वाक्य है। यः—अर्थात् जो कोई व्यक्ति॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः सूत्रकार कहते हैं कि आपत्-कालमें सर्वान्न-भक्षणमें जो अभ्यनुज्ञा-श्रुतिमें दृष्ट होती है, स्मृतिमें भी इसी प्रकार अनुमति है।

मनुस्मृति (१०/१०४) में कहा गया है कि जीवनमें सङ्कट-काल उपस्थित होनेपर जिस-किसी व्यक्तिके अन्न ग्रहण करनेसे पापसे लिप्त नहीं होते जैसे कि पद्म-पत्रमें जल लिप्त नहीं होता। अवश्य यह अनुज्ञा केवल विपत्-कालके लिए ही जाननी होगी—सर्वकालके लिए नहीं। अतः इसे विधि नहीं कहा जाता। विशेषतः इसके निषेधपरक (भक्ष्याभक्ष्यपरक) शास्त्र-वाक्य भी है। यथा *'मद्यं नित्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्'* अर्थात् ब्राह्मण सर्वदा मद्यका त्याग करे।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

बिभृयाद्यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न लिङ्गादण्डादेरन्यत् किञ्चिदनापदि॥

(श्रीमद्भा॰ ७/१३/२)

अर्थात् संन्यास-आश्रमीको शरीर ढकनेके लिए भी वस्त्र नहीं पहनना चाहिये। यदि वह वस्त्र पहने भी, तो केवल कौपीनमात्र ही, जिससे उसके गुप्त अङ्ग ढक जायें। जब तक आपत्तिकाल न आये,

तब तक दण्डादि परिव्राजक-चिह्नोंके अतिरिक्त अपनी त्यागी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण न करे।

इस श्लोकको टीकामें श्रीलचक्रवर्त्तीपाद कहते हैं—

'अनापदीति—आपदि तु देहरक्षार्थम् त्यक्तमपि धारयेत्' अर्थात् आपत्तिकालमें देह-रक्षाके लिए परित्यक्त वस्तुको ग्रहण किया जा सकता है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें पाया जाता है—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा इति स्मर्यते च॥

(मनुस्मृति १०/१०४)

प्राणोंपर सङ्कट आनेपर जो जहाँ-तहाँ-से अन्न प्राप्त कर सकता है, वह पापसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे पद्मपत्र जलसे लिप्त नहीं होता।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—*'अतीतानागत ज्ञानी त्रैलोक्योद्धरणक्षमः। एतादृशोऽपि नाचारं श्रौतं स्मार्त्तं विसर्जयेदिति। श्रीहरिवंशेषु।'*

अर्थात् ज्ञानियोंके सदाचार-कर्त्तव्यमें स्मृति-प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—हरिवंशमें है कि त्रिकालज्ञ और त्रिभुवनका (अतीत एवं अनागत जीवोंका) उद्धार करनेमें समर्थ व्यक्ति भी श्रुति-उक्त और स्मृति-उक्त आचारका परित्याग न करें। अतएव ज्ञानी भी सदाचार करें॥ ३०॥

सूत्र—शब्दश्चातोऽकामचारे॥ ३१॥

सूत्रार्थ—'अतः' क्योंकि आपत्-कालमें ही सर्वजातीय अन्न-भक्षणकी अनुमति है 'अकामचारे' इसलिये ब्रह्मविद्का कामचार न रहना ही उचित है 'शब्दः च'—क्योंकि इस प्रकारकी श्रुति भी है॥ ३१॥

सूत्रानुवाद—छान्दोग्य-श्रुतिमें है कि आपत्-कालमें सर्वान्न भोजन करे, इसके अतिरिक्त सब समय यथेच्छाचार न करके यथा शास्त्र आचरण ही करे॥ ३१॥

गोविन्दभाष्य—यस्मादापद्येव सर्वान्नभक्षणेऽभ्यनुज्ञानमतोऽकामचारे विदुषा प्रवर्त्तितव्यम्। शब्दश्च—*"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे*

सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इति छान्दोग्यश्रुतिः (छा॰ ७/२६/२) कामचारं वारयति। तथा चापद्येव सर्वान्नाभ्यनुज्ञानादनापदि शास्त्रीयः समाचारः॥ ३१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपद्-दशामें ही सर्वान्न-भक्षणकी अनुमति है। इसलिए विद्वान व्यक्ति यथेच्छाचारसे भिन्न आचरण (शास्त्र-आचरण) में ही प्रवृत्त होंगे। इस विषयमें शास्त्र-वाक्य कामचारका निषेध करते हैं यथा *'आहारशुद्धौ'* (छा॰ ७/२६/२) इत्यादि अर्थात् पवित्र आहार होनेपर चित्तशुद्धि (सत्त्वशुद्धि) होती है, चित्तशुद्धि होनेपर ब्रह्मविषयक स्मृति सुनिश्चित (और अविचल) होती है। स्मृति (ध्रुवानुस्मृति) प्राप्त होनेपर समस्त बन्धनसे मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार छान्दोग्योपनिषदकी श्रुति है—इसमें कामचारका निषेध किया गया है। इसके फलस्वरूप आपात्-कालमें ही सर्वान्न-भक्षणकी अनुमति है। अतः प्राणात्ययकी सम्भावना न होनेपर शास्त्रोक्त सदाचार अवश्य ही पालनीय है, यह जाना जाता है॥ ३१॥

सूक्ष्मा-टीका—शब्दश्चेति। तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत् न पलाण्डुं भक्षयेदित्याद्या श्रुतिः। अतीतानागतज्ञानी त्रैलोक्योद्धरणक्षमः। एतादृशोऽपि नाचारं श्रौतं स्मार्त्तं विवर्जयेदिति स्मृतिश्चात्रोदाहार्या॥ ३१॥

सूक्ष्मा-सार— *'शब्दश्चेति'* सूत्रमें। इस विषयमें प्रतिषेधक शब्द—श्रुति यह है—इसीलिए ब्राह्मण सुरापान न करे, पलाण्डु (प्याज) न खाये इत्यादि श्रुति-वाक्य है एवं स्मृति-वाक्य भी है यथा—जो भूत-भविष्यत्के ज्ञानवान हैं, त्रिभुवनका उद्धार करनेमें समर्थ हैं, ऐसी सामर्थ्य होनेपर भी वे श्रौत (वैदिक) तथा स्मार्त्त आचारका परित्याग न करें, यह भी यहाँ उदाहरणीय है॥ ३१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि आपत्-कालमें ही सर्वान्न-भक्षणमें अनुमति है, अतएव विद्वान व्यक्तिको अनापद्-कालमें कामचारमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। इस विषयमें स्मृति-वाक्य है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः।
ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/११/१७)

अर्थात् निम्न वर्णका मनुष्य बिना आपत्तिकालके उत्तम वर्णकी वृत्तियोंका अवलम्बन न करे। आपत्तिकाल आनेपर क्षत्रियके अतिरिक्त सभी लोग अन्य वर्णोंकी जीविका-वृत्तियों द्वारा निर्वाह कर सकते हैं। क्षत्रिय जाति विपत्तिमें दान ग्रहणको छोड़कर सभी वृत्तियाँ ग्रहण कर सकती है।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यके सारमें पाया जाता है—

सर्वान्न-भक्षणकी अनुमति क्योंकि ब्रह्मज्ञके लिए आपत्-कालमें ही है, इसलिए 'ब्राह्मण सुरापान न करे' यह श्रुति-वाक्य (कठसंहिता) भी वर्त्तमान है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी—

'अतएव तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति शब्दो यथेष्टाचार निवृत्तौ वर्त्तते।

अर्थात् 'अतएव ब्राह्मण सुरापान न करे' इस प्रकारसे कठसंहितामें यथेच्छ आचरणकी निवृत्ति श्रूयमाण होती है अर्थात् यथेष्टाचार (मनमानी) न करनेका विधान सिद्ध होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'स च एतदेवंविदेवं मन्वान एवं पश्यन्न कामचरितं चरेन्न कामं भक्षयीत न काममनुवतैत इति कौण्डिन्य श्रुतौ। अत इत्यल्पफलत्वं सूचयति। न निषिध्दानि वतैत पूर्णज्ञानफलेच्छया। इति पाद्मे।'

कौण्डिन्य-श्रुतिमें है कि आत्मदर्शी व्यक्ति स्वेच्छाचार न करे, यथेच्छ भक्षण न करे और कामचारी न होवे। पद्मपुराणमें भी पाया जाता है कि पूर्णज्ञानके फलकी जो इच्छा करते हैं, वे निषिद्ध कार्यमें प्रवृत्त न हों॥ ३१॥

अवतरणिका भाष्य—पूर्वसन्दर्भे स्वनिष्ठादिभेदेन त्रेधा विद्याजुषो दर्शिताः। अथ तेषु लब्धविद्येषु वर्णाश्रमाचारः कथं स्यादित्येतद्व्यवस्थापयितुमारभ्यते। तत्र तावत् सनिष्ठः परीक्ष्यते। *"पश्यन्नपीममात्मानं कुर्यात् कर्माविचारयन्। यदात्मनः सुनियतमानन्दोत्कर्षमाप्नुयात्"* इति कौषारवश्रुतौ संशयः। लब्धविद्येन सनिष्ठेन कर्माणि कार्याणि न वेति। विद्यालक्षणस्य तत्फलस्य प्राप्तत्वात् फलप्राप्तौ साधननिवृत्तेर्दृष्टत्वात् न कार्याणीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्ववर्त्ती प्रबन्धमें सनिष्ठादि भेदसे तीन प्रकारके विद्याधिकारियोंके विषयका वर्णन किया गया है। अब जो लब्ध ब्रह्मविद्य (जिन्हें ब्रह्मविद्या प्राप्त हो चुकी है) हैं, उनका वर्णाश्रमाचार किस प्रकारका होगा—इसकी व्यवस्था करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है। इन त्रिविध ब्रह्मविदोंमें सनिष्ठ ब्रह्मविद्के विषयमें विचार किया जाता है। कौषारव-श्रुतिमें है—ब्रह्मविद् व्यक्ति आत्मदर्शन अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करके भी निर्विचार (बिना विचारे हुए) श्रौत-स्मार्त्त कर्मोंका अनुष्ठान करेंगे क्योंकि इससे आत्मविषयक आनन्दोत्कर्ष सुनिश्चित प्राप्त होगा। अर्थात् उनके आनन्दकी वृद्धि होगी। इस श्रौत विषयमें संशय यह है कि ब्रह्मविद्या-प्राप्तिके बाद सनिष्ठ व्यक्ति शास्त्रविहित कर्म करेंगे? कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, वह नहीं करना होगा क्योंकि कर्मानुष्ठानका फल ब्रह्मविद्या जब उत्पन्न हो गयी है और फल-प्राप्ति होनेपर साधनकी निवृत्ति जब देखी जाती है तब और कर्माचरणकी प्रयोजनीयता नहीं है। इसके प्रतिवादमें सिद्धान्ती सूत्रकार उत्तर देते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र सर्वान्नभक्षणस्य शास्त्रान्तरेण विरोधात् विधेयत्वं नेत्युक्तम्। तद्वत्त्याजकशास्त्रविरोधात् जातविद्यस्य यज्ञादि नानुष्ठेयमस्त्विति दृष्टान्तसङ्गत्यारभ्यते पूर्वसन्दर्भ इत्यादिना। पश्यन्नपीति। लब्धविद्योऽपीत्यर्थः। कर्म विद्योत्तरकालिकमग्निहोत्रादि निष्कामम्। आत्मनः परेशाद्धेतोः आनन्दोत्कर्षं विद्याविवृद्धिरूपम्। एषा श्रुतिरात्मानमेवेमं लोकमित्याद्या च स्वनिष्ठविषयतयैव नेया। सामान्यविषयतायामुत्तरकर्माश्लेषबोधकश्रुतेर्यस्त्वात्मरतिरेवेत्यादिस्मृतेश्च व्याकोपापत्तिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले जिस प्रकार कहा गया था कि जिस प्रकार सर्वजातिका अन्न-भक्षण शास्त्रान्तरके साथ विरोधके कारण विधेय (विधिबोधित) नहीं है, इसी प्रकार कर्मत्यागबोधक शास्त्रके साथ विरोधवश विद्योदयके बाद यज्ञादि वर्णाश्रमधर्म पालनीय न हों—ऐसी दृष्टान्त-सङ्गतिके अनुसार यह अधिकरण पूर्वसन्दर्भे इत्यादि वाक्य द्वारा आरम्भ होता है। *'पश्यन्नपीममात्मानम्'* इत्यादि—*'इममात्मानं पश्यन्नपि'* अर्थात् लब्धविद्य होकर भी। *'कर्म कुर्यादिति'*—

कर्म—विद्या-प्राप्तिके परवर्त्तीकालमें करणीय अग्निहोत्रादि निष्काम कर्म करेंगे। *'आत्मनः सुनियतमित्यादि'* में 'आत्मनः' अर्थात् परमेश्वररूप कारणसे। *'आनन्दोत्कर्षम्'*—विद्याका वृद्धिरूप उत्कर्ष। यह श्रुति एवं *'आत्मानमेवेमं लोकम्'* इत्यादि श्रुति स्वनिष्ठ ब्रह्मविद् विषयक रूपमें ग्रहण करनी होगी। यदि साधारण ब्रह्मविद्-विषयक कहा जाता तो परवर्त्तीकालीन कर्मलेपबोधक श्रुतिका एवं *'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'* इत्यादि स्मृति-वाक्यका भी विरोध होगा।

विहितत्वाधिकरणम्

सूत्र—विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि॥ ३२॥

सूत्रार्थ—'च' और 'आश्रमकर्मापि'—आश्रमकर्म और वर्णधर्म ये अवश्य करने चाहिये क्योंकि 'विहितत्वात्'—ये समस्त कर्म विद्याके उत्कर्ष (वृद्धि) के हेतु विद्वानोंके लिए विहित हैं॥ ३२॥

सूत्रानुवाद—स्वाधिकारोचित वर्णाश्रम कर्मोंका आचरण करना कर्त्तव्य है। यह कर्माचरण विद्याकी वृद्धिके लिए विहित है॥ ३२॥

गोविन्दभाष्य—अपिर्वर्णकर्मसमुच्चयार्थः। तेन स्ववर्णाश्रमकर्माणि कार्याणि। कुतः? विद्योपचितये तं प्रति तेषां विहितत्वादेव॥ ३२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'अपि' शब्द—आश्रम धर्मके समान वर्णोचित कर्मके समुच्चयके उद्देश्यसे है। अतएव इसका अर्थ है—सनिष्ठ ब्रह्मविद् अपने वर्णोचित कर्म और आश्रम-विहित समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करें। किस कारणसे? विद्योपचितये—विद्याके उत्कर्ष (वृद्धि) के लिए। ब्रह्मविद्की विद्यावृद्धिके लिए इन समस्त कर्मोंका विधान है॥ ३२॥

सूक्ष्मा-टीका—विहितत्वादिति। विद्योपचितय इति। निखिलेन्द्रियव्यापार-विलक्षणानवच्छिन्नतैलधारेव सन्तता ब्रह्मानुसन्धिरूपा मनोवृत्तिर्हि विद्या सा खलु प्राकृतदेहादिसंसर्गिणः प्रमादेन पीड्यमानेव दुःशका च भवति निखिलेन्द्रियव्यापाररूपैः सुशकैरप्रमादैश्च कर्मभिः पुष्यमाणा निरन्तरा या च सती विवर्द्धेतेति तानि तेनानुष्ठयान्येवेति॥ ३२॥

सूक्ष्मा-सार— *'विहितत्वादित्यादि'* सूत्रमें *'विद्योपचितये'* इति भाष्यमें निखिल इन्द्रिय व्यापार रहित निरवच्छिन्न तैलधाराके समान धारावाहिक

ब्रह्मचिन्तनरूपा मनोवृत्ति ही विद्या शब्दका अर्थ है। यह विद्या प्रकृतिके कार्य देह-इन्द्रियादि-सम्बन्ध-विशिष्टके (संसर्गीके) पक्षमें प्रमाद (अनवधानता) द्वारा बाधित (पड्यिमाना) सी होनेपर दुःसम्पाद्य (कठिनाईसे प्राप्तव्य) हो पड़ती है। निखिल इन्द्रिय व्यापाररूप अनायास सम्पाद्य एवं प्रमादरहित कर्मोंके द्वारा पुष्ट होकर एवं निरवच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होनेपर यह विद्या वृद्धिको प्राप्त होती है; इस निमित्तसे स्वनिष्ठ ब्रह्मविद्के ये समस्त वर्णाश्रमोचित कर्म अवश्य अनुष्ठेय हैं॥ ३२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले स्वनिष्ठादि भेदसे तीन प्रकारके विद्याधिकारियोंके विषयमें बतलाया गया था। अब स्वनिष्ठके विषयमें विचार किया जा रहा है।

कौषारव-श्रुतिमें प्राप्त होता है कि ब्रह्मविद् व्यक्ति आत्मदर्शन प्राप्त करके भी बिना विचार किये हुए कर्मानुष्ठान करें क्योंकि इससे आनन्दकी वृद्धि प्राप्त होगी। इस स्थलपर संशय यह है कि लब्ध-विद्या व्यक्तिको कर्माचरण करना चाहिये? कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब फल-प्राप्त व्यक्तिको और साधनका प्रयोजन नहीं रहता, तब ब्रह्मविद्यारूप फल-प्राप्तिके बाद और कर्माचरण कर्त्तव्य नहीं है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्वान व्यक्तिकी विद्या-वृद्धिके लिए वर्ण और आश्रम विहित कर्त्तव्यका निष्काम भावसे पालनका विधान है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्व्वाणि कर्म्माणि निरपेक्षः समाचर॥
(श्रीमद्भा॰ ११/११/२२)

अर्थात् हे उद्धव! यदि परब्रह्ममें मनको स्थिर न कर सको, तो फलकी कामनासे रहित होकर नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको और उसके फलको मुझे समर्पण करो।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहंकुर्य्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/११/९)

अर्थात् विषयोंमें आसक्तिरहित विद्वान व्यक्ति गुणोंसे उत्पन्न इन्द्रियोंके द्वारा गुणोंसे उत्पन्न शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेपर भी 'मैं ग्रहण कर रहा हूँ' इस प्रकार नहीं समझता।

श्रीगीतामें भी पाया जाता है—

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्म विभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(श्रीगी॰ ३/२८)

अर्थात् हे महाबाहो अर्जुन! जो इस तथ्यसे परिचित हैं कि आत्मा गुण और कर्मसे पृथक् है, वे तत्त्वविद् पुरुष कर्त्तापनका अभिमान नहीं करते हैं क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियाँ तो अपने-अपने विषयोंमें रत हैं, किन्तु मैं उनसे पृथक् हूँ।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'न केवलं निषिद्धाकरणेन पूर्यते कर्त्तव्यञ्च वर्णाश्रमविहितं कर्म। पश्यन्नपीममात्मानं कुर्यात् कर्माविचारयन्। यदात्मानं सुनियतमानन्दोत् कर्षमाप्नुयादिति कौषारव श्रुतौ विहितत्वाच्च। अपि शब्दो वर्णधर्म समुच्चयार्थः।'

अर्थात् केवल निषिद्धाचरणका परित्याग करके ही ज्ञानी व्यक्ति पूर्ण ज्ञानवान नहीं हो सकते। उस व्यक्तिको वर्णाश्रम विहित कर्म भी करना चाहिये। कौषारव-श्रुतिमें स्पष्ट कहा है कि आत्म-दर्शन करके भी विचारपूर्वक कर्मोंका आचरण करे। इस प्रकार वर्णधर्मोचित कर्म द्वारा भी आनन्दोत्कर्षको प्राप्त किया जा सकता है। सूत्रमें अपि शब्द समुच्चय अर्थका बोधक है जो कि आश्रमके साथ वर्णधर्मकी ओर इङ्गन कर रहा है॥ ३२॥

अवतरणिका भाष्य—ननु जातायामपि विद्यायां पुनः कर्मविधानात् किं ज्ञानकर्मणोः समुच्चयोऽभिमतो नेत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न होता है कि विद्याकी उत्पत्तिके पश्चात् भी पुनः कर्मके विधानके कारण क्या मुक्ति विषयमें ज्ञान एवं कर्मका समुच्चय अभिप्रेत है? इसके उत्तरमें कहते हैं नहीं, ज्ञान एवं कर्मका समुच्चय अभिमत नहीं है।

सूत्र—सहकारित्वेन च॥ ३३॥

सूत्रार्थ—'च' और 'सहकारित्वेन' विद्याकी सहकारितासे ही ब्रह्मविद् अग्निहोत्रादि कर्मोंका अनुष्ठान करेंगे, मुक्तिके हेतु (साधन) रूपमें नहीं॥ ३३॥

सूत्रानुवाद—समस्त अग्निहोत्रादि कर्म विद्याके सहकारी रूपमें अनुष्ठेय हैं। मुक्तिके साधन रूपमें ये सब काम्यकर्म अभिप्रेत नहीं हैं॥ ३३॥

गोविन्दभाष्य—विद्यासहकारित्वेनैव तेन कर्माणि कार्याणि न तु मुक्तिहेतुत्वेन। तमेव विदित्वेत्यादौ (श्वे॰ ६/१५) तस्या एव तत्त्वाभिधानात्। एतदुक्तं भवति। स्वनिष्ठेनादौ परमात्मानमुद्दिश्य स्वकर्माण्यनुष्ठितानि तेषु तदुद्देशेनैव विषोर्णादिवत् तद्विषया विद्यासमभूत्। तैरसौ तासामाद्यापि तद्विवृद्धये तान्यनुतिष्ठति। सा च स्वोत्तराणि तानि न विनाशयत्यविरोधात्। किन्तु स्वर्गादिवैचित्रीमनुभावयितुं रक्षत्येव। *"न हास्य कर्म क्षीयत"* इति बृहदारण्यकात् (बृ॰आ॰ १/४/१५)। न च तेषां तदनुभवफलकत्वात् काम्यत्वं तेन तत्कामनयाननुष्ठानात्। स्वनिष्ठौ विद्वान् ब्रह्म प्राप्नुवन्ननुषङ्गात् स्वर्गादिकमनुभवति। *"ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति"* इति अत्र तृणस्पर्शवत्। स्वर्गाद्यानन्दानुभवपूर्वकं ब्रह्मप्रेप्सवे स्वनिष्ठाय विद्यैव स्वपरिकरकर्मद्वारा स्वर्गादिकमनुभावयति। स्वद्वारा तु ब्रह्मपदमिति श्रुतिश्चैवमभिप्रैति तं विद्येत्याद्या। इत्थमेव तस्य सङ्कल्पोऽपि बोध्यः। नैरपेक्ष्यपरीक्षायै क्वचित् स्वद्वारापि स्वर्गादिकमुपस्थापयति। *"सर्वं ह पश्यः पश्यति"* इत्यादिश्रुतेः। न चैवं तदधिगमन्यायविरोधः तस्य स्वनिष्ठेतरविषयत्वेनोपपत्तेः। स्वनिष्ठस्य स्वर्गाद्यर्पकपुण्यांश प्रारब्धांशौ तदितरस्य परिनिष्ठितादेस्तु प्रारब्धांशमेव विहायेतरत् सर्वं कर्म विनाशयतीति विद्यैव स्वतन्त्रा फलहेतुः कर्म तु तस्याः सहकारीति सिद्धम्॥ ३३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्मविद् द्वारा विद्याके सहकारी रूपमें ही वर्णाश्रम कर्म अनुष्ठेय हैं—वे मुक्तिके हेतु नहीं हैं (अर्थात् मुक्ति-साधनमें अनुष्ठेय नहीं हैं) क्योंकि *'तमेव विदित्वा'* अर्थात् 'उन्हें ही जानकर' इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मविद्याकी ही केवल मुक्तिजनकता कही गयी है अर्थात् ब्रह्मविद्या ही मोक्षकारणके रूपमें निरूपित है। बात यह है कि स्वनिष्ठ अधिकारी पहले परमेश्वरके उद्देश्यसे (उन्हें प्रसन्न करनेके लिए) जो आश्रमवर्णोचित कर्म करते हैं, उन समस्त कर्मोंके भगवत्-उद्देश्यसे ही अनुष्ठित होनेके कारण परमेश्वर-विषयक विद्या

उसी तरह सम्भूत (उत्पन्न) होती है जैसे ऊर्णनाभसे ऊर्णासूत्र। ये स्वनिष्ठ ब्रह्मविद् ईश्वर-उद्देश्यक उस कर्मफलसे विद्या प्राप्त करके भी उस विद्याकी पुष्टि-साधनके लिए उन समस्त कर्मोंका पुनर्वार अनुष्ठान करते हैं। यह लब्ध ब्रह्मविद्या उत्तरवर्त्ती (बादमें उत्पन्न होनेवाले) जात-कर्मोंका सम्पूर्णरूपेण विनाश नहीं करती अर्थात् ब्रह्मविद्से असंश्लिष्ट (वियुक्त) नहीं होती। इसका कारण है कि इन समस्त कर्मोंके साथ विद्याका कोई विरोध नहीं है, बल्कि तो यह विद्या स्वर्गादि विचित्र फलका अनुभव करानेके लिए कर्मोंकी रक्षा ही करती है। इस विषयमें बृहदारण्यक-श्रुति है—*'न हास्य कर्म क्षीयते'* अर्थात् ब्रह्मविद्के ब्रह्मविद्या-प्राप्तिके उत्तरकालीन कर्म क्षीण नहीं होते। ये समस्त कर्म स्वर्गादि अनुभवरूप फल उत्पन्न करा देते हैं—इसलिए इन समस्त कर्मोंको काम्यकर्म भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो ब्रह्मविद् हैं, वे कामनाके साथ इन कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते। स्वनिष्ठ ब्रह्मविद् ब्रह्म-प्राप्ति होनेके समय ही आनुषङ्गिक रूपसे स्वर्गादि फलका अनुभव वैसे ही करता हैं, जैसे कि गाँव जाता हुआ कोई अनीप्सित (बिना इच्छाके ही) तृणादिका स्पर्श कर लेता है। यहाँ स्वर्गादि-दर्शनको तृण-स्पर्शके समान आनुषङ्गिक सुख जानना चाहिये। स्वर्गादिगत आनन्दके अनुभवके साथ ब्रह्म-प्राप्तिके इच्छुक स्वनिष्ठ व्यक्तिको विद्या ही सपरिकर (साङ्ग) कर्मों द्वारा स्वर्गादि सुखका अनुभव कराती है और परिसमाप्तिपर उसे अपने द्वारा ब्रह्मपदकी प्राप्ति करा देती है—*'तं विद्या'*—इत्यादि श्रुति यही अभिप्राय व्यक्त करती है। इसी प्रकारसे स्वनिष्ठके सङ्कल्पको भी जानना चाहिये। स्वनिष्ठकी निष्कामताकी (निरपेक्षताकी) परीक्षाके लिए कभी-कभी विद्या स्वयं भी उसके सम्मुख स्वर्गादि उपस्थापित करा देती है *'सर्वं ह पश्यः पश्यति'*—इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म-साक्षात्कारी समस्त ही दर्शन करता है इत्यादि श्रुति इसका प्रमाण है। (इस प्रबन्धका समुदितार्थ [सम्पूर्ण अर्थ] यही है कि ब्रह्मविद्या श्रीहरिपदका ही दान करती है, स्वर्गादि नहीं क्योंकि यह विद्या स्वर्गादि-दानके योग्य नहीं है। युक्ति यह है कि विद्या सच्चिदानन्दमयी, परमेश्वरी है, यह स्वर्गादि जड़-वस्तुओंको देकर कभी भी श्लाघा [प्रशंसा] का भाजन नहीं बन

सकती किन्तु अपने परिकर कर्मकी रक्षा करके उस कर्मके द्वारा जो स्वर्गादिकी इच्छा करते हैं, उन्हें वह दान कर देती है—यह कल्पना असङ्गत नहीं है क्योंकि *'न हास्य'* इत्यादि श्रुति है। किसी-किसी क्षेत्रमें विद्या ही निरपेक्षोंका निष्कामत्व प्रतिपन्न [सिद्ध] करानेके लिए स्वर्गादि दान करती है क्योंकि *'सर्वं ह पश्यः पश्यति'* यह श्रुति है) यह ब्रह्मविद्या स्वर्गादि दान न करे ऐसा नहीं है। *'न चैवं तदधिगमन्याय विरोधः'*—तो ऐसा होनेपर उस स्वर्गादि-प्राप्तिके बोधक अधिकरणके साथ विरोध होगा? नहीं, यह नहीं है क्योंकि *'तस्य स्वनिष्ठेतरविषयत्वेनोपपत्तेः'* में 'तस्य' अर्थात् यह अधिकरण स्वनिष्ठ विद्योपासकसे भिन्नको विषय बनाकर सङ्गत होता है। अभिप्राय यह है कि विद्या उत्पन्न होनेके बाद जो कर्म किया जाता है उसका फल-पुण्यांश स्वर्गादि समर्पण करना है और प्रारब्ध-पुण्यांश, जो कि विद्या उत्पन्न होनेसे पहले सञ्चित हुआ था—वह विद्या-प्राप्तिके बाद भी फल समर्पण करनेमें प्रवृत्त होता है। इन दोनों कर्मोंको छोड़कर जो समस्त कर्म—अनारब्ध फलके रूपमें सञ्चित हैं, स्वनिष्ठ विद्वानकी विद्या उन समस्त कर्मोंको दग्ध कर देती है और परिनिष्ठित विद्वानके प्रारब्धसे भिन्न जो सञ्चित कर्म हैं, उन्हें निःशेष (सम्पूर्ण) रूपसे दग्ध करती है परन्तु जो कृतकर्म हैं—उनके साथ संश्लेष (संयोग) की निवृत्ति करती है। जो निरपेक्ष विद्वान हैं—उनके प्रारब्धसे भिन्न सारे ही सञ्चित कर्मोंको यह दग्ध कर डालती है—*'सर्वं कर्म विनाश्यति'* वाक्य द्वारा इस सबका वर्णन हुआ है॥ ३३॥

सूक्ष्मा-टीका—सहकारित्वेनेति। न तु मुक्तिहेतुत्वेनेति। विद्योपचितावेव कर्मणामुपयोगो न तु मुक्तावित्यर्थः। न विनाशयति न विश्लेषयति। अविरोधादिति। आनुषङ्गिकस्वर्गादिदर्शनहेतुत्वेन विद्याफले मोक्षे विरोधाकरणादित्यर्थः। न हास्येति। कृत्स्ना श्रुतिस्तु *"आत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते अस्माध्द्येवात्मनो यत् यत् कामयते तत्तत् सृजते"* (बृ॰आ॰ १/४/१५) इत्येषा। न चेति। तेषां विद्योदयोत्तरानुष्ठितानां कर्मणां स्वर्गादि वैचित्र्यनुभवफलकत्वात् काम्यत्वमिति न वाच्यमित्यर्थः। तेनेति। तेन स्वनिष्ठेन। तत्कामनया स्वर्गादिवैचित्र्यनुभवेच्छया। तेषां कर्मणामकरणादित्यर्थः। स्वनिष्ठो मुमुक्षुरेवं कामनया प्रवर्त्तते। निष्कामैः कर्मभिराराधितः परमात्मा प्रसीदन् स्वविषयां विद्यां मे दद्यात्। सा विद्या तृणस्पर्शन्यायेन स्वर्गादिकमपि मां दर्शयन्ती स्वविषयं

तं प्रापयेदिति सैव सर्वप्रदेति। इत्थञ्च कर्मभिः स्वर्गादिदिदृक्षाविरहात् काम्यानुष्ठातृत्वं नेति सिद्धम्। उक्तं विशदयति स्वर्गाद्यानन्देति। इत्थमिति। तस्य स्वनिष्ठस्य। नैरपेक्ष्येति। अयं निरपेक्षो न वेति देवाः परीक्षन्तामित्येतदर्थमित्यर्थः। अयमत्र वर्त्तुलित्यर्थः। विद्या खलु हरिपदमेव ददाति न तु स्वर्गादि तस्यास्तद्दानानर्हत्वात्। न हि सच्चिदानन्दात्मा परमेश्वरी सा स्वर्गादि जडं ददती श्लाघ्येत किन्तु सपरिकरेण स्वरक्षितेन कर्मणा तदिच्छुभ्यस्तद्ददाति एवं कल्पना च न हास्येत्यादिश्रुतेः। क्वचिद्विद्यैव निरपेक्षाणां निष्कामत्वख्यातये स्वर्गादिकमर्पयति सर्वं हेत्यादिश्रुतेः न तु तन्न ददतीति। तस्य न्यायस्य। स्वनिष्ठस्येत्यादि। स्वर्गाद्यर्पकपुण्यांशो विद्योत्तर-क्रियमाणकर्मरूपः। प्रारब्धांशो विद्योदयात् प्राक् सञ्चितरूपः सम्प्रत्यपि फलं दातुं प्रवृत्तः। तौ विहायान्यदनारब्धफलं सञ्चितं कर्म स्वनिष्ठस्य सर्वं निर्दहति परिनिष्ठितस्य प्रारब्धेतरत् सञ्चितं निर्दहति क्रियमाणस्तु विश्लेषयति निरपेक्षस्य तु प्रारब्धेतरत् सञ्चितं सर्वं निर्दहतीति विनाशयतीत्यनेनोक्तमित्यर्थः॥ ३३॥

सूक्ष्मा-सार—*'सहकारित्वेन च'* इस सूत्रमें। *'न तु मुक्तिहेतुत्वेन'* इत्यादि भाष्य—ब्रह्मविद्याके उत्तरमें ही कर्मकी उपयोगिता है, इसके अतिरिक्त मुक्तिमें कर्मकी उपयोगिता नहीं है, यह तात्पर्य है। *'तानि न विनाशयतीति'* अर्थात् उन उत्तरकालवर्त्ती कर्मोंका सम्पूर्णरूपेणसे ध्वंस नहीं करती, यह अर्थ नहीं है, बल्कि वियुक्त नहीं होती यह अर्थ है। *'अविरोधादिति'* कर्म—आनुषङ्गिक स्वर्गादिके दर्शनका हेतु होनेके कारण ब्रह्मविद्याका जो फल है, उस मुक्ति-विषयमें वह विरोध उत्पन्न नहीं करती, यद्यपि दोनों विषय (मुक्ति और स्वर्गादि दर्शन) भिन्न-भिन्न हैं, तो भी यह अर्थ है। *'न हास्य कर्म क्षीयते'* इति। समग्र श्रुति इस प्रकारसे है—*'आत्मानेव लोकमुपासीत स च आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते, अस्माद्धयेवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते'* (बृ॰आ॰ १/४/१५), अर्थात् आत्मलोककी ही उपासना करे, (जो पुरुष आत्मलोककी ही उपासना करता है) उसका कर्म (उत्तरवर्त्ती) क्षीण नहीं होता, उस आत्मासे ही अर्थात् आत्मोपासनाके फलसे वह ब्रह्मविद् जो-जो कामना करता है, वह ब्रह्मविद्या उसीकी सृष्टि कर देती है। *'न च तेषां तदनुभवफलकत्वात् कामात्वमिति'*—में *'तेषाम्'* का अर्थ है विद्या उत्पन्न होनेके बाद जो समस्त कर्म अनुष्ठित होते हैं, उनका फल विचित्र स्वर्गादिका अनुभव है, अतएव काम्य है—यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि ये कर्म स्वर्गादि भोगोंकी

कामनासे अनुष्ठित नहीं होते। यही 'तेनेत्यादि' द्वारा कहते हैं 'तेन' का अर्थ है—स्वनिष्ठ साधक द्वारा, तत्कामनया—स्वर्गादि वैचित्र्य अनुभवकी कामनासे, तेषाम्—कर्मोंका, अननुष्ठानात्—अर्थात् आचरण न होनेके कारण। स्वनिष्ठ मुक्तिकामी व्यक्ति इस प्रकारकी कामनामें प्रवृत्त होते हैं कि निष्काम कर्म द्वारा परमेश्वर आराधित होनेपर मेरे ऊपर प्रसन्न होकर तद्विषयक विद्या मेरे लिए दान करते हैं। तद्विषयक विद्या यह है—जिस प्रकार ग्राम जाते हुए पथपर तृणस्पर्श आनुषङ्गिक रूपसे होता है, उसी प्रकार मुझे स्वर्गादि दर्शन कराके अवशेषमें स्वयंको प्राप्त करा देते हैं, इसलिए यह विद्या सर्वप्रदा है। अतएव सिद्धान्त है कि कर्म द्वारा स्वर्गादि दर्शनकी इच्छा न रहनेके कारण उनका काम्यानुष्ठान कर्त्तृत्व नहीं है। उक्त विषयको *'स्वर्गाद्यनन्दानुभवपूर्वकम्'* इत्यादि द्वारा विशद किया गया है। *'इत्थमेव तस्य सङ्कल्पोऽपि बोध्य'* इतिमें 'तस्य' अर्थात् स्वनिष्ठ भक्तका। *'नैरपेक्ष्य परीक्षायै इति'*—मैं यथार्थमें निरपेक्ष अर्थात् निष्काम हूँ कि नहीं, यह देवता परीक्षा करें, इस कारण यह तात्पर्य है। इस प्रबन्धमें सारार्थ यह है कि विद्या श्रीहरिका पद दान करती है, किन्तु स्वर्गादि नहीं क्योंकि ब्रह्मविद्याके लिए ये स्वर्गादि दानयोग्य नहीं हैं। कारण है सच्चिदानन्दस्वरूपा वह परमेश्वरी ब्रह्मविद्या स्वर्गादि जड़-पदार्थ द्वारा श्लाघाका विषय नहीं हो सकती, तब स्वयं द्वारा रक्षित उस विद्याके उपकरण कर्म द्वारा स्वर्गादिके इच्छुक व्यक्तियोंको स्वर्गादि दान करती हैं, इस प्रकारसे जो कल्पना की गयी है, उसका प्रमाण *'न हास्य'* इत्यादि श्रुति है। किसी-किसी क्षेत्रमें विद्या ही निरपेक्ष भक्तोंके निष्कामत्व प्रतिपादनके लिए स्वर्गादि दान करती है। *'सर्वं ह पश्यः'* इत्यादि श्रुति इसका प्रमाण है, स्वर्गादि दान नहीं करती, ऐसी बात नहीं है। *'तस्य स्वनिष्ठतरेत्यादि'* में 'तस्य' अर्थात् इस युक्तिका। *'स्वनिष्ठस्य स्वर्गाद्यर्पकपुण्यांशेति'*—*'स्वर्गाद्यर्पक पुण्यांश'* अर्थात् विद्या-प्राप्तिके बाद क्रियमाण कर्मस्वरूप पुण्यजनक अंश। और प्रारब्ध पुण्यांश कहनेसे विद्या उत्पन्न होनेके पूर्व सञ्चित पुण्यकर्म, जो विद्योदयके पश्चात् फल प्रसव करनेमें प्रवृत्त हैं। इन दोनोंको छोड़कर अनारब्धफलक (जिसका फल आरब्ध नहीं है) सञ्चित कर्म जो स्वनिष्ठका है, उस

समस्तको ही विद्या दग्ध करती है और परिनिष्ठित भक्तके पक्षमें प्रारब्धसे अतिरिक्त समस्त सञ्चित कर्मका विनाश कर देती है किन्तु क्रियमाण कर्मसे लिप्त नहीं होने देती, विश्लिष्ट करती है। निरपेक्ष भक्तोंके प्रारब्धके अतिरिक्त सञ्चित समस्तकर्मको दग्ध कर देती है, यही 'विनाशयति' कथन द्वारा कहा गया है, यह तात्पर्य है॥ ३३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः और एक प्रश्न है कि विद्या-प्राप्तिके बाद भी जब कर्मका विधान रहता है, तब यह ज्ञान और कर्मका समुच्चय क्या मुक्ति-प्राप्तिका साधन हो सकता है? इस प्रकारके संशयके निराकरणके लिए सूत्रकार कहते हैं कि नहीं, विद्वानके लिए कर्म और ज्ञान समुच्चित रूपसे मुक्तिके हेतु नहीं हैं, केवल अग्निहोत्रादि कर्म ही विद्याके सहकारी भावसे अनुष्ठेय हैं। इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्यकारके भाष्य और टीकामें देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

वर्णाश्रमवतां धर्म्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१८/४७)

अर्थात् मैंने तुम्हें यह सदाचाररूप वर्णाश्रमियोंका धर्म बतलाया। यदि इस धर्मानुष्ठानमें मेरी भक्तिका पुट लग जाय, तब तो इससे अनायास ही परम कल्याणस्वरूप मेरे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

दानं स्वधर्म्मो नियमो यमश्च
श्रुतञ्च कर्म्माणि च सद्व्रतानि।
सर्व्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२३/४५)

दान, स्वधर्मका पालन, यम, नियम, शास्त्र श्रवण, व्रतोंका आचरण और सत्कर्मसमूह मनको निग्रह अर्थात् एकाग्र करनेके उपायमात्र हैं, ऐसे एकाग्र मनकी समाधि ही परम योग है, अर्थात् मन एकाग्र होकर भगवान्में लग जाय, यही परम योग है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'यथा राज्ञः सहकार्ये मन्त्री तथाप्यृते तं क्षितिपः कार्यमृच्छेत्। एवं ज्ञानं कर्म विनापि कार्यं सहायभूतं न विचारः कुतश्चिदिति कमठ श्रुतौ सहकारित्वोक्तेश्च। ज्ञानान्मोक्षो भवत्येव सर्वकार्यकृतोऽपि तु। आनन्दो-ह्रसतेऽकार्याच्छुभं कृत्वा तु वर्द्धते इति च ब्रह्माण्डे। सर्वदुःखनिवृत्तिस्तु ज्ञानिनो निश्चितैव हि। उपासया कर्मभिश्च भक्त्या चानन्दचित्रतेति बृहत्तन्त्रे। धर्मस्वरूपचित्रत्वाद् यो देवो मनोगतः। स एव धर्मो विज्ञेयो न ह्येते लोकसम्मिताः इति च पाद्मे।'

अर्थात् कमठ-श्रुतिमें कर्मकी सहकारिताका स्पष्ट उल्लेख है। इसमें कहा है कि ज्ञानी सम्पूर्ण फलसिद्धिके लिए अवश्य ही सत्कर्म करेंगे क्योंकि कर्म ज्ञानका सहकारी है। अतः कर्म करनेसे ही सम्पूर्ण फलकी प्राप्ति सम्भव होती है। कर्मके बिना कभी भी मोक्ष-सिद्धि नहीं हो सकती जैसे यद्यपि राजा मन्त्रीके बिना कर्म कर सकता हो, तथापि सहकारी मन्त्रीके साथ कर्म करनेपर ही कर्मका सम्पूर्ण फल प्राप्त होता है। इसी प्रकार कर्मके बिना भी ज्ञान मोक्षका फल प्रदान करता है; ज्ञानकी मोक्ष-साधनता होनेपर भी वहाँ कर्मकी सहायतासे फलाधिक्य जानना चाहिये। ब्रह्माण्डपुराणमें देखा जाता है कि समस्त कर्मोंके साथ ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, परन्तु अकार्य होनेपर आनन्दका ह्रास और शुभाचरण अर्थात् शुभ कार्य करनेपर आनन्दकी वृद्धि होती है। बृहत्-तन्त्र प्रमाणसे जाना जाता है कि ज्ञानीकी सर्वदुःखोंकी निवृत्ति निश्चित है किन्तु उपासना, कर्म और भक्तिसे चित्तमें अभूतपूर्व आनन्दका उदय होता है। पद्मपुराणमें कहा है कि धर्ममें चित्त रखकर जो देवका ध्यान करते हैं, उसे ही धर्मके रूपमें जानना चाहिये। धर्मका स्वरूप बड़ा विचित्र है, जो देव सम्मत (शास्त्र सम्मत) है, उसे ही धर्म मानना चाहिये, लोक सम्मित धर्मको धर्म नहीं मानना चाहिये॥ ३३॥

अवतरणिका भाष्य—अथ परिनिष्ठितः परीक्ष्यते। *"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्"* (मु॰ ३/१/४) इत्यादि श्रूयते। अत्र परिनिष्ठितस्य लोकार्थं वर्णाश्रमधर्माः कर्त्तव्यतया प्राप्ताः प्रीत्यर्थं श्रवणादयो भगवद्धर्माश्च। तेषामुभयेषां युगपत्प्राप्तौ किं ते क्रमेणानुष्ठेयाः किं वाद्यान् विहायोत्तरे ते इति सन्देहे युगपदनुष्ठानासम्भवात् विहितानां त्यागे दोषाच्चानिर्णयेन भाव्यमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद परिनिष्ठित भक्तकी परीक्षाकी जाती है। एक श्रुति है—*'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्'* इस श्रुतिका अर्थ है—श्रीहरि-प्रवण (भगवान्के साथ क्रीड़ारत एवं उनमें ही रतिसम्पन्न) होकर ही जैसा अवसर हो, तदनुसार गौण रूपमें स्वधर्मानुष्ठानकारी। इस श्रुतिमें परिनिष्ठित भक्तके लोकसंग्रहके लिए वर्णाश्रमधर्म कर्त्तव्य रूपमें ज्ञात होता है एवं भगवत्-प्रीतिके लिए श्रवणादि भागवत-धर्म भी कर्त्तव्य रूपमें विहित हैं—यह पाया जाता है। अब इस दो प्रकारके कर्मकी युगपत् प्राप्ति-विषयमें सन्देह होता है कि ये समस्त धर्म क्या क्रमपूर्वक अनुष्ठेय हैं? अथवा वर्णाश्रमधर्मोंका परित्याग करके केवल भागवत-धर्म-श्रवणादि ही अनुष्ठेय हैं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि समस्त कर्मोंका युगपत् (एकसाथ) अनुष्ठान नहीं हो सकता और उन विहित समस्त कर्मोंका त्याग होनेपर दोषकी श्रुति भी है, अतः अनष्ठनका कुछ भी निर्णय नहीं होता है। इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादि। लब्धविद्यास्यापि स्वनिष्ठस्य कर्मानुष्ठानं यथा नियतमुक्तं तथा परिनिष्ठितस्यापि नियतं तदस्तु तस्यापि लोकनिन्दानिस्तारलोकसंग्रहफलेच्छुत्वादिति पूर्ववत् सङ्गतिः। आत्मक्रीड इति। हरिनिरतोऽपि गौणकाले स्वधर्मानुष्ठायीत्यर्थः। लोकार्थं जनसंग्रहाय। प्रीत्यर्थं हरिप्रेम्णे। आद्यान् धर्मान्। उत्तरे श्रवणादयः युगपदेकदैव—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'अथेत्यादि'* स्वनिष्ठ भक्तोंके विद्या-प्राप्ति करनेपर भी उनका जिस प्रकारसे नियत रूपमें कर्मानुष्ठान कहा गया है; उसी प्रकार परिनिष्ठित भक्तोंके भी नियमित रूपसे कर्मानुष्ठान होने चाहिये क्योंकि नियत कर्मानुष्ठान न होनेपर उनकी लोकनिन्दा होगी—इसीसे अव्याहति (निर्बाधता) प्राप्त होनेके कारण और लोकसंग्रहरूप फल-प्राप्तिकी इच्छाके कारण, इस प्रकार इस अधिकरणमें दृष्टान्त सङ्गति प्राप्त होती है। *'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्'*—इसका अर्थ है—श्रीहरिनिष्ठ होकर भी गौण रूपसे स्वधर्मानुष्ठायी है। *'लोकार्थम्'*—लोकसंग्रहके लिए। *'प्रीत्यर्थम्'*—श्रीहरि-प्रेमके लिए। *'आद्यान् विहायोत्तरे ते इति'* में 'आद्यान्' का अर्थ है—प्रथमोक्त समस्त वर्णाश्रमधर्म। *'उत्तरे ते'*—श्रवणादि धर्म! *युगपत्*—एककालमें ही।

सर्वथाप्यधिकरणम्

सूत्र—सर्वथापि तत्र वोभयलिङ्गात्॥ ३४॥

सूत्रार्थ—'सर्वथापि' समस्त प्रकारसे ही अर्थात् 'तत्र'—वर्णाश्रमधर्मका अनुरोध न रखकर परिनिष्ठित भक्त श्रवणादि भागवत-धर्मोंका अनुष्ठान करें। 'वा' गौण रूपसे (अवसरानुसार) वर्णाश्रमधर्म पालनीय है। इसका प्रमाण क्या है? 'उभयलिङ्गात्' इस विषयमें श्रुति एवं स्मृति दोनों प्रमाण हैं॥ ३४॥

सूत्रानुवाद—वर्णाश्रमधर्मके अनुरोधका परित्याग करते हुए सर्वदा भागवत् धर्मका अनुष्ठान करना परिनिष्ठितका कर्त्तव्य है। स्वधर्म-पालन अवसरके समान अर्थात् गौण रूपसे करना चाहिये, लेकिन भागवत-धर्मका अविरोध रहे॥ ३४॥

गोविन्दभाष्य—अपिरवधारणे। सर्वथैव स्वधर्मानुरोधमकृत्वैवेत्यर्थः। परिनिष्ठितेन तेन भगवद्धर्मा एवानुष्ठेयाः। स्वधर्मास्तु कथञ्चित् गौणकाले। एवं कुतः? तत्राह उभयेति। *"तमेवैकं जानथ"* (मु॰ २/२१/५) इत्यादिश्रुतिलिङ्गात्। *"महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्। सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते"* इत्यादि स्मृतिलिङ्गाच्च (श्रीगी॰ ९/१३-१४)॥ ३४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'अपि' शब्द अवधारणार्थ (स्वायोग-व्यवच्छेदार्थ) है अर्थात् समस्त प्रकारसे ही स्वधर्माचरणके प्रति अनुरोध न करके परिनिष्ठित भक्त भगवत् धर्म श्रवणादिका ही अनुष्ठान करें। स्ववर्णाश्रमाचरण किसी प्रकारसे गौणकालमें (अवसरके समय) करें। यह किस प्रमाणसे जान लिया? इसपर कहते हैं—*'उभयलिङ्गात्'*—श्रुति एवं स्मृति दोनों ही प्रमाणोंसे। श्रुति है यथा—*'तमेवैकं जानथ'* अर्थात् एकमात्र उनका ही ध्यान करे। स्मृति है यथा—*'महात्मानस्तु मां पार्थ … नित्य युक्ता उपासते'* (श्रीगी॰ ९/१३-१४) अर्थात् हे पार्थ! जो दैवी-प्रकृतिसम्पन्न हैं, वे समस्त महात्मा एकनिष्ठ होकर—(अनन्य चित्तसे) मैं समस्त प्राणियोंका आदिपुरुष और अविनश्वर (अविनाशी) हूँ—यह जानकर मेरा भजन करते हैं। वे निरन्तर मेरे गुण-नामका कीर्त्तन करते हैं और दृढ़व्रती

होकर मेरी उपासनामें यत्नवान् रहते हैं। वे भक्तिपूर्वक मुझे प्रणाम करते हैं एवं नित्ययुक्त होकर मेरी उपासना करते हैं—इत्यादि स्मृति-वाक्योंसे अवगत होता है॥ ३४॥

सूक्ष्मा-टीका—सर्वेथेति। अस्य विवरणं स्वधर्मानुरोधकृत्वेत्येतद्बोध्यम्। कथञ्चिदिति। सायं भगवदारात्रिकतत्कैङ्कर्यानन्तरं सन्ध्योपासनं यथा स्यात् तथा इदं बोध्यम्। तमेवैकमित्यादि। अत्र तदुपास्तिनिष्ठया तदन्यवाग्विमुक्तिधर्मानुष्ठितेर्गौणत्वं बोधयति। महात्मान इत्यादिद्वयं श्रीगीतासु। इहाप्यनन्यमनस्कत्वसन्तत-कीर्त्तनाद्युक्तिस्तस्यास्तत्त्वं द्योतयति। आदिपदात् शृण्वन्ति गायन्ति गृणस्न्त्यभीक्ष्णशः। स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जना इत्यादिवाक्यं ग्राह्यम्॥ ३४॥

सूक्ष्मा-सार—'*सर्वथापि*' इत्यादि सूत्रमें। इसीके विवरणमें '*सर्वथैव स्वधर्मानुरोधमकृत्वैव*' यह कथन है। '*स्वधर्मास्तु कथञ्चिद् गौणकाले इति*'—सायंकालमें श्रीविग्रहका आरात्रिकानुष्ठान एवं सेवाकार्य सम्पादनके बाद सन्ध्योपासना करना चाहिये, यह बोध्य है। '*तमेवैकम्*' इत्यादि यहाँ श्रीभगवान्‌की उपासना निष्ठा द्वारा, इसके अतिरिक्त अन्य-वाक्यका परित्यागपूर्वक धर्मानुष्ठानका गौणत्व सूचित हो रहा है। '*महात्मानस्तु मां पार्थ*' इत्यादि दोनों श्लोक श्रीमद्भगवद्गीताके हैं। यहाँ भी अनन्य मनस्कत्व एवं सर्वदा कीर्त्तनादि उक्तिसे उपासनाका प्राधान्य सूचित हो रहा है—इत्यादि '*स्मृतिलिङ्गाच्च*'—इस आदि पदसे '*शृण्वन्ति, गायन्ति, गृणन्त्यभीक्ष्णशः। स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः*'—हे भगवन्! महात्मागण आपकी महिमाका निरन्तर श्रवण करते हैं, कीर्त्तन करते हैं, स्तव करते हैं, स्मरण करते हैं और इसमें आनन्दका अनुभव करते हैं—इत्यादि श्रीमद्भागवत (१/७/३६) वाक्य ग्रहणीय है॥ ३४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब परिनिष्ठित ब्रह्मविद्‌के बारेमें वर्णन किया जाता है। मुण्डक-उपनिषदमें पाया जाता है—'*आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविद्यां वरिष्ठः*' (मु॰ ३/१/४) परिनिष्ठित ब्रह्मविद् लोकसंग्रहके लिए वर्णाश्रमधर्म एवं भगवान्‌की प्रीतिके लिए श्रवण-कीर्त्तनादि भागवत-धर्मोंका कर्त्तव्य रूपमें अनुष्ठान करें। यहाँ संशय यह है कि ये दोनों क्रमान्वय अर्थात् क्रमपूर्वक अनुष्ठेय हैं? अथवा वर्णाश्रमधर्मका परित्याग करते हुए मात्र श्रवणादि भागवत-धर्म ही

अनुष्ठेय है। पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब दोनोंका अनुष्ठान युगपत् सम्भव नहीं है और विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करनेपर दोषापत्ति कही गयी है, तब निर्णय नहीं किया जा सकता।

इस प्रकारके पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि वर्णाश्रमादि धर्मके अनुष्ठानका परित्याग करके परिनिष्ठित ब्रह्मविद्को भागवत-धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। तब भागवत-धर्मके अविरोधसे स्वधर्मका पालन लोकसंग्रहके लिए गौण रूपमें आचरणीय है। इस विषयमें श्रुति एवं स्मृति दोनोंके ही प्रमाण उपलब्ध हैं।

मुण्डक-श्रुतिमें पाया जाता है—

'तमेवैकं जानथ आत्मानयन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।'

(मु॰ २/२/५)

अर्थात् एक ब्रह्मको ही जानें, और सब बातोंको छोड़ दें, यही अमृत (मोक्ष) प्राप्तिका सेतु (साधन) है।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तात् मृत्योरतिपारये॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२५/४०)

अर्थात् हे माताजी! जो इस लोकमें, परलोकमें और इन दोनों लोकोंमें साथ जानेवाले वासनामय लिङ्ग-देह और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र, कलत्र, धन, ऐश्वर्य, पशु, गृह एवं अन्याय सर्वस्वका ही परित्याग करके अनन्याभक्तिसे मेरा भजन करते हैं, मैं उनका संसारसे परित्राण कर देता हूँ।

और भी,

एतावानेव लोकऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२५/४४)

अर्थात् यदि मनुष्यका चित्त सुदृढ़ एवं अनन्य भक्तियोगके द्वारा मुझमें लगकर स्थिर हो जाय, तो यही संसारमें मनुष्यके लिए सबसे बड़ी कल्याण-प्राप्ति है।

श्रीमद्भागवतका निम्न श्लोक भी दृष्टव्य है—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः। (श्रीमद्भा० १/७/३६)

अर्थात् हे भगवन्! महात्मागण आपकी महिमाका निरन्तर श्रवण करते हैं, कीर्त्तन करते हैं, स्तव करते हैं, स्मरण करते हैं और इस सबसे आनन्दका अनुभव करते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें कहा गया है—

'सर्वप्रकारेणोत्साहेऽपि ये ज्ञानयोग्यास्त एव ज्ञानं प्राप्नुवन्ति नान्ये। य आत्मा अपहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासुः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः (छा० ८/७/३) *इति श्रुत्याचार्योपदेश साम्येऽपि विरोचनो विपरीत-ज्ञानमाप इन्द्रः सम्यक् ज्ञानमित्युभय विधिलिङ्गात्।'*

अर्थात् गुरुपदेश इत्यादि समस्त प्रकारसे सहाय होनेपर ही जो योग्य अधिकारी हैं, उन्हें ब्रह्म-प्राप्ति होती है और अयोग्यकी ब्रह्म-प्राप्ति कभी नहीं होती। ब्रह्माजीने विरोचन और इन्द्रको उपदेश दिया जो आत्मा हैं, उनका पापसे किसी भी प्रकारसे सम्पर्क नहीं है, जरा नहीं है, मृत्यु नहीं है, शोक नहीं है, भोजनकी इच्छा नहीं है, पिपासा नहीं है, वे सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प हैं, उनका अन्वेषण करो और उन्हें जाननेका यत्न करो, इत्यादि श्रुति द्वारा दोनोंको समान भावसे उपदेश दिया था। इनमें इन्द्र योग्य अधिकारी थे अतः उन्हें ज्ञानकी प्राप्ति हुई और अयोग्य अधिकारी विरोचनको विपरीत फलकी प्राप्ति हुई॥ ३४॥

अवतरणिका भाष्य—उपोद्वलकान्तरमत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके पोषक अन्य वाक्य भी यहाँ कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—उपोद्वलकान्तरमन्यत् पोषकं वचनम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'उपोद्वलकान्तरमत्राह'*—अन्य पोषक वाक्य।

सूत्र—अनभिभवञ्च दर्शयति॥ ३५॥

सूत्रार्थ—'च' और 'अनभिभवम्' निज वर्ण और आश्रमोचित कर्म न करनेपर भी तज्जनित-दोष परिनिष्ठितका कोई अभिभव (तिरस्कार) अर्थात् आक्रमण नहीं होता। 'दर्शयति'—श्रुति ऐसा वर्णन करती है॥ ३५॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके समस्त पाप अर्थात् वर्णाश्रमधर्मके अकरण-जनित प्रत्यवाय ब्रह्मनिष्ठा प्रभावरूप अग्निसे भस्म हो जाते हैं। श्रुति ऐसा वर्णन करती है॥ ३५॥

गोविन्दभाष्य—*"सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति नैनं पाप्मा तपति"* इति बृहदारण्यकश्रुतिः (४/४/२३) श्रवणाद्यनुरोधेन स्वाश्रमधर्माकरणे तज्जन्यैर्दोषैः परिनिष्ठितस्यानभिभवं दर्शयति। अतस्तान् हित्वा त एव कार्या इत्यर्थः। वर्णाश्रमाचारेति श्रीविष्णुपुराणवाक्ये तु तादृशेन यत् तदाराधनं तदेव तत्तोषकरमित्येव मन्तव्यं न तु कर्मैव तदाराधनमिति। पूर्वत्र *"यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव। कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम्। नान्यत् जगाद मैत्रेय किञ्चित् स्वप्नान्तरेष्वपि। एतत् परं तदर्थञ्च विना नान्यदचिन्तयत्। समित्पुष्पकुशादानं चक्रे देवक्रियाकृते। नान्यानि चक्रे कर्माणि निःसङ्गो योगतापसः"* इति भरते राज्ञि तदेकनिष्ठानिगदात्॥ ३५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—बृहदारण्यक-श्रुतिमें है *'सर्वं पाप्मानं तरति .. पाप्मा तपति'* (बृ॰आ॰ ४/४/२३) ब्रह्मनिष्ठ पुरुष समस्त पापोंसे उत्तीर्ण हो जाते हैं अर्थात् स्वधर्मका अनुष्ठान न करनेके कारण जात-प्रत्यवायों (पापों) का वे अतिक्रमण कर जाते हैं। ब्रह्मनिष्ठारूप अग्नि उनके समस्त पापोंको भस्मीभूत कर देती है—नित्यकर्मके अनुष्ठान न करनेके कारण होनेवाले पाप उन्हें दुःखाग्नि द्वारा दग्ध नहीं करते। भावार्थ यह है कि ब्रह्म-विषयक श्रवण-मननादिके अनुरोधसे परिनिष्ठित भक्त यदि स्वाश्रम विहित धर्म न करें, तब तज्जनित प्रत्यवायसे वे ग्रस्त नहीं होते। यह श्रुति परिनिष्ठितके स्वाश्रम-कर्मके अकरणजनित प्रत्यवाय द्वारा आक्रमणका अभाव दिखा रही है। अतएव स्वाश्रम-धर्मका परित्याग करके भागवत-धर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये। तब *'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोष-कारणम्'*—इस विष्णुपुराणीय (३/८/९) वाक्यमें जो कहा गया है कि

वर्णाश्रमाचारपरायण व्यक्तिको भगवदाराधना करनी चाहिये, वही उनके (भगवान्‌के) सन्तोषका कारण है—इसीको मर्मार्थ जानेंगे—इससे भिन्न केवल कर्ममात्र भगवान्‌की आराधना नहीं है। (कर्म भगवत्-आराधनासे भिन्न है) कारण यह है कि इस विष्णुपुराणीय-वाक्यसे पूर्व वाक्यमें राजा भरतकी भगवदेक निष्ठाका परिचय दिया है यथा—*'यज्ञेशाच्युत ... योगतापसः।'* पराशर मैत्रेय मुनिसे कहते हैं कि वे राजा भरत केवल यही कहने लगे, 'हे यज्ञेश्वर! अच्युत! गोविन्द! माधव! अनन्त! केशव! कृष्ण! विष्णो! हृषीकेश!' इसके अरिरिक्त स्वप्नमें भी और कुछ कहा नहीं, बस इन नामोंका ही उच्चारण करते रहे। उन नामवाच्य श्रीहरिके बिना वे अन्य कुछ भी चिन्तन नहीं करते थे। वे देवार्चनके निमित्त समिध, पुष्प और कुशका संग्रह करते थे—इसके अतिरिक्त दूसरा कोई कर्म नहीं करते थे। वे सर्वसङ्गत्यागी और योगतापस थे॥ ३५॥

सूक्ष्मा-टीका—अनभिभवमिति। सर्वमिति। एष ब्रह्मनिष्ठपुरुषः सर्वं पाप्मानं स्वधर्मानुष्ठानजनितं प्रत्यवायं तरति ब्रह्मनिष्ठाप्रभावेणोल्लङ्घयति। तपति तद्रूपेणाग्निना भस्मीकरोति। एनं ब्रह्मनिष्ठम्। तल्लक्षणः पाप्मा न तरति न व्याप्नोति न तपति स्वनिमित्तेन दुःखाग्निना न दहतीत्यर्थः। तादृशेन वर्णाश्रमधर्मवता। तदाराधनं भगवदर्च्चनम्। तत्तोषकं भगवत्परितोषकारि। पूर्वत्रेति। वर्णाश्रमाचारवतेतिवाक्यात् प्रागित्यर्थः। एतदिति। यज्ञेशाच्युतादि नामवृन्दं परं केवलं तदर्थं तद्वाच्यं हरिं विनान्यत् किञ्चित् नाचिन्तयत्। देवक्रियाकृते हरिपूजार्थम्। तदेकेति। हर्येकान्तितो-क्तेरित्यर्थः। तत्राहुः। परिनिष्ठितैराश्रमकर्माणि न कार्याणि। *"तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मद्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते"* (श्रीमद्भा॰ ११/२०/९) इति तदनुष्ठितेर्हरिभक्तिश्रद्धबाधत्वस्मरणात्। *"आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः।"* (श्रीमद्भा॰ ११/११/३२) इति स्वरूपतस्तत्त्यागस्मरणाच्चेति सत्यमेतत् तथापि लोकसंग्रहाय तैस्तानि कार्याण्येव *"लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि"* इतिस्मरणात्। न च श्रद्धाविरहात् तामसं तदनुष्ठानमिति वाच्यं भगवदाज्ञप्तत्वेन तत्रापि तस्याः सत्त्वात्। स्वरूपतस्तत्तत्कर्मणां संत्यागे तत्तदाश्रमचिह्नधृतिधर्मवजित्वाय कल्प्येत। गृहिपरिनिष्ठितानां वैवाहिकविधिमन्तरा दारस्वीकारे पारदारिकत्वाद्यापत्तिश्च। तस्मात् गौणकाले लोकसंग्रहाय तदनुष्ठानमिति सुष्ठूक्तम्। यद्येषां भक्त्यभिनिवेशात् कदाचित् कर्मानुष्ठानं न स्यात् तदापि न क्षतिः। *"मत्कर्म कुर्वतां पुंसां क्रियालोपो भवेद्यदि। तेषां कर्माणि कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः"* इति

पाद्मात्। *"स्मरन्ति मम नामानि ये त्यक्त्वा कर्म चाखिलम्। तेषां कर्माणि कुर्वन्ति ऋषयो भगवत्परा"* इत्यादिपुराणाच्च॥ ३५॥

सूक्ष्मा-सार— *'अनभिभवञ्च दर्शयति'* इस सूत्रमें *'सर्वपाप्मानं तरति'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ब्रह्मनिष्ठा-प्रभावसे समस्त पाप अर्थात् वर्णाश्रमधर्मके अकरणजनित प्रत्यवायसे उत्तीर्ण हो जाते हैं। *'तपति'*—अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा-प्रभावरूप अग्नि द्वारा समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। *'एनं पाप्मा न तपति'* में 'एनं' का अर्थ है—ब्रह्मनिष्ठको, प्रत्यवायरूप पाप लिप्त नहीं करता। *'न तपति'*—प्रत्यवायजनित दुःखाग्नि उसे दग्ध नहीं करती। *'विष्णुपुराणवाक्येतु तादृशेन'* अर्थात् वर्णाश्रमाचारवान द्वारा, *'तदाराधनम्'*—श्रीभगवान्‌की अर्चना, *'तदेव तत्तोषकम्'* वही भगवान्‌का परितोषजनक है। पूर्वत्र—विष्णुपुराणीय *'वर्णाश्रमाचारवता'* इत्यादि वाक्यके पूर्वमें। *'एतत्परं तदर्थञ्च विना नान्यदचिन्तयत्'*—*'यज्ञेशाच्युत'* इत्यादि नामोंका वे चिन्तनमात्र करते थे। नाम शब्द वाच्य श्रीहरिके अतिरिक्त अन्य कुछ चिन्तन नहीं करते। *'देवक्रियाकृते'*—अर्थात् हरि-पूजाके लिए। *'तदेकनिष्ठा निगदात्'* इति—श्रीहरि विषयक एकान्तिता (एकनिष्ठा)—कथनके लिए। इस विषयमें प्राचीन सम्प्रदाय कहते हैं—परिनिष्ठित भक्तोंका वर्णाश्रम कर्म अनुष्ठेय नहीं हैं; क्योंकि *'तावत् कर्माणि कुर्वीत्'* इत्यादि वाक्यमें कहा गया है कि तब तक ही कर्मानुष्ठान करे, जब तक कि भगवदितर विषयसे वैराग्य उत्पन्न न हो जाय अथवा मेरी कथा-श्रवणादिमें (श्रीहरिकथा-श्रवणादि विषयमें) जब तक श्रद्धाका उदय न हो जाय। बादमें है—इस प्रकार गुण-दोष दिखाकर मेरे द्वारा निर्दिष्ट होनेपर भी निज वर्णाश्रमोचित समस्त धर्मोंको छोड़कर जो मेरा भजन करते हैं, वे उत्तम भक्त हैं। इसमें स्वरूपतः कर्म त्याग ही पाया जाता है। वे यही कहते हैं। चाहे यह बात सत्य हो, तो भी लोक-संग्रहके लिए उत्तम भक्तोंके द्वारा वे अवश्य ही अनुष्ठेय हैं क्योंकि कहा गया है कि लोकसंग्रहके अनुरोधसे भी तुम्हें कार्य करना होगा। यदि कहो, श्रद्धाके अभावमें तो वे कृत अनुष्ठान तामस कार्य ही होंगे, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि भगवदाज्ञाके कारण इस अनुष्ठानमें भी श्रद्धा ही है। स्वरूपतः वर्णाश्रमधर्मका त्याग होनेपर भी यदि आश्रम-चिह्न धारण किये जाते

हैं, तब तो उस धर्मध्वजित्वके परिचायकको कल्पना करनी होगी। इसके अतिरिक्त गृहाश्रमी परिनिष्ठित व्यक्ति वैवाहिक विधिके बिना दार-परिग्रह करनेपर वह परस्त्री-संसर्ग इत्यादि दोषोंसे दूषित होगा। अतएव सिद्धान्त यह है कि गौणकालमें लोकसंग्रहके लिए अपना वर्णाश्रमधर्म पालनीय है, यह यथार्थ ही कहा गया है। यदि भजनमें इनके आग्रहके कारण किसी समय कर्मानुष्ठान न हो, तो कोई भी क्षति नहीं है क्योंकि पद्मपुराणमें कहा गया है कि मेरे कर्ममें निरत भक्तोंका यदि स्वधर्मानुष्ठानका लोप होता है तो तीन कोटि महर्षि उनके (लुप्त) कर्त्तव्य-कर्मका सम्पादन करेंगे। आदिपुराण (ब्रह्मपुराण) में भी है, समस्त नित्य-नैमेत्तिक कर्मोंका त्याग करके जो केवल मेरे नामका स्मरण करते हैं, उनके समस्त कर्मोंका भगवत्-भक्त ऋषिगण अनुष्ठान करते हैं॥ ३५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार दिग्दर्शन कर रहे हैं कि परिनिष्ठित व्यक्ति भगवत्-कथा श्रवणादि रूप भागवत्-धर्मका अनुष्ठान करते हुए यदि वर्णाश्रमधर्मका परित्याग करते हैं तो ऐसा होनेपर उनका कोई प्रत्यवाय नहीं होता, परन्तु इसीसे वे भगवत्-पादपद्मकी उपलब्धि करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन है—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३१)

इसीलिए मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न योगीके लिए भक्तियोगके अतिरिक्त इस संसारमें ज्ञान और वैराग्य परमार्थ साधनके लिए उपयोगी नहीं हैं।

इसी प्रकार—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्म्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स तु सत्तमः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/११/३२)

जो कभी वेद-शास्त्रोंमें मेरे द्वारा उपदिष्ट स्वधर्मोंके अनुष्ठानमें गुण और उसके आचरण न करनेमें दोष जान करके भी वैसे धर्मोंको मेरी उपासनामें विघ्नदायक समझकर मेरी भक्तिके बलसे ही सब सिद्धियोंको प्राप्त कर लूँगा—सर्व मनोरथोंको पूर्ण कर लूँगा, ऐसा दृढ़ निश्चयकर भक्तिके अतिरिक्त सब धर्मोंका परित्यागकर मेरी सेवा करते हैं, वे भी पूर्वोक्त पुरुषोंकी भाँति उत्तम भक्तके रूपमें परिगणित होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें देखा जाता है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(श्रीगी॰ १८/६६)

अर्थात् वर्ण, आश्रम आदि समस्त शारीरिक और मानसिक धर्मोंका परित्याग कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'दैवीमेव सम्पत्तिं देवता अभिगच्छन्ति आसुरीमेव चासुराः नैतयोरभिभवः कदाचित् स्वभाव एव ह्यवतिष्ठते इति स्वभावानभिभवञ्च दर्शयति।'

अर्थात् समधिक (अतिशय) यत्न द्वारा अयोग्य अधिकारियोंकी अयोग्यता नष्ट हो सकती है, इसलिए अयोग्यकी भी ज्ञान-प्राप्ति सम्भव है। विशेष रूपसे विश्वामित्रके यत्न बाहुल्यसे विप्रत्वकी प्राप्ति दिखायी देती है; अतः अयोग्य अधिकारीकी ज्ञान-प्राप्तिमें बाधा क्या है? इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—यदि वह अयोग्यता अस्वाभाविक है तो ऐसा होनेपर उस अयोग्यताके विनष्ट होनेपर अयोग्यकी ज्ञान-प्राप्ति हो सकती है। विश्वामित्रका क्षत्रियत्व स्वाभाविक धर्म नहीं है, इसलिए उनका क्षत्रियत्व विनष्ट होकर विप्रत्व उत्पन्न हुआ है। देवता दैवीसम्पत्तिकी ओर झुकते हैं, असुर आसुरीकी ओर ही झुकते हैं, इन दोनों सम्पत्तियोंमें कभी ह्रास नहीं होता है, वे स्वभावानुसार ही व्यवहार करते हैं इसमें स्पष्ट रूपसे स्वभावकी प्रबलता दिखलायी गयी है। इससे उक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है॥ ३५॥

अवतरणिका भाष्य—एवं साश्रमेषु विद्या दर्शिता तदुत्तरानुष्ठितिश्च। अथ निराश्रमेषु निरपेक्षेषु ते द्वे दर्श्येते। तत्रैव निराश्रमापि गार्गी ब्रह्मवित् पठ्यते। *"अथ ह वाचक्नव्युवाच। ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमेनं याज्ञवल्क्यं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि"* इत्यादिना (बृ॰आ॰ ३/८/१) इह संशयः। निराश्रमेषु विद्या सम्भवेन्न वेति विद्योत्पत्तिहेतुतया विश्रुतानामाश्रमधर्माणां तेष्वभावान्नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार साश्रमियोंकी ब्रह्मविद्या तथा उसके उत्तरकालीन (परवर्ती) किये जानेवाले अनुष्ठान भी बतलाये गये। अब इसके बाद आश्रमहीन (निराश्रयी) निरपेक्ष भक्तोंके लिए ब्रह्मविद्या एवं उसके उत्तरकालीन अनुष्ठान दोनों दिखाये गये हैं। इस विषयमें बृहदारण्यकमें आश्रमरहित गार्गी ब्रह्मविद् कही गयी है यथा इसके बाद (ब्रह्मविद्या-प्राप्तिके बाद) वाचक्नवी (वचक्नुकी पुत्री गार्गी) ने कहा, हे पूजनीय ब्राह्मणगण! देखो! मैं इन याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न करूँगी—इत्यादि वाक्य द्वारा (उसका ब्रह्मविदत्व सूचित होता है)। इसमें संशय यह है कि आश्रमहीन व्यक्तियोंके लिए ब्रह्मविद्या सम्भव है कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, निराश्रमकी विद्या सम्भव नहीं है क्योंकि आश्रम धर्म ही विद्योत्पत्तिके हेतु रूपमें प्रसिद्ध है, वह निराश्रमीमें नहीं है। इस मतवादके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ निरपेक्षाणां विद्यानुष्ठाने दर्श्येते एवमित्यादिना। चित्तशोधकधर्मसत्त्वादाश्रमिश्वस्तु विद्या मास्त्वाश्रमविधुरेषु तादृग्धर्मविरहादिति प्रत्युदाहरणसङ्गतिरित्येके। परिनिष्ठितानां भक्तिप्रधानानां कथञ्चित् कर्मानुष्ठानमित्युक्तम्। तद्वन्निरपेक्षाणामपि कथञ्चित् तदस्तु तेषामपि कृपालुनां लोकहिताय कथञ्चित् तदपेक्षणात्। अन्यथा तान् वीक्ष्य लोका धर्मभ्रष्टाः स्युरिति दृष्टान्तसङ्गतिरित्यपरे। निरपेक्षाः प्रपन्ना बोध्याः। अथेति। वचक्नोरपत्यं स्त्री वाचक्नवीत्यर्थः। हे ब्राह्मणा भगवन्तस्तेषु निराश्रमेषु उत्पत्तिकविरक्तिषु स्वाभाविकवैराग्याश्वित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्याका टीकानुवाद—अब इसके बाद निरपेक्षोंकी ब्रह्मविद्या एवं उसके परकालीन अनुष्ठान *'एवमित्यादि'* वाक्य द्वारा दिखाते हैं। चित्तशुद्धिका कारण है—धर्म रहनेके कारण आश्रमियोंकी विद्या चाहे हो किन्तु आश्रमहीन व्यक्तियोंका उस चित्तशोधक धर्मके अभावमें विद्योदय नहीं होना चाहिये—कोई-कोई यहाँ प्रत्युदाहरण सङ्गति कहते हैं, किन्तु दूसरे कहते हैं कि इस अधिकरणमें दृष्टान्त

सङ्गति है कारण परिनिष्ठित-भक्तिप्रधान व्यक्तियोंका किसी प्रकारसे धर्मानुष्ठान होता है, यह कहा गया है। इसी प्रकार निरपेक्षोंका भी किसी रूपमें धर्मानुष्ठान होना चाहिये क्योंकि वे कृपालु हैं। लोकहितके लिए वे किसी प्रकारसे उसे करना चाहते हैं, वैसा न होनेपर उन्हें (आचारहीन) देखकर लोग भी धर्मभ्रष्ट हो सकते हैं। यहाँ निरपेक्ष कहनेसे उन्हें भगवदाश्रित प्रपन्न (शरणागत) जानना चाहिये। *'अथ वाचक्नव्युवाचेति'*—वचक्नुकी कन्या—वाचक्नवी, गार्गीने कहा, हे महामहिमान्वित वेदविद्गण! *'तेषभावान्नेति'*—तेषु अर्थात् आश्रमहीन स्वाभाविक वैराग्यवान व्यक्तियोंमें।

अन्तरा चाप्यधिकरणम्

सूत्र—अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः॥ ३६॥

सूत्रार्थ—'तु' कर्मानुष्ठानमें आग्रह—प्रयोजन नहीं है क्योंकि 'अन्तरा'—आश्रम-धर्मके बिना ही विद्यमान-स्वाभाविक वैराग्य विशिष्ट व्यक्तियोंमें पूर्व जन्मार्जित सत्य, तपस्या और जपादि धर्मोंके आधारपर चित्तशुद्धि रहनेके कारण 'चापि' उनकी भी विद्या उत्पन्न होती है। इसका प्रमाण क्या है? उत्तर है—'तद्दृष्टेः' गार्गीके ब्रह्मविद्याका दर्शन॥ ३६॥

सूत्रानुवाद—आश्रम-रहित व्यक्तियोंका भी ब्रह्म-विद्यामें अधिकार है। पूर्वजन्मार्जित जप, उपवास, दान एवं देवताराधन आदिसे भी चित्त शुद्धि हो जानेपर विद्या उत्पन्न होती है। गार्गी आदिकी ब्रह्म-विद्या प्राप्ति इसका प्रमाण है॥ ३६॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः कर्माग्रहनिरासार्थः। चकारो निश्चयार्थः। अन्तरा च विनैवाश्रमधर्मान् विद्यमानेष्वौत्पत्तिकविरक्तिषु प्राग् भवानुष्ठितैर्धर्मैः सत्यतपोजपादिभिश्च परिशुद्धेषु तेष्वपि विद्या उदयते। कुतः? तद्दृष्टेः। तादृश्या गार्ग्या ब्रह्मवित्त्वदर्शनात्। अयं भावः। प्राग्भवीयानां धर्माणां फलोत्पत्तेः पूर्वमेव देहनिपातात् न फलसम्बन्धः। परत्र तु तैर्विशुद्धानां सत्सङ्गमात्रेण सविरागा साविर्भवतीति॥ ३६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द कर्मके आग्रहके निरासके लिए है। 'च' शब्द निश्चयार्थ है। अन्तरा चापि—आश्रम-धर्मके बिना भी जो साधक स्वाभाविक रूपसे वैराग्यवान हैं, उनके पूर्वजन्मार्जित

धर्म—सत्य, तपस्या और जप इत्यादि द्वारा विशुद्ध हुए हृदयमें विद्या उदित होती है। प्रमाण? 'तद्दृष्टेः' तादृशी अर्थात् निराश्रमी गार्गीमें प्रागभवीय (पूर्वजन्मके) कर्मका फल इस जन्ममें स्वाभाविक वैराग्य सम्पन्न रूपमें देखा जा सकता है। भावार्थ यह है कि पूर्वजन्मार्जित कर्मोंका फल उत्पन्न होनेसे पहले ही यदि देह-पात हो जाय तब तो फलसे सम्बन्ध रहता नहीं है, हाँ अगले जन्ममें उस कर्मफलसे चित्त विशुद्ध होनेपर केवल सत्सङ्गमात्रसे वैराग्यके साथ वह विद्या आविर्भूत हो जाती है॥ ३६॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्तरेति। तादृश्या निराश्रमायाः। प्राग्भवीयेति। पूर्वजन्मानुष्ठितानां धर्माणां विद्योत्पत्तिरूपफलोदयात् प्रागेव शरीरनाशात् तद्रूप फलसम्बन्धो येषां नाभूत् तेषां परस्मिन् जन्मनि तैर्विशुद्धानामेव सत्सङ्गमात्रे सति वैराग्यसहिता सा विद्याविर्भवतीत्यर्थः। तथाच परिनिष्ठिताश्च विघ्नवशादप्रत्यक्षितविद्याः परस्मिन् जन्मनि तन्मात्रात् प्रत्यक्षितविद्या भवन्तीति तेऽपि निरपेक्षाः कथ्यन्ते। ये तु सत्यादिभिः प्रागनुष्ठितैः परत्र तन्मात्रेण विद्याभाजन्ते तु मुख्यनिरपेक्षा बोध्याः। न चैवं लोकसंग्रहासिद्धिस्तेषाम् ग्लानिर्वा। लोककृतेति वाच्यम्। तेषां लोकास्फूर्त्तेराश्रय-धर्मानुष्ठानैस्तत्संग्रहाच्च तादृशानां तत्कृतग्लान्यदर्शनाच्च प्रत्युत् स्तुतिदर्शनाच्च। नैरपेक्ष्यञ्च हरीतरोपेक्षाशून्यत्वं हरीतरत् तु स्वर्गादि परलोकः प्रतिष्ठा वेति व्याख्यातारः॥ ३६॥

सूक्ष्मा-सार—*'अन्तरेत्यादि'* सूत्रमें। *'तादृश्याः'*—आश्रमहीना गार्गीका। *'प्राग् भवीयानां धर्माणामित्यादि'*—पूर्वजन्ममें अनुष्ठित धर्मका फल विद्योत्पत्ति होनेके पहले ही शरीरपातके कारण जिनका विद्योत्पत्तिरूप फलसे सम्पर्क होता नहीं, उनके दूसरे जन्ममें उस कर्मवश चित्त विशुद्ध होता है। उनके केवल सत्सङ्गमात्रसे ही वैराग्य सहित वह विद्या आविर्भूत होती है, यही तात्पर्य है। सिद्धान्त यह है कि परिनिष्ठित भक्तगण पूर्वजन्ममें विघ्नवश विद्याको प्रत्यक्ष नहीं कर पाते किन्तु परजन्ममें वे केवल सत्सङ्ग-वश ही विद्या प्रत्यक्ष कर लेते हैं। उन्हें भी निरपेक्ष कहा जाता है, किन्तु जो पूर्वजन्ममें अनुष्ठित सत्य, तप एवं जपादि द्वारा दूसरे जन्ममें केवल सत्सङ्गके बलसे विद्या-प्राप्ति करते हैं, इन्हें भी निरपेक्ष प्रधान जानना होगा। यदि कहो, धर्माचरण न करनेपर उनका लोकसंग्रह तो हुआ नहीं बल्कि लोक-निन्दा ही

हुई, तो यह कह नहीं सकते क्योंकि उनके निकट कोई लोक प्रकाशित (स्फूर्त्त) नहीं होता, किन्तु आश्रमधर्मानुष्ठान द्वारा ही लोकसंग्रह होता है और ऐसे व्यक्तियोंकी लोककृत निन्दा भी नहीं होती बल्कि प्रशंसा ही देखी जाती है। उनकी निरपेक्षता है—श्रीहरिसे अतिरिक्त अन्य वस्तुकी आङ्क्षाक्षाका अभाव। श्रीहरिसे अतिरिक्त कहनेका तात्पर्य है—स्वर्गादि परलोक अथवा प्रतिष्ठा—व्याख्यातृगण ऐसी व्याख्या करते हैं॥ ३६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—आश्रमवानोंकी ब्रह्मविद्या-प्राप्ति और परवर्त्ती अनुष्ठानोंके विषयमें वर्णन करके अब निराश्रमी निरपेक्ष अधिकारियोंकी ब्रह्मविद्या-प्राप्ति और परवर्त्ती-कालीन अनुष्ठानोंके विषयमें बतलाया जा रहा है।

बृहदारण्यकमें देखा जाता है—

'अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ता हमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति।' (बृ॰आ॰ ३/८/१)

अर्थात् फिर वाचक्नवीने कहा, हे महामहिमान्वित वेदविद्गण। अब मैं इनसे (याज्ञवल्क्यजीसे) दो प्रश्न पूछूँगी। यदि ये मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो आपमेंसे कोई भी इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वादमें जीत नहीं सकेगा। (उन्होंने कहा) अच्छा गार्गि! पूछो!

इस स्थलपर ज्ञातव्य है कि *'ब्रह्म जानाति स ब्राह्मणः' 'ब्राह्मणो ब्रह्म वेदनात्'*—ब्रह्मको जाननेवाला ब्राह्मण है। ब्रह्मविद्याके अभ्यासीको ब्राह्मण कहा जाता है।

इस स्थलपर यह कहा गया है कि गार्गी आश्रमहीन होकर भी ब्रह्मवित् थी। यहाँ संशय यह है कि आश्रमहीन व्यक्तियोंके लिए ब्रह्मविद्या सम्भव है कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि आश्रमहीनोंके लिए ब्रह्मविद्या सम्भव नहीं है क्योंकि आश्रम-धर्म ही विद्योत्पत्तिका हेतु है। इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि आश्रमधर्म विहीन होनेपर भी पूर्व जन्ममें अनुष्ठित धर्मादि द्वारा विशुद्ध चित्त होनेके कारण स्वाभाविक वैराग्यवानोंमें विद्याका उदय होता है। ये वैरागी भगवदाश्रित होते हैं और उनके ही चरणोंमें प्रपन्न

रहते हैं। ये धर्मानुष्ठानमें रत रहते हैं ऐसा न हो तो लोग इन्हें आचारहीन देखकर धर्मभ्रष्ट हो सकते हैं। वास्तवमें तो इन निरपेक्षोंकी लोकनिन्दा होती ही नहीं, बल्कि प्रशंसा ही देखी जाती है। उदाहरण-स्थलपर गार्गीकी उस (आश्रमहीन) अवस्थामें ब्रह्मज्ञान देखा जाता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभरतजीके दृष्टान्तमें भी पाया जाता है—

'तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमानो भगवतः कर्मबन्ध-विध्वंसनश्रवण-स्मरण-गुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृत-स्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्त-जडान्ध-वधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य॥' (श्रीमद्भा॰ ५/९/३)

अर्थात् भगवान्‌के अनुग्रहसे भरतजीको अपने पूर्व जन्मकी पूरी शृङ्खलाका स्मरण था। इस जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करके भी वे कहीं भगवत्-विमुख स्वजनोंके सङ्गसे मेरा पतन न हो जाय—इस आशङ्कासे प्रत्येक क्षण अपने हृदयमें भगवान्‌के उन चरणकमलोंका ध्यान करते, जिनके गुणानुवादके श्रवण, स्मरण एवं कीर्त्तन द्वारा कर्मजनित सारे बन्धनोंका विनाश हो जाता है। वे लोगोंके सामने स्वयंको उन्मत्त, जड़, अन्धे और बहरेके रूपमें प्रदर्शन करने लगे।

और भी,

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२/३५)

अर्थात् हे राजन्! इन भागवत-धर्मोंका अवलम्बन करनेपर मनुष्य कभी विघ्नोंसे पीड़ित नहीं होता। उस भागवत-धर्मके मार्गमें नेत्र बन्दकर दौड़नेपर भी अर्थात् विधि-विधानमें त्रुटि हो जानेपर भी कोई मार्गसे विचलित नहीं होता अथवा गिरता नहीं अर्थात् फलसे वञ्चित नहीं होता।

इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्त्तीपादने कहा है—

'अत्र भागवतधर्मे प्रवर्त्तमानस्य वर्णाश्रम-धर्मेऽधिकार एव नास्तीति तदनुष्ठानाननुष्ठान विचारो नात्र प्रवेशयितव्यः।'

अर्थात् इस भागवत-धर्मरत व्यक्तिका वर्णाश्रमधर्ममें अधिकार नहीं है। अतएव वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करना है अथवा नहीं करना है—इस विचारको जाननेका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

'आश्रममन्तरा वर्त्तमानानामपि विद्याधिकारोऽस्ति रैक्वादेर्विद्यानिष्ठत्वस्य दर्शनात्।'

अर्थात् आश्रमधर्मके अन्तरालमें रहनेवाले अर्थात् अनाश्रमीके रूपमें वर्त्तमान मनुष्योंका भी विद्यामें अधिकार नहीं है। रैक्वादि महापुरुषोंको विद्यानिष्ठ देखा गया है। (भीष्म, संवर्त्त, वाचक्नवी आदि इसी कोटिमें आते हैं।)

श्रीरामानुजके भाष्यमें भी—

अनाश्रमियोंका भी ब्रह्मविद्यामें निश्चय ही अधिकार है क्योंकि इसी प्रकारसे देखा जाता है—रैक्व, भीष्म और संवर्त्त इत्यादि आश्रम रहितोंका भी ब्रह्मविद्यानिष्ठत्व देखा जाता है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—*'सम्यग्ज्ञानविपरीतज्ञानमोरन्तरा स्थितानामपि देवासुरभावयोर्दार्ढ्यर्दृष्टेः।'*

अर्थात् अत्यन्त अयोग्य असुरादिको ज्ञान-प्राप्ति न हो किन्तु देवादिकी मिथ्या ज्ञान-प्राप्तिके अतिदृढ़त्वके कारण अभिभवयोग सम्भव नहीं है, अतएव उनकी ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती, केवल मध्य-योग्य मनुष्योंकी ही ज्ञान-प्राप्ति हो सकती है—इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं सम्यक् ज्ञानशाली देवादि एवं विपरीत ज्ञानी असुर—इनके मध्यस्थित मनुष्य मिश्रज्ञानी है। अतएव उसकी ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि मनुष्यके स्वभावका अभिभव नहीं हो सकता॥ ३६॥

अवतरणिका भाष्य—बलवता सत्सङ्गेन कषायपाके विद्या भवतीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रबल सत्सङ्गके फलसे पूर्व कर्मवासना (कषाय) विनष्ट होनेपर विद्या उत्पन्न होती है, यही कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ धर्मान् विनैव महत्तमसङ्गेन निर्धूतकल्मषाः शीघ्रमेव विद्यां लभन्त इति मुख्यनिरपेक्षान् दर्शयितुं प्रवर्त्तते बलवतेति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अब इसके बाद धर्मानुष्ठानके बिना ही महत्तम व्यक्तियोंके सङ्ग-फलसे निष्पाप व्यक्ति शीघ्र ही विद्या प्राप्त करते हैं, इस प्रकार मुख्य निरपेक्षकोंको दिखानेके लिए *'बलवतेत्यादि'* वाक्य द्वारा प्रवृत्त होते हैं—

सूत्र—अपि स्मर्यते॥ ३७॥

सूत्रार्थ—'स्मर्यते अपि'—इस विषयमें रहूगण-संवाद भी स्मृत किया जाता है॥ ३७॥

सूत्रानुवाद—धर्मानुष्ठानके बिना ही महत्तम व्यक्तियोंके सङ्गके फलसे निष्पाप व्यक्ति शीघ्र ही विद्या प्राप्त करते हैं—स्मृतियोंमें ऐसा उल्लेख है॥ ३७॥

गोविन्दभाष्य—*"पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्। पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्"* (श्रीमद्भा॰ २/२/३७) इत्यादौ *"रहूगणैतत्"* इत्यादौ च। अपि समुच्चये॥ ३७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—साधुगणोंके मुखसे जो आत्मस्वरूप परमेश्वर श्रीभगवान्के कथामृतको श्रवण-पुटमें संस्थापित करके पान करते हैं, वे विषय-सम्पर्कसे विदूषित अन्तःकरणको पवित्र करते हैं और भगवान्के श्रीचरणोंके समीप पहुँच जाते हैं (श्रीमद्भा॰ २/२/३७) इत्यादि स्थलों और *'रहूगणैतद्'* इत्यादि स्मृतियोंमें प्रबल सत्सङ्गका प्रभाव उद्घोषित होता है। सूत्रोक्त 'अपि' शब्द समुच्चार्थमें है अर्थात् केवल आख्यायिका ही नहीं है, स्मृति-वाक्य भी है॥ ३७॥

सूक्ष्मा-टीका—अपीति। पिबन्तीति श्रीभागवते। सतां मुखेभ्यस्तेषां सन्निधौ स्थिता वेत्यर्थः। अत्र सत्प्रसङ्गलब्धेन भगवत्कथाश्रवणेनैव चित्तविशुद्धिस्तत्पदप्राप्तिश्चेति स्फुटमुक्तम्। रहूगणेत्यादौ च चित्तशोधकतया विश्रुतैस्तपःप्रभृतिभिर्यः कषायो न क्षीयते स खलु सत्पादरजःसेवया क्षीयते परा विद्या चाविर्भवतीत्युपदिष्टम्। इत्थञ्च तादृशेन तच्छ्रवणेन चित्तशुद्धेः प्रमाणप्राप्तत्वाद्धर्मैरेवानुष्ठितैस्तच्छुद्धिरिति कर्मठानां दुराग्रह एवेति विदितम्। सूत्रे अपिशब्दः सत्यादीनां समुच्चायक इत्याह अपीति। कर्मणां सत्यादीनाञ्च यथोत्तरं प्राबल्यं वह्वल्पविक्षेपतया चिराचिरफलतया चेति बोध्यम्॥ ३७॥

सूक्ष्मा-सार— *'अपि स्मर्यते'* इस सूत्रमें। *'पिबन्ति'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतका है। 'सत्यम्' अर्थात् साधुओंके मुखसे अथवा उनकी सन्निधिमें रहकर। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सत्सङ्ग-लब्ध भगवत्-कथाके श्रवण द्वारा ही चित्तकी शुद्धि होगी और श्रीभगवत्-पद प्राप्ति होगी। *'रहूगणैतत्'* इत्यादि वाक्यमें चित्तपोषक रूपमें विख्यात तपः, सत्य, जप इत्यादि द्वारासे भी जो मनोमल—राग, द्वेषादि क्षीण नहीं होते, वे निश्चय ही साधुओंके पादपद्मराग-सेवा द्वारा क्षीण होते हैं, साथ ही परा-विद्याका आविर्भाव होगा, यह उपदेश किया गया है। इस प्रकार सत्सङ्ग-प्राप्त भगवत्तत्त्व श्रवण द्वारा चित्तशुद्धिका प्रमाण प्राप्त होनेके कारण कर्मठगण (जैमिनि इत्यादि) जो यह कहते हैं कि—धर्मानुष्ठान होनेपर ही चित्तशुद्धि होती है, वह उनका दुराग्रह है अर्थात् अयथा (असङ्गत) निर्बन्ध (हठ) है, यह जाना गया। 'सूत्रस्थित' अपि शब्द सत्य, तप, जप इत्यादिका संग्राहक है, यह कहते हैं। स्वाश्रमोचित कर्म एवं सत्य इत्यादि धर्मोंमें पर-परवर्ती पदार्थोंका उत्तरोत्तर प्राबल्य है क्योंकि उत्तरोत्तर पदार्थ अल्पविक्षेपके (अल्प व्यग्रताके) कारण हैं और अचिर फलदायक हैं तथा पूर्व-पूर्व बहु-विक्षेपकारक हैं और विलम्बसे फल प्रदान करने वाले हैं, यह ज्ञातव्य है॥ ३७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बलवान सत्सङ्गके फलसे पूर्व कर्मकषाय (संस्कार) विनष्ट होनेके बाद विद्याकी उत्पत्ति होती है—यह कहते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि स्मृतिमें भी यही उल्लिखित है।

श्रीभरत राजा रहूगणसे कहते हैं—

रहूगणैतत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

यत्रोत्तमःश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।

निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥
(श्रीमद्भा॰ ५/१२/१२-१३)

अर्थात् हे राजा रहूगण! महाभागवतोंकी चरणरेणुसे अपनेको पूर्ण रूपसे अभिषिक्त किये बिना केवल ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदिसे अथवा जल, अग्नि एवं सूर्य इत्यादि देवताओंकी उपासनासे भगवत्-तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। महाभागवतोंकी सभामें भगवान्‌के गुणानुवादकी ही चर्चा होती है, जिसके कारण ग्राम्य-विषय-वार्ताओंके प्रसङ्गके लिए अवसर ही नहीं रहता, उनके मुखसे निकली भगवत्-कथाओंको आदर एवं मनोयोगके साथ श्रवण करनेसे मोक्ष चाहनेवालोंकी मुक्तिकी कामना भी दूर हो जाती है और भगवान् वासुदेवमें शुद्धारति उदित हो जाती है।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

'जप्येनैव तु संसिद्धयेत् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रौ ब्राह्मण उच्यते' इति तेषामपि जपादीनां विद्यानुग्रहः स्मर्यते।

अर्थात् ब्राह्मण गायत्री जपसे ही सिद्धि प्राप्तकर सकता है—इसमें कोई संशय नहीं है। वह यज्ञादि अन्य कोई साधन करे या न करे, सन्ध्या करे या न करे, वह ब्राह्मण ही कहा जाता है। इस प्रकार उन्हें (अनाश्रमियोंको) जपादिके माध्यमसे ही विद्याका अनुग्रह प्राप्त होता है। (जप ही ब्रह्मविद्याका प्रधान अभ्यास है।) इस स्मृति प्रमाणसे आश्रम-विहीनोंको जप, उपवास, कीर्त्तन, भगवत्-सेवा आदि उपासनाका अधिकार सिद्ध होता है।

श्रीरामानुजके भाष्यमें भी पाया जाता है—

अपिच अनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते—'जप्येनापि च संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' (मनुसंहिता २/८७) *इति। संसिध्येत्—जपादयनुगृहीतया विद्यया सिद्धो भवतीत्यर्थः।*

अर्थात् विद्या-निष्ठताके जपादि साधनोंका अनाश्रमियोंके लिए स्मृतिमें भी उल्लेख है—'ब्राह्मण केवल जपसे ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है, वह कुछ करे या न करे, संसार उसे मैत्र (ब्राह्मण अथवा

परमात्माका मित्र) ही पुकारेगा।' *'संसिध्येत्'* का तात्पर्य है कि वह जपादिसे पारिपोषित विद्यासे सिद्धि प्राप्त करता है॥ ३७॥

अवतरणिका भाष्य—सत्सङ्गिषु निरपेक्षेषु परेशानुग्रह विशेषात् विद्या सुलभेत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जो सत्सङ्ग-विशिष्ट निरपेक्ष हैं उनके ऊपर परमेश्वरका विशेष अनुग्रह होता है, इस कारण उनके लिए विद्या सुलभ है—यही कहते हैं—

सूत्र—विशेषानुग्रहश्च॥ ३८॥

सूत्रार्थ—'च' और उनके ऊपर 'विशेषानुग्रह' श्रीभगवान्‌की विशेष कृपा देखी जाती है॥ ३८॥

सूत्रानुवाद—निरपेक्ष व्यक्तियोंको सत्सङ्गसे श्रीहरिका विशेष अनुग्रह प्राप्त होता है और उनके लिए विद्या-प्राप्ति भी सुलभ होती है॥ ३८॥

गोविन्दभाष्य—*"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च। तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"* इति (श्रीगी॰ १०/९-१०)। तेषु तत्कृपाविशेषो दृष्टः। नैरपेक्ष्यञ्च तद्योगसातत्याद् व्यक्तम्॥ ३८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌की उक्ति है कि जो मुझमें अपने चित्तका समर्पण करते हैं, जिनके प्राण मुझमें समर्पित हैं, जो परस्पर मेरे ही प्रसङ्गको बतलाते हैं और नित्य मेरा ही वर्णन (श्रवण-कीर्त्तन) करके प्रसन्न होते हैं एवं मेरी ही कथाओंमें रमण करते हैं—वे नित्य योगयुक्त हैं। प्रीतिपूर्वक सतत मेरा भजन करनेवाले इन व्यक्तियोंको मैं ऐसा बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे ही प्राप्त होते हैं। अतएव देखा जाता है कि ऐसे निरपेक्ष भक्तोंपर श्रीभगवान्‌की विशेष कृपा होती है तथापि उनका जो नैरपेक्ष्य अथवा निष्काम भाव है, वह सर्वदा केवल परमेश्वरके ध्यानके कारण है—यह स्पष्ट प्रतीत होता है॥ ३८॥

सूक्ष्मा-टीका—विशेषेति। मच्चित्ता इत्यादिद्वयं श्रीगीतासु। बुद्धियोगं मद्विषयां विद्याम्। नन्वेषां नैरपेक्ष्यं न प्रतीतं तद्बोधकपदाभावादिति चेत् तत्राह नैरपेक्ष्यञ्चेति। तद्योगसातत्यादुक्तप्रकारकभगवदावेशात्॥ ३८॥

सूक्ष्मा-सार—*'विशेषेति'* सूत्रमें। *'मच्चित्ता'* इत्यादि दोनों श्लोक श्रीमद्भगवद्गीतामें हैं। *बुद्धियोगम्*—अर्थात् मद्विषयक विद्या। यदि कहो, कहाँ? इनकी निरपेक्षता तो इन दोनों वाक्योंमे प्रकाशित हो नहीं रही है क्योंकि उसका बोधक पद इसमें नहीं है। इसपर कहते हैं—*'नैरपेक्ष्यं च तद्योगसातत्यादिति'* अर्थात् उक्त प्रकारसे सर्वदा भगवदावेशके कारण॥ ३८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सत्सङ्ग, विशिष्ट निरपेक्ष अधिकारियोंके प्रति परमेश्वरका विशेष अनुग्रह रहनेके कारण उन्हें विद्या सुलभ होती है—इस प्रसङ्गमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इनके प्रति श्रीभगवान्का विशेष अनुग्रह दिखायी देता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्द्धे सत्सङ्गः सर्व्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१२/१-२)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! समस्त प्रकारकी आसक्तियोंका विनाश करनेवाला साधुसङ्ग मुझे जिस प्रकारसे वशीभूत कर सकता है, अष्टाङ्गयोग, सांख्य-ज्ञान, अहिंसा आदि धर्म, स्वाध्याय, तप, इष्टापूर्त्त, दान, व्रत, यज्ञ, मन्त्र, तीर्थ, यम-नियम उस प्रकार मुझे वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हैं।

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा॰ ९/४/६६)

अर्थात् पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार अपने पातिव्रत्य-धर्मसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार सदा मुझमें अनुरक्त रहनेवाले

समदर्शी साधुजन अपनी प्रेममयी भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें द्रष्टव्य है—

साधुसङ्ग, कृष्णकृपा भक्तिर स्वभाव।
ए-तिने सब छाड़ाय, करे कृष्णे 'भाव'॥
(चै॰च॰म॰ २४/९९)

अर्थात् साधुसङ्ग, कृष्णकृपा तथा कृष्णभक्ति—इनका स्वभाव ऐसा है कि ये अकाम, सर्वकाम एवं मोक्षकाम सभीकी उन-उन कामनाओंके दोष छुड़वाकर कृष्णमें शुद्धभक्ति करा देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(श्रीगी॰ १०/११)

अर्थात् उन लोगोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए ही उनकी बुद्धिवृत्तिमें स्थित होकर मैं प्रदीप्त ज्ञानरूप दीपकके आलोकसे अज्ञानसे उत्पन्न संसाररूप अन्धकारको नष्ट कर देता हूँ॥३८॥

अवतरणिका भाष्य—साश्रमा याज्ञवल्क्यादयो निराश्रमाच्च गार्ग्यादयो विद्यावन्तो दर्शिताः। तेषु साश्रमाः श्रेष्ठा निराश्रमावेति संशये वैदिकाश्रमधर्मसम्पन्नत्वात् ब्रह्मरतत्वाच्च साश्रमाः श्रेष्ठा इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आश्रमी याज्ञवल्क्य इत्यादि और आश्रमहीन गार्गी इत्यादिकी विद्या-प्राप्ति प्रदर्शित हुई। अब इसमें साश्रमी श्रेष्ठ है अथवा निराश्रमी? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि साश्रमी ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे वैदिक (वेदोक्त) आश्रमधर्मसे सम्पन्न हैं और ब्रह्मरत हैं। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—निरपेक्षा विद्यावन्तो दर्शिताः। तानाश्रित्य श्रैष्ठ्यं तेषु प्रकाश्यत इत्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। साश्रमा इत्यादि। वैदिकेति। तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तेजसश्चेति श्रुतौ धर्मिष्ठस्य शीघ्रमेव ब्रह्मलाभज्ञापनादित्यर्थः। तदर्थस्तु तेन ज्ञानेन विद्विज्ञो ब्रह्मैति पुण्यकृत् स्वाश्रमधर्मानुष्ठायी तेजसस्तेजसो ब्राह्मणोऽयं तद्रत इत्यर्थ इति। अतः साश्रमाः श्रेष्ठा इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—निरपेक्ष विद्यावानोंका स्वरूप दिखाया गया है, उन निरपेक्ष विद्वानोंका आश्रय करके उनका श्रेष्ठत्व प्रकाशित करते हैं, इस कारण इस अधिकरणमें आश्रयाश्रयिभावरूप सङ्गति जाननी चाहिये। साश्रमाः—श्रेष्ठा इत्यादि। *'वैदिकाश्रमधर्म-सम्पन्नत्वादिति'— 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तेजसश्च'* इसका अर्थ है—'तेन'—ज्ञानवशतः, विद्—विज्ञव्यक्ति, ब्रह्मेति—ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, पुण्यकृत्—स्वाश्रमोचित धर्मानुष्ठायी, तेजसश्च—वह ब्रह्मविद् तेजसः—ब्रह्मशक्तिसे पूर्ण, अतएव आश्रमी श्रेष्ठ हैं—यह पूर्वपक्षीका मत है।

अतस्त्वितरदधिकरणम्

सूत्र—अतस्त्वितरत् ज्यायो लिङ्गाच्च॥ ३९॥

सूत्रार्थ—'तु' किन्तु ऐसा तो नहीं है 'अतः' इस साश्रमत्वसे 'इतरत्' भिन्न—निराश्रमत्वको ही 'ज्यायः' श्रेष्ठ विद्या-साधन जानें 'च' क्योंकि 'लिङ्गात्'—इस विषयमें प्रमाण है—गार्गीका महाविद्यत्व होना॥ ३९॥

सूत्रानुवाद—साश्रमीसे निराश्रमी ही श्रेष्ठ है क्योंकि यह निराश्रमत्व विद्या-साधनके लिए उपयोगी है। याज्ञवल्क्यसे गार्गीके विद्याधिक्यके दर्शनके कारण साश्रमीसे निराश्रमीका श्रेष्ठत्व श्रुत होता है॥ ३९॥

गोविन्दभाष्य—शङ्कानिरासाय तु-शब्दः। च-शब्दोऽवधारणार्थः। अतः साश्रमत्वादि-तरन्निराश्रमत्वमेव ज्यायः श्रेष्ठं विद्यासाधनं मन्तव्यम्। कुतः? लिङ्गात्। गार्ग्या महाविद्यत्वश्रवणात् लिङ्गादेव। अयं भावः। अनादिप्रवृत्तिशीलानाम् प्रवृत्तिसङ्कोचाय आश्रमाः शास्त्रेण विहिताः। अतस्तद्विधाने न तस्य तात्पर्यं किन्तु तत्सङ्कोच एव। ता हि ब्रह्मरतिप्रतिबन्धिका भवन्ति। ये तूपक्षीणप्रवृत्तयो ब्रह्मैकरतास्तेषां न किञ्चिदाश्रमैः फलमिति नैराश्रम्यं वरीयः। अतएव जाबालोपनिषदि क्रमेणाश्रमान् विधाय पुनर्विरक्तस्य तमपनिनाय सांवर्त्तकादीनां ब्रह्मैकरतानां संन्यासं त्यागं चोवाचेति। *"अनाश्रमी न तिष्ठेत् तु दिनमेकमपि द्विज"* इत्यादिकन्तु सामान्य-विषयम्॥ ३९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त तु शब्द पूर्वपक्षीकी शङ्काके निराकरणके लिए है। लिङ्गाच्चेतिमें 'च' शब्द अवधारणके लिए है अर्थात् साश्रमत्वसे निराश्रमत्वको ही विद्या प्राप्तिका श्रेष्ठ उपाय (साधन) जानना चाहिये। किस कारणसे? 'लिङ्गात्'—क्योंकि गार्गीका महाविद्यात्व

(विद्याधिक्य) श्रुत होता है—इस ज्ञापनके कारण। भावार्थ यह है कि शास्त्रमें जिस आश्रम ग्रहणका विधान है, वह अनादिकालसे प्रवृत्तिशील जीवोंकी प्रवृत्तिके सङ्कोच अर्थात् ह्रास-विधानके लिए है। अतएव जानना चाहिये कि आश्रम-विधान शास्त्रका उद्देश्य नहीं है किन्तु प्रवृत्तिका सङ्कोच करना ही अभिप्राय है। प्रवृत्तियाँ ब्रह्मरतिकी प्रतिबन्धक होती हैं। जिनकी प्रवृत्ति सम्यक् रूपेण क्षीण हो रही है और जो ब्रह्ममात्रमें ही रतिसम्पन्न हो रहे हैं, उनका आश्रम ग्रहण करनेका कोई लाभ नहीं है। अतः उनका निराश्रम रहना अर्थात् आश्रम ग्रहण न करना ही श्रेष्ठ है। इसलिए जाबालोपनिषदमें क्रमानुसार एक-एक आश्रमका विधान करनेके बाद साधकके वैराग्यसे युक्त हो जानेपर पुनः उस आश्रमका त्याग करनेके लिए कहा है और मात्र ब्रह्ममें ही रतिसम्पन्न सांवर्त्तक इत्यादि ब्रह्मनिष्ठोंका संन्यास और इस संन्यासाश्रमके त्यागका उपदेश दिया गया। तब जो कहा जाता है कि द्विजाति एक दिन भी—क्षणकालके लिए भी आश्रमहीन न रहे—यह साधारण अज्ञ व्यक्तियोंके उद्देश्यसे कहा गया है॥ ३९॥

सूक्ष्मा-टीका—अतस्त्विति। ज्यायः श्रेष्ठमिति। ज्य चेति सूत्रेण प्रशस्यस्य ज्यादेशः अतिप्रशस्तमित्यर्थः। तस्येति शास्त्रस्य। ताः प्रवृत्तयः। तं क्रमम्। सामान्येति अज्ञविषयमित्यर्थः। यदुक्तं श्रीभागवते। *"वनं गृहं वोपविशेत् प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः। आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत्"* (श्रीमद्भा॰ ११/१७/३८) इति। अन्यथा अनाश्रमी प्रतिलोमं च न चरेदित्यर्थः। अमत्पर इतिच्छेदः। स्वैकनिष्ठस्याश्रमनियमाभावं यद्वक्ष्यति ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा इत्यादि॥ ३९॥

सूक्ष्मा-सार—*'अतस्त्विति'* सूत्रमें 'ज्यायः' का अर्थ है 'श्रेयान्' 'ज्यच', इष्ठन् तथा ईयसुन् प्रत्ययोंमें प्रशस्य शब्दके स्थानपर ज्य आदेश होता है—इस पाणिनीय सूत्रानुसार (५/३/६१) प्रशस्य शब्दके स्थानपर 'ज्य' आदेश हुआ है। इसका अर्थ है दोनोंकी अपेक्षा अति प्रशस्त। *'अतस्तद्विधाने न तस्य तात्पर्यमिति'* में 'तस्य' अर्थात् शास्त्रका। *'ता हि ब्रह्मरतिप्रतिबन्धिका'* इतिमें 'ताः' का अर्थ है 'प्रवृत्तियाँ'। *'तमपनिनायेति'* में 'तम्' अर्थात् उस क्रमको। *'सामान्य-विषयमिति'*—अज्ञविषयक—यह अर्थ है। श्रीभागवतमें जो कहा गया है कि उत्तम ब्राह्मण वनमें रहेंगे अथवा घरमें वास करेंगे अथवा संन्यास

आश्रम ग्रहण करेंगे, एक आश्रमसे अन्य आश्रममें जायेंगे। अनाश्रमी रहकर प्रतिकूल आचरण नहीं करेंगे। 'मत्परः' स्थलपर 'अमत्परः' इस प्रकारसे योग-विभाग जानना चाहिये। इसका अर्थ है—ब्रह्ममात्रमें एकनिष्ठ व्यक्तिके आश्रमका कोई नियम नहीं है क्योंकि किंवा ज्ञानानिष्ठ व्यक्ति विरक्त होकर रहेंगे इत्यादि वाक्य बादमें कहेंगे॥ ३९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—आश्रमधर्मावलम्बी याज्ञवल्क्यादि और आश्रम विहीन गार्गी इत्यादिकी विद्या-प्राप्तिके प्रदर्शनके बाद इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? इस विषयपर संशय उपस्थित होनेपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि आश्रमी ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे वैदिक आश्रमधर्मसे सम्पन्न और ब्रह्मरति विशिष्ठ (युक्त) हैं। इस पूर्वपक्षके मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि साश्रम याज्ञवल्क्यसे निराश्रमी गार्गीका विद्याधिक्य देखे जानेसे साश्रमत्वसे निराश्रमत्वको ही श्रेष्ठ कहा जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

कोन्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥

(श्रीमद्भा॰ ३/४/१५)

अर्थात् हे भगवन्! हे प्रभो! जो आपके श्रीचरणकमलोंके सेवक हैं, उनके लिए इस संसारमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टयमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तथापि मुझे उनमेंसे किसीकी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल आपके श्रीचरणकमलोंकी सेवाके लिए ही लालायित रहता हूँ।

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते॥

(श्रीमद्भा॰ ९/५/१६)

अर्थात् जिनके पवित्र नामोंको सुननेमात्रसे ही जीव निर्मल हो जाता है, उन तीर्थपाद भगवान्के प्रेमीभक्तोंके लिए कौन-सी ऐसी

वस्तु है, जिसे वे प्राप्त नहीं कर सकते और कौन-सा ऐसा कर्त्तव्य है, जिसका करना उनके लिए बाकी है?

याज्ञवल्क्य मुनि कहते है—

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्द्विजः।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परस्य न तदाचरेत्॥

अर्थात् धर्ममें आश्रम कारण नहीं है। जो अपने लिए अहितकर हो, वह कार्य दूसरोंके लिए भी न करें। इतिहासमें कहा है—

विद्यावृत्तिविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च।
आर्जवे वर्त्तमानस्य आश्रमैः किं प्रयोजनम्॥

विद्या एवं वृत्ति (चरित्र) से विनीत तथा जितेन्द्रिय और कुटिलतासे रहित जनोंके लिए आश्रमसे क्या प्रयोजन॥ ३९॥

अवतरणिका भाष्य—स्यादेतत्। ब्रह्मैकरतत्वेन निरपेक्षाणां निराश्रमाणां श्रैष्ठ्यमुक्तं न युज्यते तेषां सापेक्षतायाः सम्भवात्। तथाहि विधिना परित्यक्तस्य गृहादेराश्रमस्य पुनर्ग्रहो निन्द्यः तत्रैव शास्त्रात् तेषां तु पूर्वं तस्याप्राप्तेः प्राप्तस्य विधिनापरित्यागाद्वैदिकत्वेन श्लाघ्येष्वाश्रमधर्मेषु श्रद्धोदयाच्च पुनस्तत्स्वीकारेण तद्विक्षेपकतधर्मप्राप्त्या तदेकरत्यसम्भवात् श्रैष्ठ्यं हीयेत। सनिष्ठादीनां तु नियताश्रम-धर्मपरिमृष्टसत्त्वानामुत्तरोत्तरतच्चिन्तासन्तानादबाधं तदिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पुनः आक्षेप करते हैं कि आप जो निराश्रमताका श्रेष्ठत्व कह रहे हैं कि निरपेक्ष निराश्रम अधिकारी ही श्रेष्ठ है क्योंकि वे एकमात्र ब्रह्मैकनिष्ठ हैं तो आपका यह कहना युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि उनकी भी सापेक्षताकी सम्भावना हो सकती है। कैसे? वही बताते हैं—विधि अनुसार परित्यक्त गृहादि आश्रमको पुनः ग्रहण करना निन्दनीय है क्योंकि पूर्वमें उनका आश्रम शास्त्रसे अप्राप्त है। प्राप्त आश्रमका विधि द्वारा परित्याग होनेसे, वेद-विधान होनेसे आश्रम-धर्म श्लाघनीय है; अतः श्रद्धाका उदय हो सकता है। निरपेक्ष निराश्रमीके द्वारा पुनः आश्रम स्वीकार करनेसे ब्रह्मरतिको विक्षेप करनेवाला आश्रम-धर्म आयेगा जिसके फलस्वरूप ब्रह्मरतिका दृढ़ होना असम्भव है, अतएव श्रेष्ठत्व क्षीण होता है अर्थात् निराश्रमीको श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। सनिष्ठ इत्यादिके

नियमित रूपसे आश्रम-धर्मके अनुष्ठानके कारण चित्तशुद्धि होनेसे उत्तरोत्तर ब्रह्म-चिन्तनका विस्तार होगा और इसलिए ब्रह्मैकरतत्व अबाधित रहेगा—ब्रह्म-रति विक्षेपकी कोई सम्भावना नहीं रहेगी। यदि ऐसा कहते हो तो इसपर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्यादेतदिति। एतन्निराश्रमताया वरीयस्त्वम्। तथैव शास्त्रादिति प्रातिलोम्येनाश्रमानुष्ठानप्रतिषेधकादित्यर्थः। तेषां निरपेक्षाणाम्। तस्य गृहादेराश्रमस्य। पुनस्तदिति। तस्य गृहादेराश्रमस्य स्वीकारेण हेतुना ब्रह्मरतिप्रतिबन्ध-काश्रमधर्मप्राप्त्या ब्रह्मैकरतत्वासम्भवात् श्रैष्ठ्यं क्षतं स्यादित्यर्थः। तच्चिन्तेति। तच्चिन्ता ब्रह्मस्मृतिस्तस्याः सन्तानात् विस्तारात् तत् ब्रह्मैकरतत्वमबाधं निर्विघ्नमित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'स्यादेतदिति'* में 'एतद्'—निराश्रमताका श्रेष्ठत्व जो आपने निरपेक्ष निराश्रम साधकोंके लिए कहा, यह तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उनकी भी सापेक्षता सम्भव है। *'तथैव शास्त्रादिति'*—ब्रह्मविद्याके प्रतिकूल रूपमें आश्रम धर्मानुष्ठानके प्रतिषेधक शास्त्रसे, यह अर्थ है। *'तेषां तु पूर्वमिति'* में 'तेषाम्'—का अर्थ है निरपेक्षोंका, *'तस्या प्राप्तेः'* में 'तस्य' का अर्थ है गृहादि आश्रमका, *'पुनस्तत्स्वीकारेणेति'*—गृहादि आश्रमको पुनः ग्रहण करनेके कारण ब्रह्मरतिका प्रतिबन्धक आश्रम-धर्म आ पड़ेगा, जिसके परिणामस्वरूप ब्रह्मैकरतत्त्व असम्भव है, अतएव श्रेष्ठत्वकी हानि होगी, यह तात्पर्य है। *'तच्चिन्तासन्तानात्'* इति में 'तच्चिन्ता' ब्रह्मकी स्मृति, उसके विस्तारवश *'अबाधं तदिति'* में 'तत्' का अर्थ है—ब्रह्मैकरतत्त्व, 'अबाधम्' का अर्थ है—निर्विघ्न होगा।

सूत्र—तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः॥ ४०॥

सूत्रार्थ—'तद्भूतस्य' निराश्रम निरपेक्ष ब्रह्मैकरत ब्रह्मविद्का 'नातद्भावो' ब्रह्मरतिसे स्खलन नहीं होता, 'जैमिनेरपि' यह जैमिनि और बादरायण मेरा भी मत है। कारण क्या है? 'नियमात्' नियत रूपसे ब्रह्मतृष्णा रहनेके कारण 'अतद्रूप अभावेभ्यः' अर्थात् तद्विषयक संस्कारवश और ब्रह्मसे भिन्न अन्य विषयमें वासनाकी निवृत्ति हेतु गार्गी इत्यादिके गृहादि-आश्रम ग्रहणके अभाववश॥ ४०॥

सूत्रानुवाद—प्रकृत निरपेक्ष ब्रह्मनिष्ठकी अन्यत्र तृष्णाकी सम्भावना ही नहीं है। अतएव ब्रह्मनिष्ठाकी प्रच्युति भी नहीं होगी। नियम, अतद्रूपता और अभावके कारण (ब्रह्मरतिके) स्खलनकी सम्भावना नहीं है। इस विषयमें जैमिनि एवं बादरायणके कथनमें साम्य है॥ ४०॥

गोविन्दभाष्य—तु-शङ्काच्छेदाय। तद्भूतस्य नैरपेक्ष्येण ब्रह्मैकरतस्य नातद्भावस्त-देकरतिप्रच्युतिर्न भवतीति जैमिनेरपिना बादरायणस्य च मे मतम्। कुतः? नियमेति। नियमातद्रूपादभावाच्च। तदिन्द्रियाणां ब्रह्मतृष्णानियमितत्वात्। रूपं वासना। ब्रह्मान्यवासनाविनाशात् गार्ग्यादीनां गृहादिस्वीकाराभावाच्चेत्यर्थः। स्मृतिश्चैवमाह—*"कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत्। चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्"* (श्रीमद्भा॰ ७/१५/३५) इत्यादिका। यद्यपि कर्मपरो जैमिनिस्तथापि नैरपेक्ष्यश्रुतिभीतः क्वचिदेवं मन्यते प्राग्भवानुष्ठितकर्मनिष्क्ल्मषः कश्चिदिहैवेदृशः स्यादिति॥ ४०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त तु शब्द पूर्वपक्षीकी शङ्काके निराकरणके लिए है। तद्भूतस्य अर्थात् निरपेक्ष रूपसे ब्रह्ममें ही एकमात्र रत निराश्रम ब्रह्मविद्की नातद् भावः एकनिष्ठ ब्रह्मरतिकी प्रच्युति नहीं होगी—यह जैमिनिका और अपि शब्द द्वारा ग्राह्य मुझ बादरायणका भी मत जानें। कारण? *'नियमातद्रूपाभावतो'*; अर्थात् शास्त्रके नियमसे, ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य विषयक वासनाका अभाव और गृहादि-स्वीकारकी विधिके अभावके कारण। तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष अधिकारीके नियमन हेतु अर्थात् समस्त इन्द्रियोंको ब्रह्मतृष्णामें नियमित करनेके कारण, अतद्रूप अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न अन्य विषयमें वासनाके विनाशके कारण एवं गार्गी इत्यादिके पुनः गृहादि ग्रहणके अभावके कारण प्रच्युतिकी सम्भावना नहीं होगी, यह अर्थ है। स्मृति-वाक्य भी इसी प्रकार कहते हैं यथा *'कामादिभिरनाविद्धमित्यादि ... नैवान्तिष्ठेत् कर्हिचित् इत्यन्त'*—श्रीमद्भागवतमें कहा है कि काम इत्यादि द्वारा अनाक्रान्त, प्रशान्त अर्थात् अखिल वृत्तियोंसे शून्य जो चित्त ब्रह्मानन्दका स्पर्श करता है, वह फिर कभी भी अन्य विषयमें प्रवृत्त नहीं होता। इत्यादिका इसके अतिरिक्त और भी स्मृतियाँ हैं। *'यद्यपीति'*—यद्यपि जैमिनि मुनि कर्मपथके निर्देशक हैं, ऐसा होनेपर भी वे कर्मत्याग

बोधक श्रुतियोंमें पङ्गु इत्यादि अक्षम-सूचक पदोंके प्रयोगके अभावके कारण उस श्रुतिके मुख्यार्थको अन्य प्रकारसे लेनेके भयके कारण किसी-किसी शिष्यके विषयमें नैरपेक्ष्य स्वीकारपूर्वक इस प्रकार मानते हैं कि पूर्वजन्मार्जित कर्म द्वारा निष्पापचित्त कोई हो तो इस जन्ममें भी इसी प्रकार ब्रह्मैकमात्ररति हो सकती है॥ ४०॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। नियमनं नियमः। रूपयति करोति नानाविधं जन्मेति रूपं वासना जगद्विषयेति व्याख्येयम्। कामादिभिरिति श्रीभागवते। यद्यपीति। कर्मपरः कर्मणैव मोक्षं मन्यमानः। नैरपेक्ष्येति। कर्मत्याजकश्रुतिषु पङ्ग्वादिपदादर्शनात् तन्मुख्यार्थमन्यथा नेतुं विभ्यदित्यर्थः। क्वचिदिति। कस्मिंश्चिच्छिष्ये इत्यर्थः। इहैव जन्मनि॥ ४०॥

सूक्ष्मा-सार— *'तद्भूतस्येति'* सूत्रमें। नियम शब्दका अर्थ है—नियन्त्रित करना। रूप शब्दका अर्थ है वासना—संस्कार। क्योंकि रूपयति—नाना प्रकारके जन्मोंकी सृष्टि करता है, इसलिए जगत्-विषयक वासना ही रूप है। यही व्याख्या करनी होगी। *'कामादिभिरनाविद्धम्'* इत्यादि वाक्य श्रीमद्भागवतीय है। *'यद्यपि कर्मपरो जैमिनिरिति'*—'कर्मपरः'—वैदिक एवं स्मार्त्त कर्म द्वारा मुक्तिके निर्देशक हैं। *'नैरपेक्ष्यश्रुतिभीतः'* अर्थात् कर्मत्यागबोधक *'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः'* (महानारायणोपनिषद ८/१५) इत्यादि श्रुतिमें पङ्गु इत्यादि कर्माक्षम-सूचक पदके अभावमें उस श्रुतिका मुख्यार्थ अन्य प्रकारसे लेनेमें भय प्राप्त होता है। *'क्वचिदेवं मन्यते इति'* में 'क्वचित्' अर्थात् किसी शिष्यमें। *'इहैवेदृशः'*—इस जन्ममें वह ब्रह्मैकरतिसम्पन्न हो सकता है॥ ४०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः पूर्वपक्षी कहते हैं कि निराश्रमी निरपेक्ष व्यक्तियोंकी ब्रह्मैकरति देखकर उन्हें श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें सापेक्षताकी सम्भावना देखी जाती है, जिस प्रकार गृहादिका परित्याग करके पुनः यदि उसे ग्रहण किया जाय तो वह निन्दनीय होता है। अतः जो कभी आश्रम स्वीकार नहीं करते अथवा विधिपूर्वक आश्रमको स्वीकार करके पुनः उसका परित्याग करते हैं, इस प्रकारसे दोनों ही प्रकारके निराश्रमी निरपेक्ष व्यक्तियोंके पतनकी सम्भावना है और उस अवस्थामें भगवत्-रति भी विक्षिप्त हो पड़ती है। अतएव सनिष्ठ भक्त जो आश्रम-धर्मानुष्ठानके द्वारा विशुद्धचित्त

होकर श्रीभगवान्‌में रति प्राप्त करते हैं, वे ही उत्तरोत्तर वृद्धि पाते हैं और उनके विक्षेपकी सम्भावना भी नहीं रहती। ऐसा अवस्थामें साश्रमसे निराश्रमकी श्रेष्ठता कही नहीं जा सकती। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मन्तव्यके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि निराश्रमी निरपेक्ष अधिकारी ब्रह्मविद्‌की ब्रह्मरतिका स्खलन नहीं होता—इस विचारमें जैमिनि एवं मुझ बादरायण—दोनोंकी सम्मति है। नियमन, अतद्‌रूपता और गृहादि-स्वीकारके अभावमें इन तीनों कारणोंसे ही प्रच्युति अस्वीकृत है। आचार्य शङ्कर कहते है—संन्यासाश्रममें दीक्षित हो जानेपर अतद्भाव (संन्यासका परित्याग) कभी नहीं हो सकता, क्योंकि (१) नियम, (२) अतद्रूप और (३)अभाव—इन तीन कारणोंसे संन्यासाप्रच्युति ही सिद्ध होती है। (१) नियमकी व्याख्या है—*'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्'* (छा॰ २/२३/१) अर्थात् या तो नैष्ठिक ब्रह्मचारीके रूपमें जीवन पर्यन्त आचार्य-कुलमें रहकर कठिन व्रतोंका अनुष्ठान करता रहे अथवा परिव्रज्याका ग्रहण कर पुनः पीछे पग न रखे। (२) अतद्रूपकी व्याख्या है—*'यथाच ब्रह्मचर्य समाप्य'* (जा॰ ४) अर्थात् जैसे ब्रह्मचारीसे गृही, गृहीसे वानप्रस्थ और वानप्रस्थसे संन्यासके ग्रहणकी विधि उपलब्ध होती है, वैसी संन्याससे प्रच्युत होनेकी कोई विधि उपलब्ध नहीं। (३) अभावका शिष्टाचाराभाव अर्थ किया जाता है—*'न चैवमाचाराः'*—शिष्ट पुरुष संन्यास प्रच्युति करते कहीं नहीं देखे जाते।

श्रीमद्भागवतमें है—

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत्।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवात्तिष्ठेत कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/१५/३५)

अर्थात् जो चित्त विषयों द्वारा अक्षोभित और अखिल वृत्तियोंसे प्रशान्त होकर ब्रह्म-सुखसे स्पृष्ट रहता है, वह कभी भी विक्षिप्त नहीं होता।

उत्तम भक्तोंकी बात तो दूर रहे, प्राथमिक भक्तके सम्बन्धमें भी पाया जाता है—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥
(श्रीमद्भा० ११/१४/१८)

अर्थात् हे उद्धव! जो लोग सब प्रकारसे अपनी इन्द्रियोंको जय करनेमें समर्थ नहीं हैं, वैसे प्राकृत भक्त भी विषयोंके द्वारा अभिभूत नहीं होते।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

'प्राप्तोद्ध्वर्वरेतो भावस्याभावस्तु नोपपद्यते इति जैमिनिरपि सम्मतं वचनाभावान्निमित्ताभावाच्छिष्टाचारभावाच्च।'

अर्थात् ऊर्ध्वरेताके नैष्ठिक आदि धर्मोंका अभाव शास्त्र द्वारा उपपन्न (प्रमाणित) नहीं है। आचार्य जैमिनि भी इससे सहमत हैं। आरोहण विधिकी तरह अवरोहण विधि नहीं है अर्थात् संन्यास या वानप्रस्थ आश्रमसे गृहस्थाश्रम स्वीकार करना निषिद्ध है और शिष्टाचार भी ऐसा नहीं है॥ ४०॥

अवतरणिका भाष्य—अथ सनिष्ठेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति। ननु सर्वं ह पश्यः पश्यतीत्यादौ विद्यया स्वर्गादेरपि प्राप्तिश्रवणात् तल्लब्धेन्द्रादिलोकभोगप्रसक्तानां तेषां ब्रह्मैकरतिर्विच्छिद्येतेत्याशङ्क्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अतःपर सनिष्ठ (नैष्ठिक) साधकसे निरपेक्षोंका श्रेष्ठत्व दिखाते हैं। आशङ्का होती है कि *'सर्वं ह पश्यः पश्यति'* अर्थात् ब्रह्मवित् ब्रह्मस्वरूप होकर समस्त ही दर्शन करता है, इत्यादि श्रुतिमें विद्याके प्रभावसे स्वर्गादिकी प्राप्ति श्रुत होनेसे उस विद्याके बलपर प्राप्त इन्द्रादि लोकके भोगोंमें आसक्त होनेपर उनकी (ब्रह्मविदोंकी) ब्रह्मैक रति भङ्ग हो सकती है—यह आशङ्का करके उत्तर देते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। सनिष्ठाः खलु स्वर्गादिकमपि दिदृक्षवो ब्रह्मैकरतौ शिथिलीभूताः प्रतीताः। निरपेक्षाणां तु तद्दिदृक्षाविरहेण ब्रह्मैकरतौ गाढत्वात् श्रैष्ठमबाधमित्यर्थः। तल्लब्धेति। विद्योपस्थितेत्यर्थः। ननु नियमादतद्रूपाच्च तदेकरतिविच्युतिर्नेति प्रागुक्तेः कथमेतच्चोद्यमवतरतीति चेत् सत्यमेतत्। विद्यादेव्या दत्तोऽयं प्रसादः सत्कार्य इति शङ्कासम्भवात्। तन्निरासायैतदिति व्याख्यातारः। तेषां निरपेक्षाणाम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'अथेत्यादि'*। सनिष्ठ साधकगण स्वर्गादि दर्शन करनेके इच्छुक होनेके कारण ब्रह्मैकरतिमें शिथिल-प्रयत्न होते हैं, यह प्रसिद्ध है, किन्तु निरपेक्ष यतियोंमें स्वर्गादि-दर्शनकी इच्छाके अभावके कारण गाढ़ रूपसे ब्रह्मैकरति रहनेके कारण उनका श्रेष्ठत्व प्रतिबन्धकरहित है। *'तल्लब्धेन्द्रादि इति'* में 'तल्लब्ध' अर्थात् विद्याके प्रभावसे प्राप्त। आशङ्का होती है कि—पूर्वमें जो कहा गया था कि निरपेक्ष यतिगण इन्द्रियोंको ब्रह्ममें नियन्त्रित करके रखते हैं और अन्य-विषयमें संस्कारके अभावसे उनका ब्रह्मैकरतिसे स्खलन नहीं होता; तब फिर यह आशङ्का किस प्रकारसे आ गयी? यह यदि कहते हो तो सत्य बात है किन्तु विद्यादेवीके द्वारा प्रदत्त इस अनुग्रहका सद्व्यवहार करना उचित है। यही विचार करके (स्वर्गादि-दर्शनसे) उनकी भोगासक्तिकी शङ्का हो सकती है, इसी शङ्काके निराकरणके लिए यह सूत्र है। व्याख्याकर्त्तागण ऐसा कहते हैं। *'तेषां ब्रह्मैकरतिर्विच्छिद्येतेति'* में 'तेषां' का अर्थ है—निरपेक्ष यतियों का।

सूत्र—न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात्॥ ४१॥

सूत्रार्थ—'च' और आधिकारिकम्' इन्द्रादि पद और ऐहिक सुख-समुदायमें 'अपि' भी 'न' उनकी ऐकान्तिक आकाङ्क्षाका अभाव जानना चाहिये। किस कारणसे? 'पतनानुमानात्' उन समस्त लोकोंसे पतन होता है 'तदयोगात्' यह सब स्मरण रहनेके कारण पहलेसे ही इस विषयमें निरपेक्षोंकी स्पृहाका अभाव होनेके कारणसे (ब्रह्मरति भङ्ग नहीं होती)॥ ४१॥

सूत्रानुवाद—आधिकारिक इन्द्रादि पद ब्रह्मनिष्ठके लिए आकाङ्क्षित नहीं है क्योंकि पतनकी सम्भावना है। विद्याकी महिमासे यह सब स्मरण रहनेसे भक्तमें इन लोकोंकी इच्छा नहीं रहती। अतएव ब्रह्मरतिका विच्छेद नहीं होता॥ ४१॥

गोविन्दभाष्य—चोऽवधारणे। अपिरैहिकसुखसमुच्चये। आधिकारिकमिन्द्रादिपदं तेषां नैवाकाङ्क्ष्यम्। कुतः? पतनेति। *"आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्त्तिनोऽर्ज्जुन"* (श्रीगी॰ ८/१६) इत्यादिषु ततः पातस्मरणात् आरम्भतस्तत्स्पृहाभावाच्चेत्यर्थः।

स्मृतिश्चात्र मृग्या। तथाच विद्यामहिम्ना तस्मिन्ननुवृत्तेऽपि तदिच्छाविरहात् न तेन तदेकरतिर्विच्छिद्यतेऽतो निर्बाधं तत्त्वमिति॥ ४१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'च' शब्द अवधारणार्थ है। 'अपि' शब्द ऐहिक सुखका संग्राहक है। *'आधिकारिकम्'*—इन्द्रादि (स्वर्गादि) पद उनके लिए आकाङ्क्षणीय नहीं होते। क्यों? *'पतनानुमानात्'* श्रीगीतामें कहा है—'हे अर्जुन! ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोकोंका ही संसारमें पुनः पुनरावर्त्तन होता है' इत्यादि वाक्यमें उन इन्द्रादि पदसे ब्रह्मपद पर्यन्त पतनका स्मरण रहनेके कारण ब्रह्मविदोंका विशेष रूपसे पहलेसे ही इन सबमें स्पृहाका विशेष अभाव रहता है, यह अर्थ हैं। इस विषयमें अन्य स्मृति-वाक्य भी अनुसन्धेय है। अतएव विद्याके प्रभावसे यह इन्द्रादि पद उपस्थित होनेपर उनमें आकाङ्क्षाके अभावके कारण उसके द्वारा इन निरपेक्षोंकी ब्रह्मैकरति विच्छिन्न (खण्डित) नहीं होती। अतएव यह तत्त्व अथवा सिद्धान्त बाधारहित है॥ ४१॥

सूक्ष्मा-टीका—न चाधिकारिकमिति। स्वर्गादिलोकाधिष्ठातृत्वमधिकारः स एषामस्ति तेऽधिकारिकाः। अत इनठनाविति ठन् (पा॰ ५/२/११५)। तेषामिदमाधिकारिकं तस्येदमित्यण् (पा॰ ४/३/१२०)। आब्रह्मेत्यात्राभिविधावाकारः। ब्रह्मपदपर्यन्तादिन्द्रादि-पदादित्यर्थः। ब्रह्मविद्यां विना ये कोचित् महायुद्धमरणादिना सत्यलोकं यान्ति तेषां तस्मादावृत्तिर्भवेदेव तदपेक्षयैवैतत्। ब्रह्मविद्यया तत्र गतानान्तु ब्रह्मणा सार्द्धं परपदप्राप्तिरेवेत्युपरि विस्फुटीभावि। स्मृत्यस्तरञ्चात्र मृग्यम्। *"कर्मणां परिणामि-त्वादाविरिञ्च्यादमङ्गलम्। विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्"* इति। स्मृतिश्चात्रेति। *"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्"* (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१४) इति। योग-सिद्धीरणिमादिविभूतीः। अपुनर्भवं कैङ्कर्यशून्य-मोक्षमिति व्याख्येयम् मयर्पितात्मा मदेकनिरतचित्तो भक्तः। मद्विनेति। मामेवेच्छतीत्यर्थः॥ ४१॥

सूक्ष्मा-सार— *'न चाधिकारिकम्'* इत्यादि सूत्रमें। अधिकार अर्थात् स्वर्गादि लोकोंकी परिचालना (अधिष्ठातृत्व) वह जिनकी (इन्द्रादि) है, वे आधिकारिक हैं। *'अत इनठनौ'* अस्त्यर्थमें अकारान्त शब्दके उत्तरमें 'इन' एवं 'ठन्' (इक) होता है, इस सूत्रमें अधिकार शब्दके उत्तरमें 'ठन्' प्रत्ययसे निष्पन्न अधिकारिक शब्द, उनका यह पद है, इस अर्थमें *'तस्येदम्'* (षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकसे 'इदम्' अर्थमें यथा विहीत प्रत्यय होता है) इस सूत्रसे 'अण्' आदि स्वरकी वृद्धि होनेसे इस प्रकार

आधिकारिक शब्द निष्पन्न हुआ है। *'आब्रह्म भुवनात्'* इस पदमे 'आ' अव्यय अभिविधि ('आ' का एक अर्थ पूर्ण व्याप्ति है) अर्थमें प्रयुक्त है, इसका अर्थ है, इन्द्रादि-पदसे, ब्रह्म-पद पर्यन्त लेकर सभी। आब्रह्म कहनेका उद्देश्य है—ब्रह्मविद्याके बिना जो महायुद्धमें मरणादिवश सत्यलोकमें (ब्रह्मलोकमें) गमन करते हैं, उनकी उस लोकसे आवृत्ति होती है, यही बतानेके लिए इसका प्रयोग हुआ है। ब्रह्मविद्याके प्रभावसे सत्यलोक-गत व्यक्तियोंकी ब्रह्माके साथ परपद (वैकुण्ठ-पद) की प्राप्ति होती है, यह बादमें स्पष्ट रूपसे कहा जायेगा। इस विषयमें अन्य स्मृति-वाक्य भी अनुसन्धेय हैं। यथा *'कर्मणां परिणामित्वादित्यादि'*— कर्ममात्र ही परिणाम-विशिष्ट अर्थात् नश्वर है, इसलिए ब्रह्मपद पर्यन्त—यह एक प्रकारसे अमङ्गल ही है, इसलिए ज्ञानी व्यक्ति दृष्ट पदार्थके समान अदृष्टपदार्थको भी नश्वर ही देखते हैं। इस विषयमें स्मृति-वाक्य भी है, यथा *'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यम्'* इत्यादि—जो व्यक्ति मेरे लिए मन समर्पण कर देता है, वह मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहता। इतना ही नहीं ब्रह्मलोक, इन्द्रत्व, सर्वभूमीश्वरत्व, पातालाधिपत्य, अणिमादि योगसिद्धि अथवा भगवत्-सेवासे रहित मुक्ति भी नहीं चाहता। योगसिद्धि (अणिमा, लघिमा, द्राघिमा [गरिमा], महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व) अणिमादि विभूतियाँ, अपुनर्भवं, भगवत्-सेवासे रहित मुक्तिपद—यही व्याख्येय है। *'मयार्पितात्मा'*— मेरे प्रति एकनिष्ठचित्त-भक्त। 'मद्विना' अर्थात् वह मुझे ही चाहता है, अन्य कुछ नहीं चाहता॥४१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि विद्या द्वारा स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिकी बात सुनी जाती है, इसलिए इन्द्रादि पद प्राप्त होनेसे उन भोगोंमें आसक्त विद्वान पुरुषकी ब्रह्मरतिका विच्छेद हो सकता है, इस आशङ्काके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि सनिष्ठ अधिकारियोंको आधिकारिक इन्द्रादि पदमें आकाङ्क्षा नहीं रहती क्योंकि उनके पतनकी सम्भावना रहती है, यह पहलेसे ही ज्ञात होनेके कारण आकाङ्क्षा शून्य रहते हैं। अतः विद्या महिमासे यह पद प्राप्त होनेपर भी उनकी आकाङ्क्षाके अभावके कारण ब्रह्मरतिका विच्छेद नहीं होता।

श्रीमद्भागवतमें है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्व्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/१४)

अपने हृदयको मेरे लिए समर्पणकर दिया है, वे भक्त मेरी सेवा छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है, न देवराज इन्द्रका, उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ रसातलका राज्य चाहता है। वह अणिमा आदि योगसिद्ध अथवा मोक्ष तक की भी कामना नहीं करता।

श्रीमुचुकुन्दजीने भी कहा है—

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे,
वृणीत आर्य्यो वरमात्मबन्धनम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/५१/५५)

अर्थात् हे विभो! आपके चरणकमल अकिञ्चनोंके सर्वोत्तम प्रार्थनीय हैं, मैं इन्हीं चरणकमलोंके भजनके अतिरिक्त दूसरे किसी वरदानकी प्रार्थना करना नहीं चाहता। हे हरि! भला ऐसा कौन विवेकी पुरुष होगा, जो मुक्तिको प्रदान करनेवाले आपकी आराधना करके उन सांसारिक-विषयोंको माँगेगा—जो उसके ही बन्धनके कारण होते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कृष्णेर चरणे हय यदि अनुराग।
कृष्ण विनु अन्यत्र तार नाहि रहे राग॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१४३)

अर्थात् कृष्णके चरणोंमें यदि अनुराग उत्पन्न होता है तो कृष्ण बिना उसका और कहीं मन नहीं लगता।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(श्रीगी॰ ८/१६)

अर्थात् हे अर्जुन! ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोक पुनरावर्त्तनशील हैं किन्तु मुझे प्राप्त होनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता।

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है—

'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः'

(श्रीमद्भा॰ ३/२५/३८)

अर्थात् मेरे ही आश्रयमें रहनेवाले भक्त शान्तिमय वैकुण्ठधाममें पहुँचकर किसी भी प्रकारसे इन दिव्य भोगोंसे रहित नहीं होते और न ही मेरा काल-चक्र उन्हें ग्रस सकता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

न च परमात्मैश्वर्यादिकमाकाङ्क्ष्यं ब्रह्मादीनमपि नाकाङ्क्ष्यं किमु परस्येति सूचयितुमपि शब्दः। च-शब्दस्तु ज्ञानार्थिनां पूर्वोक्तादित्थं भावान्तर सूचकः। अयोग्यमाराढुं प्रयतन् प्रपतन् हि दृश्यते। एवमयोग्यस्य परमात्मैश्वर्यस्य ब्रह्मादि पदस्य चाकाङ्क्षाया पतनमनुमीयते। न देवपदमन्विच्छेत् कुत एवं हरेर्गुणान्। इच्छन् पतति पूर्वस्मादधस्ताद् यत्र नोत्थितिरिति ब्रह्माण्डे। 'स्वकीयमिच्छमानन्तु राज्याद्याः पातयन्ति हि। एवमेव सशद्याश्च। हरिश्च स्वपदेच्छुकम् इत्याद्यनुमानरूप वाक्याच्च मायाभिरुत्सिसृप्यत इन्द्राद्यामारुरुक्षतः अवदस्यूरधुनुथा इति च श्रुतिः' (ऋ॰ ८/१४/१४)।

अर्थात् जो देवादि पदकी आकाङ्क्षासे रहित हैं, वे ही भगवत्प्राप्तिके साधन-ज्ञानकी प्राप्ति कर सकते हैं। अतएव उपासकोंको परमात्माके ऐश्वर्यादिकी आकाङ्क्षा नहीं करनी चाहिये। जब ब्रह्मादि भी उसकी आकाङ्क्षा नहीं करते तो अन्योंके विषयमें क्या कहा जाय। ज्ञानार्थियोंको ऐसा करनेसे भावान्तर होगा, वे ध्येयसे च्युत हो जायेंगे। अयोग्य (सामर्थ्यसे अधिक) स्थानपर आरोहण करनेपर उनका पतन होता है—यह देखा गया है। अतएव अयोग्यके लिए परमात्माका ऐश्वर्य अथवा ब्रह्मादि पदकी आकाङ्क्षा निश्चित ही उसका पतन करा

देगी जैसा कि ब्रह्माण्डपुराणका वचन है—देवपदकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, हरिके गुणोंकी बराबरीका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आकाङ्क्षा करनेपर पहलेसे भी अधिक अधोगति होती है और उससे कभी उत्थिति (उत्थान) नहीं हो सकती। जब अपनी बराबरी करनेवालोंको राजा आदि नीचा दिखलाते हैं, तो फिर देवता और भगवान् तो अपने पदके इच्छुकको निश्चित ही नीचे गिरायेंगे। *'मायाभिरुत् सिसृप्यत्'* इत्यादि श्रुतिमें यही दिखाया है॥ ४१॥

अवतरणिका भाष्य—अथ परिनिष्ठितेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब परिनिष्ठित भक्तोंसे एकान्ती भक्तोंका श्रेष्ठत्व दिखाते हैं।

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। परिनिष्ठिताः खलु लोकान् संजिघृक्षवो धर्मानाचरन्ति। निरपेक्षास्तु ब्रह्मैकरतिविक्षेपकत्वस्फूर्त्त्या तानपि नाचरन्तीति ब्रह्मानन्दनिमग्नां तेषां तेभ्यः श्रैष्ठ्यमित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—जो परिनिष्ठित भक्त हैं, वे लोकसंग्रहके इच्छुक होकर धर्मका आचरण करते हैं किन्तु निरपेक्ष भक्तगण उन वर्णाश्रमोचित धर्मोंको भी ब्रह्मैक रतिके विक्षेपक रूपमें स्फूर्त्त होनेके कारण अन्य आचरण करते नहीं, इस प्रकारसे ब्रह्मानन्दमें निमग्न इन निरपेक्षकोंका परिनिष्ठितसे श्रेष्ठत्व है।

सूत्र—उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम्॥ ४२॥

सूत्रार्थ—'तु एके'—अथर्वविद् ब्राह्मण मानते हैं कि 'उपपूर्वम्' निरपेक्षोंकी भगवदुपासना ही अभीष्ट है और 'भावम्' यह उपासनासिद्ध अनुराग 'अशनवत्' खाद्यके समान उनका भोग्य-आस्वादनीय है; 'तदुक्तम्' क्योंकि स्मृतिमें वही कहा गया है॥ ४२॥

सूत्रानुवाद—आथर्वणिकगण कहते हैं कि निरेपेक्षोंकी उपासना ही अभीष्ट है, उनका यह भगवदनुराग स्वाभाविक है और खाद्यके समान आस्वादनीय है, क्योंकि स्मृतिमें वही कहा गया है॥ ४२॥

गोविन्दभाष्य—अपिरवधारणे। तुर्विपरीतभावनाच्छेदे। एके आथर्वणिका निरपेक्षाणामुपपूर्वमुपासनमेवाभीष्टं तत्सिद्धं भावञ्चाशनवद्भोग्यं पठन्ति। *"भक्तिरस्य*

भजनं तदिहामुत्रेत्यादि सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति" इति च। केचिद्भागवता यत्र क्वापि हरिमुपासीनास्तत्प्रमाणमेव *"सोऽश्नुते सर्वान् कामान्"* इत्यादि श्रुतत्रिपाद्गतानन्दभोगवदनुभवन्तीत्यर्थः। स्मृतिश्चैतदर्थिका मृग्या॥ ४२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'अपि' शब्द अवधारणके लिए है। 'तु' शब्दका अर्थ है—ब्रह्मसे विपरीत भावनाके निराकरणके लिए। एके—अथर्वविद् ब्राह्मणगण मानते हैं कि निरासके (छेदनके) भक्तोंकी भगवदुपासना ही अभीष्ट वस्तु है और तज्जनित प्रेम उनके खाद्यके समान भोग्य अर्थात् आस्वादनीय है। यह कहा भी गया है यथा— *'भक्तिरसस्येति'* अर्थात् श्रीभगवान्‌की सेवा ही भक्ति है—यह सेवा इस लोकमें अथवा परलोकमें जिस किसी भी स्थानपर हो, यह सच्चिदानन्द-रसमय भक्तियोगके अन्तर्गत रहती है। भगवत्-भक्त किसी भी स्थानपर क्यों न रहे, वह श्रीहरिकी उपासनामें रत रहता है और भगवत्-प्रदत्त समस्त भोगोंको त्रिपाद-परिमाण जानकर भोग करता है— *'तत् प्रमाणमेव सोऽश्नुते सर्वान् कामान्'*—इस श्रुतिसे इसी तात्पर्यका बोध होता है कि भक्त त्रिपादगत आनन्दभोगके समान ही उन भोगोंका अनुभव करता है। इस अर्थके बोधक स्मृति-वाक्य भी अन्वेषणीय हैं॥ ४२॥

सूक्ष्मा-टीका—उपपूर्वमिति। यत्र क्वापीति। यस्मिन् कस्मिंश्चित् स्थाने इत्यर्थः। स्फुटार्थमन्यत्। तदुक्तमिति सूत्रांशस्य स्मृत्याप्युक्तमित्यर्थः। तां स्मृतिमाह स्मृतिश्चैतदर्थिकेति। *"एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः। अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलम् गायन्तु आनन्दसमुद्रमग्नाः"* (श्रीमद्भा॰ ८/३/२०) इत्याद्या॥ ४२॥

सूक्ष्मा-सार— *'उपपूर्वमपि'* इत्यादि सूत्रमें। *'यत्र क्वापि'* इत्यादि भाष्यमें *'यत्र क्वापि'* जिस किसी भी स्थानपर, यह अर्थ है, अवशिष्ट भाष्य स्पष्टार्थक है। सूत्रोक्त *'तदुक्तमिति'* इसका अर्थ है—इस सूत्रांशका अर्थ स्मृतिमें भी कहा गया है। इसी बातको 'स्मृतिश्चैतदर्थिका' के द्वारा कहते हैं। यह स्मृति है यथा— *'एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति'* इत्यादि—जो श्रीभगवान्‌का एकमात्र आश्रय किये हुए हैं, वे एकान्तीगण भगवान्‌के समीप किसी वस्तुकी प्रार्थना नहीं करते, उनका आचरण अति आश्चर्यमय एवं अति मङ्गलपूर्ण होता है क्योंकि वे

श्रीभगवान्‌का नाम-कीर्त्तन करते हुए आनन्द-सागरमें निमग्न रहते हैं—इत्यादि स्मृतियाँ हैं॥ ४२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले सनिष्ठसे परिनिष्ठित अधिकारीके श्रेष्ठत्वका वर्णन किया गया था; अब परिनिष्ठितसे भी निरपेक्ष, एकान्ती भक्तोंके श्रेष्ठत्वका वर्णन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि किसी-किसी अर्थात् अथर्वविद् ब्राह्मण निरपेक्षोंकी भगवदुपासना ही अभीष्ट है। वे तत्सिद्ध भावोंको ही खाद्यके समान अपने आस्वादनीय रूपमें मानते हैं।

देखा जा रहा है कि सनिष्ठोंके प्रारब्ध और स्वर्गादि भोगका विषय वर्णित हुआ है। अतः उनमें आसक्ति उत्पन्न होनेसे पतनकी सम्भावना रहती है; परिनिष्ठितगणोंका ऐहिक भोग गौण रूपसे सिद्ध होनेपर भी उनमें पतनकी आशङ्का नहीं है। इस सूत्रमें यही निदग्दर्शन हुआ है कि निरपेक्ष ऐकान्तिक भक्तोंका भगवदुपासनासे उत्पन्न प्रेमास्वादके अतिरिक्त अन्य कोई भोग नहीं है। उक्त प्रेम ही उनका खाद्य अर्थात् खाद्यके समान आस्वादनीय है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं
वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः॥

(श्रीमद्भा॰ ८/३/२०)

अर्थात् जिनके ऐकान्तिक शरणागत भक्तगण उनकी परम मङ्गलदायिनी लीलाओंके कीर्त्तन करते हुए आनन्द-सागरमें मग्न रहते हैं और उनसे किसी विषयकी कामना नहीं करते।

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/१७)

अर्थात् जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँ तक कि शरीर आदिमें भी मैं और मेरेपनका भाव नहीं रखते, जो संसारकी वासनोओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं, जो निरभिमान हैं, समस्त प्रणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामनासे जिनकी बुद्धि कलुषित नहीं है और जो मुझमें परम अनुरागके साथ मेरी सेवा किया करते हैं, उन्हें और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होता है।

इसी प्रसङ्गमें निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव-
निमिषार्द्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२/५३)

अर्थात् हे राजन्! त्रैलोक्यकी राज-लक्ष्मीको प्राप्त होनेपर भी जिसका चित्त विचलित नहीं होता है, जिसे सदा-सर्वदा निरन्तर भगवत्-स्मरण होता रहता है, बड़े-बड़े देवता, ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणमें जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं, भगवान्के ऐसे श्रीचरणकमलोंसे आधे क्षण, आधे पलकके लिए भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन श्रीचरणोंका स्मरण करता रहता है, वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

भक्तेर प्रेम विकार देखि कृष्णेर चमत्कार।
कृष्ण यार न पाय अन्त, केवा छार आर?
कृष्ण ताहा सम्यक् ना पारे जानिते।
भक्तभाव अङ्गीकार ताहा आस्वादिते॥

(चै॰च॰अ॰ १८/१६-१७)

अर्थात् अपने भक्तोंके प्रेम-विकार देखकर श्रीकृष्णको चमत्कार (अत्याश्चर्य) होने लगता है। कृष्ण भी इन भावोंकी सीमा नहीं पा

सकते तो अन्यान्य तुच्छ जनोंके विषयमें क्या कहा जाय? भक्तोंमें जो प्रेम उदित होता है, उस प्रेमके नाना विकार उनके हृदयमें नृत्य करते हैं—इन सबको वे स्वयं भी सम्यक्रूपेण नहीं जान पाते, उस प्रेमका आस्वादन करनेके लिए वे भक्तभावको अङ्गीकार करते हैं (और श्रीमन् चैतन्य महाप्रभु रूपमें आविर्भूत होते हैं)।

और भी,

मोक्षादि आनन्द यार नहे एक 'कण'।
पूर्णानन्द-प्राप्ति ताँर चरण-सेवन॥
(चै॰च॰म॰ १८/१९५)

अर्थात् उनके श्रीचरणोंकी सेवासे जिस पूर्णानन्दकी प्राप्ति होती है—मोक्षादिका आनन्द उसके एक कणके बराबर भी नहीं है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'उपदेवपदञ्च नाकाङ्क्ष्यमित्येके। भावमशनवद्वृषि पदवदेव। तच्चोक्त-मिन्द्रद्युम्नशाखायां यथर्षीन् प्रजापतीन्नाकाङ्क्षेदेवं न गन्धर्वान्न विद्याधरान्न नृसिंहानिति बृहत्संहितायाञ्च। न दैवानभिकाङ्क्षेत कुत एव हरेर्गुणान्। प्राजापत्यन्नाचार्षाश्च गान्धर्वादीनपि क्वचित्। ऋष्यादिषु विशेषे तु दोषो नैवाविशेषित इति विशेषदर्शनार्थमेक इत्युक्तम्।'

अर्थात् कोई-कोई शाखाध्यायी कहते हैं कि मोक्षकामीको उपदेव पदकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। इन्द्रद्युम्न शाखामें पाठ है कि ऋषित्व, प्रजापतित्व, देवत्व, गन्धर्वत्व, विद्याधरत्व, नृसिंहत्व इत्यादि उपदेवपदकी अभिलाषा न करे। बृहत्संहितामें कहा गया है कि जब ज्ञानीजन देवत्वकी इच्छा नहीं करते तो उन्हें श्रीहरिका गुणाभिलाष किस प्रकारसे हो सकता है? इस प्रकारसे प्रजापतित्व (कश्यप, कर्दमादि) और गन्धर्वादित्वकी (विद्याधरदि) साम्यताका प्रयास भी प्रार्थनीय नहीं है। ऋषि (वशिष्ठ, विश्वामित्र एवं तुम्बुरु इत्यादि) आदिकी साम्यता विशेष लोगोंके लिए दोष नहीं है, सामान्य लोगोंके लिए ऐसी बराबरी करना दोष है॥ ४२॥

अवतरणिका भाष्य—तादृशानां सालोक्यसामीप्यलक्षणा मुक्तिरयत्नसिद्धेति तत्रैव हेत्वन्तरं व्यञ्जयति।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ऐसे निरपेक्ष भक्तोंकी सालोक्य सामीप्यात्मक मुक्ति अयत्न-सिद्ध है, इस विषयमें अन्य हेतु (कारण) भी सूचित करते हैं।

सूत्र—बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च॥ ४३॥

सूत्रार्थ—'तु' इस विश्व प्रपञ्चमें रहकर भी वे 'बहिः' अर्थात् प्रपञ्चके बाहर रहते हैं, कारण? 'उभयथापि' दोनों ही प्रकारसे अर्थात् भगवान्‌की भक्तमें प्रीतिके कारण और भक्तके भगवत्-प्रेमके कारण 'स्मृतेराचाराच्च' इस विषयको भागवत-स्मृति और आचार—इन दोनोंमें ही देखा जा सकता है॥ ४३॥

सूत्रानुवाद—प्रपञ्चमें स्थित रहकर भी भक्तगण प्रपञ्चके बाहर रहते हैं क्योंकि भगवान् एवं भक्तमें इसी प्रकारका पारस्परिक संश्लेष रहता है—भगवान् और भक्तके आचरणमें यही दिखायी देता है और भागवत-स्मृतिमें भी॥ ४३॥

गोविन्दभाष्य—तुरवधारणे। प्रपञ्चे स्थिता अपि ते तस्माद्बहिरेव सन्तीति मन्तव्यम्। कुतः? उभयथेति। *"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात् हरिवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः। प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः"* (श्रीमद्भा॰ ११/२/५५) इत्यादिषु मणिस्वर्णवत् स्वामिभृत्ययोर्मिथः संश्लेषस्मरणात् तथाचाराच्च तैः सार्द्धम्। यदुक्तं भगवता। *"निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः"* (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१६) इत्यादिहेतुभ्यामन्तर्बहिश्च मिथः संश्लेषः समर्थितः। तथाच वैमुख्यमेव संसृतिहेतुस्तत्प्रणाशात् सिद्धा तेषां सेति॥ ४३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द अवधारणार्थमें है अर्थात् प्रपञ्चमें रहकर भी वे प्रपञ्चके बाहर रहते हैं—यह मानना चाहिये। कारण क्या है? *'उभयथा'* अर्थात् स्मृति एवं आचार—दोनों ही प्रकारसे कारण दृष्ट होता है। भागवत-स्मृति-वाक्य है, यथा *'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षादित्यादि ... भागवत प्रधान उक्तः'*—इसका अर्थ है भ्रमर जिस प्रकार पद्मकोषका त्याग नहीं करता, इसी प्रकार निरपेक्ष भक्तोंके प्रेमके वश होकर सच्चिदानन्द विग्रह श्रीहरि उनके हृदयको नहीं छोड़ते। ये श्रीहरि कैसे हैं? *'अवशाभिहितेत्यादि'* अर्थात्

जिह्वाके उच्चारण दोषसे उच्चारित होकर भी जो अविद्या पर्यन्त सारे दोषोंका नाश कर देते हैं। जिन्होंने भगवत्-प्रेमरूप रज्जुपाशसे श्रीभगवान्के चरणपद्मको बाँध रखा है, उन भक्तोंको ही भागवतोत्तम कहा गया है, इत्यादि स्मृति-वाक्योंमें प्रभु (स्वामी) और उनके भृत्यों (सेवकों) का मणिकाञ्चनके समान परस्पर संश्लेष बताया है अर्थात् जिस प्रकार स्वर्ण इन्द्रनीलमणिका आश्रय प्राप्त करके सुशोभित होता है, उसी प्रकार अपने स्वामी-श्रीहरिका आश्रय करके भक्त-भृत्यकी अतिशय शोभा होती है। *'तथाचाराच्च तैः सार्द्धम्'* इति—इन निरपेक्ष भक्तोंके साथ श्रीभगवान्का इस प्रकारका आचरण भी परिदृष्ट होता है, यथा—श्रीभगवान्ने अपने मुखसे स्वयं कहा है—मैं निरपेक्ष अर्थात् भगवत्-भिन्न अन्य विषयमें स्पृहासे शून्य, मुनि-भगवत्-चिन्तन-परायण, शान्त-इन्द्रिय-विकारोंसे वर्जित, निर्वैर-जन-विद्वेषसे रहित और समदृष्टि-सम्पन्न भक्तोंका सर्वदा अनुगमन करता हूँ, इससे मेरा उद्देश्य यह है कि उनके पाद-पद्मोंकी रजसे मैं स्वयंको पवित्र कर सकूँ इत्यादि। दोनों ही कारणोंसे (स्मृति-वाक्य और आचारवशतः) भगवान्का निरपेक्ष भक्तोंके साथ अन्तरमें और बाह्यमें परस्पर संश्लेष समर्थित हुआ है। अतएव सिद्धान्त यह है—भगवत्-वैमुख्य ही संसारका कारण है और वैमुख्यका लोप होनेपर उनकी सालोक्यादि मुक्तिको करतलगत (सिद्ध) जानना चाहिये॥ ४३॥

सूक्ष्मा-टीका—बहिरिति। तत्रैव निरपेक्षाणां श्रैष्ठ्ये। उभयथेति। उभाभ्यां प्रकाराभ्यां भगवतो भक्तरक्ततया भक्तस्य भगवद्रक्ततया चेत्यर्थः। ते निरपेक्षाः। तस्मात् प्रपञ्चात्। विसृजतीति श्रीभागवते। यस्य निरपेक्षस्य भक्तस्य प्रीतिवशः सन् साक्षात् सच्चिदानन्दविग्रहो हरिर्हृदयं मधूलिडिवारविन्दकोशं न विसृजति न त्यजति। कीदृशं इत्यपेक्ष्याह अवशेति। स्खलनादिनोच्चारितोऽप्यघौघमविद्यापर्यन्तदोषं यो नाशयतीत्यर्थः। प्रणयरशनया प्रीतिरज्ज्वा धृते निबद्धे अङ्घ्रिपद्मे यस्य अर्थात् तेन भक्तेन स तथा। मणिस्वर्णवदिति। मणिरिन्द्रनीलस्तस्येव स्वामिनः संश्लेषः स्वर्णस्येव तु भृत्यस्येति शोभानिर्भरो दर्शितः। तैर्निरपेक्षैः। ते च पुरातना आधुनिकाश्च तैः सह भगवतस्तथाचारस्तद्ग्रन्थेषु मृग्यः। तत्र प्रमाणं निरपेक्षमिति श्रीभागवते (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१६)। निरपेक्षं भगवदन्यस्पृहारहितम्। मुनिं तच्चिन्तनपरायणम्। शान्तं निवृत्तेन्द्रियविक्रियम्। निर्वैरं द्वेषशून्यम्। समदर्शनं समानदृष्टिम्। पूयेयेत्यस्यायं भावः। *"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"*

(श्रीगी॰ ४/११) इति। मया यद्बहुसाक्षिकं प्रतिज्ञातं तन्मे न निर्व्यूढं। गेहादि सर्वपरित्यागपूर्वक भक्तानुवृत्तेरकरणात्। अतः प्रतिज्ञात-व्रतानिर्वाहदोषापनीत्या पावित्र्यं तदङ्घ्रिरेणुस्पर्शैर्भावीति प्रीत्या तदनुव्रजेति। हेतुभ्यामिति। उभयथाचारस्मरणाभ्यामित्यर्थः। क्रमादिति बोध्यम्। सा मुक्तिः॥४३॥

सूक्ष्मा-सार— *'बहिस्तूभयथेति'* सूत्रमें। *'तत्रैव'*—निरपेक्ष भक्तोंका श्रेष्ठत्व, *'उभयथेति'*—दोनों प्रकारसे अर्थात् भगवान्‌की भक्तमें प्रीतिके कारण एवं भक्तके भगवत्-प्रेमके कारण। *'स्थिता अपि इति'* में 'ते' का अर्थ है—वे निरपेक्ष भक्तगण। *'तस्मात् बहिरेवेति'* में 'तस्मात्'—इस प्रपञ्चसे। *'विसृजति'* इत्यादि श्लोक श्रीभागवतीय है। इसका अर्थ है—निरपेक्ष भक्तोंके प्रेमके अधीन होकर साक्षात् अर्थात् सच्चिदानन्द विग्रह श्रीहरि, 'हृदयम्' इत्यादि—भक्तोंके हृदयको छोड़कर रहते नहीं जिस प्रकार भ्रमर पद्मकोष छोड़कर नहीं रहता। किस प्रकारके हरि? इस उद्देश्यसे कहते हैं—*'अवशाभिहितोऽपि'*—स्खलनादि (हकलाहट आदि) जिह्वाके दोषोंसे नाम उच्चारित होनेपर भी *'अघौघनाशः'* अविद्या पर्यन्त समस्त पापोंका नाश करते हैं, *'प्रणयरशनया'* प्रेमरूप रज्जु द्वारा *'धृताङ्घ्रिपद्मः'*—भगवान्‌के युगल चरणपद्मको जिन भक्तोंने बाँधकर रखा है, वे ही भक्त भागवत प्रधान रूपमें कहे जाते हैं। *'मणिस्वर्णवदिति'* इन्द्रनीलमणिके समान स्वामीकी स्वर्णके समान भृत्यके संश्लेषसे जिस प्रकार अतिशय शोभा होती है, उसी प्रकार भक्त एवं भगवान्‌के स्वामी-सेवक रूपमें संश्लेष अतिशय शोभाका सम्पादन करनेवाला है। इस दृष्टान्तके द्वारा अतिशय शोभा दिखायी गयी है। *'तैः सार्द्धम् इति'* में 'तैः' का अर्थ है निरपेक्ष भक्तोंके साथ। ये निरपेक्ष पूर्वजन्मसे ही हों अथवा इसी जन्ममें हों, उनके साथ भगवान्‌का आचरण उन-उन ग्रन्थोंमें (वाक्योंमें) देखना चाहिये। इस विषयमें प्रमाण है—*'निरपेक्षं मुनिमित्यादि'*—यह श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। इसका अर्थ है—निरपेक्षम्—भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य विषयमें स्पृहासे शून्य 'मुनिम्'—भगवदिच्छापरायण, 'शान्तम्'—इन्द्रियजन्य विकार-रहित निर्वैरं—जनविद्वेषसे वर्जित, समदर्शनम्—समस्त विषयमें समदृष्टि सम्पन्न। 'पूयेय' इसका भावार्थ यह है कि मैंने सबके समक्ष जो प्रतिज्ञाकी है कि जो मेरा जिस भावसे आश्रय करते हैं, मैं उनका उसी भावसे अनुसरण करता हूँ, इसका निर्वाह

नहीं कर पाया क्योंकि उनके समान गृहादि सभीका परित्याग करके भक्तानुगत्य नहीं किया। अतएव प्रतिज्ञात व्रतके अनिर्वाह दोषका अपनयन करके पवित्रताका सम्पादन उन भक्तोंकी चरणरेणुके स्पर्शसे ही होगा। इस कारण श्रीभगवान् प्रीतिपूर्वक उनकी अनुव्रज्या करते हैं। *'इत्यादि हेतुभ्याम्'*—इस प्रकार दोनों प्रकारके आचरण एवं स्मरण द्वारा—यह अर्थ है। इसे भी क्रमानुसार अर्थात् पहले संश्लेष, बादमें आचार—यह बोध्य है। *'तेषां सा इति'* में 'सा' का अर्थ है—वह मुक्ति॥ ४३ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त निरपेक्ष भक्तोंकी सालोक्यादि मुक्ति बिना ही यत्नके सिद्ध हो जाती है। इस विषयमें अन्य हेतु प्रदर्शन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि निरपेक्ष भक्तगण प्रपञ्चमें रहकर भी प्रपञ्चातीत रूपसे अवस्थान करते हैं। इस विषयमें स्मृति एवं आचार दोनों ही प्रमाण हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तथापि भक्तं भजते महेश्वरः।

(श्रीमद्भा० ८/१६/१४)

अर्थात् स्वयं परमेश्वर भी अपने भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण किया करते हैं।

और भी,

भगवान् भक्त भक्तिमान्

(श्रीमद्भा० १०/८६/५९)

अर्थात् जैसे भक्त भगवान्‌की भक्ति करते हैं वैसे ही भगवान् भी भक्तोंकी भक्ति करते हैं।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी प्राप्त होता है—

ये मते सेवके भजे कृष्णेर चरणे।
कृष्ण सेइ मत दासे भजेन आपने॥

(चै०भा०अ० ३/७३)

अर्थात् सेवक जिस प्रकारसे कृष्णचरणोंका भजन करते हैं, कृष्ण भी उसी प्रकारसे स्वयं भक्तका भजन करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी पाया जाता है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(श्रीगी॰ ९/२९)

अर्थात् मैं सभी भूतोंमें सम अर्थात् समदर्शी हूँ। न तो कोई मेरा अप्रिय है और न ही कोई प्रिय है, किन्तु जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, वे जिस प्रकार मुझमें आसक्त हैं, मैं भी उनमें उसी प्रकार आसक्त रहता हूँ।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

देवर्षीणां गन्धर्वाणां पदाकाङ्क्षीः पतेद्ध्रुवम्।
अन्यत्र शुभमाकाङ्क्षन्न पतेदविरोधतः इति स्मृतेः।
नानात्वमेव कामानां नाकामः क्व च दृश्यते।
अतोऽविरुद्धकामः स्यादकामस्तेन भण्यते इत्याचाराच्च॥

अर्थात् पहले कहा गया था कि देवादिपदकी इच्छा नहीं करे। इस समय यह आशङ्का हो सकती है कि जिस प्रकार देवादिपदकी इच्छा करनेका निषेध हुआ है, इस प्रकार ज्ञान, भक्ति आदिमें भी आकाङ्क्षा न रहे। इस सन्देहका निराकरण करनेके लिए कहते हैं कि देवर्षि और गन्धर्वादिके पदकी आकाङ्क्षा करनेवाले व्यक्तियोंका निश्चय ही पतन होता है, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य शुभ कामना करनेपर उनका पतन नहीं होता—यही श्रुत है। और यह भी दर्शन है कि यद्यपि कामनाका नानात्व होनेपर किसीको अकाम नहीं देखा जाता, तथापि जो व्यक्ति अविरुद्धकामी (जो कामना शुभ दृष्टिसे की गयी) है, उसीको अकाम कहा जाता है। अतएव जाना जाता है कि केवल देवत्वादि की कामना न करें, किन्तु ईश्वरमें भक्ति और ज्ञानकी अवश्य कामना करें। ऐसा आचारका नियम कहा गया है॥ ४३॥

अवतरणिका भाष्य—ब्रह्मलोकान्तसुखवैतृष्ण्यमुक्तम्। अथ साम्प्रतसुखवैतृष्ण्यमुच्यते। *"भर्त्ता सन् म्रियमाणो विभाति"* इति श्रुतं तैत्तिरीयके। तत्र संशयः। निरपेक्षाणां देहयात्रा स्वप्रयत्नादुतेशप्रयत्नादिति तैस्तत्प्रयासस्यानुत्पाद्यत्वात् स्वप्रयत्नादेवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इससे पहले ब्रह्मलोक तक समस्त सुखोंसे वितृष्णाके विषयमें बतलाया गया था, अब इसके बाद ऐहिक सुखोंसे वितृष्णाके बारेमें कहते हैं। तैत्तिरीयकोपनिषदमें है—*'भर्ता सन् म्रियमाणो विभाति'*—भगवान् निज भक्तोंके पालक होकर भी भक्तों द्वारा सेवित (पालित) के समान प्रकाश पाते हैं।

इस विषयमें संशय यह है कि निरपेक्ष भक्तोंके शरीर-यात्राका निर्वाह क्या अपनी चेष्टासे होता है? अथवा भगवान्के प्रयत्नसे? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि भगवान् परिश्रम (प्रयत्न) करें—यह निरपेक्ष भक्तोंको कभी भी स्वीकार नहीं है। अतएव अपने प्रयत्नसे ही उनकी जीविकाका निर्वाह कहा जायेगा। इस मतके ऊपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ब्रह्मलोकान्तसुखानिच्छया हरिनिरतत्वान्निरपेक्षाणां ज्यायस्त्वमुक्तं प्राक् तन्न युक्तं देहयात्रासुखापेक्षाया दुष्परिहरत्वेन तया ज्यायस्त्व-हानादित्याक्षिप्य समाधानादाक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। ब्रह्मलोकान्तेत्यादि। भर्त्तेति। भर्त्ता स्वभक्तानां पालकः सन् भक्तैर्म्रियमाणः पुष्यमाणः सेव्यमान इत्यर्थः। देहयात्रा देहनिर्वाहः। तैरिति। तदेकहितैर्निरपेक्षैर्भगवत्परिश्रमस्याकार्यत्वादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है कि निरपेक्षकोंकी ब्रह्मलोक पर्यन्त सुखकी अनिच्छाके कारण एवं श्रीहरिमें निरत रहनेके कारण उनका पहले जो श्रेष्ठत्व कहा गया था, यह तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि जब देहयात्रा सुख अपेक्षित है तब यह दुष्परिहार्य (दुस्त्यज्य) है। अतएव इसके द्वारा निरपेक्षका श्रेष्ठत्व विहत (अवरुद्ध) हुआ है, यह आक्षेप करके समाधान हेतु इस अधिकरणमें आक्षेप नामक सङ्गति है। *'ब्रह्मलोकान्तसुखवैतृष्ण्यमिति'*—*'भर्ता सन् म्रियमाण इति'* अर्थात् स्वभक्तोंके पालक होकर भक्तोंके द्वारा पोषित अर्थात् सेवित होते हैं। *'निरपेक्षाणां देहयात्रेति'*—देहयात्रा—देहरक्षा—निर्वाह। *'तैस्तत् प्रयासस्येति'* में 'तैः'—उन भगवान्की ही प्रीतिमें रत निरपेक्षगण भगवान्में परिश्रम उत्पन्न नहीं करवा सकते, यही अर्थ है।

स्वाम्यधिकरणम्

सूत्र—स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ—'स्वामिनः' स्वामी सर्वेश्वरसे ही उनकी देहयात्राका निर्वाह होता है। प्रमाण क्या है? 'फलश्रुतेः' 'भर्त्ता सन्' इत्यादि श्रुतिमें श्रीसर्वेश्वरके द्वारा ही भक्तपालकत्व श्रुत होता है, इस कारण 'आत्रेयः'—यह आत्रेय मुनि मानते हैं॥ ४४॥

सूत्रानुवाद—स्वामी सर्वेश्वरसे ही निरपेक्ष भक्तोंकी देहयात्रा निष्पन्न होती है। भगवान् स्वयं ही भक्तोंके पालनकर्त्ता हैं—यह आत्रेय मुनिका मत है। 'भर्त्तासन्' इत्यादि श्रुतिमें भी यही फलश्रुत होता है॥ ४४॥

गोविन्दभाष्य—स्वामिनः सर्वेश्वरादेव तेषां देहयात्रा सिध्यति। कुतः? फलश्रुतेः। भर्त्तेत्यादौ तस्यैव तद्भर्तृत्वश्रवणादित्यात्रेयो मन्यते। *"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"* (श्रीगी॰ ९/२२)। *"दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्स्यकूर्मविहङ्गमाः। पुष्णन्ति स्वान्यपत्यानि तथाहमपि पद्मज"* इति तद्वाक्याच्च तैस्तत्प्रयासोऽनुत्पाद्य इति तु स्थूलं तेषां तथेच्छाविरहात् सत्यसङ्कल्पस्य तस्य तदभावाच्च। स्वदेहयात्रया तत्सेवनात् तस्याः फलत्वम्। अत उक्तं म्रियमाण इति॥ ४४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—स्वामी सर्वेश्वरसे ही निरपेक्ष भक्तोंकी देहयात्रा निष्पन्न (सिद्ध) होती है। हेतु क्या है? *'फलश्रुतेः'—'भर्त्ता सन् म्रियमाणो विभाति'* इसलिए कि इस फलश्रुतिमें उन सर्वेश्वरका भर्तृत्व अर्थात् पालकत्व श्रुत हो रहा है—यह आत्रेय अर्थात् दत्तात्रेय भी मानते हैं। स्मृति-वाक्य भी है—यथा *'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'* अर्थात् एकान्तनिष्ठ होकर जो मेरी सर्वतोभावसे (अनन्य भावसे) उपासना करते हैं, मैं उन नित्याश्रित जनोंकी जीविकाका योग और उस जीविकाकी रक्षा करता हूँ। और भी भगवत्-वाक्य हैं यथा—*'दर्शनध्यान संस्पर्शैरित्यादि'* अर्थात् हे पद्मयोनि! जिस प्रकार मत्स्य दर्शन द्वारा, कूर्म ध्यान द्वारा और पक्षी संस्पर्श द्वारा अपनी-अपनी सन्तानोंका पोषण करते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने भक्तोंका पोषण करता हूँ। यदि कहो, भगवान्के द्वारा उन निरपेक्षोंके लिए पालनका प्रयास तो उत्पादनीय (युक्तियुक्त) नहीं है—यह तो स्थूल-सी बात है। निरपेक्षोंकी इस प्रकारकी इच्छा ही नहीं होती (कि श्रीहरि जीविकाके द्वारा मेरा पोषण करें) और सङ्कल्पमात्रसे सर्वकर्त्ता सर्वेश्वरका उनके पालनके लिए कोई प्रयास भी नहीं होता। श्रीभगवान्की सेवाके द्वारा अपनी

देहयात्राका निर्वाह करना ही भक्तगणोंका अभिलाष होता है। इसलिए श्रुति कहती है—*'म्रियमाणः'*—वे भक्तों द्वारा सेवित होते हैं श्रुतिमें यही फल भी कहा है॥ ४४॥

सूक्ष्मा-टीका—स्वामिन इति। आत्रेयो दत्तात्रेयः। अनन्या इति श्रीगीतासु। अनन्यत्वेन चिन्तया पर्युपासनया च नैरपेक्ष्यं व्यक्तम्। योगेति। योगो जीविका। क्षेमं तस्याः प्रतिपालनम्। वहामि करोमि। दर्शनेति पाद्मे। क्रमोऽत्र बोध्यः। तथेच्छेति। हरिरस्मान् जीविकया पुञ्चात्विति कामनाभावादित्यर्थः। तदभावाच्च प्रयासविरहाच्च। न च क्षुत्तृढ्व्याकुलानां कथं तदेकरतिसिद्धिस्तदेकरतानां तद्बाधानुदयात्। यदुक्तं परीक्षिता। नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते। पिबस्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतमिति (श्रीमद्भा॰ १०/१/१३)॥ ४४॥

सूक्ष्मा-सार—*'स्वामिनः फलश्रुतेः'* इत्यादि सूत्रमें। आत्रेयः—दत्तात्रेय मुनि। *'अनन्याश्चिन्तयन्त'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भगवद्गीतामें उक्त है। अनन्य रूपसे ध्यान एवं उपासना द्वारा उनकी निरपेक्षता व्यक्त हुई है। *'योगक्षेमं वहाम्यहम्'* में 'योग' से अर्थ है 'जीविकाका संयोग', क्षेमका अर्थ है—उसकी रक्षा, 'वहामि' का अर्थ है—निर्वाह करता हूँ। *'दर्शनध्यानसंस्पर्शैरिति'*—दर्शन, ध्यान एवं स्पर्श द्वारा—इसमें क्रम जानना होगा। *'तेषां तथेच्छाविरहात्'* इतिमें 'तथेच्छा' क्योंकि इस प्रकारकी इच्छा अर्थात् श्रीहरि मुझे जीविका देकर पोषण करेंगे इस प्रकारकी इच्छा नहीं रहती। 'तदभावाच्च' और भगवान्का भी कोई प्रयास नहीं होता, इसलिए। यदि कहो, क्षुधा-तृष्णासे कातर होनेपर श्रीभगवान्का एकरतित्व किस प्रकारसे सम्भव है? तो ऐसा भी नहीं है। *'तदेकरत'* भक्तोंमें क्षुधा-तृष्णाकी बाधाका उदय ही नहीं होता। क्योंकि महाराज परीक्षितने कहा था, *'नैषातिदुःसहेति'* (श्रीमद्भा॰ १०/१/१३)—जलपान पर्यन्तका त्याग करनेवाले मुझे यह असह्य क्षुधा कष्ट नहीं देती क्योंकि मैं आपके मुखपद्मसे निर्गत हरिकथामृतका पान कर रहा हूँ॥ ४४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—निरपेक्ष भक्तोंके ब्रह्मलोक पर्यन्त सुखकी स्पृहा-शून्यताका वर्णन करते हुए अब यह बतला रहे हैं कि इन भक्तोंकी ऐहिक सुखमें भी स्पृहा नहीं है। इस स्थलपर एक पूर्वपक्ष होता है कि ऐसा होनेपर निरपेक्ष भक्तगणोंकी देहयात्राका निर्वाह क्या

अपने प्रयत्नसे है? अथवा ईश्वरके प्रयत्नसे साधित होता है; भक्तगण तो कभी इस बातके इच्छुक नहीं होते कि भगवान् उनकी देहयात्राका निर्वाह करें अतः निज प्रयत्न ही करना होता है। इस पूर्वपक्षके मतका खण्डन करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि सर्वेश्वर श्रीभगवान्से ही भक्तगणोंकी देहयात्राका निर्वाह होता है। तैत्तिरीय-श्रुतिमें इसका प्रमाण मिलता है। भाष्य एवं टीकामें श्रुति-प्रमाण देखना चाहिये। इतना ही नहीं आत्रेय मुनिका भी यही मत है।

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/१/१३)

अर्थात् यद्यपि मैंने (प्रायोपवेशनके लिए) जल-पान तक भी त्याग कर दिया है, तथापि आपके मुख-पद्मसे निःसृत कृष्ण-लीलाकी पीयूष-धाराका पान करनेके कारण अत्यन्त असहनीय यह क्षुधा मेरे श्रवणमें किसी भी प्रकारकी बाधा डालनेमें समर्थ नहीं हो रही है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्राप्त है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(श्रीगी॰ ९/२२)

इस श्लोकपर श्रीलचक्रवर्त्तीपादकी टीकाके सारमें इस प्रकार पाया जाता है—

उन भक्तोंके द्वारा अपने पालनेके भारको सर्वथा अर्पण नहीं किये जानेपर भी श्रीभगवान् स्वेच्छापूर्वक उसे ग्रहण करते है। सङ्कल्पमात्रसे ही समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान्के लिए यह भार तो भार है ही नहीं अथवा ऐसे समझना चाहिये कि भक्तजनोंमें आसक्त भगवान्के लिए अपने भक्तोंका योगक्षेम वहन करना उसी प्रकार अतिशय सुखप्रद होता है, जिस प्रकार लोगोंको अपनी भोग्या पत्नीका प्रतिपालन वहन करनेमें निरतिशय सुख प्राप्त होता है।

इसी श्लोकके भाष्यमें श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने कहा है—

ये जना अनन्या मदेकप्रयोजना मां चिन्तयन्तो ध्यायन्तः परितः कल्याणगुणरत्नाश्रयतया विचित्राद्भुतलीलापीयूषाश्रयतया दिव्यविभूत्याश्रयतया

चोपासते भजन्ति, तेषां नित्यं सर्वदैव मयाभियुक्तानां विस्मृतदेहयात्राणाऽहमेव योगक्षेममन्नाद्याहरणं तत्संरक्षणञ्च वहामि। अत्र करोमीत्युनुक्त्वा वहामीत्युक्तिस्तु तत्पोषणभावो मयैव वोढव्यो गृहस्थयैव कुटुम्बपोषणभार इति व्यनक्ति। एवमाह सूत्रकारः—'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः' इति।

अर्थात् जो लोग अनन्य अर्थात् जिनके लिए मैं ही एकमात्र जिनका प्रयोजन-लक्ष्य हूँ—ऐसे व्यक्ति मेरा ही चिन्तन अर्थात् इस भावसे ध्यान करते हैं कि मैं ही सर्वतोभावसे कल्याणगुणरत्नाश्रय, विचित्र अद्भुत लीलारूप अमृतकी निधि, दिव्य विभूतियोंका आधार हूँ—इसी प्रकारसे मेरी उपासना अर्थात् भजन करते हैं। नित्य अर्थात् सब समयमें ही मुझमें अभियुक्त हैं; जो देहयात्राको भी भूल गये हैं, उनका मैं ही योगक्षेम-अन्नादि आहरण और उनकी सर्वतोभावसे रक्षाका भार वहन करता हूँ। यहाँ 'करता हूँ'। यह न कहकर 'वहन करता हूँ'—इस उक्ति द्वारा जाना जाता है कि गृहस्थके पोष्यवर्गके पोषण-भारके समान उनका पोषण-भार मुझे ही वहन करना होता है। सूत्रकार फलश्रुतिमें यही उद्धृत करते हैं।

श्रीचैतन्यभागवतमें श्रीमहाप्रभुके वाक्यमें भी देखा जाता है—

ये ये जन चिन्ते मोरे अनन्य हइया।
तारे भिक्षा देओ, मुञि माथाय बहिया॥

येइ मोरे चिन्ते, नाहि याय कारो द्वारे।
आपने आसिया सर्वसिद्धि मिले तारे॥

धर्म अर्थ काम मोक्ष—आपने आइसे।
तथापिह ना चाय न लय मोर दासे॥

मोर सुदर्शन-चक्र राखे मोर दास।
महाप्रलयेओ यार नाहिक विनाश॥

ये मोहार दासेरेओ करये स्मरण।
ताहारे ओ करों मुञि पोषण पालन॥

सेवकेर दास से मोहार प्रिय बड़।
अनायासे से-इ से मोहारे पाय दृढ़॥

कोन चिन्ता मोर सेवकेर भक्ष्य करि।
मुञि यार पोष्टा आछों सबार ऊपरि॥

सुखे श्रीनिवास तुमि वसि थाक घरे।
आपनि आसिबे सब तोमार दुयारे॥

(चै॰भा॰अ॰ ५/५७-६४)

अर्थात् हे श्रीवास! जो कुछ और चिन्ता न करके केवल मेरा ही चिन्तन करते है, उन्हें मैं सिरपर ढोकर भिक्षा प्रदान करता हूँ। जो मेरा चिन्तन करते हैं, किसीके द्वारपर नहीं जाते, उन्हें अपने-आप सभी सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब अपने-आप आते हैं तथापि मेरा दास न तो माँगता है और न ही ग्रहण करता है। मेरा सुदर्शन चक्र मेरे भक्तोंकी रक्षा करता है। महाप्रलयमें भी मेरे इन भक्तोंका विनाश नहीं होता है। जो मेरे दासका भी स्मरण करता है, उनका भी पालन-पोषण मैं करता हूँ। (जो मेरा स्मरण किया करते हैं, मैं उनका तो मङ्गल विधान करता हूँ, जो मेरे दासका भी स्मरण करते हैं, मैं उनका भी पालन-पोषण करता हूँ।) मेरे सेवकका दास मुझे अत्यन्त प्रिय है। वह अनायास ही मुझे निश्चित रूपसे प्राप्त कर लेता है। मेरे सेवकको भोजनकी चिन्ता कैसी? मैं सर्वेश्वर जिनका पोषण करनेवाला हूँ—उन्हें चिन्ता किस बात की? श्रीनिवास! तुम सुखसे घरमें बैठे रहो। तुम्हारे द्वारपर अपने आप सब कुछ आ जायेगा।

अन्यत्र भी पाया जाता है—

भोजनाच्छादने चिन्तां व्यर्थं कुर्वन्ति वैष्णवाः।
योऽसौ विश्वम्भरो देवः कथं भक्तानुपेक्षते॥

अर्थात् वैष्णवगण भोजन, वस्त्रादिकी चिन्ता व्यर्थ ही करते हैं। ये जो विश्वम्भरदेव (विश्वका पालन-पोषण करनेवाले महाप्रभु श्रीगौराङ्ग) हैं, वे अपने भक्तकी और भक्तके दासकी किस प्रकार अनपेक्षा (अनदेखी) कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(श्रीमद्भा० ११/१४/२७)

अर्थात् जिस प्रकार विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषका चित्त विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाता है, उसी प्रकार नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले भक्तोंका चित्त मुझमें ही तल्लीन हुआ करता हैं।

श्रीमद्भागवतके निम्न श्लोक भी आलोच्य हैं—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥
(श्रीमद्भा० ११/२०/३४)

अर्थात् मेरे अनन्यप्रेमी और धैर्यवान् साधु भक्त, स्वयं कुछ भी नहीं चाहते हैं; यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या—वे कैवल्य-मोक्ष भी नहीं लेना चाहते।

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥
(श्रीमद्भा० २/२/५)

अर्थात् यदि कहो कि सर्दीसे रक्षा कैसे हो सकती है तो क्या रास्तेमें जीर्ण वस्त्रोंके चीथड़े पड़े नहीं रहते? यदि भूखकी ज्वाला सहन नहीं होती तो क्या ये परोपकारी वृक्ष फल-फूलकी भिक्षा दान नहीं करते? यदि कहो पीनेके लिए जल तो खोजना ही पड़ेगा तो तुम्हारी बुद्धिको धिष्टार है। अरे क्या नदियोंका जल सूख गया है? यदि कहो वर्षा, ओले गिरने लगें तो पर्णशालाकी आवश्यकता तो पड़ेगी या नहीं तो क्या पर्वतोंकी गुफाएँ बन्द हो गयी हैं? उनमें रहनेसे व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओंका भय तो रहेगा ही—ऐसा भी नहीं हैं; क्योंकि अजित भगवान् अपने चरणाश्रित भक्तोंकी सदा-सर्वदा रक्षा करते हैं। वे तो व्याघ्रादिके भी अन्तर्यामी हैं, फिर भक्तवत्सल

भगवान् किसलिए इन जन्तुओंको वहाँ भेजेंगे। विवेकी व्यक्ति फिर किसलिए धनके नशेमें चूर व्यक्तियोंकी चापलूसी करते हैं? भगवान्के द्वारा प्रदत्त वे लोग धन, रूप, कुल और पाण्डित्यके मदमें मदान्ध हो जाते हैं और भगवान्के शरणागत निष्किञ्चन व्यक्तियोंको दुःखी मानकर उनका अपमान करते हैं। वस्तुतः निष्किञ्चन हरिजन भिक्षादिके छलसे इन मदोन्मत्त लोगोंकी भगवदोन्मुखी सुकृति उत्पन्न हो, इस मङ्गल-प्रयासके लिए ही उनके घरोंमें उपस्थित होते हैं।

ये दारागारपुत्राप्त-प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भा॰ ९/४/६५)

अर्थात् जो भक्त घर, पत्नी, पुत्र, भाई-बन्धु, धन, प्राण, इहलोक और परलोक आदि सबका परित्यागकरके एकमात्र मेरी शरणमें आ गये हैं, मैं उन्हें किस प्रकार छोड़ सकता हूँ?

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तै॰ २/१/१) *इत्यादि फलं स्वामिनां देवानामेव भवति। यदु किञ्चेमाः प्रजाः शुभमाचरन्ति देवा एव तदाचरन्ति। यदु किञ्चेमाः प्रजा विजानते देवा एव तद् विजानते, देवानां ह्येतद् भवति स्वामी हि फलमश्नुते। ना स्वामी कर्म कुर्वाणः इति माध्यन्दिनश्रुतेरित्यात्रेयो मन्यते।'*

अर्थात् महामुनि आत्रेय कहते हैं—*'ब्रह्मविदाप्नोति'* (ब्रह्मवेत्ता परमात्माकी प्राप्ति करता है) इत्यादि श्रुतिसिद्ध भगवत्-प्राप्ति आदि ज्ञानफल, ज्ञानस्वामी देवताओंको ही प्राप्त होता है, अस्वामी प्रजाओंको यह फल प्राप्त नहीं होता। माध्यन्दिन-श्रुतिमें पठित है कि प्रजा जो कुछ शुभ आचरण करती है, वह देवगण भी करते हैं और प्रजा जो कुछ जानती है, वह ज्ञान देवताओंको भी होता है क्योंकि देवता ही इन्द्रियोंके प्रेरक हैं, इसलिए वे ही ज्ञानादिके स्वामी हैं। लौकिक व्यवहारमें स्वामी (राजा) का ही फल-दर्शन होता है, प्रजाको कर्त्ताके रूपमें उसका फल नहीं होता॥४४॥

अवतरणिका भाष्य—अथैतेषु तद्धर्त्तृत्वमेकान्तमिति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इन निरपेक्ष भक्तोंके ऊपर श्रीभगवान्‌का पालकत्व अव्यभिचरित अर्थात् एकान्त है, इसे दृष्टान्त द्वारा विशद करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। एकान्तमव्यभिचारि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—एकान्त अर्थात् अव्यभिचारी—इसका व्यतिक्रम नहीं है।

सूत्र—आर्त्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते॥ ४५॥

सूत्रार्थ—'आर्त्त्विज्यम्' सर्वेश्वर श्रीहरिका निरपेक्ष स्वभक्तका भरण ऋत्विक् कर्मके समान है 'हि' क्योंकि 'तस्मै' अपनी देहयात्राके निर्वाहके विनिमयमें वे भक्ति द्वारा 'परिक्रीयते' उनका क्रय कर लेते हैं। 'औडुलोमि'—उडुलोमके पुत्र जो निर्गुणात्मवादी हैं—इसलिए वे कहते हैं, भक्ति शब्द रिक्त अर्थात् श्रीहरिकी हितैषितारूप भक्त व्यवहारसे शून्य है॥ ४५॥

सूत्रानुवाद—श्रीहरि ऋत्विकके कर्मके समान ही भक्तोंका भरण-पोषण करते हैं क्योंकि भक्त अपनी भक्तिसे श्रीहरिको वशीभूत कर लेते हैं जिससे वे अपनेको उनके निकट बेचनेके लिए तत्पर हो जाते हैं। निर्गुणवादी औडुलोमि भक्तिको रिक्त कहते हैं॥ ४५॥

गोविन्दभाष्य—इहेति शब्दः सादृश्ये। स्वामिनस्तस्य निरपेक्षस्वभक्तभरण-मार्त्विज्यसदृशम् ऋत्विक्कर्मतुल्यं भवति। हि यतो देहयात्रादिसम्पादनाय तैर्भक्त्या स परिक्रीयते। *"तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च। विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः"* इत्यादि स्मृतेः। यजमानेनापि साङ्गाय कर्मणे दक्षिणया ऋत्विजः परिक्रीयन्ते। औडुलोमेरस्य निर्गुणात्मवादित्वाद्भक्तिरिति रिक्ता भणितिः। तस्मान्निरपेक्षाः श्रेष्ठाः॥ ४५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें प्रयुक्त 'इति' शब्द सादृश्य अर्थमें है अर्थात् स्वामी सर्वेश्वर श्रीहरिका निरपेक्ष स्वभक्तोंका भरण ऋत्विक कर्मके समान है क्योंकि देहयात्रा इत्यादि सम्पादन हेतु निरपेक्ष भक्तगण भक्ति द्वारा उन्हें क्रय कर (खरीद) लेते हैं। इस विषयमें स्मृति-वाक्य (विष्णुधर्म वचन और गौतमीय-तन्त्र-वाक्य) है यथा— *'तुलसी*

दलमात्रेणेत्यादि' अर्थात् भक्त-प्रदत्त सामान्य तुलसी पत्र और गण्डूष (चुल्लू) भर जलके विनियममें (बदलेमें) भक्तवत्सल श्रीहरि भक्तोंके निकट आत्म प्रदान कर देते हैं अर्थात् अपने-आपको बेच देते हैं। यज्ञकर्ममें भी देखा जाता है कि यजमान भी अङ्ग-समन्वित कर्माचरणके विनिमयमें दक्षिणा द्वारा ऋत्विकगणोंको क्रय कर लेता है। औडुलोमि मुनि निर्गुणात्मवादी होनेके कारण भक्तिको 'रिक्त' शब्दसे अभिहित करते हैं अर्थात् निष्फल—हरिकी हितैषितारूप भक्त-व्यवहारको वे शून्य कहते हैं। अतएव निरपेक्ष भक्त ही श्रेष्ठ हैं—क्योंकि देहयात्राके निर्वाहकी इच्छाका भी परित्याग करके वे एकमात्र श्रीहरिमें निरत रहते हैं॥ ४५॥

सूक्ष्मा-टीका—आर्त्विज्यमिति। हीति। तैर्निरपेक्षैः। स स्वामी हरिः। परिक्रीयते मूल्येन नीयते। तुलसीति विष्णुधर्मे। भक्तिरिति। रिक्तेति। हर्येकहितैषितारूप-भक्तव्यवहारशून्येत्यर्थः। तस्मादिति। देहनिर्वाहेच्छाया अपि परित्यागेन हर्येक-निरतत्वादित्यर्थः॥ ४५॥

सूक्ष्मा-सार—*'आर्त्विज्यमित्यादि'* सूत्रमें। 'हि'—क्योंकि *'तैर्भक्त्या इति'* में 'तैः' का अर्थ है—वे निरपेक्ष भक्तगण *'सः परिक्रीयते'*—स्वामी श्रीहरिको परिक्रीयते—भक्ति द्वारा अपने वशमें करते हैं। *'तुलसीदल-मात्रेणेत्यादि'* श्लोक विष्णुधर्मोत्तर ग्रन्थका है। *'रिक्ता भणितिः इति'* में 'रिक्त'—अर्थात् श्रीहरिके मात्र हितैषितारूप भक्त-व्यवहारसे शून्य। 'तस्मात्' इति—देहयात्रा निर्वाहकी इच्छाके भी परित्यागके कारण निरपेक्ष भक्तगण एकमात्र श्रीहरिकी सेवामें निरत रहते हैं। अतएव वे श्रेष्ठ हैं॥ ४५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—निरपेक्ष भक्तोंका पालनकर्त्तृत्व श्रीभगवान्का एकान्त धर्म है। यह स्पष्ट करके समझानेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि ऋत्विक्के कर्मके समान ही श्रीभगवान्का भक्तोंका भरण (पालन-पोषण) है। कारण यह है भक्तगण भक्ति द्वारा भगवान्को उसी प्रकार खरीद लेते हैं, जिस प्रकार दक्षिणाके विनिमयमें ऋत्विक् यजमानके निकट आत्म-विक्रय कर देते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें देखा जाता है—

कृष्णके तुलसी-जल देय येइ जन।
तार ऋण शोधिते कृष्ण करेन चिन्तन॥
जल-तुलसीर सम किछु घरे नाहि धन।
तब आत्मा बेचि करे ऋणेर शोधन॥
(चै॰च॰आ॰ ३/१०४-१०६)

अर्थात् जो व्यक्ति श्रीकृष्णको तुलसी-जल अर्पण करता है, उसका ऋण चुकानेके लिए श्रीकृष्ण विचार करते हैं कि जल-तुलसीके समान घरमें अर्थात् मेरे पास कुछ भी धन नहीं है, इसलिए श्रीकृष्ण अपनेको ही बेचकर ऋण चुकाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्ज्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा॰ १०/३२/२२)

अर्थात् मेरी प्यारी गोपियो! तुमलोगोंने मेरे लिए घर-गृहस्थरूप बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिसे बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह आत्मसंयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेम, त्याग और सेवाका बदला चुकाना चाहूँ, तो भी नहीं चुका सकता; मैं जन्म-जन्मके लिए तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य-स्वभावसे, प्रेमसे मुझे उऋण कर सकती हो, किन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ और रहूँगा।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
(श्रीमद्भा॰ ९/४/६४)

अर्थात् हे ब्रह्मन्! जिनका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ, उन साधु-स्वभाववाले भक्तोंके अतिरिक्त मैं न तो स्वयंको चाहता हूँ और न ही अपनी उन लक्ष्मीजीको, जिनका कभी भी विनाश नहीं होता।

इनके अतिरिक्त—

ये दारागारपुत्राप्त-प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ९/४/६५-६८)

अर्थात् जो भक्त घर, पत्नी, पुत्र, भाई-बन्धु, धन, प्राण, इहलोक और परलोक आदि सबका परित्यागकरके एकमात्र मेरी शरणमें आ गये हैं, मैं उन्हें किस प्रकार छोड़ सकता हूँ। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार अपने पातिव्रत्य-धर्मसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार सदा मुझमें अनुरक्त रहनेवाले समदर्शी साधुजन अपनी प्रेममयी भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। मेरे अनन्यभक्त मेरी सेवासे ही परम सन्तुष्ट रहते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप सालोक्य आदि मुक्तियाँ उनके सामने स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं, तथापि वे उन्हें स्वीकार नहीं करते, फिर कालकी प्रेरणासे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंके विषयमें तो कहना ही क्या है। मेरे प्रेमीभक्त मेरा हृदय हैं और मैं उन प्रेमीभक्तोंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते और मैं उन्हें छोड़कर कुछ भी नहीं जानता।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

सर्वोत्तम भजन एइ सर्वभक्ति जिनि।
अतएव कृष्ण कहे—आमि तोमार ऋणी॥
(चै०च०अ० ७/४२)

अर्थात् व्रजगोपियोंका मधुर भावसे प्रेम अन्य समस्त प्रकारकी भावभक्तिसे श्रेष्ठ है। इसीलिए श्रीकृष्णने इन व्रजाङ्गनाओंसे कहा था कि—मैं तुम्हारा ऋणी हूँ।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी पाया जाता है—

शेष, रमा, अज, भव निजदेह इहते।
वैष्णव कृष्णेर प्रिय—कहे भागवते॥
(चै॰च॰अ॰ ४/३५८)

अर्थात् श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि शेष, रमा, अज, भव और निज देहसे भी वैष्णवगण कृष्णके प्रिय हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'सत्र यागेषु ऋत्विजानामपि फलदर्शनादल्पं फलं प्रजानामपि भवतीत्यौडुलोमिर्मन्यते तदर्थं देवैः क्रियमाणत्वात्।'

अर्थात् पूर्व सूत्रमें आत्रेयके मतके विवरणमें देवताओंको फल प्रतिपन्न हुआ था किन्तु अब देखा जा रहा है कि देवताओंको ही फल होता हो, ऐसा नहीं है, प्रजाओंका भी फल–दर्शन है। अस्वामी होनेके कारण उनका फलाभाव नहीं है जिस प्रकार सत्रयागादिमें यजमान और ऋत्विकादिका यज्ञफल होता है, उसी प्रकार प्रजाके अस्वामी होनेपर भी उनका ज्ञानफल सम्भव है। इस आशङ्कापर औडुलोमिके मतका प्रदर्शन करके कहते हैं कि सत्रयागादिमें यजमानका फल चाहे दिखायी दे किन्तु वह सम्पूर्ण फल नहीं होता। अतएव सत्रयाग दृष्टान्तमें प्रजाओंका ज्ञानफल स्वीकृत नहीं हो सकता। देवता प्रजाके लिए ही इस ज्ञानादिका सम्पादन करते हैं। अन्यान्य श्रुतिप्रमाणोंसे भी यही प्रतिपन्न होता है कि प्रजाके लिए देवतागण कार्य करते हैं और देवगण ही स्वामी हैं॥ ४५॥

सूत्र—श्रुतेश्च॥ ४६॥

सूत्रार्थ—'च' और 'श्रुतेः' श्रुतिसे भी कर्मका फल यजमानगत देखा जाता है॥ ४६॥

सूत्रानुवाद—स्मृतिमें भी देखा जाता है कि ऋत्विक द्वारा अनुष्ठित कर्म फल यजमानगामी होता है। यजमान दक्षिणासे ऋत्विकको वशीभूत कर लेता है॥ ४६॥

गोविन्दभाष्य—*"यां वै काञ्चन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति होवाचेति तस्मादु हैवंविदुद्गतो ब्रूयात् कं ते काममागायनि"* (छा॰ १/७/९) इति

ऋत्विक्सम्पादितस्य कर्मणः यजमानगामि फलं दर्शयति। तस्माद्भगवतः स्वभक्तभरणम् ऋत्विजो यजमानभरणसदृशं भवतीतिभावः॥ ४६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ऋत्विकगण यज्ञमें जो कुछ भी कामना करते हैं, वह यजमानगत है, अर्थात् यजमानको प्राप्त होती है यह कहा जाता है। इस प्रकार श्रुतिज्ञ (श्रुतिको जाननेवाला) एक जन ऋत्विक् (उद्गाता) उनके बीचसे उठकर कहे—अहे यजमान! मैं तुम्हारे लिए किन काम्य वस्तुओंका उद्गान अर्थात् सम्पादन करूँ? इसमें दिखाया जा रहा है कि ऋत्विक-सम्पादित कर्मका फल यजमानगामी होता है। अतएव भगवान्का स्वभक्त-भरण ऋत्विकके यजमान-भरणके समान होता है। यही सिद्धान्त है॥ ४६॥

सूक्ष्मा-टीका—इतश्चोपास्तीनाम् ऋत्विक्कर्त्तृत्वं यजमानगामिफलत्वं चेत्याह श्रुतेश्चेति। उत्सर्गतः श्रुतिलिङ्गैश्च सिद्धमर्थमुपसंहरति तस्मादिति॥ ४६॥

सूक्ष्मा-सार—इससे ज्ञात होता है कि उपासनाओंका कर्त्तृत्व ऋत्विकगणोंका है एवं उसका फल यजमानगामी है, (यजमानको प्राप्त होता है) *'यां काञ्चन'* इत्यादि श्रुति यही कहती है। इस प्रकारसे सामान्य-विधिके हिसाबसे (नियमसे) एवं *'तस्मात् भगवतः स्वभक्त भरणमित्यादि'*—इस श्रुतिरूप ज्ञापक-वाक्य द्वारा सिद्ध अर्थका उपसंहार करते हैं॥ ४६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें श्रुति-प्रमाण दिखा रहे हैं कि छान्दोग्य-श्रुतिमें पाया जाता है—*'कं ते काममागायानि'* इति (छा॰ १/७/९) अर्थात् ऋत्विक् यजमानसे जिज्ञासा करे कि तुम्हारी किस काम्य वस्तुका सम्पादन (स्तवन) करूँ? यही बतलाते हैं—ऋत्विक् सम्पादित कर्मका फल यजमानको प्राप्त होता है। यजमानकी दक्षिणासे वशीभूत होकर ऋत्विक् जिस प्रकार कार्यका सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार भक्तकी भक्तिसे वशीभूत होकर श्रीभगवान् स्वभक्तोंका भरण-पोषण करते हैं।

पूर्व सूत्रमें उल्लिखित श्रीमद्भागवत्के श्लोकसमूहको इस स्थलपर भी देखना चाहिये॥ ४६॥

अवतरणिका भाष्य—अथैषां विद्याप्त्यनन्तरमनुष्ठानं दर्शयति। *"तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त"* (बृ॰आ॰ ४/४/२३) इत्यादि *"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"* (बृ॰आ॰ २/४/५) इत्यादि च श्रूयते। अत्र शमादीनि ध्यानान्तानि ब्रह्मलिप्सोरनुष्ठेयान्युच्यन्ते। किमेतानि सर्वाणि निरपेक्षेणानुष्ठेयान्युत तत्स्वरूपगुणचरितानि स्मर्त्तव्यानीति सन्देहे सञ्जातपि विद्या शमादीन् विना स्थैर्यं नोपगच्छेदतस्तानि चानुष्ठेयानीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद निरपेक्ष भक्तोंमें विद्या-प्राप्तिके परवर्त्ती कर्त्तव्य अनुष्ठानका निर्णय करते हैं। श्रुति है—*'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितोभूत्वेत्यादि'* (बृ॰आ॰ ४/४/२३) तथा *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः'* (बृ॰आ॰ २/४/५) (अर्थात् इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और श्रद्धान्वित होकर इत्यादि और यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है) इत्यादि श्रुतियोंमें शमादिसे आरम्भ करके ध्यान पर्यन्त सहकारी साधन ब्रह्म-प्राप्तिके इच्छुकोंके लिए अनुष्ठेय बतलाये गये हैं। इसमें संशय यह है कि निरपेक्ष भक्तों द्वारा क्या ये समस्त साधन अनुष्ठेय हैं? अथवा उनके लिए ब्रह्मके स्वरूप, गुण एवं चरित स्मरणीय हैं। इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि विद्या उत्पन्न होनेपर भी जब शम इत्यादिके बिना स्थिरता प्राप्त नहीं होती, तब ये शमादि भी अनुष्ठेय हैं। इस मतपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—निरपेक्षाणां देहयात्रानादरेण हर्येकनिरतिरुक्ता तामाश्रित्य तदनुभावभूता तत्स्वरूपगुणचरितानुस्मृतिवर्ण्यत इत्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। अथैषामित्यादि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—निरपेक्ष भक्तोंकी देहयात्राका अनादर करते हुए श्रीहरिमें ही एकमात्र रति कही गयी है—उसीका आश्रय करके उस रतिका अनुभावस्वरूप, श्रीहरिका स्वरूप, गुण, चरित एवं अनुस्मरण अब वर्णन किये जाते हैं। अतएव इस अधिकरणमें आश्रयाश्रयिभाव नामक सङ्गति जाननी चाहिये—*'अथैषांमित्यादि'*—अब इसके अनन्तर—

सहकार्यान्तरविध्यधिकरणम्

सूत्र—सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्॥ ४७॥

सूत्रार्थ—'सहकार्यन्तरविधिः' इस श्रुतिमें जो शमादि अन्य सहकारी साधन कहे गये हैं, 'पक्षेण'—ये शमादि अनुष्ठान साश्रम पक्षके द्वारा ग्राह्य हैं, निराश्रमके लिए विहित नहीं किन्तु भगवत्-स्वरूप, गुण, चरित इत्यादि स्मरणीय हैं, यही कहते है—तृतीयं कायिक वाचिक नहीं, तृतीय अर्थात् मानसिक ही अनुष्ठेय हैं। दृष्टान्त यह है कि 'तद्वतो विध्यादिवत्' आश्रमी ब्रह्मविद् व्यक्तिको जिसप्रकार सन्धयोपासनादि कार्य अवश्य करने चाहिये—इसी प्रकार॥ ४७॥

सूत्रानुवाद—शमादि जो सहकारी साधन रूपमें वर्णित हुए हैं तो साश्रम पक्षमें ही उनकी विधि ग्राह्य है, निराश्रमोंके पक्षमें ऐसा कोई विधान नहीं है, उनके लिए मानसिक अनुष्ठान निर्देशित है यथा आश्रमी ब्रह्मविद्को सन्ध्योपासना अवश्य करना चाहिये॥ ४७॥

गोविन्दभाष्य—इह सहकार्यन्तराणि शमादीन्यभिधीयन्ते यज्ञादीनां शमादीनाञ्च विद्यासहकारित्वेन पूर्वं निरूपणात्। तेषां विधिः साश्रमपक्षेण ग्राह्योऽपूर्वत्वात् न तु निराश्रमपक्षेण तत्र स्वतःसिद्धेः। किन्तु तत्स्वरूपादीनि तेन स्मर्त्तव्यानीति। तदिदमाह तृतीयं तद्वत इति। तत्प्रसादमात्रकामवतो निरपेक्षस्य तृतीयं मानसिकमेवानुष्ठेयं *'मनसैवेदमाप्तव्यमिति'* श्रुतेः (कठ॰ २/१/११)। कायिकवाचिकयोः श्रवण मननयोर्वापेक्षया मानसिकं ध्यानं तृतीयं भवति। आवश्यकत्वे दृष्टान्तो विध्यादिवदिति। यथा साश्रमस्य सन्ध्योपासनादिविधिरावश्यकस्तद्वत्। तस्मात् सञ्जातविद्येन निरपेक्षेण तत्स्वरूपादि विचिन्त्यमिति। न चास्य जपार्च्चनादिकं निवार्यते। ध्यानेनैव तस्यापि प्राप्तेः। तत्प्रधानत्वाद्वा तद्व्यपदेशः। तदेवं त्रेधा विद्याजुषः सानुष्ठितयो निरूपिताः॥ ४७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इन दोनो श्रुतियोंमें शम इत्यादि अन्य सहकारी साधन कहे गये हैं क्योंकि यज्ञादि और शमादिको विद्याकी प्राप्तिके विषयमें सहकारी रूपमें पहले ही निरूपित कर दिया गया था। यह शमादिकी विधि आश्रमी पक्ष द्वारा ग्राह्य है। क्योंकि ये शमादि उन्हें अप्राप्त है, अतएव अपूर्व (अज्ञात) विधि है और निराश्रम-पक्षमें यह विधि हो नहीं सकती क्योंकि यह उनके लिए स्वतःसिद्ध है किन्तु निरपेक्ष भक्तों द्वारा भगवान्के स्वरूप, गुणादि स्मरणीय हैं। इसी

बातको *'तृतीयं तद्वत'* इत्यादि वाक्य द्वारा कहते हैं—निरपेक्ष भक्त श्रीभगवान्के तत्प्रसाद अर्थात् अनुग्रह मात्रकी कामना करते हैं। उनके लिए तृतीय अर्थात् कायिक, वाचिककी अपेक्षा तृतीय-मानसिक आराधना ही अनुष्ठेय है, क्योंकि श्रुति है—*'मन सैवेदमाप्तव्यम्'* (कठ॰ २/१/११) (ये ब्रह्म मानसलभ्य हैं अर्थात् मनसे ही प्राप्त करने योग्य हैं) कायिक और वाचिक श्रवण-मननकी अपेक्षासे मानसिक ध्यान तृतीय स्थानपर है। इसकी अवश्य कर्त्तव्यताके विषयमें दृष्टान्त है—*'विध्यादिवत्'* जिस प्रकार साश्रमी अर्थात् आश्रमधारियोंकी सन्ध्योपासनादि विधि आवश्यक है, इसी प्रकारसे संजातविद्य (जिनमें विद्याका अभ्युदय हो गया है) निराश्रमके लिए भगवत्-स्वरूपादिका ध्यान एकान्त आवश्यक है। अतएव सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म विद्या उत्पन्न होनेके बाद निरपेक्ष भक्त श्रीभगवान्के स्वरूप, गुण एवं लीलादिका ध्यान करें। यह कहनेसे निराश्रमके मन्त्र-जप और पूजादिका (अर्चनादिका) निषेध नहीं किया गया है क्योंकि ध्यान द्वारा ये जप-पूजादि स्वतः प्राप्त हो जाते हैं अथवा मानसिक आराधना (ध्यान) ही प्रधान है इसलिए जपार्चनादिके लिए मानसिक संज्ञाका उल्लेख हुआ है। इस प्रकार इस समस्त प्रबन्धके द्वारा तीन प्रकारके ब्रह्मविद्याविदोंका अपने-अपने अनुष्ठानके साथ निरूपण हुआ है॥ ४७॥

सूक्ष्मा-टीका—सहकार्यन्तरविधिरिति। यज्ञादीनि शमादीनि च विद्यासहकारीणि पूर्वमुक्तानि। यज्ञादिभ्यः सहकारिभ्यः शमादीनि सहकारीण्यन्यानि भवन्त्यन्तरङ्गत्वादस्तानि सहकार्यन्तराणि कथ्यन्ते। तेषामिति। शमादीनां विधिः साश्रमैर्ग्राह्यः अत्यन्तमप्राप्तेः निराश्रमैस्तु स न ग्राह्यः तेषु तेषां स्वतः सिद्धेरित्यर्थः किस्त्विति। तेन निरपेक्षेण। तत्प्रसादेति। हरिमुखोल्लासरूपं प्रसादमिच्छत इत्यर्थः। तस्यापि जपार्च्चनादेरपि। तत्प्रधानत्वाद्वेति। बाह्येन्द्रियव्यापारेणापि जपार्च्चनादेर्निष्पत्तिः समित्पुष्प-कुशादानमित्यादि भरतस्य श्रवणमननयोरस्मरणादित्यर्थः। तत्रापि मानसिकत्व संक्रमात् तथा व्यपदेश इत्यर्थः॥ ४७॥

सूक्ष्मा-सार— *'सहकार्यन्तरविधिरित्यादि'* सूत्रमें। विद्या-प्राप्तिके पूर्वमें यज्ञादि और शमादि विद्याके सहकारी कहे गये हैं। यज्ञादि सहकारी साधनसे शमादि सहकारी साधन स्वतन्त्र हैं क्योंकि ये सब अन्तरङ्ग साधन हैं, इसलिए शमादिको अन्य सहकारी साधन कहा गया है।

'तेषां विधिः साश्रमपक्षेणेति' में 'तेषाम्' अर्थात् शमादिकी विधि आश्रमियोंके लिए ग्राह्य है क्योंकि उनके लिए शमादि अर्थात् अत्यन्त अप्राप्त हैं किन्तु निराश्रमियोंके लिए वह (अपूर्व) विधि ग्रहणीय नहीं है क्योंकि शमादि तो उनके स्वतः सिद्ध हैं *'तत्स्वरूपादीनि तेन स्मर्त्तव्यानि'* इतिमें 'तेन' का अर्थ है निराश्रम भक्तके द्वारा। *'तत्प्रसादमात्रकामवत'* इति—श्रीहरिका मुखोल्लासरूप प्रसाद वे चाहते हैं। *'तस्यापि तत्प्राप्तेः'* इतिमें 'तस्यापि' का अर्थ है जपार्चनादि भी ध्यान द्वारा प्राप्त हैं, इस कारण। *'तत्प्रधानत्वाद्वा'* इति में बाह्येन्द्रिय व्यापार द्वारा भी जप, अर्चन इत्यादिकी निष्पत्ति होती है, *'समितपुष्पकुशादानम्'* इत्यादि वाक्यमें भरतका श्रवण-मनन-स्मृत नहीं होता, इसलिए। इससे भी मानसिक व्यापार सञ्चारित होता है, इस कारण जपार्चनादिको मानसिक नामसे कहा गया है॥ ४७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब निरपेक्ष भक्तोंके लिए विद्योत्पतिके बाद क्या अनुष्ठेय है—उसीका वर्णन करते हैं। बृहदारण्यकमें पाया जाता है कि *'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतः'* (छा॰ ४/४/२३) (इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दाँत, उपरत इत्यादि)। इस स्थलपर संशय होता है कि पूर्वोक्त शम-दमादिसे आरम्भ करके ध्यान पर्यन्त सभी क्या निरपेक्ष भक्तों द्वारा अनुष्ठेय हैं अथवा उन्हें केवल श्रीभगवान्के स्वरूप, गुण चरितादिका स्मरण करना चाहिये। पूर्वपक्षी कहते हैं कि विद्या उत्पन्न होनेपर भी शम-दमादिके बिना उस विद्याकी स्थिरता जब नहीं होती तब ये (शमादि) सभी अनुष्ठेय हैं।

पूर्वपक्षीके इस प्रकारके मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि शम-दमादि साधन विद्या-प्राप्तिके पूर्व ही सहकारी रूपमें निरूपित हैं किन्तु इन्हें अपूर्व कहनेसे यह साश्रमीके पक्षमें ही विधि है। निरपेक्ष निराश्रमीकी विद्या-प्राप्तिके बाद यह विधि हो नहीं सकती क्योंकि निरपेक्ष भक्तोंके लिए शमदमादि पूर्व ही सिद्ध हैं। तब निरपेक्षोंके लिए श्रीभगवान्के स्वरूप-गण-लीलादि अवश्य ही स्मरणीय हैं, निरपेक्ष भक्तगण केवल भगवत्-प्रसादकी ही कामना करते हैं। अतः उनके लिए कायिक, वाचनिक और मानसिक अनुष्ठानोंमें मानसिक अनुष्ठान ही निर्दिष्ट है।

साश्रमाधिकारीके लिए जिस प्रकार सन्ध्योपासनादि अनुष्ठान आवश्यक हैं ब्रह्मविद् निरपेक्ष भक्तोंके लिए भी इस प्रकारसे श्रीभगवत्-स्वरूपादिका स्मरण एकान्त आवश्यक है। जपार्चनादिको अवश्य ही इस स्मरणके अन्तर्भूत समझना होगा अर्थात् ध्यानके द्वारा यह जपार्चनादि भी सिद्ध होगा। अर्चनादि समस्त साधनोंमें ध्यान ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ है—यह कहकर इस ध्यानका ही उल्लेख हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है-

सर्व्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्व्वतो मुक्तसंशयः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२९/१८)

अर्थात् इस प्रकार उपासना करनेवाले व्यक्तिका सर्वत्र ईश्वर-दृष्टिरूप विद्याके द्वारा समस्त प्राणियोंमें ब्रह्मदर्शनसे अशेष संशयोंका ध्वंस हो जाता है। तत्पश्चात् वे समस्त क्रियाओंसे निवृत्त हो जाते हैं।

ततस्तमन्तर्हृदि सन्निवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
ततः समास्थाय हरेरगाद्गतिम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२९/४७)

अर्थात् भगवान्के परमप्रेमी उद्धवजी हृदयमें उनकी दिव्य छवि धारण किये बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँ उन्होंने तपोमय जीवन व्यतीत करके एकमात्र हितैषी भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशानुसार उनकी स्वरूपभूत परमगति प्राप्त की।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/२९/९-१०)

अर्थात् घरमें अवरुद्ध कोई-कोई गोपी बाहर नहीं जा सकनेके कारण अपने नेत्रोंको बन्दकर श्रीकृष्णका ध्यान करने लगी। प्रियतमके

विरहके कारण असहनीय दुःख और तीव्र तापके द्वारा गोपियोंका अशुभ नष्ट हुआ और ध्यान योगमें श्रीअच्युतका आलिङ्गन प्राप्त कर उन्हें परमानन्द हुआ। उससे उनकी पुण्यराशि भी क्षय हो गयी।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी पाया जाता है—

एक सत्य करियाछ आपन वदने।
ये जन तोमार करे चरण स्मरणे॥

कीट तुल्य हय यदि तारे नाहि छाड़।
इहाते अन्यथा हइले नरेन्द्रेरे पाड़॥

एइ बल नाहि मोर-स्मरण विहीन।
स्मरण करिले मात्र राख तुमि दीन॥

सभामध्ये द्रौपदी करिते विवसन।
आनिल पापिष्ठ दुर्योधन-दुःशासन॥

सङ्कटे पड़िया कृष्णा तोमा सङरिला।
स्मरण-प्रभावे तुमि वस्त्रे प्रवेशिला॥

स्मरण-प्रभावे वस्त्र हइल अनन्त।
तथापिह ना जानिल से सब दुरन्त॥

कोनकाले पार्वतीरे डाकिनीर गणे।
बड़िया खाइते कैल तोमार स्मरणे॥

स्मरण प्रभावे तुमि आविर्भूत हञा।
करिला सबार शास्ति वैष्णवी तारिया॥

हेन तोमा स्मरण-विहीन मुञि पाप।
मोरे तोर चरणे शरण देह बाप॥

विष, सर्प, अग्नि, जले, पाथरे बांधिया।
फेलिल प्रह्लादे दुष्ट हिरण्य धरिया॥

प्रह्लाद करिल तोर चरण-स्मरण।
स्मरण-प्रभावे सर्व दुःख विमोचन॥

का'रो वा भाङ्गिल दन्त, का'रो तेजो नाश।
स्मरण-प्रभावे तुमि हइला प्रकाश॥

पाण्डुपुत्र सङरिल दुर्वासार भये।
अरण्ये प्रत्यक्ष हैला हइया सदये॥
चिन्ता नाहि युधिष्ठिर,—हेर देख आमि।
आमि दिब मुनिभिक्षा, बसि थाक तुमि॥
अवशेष एक शाक आछिल हाँड़िते।
सन्तोषे खाइला निज सेवक राखिते॥
स्नाने सब ऋषिर उदर महाफुले।
सेइ मत सब ऋषि पलाइल भरे॥
स्मरण-प्रभावे पाण्डुपुत्रेर मोचन।
ए-सब कौतुक तोर स्मरणकारण॥
अखण्ड स्मरण-धर्म इहा सबाकार।
तेञि चित्र नहे, इहा सबार उद्धार॥
अजामिल स्मरणेर महिमा अपार।
सर्वधर्महीन ताहा बइ नाहि आर॥
दूत भये पुत्रस्नेहे देखि पुत्रमुख।
सङरिल पुत्रनामे नारायणरूप॥
सेइ स्मरणे सब खाण्डिल आपद।
तेञि चित्र नहे भक्त-स्मरण सम्पद॥

(चै०भा०म० १०/६१-८१)

अर्थात् नामाचार्य श्रीहरिदासने श्रीमन्महाप्रभुसे कहा—हे प्रभु। आपने अपने मुखसे एक सङ्कल्प किया है कि जो आपके श्रीचरणकमलोंका स्मरण करता है, वह यदि कीटके समान भी हो तो भी आप उसे त्यागते नहीं हैं, और यदि विपरीत हो, तब राजाको भी आप दण्डित करते हैं। यह (आपके चरणोंके स्मरणकी) शक्ति मुझमें नहीं है मैं आपका स्मरण नहीं कर पाता हूँ, परन्तु कोई दीन व्यक्ति आपका स्मरण करे, तो आप उसकी रक्षा अवश्य करते हैं। सभाके बीच द्रौपदीको विवसन (निर्वस्त्र) करनेके लिए पापिष्ठ दुर्योधनने दुःशासनको बुलाया। सङ्कटमें पड़ी कृष्णा (द्रौपद्री) ने जब आपका स्मरण किया तब उस स्मरणके प्रभावसे आप स्वयं वस्त्रमें प्रवेश कर गये।

स्मरणके प्रभावसे द्रौपदी का वस्त्र अनन्त हो गया तथापि वे सब दुष्ट (कौरव) नहीं जान पाये।

किसी समय पार्वतीको डाकिनियोंने घेर लिया और उनका भक्षण करना चाहा। तब पार्वतीने आपका स्मरण किया। उस स्मरणके प्रभावसे आप आविर्भूत हुए और उन सबको शासित करके आपने उन वैष्णवीकी रक्षा की। ऐसे महामहिम आपका स्मरण मुझ जैसा पापी नहीं कर पाता है। हे प्रभु! मुझे अपने चरणकमलोंमें शरण दीजिये। प्रभु! दुष्ट हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको विष प्रदान किया, सर्पसे दंशन करवाया अग्निमें डाल दिया और पत्थर बाँधकर पानीमें फेंक दिया। प्रह्लादने आपके चरणोंका स्मरण किया। स्मरणके प्रभावसे प्रह्लादके सभी दुःख दूर हुए। किसी अत्याचारीके दाँत टूटे तो किसीका तेज विनष्ट हुआ। स्मरणके प्रभावसे ही आप प्रकाशित हुए। दुर्वासासे भयभीत होकर पाण्डुके पुत्रोंने आपका स्मरण किया। आपने दयावान होकर अरण्य (वन) में उन्हें दर्शन दिये। आपने युधिष्ठिरसे कहा, 'चिन्ता मत करो, देखो। मैं आ गया हूँ। मैं मुनिको भिक्षा दूँगा, तुम बैठे रहो।' हाँड़ीमें अवशिष्ट एक शाक-पात था। अपने सेवककी रक्षाके लिए आपने इधर उस (शाक-पात) का सन्तोषपूर्वक भोजन किया, तो उधर स्नानरत मुनियोंके पेट बहुत फूल गये। उसी अवस्थामें सभी ऋषि डरके मारे भाग गये। स्मरणके प्रभावसे पाण्डुके पुत्रोंको सङ्कटसे त्राण मिला। ये सब कौतुक आपके स्मरणके कारण सम्भव हुए। निरन्तर (अखण्ड) स्मरण ही इन सब भक्तोंका धर्म है। इसलिए इन सबका उद्धार हो जानेमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अजामिल द्वारा किये गये स्मरणकी महिमा अपार है। यद्यपि अजामिल जैसा अधार्मिक दूसरा नहीं है। यमदूतोंको देखकर अजामिल घबरा गया और पुत्र स्नेहवश पुत्रके मुखकी ओर देखते हुए पुत्रके नामके बहानेसे 'नारायण' का स्मरण किया। उस स्मरणके प्रभावसे उसकी सभी विपत्तियाँ दूर हो गयीं। इसलिए भक्तोंकी स्मरण-सम्पतिपर विस्मित होनेका कोई कारण नहीं है॥ ४७॥

अवतरणिका भाष्य—सनिष्ठादिषु त्रिषु विद्याभाक्त्वं निर्णीतम्। तस्य स्थैर्यायारम्भः। छान्दोग्यान्ते श्रूयते। *"आचार्यकुलात् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः*

कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य अहिंसन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः। स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते" इति। अत्र गार्हस्थ्येनोपसंहारात् तदितरेषु विद्या न भवतीति प्रतीयते। क्वचित् क्वचित् त्यागोक्तिस्तु स्तुतिपरतया नेया। ईदृशं ब्रह्म यदर्थं सर्वं त्याज्यमिति। गृहस्थस्यैव यथोक्तानुष्ठातुर्ब्रह्मसम्पत्तिरित्युपसंहारस्य तात्पर्यग्राहकत्वादित्येवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सनिष्ठ, परिनिष्ठित एवं निरपेक्ष—इन त्रिविध साधकोंकी विद्या-प्राप्ति निर्णीत हुई। इस समय इस विद्या-भागित्वकी स्थिरताके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है। छान्दोग्योपनिषदके शेष (अन्तिम) भागमें श्रुत होता है—*'आचार्यकुलादवेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्माति शेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहि सन्सर्व भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तन्यन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते'* (छा॰ ८/१५/१) अर्थात् गुरुगृहमें जाकर वहाँ उपनयन संस्कारसे संस्कृत होकर गुरु-सेवा-शुश्रूषा कर्ममें रत रहे, अवशिष्ट कालमें पवित्र-पाणि होकर पूर्वकी ओर मुख करके उपवेशन इत्यादि विधियोंके अनुसार वेदका (निज शाखाका) अध्ययन करे, तत्पश्चात् (ब्रह्मचर्यादि) व्रतका विसर्जन करके गृहस्थाश्रममें रहे, पवित्र स्थानपर वेद-अध्ययन और विहित कर्मोंका यथाशक्ति अनुष्ठान करें, धार्मिक पुत्रादिको उत्पन्न करके श्रीहरिमें समस्त इन्द्रियोंका स्थापन अर्थात् इन्द्रियोंको तत्प्रवण (हरिप्रवण) करके यज्ञसे अतिरिक्त अन्य कार्योंमें जीवहिंसाका वर्जन करे। जीवन पर्यन्त इस प्रकार रहनेसे वैकुण्ठकी प्राप्ति होगी और तब वहाँसे इस संसारमें प्रत्यावर्त्तन नहीं करना पड़ता। इस श्रुतिके उपसंहारमें गृहस्थाश्रमका वर्णन होनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य तीन आश्रमोंमें विद्या सम्भव नहीं है। किसी-किसी श्रुतिमें गार्हस्थ्य-त्यागकी उक्ति कहे जानेपर भी इस गार्हस्थ्य-त्यागका तात्पर्य प्रशंसात्मक (स्तुतिपरक) अर्थवादमें जानना चाहिये अर्थात् ब्रह्म ऐसी वस्तु हैं कि जिनके लिए सब त्याग करना होता है क्योंकि उपसंहारका तात्पर्य है—गृहस्थ यथा-विहित धर्मका अनुष्ठान करनेपर ही ब्रह्मसम्पत्तिकी प्राप्ति करता है, यही विदीत होता

है। इस प्रकार पूर्वपक्षके मतका प्रतिविधान (प्रत्युत्तर) करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—निरपेक्षाः प्रकृष्टविद्या इत्युक्तं प्राक् तन्न युक्तं छान्दोग्यान्ते गृहाश्रमिण एव यथोक्तधर्मानुष्ठायिनो विद्यातत्फललाभवर्णनेन तदन्येषां तल्लाभो नेत्यवगमादित्याक्षिप्य समाधेराक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। सनिष्ठादिश्विति। तस्येति विद्यासम्भवस्य। आचार्येति। आचार्यकुलात् गुरुगृहात् तदुपेत्येत्यर्थः। तत्रोपनीतो भूत्वा तदनन्तरं गुरोः शुश्रुषणरूपं कर्म कृत्वा अतिशेषेणावशिष्ठेन कालेन यथाविधानं पवित्रपाणित्वप्राङ्मुखत्वादिविधिमनतिक्रम्य वेदमधीत्य ततोऽभिसमावृत्य व्रतविसर्ज्जनं कृत्वा कुटुम्बे गृहाश्रमे स्थितः शुचौ पवित्रे देशे स्वाध्यायं वेदमधीयानो विहितानि कर्माणि च यथाशक्त्यनुतिष्ठन् धार्मिकान् पुत्रानुत्पादयन् सर्वेन्द्रियाण्यात्मनि हरौ संप्रतिष्ठाप्य तत्प्रवणानि कृत्वा तीर्थेभ्यो यज्ञेभ्योऽन्यत्र सर्वाणि भूतान्यहिंसन् यावदायुषमेवं वर्त्तमानो ब्रह्मलोकं वैकुण्ठेमभिसम्पद्य ततः पुनर्नावर्त्तते विमुक्तो भवतीति। अत्रेति। उपसंहारात् फलोपलम्भपर्यन्तवर्णनादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया कि निरपेक्ष भक्तगण प्रकृष्ट विद्यासम्पन्न हैं किन्तु यह तो युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि छान्दोग्योपनिषदके अन्तिम भागमें यथाविहीत आश्रम-धर्मानुष्ठायी गृहाश्रमीकी ही विद्या एवं विद्याफल-प्राप्तिका वर्णन किया गया है, इसके द्वारा जाना जाता है कि अन्य आश्रमीको वह प्राप्त नहीं होता, यह आक्षेप करके उसके समाधानके हेतु इस अधिकरणमें आक्षेप नामक सङ्गति है। *'सनिष्ठादिषु त्रिषु'* इत्यादि में *'तस्य स्थैर्यायेति'* में 'तस्य' का अर्थ है—विद्योत्पत्तिका। *'आचार्यकुलाद्वेदमधीतेत्यादि'* में *'आचार्यकुलात्'*—गुरुगृहसे अर्थात् गुरुगृहमें जाकर, वहाँ उपनीत होकर उसके पश्चात् गुरु-शुश्रूषारूप कर्म करके, अतिशेषेण—अवशिष्टकालमें यथाविधान अर्थात् पवित्रपाणित्व, पूर्वाभिमुखत्व इत्यादि विधियोंका अतिक्रमण न करके वेदाध्ययन करते हुए गुरुगृहसे समावर्त्तन करे, बादमें व्रत त्याग करके गृहस्थाश्रममें रहकर पवित्र स्थानपर वेद अध्ययन एवं विहित कर्मोंका यथाशक्ति अनुष्ठान करते हुए धार्मिक पुत्र उत्पन्न करे, समस्त इन्द्रियाँ श्रीहरिमें नियोजित करके अर्थात् तत्प्रवण करके यज्ञके अतिरिक्त अन्य किसी कर्ममें समस्त प्राणियोंकी हिंसा वर्जनीय है, इस प्रकारके कर्मोंमें आयुकाल-समाप्ति पर्यन्त रत

रहनेसे वैकुण्ठधाम प्राप्त होता है और वहाँ-से प्रत्यावर्त्तन नहीं करता अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस श्रुति-वाक्यमें *'गार्हस्थ्येनोपसंहारात्'* अर्थात् गार्हस्थ्य धर्म द्वारा फल-प्राप्ति पर्यन्त वर्णनके हेतुसे।

कृत्स्नभावाधिकरणम्

सूत्र—कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः॥ ४८॥

सूत्रार्थ—'तु'—नहीं, आप जो कह रहे है ऐसा नहीं है, गृहिणोपसंहारः—तब जो गृहस्थश्रमके द्वारा उपसंहार किया गया है, उसका अभिप्राय यह नही है कि यथोक्त (वेद-विहित) कार्य करनेवाले गृहस्थकी ही मुक्ति होती है किन्तु, कृत्स्नभावात्—गार्हस्थ्यश्रममें समस्त आश्रम-धर्म करणीय रूपमें विहित हैं—इसलिए उसके द्वारा उपसंहार किया गया है॥ ४८॥

सूत्रानुवाद—गार्हस्थ्य-धर्मका यथायथ अनुष्ठान करनेसे मुक्ति होती है, ऐसा नहीं है किन्तु गृहस्थ-धर्ममें ही समस्त धर्मोंका समावेश है, इसलिए उससे उपसंहार किया गया है॥ ४८॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। गृहस्थेनोपसंहारः तस्यैव यथोक्तकर्त्तुर्मुक्तिरित्यभिप्रैतीति नार्थः किन्तु कृत्स्नभावादेव तेन सः। गृहस्थं प्रति बहुलायासा बहवः स्वाश्रमधर्माः कार्यत्वेनोपदिष्टाः। आश्रमान्तरधर्माश्च यथायथमहिंसेन्द्रियसंयमादयः। ततश्च कृत्स्नानां धर्माणां तत्र सत्त्वात् तेनासौ न विरुध्यते इति। तथाच स्मृतिः। *"भिक्षाभुजश्च ये केचित् परिव्राड्ब्रह्मचारिणः। तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्"* इत्याद्या॥ ४८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निराकरणके लिए प्रयुक्त है। गृहिणोपसंहारः इस बातसे यह अभिप्राय प्रकट हो रहा है कि यथोक्त धर्मानुष्ठान करनेपर गृहीकी मुक्ति होती है, यह अर्थ नहीं है किन्तु गार्हस्थ्याश्रममें ही समस्त आश्रम है इस धर्म-बाहुल्यके कारण ही गृहस्थ द्वारा ही उपसंहार किया है। गृहस्थको लक्ष्य करके बहुत-से आयासोंसे परिपूर्ण बहुत परिमाणमें आश्रम-धर्मोंका कर्त्तव्य रूपमें उपदेश किया है। इनके अतिरिक्त अन्य आश्रमोंके भी जो अहिंसा, इन्द्रिय-संयमादि यथायथ रूपसे धर्म हैं, वे गृहस्थाश्रममें विहित हैं। अतएव समस्त धर्म ही गृहस्थमें रहनेके कारण यह उपसंहार

विरुद्ध नहीं है। स्मृति-वाक्य भी इस प्रकारसे कहते है यथा-भिक्षाभुजश्च ये केचिदित्यादि, (विष्णुपुराण) अर्थात् ये जो कतिपय आश्रमी हैं जिस प्रकार परिव्राजक, बह्मचारी, इत्यादि भिक्षाजीवी—ये भी इसी गृहस्थके ऊपर निर्भर करके स्थिति प्राप्त करते हैं, अतएव गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठ आश्रम है। 'इत्यादि' स्मृतिसे तात्पर्य है कि मनुस्मृतिके वाक्य भी ग्राह्य हैं यथा—*'सर्वेषामेव चेतेषाम्'* इत्यादि॥ ४८॥

सूक्ष्मा-टीका—कृत्स्नभावादिति। धर्मबाहुल्यादित्यर्थः। तत्रेति गृहस्थे। तेन गृहस्थेन। असावुपसंहारः। भिक्षेति श्रीवैष्णवे। अत्रैव गार्हस्थ्ये। आद्यशब्दान्मनुवाक्यञ्च ग्राह्यम्। सर्वेषामेव चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् विभर्त्ति हि। *"यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्"* मनुस्मृति (६/९०) इति॥ ४८॥

सूक्ष्मा-सार— *'कृत्स्नभावाद् गृहिणोपसंहारः'* इस सूत्रमें 'कृत्स्नभावात्'— 'धर्मबाहुल्यवशतः'—यह अर्थ है। *'कृतस्नानां धर्माणां तत्र सत्वात् तेनासौ न विरुध्यते'* इतिमें 'तत्र' का अर्थ है गृहस्थमें, 'तेन' का अर्थ है—गृहस्थ द्वारा, 'असौ'—यह उपसंहार विरुद्ध नहीं हो रहा है। *'भिक्षाभुजश्च ये केचिद्'* इत्यादि श्लोक विष्णुपुराणीय है। *'अत्रैव प्रतिष्ठन्ते इति'* में 'अत्रैव' का अर्थ है—इस गार्हस्थ्यमें ही। इत्याद्या इति आद्यपदमें मनु-वाक्य भी ग्रहणीय है यथा *'सर्वेषामेव चैतेषाम्'* (मनुस्मृति ६/८९) इत्यादि इन समस्त आश्रमियोंमें वेद एवं स्मृति विधानके अनुसार गृहस्थ ही श्रेष्ठ है क्योंकि यह गृहस्थ ही अन्य तीन (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी) आश्रमियोंकी रक्षा अर्थात् भरण करता है, जिस प्रकार नदी-नद-समुदाय समुद्रमें ही स्थिति अर्थात् आश्रय प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमी गृहस्थाश्रमपर ही निर्भर करते हैं॥ ४८॥

गोविन्दतोषणीवृति—अब यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि छान्दोग्योपनिषदमें पाया जाता है कि *'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य न च पुनरावर्तते।'* (छा॰ ८/१५/१) इस स्थलपर गार्हस्थ्यधर्ममें ही उपसंहार किया गया है। इसलिए इसके अतिरिक्त अन्य आश्रमियोंकी विद्या-प्राप्ति सम्भव नहीं है—यही प्रतीत होता है। यदि कोई कहे कि ऐसा होनेपर गार्हस्थ्य-त्यागपर श्रुतिकी क्या गति होगी? इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि इस

श्रुतिको स्तुतिपरक रूपमें ही ग्रहण करना चाहिये और गृहस्थाश्रमी यथाविधि-कर्मानुष्ठान करें तो उसे ब्रह्म-सम्पत्ति प्राप्त होगी। इस प्रकारके उपसंहारमें ही उक्त श्रुतिका ही तात्पर्य जानना होगा। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इस प्रकारके अभिप्रायमें उपसंहार नहीं किया गया है जैसा कि आप कह रहे हैं। गार्हस्थ्य-धर्ममें ही समस्त आश्रमोंके धर्म है अर्थात् सभी आश्रमोंके धर्मोंका करणीय रूपमें विधान है, इसीलिए इस प्रकारसे इस धर्ममें उपसंहार किया गया है। स्मृति-शास्त्रके उपदेशोंमें भी इसीका समर्थन देखा जाता है। यथा—

सर्वेषामदि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रैष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति॥

(मनुस्मृति॰ ६/८९)

अर्थात् इन सभी आश्रमोंमें वेद और स्मृतिकी विधिके अनुसार चलनेवाला श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि वह (ब्रह्मचारी, वानस्प्रथी और संन्यासी) आश्रमियोंकी रक्षा अर्थात् भरण करता है। इसी प्रकार—

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम।
तथैवाश्रमिणः सर्वेगृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

(मनुस्मृति॰ ६/९०)

जिस प्रकार सभी नदी-नद समुद्रमें ही आश्रय पाते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमी गृहस्थाश्रममें ही सहारा पाते है।

इस प्रकार चारों आश्रमोंके धर्म गृहस्थाश्रममें ही पालनीय हैं—इसीलिए गृहस्थाश्रमको श्रेष्ठ कहा गया है। दूसरी बात यह है कि गृहस्थोंको त्यक्तगृही दूसरे तीन आश्रमोंके लोगोंका पालन भी धर्मानुकूल करनेका विधान है इस कारण भी वे श्रेष्ठ हैं।

श्रीमद्भागवतमें है—

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/१५/६७)

अर्थात् महाराज! भगवत्-भक्त इन वेदोक्त विधियों एवं अपने अन्यान्य वृत्तिपरक कार्योंको सम्पन्न करते हुए घरमें रहकर भी श्रीकृष्णकी गतिको प्राप्त कर सकता है॥ ४८॥

अवतरणिका भाष्य—यस्मादाश्रमान्तराणि श्रूयन्ते अतो धर्मकात्स्नर्यादेव गार्हस्थ्येनोपसंहारो मन्तव्य इत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—क्योंकि अन्यान्य आश्रमोंके बारेमें अनेक वाक्य श्रुत होते हैं, अतएव समस्त धर्मोंकी बहुलताके कारण ही गार्हस्थ्यधर्म द्वारा उपसंहार हुआ है, यह जानना चाहिये। सूत्रकार इसी मन्तव्यको इस प्रकार कहते हैं—

सूत्र—मौनवदितरेषामप्युपदेशात्॥ ४९॥

सूत्रार्थ—मौनवत्—मुनिव्रतकी भाँति सिद्ध—यह कहा गया है, 'इतरेषाम्' छान्दोग्योपनिषदमें पूर्वांशमें तीन धर्मस्कन्ध अर्थात् दूसरे आश्रमोंके लिए 'अपि' भी 'उपदेशात्' उपदेश होनेके कारण ऐसा कहा गया है॥ ४९॥

सूत्रानुवाद—मौन-व्रतोपदेशकी तरह ही अन्य आश्रमोंके लिए भी 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' से लेकर 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' तक बह्म प्राप्तिका उपदेश दिया गया है॥ ४९॥

गोविन्दभाष्य—मौनवदिति सिद्धं कृत्वोक्तम्। तत्रैव पूर्वत्र त्रयो धर्मस्कन्धाः (छा॰ २/२३/१)। *"यज्ञोऽध्ययनं दानं प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यश्लोका भवन्ति ब्रह्म-संस्थोऽमृतत्वमेति"* इति पठ्यते। तत्र *"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ती"* इत्यत्र पारिव्रज्यस्येवेतरेषां नैष्ठिकादीनामप्युपदेशात्। तस्मात् तेन सः। बहुत्वं वृत्तिभूम्नेत्याहुः। एवं जाबालोपनिषदि चाश्रमाश्चत्वारो विधीयन्ते। *"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहात् वा वनात् वा अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरज्येत् तदहरेव प्रव्रजेत्"* इत्यादिना। उत्तरत्र च परमहंसानामित्यादिना निरपेक्षाश्च पठ्यन्ते। तस्मात् गृहस्थेनोपसंहृतिधर्मवाहुल्यादेवेति सुष्ठूक्तं यदहरेवेत्यादिना। विरागे सति गृहत्यागविधानात् विशेषादुपसंहारेण तत्तात्पर्यकल्पनञ्च निरस्तम्। अनुरागविरागौ

हि गृहारम्भतत्त्यागयोर्हेतु सर्वत्राभिलप्येते। तदेवं यथार्हं शमदमोपरतिभूषणेषु निराश्रमेषु च विद्याभ्युदेतीति निरूपितम्॥ ४९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'मौनवत्'* इसके द्वारा सिद्ध करके कहते हैं। छान्दोग्यमें पूर्वांशमें तीन धर्मस्कन्धोंका वर्णन हुआ है। उनमें प्रथम यज्ञ, अध्ययन और दान-प्रधान गृहस्थाश्रम एक प्रकारका है, तपस्याप्रधान वानप्रस्थाश्रम दूसरे प्रकारका है, जब तक जीवन है, तब तक आचार्य कुलवास अर्थात् गरुके सानिध्यमें रहते हुए गुरु सेवारूप नैष्ठिक ब्रह्मचर्यसे रहना—यह तृतीय आश्रम है। ब्रह्मचर्य ग्रहण करते हुए गुरुगृहवासी यह तृतीयाश्रमी गरु-गृहमें स्वयंको अत्यन्त क्लेशका (कष्टका) भोग कराते हैं। जो भी हो, ये सभी आश्रमी पवित्र पुण्यश्लोक (कीर्तिशाली) होते हैं। इनमें जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं—यह श्रुति छान्दोग्यमें पठित है। इसी छान्दोग्यमें यह भी उपदिष्ट हुआ है कि उस आत्माको जानकर परिव्राजक मुनिव्रत (परब्रह्ममें अखण्ड ध्यानरूप व्रत) लेकर मौन रहे। वह इसी कामनाके साथ संन्यास ग्रहण करे कि यह आत्मा ही परिव्राजकोंका गन्तव्य लोक है। यहाँ *'त्रयोधर्मस्कन्धाः'* श्रुतिके द्वारा पारिव्राज्य (संन्यास) के समान ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी इत्यादि तीनों आश्रमोंका उपदेश हुआ है। अतएव आश्रमान्तर (अन्य आश्रमोंके विषयमें) श्रुति प्राप्त होनेके कारण *'आचार्यकुलात्'* इत्यादि वाक्यमें धर्म-बाहुल्य हेतुसे गृहस्थके द्वारा उपसंहार किया गया है। यदि कहो, 'इतरयोः' न कहकर भाष्यमें 'इतरेषाम्' बहुवचनका प्रयोग किसलिए हुआ है? इसका उत्तर यह है कि इनकी वृत्तियाँ भिन्न हैं, वृत्ति भिन्न होनेपर प्रकार-भेद है—इसलिए बहुवचन है। इसी प्रकार जाबालोपनिषद (४) में चार आश्रम विहीत हैं—यथा ब्रह्मचर्यको समाप्त करके गृही होवें, गृही होनेके बाद वानप्रस्थी (वनस्थ) होवें, वानप्रस्थी होकर प्रव्रज्या लेवें (अर्थात् सर्वथा त्याग कर देवें) अथवा अन्य प्रकारसे भी हो सकता है यथा ब्रह्मचर्याश्रमके बाद सीधे ही प्रव्रज्या ग्रहण करे अथवा गार्हस्थ्यके बाद किंवा वानप्रस्थके बाद संन्यास लेवें (या प्रव्रजन करे)। ब्रह्मचर्य समाप्त करके स्नातक अव्रती (वेदव्रतरहित) अथवा व्रती (वेद-व्रती) होवे अथवा पत्नीकी मृत्यु होनेपर पुनः दाराका

परिग्रह (पुनर्विवाह) न करे अथवा अग्नि-विसर्जन (अग्नि होत्रादि-त्याग) करके पुनः अग्नि-प्रणयन (परिग्रह) न करे। अग्निरहित ही रहे। जिस दिन वैराग्य आ जाये, उसी दिन संन्यासी हो जावे इत्यादि वाक्योंके द्वारा अन्यान्य आश्रमोंके विषयमें बताया गया है। इसके बाद अन्तिम भागमें भी 'परमहंसानाम्' इत्यादि द्वारा निरपेक्ष अनाश्रमियोंके विषयमें भी पाठ है। अतएव गृहस्थ द्वारा उपसंहार (फल-प्राप्ति दर्शन पर्यन्त) जो कहा गया है, वही गृहीके धर्म-बाहुल्यके कारण ठीक ही है—यह *'यदहरेव विरज्येत्'* (जिस दिन वैराग्य आ जाये) वाक्य द्वारा बोध होता है कारण सहसा वैराग्य होनेपर सभीके लिए गृह-त्यागकी विधि है और विशेषके कारण अर्थात् धर्म-बाहुल्यके कारण उपसंहार द्वारा गृही अर्थमें तात्पर्यंकी कल्पना भी इसके द्वारा निरस्त हो जाती है क्योंकि अनुराग (आसक्ति) गृह ग्रहणके लिए और विराग (निस्पृहता) गृह-त्यागके लिए मूल-कारण सर्वत्र कहे गये है। अतएव सिद्धान्त यह है कि यथायथ शम, दम, और उपरतिसे सम्पन्न आश्रमी व्यक्तिमें भी एवं निराश्रम यतिमें भी विद्या उदित होती है—यह निरूपित हुआ है॥ ४९॥

सूक्ष्मा-टीका—मौनवदिति। तत्रैव छान्दोग्ये। पूर्वत्राचार्यकुलवाक्यात् प्राक्। एष इति। स्कन्धशब्द आश्रमपरः। यज्ञादिधर्मप्रधानो गृहाश्रम एकः, तपःप्रधानो वनस्थाश्रमो द्वितीयः, तत्प्राधान्यात् सन्न्यासोऽप्यत्र ग्राह्य इत्येके। यावदायुर्गुरुसन्निधि-स्थितिपूर्वकतदेकसेवनं नैष्ठिकब्रह्मचर्यं तृतीयः। सर्वे एते आश्रमिणः पुण्यश्लोका भवन्ति विध्याश्रयणात्। तदाश्रमधर्मानुष्ठानफलञ्च तत्तदुक्तलक्षणं लभन्ते। तेषु यो ब्रह्मसंस्थः सम्यग्ब्रह्मनिष्ठः स त्वमृतत्त्वं मुक्तिमेतीति। तत्रेति। एतमेव विदित्वेत्यादौ यथा पारिव्राज्यमुपदिष्टं तथा त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादौ नैष्ठिकव्रतवानप्रस्थे चोपदिष्टे इत्याश्रमान्तराणां श्रुतिप्राप्तत्वादाचार्यकुलादिति वाच्ये धर्मबाहुल्यादेव गृहस्थेनोपसंहार इत्यर्थः। नन्वितरयोरिति वाच्ये इतरेषामित्युक्तिः कथमिति चेत् तत्राह बहुत्वं वृत्तिभूम्नेति। सावित्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहन्निति ब्रह्मचारिभेदाः। फेनप उदुम्बरो वैखानसो बालखिल्यश्चेति वनस्थभेदाश्च। एवं कुटीचको बहुदको हंसो निष्क्रियश्चेति सन्न्यासिभेदाश्च बोध्याः। ब्रह्मचर्यमिति। यदि वेतरथा वैराग्यप्राचुर्येण स्थितस्तदेत्यर्थः। स्नातकः समाप्तब्रह्मचर्योऽप्राप्तगार्हस्थ्यः। अस्नातको मृतदारोह-कृतपुनर्विवाहः॥ ४९॥

सूक्ष्मा-सार— *'मौनवदित्यादि'* सूत्रमें। *'तत्रैव पूर्वत्रेति'* में 'तत्रैव' का अर्थ है—उस छान्दोग्यमें ही, 'पूर्वत्र'—*'आचार्यकुलादित्यादि'* वाक्यके

पूर्व। *'त्रयोः धर्मस्कन्धाः'* इति—तीन आश्रम हैं—स्कन्ध शब्द आश्रम वाचक है। इनमें यज्ञादि धर्मप्रधान गृहस्थाश्रम एक है, तपःप्रधान वानप्रस्थाश्रम द्वितीय है, कोई-कोई तपः प्रधानत्वके कारण संन्यासाश्रम भी इसमें गणणीय है, ऐसा कहते हैं। जब तक आयु रहे, तब तक गुरुकी सन्निधिमें स्थितिपूर्वक पूरे मनसे गुरुकी सेवा करे—यह नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तृतीय आश्रम है। ये सभी आश्रमी विद्याधिकारमें रहनेके कारण पुण्यश्लोक होते हैं एवं ये समस्त आश्रमधर्मानुष्ठानके फलस्वरूप उन-उन उक्त लक्षणोंको प्राप्त करते हैं। इनमें जो एकान्त रूपसे ब्रह्मनिष्ठ होंगे, वे ही अमृतत्व अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होंगे। *'तत्र एतमेव विदित्वेत्यादि'* में एतमेव विदित्वा इत्यादि वाक्यमें जिस प्रकार संन्यास उपदिष्ट हुआ है, उसी प्रकार *'त्रयो धर्मस्कन्धाः'* इत्यादि वाक्यमें नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत और वानप्रस्थ भी उपदिष्ट हुआ है। इसी प्रकारसे अन्यान्य अवान्तर आश्रम भी श्रुतिबोधित हैं। अतः आचार्य-कुलादित्यादि वाक्यमें धर्मबाहुल्यवशतः गृहस्थ द्वारा उपसंहार किया गया है, यह अर्थ है। प्रश्न होता है कि *'इतरेषाम् नैष्ठिकादीनाम्'* यह उक्ति क्यों कही गयी है? *'इतरयोः'*—इस प्रकार होना ही उचित था। इस विषयमें समाधान करते हैं—*'बहुत्वं वृत्तिभूम्ना'* इति—बहुवचनका निर्देश किया गया है—वृत्ति-बाहुल्यके कारण। यथा—सावित्र, ब्राह्म, प्राजापत्य एवं बृहत्—ये चारों ब्रह्मचारियोंके प्रकार-भेद हैं, फेनप, उदुम्बर, वैखानस एवं बालखिल्य—ये वनस्थाश्रमीका प्रकार भेद है, इसी प्रकार कुटीचक, बहुदक, हंस एवं निष्क्रिय—इसे संन्यासी-विशेषका भेद जानना चाहिये। *'ब्रह्मचर्यं समाप्येति'* यदि वेतरथा—अर्थात् यदि प्रचुर वैराग्य लेकर रहता है, तो। *'स्नातकः'*—ब्रह्मचर्य-आश्रम पूर्ण करके गार्हस्थ्याश्रम स्वीकार नहीं करते। *अस्नातकः*—पत्नीके मृत होनेपर जो पुनः दार-परिग्रह करते नहीं॥ ४९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—आश्रमान्तरके वाक्यमें भी श्रुति प्राप्त होती है सभी धर्म गृहस्थाश्रममें स्थित हैं, इसी कारण इसी आश्रमके द्वारा उपसंहार किया गया है। यही मन्तव्य करके सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि 'मुनिव्रतकी भाँति' दूसरे आश्रमोंका भी उपदेश दिया गया है। इस विषयमें श्रुति-प्रमाण है यथा—

त्रयो धर्मस्कन्धाः

(छा० २/२३/१)

अर्थात् धर्मके तीन स्कन्ध (आधार स्तम्भ) हैं।

स्कन्ध शब्द आश्रम वाचक है।

आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते।

(छा० ८/५/१-२)

अर्थात् ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सत्-परमात्मासे अपना त्राण प्राप्त करता है। इसके सिवा जिसे मौन कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही आत्माको जानकर पुरुष मनन करता है। मौन ज्ञानातिशय-सम्पत्ति है।

एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति।

(बृ०आ० ४/४/२२)

अर्थात् इस आत्मलोककी ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्यागकर चले जाते हैं।

जाबालोपनिषद (४/१) में इस सम्बन्धमें राजर्षि जनकने महर्षि याज्ञवल्क्यसे जो कहा, उस प्रमाणको सूक्ष्मा-टीका एवं भाष्यमें देखना चाहिये।

ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंके ही वृत्ति-भेदसे प्रत्येकके ही चार प्रकारके भेद है। सर्वप्रथम ब्रह्मचारीकी वृत्तियोंके अनुसार निम्न प्रकारसे भेद है—

(१) सावित्र—उपनयन संस्कारके पश्चात् गायत्रीका अध्ययन करनेके लिए धारण किये जानेवाला तीन दिनका ब्रह्मचर्य व्रत।

(२) प्राजापत्य—आचरणशील व्यक्तिका एक वर्षका ब्रह्मचर्य व्रत।

(३) ब्राह्म—वेदाध्ययनकी समाप्ति तक रहनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत।

(४) बृहत्-व्रत—आयु-पर्यन्त रहनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत।

गृहस्थकी वृत्तियोंके अनुसार निम्न भेद हैं—

(१) वार्त्ता—कृषि आदि शास्त्रविहित वृत्तियाँ।

(२) सञ्चय—यागादि करना।

(३) शालीन—अयाचित वृत्ति।

(४) शिलोच्छ—खेत कट जानेपर पृथ्वीपर पड़े हुए तथा अनाजकी मण्डीमें गिरे हुए दानोंको बीनकर निर्वाह करना।

वानप्रस्थकी वृत्तियोंके अनुसार निम्न चार भेद हैं—

(१) वैखानस—बिना जोती भूमिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंसे निर्वाह करनेवाला।

(२) वालखिल्य—नवीन अन्न मिलनेपर पूर्वमें सञ्चय करके रखा हुआ अन्न दान कर देनेवाला।

(३) औदुम्बर—प्रातःकाल उठनेपर जिस दिशाकी ओर मुख हो, उसी ओरसे फलादि लाकर निर्वाह करनेवाला।

संन्यासियोंकी वृत्तियोंके अनुसार प्रकार भेद इस प्रकारसे है—

(१) कुटीचक—अपना आश्रम बनाकर रहनेवाले।

(२) बहूदक—कर्मकी ओर गौण दृष्टि रखकर ज्ञानको ही प्रधान माननेवाले।

(३) हंस—ज्ञानाभ्यासी।

(४) परमहंस—निष्क्रिय।

(श्रीमद्भा॰ ३/१२/४२-४३)

सभी आश्रमियोंका ही विद्यामें अधिकार रहनेसे ये पुण्यश्लोक होते है। इनमें जो एकान्त रूपसे ब्रह्मनिष्ठ होंगे, वे ही अमृतत्व अर्थात् मुक्ति प्राप्त करेंगे।

जब ही वैराग्य उत्पन्न होवे, तब ही प्रव्रज्या स्वीकार कर लेवे—इस प्रकारकी उक्तिके द्वारा भी गार्हस्थ्यमें ही उपसंहारका तात्पर्य है—यह निरस्त हुआ। अनुरागको गार्हस्थ्यका और विरागको प्रव्रज्याका मूल विचार समझना चाहिये। अतएव शमदमादियुक्त व्यक्ति जिस किसी भी आश्रममें क्यों न रहें, वे वहींपर ही विद्याकी प्राप्ति करेंगे—यह निरूपण होता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यदा धर्म विपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु।
विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१८/१२)

अर्थात् यदि वह यह बात समझ ले कि काम्यकर्मोंसे उनके फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, वे नरकके समान ही दुःखपूर्ण हैं और मनमें लोक-परलोकसे पूरा वैराग्य हो जाय तो विधिपूर्वक यज्ञाग्नियोंका परित्याग करके वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण कर ले।

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मन्नानुमानिकः।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१९/१)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! जिसने उपनिषद आदि शास्त्रोंके श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है—जो केवलमात्र परोक्षज्ञानी अर्थात् जिसका निश्चय केवल युक्तियों और अनुमानोंपर ही निर्भर नहीं है, उसे द्वैत प्रपञ्च और उसकी निवृत्ति साधनको आत्मामें अध्यस्तकर उसके साधन ज्ञानका भी परित्याग कर देना चाहिये।

यः स्वकात् परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः॥

(श्रीमद्भा॰ १/१३/२७)

अर्थात् भैया! जो आत्मज्ञ व्यक्ति अपने विवेकसे या दूसरेके समझानेसे वैराग्यवान होकर अपने हृदयमें श्रीहरिको धारणकर संन्यासके लिए घरसे निकल जाता है, वही उत्तम मनुष्य है॥४९॥

अवतरणिका भाष्य—अथास्या रहस्यत्वमुच्यते। श्वेताश्वतराः पठन्ति। *"वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः"* (श्वे॰ ६/२२) इति। इह संशयः। विद्या यत्र क्वापि उपदेश्या न वेति। योग्यायोग्यविमर्शस्य कारुण्यादिविरोधित्वात् तद्वता देशिकेन सर्वत्रासौ प्रकाश्येति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इस विद्याका गोपनीयत्व (रहस्य) बता रहे हैं। श्वेताश्वतर वेदाध्यायीगण पाठ करते हैं—*'वेदान्ते परमं गुह्यं ... अशिष्याय वा पुनः'* (श्वे॰ ६/२२) अर्थात् वेदान्त-शास्त्रमें प्राचीन युगमें ब्रह्मविद्यारूप जो पुरातन परम गुह्य वस्तु कही गयी है, वह अतीव गोपनीय है, उसे जिस किसी व्यक्तिको देना मत। हाँ, जो

शम गुणवान हैं, पुत्रके समान अनुगत और शिष्यके समान सेवापरायण हैं, उन्हें ही विद्याका उपदेश करना, अन्यथा नहीं। इस श्रौत-वाक्यमें संशय है कि विद्या जिस किसी भी व्यक्तिके लिए उपदेश योग्य है कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि योग्य-अयोग्यका विचार तो दया इत्यादिका विरोधी है, इसलिए आचार्य दयावान होकर समस्त जनोंमें ही इस विद्याका प्रकाश करें। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र साश्रमेषु निराश्रमेषु च तादृशेषु विद्या दर्शिता। तामाश्रित्य तस्या रहस्यत्वं वर्ण्यमित्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। वेदान्त इति। ब्रह्मविद्या यद्वस्तु तत् परमं गुह्यं तत् किल यस्मै कस्मैचिन्न देयं किन्तु शान्ताय पुत्रवदनुवर्त्तिने शिष्यवत्सेवमानाय देयं न तु तद्विपरीतायेत्यर्थः। न चायं स्वार्थसिद्धये सङ्कोचोऽपि तु उपदेश्यार्थसिद्धये एव नान्यथा तदभीष्टं सिध्येदिति बोध्यम्। तद्वता कारुण्यादिगुणशालिना।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले दिखाया गया था कि इस प्रकारका गुणवान आश्रमी हो अथवा निराश्रमी हो—सर्वत्र विद्या हो सकती है, अब इस विद्याका आश्रय करके उसकी गोपनीयता वर्णनीय है—इस प्रकारसे आश्रय-आश्रयि भावरूप सङ्गति इस अधिकरणमें बोद्धव्य है। *'वेदान्ते परमं गुह्यम्'* इत्यादि ब्रह्मविद्यात्मक जो वस्तु है, वह अतीव गोपनीय है, इसे जिस किसी व्यक्तिको उपदेश मत करना किन्तु जो शमगुण-प्रधान है, पुत्रके समान अनुगत हैं। शिष्यके समान सेवापरायण है, उसीको विद्या देवें, इसके विपरीत अर्थात् अशान्त, अपुत्र, अशिष्यको न देवें। इस स्वार्थसिद्धिके कारण उपदेश्य व्यक्ति-विषयमें जो सङ्कोच किया गया है, ऐसा नहीं है, बल्कि उपदेष्टव्य विद्याकी सिद्धिके लिए ही इस प्रकारसे पात्रका विचार है। ऐसा नहीं हुआ तो अभीष्ट व्यर्थ ही होगा। *'तद्वता देशिकेन'* इतिमें 'तद्वता'—दया इत्यादि गुणवान द्वारा।

अनाविष्काराधिकरणम्

सूत्र—अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्॥ ५०॥

सूत्रार्थ—'अनाविष्कुर्वन' विद्याको प्रकट न करके (गोपनीय रूपमें ही) उपदेश करें, क्योंकि 'अन्वयात्' उक्त श्रुतिमें ही इसी प्रकारके उपदेशकी बात प्रतीत हो रही है॥५०॥

सूत्रानुवाद—विद्याका गोपनीय रूपमें ही उपदेश करे कारण श्वेताश्वतीरय श्रुतिमें इस प्रकारके उपदेशकी बात कही गयी है॥५०॥

गोविन्दभाष्य—विद्यामनाविष्कुर्वन्नेवोपदिशेत्। कुतः? अन्वयात्। उक्तश्रुतौ तथैवोपदेशप्रतीतेरित्यर्थः। एवमेवाह भगवानरविन्दाक्षः—*"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति"* (श्रीगी॰ १८/६७) इति। उपदेशो हि योग्येश्वेव फलति नायोग्येषु। *"यस्य देवे परा भक्तिः"* (श्वे॰ ६/२३) इत्यादि श्रुतेः। छान्दोग्ये च *"आत्माऽपहतपाप्मा"* (छा॰ ८/७/१) इत्यादिना महेन्द्रविरोचनयोरुपदेशसाम्येऽपि विरोचनस्य तत्त्वज्ञानं नाभूदिति श्रवणात्। तथाच योग्येभ्य एव विद्योपदेश्या न त्वयोग्येभ्योऽपीति। योग्याश्च शास्त्रप्रतिपाद्यतत्पराः श्रद्धालवः॥५०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—विद्याको प्रकट न करके अर्थात् गुप्त रखकर ही उपदेश दें। कारण? 'अन्वयात्' अर्थात् *'वेदान्ते परमं गुह्यम्'* इत्यादि श्रुतिमें इसी प्रकारका उपदेश प्रतीत होता है। पद्मपलाश-लोचन भगवान् श्रीहरिने श्रीगीतामें अर्जुनसे इसी प्रकारसे कहा है—अर्जुन! इसे तुम जो तपस्यारहित, भक्तिहीन, विद्या श्रवणेच्छा शून्य और मेरा विद्वेषी हो इनमेंसे किसीको भी मत कहना। वास्तवमें तो योग्य व्यक्तिमें ही प्रदत्त विद्या सफल होती है, अयोग्यमें नहीं! श्रुति कहती है कि जिस व्यक्तिकी देवता एवं गुरुके प्रति पराभक्ति होती है, उसी की विद्याकी सिद्धि होती है। छान्दोग्योपनिषदमें भी *'आत्माऽपहतपाप्मा'* अर्थात् अन्तःकरणके निष्पाप होनेपर ही विद्याकी सिद्धि होती है इस वाक्य द्वारा यही कहा गया है। देवराज इन्द्र और प्रह्लाद पुत्र विरोचन—दोनोंके प्रति विद्योपदेश समान रूपसे हुआ—तो भी विरोचनमें तत्त्वज्ञानउत्पन्न नहीं हुआ। (इन्द्रको विद्या प्राप्त हुई) यह श्रुत होता है। अवएव सिद्धान्त यह है कि योग्य व्यक्तिको ही विद्याका उपदेश करना चाहिये, अयोग्यको नहीं। योग्य कहनेसे तात्पर्य है—जो शास्त्र प्रतिपाद्य विषयमें तत्पर और श्रद्धावान है॥५०॥

सूक्ष्मा-टीका—अनाविष्कुर्वन्निति। इदमिति श्रीगीतासु। अतपस्विने अजितेन्द्रियायेदं न वाच्यं तपस्विनेऽप्यभक्तायैतच्छास्त्रोपदेष्टरि तद्वेद्ये मयि च भक्तिशून्याय न वाच्यं तपस्विनेऽपि भक्तायाप्यशुश्रुषवे सत्सेवारहिताय न वाच्यं यो मां सर्वेश्वरं नित्यमूर्त्तिं नित्यगुणलीलमभ्यसूयति मायिकगुणविग्रहतोमारोपयति तस्मै तु सर्वथा न वाच्यं। भिन्नया विभक्त्या निर्देशः। तथा च तपस्विने गुरुभक्ताय मद्भक्ताय मद्भक्तसेविने मद्गुणानुरक्ताय चेदं मदभिहितं गीतोपनिषच्छास्त्रं त्वया वाच्यमुपदेश्यं न तु विलक्षणायेत्यर्थः। छान्दोग्य इत्यादि। महेन्द्रविरोचनयोराख्यायिकेयं मुक्तः प्रतिज्ञानादित्यत्र दर्शयिष्यते॥५०॥

सूक्ष्मा-सार— *'अनाविष्कुर्वन्नवित्यादि'* सूत्रमें— *'इदं ते नातपस्काय'* इत्यादि श्लोक श्रीगीतामें है। *'न अतपस्काय'*—अजितेन्द्रिय व्यक्तिको यह नहीं बतलावेंगे और तपस्वी होकर भी यदि भक्तिहीन है तथा गीता शास्त्रका उपदेष्टा होनेपर भी गीताशास्त्रके वेद्य मुझमें भक्तिरहित हो तो उन्हें भी बतलावेंगे नहीं। तपस्वी होकर भी, भक्त होकर भी यदि साधु-सेवासे रहित है तो उसे भी उपदेश नहीं करेंगे, और जो व्यक्ति सर्वेश्वर, नित्यमूर्त्ति, नित्यलीला सम्पन्न मुझसे असूया (ईर्ष्या) करते हैं अर्थात् मुझमें मायाधीन गुणत्व एवं मायिक विग्रहत्वकी कल्पना करते हैं, ऐसे व्यक्तिके लिए भी कभी भी यह विद्या वक्तव्य नहीं है। *'न च मां योऽभ्यसूयति'* इस वाक्यमें प्रथमा विभक्ति द्वारा निर्देश हुआ है, यह परिवर्त्तन करके अर्थ करना होगा यथा— *'तपस्विने-गुरुभक्ताय-मद्भक्ताय मद्भक्तसेविने'* इत्यादि जो जितेन्द्रिय हैं, गुरुभक्त एवं मेरे भक्त हैं, मेरे भक्तोंके सेवक एवं मेरे गुणोंमें अनुरक्त हैं, ऐसे व्यक्तियोंको मेरे द्वारा वर्णित गीतोपनिषद-शास्त्रका तुम उपदेश करना, परन्तु इस सबके जो विपरीत हैं, उन्हें कभी नहीं। *'छान्दोग्ये च इत्यादि'*—महेन्द्र-विरोचनकी यह आख्यायिका *'मुक्तः प्रतिज्ञानात्'* (वे॰सू॰ ४/४/२) इत्यादि सूत्रमें बादमें प्रदर्शित की जायेगी॥५०॥

गोविन्दतोषणीवृति—अब विद्याका रहस्यत्व कहा जा रहा है। श्वेताश्वतरोपनिषदमें पाया जाता है— *'वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।'* (श्वे॰ ६/२२) अर्थात् यह भगवदुपासना तत्त्व समस्त वेदान्तका सार है, परम निगूढ़ अर्थात् गोपनीय है। पूर्वकालमें श्वेताश्वतर ऋषिकी

आराधनासे सन्तुष्ट होकर उनके हृदयमें श्रीभगवान्‌ने इसे प्रकाश किया था। अतएव जिस किसी व्यक्तिको अर्थात् जो भगवद्भक्त नहीं है, शास्त्रमें श्रद्धावान है किन्तु रागद्वेषादि मतसे पूर्ण हृदयवाला है, अशान्तचित्त है—ऐसे किसी व्यक्तिको इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। तब जो प्रशान्त भगवद्भक्त पुत्र हो अथवा शिष्य हो—उसे यह उपदेश दिया जा सकता है। स्नेहवश इसे जिस-किसीको नहीं देना चाहिये—इससे तो प्रत्यवायकी ही उत्पत्ति होगी।

पुनः छान्दोग्योपनिषदमें भी पाया जाता है कि—

'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति' (छा॰ ८/७/१), अर्थात् जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, उसे खोजना चाहिये और उसे विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। जो उस आत्माको शास्त्र और गुरुके उपदेशानुसार खोजकर जान लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है।

इस स्थलपर संशय यह है कि उक्त विद्या सर्वत्र उपदेश्य है कि नहीं? पात्रकी योग्यता-अयोग्यताका विचार किया जाय तो श्रीगुरुदेवके कारुण्यका अभाव दिखायी देता है। पूर्वपक्षी कहते हैं कि कारुणिक गुरुदेवको सभीके लिए ही तत्त्वका उपदेश करना चाहिये।

इस प्रकारके पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्या अर्थात् तत्त्वज्ञानका गोपनीय रूपसे ही उपदेश करना चाहिये कारण श्वेताश्वतर-श्रुतिमें इसी प्रकारका उपदेश है।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वे॰ ६/२३)

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात्।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥
(श्रीमद्भा॰ १/१/८)

अर्थात् आप भी उनकी कृपासे इन इतिहास, पुराणादि समस्त शास्त्रोंको यथार्थ रूपसे जानते हैं। जो शिष्य स्निग्ध-स्वभावका होता है, वह गुरुका प्रीतिपात्र होता है और ऐसे शिष्यके लिए गुरु अति निगूढ़ रहस्यको भी प्रकट कर देते हैं।

श्रीकृष्णने उद्धवजीसे भी कहा है—

नैतत् त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्॥

(श्रीमद्भा० ११/२९/३०)

अर्थात् तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, शठ, अश्रद्धालु, भक्तिहीन और उद्धत पुरुषको कभी मत प्रदान करना।

भगवान् श्रीकपिलदेवने भी कहा है—

नैतत् खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित्।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च॥
न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि॥

(श्रीमद्भा० ३/३२/३९-४०)

अर्थात् हे माताजी! मैंने आपको आत्मतत्त्व विषयक इस ज्ञानका जो उपदेश दिया है, उसे दूसरोंको उद्वेग देनेवाले खल, अविनीत, दुराचारी, धर्मध्वजी, अभक्त और मेरे भक्तोंके द्वेषी व्यक्तियोंको कभी भी नहीं बतलाना चाहिये। परन्तु जो व्यक्ति श्रद्धावान, भक्त, विनीत, शिष्ट, मर्यादासे युक्त, ईर्ष्या-द्वेषसे रहित, समस्त प्राणियोंमें दयासे युक्त, (गुरु) सेवानिरत, बाह्य विषयोंमें आसक्तिशून्य, शान्तचित्त, निर्मत्सर, बाह्याभ्यन्तरसे पवित्र और जो मुझे सम्पूर्ण प्रियवस्तुओंसे भी अधिक प्रियतर मानते हैं, उन अधिकारियोंके निकट इसका उपदेश करना चाहिये।

पद्मपुराणमें भी पाया जाता है—

अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः।

अर्थात् श्रद्धाहीन और नाम-श्रवण करनेसे विमुख मनुष्यको नामका उपदेश देना भी नामापराध है॥५०॥

अवतरणिका भाष्य—अथोत्पत्तिकालस्तस्याश्चिन्त्यते। अत्र नचिकेतोजाबालादेरुपाख्यानं वामदेवस्य च विषयः। इह भवति संशयः। पूर्वोक्तसाधना विद्यास्मिन् जन्मनि सञ्जायते जन्मान्तरे वेति तत्साधनेश्वनुष्ठीयमानेष्वस्मिन्नेव जन्मनि सञ्जायते। इहैव मे स्यादित्यनुसन्धाय पुंसस्तत्र प्रवृत्तेरित्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इस ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिके समयका विचार किया जाता है। इस अधिकरणके विषय हैं—नचिकेता, जाबाल और वामदेव इत्यादिके उपाख्यान। यहाँ संशय यह है कि पूर्वोक्त साधनाहीन विद्या क्या इसी जन्ममें उत्पन्न होती है अथवा जन्मान्तरमें? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब विद्याका साधन अनुष्ठित हो ही रहा है, तब यह इसी जन्ममें ही उत्पन्न होगी। कारण 'इस जन्ममें ही मेरी विद्या हो' इस अभिप्रायसे ही पुरुषकी विद्या-विषयमें प्रवृत्ति होती है। इस प्रकारके मतवादके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—रहस्यभूता विद्येत्युक्तम्। तामाश्रित्य तस्या जन्मकालो निरूप्यत इति प्राग्वत् सङ्गतिः। अथोत्पत्तीति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि विद्या गोपनीय है, इस विद्याका आश्रय करके उत्पत्ति-काल निर्धारित होता है, अतएव पूर्ववत् ही यहाँ आश्रयाश्रयिभाव सङ्गति जाननी चाहिये। अथोपत्तीति—

ऐहिकाधिकरणम्

सूत्र—ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्॥ ५१॥

सूत्रार्थ—'अप्रस्तुत प्रतिबन्धे'—प्रतिबन्ध न रहनेपर 'ऐहिकम्'—इस जन्ममें ही विद्याका उदय होता है। कैसे? 'तद्दशनात्' नचिकेताके वृत्तान्तसे यही देखा जाता है॥ ५१॥

सूत्रानुवाद—प्रतिबन्धका अभाव होनेसे इस जन्ममें ही विद्याकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। श्रुतिमें इस प्रकारके प्रसङ्ग देखे जाते हैं॥ ५१॥

गोविन्दभाष्य—प्रतिबन्धेऽप्रस्तुते सत्यैहिकं विद्याजन्म प्रस्तुते तु तस्मिन् जन्मान्तरे तदित्यर्थः। कुतः? तद्दर्शनात्। *"मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा*

विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्। ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव" (कठ॰ २/३/१८) इत्याद्या श्रुतिरैकभविकीं विद्योत्पत्तिं दर्शयति। *"गर्भस्थ एव वामदेवः प्रतिपेदे"* इत्याद्या तु भवान्तरसञ्चितात् साधनजातात् भवान्तरे तदुत्पत्तिम्। एतदुक्तं भवति कस्यचिदेव लघुप्रतिबन्धस्य साधनवीर्यविशेषात् तत्प्रतिबन्धपरिक्षये सत्यस्मिन् जन्मनि विद्योत्पद्यते। यथा नचिकेतसो यथा च सौवीरराजस्य। गुरुप्रतिबन्धस्य तु यज्ञदानतपःशमादिभिरुत्पद्यमानाऽपि विद्या क्रमेण तत्परिक्षयापेक्षया भवान्तर एवेति। एवमेवोक्तं श्रीगीतासु। *"अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः"* (श्रीगी॰ ६/३७) इत्यादिना *"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"* (श्रीगी॰ ६/४५) इत्यन्तेन। ऐकभविकाभिसन्धिरपि न नियतः। इहामुत्र वा मे स्यादित्येवमपि तस्य दर्शनात्। तस्मादस्मिन् परस्मिन् वा जन्मनि विद्योदयः प्रतिबन्धक्षयानन्तरमेवेति सिद्धम्॥ ५१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रतिबन्धक (जिस कर्मका फल विद्याका विरोधी है और जो देश, काल-विशेषकी अपेक्षा करके फल प्रदानोन्मुख है, वही प्रतिबन्ध कहा जाता है) न रहनेपर विद्याका उदय इसी जन्ममें होता है किन्तु प्रतिबन्धक रहनेपर जन्मान्तरमें विद्याकी उत्पत्ति होगी—यह अर्थ है। इसका कारण क्या है? *'तद्दर्शनात्'*—नचिकेताके वृत्तान्तमें वही देखा जाता है। यथा श्रुति है—*'मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा ... विदध्यात्ममेव'*—नचिकेता यमसे उपदेश प्राप्त होनेपर इस ब्रह्मविद्या एवं समग्र योग-विधिको प्राप्त करके ब्रह्मको प्राप्त हो गये थे और रजोगुणातीत तथा मृत्युरहित हो गये थे। नचिकेताके समान ही अन्य कोई भी इसी प्रकारसे आत्मसम्बन्धित ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मको प्राप्त हो गये थे—इत्यादि श्रुति एक जन्ममें ही विद्योत्पत्ति दिखा रही है और यह जो श्रुति है कि वामदेव ऋषिने माताके गर्भमें रहकर ही ब्रह्मविद्याको प्राप्त कर लिया था—यह श्रुतिजन्मान्तरमें सञ्चित साधनोंसे परजन्ममें विद्याकी उत्पत्ति कह रही है। बात यह है कि अल्प प्रतिबन्धक-विशिष्ट किसी व्यक्तिके साधन-विशेषकी शक्तिके द्वारा इन अल्प प्रतिबन्धकोंका क्षय होनेके बाद इसी जन्ममें विद्या उत्पन्न होती है जैसे कि नचिकेता और सौवीर देशाधिपति रहूगणका किन्तु जिन व्यक्तियोंके प्रतिबन्धक गुरुत्तर (बड़े भारी) हैं उनके यज्ञ, तपस्या-शम-इत्यादि द्वारा विद्या उत्पन्न होनेपर भी क्रम-क्रमसे प्रतिबन्धकोंके क्षयानुसार जन्मान्तरमें विद्याका उदय होता

है। इसी प्रकार श्रीगीतामें कहा गया है यथा—*'अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः'* अर्थात् जो यति (संयतचित्त) नहीं हैं अर्थात् यत्नवान् नहीं हैं फिर भी श्रद्धासे युक्त हैं—वे यदि योगसे भ्रष्टचित्त हो जाते हैं तो उनकी क्या गति होती है? अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान्ने कहा—श्रद्धासम्पन्न एव प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाले योगी निष्पाप होकर अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेके पश्चात् परम गति प्राप्त करते हैं और यह भी सत्य है कि एक जन्ममें ही विद्योत्पत्ति हो जाय। इस प्रकारकी अभिसन्धि (अनुबन्ध अथवा सङ्कल्प) भी अवश्यम्भावी नहीं है क्योंकि व्यक्तियोंकी ऐसी भी अभिसन्धि होती देखी जाती है कि इसी जन्ममें हो अथवा अगले जन्ममें मुझमें विद्याका उदय हो ऐसी अभिसन्धि होती है। अतएव सिद्धान्त यह है कि इस जन्ममें अथवा अगले जन्ममें-प्रतिबन्धकके क्षय होनेके बाद ही विद्याका उदय होता है॥ ५१॥

सूक्ष्मा-टीका—ऐहिकमिति। इह जन्मनि भवम् इत्यर्थः। अध्यात्मादित्याटठञ। प्रतिबन्धेऽप्रस्तुत इति। विद्याविरुद्धफलं देशकालविशेषापेक्षं फलोन्मुखं कर्म प्रतिबन्धे उच्यते तस्मिन्नविद्यमाने सतीत्यर्थः। मृत्युप्रोक्तां यमोपदिष्टां तदुत्पत्तिमित्यत्र दर्शयतीति सम्बन्धः। साधनवीर्येति। महत्तमप्रसङ्गजात् श्रवणादिपौष्कल्यादित्यर्थः। सौवीरेति रहूगणस्येत्यर्थः। ऐकेति। इहैव विद्या मे स्यादित्येवंलक्षणस्येत्यर्थः। तस्येत्यभिसन्धेः॥ ५१॥

सूक्ष्मा-सार— *'ऐहिकमित्यादि'* सूत्रमें 'ऐहिकम्' अर्थात् इस जन्ममें उत्पन्न। अध्यात्मान्तर्गत होनेके कारण 'इह' शब्दके उत्तरमें ठञ् प्रत्यय होता है, 'ञित्व' हेतु आदि स्वरकी वृद्धि है, 'ठ' के स्थानपर इक है, अकारका लोप है। *'प्रतिबन्धे अप्रस्तुते'* जिसका फल विद्याका विरोधी है, देश, काल, विशेषकी अपेक्षा करके जो फलप्रदानोन्मुख कर्म है वही प्रतिबन्धके रूपमें कहा गया है, वह न रहनेपर, यही इसका अर्थ है। *'मृत्युप्रोक्ताम्'*—यम द्वारा उपदिष्ट *'तदुत्पत्तिम्'-'विद्योत्पत्तिम्'* इस कर्म-पदका, 'दर्शयति' क्रियाके साथ सम्बन्ध है। *'साधनवीर्यविशेषादिति'* महत्तम व्यक्तिके संसर्ग-जनित वीर्यातिशयवशतः। सौवीरराजस्य अर्थात् रहूगणोंका। *'ऐकभविकेति'*—इस जन्ममें ही मेरी ब्रह्मविद्या हो। इस प्रकार अभिसन्धिका अभाव—यह अर्थ है। *'तस्य दर्शनादिति'* में 'तस्य' का अर्थ है—वह अभिसन्धि क्योंकि देखी जाती है॥ ५१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इसके बाद विद्याकी उत्पत्तिका काल अर्थात् समय विचारित हो रहा है। नचिकेता, जाबाल और वामदेवके उपाख्यानोंकी आलोचना करते हुए विचार उपस्थित होता है किन्तु इस स्थलपर संशय यह है कि पूर्वोक्त साधनीय विद्या इस जन्ममें ही उत्पन्न होती है? अथवा जन्मान्तरमें उत्पन्न होती है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि विद्याका साधन अनुष्ठित होनेपर इस जन्ममें ही विद्या सञ्जात होगी। इसका कारण यह है कि विद्याके साधककी इसी जन्ममें ही विद्या-उदयकी प्रार्थना रहती है।

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि प्रतिबन्धक न रहनेपर इसी जन्ममें ही और प्रतिबन्धक रहनेपर जन्मान्तरमें विद्याका उदय होता है—इस विषयमें श्रुति-प्रमाण है। कठोपनिषदमें है—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥

(कठ० २/३/१८)

पुनः वामदेवकी गर्भावस्थामें जो विद्या-प्राप्ति है उसका कारण जन्मान्तरीय साधन दिखायी देता है। किसीके लघु प्रतिबन्धक रहनेपर साधन-प्रभाव विशेषके द्वारा प्रतिबन्धकोंका क्षय होनेपर इस जन्ममें ही विद्या प्राप्त हो सकती है जैसे नचिकेता और राजा रहूगणको इसी जन्ममें विद्या-प्राप्त हुई थी।

श्रीभरत रहूगण राजासे कहते हैं—

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनैवेह विवृक्णमोहः।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥

(श्रीमद्भा० ५/१२/१६)

अर्थात् जीवको मनुष्य जन्म प्राप्त करके इसी जन्ममें परमभागवत भक्तोंके सुसत्सङ्गसे प्राप्त ज्ञानरूपी तलवारके द्वारा अपने अज्ञानका

छेदन कर डालना चाहिये। भगवान्‌के गुण-कर्मादि लीला-कथाओंके श्रवण-कीर्त्तनसे भगवत्-स्मृति बनी रहती है, जिससे मनुष्य भवसागरको अनायास ही पार करके भगवत्-धामको प्राप्त हो जाता है।

श्रीभरतने तीन जन्मोंमें श्रीभगवान्‌का दर्शन प्राप्त किया था। उन्होंने स्वयं निज विघ्नके बारेमें बतलाया है—

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः॥

(श्रीमद्भा॰ ५/१२/१४)

अर्थात् मैं पहले भरत नामका एक राजा था। दृष्ट (ऐहिक-प्रत्यक्ष अनुभव) एवं श्रुत (पारलौकिक-वेदोंसे ज्ञान प्राप्त करके) विषयरूप आसक्तियोंसे मुक्त होकर भगवान्‌की आराधना करता था। दैवात् एक मृगशावकमें आसक्त हो जानेसे मैं अपने उद्देश्यमें विफल हो गया और मृग-योनिको प्राप्त हुआ।

देवर्षिके कृपापात्र श्रीध्रुवने एक जन्ममें ही अति अल्पकालमें ही श्रीभगवान्‌का दर्शन किया था।

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्यपद्मकोषे स्फुरितं तडित्प्रभम्।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिः स्थितं तदवस्थं ददर्श॥

(श्रीमद्भा॰ ४/९/२)

अर्थात् इधर ध्रुव सुपक्व एवं तीव्र योगके द्वारा एकाग्र बुद्धियोगसे अपने हृत्-कमलमें श्रीहरिकी विद्युत् जैसी देदीप्यमान प्रभाके जिस रूपका दर्शन कर रहे थे, वह सहसा ही विलीन हो गयी। इससे घबराकर उन्होंने ज्यों ही आँखे खोलीं, तो भगवान्‌के उसी रूपको बाहर अपने सम्मुख प्रकटित देखा।

श्रीप्रह्लादजीने गर्भावस्थामें ही श्रीनारदजीकी कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया था।

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/७/१५)

अर्थात् परम दयालु देवर्षि नारदने मुझे लक्ष्य करके सेवामें रत मेरी माताको इच्छानुसार प्रसवका वरदान दिया। उन्होंने हिंसादिसे रहित भागवतोंके विशुद्ध धर्म-तत्त्वका ज्ञान एवं भागवत धर्मका रहस्य—इन दोनोंका उपदेश दिया।

बहुत जन्मोंसे अर्जित साधनोंके द्वारा मुक्ति-प्राप्तिके विषयमें श्रीगीतामें भी कहा है—

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
(श्रीगी॰ ६/४५)

अर्थात् प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाले योगी निष्पाप होकर अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेके पश्चात् परम गति प्राप्त करते हैं॥५१॥

अवतरणिका भाष्य—अथ विद्यासम्पत्तौ मोक्षस्यावश्यकत्वं दर्शयति। *"तमेव विद्वानमृत इह भवति"* (बृ॰आ॰ ४/४/१७) *"तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीति"* (श्वे॰ ६/१५) श्रूयते। अत्र यच्छरीरे विद्योदिता तस्यैव पाते मोक्षः स्यात् तदन्यस्य वेति संशये हेतौ सति कार्यस्यावश्यकत्वात् तस्यैव पाते सतीति प्राप्ते—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयोऽध्यायस्य चतुर्थपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद विद्या-प्राप्ति होनेपर मोक्ष अवश्यम्भावी है—यह दिखाते हैं। श्रुतिमें है—*'तमेव विद्वानमृत इह भवति'* अर्थात् उस परमात्माको जान लेनेसे इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त होती है और *'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'* अर्थात् ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेपर संसारसे उत्तीर्ण होते हैं। इन दोनों विषयोंमें संशय यह है कि जिस शरीरमें विद्याका उदय हुआ है, उसी शरीरका पतन हो जानेपर मुक्ति होगी? अथवा अन्य शरीरके पतन होनेके बाद मुक्ति होगी? इस संशयके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि कारण रहनेसे कार्य अवश्यम्भावी

है। अतएव इसी देहके पतनके बाद ही मुक्ति होगी। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके चतुर्थ पादके श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र विद्यासाधनयुक्तस्यापि प्रतिबन्धविनाशे सत्येव विद्योदय इत्युक्तम्। तद्वद्विद्यान्वितस्य देहविनाशे सत्येव विद्योदय इत्युक्तम्। तद्वद्विद्यान्वितस्य मोक्षः स्यादिति दृष्टान्तसङ्गत्यारभ्यते अथेत्यादि। हेतौ सतीति। विद्यारूपे कारणेऽभ्युदिते सति तत्फलस्य मोक्षस्य तदनन्तरमेवावश्यम्भावित्वादित्यर्थः।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणमें पहले कहा गया था कि विद्योदयका साधनसम्पन्न होनेपर भी जिस प्रकार प्रतिबन्धक विनाश होनेके बाद विद्योदय होता है, उसी प्रकार विद्यासे समन्वित व्यक्तिका देहपात होनेपर ही मुक्ति होती है, इस प्रकार दृष्टान्त-सङ्गति द्वारा इस अधिकरणका आरम्भ *'अथेत्यादि'* प्रबन्ध द्वारा हो रहा है। *'हेतौ सतीति'* विद्यारूप कारण घटित होनेपर उसका फल मुक्ति उसके बाद अवश्यम्भावी है—यह अर्थ है।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके चतुर्थ पादके श्रीबलदेवकृत अवतरणिका भाष्यकी टीकाका अनुवाद समाप्त॥

मुक्तिफलाधिकरणम्

सूत्र—एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः॥५२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—जिस प्रकार विद्या-साधन सम्पन्न मुक्ति कामीके विद्योदयका कोई समय निश्चित नहीं है 'एवं' उसी प्रकार 'मुक्तिफलानियम' मुक्ति फलका भी कोई निर्धारित समय नहीं है। कारण 'तदवस्थाधृतेः' इसी

प्रकारकी अवस्थाका निश्चय होनेपर मोक्षावस्थाका निश्चय होता है, इसलिए॥ ५२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके चतुर्थ पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—विद्या साधन सम्पन्नके लिए विद्याकी उत्पत्तिकी जिस प्रकार इस जन्म अथवा जन्मान्तरकी अपेक्षा नहीं रहती है उसी प्रकार मोक्षके लिए शरीरके पतन और अपतनका कोई नियम नहीं है॥ ५२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके चतुर्थ पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—यथा विद्यासाधनसम्पन्नास्य मुमुक्षोः विद्यालक्षणे फले अस्मिन्नेव जन्मनीति न नियमः किन्तु प्रतिबन्धपरिक्षयोत्तरमेव सेति तथा विद्यासम्पन्नस्य तस्य मोक्षलक्षणेऽपि फले तस्यैव पाते सतीति न नियमः किन्तु प्रारब्धपरिक्षयोत्तरमेव स इति। तथाच प्रारब्धाभावे तस्यैव पाते सति तु प्रारब्धे तदन्यस्येति न पाक्षिको मोक्षः। कुतः? तदिति। *"आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये"* (छा॰ ६/१४/२) इति छान्दोग्ये प्रारब्धक्षयोत्तरं विद्यावतो मोक्षावस्थाविनिश्चयादित्यर्थः। स्मृतिश्चैवमाह। *"विद्वानमृतमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा। अवसन्नं यदारब्धं कर्म तत्रैव गच्छति। न चेद् बहूनि जन्मानि प्राप्यैवान्ते न संशयः"* इति। यद्यपि विद्यया सर्वकर्मपरिक्षयः स्यात् तथापीश्वरेच्छया प्रारब्धांशस्तिष्ठेदित्युक्तम्। वक्ष्यते च। पदाभ्यासोऽध्यायपूर्त्तये॥ ५२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जैसे कि विद्याके साधनसे युक्त मुक्तिकामी व्यक्तिका विद्या-उदय-रूप फल इसी जन्में होगा—ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु प्रतिबन्धकोंका उपसारण होनेके बाद ही इस विद्याका जन्म होता है, इसी प्रकार विद्यासम्पन्न मुमुक्षुका मुक्तिरूप फल इस देहपातके बाद ही होगा—इसकी स्थिरता नहीं है। हाँ, यह निश्चित है कि प्रारब्ध कर्मके क्षयके बाद ही मोक्ष होता है। अतएव सिद्धान्त यह है कि प्रारब्ध कर्मके न रहनेपर इस देहपातके बाद ही किन्तु

प्रारब्धके रहनेपर इस देहसे अतिरिक्त देहान्तरके पतनके बाद मुक्ति हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती—इस प्रकारका पाक्षिक फल नहीं है। मोक्ष स्वाधीन है, पाक्षिक नहीं है। कारण क्या है? *'तद्वस्थाधृतेः'* क्योंकि छान्दोग्योपनिषदमें मोक्षावस्थाका अवधारण किया गया है यथा *'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये'* अर्थात् आचार्य-विशिष्ट पुरुष ही ब्रह्मतत्त्वको जान सकता है। अच्छा! आचार्यवान पुरुष यह कब जान सकता है? जिस दिन ईश्वरकी इच्छा होती है। जिस समय ईश्वरकी इच्छा होगी, उसी समय उस व्यक्तिकी बुद्धि होगी कि मैं सिद्धि प्राप्त करूँगा। इस प्रकारसे छान्दोग्योपनिषदमें विद्यावानके प्रारब्ध-क्षयके बाद मोक्षावस्थाका निर्द्धारण होता है स्मृति-वाक्यमें भी इसी प्रकार कहा है—*'विद्वानमृतमाप्नोति … नसंशयः'* इति अर्थात् ब्रह्मविद्यासम्पन्न व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करता है—इस विषयमें कोई सन्देह करना नहीं। जब ब्रह्मवित्के प्रारब्धका क्षय हो जाता है, तब वह ब्रह्मलोकमें गमन करता है और प्रारब्ध कर्मका क्षय न होनेपर वह बहुत-सजन्म प्राप्त करनेके बाद तब मुक्ति प्राप्त करता है—इस विषयमें संशय नहीं है। यद्यपि विद्याकी महिमासे समस्त कर्मका क्षय हो सकता है, तो भी ईश्वरेच्छाके अनुसार कुछ प्रारब्ध कर्म विशेष रह जाते हैं—उनका क्षय नहीं होता—यह भी कहा जाता है और इस विषयको बादमें भी कहा जायेगा। *'तदवस्थावधृतेः'* इस पदका दो बार पाठ अध्यात्मकी समाप्तिका सूचक है।

जनयित्वा वैराग्यं गुणैर्निबध्नाति मोदयन् भक्तान्।
यस्तैर्विद्धोऽपि गुणैरनुरज्यति सोऽस्तु मे हरिः प्रेयान्॥

अर्थात् जो श्रीहरि कारुण्यादि स्वगुणोंसे भक्तको संसारसे वैराग्य उत्पन्न कराके उन्हें हृष्ट अर्थात् आनन्दित करते हुए आबद्ध कर लेते हैं और भक्तगण जिन्हें अपने सेवागुणसे बाँधकर रखते हैं तो भी वे श्रीहरि अपने उन भक्तोंमें अनुरक्त रहते हैं—ऐसे वे श्रीहरि मेरे सर्वाधिक प्रियतम होवें॥ ५२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूके तृतीय अध्यायके चतुर्थ पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—एवमिति। सेति विद्या। स इति मोक्षः। तस्यैवेति विद्याधारस्य शरीरस्य। आचार्यवान् गुरुपसत्तिविशिष्टः। न विमोक्ष्ये ईश्वरेण विमोक्तं नेष्यते। विशेषार्थस्तु वक्ष्यते। विद्वानिति नारायणाध्यात्मो। अवसन्नं क्षीणम्। तत्रैव हरिलोके। अन्ते प्रारब्धक्षयोत्तरम्॥ ५२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार— *'एवं मुक्तिफलानियमः'* इत्यादि सूत्रमें। *'प्रतिबन्धपरिक्षयोत्तरमेव सा'* इतिमें 'सा' का अर्थ है 'वही विद्या'। परन्तु *'प्रारब्धपरिक्षयोत्तरमेव सः'* में 'इति सः' का अर्थ है—वह मोक्ष। *'तस्यैव पाते सतीति'* में 'तस्य' का अर्थ है विद्योदयका पात्र—'शरीरका'। *'आचार्यवान्'*—गुरु सेवापरायण व्यक्ति। *'न विमोक्ष्ये'* इति—मुक्ति चाहते नहीं हैं। इस श्रुतिका विशेषार्थ बादमें कहा जायेगा। *'विद्वान मृतमाप्नोति'* इत्यादि श्लोक नारायणोपनिषदका है। *'अवसन्नं यदारब्धमिति'* में 'अवसन्न' का अर्थ है—क्षीण होता है। *'तत्रैव गच्छति'* इतिमें 'तत्रैव' का अर्थ है हरिलोकमें—वैकुण्ठधाममें। *'प्राप्यैवान्ते'* इतिमें 'अन्ते' का अर्थ है—प्रारब्ध क्षय होनेके बाद॥ ५२॥

इत्थं व्याख्यातानेकसप्त्यधिकरणकस्य नवत्यधिकैकशतसूत्रकस्य तृतीयाध्यायस्यार्थान् सूचयन् भगवन्तमुपश्लोकयति जनायितेत्वति। यो हरिर्गुणैः रज्जुभिर्गृहकुटुम्बादिषु वैराग्यं जनयित्वा गृहादि सहायशून्यान् भक्तान् तैर्निबध्नातीति गुणानामति वैचित्र्यं बहुवचनेन बन्धनस्य गाढत्वञ्च व्यज्यते। मोदयन्नात्मानं हर्षयन्नित्यर्थः। तेन वञ्चको निर्दयश्च स इति भावः। तैर्भक्तेस्तु गुणैः रज्जुभिर्निबन्धोऽपि योऽनुरज्यति तेष्वासक्तिं भजतीति धूर्त्तत्वशून्यश्च सः भक्ताश्च यस्याति धूर्त्ता इति भावः। न हरिर्मे प्रेयानस्त्विवति विरुद्धलक्षणया मास्तु प्रेयानित्यर्थः। अथानित्येषु मलिनेषु गृहादिषु यो हरिर्गुणैः कारुण्य सौशील्य मैत्री सौन्दर्य सार्वज्ञ्यमोचकत्वात्मपर्यन्त सर्वप्रदत्वादिभिनिजधर्मैर्वैराग्यं जनयित्वा तैरेव भक्तान् मोदयन्नन्दयिन्निबध्नाति वशीकरोति स्वस्मिन् सञ्जयतीति निर्हेतुकहितकृत्यपरमरसिकश्च स इत्यर्थः। यश्च तैर्भक्तै-गुणैर्विवेकवैराग्य हितैकप्रावीण्यानुरागादिभिर्निजधर्मैर्बद्धो वश्यतां नीत एव तेष्वनुरज्यति तृष्णां भजतीति। यद्भक्ता अपि तादृशा इति भावः। स हरिर्मे प्रेयानस्त्विवति तत्प्रीतिराशास्यते। अत्र श्लेषाङ्गिका व्याजस्तुतिरलङ्कारः। वाच्यया निन्दया स्तुतेर्व्यञ्जनात्। यदुक्तं भरतेन—*"व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रुढिरन्यथा"* इति। आदौ निन्दा स्तुतिर्वोक्ता स्यात् तस्या अन्यथा वैपरीत्येन चेत् रुढिः

पर्यवसानं तदा व्याजस्तुतिरिति तदर्थः। अत्र जनयित्वेति वैराग्यपादार्थः। भक्तानिति भक्तपादार्थः। गुणैर्निबध्नातीति गुणोपसंहारपादार्थः। गुणैर्विदितैरेव तत्प्राप्तिरूपं बन्धनं भवतीति विद्यैव पुमर्थहेतुरिति पुरुषार्थपादार्थश्च सूच्यते।

अनुवाद—इस प्रकारसे इकहत्तर अधिकरणोंकी व्याख्या पूर्ण हुई। एक सौ नब्बे सूत्रात्मक तृतीयाध्यायका अर्थ प्रकाश करके भाष्यकार श्रीभगवान्‌की स्तुति *'जनयित्वेत्यादि'* श्लोक द्वारा करते हैं। इसका अर्थ है कि जो श्रीहरि अपने गुणरूप रज्जु द्वारा भक्तगणोंके गृह-स्त्री-पुत्रादि विषयोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न कराके गृहादि सहायसे शून्य भक्तगणोंका बन्धन करते हैं—इस कथनके द्वारा भगवान्‌के गुणोंका वैचित्र्य एवं गुण पदमें बहुवचनके कारण बन्धनका गाढ़त्व अर्थात् दुश्छेद्यत्व सूचित होता है। 'मोदयन्' अर्थात् ऐसा करके स्वयंको आनन्दित करते हैं, इससे जाना जाता है कि वे वञ्चक एवं निर्दय हैं। भक्तगण अपने गुणरूप रज्जु द्वारा उन्हें बाँध लेते हैं तो भी वे उनके प्रति आसक्त रहते हैं। इससे अवगत होता है कि वे धूर्त्तत्वशून्य हैं किन्तु उनके भक्तगण अति धूर्त्त (चतुर) हैं, यह तात्पर्य है। ऐसे श्रीहरि मेरे प्रिय हों, अर्थात् वैपरीत्य लक्षणा द्वारा वे मेरे प्रिय न हों। कारण जो (भगवान्) अनित्य, दोषयुक्त, गृहादिमें भक्तगणोंको वैराग्य, निज दया (कारुण्य), सुचरित, मैत्री, सौन्दर्य, सर्वज्ञता, मुक्ति-प्रदत्व, इतना ही नहीं, भक्तमें आत्मसमर्पण पर्यन्त सर्वप्रदत्व गुण उत्पन्न कराके उन समस्त गुणोंसे भक्तोंको आनन्द देकर (द्वारा) वशमें रहते हैं अर्थात् अपनेमें आसक्त करते हैं इस अहैतुकी हितकारिताके कारण वे परम रसिक हैं, यह अर्थ है। पुनः वे भक्तगण भी जिन्हें विवेक, वैराग्य, परहित-प्रवणता, प्रेमादि निजगुणसे बाँध लेते हैं, वशमें करते हैं, फिर भी उनके प्रति अनुरक्त होते हैं, उनका लोभ छोड़ नहीं सकते; भावार्थ यह है कि जिनके भक्तगण भी वैसे चतुर हैं। ऐसे चतुर-चूड़ामणि मेरे प्रियतम होंगे? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। फिर भी निन्दाके छलसे श्लेष द्वारा उनकी प्रीति ही काम्य हो रही है। अतएव यहाँ श्लेषमूलक व्याजस्तुति अलङ्कार है, क्योंकि वाच्यार्थ निन्दा द्वारा व्यङ्ग्यार्थ स्तुति प्रकाश पा रही है। नाट्याचार्य भरतने कहा है—आरम्भमें निन्दा अथवा प्रशंसा प्रसिद्ध है किन्तु बादमें अन्य

प्रकार होता है, वह व्याजस्तुति-अलङ्कार है। इसका अर्थ है—प्रथम निन्दा अथवा प्रशंसा वाच्य होनेपर यदि उसके वैपरीत्यमें पर्यवसान होता है, तब व्याजस्तुति अलङ्कार होता है। *'जनयित्वेत्यादि'* श्लोकमें तृतीयाध्यायका एक-एक पादका अर्थ प्रकाशित होता है यथा—जनयित्वा कथन-वैराग्य-पादका प्रतिपाद्य है। 'भक्तान्' यह भक्त-पादका अर्थ है। *'गुणैर्निबध्नाति'* यह गुणोपसंहार पादार्थ है, और विदित भगवद्गुण द्वारा ही उनका व्याप्तिरूप बन्धन होता है। इसमें विद्या ही पुरुषार्थ (मुक्ति) प्राप्तिका हेतु है। इस प्रकारसे पुरुषार्थ-पादार्थ सूचित होता है।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके चतुर्थ पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—विद्याके द्वारा निश्चित रूपसे मोक्ष प्राप्त होता है—यह श्रुतिमें पाया जाता है—*'तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम'* और श्वेताश्वतरमें भी पाया जाता है—*'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'* (भगवान्‌को जानकर संसाररूपी मृत्युसे तर जाते हैं) इस स्थलपर संशय यह है जिस शरीरसे विद्या प्राप्त होती है, उसी शरीरमें मोक्ष होता है? अथवा शरीर पतन होनेपर मोक्ष सिद्ध होता है। पूर्वपक्षी कहते हैं—मोक्ष शरीरके पतनमें ही सिद्ध होता है क्योंकि कारण रहनेसे कार्य अवश्यम्भावी होता है।

इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्याका फल मुक्तिकी प्राप्ति इस जन्ममें होगी अथवा देहान्तरमें होगी—ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ, मुक्ति तभी होगी जब प्रारब्धका क्षय हो जायेगा।

प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक न रहनेपर—देहपातके बाद मुक्ति होती है और यदि प्रारब्ध रहता है तो देहान्तरकी अपेक्षा रहती है। जिस प्रकार छान्दोग्यमें कहा गया है—*'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्यस्य इति।'* (छा॰ ६/१४/२)

अर्थात् आचार्यवान पुरुष ही ब्रह्मको जानता है। उसके लिए मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह (देह-बन्धनसे) से मुक्त

नहीं होता उसके पश्चात् तो वह सत्-सम्पन्न ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥

(श्रीमद्भा० १/६/२९)

अर्थात् श्रीहरिके प्रतिश्रुति अर्थात् कथनानुसार जब मैं भगवत्-कृपासे अपने उस शुद्धसत्त्वमय, अप्राकृत, चिन्मय भगवत्-पार्षदोचित भागवती तनुको प्राप्त करनेके उपयुक्त (योग्य) हो गया, तब मेरे प्रारब्ध कर्मोंका निर्वाण अर्थात् ध्वंस हो गया और मेरा पाञ्चभौतिक शरीर नष्ट हो गया।

श्रीश्रीलप्रभुपादकी विवृतिमें भी पाया जाता है—लब्धस्वरूप (जिन्हें ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति हो गयी है) भक्त निरूपाधिक होकर स्थूल प्रापञ्चिक शरीरका त्याग करते हैं उस समय उनका चिदानन्दस्वरूप भोगमय कर्मका आवाह्न नहीं करता। स्वरूप-सिद्ध भक्तके भगवान्‌के सेवापयोगी उपकरणस्वरूप निज चिन्मयी प्रतीतिको ही शुद्धा भागवती तनु कहा जाता है॥५२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके चतुर्थ पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥

तृतीय अध्याय समाप्त॥



अभिधेयतत्त्वात्मक
तृतीय अध्यायकी अधिकरण सूची



तृतीय अध्यायकी सूत्र-सूची

(वर्णानुक्रम प्रदत्त)

तृतीय अध्यायके प्रथम पादसे चतुर्थ पाद तक

(ऊ)

(ए)

(ऐ)

(क)

(ग)

(च)

(छ)

(त)

(ह)

